भारतीय अर्थशास्त्र

[अष्टदश संशोधित एवं परिवर्द्धित संस्करण, १९७३]

विश्वविद्यालयों के लिए कुछ प्रमुख प्रकाशन

अर्थशास्त्र

१.	भारतीय अर्थशास्त्र	...	एस० एम० राय
२.	मुद्रा एवं मौद्रिक संस्थाएं [मुद्रा, बैंकिंग, राजस्व तथा अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का विशद् एवं तुलनात्मक अध्ययन]	...	एस० एम० राय
३.	अर्थशास्त्र के सिद्धान्त	...	एस० एम० राय
४.	सार्वजनिक अर्थशास्त्र	...	एस० एम० राय
५.	आर्थिक विकास के सिद्धान्त	...	एस० एम० राय
६.	औद्योगिक संगठन एवं नियन्त्रण	...	एस० एम० राय
७.	महान् राष्ट्रों का आर्थिक विकास	...	एस० एम० राय
८.	सोवियत संघ एवं जापान का आर्थिक विकास	...	एस० एम० राय
९.	भारत का आर्थिक विकास	...	एस० एम० राय
१०.	राजस्व के सिद्धान्त	...	एस० एम० राय
११.	अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार	...	एस० एम० राय

राजनीति-शास्त्र

1.	Development Administration In India		Dr. B. P. Singh
२.	राजनीति-शास्त्र के मूल सिद्धान्त	...	डॉ० वीरकेश्वर प्र० सिंह
३.	विश्व के प्रमुख संविधान	...	,, ,, ,,
४.	ब्रिटेन तथा अमेरिका का संविधान	...	,, ,, ,,
५.	भारतीय शासन-प्रणाली	...	,, ,, ,,
६.	आधुनिक राजनीतिक विचारधाराएं	...	,, ,, ,,
७.	भारत का संवैधानिक एवं राष्ट्रीय विकास	...	,, ,, ,,
८.	प्रथम विश्व-युद्ध के पूर्व विश्व-राजनीति [१८७१ से आज तक की कूटनीति का विश्लेषणात्मक अध्ययन]	...	डॉ० दीनानाथ वर्मा
९.	अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध [१९१९ से १९७२ तक की अन्तर्राष्ट्रीय घटनाओं का अध्ययन]	...	डॉ० दीनानाथ वर्मा
१०.	भारत और विश्व-राजनीति [ब्रिटिशकाल में अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में भारत की भूमिका तथा स्वतन्त्र भारत की विदेश-नीति पर प्रामाणिक ग्रंथ]	...	डॉ० दीनानाथ वर्मा
११.	जापान का संविधान		डॉ० वीरकेश्वर प्रसाद सिंह
१२.	नेपाल का संविधान	...	,, ,, ,,
१३.	चीन का संविधान	...	,, ,, ,,

इतिहास

१.	प्राचीन भारत का इतिहास	...	प्रो० एस० के० माथुर
२.	एशिया का इतिहास [पश्चिमी एवं पूर्वी एशिया का सम्पूर्ण इतिहास]	...	अम्बिका प्रसाद शर्मा
३.	आधुनिक यूरोप I & II [1789 से 1945 तक का विश्लेषणात्मक विवेचन]	...	डॉ० दीनानाथ वर्मा
४.	मुगलकालीन भारत [1526 से 1761 तक का विशद् अध्ययन]	...	डॉ० दीनानाथ वर्मा
५.	मध्यकालीन भारत	...	डॉ० दीनानाथ वर्मा
६.	आधुनिक भारत का इतिहास [1740 से आज तक का भारतीय इतिहास का प्रामाणिक विवेचन]	...	डॉ० दीनानाथ वर्मा
७.	मानव सभ्यता का विकास	...	डॉ० दीनानाथ वर्मा

संस्कृत

१	व्यावहारिक संस्कृत व्याकरण	—	डॉ० नेमिचन्द्र शास्त्री

भारतीय अर्थशास्त्र

[भारतीय विश्वविद्यालयों के लिए]

[अष्टदश संशोधित एवं परिवर्द्धित संस्करण]

एल० एन० राय, एम० ए०
अर्थशास्त्र विभाग
एच० डी० जैन कॉलेज, आरा

ज्ञानदा प्रकाशन
पटना-4

[मूल्य : रुपये १६·०० मात्र

प्रकाशक

ज्ञानदा प्रकाशन

पटना—४

प्रथम संस्करण	:	सितम्बर,	१९५८
द्वितीय संस्करण	:	अगस्त,	१९५९
तृतीय संस्करण	:	अगस्त,	१९६०
चतुर्थ संस्करण	:	अगस्त,	१९६१
पंचम संस्करण	:	जनवरी,	१९६२
षष्ठ संस्करण	:	अगस्त,	१९६२
सप्तम संस्करण	:	अगस्त,	१९६३
अष्टम संस्करण	:	अप्रैल,	१९६४
नवम संस्करण	:	सितम्बर,	१९६४
दशम संस्करण	:	अगस्त,	१९६५
एकादश संस्करण	:	अगस्त,	१९६६
द्वादश संस्करण	:	अगस्त,	१९६७
त्रयोदश संस्करण	:	अगस्त,	१९६८
चतुर्दश संस्करण	:	अगस्त,	१९६९
पंचदश संस्करण	:	अगस्त,	१९७०
षष्ठदश संस्करण	:	जनवरी,	१९७२
सप्तदश संस्करण	:	सितम्बर,	१९७२
अष्टदश संस्करण	:	जनवरी,	१९७३

(पूर्णतया संशोधित एवं परिवर्द्धित संस्करण)

मुद्रक

विश्वज्योति प्रेस

श्री श्याम बिहारी प्रेस

पटना—४

अष्टदश संस्करण की भूमिका

'भारतीय अर्थशास्त्र' का **अष्टदश (संशोधित एवं परिवर्द्धित) संस्करण** पाठकों के समक्ष है। पुस्तक के **सप्तदश** संस्करण का भी पाठकों ने समुचित स्वागत किया जिससे शीघ्र ही **अष्टदश संस्करण** की आवश्यकता पड़ी। प्रस्तुत संस्करण में तृतीय पंचवर्षीय योजना की उपलब्धियों, चतुर्थ पंचवर्षीय योजना की अर्द्ध-सामयिक समीक्षा एवं १९७२ ई० के अन्त तक के प्राप्त नवीनतम तथ्यों एवं आँकड़ों का समावेश किया गया है।

प्रस्तुत पुस्तक में भारत की प्रमुख आर्थिक समस्याओं के अध्ययन का प्रयत्न किया गया है। भारत के आर्थिक जीवन में आज एक नये युग का संचार हो रहा है। भारत, जो सदियों से विश्व में अपने अज्ञान, अपनी अकर्मण्यता एवं दार्शनिक निस्संगता के लिए कुख्यात था, अब धीरे-धीरे प्रगति की ओर अग्रसर हो रहा है। वर्षों की गुलामी ने देश से साहस एवं उद्यम की उस भावना को, जो एक स्वतन्त्र जाति का प्रमुख गुण है, समाप्त कर दिया गया है। फलतः, आज यहाँ सर्वत्र भूखमरी, बेकारी एवं निर्धनता का विस्तृत साम्राज्य है। हमारी यह अत्यधिक निर्धनता प्राकृतिक विपुलता के बीच बनी हुई है। किन्तु, संतोष का विषय है कि स्वतन्त्रता-प्राप्ति के उपरान्त हम योजनाकरण के आधार पर देश में एक प्रगतिशील आर्थिक व्यवस्था के निर्माण में संलग्न हैं। किन्तु इस क्षेत्र में अभी हम बहुत आगे बढ़ भी नहीं पाये थे कि अक्टूबर, १९६२ ई० में हमारे पड़ोसी राष्ट्र चीन तथा सितम्बर, १९६५ ई० में पाकिस्तान ने हमारी सीमा पर अकारण ही हमला कर दिया। पुनः दिसम्बर, १९७१ में पाकिस्तान ने हमारे पड़ोसी बंगला देश में अपने अमानुषिक नरसंहार को उचित ठहराने के लिए पूर्वी तथा पश्चिमी सीमाओं पर भयानक परिस्थिति उत्पन्न कर दी। चीनी एवं पाकिस्तानी आक्रमणों से उत्पन्न संकट की स्थिति ने देश के आर्थिक विकास को और भी आवश्यक बना दिया है। दरअसल में इससे आर्थिक विकास की पृष्ठभूमि ही बदल गयी है। अतएव संकट की इस स्थिति में अपनी आर्थिक संभावनाओं एवं सीमाओं को जान लेना हमारे लिए बहुत ही लाभदायक होगा। वास्तव में, इनका सम्यक् ज्ञान उपयुक्त आर्थिक नीति के निरूपण के लिए अनिवार्य है। आज भारतीय अर्थशास्त्र के अध्ययन का यही उद्देश्य होना चाहिए और प्रस्तुत पुस्तक में इसी उद्देश्य की पूर्ति का प्रयास किया गया है।

आशा है, पुस्तक का प्रस्तुत संस्करण विद्यार्थियों एवं सामान्य पाठकों के लिए अधिक उपयोगी सिद्ध होगा। प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप में मिलने वाली सहायता के लिए मैं अपने सभी मित्रों एवं सहकर्मियों के प्रति हार्दिक आभार प्रदर्शित करता हूँ।

आरा
१५ जनवरी, १९७३

एल० एम० राय

विषय-सूची

प्रथम खण्ड : परिचय, प्राकृतिक साधन, जनसंख्या एवं राष्ट्रीय आय
(Introduction, Natural Resources, Population and National Income)

चतुर्थ खण्ड : भारतीय उद्योग एवं औद्योगिक समस्याएँ

(Indian Industries and Industrial Problems)

षष्ठ खण्ड : मूल्य, मुद्रा, बैंकिंग एवं वित्तीय व्यवस्था

(Prices, Currency, Banking and Financial Organisation)

प्रथम खण्ड

"The most striking fact about India is that her soil is rich and people poor."—M. L. Darling.

परिचय, प्राकृतिक साधन, जनसंख्या एवं राष्ट्रीय आय

(Introduction, Natural Resources, Population and National Income)

अध्याय : १

भारतीय अर्थ-व्यवस्था की अर्द्ध-विकसित प्रकृति

(Under-developed Nature of the Indian Economy)

प्राक्कथन :—भारत आर्थिक दृष्टि से एक पिछड़ा राष्ट्र है। हमारी इस पिछड़ी हुई आर्थिक स्थिति को व्यक्त करने के लिए बहुधा 'अर्द्ध-विकसित' (Under-developed) शब्द का प्रयोग किया जाता है। वास्तव में, भारतीय अर्थ-व्यवस्था सदियों से कृषि-प्रधान, पिछड़ी हुई एवं अर्द्ध-विकसित रही है। आज भी यहाँ सर्वत्र अज्ञानता, अकर्मण्यता एवं निर्धनता का विस्तृत साम्राज्य है। किन्तु आश्चर्य की बात यह है कि हमारा यह आर्थिक पिछड़ापन आर्थिक साधनों की प्रचुरता के बावजूद बना हुआ है। भारत में प्राकृतिक साधनों की भरमार है। यहाँ की भूमि अति विस्तृत एवं उपजाऊ है, जनसंख्या विशाल है, तरह-तरह के खनिज-पदार्थों का अपार भंडार है तथा जल-शक्ति के साधनों की प्रचुरता है। श्री एम० एल० डार्लिंग (M. L. Darling) ने इस सम्बन्ध में ठीक ही कहा है कि—"भारत के सम्बन्ध में सर्वाधिक ध्यानाकर्षक तथ्य यह है कि इसकी मिट्टी धनी, किन्तु जनता निर्धन है।" (The most striking fact about India is that her soil is rich and people poor.) भारत में प्राकृतिक साधनों की न केवल प्रचुरता है, वरन् उनमें वैविध्य भी है। भारतीय साधनों की इस विविधता का अन्दाजा डा० वेरा अन्स्टे (Vera Anstey) के निम्न बयान से लगाया जा सकता है—"**भारत के पास जानवरों, वनस्पति एवं खनिज-पदार्थों की इतनी अधिक प्रचुरता है कि यहाँ पर अधिक बालों वाली कश्मीरी पहाड़ी भेड़ों से लेकर सिंध के ऊँट और बंगाल के हाथी तथा बाघ तक; उत्तर के गेहूँ, फल और देवदार के वृक्षों से लेकर गर्म निचले भागों और तटीय क्षेत्रों के चावल और नारियल तक तथा बंगाल, बिहार एवं उड़ीसा के कोयले के क्षेत्र से लेकर मैसूर के सोने तथा पंजाब के नमक के पहाड़ तक मिलते हैं।**"[1]

इससे स्पष्ट है कि भारत में आर्थिक विकास की विशाल संभावनाएँ (Potentialities) वर्तमान हैं। किन्तु दुःख है कि हम अभी तक इनका समुचित उपयोग नहीं कर पाये हैं, अतएव कोई आश्चर्य की बात नहीं कि प्राकृतिक साधनों की इतनी प्रचुरता के बावजूद एक औसत भारतीय निर्धनता के निर्मम जाल में उलझा हुआ है। परन्तु संतोष का विषय है कि स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद विशेषतः पंचवर्षीय योजनाओं में हमारे देश के आर्थिक विकास के लिए सक्रिय प्रयास किये जा रहे हैं। इनके परिणामस्वरूप अब हम धीरे-धीरे आर्थिक विकास की ओर अग्रसर भी हो रहे हैं। किन्तु, फिर भी भारतीय अर्थ-व्यवस्था को पश्चिमी देशों की तरह पूर्णतया विकसित करने में बहुत अधिक

---

1. "India possesses a great variety of animal, vegetable and mineral products, ranging from the heavily coated Kashmiri hill-sheep to the camel of Sind and the elephants and tigers of Bengal; from the wheat, fruit and fir trees of the north to the rice and coconuts of the hot, low-lying swamps and coastal regions and from the coal and iron fields of Bengal, Bihar and Orissa, to the gold of Mysore and the salt ranges of the Punjab."

—Vera Anstey : *The Economic Development of India*, P: 12

समय लगेगा। वास्तव में, हमारी आर्थिक व्यवस्था अमेरिका, इंगलैंड तथा अन्य सुविकसित देशों की आर्थिक व्यवस्था से लगभग १५०-२०० वर्ष पिछड़ी हुई है। दूसरे शब्दों में, भारतीय अर्थ-व्यवस्था के साथ यह १५०-२०० वर्षों का समय-भार (back-log) है जिसे दूर करने के लिए हमें बड़े पैमाने पर आयोजित प्रयत्नों की आवश्यकता होगी।

इस प्रकार स्वतन्त्रता-प्राप्ति के प्राय: २५ वर्ष बाद भी आज भारत आर्थिक दृष्टि से एक अर्द्ध-विकसित देश है। अतएव भारतीय अर्थ-व्यवस्था की प्रकृति एवं समस्याओं के अध्ययन के पूर्व अर्द्ध-विकसित आर्थिक व्यवस्था वाले देशों की प्रधान विशेषताओं की जानकारी अनिवार्य है।

अर्द्ध-विकसित अर्थ-व्यवस्था का अर्थ

(Meaning of Under-developed Economy)

द्वितीय युद्ध के बाद से अर्द्ध-विकसित देशों की आर्थिक समस्याओं पर विशेष रूप से ध्यान दिया जाने लगा है। इसके कई कारण हैं—जैसे, विश्व की कुल जनसंख्या के प्राय: दो-तिहाई भाग व्यक्ति ऐसे ही देशों में निवास करते हैं; इनमें से अधिकांश देश द्वितीय युद्ध के बाद स्वतन्त्र हो गये हैं तथा इन्होंने अपने आर्थिक विकास का आयोजित प्रयास भी प्रारम्भ किया है। साथ ही, आज यह बात स्पष्ट हो गयी है कि व्यापक एवं स्थायी विश्व-शांति के लिए विकसित एवं अविकसित राष्ट्रों के बीच के भेद-भाव को समाप्त करना अनिवार्य है। आज विश्व के किसी भी भाग में निर्धनता सम्पूर्ण विश्व की समृद्धि के लिए खतरा का कारण बन सकती है। अतएव इन सब कारणों से आज अर्द्ध-विकसित देशों की आर्थिक समस्याओं का महत्त्व बहुत बढ़ गया है। किन्तु अर्द्ध-विकसित अर्थ-व्यवस्था कहते किसे हैं ? वास्तव में, अर्द्ध-विकसित अर्थ-व्यवस्था को परिभाषित करना बहुत ही कठिन कार्य है। अर्थशास्त्रियों ने इसकी विभिन्न परिभाषाएँ दी हैं। इनमें पिछड़ी हुई अर्द्ध-व्यवस्थाओं की एक या एक से अधिक विशेषताओं पर जोर दिया गया है, जैसे कृषि पर जनसंख्या की अत्यधिक निर्भरता, वास्तविक राष्ट्रीय आय की कमी, पूँजी का अभाव, उद्योग-धन्धों की कमी, जनाधिक्य, पिछड़ा हुआ सामाजिक ढाँचा इत्यादि। इसमें कोई सन्देह नहीं कि सभी अर्द्ध-विकसित आर्थिक व्यवस्था वाले देशों में ये सारी विशेषताएँ देखने को मिलती हैं, लेकिन किसी भी देश की अर्थ-व्यवस्था को अर्द्ध-विकसित उसी समय कहना चाहिए जबकि उसमें विकास की सम्भावनाएँ मौजूद हों। उदाहरण के लिए, प्रो० वाईनर (Jacob Viner) के अनुसार "एक अर्द्ध-विकसित देश की आधारभूत विशेषता उसमें प्रति-व्यक्ति आय में वृद्धि के लिए पर्याप्त मात्रा में संभावनाओं का होना है।" (The basic criterion then becomes whether the country has good potential prospects of raising per-capita income or of maintaining an existing high level of per-capita income for an increased population) विकास की अवस्था वर्तमान उत्पादन और अधिकतम सम्भावित उत्पादन के अनुमान पर निर्भर करती है। इस प्रकार अर्द्ध-विकसित अर्थ-व्यवस्था भी अनुकूल परिस्थितियों को पाकर ही विकसित हो सकती है, यानी दीर्घकाल में वह भी 'विकसित अर्थ-व्यवस्थाओं' की विशेषताएँ प्राप्त कर सकती है।

अर्द्ध-विकसित आर्थिक व्यवस्था वाले देशों में प्रति-व्यक्ति आय बहुत ही कम होती है। संयुक्त राष्ट्र-संघ ने १९३९ ई० की आय के आधार पर विश्व के ५३ राष्ट्रों, जिनकी जनसंख्या सम्पूर्ण विश्व की-जनसंख्या का लगभग ८५ प्रतिशत भाग थी, का अध्ययन किया था। इस अध्ययन से यह निष्कर्ष निकलता है कि इन ५३ देशों को तीन वर्गों में विभाजित किया जा सकता है। प्रथम वर्ग में संयुक्त राज्य अमेरिका, इंगलैंड, जर्मनी तथा फ्रांस जैसे परिपक्व (Matured) आर्थिक व्यवस्था वाले देश थे जिनकी प्रति-व्यक्ति औसत वार्षिक आय १००० रुपये से भी अधिक थी।

द्वितीय वर्ग में इंगलैंड, जापान, आस्ट्रेलिया तथा इटली आदि जैसे अर्द्ध-परिपक्व आर्थिक व्यवस्था वाले देश थे जिनकी प्रति-व्यक्ति औसत वार्षिक आय ५०० रुपये से १००० रुपये के बीच थी, तथा तृतीय श्रेणी में भारत, बर्मा, लंका, चीन एवं इण्डोनेशिया आदि अविकसित अथवा अर्द्ध-विकसित देश थे जिनकी प्रति-व्यक्ति औसत वार्षिक आय ५०० रुपये से भी कम थी। प्रति-व्यक्ति कम वार्षिक आय के परिणामस्वरूप इन देशों के लोगों का जीवन-स्तर बहुत ही निम्न है। इनके उपभोग का स्तर भी निम्न ही होता है। इन्हीं निम्न जीवन-स्तर वाले देशों को अर्द्ध-विकसित आर्थिक व्यवस्था वाले देश कहा जाता हैं। अतएव "अर्द्ध-विकसित का तात्पर्य प्रति-व्यक्ति कम आय के कारण आर्थिक दृष्टि से पिछड़ा होना है।" (Under-development means poor economic performance due to low real income per person.)[1]

इसी प्रकार १९४९ ई० में संयुक्त राष्ट्र-संघ (U. N. O.) ने विश्व के ७० देशों की आय के आधार पर विश्व की आय के वितरण के सम्बन्ध में निम्नांकित निष्कर्ष निकाला था :—

विश्व की आय का वितरण १९४९

	विश्व की कुल आय का प्रतिशत	विश्व की कुल जनसंख्या का प्रतिशत	प्रति-व्यक्ति आय (डालर में)
उच्च आय वाले देश	६७%	१८%	९१५
मध्यम आय वाले देश	१८%	१५%	३१५
निम्न आय वाले देश	१५%	६७%	५४

उपरोक्त तालिका से स्पष्ट है कि विश्व की कुल आय का प्रायः दो-तिहाई भाग विश्व की कुल जनसंख्या के केवल १५ प्रतिशत भाग को ही प्राप्त होता है। इसके अन्तर्गत संयुक्त राज्य अमेरिका, कनाडा, आस्ट्रेलिया, न्यूजीलैंड तथा पश्चिमी यूरोप के कुछ देश आते हैं। इसके बाद एक छोटे से मध्यम वर्ग का स्थान है जिसके अन्तर्गत रूस, इजरायल, जापान, दक्षिणी अफ्रिका, अर्जेन्टाइना आदि के नाम आते हैं। इसके बाद निम्न आय वाले वर्ग का स्थान है जिसकी जनसंख्या विश्व की कुल जनसंख्या का दो-तिहाई भाग होते हुए भी जिसकी आय विश्व की कुल आय का प्रायः १५ प्रतिशत भाग ही है। एशिया, अफ्रिका, दक्षिणी-पूर्वी यूरोप तथा लैटिन अमेरिका के अधिकांश देश इसी श्रेणी में आते हैं।

इस प्रकार अर्द्ध-विकसित आर्थिक व्यवस्था की व्याख्या विभिन्न प्रकार से की जाती है। फिर भी यह कहा जा सकता है कि "अर्द्ध-विकसित अर्थ-व्यवस्था वह है जिसमें आय एवं उपभोग का स्तर विकसित देशों की तुलना में बहुत ही निम्न होता है तथा जिसमें ज्ञात साधनों से विकास की सम्भावनाएं वर्तमान रहती हैं।" (An under-developed economy is one in which the standard of income and consumption is low as compared to the advanced countries and which presents the potentialities of improvement through the application of known means.)

१. अर्द्ध-विकसित देशों की और भी कई परिभाषाएं दी गयी हैं जिनमें निम्नांकित विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं :—

"An under-developed economy is characterised by the co-existence in greater or lesser degree of unutilised or under-utilised manpower on the one hand and of unexploited natural resources on the other. This state

अर्द्ध-विकसित अर्थ-व्यवस्था की प्रमुख विशेषताएं एवं भारतीय अर्थ-व्यवस्था

(Important Characteristics of Under-developed Economies and the Indian Economy)

विश्व के विभिन्न अर्द्ध-विकसित देशों में पर्याप्त मात्रा में विभिन्नताएं पायी जाती हैं, अतएव उनकी सर्वमान्य विशेषताओं को बतलाना कठिन है। वास्तव में, सभी अर्द्ध-विकसित देशों में एक समान परिस्थितियां नहीं पायी जाती हैं, फिर भी कुछ सामान्य विशेषताओं की चर्चा की जा सकती है जो प्राय: सभी अर्द्ध-विकसित देशों में न्यूनाधिक रूप में पायी जाती हैं। प्रो० हार्वे लिबिन्स्टिन (Harve Leibenstein) ने अर्द्ध-विकसित देशों की विशेषताओं को मोटे तौर पर चार वर्गों में विभाजित किया है—

(क) आर्थिक विशेषताएं (Economics Characteristics),

(ख) जनसंख्या-सम्बन्धी विशेषताएं (Demographic Characteristics),

(ग) प्रविधिक विशेषताएं (Technological Characteristics), तथा

(घ) सांस्कृतिक एवं राजनीतिक विशेषताएं (Cultural and Political Characteristics) ।

इस आधार पर यहां कहा जा सकता है कि अर्द्ध-विकसित आर्थिक व्यवस्था वाले देशों की निम्नांकित प्रधान विशेषताएं हैं:—

(१) प्रति-व्यक्ति निम्न आय (Low per-capita income): —अर्द्ध-विकसित देशों क सर्वाधिक प्रमुख विशेषता प्रति-व्यक्ति आय की न्यूनता है। प्रो० कुरीहारा के शब्दों में तो अर्द्ध-वीकसित अर्थ व्यवस्था की सबसे बड़ी पहचान प्रति-व्यक्ति वास्तविक आय की न्यूनता (Low per-capita income) है। १९६९ ई० में संयुक्त राज्य अमेरिका की प्रति व्यक्ति आय ४२४० डालर तथा कैनाडा की २६५० डालर थी जबकि भारत की प्रति-व्यक्ति आय केवल १०० डालर, बर्मा की ८५ डालर तथा पाकिस्तान की ९५ डालर थी। अतएव भारत की तुलना में संयुक्त राज्य अमेरिका की प्रति-व्यक्ति आय ४० गुना तथा कैनाडा की २५ गुनी अधिक है। इस प्रकार प्रति-व्यक्ति आय की न्यूनता अर्द्ध-विकसित अर्द्ध-व्यवस्था की एक प्रधान विशेषता है। इतना ही नहीं, इन देशों में प्रति-व्यक्ति आय में वृद्धि की दर भी बहुत ही निम्न होती है जो पृष्ठ ७ की तालिका से स्पष्ट है :—

---

of affairs may be due to stagnancy of techniques or to certain inhibiting socio-economic factors which prevent the more dynamic forces in the economy from asserting themselves."—First Five Year Plan.

"The term under-developed countries usually refers loosely to countries or regions with levels of real income and capital per head of population which are low by standards of North America, Western Europe and Australasia."—Bauer and Yamey.

"The most serviceable single indicator of an under-developed economy is low per capita real income, whatever else may be said to characterise such an economy."—K. K. Kurihara.

"A country characterised by: (a) mass poverty which is chronic and not the result of some temporary misfortune, and (b) by obsolete methods of production and social organisation which means that poverty is not entirely due to poor natural resources and hence could presumably be lessened by methods already proved in other countries". **Eugene Staley**: The Future of Under-developed Countries, p, 13.

कुछ प्रमुख देशों की प्रति-व्यक्ति आय (अमेरिकी डॉलर में)[1]

देश	१९५३-५४	१९६९	देश	१९५३-५४	१९६९
सं० रा० अमेरिका	१८७०	४२४०	जापान	१९०	१४३०
कैनाडा	१३१०	२६५०	लंका	११०	१९०
ब्रिटेन	७८०	१४९०	भारत	६०	११०

(२) **कृषि की प्रधानता** (Predominance of Agriculture) :—अर्द्ध-विकसित आर्थिक व्यवस्था वाले देशों में कृषि की प्रधानता रहती है, यानी इनकी जनसंख्या का एक बहुत बड़ा भाग कृषि-व्यवसाय में लगा रहता है। गैर-कृषि क्षेत्रों में रोजगार के साधनों के अभाव में जनसंख्या का एक बड़ा भाग बरबस खेती पर निर्भर रहने के लिए बाध्य होता है। इन देशों की राष्ट्रीय आय का लगभग आधा या इससे भी अधिक भाग कृषि से ही प्राप्त होता है। इसके विपरीत आर्थिक दृष्टि से सम्पन्न व विकसित देशों में जनसंख्या का अधिक भाग गैर-कृषि उत्पादन में ही लगा रहता है तथा इनकी आय का बड़ा भाग उद्योग-धंधों से प्राप्त होता है। उदाहरण के लिए, १९६८ ई० में भारत की कुल आय का प्रायः ५२ प्रतिशत भाग कृषि तथा १९ प्रतिशत भाग उद्योग-धन्धों से प्राप्त हुआ था जबकि संयुक्त राज्य अमेरिका में कृषि एवं उद्योग-धंधों का प्रतिशत क्रमशः ३ तथा ३७ एवं ब्रिटेन में ३ तथा ४७ प्रतिशत था। वास्तव में, औद्योगीकरण एवं आर्थिक विकास सहगामी होते हैं, अतएव आर्थिक दृष्टि से समुन्नत राष्ट्र बहुधा उद्योग-प्रधान होते हैं।

भारत में भी यहाँ की कुल जनसंख्या के प्रायः ७० प्रतिशत व्यक्ति कृषि पर ही आश्रित हैं। हमारी कृषि पर यह अत्यधिक निर्भरता विश्व के विकसित देशों की तुलना में बहुत ही अधिक है जो निम्नांकित तालिका से स्पष्ट है :—

कृषि पर आश्रित जनसंख्या का प्रतिशत, १९६५

विकसित देश	कृषि पर आश्रित जनसंख्या	अर्द्ध-विकसित देश	कृषि पर आश्रित जनसंख्या
ब्रिटेन	४	मलाया	६४
संयुक्त राज्य अमेरिका	९	सीलोन	५३
आस्ट्रेलिया	१०	ब्राजिल	५८
कैनाडा	११	भारत	७०

भारत में प्रति-व्यक्ति उपलब्ध कृषि-योग्य भूमि बहुत ही कम है। साथ ही, उद्योग-धन्धों पर भी यहाँ बहुत ही कम व्यक्ति आश्रित हैं। कृषि पर यह अत्यधिक निर्भरता वास्तव में हमारी असंतुलित आर्थिक व्यवस्था का परिचायक है।

(३) **कृषि-उत्पादन का निम्न स्तर** (Low level of Agricultural Production) :—अर्द्ध-विकसित देशों में कृषि-व्यवसाय की प्रधानता के साथ-साथ कृषि में प्रति-एकड़ एवं प्रति-व्यक्ति औसत उत्पादन का स्तर भी बहुत ही निम्न होता है। जोतें प्रायः छोटी-छोटी एवं बिखरी हुई (Small and scattered) होती हैं तथा खेती बहुधा पिछड़ी हुई स्थिति में पायी जाती है। इन देशों में पुरानी कृषि-पद्धतियाँ ही प्रचलित रहती हैं। कृषि में विनियोग

1. India Pocket Book of Economic Information, 1970.

बहुत कम होता है क्योंकि यह मुख्यतः घाटे का व्यवसाय रहता है। जनसंख्या का अधिक भाग खेती में लग कर भी पर्याप्त मात्रा में खाद्यान्न व कच्चे माल का उत्पादन नहीं कर पाता जबकि विकसित देशों में थोड़े से व्यक्ति ही बहुत अधिक उत्पादन कर लेते हैं जिससे वे निर्यात के लायक भी बचा लेते हैं। कृषि के इस पिछड़ेपन के अनेकों कारण हैं जैसे—प्रगतिशील भूमि-व्यवस्था का अभाव, यन्त्रों के प्रयोग का अभाव, उत्तम खाद, औजार, बीज, सिचाई आदि की सुविधा का अभाव, सम्बन्ध संगठन कमजोरियाँ—जैसे सहकारी संगठन की प्रगति का अभाव, साख, बिक्री व उत्पादन में व्यक्तिगत प्रणाली के दोषों का पाया जाना आदि।

भारत में भी यह परिस्थिति विशेष रूप से पायी जाती है। यहाँ किसानों की जोतें छोटी-छोटी और बिखरी हुई होती हैं। साथ ही, यहाँ पर भू-स्वामित्व की प्रणाली भी दोषपूर्ण है जिससे उत्पादन बढ़ाने के लिए काश्तकार को कोई भी प्रेरणा नहीं मिलती। ग्रामीण कर्ज का बोझ निरन्तर बढ़ते जा रहा है, सिचाई के साधनों का अभाव है, इत्यादि। ऐसी स्थिति में कृषि का पिछड़ा होना बिल्कुल स्वाभाविक है।

(४) **जनसंख्या की अत्यधिक वृद्धि** (Excessive increase in population):—अर्द्ध-विकसित देशों में जनसंख्या बहुत तेजी के साथ बढ़ती है जिससे इस प्रकार के अधिकांश देशों में जनाधिक्य की समस्या पायी जाती है। इन देशों में जन्म-दर तथा मृत्यु-दर दोनों ही बहुत अधिक होती है तथा जीवन की औसत आयु भी बहुत ही निम्न होती है। जन्म-दर अत्यधिक होने तथा स्वास्थ्य-सम्बन्धी सुविधाओं में वृद्धि के कारण मृत्यु-दर में धीरे-धीरे कमी के फलस्वरूप इन देशों की जनसंख्या बहुत तेजी के साथ बढ़ती है। इस प्रकार अत्यधिक दर से बढ़ती हुई जनसंख्या पौष्टिक भोजन का अभाव, स्वास्थ्य-सम्बन्धी सुविधाओं की कमी तथा ग्रामीण एवं शहरी क्षेत्रों में भीड़ आदि अर्द्ध-विकसित देशों की प्रधान विशेषताएँ हैं।

भारत में भी यह समस्या विशेष रूप से पायी जाती है। सन् १९७१ की जनगणना के अनुसार पिछले दस वर्षों में भारत में जनसंख्या की औसत वार्षिक वृद्धि की दर २·४५ प्रतिशत थी, यानी देश की जनसंख्या में आजकल वार्षिक वृद्धि १ करोड़ से भी अधिक हो रही है। भारत के प्राकृतिक साधनों के तीव्रतम गति से उपयोग करने पर भी इतनी विशाल जनसंख्या के रहन-सहन के स्तर को ऊँचा करना निश्चय ही बहुत कठिन होगा।

(५) **पूँजी का अभाव** (Lack of capital):—अर्द्ध-विकसित देशों के आर्थिक विकास के अवरुद्ध होने का एक प्रमुख कारण पूँजी का अभाव है। इन देशों में पूँजी की कमी दो बातों से स्पष्ट होती है—प्रथमतः तो इनमें प्रति-व्यक्ति उपलब्ध पूँजी की मात्रा निम्न होती है तथा द्वितीयतः पूँजी-निर्माण की प्रचलित दर भी निम्न होती है। प्रति-व्यक्ति इस्पात तथा बिजली के निम्न उत्पादन से इनमें पूँजी का अभाव बिल्कुल स्पष्ट हो जाता है। इस प्रकार १९६८ ई० में इस्पात का प्रति-व्यक्ति उत्पादन सं० रा० अमेरिका में ६१८ कि० ग्रा०, जापान में ६६२ कि०ग्रा० तथा ब्रिटेन में ४७८ कि० ग्राम था जबकि भारत में यह केवल १२ कि० ग्राम था। इसी प्रकार बिजली का औसत प्रति-व्यक्ति उत्पादन १९६८ में सं० रा० अमेरिका में ७१४१ इकाई तथा ब्रिटेन में ४०६० इकाई था जबकि भारत में इसका औसत केवल ९४ इकाई था। इन देशों में राष्ट्रीय आय बहुत ही कम होती है, जिसका अधिकांश भाग उपभोग में ही खर्च होता है, अतएव बचत बहुत ही कम होती है। जो थोड़ी-बहुत बचत होती भी है उसका उपयोग मुख्यतः मकान बनाने, आभूषण खरीदने व विलासिताओं इत्यादि में होता है। बचत के इस प्रकार अनुत्पादक कार्यों में प्रयोग होने से पूँजी की कमी सदा बनी रहती है। किन्तु इन देशों में भूमि की उत्पादकता (Productivity) बढ़ाने के लिए पूँजी की बहुत अधिक आवश्यकता पड़ती है। श्रमिकों की कार्य-क्षमता बढ़ाने, इनके प्रशिक्षण एवं पुरानी मशीनों व औजारों के स्थान पर नयी-नयी मशीनों एवं औजार लगाने के लिए पूँजी की मांग उसकी आपूर्ति से कितनी ही गुनी अधिक होती है। अतः पूँजी की उत्पादकता

बढ़ाने के लिए और अधिक पूँजी की आवश्यकता होती है। साथ ही, अर्द्ध-विकसित आर्थिक व्यवस्था वाले देशों में आर्थिक विकास से जब आय बढ़ती है तो पहले उस बढ़ी हुई आय को विनियोग के बजाय लोग उपभोग में ही व्यय कर डालते हैं। दूसरे शब्दों में, निम्न जीवन-स्तर के कारण आय बढ़ने से लोग पहले अपनी दबी हुई आवश्यकताओं को संतुष्ट करने लगते हैं। अत., बचत का बढ़ना बहुत ही कठिन हो जाता है।

भारत में भी यह बात विशेष तौर पर पायी जाती है। देश में पूँजी का अभाव यहाँ की एक प्रमुख समस्या है। निम्नांकित तालिका[1] से १९६८ ई० में विश्व के अन्य देशों के साथ तुलना करने पर यह कमी अधिक स्पष्ट होती है :—

स्थानीय आंतरिक पूँजी-निर्माण कुल राष्ट्रीय उत्पादन के प्रतिशत में, १९६८

विकसित देश	पूँजी-निर्माण	अविकसित देश	पूँजी-निर्माण
जापान	३९ प्रतिशत	ईराक	१५ प्रतिशत
आस्ट्रेलिया	३० ,,	तुर्की	१४ ,,
कैनाडा	२४ ,,	लंका	१९ ,,
संयुक्त राज्य अमेरिका	१८ ,,	घाना	११ ,,
ब्रिटेन	१९ ,,	भारत	११ ,,

योजना आयोग के [illegible] अनुमान के अनुसार [illegible] में भारत में कुल बचत [illegible] करोड़ रुपये थी यानी राष्ट्रीय आय का केवल प्राय: ८% भाग ही बचाया गया था।[2] देश में २·५ प्रतिशत की दर से बढ़ती हुई जनसंख्या की स्थिति में केवल आर्थिक विकास के वर्तमान स्तर को बनाये रखने के लिए १० प्रतिशत विनियोग की आवश्यकता है। दूसरे शब्दों में, आर्थिक विकास की गति को तीव्र बनाने के लिए बहुत अधिक उच्च दर से पूँजी-निर्माण आवश्यक है। इस प्रकार घरेलू पूँजी (Domestic Capital) के अभाव के कारण अर्द्ध-विकसित देशों में आर्थिक विकास के लिए विदेशों से बड़े पैमाने पर पूँजी का आयात करना पड़ता है।

(६) **औद्योगीकरण का अभाव** (Lack of Industrialisation) :—अर्द्ध-विकसित देशों की एक प्रधान विशेषता आधुनिक ढंग के बड़े पैमाने के उद्योगों का अभाव है। इन देशों में पूँजीगत वस्तुओं (Capital goods) का उत्पादन व मशीनों का निर्माण लगभग नहीं के बराबर होता है। इससे अर्थ-व्यवस्था में तीव्र विकास के लिए आवश्यक गति नहीं आ पाती। कई पिछड़े हुए देशों में उपभोक्ता वस्तुओं के उद्योग तो चालू हो जाते हैं, लेकिन इनमें प्रयुक्त होने वाली मशीनें बाहर से आती हैं। किन्तु यह विकास का अरक्षित तरीका है और इससे सुदृढ़ व निरन्तर आर्थिक प्रगति नहीं हो पाती। अतएव इन देशों की कुल राष्ट्रीय उत्पत्ति में कृषि की अपेक्षा उद्योग-धन्धों का योगदान बहुत ही कम होता है जो निम्नांकित तालिका[3] से स्पष्ट है :—

कुल राष्ट्रीय उत्पत्ति में विभिन्न उद्योगों का सहयोग, १९६६

देश	कृषि एवं तत्सम्बन्धी उद्योगों का प्रतिशत	निर्माण उद्योगों का प्रतिशत	सेवाएँ
संयुक्त-राज्य	३	३७	६०
ब्रिटेन	३	४६	५१
कैनाडा	६	३८	५६
जापान	१२	३६	५२
भारत	५२	१९	२९

1. India Pocket Book of Economic Information, 1970.
2. India—1971-72.
3. India Pocket Book of Economic Information. 1970.

भारत भी औद्योगिक दृष्टि से एक पिछड़ा राष्ट्र है। पंचवर्षीय योजनाओं के अन्तर्गत देश में औद्योगिक प्रगति अवश्य हो रही है, लेकिन जनसंख्या, देश के विस्तार एवं प्राकृतिक साधनों की प्रचुरता आदि को देखते हुए यह बहुत ही कम है। भारी एवं आधारभूत उद्योगों और मशीनों के बनाने वाले उद्योगों की यहाँ विशेष रूप से कमी है। अत्यधिक जनसंख्या एवं पूँजी का अभाव औद्योगीकरण के मार्ग में बाधक सिद्ध होते हैं।

(७) उपयुक्त सामाजिक वातावरण एवं मनोवृत्ति का अभाव :—अर्द्ध-विकसित देशों का सामाजिक ढाँचा अत्यंत भी प्राचीन होता है जिससे यह विकास में बाधक सिद्ध होता है। उदाहरण के लिए, भारत में ही जाति-प्रथा एवं सम्मिलित कुटुम्ब-प्रणाली ने श्रम एवं पूँजी की गतिशीलता को रोका है, प्रेरणा एवं साहस को निरुत्साहित किया है तथा आर्थिक पिछड़ेपन को स्थायित्व प्रदान किया है। इन देशों की जनता अत्यधिक रूढ़िवादी होती है और पीढ़ियों से चली आनेवाली परम्पराओं के आर्थिक दृष्टि से अहितकर होने पर भी इन्हें निभाती रहती है। इनमें सामाजिक प्रथाओं पर ब ुत अधिक अपव्यय होता है। इससे देश के सीमित साधनों का बहुधा दुरुपयोग होता है।

भारत में भी यह बात मुख्य रूप से पायी जाती है। लगातार निर्धनता में पड़े रहने के कारण आम जनता में अपनी स्थिति को सुधारने की इच्छा समाप्त हो गयी है। लोग पूर्णतया भाग्यवादी बन गये हैं। अतएव आर्थिक विकास के लिए जन-साधारण में उत्साह उत्पन्न करना कठिन हो जाता है। निर्धनता को देशवासी एक दैवी देन मान कर कार्य करते हैं।

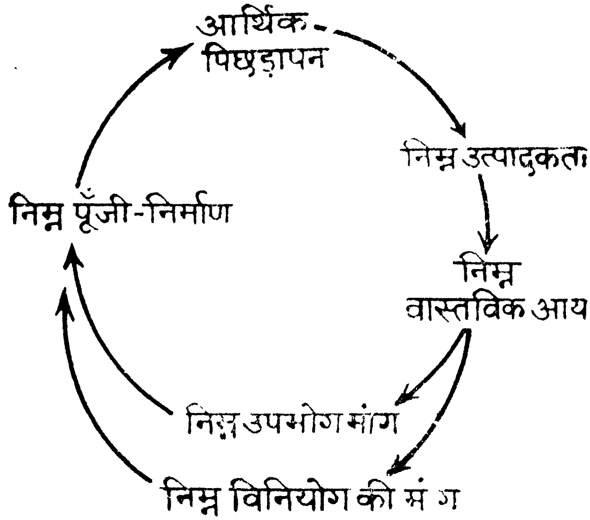
(८) बाजार की अपूर्णताएँ (Market imperfections) :—भारत जैसे अर्द्ध-विकसित देशों में बाजार की कई अपूर्णताएँ भी पायी जाती हैं, जैसे —उत्पादन के साधनों की अगतिशीलता, मूल्यों की बेलोच प्रकृति, बाजार की परिस्थितियों से अज्ञानता, बेलोचदार आर्थिक ढाँचा, एवं विशिष्टीकरण का अभाव इत्यादि।[1] इससे साधनों का सर्वोत्तम उपयोग नहीं हो पाता है। उल्टे, आर्थिक साधनों का कभी-कभी दुरुपयोग ही होता है। बाजार की अपूर्णताओं के कारण ही विनियोग को प्रोत्साहन नहीं मिल पाता, देश में मांग की कमी रहती है और उद्यमकर्त्ताओं की भी कमी बनी रहती है।

भारत में भी यह बात मुख्य रूप से पायी जाती है। यहाँ का आर्थिक ढाँचा बिल्कुल बेलोचदार है और आम तौर पर यहाँ विशिष्टीकरण का अभाव पाया जाता है।

(९) आर्थिक कुचक्रों का जोर (Forces of economic vicious circles) :—इन देशों की निर्धनता का सबसे बड़ा कारण इनकी भीषण निर्धनता ही है। एक गरीब देश इसलिए गरीब है कि वह गरीब है। वास्तव में, पिछड़े हुए एवं अर्द्ध-विकसित देशों की आर्थिक परिस्थितियों का यह सही चित्र है। इनमें कई प्रकार के आर्थिक कुचक्र पाये जाते हैं जिन्हें तोड़ना अत्यन्त दुष्कर होता है। रेगनर नर्क्से (R. Nurkse)[2] ने गरीबी के ऐसे कई कुचक्रों का सविस्तार वर्णन किया है। इनके अनुसार एक गरीब व्यक्ति के पास खाने के लिए पर्याप्त मात्रा में भोजन नहीं है जिससे वह कमजोर रहता है और काम कम कर पाता है। कम काम करने से उसकी आय कम होती है जिससे वह गरीब रहता है और गरीब रहने से उसके पास खाने का पूरा इन्तजाम नहीं हो पाता है इत्यादि। **"इस प्रकार अर्द्ध विकसित देशों की निर्धनता का सबसे बड़ा कारण इनकी निर्धनता ही है।"**

1. Meier & Baldwin : Economic Development : Theory, History and Policy.
2. R. Nurkse ; Problems of Capital Formation in Under-developed Countries.

एक दूसरा कुचक्र भी इसी प्रकार का है—इन देशों में बचत की कमी रहती है, जिससे पूँजी का अभाव पाया जाता है। पूँजी के अभाव के कारण उत्पादन कम होता है जिससे वास्तविक आय बहुत कम होती है और वास्तविक आय कम होने के परिणामस्वरूप बचत भी कम होती है। इस प्रकार आर्थिक व्यवस्था का यह कुचक्र सदा चलते रहता है जिसे तोड़ना बहुत ही कठिन है। निम्नांकित चित्र से निर्धनता के इस कुचक्र का अन्दाजा लगाया जा सकता है :—



निर्धनता का कुचक्र

भारत के सम्बन्ध में भी यह बात मुख्य रूप से पायी जाती है। निर्धनता के कारण देशवासियों के पास प्रर्याप्त मात्रा में कार्य करने की शक्ति का अभाव पाया जाता है जिससे अधिक परिश्रम कर भी अपनी आय बढ़ाने में वे बहुधा असमर्थ रहते हैं।

(१०) अयोग्य मानवीय साधन (Poor quality of human capital) :—अर्द्ध-विकसित देशों की एक प्रधान विशेषता मानवीय साधनों का पिछड़ा हुआ होना है। इन देशों में अधिकांश व्यक्ति अशिक्षित, कमजोर तथा भाग्यवादी होते हैं। ग्रामीण क्षेत्रों में तो अशिक्षा का प्रतिशत और भी अधिक होता है। भारत में भी यह बात पूर्ण रूप से पायी जाती है। १९७१ ई० की जनगणना के अनुसार देश में केवल २९.३५ प्रतिशत व्यक्ति ही शिक्षित हैं। ग्रामीण क्षेत्रों में अशिक्षा की समस्या और भी अधिक है। सफाई-सम्बन्धी सुविधाओं के अभाव में देशवासी अत्यत कमजोर होते हैं। शिक्षा तथा स्वास्थ्य के ऊपर इन देशों में प्रति-व्यक्ति व्यय बहुत ही कम होता है। उदाहरण के लिए, भारत में प्रति-व्यक्ति शिक्षा पर औसत व्यय केवल १५ रुपये है जबकि संयुक्त राज्य अमेरिका में यह ८००० है। ऐसी स्थिति में शिक्षा, स्वास्थ्य तथा विकास के अन्य मदों में बड़ी-बड़ी रकम खर्च करनी पड़ती है।

इस प्रकार अर्द्ध-विकसित आर्थिक व्यवस्था वाले देशों की उपरोक्त सारी विशेषताएँ हैं। इनके अध्ययन से यह स्पष्ट है कि इन देशों की समस्याएँ बड़ी जटिल हैं अतएव क्रांतिकारी उपायों के द्वारा ही इनका समाधान किया जा सकता है। किन्तु हर्ष का विषय है कि स्वतन्त्रता-प्राप्ति के

बाद हम भारतवासी आयोजित तरीके से देश के आर्थिक विकास में संलग्न हैं। हमारे इस प्रयास में कुछ सफलता भी मिली है, किन्तु अभी हमारी स्थिति में संतोषजनक सुधार नहीं हो पाया है।

आर्थिक विकास की पाँच अवस्थाएँ एवं भारत

(India and Five Stages of Economic Growth)

प्रो० रोस्टोव (Rostow)[1] के अनुसार किसी देश के आर्थिक विकास के निम्नांकित पाँच स्तर हैं :—

(१) प्रथम स्तर : परम्परागत समाज की अवस्था (The Stage of Traditional Society) :—इसके अन्तर्गत समाज का विकास अद्यतन एवं सीमित उत्पादक कार्यों के अन्तर्गत होता है। प्रो० रोस्टव के अनुसार "A traditional society is one whose structure is developed within limited production functions based on pre-Newtonian science and technology." इस प्रकार के समाज में कृषि की प्रधानता रहती है। समाज के अधिकांश साधन कृषि में ही लगे होते हैं। किन्तु कृषि की रीतियाँ भी अत्यन्त प्राचीन होती हैं।

(२) द्वितीय स्तर : आत्म-स्फूर्ति विकास की पूर्वास्थाओं (Pre-conditions for Take off) को स्थापित करने का स्तर है। इसमें विकास का कार्य प्रारम्भ हो जाता है। इस अवस्था में विकास के आवश्यक साधनों—जैसे कच्चे पदार्थ, श्रम एवं पूँजी आदि को एकत्र किया जाता है तथा प्रविधि में सुधार किया जाता है; और इस प्रकार आत्म-स्फूर्ति के स्तर की प्राप्ति के लिए पृष्ठ-भूमि तैयार की जाती है। इस स्तर में विनियोग साधारणतया राष्ट्रीय आय के पाँच प्रतिशत से बढ़कर १० प्रतिशत तक हो जाता है। इससे राष्ट्रीय आय में साधारणतया जनसंख्या से अधिक वृद्धि होती है। वास्तव में, यह आत्म-स्फूर्त्ति विकास की अवस्था की भूमिका मात्र है। विकास के इस स्तर में नगरों का महत्त्व धीरे-धीरे बढ़ने लगता है।

(३) तृतीय स्तर : आत्म-स्फूर्ति विकास (The Take-off) :—तृतीय स्तर को रोस्टोव ने आत्म-स्फूर्ति विकास का स्तर कहा है। प्रो० रोस्टोव के अनुसार "The take-off is the interval when the old block and resistances to steady growth are finally overcome and growth becomes a normal condition." इस स्तर की निम्नांकित प्रधान विशेषताएँ हैं—प्रथमतः, इसमें विनियोग की दर राष्ट्रीय आय के १० प्रतिशत या इससे भी अधिक हो जाती है। द्वितीयतः, इसमें एक या अधिक निर्माणकारी उद्योगों, जिनमें विकास की दर अधिक ऊँची होती है, का विकास होने लगता है। तृतीयतः, इसमें देश के राजनीतिक, सामाजिक एवं संस्थागत ढाँचे में इस प्रकार के परिवर्तन होते हैं जो विकास के आवेग को क्रियात्मक रूप देकर इस प्रक्रिया को आगे बढ़ाते हैं। देश की सरकार भी आधुनिक पद्धतियों के प्रयोग द्वारा तीव्र गति से आर्थिक विकास के लिए दृढ़ संकल्प हो जाती है।

(४) चतुर्थ स्तर : परिपक्वता की ओर (The Drive to Maturity) :—चतुर्थ स्तर परिपक्वता की ओर का स्तर है जो आत्म-स्फूर्ति की समाप्ति के बाद आता है। इस स्तर में राष्ट्रीय आय के दस से २० प्रतिशत तक का निरन्तर विनियोग किया जाता है जिससे जनसंख्या की तुलना में उत्पत्ति अधिक होती है। वृद्धि के इस स्तर में अर्थ-व्यवस्था स्वतः प्रचालित स्थिति में पहुँच जाती है, क्योंकि यह बगैर किसी वाह्य सहायता के भी आगे चल सकती है। इस स्तर में देश की अर्थ-व्यवस्था किसी भी अपेक्षित वस्तु का उत्पादन प्रारम्भ करने योग्य हो जाती है। परिपक्व अवस्था की प्राप्ति के फलस्वरूप देश को अन्य देशों पर निर्भरता समाप्त हो जाती है। प्रो० रोस्टोव के अनुसार आत्म-स्फूर्ति की अवस्था के प्रारम्भ होने के कोई ६० वर्षों बाद परिपक्वता की स्थिति उत्पन्न होती है।

---

1. Rostow—The Stages of Economic Growth, 1960.

(५) पंचम स्तर : अधिकाधिक उपभोग का स्तर (Age of High mass Consumption) है। इस स्तर में उद्योग-धंधे अधिकाधिक मात्रा में टिकाऊ उपभोक्ता वस्तुओं, जैसे, मोटरकार, फ्रिज आदि के उत्पादन की ओर अग्रसर हो जाते हैं। इन वस्तुओं की मांग अब समाज में कुछ ही व्यक्ति नहीं करते वरन् इनकी मांग सर्वसाधारण द्वारा की जाने लगती है। इसमें तकनीकी विकास उस सीमा तक पहुँच जाता है जबकि और अधिक सुधार की बहुत कम गुंजाइश रहती है। संयुक्त राज्य अमेरिका आजकल इसी स्थिति से गुजर रहा है।

प्रो० रोस्टोव के अनुसार भारत सन् १९५२ ई० में ही आत्म-स्फूर्ति अवस्था में प्रवेश कर गया है। उन्होंने इसकी पुष्टि के लिए कुछ तर्क भी दिया है, किन्तु यह कहा जा सकता है कि भारतीय अर्थ-व्यवस्था अभी आर्थिक विकास के तृतीय स्तर, यानी आत्मस्फूर्ति विकास (Take-off) में प्रवेश कर रही है। देश की राष्ट्रीय आय का प्राय. १२ से १४ प्रतिशत भाग का विनियोग किया जाता है। ऐसी आशा की जाती है कि सातवीं योजना तक आत्म-स्फूर्ति स्तर चलेगा जिसके बाद अर्थ-व्यवस्था परिपक्वता की ओर अग्रसर होगी।

भारत के आर्थिक विकास के तत्त्व

(Factors in India's Economic Development)

किसी देश का आर्थिक विकास[1] मुख्यत: निम्नलिखित तत्त्वों पर निर्भर करता है—

(१) पूंजी-निर्माण की दर,

(२) जनसंख्या की अत्यधिक वृद्धि पर नियंत्रण,

(३) नये-नये साधनों की खोज,

(४) संस्थागत कारण,

(५) प्राविधिक प्रगति, तथा

(६) आर्थिक प्रगति के सम्बन्ध में लोगों की मनोवृत्ति।

आर्थिक विकास के लिए इन सभी साधनों का योगदान अनिवार्य है। किन्तु, जब किसी देश की शुद्ध उत्पत्ति एवं आय में उसकी जनसंख्या की वृद्धि की अपेक्षा अधिक दर से वृद्धि होती है, तथा सभी क्षेत्रों में प्राविधिक प्रगति भी साथ-ही-साथ होती है तभी उसमें द्रुतगति से आर्थिक विकास के लिए उचित वातावरण पाया जाता है।

आर्थिक विकास की प्रक्रिया यह है कि लोग अपनी मौद्रिक आय का एक अंश बचाते हैं, और जब इस बचत को विनियोग किया जाता है तो इससे रोजगार, उत्पत्ति एवं आय में वृद्धि होती है। इनमें वृद्धि होने से देशवासियों की आय बढ़ती है जिससे ये और अधिक मात्रा में बचाते हैं तथा पूंजी-निर्माण की प्रक्रिया में वृद्धि होती है। किन्तु, जब देशवासी अपनी मौद्रिक आय का एक अंश बचाते हैं तो मुद्रा के रूप में यह बचत अपने-आप में कोई महत्त्वपूर्ण नहीं होती। इस सम्बन्ध में वास्तविक महत्त्व विनियोग की वस्तुओं का है जो इस मौद्रिक बचत के बदले में उपलब्ध होती हैं। इन्हीं विनियोग की वस्तुओं का प्रयोग अधिक धन के उत्पादन में किया जाता है। इस प्रकार प्रति-व्यक्ति आय में वृद्धि के लिए मौद्रिक बचत एवं विनियोग में वृद्धि अनिवार्य है।

1. आर्थिक विकास (Economic Development) की विभिन्न परिभाषाएँ दी जाती है। इनमें प्रो० मायर एवं बाल्डविन (Meier and Baldwin) द्वारा दी गयी निम्नांकित परिभाषा उल्लेखनीय है :—"Economic develop ment is a process whereby an economy's real national income increases over a long period of time. And, if the rate of development is greater than the rate of population growth, then per-capita real income will also increase"

किन्तु, भारत जैसे देश में, जिसकी जनसंख्या प्रतिवर्ष प्राय: २·५ प्रतिशत की दर से बढ़ रही है, प्रति-व्यक्ति आय को समान बनाये रखने के लिए भी राष्ट्रीय आय के कम-से-कम १० प्रतिशत के विनियोग की आवश्यकता पड़ती है। अतएव आर्थिक विकास की गति को तीव्र बनाने के लिए राष्ट्रीय आय के इससे भी अधिक भाग के विनियोग की आवश्यकता पड़ती है।

भारत में भूमि, श्रम एवं कच्चे पदार्थों की प्रारम्भ से ही प्रचुरता रही है। साथ ही, स्वतन्त्रता-प्राप्ति के पूर्व भी यहाँ पर आर्थिक विकास के लिए आवश्यक यातायात एवं शक्ति के साधन थोड़ी-बहुत मात्रा में वर्तमान थे। किन्तु, आर्थिक विकास के लिए उचित संगठन के अभाव में देश आर्थिक दृष्टि से पिछड़ा रह गया है। संगठन का अभाव कृषि एवं उद्योग दोनों क्षेत्रों में समान रूप से व्याप्त था। उदाहरण के लिए, भारतीय किसान आज भी कृषि के प्राचीन तरीके, प्राचीन औजार, खराब बीज, कम खाद आदि से उत्पादन का कार्य करता है। इसी प्रकार सूती-वस्त्र, जूट, चीनी आदि उद्योगों में भी प्राचीन प्रविधियों का प्रयोग किया जाता है। रेलवे, शक्ति तथा लोहा एवं इस्पात जैसे कुछ उद्योगों में उत्पादन के आधुनिक तरीकों का प्रयोग अवश्य किया जाता है, किन्तु इन्हें अपवाद-स्वरूप ही समझना अच्छा होगा। प्रथम एवं द्वितीय महायुद्ध तथा विवेचनात्मक संरक्षण की नीति जैसे तथ्यों ने आर्थिक विकास की संभावनाओं को प्रस्तुत अवश्य किया है और इनके परिणामस्वरूप कुछ क्षेत्रों में उत्पादन में वृद्धि भी हुई, किन्तु इससे देश में व्यापक तरीके से आर्थिक विकास की शुरुआत नहीं हो सकी। वास्तव में, यहाँ आर्थिक विकास के लिए आवश्यक अन्य तत्त्वों का अभाव था। उदाहरण के लिए, अल्प आय के कारण यहाँ पर बचत बहुत ही कम होती थी और जो थोड़ी बहुत बचत होती भी थी उसका विनियोग उत्पादक कार्यों में नहीं हो पाता था। जो थोड़ी बहुत पूँजी विनियोग के लिए उपलब्ध भी थी उसे वाणिज्य एवं व्यापार में लगाया जाता था। भारतीय उद्योगपति वैज्ञानिक अनुसंधान एवं प्राविधिक विकास पर जोर नहीं देते थे जिससे देश का आर्थिक विकास नहीं हो सका। साथ ही, देश की विशाल जनसंख्या एवं बहुत बड़े क्षेत्र के बावजूद अत्यधिक निर्धनता के कारण औद्योगिक वस्तुओं की मांग भी बहुत कम थी। इसी प्रकार सामाजिक एवं राजनीतिक परिस्थितियाँ भी इस स्थिति के लिए बहुत हद तक उत्तरदायी थीं। और अंततः, स्वतन्त्रता-प्राप्ति के पूर्व तक भारत पर अंग्रेजों का शासन था और ब्रिटिश सरकार देश के औद्योगिक विकास में कोई अभिरुचि नहीं रखती थी।

इन सब कारणों के परिणामस्वरूप स्वतन्त्रता-प्राप्ति के पूर्व तक देश में—(क) प्रति-व्यक्ति आय बहुत ही निम्न थी, (ख) आर्थिक विकास की दर बहुत ही कम, साधारणतया वार्षिक १ प्रतिशत तक थी, तथा (ग) देश की अर्थ-व्यवस्था में संतुलन का अभाव था।

पंचवर्षीय योजनाओं में आर्थिक विकास

(Economic Development in Five Year Plans)

किन्तु स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद भारत में आर्थिक विकास के लिए आयोजित प्रयास का युग प्रारम्भ हुआ। पंचवर्षीय योजनाओं के अन्तर्गत देश में द्रुतगति से आर्थिक विकास के लिए प्रयास किये जा रहे हैं। देश के सम्पूर्ण साधनों का वैज्ञानिक आधार पर सर्वेक्षण किया जा रहा है तथा इनके अधिकतम प्रयोग पर जोर दिया जा रहा है। संक्षेप में, पंचवर्षीय योजनाओं ने देश के आर्थिक विकास में निम्न प्रकार से सहयोग प्रदान किया है—

(१) देश के आर्थिक एवं औद्योगिक ढाँचे की त्रुटियों को दूर कर,

(२) उपलब्ध साधनों के उत्तम प्रयोग के द्वारा, तथा

(३) लोगों को आर्थिक विकास की आवश्यकता के सम्बन्ध में जागरूक बनाकर।

प्रथम, द्वितीय एवं तृतीय पंचवर्षीय योजनाओं में १९५१-५२ से १९६५-६६ के अन्तर्गत देश की शुद्ध राष्ट्रीय आय में कुल ६१ प्रतिशत की वृद्धि हुई। इस अवधि में राष्ट्रीय आय (१९४८-४९

ई० के मूल्य-तल के आधार पर)[1] ९१०० करोड़ रुपये से बढ़कर १९६५-६६ में १४,६४० करोड़ रुपये हो गयी। इस प्रकार इस अवधि[2] में राष्ट्रीय आय में प्रतिवर्ष ३ प्रतिशत (Compound rate of growth) की दर से वृद्धि हुई। इस अवधि में प्रति-व्यक्ति आय (१९४८-४९ के मूल्य-तल पर) १९५१-५२ में २५०·३ रुपये से बढ़कर १९६५-६६ में ३०१·४ रुपये हो गयी। प्रथम योजना की अवधि में विकास की दर ३·४ प्रतिशत, द्वितीय योजना की अवधि में ४ प्रतिशत तथा तृतीय योजना की अवधि में २·९ प्रतिशत थी।[3] तृतीय योजना का अन्तिम वर्ष, यानी १९६५-६६ भयानक सूखे तथा भारत-पाक युद्ध के कारण असामान्य वर्ष था।

किन्तु इस अवधि में राष्ट्रीय आय में वृद्धि के साथ-साथ जनसंख्या में भी द्रुतगति से वृद्धि हुई जिससे प्रति-व्यक्ति आय में वृद्धि बहुत ही साधारण थी। प्रथम योजना के प्रारम्भ से लेकर तृतीय योजना के अन्त तक जनसंख्या में अनुमानतः २·५ प्रतिशत की वार्षिक वृद्धि हुई, जबकि १९५०-५१ से १९६४-६५ के बीच प्रति व्यक्ति आय में २·८ प्रतिशत औसत वार्षिक वृद्धि हुई थी। इससे ऐसा जान पड़ता है कि तृतीय योजना की समाप्ति के बाद भी देश स्वतः प्रचलित आर्थिक विकास की स्थिति में नहीं पहुँच पाया।

चतुर्थ पंचवर्षीय योजना (Fourth Five Year Plan) १९६९-७४ में राष्ट्रीय आय में वार्षिक ५·५ प्रतिशत वृद्धि का आयोजन है। आयोग के अनुसार १९६८-६९ के मूल्य-तल के आधार पर शुद्ध राष्ट्रीय उत्पादन (Net National domestic product) १९६८-१९६९ में २८,१९८ करोड़ रुपये से बढ़कर १९७३-७४ में ३८,४५१ करोड़ रुपये हो जायगा। इस आधार पर योजना-काल में प्रति-व्यक्ति आय में ३ प्रतिशत वार्षिक वृद्धि की आशा की जाती है।

चतुर्थ योजना की अर्द्ध-सामयिक समीक्षा के अनुसार १९६९-७० में राष्ट्रीय आय में वास्तविक वृद्धि ५·३ प्रतिशत तथा १९७०-७१ में ४·८ प्रतिशत थी।[4]

विशेष अध्ययन-सूची

1. United Nations : Measures for the Economic Development : of Under-developed Countries.
2. United Nations : World Economic Survey.
3. Agrawal and Singh : Approach to the Problem of Under-development.
4. Mahalnobis, P. C. : Talks on Planning.
5. First, Second, Third and Fourth Five Year Plans of India.
6. Economic Survey : 1970-71.

---

1. प्रचलित मूल्य-तल पर देश की राष्ट्रीय-आय १९५१-५२ में ९९७० करोड़ रु० से बढ़कर १९६५-६६ में २०,५९० करोड़ रुपये हो गयी। इसी प्रकार प्रचलित मूल्य-तल पर प्रति-व्यक्ति आय १९५१-५२ में २७४·२ रुपये से बढ़कर १९६५-६६ में ४२३·९ रुपये हो गयी जबकि १९४८-४९ के मूल्य-तल पर यह ३०१·४ रुपये ही हुई। इन दोनों प्रकार के अंकों में अन्तर मूल्य-तल में अत्यधिक वृद्धि का परिणाम है—Economic Survey of India-1969-70.

2. तृतीय योजना के चार वर्षों में राष्ट्रीय आय में २० प्रतिशत की वृद्धि हुई, किन्तु १९६५-६६ में इसमें ५·७ प्रतिशत की कमी हुई। १९६६-६७ में राष्ट्रीय आय में केवल १·५ प्रतिशत, १९६७-६८ में ९ प्रतिशत, १९६८-६९ में २·४ प्रतिशत तथा १९६९-७० में ५·३ प्रतिशत की वृद्धि हुई। Economic Survey 1970-71.

3. तृतीय योजना के अन्त, यानी १९६५-६६ में राष्ट्रीय आय १४,६६० करोड़ रुपये हो गयी जबकि योजना का लक्ष्य १९,००० करोड़ रुपये का था। वास्तव में सूखा आदि के कारण १९६५-६६ असामान्य वर्ष था जिससे राष्ट्रीय आय बहुत कम हो गयी।

4. The Fourth Plan : Mid-term Appraisal

अध्याय : २

प्राकृतिक साधन एवं आर्थिक विकास

(Natural Resources & Economic Development)

आर्थिक विकास में प्राकृतिक साधनों का योगदान (Role of Natural Resources in Economic Development) :—किसी देश का आर्थिक विकास वहाँ के प्राकृतिक साधनों पर मुख्यतया निर्भर करता है। प्रो० लीविस (W. A. Lewis) के शब्दों में, "किसी देश के साधनों की मात्रा ही उसके विकास की मात्रा एवं प्रकार की सीमा निर्धारित करती है।" (The extent of a country's resources is quite obviously a limit on the amount and type of development which it can undergo.)[1] प्राकृतिक साधनों की सामूहिक शक्ति ही देश तथा समाज के आर्थिक विकास की सीमा एवं प्रकृति निर्धारित करती है। यह शक्ति वह आधारशिला है जिसपर मनुष्य श्रम कर सम्पत्ति का सृजन करता है। किसी देश की जलवायु, वर्षा तथा भूमि की बनावट के द्वारा कृषि की प्रकृति एवं उपज निश्चित होती है; तट-रेखा, नदियाँ तथा पहाड़ वाणिज्य-व्यापार को प्रभावित करते हैं और वन-सम्पत्ति, खनिज-सम्पत्ति एवं शक्ति के साधन उद्योग-धन्धों की गति को निर्धारित करते हैं। इस प्रकार मानव के आर्थिक जीवन पर प्राकृतिक साधनों का बड़ा ही व्यापक प्रभाव पड़ता है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि सभ्यता के विकास एवं ज्ञान में वृद्धि के साथ-साथ मानव का प्रकृति के ऊपर स्वामित्व निरन्तर बढ़ता जा रहा है, किन्तु इसकी भी एक निश्चित सीमा होती है जिसके बाद मानव को प्राकृतिक शक्तियों पर ही आश्रित रहना पड़ता है। भारत के आर्थिक जीवन में भी प्राकृतिक साधनों की प्रधानता रही है, अतः भारत की आर्थिक स्थिति का अध्ययन हम इसके प्राकृतिक साधनों के संक्षिप्त विवरण से ही प्रारम्भ करेंगे।

क्षेत्रफल तथा विस्तार :—भारत[1] का क्षेत्रफल १२,६२,५६७ वर्गमील (३२८०,४८३ वर्ग कि० मी०) है, जो सम्पूर्ण विश्व के भूखण्ड का प्रायः पन्द्रहवाँ भाग है। क्षेत्रफल की दृष्टि से भारत विश्व का सातवाँ देश है। इसका क्षेत्रफल ब्रिटेन के क्षेत्रफल का प्रायः तेरह गुना तथा जापान का आठ गुना है। किन्तु यह कनाडा के क्षेत्रफल का एक तिहाई तथा रूस के क्षेत्रफल का केवल सातवाँ भाग है। वास्तव में, भारत एक विशाल भूखण्ड है जो भूमध्य रेखा के उत्तर में ८° से लेकर ३७° उत्तरी अक्षांश रेखा तक तथा ६८° से लेकर ९७° पूर्वी देशान्तर रेखाओं के बीच स्थित है।[3] उत्तर से दक्षिण तक इसकी लम्बाई प्रायः २००० मील (३२१४ कि० मी०) तथा पूर्व से लेकर पश्चिम तक इसकी चौड़ाई लगभग १८५० मील (२९३३ कि० मी०) है।

भारत केवल आकार में ही बड़ा नहीं, वरन् मानव जाति के प्रायः छठे अंश का निवास-स्थान है। १९७१ ई० की जनगणना के अनुसार भारत की जनसंख्या ५४·६ करोड़ थी।[4]

---

1. W. A. Lewis : The Theory of Economic Growth, p. 52.
2. विभाजन के पूर्व भारतवर्ष का क्षेत्रफल १५,७४,००० वर्गमील था। इसका प्रायः ७७·२ प्रतिशत भाग भारत संघ को तथा २२·८ प्रतिशत भाग पाकिस्तान को मिला। भारत—१९६५, पृ० १·२
3. India....1971-72
4. Eastern Economist, April, 16,1971.

भौगोलिक एवं जलवायु-सम्बन्धी विभिन्नताएँ :—भारत के विभिन्न भागों में भौगोलिक एवं जलवायु-सम्बन्धी बड़ी विभिन्नताएँ पायी जाती हैं। भारत का विस्तार इतना अधिक तथा प्राकृतिक बनावट इतनी विभिन्न है कि सम्पूर्ण देश में एक प्रकार की जलवायु नहीं पायी जाती। यहाँ गगनचुम्बी पर्वत-श्रेणियाँ, विस्तृत समतल मैदान, सघन जंगल, पठार तथा मरुभूमि—सभी प्रकार के क्षेत्र पाये जाते हैं। साथ ही, विस्तृत सागर की जलराशि इसके दो लम्बे किनारों को स्पर्श करती है। भौगोलिक स्थिति तथा जलवायु में इस विभिन्नता का प्रभाव मानव के आर्थिक जीवन पर व्यापक रूप से पड़ता है। डॉ० वेरा एंस्टे (Dr. Vera Anstey) ने इसका विवरण निम्न प्रकार से किया है :—"भारतीय जलवायु की विभिन्नता के कारण पशु, वनस्पति एवं कृषि-पदार्थों में इतनी अधिक विभिन्नता पायी जाती है कि यहाँ बड़ी-बड़ी बालों वाली कश्मीर की पहाड़ी भेड़ों से लेकर राजस्थान के ऊँट और बंगाल के चीते तथा असम के हाथी तक मिलते हैं; उत्तर प्रदेश के गेहूँ, फलों एवं देवदार के बगीचों से लेकर समुद्री किनारे तथा निचले प्रदेशों के चावल एवं नारियल तक मिलते हैं तथा बंगाल, बिहार और उड़ीसा में कोयला एवं लोहा से लेकर मैसूर में सोना तथा पंजाब में नमक के पहाड तक पाये जाते हैं।" साथ ही, भारत में कई परस्पर-विरोधी बाते भी मिलती हैं। एक ओर तो राजस्थान में प्रायः वर्षा नहीं के बराबर होती है तो दूसरी ओर असम के चेरापूँजी नामक स्थान में वार्षिक वर्षा ४६० इंच होती है जो विश्व में प्रायः सबसे अधिक है। एक ओर हिमालय का अधिकांश भाग वर्ष भर बर्फ से ढँका रहता है तो दूसरी ओर यहाँ संसार में अधिकतम तापक्रम वाले स्थान भी पाये जाते हैं। इस प्रकार हमारे देश में जलवायु एवं भौगोलिक विभिन्नताएँ बहुत अधिक पायी जाती हैं। ये भौगोलिक विभिन्नताएँ हमारे आर्थिक जीवन को अधिक समृद्ध बनाती हैं तथा हमारे सम्मुख विविध एवं समृद्ध आर्थिक जीवन के विकास की असीम सम्भावनाएँ प्रस्तुत करती हैं।

भारत की मिट्टी

मिट्टी का मानव के आर्थिक जीवन से अत्यंत घनिष्ठ सम्बन्ध है। कृषि की सफलता बहुत अंशों में मिट्टी की आकृति पर ही निर्भर करती है, अतः भारत जैसे कृषि-प्रधान देश के लिए मिट्टी का महत्त्व बहुत ही बढ़ जाता है। भारत में विभिन्न प्रकार की मिट्टी पायी जाती है। किन्तु, कृषि के दृष्टिकोण से कृषि-आयोग ने यहाँ की मिट्टी को निम्नांकित चार वर्गों में विभाजित किया है—(१) **गंगा या अन्य नदियों द्वारा लायी गयी मिट्टी**-यह मिट्टी नयी तथा उपजाऊ होती है। नदियाँ अपने प्रवाह के साथ इस प्रकार की मिट्टी लाती हैं और अपने दोनों किनारों पर जमा कर देती हैं। इस प्रकार की मिट्टी गंगा के मैदान, पूर्वी तथा पश्चिमी समुद्री तट, कृष्णा, कावेरी तथा गोदावरी के डेल्टा और असम की सुर्मा घाटी में पायी जाती है। गेहूँ, चावल, जौ, ईख आदि की खेती के लिए यह विशेष रूप से उपयुक्त होती है। (२) **लाल मिट्टी**—इस प्रकार की मिट्टी में लोहे का अंश अधिक होने के कारण इसका रंग पीला अथवा लाल होता है। यह मुख्यतः तामिलनाडु, मैसूर, महाराष्ट्र के दक्षिण-पूर्वी भाग तथा उड़ीसा में पायी जाती है। रासायनिक तत्त्वों के अभाव में यह कम उपजाऊ होती है। ज्वार, बाजरा, मुंगफली तथा तिलहन की खेती के लिए यह विशेष उपयुक्त होती है। (३) **काली मिट्टी**—इस प्रकार की मिट्टी ज्वालामुखी पर्वत के लावा से बनी होती है; अतः यह अति प्राचीन होती है। यह दक्षिण के पठार के दो लाख वर्गमील क्षेत्र में पायी जाती है। कपास तथा ज्वार की खेती के लिए यह विशेष उपयुक्त होती है। (४) **रेतीली मिट्टी**—इस प्रकार की मिट्टी पहाड़ियों तथा पठारों में पायी जाती है। मोटी तथा पथरीली होने के कारण यह कम उपजाऊ होती है। छोटानागपुर, उड़ीसा के पहाड़ी प्रदेश, असम एवं मध्य प्रदेश में इस प्रकार की मिट्टी विशेष रूप से पायी जाती है। कृषि के लिए यह प्रायः उपयुक्त नहीं होती।

भारत की वन-सम्पत्ति

(India's Forest Resources)

भारत के बहुमूल्य प्राकृतिक साधनों में इसके विशाल वनों का प्रमुख स्थान है। देश के भिन्न-भिन्न भागों में जलवायु, वर्षा तथा प्राकृतिक बनावट में विभिन्नता के अनुसार विभिन्न प्रकार के वन पाये जाते हैं। ८०" से अधिक वर्षा वाले स्थानों में सदा हरे-भरे वन पाये जाते हैं। ताड़, बाँस, फर्न तथा रबर आदि इनके मुख्य वृक्ष हैं। इस श्रेणी के वन पश्चिम के समुद्री तट तथा हिमालय की पूर्वी निचली ढालों पर पाये जाते हैं। ४०" से ८०" तक वर्षा वाले स्थानों में **मौसमी अथवा पतझड़** वाले वन पाये जाते हैं। साल तथा सागौन इनके प्रमुख वृक्ष हैं। इस प्रकार के वन दक्षिणी पठार तथा उत्तरी-पूर्वी प्रदेशों में पाये जाते है। ४०" से कम वर्षा वाले स्थानों में झाड़ियों के वन पाये जाते हैं जिनमें बबूल के वृक्ष प्रमुख हैं। पूर्वी राजस्थान तथा दक्षिणी-पश्चिमी उत्तर प्रदेश में इस प्रकार के वन मुख्य रूप से पाये जाते हैं।

भारतीय वनों का क्षेत्र एवं विस्तार (Area and Extent of Forests) :—भारत के कुल ३२.७ लाख वर्ग कि० मी० भौगोलिक क्षेत्रफल में से वनों का क्षेत्रफल ७.५५ लाख वर्ग कि० मी० है जो देश के सम्पूर्ण क्षेत्रफल का प्राय: २३ प्रतिशत भाग है।[1] देश में वनों का प्रति व्यक्ति औसत ०.२ हेक्टर ही पड़ता है। किन्तु वनों का यह क्षेत्रफल देश की भौगोलिक स्थिति तथा आवश्यकताओं की दृष्टि से निश्चय ही अपर्याप्त है। विश्व के कुल वन-प्रदेश का केवल २ प्रतिशत भाग भारत में है जबकि इसकी जनसख्या विश्व की कुल जनसंख्या का प्राय: १५ प्रतिशत भाग है। वनों का क्षेत्रफल देश के कुल क्षेत्र का फिनलैंड में ५१ प्रतिशत, रूस में ४४ प्रतिशत, कैनाडा में ३३ प्रतिशत तथा संयुक्त राज्य अमेरिका में २५ प्रतिशत है। स्पष्ट है कि अन्य देशों की तुलना में भी यह अनुपात भारत में बहुत ही कम है। १९५२ ई० की हमारी राष्ट्रीय वन-नीति-सम्बन्धी प्रस्ताव के अनुसार देश के कम-से-कम एक-तिहाई भाग में वनो का होना आवश्यक माना गया है जिसमें पहाडी क्षेत्रों में वनों का अनुपात ६० प्रतिशत तथा समतल मैदान में २० प्रतिशत होना चाहिए। अतः भारत में वनों का वर्तमान प्रतिशत आदर्श अनुपात से बहुत ही कम है। इतना ही नहीं, देश में वनों के वितरण में घोर विषमता पायी जाती है जो निम्नांकित तालिका से स्पष्ट है :—

राज्यों में वनों का क्षेत्र[2] (हजार हेक्टर में)

राज्य	कुल भूमि का क्षेत्र (१-१-६६)	वन-क्षेत्र (१-४-६५)	वन-क्षेत्र कुल भूमि के प्रतिशत के रूप में	प्रति-व्यक्ति वन-क्षेत्र (हेक्टर में)
आन्ध्र प्रदेश	२७,५८४	६,४५०	२३.४	०.१६
असम	१२,१९७	२,४६७	२०.२	०.१८
बिहार	१७,४०१	३,१४३	१८.१	०.०६
गुजरात	१८,७०९	१,८६६	१०.०	०.०८
जम्मू कश्मीर	२१,२८७	२,१०८	९.५	०.५६
केरल	३,८८७	१,०५३	२७.१	०.०६
मध्य प्रदेश	४४,३४६	१७,१११	३८.६	०.४७
तमिलनाडु	१२,९९७	२,२२२	१७.१	०.६
महाराष्ट्र	३०,६२७	६,३२२	२०.६	०.१४
मैसूर	१९,१७६	३,५२२	१८.४	०.१४

1. India—1971-72
2. Forestry in India, 1967

नागालैंड	१,६४९	२९३	१५.९	०.६६
उड़ीसा	१५,५६८	६,८१६	४३.७	०.३५
पंजाब				
(हरियाना सहित)	१२,२०१	१,७८५	१४.६	०.०८
राजस्थान	३४,२२७	३,८४८	११.२	०.१७
उत्तर प्रदेश	२९,४३६	४,६६४	१५.८	०.०६
पश्चिमी बंगाल	८,७६७	१,१८१	१३.५	०.०३
केन्द्र-शासित प्रदेश	१९,५७५	८,१५७	......	......
सम्पूर्ण भारत	३२६,८०९	७२,८७८	२२.३	०.१५

इस प्रकार अधिकांश वन मुख्यत: हिमालय, विंध्य प्रदेश तथा दक्षिण के पठार तक ही सीमित हैं एवं शेष भाग में वनों का प्रतिशत प्राय: नगण्य है। देश के सबसे घने आबाद प्रदेश गंगा-सिन्धु के मैदान में, जहाँ वनों की सबसे अधिक आवश्यकता है, इनका प्रतिशत बहुत ही कम है।

प्रति-व्यक्ति औसत वन-क्षेत्र की दृष्टि से भी हमारी स्थिति अन्य देशों की अपेक्षा शोचनीय है। प्रति व्यक्ति वनों का क्षेत्र संयुक्त राज्य अमेरिका में ४.४ एकड़ तथा रूस में ८.५ एकड़ है, जबकि भारत में यह केवल ०.५ एकड़ (०.२ हेक्टर) ही है। इसमें से भी अधिकांश वन केवल नाम-मात्र के ही वन हैं। साथ ही, यहाँ पर वनों की प्रति एकड़ औसत वार्षिक उपज ३ घनफीट लकड़ी है जबकि फ्रांस में यह ५६.८ घनफीट, जापान में ३७ घनफीट तथा संयुक्त राज्य अमेरिका में १८ घनफीट है। इससे देश में प्रति-व्यक्ति उपलब्ध लकड़ी की खपत भी कम होती है। उदाहरण के लिए, अमेरिका में राउण्ड वुड (Round Wood की प्रति-व्यक्ति औसत खपत ५८ घनफीट तथा इंगलैंड में लुगदी (Pulp) की प्रति-व्यक्ति औसत खपत ७८ घनफीट है, जबकि भारत में इनकी खपत क्रमश: केवल १.४ एवं १.६ घनफीट ही है। वनों से कुल राष्ट्रीय आय का कैनाडा में ५ प्रतिशत भाग तथा संयुक्त राज्य अमेरिका में ६ प्रतिशत भाग प्राप्त होता है, जबकि भारत में १९६६-६७ में वनों से कुल राष्ट्रीय आय का केवल १.३ प्रतिशत भाग ही प्राप्त हुआ था।[1]

वनों की आर्थिक उपयोगिता
(Economic Advantages of Forests)

भारत में भी यहाँ की वन-सम्पत्ति देश के आर्थिक विकास में बहुत अधिक सहायक होती है। वन किसी देश की आर्थिक व्यवस्था को प्रत्यक्ष एवं परोक्ष दोनों रूपों से लाभ पहुँचाते हैं।

भारतीय वनों की अप्रत्यक्ष (Indirect advantages of Forests) उपयोगिता अथवा लाभ इस प्रकार हैं :—**प्रथमत:**, वन जलवायु को अधिक सम बनाते हैं, वायु में नमी लाते हैं और इस प्रकार वर्षा होने में सहायक होते हैं। **द्वितीयत:** वन प्रबल बाढ़ों को रोक कर जल के प्रवाह को अधिक नियमित बनाते हैं और इस प्रकार नदियों में जल के बहाव को निरन्तर बनाये रखते हैं। **तृतीयत:**, वन वेगवती हवाओं एवं तूफान को रोकते हैं तथा समीपवर्ती क्षेत्रों को ठंडी एवं गर्म हवाओं से बचाते हैं; **चतुर्थत:** वन मिट्टी के कटाव को रोककर उर्वर भूमि को नष्ट होने से बचाते हैं; ये वनों की उर्वरा-शक्ति को बढ़ाते भी हैं। **पंचमत:**, वन जंगली जानवरों को आश्रय प्रदान करते हैं तथा मवेशियों के चरागाह का कार्य करते हैं, और **अंतत:** वन देश के प्राकृतिक सौंदर्य तथा स्वास्थ्य की वृद्धि में भी सहायक होते हैं। इस प्रकार भारतीय कृषि को विभिन्न प्रकार से लाभान्वित करते हैं; अत: इन्हें **'भारतीय कृषि का सहचर'** (Forests are handmaid of Indian Agriculture) कहा जाता है।

1. The Eastern Economists, Annual Number, 1969, p. 1237.

वनों की प्रत्यक्ष उपयोगिता (Direct advantages of Forests) :—वनों की प्रत्यक्ष उपयोगिता इनसे प्राप्त उपजों से सम्बन्धित है। भारतीय वनों से प्राप्त उपजों को मुख्यतः दो भागों में विभाजित किया जाता है :—(क) **प्राथमिक उपजें** (Major Forest Products) :—इनमें वनों से प्राप्त विभिन्न प्रकार की लकड़ियाँ आती हैं। भारतीय वनों में प्रायः चार हजार किस्म की लकड़ियाँ पायी जाती हैं जिनका प्रयोग इमारती एवं जलावन के लिए तथा उद्योग-धन्धों के कच्चे पदार्थ के रूप में किया जाता है। साल, सागौन, देवदार, महोगनी, शीशम आदि इनकी प्रमुख लकड़ियाँ हैं। १९६६-६७ ई० में भारतीय वनों से प्रायः १०८ करोड़ रुपये मूल्य की २११ लाख घन मीटर लकड़ी प्राप्त हुई थी। (ख) **गौण उपजें** (Minor Forest Products) :—गौण उपजों के अन्तर्गत लकड़ी के अतिरिक्त वनों से प्राप्त अन्य सभी प्रकार की उपजें आती हैं। भारत के वनों में बांस तथा सवाई एवं भाभर की घास पायी जाती हैं जिनका प्रयोग कागज बनाने में किया जाता है। वनों में दियासलाई बनाने की लकड़ी भी मिलती है। इसके अतिरिक्त वनों से बीरोजा, रजन, तारपीन तथा चंदन के तेल आदि भी प्राप्त होते हैं। भारतीय वनों की एक प्रमुख उपज लाह भी है जिसका उपयोग पॉलिश, वार्निस तथा ग्रामोफोन के रिकार्ड आदि के निर्माण में होता है। भारतीय वनों से रेशम, गोंद, चमड़ा पकाने की सामग्री, रबर तथा तरह-तरह की जड़ी-बूटियाँ भी प्राप्त होती हैं। भारतीय वनों से सरकार को भी प्रतिवर्ष लगभग १४-१५ करोड़ रुपये की आय होती है। वन-सम्बन्धी उद्योगों में देश के लाखों व्यक्तियों को रोजगार भी मिलता है।

इस प्रकार भारतीय वनों का हमारे आर्थिक जीवन में बड़ा ही महत्त्वपूर्ण स्थान है। इनसे कृषि, वाणिज्य तथा उद्योग प्रायः सभी क्षेत्रों में सहायता मिलती है। भारतीय वनों से १९६६-६७ में १०८ करोड़ रुपये की २११ लाख घन मीटर लकड़ी तथा १७९७ लाख रुपये की अन्य सामग्रियाँ प्राप्त हुई थीं।[1]

भारत सरकार की वन-सम्बन्धी नीति

(Forest Policy of the Government of India)

स्वतन्त्रता-प्राप्ति के पूर्व सरकार की वन-सम्बन्धी नीति (Forest Policy of the Government in the Pre-Independence Era) :—वनों का देश की आर्थिक व्यवस्था में महत्त्वपूर्ण स्थान है। वनों के उत्पादक महत्त्व के साथ-साथ इनका संरक्षणात्मक महत्त्व भी बहुत अधिक है। वनों के इस महत्त्व को देखते हुए इनके विकास के लिए एक समुचित नीति का महत्त्व बहुत अधिक हो जाता है। किन्तु भारत में अगरेजी राज्य के सदियों पूर्व से ही वनों का अति असावधानी के साथ विनाश होता आ रहा था। ब्रिटिश शासनकाल के आरम्भिक वर्षों में रेलों के निर्माण तथा बढ़ती हुई जन एवं पशु-संख्या की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए विनाश का यह क्रम बड़ी तेजी के साथ चलता रहा।

किन्तु धीरे-धीरे ब्रिटिश सरकार ने वनों के आर्थिक महत्त्व को समझा और उनकी रक्षा का कार्य भार उठाया। सर्वप्रथम १८५५ ई० में लार्ड डलहौजी ने वनों को इस निर्मम विनाश से बचाने का प्रयत्न किया। १८६४ ई० में वनों के वैज्ञानिक प्रबन्ध एवं प्रशासन के लिए एक 'इन्सपेक्टर जेनरल ऑफ फारेस्ट्स' (Inspector General of Forests) के अधीन एक 'राजकीय वन-विभाग' का संगठन हुआ। तब से इस विभाग का निरन्तर विकास होता रहा है तथा आजकल इसके नियन्त्रण में देश के कुल भौगोलिक क्षेत्र का प्रायः २३ प्रतिशत भू-भाग है। १८९४ ई०

1. India 1971—72.

में भारतीय वनों के सम्बन्ध में तत्कालीन भारत सरकार ने एक वन-नीति की घोषणा की जिसका मुख्य उद्देश्य देश में वनों के क्षेत्र को पर्याप्त मात्रा में बनाये रखना तथा उनसे प्राप्त वस्तुओं की मात्रा को बढ़ाना था। इस नीति के अनुसार भारतीय वनों को निम्नांकित चार वर्गों में विभाजित[1] किया गया—(क) वे वन जिनकी सुरक्षा जलवायु एवं भौगोलिक दृष्टिकोण से आवश्यक है; (ख) वे वन जिनसे व्यापारिक कार्यों के लिए बहुमूल्य लकड़ियाँ मिलती हैं; (ग) छोटे-छोटे वन जिनमें साधारण प्रकार की लकड़ियाँ मिलती हैं तथा (घ) चरागाह एवं घास के मैदान जो केवल नाम-मात्र के लिए वन हैं। शासन-व्यवस्था की दृष्टि से वनों को एक-दूसरे ढंग से निम्नांकित तीन वर्गों में विभाजित किया गया—

(१) **सुरक्षित वन** (Reserved Forests) :—इन वनों में बहुमूल्य लकड़ियाँ पैदा होती हैं। जलवायु तथा प्राकृतिक दृष्टिकोण से भी इनकी रक्षा आवश्यक है। अतः सरकार इन वनों पर कठिन नियन्त्रण रखती है। इन वनों से लकड़ी काटना, इनमें पशुओं को चराना तथा प्रवेश करना निषिद्ध रहता है। १९६६-६७ ई० में इस श्रेणी के वनों का क्षेत्रफल ३४७ हजार वर्ग कि० मी० था।

(२) **रक्षित वन** (Protected Forests) : इस प्रकार के वनों में अच्छी लकड़ी उत्पन्न होती है। इनके प्रयोग का अधिकार जनता को एक सीमा के अन्दर ही दिया जाता है। १९६६-६७ ई० में इस श्रेणी के वनों का क्षेत्रफल २४६ हजार वर्ग कि० मी० था।

(३) **अवर्गित वन** (Unclassed Forests) :—इनका आर्थिक महत्त्व प्रथम दोनों श्रेणी के वनों से कम रहता है। अतः इन पर नाम-मात्र का ही सरकारी नियन्त्रण रहता है। इनमें पशु चराने तथा लकड़ी काटने पर कोई नियन्त्रण नहीं रहता। १९६६-६७ ई० में इस श्रेणी के वनों का क्षेत्रफल १३६ हजार वर्ग कि० मी० था।[2]

इस प्रकार उक्त वन-नीति का मुख्य उद्देश्य वनों का संरक्षण था और इस दिशा में यह नीति बहुत अधिक सफल भी रही। किन्तु इसमें सरकार ने अपने कार्य को वनों के वर्गीकरण तक ही सीमित रखा। वनों के विकास एवं विस्तार के प्रति सरकार प्रायः बिलकुल जागरूक नहीं थी। फिर भी वन-सम्बन्धी अनुसंधान को प्रोत्साहित करने के लिए १९०६ ई० में सरकार ने देहरादून में एक वन-अनुसंधानशाला (Forest Research Institute) की स्थापना की। १९१८ ई० में औद्योगिक आयोग (Industrial Commission) की सिफारिशों के आधार पर इस संस्था के कार्य-क्षेत्र को बहुत अधिक विस्तृत किया गया जिससे आज यह संस्था वन-अनुसंधान के प्रायः प्रत्येक पहलू पर खोज करने में समर्थ है। सन् १९३५ ई० के अनुसार वन 'प्रान्तीय-विषय' हो गया। तब से प्रत्येक राज्य की वन-व्यवस्था अलग-अलग है। फिर भी, भारत सरकार द्वारा इस क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण कार्य किये जा रहे हैं। केन्द्र में वन-सम्बन्धी विषयों पर परामर्श देने के लिए एक प्रधान वन-निरीक्षक है। प्रबन्ध की सुविधा के लिए प्रत्येक राज्य को विभिन्न

---

1. Agricultural Commission Report, Para 215.

२. १९६६-६७ ई० में विभिन्न प्रकार के वनों का क्षेत्रफल इस प्रकार से था :—

(१) सुरक्षित वन (Reserved Forests)	— ३,४६,९२९ वर्ग कि० मी०
(२) रक्षित वन (Protected Forests)	— २,४६,०५८ वर्ग ,, ,,
(३) अवर्गित वन (Unclassed Forests)	— १,३६,२०७ वर्ग ,, ,,
(४) जम्मू-कश्मीर के वन	— २० ३६२ वर्ग ,, ,,
	कुल—७,५२,३७८ वर्ग कि० मी०

Source—INDIA 1971—72, P. 2580,

वन-क्षेत्रों में विभाजित किया गया है। प्रत्येक क्षेत्र का प्रबन्ध एक 'वन-संरक्षक, (Conservator of Forests) के अधीन रहता है। पुनः प्रत्येक वन-क्षेत्र को छोटे-छोटे विभागों में विभाजित किया जाता है जिनका प्रबन्ध एक 'फॉरेस्ट-रेंजर्स (Forest Rangers) के अधीन रहता है।

स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद की वन-नीति (Forest Policy in the Post-Independence Period) :—स्वतन्त्रता-प्राप्ति के पश्चात् राष्ट्रीय सरकार का ध्यान वनों के संरक्षण एवं विकास की ओर विशेष रूप से आकृष्ट हुआ। इसी उद्देश्य से जुलाई, १९५० ई० में भारत सरकार के तत्कालीन कृषि एवं खाद्य-मन्त्री श्री के० एम० मुन्शी ने **वनमहोत्सव** (Van-Mahotsava) अथवा '**अधिक वृक्ष लगाओ**' (Grow More Trees) आन्दोलन की शुरुआत की। तब से प्रतिवर्ष वर्षा ऋतु में एक सप्ताह तक वन-महोत्सव समारोह मनाया जाता है तथा देश में लाखों वृक्ष लगाये जाते हैं। सन् १९५० ई० में ही वन-विकास-सम्बन्धी विषयों पर परामर्श देने के लिए एक केन्द्रीय वन-सलाहकार समिति (Central Forest Advisory Board) की स्थापना की गयी। पुनः १२ मई, १९५२ ई० को भारत सरकार ने अपनी नयी **वन नीति** (Forest Policy) की घोषणा की जिसमें यह सुझाव दिया गया कि 'देश की सम्पूर्ण भूमि के प्रायः एक-तिहाई भाग में वनों को बनाये रखना हमारा लक्ष्य होना चाहिए। हिमाचल प्रदेश, दक्षिण तथा अन्य पहाड़ी क्षेत्रों में, जहाँ भूमि-क्षरण का भय अधिक हो, कुल भूमि के प्रायः ६० प्रतिशत भाग में वनों का रहना आवश्यक है तथा मैदान में जहाँ की भूमि समतल हो, तथा भूमि-क्षरण का भय कम रहता हो वन-भूमि का अनुपात २० प्रतिशत होना चाहिए।"

किन्तु, उक्त नीति में निर्दिष्ट लक्ष्य तथा वनों के वर्तमान क्षेत्र में बहुत बड़ा अन्तर है। साथ ही, देश के अधिकांश वन हिमालय, विन्ध्य तथा दक्षिण के पठार तक ही सीमित हैं। सिन्धु-गंगा का समतल मैदान प्रायः वनों से खाली पड़ा है। देश की वर्तमान खाद्य-समस्या के फलस्वरूप हमारे समक्ष कृषि-विस्तार के उद्देश्य से भूमि की मांग भी बहुत अधिक बढ़ गयी है। ऐसी स्थिति में वनों के विस्तार की योजना तैयार करते समय हमें इस बात का पता लगाना होगा कि हमारे देश में बंजर भूमि कितनी है और उसमें से कृषि के लिए कितनी भूमि का उपयोग किया जा सकता है। प्रथम पंचवर्षीय योजना में देश की सम्पूर्ण बंजर भूमि के सर्वेक्षण का सुझाव दिया गया था जिससे इस सम्बन्ध में एक संतुलित एवं पूरक पद्धति विकसित की जा सके।

इस वन-नीति में प्रत्येक प्रकार के वनों के विकास एवं संरक्षण पर पर्याप्त जोर दिया गया है। इस नीति के अनुसार वनों को नये सिरे से निम्नांकित चार वर्गों में विभाजित किया गया है :—(१) रक्षित वन (Protected Forests), (२) राष्ट्रीय वन (National Forests), (३) देहाती वन (Village Forests), तथा वृक्ष-प्रदेश (Tree land)।

इस नीति में वन्य प्रदेशों में कृषि-भूमि के विस्तार को रोकने पर भी जोर दिया गया है। साथ ही, वनों के विस्तार के लिए निम्नांकित सुझाव दिये गये हैं :—

(क) एक पूर्व निश्चित योजना के अनुसार वनों के क्षेत्रफल को बढ़ाने के लिए वृक्षारोपण का कार्य किया जाय। किसी प्रदेश से वनों को साफ करने के पूर्व उतने ही क्षेत्र में नये वन लगाना आवश्यक है।

(ख) ग्रामीण क्षेत्रों में ईंधन एवं चरागाह की सुविधा प्रदान करने के लिए सीमान्त तथा कम उपजाऊ भूमि पर वृक्ष लगाये जायँ।

(ग) दुर्गम वनों के विकास के लिए इनमें आवागमन एवं संचार के साधनों का अत्यधिक विस्तार किया जायगा।

(घ) वन-सम्बन्धी उद्योगों को प्रोत्साहन प्रदान करने के लिए वन अनुसंधानशाला एवं उद्योगपतियों में निकटतम सम्पर्क स्थापित किया जाय।

इस प्रकार यह वन-नीति निश्चय ही सराहनीय है। इससे देश की वन-व्यवस्था अत्यधिक सुदृढ़ हो जायगी जिससे कृषि, उद्योग तथा वाणिज्य सभी विशेष रूप से लाभान्वित होंगे।

पंचवर्षीय योजनाओं के अन्तर्गत वन

(Forests under Five Year Plans)

प्रथम पंचवर्षीय योजना (First Five Year Plan) में वनों के संरक्षण एवं विकास तथा आवागमन के साधनों के विस्तार पर पर्याप्त जोर दिया गया था। आयोग के अनुसार देश में वनों के क्षेत्र में वृद्धि का कार्यक्रम दीर्घकालीन था, अतएव अल्पकाल में वनों के क्षेत्र को बढ़ाने के लिए प्रथम पंचवर्षीय योजना में निम्नांकित सुझाव दिये गये थे :—(१) मिट्टी के कटाव को रोकने के लिए वृक्षारोपण; (२) कृषि की सीमांत भूमि पर वृक्ष लगाना; तथा (३) ईंधन एवं चारे की पूर्ति के लिए गाँवों में बाग लगाना।

प्रथम योजनाकाल में प्रायः ७५ हजार एकड़ भूमि में नये वन लगाने तथा वनों के पुनरुद्धार का कार्य हुआ। १५ हजार एकड़ भूमि में दियासलाई की लकड़ी के वन लगाये गये। योजनाकाल में वनों में ३००० मील से अधिक लम्बी सड़कें बनायी गयीं।

प्रथम योजनाकाल में प्रायः २ करोड़ एकड़ निजी वनों को सरकारी नियन्त्रण में लाया गया। साथ ही, वनों की अन्य औद्योगिक महत्त्व की उपजों की वृद्धि पर भी विशेष जोर दिया गया। जंगली जानवरों की सुरक्षा के लिए १९५२ ई० में एक 'इण्डियन बोर्ड ऑफ वाइल्ड लाइफ' (Indian Board for Wild Life) की स्थापना की गयी। योजनाकाल में वन अनुसन्धानशाला का भी विस्तार किया गया।

प्रथम योजनाकाल में वनों के विकास पर प्राय ९·५ करोड़ रुपये व्यय किया गया।

द्वितीय पंचवर्षीय योजना (Second Five Year Plan) में भी वन-विकास एवं संरक्षण पर पर्याप्त जोर दिया गया था। योजना आयोग के अनुसार द्वितीय योजनाकाल में वन-सम्बन्धी कार्यक्रमों के निम्नांकित उद्देश्य थे : 'Forest policy has to be directed, on the one hand, to securing the long range development of forest resources and on the other hand to meeting the increasing demand for timber in the immediate future." द्वितीय योजना में इस सम्बन्ध में निम्नांकित कार्यक्रम अपनाये गये थे—(१) भूमि के कटाव तथा रेगिस्तान की वृद्धि को रोकने के लिए वृक्षारोपण, बंजर भूमि में वृक्ष लगाना तथा नहरों एवं सड़कों के किनारे पर अधिकाधिक वृक्ष लगाना; (२) हाल में सरकारी नियन्त्रण में आये हुए वनों में सुधार करना; (३) व्यापारिक महत्त्व की लकड़ियों की किस्म तथा उत्पादन में वृद्धि करना। इस कार्यक्रम के अन्तर्गत ५० हजार एकड़ भूमि पर सागौन, १३ हजार एकड़ भूमि पर बेंत एवं नीलगोंद तथा ५० हजार एकड़ भूमि में दियासलाई की लकड़ी के पेड़ लगाने की व्यवस्था थी, (४) वन-सम्बन्धी अनुसन्धान एवं शिक्षा को प्रोत्साहित करना, (५) वनों में ७४०० मील लम्बी सड़क बनाना अथवा उनमें सुधार करना, (६) जंगली जानवरों की सुरक्षा; तथा (७) वनों में काम करने वाले श्रमिकों में सहकारी समितियों की स्थापना।

विभिन्न राज्यों की वन-विकास सम्बन्धी योजनाओं में समन्वय स्थापित करने के उद्देश्य से द्वितीय योजनाकाल में वन-आयोग (Forestry Commission) की नियुक्ति की गयी। जंगली जानवरों की सुरक्षा के उद्देश्य से योजनाकाल में देश के विभिन्न भागों में १८ राष्ट्रीय पार्क बनाये गये। साथ ही, दिल्ली में आधुनिक तरीके की एक 'पशु वाटिका' (Zoological Park) बनायी गयी। वनों की गौण उपजों, जैसे—बाँस, लाह तथा तेल देनेवाले वृक्ष, औषधिक जड़ी-बूटियाँ, घास इत्यादि के उत्पादन एवं संचय के नये तरीके निकालने की व्यवस्था थी। द्वितीय योजनाकाल में प्राय: ४० हजार एकड़ भूमि में दियासलाई की लकड़ी के पेड़ लगाये गये। इसके अतिरिक्त १८ हजार वर्ग मील वनों का सर्वेक्षण तथा सीमांकन किया गया।

द्वितीय योजनाकाल में वन-विकास की मद में अनुमानत: २०.१ करोड़ रुपये व्यय हुए।

तृतीय पंचवर्षीय योजना में वन-विकास की प्रगति (Progress of Forest Development in the Third Five Year Plan) :—तृतीय पंचवर्षीय योजनाकाल में भी वनों के विकास पर पर्याप्त जोर दिया गया था। योजनाकाल में उन कार्यक्रमों पर विशेष जोर दिया गया जिनसे देश की दीर्घकालीन आवश्यकताओं की पूर्ति में सहायता मिले तथा वन से उत्पन्न विभिन्न पदार्थों का कुशल तरीके से उपयोग किया जा सके। योजनाकाल में वनों में आवागमन एवं संचार पर विशेष जोर दिया गया था। १९६१-६६ के बीच में ईंधन की लकड़ी की कमी को दूर करने के लिए गाँव के आस-पास की ११९ हजार हेक्टर परती भूमि में शीघ्र तैयार होने वाले वन लगाये गये। साथ ही, ४७६ हजार हेक्टर भूमि में सागवान तथा अन्य औद्योगिक एवं व्यापारिक महत्त्व की लकड़ियाँ लगायी गयीं। इनके अतिरिक्त २४९ हजार हेक्टर भूमि में शीघ्र तैयार होने वाली इमारती लकड़ियों के वृक्ष लगाये गये। इस अवधि में वनों में ११.७ हजार कि० मी० लम्बी सड़क बनायी गयी। वनों से प्राप्त होने वाली गौण उपजों के उत्पादन को बढ़ाने पर भी योजनाकाल में विशेष रूप से ध्यान दिया गया था। इस अवधि में ३० हजार वर्ग किलोमीटर वनों का सर्वेक्षण किया गया।

तृतीय पंचवर्षीय योजना में वनों के विकास पर ५१ करोड़ रुपये व्यय करने का आयोजन था जब कि योजनाकाल में वास्तविक व्यय ४६ करोड़ रुपये ही हुआ। इसी प्रकार १९६६-६९ के बीच **तीन एकवर्षीय योजनाओं** (Three one year Plans) के अन्तर्गत वनों के विकास पर अनुमानत: ४४ करोड़ रुपये व्यय हुए।[1]

चतुर्थ पंचवर्षीय योजना में वन (Forests in the Fourth Five Year Plan) :—चतुर्थ पंचवर्षीय योजना में वन-विकास कार्यक्रम के अन्तर्गत कृषि तथा उद्योग दोनों की तत्कालीन तथा दीर्घकालिक आवश्यकताओं को ध्यान में रखा गया है। योजनाकाल में औद्योगिक लकड़ी की मांग के १९६८-६९ ई० में ११० लाख घनमीटर से बढ़कर १९७३-७४ ई० में १७० लाख घन मीटर होने का अनुमान है। इस अन्तर की पूर्ति के लिए चतुर्थ योजना काल में—(१) ३४० हजार हेक्टर भूमि में शीघ्र तैयार होने वाली लकड़ियों के वृक्ष लगाने की व्यवस्था है, (२) ३०० हजार हेक्टर भूमि में आर्थिक दृष्टि से उपयोगी लकड़ियों के उपजाने पर जोर दिया गया है तथा (३) १८८ हजार हेक्टर भूमि में निम्न कोटि के वनों में सुधार की व्यवस्था की जा रही है। किन्तु नयी लकड़ियों के तैयार होने में विलम्ब होगा, अतएव चतुर्थ योजना काल में वनों को काटकर औद्योगिक लकड़ी की पूर्ति को बढ़ाने पर जोर दिया जायगा। फिर भी आयोग का यह अनुमान है कि १९७३-७४ तक केवल १३५ लाख घन मीटर औद्योगिक लकड़ी की मांग की

1. Fourth Five Year Plan ...A Draft 1969-74.

ही पूर्ति की जा सकेगी। ईंधन की लकड़ी की पूर्ति को बढ़ाने के कार्य-क्रम के अन्तर्गत ७५ हजार हेक्टर परती भूमि पर वृक्ष लगाने पर जोर दिया जायगा। योजना काल में १४ हजार कि० मी० नयी सड़कों के बनाने का भी आयोजन है।

चतुर्थ योजना में वन-विकास कार्यक्रम की मद में ९२·१३ करोड़ रुपये का आयोजन है।

निष्कर्ष—इस प्रकार भारत को आर्थिक व्यवस्था में वनों का बड़ा ही महत्त्वपूर्ण स्थान है, किन्तु भारतीय वनों की वर्तमान स्थिति सतोषजनक नहीं है। अतएव वनों के विकास की नयी योजना में निम्नांकित बातों पर जोर देने की आवश्यकता है :—

(१) सर्वप्रथम तो वनों के विकास के लिए एक दीर्घकालीन योजना तैयार की जानी चाहिए। केन्द्रीय वन आयोग द्वारा इस उद्देश्य से एक ऐसे संगठन की स्थापना की जानी चाहिए जिसमें अर्थशास्त्री, उद्योगपति एवं वन-विशेषज्ञ हों और जो सड़क-विकास की ही तरह वन-विकास की भी एक दीर्घकालीन योजना तैयार करे।

(२) ग्रामीण क्षेत्रों में परती भूमि पर शीघ्र तैयार होने लायक जलावन की लकड़ी के वन लगाने की प्रबल आवश्यकता है।

(३) वनों से कागज के निर्माण के लिए बांस के अतिरिक्त अन्य कच्चे पदार्थों की खेती को प्रोत्साहित किया जाना चाहिए। इनके अन्तर्गत दियासलाई जैसे वन-उद्योगों को प्रोत्साहित करने का भी प्रयास किया जाना चाहिए।

(४) वन लगाने के सम्बन्ध में प्रत्येक क्षेत्र की विस्तृत जाँच-पड़ताल के बाद वनों का एक न्यूनतम प्रतिशत निर्धारित करना चाहिए तथा वन विभाग को इन न्यूनतम प्रतिशत तक पहुँचने का प्रयास करना चाहिए।

खनिज-सम्पत्ति एवं आर्थिक विकास

(Mineral Resources & Economic Development)

आर्थिक विकास के वर्तमान युग में किसी भी देश का औद्योगिक विकास मुख्यतः खनिज पदार्थों पर ही अवलम्बित है। इनके अभाव में आधुनिक औद्योगिक व्यवस्था की कल्पना भी नहीं की जा सकती। उदाहरण के लिए, लोहा एवं कोयला से इस्पात उद्योग का विकास होता है जो औद्योगिक विकास के लिए बिल्कुल आवश्यक है। वास्तव में, खनिज ही आज के विशालकाय उद्योगों के प्राण हैं। इस समय विश्व के प्रायः सभी राष्ट्र एक सुनियोजित योजना के आधार पर अपने देश को अधिक सुखी एवं समृद्ध बनाने में संलग्न हैं तथा अपनी खनिज-सम्पत्ति की सहायता से अपने आधारभूत उद्योगों की उन्नति कर रहे हैं। संयुक्त राज्य अमेरिका तथा रूस अपनी खनिज-सम्पत्ति के समुचित विकास के फलस्वरूप ही आज विश्व के अग्रगण्य राष्ट्र बन पाये हैं। भारत जैसे विकासोन्मुख आर्थिक व्यवस्था वाले देश के लिए तो खनिज-पदार्थों का अध्ययन और भी महत्त्वपूर्ण हो जाता है।

भारत की खनिज-सम्पत्ति का सामान्य विवरण (A General Survey of the Mineral Resources of India) :—भारत में खनिज-पदार्थों का विस्तृत भडार है। यहाँ विभिन्न प्रकार के खनिज-पदार्थ पाये जाते हैं। देश में आधारभूत उद्योग-धन्धों के विकास के लिए आवश्यक प्रायः सभी खनिज-पदार्थ—लोहा, कोयला, मैंगनीज आदि पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध हैं। पूर्ति की दृष्टि से योजना आयोग ने हमारे खनिज-पदार्थों को निम्नलिखित तीन वर्गों में विभाजित किया है :—(१) प्रथम श्रेणी में वे खनिज-पदार्थ हैं जो हमारा आवश्यकताओ के लिए हर हालत में पर्याप्त हैं, जैसे लोहा, अभ्रक, मैंगनीज, क्रोमाइट, कोयला, टिटेनियम, थोरियम

बॉक्साइट, तथा मोनाजाइट। इनमें लोहा, मैंगनीज तथा अभ्रक का वर्तमान उत्पादन हमारी आवश्यकताओं से अधिक है, अतः इनका निर्यात भी किया जाता है। (२) दूसरी श्रेणी में वे खनिज-पदार्थ आते हैं जो किंचित पर्याप्त मात्रा (Fairly adequate supply) में उपलब्ध हैं, यद्यपि इनमें से अनेक का उत्पादन आवश्यकता से बहुत ही कम होता है। इस श्रेणी में क्रोमाइट, नमक, जिप्सम, सोना तथा चीनी-मिट्टी विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। (४) तीसरी श्रेणी में वे खनिज-पदार्थ आते हैं जो देश की आवश्यकताओं के लिए अपर्याप्त हैं तथा जिनके लिए हमें विदेशों पर आश्रित रहना पड़ता है; जैसे—पेट्रोल, शीशा, गंधक, टीन, ग्रेफाइट इत्यादि।

उपरोक्त वर्गीकरण से यह स्पष्ट है कि पेट्रोलियम, ताम्बा, शीशा तथा कुछ अन्य लोहहीन (Non-ferrous) धातुओं के लिए हमें मुख्य रूप से विदेशों पर ही आश्रित रहना पड़ेगा। किन्तु, देश के आर्थिक विकास के लिए अन्य आवश्यक खनिज-पदार्थ हमारे देश में ही पर्याप्त मात्रा में सुलभ हैं। उदाहरणार्थ, भारत को अभ्रक के उत्पादन में विश्व में प्रायः एकाधिकार प्राप्त है। यहाँ का लोहा अति उत्तम कोटि का होता है; मैंगनीज, टीटेनियम, थोरियम, इल्मेनाइट तथा मोनाजाइट के सम्बन्ध में भी हमारी गणना विश्व के प्रमुख राष्ट्रों में की जाती है।

पिछले कुछ वर्षों से देश में खनिज-उत्पादन की प्रवृत्ति का अन्दाजा निम्नांकित तालिका[1] से लगता है :—

खनिज-उत्पादन (१९५१-से १९६९)

खनिज	१९५१	१९६०	१९६६	१९६९
कोयला (लाख टन में)	३४९	५२६	६८०	७४२
लोहा (लाख टन में)	३७	१६६	२६८	२८९
मैंगनीज (लाख टन में)	१३	१४·५	१७	१४·५
बॉक्साइट (हजार टन में)	६८	३८७	७५०	१०७१
ताम्बा (हजार टन में)	३७५	४४८	४८४	५१०
जिप्सम (हजार टन में)	२०७	९९७	१२९४	१३६६
अबरख (हजार टन में)	....	२९·२	२२·९	१७·६
पेट्रोलियम (हजार टन में)	...	४५४	४६४७	६७२२
खनिज उत्पादन का निर्देशांक	...	१००	१४९	१६९
खनिज उत्पादन का मूल्य (करोड़ रु० में)	...	१६१·०	३२०·१	३९७ ७

भारत में प्राप्त होने वाले कुछ प्रमुख खनिजों का विवरण इस प्रकार से है :—

१. लोहा (Iron Ore) :—विश्व के लोहा-उत्पादक राष्ट्रों में भारत का प्रमुख स्थान है। उत्तम प्रकार के लोहा भंडार वाले राष्ट्रों में ब्राजिल के बाद विश्व में भारत का ही स्थान है। यहाँ की लौह धातु की कुछ किस्में तो संसार भर में सर्वश्रेष्ठ समझी जाती है। इनमें ६० से ७० प्रतिशत तक शुद्ध लोहे का अंश वर्तमान रहता है। भारत में कच्चे लोहे का संभावित भण्डार लगभग २१५० करोड़ टन है। देश में अच्छी किस्म के लोहे का भंडार मुख्यतया बिहार तथा उड़ीसा में केन्द्रित है। बिहार में लोहे की खानें सिंहभूमि जिले के नोआमुंडी, गुआ तथा बन्दगाँव में पायी जाती हैं। उड़ीसा की पहाड़ियों की उत्तरी ढालों पर क्योंझर, मयूरभंज तथा बोनाई में भी लोहे की प्रमुख खानें हैं। बिहार एवं उड़ीसा की लोहे की खानों के समीप ही कोयला, चूना-पत्थर तथा मैंगनीज पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध हैं जिससे इस क्षेत्र में इस उद्योग के

1. India Pocket Book of Economic Information 1970.

विकास की अपार संभावनाएँ हैं। इसके बाद गोआ का स्थान है। मध्य-प्रदेश के चन्दा एवं दुर्ग जिलों में तथा तमिलनाडु के सलेम एवं त्रिचनापली में भी लोहे के विशाल भंडार का पता चला है, किन्तु इनके समीप कोयले के अभाव के कारण इस क्षेत्र की खानों में अभी काम प्रारम्भ नहीं किया जा सका है। इसके अतिरिक्त आन्ध्र के नेल्लोर, मैसूर के बाबबूदन की पहाड़ी, महाराष्ट्र के रत्नगिरी, उत्तर प्रदेश के कुमायूँ तथा बंगाल के रानीगंज में भी लोहे का विशाल भंडार निहित है। १९६९ ई० में देश में सबसे अधिक लोहा गोआ (६७ लाख टन) में उत्पन्न हुआ था। इसके बाद उड़ीसा (६० लाख टन), बिहार (५३ लाख टन), मध्य प्रदेश (३७ लाख टन) तथा मैसूर (२८ लाख टन) का स्थान था।

पंचवर्षीय योजनाओं में खनिज लोहे के उत्पादन में पर्याप्त वृद्धि हो रही है। **प्रथम पंचवर्षीय योजना** में इसका उत्पादन १९५०-५१ ई० में ३२ लाख टन से बढ़कर १९५५-५६ ई० में ४३·१ लाख टन हो गया। **द्वितीय पंचवर्षीय योजना** के अन्त तक १९६०-६१ ई० में खनिज लोहे के उत्पादन को बढ़ाकर १२५ लाख टन करने का आयोजन था, किन्तु इसका उत्पादन अनुमानतः ११० लाख टन ही हुआ। **तृतीय पंचवर्षीय योजना** में कच्चे लोहे का उत्पादन बढ़कर २३० लाख टन ही हुआ। १९६८-६९ में खनिज लोहे का उत्पादन २६० लाख टन तथा १९६९-७० में २८० लाख टन था। **चतुर्थ पंचवर्षीय योजना** (Fourth Five Year Plan) के अन्त में इसे बढ़ाकर १९७३-७४ ई० तक ५१४ लाख टन करने का आयोजन था किन्तु अब यह आषा है कि योजना के अन्त में इसका उत्पादन ४०० लाख टन ही होगा। इस उद्देश्य से भिन्न-भिन्न स्थानों में, विशेषतः सार्वजनिक क्षेत्र में नयी-नयी लोहे की खानों का विकास किया जा रहा है।

किन्तु इसके बावजूद आज भी भारत अन्य देशों की तुलना में लोहे के उत्पादन में अभी बहुत पीछे हैं। १९६८-६९ ई० में भारत में केवल २६० लाख टन खनिज लोहे का उत्पादन हुआ था जबकि उसी वर्ष संयुक्त राज्य अमेरिका में ८९५ लाख टन तथा सोवियत रूस में १७०७ लाख टन कच्चे लोहे का उत्पादन हुआ था। विश्व के कुल उत्पादन का भारत ४·२ प्रतिशत भाग लोहा उत्पन्न करता है। अतः इस क्षेत्र में अभी बहुत अधिक प्रयत्नों की आवश्यकता है।

निर्यात (Export) :—भारत से लोहे का निर्यात मुख्यतः जापान को किया जाता है। खनिज लोहे के निर्यात को बढ़ाने के उद्देश्य से राष्ट्रीय खनिज विकास निगम (National Mineral Development Corporation) द्वारा किरीबुरू (Kiriburu) तथा बैलाडीला (Bailadila) में लोहे की नयी खानों का विकास किया जा रहा है। इधर कुछ वर्षों से इसके निर्यात में बहुत अधिक वृद्धि हो रही है। देश के कुल खनिज निर्यात के ५१ प्रतिशत तथा कुल निर्यात का ६·२ प्रतिशत कच्चे लोहे का होता है।

२. **मैंगनीज** (Manganese) :—विश्व के मैंगनीज उत्पादक राष्ट्रों में रूस एवं गोल्ड कोष्ट के बाद भारत का तृतीय स्थान है। यहाँ का मैंगनीज अच्छी किस्म का होता है तथा इसमें ५० प्रतिशत तक शुद्ध धातु पायी जाती है। मैंगनीज का प्रयोग मुख्यतः इस्पात उद्योग में किया जाता है। किन्तु भारत लोहा एवं इस्पात के उत्पादन में अभी बहुत पीछे है। अतः अधिकांश मैंगनीज यहाँ से कच्चे रूप में ही निर्यात कर दिया जाता है। उदाहरण के लिए १९५४ ई० में मैंगनीज का उत्पादन १४·१४ लाख टन हुआ था जिसमें से ९·४ लख टन निर्यात किया गया था। १९६०-६१ ई० तक निर्यात की मात्रा को बढ़ाकर १५ लाख टन करने का आयोजन था जो पूरा नहीं हो सका। यहाँ से मैंगनीज का निर्यात मुख्यतः अमेरिका, कैनाडा तथा जर्मनी आदि

देशों को किया जाता है। मैंगनीज एक बहुमूल्य पदार्थ है। अतः इतनी अधिक मात्रा में इसका निर्यात देश के औद्योगिक पिछड़ेपन का सबसे बड़ा सबूत है।

भारत में मैंगनीज मुख्यतः मध्य प्रदेश, तमिलनाडु, महाराष्ट्र तथा मैसूर में पाया जाता है। मध्य प्रदेश के छिन्दवारा, बालाघाट तथा भण्डारा जिलों में मैंगनीज की प्रमुख खानें है। यहाँ देश के सम्पूर्ण उत्पादन का प्रायः ६० प्रतिशत भाग मैंगनीज उत्पन्न किया जाता है। इसके अतिरिक्त तमिलनाडु के बिजगापट्टम तथा बेलारी जिलों में; मैसूर के सिमोगा एवं महाराष्ट्र के नागपुर एवं पंचमहल में भी मैंगनीज की खानें हैं। साथ ही, बिहार के सिंहभूम तथा उड़ीसा के क्योंझर एवं बोनाई में भी थोड़ा-बहुत मैंगनीज पाया जाता है।

मैंगनीज का उत्पादन १९५१ ई० में १३ लाख टन, १९६६ ई० में १७ लाख टन तथा १९६९ ई० में १४·५ लाख टन हुआ। भारत में मैंगनीज के भण्डार के सम्बन्ध में सही अनुमान लगाना कठिन है। किन्तु कहा जाता है कि इसका अनुमानित भण्डार प्रायः २० करोड़ टन है जिसमें १६ करोड़ टन केवल मध्य प्रदेश, महाराष्ट्र तथा गुजरात राज्यों में है।[1]

३. **अभ्रक** (Mica) :—अभ्रक आज के युग का एक महत्त्वपूर्ण खनिज-पदार्थ है। देश की सुरक्षा के दृष्टिकोण से इसका बहुत बड़ा महत्त्व है। विद्युत् का विकास मुख्यतः अभ्रक पर ही आधारित है। विश्व के अभ्रक-उत्पादक देशों में भारत का सर्वप्रथम स्थान है तथा विश्व के कुल उत्पादन का प्रायः ७० से ८० प्रतिशत भाग तक अभ्रक यहीं से प्राप्त होता है। अतः विश्व में अभ्रक-उत्पादन के क्षेत्र में भारत को प्रायः एकाधिकार प्राप्त है।

भारत में अभ्रक मुख्यतः बिहार की खानों से ही प्राप्त होता है। बिहार का अभ्रक-क्षेत्र गया, हजारीबाग तथा मुंगेर जिलों में ६० से ८० मील लम्बी तथा १२ से १६ मील चौड़ी एक तलहटी के रूप में विस्तृत है। हजारीबाग जिला इसका प्रमुख उत्पादक है। यहाँ की खानों से रूबी जाति का अभ्रक निकाला जाता है जिसकी ससार भर में मांग होती है। बिहार देश के कुल उत्पादन का प्रायः तीन-चौथाई भाग अभ्रक उत्पन्न करता है। इसके अतिरिक्त राजस्थान के अजमेर, मारवाड़, किशनगढ़, उदयपुर तथा जयपुर; आंध्र के नेल्लोर तथा गोदावरी एवं तमिलनाडु के सलेम तथा नीलगिरि जिलों में भी अभ्रक की खानें हैं। १९६० ई० में अभ्रक का उत्पादन २९ हजार टन, १९६६ ई० में २३ हजार टन तथा १९६९ ई० में १७·६ हजार टन था।

भारत में अभ्रक की खपत बहुत कम होती है, अतः इसका अधिकांश भाग विदेशों को निर्यात कर दिया जाता है। भारत से अभ्रक का मुख्यतः संयुक्त राज्य अमेरिका, पश्चिमी जर्मनी तथा ब्रिटेन को निर्यात किया जाता है। किन्तु वर्तमान समय में विदेशों में अभ्रक की मांग कम हो जाने से इसका मूल्य भी कम हो गया है जिससे इस उद्योग को मन्दी का सामना करना पड़ रहा है। यहाँ की खानों से अभ्रक निकालने में मशीनों का बहुत कम प्रयोग किया जाता है जिससे खर्च बहुत अधिक पड़ता है। व्यवस्थित खुदाई तथा उचित निरीक्षण के अभाव में अभ्रकउद्योग में बहुत अधिक अपव्यय होता है। अतः इस उद्योग के विकास के लिए व्यवस्थित ढंग से खुदाई की बड़ी प्रबल आवश्यकना है। साथ ही, अभ्रक को विभिन्न श्रेणियों में विभाजित करने की संतोषजनक पद्धति का अनुकरण भी अनिवार्य है।

४. **बॉक्साइट** (Bauxite) :—बॉक्साइट का उपयोग मुख्यतः अल्मुनियम बनाने में किया जाता है। भारत में बॉक्साइट का उत्पादन १९०८ ई० में प्रारम्भ हुआ। यहाँ के बॉक्साइट के भण्डार का अभी तक सही अनुमान नहीं लगाया जा सका है। फिर भी, ऐसा अनुमान किया

1. India 1971—72.

जाता है कि भारत में सभी प्रकार के बॉक्साइट का भण्डार प्रायः २४ करोड़ टन है जिसमें उत्तम कोटि का बॉक्साइट प्रायः १२ करोड़ टन है।

भारत में बॉक्साइट मुख्यतः मध्य प्रदेश, बिहार, उड़ीसा, तमिलनाडु, महाराष्ट्र तथा कश्मीर में पाया जाता है। मध्य प्रदेश इसका सबसे बड़ा उत्पादक राज्य है। बिहार के पलामू तथा राँची जिलों में भी बॉक्साइट का विस्तृत भण्डार है। १९५१ ई० में बॉक्साइट का उत्पादन ६८ हजार टन था जो बढ़कर १९६० ई० में ३८७ हजार टन तथा १९६९ ई० में १०७१ हजार टन हो गया। अलमुनियम उद्योग के विकास के साथ-साथ बॉक्साइट की मांग में भी वृद्धि हो रही है।

५. ताम्बा (Copper)—प्राचीन काल में भारत ताम्बे एवं पीतल की बनी वस्तुओं के लिए विख्यात था, किन्तु आजकल यहाँ ताम्बे का उत्पादन बहुत कम होता है। ताम्बा मुख्य रूप से बिहार के सिंहभूम जिले में पाया जाता है। यहाँ का ताम्र अंचल ८० मील लम्बी तथा ३ मील चौड़ी एक तलहट्टी के रूप में विस्तृत है। सिंहभूम जिले के घाटशिला के समीप मोसाबनी तथा धोबानी में ताम्बे की प्रमुख खानें है। भारत के कुल उत्पादन का शत-प्रतिशत भाग ताम्बा इसी क्षेत्र की खानों से निकाला जाता है। घाटशिला के समीप ही मनुभण्डार में ताम्बे एवं पीतल का अकेला कारखाना 'इण्डिन कॉपर कारपोरेशन' स्थित है। इसके अतिरिक्त आन्ध्र के नेल्लोर, मैसूर, मध्य प्रदेश, राजस्थान तथा सिक्कम में भी ताम्बा पाया जाता है। १९६९ में ५१० हजार टन खनिज ताम्बे का उत्पादन हुआ था। भारत में ताम्बे का अनुमानित मण्डा ३५ करोड़ टन है जिसमें ०·८ प्रतिशत से २ प्रतिशत तक शुद्ध धातु पायी जाती है।

भारत में प्रतिवर्ष प्रायः ८ हजार टन तैयार ताम्बे का उत्पादन होता है, जबकि १९६५ ई० तक देश में ताम्बे की वार्षिक मांग अनुमानतः १५० हजार टन थी। अतएव, यहाँ प्रतिवर्ष बहुत अधिक मात्रा में ताम्बे का आयात किया जाता है। तृतीय योजनाकाल में राजस्थान के खेतरी-दरीबो (Khetri Daribo) तथा सिक्किम के रंगोपा क्षेत्र से ताम्बा निकालने की व्यवस्था की गयी थी। राजस्थान क्षेत्र से ताम्बा निकालने की योजना का व्यय १२·५ करोड़ रुपये तथा सिक्किम क्षेत्र का अनुमानित व्यय २·५ करोड़ रुपये था।

६. क्रोमाइट (Chromite)—क्रोमाइट एक सामरिक महत्त्व का खनिज है। भारत में इसके भंडार के सम्बन्ध में विश्वसनीय आँकड़ों का अभाव है; किन्तु यह देश की आवश्यकताओं के लिये निश्चय ही पर्याप्त है। भारत में क्रोमाइट बिहार के सिंहभूम; मैसूर के मैसूर तथा हसन, महारष्ट्र के रत्नगिरि तथा सामन्तवादी; तमिलनाडु के सलेम; आन्ध्र के कृष्णा तथा उड़ीसा के क्योंझर जिलों में पाया जाता है। १९६९ ई० में क्रोमाइट का उत्पादन २२६ हजार टन था। भारत से अधिकांश क्रोमाइट के कच्चे रूप में ही निर्यात किया जाता है।

तृतीय योजना काल में बिहार के सिंहभूम, मैसूर के मैसूर तथा हसन जिले एवं उड़ीसा के क्रोमाइट क्षेत्रों के विस्तृत सर्वेक्षण की व्यवस्था की गयी थी।

७. जिप्सम (Gypsum) :- जिप्सम एक महत्त्वपूर्ण औद्योगिक खनिज है। आजकल इसका प्रयोग मुख्य रूप से अमोनियम सल्फेट नामक कृत्रिम खाद तैयार करने में किया जाता है। भारत में जिप्सम सबसे अधिक राजस्थान में पाया जाता है। इस राज्य के जोधपुर, बीकानेर तथा जयसलमेर डिविजन इसके प्रमुख क्षेत्र हैं। कुल उत्पादन का प्रायः ८० प्रतिशत भाग जिप्सम इसी क्षेत्र में प्राप्त होता है। इसके अतिरिक्त तमिलनाडु के ट्रिचनापली, आंध्र के नेल्लोर तथा उत्तर प्रदेश के टेहरी गढ़वाल एवं देहरादून में भी थोड़ा-बहुत जिप्स पाया जाता है। देश में अमोनियम सल्फेट के उत्पादन में वृद्धि के फलस्वरूप गत कुछ वर्षों से जिप्सम के उत्पादन में भी वृद्धि हो

रही है। जिप्सम का उत्पादन १९५१ ई० में २०७ हजार टन था जो बढ़कर १९६७ ई० में ९९७ हजार टन तथा १९६९ ई० में १३६६ हजार टन हो गया।

पंचवर्षीय योजनाओं में अमोनियम सल्फेट के उत्पादन में महत्त्वपूर्ण वृद्धि के आयोजन के फलस्वरूप जिप्सम के उत्पादन में भी बहुत अधिक वृद्धि हो रही है। भारत में जिप्सम का अनुमानित भंडार ११९ करोड़ टन है जिसमें से ११४ करोड़ टन केवल राजस्थान में है।

८. **सोना** (Gold)—हमारे देश में बहुमूल्य धातुएँ बहुत कम पायी जाती है। भारत में सोने का उत्पादन भी बहुत कम होता है। यह विश्व के कुल उत्पादन का केवल २% भाग सोना उत्पन्न करता है। सोना भारत के विभिन्न प्रदेशों में विस्तृत रूप से किन्तु कम परिमाण में पाया जाता है। देश के कुल उत्पादन का प्रायः ९८% भाग सोना केवल मैसूर में कोलार की खानों से निकाला जाता है। यहाँ पर चैम्पियन तथा उडगाम नाम की इसकी दो खानें हैं। दोनों खानों को काफी गहराई तक खोदा जा चुका है। अतः उत्पादन अब कम होता जा रहा है तथा उत्पादन व्यय बढ़ते जा रहा है। इसके अतिरिक्त हैदराबाद के हट्टी क्षेत्र तथा तमिलनाडु के अन्नतपुर एवं सलेम में भी सोने का पता चला है। भारत में १९६७ ई० में ४६७ लाख रुपये के मूल्य का ३१६१ किलोग्राम सोने का उत्पादन हुआ था। शुद्ध स्वर्ण के रूप में देश में स्वर्ण का अनुमानित भंडार ४५,६३९ किलोग्राम स्वर्ण हैं।

अन्य खनिज-पदार्थ (Other minerals)—इनके अतिरिक्त हमारे देश में अन्य प्रकार के खनिज-पदार्थ भी पाये जाते हैं। उदाहरण के लिए, भारत में अणु-शक्ति के लिए आवश्यक प्रायः सभी खनिज-पदार्थ पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध हैं। इनमें यूरेनियम, थोरियम, बेरिलियम, लिथियम, जिरकोनियम तथा ग्रेफाइट का मुख्य स्थान है। यूरेनियम, (Uraniam) सम्बन्धी खनिज का भण्डार भारत में पर्याप्त मात्रा में वर्तमान है। हाल में ही इसके दो क्षेत्रों का पता चला है—(१) बिहार के सिंहभूम जिले में ताम्र अंचल के समानान्तर ६० मील लम्बी एक पट्टी के रूप में, तथा (२) मध्य राजस्थान में। ट्रावनकोर तथा तमिलनाडु के समुद्री किनारों के बालू में मोनाजाइट मिला है जो यूरेनियम तथा थोरियम की प्राप्ति का मुख्य साधन है। इसमें ८ से लेकर १०·५ प्रतिशत तक मोनाजाइट मिलता है। बेरिलियम धातु बेरिल नामक खनिज से प्राप्त होती है। उत्तरी बिहार, राजस्थान तथा मध्य प्रदेश में इसका विस्तृत भण्डार है। बेरिलियम के उत्पादन में भारत का विश्व में प्रमुख स्थान है। अणु-शक्ति के लिए आवश्यक अन्य सभी खनिज पदार्थ भी भारत में पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध हैं। किन्तु इस सम्बन्ध में अभी विशेष जाँच-पड़ताल नहीं की जा सकी है।

देश के औद्योगीकरण के साथ-साथ खनिज-पदार्थों का उत्पादन भी बढ़ता जा रहा है। गत कुछ वर्षों में देश के समस्त खनिज-उत्पादन के मूल्य का अन्दाजा निम्नांकित तालिका[1] से लगाया जा सकता है :—

वर्ष	खनिज-उत्पादन का मूल्य (लाख रुपये में)
१९३१	२३,९०
१९४१	८९,२०
१९५६	१०६,२०
१९६१	१८१,२०
१९६६	३२०,१०
१९६९	३९७,७०

1. India Pocket book of Economic Information, 1970.

क्या भारत की खनिज-सम्पत्ति देश के औद्योगिक विकास के लिए पर्याप्त है ?— इस प्रकार भारत के खनिज-पदार्थ देश की औद्योगिक आवश्यकताओं के लिए प्रायः हर हालत में पर्याप्त हैं। यहाँ आधुनिक उद्योगों के विकास के लिए आवश्यक प्रायः सभी खनिज-पदार्थों का विशाल भंडार पाया जाता है। भारत विश्व में अभ्रक का सबसे बड़ा उत्पादक देश है, यहाँ का कच्चा लोहा अति उत्तम कोटि का होता है, मैंगनीज एवं क्रोमाइट के उत्पादन में भी भारत का विश्व में प्रमुख स्थान है तथा अणु-शक्ति के लिए आवश्यक प्रायः सभी पदार्थों की भी देश में प्रचुरता है। किन्तु हमारे देश में निकल, टीन, जस्ता, गन्धक तथा पेट्रोलियम जैसे महत्त्वपूर्ण खनिज-पदार्थों का अभाव है जिससे औद्योगिक विकास में निस्संदेह कठिनाई उत्पन्न होगी। परन्तु इन पदार्थों के अभाव को निर्यात के द्वारा दूर किया जा सकता है। अतः खनिज-पदार्थों के अध्ययन से हम इस निष्कर्ष पर आते हैं कि भारत की खनिज-सम्पत्ति देश के औद्योगीकरण के लिए हर हालत में पर्याप्त है। औद्योगिक आयोग के अनुसार भी भारत की खनिज-सम्पत्ति देश में आधारभूत उद्योगों के लिए, निकेल इत्यादि कुछ धातुओं को छोड़कर पर्याप्त है। इस सम्बन्ध में योजना आयोग की भी यही राय है।

भारत सरकार की खनिज-नीति

(Mineral Policy of the Government of India)

स्वतन्त्रता-प्राप्ति के पूर्व की खनिज-नीति—देश के प्राकृतिक साधनों में खनिज-पदार्थों का विशेष महत्त्व है। देश के औद्योगिक विकास के लिए इनका बड़ा ही महत्त्वपूर्ण स्थान है। औद्योगिक उपयोग के अतिरिक्त इनका महत्त्व इस दृष्टि से भी अधिक है कि इनके उत्पादन तथा उपभोग के पश्चात् इनका अस्तित्व सदा के लिए समाप्त हो जाता है। अतः सरकार द्वारा इनके सम्बन्ध में एक विशेष नीति को अपनाना अनिवार्य हो जाता है। भारत में खनिज-पदार्थों का विस्तृत भण्डार है, किन्तु देश के औद्योगीकरण के लिए इनका अभी बहुत ही कम उपयोग किया जा सका है। साथ ही, देश के औद्योगीकरण तथा इनके उत्पादन में सन्तुलन का अभाव है। अभी हाल तक हमारे देश में अभ्रक, मैंगनीज तथा क्रोमाइट जैसे महत्त्वपूर्ण खनिज-पदार्थों का उत्पादन केवल निर्यात के उद्देश्य से ही होता था। यह राष्ट्रीय हित के लिए कदापि अनुकूल नहीं कहा जा सकता। इससे निकट भविष्य में इन बहुमूल्य पदार्थों का अभाव हो सकता है। साथ ही, देश में खनिज-पदार्थों के उत्पादन का तरीका भी अवैज्ञानिक है जिससे बहुत-सा खनिज-पदार्थ खानों से निकालने की प्रक्रिया में यों ही नष्ट हो जाता है। इससे खनिज-पदार्थ का भारी अपव्यय होता है। शान्ति अथवा युद्ध, दोनों परिस्थितियों में खनिज हमारे उद्योगों के आधार हैं, अतः इनकी समुचित व्यवस्था तथा उपभोग के लिए उचित नीति को अपनाना आवश्यक है जिससे इनका पर्याप्त संरक्षण तथा सुचारू रूप से उपयोग हो सके।[1]

स्वतन्त्रता-प्राप्ति के पश्चात् खनिज-नीति—स्वतन्त्रता-प्राप्ति के पश्चात् सरकार द्वारा देश के खनिज साधनों के विकास पर पर्याप्त जोर दिया जा रहा है। देश की औद्योगिक नीति में भी खनिज-पदार्थों के विकास पर पर्याप्त जोर दिया गया है। इस सम्बन्ध में भारत सरकार की वर्तमान नीति को निम्नांकित तीन वर्गों में विभाजित किया जा सकता है—

(क) खनिज-पदार्थों का अन्वेषण तथा पैमाइश—भारत के प्रायः सभी प्रमुख खनिज पदार्थों के सम्बन्ध में विश्वसनीय आंकड़ों का सर्वथा अभाव है। खनिज साधनों के समुचित विकास के लिए इनके परिमाण तथा स्थिति का ठीक-ठीक पता लगाना अनिवार्य है। इससे देश के औद्योगिक विकास में पर्याप्त सहायता मिलेगी। इस कार्य के लिए सरकार द्वारा देश में कई संस्थाओं की

1 First Five Year Plan—P,382.

स्थापना किया गया है जिनमें भारतीय खदान परिषद् (Indian Bureau of Mines), राष्ट्रीय धातु-शोधन प्रयोगशाला (National Metallurgical Laboratory) तथा ईंधन अनुसंधान संस्था (Fuel Research Institute) आदि विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इनके अतिरिक्त खनिज-पदार्थों के संभावित क्षेत्रों की जाँच-पड़ताल के लिए भारत के भू-गर्भ सर्वेक्षण-विभाग (Geological Survey of India) द्वारा महत्त्वपूर्ण कार्य किये जा रहे हैं। १९५३ ई० में भारत सरकार द्वारा एक खनिज-परामर्शदात्री समिति (Mineral Advisory Board) की स्थापना की गयी जो खनिज-पदार्थों के सम्बन्ध में सरकार को परामर्श देता है।

(ख) **खनिज-पदार्थों का संरक्षण** – स्वतन्त्रता-प्राप्ति के पूर्व महत्त्वपूर्ण खनिज-पदार्थों का उत्पादन अनियोजित ढंग से हुआ जिससे इन पदार्थों के अभाव की आशंका हो गयी। ऐसे खनिज-पदार्थों के संरक्षण के लिए सरकार द्वारा प्रयत्न किये जा रहे हैं। उदाहरण के लिये कोयले के भण्डार को सुरक्षित रखने के लिए १९५२ ई० में एक कोयला-खान (संरक्षण एवं सुरक्षा) विधान [Coal Mines (Conservation and Safety) Act] बनाया गया। इसके अनुसार कोयले के भण्डार को सुरक्षित रखने का अधिकार सरकार ने स्वय ग्रहण कर लिया है। साथ ही, उच्च कोटि के कोयला का साधारण कार्यों में उपयोग करने पर भी प्रतिबन्ध लगा दिया गया है।

(ग) **खनिज-पदार्थो के निर्यात पर प्रतिबन्ध**—देश की खनिज-सम्पत्ति के समुचित उपयोग के लिए इनके आयात तथा निर्यात को भी नियन्त्रित करना आवश्यक है। भारत से प्रतिवर्ष अभ्रक, मैंगनीज तथा क्रोमाइट इत्यादि महत्त्वपूर्ण खनिज-पदार्थों का बहुत बड़ी मात्रा में योंही निर्यात कर दिया जाता है जो देश के आर्थिक हित के लिए कदाचित उचित नहीं है। इन खनिज-पदार्थों के निर्यात को यथासम्भव निर्मित (Finished) तथा अर्द्ध-निर्मित (Semi-Finished) वस्तुओं के रूप में करने पर जोर दिया जा रहा है। इससे देश के औद्योगिक विकास में सहायता मिलने की आशा की जाती है।

पंचवर्षीय योजनाओं में खनिज नीति

(Mineral Policy in Five Year Plans)

खनिज हमारे आर्थिक विकास के आधार हैं, अतएव पंचवर्षीय योजनाओं में इनके विकास पर पर्याप्त जोर दिया जा रहा है। **प्रथम पंचवर्षीय योजना** में खनिज-विकास के कार्यक्रम के अन्तर्गत निम्नांकित बातों की व्यवस्था थी—(क) प्रमुख खनिज-पदार्थों के भण्डार तथा उनकी किस्म का पता लगाने के लिए इनके सम्भावित क्षेत्रों को विस्तृत सर्वेक्षण, (ख) महत्त्वपूर्ण खनिज-पदार्थों के उपयोग में मितव्ययिता से काम लेना, (ग) सरकारी क्षेत्र के कोयले की खानों का पुनर्संगठन, (घ) पेट्रोल के सम्भावित क्षेत्रों का भू-गर्भीय सर्वेक्षण, तथा (च) अभ्रक, क्रोमाइट एवं मैंगनीज आदि खनिज-पदार्थों को कच्चे रूप में निर्यात नहीं करके इन्हें यथासम्भव निर्मित अथवा अर्द्ध-निर्मित (Finished or Semi-Finished) रूप में निर्यात करना चाहिए।

प्रथम योजना काल में खनिज-पदार्थों के विकास के लिए १ करोड़ रुपये व्यय का आयोजन था किन्तु बाद में इसे बढ़ाकर २·५ करोड़ रुपये कर दिया गया। योजनाकाल में भारतीय खदान परिषद् (Indian Bureau of Mines) तथा भूगर्भ सर्वेक्षण Geological Survey of India) विभाग द्वारा खनिज-पदार्थों के भंडार के सम्बन्ध में खोज का कार्य प्रारम्भ किया गया। इन संथाओं ने खनिज-पदार्थों के उत्पादन को बढ़ाने, वर्तमान खनिज साधनों का सदुपयोग करने, नये साधनों का विकास करने, उत्पादन के आधुनिक तरीकों का प्रयोग करने तथा खनिज-सम्बन्धी पैमाइश के लिए अनेक सिफारिशें की जिनके आधार पर द्वितीय योजना के अन्तर्गत खनिज-विकास के कार्यक्रम तैयार किये गये।

द्वितीय पंचवर्षीय योजना में खनिज उद्योग की प्रगति :—द्वितीय योजना में उद्योग-धन्धों को उच्च प्राथमिकता प्राप्त होने के कारण खनिज-सम्पत्ति के विकास पर भी पर्याप्त जोर दिया गया था। खनिज-पदार्थों के अन्वेषण तथा पैमाइश, विकास एवं उत्पादन-वृद्धि के लिए योजनाकाल में ७३ करोड़ रुपये व्यय का आयोजन था। द्वितीय योजना में देश के खनिज-साधनों के सर्वेक्षण पर पूरा जोर दिया गया था। इस उद्देश्य से भारतीय खदान-परिषद् तथा भू-गर्भीय सर्वेक्षण विभाग के ६ करोड़ रुपये के व्यय से विस्तार का आयोजन था। साथ ही, कोयला, ताम्बा, मैंगनीज, क्रोमाइट, जस्ता, रांगा तथा पेट्रोलियम इत्यादि के क्षेत्रों के विस्तारपूर्वक जाँच-पड़ताल की भी व्यवस्था थी। इनके अतिरिक्त अन्य खनिज-पदार्थों के सर्वेक्षण एवं पैमाइश की व्यवस्था भी द्वितीय योजनाकाल में की गयी थी। योजनाकाल में खनिज-पदार्थों की बढ़ती हुई मांग को पूरा करने के लिए इनके उत्पादन में महत्त्वपूर्ण वृद्धि का आयोजन था।

द्वितीय योजनाकाल में सार्वजनिक क्षेत्र (Public Sector) में कई खनिज-पदार्थों के निष्कासन का कार्य प्रारम्भ हुआ। अप्रैल, १९४८ ई० की औद्योगिक नीति के अनुसार कोयला तथा पेट्रोलियम उद्योग सार्वजनिक क्षेत्र में आ गये थे जिससे भविष्य में इन खनिजों का निष्कासन केवल सरकारी क्षेत्र में ही हो सकता था। राजकीय क्षेत्र में कोयला के निष्कासन का कार्य National Coal Development Corporation द्वारा किया जाता है। अप्रैल, १९५६ ई० की नीति के अनुसार और कई खनिज-पदार्थों—लोहा, मैंगनीज, क्रोमाइट, जिप्सम, गन्धक, हीरा एवं सोना इत्यादि भी सार्वजनिक क्षेत्र की सूची में आ गये। नवम्बर, १९५८ ई० में कोयला तथा पेट्रोल के अतिरिक्त अन्य खनिजों के निष्कासन के लिए National Mineral Development Corporation Ltd. नामक एक निगम की स्थापना की गयी।

तृतीय पंचवर्षीय योजना में खनिज-विकास की प्रगति (Development of Mineral Resources in the Third Five Year Plan) :—तृतीय पंचवर्षीय योजना में खनिज-पदार्थों के उत्पादन एवं विकास में महत्त्वपूर्ण वृद्धि की व्यवस्था थी। योजना काल में उद्योग-धन्धों पर अत्यधिक जोर होने के कारण खनिज-पदार्थों के उत्पादन में भी महत्त्वपूर्ण वृद्धि का आयोजन था। योजना में खनिज-पदार्थों के लिए तैयार कार्यक्रमों पर राजकीय क्षेत्र में ४७८ करोड़ रुपये तथा निजी क्षेत्र में प्रायः ६० करोड़ रुपये व्यय की व्यवस्था थी। किन्तु सार्वजनिक क्षेत्र में इस मद में वास्तविक व्यय ५२५ करोड़ रुपये था। तृतीय योजनाकाल में लोहे के उत्पादन को १९६०-६१ ई० में १०७ लाख टन से बढ़ाकर १९६५-६६ ई० में ३०० लाख टन करने का आयोजन था। इस प्रकार कोयले के उत्पादन को १९६०-६१ ई० में ५४६ लाख टन से बढ़ाकर १९६५-६६ ई० में ९७० लाख टन करने का आयोजन था। किन्तु तृतीय योजना के अन्त में लोहे का उत्पादन केवल २३० लाख टन तथा कोयले का ७०१ लाख टन ही हुआ। इससे स्पष्ट है कि तृतीय योजना में खनिज-पदार्थों के उत्पदान में बहुत ही कम वृद्धि हुई। योजना में महत्त्वपूर्ण खनिज-पदार्थों के सम्भावित क्षेत्रों की विस्तृत रूप से जांच-पड़ताल की भी व्यवस्था थी। इस उद्देश्य से १० करोड़ रुपये के व्यय से भूगर्भ सर्वेक्षण विभाग (Geological Survey of India) तथा ५ करोड़ रुपये के व्यय से भारतीय खदान-परिषद् (Indian Bureau of Mines) के विस्तारीकरण का आयोजन था।

चतुर्थ पंचवर्षीय योजना में खनिज (Minerals in the Fourth Five Year Plan) :—चतुर्थ योजना (१९६९-७४) काल में खनिज-उत्पादन के मद में सार्वजनिक क्षेत्र में ७३९·४ करोड़ रुपये तथा निजी क्षेत्र में १०० करोड़ रुपये विनियोग की व्यवस्था है। योजनाकाल में प्रमुख खनिज-पदार्थों के उत्पादन में महत्त्वपूर्ण वृद्धि का आयोजन है। इस

प्रकार १९७३-७४ ई० तक लोहा के उत्पादन को बढ़ाकर ५१४ लाख टन तथा कोयले के उत्पादन को बढ़ाकर ९३५ लाख टन करने की व्यवस्था है। सरकार द्वारा खनिज उद्योग में लगी इकाइयों को वित्तीय सहायता प्रदान करने के लिए एक Mineral Financial Corporation की स्थापना भी की गयी।

उपरोक्त विवरण से स्पष्ट है कि स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद देश में खनिज उद्योग के विकास पर पर्याप्त जोर दिया जा रहा है। देश की खनिज नीति का प्रधान उद्देश्य देश के औद्योगीकरण को आगे बढ़ाना है। वास्तव में इस उद्देश्य से खनिज-पदार्थों की खोज के कार्य में और अधिक तीव्रता लाने की आवश्यकता है जिससे देश महत्त्वपूर्ण खनिज-पदार्थों के सम्बन्ध में आत्म निर्भर बन सके।

शक्ति के साधन
(Sources of Power)

शक्ति के साधन तथा आर्थिक विकास (Sources of Power and Economic Development) :—आज का युग 'शक्ति का युग' है। आधुनिक औद्योगिक व्यवस्था मुख्यतः शक्ति के साधनों पर ही आधारित है। वास्तव में, शक्ति आर्थिक विकास का एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण तत्त्व है। जिस प्रकार मनुष्य के लिए भोजन तथा कृषि के लिए जल की आवश्यकता होती है, उसी प्रकार कल-कारखानों को प्रचालित करने के लिए शक्ति की आवश्यकता होती है। सामान्य तौर पर यह अनुमान लगाया जाता हैं कि शक्ति में प्रत्येक २% वृद्धि से औद्योगिक उत्पादन में ३% की वृद्धि होती है।

अविकसित तथा अर्द्ध-विकसित देशों में प्रति-व्यक्ति बिजली की खपत बहुत ही कम होती है। किन्तु जैसे-जैसे आर्थिक विकास होते जाता है तथा प्रति-व्यक्ति आय बढ़ती जाती है, इसके साथ-ही-साथ प्रति-व्यक्ति बिजली की खपत भी बढ़ती जाती है। वास्तव, में प्रति-व्यक्ति आय एवं प्रति-व्यक्ति बिजली की खपत में प्रत्यक्ष सम्बन्ध है जो निम्नांकित तालिका[1] से स्पष्ट है :—

देश	प्रति-व्यक्ति बिजली की खपत (कि० ग्राम कोयले के रूप में)	प्रति-व्यक्ति आय (डालर में)
संयुक्त राज्य अमेरिका	१०,३३१	३,५७८
ब्रिटेन	५,००४	१,४५१
जापान	२,५१५	१,१२२
भारत	१८४	७३

इससे प्रति-व्यक्ति आय तथा प्रति-व्यक्ति बिजली की खपत में प्रत्यक्ष सम्बन्ध स्पष्ट हो जाता है। साथ ही, चूँकि कुल विद्युत् के प्रायः तीन-चौथाई भाग का प्रयोग उत्पादक कार्यों में किया जाता है, अतएव बिजली का उत्पादन ही किसी देश के औद्योगीकरण का भी एक अच्छा मापदण्ड है।

किन्तु इस प्रतिस्पर्धात्मक युग में प्रत्येक राष्ट्रों के लिए केवल शक्ति के साधनों की प्रचुरता ही अनिवर्य नहीं, प्रत्युत् अपेक्षाकृत कम मूल्य पर उनकी सुलभता, अनुकूलता तथा उपयोगिता भी आवश्यक है।

शक्ति के कई साधन हैं :—वायु, लकड़ी, कोयला, तेल, अल्कोहल, जल तथा अणु-शक्ति (Atomic energy)। इनमें से वायु तथा लकड़ी का प्रयोग वर्तमान समय में प्रायः नहीं के

1. India Pocket Book of Economic Information—1970.

बराबर ही होता है। अल्कोहल का प्रयोग भी भारत में औद्योगिक ईंधन के रूप में बहुत कम होता है। साथ ही, अणु-शक्ति का विकास तो हमारे यहाँ अभी अत्यन्त प्रारम्भिक अवस्था में ही है। अतः भारत में शक्ति के तीन प्रमुख साधन हैं—(१) कोयला, (२) पेट्रोल, तथा (३) जल। इनमें से पेट्रोल का हमारे देश में अभाव है। साथ ही, पेट्रोल तथा कोयला पृथ्वी के गर्भ से निकाले जाते हैं, अतः इनके समाप्त होने की आशंका बनी रहती है। किन्तु जल शक्ति का अक्षय (Inexhaustible) साधन है। अतः औद्योगिक विकास के लिए हमारी समस्त आशाओं का केन्द्र जल-विद्युत् ही है।

निम्नांकित तालिका[1] से विद्युत् उत्पन्न करने के इन विभिन्न साधनों के जेनरेटिंग प्लांट्स (Generating plants) की संस्थापित क्षमता का अन्दाजा लगता है :—

विद्युत् उत्पन्न करने के साधन	संस्थापित क्षमता (लाख कि० वा० में) १९५०	१९५५	१९६०-६१	१९६५-६६	३१-३-६९
जल	५·८	९·४	१९·२	४१·४	५९·१
कोयला	१५·६	२२·७	३४·३	५६·१	८०·१
तेल	१·६	२·१	३·०	४·२	३·७
अणु-शक्ति	×	×	×	×	—
कुल	२३·०	३४·२	५६·५	१०१·७	१४२·९

निम्नांकित तालिका[2] से सम्पूर्ण विश्व एवं हमारे देश में कुल व्यापारिक शक्ति प्राप्त करने में इन विभिन्न साधनों का महत्त्व स्पष्ट हो जाता है :—

कुल व्यापारिक शक्ति का प्रतिशत

साधन	भारत (१९६०)	सम्पूर्ण विश्व (१९५१)
कोयला	७४·४	५७·१
पेट्रोल	१३·५	३७·१
जल-विद्युत् (Hydro)	१२·१	५·८
कुल	१०० ०	१००·०

अब शक्ति प्राप्त करने के इन विभिन्न साधनों का निम्न विवरण प्रस्तुत किया जाता है :—

(क) कोयला
(Coal)

कोयला शक्ति का एक प्रमुख साधन है। आज भी भारत में शक्ति की कुल आवश्यकताओं का प्रायः ७५ प्रतिशत भाग कोयला द्वारा ही प्राप्त होता है। कोयला उत्पादन की दृष्टि से भारत का विश्व में सातवाँ स्थान है। यहाँ पर कोयला मुख्यतः बिहार, बंगाल, उड़ीसा, मध्य प्रदेश, तथा आन्ध्र राज्यों में पाया जाता है। इनमें बिहार तथा पश्चिमी बंगाल की खानों का प्रमुख स्थान है। भारत के कुल उत्पादन का प्रायः ७० प्रतिशत भाग कोयला केवल बंगाल तथा बिहार की खानों से ही प्राप्त होता है। इसके बाद मध्य प्रदेश का स्थान है जहाँ से देश के कुल उत्पादन का प्रायः १७ प्रतिशत भाग कोयला उत्पन्न किया जाता है। बिहार के झरिया, कर्णपुरा, बोकारो,

1. India Irrigation and power·
2—'The Eastern Econ. Nov. 1970

रामगढ़, गिरीडीह तथा डालटेनगंज में तथा बंगाल के रानीगंज में कोयला पाया जाता है। उड़ीसा तथा आन्ध्र में भी कोयले की खानें हैं, किन्तु इनका उत्पादन बहुत ही कम होता है। इनके अतिरिक्त असम की गारो पहाड़ियों एवं कामरूप जिले तथा राजस्थान के बिकानेर से भी कोयला निकाला जाता है, किन्तु इनका उत्पादन प्राय: नगण्य है। तमिलनाडु के समुद्री किनारों पर दक्षिणी आर्काट जिले के निवेली नामक स्थान में भी लिगनाइट नामक कोयला (भूरा कोयला) का विस्तृत भण्डार का पता चला है। इस क्षेत्र के विकास के लिए एक योजना कार्यान्वित की जा रही है जिसमें उत्पादन का कार्य प्रारम्भ हो गया है। इससे १९६७ ई० में प्राय: ३० लाख टन लिगनाइट उत्पन्न हुआ था।

कोयले का उत्पादन :—भारत में कोयले का उत्पादन १९३१ ई० में २२९ लाख टन था जो बढ़कर १९३९-४० ई० में २५१ लाख टन हो गया। तब से कोयले का उत्पादन निरन्तर बढ़ते जा रहा है। १९५०-५१ ई० में कोयले का उत्पादन ३२३ लाख टन था जो १९५५-५६ ई० में ३८४ लाख टन, १९६०-६१ ई० में ५५७ लाख टन, १९६५-६६ ई० में ६७७ लाख टन तथा १९६८-६९ ई० में ६९५ लाख टन हो गया। चतुर्थ पंचवर्षीय योजना के अन्त में १९७३-७४ ई० में कोयले के उत्पादन को बढ़ाकर ९३५ लाख टन करने का आयोजन है।

भारत में कोयला निष्कासन का कार्य निजी तथा सार्वजनिक दोनों क्षेत्रों में किया जाता है। निजी क्षेत्र को केवल वर्तमान अथवा आस-पास की खानों से ही उत्पादन बढ़ाने की छूट दी जा रही है, तथा नयी खानों की व्यवस्था सार्वजनिक क्षेत्र के अन्तर्गत की जाती है। चतुर्थ योजना के अन्त तक सार्वजनिक क्षेत्र के उत्पादन के बढ़कर ३० प्रतिशत हो जाने की आशा है।

किन्तु भारत में शक्ति के लिए कोयले की स्थिति सन्तोषजनक नहीं है। इसके कई कारण हैं। सर्वप्रथम तो देश में कोयले का प्रादेशिक वितरण बड़ा ही विषम है। देश का अधिकांश कोयला, लगभग ८० प्रतिशत भाग, केवल दामोदर घाटी क्षेत्र (बिहार एवं बंगाल की खानों) से ही प्राप्त होता है। शेष भाग उड़ीसा, आन्ध्र तथा मध्य प्रदेश में मिलता है। इससे देश के अन्य भागों में कोयला ले जाने का खर्च बहुत अधिक पड़ता है। अत: भारत में कोयला की समस्या केवल उत्पादन की ही नहीं, वरन् इसकी ढुलाई की भी है। साथ ही, हमारे देश के कोयले में राख एवं नमी की मात्रा अधिक होने के कारण इसमें गर्मी उत्पन्न करने की शक्ति भी बहुत कम पायी जाती है। खानों से कोयला निकालने का तरीका भी बड़ा ही दोषपूर्ण है। भारत में खानों से कोयला निकालने में यन्त्रों का बहुत कम प्रयोग किया जाता है, फलस्वरूप कोयले का बहुत अपव्यय होता है। १९३७ ई० में भारतीय कोयला समिति ने इस सम्बन्ध में ठीक ही कहा था कि "भारत में कोयले का व्यवसाय एक ऐसी दौड़ के समान है जिसमें लाभ को सर्वदा प्राथमिकता दी जाती है तथा सुरक्षा उसके बाद द्वितीय स्थान पर आती है।"

इतना ही नहीं, हमारे देश में कोयले के भण्डार का भी अभाव है। हाल में एक सर्वेक्षण के अनुसार भारत में सभी प्रकार के कोयले का अनुमानित भण्डार प्राय: १०७४५ करोड़ टन है जिसका दो-तिहाई भाग इतना नीचे है कि वर्तमान परिस्थितियों में इसे निकालना लाभप्रद नहीं होगा। अत: सुगमतापूर्वक केवल ३६०० करोड़ टन कोयला ही खानों से निकाला जा सकता है। विश्व के कुल सम्भावित कोयले के ४० प्रतिशत भाग संयुक्त राज्य अमेरिका में, ३१ प्रतिशत रूस में, १८ प्रतिशत चीन में तथा भारत में केवल १·१ प्रतिशत भाग ही है। इससे देश में कोयले के भण्डार[1] की कमी स्पष्ट हो जाती है। विशेषज्ञों द्वारा भी इस सम्बन्ध में हमें बार-बार चेतावनी मिलती रही है। योजना आयोग के अनुसार भी हमारे देश में अच्छी किस्म के कोयले का

1. India pocket Book of Economic Information, 1970.

अभाव है। यह निश्चय ही हमारे लिए अत्यन्त चिन्ता का विषय है। अतः कोयले के उपयोग में मितव्ययिता से काम लेना आवश्यक है। इसी उद्देश्य से भारत सरकार द्वारा १९५२ ई० में एक कोयला खान (संरक्षण तथा सुरक्षा) विधान पारित किया गया था। इसके अनुसार कोयले के भण्डार को सुरक्षित रखने का अधिकार सरकार ने स्वयं प्राप्त कर लिया है। खानों से कोयला निकालने के तरीकों में भी सुधार आवश्यक है जिससे कोयले की बर्बादी को रोका जा सके। खराब किस्म के कोयले के प्रयोग को प्रोत्साहित करने के लिए विभिन्न स्थानों में कोयला धोने के कारखानों (Coal Washeries) की स्थापना की जा रही है।

उपरोक्त सभी दोषों के कारण हम भारत में शक्ति के लिए कोयले पर बहुत अधिक निर्भर नहीं रह सकते।

भारत ने १९६८ ई० में विश्व के कुल उत्पादन का ३·५ भाग कोयला उत्पन्न किया था जबकि उसी वर्ष संयुक्त राज्य अमेरिका में उत्पादन का प्रतिशत २४·९ तथा सोवियत संघ में २०·७ प्रतिशत था। कोयले की प्रति व्यक्ति खपत भारत में प्रायः ०·०७ टन है जबकि अमेरिका में यह ४·७५ टन है। इससे भारत के औद्योगिक पिछड़ेपन का अन्दाजा लगाया जा सकता है।

पंचवर्षीय योजनाओं में कोयला उद्योग का विकास (Development of Coal Industry in Five Year Plans) :—पंचवर्षीय योजनाओं में कोयला उद्योग के विकास पर पर्याप्त जोर दिया जा रहा है। **प्रथम पंचवर्षीय योजना** (First Five Year Plan) में योजना आयोग ने अपने प्रतिवेदन में यह मत प्रकट किया था कि भारत में कोयले का भण्डार देश की औद्योगिक आवश्यकताओं के लिए सामान्यतः पर्याप्त है, किन्तु यहाँ अच्छी किस्म के कोयले का अभाव है। अतएव आयोग ने कोयले के भण्डार को सुरक्षित रखने की सिफारिश की थी। योजना काल में कोयले के संरक्षण तथा विकास के निम्नलिखित कार्यक्रम अपनाये गये थे—(क) देश के कोयले के भंडार का सर्वेक्षण तथा पैमाइश; (ख) विभिन्न उपयोगों के आधार पर कोयले का वैज्ञानिक वर्गीकरण; तथा (ग) कोयला ढोने के लिए रेलवे के अतिरिक्त अन्य सस्ते साधनों की व्यवस्था। प्रथम योजनाकाल में कोयले का उत्पादन १९५०-५१ ई० में ३२३ लाख टन से बढ़कर १९५५-५६ ई० में ३८४ लाख टन हो गया। योजनाकाल में सार्वजनिक क्षेत्र में कोयले के निष्कासन की भी व्यवस्था की गयी है।

द्वितीय पंचवर्षीय योजना (Second Five Year Plan) में लोहा-इस्पात उद्योग के विकास, थर्मल पावर जेनरेशन तथा रेलवे की आवश्यकताओं इत्यादि को ध्यान में रखते हुए खनिज-विकास कार्यक्रम के अन्तर्गत कोयला उद्योग के विकास को प्रमुख स्थान दिया गया था। अतएव द्वितीय योजना काल में कोयले के उत्पादन को १९५५-५६ ई० में ३८४ लाख टन से बढ़ाकर १९६०-६१ में ६०० लाख टन करने का आयोजन था जबकि वास्तविक उत्पादन ५५७ लाख टन ही हुआ। भारत सरकार की १९५६ ई० की औद्योगिक नीति के अनुसार कोयला उद्योग में नयी खानों की व्यवस्था का दायित्व भारत सरकार का ही है। अतएव द्वितीय योजनाकाल में सार्वजनिक क्षेत्र में कोयले की नई-नई खानों में कार्य प्रारम्भ किया गया। सार्वजनिक क्षेत्र की खानों की व्यवस्था के लिए 'राष्ट्रीय कोयला विकास निगम' (National Coal Development Corporation) नामक एक निगम की स्थापना की गयी है। साथ ही, सार्वजनिक क्षेत्र के लोहा-इस्पात के कारखानों को अच्छी किस्म का कोयला प्रदान करने के लिए योजनाकाल में दो कोयला धुलने के कारखानों (Coal Washeries) की स्थापना भी की गई।

तृतीय पंचवर्षीय योजना (Third Five Year Plan) में भी खनिज-पदार्थों के अन्तर्गत कोयले के विकास को प्रथम स्थान दिया गया था। तृतीय योजनाकाल में लोहा-इस्पात, थर्मल पावर तथा रेलवे तीनों के विकास पर पर्याप्त जोर होने के परिणामस्वरूप कोयले के उत्पादन को १९६०-६१ ई० में ५५७ लाख टन से बढ़ाकर १९६५-६६ ई० में ९७० लाखटन, यानी इसके उत्पादन में ४१३ लाख टन वृद्धि का आयोजन था। कोयले के उत्पादन में इतनी अधिक वृद्धि के लिए कोयले की नयी खानों में कार्य प्रारम्भ करने का आयोजन था। इस कार्य के लिए योजनाकाल में सार्वजनिक क्षेत्र में १०३ करोड़ रुपये तथा निजी क्षेत्र में ६० करोड़ रुपये व्यय की व्यवस्था थी। किन्तु तृतीय योजना के अंत में १९६५-६६ ई० में कोयले का उत्पादन ६७७ लाख टन ही हुआ।

तृतीय योजनाकाल में निवेली योजना के अन्तर्गत लिगनाइट के उत्पादन को बढ़ाकर ४८ लाख टन करने का आयोजन था जबकि इसका उत्पादन अनुमानतः २६ लाख टन हुआ। चतुर्थ योजना के अन्त में इसके उत्पादन को बढ़ाकर १९७३-७४ में ६० लाख टन होने की आशा है।

चतुर्थ पंचवर्षीय योजना (Fourth Five Year Plan) में भी कोयले के उत्पादन में महत्त्वपूर्ण वृद्धि का आयोजन है। योजनाकाल में कोयले के उत्पादन को १९६८-६९ ई० में ६९५ लाख टन से बढ़ाकर १९७३-७४ में ९३५ लाख टन करने का आयोजन है। इसमें से सार्वजनिक क्षेत्र की खानों द्वारा २८५ लाख टन कोयला उत्पन्न करने का आयोजन है। चतुर्थ योजनाकाल में सार्वजनिक क्षेत्र में कोयले के विकास की मद में ६८ करोड़ रुपये व्यय का आयोजन है।

(ख) पेट्रोलियम
(Petroleum)

पेट्रोलियम शक्ति का एक प्रमुख साधन है तथा विश्व की कुल शक्ति की आवश्यकताओं का प्रायः एक-तिहाई भाग इसके द्वारा पूरा किया जाता है। किन्तु भारत में पेट्रोलियम का अभी बहुत कम उत्पादन होता है। द्वितीय पंचवर्षीय योजना प्रारम्भ होने के समय तक देश की कुल आवश्यकताओं का केवल ५% भाग पेट्रोलियम असम के डिगबोई (Digboi), हस्पापुंग तथा वष्पापुंग नामक स्थानों से प्राप्त होता था तथा शेष ९५% भाग बर्मा, ईरान, रूस, एवं संयुक्त राज्य अमेरिका आदि देशों से आयात किया जाता था। किन्तु अब पेट्रोल तथा प्राकृतिक गैस आयोग द्वारा देश में पेट्रोल के नये-नये क्षेत्रों को पता लगाने का कार्यक्रम चल रहा है। इन प्रयत्नों में पर्याप्त सफलता भी मिली है। प्रथम पंचवर्षीय योजना में असम, जैसलमेर तथा काँबे में पेट्रोल की खोज का कार्य किया गया जिसके फलस्वरूप असम के नहरकटिया (Naharkatiya) तथा मोरन (Moran) क्षेत्र में पेट्रोल का पता चला है। यहाँ की खानों से प्रति वर्ष प्रायः २५ लाख टन पेट्रोल प्राप्त किया जायगा जो आगे चलकर ४०-५० लाख टन तक हो जायगा। इस प्रकार इन क्षेत्रों की खानों के विकास के पश्चात् देश की कुल आवश्यकता का प्रायः ४०% भाग पेट्रोलियम देश की खानों से ही प्राप्त हो जायगा। इस क्षेत्र से पेट्रोल निकालने का कार्य आरम्भ करने के लिए १९५९ ई० में Oil India Private Limited नामक एक कम्पनी की स्थापना की गयी जिसने १९६२ ई० से पेट्रोल निकालने का कार्य प्रारम्भ किया। गुजरात के तेल-क्षेत्र से भी तेल निकालने का कार्य प्रारम्भ किया गया है। राजकीय क्षेत्र में तेल साफ करने के दो कारखाने असम के नूनमति (Nunmati) तथा बिहार के बरोनी (Barauni) नामक स्थानों में स्थापित किये गये हैं। बरौनी का कारखाना सोवियत सरकार की सहायता से बनाया गया है। गुजरात क्षेत्र के तेल को साफ करने के लिए राजकीय क्षेत्र में कोयली (Koyali), जो बरोदा के समीप है, में एक तेल शोधक कारखाना स्थापित किया गया है। इनके अतिरिक्त कोचीन में एक तेल साफ

करने का कारखाना बनाया गया है। तमिलनाडु में भी एक तेल शोधक कारखाना स्थापित किया जा रहा है जिसमें शीघ्र ही उत्पादन कार्य प्रारम्भ होने की आशा है।

पेट्रोल की खोज (Exploration of New Petrol Regions) का कार्य पेट्रोल तथा प्राकृतिक गैस आयोग (Oil and Natural Gas Commission) की देख-रेख में पंजाब के ज्वालामुखी क्षेत्र में, स्टैन्डर्ड वैक्युम ऑयल कम्पनी की देख-रेख में पश्चिमी बंगाल के सम्भावित क्षेत्रों में तथा असम ऑयल कम्पनी की सहायता से असम के सम्भावित क्षेत्रों में किया जा रहा है। पंजाब, उत्तर प्रदेश तथा बिहार के सम्भावित क्षेत्रों का भी कैनाडा की प्राद्योगिक सहायता से सर्वेक्षण किया जा रहा है। इन सभी कार्यों के लिए द्वितीय योजना काल में २६ करोड़ रुपये तथा तृतीय योजनाकाल में १४७ करोड़ रुपये व्यय किये गये। एक अनुमान के अनुसार भारत में पेट्रोलियम का सम्भावित क्षेत्र १०·३६ लाख वर्ग किलो मीटर में विस्तृत है जिसके अन्तर्गत असम, पश्चिमी बंगाल पंजाब एवं हिमाचल प्रदेश, जम्मू एवं कश्मीर, राजस्थान, काम्बे, गंगा की घाटी, तमिलनाडु, आन्ध्र एवं केरल के समुद्री किनारे तथा अंडमन-निकोबार द्वीप-समूह आदि सम्मिलित हैं। ऐसा अनुमान किया जाता है कि चतुर्थ योजनाकाल में तेल की खोज के परिणामस्वरूप इसका ज्ञात भंडार २००० लाख टन के लगभग हो जायगा।[1] पिछले कुछ वर्षों से पेट्रोलियम के उत्पादन में हो रही वृद्धि निम्नांकित तालिका से स्पष्ट है—

अशोधित पेट्रोलियम का उत्पादन (लाख टन में)

वर्ष	उत्पादन (लाख टन में)
१९६०-६१	४·१
१९६५-६६	३०·२
१९६८-६९	६०·६
१९७१-७२	७५·०
१९७३-७४ (आयोजित)	८५·०

किन्तु देश में पेट्रोल के उत्पादन में वृद्धि के बावजूद १९६८ में भारत विश्व के कुल उत्पादन का केवल ०·३ प्रतिशत भाग पेट्रोल उत्पन्न करता था जब कि संयुक्त राज्य अमेरिका का उत्पादन २३·४ प्रतिशत तथा सोवियत संघ का १६·१ प्रतिशत था।

चतुर्थ पंचवर्षीय योजना (Fourth Five Year Plan) में भी पेट्रोलियम की खोज का कार्य जारी रखने का आयोजन है। योजनाकाल में पेट्रोल के उत्पादन को जो १९६८-६९ ई० में ६०·६ लाख टन था से बढ़ाकर १९७३-७४ ई० तक ८५ लाख टन करने का आयोजन है जबकि उस समय तक कुल आवश्यकता लगभग २२० लाख टन की होगी। चतुर्थ योजना में इस मद में सार्वजनिक क्षेत्र में ३४१·६ करोड़ रुपये व्यय का आयोजन है। राजकीय क्षेत्र में तेलशोधन तथा वितरण के कार्यों के सम्पादन के लिए १९६४ ई० में एक Indian Oil Corporation नामक संस्था की स्थापना की गयी।

(ग) जल-शक्ति

(Hydro-electricity)

देश में सफल औद्योगिक विकास के लिए सस्ती शक्ति की उपलब्धि एक अनिवार्य शर्त है। **आधुनिक समय में किसी देश में बिजली के उत्पादन को देखकर उस देश के आर्थिक विकास तथा जनता के जीवन-स्तर का अनुमान लगाया जा सकता है।** (The extent of electric development in a country can be regarded as a positive index of the economic prosperity and standard of living of the people.)

1—Fourth Five Year Plan. Draft, 1969-74.

भारत में शक्ति के लिए लकड़ी, कोयला तथा पेट्रोलियम की स्थिति संतोषजनक नहीं है। किन्तु भारत को जल-शक्ति का विशाल साधन उपलब्ध है। अनुमान लगाया जाता है कि विश्व में जल-शक्ति के वर्तमान साधन का भंडार कम-से-कम ५० करोड़ अश्व-शक्ति (H. P.) है जिसमें से बेल्जियम तथा कांगो में ६ करोड़ अश्व-शक्ति, संयुक्त राज्य अमेरिका में ३·८ करोड़ अश्व-शक्ति तथा भारत में २·७ करोड़ अश्व-शक्ति के साधन है।[1] इस प्रकार देश में जल-शक्ति के साधनों की नि:सन्देह प्रचुरता है। भारत में जल-शक्ति के वर्तमान साधनों का अभी पूर्ण रूप से सर्वेक्षण नहीं किया गया है, फिर भी यह अनुमान लगाया जाता है कि भारत में कम-से-कम ४११ लाख कि० वा० जल-विद्युत् उत्पन्न करने की क्षमता वर्तमान है।[2] इसका क्षेत्रीय वितरण निम्न प्रकार से है :—

(१) पश्चिमी घाट से पश्चिम की ओर बहने वाली नदियों से	४३ लाख	कि०	वा०	
(२) दक्षिणी भारत में पूर्व की ओर बहने वाली नदियों से	८६	,,	,,	,,
(३) मध्य भारत की नदियों से	४३	,,	,,	,,
(४) गंगा की तराई की नदियों से	४८	,,	,,	,,
(५) ब्रह्मपुत्र, मनीपुर तथा तायी से	१२५	,,	,,	,,
(६) सिन्धु से	६६	,,	,,	,,
कुल	४११	,,	,,	,,

भारत में जल-शक्ति के विकास के कई लाभ हैं :—सर्वप्रथम तो यहाँ शक्ति के अन्य साधन अपर्याप्त हैं, अत: देश के औद्योगीकरण के लिए हमें मुख्य रूप से जल-शक्ति पर ही आश्रित रहना पड़ेगा। साथ ही, जल-शक्ति का उत्पादन-व्यय भी बहुत कम पड़ता है। अनुमान लगाया जाता है कि जल-शक्ति उत्पादन करने का खर्च कोयले की तुलना में प्राय: एक-चौथाई भाग पड़ता है। साथ ही, जल-शक्ति को सुगमतापूर्वक तथा कम खर्च में दूर-दूर तक ले जाया जा सकता है। इससे विकेन्द्रित आर्थिक व्यवस्था के निर्माण में भी बहुत अधिक सहायता मिलती है। जल शक्ति सस्ती होने के कारण उद्योग-धन्धों के अतिरिक्त कृषि, सिचाई, यातायात तथा लघु-उद्योगों के विकास में भी इसका उपयोग किया जा सकता है। इसका एक लाभ यह भी है कि इसमें शक्ति-उत्पादक वस्तु का नाश नहीं होता, केवल इसमें निहित शक्ति का ही प्रयोग किया जाता है।

देश में अभी मैसूर, केरल, पंजाब तथा जम्मू एवं कश्मीर में मुख्यत: जल-विद्युत; बिहार, पश्चिमी बंगाल तथा गुजरात में मुख्यत: थर्मल तथा शेष राज्यों में दोनों, जल तथा थर्मल की प्रधानता है।

भारत में जल-शक्ति का विकास

(Development of Hydro-electricity in India)

इस प्रकार भारत में जल-शक्ति के साधनों की प्रचुरता है। किन्तु खेद है कि हमारे देश में अभी तक इसका एक बहुत छोटा भाग ही प्रयुक्त किया जाता है। राष्ट्रीय नियोजन समिति के अनुसार १९४२ ई० में देश के संभावित जल-शक्ति के साधनों का केवल १·४% भाग ही विकसित किया गया था जबकि यूरोप तथा अमेरिका के अधिकांश देशों में इसके १५ से ६०% तक का

1. India-1957, P. 3.
2. India-1971-72.

विकास हो गया था। चतुर्थ योजना प्रारम्भ होने के समय, यानी मार्च १९६९ तक देश की कुल संभावित क्षमता का केवल सातवाँ भाग ही प्रयोग किया जा सका था।

भारत में जल-विद्युत् उत्पन्न करने का पहला कारखाना १८९७-९८ ई० में दार्जिलिंग में स्थापित किया गया था। इसके बाद ही १८९९ ई० में कलकत्ता में वाष्प से चलने वाला एक हजार कि० वा० क्षमता को विद्युत्-उत्पादन यन्त्र स्थापित किया गया। पुनः १९०२ ई० में मैसूर राज्य में कावेरी नदी पर शिवसमुद्रम में एक जल-शक्ति उत्पादन केन्द्र की स्थापना की गयी। इस केन्द्र से ५९,२०० कि० वा० बिजली उत्पन्न की जाती है।

महाराष्ट्र राज्य में पश्चिमी घाट पहाड़ पर टाटा बन्धुओं के प्रयत्न से लोनावाला, आन्ध्र घाटी तथा निलामुला नामक तीन स्थानों में बिजली उत्पादन के तीन केन्द्र स्थापित किये गये हैं। ग्रिड व्यवस्था द्वारा इन तीनों केन्द्रों को मिला दिया गया है। इन केन्द्रों से २,३२,००० कि० वा० बिजली उत्पन्न की जाती है जिसका उपयोग बम्बई, थाना, कल्याण और पूना में रोशनी, उद्योग-धन्धे, रेल एवं ट्राम तथा अन्य कार्यों के लिए किया जाता है।

मद्रास में नीलगिरी पर्वत से निकलने वाली पाईकारा नदी पर बाँध बनाकर बिजली उत्पन्न की जाती है। इस केन्द्र की स्थापना का कार्य १९३२ ई० में प्रारम्भ हुआ था। तमिलनाडु में जल-विद्युत् उत्पादन का दूसरा केन्द्र कावेरी नदी पर मेटूर बाँध के नीचे है। यहाँ से ४० हजार कि० वा० बिजली उत्पन्न की जाती है। इनके अतिरिक्त तिनेवेली जिले में ताम्रपर्णी नदी के झरनों से १९३८ ई० में पापनाशनम विद्युत् केन्द्र की स्थापना की गयी। इसकी उत्पादन-क्षमता २१ हजार कि० वा० की है। इस प्रकार १९५२ ई० में मैसूर राज्य में जोग झरने पर शेरावती नदी के जल को रोक कर महात्मा गाँधी विद्युत्-केन्द्र की स्थापना की गयी है।

पूर्वी पंजाब में व्यास की सहायक नदी के किनारे मण्डी में जल-विद्युत् का एक विशाल कारखाना मण्डी जल-विद्युत् केन्द्र है। यहाँ से शिमला, अम्बाला आदि स्थानों को बिजली प्रदान की जाती है। यहाँ ४८ हजार कि० वा० बिजली उत्पन्न की जाती है। कश्मीर राज्य में श्रीनगर में ३४ मील दूर बारामूला नामक स्थान में झेमल नदी के जल से बिजली उत्पन्न की जाती है। उत्तर प्रदेश में गंगा नहर से भोरा, सुमेरा, बहादुरबाद, पलड़ा, चितौड़ा, मुहम्मदपुर और साहेबाल में जल-शक्ति उत्पन्न की जाती है। ये सभी केन्द्र ग्रिड-व्यवस्था द्वारा सम्बन्धित हैं। इनके अतिरिक्त शारदा नहर जल-विद्युत् व्यवस्था से भी ४१ हजार कि० वा० बिजली उत्पन्न की जाती है।

इनके अतिरिक्त देश के अन्य भागों में भी विद्युत् उत्पादन के छोटे-बड़े कारखाने हैं जिनसे बिजली उत्पन्न की जाती है। उपरोक्त विवरण से यह ज्ञात होता है कि भारत के कुछ राज्यों; जैसे—उड़ीसा, मध्य प्रदेश तथा असम में जल-विद्युत उत्पन्न करने के केन्द्र प्रायः नहीं पाये जाते हैं। इन राज्यों में बिजली उत्पादन के लिए कोयले का ही मुख्य रूप से प्रयोग किया जाता है। भारत में गाँवों को अभी बहुत कम बिजली मिलती है। अधिकांश बिजली का उपयोग नगरों में ही किया जाता है। ५ हजार से कम जनसंख्या वाले गावों में केवल ०·५ प्रतिशत भाग बिजली का ही उपयोग किया जाता है।

जल शक्ति के विकास की नयी योजनाएँ—भारत में जल-विद्युत् के विकास की अपार सम्भावनाओं के बावजूद इसका अभी बहुत कम विकास हुआ है। अनुमान लगाया जाता है कि भारत की नदियों में प्रतिवर्ष प्रायः १३५६ लाख घनफीट जल बहता है जिसमें से १९५१ ई० तक केवल ७६ लाख घनफीट यानी ५·६ प्रतिशत का सिंचाई एवं बिजली के लिए प्रयोग होता था।

प्रथम योजना के अन्त तक विभिन्न कार्य-क्रमों के फलस्वरूप इस जलराशि का अनुमानतः १० प्रतिशत भाग प्रयुक्त किया जाने लगा था। इस विशाल जलराशि का यदि जल-शक्ति के उत्पादन में प्रयोग किया जाय तो इससे देश के औद्योगिक विकास में पर्याप्त सहायता मिलेगी। किन्तु भारत में जल-शक्ति के विकास के मार्ग में प्रधान कठिनाई यह है कि जहाँ वर्षा मौसमी होने के कारण जल को रोक कर रखने के लिए बाँध तथा जलाशयों का निर्माण करना पड़ता है जिसमें बहुत अधिक व्यय करना पड़ता है। फिर भी, स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद सरकार द्वारा इस क्षेत्र के विकास के लिए विशेष प्रयत्न किये जा रहे हैं।

पंचवर्षीय योजनाओं में विद्युत् का विकास
(Development of Power in Five Year Plans)

पंचवर्षीय योजनाओं में जल-शक्ति के विकास पर पर्याप्त जोर दिया जा रहा है। इससे इस क्षेत्र में पर्याप्त प्रगति भी हो रही है जो निम्नांकित विवरण से स्पष्ट है :—

प्रथम पंचवर्षीय योजना में जल-शक्ति की प्रगति :— प्रथम पंचवर्षीय योजना (First Five Year Plan) में सिंचाई एवं बिजली के विकास को सर्वोच्च प्राथमिकता दी गयी थी। योजना काल में बिजली की योजनाओं पर कुल २६० करोड़ रुपये व्यय किया गया। प्रथम योजनाकाल में देश में विद्युत् की संस्थापित क्षमता १९५०-५१ ई० में २३ लाख कि० वा० थी, जो बढ़कर १९५५-५६ ई० में ३४.२ लाख कि० वा० हो गयी। इसके फलस्वरूप प्रति-व्यक्ति बिजली का औसत उत्पादन १९५०-५१ ई० में १८ इकाई से बढ़कर १९५५-५६ ई० में ३१ इकाई हो गया।

द्वितीय पंचवर्षीय योजना में जल-विद्युत् का विकास (Development of Power in the Second Five Year Plan) :— द्वितीय पंचवर्षीय योजना (Second Five Year Plan) में विद्युत के विकास पर ४४५ करोड़ रुपये व्यय किये गये।[1] १९६०-६१ ई० में विद्युत की आवश्यकताओं को ध्यान में रखते हुए द्वितीय योजना काल में बिजली की संस्थापित क्षमता को १९५५-५६ ई० में ३४.२ लाख कि० वा० से बढ़ाकर १९६०-६१ ई० में ६९ लाख कि० वा० करने का आयोजन था। योजना काल में ४४ नयी विद्युत् योजनाओं पर कार्य प्रारम्भ किया गया। किन्तु द्वितीय योजना काल में विदेशी विनिमय-सम्बन्धी कठिनाइयों के कारण विद्युत उत्पादन-सम्बन्धी लक्ष्य पूरा नहीं हो सका तथा १९६०-६१ ई० में विद्युत् की संस्थापित क्षमता केवल ५७ लाख कि० वा० ही हुई। उद्योग-धन्धों के केन्द्रीयकरण तथा कृषि में विकास के लिए योजना काल में छोटे-छोटे गाँवों तथा नगरों तक बिजली पहुँचाने का विशेष आयोजन था।

तृतीय पंचवर्षीय योजना में विद्युत् का विकास (Development of electricity in the Third Five Year Plan) :— तृतीय पंचवर्षीय योजना (Third Five Year Plan) में भी विद्युत् के विकास पर पर्याप्त जोर दिया गया था। योजना काल में विद्युत् की संस्थापित क्षमता को १९६०-६१ ई० में ५७ लाख कि० वा० से बढ़ाकर १९६५-६६ ई० में १२७ लाख कि० वा० करने का आयोजन था। किन्तु योजना के अन्त में बिजली की संस्थापित क्षमता १०२ लाख कि० वा० ही हुई। तृतीय योजनाकाल में सार्वजनिक क्षेत्र में विद्युत् के विकास-सम्बन्धी कार्यक्रमों पर कुल १२५२ करोड़ रुपये व्यय हुआ। योजना के अन्त तक ५० हजार गाँवों तथा शहरों को बिजली प्रदान की गयी थी।

1. Indla 1970.

तीन एक-वर्षीय योजनाओं (Three One-Year Plans) में भी विद्युत् के विकास पर पर्याप्त जोर दिया गया था। इन योजनाओं में, यानी १९६६-६९ के बीच शक्ति के विकास की मद में कुल ११८२ करोड़ रुपये व्यय हुए तथा विद्युत् की संस्थापित क्षमता १९६५-६६ में १०२ लाख कि० वा० से बढ़कर मार्च, १९६९ में १४३ लाख कि० वा० हो गयी।

चतुर्थ-पंचवर्षीय योजना (Fourth Five Year Plan) में सार्वजनिक क्षेत्र में विद्युत् के विकास पर २४४८ करोड़ रुपये व्यय की व्यवस्था है। इसमें से १२५५ करोड़ रुपये विद्युत् उत्पन्न करने, ७२२ करोड़ रुपये विद्युत् के वितरण (Transmission), ४४५ करोड़ रुपये ग्रामों के विद्युतीकरण तथा २६ करोड़ रुपये जाँच-पड़ताल पर व्यय किये जायँगे। योजनाकाल में विद्युत् की संस्थापित क्षमता को मार्च, १९६९ ई० में १४३ लाख कि० वा० से बढ़ाकर मार्च, १९७४ ई० में २३१ लाख कि० वा० करने का आयोजन है। इसमें से जल-विद्युत् की उत्पादन क्षमता के ९४ लाख किलो वाट, ताप-विद्युत् (Thermal power) के १२७ लाख किलो वाट तथा अणु-शक्ति के १० लाख किलो वाट होने की आशा है। इसके अतिरिक्त निजी क्षेत्र में ७५ करोड़ रुपये विनियोग की व्यवस्था है। तृतीय योजना के अन्त तक ५० हजार गाँवों तथा शहरों को बिजली पहुँचायी जाती थी। चतुर्थ योजना के अन्त तक इनकी संख्या को बढ़ाकर १ लाख १० हजार करने का आयोजन है।

निम्नलिखित तालिका[1] से पंचवर्षीय योजनाओं में भारत में जल-शक्ति के विकास का अन्दाजा लगता है :—

वर्ष	जल-विद्युत् की संस्थापित क्षमता (लाख किलो वाट में)	प्रति-व्यक्ति बिजली का औसत उपभोग (इकाई में)
१९५०-५१	२३·०	२१
१९५५-५६	३४·२	३१
१९६०-६१	५६·५	४५
१९६५-६६	१०१·७	६१·४
१९६८-६९	१४३·०	७९
१९७३-७४	२३१·०	१६७

भारत में जल-शक्ति के विकास की एक आलोचनात्मक समीक्षा

(A Critical Review of the Development of Hydro-electricity in India)

पहले ही इस बात की चर्चा की जा चुकी है कि भारत में शक्ति के साधन के रूप में पेट्रोल एवं कोयले की स्थिति सन्तोषजनक नहीं है, किन्तु यहाँ पर जल-शक्ति के साधनों की प्रचुरता है। हमारे देश में अनुमानतः ४११ लाख किलो वाट जल-विद्युत् उत्पन्न करने की क्षमता वर्तमान है। किन्तु खेद है कि हम अभी तक इसका एक बहुत छोटा भाग ही उपयोग कर पाये हैं। मार्च, १९६९ में सभी प्रकार से उत्पन्न विद्युत् की कुल संस्थापित क्षमता १४३ लाख कि० वा० थी। इससे देश में बिजली के अभाव का अन्दाजा लगता है। अन्य देशों की तुलना में हमारे यहाँ बिजली की प्रति व्यक्ति औसत खपत बहुत ही कम है जो निम्नांकित तालिका से स्पष्ट है :—

1. Fourth Five Year Plan (1969-74).

विद्युत्[1] की प्रति व्यक्ति संस्थापित क्षमता और औसत उपभोग १९६१

देश	प्रति-व्यक्ति संस्थापित क्षमता (किलोवाट में)	प्रति व्यक्ति औसत वार्षिक उपभोग (इकाई में)
स्वीडेन	१.०३	५१००
सं० रा० अमेरिका	१.०७	४७८०
इंगलैंड	०.७४	२७५०
पश्चिम जर्मनी	०.५५	२३२०
जापान	०.२७	१४०५
भारत (१९५५-६६)	०.०१४	६१

इस प्रकार भारत में जितनी बिजली का एक वर्ष में उपयोग किया जाता है, संयुक्त राज्य अमेरिका उतनी बिजली एक हफ्ते में ही उत्पन्न कर लेता है। देश में प्रति-व्यक्ति बिजली की औसत खपत कम होने के साथ-साथ भिन्न-भिन्न राज्यों की खपत में बहुत अधिक असमानता पायी जाती है। इस प्रकार १९६६-६७ में दिल्ली में प्रति-व्यक्ति बिजली की औसत खपत २७७ इकाई, महाराष्ट्र में ११७ इकाई, मैसूर में ५८३ इकाई, पश्चिमी बंगाल में ११३ इकाई, पंजाब में १०९ इकाई, उत्तर प्रदेश में ४५.५ इकाई, बिहार में ६०.५ इकाई, असम में १० इकाई तथा उड़ीसा में ७३ इकाई है।[2]

किन्तु सन्तोष का विषय है कि पंचवर्षीय योजनाओं में सरकार द्वारा जल-विद्युत् के विकास पर पर्याप्त जोर दिया जा रहा है। इस उद्देश्य से कई बहुउद्देशीय नदी-घाटी योजनाओं पर कार्य चल रहा है। परन्तु देश में नदी-घाटी योजनाओं के कार्यान्वयन में कई कठिनाइयाँ हैं—सर्वप्रथम तो यहाँ पर इस कार्य के लिए आवश्यक यन्त्रों का अभाव है जिनके लिए हमें मुख्य रूप से विदेशों पर निर्भर करना पड़ता है। साथ ही, विशेषज्ञों का भी देश में अभाव है। विदेशों से प्राप्त सहायता द्वारा इन कठिनाइयों को दूर करने का प्रयास किया जा रहा है।

(घ) परमाणु-शक्ति
(Atomic Energy)

द्वितीय महायुद्ध के बाद विश्व में अणु-शक्ति के विकास का प्रयत्न किया जा रहा है। कुछ राष्ट्रों को इस क्षेत्र में पर्याप्त सफलता भी मिली है। वास्तव में, अणु-शक्ति के उत्पादन से विश्व को शक्ति का एक बड़ा ही महत्त्वपूर्ण साधन प्राप्त हुआ है। ऐसा अनुमान किया जाता है कि १ टन यूरेनियम (Uranium) से १०,००० टन कोयले के बराबर शक्ति उत्पन्न की जा सकती है। साथ ही, कोयले की अपेक्षा इसका यातायात-व्यय भी बहुत कम पड़ता है। वर्तमान समय में अणु-शक्ति केन्द्र बनाने का व्यय थर्मल विद्युत् केन्द्र की अपेक्षा १ से २ गुना अधिक पड़ता है, किन्तु अणु-शक्ति केन्द्र का निर्माण-व्यय क्रमशः कम हो रहा है तथा आशा की जाती है कि अगले कुछ वर्षों में यह शक्ति का सबसे सस्ता साधन हो जायगा। अणु-शक्ति मुख्यतः यूरेनियम तथा थोरियम नामक पदार्थों से उत्पन्न की जाती है।

हमारे देश में भी अणु-शक्ति के विकास की अपार सम्भावनाएँ हैं। यहाँ पर यूरेनियम का कुल अनुमानित भंडार २००० टन तथा थोरियम का ५,००,००० टन है। तमिलनाडु तथा केरल

1. United Nations Statistical Year Book—1962.
2. India pocket Book of Economic Information.

के समुद्री किनारे के बालू में यूरेनियम (Uranium) तथा थोरियम (Thorium) पर्याप्त मात्रा में वर्तमान हैं। बिहार के राँची जिले में हाल में ही यूरेनियम, थोरियम तथा इल्मेनाइट (अणु-शक्ति के लिए आवश्यक एक अन्य पदार्थ) के विस्तृत भंडार का पता चला है। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि भारत में अणु-शक्ति उत्पन्न करने के विशाल साधन उपलब्ध हैं।

भारत सरकार अणु-शक्ति के विकास के लिए बहुत अधिक प्रयत्नशील है। देश की औद्योगिक नीति (Industrial Policy) के अनुसार अणु-शक्ति के विकास की जिम्मेवारी भारत सरकार की है। अतः इस कार्यक्रम के लिए १९४८ ई० में भारत सरकार द्वारा एक 'अणु-शक्ति आयोग' (Atomic Energy Commission) की नियुक्ति की गयी तथा केन्द्र में १९५४ ई० में एक पृथक् अणु-शक्ति विभाग की स्थापना हुई। १९५६ ई० में बम्बई के समीप ट्रोम्बे (Trombay) नामक स्थान में भारत के पहले एटोमिक रिएक्टर (Reactor) की स्थापना हुई। यह चिकित्सा एवं औद्योगिक अनुसन्धान के लिए आइसोटोप्प तैयार करता है।

तृतीय पंचवर्षीय योजना में बम्बई के समीप तारापुर में तथा राजस्थान में राणा प्रताप सागर में दो अणु-शक्ति उत्पादन केन्द्र की स्थापना का आयोजन था। योजना काल में इस मद में ५१ करोड़ रुपये व्यय की व्यवस्था थी। इनमें से तारापुर केन्द्र १९६९ ई० में तथा राणा प्रताप-सागर केन्द्र १९७२ ई० में चालू हो गया। चतुर्थ पचवर्षीय योजना (Fourth Five Year Plan) में अणु-शक्ति के विकास पर १२० करोड़ रुपये व्यय का आयोजन है। योजनाकाल में तमिलनाडु के कालपकाम (Kalpakkam) नामक स्थान में ४०० मे० वा० क्षमता के एक अणु-शक्ति उत्पादन-केन्द्र स्थापित करने का आयोजन है। साथ ही, राणाप्रताप सागर केन्द्र की क्षमता को भी दुगुना करने का आयोजन है। चतुर्थ योजना के अन्त तक अणु-शक्ति उत्पादन केन्द्रों की संस्थापित क्षमता २१४ लाख कि० वा० होने की आशा है।

किन्तु, फिर भी अणु-शक्ति के विकास की गति अगले कुछ वर्षों तक निश्चय ही मन्द रहेगी। आशा की जाती है कि १९७५ ई० तक हमारी कुल व्यापारिक शक्ति की आवश्यकताओं का केवल २% भाग ही अणु-शक्ति से प्राप्त हो सकेगा। इससे स्पष्ट है कि अगले कुछ वर्षों तक हमारी शक्ति की कुल आवश्यकताओं का बहुत-थोड़ा भाग ही अणु-शक्ति द्वारा प्राप्त होता है।[1]

इस प्रकार हमारे देश में भी पंचवर्षीय योजनाओं के अन्तर्गत विद्युत् के उत्पादन में वृद्धि हो रही है। नेशनल कौंसिल ऑफ एप्लायड इकॉनामिक रिसर्च (National Council of Applied Economic Research) ने यह अनुमान लगाया है कि १९५० ई० में टन कोयले के रूप में प्रति-व्यक्ति बिजली की खपत ०·१० से बढ़कर १९७५ ई० में ०·६२ हो जायगी यानी २५ वर्षों में इसमें लगभग ६ गुनी वृद्धि होगी। इसे एक प्रकार का शक्ति-विस्फोट बतलाया गया है जिससे भविष्य में होने वाले औद्योगिक विकास का आभास मिलता है। किन्तु इतनी अधिक वृद्धि के बावजूद, १९७५ ई० में हमारे देश में प्रति-व्यक्ति बिजली की खपत संयुक्त राज्य अमेरिका के वर्तमान उपयोग का केवल पन्द्रहवाँ भाग ही होगी। [Considering that the level of consumption as recently as 1950 was only 0·10 tce (tons of coal equivalent), the six fold increase in 25 years amounts to an energy explosion unprecedented in our history and is a measure of industrial and economic development that the future is expected to bring to India. Despite this considerable increase in consumption, the average per capita level in 1975

1. Memorandum on the Fourth Plan—p. 44.

will only be about one-fifteenth of the current per-capita consumption in U. S. A.] इससे स्पष्ट है कि हमारे देश में बिजली का उत्पादन अभी बहुत ही कम है। अतः विश्व के विकसित राष्ट्रों की बराबरी करने के लिए हमें इसके उत्पादन में बहुत अधिक विकास करना होगा।

नदी-घाटी योजनाएँ
(River Valley Projects)

आजकल देश में अनेक नदी-घाटी योजनाओं पर कार्य चल रहा है। इनमें से कुछ योजनाएँ बहुउद्देशीय (Multi-purpose River Valley projects) हैं, यानी इनका एक से अधिक उद्देश्य है, जैसे—सिंचाई, बिजली, मिट्टी के कटाव का नियन्त्रण, बाढ़-नियन्त्रण, यातायात तथा मछली पालन इत्यादि। नीचे कुछ महत्त्वपूर्ण बहुउद्देशीय नदी-घाटी योजनाओं का विवरण प्रस्तुत किया जा रहा है :—

(१) भाखरा-नांगल योजना (Bhakhra Nangal Project) :—यह भारत की सबसे बड़ी नदी-घाटी योजना है तथा पंजाब में सतलज नदी के जल से तैयार की जा रही है। यह पंजाब, हरियाणा तथा राजस्थान सरकारों की सम्मिलित योजना है। १९४८ ई० में ही इस योजना पर कार्य प्रारम्भ किया गया। इसके दो भाग हैं—भाखरा योजना तथा नांगल योजना। भाखरा योजना के अन्तर्गत सतलज नदी के आर-पार एक तंग पहाड़ी रास्ते पर भाखरा में २२६ मीटर ऊँचा एक बाँध बनाया गया है। बाँध के दोनों तरफ दो बिजली घर हैं। नांगल योजना के अन्तर्गत भाखरा से ८ मील नीचे नांगल नामक स्थान में एक २९ मीटर ऊँचा बाँध तथा ६४ कि०मी० लम्बा हाईडेल चैनल बनाया गया है। भाखरा बाँध की बायीं ओर एक तथा हाईडेल चैनल के दोनों ओर गंगुवाल एवं कोटला में दो बिजली घर है। ये तीनों बिजली घर तैयार हो गये हैं तथा इनकी सम्मिलित संस्थापित क्षमता ६,०४,००० कि० वा० है। इसके अन्तर्गत लगभग ११०४ कि० मी० लम्बी नहरें तथा ३३६० कि० मी० से अधिक लम्बी उपशाखाएँ हैं जिनसे पंजाब, हरियाणा एवं राजस्थान की १४·६० लाख हेक्टर भूमि में सिंचाई की सुविधा प्राप्त है। १९६७-६८ ई० में इससे १६ लाख हेक्टर भूमि की सिंचाई की सुविधा प्राप्त हुई थी। इस योजना का अनुमानित व्यय १७५·१ करोड़ रुपये हैं। इसके अतिरिक्त भाखरा के दायें तट पर एक दूसरा बिजली घर बनाया जा रहा है जिसका अनुमानित व्यय ५९·७ करोड़ रुपये है तथा जिससे ६ लाख कि० वा० जल-विद्युत् उत्पन्न होने की आशा है। पंजाब पुर्नसंगठन योजना के अन्तर्गत अक्टूबर १९६७ में एक Bhakra Management Board स्थापित किया गया है जो इसकी व्यवस्था करता है।

(२) दामोदर घाटी योजना (Damodar Valley Project) :—इस बहुउद्देशीय नदी घाटी योजना का प्रधान उद्देश्य दामोदर तथा इसकी सहायक नदियों को वश में करना है जो प्रति वर्ष भीषण बाढ़ों के द्वारा बिहार के छोटानागपुर तथा बंगाल के एक बहुत बड़े हिस्से को क्षतिग्रस्त करती रही हैं। इस योजना का निर्माण अमेरिका की टिनेसी घाटी योजना (T. V. A.) के आधार पर किया गया है। योजना को कार्यान्वित करने के लिए १९४८ में दामोदर घाटी निगम (Damodar Valley Corporation) नामक एक निगम की स्थापना की गयी।

दामोदर घाटी योजना बिहार, पश्चिमी बंगाल तथा केन्द्रीय सरकार की सम्मिलित योजना है। इस योजना के दो भाग हैं—प्रथम भाग, जिसका कार्य १९४८ में प्रारम्भ किया गया, में निम्नलिखित की व्यवस्था थी[1]—(१) चार बड़े-बड़े बाँध—तिलैया, कोनार, मैथन तथा पंचेत-हिल एवं साथ में कोनार के अतिरिक्त अन्य तीन स्थानों में कुल १·०४ लाख कि० वा० संस्थापित क्षमता के एक-एक जल-विद्युत् उत्पादन केन्द्र की स्थापना; (२) बोकारो, दुर्गापुर तथा चन्द्रपुरा में कुल ६·५७ लाख कि० वा० क्षमता के तीन थर्मल पावर स्टेशन, (३) विस्तृत विद्युत् की लाइन (Transmission line) तथा विद्युत्-उत्पादन के उपकेन्द्र, (४) दुर्गापुर में एक सिंचाई बाँध तथा १५५० मील लम्बी नहर-व्यवस्था जिसमें ८५ मील तक जहाज चलाये जा सकते हैं। प्रथम योजना-काल में इस योजना का केवल प्रथम भाग ही पूरा होने को था जो पूरा हो गया है। बराकर नदी पर १२०० फीट लम्बा तथा ९९ फीट ऊँचा तिलैया बाँध का १९५३ में भूतपूर्व प्रधान मन्त्री पं० नेहरू द्वारा उद्घाटन हुआ। इससे ४० हजार कि० वा० विद्युत् उत्पन्न की जा सकती है। कोनार नदी पर ९१० फीट लम्बा कोनार बाँध भी मई, १९५४ में तैयार हुआ। इसके जलाशय का जल आजकल बोकारो थर्मल पावर स्टेशन को ठंढा करने के लिए प्रयोग किया जाता है। बोकारो का थर्मल पावर स्टेशन, जो पूर्व का प्रायः सबसे बड़ा थर्मल स्टेशन है, १९५३ ई० में तैयार हुआ। इसकी वर्तमान क्षमता १,५०,००० कि० वा० की है। इसका विस्तार किया गया है जिससे इसकी संस्थापित क्षमता में ७५ हजार कि० वा० की और वृद्धि हुई है। बराकर नदी पर मैथन बाँध का भी उद्घाटन भूतपूर्व प्रधान मन्त्री पं० नेहरू द्वारा १९५७ ई० में हुआ। वहाँ पर जमीन के नीचे एक विद्युत्-उत्पादन केन्द्र है जिसकी संस्थापित क्षमता ६० हजार कि० वा० की है। पंचेतहिल के बाँध का कार्य भी १९५९ ई० में पूरा हो गया। बाँध के समीप ४० हजार कि० वा० संस्थापित क्षमता का एक विद्युत् उत्पादन केन्द्र भी बनाया गया है जिसका उद्घाटन सितम्बर, १९५९ ई० में हुआ। दुर्गापुर का सिंचाई बाँध, जो ६९२ मीटर लम्बा तथा ११·६ मीटर ऊँचा है, १९५५ ई० में तैयार हुआ। नहर-व्यवस्था के अन्तर्गत नदी के दोनों किनारों से दो नहरें निकाली जा रही हैं। शाखाओं सहित नहर-व्यवस्था की कुल लम्बाई १५५० मील होगी। इसमें से बायें किनारे की नहर में ८५ मील तक नाव या जहाज चलाये जा सकते हैं। यह कलकत्ता तथा रानीगंज के कोयला-क्षेत्रों के बीच यातायात का एक अतिरिक्त साधन प्रदान करेगी। मुख्य नहर का कार्य प्रायः पूरा हो गया है तथा शाखाओं पर अभी कार्य चल रहा है। १,५०,००० कि० वा० क्षमता का दुर्गापुर थर्मल पावर स्टेशन भी काम करने लगा है। चन्द्रपुरा थर्मल पावर स्टेशन की संस्थापित क्षमता प्रारम्भ में, २,५०,००० कि० वा० होगी तथा यहाँ से मुख्यतः रेल चलाने के लिए बिजली प्रदान की जायगी। इसका एक भाग १९६४ ई० में चालू किया गया। इस प्रकार दामोदर योजना के प्रथम भाग का कार्य प्रायः पूरा हो गया है। इसका खर्च ८६ करोड़ रुपये है। तृतीय योजना काल में १·२५ लाख कि० वा० क्षमता के दो और केन्द्र इस योजना के अन्तर्गत चन्द्रपुरा तथा दुर्गापुर में स्थापित करने की व्यवस्था थी जिनसे इसकी कुल संस्थापित क्षमता ९·७९ लाख कि० वा० हो जाने को थी। साथ ही योजना के प्रथम भाग से १०·४ लाख एकड़ भूमि में सिंचाई की व्यवस्था है। योजना के द्वितीय भाग में बालपहाड़ी (Balpahari), बोकारो, आयर (Aiyar) एवं बर्मो (Bermo) में चार बड़े-बड़े बाँध तथा साथ में जल-विद्युत् उत्पादन केन्द्र स्थापित करने का आयोजन है।

योजना के प्रथम भाग से बिहार को बिजली की सुविधा तथा बंगाल को अधिक सिंचाई

1. India. 1971-72.

को सुविधा प्राप्त हुई है। इसके द्वारा उत्पन्न बिजली का प्रयोग छोटानागपुर तथा दक्षिणी बिहार के औद्योगिक केन्द्रों में किया जा रहा है। आजकल उत्तरी बिहार को भी दामोदर घाटी निगम से बिजली प्रदान की जाती है।

(३) हीराकुड योजना (Hirakud dam Project) :—उड़ीसा में सम्बलपुर से ६ मील ऊपर महानदी के जल से हीराकुड नामक स्थान में सिंचाई एवं बिजली उत्पन्न करने के लिए यह योजना कार्यान्वित की जा रही है। ४८०० मीटर लम्बा हीराकुड बाँध संसार का प्राय: सबसे लम्बा बाँध है। बाँध के निकट एक बिजली घर बनाया गया है जिसकी संस्थापित आरम्भिक क्षमता १,२३,००० कि० वा० की है। बिजली घर तैयार हो गया है तथा यहाँ से रूरकेला, जोड़ा तथा राजगंजपुर आदि स्थानों को बिजली प्रदान की जाती है। इस योजना को दो चरणों में पूरा किया जा रहा है। प्रथम चरण का कार्य ६७.८२ करोड़ रुपये के व्यय से पूर्णरूप से पूरा हो गया है तथा इससे उड़ीसा की २·५३ लाख हेक्टर भूमि में स्थायी सिंचाई की सुविधा प्राप्त हुई है। प्रथम चरण के सहायक के रूप में ६८·४ करोड़ रुपये के व्यय से महानदी डेल्टा सिंचाई योजना का कार्य कार्यान्वित किया जा रहा है जिसके पूरा होने पर ६.८ लाख हेक्टर,भूमि की सिंचाई होगी।

द्वितीय चरण में १४·९२ करोड़ रुपये व्यय का अनुमान है।[1] द्वितीय चरण का कार्य भी लगभग समाप्त हो चला है। इसमें ७२ हजार कि० वा० क्षमता का चिपिमा में एक बिजली घर बनाया गया है तथा हीराकुड के बिजली घर की क्षमता में ७५ हजार कि० वा० की वृद्धि की गयी है। अत: अब इस योजना की कुल संस्थापित क्षमता २,७०,००० कि० वा० हो गयी है।

(४) कोशी योजना (Kosi Project) : —यह बिहार की प्रमुख नदी घाटी योजना है। इसके द्वारा विपद्वाहिनी नदी कोशी के नियन्त्रण का प्रयत्न किया जा रहा है। कोशी नदी सदियों से भयंकर बाढ़ों द्वारा उत्तरी बिहार को क्षतिग्रस्त करती आ रही है। अत: इसे 'उत्तरी बिहार का शोक' (Sorrow of North Bihar) कहा जाता है। यह इस क्षेत्र को प्रतिवर्ष अपने नाश के ताण्डव की लीला-भूमि बनाती रहती है। बाढ़ के समय यह कई धाराओं द्वारा अपने क्षेत्र को प्रवाहित करती है जिससे इस क्षेत्र में यातायात की व्यवस्था भी छिन्न,भिन्न हो जाती है। इसकी धारा में बराबर परिवर्तन होते रहता है। गत २०० वर्षों में यह अपनी मुख्य धारा से ७० मील अलग होकर बहने लगी है। इस प्रकार उपरोक्त विभिषिकाओं द्वारा कोशी सदियों से उत्तरी बिहार को क्षति-ग्रस्त करती रही है। इस विपद्वाहिनी को नियन्त्रित करने के लिए १४ जनवरी, १९५५ ई० से इस योजना का कार्यान्वयन प्रारम्भ हुआ।

इस योजना के अन्तर्गत निम्नांकित कार्य की व्यवस्था है :—

(१) नेपाल में हनुमाननगर से लगभग ४ मील ऊपर आवश्यक जलमोड़-बाँधों के साथ एक मील लम्बा बाँध का निर्माण किया गया है जो जून, १९६२ ई० में पूरा हो गया। ये जलमोड़-बाँध बाँध के पूरब एवं पश्चिम दिशा में प्रत्येक ८ मील लम्बे हैं।

(२) दोनों ओर बाढ़ से सुरक्षा के लिए बाँध के नीचे पश्चिम में ७० मील लम्बा तथा पूरब में ६० मील लम्बा तटबन्ध बनाये गये हैं। इनका कार्य भी प्राय: पूरा हो गया है। इसके साथ ही पूर्वी जलमोड़-बाँध के ऊपर १२ मील लम्बा एक जलमोड़ बाँध तटबन्ध भी बनाया जा रहा है।

(३) नदी की पूर्वी दिशा से एक नहर निकाली जा रही है जिससे पूर्णिया तथा सहरसा जिले की कुल ५·७९ लाख हेक्टर भूमि में सिंचाई हो सकेगी। यह नहर भीम नगर से अररिया

1. India 1971-72

तक होगी। इसकी चार शाखाएँ होंगी जो पूर्णिया, सुपौल तथा अररिया से होकर गुजरेंगी। सिंचाई के साथ-साथ इस नहर-व्यवस्था से १'४ लाख हेक्टर बंजर भूमि को कृषि-योग्य बनाया जायगा। मुख्य नहर की खुदाई का अधिकांश कार्य पूरा हो गया है। ६ जुलाई, १९६४ ई० को इस नहर का उद्घाटन हुआ।

(४) हनुमान भीमनगर बराज के निकट से पुरानी धाराओं को खोदकर चालू किया जायगा जिससे बाढ़ का जल छिट-पुट होकर बह सकता है।

उपरोक्त कार्यक्रमों के अतिरिक्त इस योजना के द्वितीय चरण में निम्नांकित कार्यक्रमों की व्यवस्था है :—

(१) तृतीय पंचवर्षीय योजनाकाल में कोशी योजना से दो और नहर निकालने की स्वीकृति दी गयी — पश्चिमी नहर तथा राजपुर नहर। पश्चिमी नहर से दरभंगा जिले की ३.२५ लाख हेक्टर तथा राजपुर नहर से सहरसा एवं मुंगेर जिलों की १'६० लाख हेक्टर अतिरिक्त भूमि में सिंचाई की सुविधा मिलेगी। इस प्रकार कोशी नहर-व्यवस्था के पूरा होने पर कुल १९० लाख मन अधिक अन्न का उत्पादन होगा। पश्चिमी नहर से नेपाल की १२,९२० हेक्टर भूमि की भी सिंचाई होगी।

(२) पूर्वी नहर के सिरे पर एक जल-विद्युत् केन्द्र स्थापित किया जायगा जिसकी संस्थापित क्षमता २० हजार कि० वा० की होगी। इसकी आधी शक्ति नेपाल को तथा आधी बिहार को प्रदान की जायगी।

कोशी योजना का अनुमानित व्यय प्रायः ११० करोड़ रुपये है। इसके सम्पादन में अभी तक पर्याप्त सफलता मिली है। तटबन्धों का कार्य पूरा हो गया है। इसमें जन-सहयोग ने प्रशंसनीय कार्य किया है। हनुमान नगर बाँध का कार्य भी प्रायः पूरा हो गया है। भीमनगर से बथनाहा तक सामान ले जाने के लिए नैरो गेज की रेलवे लाइन बैठायी गयी है। नहर की खुदाई का कार्य भी चल रहा है। चतुर्थ योजना में यह पूरी हो जायगी। पश्चिमी नहर का कार्य पाँचवीं योजना में पूरा होगा। इससे उत्तरी बिहार को चतुर्दिक लाभ की आशा की जाती है।

(५) **चम्बल योजना** :—यह मध्य प्रदेश तथा राजस्थान सरकारों की सम्मिलित योजना है। इस योजना के अन्तर्गत यमुना की प्रमुख सहायक नदी चम्बल पर चौरसीगढ़ से कोटा तक की लगभग ५० मील की दूरी में ३ बाँध बनाने का प्रवधान है। योजना के प्रथम चरण में गाँधी सागर बाँध, गाँधी सागर विद्युत् गृह, ट्रान्समिशन, कोटा (Kohta) बाँध तथा इसके दोनों ओर नहरें बनाने का कार्यक्रम सम्मिलित किया गया है। गाँधी सागर बाँध के जलाशय में ६८ ५ लाख एकड़ फीट पानी आ सकेगा तथा नहर प्रणाली से राजस्थान और मध्य प्रदेश की ४'४६ हेक्टर भूमि में सिंचाई की सुविधा प्राप्त होगी। गाँधी सागर शक्ति-गृह-विद्युत् उत्पादन की चार इकाइयों (Generating Sets) की प्रस्थापित क्षमता का अनुमान ८०,००० किलोवाट है। इनमें से तीन इकाइयों में उत्पादन का कार्य प्रारम्भ हो गया है। गाँधी सागर बाँध तथा तत्सम्बित शक्ति-गृह के पूरा होने में अभी देर है। कोटा बाँध तथा तत्सम्बन्धित नहर प्रणाली का निर्माण कार्य भी अब पूरा हो चुका है तथा २० नवम्बर, १९६० ई० से इससे सिंचाई के लिए पानी उपलब्ध होने लगा है। योजना के द्वितीय चरण में चम्बल नदी पर कोटा शहर से ३५ मील ऊपर चित्तौड़ जिले में चूलिया जल-प्रपात के निकट राणा प्रताप सागर

बाँध तथा तत्सम्बन्धित शक्ति-गृह के निर्माण का कार्यक्रम सम्मिलित है। इसके निर्माण का कार्यक्रम भी प्रारम्भ कर दिया गया है। इस भाग के पूरा हो जाने पर १·२१ लाख हेक्टर भूमि की सिंचाई हो सकेगी तथा १०,००० किलोवाट विद्युत् का उत्पादन होगा। चम्बल योजना के प्रथम चरण के कार्यक्रम का अनुमानित लागत ६६·५९ करोड़ रु० तथा द्वितीय चरण के कार्यक्रम का अनुमानित व्यय १७·२१ करोड़ रु० है। चौथी योजना काल में यह योजना पूरी हो जायगी। १६ करोड़ रुपये के व्यय से इस योजना के तृतीय चरण का कार्य प्रारम्भ किया गया है जिसके अन्तर्गत जवाहर सागर बाँध तथा ३३ हजार कि० वा० क्षमता के तीन एवं ६० हजार कि० वा० की क्षमता के एक विद्युत् गृह को निर्माण किया जायगा। इस योजना के पूरा होने पर इससे ५·६६ लाख हेक्टर भूमि की सिंचाई होगी तथा ३·८६ लाख कि० वा० विद्युत् उत्पन्न होगी।

(६) **गंडक योजना** (Gandak project) :—गंडक योजना के सम्बन्ध में जाँच-पड़ताल का कार्य १९४७ ई० में ही प्रारम्भ हुआ। जाँच-पड़ताल के बाद १९५१ ई० में इसका स्वरूप तैयार किया गया, किन्तु बिहार सरकार ने पहले कोशी योजना को प्राथमिकता दी जिससे इसके कार्य में कुछ देर हो गयी। पुनः इस सम्बन्ध में नेपाल सरकार से बातचीत प्रारम्भ हुई और अन्ततः ४ दिसम्बर, १९५९ ई० को बाँध के सम्बन्ध में नेपाल सरकार से एक समझौता हुआ तथा ४ मई, १९६४ ई० को इस बाँध का शिलान्यास हुआ। बिहार तथा उत्तर प्रदेश राज्य इसमें सम्मिलित हैं तथा नेपाल को भी इससे विद्युत् एवं सिंचाई की सुविधा प्राप्त होगी।

गंडक योजना के अन्तर्गत निम्नलिखित कार्यक्रमों की व्यवस्था है :—

(१) त्रिवेणी नहर के उद्गम स्थान से १००० फीट नीचे **भैंसालोटन** (Bhainsalotan), जिसे अब बाल्मिकि नगर कहा जाता है, में ७४·७ मीटर लम्बी सड़क के साथ-साथ एक बाँध बनाया जायगा। बाँध का आधा भाग भारत में तथा आधा भाग नेपाल में पड़ेगा।

(२) बाँध के दोनों किनारे से नहरें निकाली जायँगी। पश्चिमी किनारे की मुख्य नहर-व्यवस्था से छपरा जिले की ४.८४ लाख हेक्टर तथा उत्तर प्रदेश के गोरखपुर एवं देवरिया जिले की २·८८ लाख हेक्टर भूमि की सिंचाई होगी। पश्चिमी किनारे से भी एक और नहर निकाली जायगी जिससे नेपाल की १६ ४ हजार हेक्टर भूमि की सिंचाई होगी।

(३) पूर्वी किनारे की नहर से बिहार के मुजफ्फरपुर, चम्पारण तथा दरभंगा जिले की ६.७३ लाख हेक्टर भूमि तथा नेपाल की प्रायः ०·४७ लाख हेक्टर भूमि की सिंचाई होगी।

(४) मुख्य पश्चिमी नहर पर एक जल-विद्युत् केन्द्र स्थापित किया जायगा जिसकी संस्थापित क्षमता १५ हजार कि० वा० की होगी। यह विद्युत् केन्द्र नेपाल सरकार को अनुदान के रूप में दिया जायगा।

यह योजना बिहार एवं उत्तर प्रदेश राज्यों की सम्मिलित योजना है। इस योजना का अनुमानित व्यय १६९.६ करोड़ रुपये है।[1] इसकी अन्तिम सिंचाई क्षमता १५·१९ लाख हेक्टर भूमि की है जिसमें से ११·७८ लाख हेक्टर बिहार में, २·८८ लाख हेक्टर उत्तर प्रदेश में तथा ०.५० लाख हेक्टर नेपाल में होगी।[2]

1. India-1971-72.
2. Planning Commission : Annual Plan. 1966-67.

(७) **रिहान्द बाँध योजना** (Rihand Dam project):—उत्तर प्रदेश के मिर्जापुर जिले में पीपरी नामक स्थान पर सोन की सहायक रिहान्द नदी के आर-पार ३०० फीट ऊँचा तथा ३,०६५ फीट लम्बा एक बाँध बनाया गया है जिसका उद्घाटन ७ जनवरी, १९६३ ई० को किया गया। इस योजना पर १९५४ ई० से ही नियमित रूप से कार्य चल रहा है। इस पर कुल ३७·५ करोड़ रुपये व्यय हुए हैं जिनमें से अमेरिका से भी सहायता प्राप्त हुई थी। योजना के अन्तर्गत १८० वर्गमील का एक पन्त सागर नामक एशिया का सबसे बड़ा मनुष्य कृत जलाशय बनाया गया है, जिसमें ७६ लाख एकड़ फीट जल एकत्रित हो सकता है। इस जलाशय के निर्माण से १८८ वर्गमील क्षेत्र में सिंचाई हो सकेगी जिसमें से ८५,००० एकड़ भूमि उत्तर प्रदेश और शेष मध्य प्रदेश में है। रिहान्द बाँध योजना के अन्तर्गत २·५ लाख कि० वा० क्षमता का एक विद्युत केन्द्र स्थापित किया गया है। इस योजना द्वारा उत्पादित बिजली हिन्दुस्तान अल्यूमिनियम कारपोरेशन लि० (Hindustan Aluminium Corporation Ltd.) और सीमेंट व सोडा गैस के कारखानों, वाराणसी के विद्युत् ईंजन की फैक्ट्री तथा उत्तर प्रदेश और मध्य प्रदेश राज्यों में बाँध के समीपवर्ती भागों में स्थित अन्य कारखानों को प्रदान की जाती है। मुगलसराय और कानपुर के बीच चलने वाली रेलों के लिए तथा उत्तर प्रदेश और बिहार के ट्यूब वेल्स को भी इस बाँध द्वारा बिजली प्रदान करने की व्यवस्था की गयी है। पाँच लाख एकड़ भूमि की सिंचाई करनेवाली बिहार की नहरों को इस योजना के जलाशय से पानी दिया जायगा। लगभग १४ लाख एकड़ भूमि की सिंचाई करने वाले उत्तर प्रदेश के ट्यूब वेल्स (Tube-wells) को बिजली प्रदान करने के साथ-साथ इस योजना से उत्तर प्रदेश के लगभग ६०० गाँव और नगरों को बिजली प्रदान की जायगी।

'पंत सागर' जलाशय से छोड़ा गया जल २० मील नीचे १ लाख किलोवाट की प्रस्थापित क्षमता वाले ओबरा (Obra) नामक शक्ति गृह के काम आ सकेगा। इस योजना के अन्तर्गत एक थर्मल पावर स्टेशन रूस की सहायता से बनाया जायगा जिसकी संस्थापित क्षमता २·५ लाख किलोवाट होगी।

इनके अतिरिक्त भारत में और बहुत-सी नदी-घाटी योजनाओं पर कार्य चल रहे हैं। जिनसे विद्युत् एवं सिंचाई की सुविधा प्राप्त की जायगी। आन्ध्र एवं मैसूर राज्यों की सम्मिलित योजना के रूप में तुंगभद्रा योजना पर कार्य चल रहा है। इस योजना से २८ हजार कि० वा० बिजली उत्पन्न होगी। महाराष्ट्र की कोयना योजना से २·४ लाख कि० वा० बिजली उत्पन्न होगी। इस प्रकार देश के विभिन्न भागों में बहुत-सी नदी-घाटी योजनाओं पर कार्य चल रहा है जिनसे पर्याप्त मात्रा में जल-विद्युत् उत्पन्न करने का आयोजन है।

निष्कर्ष:—भारत के प्राकृतिक साधनों के अध्ययन से यह स्पष्ट है कि भारत में प्राकृतिक साधनों की प्रचुरता है। प्रकृति ने हमें अपने उपहार प्रदान करने में अति उदारता दिखलायी है। किन्तु दुःख है कि अभी तक हम इनका समुचित उपयोग नहीं कर पाये हैं जिससे हम अन्य देशों की अपेक्षा बहुत ही निर्धन हैं। इसीलिए भारत को 'निर्धनों से बसा हुआ एक समृद्ध राष्ट्र'

कहते हैं। कहा भी जाता है कि "भारत धनी है किन्तु भारतीय निर्धन हैं।" (India is rich but Indians are poor.) किन्तु स्वतन्त्रता-प्राप्ति के पश्चात् पंचवर्षीय योजनाओं के अन्तर्गत देश के आयोजित आर्थिक विकास का प्रयास किया जा रहा है। इन योजनाओं में प्राकृतिक साधनों के विकास की गति को तीव्र बनाया जा रहा है।

विशेष अध्ययन-सूची

1. Govt. of India : Search for Minerals in India (1964)
2. NCAER : Demand for Energy in India-1950 to 1975.
3. Govt. of India : India 1971-72.
4. Planning Commission : Third and Fourth Five Year Plans of India.

अध्याय : ३

भारतवर्ष की जनसंख्या

(Population of India)

'पुत्र के जन्म से मनुष्य को सब लोकों पर विजय प्राप्त होती है, पौत्र के जन्म से वह अमर हो जाता है और तत्पश्चात् प्रपौत्र के जन्म से उसको सूर्य लोक मिलता है।"—मनुस्मृति।

"भारत की जनसंख्या को नियन्त्रित करना राष्ट्रीय कल्याण एवं नियोजन की दृष्टि से बड़ा ही महत्त्वपूर्ण है।"[1]

जनसंख्या एवं आर्थिक विकास (Population and Economic Growth) :— किसी देश की आर्थिक समृद्धि प्रधानतया दो बातों पर निर्भर करती है—प्राकृतिक साधन, जिनमें मिट्टी, जलवायु, भौगोलिक स्थिति तथा खनिज एवं शक्ति के साधन प्रमुख हैं और मानवकारक (human factor) जिसमें सक्रिय जनसंख्या की राशि एवं गुण सम्मिलित हैं। किन्तु इन दोनों में मनुष्य की ही प्रधानता है क्योंकि प्राकृतिक साधनों का समुचित उपयोग देशवासियों की संख्या एवं स्वभाव पर ही आश्रित है। सभ्यता एवं ज्ञान में विकास के साथ-साथ प्रकृति पर मानव का स्वामित्व निरन्तर बढ़ते जा रहा है। वह अपनी इच्छा एवं आवश्यकतानुसार साधनों में अनुकूलता प्रदान करता है। अतः उत्पादन में मानव सक्रिय सहयोग प्रदान करता है। वास्तव में, वह उत्पादन का साधन एवं साध्य दोनों है। प्राकृतिक साधनों की विपुलता के बावजूद यदि किसी देश की जनसंख्या, गुण एवं मात्रा दोनों दृष्टि से हीन है तो वह देश आर्थिक विकास के दौरान में निश्चय ही पीछे रह जायगा। इस प्रकार किसी देश का आर्थिक विकास वहाँ के निवासियों पर इतना अधिक निर्भर करता है कि उसके विभिन्न स्वरूपों की जाँच किये वगैर आर्थिक समस्याओं का अध्ययन प्रायः अधूरा ही रह जाता है।

भारत एक निर्धन देश है तथा इसकी निर्धनता आज विश्व में सामान्य चर्चा का विषय बन गयी है। यहाँ की प्रति-व्यक्ति आय बहुत ही निम्न है तथा लोगों का जीवन-स्तर संसार के प्रायः सभी सभ्य देशों से निम्न है। हमारी यह अत्यधिक निर्धनता प्राकृतिक विपुलता के बीच बनी हुई है। इस प्रकार देश की आर्थिक स्थिति सुधारने तथा जनता के जीवन-स्तर को ऊँचा उठाने के लिए भारतीय आर्थिक जीवन का गंभीर एवं वैज्ञानिक अध्ययन अनिवार्य हो जाता है। अतः आर्थिक विकास की किसी भी योजना में निम्नांकित प्रश्नों पर विचार करना आवश्यक हो जाता है—देशवासियों की संख्या कितनी है ?, पिछले वर्षों में इस संख्या में किस गति से वृद्धि हुई है तथा इसका देश की आर्थिक व्यवस्था पर क्या प्रभाव पड़ा है ? देशवासियों की आजीविका के प्रमुख साधन क्या हैं ? यदि देश की जनसंख्या आवश्यकता से अधिक है तो जनाधिक्य की समस्या के समाधान के लिए क्या प्रयत्न किये जाने चाहिए आदि। जनता के जीवन-स्तर को ऊँचा उठाने के लिए इन प्रश्नों पर समुचित ध्यान देना आवश्यक हो जाता है।

---

1. "Countries that practice death control must also practice birth control or prepare now for a time when their people will have to live standing up because there won't be room to sit down or lie down,"

—**Dr. Clement Market.**

जनसंख्या-सम्बन्धी संक्रमण का सिद्धान्त
(Theory of Demographic Transition)

जनसंख्या-सम्बन्धी संक्रमण के सिद्धान्त के अनुसार कोई अर्थ-व्यवस्था आर्थिक विकास के दौरान जन्म-दर एवं मृत्यु-दर की दृष्टि से तीन पृथक्-पृथक् स्तरों से होकर गुजरती है—**प्रथम स्तर** में जन्म-दर एवं मृत्यु-दर दोनों अत्यधिक ऊँची होती हैं जिससे जनसंख्या प्राय: स्थायी रहती है। वास्तव में, एक पिछड़ी हुई कृषि-प्रधान अर्थ-व्यवस्था में जन्म-दर तथा मृत्यु-दर दोनों ही अत्यधिक ऊँची होती हैं। मृत्यु-दर निर्धनता, पौष्टिक भोजन तथा स्वास्थ्य एवं चिकित्सा-सम्बन्धी सुविधाओं के अभाव आदि के कारण अधिक होती है। इसी प्रकार पिछड़े हुए देशों की सामाजिक प्रथाएँ तथा अंधविश्वास के कारण जन्म-दर अधिक होती है। साथ ही, कृषि-प्रधान समाज में बड़ा परिवार अधिक लाभदायक होता है। **कोल एवं हूवर** (Cole and Hoover) का इस सम्बन्ध में निम्नांकित कथन विशेष रूप से उल्लेखनीय है: "Children contribute at an early age.... and are the traditional source of security in the old age of parents. The prevalent high death rates, especially in infants, imply that such security can be attained only when many children are born" इस स्तर में जनसंख्या की वास्तविक वृद्धि की दर बहुत अधिक नहीं होती।

द्वितीय स्तर में जब अर्थ-व्यवस्था विकास की ओर उन्मुख होती है तो मृत्यु-दर में बहुत कमी होने लगती है, किन्तु जन्म-दर प्राय: ज्यों-की-त्यों रह जाती है। पर्याप्त मात्रा में पौष्टिक भोजन, चिकित्सा एवं स्वास्थ्य-सम्बन्धी सुविधाओं में वृद्धि आदि के कारण मृत्यु-दर कम होने लगती है। किन्तु जन्म-दर को प्रभावित करनेवाले कारणों, जैसे—सामाजिक एवं धार्मिक रीति-रिवाज आदि में बहुत धीरे-धीरे परिवर्तन होने के कारण जन्म-दर में प्राय: कोई कमी नहीं होती। अतएव द्वितीय स्तर में जनसंख्या में वास्तविक वृद्धि बहुत अधिक होती है।

तृतीय स्तर में जन्म-दर एवं मृत्यु-दर दोनों के निम्न स्तर पर स्थायी होने से जनसंख्या में वृद्धि की गति भी बहुत ही मंद पड़ जाती है। इस स्तर में अर्थ-व्यवस्था में कृषि की जगह उद्योग-धन्धों की प्रधानता हो जाती है। उद्योग-धन्धों के विकास के कारण जनसंख्या का प्रवाह गाँवों से शहरों की ओर होने लगता है। शहरी जनसंख्या में वृद्धि तथा औरतों के बाहर काम करने के परिणामस्वरूप लोग परिवार के आकार में स्वेच्छापूर्वक कमी करने लगते हैं। इससे जन्म-दर में भी बहुत कमी आ जाती है। इस सम्बन्ध में कोल एवं हूवर का निम्नांकित कथन विशेष रूप से उल्लेखनीय है, "One of the features of economic development is typically increasing urbanization, and children are usually more of a burden and less of an asset in an urban-setting than in a rural."[1] इस प्रकार तृतीय स्तर में विकसित अर्थ-व्यवस्था जन्म-दर एवं मृत्यु-दर में निम्न-स्तर पर एक नया संतुलन स्थापित कर लेती है जिससे जनसंख्या में बहुत कम वृद्धि होती है।

भारत में पिछले कुछ वर्षों से मृत्यु-दर में धीरे-धीरे कमी हो रही है, जैसा कि पृष्ठ ६१ की तालिका से स्पष्ट है। १९४१ ई० के बाद मृत्यु-दर में निरन्तर कमी हो रही है किन्तु जन्म-दर में इस प्रकार की कमी नहीं पायी जाती है। सारांश यह है कि भारत अभी जनसंख्या-सम्बन्धी संक्रमण के द्वितीय स्तर से ही गुजर रहा है।

1—Cole, A. J. and Hoover E. M.—Population Growth and Economic Development in Low-Income Countries, pp. 10-11.

भारतीय जनसंख्या का आकार (Size of the Indian Population) :—भारत की जनसंख्या के सम्बन्ध में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण बात इसका बड़ा आकार है। जनसंख्या की दृष्टि से यह चीन के बाद विश्व का दूसरा सबसे अधिक जनसंख्या वाला देश है।[1] विश्व की सम्पूर्ण जनसंख्या के प्रायः $\frac{1}{7}$ भाग लोग यहाँ निवास करते हैं। १९७१ ई० की जनगणना[2] के अनुसार भारत की कुल जनसंख्या ५४ करोड़ ६९ लाख, यानी ५४·७ करोड़ है। इसमें २८ करोड़ ३० लाख पुरुष तथा २६ करोड़ ३९ लाख औरतें हैं, यानी हमारे देश में औरतों की औसत संख्या प्रति एक हजार पुरुषों पर ९३२ है।

भारत में उत्तरी मैदान देश का सबसे घना आबाद प्रदेश है। इसका प्रधान कारण इस भाग की उत्तम जलवायु तथा उपजाऊ भूमि है। इसके बाद दक्षिणी पठार का स्थान है और सबसे कम जनसंख्या उत्तर के पहाड़ी प्रदेशों में है।

भारतीय जनसंख्या में वृद्धि

(Growth of Indian Population)

भारत की जनसंख्या केवल विशाल ही नहीं, वरन् उत्तरोत्तर विशालतर होती जा रही है। देश की वर्तमान आर्थिक समस्याओं में यह निश्चय ही सर्वाधिक प्रमुख समस्या है। ऐसा अनुमान लगाया जाता है कि प्रारम्भ में दीर्घकाल तक भारत की जनसंख्या लगभग स्थायी (Stationary) रही होगी। प्लेग, युद्ध, महामारी तथा अकाल आदि प्राकृतिक अवरोधों की क्रियाशीलता के अतिरिक्त जनसंख्या के इस प्रकार स्थायी रहने का मुख्य कारण देश में दीर्घकालीन शान्ति एवं सुरक्षा का सामान्य रूप से अभाव कहा जाता है।[3] देश में शान्ति एवं सुरक्षा ब्रिटिश शासन काल की एक अपूर्व देन है। अतः उन्नीसवीं सदी के मध्य तक देश की जनसंख्या में प्रायः कोई विशेष वृद्धि नहीं हुई थी, फलतः, देश में उस समय तक जनाधिक्य की समस्या नहीं थी। किन्तु इसके बाद जनसंख्या में नियमित रूप से वृद्धि प्रारम्भ हुई जिससे देश में कृषि-योग्य भूमि का अभाव होने लगा। फलस्वरूप खाद्यान्न का अभाव तथा कृषि के समक्ष उपविभाजन एवं अपखण्डन जैसी बुराइयाँ उत्पन्न हो गयीं।

१—भारत एवं पाकिस्तान की सम्मिलित जनसंख्या रूस को छोड़कर शेष यूरोप की जनसंख्या के बराबर है तथा अफ्रिका, उत्तरी अमेरिका एवं दक्षिणी अमेरिका महाद्वीपों की सम्मिलित जनसंख्या के लगभग बराबर है। ग्रेट ब्रिटेन की जनसंख्या से यह ९ गुनी तथा आस्ट्रेलिया से ४५ गुनी अधिक है।

२—भारत में प्रति १० वर्षों पर जनगणना होती है। अन्तिम जनगणना १९७१ ई० में हुई थी। अभी इस जनगणना के सम्बन्ध में विस्तृत विवरण नहीं उपलब्ध हो पाया है।

३—इस सम्बन्ध में Kingsley Davis ने अपनी सुप्रसिद्ध पुस्तक Population of India and Pakistan में निम्नलिखित विवरण दिया है जो विशेष रोचक जान पड़ता है :—

भारत की जनसंख्या का 300 B. C. से लेकर १८७१ ई० के बीच का अनुमान

वर्ष	जनसंख्या	वर्ष	जनसंख्या
३००. B. C.	१०० से १४० मिलियन	१८४६ A. D.	१३० मिलियन
१६०० A. D.	१०० ,,	१८५५ ,, ,,	१७५ ,,
१८०० ,, ,,	१२० ,,	१८६७ ,, ,,	१९४ ,,
१८३४ ,, ,,	१३०	१८७१ ,, ,,	२१५ ,,

निम्नांकित तालिका[1] से देश में जनसंख्या की वृद्धि का अन्दाजा लगाया जा सकता है :—

भारत की जनसंख्या में वृद्धि

जनगणना वर्ष	जनसंख्या (लाख में)	गत दश वर्षों में वृद्धि (+) या ह्रास (—) (लाख में)	प्रतिशत वृद्धि (+) या कमी (—)
१८९१	२३५६	...	....
१९०१	२३५५	—४	—०·२
१९११	२४९०	+१३५	+५·८
१९२१	२४८१	—९	—०·४
१९३१	२७५५	+२७४	+१०·४
१९४१	३१२८	+३७३	+१२·७
१९५१	३५६९	+४४१	+१३·३
१९६१	४३९२	+८२३	+२१·४
१९७१	५४६९	+१०७७	+२४·६
१८९१ ई० से १९७१ ई०		३११० लाख	+१२९५

उपरोक्त तालिका से स्पष्ट है कि १८९१ ई० से १९७१ ई० के बीच ८० वर्षों में भारत की जनसंख्या में कुल ३११० लाख की वृद्धि हुई। किन्तु जनसंख्या की वृद्धि प्रत्येक दशाब्दी में समान रूप से नहीं हुई है। १८९१ ई० से १९०० ई० के बीच भारत की जनसंख्या[2] में ४ लाख, यानी ०·२ प्रतिशत की कमी हुई; १९०१ ई० से १९१० ई० के बीच १३५ लाख, यानी ५·८ प्रतिशत की वृद्धि हुई; किन्तु १९११ ई० से १९२० ई० के बीच जनसंख्या में पुनः ९ लाख यानी ०·४ प्रतिशत की कमी हुई; १९२१ ई० से १९३० ई० के बीच जनसंख्या में २७४ लाख, यानी १०·४ प्रतिशत की वृद्धि हुई, १९३१ ई० से १९४० ई० के बीच ३७३ लाख, यानी १२·७ प्रतिशत की वृद्धि हुई, १९४१ ई० से १९५० ई० के बीच जनसंख्या में ४४१ लाख, यानी १३·३ प्रतिशत की वृद्धि हुई; १९५१; ई० से १९६० ई० के बीच देश की जनसंख्या में प्रायः ८२३ लाख, यानी २१·५ प्रतिशत की वृद्धि हुई तथा १९६१ एवं १९७० के बीच १०७७ लाख की यानी २४·६ प्रतिशत की वृद्धि हुई। यदि तीन दस वर्षीय औसत की तुलना की जाय तो १९०१ ई० से १९३० ई० के बीच जनसंख्या की औसत वृद्धि दर ४·२ प्रतिशत तथा १९३१ ई० से १९६० ई० के बीच औसत १५·८ प्रतिशत प्रति दशक रही है।

१८९१ ई० से १९०० ई० के बीच की जनसंख्या की कमी का प्रमुख कारण देश के विभिन्न भागों में अकाल का प्रकोप था। अकाल के अतिरिक्त इस दशक में प्लेग, मलेरिया, काला ज्वर तथा महामारी आदि के कारण भी देश की जनसंख्या में विशेष कमी हुई। १९०१ ई० से १९१० ई० का समय ऋतुओं के अनुकूल होने के कारण साधारण समृद्धि का था। साथ ही यह दशक

१—प्रस्तुत आँकड़े केवल भारत संघ के अन्तर्गत के क्षेत्र की जनसंख्या को ही बतलाते हैं।

२—१९३१ ई० से १९५० ई० के बीच भारत की जनसंख्या में ८·१ करोड़ की वृद्धि हुई जो इंगलैंड की जनसंख्या से प्रायः $1\frac{1}{8}$ गुनी, कनाडा की जनसंख्या से ५ गुनी तथा ब्राजिल की जनसंख्या से २ गुनी अधिक है। केवल १९४१ ई० से १९५० ई० के बीच देश की जनसंख्या में ४·४ करोड़ की वृद्धि हुई जो स्पेन, पुर्तगाल तथा स्वीट्जरलैंड की सम्मिलित जनसंख्या के बराबर है। १९५१ ई० से १९६० ई० के बीच देश की जनसंख्या में ८२३ लाख की वृद्धि हुई है जो यूनाइटेड किंगडम, इटली, जर्मनी आदि सभी देशों की जनसंख्या से अधिक है।

प्लेग, मलेरिया आदि बीमारियों से भी मुक्त रहा। अतः इस समय में जनसंख्या में वृद्धि हुई। किन्तु १९११ ई० से १९२० ई० के बीच वाले दशक में पुनः जनसंख्या में भारी कमी हुई। इसका प्रमुख कारण प्लेग, कालरा तथा मलेरिया आदि महामारियों का प्रकोप था जिनसे लाखों व्यक्तियों की मृत्यु हो गयी। इस दशक में केवल इन्फ्लुएंजा से १२० से लेकर १३० लाख तक व्यक्तियों की मृत्यु हुई। साथ ही, अन्तिम तीन वर्षों में प्रथम महायुद्ध के साथ-साथ खराब ऋतुओं के कारण फसलों की कमी भी जनसंख्या में कमी के प्रमुख कारणों में से एक है।

१९२१ ई० के बाद जनसंख्या में वृद्धि के कारण :—किन्तु १९११ ई० के बाद हम देश की जनसंख्या में उत्तरोत्तर वृद्धि पा रहे हैं। इसके निम्नलिखित प्रमुख कारण हैं :—(i) **सिंचाई की सुविधा में वृद्धि** (Increase in facilities for irrigation) :— इसका सर्वप्रथम कारण १९२१ ई० के बाद देश के विभिन्न भागों में सिंचाई की सुविधाओं में विस्तार है। सिंध एवं पंजाब में इसी समय सिंचाई-व्यवस्था का निर्माण हुआ जिससे वहाँ की अर्द्ध-मरुभूमि वाले क्षेत्रों में भी पर्याप्त मात्रा में उपज होने लगी। इसी प्रकार उत्तर-प्रदेश, बिहार तथा राजस्थान के कुछ क्षेत्रों में भी सिंचाई की व्यवस्था हुई। सिंचाई की सुविधा के कारण कृषि का कार्य बहुत ही निश्चित हो गया जिससे अकाल की भीषणता में बहुत कमी हुई। (ii) **यातायात के साधनों का विकास** (Development of the means of Transport) :—इस युग में यातायात के साधनों, विशेषतः रेल एवं सड़कों का भी पर्याप्त विकास हुआ। सम्पूर्ण देश में रेल लाइनों तथा सड़कों का एक जाल-सा बिछ गया। इससे अकाल की भीषणता में कमी आयी। (iii) **जन-स्वास्थ्य एवं चिकित्सा-सम्बन्धी सुविधाओं का विस्तार** (Improvement in health and sanitation measures) :—देश की जनसंख्या में १९२१ ई० के बाद नियमित रूप से वृद्धि का सर्वाधिक प्रधान कारण देश में जन-स्वास्थ्य एवं चिकित्सा-सम्बन्धी सुविधाओं में विस्तार है। १९३०-३१ ई० के बाद देश में इन सुविधाओं का पर्याप्त विस्तार हुआ। इससे मृत्यु-दर (death rate) में धीरे-धीरे कमी होने लगी और जन्म-दर में भी साथ-ही साथ कोई कमी नहीं होने के कारण जनसंख्या में अत्यधिक वृद्धि होने लगी।

इस प्रकार १९२१ ई० से जनसंख्या में नियमित रूप से वृद्धि का युग प्रारम्भ होता है। १९५१ ई० की जनगणना के विवरण में १९२१ ई० को **'महान् विभाजक'** (The Great Divide) कहा गया है क्योंकि इसके पहले जनसंख्या न्यूनाधिक रूप में घटती हुई-सी थी, परन्तु इस वर्ष के बाद इसमें निरन्तर वृद्धि होती रही है। इसके पूर्व तक जनसंख्या एवं अन्न के उत्पादन में सन्तुलन था, किन्तु इसके पश्चात् यह धीरे-धीरे समाप्त होने लगा। १९५१ ई० से १९६० ई० के बीच देश की जनसंख्या में प्रतिवर्ष औसत रूप से १·१५ प्रतिशत की दर से वृद्धि हुई। द्वितीय पंचवर्षीय योजना में योजना आयोग ने १९५१ ई० से १९६० ई० के बीच दस वर्षों में जनसंख्या में १२·५ प्रतिशत की वृद्धि का अनुमान किया था। इस आधार पर द्वितीय योजना के अन्त में यानी १९६०-६१ ई० में जनसंख्या का अनुमान ४० करोड़ लगाया गया था, किन्तु योजना आयोग का यह अनुमान सर्वथा गलत सिद्ध हुआ तथा १९६१ ई० में देश की जनसंख्या ४३·९ करोड़ हो गयी। १९७१ की जनगणना के अनुसार तो भारत की जनसंख्या में वार्षिक २·४६ प्रतिशत की दर से वृद्धि हुई है।

इस तरह भारत में जनसंख्या की वृद्धि के उपरोक्त सभी कारण बतलाये जाते हैं। किन्तु भारत में जनसंख्या की वृद्धि का सबसे महत्त्वपूर्ण कारण देशवासियों की घोर निर्धनता तथा निम्न जीवन-स्तर है। ''निर्धन लोगों को अधिक संतान होती है' यह एक सर्वविदित तथ्य है जिसका ज्वलंत उदाहरण भारत की बढ़ती हुई जनसंख्या है।

किन्तु इस काल में भी जनसंख्या की यह वृद्धि प्रत्येक राज्य में समान रूप से नहीं हुई है। १९६१ से ७० ई० के बीच आन्ध्र, बिहार, हिमाचल प्रदेश, तमिलनाडु, उत्तर प्रदेश तथा उड़ीसा में वृद्धि की दर २४·६ प्रतिशत से कम रही है तथा असम, गुजरात, केरल मध्य प्रदेश, महाराष्ट्र, पंजाब, राजस्थान एवं पश्चिमी बंगाल में २४·६ प्रतिशत से भी अधिक वृद्धि हुई है। वृद्धि की दर सबसे अधिक केन्द्र द्वारा शासित क्षेत्रों में ४५·३; असम में ३३·५ तथा नागालैंड में ३९·४ प्रतिशत रही है।

अन्य देशों में जनसंख्या की वृद्धि (Growth of Population in other countries :—निम्नलिखित तालिका से कतिपय देशों में पिछले दशक में जनसंख्या में हुई वृद्धि का अन्दाजा लगता है :—

देश	औसत वार्षिक वृद्धि की दर (१९५१-६०)
आस्ट्रेलिया	२·३ प्रतिशत
कैनाडा	२·५ ,,
संयुक्त राज्य अमेरिका	१·७ ,,
जापान	१·२ ,,
पश्चिमी जर्मनी	१·१ ,,
ब्रिटेन	०·४ ,,
भारत (१९६१-७०)	२.४६ ,,

उपरोक्त तालिका से स्पष्ट है कि १९५१-६० ई० के बीच जनसंख्या में वृद्धि की दर भारत की अपेक्षा कैनाडा तथा आस्ट्रेलिया में अधिक थी। किन्तु ये सभी देश विकसित राष्ट्र हैं। साथ ही, इनकी जनसंख्या बहुत ही कम है। उदाहरण के लिए कैनाडा की जनसंख्या में प्रतिवर्ष ४·८ लाख की वृद्धि होती है जबकि भारत में वार्षिक वृद्धि अब १२५ लाख से भी अधिक होती है।[1]

भारत में जनसंख्या का घनत्व

(Density of Population in India)

प्रति वर्ग कि० मी० में निवास करनेवाले व्यक्तियों की औसत संख्या को जनसंख्या का घनत्व कहते हैं। कोई देश प्रति वर्ग कि० मी० में कितनी जनसंख्या को आश्रय प्रदान कर सकता है यह उस देश के प्राकृतिक साधनों तथा आर्थिक विकास के स्तर पर निर्भर करता है। १९७१ ई० की जनगणना के अनुसार भारत की जनसंख्या का औसत घनत्व १८२ व्यक्ति प्रति वर्ग कि० मी० है जबकि १९६१ ई० की जनगणना के अनुसार यह केवल १४६ व्यक्ति प्रति वर्ग कि० मीटर था। जनसंख्या का यह औसत घनत्व प्रत्येक राज्य में एक समान नहीं है। इस सम्बन्ध में हमें इतनी अधिक विभिन्नता मिलती है कि १९७१ ई० की जनगणना के अनुसार जम्मू एवं कश्मीर में जनसंख्या का औसत घनत्व ४२ व्यक्ति प्रति वर्ग कि० मी० से लेकर केरल में ४५८ तथा दिल्ली में ३७२३ तक है। पश्चिमी बंगाल में औसत घनत्व ५०७, बिहार में ३२४ तथा मध्य प्रदेश में केवल ९३ है।

१. पिछले कुछ वर्षों में विश्व की कुल जनसंख्या में भी बहुत अधिक वृद्धि हुई है। १९६२ ई० में सम्पूर्ण विश्व की जनसंख्या अनुमानतः ३१३·५ करोड़ थी। १९५०-६० ई० के बीच इसमें २·१ प्रतिशत की वार्षिक वृद्धि हुई।

हमारे देश में जनसंख्या की वृद्धि के साथ-साथ जनसंख्या के औसत घनत्व में भी वृद्धि होती जा रही है जो निम्नलिखित तालिका से स्पष्ट है :—

वर्ष	१६०१	१६११	१९२१	१६३१	१९४१	१६५१	१६६१
घनत्व	७६	८४	८४	९३	१०६	१२०	१४६

उपरोक्त तालिका से स्पष्ट है कि भारत में १६२१ ई० के बाद जनसंख्या का घनत्व निरन्तर बढ़ता ही जा रहा है। जनसंख्या में नियमित रूप से वृद्धि के परिणामस्वरूप देश की जनसंख्या के औसत घनत्व में भी वृद्धि हो रही है। इसका प्रभाव यह हुआ है कि देश में आजीविका के अन्य साधनों के अभाव में कृषि पर जनसंख्या का बोझ निरन्तर बढ़ता जा रहा है, जोतें छोटी-छोटी टुकड़ों में विभाजित होती जा रही हैं तथा कृषि की उपज में भी निरन्तर कमी होती जा रही है। ये सब इस बात के परिचायक हैं कि देश में जनसंख्या का घनत्व सर्वोत्तम से भी अधिक है।

किस देश में जनसंख्या के घनत्व को प्रभावित करनेवाले अनेक कारण हैं, जिनमें जलवायु, वर्षा, भूमि की उपजाऊ शक्ति, प्राकृतिक साधन, सिंचाई की सुविधा तथा आर्थिक विकास का स्तर आदि विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। हमारे देश में जनसंख्या का घनत्व वर्षा, सिंचाई की सुविधा, जलवायु, मिट्टी की आकृति, आर्थिक विकास तथा शांति एवं सुरक्षा की सुविधा पर निर्भर करता है। इस प्रकार देश के विभिन्न भागों में जनसंख्या के घनत्व में विभिन्नता के अनेक कारण हैं। किन्तु हमारे देश में घनत्व के सम्बन्ध में यह विभिन्नता बहुत हद तक हम भारतवासियों के घर नहीं छोड़ने की प्रवृत्ति तथा प्रवास-सम्बन्धी अन्य कठिनाइयों के कारण ही पायी जाती है।

भारत की जनसंख्या के घनत्व की विदेशों से तुलना :—अब हमें यह देखना है कि भारत में जनसंख्या का घनत्व वास्तव में अधिक है या कम। विदेशों से तुलना के द्वारा यह अधिक स्पष्ट हो जाता है। विश्व के कतिपय प्रमुख देशों में जनसंख्या का घनत्व इस प्रकार है :—

देश	१६६८ ई० में जनसंख्या का औसत घनत्व प्रति वर्ग कि० मी० (Density per sq. K. M.)
जापान	२७३
पश्चिमी जर्मनी	२१४
युनाईटेड किंगडम	२२७
निदरलैंड	३७६
भारत (१६७१)	१८२

उपरोक्त सभी देशों से भारत के घनत्व की तुलना करने पर भय का कोई कारण नहीं जान पड़ता। इन देशों में जनसंख्या का घनत्व भारत से निश्चय ही अधिक है, लेकिन उपरोक्त वर्ग के सभी देश औद्योगिक राष्ट्र होने के कारण अधिक जनसंख्या को सुगमतापूर्वक आश्रय प्रदान कर सकते हैं। किन्तु भारत एक कृषि-प्रधान देश है, अतः इसकी तुलना विश्व के कृषि-

प्रधान राष्ट्रों के घनत्व से ही करनी चाहिए। जब हम भारत के घनत्व की तुलना विश्व के कृषि-प्रधान देशों से करते हैं तो इस समस्या की भीषणता का अन्दाजा लगता है :—

देश	१९६८ में जनसंख्या का औसत घनत्व प्रति वर्ग० कि० मी० (Density per sq. K. M.)
कैनाडा	२
संयुक्त राज्य अमेरिका (U. S. A.)	२१
रूस (U. S. S. R.)	११
मिस्र (U. A. R.)	३२
भारत (१९७१)	१८२

उपरोक्त वर्ग के देशों के साथ तुलना करने पर हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते है कि भारत में जनसंख्या का घनत्व इस वर्ग के सभी देशों से अधिक है। यह हमारे लिए निश्चय ही चिन्ता का विषय है।

अतएव जनसंख्या के औसत घनत्व से किसी देश की आर्थिक स्थिति के सम्बन्ध में कोई सामान्य निष्कर्ष निकालना सम्भव नहीं है। जनसंख्या के घनत्व और आर्थिक स्थिति के सम्बन्ध को जानने के लिए हमें प्रत्येक देश की आर्थिक व्यवस्था का पृथक् रूप से अध्ययन करना पड़ेगा। कोई देश सामान्यतया कितनी जनसंख्या को आश्रय प्रदान कर सकता है यह उस देश के प्राकृतिक साधनों तथा आर्थिक विकास के स्तर पर निर्भर करता है। एक औद्योगिक देश एक नितांत कृषि-प्रधान देश की तुलना में अधिक व्यक्तियों को आश्रय प्रदान कर सकता है। भारत एक कृषि-प्रधान राष्ट्र है, अतः इसका औसत घनत्व निश्चय ही बहुत अधिक है। साथ ही, जनसंख्या में निरन्तर वृद्धि के फलस्वरूप जनसंख्या का घनत्व भी बढ़ता जा रहा है। इससे प्रति-व्यक्ति उपलब्ध कृषि की जानेवाली भूमि की मात्रा घटती जा रही है।

निम्नांकित तालिका से भारत तथा कुछ अन्य देशों में उपलब्ध प्रति-व्यक्ति कृषि-योग्य भूमि के क्षेत्र का अन्दाजा लगता है :—

	भारत (१९५१)	सम्पूर्ण विश्व	रूस के अतिरिक्त शेष यूरोप	संयुक्त राज्य अमेरिका
जनसंख्या (करोड़ में)	३६·१	२४०	३९·६	१५·१
भूमि का क्षेत्रफल (करोड़ एकड़ में)	८१·३	३२५१	१२१·६	१९०·५
प्रति-व्यक्ति क्षेत्र (शतांशों में) (Per capita area in cents) समस्त भूमि	२२५	१३५८	३०७	१२६४
कृषि-भूमि	९७	३५१	१५३	७४१
जोतने-बोने योग्य भूमि	९७	१२६	९२	३०२

तालिका से स्पष्ट है कि संयुक्त राज्य अमेरिका तथा यूरोप की तुलना में एक औसत भारतीय को कृषि के लिए बहुत ही कम भूमि उपलब्ध होती है। संसार की कुल भूमि के केवल ९·४ प्रतिशत, संयुक्त राज्य अमेरिका में २४ प्रतिशत तथा यूरोप में ३० प्रतिशत भूमि को कृषि-कार्य में प्रयुक्त किया जाता है जबकि भारत में कुल भूमि के प्रायः ४४ भाग को कृषि के लिए प्रयुक्त किया जाता है। इससे अमरिका तथा यूरोप में बहुत अधिक भूमि बंजर है जिसका प्रयोग चरागाह वगैरह के रूप में किया जाता है। पर भारत में इस प्रकार की भूमि का सर्वथा अभाव है। अतएव निष्कर्ष के तौर पर यह कहा जा सकता है कि भारत की भूमि पर जनसंख्या का अत्यधिक बोझ है।

जन्म-दर तथा मृत्यु-दर
(Birth rate and Death rate)

किसी देश में जनसंख्या का आकार प्रधानतया जन्म-दर और मृत्यु-दर पर निर्भर करता है। (Growth of population is a function of birth and deaths.) यदि जन्म-दर की अपेक्षा मृत्यु-दर कम है तो जनसंख्या में वृद्धि होगी और मृत्यु-दर अधिक है तो जनसंख्या में कमी होगी। जन्म-दर तथा मृत्यु-दर के इस अन्तर को अतिजीवन दर (Survival rate) कहा जाता है। जनसंख्या में वृद्धि या कमी इसी के द्वारा मालूम की जा सकती है। प्रति-वर्ष एक हजार जनसंख्या पर होनेवाले औसत जन्म तथा मृत्यु को क्रमशः जन्म-दर एवं मृत्यु-दर कहते हैं।[1] भारत विश्व के सबसे अधिक जन्म-दर एवं मृत्यु-दर वाले देशों में से है। प्रगतिशील पश्चिमी राष्ट्रों में पिछले कुछ वर्षों से जन्म-दर और मृत्यु-दर में घटने की प्रवृत्ति निरन्तर बनी रही है। किन्तु हमारे देश में अभी ये दरें इस प्रकार से कम नहीं हुई।

गत तीस-चालीस वर्षों में विश्व के प्रमुख प्रगतिशील राष्ट्रों में जन्म-दर तथा मृत्यु-दर दोनों में विशेष रूप से कमी हुई है। इन देशों में शिक्षा के प्रचार तथा सन्तति-निरोध के कृत्रिम उपायों के प्रयोग द्वारा जन्म-दर में आश्चर्यजनक कमी हुई है। शिक्षा तथा जीवन-स्तर में वृद्धि के परिणामस्वरूप इन देशों ने छोटे परिवार के आर्थिक महत्त्व को समझा है। अतएव इन देशों में लोग अपने परिवार के आकार को स्वेच्छा से सीमित करने का प्रयास करने लग गये हैं। इसी प्रकार, जन स्वास्थ्य के साधनों में वृद्धि द्वारा मृत्यु-दर में विशेष रूप से कमी हुई है। यूरोपीय देशों में रहन-सहन की अच्छी परिस्थितियों तथा मृत्यु-निवारक कारणों पर अधिकार रहने के कारण मृत्यु-दर निश्चित रूप से घट गयी है।[2] परन्तु खेद की बात है कि भारत में जन्म और मृत्यु-दरें इस प्रकार कम नहीं हुई हैं।

१८८१ ई० से १९६१ ई० के बीच भारत में जन्म एवं मृत्यु-दरों का अन्दाजा निम्नांकित तालिका से लगाया जा सकता है :—

दशाब्दी	जन्म-दर (प्रति १००० व्यक्ति पर)	मृत्यु-दर
१८८१-९१	४८.९	४१.३
१८९१-१९०१	४५.८	४४.४
१९०१-११	४९.२	४२.२
१९११-२१	४८.१	४७.२
१९२१-३१	४६.४	३६.३
१९३१-४१	४५.२	३१.२
१९४१-५१	४०.०	२७.०
१९५१-६१	४०.०	१८.०

१. डा० ज्ञानचन्द के अनुसार भारत में जीवनांक विशेष रूप से अविश्वसनीय हैं क्योंकि यहाँ इन आँकड़ों के एकत्र करने की प्रणाली अत्यंत दोषपूर्ण है, विशेषतः गाँवों में जहाँ इनके लिए निरक्षर तथा कम वेतन पानेवाले व्यक्ति नियुक्त किये जाते हैं। इन बातों को ध्यान में रखते हुए डा० ज्ञानचन्द के अनुसार भारत में जन्म-दर प्रति हजार ४८ तथा मृत्यु-दर ३१ है। देखिए—Dr. Gyanchand—India's Teeming Millions—p. 978. १९६१ ई० की जनगणना के अनुसार १९५१-६० ई० के बीच भारत में औसत वार्षिक जन्म-दर प्रति वर्ष ४० तथा मृत्यु-दर १८ थी।

२. द्वितीय महायुद्ध काल के बाद यूरोपीय देशों में जन्म-दर में वृद्धि हुई। इसका मुख्य कारण यह है कि युद्ध के बाद ब्याह की दर (Marriage rate) में प्रायः वृद्धि हो जाती है जिससे जन्म-दर अधिक हो जाती है। किन्तु इसे केवल अस्थायी प्रवृत्ति मात्र ही समझना चाहिए। धीरे-धीरे पुनः जन्म-दर में कमी होने लगेगी।

उपरोक्त तालिका से स्पष्ट है कि १९४१ ई० तक भारत में जन्म तथा मृत्यु-दरें प्राय: स्थायी रही हैं। इसके बाद स्वास्थ्य एवं चिकित्सा-सम्बन्धी सुविधाओं में विस्तार से मृत्यु-दरों में तीव्र गति से कमी हुई है।

साथ ही, भारत में जन्म तथा मृत्यु-दर सम्बन्धी उपर्युक्त आंकड़े किसी भी प्रकार सही तथा विश्वसनीय नहीं कहे जा सकते। १९५१ ई० के जनगणना-सम्बन्धी विवरण के अनुसार हमारे देश में कहीं भी जन्म-दर सम्बन्धी सरकारी-आंकड़े वास्तविक जन्म-दर का प्रतिनिधित्व नहीं करते।[1] इसका मुख्य कारण अधिकांश जनता का अशिक्षित तथा रूढ़िवादी होना है। साथ ही गाँवों का चौकीदार, जो साधारणतया इस सम्बन्ध में पंजीयक का कार्य करता है, भी इसके लिए बहुत हद तक उत्तरदायी है। इन सब दोषों के कारण वास्तविक जन्म तथा मृत्यु-दरों का अन्दाजा लगाना बहुत ही कठिन हो जाता है। १९४१ ई० से १९५० ई० के बीच सरकारी रजिस्टरों में दर्ज जन्म एवं मृत्यु-संख्या के आधार पर भारत में औसत जन्म एवं मृत्यु-दरें क्रमश: २७.२ तथा १९.४ थीं। इनके आधार पर यह कहा जा सकता है कि १९४१ ई० से १९५० ई० के बीच जनसंख्या की वृद्धि केवल ७.८ प्रतिशत ही थी। किन्तु इस अवधि में जनसंख्या की वास्तविक वृद्धि इससे निश्चय ही बहुत अधिक थी। अत: १९५१ ई० की जनगणना के विवरण में यह बतलाया गया था कि पिछली दशाब्दी में वास्तविक जन्म-दर ४० तथा मृत्यु-दर २७ थी। विश्व के अन्य राष्ट्रों की तुलना में ये दरें हमारे देश में निश्चय ही बहुत अधिक हैं जो निम्नांकित तालिका[2] से स्पष्ट है :—

प्रति एक हजार व्यक्ति (१९५४ ई०)

देश	जन्म-दर Birth-rate)	मृत्यु-दर (Death-rate)	अतिजीवन-दर (Survival rate)	शिशु-मृत्यु-दर (Infant mortality)
कैनाडा	२८.७	८.२	२०.५	३१.८
संयुक्त राज्य अमेरिका	२४.९	९.२	१५.७	२६.६
जापान	२०.२	८.२	१२.०	४८.९
फ्रांस	१८.८	१२.०	६.८	४१.९
पश्चिमी जर्मनी	१५.७	१०.४	५.३	४२.८
इटली	१७.९	९.२	८.७	५२.८
स्विट्ज़रलैंड	१७.०	१०.०	७.०	२७.२
ग्रेट ब्रिटेन	१५.७	११.४	४.३	२६.२
भारत (१९४१-५०)	४०	२७	१३.०	१५२

1. "Nowhere can the official figures be accepted as representative of the total number of births."—Census of India 1951, pp. 183-4.

2. United Nations Statistical Year Book. 1955.

उपरोक्त तालिका से स्पष्ट है कि भारत में जन्म-दर, मृत्यु-दर तथा शिशु मृत्यु-दर, तीनों विश्व के प्रायः सभी आधुनिक विकसित राष्ट्रों से अधिक हैं।

भारत में जन्म-दर अधिक होने के कारण

(Causes of High Birth-rate in India)

भारत में जन्म-दर अधिक होने के बहुत-सारे कारण हैं। जन्म दर को प्रभावित करने वाले विभिन्न कारणों को मुख्य रूप से निम्नलिखित तीन वर्गों में विभाजित किया जा सकता है—

(१) वातावरण-सम्बन्धी कारण, जो प्राकृतिक बनावट तथा जलवायु द्वारा निर्धारित होते हैं,

(२) आर्थिक कारण, तथा

(३) धार्मिक एवं सामाजिक कारण।

(१) वातावरण सम्बन्धी कारणों के अन्तर्गत जलवायु एवं प्राकृतिक परिस्थितियाँ प्रधान हैं। वास्तव में जन्म दर पर जलवायु एवं प्राकृतिक परिस्थितियों का व्यापक रूप से प्रभाव पड़ता है। ठंडी जलवायु की अपेक्षा गर्म जलवायु वाले देशों में औरतें बहुत ही कम आयु में तारुण्य अवस्था को प्राप्त कर लेती हैं। भारत के साथ तो यह बात सामान्य रूप से लागू होती है। हमारे देश में शादी भी कम ही उम्र में होती है। अतः जन्म-दर का अधिक होना अति स्वाभाविक है।

(२) आर्थिक कारण (Economic Causes) :—जन्म-दर को प्रभावित करनेवाले कारणों में आर्थिक परिस्थितियों की निश्चय ही प्रधानता है। आर्थिक कारणों अथवा परिस्थितियों में निम्नलिखित प्रधान हैं—

(क) निर्धनता (Poverty) :—भारतवर्ष एक निर्धन देश है। निर्धनता के कारण भी यहाँ पर जन्म-दर बहुत अधिक है। प्रायः यह कहा जाता है कि निर्धन व्यक्तियों को अधिक सन्तान होती है। जितना ही निर्धन कोई व्यक्ति होगा, उसका परिवार भी उतना ही बड़ा होता है। जीवन स्तर में सुधार के साथ-साथ एक सीमा के पश्चात जन्म-दर में कमी होने लगती है। पश्चिम के प्रगतिशील राष्ट्रों ने इस बात को सिद्ध कर दिया है। संयुक्त राज्य अमेरिका के गोरे-निवासियों की तुलना में निग्रो निवासियों के परिवार बड़े होते हैं। भारत के अधिकांश व्यक्ति बहुत ही निर्धन हैं। यहाँ का सामान्य जीवन-स्तर भी बहुत ही निम्न है। अतएव यह कहा जा सकता है कि "हमारी विशाल जनसंख्या हमारी निर्धनता का उतना बड़ा कारण नहीं है जितना कि उसका परिणाम।" (Our population is not so much the cause of our poverty as it is the result of it.)

(ख) आर्थिक अदूरदर्शिता (Lack of Economic Foresight) :—भारत में लोग शादी करने तथा सन्तान उत्पन्न करने में दूरदर्शिता से कार्य नहीं लेते। पश्चिमी देशों में इसके ठीक विपरीत लोग शादी तथा सन्तान उत्पन्न करने में विवेक से काम लेते हैं। निर्धनता के साथ-साथ भारत में अशिक्षा का, विशेषतः स्त्रियों में, विस्तृत साम्राज्य है। इन कारणों से शादी या सन्तान उत्पन्न करने में औसत भारतीय विवेक (prudential consideration) से काम नहीं लेते।

(ग) निम्न जीवन स्तर (Low Standard of Living) :—एक औसत भारतीय का जीवन-स्तर इतना निम्न है कि परिवार के बढ़ जाने से उसे बहुत कम अधिक चिन्ता होती है। कभी-कभी तो यह देखा जाता है परिवार में वृद्धि के फलस्वरूप कमाने वालों की संख्या में वृद्धि होती है। अतः, निर्धन व्यक्तियों के लिए सन्तान अतिरिक्त आय का एक साधन होती है। इस प्रकार भारत में जन्म-दर अधिक होने का प्रमुख कारण यहाँ के लोगों की निर्धनता है।

(३) **धार्मिक एवं सामाजिक कारण** (Socio-Religious factors) :—जन्म-दर पर धार्मिक एवं सामाजिक परिस्थितियों का भी महत्त्वपूर्ण प्रभाव पड़ता है। भारत में सामाजिक एवं धार्मिक विचारधाराएँ भी जन्म-दर को बढ़ाने में अधिक सहायक हुई हैं। धार्मिक तथा सामाजिक कारणों में निम्नलिखित प्रधान हैं :—

(क) **शादि की सर्वजनीनता** (Universality of Marriage) :- भारत में धार्मिक एवं सामाजिक रिवाजों के कारण प्रत्येक हिन्दू विवाह करना तथा बच्चा पैदा करना अपना धर्म समझता है। हमारे देश में शादी को एक विचित्र संस्कार तथा अधिक बच्चा का होना ईश्वरीय खुशी का द्योतक माना जाता है।

(ख) **संयुक्त परिवार की प्रथा** (Joint Family System) :— भारत में जन्म-दर अधिक होने का एक प्रमुख कारण संयुक्त परिवार की प्रथा भी है। संयुक्त परिवार की प्रथा के कारण अधिक बड़े परिवार के लालन-पालन का दायित्व किसी एक व्यक्ति पर नहीं होता, अतः सन्तानोत्पत्ति की प्रवृत्ति में किसी प्रकार की आर्थिक रुकावट नहीं आती।

(ग) **बाल-विवाह** (Child Marriage) :—जन्म-दर अधिक होने का एक प्रधान कारण बाल-विवाह भी है। आज भी हमारे देश में बाल-विवाह की प्रथा प्रचलित है। हमारे देश में ५० प्रतिशत लड़कियों की शादी १५ वर्ष से कम आयु में ही हो जाती है तथा ३० वर्ष की आयु तक इनके अधिकांश बच्चे हो जाते हैं। बाल-विवाह की प्रथा को रोकने के लिए सितम्बर, १६२९ ई० में एक विधान पारित हुआ जिसे १९३० ई० से लागू किया गया। फिर भी, समाज पर इसका कोई महत्त्वपूर्ण प्रभाव नहीं पड़ा तथा १९५१ ई० की जनगणना के अनुसार १९३१ से १९५० ई० के बीच प्रायः ९२ लाख शादियाँ इस कानून के विरुद्ध हुई। बाल-विवाह हमारे समाज तथा देश के लिए एक अभिशाप है। इससे जन्म-दर में अत्यधिक वृद्धि होती है।

इस प्रकार भारत में अत्यधिक जन्म-दर के उपरोक्त सभी कारण हैं। किन्तु इन सभी कारणों में बाल-विवाह तथा शादि की सर्वजनीनता (Universality of Marriage) ही प्रमुख हैं। जनता की घोर निर्धनता भी निस्सन्देह अधिक जन्म का एक प्रमुख कारण है, किन्तु हमारे देश में आर्थिक कारणों से अधिक महत्त्वपूर्ण कारण सामाजिक तथा धार्मिक परिस्थितियाँ ही हैं। डा० ज्ञानचन्द[1] के अनुसार "भारत में अत्यधिक जन्म-दर सामाजिक तथा धार्मिक परिस्थितियों का परिणाम हैं। अतएव जब तक हमारे सामाजिक एवं नैतिक वातावरण में आमूल परिवर्तन नहीं होगा, तब तक पश्चिमी देशों की तरह हमारे देश में भी जन्म-दर में कोई कमी की आशा नहीं की जा सकती।"

भारत में मृत्यु-दर
(Death-Rate in India)

भारत में मृत्यु-दर भी अन्य देशों की तुलना में अधिक है। अनियन्त्रित तथा ऊँची जन्म-दर प्रायः ऊँची मृत्यु-दर से सम्बन्धित होती है। मृत्यु-दर किसी देश की सामाजिक परिस्थितियों तथा आर्थिक विकास का मापदण्ड है। जनसंख्या में समान वृद्धि अत्यधिक जन्म-दर एवं अत्यधिक मृत्यु-दर अथवा साधारण जन्म-दर एवं साधारण मृत्यु-दर के द्वारा भी हो सकती है। किन्तु अत्यधिक

1. "The high birth-rate in India is a part of our culture and it is only when the moral sentiments of the community change either by choice or by the force of circumstances that a fall in the birth-rate comparable with the fall which has taken place elsewhere can be expected."—Dr. Gyanchand-India's Teeming Millions, p. 145.

जन्म-दर एवं अत्यधिक मृत्यु-दर द्वारा किसी देश की जनसंख्या में वृद्धि उस देश के आर्थिक पिछड़ेपन तथा उसकी अर्द्ध-विकसित सभ्यता का परिचायक है। इसके विपरीत, कम जन्म-दर तथा कम मृत्यु-दर समाज की आर्थिक समृद्धि एवं स्वास्थ्य के क्षेत्र में वैज्ञानिक तरीकों के प्रयोग के सूचक हैं। जलवायु, जाति पेशा एवं आय आदि में विभिन्नता के कारण विभिन्न देशों की मृत्यु-दर में भी विभिन्नता पायी जाती है। मृत्यु-दर आर्थिक संकट के समय किसी समाज की अवरोध-शक्ति (Resistance power) का सूचक है। यदि मृत्यु-दर में प्रति वर्ष परिस्थितियों में परिवर्तन के कारण विभिन्नता पायी जाती हो तो इसका अर्थ यह है कि समाज में प्राकृतिक शक्तियों के विरुद्ध अवरोध शक्ति का अभाव है। जनसंख्या में कमी या वृद्धि केवल जन्म-दर पर ही नहीं, वरन् मृत्यु-दर पर भी निर्भर करती है। हमारे देश में मृत्यु-दर के सम्बन्ध में भी विश्वसनीय आँकड़ों का अभाव है। १९६१ की जनगणना के अनुसार भारत के प्रत्येक एक हजार व्यक्तियों में से १८ व्यक्तियों की प्रति वर्ष मृत्यु होती थी।[1] इसके विपरीत इंगलैंड में मृत्यु-दर प्रति हजार ११·४ तथा संयुक्त राज्य अमेरिका में केवल ९·२ है। इससे स्पष्ट है कि संसार के विकसित राष्ट्रों की तुलना में भारत में मृत्यु-दर बहुत अधिक है।

भारत में मृत्यु-दर अधिक होने के कारण (Causes of high death rate in India) :—भारत में मृत्यु-दर अधिक होने के निम्नलिखित प्रधान कारण हैं :—

(क) निर्धनता एवं निम्न जीवन स्तर (Poverty and Low Standard of Living) :—भारत में ऊँची मृत्यु-दर अन्ततोगत्वा यहाँ के निवासियों की सामान्य गरीबी के कारण ही है जो लोगों को मलेरिया, प्लेग तथा हैजा जैसी बीमारियों से बचने में पूर्णतया असमर्थ बना देती हैं। निर्धनता के कारण हमारे देश में अधिकांश व्यक्तियों की कुछ न्यूनतम आवश्यकताएँ जैसे—भोजन, वस्त्र तथा आवास आदि भी अपूर्ण रह जाती हैं। इससे उनका स्वास्थ्य निरन्तर खराब होते जाता है और वे अकारण ही मृत्यु के शिकार बन जाते हैं।

(ख) जन-स्वास्थ्य एवं चिकित्सा-सम्बन्धी सुविधाओं का अभाव (Lack of Public Health and Medical facilities) :—हमारे देश में जन-स्वास्थ्य एवं चिकित्सा-सम्बन्धी सुविधाओं का भी अभाव है। देश की विशालता एवं जनता की सामान्य निर्धनता को ध्यान में रखते हुए जिस पैमाने पर अस्पताल एवं डॉक्टरों की व्यवस्था होनी चाहिए उससे बहुत ही कम मात्रा में ये उपलब्ध हैं। चिकित्सा-सम्बन्धी सुविधाओं के अभाव में मृत्यु-दर का अधिक होना अति स्वाभाविक है।

(ग) संक्रामक रोग (Epidemics) :—भारत में ऊँची मृत्यु-दर का एक प्रधान कारण देश में तरह-तरह की संक्रामक बीमारियों—हैजा, प्लेग, चेचक, इन्फ्लूएँजा इत्यादि की प्रधानता है। इन संक्रामक बीमारियों के कारण प्रतिवर्ष देश के लाखों व्यक्ति अकाल ही मृत्यु के शिकार हो जाते हैं। जन-स्वास्थ्य एवं चिकित्सा-सम्बन्धी सुविधाओं में विस्तार के द्वारा अब इन बीमारियों का प्रकोप कम हो रहा है, फिर भी इन्हें अभी पूर्णतया निर्मूल नहीं किया जा सका है। उदाहरण के लिए, १९५७ में इन्फ्लूएँजा तथा १९६३ में चेचक के प्रकोप से लाखों व्यक्ति मृत्यु के शिकार हो गये थे।

(घ) जलवायु :—जलवायु का प्रभाव भी किसी देश की मृत्यु-दर पर पड़ता है। ठंढी जलवायु की अपेक्षा गर्म जलवायु में लोग कम जीने की आशा रखते हैं। भारत की जलवायु भी गर्म है अतः यहाँ पर अन्य देशों की अपेक्षा मृत्यु-दर अधिक है।

---

१. योजना आयोग के अनुमान के अनुसार १९६८-६९ में देश में जन्म-दर प्रति हजार ३९ तथा मृत्यु-दर १४ थी, यानी वर्तमान समय में देश की जनसंख्या में प्रतिवर्ष २·५ प्रतिशत की दर से वृद्धि हो रही है।

(च) जनता की अज्ञानता, अन्धविश्वास एवं अस्वास्थ्यकर सामाजिक आदतें (Ignorance, superstitions and unhygienic social habits of the people) :— भारतवासियों की अज्ञानता, अन्ध-विश्वास तथा इनकी कुछ अस्वास्थ्यकर सामाजिक आदतें भी देश में मृत्यु-दर अधिक होने का प्रधान कारण हैं। हमारे देश में बच्चों के पालन-पोषण के सम्बन्ध में उचित ज्ञान का अभाव रहता है जिससे इनकी उचित रूप से सेवा नहीं हो पाती है। इसी प्रकार बहुत-सी बीमारियों को आज भी देशवासी किसी देवता अथवा भगवान का प्रकोप समझते हैं। अतएव इनकी उचित दवा-दारू की व्यवस्था नहीं करके लोग झाड़-फूंक आदि का ही सहारा लेते हैं। इन सबके चलते भी देश में मृत्यु-दर अधिक होती है।

(छ) अत्यधिक शिशु मृत्यु-दर (Excessive infant mortality) :—भारत में मृत्यु-दर अधिक होने का एक प्रधान कारण अत्यधिक शिशु मृत्यु-दर भी है। अत्यधिक शिशु मृत्यु-दर के कई कारण हैं जिनकी व्याख्या आगे की गयी है। किन्तु इतना स्पष्ट है कि इससे भी हमारे देश में मृत्यु-दर अधिक होती है।

(ज) प्रजनन अवस्था में औरतों की अत्यधिक मृत्यु :—भारत में मृत्यु-दर के अधिक होने का एक प्रधान कारण प्रजनन अवस्था में औरतों की अत्यधिक मृत्यु भी है। बाल-विवाह, पर्दा, तथा, प्रसव-सम्बन्धी ज्ञान और सुविधाओं के अभाव आदि के कारण देश में औरतों की अत्यधिक मृत्यु होती है जिससे मृत्यु-दर अधिक होती है।

इनके अतिरिक्त, मृत्यु-दर पर जनता की अशिक्षा तथा कृषि पर अत्यधिक निर्भरता आदि का भी प्रभाव पड़ता है। अतः भारत में अत्यधिक मृत्यु दर जनता की घोर गरीबी, अति निम्न जीवन-स्तर, शिक्षा का अभाव, अधिक जनसंख्या का कृषि पर आश्रित होना तथा जन-स्वास्थ्य एवं चिकित्सा-सम्बन्धी सुविधाओं के अभाव आदि के कारण ही पायी जाती है।

भारत में मृत्यु-दर की दो प्रधान विशेषताएँ हैं :—

(१) शिशु मृत्यु-दर (Infant mortality) :—हमारे देश में शिशु मृत्यु-दर संसार के प्रायः सभी सुसभ्य राष्ट्रों से अधिक है। निम्नांकित तालिका से भारत तथा कुछ अन्य देशों में शिशु मृत्यु-दर का तुलनात्मक अन्दाजा लगाया जा सकता है :—

शिशु मृत्यु-दर प्रति हजार में

देश	शिशु मृत्यु-दर	देश	शिशु मृत्यु-दर
इंगलैंड	२६·२	जापान	४८·९
फ्रांस	४१·९	इटली	५२·८
संयुक्त राज्य अमेरिका	२६·९	स्विट्जरलैंड	२७·३
कैनाडा	३१·८	भारत	१५२

इस प्रकार उपरोक्त तालिका से स्पष्ट है कि पश्चिमी देशों की तुलना में यहाँ शिशु मृत्यु-दर भी बहुत अधिक है। १९५१ ई० की जनगणना के विवरण[1] के अनुसार प्रत्येक एक हजार में होने वाली २७ मृत्यु में से ११ पाँच वर्ष से कम आयु वाले बच्चों की होती है। पुनः इस ११ में से ७ मृत्यु एक वर्ष से कम आयु वाले बच्चों की होती है। भारत में इस अत्यधिक शिशु मृत्यु-दर का प्रमुख कारण जनता की घोर गरीबी है जिससे अधिकांश माँ-बाप अपने बच्चों के लिए पर्याप्त मात्रा में पौष्टिक पदार्थ, विशेषतः दूध आदि की व्यवस्था करने में असमर्थ रहते हैं। बाल-विवाह एवं प्रसव-सम्बन्धी समुचित सुविधा के अभाव में भी यहाँ शिशु मृत्यु-दर अधिक है।

1. Census Report—1951, P. 188.

(२) प्रजनन आयु में औरतों की अत्यधिक मृत्यु :—भारतीय मृत्यु-दर की दूसरी प्रमुख विशेषता प्रजनन अवस्था में अधिकांश औरतों की मृत्यु है। इसका प्रमुख कारण बाल-विवाह है जो लड़कियों को अपरिपक्व अवस्था में ही माँ बनने के लिए बाध्य करता है। इसके अतिरिक्त पर्दा-प्रथा, अत्यधिक बच्चे पैदा करना, प्रसव-सम्बन्धी चिकित्सा तथा आवश्यक ज्ञान का अभाव, प्रसव के पहले तथा बाद में काम से मुक्ति नहीं मिलना एवं लोगों में यह विश्वास कि पुरुषों की तुलना में औरतों का जीवन कम बहुमूल्य है, आदि कारणों से भी औरतों की मृत्यु अधिक होती है। इस प्रकार हमारे देश में प्रजनन आयु में ही बहुत-सी औरतों की मृत्यु हो जाती है जिसके फलस्वरूप पुरुषों के अनुपात में औरतों की संख्या निरन्तर घटती जा रही है।

पुनरुत्पादन की वास्तविक दर

(The Net Reproduction Rate)

जन्म-दर एवं मृत्यु-दर के अध्ययन से केवल भूत एवं वर्तमान की जनसंख्या की प्रवृत्ति का निर्देश-मात्र मिलता है। इससे भविष्य की जनसंख्या के सम्बन्ध में यथार्थ ज्ञान नहीं प्राप्त होता। भविष्य की जनसंख्या की वास्तविक वृद्धि की दर जानने के लिए श्री आर० आर० कुजिस्की (R. R. Kuczynsky) ने वैज्ञानिक पद्धति के आधार पर पुनरुत्पादन की वास्तविक दर के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है। वास्तव में, जनसंख्या की समस्या यह नहीं है कि जन्म-दर से मृत्यु-दर कम है अथवा अधिक, वरन् यह है कि क्या उत्पत्ति-क्रम इस प्रकार है कि एक पीढ़ी के लोग अपने जीवन काल में इतने बच्चे उत्पन्न कर सकेंगे, जो उनके रिक्त स्थानों की पूर्त्ति कर सकें।[1] इसका अभिप्राय यह है कि क्या उत्पत्ति-क्रम इस प्रकार है कि प्रत्येक एक हजार नवजात युवतियाँ अपने पुनरुत्पादन-काल में ऐसी एक हजार बालिकाओं को जन्म दे सकेंगी जो सन्तानोत्पत्ति का कार्य कर सकें। इससे स्पष्ट है कि यदि १००० माताएँ अपने पुनरुत्पादन काल में १००० बालिकाएँ उत्पन्न कर लें तो जनसंख्या ठीक-ठीक बनी रहेगी तथा पुनरुत्पादन की वास्तविक दर १ होगी। इससे अधिक या कम होने पर जनसंख्या में क्रमशः वृद्धि या कमी होगी।

किन्तु भारत में ऐसे आँकड़ों का अभाव है जिनके आधार पर वास्तविक पुनरुत्पादन की दर का सही-सही अन्दाजा लगाया जा सके। यहाँ इस प्रकार के आँकड़ों का अभाव है जिनसे यह पता लग सके कि भिन्न-भिन्न आयु वाले वर्गों में स्त्रियों को कितनी बालिकाएँ उत्पन्न हुईं। सन् १९४१ की जनगणना में इस प्रकार के आँकड़े केवल कोचीन के लिए तथा १९५१ ई० की जनगणना में केवल मध्य प्रदेश के लिए एकत्र किये गये थे। कोचीन के आँकड़ों को १९३१ ई० की अविभाजित भारतवर्ष की नारी-संख्या की जीवन सारिणी पर उपयोग करते हुए प्रो० डी० डी० घोष ने भारत में वास्तविक पुनरुत्पादन की दर १·१ बतलाया था। राष्ट्रीय नियोजन समिति ने जनसंख्या-सम्बन्धी अपने वितरण में भारत की वास्तविक पुनरुत्पादन-दर ४·५४ बतलाया था जबकि इंगलैंड और वेल्स में यह दर ०·८१, संयुक्त राज्य अमेरिका में १·४३, फ्रांस में ०·९ तथा आस्ट्रेलिया में ०·९५ थी। इस प्रकार राष्ट्रीय नियोजन समिति के अनुमान के आधार पर

1. R. R. Kuczynsky. "The pertinent question is not :" Is there an excess of births over deaths but rather are natality and mortality such that a generation which would be permanently subjected to them, would during its life time, that is until it had died out, produce sufficient children to replace that generation."

जनसंख्या में एक पीढ़ी में ४५·४ प्रतिशत की वृद्धि होनी चाहिए जबकि प्रो० घोष के अनुसार एक पीढ़ी में केवल ११ प्रतिशत की ही वृद्धि होनी चाहिए। अतः राष्ट्रीय नियोजन समिति के अनुमान वास्तव में प्रो० घोष की तुलना में वास्तविकता से अधिक समीप जान पड़ते हैं। प्राप्त आकड़ों के अनुसार भारत की जनसंख्या में १९२१ ई० से १९५० के बीच के ३० वर्षों में प्रायः १२% प्रति दशक की दर से वृद्धि हुई। केवल गत दशक में ही देश की जनसंख्या में २४·६ प्रतिशत की वृद्धि हुई थी। अतः एक पीढ़ी, यानी ३०-३५ वर्षों के भीतर जनसंख्या में केवल ११ प्रतिशत की वृद्धि का अनुमान निश्चय ही सही नहीं जान पड़ता।

इस प्रकार वास्तविक पुनरुत्पादन-दर की जानकारी के अभाव में भारत में जनसंख्या की भावी वृद्धि के सम्बन्ध में कोई निश्चित अनुमान लगाना कठिन है। फिर भी, १९५१ ई० की जनगणना के विवरण में १९५१ ई० से १९८० ई० तक जनसंख्या की वृद्धि का अनुमान लगाया गया था। यह अनुमान दो विभिन्न मान्यताओं पर आधारित था—(क) १९५१ से १९८० ई० के बीच तीन शताब्दियों में जनसंख्या की वृद्धि १९२१ से १९५० ई० के बीच वाली दशाब्दियों की औसत वृद्धि के अनुसार होगी। (ख) तीनों दशाब्दियों में जनसंख्या की वृद्धि १९४१-५० ई० के अनुसार होगी। ये विभिन्न मान्यताएँ अनुमानित जनसंख्या की निचली तथा ऊपरी सीमा तय करती हैं जो निम्न प्रकार से हैं :—

वर्ष	जनसंख्या की निचली सीमा (करोड़ में)	जनसंख्या की ऊपरी सीमा (करोड़ में)
१९५१	३६·१	३६·१
१९६१	४०·७	४१·१
१९७१	४५·८	४६·६
१९८१	५२·७	५३·५

उक्त अनुमान के अनुसार अन्य बातों के स्थिर रहने पर भारत की जनसंख्या १९८१ ई० तक ५२·७ करोड़ से ५३·५ करोड़ के बीच हो जाती। किन्तु देश की जनसंख्या १९७१ ई० में ही ५४·७ करोड़ हो गयी। इससे स्पष्ट है कि जनसंख्या-सम्बन्धी उक्त सारे अनुमान गलत सिद्ध हुए।

स्त्री-पुरुष का अनुपात
(Sex Ratio)

जनसंख्या के विभिन्न पहलुओं में स्त्री एवं पुरुषों के अनुपात (Sex ratio) का अध्ययन भी विशेष महत्त्व रखता है। इसके कई कारण हैं :—सर्वप्रथम तो स्त्री-पुरुष के अनुपात पर ही देश में स्त्रियों के प्रति पुरुषों का दृष्टिकोण (Sexual attitude) निर्भर करता है। साथ ही, औरतों में पुरुषों की अपेक्षा कार्य करने की शारीरिक शक्ति भी कम होती है, अतएव ये उत्पादन-कार्य में पुरुषों से कम ही सहयोग दे सकती हैं जिससे प्रति व्यक्ति आय सामान्यतः कम होती है।

भारत में पुरुषों की अपेक्षा औरतों की संख्या कम है। १९७१ ई० की जनगणना के अनुसार भारत की कुल ५४६९ लाख जनसंख्या में से पुरुषों की संख्या २८३१ लाख तथा औरतों की संख्या २६३८ लाख थी, यानी प्रत्येक १००० पुरुषों पर औरतों की औसत संख्या ९३२ थी। दूसरे शब्दों में, १९७१ ई० की जनगणना के अनुसार भारत में औरतों का प्रतिशत ४८·३ तथा पुरुषों का

प्रतिशत ५१·३ है। भिन्न-भिन्न जनगणनाओं के अनुसार भारत में प्रति एक हजार पुरुषों के अनुपात में औरतों की संख्या इस प्रकार थी[1] :—

वर्ष	प्रति एक हजार पुरुष पर औरतों की संख्या
१९२१	९५५
१९३१	९५०
१९४१	९४५
१९५१	९४६
१९६१	९४१
१९७१	९३२

भारत के अधिकांश राज्यों में पुरुषों की अपेक्षा औरतों की संख्या कम है। केवल केरल, तथा दादरा एवं नगर हवेली में पुरुषों की अपेक्षा औरतें अधिक हैं। १९७१ ई० की जनगणना के अनुसार इन राज्यों में प्रति एक हजार पुरुष पर औरतों की संख्या क्रमशः १०१९, तथा १००७ है। औरतों का अनुपात सबसे कम अंडमन निकोबार (प्रति हजार पुरुष पर ६४४) तथा दिल्ली (प्रति एक हजार पुरुष पर ८०२) में है। पश्चिमी बंगाल, जम्मू एवं कश्मीर, उत्तर प्रदेश तथा हरियाना में प्रति हजार पुरुषों पर औरतों की संख्या ९०० से भी कम है। शहरों में गाँव की अपेक्षा औरतों का अनुपात कम है। सम्पूर्ण देश के लिए प्रत्येक एक हजार पुरुषों पर गाँवों में औसत रूप से ९५२ औरतें तथा शहरों में ८५९ औरतें हैं। प्रत्येक एक हजार पुरुषों पर औरतों की संख्या कलकत्ता में ६९२, बम्बई में ५६६, मद्रास में ९२१ तथा हैदराबाद मे ९८९ है।

इस प्रकार पुरुषों की तुलना में औरतों की संख्या हमारे देश में कम है। यूरोप के अधिकांश राष्ट्रों की स्थिति ठीक इसके विपरीत है। प्रत्येक एक हजार पुरुषों पर औरतों की संख्या १९५० ई० में इटली में १०५३ तथा १९५१ ई० में इंगलैंड एवं वेलस में १०७१ थी। इसी प्रकार १९३० ई० में संयुक्त राज्य अमेरिका में प्रत्येक एक हजार पुरुषों पर औरतों की संख्या ९८५ थी। सम्पूर्ण विश्व में प्रति एक हजार पुरुषों पर औसत रूप से ९९२ औरतें हैं।

औरतों की संख्या में कमी के कारण :—हमारे देश में पुरुषों के अनुपात में औरतों की कमी के विभिन्न कारण हैं। इस सम्बन्ध में सबसे प्रमुख कारण तो बाल-विवाह है जो लड़कियों को अपरिपक्व अवस्था में ही माँ बनने के लिए बाध्य कर देता है। अधिक बच्चों की संख्या का औरतों के स्वास्थ्य पर बहुत ही बुरा प्रभाव पड़ता है जिससे इनकी मृत्यु-दर बढ़ जाती है। हमारे देश में सामाजिक परम्परा के कारण भी लड़कियों की सामान्य रूप से अवहेलना की जाती है। हमारे समाज में सर्वत्र लड़कों को आय-प्राप्ति का साधन माना जाता है, किन्तु, लड़कियों को परिवार का भार समझा जाता है। प्रसव-सम्बन्धी सुविधाओं का भी हमारे देश में अभाव पाया जाता है। अत्यधिक काम करने तथा पर्दा-प्रथा के कारण औरतों का स्वास्थ्य निरन्तर खराब होते जाता है। प्रायः ऐसा देखा जाता है कि गर्भाधान की स्थिति में भी औरतें अन्तिम दिन या अन्तिम क्षण तक काम करती रहती हैं। इसका उनके स्वास्थ्य पर बहुत बुरा प्रभाव पड़ता है। इससे औरतों की मृत्यु अधिक होती है। सन् १९६१ ई० की जनगणना के प्रतिवेदन में ऐसा कहा गया है कि लड़के और लड़कियों का असमान अनुपात कभी-कभी इस बात का भी द्योतक माना गया है कि भारत में अभी भी कन्या की हत्या पूर्णतया बन्द नहीं हो पायी है। सारांश यह

1. India Pocket Book of Economic Information.

है कि हमारे देश में पुरुषों की अपेक्षा औरतों का जीवन बहुत अधिक कठोर है जिससे इनके अनुपात में निरन्तर कमी होती जा रही है।

आयु के अनुसार जनसंख्या का वितरण

(Distribution of Population by Age)

किसी देश की जनसंख्या के अध्ययन में आयु के अनुसार जनसंख्या के वितरण का अध्ययन भी विशेष महत्त्व रखता है। १९६१ ई० की जनगणना के अन्तर्गत भारत में विभिन्न आयु-समूहों के निम्नलिखित[1] आँकड़े प्रस्तुत किये गये थे :—

आयु के अनुसार जनसंख्या का वर्गीकरण	आयु वर्ग (वर्ष में)	कुल जनसंख्या का प्रतिशत
१. शिशु एवं बच्चे	० से ४ वर्ष तक	१५·०
२. लड़के एवं लड़कियाँ	५ से १४ तक	२६·०
३. युवक एवं युवतियाँ	(i) १५ से २४ तक (ii) २५ से ३४ तक	१६·७ १५·४
४. अधेड़ पुरुष एवं औरतें	(i) ३५ से ४४ तक (ii) ४५ से ५४ तक	११·० ८·०
५ वृद्ध पुरुष एवं औरतें	(i) ५५ से ६४ तक (ii) ६५ से ७४ तक (iii) ७५ तथा उसके ऊपर	४·८ २·१ १·०
कुल		१००·०

उपरोक्त तालिका से यह स्पष्ट है कि जनसंख्या में कम आयु वालों का अनुपात ही अधिक है तथा अधिक आयु तक जीवित रहनेवाले लोगों की संख्या बहुत कम है। किसी देश की जनसंख्या का आयु के अनुसार वितरण एक पिरामिड के आकार की तरह होता है। कम आयु वाला वर्ग जो जनसंख्या का प्रायः सबसे बड़ा भाग होता है, इस पिरामिड का आधार है। धीरे-धीरे ऊँची आयु वाले वर्गों के साथ पिरामिड की चौड़ाई कम होती जाती है और अन्त में यह एक बिन्दु पर समाप्त हो जाती है क्योंकि एक निश्चित आयु के बाद कोई भी व्यक्ति जीवित न मिलेगा जिसकी गणना हो सके। विभिन्न देशों में आयु वर्गों में विभिन्नता के कारण पिरामिड का आकार भी विभिन्न प्रकार का होता है। भारत में जन्म एवं मृत्यु-दरें बहुत अधिक हैं जिससे यहाँ के आयु-पिरामिड का आधार बहुत विस्तृत एवं चोटी बहुत नुकीली होती है। यहाँ १५ वर्ष से कम आयु वाले लोगों का प्रतिशत ४१·० तथा ५५ वर्ष से अधिक आयु वालों का प्रतिशत केवल ७·९

1. India—1971-72.

है। इससे जनसंख्या की दीर्घजीविता की कमी का अन्दाजा लगता है। निम्नांकित तालिका के अन्तर्गत भारत के आयु पिरामिड के आधार एवं चोटी की तुलना विश्व के कुछ प्रमुख राष्ट्रों के साथ की गयी है :—

कुल जनसंख्या का प्रतिशत

देश	१५ वर्ष से कम आयु वाले लड़के-लड़कियाँ	५५ वर्ष से अधिक आयु वाले व्यक्ति
भारत	४१·०	७·६
जर्मनी	२३·५	१६·१
इंगलैंड	२२·५	२१·१
फ्रांस	२१·८	२१·४
जापान	३५·४	११·०

उपरोक्त तालिका से स्पष्ट है कि प्रत्येक एक हजार जनसंख्या में १५ वर्ष से कम आयु वाले व्यक्तियों की संख्या भारत में ४१०, इंगलैंड में २२५ तथा फ्रांस में २१८ है। इसका अर्थ है कि इंगलैंड एवं फ्रांस में लड़के-लड़कियों को भारत को तुलना में प्रारम्भिक जीवन की अधिक सुविधाएँ उपलब्ध हैं। इसी प्रकार प्रत्येक एक हजार जनसंख्या पर ५५ वर्ष से अधिक आयु वालों की संख्या भारत में केवल ७६, इंगलैंड में २११ तथा फ्रांस में २१४ है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि एक औसत भारतीय एक औसत इंगलैंड अथवा फ्रांस निवासी की तुलना में कम ही आयु तक जीवित रहने की आशा रखता है।

जीवन की औसत आयु (Life Expectancy) :—किसी भी देश की जनसंख्या के अध्ययन में जीवन की औसत आयु का अध्ययन विशेष रूप से महत्त्वपूर्ण है। इसका कारण यह है कि जीवन की औसत आयु पर ही किसी देश की कार्यशील जनसंख्या (Working Population) की मात्रा निर्भर करती है। हमारे देश की जनसंख्या तो बहुत अधिक है किन्तु यहाँ के निवासियों के जीवन की औसत आयु बहुत ही कम है। १९६१ ई० की जनगणना के अनुसार भारत में पुरुषों के जीवन की औसत आयु ४१·९ वर्ष तथा औरतों की ४०·६ वर्ष है। संयुक्त राज्य अमेरिका में पुरुषों की औसत आयु ६५ वर्ष तथा औरतों की ७० वर्ष की तुलना में वास्तव में ये बहुत ही कम हैं। इसका प्रमुख कारण भारतवासियों का निम्न जीवन-स्तर है जिसके परिणामस्वरूप अधिकांश व्यक्तियों को पौष्टिक भोजन, वस्त्र तथा आवास जैसी न्यूनतम आवश्यकताओं की पूर्ति भी नहीं हो पाती। अतः इनकी औसत आयु कम होती है। किन्तु चिकित्सा एवं स्वास्थ्य-सम्बन्धी सुविधाओं में वृद्धि के फलस्वरूप गत दो दशकों के बीच भारत में भी जीवन की औसत आयु में वृद्धि हुई है। इस प्रकार जीवन की प्रत्याशित आयु जो १९२० ई० वाले दशक में केवल २७ वर्ष थी, १९४१ ई० में ३२ वर्ष हो गयी तथा योजना आयोग के अनुमान के अनुसार १९६५-७० के बीच यह लगभग ५३·२ वर्ष हो गयी है।

गाँवों एवं नगरों में जनसंख्या का वितरण

(Distribution of Population between Villages and Towns)

भारत गाँवों का देश है। प्रारम्भ से ही भारत में गाँवों की प्रधानता रही है। आजकल भी, जबकि पश्चिम के औद्योगिक राष्ट्रों में अधिकांश जनता नगरों में निवास करती है, भारत की कुल जनसंख्या के प्रायः ८०·० प्रतिशत व्यक्ति गाँवों में ही निवास करते हैं। १९७१ ई० की

जनगणना के अनुसार भारत की कुल प्राय: ५४·७ करोड़ जनसंख्या में प्राय: ४३·९ करोड़ व्यक्ति, यानी प्राय: ८० प्रतिशत लोग गाँवों में तथा १०·८ करोड़ व्यक्ति, यानी प्राय: २० प्रतिशत लोग शहरों में निवास करते हैं। परन्तु नागरिक जनसंख्या का अनुपात देश में सर्वत्र एक समान नहीं है। पश्चिमी भारत में यह प्रतिशत ३१·२ तथा पूर्वी भारत में ११·१ है। उसी प्रकार नागरिक जनसंख्या का प्रतिशत महाराष्ट्र में २८·२ से लेकर उड़ीसा में केवल ४ तथा बिहार में ८·४ प्रतिशत है।

गत कुछ वर्षों से देश के औद्योगीकरण के साथ-साथ नागरिक जनसंख्या के अनुपात में भी क्रमश: वृद्धि हो रही है जो निम्नांकित तालिका[1] से स्पष्ट है :—

वर्ष	ग्रामीण जनसंख्या का प्रतिशत	नागरिक जनसंख्या का प्रतिशत
१९२१	८८·६	११·४
१९३१	८७·९	१२·१
१९४१	८६·१	१३·९
१९५१	८२·७	१७·३
१९६१	८२·०	१८·०
१९७१	८०·१	१९.९

उपरोक्त तालिका से स्पष्ट है कि १९४१-५० ई० के बीच दस वर्षों में नागरिक जनसंख्या के अनुपात में ३·४ प्रतिशत की वृद्धि हुई जबकि १९२१ ई० से १९४० ई० के बीच वाले दो दशकों में केवल २·५ प्रतिशत की वृद्धि हुई थी। किसी देश की जनसंख्या के गाँवों एवं नगरों में विभाजन से उस देश की आर्थिक प्रगति का अन्दाजा लगाया जा सकता है। भारत की जनसंख्या का गाँवों एवं नगरों में उपयुक्त वितरण संतोषजनक नहीं कहा जा सकता। संतुलित आर्थिक व्यवस्था वाले देशों में ग्रामीण एवं नागरिक जनसंख्या के प्रतिशत में प्राय: समानता पायी जाती है। ग्रामीण जनसंख्या की अत्यधिक प्रधानता हमारे देश के औद्योगिक पिछड़ेपन का परिचायक है। पश्चिमी राष्ट्रों में नागरिक जनसंख्या का अनुपात ही अधिक है जो निम्नलिखित तालिका[2] से स्पष्ट है :—

देश	नागरिक जनसंख्या का प्रतिशत	ग्रामीण जनसंख्या का प्रतिशत
इंगलैंड (१९६८)	७९·०	२१·०
पश्चिमी जर्मनी (१९५०)	७१·१	२८·९
कैनाडा (१९६६)	७३·६	२६·४
संयुक्त राज्य अमेरिका (१९६६)	७०·०	३०·०
जापान (१९६५)	६८·०	३२·०
फ्रांस (१९६८)	७०·०	३०·०
सोवियत रूस (१९६९)	५६·७	४४·०
भारत (१९७१)	१९·९	८०·१

भारत में नागरिक जनसंख्या की कमी के कारण यहाँ बड़े-बड़े नगरों का भी अभाव है। १९६१ की जनगणना के अनुसार भारत में १२ बड़े-बड़े नगर (पाँच लाख या उससे अधिक जनसंख्या वाले); २६८७ छोटे-छोटे नगर तथा कस्बे एवं ५,६६,८७८ गाँव हैं।

1. India 1971-72.
2. India Pocket Book of Economic Information—1970.

साक्षरता की समस्या (Problem of literacy) :—किसी देश की जनसंख्या के अध्ययन के सम्बन्ध में वहाँ की साक्षरता की समस्या का अध्ययन भी विशेष रूप से महत्त्वपूर्ण है। हमारे देश में शिक्षा का बड़ा ही अभाव है। यहाँ के अधिकांश व्यक्ति आज भी अशिक्षित हैं। १९७१ ई० की जनगणना के अनुसार यहाँ के केवल प्रायः २९·५ प्रतिशत व्यक्ति साक्षर हैं। इंगलैंड तथा अमेरिका आदि देशों में प्रायः सभी व्यक्ति शिक्षित होते हैं। किन्तु भारत में साक्षरता की कमी है। १९५१ में साक्षरता का प्रतिशत केवल १६·६ तथा १९६१ में २४ प्रतिशत था। इससे स्पष्ट है कि पिछले दशकों में साक्षरता के प्रतिशत में कुछ वृद्धि हुई है, किन्तु फिर भी देश के तीन-चौथाई से भी अधिक व्यक्ति अभी भी अशिक्षित हैं। औरतों में तो यहाँ शिक्षा का और भी अभाव है। १९७१ ई० की जनगणना के अनुसार भारत में ३९·५ प्रतिशत पुरुष तथा १८·५ प्रतिशत औरतें शिक्षित हैं।

जनसंख्या का व्यावसायिक वितरण

(Occupational Distribution of Population)

अभी तक हमने जनसंख्या का अध्ययन आकार, निवास-स्थान, आयु तथा लिंग आदि के आधार पर किया है। किन्तु इनसे देश की भौतिक समृद्धि तथा आर्थिक प्रगति का कोई अन्दाजा नहीं लगता। जनसंख्या के पेशेवर विभाजन के अध्ययन से ही किसी देश की आर्थिक प्रगति का सही-सही अन्दाजा लगाया जा सकता है। जनगणना-सम्बन्धी आँकड़े ही इसके अध्ययन के लिए प्रमुख साधन हैं। किन्तु, हमारे देश में जनगणना के अंकों के आधार पर तुलनात्मक अध्ययन करना कठिन हो जाता है। इसका प्रमुख कारण प्रत्येक जनगणना के समय आँकड़ों के एकत्र करने की प्रणाली में विभिन्नता है जिससे दो जनगणना वाले-वर्षों में समानता नहीं रह जाती।

कार्यकारी जनसंख्या (Working Population) :—पहले कार्यकारी जनसंख्या को देखना अनिवार्य है। १९६१ ई० के जनगणना-सम्बन्धी विवरण में कार्यकारी जनसंख्या के सम्बन्ध में भी अनुमान लगाये गये हैं। कार्यकारी जनसंख्या के अन्तर्गत जो व्यक्ति वास्तव में काम पर लगे हैं, उनके अतिरिक्त प्रशिक्षण पाने वाले व्यक्तियों को भी रखा गया है। अकार्यकारी जनसंख्या के अन्तर्गत बच्चे, बूढ़े, विद्यार्थी तथा बिना पारिश्रमिक घर के काम करने वालों को भी रखा गया है।

१९७१ की जनगणना के अनुसार देश की कुल प्रायः ५४·७ करोड़ जनसंख्या में से लगभग १८·३६ करोड़, यानी प्रायः ३३·५ प्रतिशत व्यक्ति कार्य करने वाले यानी कार्यशील जनसंख्या (Working Population) हैं। इनमें से पुरुषों की कुल संख्या के प्रायः ५२·५ प्रतिशत तथा औरतों की कुल संख्या के प्रायः १३ प्रतिशत व्यक्ति कार्यकारी हैं। विश्व के कुछ अन्य देशों से तुलना करने पर भारत में कार्यकारी जनसंख्या के सम्बन्ध में स्थिति का आन्दाजा लगता है—

विभिन्न देशों में कार्यकारी जनसंख्या का प्रतिशत[1]

	पुरुष	औरतें	कुल
रूस (१९५९)	५५·८	४९·३	५२·२
पश्चिमी जर्मनी (१९६०)	६३·६	३३·२	४७·५
ब्रिटेन (१९५१)	६६·६	२७·४	४६·२
संयुक्त राज्य अमेरिका (१९६१)	५५·०	२६·१	४०·४
भारत (१९७१)	५२·५	१३·०	३३·५

1. Fact Book on Man Power, P. 39.

उपरोक्त तालिका से स्पष्ट है कि जहाँ तक कार्यकारी जनसंख्या के प्रतिशत का प्रश्न है। भारत की स्थिति प्रमुख पश्चिमी देशों से बहुत भिन्न नहीं है। साथ ही, भविष्य में जन्म-दर में प्रत्याशित कमी तथा औरतों की शिक्षा में वृद्धि के परिणामस्वरूप कार्यकारी जनसंख्या के प्रतिशत में और अधिक वृद्धि की आशा की जाती है।

कार्यशील जनसंख्या का पेशे के अनुसार वितरण (Distribution of Working Population by Industrial Categories) :—किसी देश की जनसंख्या का पेशेवर वितरण तथा आर्थिक विकास में बड़ा ही घनिष्ठ सम्बन्ध है। वास्तव में, आर्थिक विकास की प्रत्येक अवस्था का एक निश्चित पेशेवर ढाँचे से सम्बन्ध होता है। प्रो० कोलिन क्लार्क के अनुसार "प्रति व्यक्ति औसत उच्च आय वाले देशों में कार्यशील जनसंख्या का एक बहुत बड़ा भाग तृतीयक उद्योगों में लगा रहता है जबकि निम्न औसत आय वाले देश में कृषि की ही प्रधानता रहती है।" (A high average level of real income per head is always associated with a high proportion of the working population engaged in tertiary industry. Low real income per head is always associated with a low proportion of the working population in tertiary production and a high percentage in primary production.)

भिन्न-भिन्न जनगणनाओं के अनुसार भारत का कुल कार्यकारी जनसंख्या का विभिन्न पेशों के अनुसार विभाजन निम्नांकित तालिका[1] से स्पष्ट होता है :—

कार्यशील जनसंख्या का विभिन्न पेशों में प्रतिशत वितरण

उद्यम	१९०१	१९३१	१९५१	१९६१
१. कृषि	५०·६	०५·१	५० ०	५२·८
२. कृषि-श्रमिक	१६·९	२४·८	१९·७	१६·७
३. खान, वन तथा मछली इत्यादि	४·३	५·२	३·०	२·६
४. घरेलू उद्योग	—	—	—	६·४
५. मैन्युफैक्चरिंग उद्योग	११·७	८·९	९·०	४·२
६. निर्माण कार्य	०·८	१·०	१·०	१·२
७. व्यापार	६·१	५·६	५ ३	४·१
८. यातायात एवं संवादवाहन	१·१	१·०	१·५	१·६
९. अन्य सेवाएँ	८·५	८·४	१०·५	१० ४
कुल योग	१००·००%	१००·००%	१००·००%	१००·००%

उपरोक्त तालिका से स्पष्ट है कि १९६१ ई० की जनगणना के अनुसार देश की कुल कार्यकारी जनसंख्या का प्रायः ६९·५ प्रतिशत भाग कृषि पर, २·७ प्रतिशत भाग खान तथा जंगल

1. Fact Book on Man Power.

आदि उद्योग में, ११·७ प्रतिशत भाग निर्माण उद्योगों तथा शेष १६·१ भाग अन्य उद्योगों में लगे हैं।

कार्यशील जनसंख्या के वितरण को तीन क्षेत्रों (three sectors) के अनुसार भी देखा जा सकता है। ये तीन क्षेत्र हैं—प्राथमिक क्षेत्र (Primary sector) जिसमे १ से ३ तक, सहायक क्षेत्र (Secondary Sector) जिसमें ४, ५ और ६ एवं तृतीयक (Tertiary) क्षेत्र जिसमे ७, ८ एवं ९ श्रेणियों के पेशे आते हैं। निम्नांकित तालिका से यह भी स्पष्ट हो जाता है :—

वर्ष	प्रारम्भिक क्षेत्र	सहायक क्षेत्र	तृतीयक क्षेत्र
१९०१	७१·८	१२·६	१५·६
१९५१	७२·१	१०·६	१७·३
१९६१	७२·३	११·७	१६·०

भारत में जनसंख्या के पेशेवर विभाजन के अध्ययन से यह स्पष्ट है कि यहाँ कृषि पर आश्रित व्यक्तियों का प्रतिशत बहुत अधिक तथा उद्योग, व्यापार एवं परिवहन आदि में लगे हुए व्यक्तियों का प्रतिशत बहुत ही कम है। यह कृषि पर अधिक तथा उद्योग-धन्धों पर कम निर्भरता हमारी असंतुलित आर्थिक व्यवस्था का परिचायक है। विश्व के किसी भी सुसभ्य एवं प्रगतिशील राष्ट्र की आर्थिक व्यवस्था में इस प्रकार का व्यावसायिक असन्तुलन नहीं दीख पड़ता। निम्नलिखित तालिका में १९५१ ई० में भारत, संयुक्त राज्य अमेरिका तथा इंगलैंड में प्रत्येक हजार स्वावलम्बी व्यक्तियों का व्यवसाय के आधार पर वर्गीकरण दिखलाया जाता है :—

व्यवसाय	भारत	संयुक्त राज्य अमेरिका	इंगलैंड
(क) कृषि, पशु-पालन, वन एवं मत्स्य उद्योग	७०६	१२८	५०
(ख) खनिज एवं निर्माण उद्योग तथा वाणिज्य	१५३	४५६	५५५
(ग) अन्य उद्योग तथा सेवाएँ	१४१	४१६	३९५
कुल	१०००	१०००	१०००

ऊपर की तालिका से स्पष्ट है कि प्रत्येक एक हजार स्वावलम्बी व्यक्तियों में से कृषि एवं तत्सम्बन्धी उद्योगों में हमारे देश में ७०६ व्यक्ति लगे हुए हैं जबकि इनकी संख्या संयुक्त राज्य अमेरिका में १२८ तथा इंगलैंड में केवल ५० ही है। इससे हमारी कृषि पर अत्यधिक निर्भरता स्पष्ट हो जाती है।[1] इसके फलस्वरूप देश में संतुलित एवं स्थायी (Stable) आर्थिक व्यवस्था का निर्माण प्रायः असम्भव-सा हो जाता है। भारतीय कृषि वर्षा पर निर्भर करती है और यहाँ पर वर्षा की प्रकृति बड़ी ही अनिश्चित है। अतः भारतीय कृषि पर अत्यधिक निर्भरता का अर्थ है प्रकृति की अनिश्चितताओं पर आश्रित होना। यदि किसी वर्ष वर्षा नहीं हुई तो कृषि-कार्य सफलतापूर्वक नहीं हो पाता जिससे देश में आर्थिक संकट की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। १८८० ई० के

१. भारत सरकार के एक प्रकाशन, India Pocket Book of Economic Information के अनुसार भारत में १९६१ ई० में ७० प्रतिशत व्यक्ति कृषि पर लगे थे जबकि उसी वर्ष संयुक्त राज्य अमेरिका में ७ प्रतिशत, आस्ट्रेलिया, कैनाडा तथा पश्चिमी जर्मनी में ११ प्रतिशत तथा फ्रांस में ७ प्रतिशत लोग कृषि पर आश्रित थे।

दुर्भिक्ष आयोग ने इस निराशाजनक स्थिति का निदान बताते हुए ठीक ही कहा था कि भारत-वासियों की दर्दनाक गरीबी तथा उन पर आनेवाली जोखिमों का मूल कारण वह दुर्भाग्यपूर्ण परिस्थिति है कि यहाँ कृषि ही अधिकांश जनता के जीविकोपार्जन का एक-मात्र साधन है। यह कथन हमारी आर्थिक व्यवस्था के साथ आज भी उसी प्रकार सामान्य रूप से लागू होता है। देश के आर्थिक विकास के लिए उद्योग-धन्धों का विकास आवश्यक है जिससे कृषि पर से हमारी इतनी अधिक निर्भरता को कम किया जा सके।

विशेष अध्ययन-सूची

1. Census of India 1971.
2. U. N. Demographic Year Book, 1963.
3. Fact Book on Man Power prepared by the Institute of Applied Man power Research, New Delhi.
4. India 1971-72.

अध्याय : ४

भारत के लिए जनसंख्या-सम्बन्धी नीति

(Population Policy for India)

जनसंख्या-सम्बन्धी नीति का अर्थ (Meaning of Population Policy) :— जनसंख्या-सम्बन्धी नीति का तात्पर्य किसी देश की सरकार की उस मान्यता से है जिसके अनुसार वह जनसंख्या की वृद्धि अथवा निरोध को प्रोत्साहित करती है। यह नीति सभी देशों के लिए एक समान नहीं हो सकती क्योंकि कुछ देशों में प्राकृतिक साधनों की प्रचुरता रहती है तथा उनका प्राविधिक स्तर भी पर्याप्त मात्रा में ऊँचा रहता है। अतएव कभी-कभी इन देशों में प्राकृतिक साधनों के समुचित विदोहन के लिए श्रम-शक्ति का अभाव जान पड़ने लगता है, अतएव वहाँ पर जनसंख्या की वृद्धि को प्रोत्साहित करना आवश्यक हो जाता है। सोवियत संघ तथा आस्ट्रेलिया आदि देशों में बहुत कुछ इसी प्रकार की स्थिति पायी जाती है। इसके विपरीत, भारत तथा चीन जैसे विभिन्न अल्प-विकसित देशों में प्राकृतिक साधनों की प्रचुरता होते हुए भी समुचित औद्योगिक विकास के अभाव में इन देशों की जनसंख्या का एक बहुत बड़ा भाग बेकारी तथा अर्द्ध बेकारी की स्थिति में रहता है। इन देशों में तीव्र गति से बढ़ती हुई जनसंख्या एक भीषण समस्या के रूप में उपस्थित होती है। अतएव इन देशों में जनसंख्या-सम्बन्धी नीति का प्रधान उद्देश्य तीव्र गति से बढ़ती हुई जनसंख्या का नियंत्रण होता है। किन्तु भारत सरकार की जनसंख्या-सम्बन्धी नीति के विभिन्न पहलुओं के अध्ययन के पूर्व देश में जनाधिक्य की स्थिति के सम्बन्ध में विचार करना आवश्यक है।

क्या भारत में जनाधिक्य है[1] ? (Is India over-populated ?) :— जनसंख्या-सम्बन्धी विभिन्न आँकड़ों के अध्ययन के उपरान्त हमारे सामने दो प्रश्न आते हैं। क्या भारत में जनाधिक्य है ? क्या भारत की जनसंख्या आवश्यकता से अधिक है ? और पुनः यह प्रश्न होता है कि यदि भारत में जनाधिक्य है, अथवा यहाँ की जनसंख्या आवश्यकता से अधिक है तो जनाधिक्य की इस स्थिति को दूर करने के लिए हमें क्या करना चाहिए ? किस प्रकार हम अपनी जनसंख्या को एक सुसभ्य आर्थिक जीवन-स्तर प्रदान कर सकते हैं ? भारत में आज भी सर्वत्र निर्धनता का विस्तृत साम्राज्य है। लोगों का जीवन-स्तर बहुत ही निम्न है। अधिकांश जनता भूखी, नंगी तथा बेकार है। भारत की इस भीषण गरीबी का प्रमुख कारण जनसंख्या की अनियन्त्रित वृद्धि ही है। अगर हम इस निम्न-स्तर से सन्तुष्ट हैं तो जनसंख्या की समस्या हमारे लिए कोई चिन्ता का विषय नहीं होगी। किन्तु, जब हम एक नये भारत की कल्पना करते हैं, जिसमें दरिद्रता का साम्राज्य नहीं होकर स्वस्थ एवं सुसभ्य जीवन की सारी सुविधाएँ उपलब्ध

१. संयुक्त राष्ट्र-संघ की एक हाल की विज्ञप्ति 'विश्व की जनसंख्या में वृद्धि" में यह कहा गया है कि विश्व की जनसंख्या इतनी तेजी के साथ बढ़ रही है कि यदि वृद्धि का यही क्रम जारी रहा तो आगामी ६०० वर्षों में रहने के लिए पर्याप्त भूमि का अभाव हो जायगा। इस विज्ञप्ति के अनुसार विश्व की जनसंख्या २ अरब, २७ करोड़, ७० लाख से बढ़कर १९८० ई० तक ४ अरब तथा इस शताब्दी के अन्त तक ६-७ अरब हो जायगी। विज्ञप्ति में यह बतलाया गया है कि जहाँ विश्व की जनसंख्या के २॥ अरब होने में २ लाख वर्ष का समय लगा है वहाँ २ अरब की वृद्धि के लिए अब केवल ३० वर्ष समय लगेंगे। वृद्धि की वर्तमान गति को देखते हुए यह कहा जा सकता है कि आगामी ६०० वर्षों में इतने अधिक व्यक्ति हो जायँगे कि प्रत्येक व्यक्ति के लिए केवल २ वर्गमीटर (२·०६८१ वर्ग गज) भूमि ही उपलब्ध होगी। [आज—जुलाई, १९५८ ई० से]

होंगी तो जनसंख्या के सम्बन्ध में एक सुनिश्चित योजना की आवश्यकता पड़ेगी। भारतीय जनता को इस दरिद्रता एवं भूखमरी के जीवन-स्तर से उठाकर सुख एवं समृद्धि के मार्ग पर ले जाने के लिए जनसंख्या का नियंत्रण बिल्कुल आवश्यक है।

किन्तु जनाधिक्य की समस्या पर विचार करने के पूर्व यह देखना आवश्यक है कि जनाधिक्य का क्या अर्थ है ? इसके लिए हमें जनसंख्या के मान्ह सिद्धान्तों की विवेचना करनी होगी। जनसंख्या का आधुनिक सिद्धान्त माल्थस से प्रारम्भ होता है जिन्होंने १७९८ ई० में 'जनसंख्या के सिद्धान्त' पर अपनी सुप्रसिद्ध पुस्तक प्रकाशित की। माल्थस के अनुसार मनुष्य में प्रजनन-शक्ति अपार पायी जाती है। अतः किसी देश की जनसंख्या में जीवन-निर्वाह के साधनों से अधिक वृद्धि की प्रवृत्ति पायी जाती है। यदि इस प्रजनन-शक्ति का पूरा-पूरा उपयोग किया जाय तो अपवाद-स्वरूप अति अनुकूल परिस्थितियों के अतिरिक्त, जीवन-निर्वाह के साधन जनसंख्या की वृद्धि से बहुत पीछे रह जायेंगे। यह प्रवृत्ति युद्ध, अकाल, महामारी आदि नैसर्गिक अवरोधकों द्वारा मृत्यु-दर में वृद्धि के कारण नियन्त्रित होती है। इनसे बचने के लिए मनुष्य को स्वयं आत्मसंयम, ब्रह्मचर्य, देर से विवाह आदि प्रतिबन्धक निरोधों को अपनाना चाहिए। अब यह देखना है कि क्या माल्थस के अनुसार भारत की जनसंख्या आवश्यकता से अधिक है ? हमारे देश में इतनी बड़ी जनसंख्या के लिए जीवन-निर्वाह के साधनों का निश्चित रूप से अभाव है जो हमारे निम्न जीवन-स्तर से ही स्पष्ट हो जाता है। साथ ही, हमारे देश में जनसंख्या की वृद्धि प्रतिबन्धक निरोधों जैसे देर से ब्याह, ब्रह्मचर्य पालन तथा संतति-निरोधक उपायों के प्रयोग द्वारा नियन्त्रित नहीं होती। आज यहाँ विवाह की दर पश्चिमी देशों की तुलना में बहुत अधिक है। बाल-विवाह के विरुद्ध कानून रहने पर भी यह प्रथा देश में प्रचलित है और १९३१ से १९५१ ई० के बीच ९२ लाख विवाह इस नियम के विरुद्ध हमारे देश में हुए थे। पश्चिमी देशों में प्रजनन-शक्ति पूर्णतया प्रयोग में नहीं आती, क्योंकि इन देशों में अविवाहित रहने तथा देर से शादी करने की प्रथा अधिक प्रचलित है। संतति-निरोध के साधनों का प्रयोग भी यहाँ प्रायः नगण्य ही है। इस प्रकार भारत में प्रतिबन्धक निरोधों का बहुत-कम उपयोग किया जाता है।

प्रतिबन्धक निरोधों के अभाव में जनसंख्या के नियन्त्रण में हमारे यहाँ प्राकृतिक अवरोधक ही प्रबल रहे हैं। जनसंख्या तथा जीवन-निर्वाह के साधनों में संतुलन स्थापित करने के लिए जब मनुष्य स्वयं प्रयत्न नहीं करता, तो अकाल, महामारी, हैजा, प्लेग आदि प्रकृति के कष्टकारक तरीके अपना कार्य प्रारम्भ करते हैं। भारत में ये सब विस्तृत रूप से पाये जाते हैं। प्राप्त आँकड़ों के आधार पर कहा जाता है कि १९वीं शताब्दी के आँकड़ों द्वारा कुल ३२४ लाख तथा केवल १९४३ ई० के बंगाल के अकाल में ३०-३५ लाख व्यक्तियों की मृत्यु हुई। महामारियों का प्रकोप भी हमारे यहाँ कुछ कम नहीं रहा है। १९०१ से १९२१ ई० के बीच ज्वर से १८८ लाख तथा प्लेग से ८३ लाख व्यक्ति मर गये। केवल १९१८-१९ ई० के इंफ्लूएन्जा से ८४ लाख व्यक्तियों की मृत्यु हुई। १९३८ ई० में मलेरिया से १५·८ लाख व्यक्ति मर गये। इसी प्रकार १९३७ ई० में चेचक और हैजे से प्रति लाख क्रमशः १६ और २९ व्यक्ति मरे। अतः प्राकृतिक अवरोधक ही हमारे देश की जनसंख्या को कम करने में अधिक क्रियाशील रहे हैं जिससे मृत्यु-दर भी बहुत अधिक रही है। अधिकांश व्यक्तियों को पर्याप्त तथा पौष्टिक भोजन नहीं मिल पाता जिससे उनकी कार्य करने की शक्ति कम हो जाती है और वे अकाल ही किसी महामारी के शिकार बन बैठते हैं। इस प्रकार घोर निर्धनता के कारण शिशुओं एवं वयस्कों में मृत्यु-दर बहुत अधिक पायी जाती है। अतः इस आधार पर यह कहा जा सकता है कि भारत में माल्थस के अनुसार जनाधिक्य की स्थिति निश्चित रूप से वर्तमान है।

जनसंख्या का दूसरा तथा अधिक मान्य सिद्धान्त कैनन का **आदर्शतम जनसंख्या का सिद्धान्त** (Optimum Theory of Population) है। इसके अनुसार किसी दिये हुए समय, अर्थात् ज्ञान एवं परिस्थितियों के समान रहने पर, किसी देश के लिए एक आदर्शतम जनसंख्या होती है जिससे देश के आर्थिक साधनों का उपयोग पूर्णरूपेण सम्भव होता है और फलस्वरूप प्रति-व्यक्ति आय भी अधिकतम होती है। जब जनसंख्या इससे कम होती है तो देश के आर्थिक साधनों का समुचित उपयोग नहीं हो पाता जिसके फलस्वरूप प्रति-व्यक्ति आय कम हो जाती है। यदि जनसंख्या इससे अधिक होती है तो देश के आर्थिक साधनों पर जनसंख्या की अनावश्यक भीड़ हो जाती है एवं उत्पादन ह्रास नियम क्रियाशील होने लगता है जिससे प्रति-व्यक्ति आय भी घट जाती है। इस सिद्धान्त के अनुसार जनाधिक्य का अर्थ जनसंख्या का आदर्शतम आकार से अधिक होना है। जनसंख्या में वृद्धि से देश की श्रम-शक्ति में भी वृद्धि होती है जिसके परिणामस्वरूप सामान्यतः, कुल धन में वृद्धि होती है। किन्तु इस सम्बन्ध में महत्त्वपूर्ण प्रश्न यह है कि धन की यह वृद्धि जनसंख्या में वृद्धि की समानुपातिक है या नहीं जिससे प्रति-व्यक्ति आय कम-से-कम पूर्ववत् बनी रहे। यदि जनसंख्या की वृद्धि इस गति से हो कि इसके परिणामस्वरूप प्रति-व्यक्ति आय में कमी की सम्भावना हो तो इसे जनाधिक्य की प्रवृत्ति (Tendency to over-population) कहते हैं। इसी प्रकार यदि वर्तमान जनसंख्या इतनी अधिक है कि इसके कम होने से प्रति-व्यक्ति आय में वृद्धि की सम्भावना हो तो इसे जनाधिक्य की दशा (State of over-population) कहते हैं। इस प्रकार हमारे देश में आजकल जनाधिक्य की प्रवृत्ति तथा दशा दोनों ही वर्तमान हैं।

भारत में जनाधिक्य के सम्बन्ध में हमारे समक्ष विभिन्न दृष्टिकोण हैं। इस सम्बन्ध में हम मुख्य रूप से दो प्रकार के परस्पर विरोधी विचारों का अध्ययन करेंगे।

प्रथम मत : भारतवर्ष में जनाधिक्य है

(India is Over-populated)

सर्वप्रथम तो अधिकांश अर्थशास्त्री तथा समाज-सुधारक इस विचार के हैं कि भारत में निश्चित रूप से जनाधिक्य की समस्या वर्तमान है। इन विचारकों में डा० ज्ञानचन्द, प्रो० वत्तल इत्यादि के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इनके अनुसार जनसंख्या के दोनों सिद्धान्तों के आधार पर इस बात की स्पष्ट रूप से पुष्टि होती है कि भारत में जनाधिक्य है। भारत में जनाधिक्य है इस कथन की पुष्टि के लिए ये लोग साधारणतः निम्नलिखित तर्क प्रस्तुत करते हैं :—

(१) कृषि पर जनसंख्या की अत्यधिक निर्भरता (Excessive dependance of population on Agriculture) :—भारत की कृषि पर, जो यहाँ का मुख्य व्यवसाय है जनसंख्या का भार बहुत अधिक है। इसके फलस्वरूप प्रति-कृषक परिवार को आर्थिक जोत से भी कम ही भूमि मिलती है। हमारे देश में आर्थिक जोत के सम्बन्ध में बहुत-से अध्ययन किये गये हैं जिनके आधार पर एक औसत परिवार के लिए १२ से १५ एकड़ तक भूमि आर्थिक जोत मानी जा सकती है। परन्तु प्रत्येक कृषक परिवार को अगर इतनी भूमि दी जाय तो आधे से अधिक व्यक्ति भूमि हीन ही रह जायँगे। इतना ही नहीं, हमारे देश में प्रति व्यक्ति उपलब्ध कृषि-योग्य भूमि की मात्रा में भी क्रमशः ह्रास होते जा रहा है। १९३१ ई० में प्रति-व्यक्ति प्राप्त कृषि-योग्य भूमि का औसत ०·८८ एकड़ से घटकर १९५१ ई० में ०·७२ एकड़ हो गया। इसी प्रकार १९११ ई० से १९५० ई० के बीच ४० वर्षों में देश की जनसंख्या में प्रायः ५१·५ प्रतिशत की वृद्धि हुई जबकि कृषि-योग्य भूमि में वस्तुतः कोई वृद्धि नहीं हुई। इसी प्रकार १९५१ से १९७१ के बीच जनसंख्या

३६·१ करोड़ से बढ़कर ५४·७ करोड़ हो गयी, यानी इसमें लगभग ५० प्रतिशत की वृद्धि हुई, जबकि कृषि के अन्तर्गत भूमि का क्षेत्र १९५१ में ११९० लाख एकड़ से बढ़कर केवल १३८० लाख एकड़ ही हुआ, यानी इसमें केवल १६ प्रतिशत की वृद्धि ही हुई। परिणामस्वरूप प्रति-व्यक्ति उपलब्ध कृषि-योग्य भूमि का क्षेत्र ०·३३ हेक्टर से घटकर ०·२६ हेक्टर हो गया।[1] कृषि-योग्य भूमि के अनुपात में देश में जनाधिक्य की मात्रा का पता लगाने के विभिन्न प्रयास किये गये हैं। प्रति-व्यक्ति २·५ एकड़ कृषि योग्य भूमि एक व्यक्ति के स्वास्थ्य एवं कार्य-क्षमता को बनाये रखने के लिए न्यूनतम मानी गयी है।[2] पर इन बातों को भारत के अधिकांश भागों में दो फसलें उपजायी जाती हैं तथा पश्चिम के ठण्डे देशों की तुलना में यहाँ खाद्यान्न की आवश्यकता कम होती है को ध्यान में रखते हुए यह कहा जा सकता है कि भारत में पाँच व्यक्तियों के एक औसत परिवार के लिए पाँच एकड़ भूमि न्यूनतम ढंग से आवश्यक है। इस प्रकार प्रति-व्यक्ति एक एकड़ कृषि-योग्य भूमि के आधार पर निम्नलिखित तालिका से[3] १९३१ ई० में जनाधिक्य की समस्या का अन्दाजा लगता है :—

राज्य	जन संख्या (लाख में)	कृषि भूमि का क्षेत्र (दस लाख एकड़ में)	प्रति-व्यक्ति कृषित भूमि का क्षेत्र (एकड़ में)	जनाधिक्य
बंगाल	५०१	२३	०·४७	२·१
बिहार और उड़ीसा	३७६	२४	०·६३	१·५८
उत्तर प्रदेश	४८४	३६	०·७४	१·६५
मद्रास	४६७	३४	१·७४	१·३५
पंजाब	६३५	२६	१·१२	०·८९
मध्य प्रदेश	१५५	४५	१·५८	०·६३
बम्बई	२१९	३३	१·६१	०·६२

पिछले २० वर्षों में इन राज्यों की जनसंख्या और भी तेजी के साथ बढ़ी है। साथ ही, देश-विभाजन के फलस्वरूप कृषित भूमि की तुलना में भारत को बहुत अधिक जनसंख्या मिली है। इन तथ्यों से इस समस्या की गम्भीरता और भी स्पष्ट हो जाती है।

(२) **खाद्यान्न का अभाव** (Shortage of Foodgrains) :—देश की प्रायः ७० प्रतिशत जनसंख्या कृषि पर आश्रित है, फिर भी देश को कृषि से यहाँ के निवासियों के लिए पर्याप्त मात्रा में अन्न नहीं प्राप्त होता। इससे देश में खाद्यान्न का अभाव हो जाता है जिसे दूर करने के लिए प्रतिवर्ष करोड़ों रुपये का अन्न विदेशों से आयात करना पड़ता है। बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ से ही जनसंख्या में खाद्यान्न की अपेक्षा अधिक तेजी से वृद्धि होने लगी। श्री पी० के० वत्तल के अनुसार १९१३-१४ से.१९३४-३५ के बीच जनसंख्या में प्रायः प्रतिवर्ष औसत रूप से १ प्रतिशत की वृद्धि हुई, किन्तु खाद्यान्नों के उत्पादन में केवल ० ६५ प्रतिशत की ही वृद्धि हुई। इसी प्रकार डॉ० ज्ञानचन्द के अनुसार १९० ई० से १९३४ के बीच देश की जनसंख्या में २१ प्रतिशत की वृद्धि हुई थी जबकि कृषि को जानेवाली भूमि के क्षेत्र में केवल ११ प्रतिशत की ही वृद्धि

1. The Eastern Economist, Annual Number, 1970.
2. Proceedings of the World Population Conference—Food and Population—P. 81.
3. Food Planning for 400 Millions By R. K. Mukherjee. P. 21.

हुई। इन अनुमानों मे यही स्पस्ट है कि देश में जनसंख्या की वृद्धि तथा खाद्य के उत्पादन में असंतुलन निरन्तर बढ़ते जा रहा है।

देश-विभाजन के बाद तो यहाँ खाद्यान्न का अभाव और भी बढ़ गया है। आज भी देश के अधिकांश व्यक्तियों को भर पेट भोजन नहीं मिलता। हमारे देश में केवल अन्न की ही कमी नहीं वरन् हमारे भोजन में पोषक तत्वों का भी अभाव है। देश में प्रायः ६५ प्रतिशत व्यक्तियों को संतुलित भोजन (Balanced diet) नहीं मिलता। १६४० में सर जॉन मेगा ने यह अनुमान लगाया था कि भारत में केवल ३६ प्रतिशत व्यक्तियों को पोषक-तत्त्व युक्त भोजन, ४१ प्रतिशत को कम पोषक-तत्त्व युक्त भोजन तथा २० प्रतिशत को अत्यन्त कम पोषक-तत्त्व युक्त भोजन मिलता है। इससे भी यह स्पष्ट होता है कि भारत में जनाधिक्य की स्थिति वर्तमान है।

(३) उद्योग-धन्धों का अविकसित होना (Lack of Industrial Development) :—भारत औद्योगिक दृष्टि से एक पिछड़ा राष्ट्र है। स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद देश में उधोग-धन्धों के विकास पर अधिक जोर अवश्य दिया जा रहा है किन्तु औद्योगिक क्षेत्र में भी उत्पादन वृद्धि अत्यधिक महत्वपूर्ण नहीं हो रही है। देश में उद्योग-धंधो का विकास इतनी तीव्र गति से नहीं हुआ है जिससे बढ़ती हुई जनसंख्या की आवश्यकताओं की पूर्ति हो सके। देश में उद्योग-धंधों के पिछड़ेपन का अन्दाजा इसी बात से लगाया जा सकता है कि १९६४-६५ ई० में खनिज, लघु-उद्योग तथा कारखानों से देश की कुल राष्ट्रीय आय का केवल १८ प्रतिशत भाग ही प्राप्त हुआ था जबकि कृषि का हिस्सा ५१·६ प्रतिशत भाग था। साथ ही, कारखानों में उस वर्ष केवल ४६·९० लाख व्यक्ति ही कार्य करते थे जो देश की सम्पूर्ण कार्य करने वाले जनसंख्या का बहुत ही छोटा भाग था। उद्योग-धंधों के अविकसित होने के कारण ही हमारे देश में कृषि पर जनसंख्या की निर्भरता बढ़ती जा रही है, भूमि-हीन मजदूरों की संख्या में बृद्धि हुई है तथा बेकारी में भी बहुत अधिक वृद्धि हुई है।

(४) प्रतिबन्धक निरोधों का अभाव (Lack of Preventive Checks):—देश में जनाधिक्य की स्थिति वर्तमान है, इसका सबसे बड़ा सबूत यह है कि यहाँ पर जनसंख्या के नियंत्रण में प्रतिबन्धक निरोध काम में नहीं लाये जाते हैं। प्रतिबन्धक निरोधों (Preventive checks) के अन्तर्गत देर से व्याह करना, अविवाहित जीवन व्यतीत करना, ब्रह्मचर्य पालन करना, आत्मसंयम तथा संतति-निरोध के कृत्रिम साधनों (Artificial methods of birth-control) का प्रयोग इत्यादि आते हैं। भारत में इन सारे उपायों का अभाव है। यहाँ पर शादी करना तथा बच्चा पैदा करना प्रत्येक व्यक्ति अपना परम कर्त्तव्य समझता है। साथ ही, हमारे देश में आज भी बाल-विवाह की प्रधानता है। इंगलैंड तथा अमेरिका में ३० वर्ष की अविवाहित औरतें क्रमशः ४१ प्रतिशत और २३ प्रतिशत हैं, जबकि भारत में १५ वर्ष की प्रायः ७५ प्रतिशत लड़कियाँ विवाहित हैं। इससे स्पष्ट है कि हमारे देश में प्रजनन शक्ति का पूरा-पूरा उपयोग होता है। साथ ही, हमारे देश में देशवासियों की अशिक्षा, निर्धनता तथा धार्मिक एवं सामाजिक वातावरण के कारण संतति-निरोध के कृत्रिम साधनों का भी बहुत ही कम प्रयोग होता है। ये सभी इस तथ्य के परिचायक हैं कि देश में जनाधिक्य की स्थिति वर्तमान है।

(५) नैसर्गिक निरोधों की प्रधानता (Preponderance of Positive checks) :—भारत में प्रतिबन्धक निरोधों का अभाव है, किन्तु यहाँ पर नैसर्गिक निरोध की प्रधानता है। माल्थस के अनुसार बाढ़, अकाल, महामारी इत्यादि नैसर्गिक निरोधों जनाधिक्य की स्थिति के सूचक हैं। भारत में वर्तमान समय में भी इन प्राकृतिक आपत्तियों की प्रधानता है। प्रतिवर्ष देश के भिन्न-भिन्न भागों में बाढ़ तथा सूखा से बहुत अधिक क्षति होती है तथा हजारों व्यक्तियों की मृत्यु होती है। देश में हैजा, चेचक तथा इन्फ्लुएंजा आदि महामारियों का प्रकोप यदा-कदा पाया

जाता है जिनके परिणामस्वरूप हजारों व्यक्तियों की मृत्यु होती है। अतएव इस आधार पर भी यह कहा जाता है कि भारत में जनाधिक्य की स्थिति वर्तमान है।

(६) **निम्न जीवन-स्तर** (Low Standard of Living) :—भारतवासियों का निम्न जीवन-स्तर भी इस बात का परिचायक है कि देश में जनाधिक्य की स्थिति वर्तमान है। हमारे देश में १९६९ में प्रति-व्यक्ति औसत वार्षिक आय ११० डॉलर थी, जब की उसी वर्ष संयुक्त राज्य अमेरिका के एक औसत निवासी को प्रति-व्यक्ति औरत वार्षिक आय ४२४० डॉलर कैनाडा की २६५० डॉलर तथा स्वीट्ज़रलैंड की २७०० डॉलर थी। इससे स्पष्ट है कि एक औसत भारतवासी की अपेक्षा संयुक्त राज्य अमेरिका के निवासी की औसत आय ४१ गुना से भी अधिक है। इससे भारतवासियों के निम्न जीवन स्तर का अन्दाजा लगता है। हमारा यह निम्न जीवन-स्तर देश में जनाधिक्य की स्थिति का सबसे बड़ा परिचायक है।

(७) **बेकारी की समस्या** (Problem of unemployment) :—भारत में जनाधिक्य की स्थिति का सर्वाधिक प्रमुख सूचक देश में बेकारी की भीषण समस्या है। देश में लाखों व्यक्ति काम चाहते हुए भी बेकार हैं। तीन पंचवर्षीय योजनाओं और तीन-एक वर्षीय योजनाओं के कार्यान्वयन के बावजूद बेरोजगारों की संख्या दिन-प्रतिदिन बढ़ती ही जा रही है। देश में काम-दिलाऊ संस्थाओं (Employment Exchanges) द्वारा उपलब्ध आंकड़ों से यह पता चलता है कि बेकारों की समस्या निरन्तर बढ़ती ही चली जा रही है। योजना आयोग के अनुसार प्रथम पंच-वर्षीय योजना के अन्त में देश में ३२ लाख व्यक्ति बेकार थे। द्वितीय योजनाकाल में ८० लाख व्यक्तियों के लिए रोजगार दिलाने की व्यवस्था थी, किन्तु योजना का यह लक्ष्य पूरा नहीं हो सका तथा योजनाकाल में बेरोजगार व्यक्तियों की संख्या में और वृद्धि ही हुई। तृतीय पंचवर्षीय योजना में भी कृषि के अतिरिक्त अन्य क्षेत्रों में १०५ लाख तथा कृषि में ३५ लाख व्यक्तियों के लिए रोजगार दिलाने की व्यवस्था थी। किन्तु तृतीय योजना काल में इतने अधिक व्यक्तियों के लिए रोजगार की सुविधा नहीं प्रदान की जा सकी तथा बेरोजगारों की संख्या में और भी वृद्धि हुई। इससे बेकारी की समस्या की गम्भीरता का अन्दाजा लगता है। यह देश में जनाधिक्य की स्थिति का प्रधान सूचक है।

इससे स्पष्ट है कि हमारे देश में जनाधिक्य की स्थिति वर्तमान है। दूसरे शब्दों में, कृषि एवं औद्योगिक उत्पादन की क्षमता से जितनी जनसंख्या का निर्वाह हो सकता है उससे अधिक मनुष्य यहाँ निवास करते हैं, यानी यहाँ जनाधिक्य की स्थिति वर्तमान है। श्री ए० एम० कॉरसौण्डर्स ने भारत में जनसंख्या-सम्बन्धी विभिन्न तथ्यों को ध्यान में रखते हुए अपनी पुस्तक "वर्ल्ड पोपुलेशन" में लिखा है कि यहाँ जीवन-निर्वाह के साधनों पर जनसंख्या का अधिकतम भार है। कुछ वर्ष पूर्व सर जॉन मेगा ने भी इस बात की चेतावनी दी थी कि भारत की अत्यधिक निर्धनता का प्रमुख कारण जनसंख्या की अत्यधिक वृद्धि है। यदि देश की जनसंख्या इसी गति से बढ़ती रही तो भविष्य में इसके कारण बहुत बड़ा संकट उपस्थित हो सकता है। डा० ज्ञानचन्द, डा० राधाकमल मुखर्जी तथा प्रो० वत्तल आदि अर्थशास्त्रियों के अनुसार भी देश में निश्चय ही जनाधिक्य है। भारत के भूतपूर्व जनगणना आयुक्त (Census Commissioner) श्री गोपालस्वामी आयंगर ने बढ़ती हुई जनसंख्या के दबाव के कारण १९८१ ई० को मृत्यु वर्ष (Death year) कहा था क्योंकि उस समय तक हमारी जनसंख्या इतनी अधिक हो जायगी कि हम इसका पालन-पोषण करने में असमर्थ हो जायँगे।

द्वितीय विचार : भारतवर्ष में जनाधिक्य नहीं है
(India is not Over-populated)

इसके विपरीत कुछ लोगों का कहना है कि भारत में जनाधिक्य की समस्या नहीं है। उदाहरण के लिए, १९३१ ई० के जनगणना आयुक्त डा० हट्टन के अनुसार भारत की जनसंख्या

द्वारा अभी तक देश के साधनों का अतिक्रमण नहीं हुआ है। डॉ० पी० जे० थामस तथा श्री कर्वे के अनुसार भी भारत में जनसंख्या की तुलना में प्रति व्यक्ति आय में तीव्र गति से वृद्धि हो रही है। श्री कर्वे ने हमारा ध्यान देश में घटती हुई शिशु-मृत्यु की दर, सामान्यतया स्थायी या घटती हुई जन्म-दर, निश्चित रूप से घटती हुई मृत्यु-दर एवं जीवन की औसत आयु की वृद्धि की ओर आकर्षित किया है और इस आधार पर यह निष्कर्ष निकालने का प्रयास किया है कि देश में जनसंख्या की स्थिति में धीरे-धीरे सुधार हो रहा है।

भारत में जनाधिक्य के विरुद्ध सामान्यतया निम्नलिखित तर्क प्रस्तुत किये जाते हैं जो वास्तव में यथार्थ नहीं जान पड़ते :—

(१) जनसंख्या का घनत्व अपेक्षाकृत कम है (Comparatively less density of population) :— जनाधिक्य के विरुद्ध सर्वप्रथम तर्क यह दिया जाता है कि भारत में पाश्चात्य देशों की तुलना में जनसंख्या का घनत्व बहुत कम है। १९३१ ई० के जनगणना-आयुक्त डा० हट्टन का कहना है कि यूरोप की तुलना में कृषि पर आश्रित जनसंख्या का घनत्व भारत में अधिक हो सकता है क्योंकि यहाँ कि भूमि अति उर्वर है। साथ ही, गर्म जलवायु के कारण यहाँ के निवासियों की आवश्यकताएँ भी कम हैं। जनसंख्या के घनत्व की चर्चा करते समय हमने देखा था कि वास्तव में भारत की जनसंख्या का घनत्व इंगलैंड, फ्रांस, बेलजियम तथा जापान आदि देशों की तुलना में कम है। किन्तु ये सभी देश औद्योगिक देश हैं। अतः, ये सामान्यतः अधिक व्यक्तियों को आश्रय प्रदान कर सकते हैं। भारत एक कृषि-प्रधान देश है; अतएव इसके घनत्व की तुलना कृषि-प्रधान देशों के साथ ही की जानी चाहिए। एक कृषि-प्रधान देश सामान्यतया कम ही जनसंख्या को आश्रय प्रदान कर सकती है। अतः, पाश्चात्य औद्योगिक देशों की तुलना में कम घनत्व के कारण यहाँ जनाधिक्य का अभाव नहीं कहा जा सकता।

(२) प्रति-व्यक्ति औसत आय क्रमशः बढ़ रही है (Average Per capita income is increasing) :—जनाधिक्य के विरुद्ध दूसरा तर्क यह दिया जाता है कि भारत की प्रति-व्यक्ति औसत आय क्रमशः बढ़ रही है जो जनाधिक्य की स्थिति में सम्भव नहीं है। इस कथन की पुष्टि के लिए समय-समय पर प्रति-व्यक्ति औसत आय के सम्बन्ध में दिये गये अनुमानों को बतलाया जाता है। इस प्रकार दादा भाई नौरोजी के अनुसार भारत की प्रति व्यक्ति औसत आय १८७१ ई० में अनुमानतः २० रुपये प्रति वर्ष थी, लार्ड कर्जन के अनुसार, १९०० ई० में ३३ रुपये, डा० राव के अनुसार १९२१ ई० में ६५ रुपये तथा राष्ट्रीय आय समिति के अनुमान के अनुसार १९५०-५१ ई० में भारत की प्रति-व्यक्ति आय २५६ रुपये थी जो १९५५-५६ ई० में बढ़कर २८१ रु० हो गयी। इस प्रकार देश में प्रति-व्यक्ति औसत आय में वृद्धि के फलस्वरूप यह कहा जा सकता है कि यहाँ जनाधिक्य की स्थिति नहीं है। किन्तु, इस सम्बन्ध में ध्यान देने योग्य बात यह है कि देश में मुद्रा-प्रसार के कारण केवल मौद्रिक आय में ही वृद्धि हुई है, वास्तविक आय में इस अवधि में प्रायः कोई परिवर्तन नहीं हुआ है। वास्तव में, देश की आर्थिक परिस्थितियों में कोई भी ऐसा स्पष्ट एवं दृष्टि-गोचर सुधार नहीं हुआ है जिससे यह कहा जा सके कि हमारी आर्थिक समृद्धि में वृद्धि हुई है। अतः इस तर्क के आधार पर भी यह नहीं कहा जा सकता कि भारत में जनाधिक्य की स्थिति नहीं है।

(३) जनसंख्या में वृद्धि की दर अधिक नहीं है (Rate of Increase in Population is not much) :— जनाधिक्य के विरुद्ध तीसरा तर्क यह दिया जाता है कि पश्चिमी देशों की तुलना में भारत की जनसंख्या अपेक्षाकृत कम दर से बढ़ रही है। उदाहरण के लिए १८८१ ई० से १९३० ई० के बीच ५० वर्षों में भारत की जनसंख्या में केवल ३९ प्रतिशत की ही वृद्धि हुई थी जबकि उसी समय में इंगलैंड की जनसंख्या में ५४ प्रतिशत तथा संयुक्त राज्य अमेरिका की जनसंख्या में १८६ प्रतिशत की वृद्धि हुई थी। परन्तु केवल अल्प वृद्धि के आधार पर ही यह नहीं कहा जा सकता कि भारत में जनाधिक्य नहीं है। इसके लिए हमें कम से-कम यह देखना होगा कि

धनोत्पत्ति में कम-से-कम जनसंख्या के अनुपात में वृद्धि होती है या नहीं। पश्चिमी देशों में जनसंख्या की वृद्धि की गति निस्सन्देह अधिक रही है। किन्तु, उनका विकास भी इतनी तीव्रता के साथ हुआ है कि वास्तव में लोगों के जीवन-स्तर में पर्याप्त वृद्धि हुई है। भारत के साथ ऐसी बात नहीं पायी जाती है। साथ ही, भारत में जनसंख्या की वृद्धि को नियन्त्रित करने में प्राकृतिक अवरोधकों की ही प्रधानता रही है। अतः, जनाधिक्य के विरुद्ध यह तर्क भी सबल नहीं जान पड़ता।

(४) श्रम का अभाव (Shortage of Labour) :—भारत में जनाधिक्य के विरुद्ध एक तर्क यह भी दिया जाता है कि यहाँ श्रम का अभाव है। किन्तु यह तर्क भी वास्तव में तथ्य-हीन जान पड़ता है क्योंकि भारत में श्रम के अभाव को कौन कहे, वास्तव में यहाँ बेकारी तथा अर्द्ध-बेकारी बहुत ही अधिक है। कुछ विशेष अवसरों पर, जैसे फसल बोने तथा काटने के समय श्रम का अभाव अवश्य महसूस होता है। परन्तु वर्ष के शेष भाग में श्रमिक अधिकांशतः बेकार ही रहते हैं। कृषि-आयोग की राय में भी असम के अतिरिक्त अन्य राज्यों में श्रम का अभाव नहीं है। उद्योग-धन्धों में देश के बहुत कम ही व्यक्तियों को रोजी मिल पाती है। यह जनाधिक्य की स्थिति का परिचायक है। देश में शिक्षित एवं विशेषज्ञ श्रमिकों का अभाव अवश्य है, किन्तु इससे यह नहीं कहा जा सकता कि भारत में श्रम का सामान्य रूप से अभाव है।

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि भारत में जनाधिक्य के विरुद्ध दिये जाने वाले प्रायः सभी तर्क तथ्यहीन हैं। अतः यह निर्विवाद है कि वर्तमान परिस्थितियों में यहाँ जनाधिक्य की स्थिति वर्तमान है।

निष्कर्ष (Conclusion) :—भारतवर्ष के जनसंख्या-सम्बन्धी विभिन्न तथ्यों के अध्ययन के उपरान्त हम इस निष्कर्ष पर आते हैं कि भारत में निश्चित रूप से जनाधिक्य की स्थिति वर्तमान है। जनाधिक्य की समस्या हमारे आर्थिक जीवन के प्रत्येक पहलू को प्रभावित करती है। अतः देश के सामाजिक, आर्थिक तथा राजनीतिक पुनर्निर्माण की किसी भी योजना में जनाधिक्य की समस्या को महत्त्वपूर्ण स्थान देना अनिवार्य है। वास्तव में, देश के आर्थिक पुनर्निर्माण में हमारी वर्तमान जनसंख्या बहुत बड़ी रुकावट सिद्ध हो रही है। अतः, वर्तमान जनसंख्या में कमी अथवा कम-से-कम भविष्य की वृद्धि में रुकावट निश्चित रूप से अनिवार्य है। इससे हमारा तात्पर्य यह नहीं की हमारा उद्देश्य पश्चिमी देशों के कृत्रिम जीवन-स्तर की नकल करना है। सादगी का जीवन एक अच्छा आदर्श है तथा इसके विरुद्ध हम कुछ नहीं कह सकते। किन्तु भारत की सादगी कुछ और प्रकार की है। हमारे देश के अधिकांश निवासियों की स्थिति इतनी दारुण है कि वे अपने जीवन की न्यूनतम आवश्यकताओं की पूर्ति में भी बहुधा असमर्थ रहते हैं। यहाँ के अधिकांश व्यक्ति अर्द्ध-भूखे, अर्द्ध-नंगे, बीमार, अशिक्षित तथा अकुशल हैं। कम-से-कम दो-तिहाई व्यक्तियों को पर्याप्त भोजन नहीं मिल पाता। हमारे यहाँ प्रति-व्यक्ति उपलब्ध खाद्यान्न की मात्रा संयुक्त राज्य अमेरिका के एक-तिहाई भाग से भी कम है। अतः ऐसी स्थिति में 'सादा जीवन तथा उच्च विचार' (Plain living and high thinking),[1] जो प्रारम्भ से ही भारतीय सभ्यता का आधार रहा है, को भी जीवन का अन्तिम आदर्श मानने पर हमें इस निष्कर्ष पर पहुँचने के लिए बाध्य होना पड़ता है कि वर्तमान परिस्थितियों में हमारी जनसंख्या का आकार आवश्यक जनसंख्या के आकार का कम-से-कम दुगुना है।

जनाधिक्य के निराकरण के उपाय

(Measures to remove Over-population)

इस प्रकार भारत में निश्चित रूप से जनाधिक्य है। वास्तव में, जनसंख्या के सम्बन्ध में भारत की स्थिति बड़ी ही संकटपूर्ण है। डॉ० जुलियन हक्सले (Julian Huxley) ने इस सम्बन्ध में ठीक ही कहा है कि यदि भारत अपनी जनसंख्या की समस्या के समाधान में विफल

1. 'It is rediculous to have poverty as a national ideal.'

रहा तो इससे एक बड़ी भारी राजनीतिक एवं सामाजिक अव्यवस्था उत्पन्न हो जायगी तथा यदि सफल हुआ तो उसे केवल एशिया का ही नेतृत्व प्राप्त नहीं होगा वरन् सम्पूर्ण विश्व की आशा का केन्द्र बन जायगा। आर्थिक तथा सामाजिक दृष्टि से भारत के लिए मृत्यु-दर के नियंत्रण के साथ-ही-साथ जन्म-दर का संतुलन भी अनिवार्य है। साथ ही, देश के भावी आर्थिक नियोजन में उन साधनों को प्राथमिकता देना भी अनिवार्य है जिससे कि देश में पुनरुत्पादन की दर को घटाया जा सके अन्यथा देश आर्थिक विकास की दौड़ में पीछे पड़ जायगा। सारांश यह है कि जनाधिक्य की इस समस्या के समाधान के बगैर देश के आर्थिक विकास की कोई भी योजना सफल नहीं हो सकती।

इस समस्या के समाधान के लिए सामान्यतः निम्नलिखित सुझाव प्रस्तुत किये जाते हैं :—

(१) **प्रवास** (Emigration) :—पश्चिमी देशों में प्रवास के द्वारा जनसंख्या के भार को कम करने में पर्याप्त सफलता मिली है। भारत में भी यहाँ के निवासियों को विदेशों में बसने के लिए प्रोत्साहित किया जा सकता है जिससे जनाधिक्य की स्थिति में सुधार की आशा की जा सकती है। परन्तु अन्तर्राष्ट्रीय प्रवास हमारे वश के बाहर की बात है। साथ ही, हाल की घटनाओं से इस बात की पुष्टि होती है कि विदेशों में बहुत बड़ी संख्या में देशवासियों को बसाने की कोई सम्भावना नहीं है। आजकल, प्रायः ४० लाख भारतीय विदेशों में रहते हैं जिनमें से ७५ प्रतिशत लोग लंका, मलाया तथा बर्मा में हैं। किन्तु इन देशों में भारतवासियों की स्थिति सन्तोषजनक नहीं है। लंका, मलाया तथा बर्मा में द्वितीय युद्ध के पूर्व तथा बाद की घटनाओं से यह स्पष्ट हो जाता है कि भारतवासियों को इन देशों में बसाने के लिए प्रोत्साहित नहीं किया जा सकता। दक्षिणी अफ्रिका तथा आस्ट्रेलिया का इस सम्बन्ध की नीति ने तो इस बात को और भी स्पष्ट बना दिया है कि भारतवासियों को अपनी उन्नति के लिए स्वयं अपने देश पर ही निर्भर रहना पड़ेगा। इन देशों में भारतवासियों के विरुद्ध कानून बनाये गये हैं जिससे इनका प्रवास सम्भव नहीं जान पड़ता। अतः हमारे देश में जनाधिक्य की समस्या का समाधान प्रवास के द्वारा नहीं किया जा सकता। डा० राधा कमल मुखर्जी तथा चन्द्रशेखर ने संसार के वीरान स्थलों में भारतवासियों को ले जाकर बसाने का सुझाव दिया है, पर यह भी सम्भव नहीं जान पड़ता।

देश के अन्दर भी विभिन्न राज्यों में अन्तर्प्रदेशीय गमन के द्वारा जनसंख्या से वितरण को अधिक समान बनाया जा सकता है। आज भी असम जैसे छितरे बसे हुए राज्यों में जनसंख्या के विस्तार के लिए पर्याप्त स्थान है। परन्तु, ऐसा करने पर भी देश के घने आबाद क्षेत्रों की जनसंख्या का एक बहुत छोटा हिस्सा ही स्थानान्तरित किया जा सकता है। साथ ही, घर तथा परिचित परिस्थितियों के प्रति स्वाभाविक प्रेम (Home-sickness), रूढ़िवादिता तथा देशवासियों की असाहसी प्रकृति से इस उपचार की सीमा और भी स्पष्ट हो जाती है। इतना ही नहीं, विभिन्न राज्यों में भाषा, विचार, रहन-सहन तथा जलवायु में विभिन्नता के कारण भी लोगों को एक स्थान से दूसरे स्थान में ले जाने की आशा नहीं की जा सकती। साथ ही, देश-विभाजन के फलस्वरूप विस्थापितों की संख्या बहुत बढ़ गयी है जिनके पुनर्वास की समस्या हमारे समक्ष है। अतः इन सारी कठिनाइयों के कारण अन्तर्देशीय गमन द्वारा जनाधिक्य के भार को कम करने की भी बहुत कम सम्भावना है।

(२) **उत्पादन में वृद्धि** (Increase in Production) :—प्राय: ऐसा कहा जाता है कि कृषि एवं उद्योग-धन्धों के आयोजित विकास द्वारा राष्ट्रीय आय में समुचित वृद्धि कर जनाधिक्य की समस्या का निराकरण किया जा सकता है। यह जनाधिक्य की समस्या का एक अप्रत्यक्ष किन्तु शक्तिशाली उपचार है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि प्रारम्भ में आय की वृद्धि से जनसंख्या की वृद्धि को प्रोत्साहन मिलता है, किन्तु इसके फलस्वरूप धीरे-धीरे जीवन-स्तर ऊँचा होने लगता है और जीवन-स्तर ऊँचा होने से जनसंख्या के स्वेच्छिक नियंत्रण की इच्छा एवं क्षमता बढ़ती जाती है। यूरोपीय देशों में ऐसा अनुभव हुआ है कि जीवन-स्तर ऊँचा होने से कुछ ऐसी भौतिक तथा मनोवैज्ञानिक शक्तियाँ स्वयं व्याप्त हो जाती हैं जो जनसंख्या में वृद्धि की प्रवृत्ति को कम करने में सहायक होती हैं। भारत में देशवासियों की आर्थिक स्थिति में सुधार हो जाने से वे सन्तानोत्पत्ति में दूरदर्शिता से काम लेने लगेंगे। इस प्रकार आर्थिक विकास जनाधिक्य की समस्या का सबसे अधिक प्रभावोत्पादक एवं आशाजनक उपचार समझा जाता है। परन्तु, इसके लिए एक सुनिश्चित योजना के आधार पर कृषि एवं उद्योग-धन्धों के विकास की नीति अपनानी पड़ेगी।

भारत में खाद्यान्न का अभाव बहुत अधिक है जिसे दूर करने के लिए कृषि के विकास पर पर्याप्त जोर देना अनिवार्य है। कृषि-विकास के सम्बन्ध में हमारा लक्ष्य यह होना चाहिये कि उत्पादन में इस प्रकार से वृद्धि हो जिससे कि बढ़ती हुई जनसंख्या की आवश्यकताएँ सुगमतापूर्वक पूरी की जा सकें। सिंचाई, खाद एवं उत्तम बीज की व्यवस्था, बंजर भूमि के उद्धार तथा सहकारिता के विकास द्वारा कृषि-उत्पादन में वृद्धि की जा सकती है। किन्तु, इन सब उपायों से कृषि में स्थायी सुधार की आशा नहीं की जा सकती। जब तक जोतों के उपविभाजन एवं अपखण्डन तथा ग्रामीण कर्ज जैसी भारतीय कृषि की मौलिक समस्याओं का निराकरण नहीं किया जायगा, तब तक कृषि के क्षेत्र में कोई आमूल परिवर्तन की आशा नहीं की जा सकती।

किन्तु केवल कृषि में विकास द्वारा ही राष्ट्रीय आय में पर्याप्त वृद्धि की आशा नहीं की जा सकती। इसके लिए तीव्र गति से उद्योग-धन्धों के विकास की भी बड़ी आवश्यकता है, या यों कहा जा सकता है कि देश में संतुलित आर्थिक व्यवस्था के निर्माण के लिए कृषि एवं उद्योग दोनों का विकास अपेक्षित है। हमारे देश में उद्योग-धन्धों के क्षेत्र में विकास की अत्यधिक सम्भावनाएँ हैं। इसके लिए आधारभूत एवं मूल उद्योगों के विकास पर अधिक जोर देना होगा जिससे औद्योगिक विकास की नींव सुदृढ़ की जा सके। साथ ही, उद्योग-धन्धों एवं खनिज-सम्बन्धी अनुसन्धान को भी प्रोत्साहित करना होगा तथा श्रमिकों की स्थिति में सुधार की आवश्यकता पड़ेगी। किन्तु इस सम्बन्ध में यह जानने योग्य बात है कि भारत जैसे विशाल देश में जहाँ पूँजी की अपेक्षा श्रम की ही प्रधानता है केवल वृहत् पैमाने के उद्योग-धन्धों के विकास द्वारा ही जनाधिक्य की समस्या का समाधान सम्भव नहीं। अत: लघु एवं कुटीर उद्योगों के विकास पर पर्याप्त जोर देना चाहिये।

इस प्रकार देश में कृषि के पुनरुत्थान तथा औद्योगीकरण द्वारा जनाधिक्य की समस्या का समाधान किया जा सकता है। किन्तु उत्पादन में वृद्धि के साथ-साथ समाज में धन एवं आय के वितरण की विषमता को भी यथासम्भव दूर करने का प्रयास करना होगा। उत्पादन के साथ-साथ वितरण पर भी पर्याप्त ध्यान देना चाहिए नहीं तो देशवासियों का एक बहुत बड़ा भाग बढ़े हुए उत्पादन के लाभ से प्राय: वंचित रह जायगा। इस प्रकार उत्पादन में वृद्धि एवं वितरण में आवश्यक सुधार द्वारा जनाधिक्य की समस्या का निराकरण किया जा सकता है।

(३) **शिक्षा का प्रचार** (Spread of Education) :—किसी देश की आर्थिक क्षमता को पूर्णतया विकसित करने के लिए सामान्य तथा विशेष दोनों प्रकार की शिक्षाओं का बहुत अधिक महत्त्व है। भारत में दोनों प्रकार की शिक्षाओं का अभाव है। फलस्वरूप

यहाँ की अधिकांश जनता अशिक्षित है। औरतों में तो शिक्षा का और भी अभाव है जिससे कोई भी आन्दोलन यहाँ लोकप्रिय नहीं बन पाता। अशिक्षित होने के कारण लोग परिवार नियोजन (Family Planning) तथा संतति-नियमन (Birth Control) के महत्त्व को नहीं समझ पाते। शिक्षा के विकास द्वारा इस आन्दोलन को अधिक लोकप्रिय बनाया जा सकता है। आज पश्चिमी देशों में प्रत्येक दम्पत्ति के समक्ष 'बच्चा अथवा कार' (whether a baby or a car) का प्रश्न अति स्वाभाविक रूप से आता है जिसमें साधारणत: कार को ही प्राथमिकता मिलती है। इससे स्पष्ट है कि शिक्षा के क्रमिक विकास द्वारा सन्तानोत्पत्ति की प्रवृत्ति कम हो जाती है तथा पारिवारिक नियोजन को बल मिलता है। नेशनल सैम्पुल सर्वे के एक अध्ययन से स्पष्ट हुआ है कि इंटरमीडियट तथा अधिक पढ़ी औरतों को औसत रूप से २.६ बच्चे, मैट्रिक तक पढ़ी औरतों को औसतन ४.२ बच्चे, मिडिल तक पढ़ी औरतों को ४.५ बच्चे तथा अशिक्षित औरतों को औसतन ६ बच्चे होते हैं। इससे जनसंख्या के नियन्त्रण में शिक्षा का महत्त्व बिल्कुल स्पष्ट हो जाता है। अत:, देश में शिक्षा का प्रचार आवश्यक है। इसके लिए शिक्षा की साधारण योजनाओं के साथ-साथ प्रौढ़ शिक्षा के लिए भी एक व्यापक योजना बनायी जानी चाहिए। इस दिशा में भारत सरकार से बहुत कुछ आशा की जाती है।

(४) परिवार नियोजन
(Family Planning)

जनाधिक्य की समस्या के समाधान के लिए परिवार नियोजन एक महत्त्वपूर्ण उपचार है। परिवार नियोजन (Family Planning) का अर्थ है स्वेच्छापूर्वक अपने परिवार के आकार को सीमित बनाना। आजकल इस बात पर जोर दिया जाता है कि प्रत्येक व्यक्ति को अपने साधनों के अनुसार ही अपने परिवार को सीमित रखना चाहिए, ताकि उसकी सन्तान को जीवन में उन्नति का पर्याप्त अवसर मिल सके। यह तभी सम्भव हो सकता है जब लोगों में इस बात की धारणा स्थान ग्रहण कर ले कि उनका परिवार सीमित रहे, अर्थात् वे सभी अपने रहन-सहन के स्तर को ऊपर उठाने का प्रयत्न करें तथा अपनी सन्तान के प्रति अपने उत्तरदायित्व को भली-भाँति समझें। अधिक सन्तान होने से परिवार का समुचित विकास नहीं हो पाता तथा रहन-सहन का सामान्य स्तर भी नीचा होते जाता है। पश्चिम के प्रगतिशील राष्ट्रों में लोगों के बीच आज यह आम धारणा काम कर रही है जिसके फलस्वरूप पिछले ५०-६० वर्षों से उन देशों में जन्म-दर में बहुत कमी हुई है। इन देशों में सन्तानोत्पत्ति में प्रत्येक दम्पत्ति के सामने 'बच्चे' अथवा 'कार' का प्रश्न रहता है और 'कार' ही के पक्ष में प्राय: अधिकांश निर्णय होते हैं। दूसरे शब्दों में '**परिवार नियोजन का आशय है कि इच्छा से सोच-समझकर संतान हो, अदूरदर्शिता अथवा चूक से नहीं।**' (Child by choice, not by chance; by design not by accident, is the motto of family planning.) किन्तु कभी-कभी परिवार नियोजन के उद्देश्य से सावधानी और दूरदर्शिता बहुत आगे तक बढ़ जाती है जिससे कठिनाइयों की आशंका होने लगती है।[1] परन्तु भारत के सम्बन्ध में यह भय निरर्थक ही जान पड़ता है। इस प्रकार जनाधिक्य की समस्या के समाधान के लिए परिवार नियोजन की बड़ी आवश्यकता है।

१—जैसा कि फ्रांस में हुआ था। मार्शल पेता के अनुसार १९४० में फ्रांस की हार का प्रमुख कारण बच्चों का कम होना था जिससे देश में सिपाहियों की कमी हो गयी थी। आज भी, फ्रांस इसका सबसे बड़ा उदाहरण है। यहाँ परिवार को बढ़ाने के लिए स्वयं सरकार द्वारा प्रयत्न किये जाते हैं।

पाश्चात्य देशों में परिवार-नियोजन पर पर्याप्त जोर दिया जाता है, किन्तु हमारे देश में किंचित् शिक्षित व्यक्तियों को छोड़कर, सामाजिक जीवन में परिवार-नियोजन को अभी उतना महत्त्वपूर्ण स्थान नहीं मिल पाया है। भारत में धार्मिक एवं सामाजिक प्रथाओं के फलस्वरूप प्रत्येक हिन्दू विवाह करना तथा बच्चा पैदा करना अपना परम धर्म समझता है। हिन्दू धर्म के अनुसार पुत्र के बिना मनुष्य का जीवन पूर्ण नहीं होता तथा मृत्यु के उपरान्त उसकी आत्मा को शान्ति नहीं मिलती। इतना ही नहीं, हमारे देश में बाल-विवाह की प्रथा आज भी प्रचलित है जिससे अधिक सन्तान का होना स्वाभाविक है। इन सब कारणों से परिवार-नियोजन का हमारे देश में विशेष महत्त्व है।

परिवार-नियोजन के विभिन्न साधन हैं। इनमें संयमित जीवन व्यतीत करना सबसे अच्छा उपाय है। हमारा देश प्रारम्भ से ही ब्रह्मचर्य पालन के लिए विख्यात रहा है। आज भी यदि आरम्भ से ही लोगों के चरित्र एवं व्यक्तित्व के विकास की ओर ध्यान दिया जाय तो गृहस्थ जीवन में भी वे संयम का भली-भाँति पालन कर सकते हैं। फिर भी वर्तमान परिस्थितियों में सर्वसाधारण के लिए संयमित जीवन व्यतीत करना सम्भव नहीं जान पड़ता। डाक्टरों की राय में भी दीर्घकाल तक संयम रखने से विवाहित दम्पत्ति के शरीर और मस्तिष्क पर हानिकारक प्रभाव पड़ता है। वास्तव में विवाहित दम्पत्ति को अधिक समय तक संयम से रहने का उपदेश देना, भूख दूर करने के लिए पेट काटने के उपाय के समान है।

इसलिए परिवार के आकार को सीमित रखने के लिए सन्तति-निग्रह (Birth Control) के कृत्रिम साधनों का प्रयोग एक उत्तम तरीका है। जन्म-दर को घटाने में सन्तति-निग्रह के कृत्रिम साधनों का यूरोपीय देशों में महत्त्वपूर्ण प्रभाव पड़ा है। भारत में भी आज इन उपायों के अधिकाधिक प्रयोग की बड़ी आवश्यकता है। किन्तु सन्तति निग्रह के कृत्रिम उपायों के विरुद्ध भारत में अनेक तर्क प्रस्तुत किये जाते हैं। सर्वप्रथम, तो इन्हें अप्राकृतिक करार किया जाता है। किन्तु, यदि सन्तति-निग्रह के कृत्रिम उपायों को अप्राकृतिक कहा जाता है तो आधुनिक सुसभ्य जीवन से सम्बन्धित कपड़ा, औषधियाँ तथा फर्निचर आदि भी निश्चय ही अप्राकृतिक हैं। इनके विरुद्ध दूसरा तर्क यह दिया जाता है कि इन साधनों के दुरुपयोग से सामाजिक परम्परा नष्ट हो जायगी। धार्मिक दृष्टिकोण से भी इनके विरुद्ध आपत्ति उठायी जाती है। किन्तु पारिवारिक नियोजन के लाभों पर ध्यान देने से सन्तति निग्रह के विरुद्ध उठायी जाने वाली सारी आपत्तियाँ तथ्यहीन हो जायँगी। देश में जनाधिक्य की समस्या इतनी जटिल होती जा रही है कि इसके समाधान के लिए सन्तति-निग्रह के उपायों को अपनाना अनिवार्य है। देश की जनसंख्या को विवेकपूर्ण ढंग से नियन्त्रित करना आवश्यक है जिसमें सन्तति-निग्रह के कृत्रिम साधनों का महत्त्वपूर्ण स्थान होगा।

सन्तति-निग्रह के विरुद्ध उठायी जानेवाली आपत्तियाँ मुख्यतः इसके साधनों से ही सम्बन्धित हैं। वास्तव में सन्तति-निग्रह की इच्छा के विरुद्ध किसी भी प्रकार की आपत्ति नहीं उठायी जाती है। सन्तति-निग्रह आन्दोलन के विरुद्ध सबसे बड़ी आलोचना कैथोलिक चर्च वाले करते हैं। इन लोगों का कहना है कि बच्चे ब्याह के आवश्यक सामाजिक शिखर हैं। गाँधी जी के लेखों में भी इस प्रकार की विचारधारा पायी जाती है।[1] इन्होंने परिवार के परिसिमन में आत्म-संयम

1. "It is one thing when married people regulate the number of their progeny by moral restraint and totally another when they do so inspite of sexual indulgence. In one case people gain in every respect in the other, there is nothing but harm. —*M. K, Gandhi.*"

पर ही विशेष जोर दिया है तथा सन्तति-निग्रह के कृत्रिम साधनों की नैतिक दृष्टि से आलोचना की है। किन्तु मानव-सभ्यता का इतिहास प्रारम्भ से ही वैज्ञानिक उपायों द्वारा प्रकृति की विभीषिकाओं पर नियन्त्रण रहा है। सन्तति-निग्रह के कृत्रिम साधनों को भी इसी तरह का साधन समझना चाहिए। इनके समुचित उपयोग से विवाहित दम्पत्ति के स्वास्थ्य एवं आयु में वृद्धि होती है। साथ ही, इनके उपयोग से भौतिक कल्याण में वृद्धि होती है, बच्चों की शिक्षा एवं स्वास्थ्य में वृद्धि होती है तथा औरतों का सामाजिक महत्त्व भी बढ़ता है। किन्तु इस सम्बन्ध में ध्यान देने योग्य बात यह है कि सन्तति-निग्रह व्यक्तिगत आकांक्षा पर आधारित है। अतएव इस सम्बन्ध में राष्ट्रीय नीति का उद्देश्य अधिक-से-अधिक इसके पक्ष में लोकमत तैयार करना ही हो सकता है जिससे अपने परिवार की सीमा निर्धारित करने में प्रत्येक दम्पत्ति सामाजिक हित से ही अधिक प्रभावित हो सके।

किन्तु, सन्तति-निग्रह के प्रश्न पर भारत में कभी भी गम्भीरतापूर्वक विचार नहीं किया गया है। भारत में संतति-निग्रह आन्दोलन अभी प्रारम्भिक अवस्था में है। देश से कुछ समाज-सुधारकों तथा चिकित्सा-शास्त्रियों ने निस्सन्देह इसके पक्ष में अपने विचार प्रकट किये हैं। हरिपुरा कांग्रेस में अपने अध्यक्ष पद से भाषण देते हुए सुभाषचन्द्र बोस ने भी जन्म दर में कमी की सिफारिश निश्चित रूप से की थी। किन्तु अभी तक यह आन्दोलन हमारे देश की जनसंख्या के एक बहुत छोटे भाग तक ही पहुँच पाया है। वास्तव में, हमारे देश में इस आन्दोलन के प्रचार में बहुत-सी कठिनाइयाँ हैं। भारत जैसे निर्धन देश के निवासियों के लिए यह अधिक खर्चीला भी जान पड़ता है। सर्वप्रथम ऐसा कहा जाता है कि निर्धन व्यक्तियों के लिए बच्चे पैदा करना और पालना सन्तति-निग्रह के कृत्रिम साधनों की तुलना में अधिक सस्ता पड़ता है। अतः, इस आन्दोलन को लोकप्रिय बनाने के लिए जनता में कृत्रिम साधनों के प्रचार की बड़ी आवश्यकता है। साथ ही, हमारे देश के अधिकांश व्यक्तियों, विशेषतः औरतों के अशिक्षित होने के कारण भी इसके प्रचार में बड़ी कठिनाई होती है। अशिक्षा के कारण हमारे अधिकांश देशवासी रूढ़िवादी होते हैं। अतः, वे सन्तति-निग्रह के प्रति किसी भी प्रकार की हमदर्दी नहीं दिखलाते। इस प्रकार देश की अधिकांश ग्रामीण जनता के पास तक सन्तति-निग्रह आन्दोलन को पहुँचाने में अनेक कठिनाइयाँ जान पड़ती हैं जिनको दूर करने के लिए सरकार की ओर से संगठित प्रयत्नों की आवश्यकता है। हर्ष का विषय है कि पंचवर्षीय योजनाओं में योजना आयोग ने इस सम्बन्ध में एक निश्चित कार्य-क्रम तैयार किया था जिससे इस आन्दोलन के सफल होने में पर्याप्त सफलता प्राप्त हुई है। देश के निर्धन निवासियों के बीच "safe-period" के प्रचार द्वारा भी जन्म-दर को कम किया जा सकता है। किन्तु जन-साधारण के लिए वह तरीका भी बहुत सुगम नहीं जान पड़ता।

पंचवर्षीय योजनाएँ एवं परिवार नियोजन

(Five Year Plans and Family Planning)

पंचवर्षीय योजनाओं में परिवार नियोजन कार्यक्रम पर विशेष रूप से जोर दिया जा रहा है। योजना आयोग के अनुसार देश की बढ़ती हुई निर्धनता को कम करने के लिए जनसंख्या के नियन्त्रण की बड़ी आवश्यकता है। चतुर्थ योजना तैयार करते समय आयोग ने इस सम्बन्ध में एक दीर्घकालीन दृष्टिकोण अपनाया है जिसका उद्देश्य चतुर्थ योजनाकाल में जनसंख्या में जो २.५ प्रतिशत प्रति वर्ष की दर से वृद्धि हो रही है उसे कम कर १९८०-८१ ई० तक १.७ प्रतिशत प्रति वर्ष करना, जन्म-दर को १९६८-६९ में ३९ प्रति हजार से घटकर १९८०-८१ तक २६ प्रति हजार करना तथा मृत्यु-दर को १४ प्रति हजार से घटकर ९ प्रति हजार करना है।

प्रथम पंचवर्षीय योजना काल[1] (First Five Year Plan) के लिए योजना आयोग ने इस दृष्टि से परिवार नियोजन का एक विस्तृत कार्य-क्रम तैयार किया था। आयोग के अनुसार परिवार नियोजन के क्षेत्र में सफलता दो बातों पर निर्भर करती है—परिवार नियोजन के प्रति जनता में सहानुभूति उत्पन्न करना तथा इस सम्बन्ध में उचित परामर्श एवं लाभप्रद उपायों को बतलाना। योजना काल में इसके लिए बहुत से कार्य किये गये। मई, १९५३ ई० में एक 'फेमिली प्लानिंग रिसर्च एण्ड प्रोग्राम्स कमिटी' की स्थापना की गयी। पुन: मई, १९५४ ई० में एक 'फेमिली प्लानिंग ग्रांट्स' कमीशन' की नियुक्ति की गयी। प्रथम योजना काल में इसके लिए ६५ लाख रुपये व्यय का आयोजन था, किन्तु वास्तविक व्यय केवल १८·५ लाख रुपये ही हुआ। योजना काल में राज्य, स्थानीय एवं अन्य संस्थाओं द्वारा संचालित २०५ 'फेमिली प्लानिंग क्लिनिक्स' को सहायता दी गयी तथा १४७ नये परिवार नियोजन केन्द्रों की स्थापना की गयी।

द्वितीय पंचवर्षीय योजना (Second Five Year Plan) में भी योजना आयोग ने देश की जनसंख्या के नियन्त्रण को राष्ट्रीय कल्याण एवं राष्ट्रीय नियोजन की दृष्टि से आवश्यक समझा। आयोग के अनुसार "राष्ट्रीय नियोजन एवं कल्याण दोनों ही दृष्टि से जनसंख्या के आकार एवं गुण दोनों का नियन्त्रण आवश्यक है।" (The problem of regulation of population from the dual standpoint of size and quality is of utmost importance to national welfare aud national planning.) द्वितीय योजना काल में परिवार नियोजन-सम्बन्धी कार्यक्रम के निम्नलिखित प्रधान उद्देश्य थे :—(१) परिवार नियोजन के सम्बन्ध में जनता को शिक्षित बनाना, (२) परिवार नियोजन के सम्बन्ध में जनता को परामर्श तथा सहायता देने की सुविधाओं में विस्तार, (३) अधिकाधिक व्यक्तियों को प्रशिक्षित बनाने के लिए पर्याप्त संख्या में परिवार केन्द्रों को स्थापना, (४) जनसंख्या-सम्बन्धी विभिन्न तत्त्वों के सम्बन्ध में अनुसन्धान करना, तथा (५) एक सुसंगठित केन्द्रीय संगठन की स्थापना करना।

परिवार नियोजन कार्यक्रम तथा जनसंख्या-सम्बन्धी समस्याओं के विधिवत् एवं निरन्तर अध्ययन के लिए १९५६ ई० में एक स्वतन्त्र परिवार नियोजन मण्डल (Family Planning Board) का निर्माण किया गया। द्वितीय योजना के अन्त में फेमिली प्लानिंग क्लिनिक की संख्या बढ़कर शहरी क्षेत्रों में ८२७ तथा ग्रामीण क्षेत्रों में १३७९ हो गयी। द्वितीय योजना का इस सम्बन्ध में अनुमानित व्यय ६ करोड़ रुपये था।

तृतीय पंचवर्षीय योजना (Third Five Year Plan) में परिवार नियोजन पर पर्याप्त जोर दिया गया था। तृतीय योजना में यह विचार प्रकट किया गया था कि उचित समय के अन्दर जनसंख्या की वृद्धि में स्थायित्व के उद्देश्य का आयोजित विकास में विशेष महत्त्व होना चाहिए। (The objective of stabilising the growth of population over a reasonable period must be at the centre of planned development.) उपरोक्त दृष्टिकोण को ध्यान में रखते हुए तृतीय पंचवर्षीय योजना में परिवार नियोजन कार्य-क्रम की मद में २७ करोड़ रुपये व्यय का आयोजन था जबकि वास्तविक व्यय २४·८६ करोड़ रुपये ही हुआ। योजना काल में परिवार नियोजन कार्य-क्रम के अन्तर्गत निम्नलिखित बातों पर विशेष जोर दिया गया था :—(क) परिवार नियोजन के लिए लोगों को शिक्षित बनाना; (ख) परिवार नियोजन-सम्बन्धी सेवाओं का विस्तार; (ग) इसमें पर्याप्त व्यक्तियों को प्रशिक्षित बनाना; (घ) जन्म-निरोधक वस्तुओं की पूर्ति; तथा (ङ) जनसंख्या के विभिन्न पहलुओं के सम्बन्ध में अनुसन्धान करना।

1. Review of the First Five Year Plan, pp. 280-82.

तृतीय योजनाकाल में परिवार नियोजन केन्द्रों की संख्या को बढ़ाकर ८२०० करने का आयोजन था।

तृतीय योजना के अन्त में परिवार नियोजन केन्द्रों की संख्या ग्रामीण क्षेत्रों में ३९७८ तथा शहरी क्षेत्रों में १३८१ हो गयी। इसके अतिरिक्त ग्रामीण क्षेत्रों में ७०८ उपकेन्द्र कार्य करते थे। योजनाकाल में लगभग ८० लाख लूप (I U C D) लगाये गये तथा १३·३ लाख Sterilisation operations) किये गये।

तीन एक-वर्षीय योजनाएँ (Three One Year Plans) :—तृतीय योजना के पश्चात् भी इस कार्य-क्रम पर पूर्ववत् जोर दिया जाता रहा। १९६६-६९ के बीच परिवार नियोजन की मद में ७२·२३ करोड़ रुपये व्यय हुए तथा मार्च, १९६९ तक ग्रामीण क्षेत्रों में ४२४० परिवार नियोजन केन्द्र एवं २१,७५२ उपकेन्द्र तथा शहरी क्षेत्रों में १८५६ परिवार नियोजन केन्द्र हो गये। अप्रैल, १९६६ में केन्द्र में एक पृथक् परिवार नियोजन विभाग की स्थापना की गयी जिसका मुख्य कार्य राज्यों के इस कार्य में समन्वय स्थापित करना है।

चतुर्थ पंचवर्षीय योजना (Fourth Five Year Plan) में परिवार नियोजन पर विशेष रूप से जोर दिया जा रहा है। चतुर्थ योजनाकाल में इस मद में ३१५ करोड़ रुपये का व्यय प्रस्तावित है। योजना काल में परिवार नियोजन कार्यक्रम का उद्देश्य जन्म-दर को १९६८-६९ में ३९ प्रति हजार से हटाकर १९७३-७४ में ३२ प्रति हजार करना है। परिवार नियोजन के महत्त्व को देखते हुए केन्द्र में एक Central Family Planning Council की स्थापना की गयी है। केन्द्रीय स्वास्थ्य मन्त्री इसके अध्यक्ष तथा राज्यों के स्वास्थ्य मन्त्री इसके सदस्य हैं। योजनाकाल में जनसंख्या के नियन्त्रण के अन्य कार्यक्रमों के साथ-साथ I. U. C. D. के प्रयोग पर अधिक जोर देने का आयोजन है। इसके लिए अधिक महिला डॉक्टरों की व्यवस्था की जा रही है। इसके अतिरिक्त संतति-निरोध के नये-नये साधनों का भी प्रयोग किया जायगा जिसमें १९७३-७४ तक २८० लाख जोड़े लाभान्वित होंगे। इस कार्य के लिए जन-सहयोग को प्राप्त करने पर भी पूरा-पूरा जोर दिया जा रहा है। जनता को इस सम्बन्ध में शिक्षित बनाने के उपायों पर भी अधिकाधिक जोर दिया जायगा।

जनसंख्या-सम्बन्धी उपयुक्त नीति

(Proper Population Policy)

भारत की जनसंख्या के विभिन्न पहलुओं पर विचार करने के पश्चात् हमारे समक्ष यह प्रश्न उठता है कि देश के लिए उपयुक्त जनसंख्या-सम्बन्धी नीति क्या होनी चाहिए। भारत जैसे विकासोन्मुख आर्थिक व्यवस्था वाले देश में जहाँ जनसंख्या बहुत तीव्र गति के साथ बढ़ रही है, जनसंख्या-सम्बन्धी उपयुक्त नीति का बड़ा ही महत्त्वपूर्ण स्थान है। वास्तव में, आर्थिक नियोजन (Economic Planning) सामाजिक नियोजन (Social Planning) का ही एक अंग है और उपयुक्त जनसंख्या-सम्बन्धी नीति के अभाव में आर्थिक नियोजन सम्भव नहीं हो सकता। अतएव **भारत के आर्थिक विकास की किसी भी योजना में जनसंख्या-सम्बन्धी नियोजन का महत्त्वपूर्ण स्थान है।** (Any comprehensive scheme of economic planning in India must include within its scope population planning as well.) सदियों की गुलामी ने हमारी आर्थिक व्यवस्था को अस्त-व्यस्त कर दिया है। किन्तु स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद आर्थिक नियोजन के आधार पर हम अपने आर्थिक विकास का प्रयत्न कर रहे हैं। भारत में आर्थिक विकास का प्रधान उद्देश्य देश की विशाल जनसंख्या के जीवन-स्तर को ऊँचा बनाना है।

किन्तु जनसंख्या में वृद्धि की वर्तमान गति से हमारे आर्थिक विकास की योजनाओं को कार्यान्वित करने में कठिनाई हो रही है । डा० ज्ञानचन्द (Gyanchand) के शब्दों में "द्रुतगति से बढ़ती हुई जनसंख्या भारत के आर्थिक विकास के मार्ग में सबसे बड़ी बाधा है ।" (A rapidly growing population is the most fundamental obstacle to the economic develoment of India.) अतएव यदि जनसंख्या की वृद्धि की गति को नियोजित नहीं किया जायगा तो पंचवर्षीय योजनाओं में विकास की जो सृष्टि की जा रही है, वह निश्चय ही धीमी पड़ जायगी । इससे जीवन-स्तर में अपेक्षित सुधार भी नहीं हो सकता । दिसम्बर, १९५८ ई० में अखिल भारतीय चिकित्सा परिषद् में भारत सरकार के तत्कालीन स्वास्थ्य मन्त्री डा० करमाकर ने अपने भाषण में कहा था कि "जनसंख्या में असाधारण वृद्धि राष्ट्र के समक्ष गम्भीर समस्या उत्पन्न कर रही है—यह देशवासियों के जीवन-स्तर को निम्न बना रही है, बेकारी में वृद्धि कर रही है, तथा देश के विकास के मार्ग में बाधा उत्पन्न कर रही है । देश की जनसंख्या का स्वास्थ्य, व्यक्तियों के गुण तथा देश का आर्थिक पुनरुत्थान इत्यादि चीजें प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से जनसंख्या की समस्या पर आधारित हैं ।" (The abnormal increase in our population is posing serious threat before the nation. It is lowering the standard of living, increasing conditions of unemployment, and arresting the growth of the country. The health of the nation, the quality of individual, the economic recovery of the country, are based directly or indirectly on the problem of population.) योजना आयोग ने भी प्रायः इसी प्रकार का विचार व्यक्त किया है : "भारत जैसी स्थिति वाले देश में जनसंख्या की अत्यधिक वृद्धि की दर का आर्थिक विकास एवं प्रति-व्यक्ति जीवन-स्तर पर निश्चय ही विपरीत प्रभाव पड़ेगा ।" (Under the conditions prevailing in a country like India, a high rate of population growth is bound to affect adversely the rate of economic advance and living standard per capita.)

आज भारत की जनसंख्या हमारे आयोजन-निर्माताओं के अनुमान से भी अधिक बढ़ रही है । द्वितीय योजना तैयार करते समय योजना आयोग ने यह अनुमान लगाया था कि देश की जनसंख्या १९६०-६१ ई० में ४१ करोड़ के लगभग हो जायगी । किन्तु, १९६१ ई० की जनगणना के अनुसार देश की जनसंख्या प्रायः ४३·९ करोड़ हो गयी । गत दस वर्षों (१९६१-७१) ई० में देश की जनसंख्या में २·४६ प्रतिशत की वृद्धि हुई । रजिस्ट्रार जेनरल के अनुमान के अनुसार वर्तमान समय में जनसंख्या २५ प्रतिशत प्रतिवर्ष की दर से बढ़ रही है । चतुर्थ योजना काल में वृद्धि का यही क्रम जारी रहेगा । इसका तात्पर्य यह है कि भारत की जनसंख्या में प्रति-वर्ष प्रायः १.२५ करोड़ से भी अधिक लोगों की वृद्धि हो रही है । जनसंख्या में इस गति से वृद्धि से आयोग के सभी अनुमान गलत सिद्ध हो सकते हैं । साथ ही, आर्थिक विकास के सभी लाभ इसके कारण समाप्त हो सकते हैं । इस प्रकार आर्थिक नियोजन की सफलता वस्तुतः उपयुक्त जनसंख्या-सम्बन्धी नीति पर ही निर्भर करती है । अनुमान लगाया जाता है कि यदि देश की जनसंख्या को नियोजित करने का सफल प्रयास नहीं किया जायगा तो अगली पंचवर्षीय योजनाओं में चिकित्सा एवं स्वास्थ्य-सम्बन्धी सुविधाओं में विस्तार के परिणामस्वरूप देश की जनसंख्या में और तेजी से वृद्धि होगी । अतएव उचित नियन्त्रण के अभाव में हमारी जनसंख्या देश में एक विकट स्थिति उत्पन्न कर सकती है । इससे बेकारी की समस्या का कोई हल नहीं मिल सकता ।

इस प्रकार देश में आर्थिक विकास की किसी भी योजना को सफल बनाने के लिए जनसंख्या-सम्बन्धी उपयुक्त नीति की बहुत बड़ी आवश्यकता है। निष्कर्ष के तौर पर यह कहा जा सकता है कि देश के आर्थिक विकास की कुंजी शीघ्र एवं प्रभावपूर्ण राष्ट्रव्यापी जनसंख्या के नियंत्रण सम्बन्धी कार्यक्रम में निहित है।

भारत में जनसंख्या सम्बन्धी उपयुक्त नीति के लिए निम्नांकित बातों की प्रबल आवश्यकता है :—

(१) वर्तमान एवं भविष्य की जनसंख्या को ध्यान में रखते हुए जनसंख्या को इस प्रकार से नियोजित किया जाना चाहिए जिससे कि पंचवर्षीय योजनाओं में विकास की गति उत्तरोत्तर जारी रहे तथा योजना काल में आर्थिक प्रगति का लाभ सभी व्यक्तियों को यथाशीघ्र उपलब्ध हो;

(२) चिकित्सा एवं जन-स्वास्थ्य-सम्बन्धी सुविधाओं में विस्तार के द्वारा मृत्यु-दर को कम करना अनिवार्य है। किन्तु इसके साथ-ही-साथ जन्म-दर में कमी करने के लिए भी सभी उपलब्ध साधनों का प्रयोग करना चाहिए जिससे जनसंख्या में कमी हो सके;

(३) ग्रामीण क्षेत्रों में बड़ी संख्या में परिवार नियोजन केन्द्रों की स्थापना की जानी चाहिए। साधारणतः, प्रत्येक १ लाख की जनसंख्या अथवा १०-१५ गाँव पर एक परिवार नियोजन केन्द्र होना चाहिए;

(४) ग्रामीण क्षेत्रों में परिवार नियोजन कार्यक्रम एवं सामुदायिक विकास योजनाओं के सम्बन्ध में जनता को प्रचार द्वारा अधिक-से-अधिक शिक्षित बनाने का प्रयत्न होना चाहिए।

(५) साथ ही, ग्रामीण क्षेत्रों में वयस्क शिक्षा के प्रचार पर भी जोर देना चाहिए। इससे लोगों के मानसिक क्षितिज व्यापक होंगे तथा वे परिवार नियोजन की उपयोगिता समझेंगे।

(६) एक परिवार नियोजन आयोग (Family Planning Commission) की नियुक्ति की जानी चाहिए जिसमें जनाधिक्य की समस्या से सम्बन्धित सभी प्रश्नों के विशेषज्ञ होंगे। यह आयोग देश के लिए समुचित जनसंख्या-सम्बन्धी नीति के निर्माण के सम्बन्ध में सरकार को समय-समय पर परामर्श देगा।

उपरोक्त उपायों द्वारा देश में जनाधिक्य की समस्या का समाधान किया जा सकता है।

विशेष अध्ययन-सूची

1. **Cole, A. J.** and : Population Growth and Economic.
   Hoover, E. M. Development in Low-Income Countries.
2. Census of India, 1971. Paper no. I 1962.
3. Agrawal, S. N. : Population.
4. U. N. Demographic Year Book, 1963.
5. Fact Book on Man Power prepared by the Institute of Applied Man Power Research, New Delhi, 1963.
6 Fourth Five Year Plan (1969-74.)

●

अध्याय : ५

राष्ट्रीय आय एवं आर्थिक विकास

(National Income and Economic Development)

राष्ट्रीय आय की परिभाषा (Meaning of National Income) :—किसी देश की राष्ट्रीय आय किसी वर्ष विशेष में वस्तुओं तथा सेवाओं के कुल योग के बराबर होती है। राष्ट्रीय अर्थ-व्यवस्था में उत्पादन के विभिन्न साधन मिलकर जिन वस्तुओं तथा सेवाओं का उत्पादन करते हैं उनके कुल योग को राष्ट्रीय आय कहा जाता है। इसका कुछ अंश उपभोग में तथा कुछ अंश पूंजी के रूप में पुनः उत्पादन के कार्य में लगाया जाता है। राष्ट्रीय आय[1] पदार्थों एवं सेवाओं के मूल्य तथा पूंजीगत पदार्थों के लिए दिये गये मूल्यों के आधार पर पूंजी की वृद्धि के योग में से वर्तमान पूंजीगत पदार्थों की घिसावट एवं उनके प्रचलन के लिए अपेक्षित धन-राशि को घटाने से प्राप्त होती है। राष्ट्रीय आय में किन-किन वस्तुओं तथा सेवाओं को रखना चाहिए, इस सम्बन्ध में अभी विद्वानों में एकमत नहीं हो पाया है।

वास्तव में, भिन्न-भिन्न अर्थशास्त्रियों ने राष्ट्रीय आय की विभिन्न तरीके से परिभाषा दी है। इनमें निम्नलिखित विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं:—

(१) मार्शल (Marshall) द्वारा दी गयी परिभाषा;
(२) प्रो० पीगू (Pigou) द्वारा दी गयी परिभाषा; तथा
(३) फिशर (Fisher) द्वारा दी गयी परिभाषा।

अब इनका निम्न विवरण प्रस्तुत किया जा रहा है।

प्रो० मार्शल (Marshall) के विचार

(Marshall on National Income)

मार्शल के अनुसार "**किसी देश की पूंजी एवं श्रम का उसके प्राकृतिक साधनों पर प्रयोग करने से प्रतिवर्ष वस्तुओं का एक शुद्ध समूह उत्पन्न होता है जिसमें भौतिक पदार्थ एवं सभी प्रकार की सेवाएँ सम्मिलित रहती हैं। इस सम्पूर्ण विशुद्ध उत्पत्ति को देश की वास्तविक वार्षिक आय या वार्षिक राजस्व या राष्ट्रीय आय कहते हैं।**" (The labour and capital of the country acting on natural resources produce annually a certain net aggregate of commodities—material and immaterial including

---

1. "The national income for any period consists of the money value of goods and services becoming available for consumption during that period reckoned at current selling value plus additions to capital reckoned at the prices actually paid for the new capital goods and adding the net accretion of, or deducting the net drawings upon stocks, also reckoned at current prices. Services provided at non-profit making basis by state and local authorities are included on the basis of charges made. Where taxation is levied on particular commodities and services, such as the custom and excise duties on commodities or the entertainment tax, such taxes are not included in the selling value.'' Colin Clark—National Income, pp., 1—2

services of all kinds. This is the true net annual income or revenue of the country, or the national dividend.)

मार्शल के अनुसार राष्ट्रीय आय की गणना वार्षिक आधार पर की जाती है। इसके अनुसार देश के सभी व्यवसायों की शुद्ध आय का कुल योग राष्ट्रीय आय अथवा लाभांश होता है तात्पर्य यह है कि कुल उत्पत्ति (Gross Product) में से अचल पूंजी की घिसावट तथा चल पूंजी का प्रतिस्थापन-व्यय आदि निकालने के बाद जो शेष बचता है, वही राष्ट्रीय आय है। मार्शल की परिभाषा के अनुसार राष्ट्रीय आय के अन्तर्गत वस्तुओं के साथ-साथ सेवाओं की गणना भी की जाती है। इसी प्रकार यदि देशवासियों की कुछ पूंजी विदेशों में विनियोजित है तो इस पर प्राप्त ब्याज की रकम को भी राष्ट्रीय आय में सम्मिलित किया जाता है। इसी समस्त शुद्ध आय अथवा राष्ट्रीय आय में से उत्पादन के साधनों को उनका हिस्सा मिलता है। राष्ट्रीय आय बढ़ने पर यह हिस्सा बढ़ जाता है तथा घटने पर घट जाता है।

प्रो० मार्शल के विचारों की आलोचना (Criticisms of the ideas of Prof. Marshall) :—सैद्धांतिक दृष्टि से राष्ट्रीय आय के सम्बन्ध में मार्शल के विचार सही अवश्य जान पड़ते हैं, किन्तु व्यावहारिक जीवन में कई कारणों से इनकी उपयोगिता कम हो जाती है। सर्व-प्रथम तो देश में उत्पन्न विभिन्न प्रकार की वस्तुओं एवं सेवाओं की शुद्ध उत्पत्ति को मापना अत्यन्त कठिन ही नहीं, अपितु असम्भव भी है। इसका कारण यह है कि समाज में केवल असंख्य वस्तुओं तथा सेवाओं का ही उत्पादन नहीं होता, वरन् प्रत्येक वस्तु तथा सेवा के अगणित प्रकार भी होते हैं। समाजवादी आर्थिक व्यवस्था के अन्तर्गत, जहाँ उत्पादन के साधनों एवं उनकी व्यवस्था पर राज्य का पूरा-पूरा नियन्त्रण रहता है, इसे पता लगाना कुछ सुविधाजनक अवश्य है, किन्तु प्रजातान्त्रिक व्यवस्था वाले देशों में इसे पता लगाना बिल्कुल ही असम्भव है। द्वितीयतः, शुद्ध उत्पत्ति की मात्रा को यदि किसी प्रकार जोड़ा भी जाय तो दुहराव (Double Connting) की सम्भवना सदा बनी रहती है और अन्त में मार्शल के अनुसार किसी देश की राष्ट्रीय आय वस्तुओं एवं सेवाओं के रूप में व्यक्त की जाती है। इससे भी व्यावहारिक दृष्टि से इनकी उपयोगिता कम हो जाती है। उदाहरण के लिए, यदि हम कहें कि हमारे देश की राष्ट्रीय आय ७५ लाख क्वि० गेहूँ, ५० लाख क्वि० चावल, १००,००० घड़ियाँ, २ लाख जूते, २५,०० गैलन शराब आदि हैं, तब इस प्रकार सैकड़ों वस्तुओं व सेवाओं के रूप में राष्ट्रीय आय को व्यक्त करने से इसका व्यावहारिक दृष्टि से कोई उपयोग नहीं रह जाता, क्योंकि इससे वितरण की समस्याओं का अध्ययन ठीक प्रकार से नहीं हो सकेगा। द्रव्य के रूप में राष्ट्रीय आय की गणना करने पर ही इसका उपयोग अन्तर्राष्ट्रीय तुलना के लिए हो सकता है। यह स्वाभाविक ही है कि द्रव्य के रूप में राष्ट्रीय आय को मापने के लिए हम केवल उन वस्तुओं एवं सेवाओं पर ध्यान देंगे जिनका मूल्यांकन हो सकता है। इन्हीं कारणों से पीगू (Pigou) ने मार्शल के विचारों में सुधार करने का प्रयत्न किया है।

प्रो० पीगू के विचार

(Pigou on National Income)

प्रो० पीगू[1] के अनुसार, "राष्ट्रीय आय किसी देश की वस्तुनिष्ठ अथवा भौतिक आय (Objective income) का वह भाग है जिसमें विदेशों से प्राप्त आय भी सम्मिलित रहती है, जो मुद्रा के रूप में मापी जा सके।" (National dividend is that part of

1, Pigou : Economics of Welfare. p. 31.

the objective income of the community including, of course, income derived from abroad, which can be measured in money.)

इस प्रकार पीगू के अनुसार राष्ट्रीय आय में केवल उन्हीं वस्तुओं तथा सेवाओं को सम्मिलित किया जाता है जिन्हें मुद्रा के द्वारा मापा जा सके; यानी जिनका विनिमय किया जा सके। दूसरी ओर, जिन वस्तुओं तथा सेवाओं को मुद्रा के द्वारा नहीं मापा जा सकता है उन्हें राष्ट्रीय आय के अन्तर्गत नहीं रखा जाता है। अतः पीगू के अनुसार मनुष्य की वे सेवाएँ जो वह स्वयं अपने लिए करता है, या अपने परिवार के लिए निःशुल्क करता है अथवा निजी वस्तुएं जैसे कुर्सी, टेबुल इत्यादि या सार्वजनिक सम्पत्ति जैसे नदी-नाले, पुल इत्यादि से प्राप्त लाभ को राष्ट्रीय आय में नहीं गिना जाता है। कारण यह है कि इन सेवाओं का मुद्रा द्वारा विनिमय नहीं होता है। पीगू ने इस सम्बन्ध में एक उदाहरण दिया है—एक व्यक्ति एक नोकरानी को घर का काम-काज करने के लिए वेतन पर रखता है। नोकरानी का यह वेतन राष्ट्रीय आय का एक अंश है। किन्तु जब यह व्यक्ति उसी नोकरानी से शादी कर लेगा तो राष्ट्रीय आय में कमी आ जायगी क्योंकि तब उस व्यक्ति को नोकरानी की सेवाओं के लिए कोई वेतन नहीं देना पड़ेगा।

प्रो० पीगू की परिभाषा की सर्वाधिक प्रमुख विशेषता द्रव्य के माप-दण्ड का उपयोग है। द्रव्य के माप-दण्ड के उपयोग के द्वारा पीगू ने राष्ट्रीय आय के विचारों को अधिक निश्चित, व्यावहारिक एवं उपयुक्त बना दिया है। इस प्रकार मार्शल की परिभाषा में जो प्रधान दोष था उसे पीगू ने दूर करने का प्रयास किया है। किन्तु, प्रश्न यह है कि क्या केवल उन्हीं वस्तुओं तथा सेवाओं जिनका मुद्रा के द्वारा क्रय-विक्रय होता है, को सम्मिलित करने से वास्तविक राष्ट्रीय आय का पता लगाया जा सकता है। वस्तुतः, बहुत ही कम परिस्थितियों में, जहाँ देश के समस्त उत्पादन का विनिमय होता है, के अतिरिक्त पीगू द्वारा प्रस्तावित राष्ट्रीय आय तथा वास्तविक राष्ट्रीय आय में अन्तर होगा।

प्रो० पीगू के विचारों की आलोचना (Criticisms of the views of Prof. Pigou) :—इस प्रकार यद्यपि प्रो० पीगू द्वारा दी गयी परिभाषा में व्यावहारिकता की मात्रा बहुत अधिक पायी जाती है, फिर भी कई कारणों से इनकी आलोचना भी की जाती है। सर्वप्रथम तो पीगू ने वस्तुओं के बीच एक कृत्रिम अन्तर किया है—जिन वस्तुओं का मुद्रा के द्वारा विनिमय होता है तथा जिनका इस प्रकार विनिमय नहीं होता है। यह यथार्थतः अव्यावहारिक है क्योंकि इस प्रकार की वस्तुओं में वस्तुतः कोई अन्तर नहीं जान पड़ता। द्वितीयतः, यदि पीगू की परिभाषा के आधार पर राष्ट्रीय आय की गणना की जाय तो राष्ट्रीय आय के अन्तर्गत केवल उन्हीं वस्तुओं और सेवाओं को सम्मिलित किया जायगा जिनका मुद्रा के द्वारा विनिमय होता है। इससे ऐसा हो सकता है कि कभी-कभी राष्ट्रीय आय घटती हुई प्रतीत होती हो जबकि वास्तव में राष्ट्रीय आय में वृद्धि हो रही हो अथवा कम-से-कम कमी नहीं हो रही हो। उदाहरण के लिए, पीगू के ही अनुसार औरतों की सेवाओं की गणना राष्ट्रीय आय में तभी की जाती है, जब उन्हें उनके लिए मुद्रा के रूप में पारिश्रमिक मिलता है। अतएव यदि कोई व्यक्ति अपनी नोकरानी से शादी कर लेता है तो शादी के बाद उसकी सेवा की गणना राष्ट्रीय आय में नहीं की जा सकती। किन्तु, क्या इससे राष्ट्रीय आय में वस्तुतः कोई कमी हुई? हो सकता है कि शादी के बाद वह औरत अधिक प्रभावपूर्ण तरीके से सेवा करती हो। अतएव वस्तुनिष्ठ सेवाओं में किसी प्रकार की कमी आये बगैर राष्ट्रीय आय में इस प्रकार की कमी से निश्चय ही विरोधाभास जान पड़ता है। पीगू के विरुद्ध अन्तिम आलोचना यह दी जाती है कि इसकी परिभाषा के अनुसार जिन देशों में

अभी वस्तु विनिमय प्रणाली का प्रचलन है, उनकी राष्ट्रीय आय प्रायः नगण्य है। ऐसे देशों की राष्ट्रीय आय की गणना में इस परिभाषा से कोई सहायता नहीं मिलती; क्योंकि पीगू के अनुसार राष्ट्रीय आय में केवल उन्हीं वस्तुओं तथा सेवाओं की गणना की जाती है जिनका मुद्रा के द्वारा विनिमय होता हो।

प्रो० फिशर के विचार

(Fisher on National Income)

फिशर द्वारा दी गयी परिभाषा (Fisher's Definition of National Income):—प्रो० फिशर के अनुसार "**वास्तविक राष्ट्रीय आय एक वर्ष के अन्तर्गत उत्पादित वास्तविक तथा शुद्ध सम्पत्ति का वह अंश है जिसका उस वर्ष में प्रत्यक्ष रूप से उपयोग किया जाता है।**" (The true national income is that part of the annual net produce which is directly consumed during that year.) फिशर की परिभाषा अधिक तार्किक मालूम पड़ती है, क्योंकि उन्होंने उत्पादन की जगह उपभोग को राष्ट्रीय आय का मापदण्ड माना है। फिशर के शब्दों में, "राष्ट्रीय आय में केवल वे ही वस्तुएँ तथा सेवाएँ सम्मिलित की जाती हैं जो कि अन्तिम रूप से उपभोक्ताओं को प्राप्त होती हैं, चाहे ये सेवाएँ उन्हें भौतिक अथवा मानवीय वातावरण से ही प्राप्त क्यों न हों। इस प्रकार एक पियानो (Piano) अथवा एक बड़ा कोट जो मेरे लिए तैयार किया गया है, इस वर्ष की आय का हिस्सा नहीं है, वरन् यह केवल पूँजी में वृद्धि है।"[1] अतएव फिशर के अनुसार राष्ट्रीय आय सम्पूर्ण उत्पादन की मात्रा नहीं, वरन् यह एक वर्ष के वास्तविक उत्पादन का वह अंश है जो उस वर्ष में उपभोग किया जाता है।

प्रो० फिशर के विचारों की आलोचना (Criticisms of the ideas of Prof. Fisher) :—प्रो० फिशर द्वारा दी गयी परिभाषा अधिक तर्कयुक्त होते हुए भी विभिन्न दोषों से परिपूर्ण है। इस परिभाषा के आधार पर राष्ट्रीय आय की गणना बहुत ही कठिन हो जाती है क्योंकि इस बात का पता तो सुगमता से लगाया जा सकता है कि किसी एक वर्ष में कितनी वस्तुओं एवं सेवाओं की उत्पत्ति हुई है, किन्तु वर्ष भर में उपभोग में आनेवाली वस्तुओं तथा सेवाओं की सूची तैयार करना निश्चय ही बहुत कठिन कार्य है क्योंकि किसी एक व्यक्ति द्वारा उत्पन्न सामान का सैकड़ों अथवा हजारों व्यक्तियों द्वारा उपभोग किया जाता है। उदाहरण के लिए, किसी एक किसान द्वारा उत्पन्न १०० क्वि० गेहूँ किसी एक व्यक्ति के प्रयोग में नहीं आता, वरन् कई व्यक्तियों द्वारा प्रयोग किया जाता है। इस प्रकार उपभोग की गणना का कार्य उत्पादन की गणना की अपेक्षा कई गुना कठिन है।

इस प्रकार राष्ट्रीय आय की विभिन्न परिभाषाएँ[2] दी गयी हैं। इनमें मार्शल, पीगू तथा फिशर द्वारा दी गयी उपरोक्त परिभाषाएँ ही विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। किन्तु इन तीनों

1. 'National Dividend or income consists solely of services as received by ultimate consumers weather from their material or from their human environments. Thus a piano or an overcoat for me this year is not a part of this year's income but an addition to capital. Only the services rendered to me during this year by these things are income.''—*Fisher.*

2. राष्ट्रीय आय की कुछ अन्य परिभाषाएँ भी दी गयी हैं। उदाहरण के लिए, भारत की National Income Committee के अनुसार "A national income estimate measures the volume of commodities and services turned out during a given period, counted without duplication."

परिभाषाओं में कौन-सी परिभाषा अधिक अच्छी है इसका उत्तर केवल उस उद्देश्य की पृष्ठभूमि में ही दिया जा सकता है जिस उद्देश्य से राष्ट्रीय लाभांश शब्द का प्रयोग किया जाता है।

राष्ट्रीय आय के अध्ययन का महत्व

(Importance of the study of National Income)

किसी देश की राष्ट्रीय आय का अध्ययन कई कारणों से महत्त्वपूर्ण है। इससे देश की समग्र आर्थिक स्थिति का अन्दाजा लगता है। यही कारण है कि आजकल सभी देशों द्वारा राष्ट्रीय आय के अनुमान तैयार किये जाते हैं। भारत की राष्ट्रीय आय समिति (National Income Committee)[1] का इस सम्बन्ध में निम्नांकित कथन विशेष रूप से उल्लेखनीय है : "National income statistics provide a wide view of the country's entire economy, as well as of the various groups in the population who participate as producers and income receivers, and that if available over a substantial period, they reveal clearly the basic changes in the country's economy in the past and suggest, if not fully reveal, the trend for the future." वास्तव में, राष्ट्रीय आय का अध्ययन निम्नलिखित कारणों से अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है :—

(१) सर्वप्रथम तो हमें राष्ट्रीय आय के अध्ययन से यह ज्ञात होता है कि देश के प्राकृतिक साधनों का कहाँ तक उपयोग, हो पाया है। साथ ही, इससे यह भी पता चलता है कि कृषि, उद्योग, वाणिज्य-व्यापार आदि का कितना विकास हुआ है। इससे यह भी जान पड़ता है कि राष्ट्रीय आय कितनी उत्पन्न होती है और इसका विभाजन किस प्रकार होता है। विशेष रूप से हमको यह ज्ञात होना चाहिए कि किसी देश की राष्ट्रीय आय का कितना भाग उपभोग के काम में आता है और कितना बचाया जाता है और विनियोग की मात्रा बचत के बराबर है या नहीं।

(२) सरकार को बजट बनाते और करारोपण के समय भी राष्ट्रीय आय का ज्ञान आवश्यक होता है। आजकल बजट का उद्देश्य देश की मुद्रा-स्फीति और बेरोजगारी से बचाकर आर्थिक और सामाजिक उन्नति की ओर अग्रसर करना होता है। राष्ट्रीय आय के अध्ययन से यह अनुमान लगाया जा सकता है कि मुद्रा-स्फीति से बचने के लिए कितनी बचत करनी होगी या कितना करारोपण करना होगा तथा बेरोजगारी से बचने के लिए राज्य को कितना विनियोग करना होगा। जिन देशों में आर्थिक विकास के लिए आर्थिक नियोजन की नीति अपनायी जाती है उनमें राष्ट्रीय आय के अध्ययन का विशेष महत्त्व होता है। आर्थिक विकास के लिए राष्ट्रीय आय का उत्तरोत्तर अधिक भाग बचाकर विनियोग करना आवश्यक होता है और इसके लिए उपयुक्त मौद्रिक नीति तथा कीमतों और मजदूरी-सम्बन्धी नीतियाँ अपनानी पड़ती हैं।

(३) दो या दो से अधिक देशों के बीच किसी सामान्य भार के न्यायोचित विभाजन में भी राष्ट्रीय आय के आँकड़ों की सहायता ली जाती है।

---

1. पुनः इसी कमिटी के अनुसार "National Income estimates or accounts are measures of the total net product of a country's economy with distribution among significant operating sectors and the several economic functions all gauged on a consistent basis permitting quantitative measurement. These measures tell us how much the various sectors have produced, distributed and consumed. and they tell it for the economy as a whole without comission and without duplication."

2. $\text{Per Capita Income} = \dfrac{\text{National Income}}{\text{Total Population}}$.

राष्ट्रीय आय और आर्थिक प्रगति

(National Income and Economic Progress)

साधारणतः राष्ट्रीय आय या प्रति-व्यक्ति-आय (राष्ट्रीय आय ÷ जनसंख्या) को देश की आर्थिक प्रगति का द्योतक माना जाता है। निःसन्देह यदि राष्ट्रीय आय जनसंख्या की तुलना में अधिक तेजी से बढ़ती है तो प्रति व्यक्ति की आय बढ़ जाती है और साधारणतः प्रति-व्यक्ति आय बढ़ने का अर्थ यह होता है कि देश में आर्थिक क्षमता, उत्पादन तथा उपभोग की सम्भावनाओं में वृद्धि हो रही है। परन्तु निम्नांकित कारणों से प्रति-व्यक्ति आय सदा देश के सुख एवं समृद्धि को ठीक-ठीक प्रकट नहीं करती :—

(१) मौद्रिक आय बढ़ जाने से भी यदि मुद्रा की क्रय-शक्ति घट जाती है तो वास्तविक उपभोग तथा संतुष्टि नहीं बढ़ती।

(२) मौद्रिक मूल्य सदा वस्तुओं की सामाजिक उपयोगिता को प्रकट नहीं करता। प्रति-व्यक्ति मौद्रिक आय बढ़ने का तात्पर्य यह है कि पहले की तुलना में प्रति-व्यक्ति उत्पादन का मूल्य अधिक है। परन्तु इससे यह प्रकट नहीं होता कि किस प्रकार की वस्तुओं का उत्पादन बढ़ा है। युद्ध के दिनों में अस्त्र-शस्त्र के उत्पादन के बढ़ने से राष्ट्रीय आय और प्रति-व्यक्ति आय बढ़ जाती है, परन्तु इससे राष्ट्र का जीवन-स्तर नहीं बढ़ने पाता। इसी प्रकार शांति-काल में भी यदि शराब आदि नशीली वस्तुओं का उत्पादन बढ़ जाता है तो इससे वास्तविक जीवन-स्तर नहीं बढ़ता।

(३) राष्ट्रीय आय के आँकड़ों से यह प्रकट नहीं होता कि इसे प्राप्त करने के लिए नागरिकों को कितना श्रम करना पड़ता है। आराम (Leisure) कम कर कठिन परिश्रम द्वारा राष्ट्रीय आय बढ़ाई जा सकती है। परन्तु इससे वास्तविक सुख का स्तर नहीं बढ़ता।

(४) इसी प्रकार बगैर सोचे-समझे देश के प्राकृतिक साधनों का उपयोग करके अल्प-काल में राष्ट्रीय आय बढ़ायी जा सकती है। परन्तु दीर्घकालीन दृष्टि से इसे अच्छा नहीं माना जा सकता।

(५) राष्ट्रीय आय उत्पादन का मूल्य बतलाती है, उपभोग की मात्रा नहीं बतलाती। परन्तु जीवन-स्तर को उन्नत बनाने के लिए उपभोग में वृद्धि आवश्यक है। यदि बढ़ती हुई राष्ट्रीय आय बचाकर विनियोग में लगायी जाती है तो इससे भावी आय तो बढ़ती है, परन्तु वर्तमान उपभोग और जीवन-स्तर नहीं बढ़ता। फिर "उपभोग" के सम्बन्ध में जो आँकड़े एकत्रित किये जाते हैं। वे उपभोक्ता वस्तुओं और सेवाओं पर किये जाने वाले खर्च को बतलाते हैं, उपभोक्ताओं द्वारा उनसे प्राप्त होने वाली संतुष्टि को नहीं बतलाते।

(६) और, अन्ततः प्रति-व्यक्ति आय में वृद्धि से केवल यह मालूम होता है कि औसत आय बढ़ी है। परन्तु यदि औसत आय बढ़ने के साथ-ही-साथ आय के वितरण की विषमता भी बढ़ जाती है तो जन-साधारण का जीवन-स्तर बढ़ने की जगह घट सकता है। अतएव राष्ट्रीय आय या प्रति-व्यक्ति आय को देखकर आर्थिक कल्याण के सम्बन्ध में कोई निष्कर्ष निकालने में बड़ी सावधानी से कार्य लेना चाहिए।

भारत की राष्ट्रीय आय के सम्बन्ध में अनुमान

(Estimates of India's National Income)

भारत की राष्ट्रीय आय के सम्बन्ध में समय-समय पर विभिन्न व्यक्तियों द्वारा भिन्न-भिन्न अनुमान लगाये गये हैं। इस सम्बन्ध में सर्वप्रथम दादा भाई नौरोजी ने १८६८ ई० में देश की प्रति-व्यक्ति आय का अनुमान २० रु० लगाया था। तब से लेकर आज तक इस सम्बन्ध में विभिन्न

व्यक्तियों तथा समितियों द्वारा भिन्न-भिन्न अनुमान लगाये गये हैं जिनका अन्दाजा निम्नांकित तालिका से लगाया जा सकता है :—

क्रम-संख्या	लेखक	अनुमान के वर्ष	प्रति-व्यक्ति आय का अनुमान (रुपये में)
१.	दादा भाई नौरोजी	१८६८	२०
२.	लार्ड क्रोमर एवं बार्बर	१८८०	२७
३.	एच० जे० एटकिन्सन	१८९५	३९·५
४.	लार्ड कर्जन	१९००	३०·०
५.	विलियम डिगवी	१९०१	१८·५
६.	वकील और मुरंजन	१९१०-११	५८·५
७.	वाडिया और जोशी	१९१३-१४	४४·३८
८.	शाह और खंबाटा	१९२१	७४
९.	फिन्डले शिराज	१९२२	११६
१०.	साइमन आयोग	१९२९	११६
११.	डा० वी० के० आर० वी० राव	१९२५-२९	७६
१२.	डा० वी० के० आर० वी० राव	१९३१-३२	६५
१३.	इस्टर्न इकनोमिस्ट	१९४०-४१	७०
१४.	राष्ट्रीय आय समिति[1]	१९४८-४९	२४६·९
	(National Income	१९४९-५०	२५६·०
	Committee)	१९५०-५१	२६५·५
		१९५१-५२	२७४·२
		१९५२-५३	२६६·४
		१९५३-५४	२७८·१
		१९५५-५६	२८१·०
		१९६०-६१	३२५·७

उपरोक्त आँकड़ों के अध्ययन से देश की राष्ट्रीय आय का अन्दाजा लगाया जा सकता है, किन्तु इन अनुमानों में विभिन्नता पायी जाती है। अगस्त, १९४९ ई० में भारत सरकार ने राष्ट्रीय आय एवं तत्सम्बन्धित विषयों पर विचार करने के उद्देश्य से प्रो० पी० सी० महालनोबिस की अध्यक्षता में एक राष्ट्रीय आय समिति (National Income Committee) की नियुक्ति की थी। इस समिति के अनुमान वास्तविकता से अधिक समीप जान पड़ते हैं। समिति ने देश में राष्ट्रीय आय-सम्बन्धी आँकड़ों को एकत्र करने की प्रणाली के दोषों पर विचार किया तथा इनमें आवश्यक सुधार लाने की सिफारिश की।

१. अगस्त, १९४९ ई० में भारत सरकार ने प्रो० पी० सी० महालनोबिस की अध्यक्षता में एक राष्ट्रीय आय समिति की नियुक्ति की थी जिसका उद्देश्य देश की राष्ट्रीय आय के सम्बन्ध में अनुमान लगाना था। समिति ने अपनी पहली रिपोर्ट १९५१ ई० में तथा अन्तिम रिपोर्ट १९५४ ई० में प्रकाशित की।

किन्तु आज भी हमारे देश में राष्ट्रीय आय-सम्बन्धी अनुमान सरकारी आँकड़ों पर ही आधारित हैं। केन्द्र तथा राज्य सरकारों से प्राप्त आँकड़े ही इसके लिए प्रयोग किये जाते हैं। किन्तु इन आँकड़ों की अनेक सीमाएँ हैं। कृषि एवं तत्सम्बन्धी उद्योगों के आँकड़े तो बिलकुल अपूर्ण होते हैं। कृषि का हमारे देश की आर्थिक व्यवस्था मे महत्त्वपूर्ण स्थान है, फिर भी इसके सम्बन्ध में सही आँकड़े उपलब्ध नही हैं। हमारे देश में इन आकड़ों को एकत्र करने की प्रणाली आज भी पूर्णतया दोषपूर्ण है। कारखाना संस्थानों के अन्तर्गत भी छोटे-छोटे कारखानों के सम्बन्ध में सन्तोषजनक आँकड़े उपलब्ध नहीं हैं। किन्तु इन छोटे-छोटे कारखानों का हमारी आर्थिक व्यवस्था में बड़ा ही महत्त्वपूर्ण स्थान है। सरकारी कार्यों एवं अन्य सेवाओं के सम्बन्ध में भी आर्थिक वर्गीकरण करना कठिन हो जाता है। इन सब कठिनाइयों के साथ-साथ राष्ट्रीय आय के अनुमान से सम्बन्धित एक महत्त्वपूर्ण कठिनाई देश की जनता की निरक्षरता एवं हिसाब नही रखने की आदत भी है। साथ ही, हमारे देश में आज भी वस्तु-विनिमय प्रणाली, विशेषतः ग्रामीण क्षेत्रों में बड़े पैमाने पर प्रचलित है। इससे भी इस क्षेत्र में कठिनाई उपस्थित हो जाती है।

इस प्रकार देश में राष्ट्रीय आय के आँकड़े एकत्र करने को प्रणाली बड़ी ही दोषपूर्ण है। राष्ट्रीय आय समिति के अनुसार भी सरकारी गणनाओं में १० प्रतिशत तक अशुद्धि की सम्भावना रहती है। किन्तु उपरोक्त तथ्यों के विवेचन से यह कहा जा सकता है कि सरकारी गणनाओं में विशेषतः कृषि एवं छोटे-छोटे उद्योगों से सम्बन्धित अनुमानों में १० प्रतिशत से भी अधिक अशुद्धि की सम्भावना पायी जाती है। राष्ट्रीय आय समिति ने आँकड़े एकत्र करने की प्रणाली में सुधार के लिए बहुत से उपाय प्रस्तावित किया था जिन्हें सरकार आजकल अमल में लाने का प्रयास कर रही है। आँकड़ों के निरन्तर एवं विधिवत् संग्रह के लिए सरकार द्वारा १९५० ई० में एक राष्ट्रीय न्यादर्श सर्वेक्षण (National Sample Survey) की स्थापना की गयी जिससे इस कार्य मे बहुत अधिक सुविधा की आशा की जाती है।

वर्तमान समय में भारत में राष्ट्रीय आय-सम्बन्धी आँकड़े दो प्रकार से प्रकाशित होते हैं :—

(१) परम्परागत तरीका (Conventional Series) :— इस पद्धति में राष्ट्रीय आय के आँकड़े १९४८-४९ के मूल्य तथा प्रचलित मूल्यों के आधार पर तैयार किये जाते हैं। **(२) संशोधित तरीका** (Revised Series) :—इस तरीके से राष्ट्रीय आय की गणना प्रचलित मूल्य (Current Prices) के साथ-साथ १९६०-६१ के मूल्य-तल के आधार पर तैयार की जाती है। पहले-पहल C. S. O. द्वारा १९६७ में संशोधित आधार पर राष्ट्रीय आय का अनुमान लगाया गया था। इसके अंतर्गत सम्पूर्ण अर्थ-व्यवस्था को १५ वर्गों में विभाजित किया गया है—(१) कृषि, (२) वन, (३) मत्स्य, (४) खनिज, (५) बड़े पैमाने के निर्माण, (६) लघु प्रमाप निर्माण, (७)निर्माण (Construction), (८) विद्युत्, गैस एवं जल-आपूर्त्ति, (९) यातायात एवं संवादवाहन, (१०) व्यापार, (११) बैंकिंग एवं बीमा, (१२) मकान, (Real estates and ownership of dwellings), (१३) सार्वजनिक प्रशासन एवं प्रतिरक्षा, (१४) अन्य सेवाएँ तथा (१५) बाह्य लेन-देन।

विभिन्न उद्योगों एवं सेवाओं से प्राप्त आय

(National Income by Industrial Origin)

किसी देश की राष्ट्रीय आय विभिन्न साधनों के सहयोग का परिणाम है। भारत में विभिन्न औद्योगिक स्रोतों द्वारा प्राप्त आय का अन्दाजा निम्नलिखित तालिका[1] से लगाया जा सकता है :—

1. INDIA—1971-72.

विभिन्न उद्योगों एवं सेवाओं से प्राप्त आय (करोड़ रुपये में)—

उद्योग	१९६०-६१	१९६५-६६	१९६७-६८	१९६८-६९
कृषि	६,५७०	९,५२३	१४,६६५	१३,९१६
वन-उद्योग	१७४	२९८	४१७	४४९
मत्स्य उद्योग	७७	१२४	१५३	१६६
कुल	६,८२१	९,९४५	१५,२३५	१४,५३१
खनिज	१४४	२३४	२९१	३१८
कारखाना संस्थान	१,०७१	१,८३९	२,०६७	२.२४३
लघु संस्थान	७८५	१,२६५	१,४५८	१,५६०
निर्माण (Construction)	६२०	९४२	१,०९८	१,१६९
विद्युत्, गैस तथा जल-आपूर्ति	६८	१४४	२०२	२४५
कुल	२ ६८८	४,१८४	५,११६	५,५३५
रेलवे	१५२	४२६	४१३	४६९
अन्य यातायात	२५४	४७५	५९२	६७१
संचार	६३	१३२	१४३	१७५
व्यापार, संचय तथा होटल इत्यादि	१३०१	३,१६९	३,१२९	३,१२२
कुल	१,८७०	३,६९२	४,२७७	४,४४५
बैंकिंग एवं बीमा	१५८	३६४	३८५	४३२
वास्तविक सम्पत्ति तथा निवास-स्थान	३८६	६१५	६३८	६७१
सार्वजनिक सेवाएं	५३८	१,०९९	१,२४९	१,३६७
अन्य सेवाएं	९०५	१,५३८	१,७१५	१,८६०
कुल	१,९८७	३,६१६	३,९८७	४,३३०
कुल राष्ट्रीय आय	१३,३६६	२३,८७२	२८,६१५	२८,८४१

इस प्रकार उपरोक्त तालिका से देश की राष्ट्रीय आय में विभिन्न साधनों के सहयोग का अन्दाजा लगता है। निम्नांकित तालिका[1] से राष्ट्रीय आय में विभिन्न साधनों के सहयोग का तुलनात्मक तरीके से अन्दाजा लगाया जा सकता है :

राष्ट्रीय आय में विभिन्न साधनों का हिस्सा (प्रतिशत)

उद्योग	१९४८-४९	१९५०-५१	१९५५-५६	१९६०-६१	१९६५-६६	१९६७-६८
१. कृषि एवं तत्सम्बन्धी उद्योग	४९·१	४९·०	४७·९	४६·४	३९·०	४१·६
२. खनिज, निर्माण एवं लघु-संस्थान	१७·१	१६·७	१६·८	१६·६	१८·२	१६·७
३. वाणिज्य एवं यातायात	१८·५	१८·८	१८·८	१९·३	२०·३	१९·२
४. अन्य सेवाएँ	१५·५	१५·७	१६·५	१८·१	२३·३	२३·८
५. बाहर से प्राप्त शुद्ध आय	-०·२	-०·२	-०·०	·०·४	-०·८	-१·३
कुल	१००·०	१००·०	१००·०	१००·०	१००·०	१००·०

उपरोक्त तालिका से स्पष्ट है कि देश की कुल राष्ट्रीय आय का एक बहुत बडा भाग कृषि से ही प्राप्त होता है। १९६०-६१ में कृषि से देश की कुल आय का प्राय: ४६·४ प्रतिशत भाग प्राप्त आ था। किन्तु १९६५-६६ तथा १९६६-६७ में खराब फसल के कारण कृषि से प्राप्त आय में अत्यधिक कमी हो गयी। किन्तु पुन: १९६७-६८ में कृषि से प्राप्त आय में वृद्धि होने लगी है। खनिज, निर्माण एवं लघु उद्योगों से राष्ट्रीय आय का कुल $\frac{1}{6}$ भाग प्राप्त होता है, जबकि वाणिज्य, बैंकिग, यातायात से कुल आय का $\frac{1}{5}$ प्राय: भाग प्राप्त होता है जबकि अन्य सेवाओं का हिस्सा $\frac{1}{4}$ भाग है।

डा० राव ने १९३१-३२ ई० एवं १९५०-५१ में देश की राष्ट्रीय आय की तुलना की है। इनके अनुसार इन दोनों वर्षों में प्रति व्यक्ति वास्तविक आय में प्राय: कोई परिवर्तन नहीं हुआ है। इस प्रकार भारतीय अर्थ-व्यवस्था दो दशाब्दियों के बीच पूर्णत: स्थायी रही है। इसके विस्तृत विवेचन से स्पष्ट है कि इस समय के बीच में देश के औद्योगीकरण एवं कृषि में विकास के लिए किये गये प्रयत्नों से वास्तविक आय में प्राय: कोई वृद्धि नहीं हुई है।

विश्व के अन्य देशों से तुलना (Comparison with other countries of the World) :—भारत की प्रति-व्यक्ति औसत आय विश्व के प्राय: सभी सुसभ्य देशों से कम है। इससे हमारी निर्धनता का अन्दाजा लगता है। भारत की निर्धनता आज विश्व-विख्यात है। यहाँ सर्वत्र भूखमरी एवं दरिद्रता का विस्तृत साम्राज्य है। हमारी प्रति-व्यक्ति औसत आय विश्व के प्राय: सभी सुसभ्य देशों से कम है जो पृ० १०४ की तालिका से स्पष्ट है :—

1. Economic Survey, 1969-70., P. 63

देश	प्रति-व्यक्ति औसत आय (१६६६ ई० में)[1] (यू० एस० डॉलर में)
पश्चिमी जर्मनी	२१६०
ब्रिटेन	१८६०
संयुक्त राज्य अमेरिका	४१४०
कैनाडा	२६५०
जापान	१४३०
भारत	१००

इस प्रकार भारत की प्रति-व्यक्ति औसत आय की तुलना में संयुक्त राज्य अमेरिका ग्रेट-ब्रिटेन तथा आस्ट्रेलिया की प्रति-व्यक्ति औसत आय क्रमशः ४२ गुना, १४ गुना तथा १५ गुना अधिक है। इससे हमारी राष्ट्रीय आय की अपर्याप्तता का अन्दाजा लगाया जा सकता है।

राष्ट्रीय आय समिति

(National Income Committee)

अगस्त, १६४६ ई० में राष्ट्रीय आय एवं तत्सम्बन्धित विषयों पर विचार करने के उद्देश्य से भारत सरकार ने प्रो० पी० सी० महालनविस की अध्यक्षता में एक राष्ट्रीय आय समिति (National Income Committee) की नियुक्ति की थी। राष्ट्रीय आय समिति ने देश की राष्ट्रीय का अनुमान १६४८-४६ एवं १६५०-५१ ई० के लिए लगाया था। समिति की पहली रिपोर्ट १९५१ में तथा अन्तिम रिपोर्ट १६५४ में प्रकाशित हुई।

समिति के अनुसार १६४८-४६ ई० में भारत की कुल राष्ट्रीय आय ८६५० करोड़ रुपये तथा प्रति-व्यक्ति औसत आय २४६·९ रुपये थी। इसे डॉलर के रूप में परिवर्तित करने पर ५८·७ डॉलर के लगभग होता है। इसकी तुलना यदि हम उस वर्ष में संयुक्त राज्य अमेरिका की प्रति-व्यक्ति आय २३०८ डॉलर तथा कैनाडा की १४०८ डॉलर से करते हैं तो हमारी भीषण निर्धनता स्पष्ट हो जाती है। भारत में प्रति व्यक्ति आय के कम होने का प्रधान कारण अधिकांश देशवासियों की घोर निर्धनता है। कमिटी के अनुसार देश की राष्ट्रीय आय में विभिन्न साधनों के हिस्से के अध्ययन से देश की असंतुलित अर्थ-व्यवस्था का अन्दाजा लगता है। १६६७-६८ ई० में राष्ट्रीय आय का प्रायः ४१·६ प्रतिशत भाग केवल कृषि (पशु-पालन सहित) से प्राप्त हुआ था; वाणिज्य, यातायात एवं संवादवाहन से १६·२ प्रतिशत तथा निर्माण-उद्योगों, हस्तकला एवं खनिज से केवल १६·२ प्रतिशत आय प्राप्त हुई थी। इसके विपरीत इंगलैंड में १६६१ ई० में उद्योग-धंधों से कुल राष्ट्रीय आय का ४५ प्रतिशत भाग तथा कृषि से केवल ४ प्रतिशत भाग प्राप्त हुआ था। इससे भारत की असंतुलित आर्थिक व्यवस्था का अन्दाजा लगता है। राष्ट्रीय आय समिति की पहली रिपोर्ट के अनुसार भारत में कुल राष्ट्रीय आय का प्रायः ५० प्रतिशत भाग खाद्यान्न पर व्यय किया जाता है। राष्ट्रीय न्यादर्श सर्वेक्षण, १६५५ ई० (National Sample Survey, 1955) के अनुसार ग्रामीण क्षेत्रों में कुल आय का दो-तिहाई भाग खाद्यान तथा एक-तिहाई भाग वस्त्र पर व्यय किया जाता है। इस प्रकार हमारे देश में भोजन एवं वस्त्र व्यय की दो प्रधान मदें हैं जिनपर राष्ट्रीय आय का अधिकांश भाग व्यय किया जाता है। इससे पंचवर्षीय योजनाओं के अन्तर्गत अत्यधिक मात्रा में घाटे की वित्त-व्यवस्था का परिणाम भी स्पष्ट हो जाता है। स्पष्ट है कि घाटे की वित्त-व्यवस्था के परिणामस्वरूप जो अतिरिक्त आय का सृजन होगा उससे भोजन एवं वस्त्र की

1. United Nations Statistical Year Book.

मांग बढ़ेगी। अतएव भारत जैसे देश में मुद्रा स्फीति के दबाव को रोकने के लिए खाद्यान्न एवं वस्त्र की पूर्ति का पर्याप्त मात्रा में लोचपूर्ण होना अति आवश्यक है।

राष्ट्रीय आय समिति के मुख्य विचार : —भारत की राष्ट्रीय आय के सम्बन्ध में राष्ट्रीय आय समिति के प्रमुख विचार निम्नांकित हैं :—

(१) समिति के अनुसार भारत की राष्ट्रीय आय चालू कीमतों के अनुसार १९४८-४९ ई० में ८६५० करोड़ रुपये थी जो बढ़कर १९४९-५० ई० में ९०१० करोड़ रु० तथा १९५०-५१ ई० में ९५३० करोड़ रु० हो गयी। इस प्रकार इन तीन वर्षों में राष्ट्रीय आय में ८८० करोड़ रु० या प्रायः १०·२ प्रतिशत की वृद्धि हुई। परन्तु इस अवधि में कीमतों में भी वृद्धि हो रही थी। समिति ने यह बतलाया कि १९४८-४९ ई० की कीमतों के आधार पर राष्ट्रीय आय, जो १९४८-४९ ई० में ८६५० करोड़ रु० थी, १९५०-५१ ई० में ८८५० करोड़ रु० हो गयी, यानी स्थायी मूल्य-तल पर राष्ट्रीय आय में केवल २०० करोड़ रुपये की ही वृद्धि हुई। इस प्रकार तीन वर्षों में राष्ट्रीय आय में वास्तविक वृद्धि केवल २·३ प्रतिशत हुई।[1]

(२) समिति के अनुसार भारत में प्रति व्यक्ति आय चालू कीमतों के अनुसार १९४८-४९ ई० में २४६·९ रु० थी जो बढ़कर १९५०-५१ ई० में २६५·२ रु० हो गयी, यानी चालू कीमतों के आधार पर इन तीन वर्षों में प्रति-व्यक्ति आय में ७·४ प्रतिशत की वृद्धि हुई। परन्तु यदि स्थिर कीमतों के आधार पर हिसाब लगाया जाय तो ज्ञात होता है कि इस अवधि में प्रति-व्यक्ति आय लगभग एक समान रही। वास्तव में, यह १९४९-५० ई० में ०·७ प्रतिशत बढ़ी, परन्तु १९५०-५१ ई० में १९४९-५० ई० की तुलना से ०·९ प्रतिशत घट गयी।

(३) समिति के प्रतिवेदन से यह स्पष्ट है कि १९५०-५१ ई० में हमारी राष्ट्रीय आय में कृषि का हिस्सा ५१·३ प्रतिशत, खनिज उद्योग, माल तैयार करने के कारखानों और छोटे उद्योगों का १६·१ प्रतिशत; वाणिज्य-परिवहन और संचार का १७·७ प्रतिशत और अन्य सेवाओं का १५·१ प्रतिशत था। इन आंकड़ों से भारत की अर्थ-व्यवस्था का असंतुलन प्रकट होता है। यह भी स्पष्ट है कि इस असन्तुलन को दूर करने के लिए भारत में उद्योगों का विकास आवश्यक है। किन्तु सन्तोष का विषय है कि हमारी पंचवर्षीय योजनाओं में इस ओर प्रयत्न किया जा रहा है।

(४) समिति के प्रतिवेदन से यह स्पष्ट होता है कि १९५०-५१ ई० में भारत के विशुद्ध घरेलू उत्पादन की कीमत ९५५० करोड़ रु० थी जिसमें से ६२९० करोड़ रु० का उत्पादन कृषि एवं छोटे उद्योगों में हुआ और लगभग १०२० करोड़ रुपये का उत्पादन बड़े उद्योगों से हुआ था। इन आंकड़ों से भारत की अर्थ-व्यवस्था में कृषि तथा लघु उद्योगों की प्रधानता स्पष्ट हो जाती है जिनके उत्पादन का मूल्य बड़े उद्योगों की अपेक्षा प्रायः ६ गुना अधिक है। हमारी द्वितीय पंचवर्षीय योजना में छोटे उद्योगों का महत्व स्वीकार करके इनके विस्तार और पुनर्संगठन की व्यवस्था भी की गयी थी।

(५) राष्ट्रीय आय समिति के अनुमान के अनुसार चालू कीमतों के आधार पर १९४८-४९ एवं १९५२-५३ के बीच में राष्ट्रीय आय में खेती तथा तत्सम्बन्धित उद्योगों का योगदान ४९·१ प्रतिशत से बढ़कर ५१·३ प्रतिशत हो गया जबकि खनिज तथा निर्माण उद्योगों का भाग १७·१

1. Final Report of the National Income Committee, Feb. 1954, p. 114

प्रतिशत से घटकर १६.१ प्रतिशत रह गया। परन्तु यदि स्थिर कीमतों के आधार पर हिसाब लगाया जाय तो स्थिति में विशेष अन्तर नहीं प्रकट होता।

(६) समिति की रिपोर्ट से यह प्रकट होता है कि करों से प्राप्त आय, विशेषतः परोक्ष करों की आय, सरकारी व्यय और सार्वजनिक क्षेत्रों में विनियोग बढ़ा है। ये बातें भारतीय अर्थ-व्यवस्था में सरकारी क्षेत्र के बढ़ते हुए महत्त्व को स्पष्ट करती है।

(७) राष्ट्रीय आय समिति के प्रतिवेदन की ३८ वीं और ३६ वीं सारणियों से स्पष्ट होता है कि इस अवधि में भारत में विदेशी पूँजी का आयात घट गया था। इसका कारण स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् इस सम्बन्ध में सरकारी नीति की अनिश्चितता और विदेशी पूँजी का अधिकाधिक मात्रा में बाहर जाना है।

पंचवर्षीय योजनाओं में राष्ट्रीय आय
(National Income in Five Year Plans)

प्रथम एवं द्वितीय पंचवर्षीय योजनाओं में राष्ट्रीय आय (National Income in the First and Second Five Year Plans) :—भारत में योजनाकरण का प्रधान उद्देश्य देशवासियों के जीवन-स्तर को ऊँचा उठाना है। भारत की प्रति-व्यक्ति आय बहुत ही कम है। यही कारण है कि हमारा जीवन-स्तर इतना निम्न है। अतः, पंचवर्षीय योजनाओं के अन्तर्गत उत्पादन में चतुर्दिक वृद्धि द्वारा देश की राष्ट्रीय आय को बढ़ाने का प्रयत्न किया जा रहा है। प्रथम पंचवर्षीय योजना तैयार करने के समय योजना आयोग ने इस सम्बन्ध में एक दीर्घकालीन नीति को अपनाया था जिसके अनुसार राष्ट्रीय आय को १९६७-६८ ई० तक तथा १९७३-७४ ई० तक प्रति-व्यक्ति आय को दुगुना करने का आयोजन था। किन्तु प्रथम योजना में राष्ट्रीय आय एवं प्रति-व्यक्ति आय दोनों में आयोजित लक्ष्य से भी अधिक वृद्धि हुई जिससे यह अनुमान किया जाने लगा कि ये लक्ष्य कम ही समय में पूरे हो जायँगे। अतएव आयोग ने आगे चलकर इनमें परिवर्तन किया। **प्रथम एवं द्वितीय पंचवर्षीय योजनाओं में राष्ट्रीय** आय एवं प्रति-व्यक्ति औसत आय में वृद्धि का अन्दाजा निम्नांकित तालिका से लगता है :—

	इकाई	१९५०-५१	१९५५-५६	१९६०-६१	दस वर्षों में प्रतिशत वृद्धि
राष्ट्रीय आय (१९६०-६१ ई० के मूल तल-पर)	करोड़ रु० में	१०,२४०	१२,१३०	१४,१४०	४२.६
जनसंख्या	दस लाख में	३६१	३६७	४३९	२१.५
प्रति-व्यक्ति आय (१९६०-६१ ई० के मूल्य-तल पर)	रुपये में	२८४	३०६	३२६	१६.०

योजना आयोग के अनुसार प्रथम योजनाकाल में राष्ट्रीय आय में १८·४ प्रतिशत तथा प्रतिव्यक्ति आय में प्रायः ११ प्रतिशत की वृद्धि हुई। द्वितीय पंचवर्षीय योजना काल में राष्ट्रीय आय में कुल २५ प्रतिशत वृद्धि का आयोजन था किन्तु ५ वर्षों में राष्ट्रीय आय में २०·४ प्रतिशत की ही वृद्धि हुई। इस प्रकार १० वर्षों में, यानी १९५१-५२ से १९६०-६१ ई० के बीच राष्ट्रीय आय में ४२·६ प्रतिशत तथा प्रति-व्यक्ति आय में १६·० प्रतिशत की वृद्धि हुई। उपरोक्त विवरण से स्पष्ट है कि प्रथम एवं द्वितीय योजनाकाल के दस वर्षों में राष्ट्रीय आय में औसत रूप से ४ प्रतिशत प्रतिवर्ष की वृद्धि हुई। किन्तु चूँकि इस बीच जनसंख्या में अनुमानित दर से भी अधिक वृद्धि हुई, अतएव प्रति-व्यक्ति आय में केवल १६ प्रतिशत की ही वृद्धि हुई।

द्वितीय पंचवर्षीय योजना के पाँच वर्षों में प्रति-व्यक्ति औसत आय १९४८-४९ ई० के मूल्य-तल पर १९५०-५१ में २४७·५ रु० तथा १९५५-५६ में २६७·८ रु० से बढ़कर १९५६-५७ ई० में २७५·६ रुपये, १९५७-५८ ई० में २६७·७ रुपये, १९५८-५९ ई० में २८०·१ रुपये, १९५९-६० ई० में २७६·२ रुपये तथा १९६०-६१ ई० में २९३·७ रुपये थी। १९६०-६१ ई० के मूल्य-तल के आधार पर प्रति-व्यक्ति आय द्वितीय योजना के अन्त में ३२६ रुपये थी।

तृतीय पंचवर्षीय योजना में राष्ट्रीय आय (National Income in the Third Five Year Plan) :—तृतीय पंचवर्षीय योजना में भी राष्ट्रीय आय में पर्याप्त वृद्धि का आयोजन था। यदि योजना के सभी कार्यक्रम पूरे हो जाते तो राष्ट्रीय आय मे (१९६०-६१ ई० के के मूल्य-तल पर) ३४ प्रतिशत वृद्धि की आशा की गयी थी। किन्तु राष्ट्रीय आय में इतनी वृद्धि के लिए इसमें बहुत अधिक प्रयत्नों की आवश्यकता थी। अतएव योजना आयोग का यह अनुमान था कि योजनाकाल में राष्ट्रीय आय में प्रतिवर्ष ५ प्रतिशत की वृद्धि होगी।

किन्तु तृतीय पंचवर्षीय योजना के इस लक्ष्य की पूर्ति नहीं हो सकी तथा १९६०-६१ ई० के मूल्य-तल के आधार पर तृतीय योजना के प्रथम चार वर्षों में राष्ट्रीय आय में २० प्रतिशत की वृद्धि हुई, किन्तु १९६५-६६ में इसमें ५·७ प्रतिशत की कमी हुई। योजना काल में राष्ट्रीय आय में १९६१-६२ ई० में ३·९ प्रतिशत तथा १९६२-६३ ई० में केवल २·१ प्रतिशत की वृद्धि हुई इसके पश्चात् इसकी गति में कुछ सुधार हुआ तथा राष्ट्रीय आय में १९६३-६४ ई० में ६·१ प्रतिशत तथा १९६४-६५ ई० में ८ प्रतिशत की वृद्धि हुई। किन्तु १९६५-६६ ई० में भयानक सूखा तथा पाकिस्तानी आक्रमण के कारण राष्ट्रीय आय में ५·७ प्रतिशत की कमी हुई। इस प्रकार तृतीय योजनाकाल में राष्ट्रीय आय में प्रायः २.५ प्रतिशत वार्षिक की दर से वृद्धि हुई, जबकि लक्ष्य ५ प्रतिशत से भी अधिक वार्षिक वृद्धि का था। और चूँकि तृतीय योजना काल में जनसंख्या में भी प्रायः इसी दर से वृद्धि हुई, अतएव प्रति-व्यक्ति आय (Per-capita income) में इस अवधि में प्रायः कोई वृद्धि नहीं हुई, यानी १९६५-६६ ई० के अन्त में प्रति-व्यक्ति आय प्रायः उतनी ही थी जितनी कि योजना के प्रारम्भ, यानी १९६०-६१ ई० में। तृतीय योजना के बाद वाले वर्ष यानी, १९६६-६७ में राष्ट्रीय आय में १·१ प्रतिशत की वृद्धि हुई, किन्तु १९६७-६८ में राष्ट्रीय आय में ९ प्रतिशत तथा १९६८-६९ में लगभग ३ प्रतिशत की वृद्धि हुई।

तृतीय योजना के प्रारम्भ से लेकर आठ वर्षों में राष्ट्रीय आय एवं प्रति व्यक्ति आय में वृद्धि का अन्दाजा निम्नांकित तालिका से लगाया जा सकता है :—

राष्ट्रीय आय एवं प्रति-व्यक्ति आय (१९६०-६१ के मूल्य-तल पर)[1]

वर्ष	राष्ट्रीय आय (करोड़ रु० में)	राष्ट्रीय आय का सूचनांक (१९६०-६१ = १००	प्रति-व्यक्ति आय (रु० में)	प्रति-व्यक्ति आय का सूचनांक (१९६०-६१ = १००
१९६०-६१	१३,२९८	१००·०	३०५·०	१००·०
१९६१-६२	१३,७९५	१०३·७	३१०·७	१०१·३
१९६२-६३	१४,०६७	१०५·७	३०८·८	१००·७
१९६३-६४	१४,८८९	१११·९	३१९·२	१०४·१
१९६४-६५	१५,९४५	११९·८	३३३·२	१०८·८
१९६५-६६	१५,०४५	११३·१	३०७·२	१००·२
१९६६-६७	१५,१७३	११४·०	३०२·४	९८·६
१९६७-६८	१६,५२५	१२४·२	३२१·३	१०४·८
१९६८-६९	१६,८३०	१२६·५	३१९·३	१०४·१
तृतीय योजना में वार्षिक वृद्धि की दर २·५		×	ऋणात्मक	×

चतुर्थ पंचवर्षीय योजना में राष्ट्रीय आय (National Income in the Fourth Five Year Plan) :—चतुर्थ पंचवर्षीय योजना में भी राष्ट्रीय आय में महत्त्वपूर्ण वृद्धि का आयोजन है। चतुर्थ योजना में विकास के विभिन्न कार्यक्रमों के परिणामस्वरूप ऐसी आशा की जाती है कि योजना काल में वार्षिक विकास की दर ५·५ होगी। योजना आयोग के अनुसार योजना काल में विभिन्न उद्योगों की शुद्ध उत्पत्ति में वृद्धि का अन्दाजा निम्नांकित तालिका[2] से लगाया जा सकता है :—

चतुर्थ योजना में शुद्ध उत्पत्ति का अनुमान (१९६८-६९ के मूल्य-तल पर करोड़ रु० में)

मदें	१९६८-६९	१९७३-७४
१. कृषि एवं तत्सम्बन्धी उद्योग	१४, ८६४	१८,९५१
२. खनिज, निर्माण तथा लघु संस्थान	५,४९७	८,०५८
३. वाणिज्य, यातायात एवं संचार	४,४१४	६,१४२
४. अन्य	४,२९५	५,१५५
५. विदेशों से प्राप्त आय	(—) २७०	(—) ४०६
	२८,८००	३७,९००

चतुर्थ योजना काल में जनसंख्या में औसत प्रतिवर्ष २·५ प्रतिशत की दर से वृद्धि की आशा की जाती है। अतएव इस आधार पर यह कहा जाता है कि योजना काल में प्रति-व्यक्ति आय में अनुमानतः ३ प्रतिशत की वार्षिक वृद्धि होगी। विकास के उपरोक्त लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिए चतुर्थ योजनाकाल में आंतरिक बचत की दर को १९६८-६९ के ९ प्रतिशत से बढ़ाकर १९७ ई० में १३·२ प्रतिशत तथा विनियोग की दर को १९६८-६९ के ११ ३ प्रतिशत से बढ़ाकर १९७३-७४ में १४·५ प्रतिशत करने का आयोजन है।

1. Government of India : Economic Survey 1969-70.
2. Fourth Five Year Plan. 1969-74, P. 63.

चतुर्थ योजना की अर्द्ध-सामयिक समीक्षा (Mid-term Appraisal) के अनुसार १९६९-७० में राष्ट्रीय आय में ५.३ प्रतिशत तथा १९७०-७१ में ४.८ प्रतिशत की वृद्धि हुई।

विकास की दीर्घकालीन प्रत्याशा (The long-term perspective) :—तृतीय योजना के निर्माण के समय देश के आर्थिक विकास के लिए दीर्घकालीन उद्देश्य निश्चित किया गया था जिसके अनुसार आगे आने वाले वर्षों में ६ प्रतिशत वार्षिक विकास की व्यवस्था की आशा की गयी थी।[1] किन्तु कई कारणों से तृतीय योजना तथा बाद के दो वर्ष (१९६६-६७ एवं १९६७-६८) कठिनाइयों से परिपूर्ण सिद्ध हुए जिससे आयोग के दीर्घकालीन उद्देश्यों की पूर्ति नहीं हो सकी। अतएव चतुर्थ योजना काल में ५.५ प्रतिशत विकास की दर निश्चित की गयी है जिसके अनुसार १९७३-७४ में प्रत्याशित राष्ट्रीय आय तृतीय योजना के दीर्घकालीन लक्ष्य से कम ही होगी। किन्तु चतुर्थ योजना में किये गये प्रयासों तथा आगे की योजनाओं में ऊँची दर से विनियोग के कारण पाँचवीं तथा आने आनेवाली पंचवर्षीय योजनाओं मे विकास की दर में और वृद्धि, अनुमानतः ६ प्रतिशत वार्षिक वृद्धि की आशा की गयी है। इस आधार पर १९८०-८१ ई० में राष्ट्रीय आय (१९६७-६८ के मूल्य-तल पर, के ५८२ बिलियन, यानी १९६७-६८ से दुगुना होने की आशा की जाती है, किन्तु इस अवधि में चूँकि जनसंख्या में भी एक-तिहाई के लगभग वृद्धि की आशा की जाती है, अतः १९८०-८१ में प्रति व्यक्ति आय १९६७-६८ की तुलना में ५५ प्रतिशत ही अधिक होगी। दीर्घकालीन विकास के इस परिवर्तित क्रम के अनुसार तृतीय योजना काल में निर्धारित १९७५-७६ के लक्ष्य की पूर्ति १९८०-८१ ई० में, यानी तीन-चार वर्ष बाद में होगी। चतुर्थ योजना के अनुसार १९६८-६९ से १९८०-८१ के बीच राष्ट्रीय आय में वृद्धि का लक्ष्य निम्नांकित तालिका[2] से स्पष्ट हो जाता :—

वर्ष	राष्ट्रीय आय (१९६८-६९ के मूल्य-तर पर १०० करोड़ रु० में)	जनसख्या (लाख में)	प्रति-व्यक्ति आय (रु० में)
१९६८-६९	२९०.७	५२७	५५२
१९७३-७४	३८३.१	५९६	६४३
१९७८-७९	५१७.०	६६६	७७६
१९८०-८१	५८२.२	६९०	८४४
१९६७-६८ की तुलना में १९८०-८१ में वृद्धि का सूचनांक	२००.०	१३१	१५५

1. तृतीय योजना के अगले १५ वर्षों में राष्ट्रीय आय में वृद्धि का निम्नांकित लक्ष्य निर्धारित किया गया था :—

वर्ष	राष्ट्रीय आय (१९६०-६१ ई० के मूल्य-तल पर)	प्रति-व्यक्ति आय १९६०-६१ ई० के मूल्य-तल पर)
१९६०-६१ (द्वितीय योजना के अन्त में)	१४,५०० करोड़ रु०	३३० रु०
१९६५-६६ (तृतीय योजना के अन्त में)	१९,००० ,, ,,	३८५ ,,
१९७०-७१ (चतुर्थ योजना के अन्त में)	२५,००० ,, ,,	४५० ,,
१९७५-७६ (पंचम योजना के अन्त में)	३३,००० ,, रु० से ३४,००० करोड़ रु०	

2. Fourth Five Year Plan, 1969-74, p. 432.

निष्कर्ष :—इस प्रकार पंचवर्षीय योजनाओं का प्रधान उद्देश्य देश की राष्ट्रीय आय में पर्याप्त वृद्धि करना है, किन्तु जनसंख्या में द्रुतगति से वृद्धि के फलस्वरूप राष्ट्रीय आय एवं प्रति-व्यक्ति आय में समान रूप से वृद्धि नहीं होती। इससे यह कहा जा सकता है कि जिस अनुपात में राष्ट्रीय आय में वृद्धि हो रही है उस अनुपात में हमारी औसत समृद्धि में वृद्धि नहीं हो रही है। साथ ही, यह बढ़ी हुई राष्ट्रीय आय कहाँ तक हमारी आर्थिक समृद्धि की वृद्धि में सहायक होती है, यह राष्ट्रीय आय के समुचित वितरण पर निर्भर करता है। राष्ट्रीय आय पर मूल्य-तल का भी प्रभाव पड़ता है। मूल्य-तल में वृद्धि के फलस्वरूप राष्ट्रीय आय की वृद्धि से हमारी समृद्धि में अनुपातिक दर से वृद्धि नहीं हो सकती। इस प्रकार पंचवर्षीय योजनाओं में बढ़ी हुई राष्ट्रीय आय से जनसाधारण तभी लाभान्वित हो सकता है जबकि मूल्य-तल में विशेष वृद्धि नहीं हो तथा आय का वितरण अधिक समान एवं न्यायपूर्ण तरीके से हो। अतः आज देश की आर्थिक समृद्धि के लिए उत्पादन में वृद्धि के साथ-साथ निम्नलिखित बातों पर ध्यान देना आवश्यक है—(१) मूल्य-तल में वृद्धि की प्रवृत्ति को रोकना, (२) जनसंख्या की वृद्धि पर नियन्त्रण, तथा (३) आय का अधिक उचित एवं न्यायापूर्ण तरीके से वितरण।

विशेष अध्ययन-सूची

1. Final Report of the National Income Committee, Feb, 1954
2. V. K. R. V. Rao : National Income of British India, 1939
3. N. C. A. E. R. : Distribution of National Income by States 1960-61.
4. India, 1971-72
5. First, Second, Third and Fourth Five Year Plans of India

द्वितीय खण्ड

"The central objective of Planning in India is to raise the standard of living of the people and to open to them opportunity for a richer and more varied life."

—Planning Commission.

"Planning, under a democratic system, may be defined as the technical co-ordination by disinterested experts of consumption, production, investment, trade and income distribution, in accordance with social objectives set by bodies representative of the nation. Such planning is not to be considered only from the point of view of economics, and the raising of the standard of living, but must include cultural and spiritual values and the human side of life.

National Planning Commitee.

नियोजन एवं भारतीय अर्थ-व्यवस्था

(Planning and the Indian Economy)

अध्याय : ६

आर्थिक नियोजन के मूल सिद्धान्त

(Fundamentals of Economic Planning)

प्राक्कथन :—आर्थिक नियोजन मुख्यत: बीसवीं शताब्दी की ही देन है। यों तो साधारणतया नियोजन मानव जीवन का एक अंग है और कोई भी ऐसा कार्य नहीं है जिसमें सफलता प्राप्त करने के लिए निश्चित मात्रा में नियोजन की आवश्यकता नहीं पड़ती हो। प्रारम्भ से ही मनुष्य की यह प्रकृति चली आ रही है; किन्तु सभ्यता के विकास, विज्ञान की प्रगति, जनसंख्या में वृद्धि तथा अंतर्राष्ट्रीय सहयोग एवं निर्भरता में वृद्धि के कारण आधुनिक समय में मानव जीवन बड़ा ही जटिल हो गया है। आर्थिक जीवन की जटिलता धीरे-धीरे इतनी बढ़ती जा रही है कि आजकल नियोजन के बिना इसका सफल संचालन सम्भव ही नहीं रह गया है। अनियोजित क्रियाओं से लक्ष्य की पूर्ति बिल्कुल सम्भव नहीं है। प्रो० रॉबिन्स (Robbins) ने इस सम्बन्ध में ठीक ही कहा है कि "सही शब्दों में सम्पूर्ण आर्थिक जीवन में नियोजन की आवश्यकता होती है। योजना तैयार करना किसी उद्देश्य से कार्य करना या चुनाव है और चुनाव ही आर्थिक क्रियाओं का निचोड़ है।" (Strictly speaking, all economic life involves planning. To plan is to act with a promise, a purpose, to chose and choice is the essence of economic activities)[1] दूसरी जगह प्रो० रॉबिन्स ने योजनाकरण के सम्बन्ध में कहा है कि "आर्थिक नियोजन आज के युग की अचूक औषधि है। कल्याणकारी राज्य के आदर्श को प्राप्त करने का एक-मात्र साधन आर्थिक नियोजन ही है।" (Economic planning is a grand panacea of our age. Economic planning is the only means of realising the ideals of a welfare state.)

इस प्रकार आर्थिक नियोजन आधुनिक आर्थिक जीवन का एक महत्त्वपूर्ण अंग बन गया है। अब इसके महत्त्व के सम्बन्ध में कोई विवाद नहीं रह गया है, वास्तविक विवाद नियोजन की मात्रा के सम्बन्ध में ही है। लीविस (Lewis) का भी इस सम्बन्ध में यह कथन विशेष रूप से महत्त्वपूर्ण है कि "नियोजन एवं निर्बाधिता के बीच विवाद आर्थिक जीवन में व्यवस्था एवं अराजकता के बीच विवाद नहीं है।" (The dispute between planning and laissez faire is not a dispute between order and anarchy in economic life.) इनके अनुसार सभी राजनीतिक विचारक इस मान्यता से प्रारम्भ करते हैं कि सामाजिक उद्देश्य की पूर्ति के लिए उत्पादन तथा वितरण दोनों पर नियंत्रण अनिवार्य है। विवाद का विषय केवल यह है कि इसमें कितना नियंत्रण अदृष्टिगोचर एवं कितना दृष्टिगोचर होना चाहिए। अदृष्टिगोचर नियंत्रण जिसे अवैध नीति के समर्थक मानते हैं, का प्रयोग बाजार की शक्तियों द्वारा किया जाता है तथा दृष्टिगोचर नियंत्रण, जिसे नियोजन के समर्थक मानते हैं, राज्य के द्वारा संगठित किया जाता है। एक दूसरी जगह लीविस का कहना है कि "आज मुख्य बात यह नहीं है कि नियोजन हो अथवा नहीं वरन् यह है कि नियोजन का क्या रूप होना चाहिए।" (In fact, the central issue in the discussion on planning is not whether there shall be planning or not, but what form shall it take.)

1. L. Robbins—Economic Planning and International Order, P. 3,

आधुनिक समय में, विशेषत: १९२९-३२ ई० की भयानक आर्थिक मन्दी के बाद से, योजनाकरण का महत्त्व राजनीतिक एवं आर्थिक विचारों में इतना अधिक बढ़ गया है कि यह आर्थिक जीवन का एक महत्त्वपूर्ण अंग बन गया है। वास्तव में, वर्तमान समय में आर्थिक नियोजन की धारणा से सारा विश्व इस प्रकार से प्रभावित हो गया है कि यह इस युग की सर्वोत्तम प्रणाली बन गयी है। यह युद्धोत्तर काल का सबसे बड़ा नारा, या यों कहा जाय कि आधुनिक युग का नैतिक धर्म तथा सभी आधुनिक बीमारियों के लिए रामबाण हो गया है। यह आधुनिक अनियन्त्रित पूँजीवादी समाज की सारी बुराइयों की एक-मात्र दवा है। यही कारण है कि आज केवल रूस, चीन तथा अन्य साम्यवादी देशों में ही नहीं, वरन् इंगलैंड एवं अमेरिका जैसे पूँजीवादी देशों में भी विचार एवं कार्यप्रणाली पर इसका महत्त्वपूर्ण प्रभाव पड़ा है।

आर्थिक नियोजन क्या है ?

(What is Economic Planning ?)

अर्थशास्त्र की ही तरह भिन्न-भिन्न अर्थशास्त्रियों ने नियोजन की भी विभिन्न तरीके से परिभाषाएँ दी हैं। कुछ ने नियोजन के उद्देश्य (Objectives) पर अधिक जोर दिया है तो कुछ ने उसकी प्रणाली (Technique) पर तथा कुछ ने विनियोग (Investment) पर अधिक जोर दिया है तो कुछ ने अधिक लोगों की उन्नति तथा समाज के अधिकतम कल्याण पर। योजनाकरण का आशय देश के आर्थिक साधनों का एक निश्चित उद्देश्य से नियंत्रित तरीके से प्रयोग करना है। साधनों के अनियंत्रित प्रयोग से इनका समुचित उपयोग नहीं हो पाता। साथ ही, समाज के आर्थिक कल्याण में भी इससे कोई वृद्धि नहीं होती। अतएव योजनाकरण के अन्तर्गत एक केन्द्रीय अधिकारी के निर्देशानुसार इनका प्रयोग नियन्त्रित तरीके एवं निश्चित उद्देश्यों के लिए किया जाता है। दूसरे शब्दों में, **"आर्थिक नियोजन किसी दिये हुए समय में किसी निश्चित उद्देश्य की प्राप्ति के लिए आर्थिक शक्तियों का युक्तिपूर्ण नियन्त्रण है। यह सावधानीपूर्वक सोच-समझकर किसी निश्चित उद्देश्य की प्राप्ति का तरीका है।'** (Economic planning is the rational control of the economic forces for the attainment of a well-defined objective within a given interval of time. It is a carefully thoughtout, corelated, purposive policy.)

भिन्न-भिन्न अर्थशास्त्रियों ने आर्थिक नियोजन की विभिन्न प्रकार से परिभाषाएँ दी हैं जिनमें निम्नलिखित विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं :—

लीविस लार्विन (Lewis Lorwin) के अनुसार **"योजनाबद्ध आर्थिक व्यवस्था संगठन की एक ऐसी प्रणाली है जिसमें सारे व्यक्ति तथा अन्य यन्त्रादि, उपक्रम एवं उद्योग एक सम्पूर्ण व्यवस्था की समुचित इकाइयाँ माने जाते हैं जिससे तमाम उपलब्ध साधनों का एक निश्चित अवधि के अन्तर्गत किसी समुदाय की आवश्यकताओं की अधिकतम सन्तुष्टि के लिए उपयोग किया जा सके।"** (Planned economy is a scheme of economic organisation in which individual and separate plants, industries and enterprises are treated as co-ordinate units of one single system for the purpose of utilising available resources to achieve the maximum satisfaction of the people's needs within a given time.) प्रो० लार्विन ने जनता की अधिकतम आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए उत्पादन की सभी इकाइयों को एक केन्द्रीय सत्ता के निर्देशानुसार चलाने पर अधिक जोर दिया है। इनके अनुसार योजनाबद्ध आर्थिक व्यवस्था का प्रधान लक्ष्य है प्रत्येक उत्पादन इकाई को सम्पूर्ण प्रणाली पर निर्भरता, उत्पादन तथा उपभोग का सन्तुलन और किसी एक ऐसी केन्द्रीय

सत्ता की उपस्थिति जो आर्थिक प्रणाली के उद्देश्यों को निर्धारित करे और साथ ही, अलग-अलग तथा भिन्न-भिन्न तत्त्वों के उचित उपयोग को निश्चित करे।

प्रो० लार्विन की परिभाषा के अनुसार आर्थिक नियोजन के निम्नलिखित तीन प्रधान उद्देश्य हैं—(१) देश के सम्पूर्ण साधनों का अधिकतम उपयोग करना, (२) उत्पत्ति एवं उपभोग के बीच संतुलन स्थापित करना, और (३) साधनों का प्रयोग व्यक्तियों की आवश्यकताओं की अधिकतम संतुष्टि के लिए करना।

डिकिन्सन (Dickenson) के अनुसार "आर्थिक नियोजन का आशय है एक केन्द्रीय अधिकारी द्वारा सम्पूर्ण आर्थिक व्यवस्था की वृहत् जाँच के बाद महत्त्वपूर्ण आर्थिक निर्णयों को करना—क्या और कितना उत्पादन होना चाहिए, उत्पादन कैसे, कब और कितना किया जाय, तथा किसके बीच इसका वितरण होना चाहिए।" (Economic planning is the making of major economic decisions—what and how much is to be produced; how, when and where is to be produced, and to whom is to be allocated by the conscious decision of a determinate authority on the basis of a comprehensive survey of the economic system as a whole.)[1] इस प्रकार डिकिन्सन ने सम्पूर्ण आर्थिक व्यवस्था की विस्तृत जाँच के पश्चात् महत्त्वपूर्ण आर्थिक निर्णयों पर जोर दिया है।

डिकिसन की उपरोक्त परिभाषा में आयोजित अर्थ-व्यवस्था की निम्नलिखित तीन प्रधान विशेषताओं पर जोर दिया गया है—

(१) आर्थिक निर्णय की जानी-बूझी प्रकृति (Conscious nature of economic decisions),

(२) नियंत्रण की एकता (unity of control), तथा

(३) सम्पूर्ण आर्थिक निर्णयों को अर्थ-व्यवस्था की जाँच पर आधारित करना।

विश्व बैंक (International Bank) के अनुसार, "विकास कार्यक्रम का आशय सम्पूर्ण अर्थ-व्यवस्था में उपलब्ध साधनों की एक सूची तैयार करना और तब इन साधनों पर ध्यान देते हुए यह निश्चित करना कि विकास की विभिन्न योजनाओं को किस क्रम में कार्यान्वित किया जाय, विकास का प्रधान अस्त्र बढ़ती हुई दर पर पूँजी का निर्माण है।" (The technique of development programmes consists in essence of making an inventory of the sum total of resources available to each economy, and then deciding the order in which various development projects should be undertaken within the limits of the available resources......the main instrument of all development is accelerated capital formation.) इस अर्थ में योजनाकरण के अन्तर्गत निम्नलिखित बातों पर जोर दिया जाता है—(i) आर्थिक साधनों का सर्वेक्षण, (ii) विकास के कार्यक्रम की एक सूची तैयार करना, तथा (iii) पूँजी-निर्माण को प्रोत्साहित करना। किन्तु इस परिभाषा से वास्तव में आयोजन का बोध नहीं होकर औद्योगीकरण का बोध होता है।

इसी प्रकार श्रीमती ऊटन (Wootton) ने आर्थिक नियोजन की निम्नलिखित परिभाषा दी है : "आर्थिक नियोजन एक ऐसी प्रणाली है जिसमें बाजार को स्वेच्छापूर्वक कार्य करने के लिए स्वतन्त्र न छोड़कर इस प्रकार संगठित किया जाता है कि वह एक आदर्श बन जाय।" (Economic planning is a system in which the market mechanism is deliberately manipulated with the object of producing a pattern other than that which would have resulted from its spontaneous activity.) इस

1. H. D. Dickenson : Economics of Socialism, p. 12.

परिभाषा में श्रीमती ऊटन ने बाजार के नियन्त्रण एवं कीमत के निर्धारण पर अधिक जोर दिया है। इसमें कोई संदेह नहीं कि आयोजित अर्थ-व्यवस्था में बाजार का नियन्त्रण और कीमत के निर्धारण का बहुत अधिक महत्त्व रहता है, क्योंकि इन दोनों बातों पर ही उत्पत्ति और वितरण का नियन्त्रण निर्भर करता है। परन्तु यह कहना कि नियोजन में केवल बाजार का नियन्त्रण और कीमत का निर्धारण होता है, वास्तव में तथ्यहीन है। श्रीमती ऊटन ने अपनी दूसरी पुस्तक में नियोजन की परिभाषा इस प्रकार से दी है; **"नियोजन का अभिप्राय किसी राजकीय पदाधिकारी द्वारा आर्थिक प्राथमिकताओं के जाने-बूझे तथा सचेत निर्णय से है।"** (Planning may be defined as the conscious and deliberate choice of economic priorities by some public authority.)

प्रजातन्त्रीय बनाम साम्यवादी नियोजन

(Democratic Vs. Communistic Planning)

आर्थिक नियोजन के दो मुख्य रूप हैं :—

(क) प्रजातन्त्रीय नियोजन (Democratic Planning), एवं

(ख) साम्यवादी नियोजन (Communistic or Socialistic Central Planning)।

(क) **प्रजातन्त्रीय नियोजन** (Democratic Planning) :—साधारणतया लोगों की यह धारणा है कि योजनाकरण की सफलता केवल समाजवादी अर्थ-व्यवस्था के अन्तर्गत ही सम्भव है, क्योंकि योजना के अन्तर्गत एक निश्चित मात्रा में सरकारी नियन्त्रण अनिवार्य समझा जाता है और प्रजातन्त्र में जनता को अधिकाधिक स्वतन्त्रता दी जाती है। अतएव कुछ लोग प्रजातन्त्र एवं आर्थिक नियोजन को सहगामी नहीं मानते, किन्तु यह उनका कोरा भ्रम है। वास्तव में, प्रजातन्त्रीय तरीके से भी आर्थिक नियोजन का कार्य सफलतापूर्वक सम्पन्न किया जा सकता है। हमारी पंचवर्षीय योजनाएं इसका ज्वलन्त उदाहरण हैं। प्रजातन्त्रीय व्यवस्था में नियोजन का कार्य जनता की राय से किया जाता है। जब आर्थिक नियोजन के उद्देश्यों की पूर्त्ति के लिए लोकतान्त्रिक तरीकों का प्रयोग किया जाता है, तो इसे प्रजातन्त्रीय नियोजन कह सकते हैं। दूसरे शब्दों में, इसमें नियोजन का कार्य पूर्ण रूप से प्रजातन्त्रीय तरीके से होता है। इसमें लक्ष्यों का निर्धारण ऊपर से नहीं किया जाता, वरन् जनता स्वयं या विधान सभा के द्वारा योजनाकरण की आवश्यकता, इसके उद्देश्य तथा उत्पादन एवं विकास आदि का लक्ष्य निर्धारित करती है। अतएव **'प्रजातन्त्रीय नियोजन में योजना बनाने, उसको कार्यान्वित करने तथा लक्ष्यों के निर्धारण करने का कार्य जनता के परामर्श से किया जाता है।"** (Democratic planning refers to a situation in which the people are associated both in the preparation and execution of the plan.) इस प्रकार की योजना में सरकार या योजना अधिकारी द्वारा जनता पर किसी भी प्रकार के बलात्कार (Coercion) का प्रयोग नहीं किया जाता। जनसाधारण सरकार एवं उसकी कमजोरियों अथवा त्रुटियों के सम्बन्ध में आलोचना कर सकता है। इससे व्यक्तियों की आर्थिक स्थिति में सुधार होता है, रोजगार के नये अवसर प्रदान किये जाते हैं तथा उत्पादन एवं राष्ट्रीय आय में भी वृद्धि होती है। प्रजातन्त्रीय नियोजन में जनता की भलाई एवं कल्याण पर विशेष जोर दिया जाता है। इसमें उत्पत्ति के साधनों पर सामान्यतः निजी स्वामित्व रहता है। किन्तु सरकारी क्षेत्र के अन्तर्गत भी कुछ महत्त्वपूर्ण विकास की योजनाओं को सम्मिलित किया जाता है। भारत में भी आर्थिक नियोजन के कार्य में निजी तथा राजकीय क्षेत्र दोनों एक दूसरे से कन्धे-से-कन्धा मिलाकर देश के आर्थिक

विकास में सहयोग प्रदान कर रहे हैं। इस प्रकार प्रजातन्त्रीय नियोजन जनता द्वारा तथा जनता के लिए नियोजन है। इसमें सरकार भी जनता के प्रतिनिधि के रूप में ही हाथ बँटाती है। सरकार नियोजन की रूप-रेखा तैयार कर उसे जनता के बीच उनके विचारों को जानने के लिए प्रसारित करती है।

किन्तु प्रजातन्त्रात्मक नियोजन की सफलता के सम्बन्ध में साधारणतया लोग सन्देह व्यक्त करते हैं। इसके लिए यह तर्क दिया जाता है कि जनता सामान्य रूप से अशिक्षित होती है। अधिकांश व्यक्तियों को आर्थिक नियोजन की जटिल प्रक्रियाओं के सम्बन्ध में पूरी जानकारी नहीं होती। साथ ही, योजना के सफल संचालन के लिए शीघ्र निर्णय की आवश्यकता पड़ती है और प्रजातन्त्रात्मक अर्थ-व्यवस्था के अन्तर्गत बहुत-सी बातों के सम्बन्ध में शीघ्र निर्णय असम्भव हो जाता है और सबसे बड़ी बात तो यह है कि नियोजन के कार्य में त्याग की भावना निहित रहती है जिसके लिए प्रजातन्त्र के अन्तर्गत लोग शीघ्र तैयार नहीं होते। अतएव प्रजातन्त्रात्मक नियोजन की प्रगति निश्चित रूप से मन्द होगी।

(ख) साम्यवादी नियोजन (Socialistic or Communistic Central Planning) :— साम्यवादी नियोजन के अन्तर्गत नियोजन का कार्य एक साम्यवादी अर्थ-व्यवस्था की स्थापना के लिए किया जाता है। यह पूर्णतः केन्द्रित होती है। इस प्रकार के नियोजन में सरकार का उत्पादन, उपभोग तथा वितरण सभी क्षेत्रों पर पूरा-पूरा अधिकार रहता है। इसमें एक केन्द्रीय आयोजन अधिकार (Central Planning authority) होता है जिसके जिम्मे योजना-सम्बन्धी सम्पूर्ण कार्य तथा निर्णय रहते हैं। उत्पादन के साधनों का विभिन्न उपयोगों में वितरण इसी संस्था अथवा अधिकारी के द्वारा किया जाता है। इसमें निजी क्षेत्र (Private Sector) का प्रायः कोई अस्तित्व नहीं होता। साम्यवादी नियोजन की पद्धति को सर्वप्रथम रूस ने अपनाया था। यहाँ पर इस प्रकार की आर्थिक व्यवस्था को अपनाया गया है जिसमें व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का कोई स्थान नहीं है। आर्थिक जीवन के सभी अंगों पर सरकार का कठोर नियन्त्रण रहता है। साम्यवादी रूस में जब यह प्रणाली अपनायी गयी तो वहाँ के व्यक्तिगत जीवन पर कड़े नियन्त्रण लगा दिये गये और व्यक्तिगत क्रियाओं पर सरकारी नियमों का एक जाल-सा बिछा दिया गया। निजी उपक्रम तथा बाजार-प्रणाली को बिल्कुल समाप्त कर दिया गया। संक्षेप में, रूस में आर्थिक विकास की वेदी पर जनता के सुख एवं समृद्धि की बलि चढ़ा दी गयी। अतः साम्यवादी नियोजन की प्रणाली की मुख्य विशेषताएँ इस प्रकार से हैं— (१) देश के सम्पूर्ण साधनों पर सरकार का नियन्त्रण रहता है तथा इनका प्रयोग सरकार द्वारा निर्धारित प्राथमिकताओं के आधार पर ही किया जाता है। (२) इस प्रकार की व्यवस्था में निजी उपक्रम (Private Sector) का कोई स्थान नहीं होता। (३) नियोजन का कार्य सरकार तथा केन्द्रीय योजना अधिकारी के प्रत्यक्ष निर्देशन में किया जाता है।

डिकिन्सन (Dickenson) के अनुसार साम्यवादी नियोजन की प्रणाली प्रजातन्त्रात्मक नियोजन की प्रणाली से श्रेष्ठ है क्योंकि इसमें उत्पादन के साधनों पर समाज का पूर्ण एकाधिकार हो जाता है और इनका प्रयोग एक संस्था द्वारा एक निश्चित योजना के आधार पर किया जाता है। इससे समाज के सभी सदस्य लाभान्वित होते हैं। इस प्रकार स्पष्ट है कि इस प्रकार का आर्थिक नियोजन जिसके अन्तर्गत विभिन्न स्तरों पर सब प्रकार के निर्णय का अधिकार एक केन्द्रीय सत्ता को है और जिसके अन्तर्गत सदैव आर्थिक कल्याण के लिए प्रयत्न किया जाता है पूँजीवादी प्रणाली से श्रेष्ठ है। किन्तु साम्यवादी नियोजन के क्षेत्र में भी कुछ प्रधान कठिनाइयाँ है।

इसमें केन्द्रीय योजना अधिकारी अथवा सरकार, जो नियोजन के कार्य को कार्यान्वित करती हैं, का अत्यधिक बलवान होना अनिवार्य है। साथ ही, प्रत्येक निर्णय का उद्देश्य जनता का कल्याण होना चाहिए किसी व्यक्ति अथवा वर्ग का नहीं। फिर भी, विशेष प्रयत्नों द्वारा इस प्रकार की योजना को सफल बनाया जा सकता है। सरकार को इस प्रकार से आर्थिक नियोजन को कार्यान्वित करना चाहिए जिससे जनता का अधिकतम कल्याण हो सके। सारांश यह है कि संगठित प्रयास द्वारा साम्यवादी नियोजन को अधिक सफलीभूत बनाया जा सकता है। प्रो० पीगू (Pigou) का इस सम्बन्ध में यह कथन बड़ा ही महत्त्वपूर्ण है : "The system of Socialist Central Planning if it could be effectively organised, would in many respects be preferable to our existing system."

इस प्रकार दोनों प्रकार के नियोजन में अन्तर स्पष्ट है। प्रजातन्त्रीय नियोजन जनता की स्वीकृति से होता है। इसमें व्यक्तिगत स्वतन्त्रता, जनता की भलाई एवं कल्याण का विशेष महत्त्व है। इसमें विकास एवं जन-कल्याण के बीच एक प्रकार का सामंजस्य स्थापित किया जाता है। (Under democratic planning; peoples welfare and well-being are also of great significance. Necessarily, compromise is made between growth and welfare objectives.) सरकार इस प्रकार की योजना का निर्माण कर उसे जनमत जानने के लिए विस्तृत रूप से प्रचार करती है। साथ ही, जनता के सहयोग को प्राप्त करने का प्रयास करती है। इससे स्पष्ट है कि प्रजातन्त्रीय नियोजन जनता की सहमति पर आधारित है। वस्तुतः भारत में आर्थिक नियोजन प्रजातन्त्रीय ढंग का ही नियोजन है। यहाँ पर देश के आर्थिक विकास का कार्य दो क्षेत्रों में विभाजित होता है—सार्वजनिक क्षेत्र (Public Sector) तथा निजी क्षेत्र (Private Sector)। देश के आर्थिक विकास में ये दोनों क्षेत्र आपस में कंधे-से-कंधा मिलाकर कार्य करते हैं। अतएव भारत में नियोजन का यही रूप है।

अर्द्ध-विकसित देशों में नियोजन की विधि

(Technique of Planning in Under-developed Countries)

अब देखना यह है कि अर्द्ध-विकसित देशों के लिए नियोजन की कौन-सी विधि उपयुक्त होती है। अर्द्ध-विकसित देशों में आर्थिक नियोजन का प्राथमिक उद्देश्य केवल वर्तमान आय एवं उत्पादन-शक्ति में वृद्धि करना ही नहीं होना चाहिए, वरन् भविष्य में द्रुतगति से आर्थिक विकास का प्रयास करना भी होना चाहिए। आर्थिक नियोजन की प्रारम्भिक स्थिति में जब देश की अर्थ-व्यवस्था को अर्द्ध-स्थिर (Semi-stagnant) स्थिति से बाहर निकालने के लिए प्रयत्न किये जाते हैं तो इस स्थिति को Take off का स्तर कहा जाता है। इस समय में विकास का कार्य बहुत तीव्र गति से होना चाहिए क्योंकि इसी समय में आर्थिक विकास के लिए जो प्रयत्न किये जायँगे उनसे भविष्य में विकास के लिए गति प्राप्त होगी। अतएव अर्द्ध विकसित देशों में आर्थिक नियोजन के क्रम में यही काल सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण होता है और अर्द्ध-स्थिर (semi-stagnant) अवस्था से बाहर निकालने (Take off) की स्थिति तक तीव्र, गति से विकास-कार्य पूरा करने के लिए नियोजना पूर्ण-रूप से सप्रभाविक होना चाहिए। वास्तव में इस प्रकार के देशों की आर्थिक समस्याएँ इतनी गम्भीर एवं विभिन्न प्रकार की होती हैं कि छोटे-छोटे टुकड़ों में नियोजन का कार्य कभी भी सफल नहीं हो सकता। अतएव आवश्यकता इस बात की है कि प्रारम्भिक अवस्था में एक बड़ी मात्रा में पूँजी का विनियोग किया जाय जिससे यातायात एवं संवादवाहन, आधारभूत उद्योग एवं जल-शक्ति आदि जैसे प्रमुख उद्योगों का द्रुतगति से विकास किया जा सके। इन कार्य-क्रमों की समाप्ति के बाद ही द्रुतगति से आर्थिक विकास का कार्य प्रारम्भ हो सकता है।

निस्सन्देह इस प्रकार के विनियोग से शीघ्र लाभ प्राप्त नहीं होंगे, अतएव सरकार को ही इन क्षेत्रों के विकास के लिए आवश्यक पूँजी का प्रबन्ध करना होगा। इसलिए अर्द्ध-विकसित देशों में विकास-सम्बन्धी नियोजन की सफलता का प्रथम रहस्य भारी एवं आधारभूत उद्योगों के विकास, यातायात के साधनों की उन्नति, सिंचाई के साधनों के विकास तथा विद्युत-शक्ति के अधिकाधिक उत्पादन में ही है। भारी उद्योगों के विकास से नये-नये विनियोगों को प्रोत्साहन मिलेगा और निरन्तर बढ़ता हुआ विनियोग इस बात का सूचक है कि देश की अर्थ-व्यवस्था अर्द्ध-स्थिर अवस्था से बाहर निकल चुकी है। साथ ही, यातायात के साधनों के विकास, सिंचाई तथा विद्युत-शक्ति की उत्पत्ति से देश के नये-नये क्षेत्रों में विनियोग के लिए सुविधाएँ उपलब्ध होती हैं और वस्तुओं का बाजार विस्तृत होता है। इन सुविधाओं के अधिकाधिक मात्रा में उपलब्ध होने से देश में पूँजी-निर्माण की गति तीव्र होती है और व्यक्तियों के कल्याण में वृद्धि होती है। इन सुविधाओं के अभाव में बहुधा अर्द्ध-स्थिर अवस्था से बाहर निकलने की स्थिति तक अत्यधिक समय लग जाता है और इस प्रकार समय नष्ट होने से देश के आर्थिक विकास में उतना ही अधिक समय लग जाता है। इन सुविधाओं के विकास के लिये सक्रिय सरकारी प्रयत्नों की आवश्यकता होती है, या यों कहना चाहिए कि सरकारी प्रयत्नों के बगैर इन सुविधाओं का विकास सम्भव ही नहीं है क्योंकि सामान्य रूप से आर्थिक विकास की दर निम्न बातों पर निर्भर करती है :—

(१) आर्थिक विकास और व्यक्तियों के आर्थिक कल्याण के लिए किये गये राजकीय व्यय की मात्रा,

(२) देश में पूँजी-निर्माण की दर, और

(३) सामाजिक एवं राजनीतिक कारण जिनके अन्तर्गत जनता का सहयोग, नियोजन के प्रति जनता की अभिरुचि एवं सामाजिक ढाँचे में उचित परिवर्तन आदि आते हैं।

यदि आर्थिक विकास की गति में वृद्धि करनी है तो यह आवश्यक है कि राजकीय व्यय उचित कार्यक्रमों पर किया जाय, नये-नये विनियोगों को प्रोत्साहित किया जाय, सामाजिक ढाँचे में उचित परिवर्तन किये जायँ और नियोजन के कार्य को लोकप्रिय बनाया जाय। इसमें कोई सन्देह नहीं कि प्रारम्भिक अवस्था में राजकीय व्यय बहुत अधिक होगा, क्योंकि अर्द्ध-विकसित देशों में निजी उपक्रम सामान्य रूप से लज्जाशील होता है और जोखिम वहन करने के लिए शीघ्र तत्पर नहीं होता।

इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि अविकसित अथवा अर्थ-विकसित देशों में प्रजातंत्रीय आधार पर आर्थिक नियोजन तभी सफल हो सकता है जबकि प्रारम्भिक स्थिति में सरकार भारी एवं आधारभूत उद्योग-धन्धों, यातायात, सिंचाई एवं बिजली के तीव्र विकास पर पर्याप्त मात्रा में विनियोग करे। इस प्रकार के विनियोग की रकम पर्याप्त होनी चाहिए। साथ ही, सरकार को इस बात पर भी ध्यान देना पड़ेगा कि आर्थिक विकास के साथ-साथ सामाजिक तथा आर्थिक कल्याण में भी वृद्धि हो रही है अथवा नहीं। दूसरे शब्दों में, सरकार को आर्थिक विकास के साथ-साथ सामुदायिक विकास कार्यक्रम भी चालू करना चाहिए। हमारे देश में भी आर्थिक नियोजन की इस विधि का प्रयोग किया जा रहा है। तृतीय योजना में आयोग के निम्नांकित कथन से यह बिल्कुल स्पष्ट हो जाता है : "The task before an under-developed country is not merely to get better results within the existing framework of economic and social institutions but to mould and refashion these so that they contribute effectively to the realisation of wider and deeper social values."

विशेष अध्ययन-सूची

1. W. A. Lewis : The Principles of Economic Planning.
2. H. D. Dickenson: Economics of Socialism.
3. Govt. of India : First, Second, Third and Fourth Five Year Plans.

अध्याय : ७

भारत में योजनाकरण के अठारह वर्ष

(Eighteen Years of Planning in India 1951-52 to 1968-69)

भारत में योजनाकरण के अधूरे प्रयत्न :—सदियों की गुलामी ने भारतीय अर्थ-व्यवस्था को पंगु बना दिया है, हमारे आर्थिक जीवन को अस्त व्यस्त कर दिया है। यही कारण है कि प्रचुर साधनों के होते हुए भी आज देश निर्धनता से व्याप्त है तथा एक औसत भारतीय की आय विश्व के प्राय: सभी सुसभ्य देशों के निवासियों से कम है। ब्रिटिश शासन काल में देश के आर्थिक विकास के लिए कोई सक्रिय प्रयास नहीं किया गया था। फलस्वरूप निर्धनता के निर्मम जाल से मुक्ति पाने के लाखों प्रयत्नों के बावजूद आज हम बहुत पिछड़े हैं।

इस निर्धनता को दूर कर बहुलता की स्थिति उत्पन्न करने के उद्देश्य से अंग्रेजी शासन काल से ही देश में योजनाकरण के मार्ग को अपनाने की बात विभिन्न व्यक्तियों एवं संस्थाओं द्वारा सोची जा रही थी। सर्वप्रथम श्री एम० विश्वेश्वरैया ने १९३४ ई० में 'प्लाण्ड इकॉनमी फॉर इंडिया" नामक एक पुस्तक प्रकाशित की जो कि भारत के आर्थिक विकास के सम्बन्ध में योजना की प्रथम रूप-रेखा थी। बाद में १९४८ ई० में कांग्रेस द्वारा श्री जवाहरलाल नेहरू की अध्यक्षता में एक नेशनल प्लानिंग कमिटी की नियुक्ति की गयी जिसने देश के आर्थिक विकास के लिए योजना का एक मसौदा १९४८ ई० में प्रकाशित किया। इसके बाद देश के समक्ष एक-एक करके तीन विकास की योजनाएँ रखी गयीं। सर्वप्रथम भारत के चुने हुए आठ व्यवसायियों ने देश के लिए १९४३ ई० में एक **बम्बई योजना** (Bombay Plan) प्रस्तुत की जिसका उद्देश्य १५ वर्षों में प्रति-व्यक्ति औसत आय को दूना करना था। इस योजना में १५ वर्षों के अन्तर्गत कुल १०,००० करोड़ रु० व्यय की व्यवस्था थी तथा इसका मुख्य उद्देश्य कृषि-उत्पादन में १३०% तथा उद्योग-धन्धों के उत्पादन में ५००% वृद्धि करना था। किन्तु इस योजना की बड़ी कड़ी आलोचना हुई। ठीक उसी समय श्री एम० एन० राय ने अपनी **जन-योजना** (People's Plan) प्रस्तुत की जिसमें १० वर्षों में कुल १५०० करोड़ रुपये व्यय का आयोजन था। साथ ही, इसमें उत्पादन एवं वितरण के नियन्त्रण पर पूरा-पूरा जोर दिया गया था। किन्तु, यह योजना पूर्णत: आदर्शवादी थी, अतएव इसकी भी कटु आलोचना की गयी। तृतीय योजना **गांधी योजना** (Gandhian Plan) थी जो श्री श्रीमन्नारायण द्वारा तैयार की गयी थी जिसमें १० वर्षों में प्राय: ३,५०० करोड़ रुपये व्यय का आयोजन था। इस योजना में गाँवों को स्वावलम्बी बनाने के लिए कुटीर उद्योग-धन्धों के विकास पर अधिक जोर दिया गया था। वास्तव में विकेन्द्रीकरण तथा यथासम्भव कम नियन्त्रण ही इस योजना के मूल मन्त्र थे।

इस प्रकार उपरोक्त सारी योजनाओं की कड़ी आलोचना हुई। वास्तव में ये सभी योजनाएँ अधिकांशत: आदर्शवादी थीं तथा इनमें व्यावहारिकता का अभाव था। साथ ही, इनमें आर्थिक जीवन के प्रत्येक पहलू के विकास की व्यवस्था का भी अभाव था। ये योजनाएँ गैर-सरकारी थीं। उक्त सभी कारणों से इन योजनाओं को व्यावहारिक रूप नहीं दिया जा सका।

प्रथम पंचवर्षीय योजना

(First Five Year Plan, 1951-1956)

प्रथम पंचवर्षीय योजना के उद्देश्य (Objectives of the First Five Year Plan) :—देश के आर्थिक विकास के लिए व्यापक योजना निर्माण के उद्देश्य से १९५० ई० में भारत सरकार द्वारा एक योजना आयोग (Planning Commission) की नियुक्ति की गयी जिसने प्रथम योजना की एक रूप-रेखा तैयार की जिसे दिसम्बर, १९५२ ई० में संसद् के सम्मुख प्रस्तुत किया गया। अप्रेल, १९५१ ई० से प्रथम योजना लागू की गयी। प्रथम पंचवर्षीय योजना के निम्नलिखित प्रधान उद्देश्य थे :—

(१) विश्व-युद्ध एवं देश-विभाजन के फलस्वरूप उत्पन्न तात्कालिक समस्याओं का समाधान;

(२) देश की आर्थिक व्यवस्था को इस प्रकार से सबल बनाना जिससे भविष्य में द्रुतगति से विकास संभव हो सके, यानी प्रथम योजना का द्वितीय उद्देश्य भविष्य में विकास के लिए नींव को मजबूत बनाना था;

(३) उत्पादन-क्षमता में वृद्धि तथा आर्थिक विषमता को यथासम्भव कम करना; और

(४) मुद्रा-स्फीति के दबाव को कम करना तथा यातायात के साधनों में इस प्रकार से वृद्धि करना जिससे खाद्यान्न एवं कच्चे पदार्थों के ढोने में सुविधा हो।

इस प्रकार प्रथम पंचवर्षीय योजना में कल्याणकारी सिद्धांतों पर आधारित एक मिश्रित आर्थिक व्यवस्था के निर्माण को आदर्श के रूप में स्वीकार किया गया था। योजना आयोग ने प्रथम पंचवर्षीय योजना में योजनाकरण के उद्देश्य को स्पष्ट करते हुए यह कहा था कि "The central objective of planning in India is to raise the standard of living of the people and to open to them opportunity for a richer and more varied life. Planning must, therefore, aim at utilising more effectively, the resources, human and material; available to the community so as to obtain from a larger output of goods and services, and also at reducing inequality of income, wealth and opportunity." दूसरे शब्दों में, नियोजन का व्यापक उद्देश्य राष्ट्रीय कल्याण में वृद्धि है। योजना आयोग के अनुसार "आर्थिक विकास आर्थिक नियोजन का एक-मात्र लक्ष्य नहीं है। वास्तव में, आर्थिक विकास लक्ष्य नहीं होकर साधन मात्र है। जो कुछ भी आर्थिक प्रगति या भौतिक उन्नति समाज करता है उसका उद्देश्य होता है राष्ट्रीय कल्याण।" (In the last analysis, economic development is but a means to an end, the building up, through efforts and sacrifice widely shared, of a society, without caste, or class, or privilege, which offers to every section of the Community.)

प्रथम पंचवर्षीय योजना का कुल व्यय (Total Outlay of the First Five Year Plan) :—प्रथम योजना के अन्तर्गत पाँच वर्षों की अवधि में कुल २३७८ करोड़ रुपये

व्यय की व्यवस्था[1] थी जबकि वास्तविक व्यय १९६० करोड़ रुपये हुआ। विभिन्न मदों में इसका वितरण निम्न प्रकार से था[2]—

मदें	योजना का आयोजित व्यय (करोड़ रुपये में)	प्रतिशत	योजना का वास्तविक व्यय (करोड़ रुपये में)	प्रतिशत
१. कृषि एवं सामुदायिक विकास	३५४	१५	२९१	१५
२. सिंचाई एवं बिजली	६४७	२७	५७०	३०
३. उद्योग-धन्धे एवं खनिज	१८८	८	११७	५
४. यातायात एवं संवहन	५७१	२४	५२३	२६
५. समाज सेवा एवं विविध	६१८	२६	४५९	२४
कुल	२३७८	१००	१९६०	१००

कुल व्यय के विभिन्न मदों में वितरण के अध्ययन से स्पष्ट है कि प्रथम पंचवर्षीय योजना में कृषि एवं सामुदायिक विकास तथा सिंचाई एवं विद्युत् के विकास पर विशेष जोर दिया गया था। वास्तव में, प्रथम योजना खाद्यान्न एवं कच्चे पदार्थों के अभाव की पृष्ठ-भूमि में तैयार की गयी थी, अतः इसमें कृषि एवं सिंचाई को अधिक महत्त्व देना अति स्वाभाविक था। कृषि एवं सामुदायिक विकास पर कुल ३५४ करोड़ रुपये व्यय का आयोन था जो योजना के कुल व्यय का प्रायः १५ प्रतिशत भाग था। सिंचाई एवं बिजली पर पाँच वर्षों की अवधि में ६४७ करोड़ रुपये यानी कुल व्यय के प्रायः २७ प्रतिशत भाग व्यय का आयोजन था। इसके बाद यातायात एवं संवादवाहन का स्थान था, जिस पर कुल ५७१ करोड़ रुपये, जो कुल व्यय का प्रायः २४ प्रतिशत भाग था, के व्यय का आयोजन था। वास्तव में, देश के आर्थिक विकास के लिए यातायात के साधनों का विकास अनिवार्य है। समाज सेवा पर पाँच वर्षों की अवधि में कुल ५३२ करोड़ रुपये, जो कुल व्यय का प्रायः २२·४ प्रतिशत भाग था, खर्च का आयोजन था। प्रथम योजना में उद्योग-धंधों पर बहुत कम जोर दिया गया था। योजनाकाल में उद्योग एवं खनिज के विकास पर कुल केवल १८८ करोड़ रुपये, जो कुल व्यय का केवल ८ प्रतिशत भाग था, के खर्च का आयोजन था। किन्तु प्रथम योजना के पाँच वर्षों में केवल १९६० करोड़ रुपये, यानी कुल आयोजित व्यय का केवल ८२·४ प्रतिशत भाग ही खर्च किया जा सका। योजना के प्रायः सभी मदों में वास्तविक व्यय आयोजित व्यय से कम था।

प्रथम योजना के लक्ष्य एवं उनकी पूर्त्ति

प्रथम पंचवर्षीय योजना के अन्तर्गत विकास-सम्बन्धी विभिन्न लक्ष्यों के निर्धारण में निम्नांकित बातों पर ध्यान दिया गया था :—(क) कृषि के उत्पादन में वृद्धि तथा ग्रामीण

१. १९५२ ई० में जो प्रथम योजना तैयार की गयी थी उसका प्रस्तावित व्यय २०६९ करोड़ रुपये रखा गया था। पुनः इस योजना के अन्तर्गत अधिक रोजगार की व्यवस्था के उद्देश्य से इसे विस्तृत किया गया जिसके फलस्वरूप योजना का कुल व्यय २३७८ करोड़ रुपये कर दिया। गया। किन्तु योजना का वास्तविक व्यय पाँच वर्षों में केवल १९६० करोड़ रुपये ही हो सका।

2. Review of the First Five Year Plan, p. 2.

अर्थ-व्यवस्था का पुनर्निर्माण करना, (ख) आर्थिक स्थायित्व बनाये रखना, तथा (ग) आगे आने वाली बड़ी पंचवर्षीय योजनाओं के लिए मार्ग तैयार करना। योजना आयोग के शब्दों में ही, "The First Five Year plan will inevitably be a period of preparation and painful gathering of resources to support a sustained advance."

प्रथम पंचवर्षीय योजना में कृषि (Agriculture in the First Five Year Plan) :—प्रथम पंचवर्षीय योजना खाद्य एवं कच्चे-पदार्थों के अभाव की पृष्ठ-भूमि में तैयार की गयी थी; अतः इसमें कृषि को विशेष महत्त्व दिया गया था। देश-विभाजन के फलस्वरूप भारत में प्रायः ७५ लाख टन खाद्यान्न का वार्षिक अभाव हो गया था। इसे पूरा करने के लिए प्रतिवर्ष विदेशों से बहुत अधिक मात्रा में खाद्यान्न का आयात करना पड़ता था। खाद्यान्न के अतिरिक्त देश में जूट एवं कपास जैसे कच्चे पदार्थों का भी अभाव था। देश-विभाजन के फलस्वरूप जूट तथा सूती-वस्त्र उद्योगों को जूट एवं कपास के भीषण अभाव का सामना करना पड़ता था। विभाजन के पश्चात् कपास एवं जूट उत्पन्न करने वाले अधिकांश क्षेत्र पाकिस्तान में चले गये जबकि इनके प्रायः सभी कारखाने भारत में ही रह गये। अतः, देश में कपास एवं जूट की भारी कमी हो गयी जिसे पूरा करने के लिए प्रति वर्ष अत्यधिक मात्रा में इसका आयात करना पड़ता था। खाद्यान्न एवं कच्चे पदार्थों के अभाव के अतिरिक्त प्रथम योजना में कृषि-विकास पर बहुत अधिक महत्त्व देने का एक और भी कारण था। द्वितीय महायुद्ध के बाद वस्तुओं की कीमत—विशेषतः कृषि-पदार्थों की कीमत में बहुत अधिक वृद्धि हुई थी। अतः कृषि-पदार्थों के मूल्य-स्तर को कम करने के लिए भी कृषि-विकास को अधिक महत्त्व दिया गया था।

प्रथम योजना में कृषि एवं सामुदायिक विकास पर ३५४ करोड़ रुपये व्यय का आयोजन था जो योजना के सम्पूर्ण व्यय का प्रायः १५ प्रतिशत भाग था जबकि योजना काल में वास्तविक व्यय २९१ करोड़ रुपये हुआ। इसमें से प्रथम योजना के अन्त तक कृषि एवं तत्सम्बन्धी कार्यों पर २२७ करोड़ रुपये, सामुदायिक विकास योजनाओं पर ५७ करोड़ रुपये तथा स्थानीय विकास सम्बन्धी कार्यक्रमों पर केवल ७ करोड़ रुपये वास्तविक व्यय हुआ।

प्रथम योजना काल बृहत् एवं मध्यम सिंचाई की योजनाओं द्वारा कुल ६३ लाख एकड़ अतिरिक्त भूमि में सिंचाई की सुविधा प्राप्त हुई जबकि योजना का लक्ष्य ८५ लाख एकड़ अतिरिक्त भूमि को इन कार्यक्रमों द्वारा सिंचाई के अन्तर्गत लाना था। अतः, बृहत् एवं मध्यम सिंचाई के क्षेत्र में योजना के लक्ष्य पूरे नहीं हो सके। लघु सिंचाई कार्यक्रम द्वारा प्रथम योजना काल में कुल १०० लाख एकड़ अतिरिक्त भूमि में सिंचाई की सुविधा प्राप्त हुई। योजना काल में खाद तथा उर्वरक (Fertilizers and Manure) के उपयोग में भी महत्त्वपूर्ण वृद्धि हुई। अमोनियम सल्फेट की कुल खपत १९५०-५१ ई० में २,७५,००० टन से बढ़कर १९५५-५६ ई० में प्रायः ६ लाख टन हो गयी। इसी प्रकार फास्फोरिक खादों की खपत ४३ हजार टन से बढ़कर योजना के अन्तिम वर्ष में ९८ हजार टन हो गयी। उत्तम बीज के प्रयोग में भी महत्त्वपूर्ण वृद्धि हुई। योजना काल में केन्द्रीय ट्रैक्टर संघ (Central Tractor Organisation) द्वारा कुल ११.८६ लाख एकड़ भूमि का उद्धार हुआ। प्रथम पंचवर्षीय योजना में जापानी तरीके से धान की खेती पर भी जोर दिया गया था एवं १९५५-५६ ई० तक कुल प्रायः २० हजार एकड़ भूमि पर इस तरीके से धान की खेती हुई थी। इन सब प्रयत्नों के फलस्वरूप योजनाकाल में कृषि-पदार्थों के

उत्पादन में महत्त्वपूर्ण वृद्धि हुई जिसका अन्दाजा निम्नांकित[1] तालिका से लगाया जा सकता है :—

फसलें	१९५०-५१	प्रथम योजना के लक्ष्य	१९५५-५६ में उपलब्धि
खाद्यान्न (लाख टन में)	५४०	६१६	६६९
तिलहन (,, ,,)	५२	५६	५७
गन्ना (लाख टन गुड़ में)	५७	६४	६१
कपास (लाख गाँठ में)	२९	४१	४०
जूट (,, ,,)	३३	५४	४२

उपरोक्त तालिका से स्पष्ट है कि खाद्यान्नों के उत्पादन में लक्ष्य से भी अधिक वृद्धि हुई। इसी प्रकार तिलहन के उत्पादन में लक्ष्य से बहुत अधिक वृद्धि हुई, किन्तु कपास, जूट तथा गन्ने का उत्पादन लक्ष्य से बहुत ही कम रहा। जूट के उत्पादन में कम वृद्धि का कारण बंगाल तथा असम में बाढ़ एवं जूट उद्योग की आन्तरिक कठिनाइयाँ थीं जिनके फलस्वरूप जूट का उत्पादन बहुत कम हुआ। फिर भी, प्रथम योजनाकाल में कृषि-पदार्थों का उत्पादन सन्तोषजनक रहा। योजनाकाल में कृषि-उत्पादन में कुल मिलाकर प्रायः १८ प्रतिशत की वृद्धि हुई।

सामुदायिक विकास योजना :—प्रथम पंचवर्षीय योजना के अन्तर्गत इस बात पर जोर दिया गया था कि भारत के आर्थिक विकास के लिए यहाँ के प्रायः ५½ लाख गाँवों के आर्थिक तथा सामाजिक जीवन में क्रान्तिकारी परिवर्तन लाना अनिवार्य है। फलतः सामुदायिक विकास तथा राष्ट्रीय-विस्तार सेवा नामक दो कार्यक्रम अपनाये गये थे। सामुदायिक विकास योजना का प्रारम्भ २ अक्टूबर, १९५२ ई० को हुआ, जब देश भर में ५५ योजना क्षेत्रों में, जिनमें २७,३८८ गाँव थे तथा जिनकी जनसंख्या १६७ लाख थी, विकास का कार्य आरम्भ किया गया। साथ ही, २ अक्टूबर, १९५३ ई० से एक अन्य कार्यक्रम राष्ट्रीय विस्तार सेवा (National Extension Services), जो अपेक्षाकृत कम विस्तृत था, अपनाया गया। लक्ष्य यह था कि द्वितीय योजना के अन्त तक सम्पूर्ण ग्रामीण जनसंख्या को इस कार्यक्रम के अन्तर्गत लाया जाय।

प्रथम योजना के अन्त तक सामुदायिक विकास तथा राष्ट्रीय विस्तार सेवा खण्ड के अन्तर्गत १०६८ खण्ड, जिनकी जनसंख्या ६८० लाख थी, में विकास का का कार्य प्रारम्भ हुआ।

सिंचाई तथा बिजली :—प्रथम योजना में सिंचाई एवं बिजली के विकास पर पर्याप्त जोर दिया गया था। योजना के अन्तर्गत इस मद में कुल ५७० करोड़ रुपये, जो योजना के कुल व्यय का प्रायः २९ प्रतिशत भाग था, खर्च हुआ। योजना आयोग ने इस सम्बन्ध में एक दीर्घकालीन नीति अपनाने पर जोर दिया था जिसका उद्देश्य १५ वर्षों में सिंचाई के क्षेत्र को दुगुना करना तथा बिजली के उत्पादन को २३ लाख किलोवाट से बढ़ाकर ९३ लाख किलोवाट करना निश्चित किया गया था। प्रथम योजना में १९५५-५६ ई० तक वृहत एवं मध्यम सिंचाई की योजनाओं द्वारा कुल ६३ लाख एकड़ अतिरिक्त भूमि में सिंचाई की सुविधा प्राप्त हुई (लक्ष्य ८५ लाख एकड़ का था। इसी प्रकार योजनाकाल में देश में बिजली की कुल संस्थापित क्षमता में ११ किलोवाट की वृद्धि हुई (लक्ष्य १३ लाख किलोवाट का था)।

प्रथम पंचवर्षीय योजना में औद्योगिक विकास[2] (Industrial Development during the First Five Year Plan) :—प्रथम पंचवर्षीय योजना में कृषि के विकास पर

1. Review of the First Five Year Plan, P. 99.
2. Review of the First Five Year Plan P. 185.

बहुत अधिक जोर दिया गया था तथा उद्योग-धन्धों को कोई विशेष महत्त्व नहीं प्राप्त था। योजना में सार्वजनिक क्षेत्र में उद्योग-धन्धों, खनिज एवं वैज्ञानिक अनुसन्धान पर १३९ करोड़ रुपये व्यय का आयोजन था जो योजना के कुल आयोजित व्यय का प्राय: ५·८ प्रतिशत भाग था। इसके अतिरिक्त कुटीर एवं लघु उद्योगों पर योजनाकाल में ४९ करोड़ रुपये, जो कुल व्यय का २·१ प्रतिशत भाग था, के व्यय का आयोजन था। इस प्रकार कुल मिलाकर उद्योग-धन्धों पर प्रथम योजना काल में १८८ करोड़ रुपये व्यय का आयोजन था। किन्तु योजनाकाल, में इस मद में वास्तविक व्यय ११७ करोड़ रुपये ही हुआ। गैर-सरकारी क्षेत्र में उद्योग-धन्धों पर २३६ करोड़ रुपये की पूँजी लगाने की व्यवस्था थी जिसका प्राय २६ प्रतिशत भाग धातु-शोधन उद्योग में, २० प्रतिशत भाग पेट्रोल साफ करने के कारखानों में, १६ प्रतिशत भाग इंजीनियरिंग उद्योगों में, तथा ८ प्रतिशत भाग भारी रासायनिक उद्योगों में लगाये जाने का आयोजन था। गैर-सरकारी क्षेत्र में विनियोग आयोजित रकम के बराबर हुआ। बहुत से उद्योगों में तो उत्पादन-वृद्धि लक्ष्य से भी अधिक हुई। योजना-काल में बहुत-सी नयी-नयी वस्तुओं का उत्पादन भी प्रारम्भ हुआ जिनमें वायुयान, पेन्सिलीन, डी० डी० टी०, रेल के डब्बे, अमोनियम क्लोराइड आदि विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। सरकारी क्षेत्र में सिन्द्री का खाद कारखाना, चितरंजन का रेल ईंजन का कारखाना, इन्टेगरल कोच फैक्टरी, इण्डियन टेलीफोन इन्डस्ट्रीज आदि की प्रगति संतोष-जनक थी। प्रथम योजना-काल में कुल औद्योगिक उत्पादन में ३८ प्रतिशत की वृद्धि हुई जिसमें विभिन्न वर्ग के उद्योगों का हिस्सा इस प्रकार से था—पूँजीगत मालों (Capital goods) के उत्पादन में ७० प्रतिशत की वृद्धि हुई, मध्यवर्ती मालों (Intermediate goods) विशेषत: औद्योगिक कच्चे-पदार्थों के उत्पादन में ३४ प्रतिशत तथा उपभोक्ता वस्तुओं (Consumer's goods) के उत्पादन में ३४ प्रतिशत की वृद्धि हुई।

प्रथम योजना में यातायात एवं संवहन (Transport and Communication in the First Five Year Plan) :—कृषि, सिंचाई एवं बिजली के विकास के साथ-साथ यातायात के विकास पर भी प्रथम योजना में विशेष जोर दिया गया था। योजना के अन्तर्गत यातायात एवं संवहन पर कुल ५७० करोड़ रुपये व्यय का आयोजन था, किन्तु वास्तविक व्यय केवल ५३१ करोड़ रुपये ही हुआ। इसमें से रेलवे पर २६७ करोड़ रुपये, सड़क पर १३५ करोड़ रुपये, जहाजरानी पर १९ करोड़ रुपये, नागरिक उड्डयन पर २३ करोड़ रुपये तथा संवहन एवं आकाशवाणी पर ४६ करोड़ रुपये व्यय किया गया।

राष्ट्रीय आय[1] :—प्रथम पंचवर्षीय योजना के पाँच वर्षों में राष्ट्रीय आय में प्राय: १८·४ प्रतिशत की वृद्धि हुई। कृषि तथा तत्सम्बन्धी कार्यों के शुद्ध उत्पादन (Production) में योजना-काल में १४·७ प्रतिशत; खनिज, निर्माण एवं लघु-उद्योगों के शुद्ध उत्पादन में ८·२ प्रतिशत; वाणिज्य, यातायात एवं संवहन में १८·६ प्रतिशत तथा अन्य सेवाओं में २६.७ प्रतिशत की वृद्धि हुई। १९५३-५४ तथा १९५४-५५ ई० में कृषि के शुद्ध उत्पादन में सबसे अधिक वृद्धि हुई जिसके फलस्वरूप राष्ट्रीय आय में भी अधिकतम वृद्धि हुई। योजनाकाल में औसत प्रति व्यक्ति आय में ११ प्रतिशत तथा प्रति-व्यक्ति उपभोग स्तर में ८ प्रतिशत की वृद्धि हुई। खाद्यान्न का प्रति-वयस्क प्रतिदिन उपभोग १९५०-५१ ई० में १२·२६ औंस से बढ़कर १९५५-५६ ई० में १४·४ औंस हो गया। कपड़े का प्रति-व्यक्ति औसत वार्षिक उपयोग ९·७ गज से बढ़कर १६·४ गज हो गया चीनी का प्रति-व्यक्ति औसत उपभोग ०·३७ औंस से बढ़कर ०·५७ औंस हो गया। इसी प्रकार अन्य औद्योगिक वस्तुओं के उपभोग में महत्त्वपूर्ण वृद्धि हुई।

1. Review of the First Five Year Plan. p. 78.

प्रथम योजना में निर्धारित आर्थिक स्वरूप (Economic pattern envisaged in the First Five Year Plan) :—प्रथम पंचवर्षीय योजना में देश में एक मिश्रित आर्थिक व्यवस्था (Mixed economy) की स्थापना की व्यवस्था थी। योजना के कार्यक्रम एवं लक्ष्य इसी मूलभूत उद्देश्य को ध्यान में रखकर तैयार किये गये थे। दूसरे शब्दों में, देश के आर्थिक विकास में सार्वजनिक क्षेत्र (public sector) तथा निजी क्षेत्र (private sector) दोनों की सत्ता को स्वीकार किया गया था। देश की औद्योगिक व्यवस्था को तीन क्षेत्रों में विभाजित किया गया था—(क) प्रथम श्रेणी के कुछ उद्योगों को केवल सार्वजनिक क्षेत्र (public sector) के अन्तर्गत रखा गया था। (ख) द्वितीयत: कुछ उद्योगों के क्षेत्र में सार्वजनिक तथा निजी दोनों क्षेत्रों की व्यवस्था थी। (ग) तृतीयत, कुछ उद्योगों को केवल निजी क्षेत्र (private sector) के अन्तर्गत छोड़ दिया गया था। योजनाकाल में सार्वजनिक तथा निजी दोनों क्षेत्रों के विकास को सरकार द्वारा उचित प्रश्रय प्रदान किया गया था।

प्रथम योजना की वित्तीय व्यवस्था (Financing of the First Five Year Plan) :—प्रथम योजनाकाल में व्यय की गयी कुल १९६० करोड़ रुपये की रकम विभिन्न साधनों द्वारा निम्न प्रकार से प्राप्त हुई थी :—

प्रथम योजना के वित्तीय साधन

साधन	रकम (करोड़ रुपये में)	कुल का प्रतिशत
१. कर तथा रेलवे से बचत	७५२	३८
२. बाजार से उपलब्ध ऋण	२०५	१०
३. लघु बचत एवं असंचित ऋण	३०४	१६
४. अन्य पूंजीगत साधन	९१	५
५. बाहर से प्राप्त सहायता	१८८	१०
६. घाटे की वित्त-व्यवस्था	४२०	२१
कुल	१९६०	१००

उपरोक्त तालिका से प्रथम योजना में विभिन्न साधनों से प्राप्त वित्तीय सहयोग का अन्दाजा लगता है। कर तथा रेलवे की बचत द्वारा पाँच वर्षों में कुल ७५२ करोड़ रुपये की रकम प्राप्त हुई थी जो योजना के कुल वास्तविक व्यय का प्राय: ३८ प्रतिशत भाग थी। इसके बाद घाटे की वित्त-व्यवस्था (Deficit financing) का स्थान था जिससे कुल ४२० करोड़ रुपये, यानी कुल वास्तविक व्यय का प्राय: २१ प्रतिशत भाग प्राप्त हुआ था। इसी प्रकार विदेशी सहायता का प्रतिशत प्राय: १० था। लघु बचत एवं असंचित ऋण से प्रथम योजना काल में ३०४ करोड़ रुपये, यानी कुल व्यय का प्राय: १६ प्रतिशत भाग प्राप्त हुआ था।

प्रथम योजना की आलोचनात्मक समीक्षा

(An Appraisal of the First Five Year Plan)

इस प्रकार प्रथम पंचवर्षीय योजना का मुख्य उद्देश्य द्रुत गति से आर्थिक विकास के लिए वातावरण तैयार करनाथा। योजनाके अन्तर्गत खाद्यान्न तथा कच्चे पदार्थों की कमी को दूरकरने

का विशेष प्रयत्न किया गया था। अधिकांश मदों में सफलता भी प्राप्त हुई थी। सर्वप्रथम तो प्रथम योजना की अवधि में राष्ट्रीय आय में ११ प्रतिशत वृद्धि का आयोजन था जबकि वास्तविक वृद्धि १८ प्रतिशत थी। १९५०-५१ में विनियोग राष्ट्रीय आय के ५ प्रतिशत से बढ़कर १९५५-५६ में ७ प्रतिशत हो गया। खाद्यान्नों का उत्पादन भी आयोजित लक्ष्य से अधिक हुआ। औद्योगिक उत्पादन के क्षेत्र में भी अधिकांश लक्ष्यों की पूर्ति हो गयी। इनके अतिरिक्त योजना काल में अर्थ-व्यवस्था को सबल बनाने के लिए कुछ संस्थानों की भी स्थापना हुई। इनमें सामुदायिक विकास योजना (Community Development project) का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। इसी प्रकार सहकारिता आन्दोलन के प्रसार पर पूरा जोर दिया गया तथा योजना के अन्त तक देश के कुल १,२०,००० गाँवों, जिनमें कुल ग्रामीण जनसंख्या के एक-चौथाई भाग निवास करते थे, को लाया जा चुका था। इसी प्रकार कुटीर तथा लघु उद्योगों के विकास के लिए विभिन्न प्रकार की संस्थाओं की स्थापना की गयी थी। योजना की अवधि में प्रायः सभी राज्यों में जमींदारों तथा अन्य मध्यस्थों के उन्मूलन का प्रयास किया गया था। साथ ही, रैयतों के अधिकारों की सुरक्षा का भी प्रयत्न किया गया था।

इस प्रकार प्रथम योजना में बहुत सारे क्षेत्रों, विशेषतः कृषि, सिंचाई तथा सामाजिक सुरक्षा के क्षेत्र में सन्तोषजनक प्रगति हासिल हुई, किन्तु फिर भी इसकी कई बातों को लेकर आलोचना की जाती है। उदाहरण के लिए, प्रथम योजना देश में आयोजित विकास का सर्व-प्रथम प्रयास थी। अतएव इस कार्य के लिए देश में उचित अनुभव का अभाव था। साथ ही देश के प्राकृतिक तथा आर्थिक साधनों के सही अनुमान का भी अभाव था। वित्तीय साधनों के जुटाने में अत्यधिक आशावादी दृष्टिकोण अपनाया गया था। सबसे बड़ी बात तो यह थी इसमें कृषि को प्राथमिकता दी गयी थी तथा उद्योग-धन्धों की अवहेलना की गयी थी। विकास के लक्ष्यों को वर्ष के आधार पर विभाजित नहीं किया गया था और यह इसमें दीर्घकालीन कार्यक्रमों को प्राथमिकता दी गयी थी। योजना को लागू करने के लिए उचित संगठन का भी देश में अभाव था।

किन्तु इन सब आलोचनाओं के बावजूद प्रथम योजना की प्रगति बहुत ही संतोषजनक रही है। प्रथम योजना हमारे देश में योजनाकरण का प्रथम सफल प्रयास थी, अतएव देश की आर्थिक व्यवस्था पर इस का बड़ा ही अच्छा प्रभाव पड़ा। वास्तव में, प्रथम योजना ने वर्षों से मृतप्राय भारतीय अर्थ-व्यवस्था में एक नयी जान ला दी थी। (The First Five Year Plan introduced new dynamic elements in a long static and stagnant situation.) साथ ही, इसने भविष्य में हमारे आर्थिक विकास के लिए सुगम वातावरण तैयार कर दिया जिससे बड़ी-बड़ी योजनाओं को पूरा करने में सुगमता होने की आशा की जाती है। वास्तव में, प्रथम योजना युद्ध तथा विभाजन से त्रस्त अर्थ व्यवस्था को पुनर्स्थापित करने का प्रयास थी। इसका प्रमुख उद्देश्य अर्थ-व्यवस्था में खाद्यान्न तथा कृषि-सम्बन्धी कच्चे पदार्थों के अभाव को दूर करना था और अपने उद्देश्य में यह बहुत हद तक सफल रही। योजना के अन्तिम वर्ष में प्रारम्भिक वर्ष की अपेक्षा मूल्य-तल में १३ प्रतिशत की कमी हुई तथा जीवन-स्तर के व्यय में कमी हुई।

द्वितीय पंचवर्षीय योजना (१९५६-६१)

(Second Five Year Plan)

प्रथम पंचवर्षीय योजना की समाप्ति पर देश में सर्वत्र एक प्रकार का आशावाद वर्तमान था। इसी आशावाद तथा आर्थिक स्थायित्व के वातावरण में द्वितीय योजना का निर्माण हुआ था।

प्रथम योजना में कृषि के उत्पादन में आशातीत वृद्धि से द्वितीय योजना में इसे उच्च प्राथमिकता नहीं देकर उद्योग-धन्धों को उच्च प्राथमिकता दी गयी।

द्वितीयतः, द्वितीय पंचवर्षीय योजना का मुख्य उद्देश्य विकास के उस क्रम को आगे बढ़ाना था जिसे प्रथम योजना ने जन्म दिया था तथा जिसके द्वारा जनता के सुख एवं समृद्धि की नींव रखी गयी थी। आयोग के अनुसार "द्वितीय योजना का मुख्य उद्देश्य पाँच वर्षों की अवधि में देश की राष्ट्रीय आय में कुल २५ प्रतिशत की वृद्धि करना, श्रमिकों की संख्या में होनेवाली वृद्धि के लिए रोजगार के साधनों को बढ़ाना तथा औद्योगीकरण की गति को तीव्र बनाना जिससे आगे की योजनाओं के लिए अधिक तीव्र विकास की पृष्ठभूमि तैयार हो सका था।" (The main task is to secure an increase of about 25 p. c. over the five years, to enlarge employment opportunities at a rate sufficient to absorb the increase in labour force consequent on the increase in population and to take a major stride forward in the direction of industrialisation so as to prepare the ground for more rapid advance in the plan periods to come.)[1]

द्वितीय पंचवर्षीय योजना के उद्देश्य (Objectives of the Second Five Year Plan) :—संक्षेप में द्वितीय योजना के निम्नांकित प्रधान उद्देश्य थे :—

(१) राष्ट्रीय आय में समुचित वृद्धि (Rapid increase in national income) :—प्रथम योजना काल में भारत की राष्ट्रीय आय में प्रायः १८.४ प्रतिशत तथा प्रतिव्यक्ति आय में प्राय ११% की वृद्धि हुई। किन्तु, यह वृद्धि लक्ष्य से अधिक होते हुए भी पर्याप्त नहीं कही जा सकती। औद्योगिक दृष्टि से उन्नत अनेक देशों में इतनी प्रगति बिना किसी योजना के ही होती है। अतएव द्वितीय योजना के पाँच वर्षों में राष्ट्रीय आय में २५% वृद्धि का लक्ष्य था। इसके अनुसार देश की राष्ट्रीय आय को १९५५-५६ ई० में १०,८०० करोड़ रुपये से बढ़ाकर १९६०-६१ ई० में १३,४८० करोड़ रुपये करने का आयोजन था। इसके फलस्वरूप प्रति-व्यक्ति आय में लगभाग १०% तथा प्रति व्यक्ति औसत उपभोग व्यय में ८% की वृद्धि का उद्देश्य था।

किन्तु द्वितीय योजना में देश की राष्ट्रीय आय में प्रायः २०.४ प्रतिशत तथा प्रति-व्यक्ति आय में ८.६ प्रतिशत की वृद्धि हुई।

(२) उद्योग-धन्धों का तीव्र गति से विकास (Rapid Industrialisation of the country):—द्वितीय योजना में औद्योगीकरण विशेषतः आधारभूत एवं भारी उद्योगों को उच्च प्राथमिकता दी गयी थी। इसके विपरीत प्रथम योजना में कृषि को उच्च प्राथमिकता प्रदान की गयी। योजना काल में उद्योग एवं खनिज के विकास पर कुल ८९० करोड़ रुपये सरकारी क्षेत्र में व्यय करने का आयोजन था। इसमें उद्योग एवं खनिज पर ६९० करोड़ रुपये तथा कुटीर एवं लघु उद्योगों पर २०० करोड़ रुपये व्यय का आयोजन था। इस प्रकार द्वितीय योजना में उद्योग-धन्धों पर अधिक जोर दिया गया था।

(३) अधिक रोजगार की व्यवस्था (Vast expansion in employment opportunities) :—प्रथम योजनाकाल में रोजगार के साधनों में आवश्यकतानुसार वृद्धि नहीं हुई, फलस्वरूप देश में बेकारों की संख्या में पर्याप्त वृद्धि हुई। द्वितीय योजना के अन्तर्गत रोजगार के साधनों में वृद्धि की अधिक व्यवस्था की गयी थी जिससे बेकारी की समस्या का कुछ हल किया जा सके। वास्तव में, रोजगार के सम्बन्ध में योजना आयोग ने एक दीर्घकालीन नीति अपनायी थी जिसके अनुसार देश में १९६६-६७ ई० तक पूर्ण रोजगार की व्यवस्था कायम करनी थी। द्वितीय

1. Second Five Year Plan. p. 51.

योजना के अन्तर्गत कृषि के अतिरिक्त अन्य उद्योगों में कुल ८० लाख अतिरिक्त व्यक्तियों तक के लिये रोजगार के अवसर प्रदान करने की व्यवस्था थी।

किन्तु द्वितीय योजना का यह लक्ष्य भी पूरा नहीं हो सका तथा कृषि के अतिरिक्त अन्य उद्योगों में योजनाकाल में केवल ६५ लाख अतिरिक्त व्यक्तियों के लिए ही रोजगार की व्यवस्था की जा सकी।

(४) आर्थिक विषमता में कमी (Reduction in economic inequalities):—पूँजीवादी आर्थिक व्यवस्था की एक बहुत बड़ी विशेषता समाज के विभिन्न वर्गों की आर्थिक विषमता है। समाज-कल्याण के उद्देश्य से आय के वितरण की इस विषमता को समाप्त करना अत्यावश्यक है। प्रथम योजना में इस बात पर जोर नहीं दिया जा सका, किन्तु समाज के समाजवादी ढाँचे का आदर्श अपनाये जाने के कारण द्वितीय योजना में इसे महत्त्वपूर्ण स्थान दिया गया था। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए दो दिशाओं में कार्य करना पड़ेगा : सर्वप्रथम तो जिनकी आय कम है उनकी आय बढ़ानी होगी तथा जिनकी आय अधिक है उनकी आय कम करनी होगी। आय की अधिकतम सीमा निश्चित करने के सम्बन्ध में भी बात-चीत चल रही थी, परन्तु न जाने किन व्यावहारिक कठिनाइयों से इस कार्य में अब विलम्ब हो रहा है।

द्वितीय योजना का कुल व्यय (Total Outlay of the Second Five Year Plan) :—द्वितीय योजना का आकार प्रथम योजना से बहुत बड़ा था। प्रथम योजना का कुल व्यय २,३७८ करोड़ रुपये निर्धारित किया गया था जबकि द्वितीय योजना में पाँच वर्षों में सरकारी क्षेत्र में ४,८०० करोड़ रुपये व्यय का आयोजन था। इनमें से २,५५९ करोड़ रुपये केन्द्र द्वारा तथा २,२४१ करोड़ रुपये राज्य सरकारों द्वारा व्यय किये जाने को था। इसी प्रकार द्वितीय योजना काल में सार्वजनिक क्षेत्र के लिए निर्धारित ४८०० करोड़ रुपये की कुल राशि में से ३८०० करोड़ रुपये पूँजी विनियोग के रूप में तथा १००० करोड़ रुपये चालू विकास के रूप में व्यय का आयोजन था। किन्तु, द्वितीय योजना काल में वास्तविक व्यय ४६०० करोड़ रुपये ही हुआ जो निम्नांकित तालिका से स्पष्ट है :—

व्यय (करोड़ रुपये में)

मदें	व्यय की रकम		प्रतिशत विवरण	
	योजना की व्यवस्था	वास्तविक व्यय	योजना की व्यवस्था	वास्तविक व्यय
१. कृषि एवं सामुदायिक विकास	५६८	५३०	११·८	११·०
२. सिंचाई एवं बिजली	९१३	८६५	१९·०	१९·०
३. ग्रामीण एवं लघु उद्योग	२००	१७५	४·२	४·०
४. उद्योग एवं खनिज	६९०	९००	१४·४	२०·०
५ यातायात एवं संवहन	१,३८५	१३००	२८·९	२८·०
६. सामाजिक सेवाएँ एवं विविध[1]	१,०४४	८३०	२१·७	१८·०
कुल	४,८००	४६००	१००·०	१००·०

निजी क्षेत्र (Private Sector) :—उत्पादन एवं विकास के लक्ष्य सार्वजनिक एवं निजी दोनों क्षेत्रों के सम्मिलित विनियोग के परिणामस्वरूप हैं। अतः योजना के लक्ष्यों की प्राप्ति

१. इसमें विविध क्षेत्र की ९९ करोड़ रुपये की रकम भी सम्मिलित है।

के लिए दोनों क्षेत्रों के सहयोग की आवश्यकता होगी। कुछ लोग ऐसा समझते हैं कि द्वितीय योजना के अन्तर्गत निजी क्षेत्र को कोई सम्मानपूर्ण स्थान नहीं दिया गया था, मगर यह उनका कोरा भ्रम है। वास्तव में निजी क्षेत्र के विकास के लिए द्वितीय योजना में पर्याप्त मात्रा में प्रश्रय दिया गया था। द्वितीय योजना के पूर्व के पाँच वर्षों में निजी क्षेत्र में विनियोग की गति को देखते हुए यह अनुमान किया गया था कि द्वितीय योजनाकाल में निजी क्षेत्र में कुल २४०० करोड़ रुपये विनियोग होंगे जिसका विभिन्न मदों में निम्न तरीके से वितरण होगा :—

मदें	विनियोग की रकम (करोड़ रुपये में)
१. संगठित उद्योग एवं खनिज	५७५
२. बगान, विद्युत् उद्योग एवं रेलवे के अतिरिक्त अन्य यातायात	१२५
३. निर्माण	१०००
४. कृषि एवं ग्रामीण तथा लघु उद्योग	३००
५. Stocks	४००
	२४००

द्वितीय योजना में प्राथमिकता का क्रम

(Scheme of Priorities in the Second Five Year Plan)

सार्वजनिक क्षेत्र में व्यय की जानेवाली कुल ४८०० करोड़ रुपये की रकम के विभिन्न मदों में वितरण को देखने से द्वितीय योजनाकाल में प्राथमिकता के क्रम का अन्दाजा लगता है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि प्रथम एवं द्वितीय योजनाओं में प्राथमिकता का क्रम समान नहीं था। द्वितीय योजना में उद्योग एवं खनिज को उच्च प्राथमिकता प्राप्त थी। योजना काल में उद्योग एवं खनिज पर कुल ८९० करोड़ रुपये व्यय की व्यवस्था थी जो कुल व्यय का प्राय: १८.५ प्रतिशत भाग था। प्रथम योजना में इस मद में कुल व्यय के केवल ८·९ प्रतिशत भाग व्यय का ही आयोजन था। इस प्रकार द्वितीय योजना में निरपेक्ष रूप से खनिज और निर्माण उद्योगों पर लागत में बहुत अधिक—लगभग ४०० प्रतिशत अधिक व्यय का आयोजन था। खनिज एवं उद्योग पर व्यय की जानेवाली कुल ८९० करोड़ रुपये की रकम में ६९० करोड़ रुपये बड़े पैमाने के उद्योगों पर, जिनमें खनिज भी सम्मिलित थे, खर्च किये जाने को था तथा २०० करोड़ रुपये ग्रामीण एवं लघु पैमाने के उद्योगों पर खर्च का आयोजन था। अत. निरपेक्ष एवं सापेक्ष, दोनों रूप से द्वितीय योजना में उद्योग-धन्धों को प्रथम योजना की अपेक्षा उच्च प्राथमिकता प्रदान की गयी थी।

यातायात एवं संवहन पर द्वितीय योजना में कुल व्यय के २८·९ प्रतिशत खर्च का आयोजन था। प्रथम योजना में इस मद से कुल २४ प्रतिशत व्यय का ही आयोजन था। अत: सापेक्ष एवं निरपेक्ष दोनों रूप से यातायात एवं संवहन पर द्वितीय योजना काल में अधिक जोर दिया गया था। वास्तव में द्रुतगति से देश के आर्थिक विकास के लिए यह आवश्यक भी जान पड़ता है। निरपेक्ष रूप से भी जब प्रथम योजनाकाल में यातायात एवं संवहन पर ५७१ करोड़ रुपये व्यय का आयोजन था, द्वितीय योजना में इस मद में कुल १३८५ करोड़ रुपये व्यय की व्यवस्था की गयी थी। इस मद में व्यय की जानेवाली कुल रकम में से ९०० करोड़ रुपये, या योजना के कुल व्यय का प्राय: १९ प्रतिशत भाग रेलवे के विकास पर व्यय का आयोजन था। (प्रथम योजना में रेलवे की मद में कुल ३६८ करोड रुपये व्यय का आयोजन था। (इसके अतिरिक्त २४६ करोड़ रुपये सड़क पर, ४८ करोड़ रुपये जहाजरानी पर, ४५ करोड़ रुपये बन्दरगाह पर तथा ४५ करोड़ रुपये नागरिक उड्डयन पर व्यय की व्यवस्था थी।

कृषि एवं सामुदायिक विकास पर द्वितीय योजना के अन्तर्गत प्रथम योजना की अपेक्षा कम जोर दिया गया था। इस मद में कुल व्यय के ११·८ प्रतिशत खर्च का आयोजन था जबकि प्रथम योजना में इस मद में १७·९ प्रतिशत व्यय का आयोजन था। किन्तु निरपेक्ष रूप से द्वितीय

योजनाकाल में कृषि एवं सामुदायिक विकास पर प्रथम योजना की तुलना में अधिक रकम के व्यय का आयोजन था। द्वितीय योजनाकाल में इस मद में ५६८ करोड़ रुपये व्यय का आयोजन था जबकि प्रथम योजना में केवल ३५४ करोड़ रुपये व्यय का ही आयोजन था। इसमें से कृषि एवं तत्सम्बन्धी कार्यक्रमों पर ३४१ करोड़ रुपये, सामुदायिक विकास एवं राष्ट्रीय विस्तार सेवा पर २०० करोड़ रुपये, ग्राम-पंचायत पर १२ करोड़ रुपये तथा स्थानीय विकास कार्य-क्रमों पर १५ करोड़ रुपये व्यय का आयोजन था।

इस प्रकार प्राथमिकता का रुख कृषि की अपेक्षा उद्योगों की ओर पहले से अधिक था, फिर भी, देश की आर्थिक-व्यवस्था में कृषि के विशेष महत्त्व के फलस्वरूप योजना में कृषि-कार्य को महत्त्व देना आवश्यक था।

सिंचाई एवं बिजली पर योजनाकाल में ९१३ करोड़ रुपये व्यय का आयोजन था जो योजना के कुल व्यय का प्रायः १९ प्रतिशत भाग था। प्रथम योजना काल में इस मद में कुल ६४७ करोड़ रुपये खर्च की व्यवस्था थी जो कुल व्यय का प्रायः २७·२ प्रतिशत भाग था। इस प्रकार सापेक्ष रूप में द्वितीय योजना में सिंचाई एवं बिजली को कम महत्त्व दिया गया था, किन्तु निरपेक्ष रूप से इस मद में खर्च की रकम बहुत अधिक थी। द्वितीय योजनाकाल में सिंचाई पर ३८१ करोड़ रुपये, बिजली पर ४२७ करोड़ रुपये तथा बाढ़-नियंत्रण एवं अन्य कार्यक्रमों पर १०५ करोड़ रुपये व्यय का आयोजन था।

सामाजिक सेवाओं पर द्वितीय योजना में ९४५ करोड़ रुपये, जो कुल व्यय का प्रायः १९·७ प्रतिशत भाग था, खर्च किया जाने को था। प्रथम योजनाकाल में इस मद में कुल ५२२ करोड़ रुपये, जो कुल व्यय का २२·४ प्रतिशत भाग था, के खर्च का आयोजन था। अगर सामाजिक सेवाओं और सम्बद्ध मदों पर होनेवाले व्यय को भी देखा जाय तो शिक्षा, स्वास्थ्य और आवास के लिए आयोजन प्रायः योजना के ही समान था। किन्तु, निरपेक्ष रूप से पहली योजना से यह बहुत बढ़-चढ़ कर था।

उत्पादन एवं विकास के लक्ष्य तथा उनकी पूर्ति

(Targets of Production and Development and their Achievements)

द्वितीय पंचवर्षीय योजना में व्यय की जानेवाली कुल रकम तथा विभिन्न मदों में इसके वितरण का निर्देश अभी किया गया है। सार्वजनिक एवं निजी क्षेत्रों के निम्नांकित विनियोग के फलस्वरूप दूसरी योजना के उत्पादन एवं विकास के प्रमुख लक्ष्य तथा उनकी पूर्ति निम्नलिखित तालिका[1] से स्पष्ट हो जाते हैं :—

विभिन्न मदें	१९५०-५१	१९५५-५६	द्वितीय योजना के लक्ष्य	द्वितीय योजना की वास्तविक उपलब्धियाँ (१९६० ६१)
कृषि :—				
खाद्यान्न (लाख टन)	५४५	६६९	८०५	८२०
कपास (लाख गाँठ)	२९·०	४०·०	६५·०	५३·०
जूट (,, ,,)	३३·०	४२·०	५५·०	४१·०
तिलहन (लाख टन)	५१·०	५७·०	७७·०	७०·०
गन्ना (लाख टन गुड़)	५६·०	६०·३	७९·०	११·२
सामुदायिक विकास कार्य-क्रम (संख्या)	....	१०६४	...	३११२

1. Based on Third Five Year Plan,

विभिन्न मदें	१९५०-५१	१९५५-५६	द्वितीय योजना के लक्ष्य	द्वितीय योजना की उपलब्धि (१९६०-६१)
सिंचाई एवं बिजली—				
सिंचाई-क्षेत्र (लाख एकड़)	५१५	५६२	८५०	७००
बिजली की प्रस्थापित क्षमता (लाख किलोवाट)	२३	३४	६९	५७
खनिज-पदार्थ—				
कच्चा लोहा (लाख टन)	३०.०	४७.०	१२५.०	१२०.०
कोयला (लाख टन)	३२३.०	३८०.३	६००.०	५४६.०
बड़े पैमाने के उद्योग—				
तैयार इस्पात (लाख टन)	१०.०	१३.०	४३.०	२२.०
अलमुनियम (हजार टन)	३.७	७.३	२५.०	१८.५
मशीनों के औजार (मूल्य रुपये में)	३१.८	७४.०	३००	५५०
मोटर गाड़ियाँ (संख्या)	१६,५००	२५,३००	५७,०००	५३,५००
रेल की ईंजन (संख्या)	३	१७९	४००	२९५
सीमेंट (लाख टन)	२७	४७	१३०	८५
सूती-वस्त्र (लाख गज मिल का)	३७,२००	५१,०२०	५०,०००	५१,२७०
चीनी (लाख टन)	११	१८.६	२२.५	३०
कागज और गत्ता (हजार टन)	२१४	१८०	३५०	३२५
यातायात एवं संवहन—				
रेल सवारी गाड़ियों के सफर (करोड़ मील में)	४१३	६०८	...	४८७
ढोया गया माल (हजार टन)	९१.५	११४०	१६२०	१५४०
पक्की सड़कें (हजार मील)	९७.५	१२२.०	१४२.२	१४४.०
कच्ची सड़कें (हजार मील)	१११	१९५.०	....	२५.०
सामुद्रिक जहाज (लाख टन)	३.९	४.८	९.०	९.०
डाक घर (हजार)	....	५५	७५	७५
तार घर (हजार)	३.६	५.१	६.३	६.३
टेलीफोन (हजार)	१६८	२८०.०	४६.००	४६०.०
स्वास्थ्य—				
चिकित्सा संस्थान (हजार)	८.६५	१०.०	१२.६	१२.०

द्वितीय पंचवर्षीय योजना में कृषि
(Agriculture in the Second Five Year Plan)

प्रथम पंचवर्षीय योजना में कृषि-विकास का मुख्य उद्देश्य खाद्यान्न एवं कच्चे-पदार्थों के अभाव को दूर कर प्रचुरता की स्थिति उत्पन्न करना था जिससे देश की आर्थिक व्यवस्था को सबल बनाया जा सके। किन्तु, द्वितीय योजना में कृषि-विकास के लक्ष्यों के निर्धारण के निम्नलिखित उद्देश्यों को ध्यान में रखा गया था :—(१) देश की बढ़ती हुई जनसंख्या के लिए ऊँचे स्तर पर खाद्यान्न की व्यवस्था करना, (२) बढ़ती हुई औद्योगिक व्यवस्था के लिए पर्याप्त मात्रा में कच्चे पदार्थों को प्राप्त करना, (३) कृषि की उपज में वृद्धि के द्वारा देश के निर्यात को प्रोत्साहित करना, तथा (४) योजनाकाल में अधिक पूँजी के विनियोग के फलस्वरूप होनेवाली संभावित मुद्रा-स्फीति को अधिक अन्न उपजाकर रोकने की व्यवस्था करना।

द्वितीय योजना में कृषि एवं सामुदायिक विकास पर अनुमानतः ५३० करोड़ रुपये व्यय हुए। इनमें से कृषि-विकास के विभिन्न कार्यक्रमों पर २५० करोड़ रुपये व्यय किये गये। (प्रथम योजना में २४६ करोड़ रुपये व्यय का आयोजन था जो कुल व्यय का १०.५ प्रतिशत भाग था)। इसके अतिरिक्त द्वितीय योजनाकाल में मध्यम एवं वृहत् सिंचाई की योजनाओं पर कुल ४६० करोड़ रुपये व्यय किये गये। द्वितीय योजना काल में इस प्रकार व्यय की गयी रकम प्रथम योजना से बहुत अधिक थी। फिर भी देश की आर्थिक व्यवस्था में कृषि के महत्त्व तथा योजना के कुल व्यय की दृष्टि से कहा जा सकता है कि द्वितीय योजनाकाल में कृषि पर और अधिक व्यय की आवश्यकता थी।

द्वितीय योजना में विभिन्न फसलों के उत्पादन के लक्ष्य एवं उनकी उपलब्धियाँ (Targets and Achievements of different crops in the Second Plan) :—प्रथम योजनाकाल में खाद्यान्नों के उत्पादन में निर्धारित लक्ष्य से अधिक वृद्धि अवश्य हुई, किन्तु इससे देश में आत्मनिर्भरता की स्थिति नहीं उत्पन्न हो सकी। जनसंख्या की निरन्तर वृद्धि तथा देश के उपभोग स्तर को और उच्च बनाने की दृष्टि से इसमें और अधिक प्रयत्नों की आवश्यकता थी। द्वितीय योजनाकाल में खाद्यान्नों के उत्पादन में पहले १०० लाख टन वृद्धि का आयोजन था, किन्तु आगे चलकर १०० लाख टन की वृद्धि के इस लक्ष्य को अपर्याप्त समझा गया। अतएव योजना आयोग ने राज्य सरकारों की राय से खाद्यान्नों के उत्पादन में वृद्धि के लक्ष्य को १०० लाख टन से बढ़कर १५५ लाख टन, यानी २३.८ प्रतिशत वृद्धि का लक्ष्य निर्धारित किया। इसमें से चावल के उत्पादन में ६० लाख टन, गेहूँ के उत्पादन में ३५ लाख टन, अन्य खाद्यान्नों के उत्पादन में ३५ लाख टन तथा दालों के उत्पादन में २५ लाख टन वृद्धि की व्यवस्था थी। इसमें से वृहत् सिंचाई द्वारा ३०.५ लाख टन, लघु सिंचाई द्वारा १८ लाख टन, खाद एवं उर्वरकों द्वारा ३८ लाख टन, उत्तम बीज द्वारा ३४ लाख टन, भूमि-सुधार द्वारा ६ लाख टन तथा कृषि-पद्धति में सुधार द्वारा २५ लाख टन अतिरिक्त उपज प्राप्त करने का आयोजन था। उक्त लक्ष्य के पूर्ण होने पर प्रति-वयस्क प्रतिदिन खाद्यान्न का उपभोग १७.२ औंस से बढ़कर १८.३ औंस (नये लक्ष्य के पूरा होने पर इससे भी अधिक) होने का अनुमान किया गया था। साथ ही, यह आशा की गयी थी कि इस वृद्धि से हम संतुलित भोजन (Balanced diet) की ओर भी अग्रसर होंगे। भोजन के पौष्टिक तत्त्वों में इससे २४० कैलरीज की वृद्धि की आशा थी।

द्वितीय योजना का यह लक्ष्य पूर्णरूप से पूरा हो गया तथा १९६०-६१ ई० में खाद्यान्नों का उत्पादन ८२० लाख टन हुआ। अशोक मेहता समिति ने भी इस लक्ष्य की पूर्ति के सम्बन्ध

में पहले ही आशंका प्रकट की थी। किन्तु समय ने इस प्रकार की आशंका को मिथ्या सिद्ध कर दिया।

व्यावसायिक फसलों के उत्पादन के लक्ष्य एवं उनकी उपलब्धि (Targets of Production and achievements of Commercial Crops) :— द्वितीय योजना में व्यावसायिक फसलों के उत्पादन में भी महत्त्वपूर्ण वृद्धि का आयोजन था। योजनाकाल में कपास के उत्पादन को १९५५-५६ ई० में ४० लाख गाँठ से बढ़ाकर १९६०-६१ ई० में ६५ लाख गाँठ करने का आयोजन था। इसके अन्तर्गत विशेषत: लम्बी रेशे वाली कपास के उत्पादन पर अधिक जोर दिया गया था। किन्तु कपास का उत्पादन १९६०-६१ ई० में ५३ लाख गाँठ ही हुआ। जूट का उत्पादन जो १९५५-५६ ई० में ४२ लाख गाँठ था, को बढ़ाकर १९६०-६१ ई० में ५५ लाख गांठ करने का आयोजन था, किन्तु १९६०-६१ ई० में जूट का उत्पादन केवल ४१ लाख गाँठ ही हुआ। तेलहन का उत्पादन, जो १९५५-५६ ई० में ५६ लाख टन था, को बढ़ाकर १९६०-६१ ई० में ७७ लाख टन करने का आयोजन था। किन्तु, १९६०-६१ ई० में तेलहन का उत्पादन ७० लाख टन ही हुआ। गन्ने के उत्पादन को (गुड़ के रूप में) १९५५-५६ ई० में ६० लाख टन से बढ़ाकर १९६०-६१ ई० में ७९ लाख टन करने का लक्ष्य था। इसके फलस्वरूप चीनी का प्रति-व्यक्ति औसत वार्षिक उपभोग १७२ औंस हो जाने का था। गन्ने का लक्ष्य पूर्ण रूप से पूरा हो गया तथा १९६०-६१ ई० में इसका उत्पादन १११ लाख टन हुआ। योजनाकाल में चाय के उत्पादन को ६,७८० लाख पौंड से बढ़ाकर ७००० लाख पौंड करने का आयोजन था। योजना के अन्त में चाय का उत्पादन ७२५० लाख पौंड हुआ। द्वितीय योजनाकाल में तम्बाकू के उत्पादन में कोई वृद्धि का आयोजन नहीं था, केवल इसके गुण में सुधार लाने पर विशेष जोर दिया गया था। इस प्रकार द्वितीय योजना के कृषि सम्बन्धी अधिकांश लक्ष्य प्राय: पूरे नहीं हो सके।

द्वितीय योजना के कृषि सम्बन्धी लक्ष्यों एवं उनकी पूर्त्ति का अन्दाजा निम्नांकित तालिका से लगता है :—

कृषि-पदार्थों का उत्पादन

वस्तु	इकाई	१९४९-५०	१९५०-५१	१९५५-५६	१९५६-५७	१९५७-५८	१९५८-५९	१९५९-६०	१९६०-६१
खाद्यान्न	ला० ट०	५७६	५४०	६६९	६८८	६२५	७५५	७१७	८२०
तिलहन	,,	५१	५१	५१	६३	६१	६९	६४	७०
गन्ना	ला० टन गुड़	४९	६६	६१	६८	६९	७१	७६	१११
कपास	ला० गाँ०	२६	२९	४०	४७	४७	४७	४८	५३
जूट	,,	३१	३३	४२	४३	४१	५२	४६	४१

उपरोक्त फसलों के अतिरिक्त कृषि-पदार्थों के उत्पादन में विविधता लाने के लिए योजना के अन्तर्गत मिर्चा, लाह, आलू आदि सहायक फसलों के उत्पादन में वृद्धि का भी आयोजन था।

सिंचाई के लक्ष्य (Targets of Irrigation) :—भारत में कृषि-विकास के लिए सिंचाई का बड़ा ही महत्त्व है। अत: योजना आयोग ने सिंचाई के साधनों के विस्तार पर पर्याप्त जोर दिया था। प्रथम पंचवर्षीय योजना के अन्तर्गत सिंचाई की विभिन्न योजनाओं के फलस्वरूप कुल नदियों के जल का अनुमानत: १० प्रतिशत भाग १९५६ ई० तक उपयोग किया जाने को था। द्वितीय योजनाकाल में २१० लाख एकड़ अतिरिक्त भूमि की सिंचाई का आयोजन था। इसमें १२० लाख एकड़ भूमि में वृहत् एवं मध्यम सिंचाई की योजनाओं द्वारा तथा ९० लाख एकड़ भूमि में लघु सिंचाई की योजनाओं द्वारा सिंचाई का आयोजन था। द्वितीय योजना के अन्तर्गत वृहत् एवं मध्यम सिंचाई के कार्यों पर कुल ३८१ करोड़ रुपये व्यय का आयोजन था। इसमें योजनाकाल में वास्तविक रूप में ३७२ करोड़ रुपये व्यय हुआ। साथ ही, २० करोड़ रुपये के व्यय से ३५८१ नल कूप लगाने का आयोजन था जिनसे प्राय: ९ लाख एकड़ भूमि में सिंचाई की सुविधा प्राप्त होने की आशा थी। द्वितीय योजनाकाल में सिंचाई के विभिन्न साधनों के द्वारा कुल प्राय: १३२ लाख एकड़ अतिरिक्त भूमि में सिंचाई की सुविधा प्राप्त हुई। इसमें वृहत् एवं मध्यम सिंचाई की योजनाओं द्वारा केवल ६९ लाख एकड़ भूमि की ही सिंचाई हुई। द्वितीय योजना के अन्त में १९६०-६१ ई० तक देश की कुल प्राय: ७०० लाख एकड़ भूमि में सिंचाई की सुविधा प्राप्त हुई। इस प्रकार द्वितीय योजना के सिंचाई-सम्बन्धी लक्ष्य भी पूरे नहीं हो सके।

उत्तम बीज-सम्बन्धी लक्ष्य :—द्वितीय योजनाकाल में उत्तम बीज उत्पन्न करने के उद्देश्य से प्रत्येक राष्ट्रीय-विस्तार सेवा-खण्ड में एक-एक बीज वृद्धि प्रक्षेत्र (Seed Multiplication Farms) तथा बीज संचय के लिए एक एक गोदाम बनाने का आयोजन था। द्वितीय योजना के अन्त तक देश में कुल ४,००० बीज-वृद्धि-प्रक्षेत्र स्थापित किये गये थे। इसी प्रकार अमोनियम सल्फेट की खपत, जो १९५५-५६ ई० में प्राय: ७ लाख टन थी, को बढ़ाकर द्वितीय योजना के अन्त तक १४६ लाख टन करने का आयोजन था। योजनाकाल में खाद के तीन नये कारखानों को स्थापित करने का आयोजन था। देशी खाद के प्रयोग पर योजना काल में विशेष जोर दिया गया था। द्वितीय योजनाकाल में देश की भूमि-व्यवस्था में आवश्यक सुधार लाने का प्रयास भी किया गया। योजनाकाल में कृषि के विकास को प्रोत्साहित करने के लिए विभिन्न राज्यों में काश्तकारी अधिकारों में आवश्यक संशोधन लाने का आयोजन था। साथ ही, जोतों की अधिकतम सीमा के निर्धारण का प्रयत्न किया जा रहा है जिससे किसी एक परिवार के पास एक निश्चित सीमा से अधिक भूमि नहीं रहने पाये। योजनाकाल में जोतों की चकबन्दी एवं सहकारी कृषि-व्यवस्था के विकास को भी प्रोत्साहित करने का आयोजन था।

द्वितीय योजना में उद्योग
(Industries in the Second Plan)

द्वितीय पंचवर्षीय योजना के अन्तर्गत उद्योग-धन्धों के विकास पर पर्याप्त जोर दिया गया था। द्वितीय योजना में इस मद में कुल ८९० करोड़, जो योजना के कुल व्यय का १८.५ प्रतिशत था, व्यय की व्यवस्था थी। किन्तु इस मद में योजना का वास्तविक व्यय उद्योग एवं खनिज पर ९०० करोड़ रुपये तथा कुटीर एवं लघु उद्योगों पर १७५ करोड़ रुपये हुआ। इससे स्पष्ट है कि द्वितीय योजना में उद्योगों के विकास को उच्च प्राथमिकता दी गयी थी। द्वितीय योजना में आधारभूत एवं भारी उद्योगों के विकास को उच्च प्राथमिकता थी। दोनों

योजनाओं में विभिन्न प्रकार के उद्योग एवं खनिज पर किये जाने वाले व्यय का अन्दाजा निम्नांकित तालिका से लगाया जा सकता है :—

मदें	प्रथम योजना व्यय की रकम (करोड़ रुपये में)	प्रथम योजना कुल व्यय का प्रतिशत	द्वितीय योजना व्यय की रकम (करोड़ रुपये में)	द्वितीय योजना कुल व्यय का प्रतिशत
उद्योग एवं खनिज	७४	४·०	६००	२०·०
ग्रामीण एवं लघु उद्योग	४३	२·०	१७५	४·०
कुल	११७	६·०	१०७५	२४·०

औद्योगिक विकास के लक्ष्य एवं पूर्त्ति (Targets and Achievements of Industrial Production) :—देश में तीव्र गति से औद्योगीकरण के लिए लोहा एवं इस्पात के उत्पादन को बढ़ाना नितांत आवश्यक है। इस उद्देश्य से द्वितीय योजना काल में सरकार द्वारा तीन लोहा एवं इस्पात के कारखाने स्थापित किये गये जिनकी सम्मिलित प्रारम्भिक उत्पादन-क्षमता ६० लाख टन इस्पात की थी। सरकारी क्षेत्र में लोहा-तथा इस्पात उद्योग पर कुल ३५० करोड़ रुपये द्वितीय योजनाकाल में व्यय का आयोजन था। इसमें से ७५ करोड़ रुपये विदेशों से ऋण आदि के रूप में प्राप्त होने की आशा थी। १९६०-६१ ई० तक सरकारी क्षेत्र में तैयार इस्पात का उत्पादन २० लाख टन करने का आयोजन था। किन्तु योजना का यह लक्ष्य भी पूरा नहीं हो सका तथा सार्वजनिक क्षेत्र में इस्पात का उत्पादन प्राय: नगण्य ही रहा। प्रथम योजना के अन्त में इस्पात का उत्पादन १३ लाख टन था जो १९६०-६१ ई० में बढ़कर केवल २३ लाख टन ही हुआ।

खाद का उत्पादन :—द्वितीय योजना के अन्त में १९६०-६१ ई० में देश में कुल ३,७०,००० टन कृत्रिम खाद (In terms of fixed nitrogen) की आवश्यकता का अनुमान लगाया गया था जबकि योजना आरम्भ होने के समय कुल-उत्पादन प्रतिवर्ष केवल ८५,००० टन ही था। इस अभाव को पूरा करने के लिए द्वितीय योजना के अन्तर्गत सिन्द्री के खाद कारखाने के विस्तार का आयोजन था। साथ ही, योजनाकाल में नांगल, निवेली तथा दुर्गापुर में तीन नये खाद के कारखाने सार्वजनिक क्षेत्र में स्थापित करने का आयोजन था। किन्तु, खाद के उत्पादन का लक्ष्य भी पूरा नहीं हो सका। १९६०-६१ ई० में इसका उत्पादन केवल १,१०,००० टन ही हुआ। सार्वजनिक क्षेत्र में स्थापित किये जाने वाले कारखानों की स्थापना में बहुत ही देर हो गयी तथा इनमें से केवल नांगल के कारखाने में ही १९६० ई० में आंशिक रूप में उत्पादन आरम्भ हुआ। अन्य कारखानों के निर्माण का कार्य योजनाकाल में पूरा नहीं हो सका।

इनके अतिरिक्त योजनाकाल में हिन्दुस्तान समुद्री जहाज के कारखाने एवं चितरंजन रेलवे ईंजन के कारखाने के विस्तार का भी आयोजन था। इसके अनुसार समुद्री जहाज का उत्पादन प्रतिवर्ष प्राचीन तरह के ६ तथा नये प्रकार के चार जहाज हो जाने को था। चितरंजन कारखाने का उत्पादन भी वर्तमान १२५ ईंजन प्रतिवर्ष से बढ़ाकर १९६१ ई० में ३०० ईंजन प्रतिवर्ष होने का आयोजन था। इसी प्रकार पेराम्बूर रेल-डब्बा कारखाने का उत्पादन भी १९६१ ई० तक प्रतिवर्ष ३५० करने का आयोजन था। इसके अतिरिक्त वर्तमान डी० टी० टी० के कारखानों के विस्तार का भी आयोजन था तथा ट्रावनकोर-कोचीन में एक और डी० डी० टी० का कारखाना स्थापित किया जाने को था। पेन्सिलीन के कारखाने के विस्तार का भी आयोजन

था। साथ ही, अखबारी कागज की पूर्ति को बढ़ाने के लिए अखबारी कागज के कारखाने भी स्थापित किये गये। योजनाकाल में भारी मशीनों के उत्पादन का एक कारखाना स्थापित किया गया।

निजी क्षेत्र में औद्योगिक विकास (Industrial Progress in Private Sector) :—द्वितीय योजना के अन्तर्गत औद्योगिक विकास के लिए निजी क्षेत्र में ७२० करोड़ रुपये विनियोग का आयोजन था। सरकारी क्षेत्र की तरह इस क्षेत्र में भी कुल व्यय का अधिकांश भाग भारी एवं आधारभूत उद्योगों के विकास पर व्यय का आयोजन था।

लोहा एवं इस्पात उद्योग :—सरकारी क्षेत्र की तरह निजी क्षेत्र में भी लोहा एवं इस्पात उद्योग को अत्यधिक महत्त्व दिया गया था तथा योजनाकाल में इसके विकास के लिए ११५ करोड़ रुपये खर्च का आयोजन था। योजनाकाल में टाटा आयरन एण्ड स्टील कम्पनी (TISCO) तथा इण्डियन आयरन एण्ड स्टील कम्पनी (ISCO) के विस्तारीकरण का कार्यक्रम पूरा हुआ जिसके फलस्वरूप इनका सम्मिलित उत्पादन १९५६ ई० में १२·५ लाख टन से बढ़कर योजना के अन्त में १६ लाख टन हो गया। इस प्रकार स्पष्ट है कि निजी क्षेत्र में भी इस्पात का उत्पादन आयोजित लक्ष्य से कम ही रहा।

सीमेंट उद्योग :—द्वितीय योजना के अन्तर्गत विकास के विभिन्न कार्यक्रमों के कार्यान्वयन के फलस्वरूप सीमेंट की मांग में महत्त्वपूर्ण वृद्धि हुई। अतः योजना काल में सीमेंट के उत्पादन को ४३ लाख टन से बढ़ाकर १९६०-६१ ई० में १३० लाख टन का आयोजन था, किन्तु योजना का यह लक्ष्य पूरा नहीं हो सका तथा १९६०-६१ ई० में सीमेंट का उत्पादन केवल ८० लाख टन ही हुआ।

भारी मशीन उद्योग :—द्वितीय योजना के अन्तर्गत निजी क्षेत्र में भी विभिन्न प्रकार की मशीनों के उत्पादन में वृद्धि का आयोजन था। टाटा इंजीनियरिंग एण्ड लोकोमोटिव कम्पनी द्वारा योजनाकाल में इंजन के उत्पादन को बढ़ाकर प्रतिवर्ष १०० करने का आयोजन था। देश में मोटर बनाने के उद्योगों तथा कपड़ा, जूट, चीनी, कागज आदि उद्योगों के लिए आवश्यक मशीनों के उत्पादन को बढ़ाने की भी व्यवस्था की गयी थी।

उपभोक्ता-वस्तुएँ (Consumer's goods) :—योजनाकाल में उपभोक्ता वस्तुओं के उत्पादन में भी महत्त्वपूर्ण वृद्धि का आयोजन था। इस प्रकार की वस्तुओं की पूर्ति अधिकांशतः निजी क्षेत्र द्वारा ही होती है तथा योजनाकाल में भी यही क्षेत्र इनके लिए जिम्मेवार था। योजनाकाल में कागज के उत्पादन को १९५५-५६ ई० में १८७ हजार टन से बढ़ाकर १९६०-६१ ई० में ३५६ हजार टन करने का आयोजन था, किन्तु इसका उत्पादन प्रायः ३५० हजार टन ही हुआ। चीनी के उत्पादन को १९५५-५६ ई० में १६·५ लाख टन से बढ़ाकर १९६०-६१ ई० में २२·५ लाख टन करने का लक्ष्य था जबकि चीनी का उत्पादन १९६०-६१ ई० में २५ लाख टन हो गया। सूती कपड़े तथा सूत का लक्ष्य १९६०-६१ ई० में क्रमशः ८५० करोड़ गज तथा १९५ करोड़ पौंड था। यह लक्ष्य भी प्रायः पूरा हो गया। किन्तु, उपभोक्ता उद्योगों को योजनाकाल में आधारभूत एवं भारी उद्योगों की तुलना में बहुत कम महत्त्व दिया गया था। देश के सम्पूर्ण औद्योगिक उत्पादन में १९६०-६१ ई० तक ६४ प्रतिशत की वृद्धि का आयोजन था जबकि पूंजीगत मालों (Capital goods) के उत्पादन में लगभग १५० प्रतिशत की वृद्धि का आयोजन था। खनिज-पदार्थों के उत्पादन में भी महत्त्वपूर्ण वृद्धि का आयोजन था।

ग्रामीण एवं लघु उद्योग (Village and Small Scale Industries) :—कुटीर उद्योगों के विकास पर भी द्वितीय योजनाकाल में विशेष जोर दिया गया था। योजनाकाल मे

इस मद में कुछ २०० करोड़ रुपये व्यय का आयोजन था। किन्तु द्वितीय योजनाकाल में इस मद में वास्तविक व्यय १७५ करोड़ रुपये ही हुआ। इसके अतिरिक्त विस्थापित लोगों के पुनर्वास कार्यक्रम के अन्तर्गत १० करोड़ रुपये कुटीर एवं लघु-उद्योगों के कर्ज के लिए एवं ७ करोड़ रुपये प्रशिक्षण के लिए व्यय किया जाने को था। सामुदायिक विकास कार्यक्रम के अन्तर्गत भी ग्रामीण कला एवं दस्तकारी के लिए लगभग ४ करोड़ रुपये व्यय की व्यवस्था थी।

द्वितीय योजना में यातायात एवं संवादवाहन (Transport and Communication in the Second Plan) :—द्वितीय योजनाकाल में रेल-यातायात[1] के विकास पर कुल ९०० करोड़ रुपये, जो योजना के सम्पूर्ण खर्च का लगभग १८·५ प्रतिशत भाग था, के व्यय का आयोजन था। इसमें से रेलवे के साधनों द्वारा १५० करोड़ रुपये प्राप्त करने की आशा थी तथा शेष ७५० करोड़ रुपये की व्यवस्था सामान्य राजस्व से की जाने को थी। द्वितीय योजनाकाल में रेलवे के विकास पर कुल प्राय: ८६० करोड़ रुपये व्यय हुआ। प्रथम एवं द्वितीय योजनाकाल में कुल प्राय: १२०० मील लम्बी रेल लाइनों का निर्माण हुआ, १३०० मील लम्बी रेल लाइनों को दुहरा बनाया गया तथा ८८० मील रेल लाइनों पर बिजली से गाड़ियाँ चलायी जाने लगीं।

द्वितीय योजना में सड़क-विकास का निम्नलिखित लक्ष्य था :—(क) ५५ करोड़ रुपये के व्यय पर राष्ट्रीय राजपथ (National highways) के विकास का आयोजन था। इनके अन्तर्गत बड़े-बड़े पुल तैयार किये गये, मार्गों को चौड़ा बनाया गया तथा उन पर अस्फाल्ट बिछाया गया। (ख) १००० मील लम्बी नयी अन्तर्प्रान्तीय सड़कें बनाने का आयोजन था। (ग) राज्य सरकारों द्वारा कुल १६४ करोड़ रुपये के व्यय पर १८,००० मील लम्बी सड़क बनाने का आयोजन था। साथ ही, कच्ची सड़कों का भी विस्तार किया जाने को था। राज्यों द्वारा सड़कों के लक्ष्य के निर्धारण में अविकसित क्षेत्रों को प्राथमिकता दी गयी थी। द्वितीय योजना में सड़क-विकास कार्यक्रम में भी विशेष प्रगति हुई तथा पक्की सड़कों की लम्बाई १९५५-५६ ई० में १२२ हजार मील से बढ़कर १९६०-६१ ई० तक १४४ हजार मील हो गयी।

द्वितीय योजना में रोजगार

(Employment in the Second Five Year Plan)

द्वितीय योजना काल में आयोग ने देश में बेरोजगारों की संख्या का अनुमान निम्न प्रकार से लगाया था :—

	शहरी क्षेत्रों में	ग्रामीण क्षेत्रों में	लाख में कुल
नये रोजगार चाहने वाले	३८	६२	१००
पुराने बेकार	२५	२८	५३
कुल	६३	९०	१५३

इसमें से द्वितीय योजनाकाल में कृषि के अतिरिक्त अन्य कार्यों में ८० लाख व्यक्तियों को रोजगार दिलाने का अनुमान था, यानी द्वितीय योजनाकाल में भी पूर्ण रोजगार की स्थिति नहीं स्थापित की जा सकी थी। योजना आयोग ने इस बात को स्पष्ट कर दिया था कि 'यह आशा

१. इसके अतिरिक्त रेलवे-अपकर्ष कोष (Railway Depreciation Fund) से २२५ करोड़ रुपये पाँच वर्षों में प्राप्त होने का अनुमान था। इस प्रकार द्वितीय योजना में कुल मिलाकर ११२५ करोड़ रुपये योजना काल में रेल व्यवस्था पर खर्च किये जाने को था।

करना अनुचित होगा कि देश में दूसरी योजना के अन्त तक पूर्ण रोजगार की स्थिति स्थापित हो सकेगी। इस उद्देश्य की पूर्ति आयोजित प्रयत्नों की एक लम्बी प्रक्रिया द्वारा ही की जा सकती है जिसकी अवधि दूसरी योजना से भी अधिक लम्बी होगी।" योजना आयोग ने सितम्बर, १९५५ ई० में शिक्षित बेरोजगारों की समस्या के अध्ययन के लिए एक विशेष अध्ययन दल को नियुक्त किया था। इस अध्ययन का मुख्य उद्देश्य एक ऐसी योजना प्रस्तुत करना था जिससे शिक्षित व्यक्तियों की बेकारी की समस्या को सुलझाया जा सके। इस ग्रूप का अनुमान था कि लगभग ५.५ लाख शिक्षित व्यक्ति उस समय बेकार थे और दूसरी योजना के अन्त में इनकी संख्या के २० लाख हो जाने की सम्भावना थी। दूसरी योजना में लगभग १४.५ लाख शिक्षित व्यक्तियों को रोजगार मिलने की आशा थी और इसलिए केवल ५.५ लाख शिक्षित व्यक्तियों को रोजगार प्रदान करने की समस्या रह जाती थी। इस अध्ययन दल ने कई योजनाएँ प्रस्तुत की जिन्हें योजना आयोग को सिफारिशों के अनुसार पहले कुछ चुने हुए क्षेत्रों में ही लागू किया जाने को था और यदि उनके परिणाम अच्छे निकलते तो उनको सामान्य रूप से अपनाया जाने को था।

योजना के अन्त तक कृषि के अतिरिक्त अन्य क्षेत्रों में कुल ८० लाख व्यक्तियों तथा ग्रामीण क्षेत्रों में कृषि और भूमि-सुधार कार्यक्रमों के कारण १६ लाख अन्य व्यक्तियों को और रोजगार मिलने का अनुमान था। किन्तु, वास्तव में द्वितीय योजनाकाल में कृषि के अतिरिक्त अन्य मदों में केवल ६५ लाख व्यक्तियों के लिए ही रोजगार की व्यवस्था की जा सकी। इसका तात्पर्य यह है कि द्वितीय योजना के अन्त तक देश में ८८ लाख व्यक्ति बेरोजगार थे।

राष्ट्रीय आय (National Income) :—ऐसा अनुमान किया गया था कि देश की राष्ट्रीय आय, जो १९५५-५६ ई० में १०,८०० करोड़ रुपये थी, १९६०-६१ ई० में बढ़कर १३,४८० करोड़ रुपये हो जायगी, अर्थात् उसमें लगभग २५% की वृद्धि होगी। प्रथम योजना-काल में प्रति-व्यक्ति की आय २५६ रुपये से बढ़कर २८१ रुपये हो गयी थी अर्थात् ११ प्रतिशत की वृद्धि हुई थी और दूसरी योजना के अन्त तक प्रति-व्यक्ति आय के ३३० रुपये होने का अनुमान था, अर्थात् इसमें लगभग १८% की वृद्धि की आशा थी। १९५५-५६ ई० में राष्ट्रीय आय में कृषि तथा सहायक धन्धों का भाग ४८% था जो १९६०-६१ ई० में घट कर ४६% होने की आशा थी, परन्तु खानों तथा कारखानों का हिस्सा ९% से बढ़कर ११% हो जाने को था। परन्तु यह वृद्धि तभी सम्भव थी जबकि नियोजन में सामंजस्य रहे, विदेशी सहायता मिलती रहे, अपव्यय कम-से-कम हो, व्यक्तियों का सहयोग प्राप्त हो ताकि उत्पत्ति के उन्नत ढंगों को अपनाने एवं विकास के लिए उपयुक्त वातावरण तैयार हो सके। किन्तु द्वितीय पंचवर्षीय योजना में कुल राष्ट्रीय आय में केवल २०.४ प्रतिशत तथा प्रति-व्यक्ति आय में ८.६ प्रतिशत की ही वृद्धि हुई, यानी द्वितीय योजना के इस सम्बन्ध के लक्ष्य पूर्ण रूप से पूरे नहीं हो सके।

द्वितीय योजना के वित्तीय साधन
(Financial Resources of Second Five Year Plan)

द्वितीय योजना प्रथम योजना की तुलना में बहुत बड़ी थी। इसमें सार्वजनिक क्षेत्र में कुल ४८०० करोड़ रुपये व्यय का आयोजन था, किन्तु पाँच वर्षों में योजना का वास्तविक व्यय केवल ४६०० करोड़ रुपये ही हुआ। योजना में व्यय की गयी कुल रकम विभिन्न साधनों से निम्न प्रकार से प्राप्त हुई :—

द्वितीय योजना के वित्तीय साधन

साधन	प्राप्त रकम (करोड़ रुपये में)		प्रतिशत	
	आयोग द्वारा प्रस्तावित	वास्तविक रकम	आयोग द्वारा प्रतिशत	वास्तविक प्रतिशत
१. चालू आय से प्राप्त बचत (१९५५-५६ के करों की दर पर)	३५०	—५०	७·३	—१·२
२. अतिरिक्त करों द्वारा	४५०	१०५२	९·४	२२·७
३. जनता से ऋण	७००	७८०	१४ ६	१७·३
४. अल्प बचत	५००	४००	१०·४	८·३
५. रेलवे से अनुदान	१५०	१५०	३·१	३·३
६. निर्वाह-निधि तथा जमा खाते	२५०	२३०	५·२	६ ३
७. विदेशों से प्राप्त साधन	८००	१०९०	१६·७	२२·४
८. घाटे की वित्त-व्यवस्था	१२००	९४८	२५·०	२०·९
९. कमी, जो स्वदेश के साधनों से पूरी होगी।	४००	—	८·३	
कुल	४८००	४६००	१००·०	१०० ०

तालिका से स्पष्ट है कि द्वितीय योजना में अतिरिक्त करों द्वारा पाँच वर्षों में कुल १०५२ करोड़ रुपये की रकम प्राप्त हुई जबकि लक्ष्य केवल ४५० करोड़ रुपये का था। इसके बाद विदेशों से १०९० करोड़ रुपये यानी कुल व्यय का लगभग २२·४ प्रतिशत तथा घाटे की वित्तीय व्यवस्था से ९४८ करोड़ रुपये की रकम प्राप्त हुई। इसके बाद क्रमशः जनता से ऋण तथा अल्प बचत का स्थान है। चालू आय से पाँच वर्षों में ३५० करोड़ रुपये प्राप्त करने का आयोजन था जबकि इस मद में ५० करोड़ रुपये का घाटा ही हुआ।

विदेशी विनिमय-सम्बन्धी कठिनाइयाँ (Foreign Exchange Difficulties) :—भारत जैसे अर्द्ध-विकसित राष्ट्र के औद्योगिक विकास के लिए विदेशों से बहुत बड़ी मात्रा में यन्त्र एवं विशेषज्ञों के आयात की आवश्यकता पड़ती है। इसके लिए विदेशी विनिमय की आवश्यकता पड़ती है। योजना आयोग ने यह अनुमान लगाया था कि द्वितीय पंचवर्षीय योजना में औसत रूप से प्रति वर्ष २२५ करोड़ रुपये विनिमय की आवश्यकता पड़ेगी। किन्तु द्वितीय योजना के प्रारम्भ में ही कई कारणों से विदेशी विनिमय सम्बन्धी कठिनाइयाँ उपस्थित हो गयीं। १९५६-५७ में रिजर्व बैंक की विदेशी-सम्पत्ति में २१८ करोड़ रुपये तथा १९५७-५८ के प्रथम आठ महीनों में २ ७ करोड़ रुपये की कमी हो गयी।[1] द्वितीय इस विदेशी विनिमय-सम्बन्धी संकट के कई कारण थे जिनमें निम्नलिखित प्रमुख थे :—

(क) स्वेज संकट (Suez Crisis) :—१९५६ ई० के उत्तरार्द्ध में मिस्र एवं इंगलैंड में युद्ध छिड़ जाने के कारण यूरोपीय वस्तुओं के मूल्य एवं उनके आयात के खर्च में अत्यधिक वृद्धि हो गयी। इससे विदेशी यन्त्र वगैरह के आयात का खर्च अत्यधिक बढ़ गया।

1—India—1970.

(ख) भीषण खाद्य-संकट :—द्वितीय योजना के प्रारम्भ से ही देश के समक्ष खाद्य-संकट की भीषण समस्या उपस्थित हो गयी जिसे दूर करने के लिए विदेशों से बहुत बड़ी मात्रा में खाद्यान्न का आयात करना पड़ा। द्वितीय योजना काल में १९५६-५७ ई० में प्रायः १०२ करोड़ रुपये तथा १९५७-५८ ई० में १५२·६ करोड़ रु० के खाद्यान्न का आयात करना पड़ा था। खाद्यान्नों के आयात में इस अप्रत्याशित वृद्धि ने भी विदेशी विनिमय की समस्या को और घनीभूत बना दिया।

(ग) सरकार की अति उदार आयात नीति :—योजना के प्रारम्भ में सरकार की आयात-नीति भी बड़ी ही उदार थी जिसके फलस्वरूप बहुत बड़ी मात्रा में विदेशी वस्तुओं का आयात हुआ। इसका विदेशी विनिमय पर बहुत ही बुरा प्रभाव पड़ा।

(घ) निर्यात में अप्रत्याशित कमी :—एक ओर तो आयात में अप्रत्याशित वृद्धि हुई और दूसरी ओर निर्यात में कई कारणों से कमी हो गयी जिनमें स्वेज संकट, इंगलैंड में भारतीय वस्तुओं की मांग में कमी, अन्तर्राष्ट्रीय बाजार में प्रतियोगिता आदि प्रमुख हैं। निर्यात में इस अप्रयाशित कमी ने विदेशी विनमय की स्थिति को और भी अधिक गम्भीर बना दिया।

इस प्रकार उपरोक्त कारणों से देश में विदेशी विनिमय संकट उत्पन्न हो गया। विदेशी विनिमय-सम्बन्धी कठिनाइयों को दूर करने के लिए सरकार द्वारा आयात पर कठिन नियन्त्रण लगाया गया। योजनाकाल में केवल आवश्यक पूँजीगत मालों के आयात को ही प्रोत्साहित किया गया तथा उपभोक्ता वस्तुओं के आयात पर प्रतिबन्ध लगाया गया। विदेशी विनिमय एक पूर्व निश्चित प्राथमिकता के अनुसार ही खर्च किया गया। योजना के विभिन्न कार्यक्रमों के अन्तर्गत केवल प्रमुख कार्यों (Core of the plan), जैसे लोहा एवं इस्पात के कारखानों, रेलवे, कोयला तथा कुछ चुनी हुई शक्ति योजनाओं पर विशेष ध्यान दिया गया। साथ ही, जिस योजना का कार्य बहुत आगे बढ़ गया था, उसे भी प्राथमिकता दी गयी। इतना होने पर भी द्वितीय योजना काल में कुल १०९६ करोड़ रुपये विदेशी सहायता का प्रयोग किया गया।

योजना में परिवर्तन (Rephasing of the Plan) :—योजना के प्रारम्भ में ही वस्तुओं के मूल्य में अत्यधिक वृद्धि एवं विदेशी विनिमय की कठिनाइयों के फलस्वरूप योजना के विभिन्न कार्यक्रमों का व्यय बहुत बढ़ गया। किन्तु, साधनों के अभाव के कारण राष्ट्रीय विकास परिषद् (National Development Council) ने मई, १९५८ ई० में यह तय किया कि योजना का कुल व्यय ४८०० करोड़ रुपये ही रहेगा। इसमें कटौती या वृद्धि नहीं की जायगी। किन्तु, परिषद् ने इस योजना को दो भागों में विभाजित किया। प्रथम खंड (Part A) का कुल व्यय ४५० करोड़ रुपये तथा द्वितीय खण्ड (Part B) का ३०० करोड़ रुपये रखा गया। प्रथम खण्ड को किसी भी तरह पूरा करना आवश्यक समझा गया। द्वितीय खण्ड की पूर्ति साधनों की उपलब्धि पर निर्भर थी।

द्वितीय योजना की समालोचना
(A Critical Appraisal of the Second Plan)

द्वितीय योजना को प्रारम्भ से बहुत-सी आलोचनाओं का शिकार होना पड़ा। बाद की घटनाओं ने इनमें से कुछ आलोचनाओं को सत्य और कुछ को गलत भी सिद्ध कर दिया। वास्तव में, द्वितीय योजना के विरुद्ध निम्नांकित प्रमुख आलोचनाएँ दी गयी थीं :-

१. द्वितीय योजना अत्यधिक महात्वाकांक्षी (Over-ambitious) थी :—द्वितीय योजना का आकार पहली योजना से बहुत बड़ा, प्रायः दुगुना था। अतएव यह बहुत महत्वाकांक्षी

थी। इसमें विनियोग की दर के १६५५-५६ ई० में राष्ट्रीय आय के ७·३ प्रतिशत से बढ़कर १९६०-६१ में १०·६ प्रतिशत हो जाने का अनुमान था। आलोचकों के अनुसार विनियोग की दर में इतनी वृद्धि सम्भव नहीं है। श्री के० सी० नियोगी (K. C. Neogy) के अनुसार, द्वितीय योजना अव्यवहारिक तथा अत्यधिक महत्वाकांक्षी है और इसका विशाल भवन अत्यन्त कमजोर नींव पर खड़ा है।"(The Second plan is unrealistic and over ambitious and its massive super-structure is raised on precarious foundations.)

वास्तव में, द्वितीय योजना देश की आवश्यकताओं को देखते हुए बहुत बड़ी नहीं कही जा सकती, फिर भी साधनों की दृष्टि से यह महत्वाकांक्षी अवश्य थी। साधनों के अभाव के कारण ही मई, १९५८ ई० एवं सितम्बर, १६५६ ई० में द्वितीय योजना में परिवर्तन करना पड़ा। लेकिन भारत जैसे अविकसित देश के तीव्र आर्थिक विकास के लिए साधारण योजना से काम भी नहीं चल सकता। इसके लिए हमें विशाल विनियोग की व्यवस्था करनी पड़ेगी और उसके लिए जनता को तैयार होना पड़ेगा।

(२) द्वितीय योजना में कृषि पर कम तथा उद्योग-धन्धों पर अधिक जोर दिया गया था :—द्वितीय योजना के विरुद्ध यह सर्वाधिक प्रमुख अलोचना है। द्वितीय योजना में औद्योगीकरण के आधार को सुदृढ़ बनाने पर विशेष जोर दिया गया था। वास्तव में, रोजगार, राष्ट्रीय आय आदि में वृद्धि के लिए ऐसा आवश्यक भी प्रतीत होता है। किन्तु, योजना में कृषि पर अपेक्षाकृत कम जोर दिया गया था। यह द्वितीय योजना की सबसे बड़ी कमी थी। इसके परिणामस्वरूप जबकि प्रथम योजनाकाल में कृषि के उत्पादन में २२ प्रतिशत की वृद्धि हुई थी, द्वितीय योजनाकाल में इसमें केवल २० प्रतिशत की वृद्धि हुई।

(३) उपभोक्ता वस्तुओं के उत्पादन को बढ़ाने के लिये कुटीर एवं लघु उद्योगों पर विशेष जोर दिया गया था तथा करखाना उद्योगों की अवहेलना की गयी थी :—द्वितीय योजना में एक ओर तो आधारभूत उद्योगों के विकास के लिए भारी विनियोग की व्यवस्था को और दूसरी ओर कुटीर उद्योगों को उन्नति के लिए सरकारी प्रयत्न का आयोजन या। इसमें उपभोग के सामान बनानेवाले कारखानों,—सूती-वस्त्र तथा चीनी उदयोग आदि पर प्रतिबन्ध लगाकर सम्बन्धित लघु उद्योगों के विकास का प्रयत्न किया गया था। योजना आयोग की यह नीति केवल अल्पकालीन हो सकती है, लेकिन दीर्घकालीन दृष्टि से बड़े पैमाने के उद्योगों को भी विकास का समान अवसर देना चाहिए और उनकी व्यवस्था भी की जानी चाहिए।

(४) योजना में घाटे की वित्त-व्यवस्था पर अधिक जोर दिया गया था जिससे मुद्रा-स्फीति उत्पन्न होने की आशंका सदा बनी रही :—द्वितीय योजना काल में १२०० करोड़ रु० की रकम घाटे की वित्त व्यवस्था से प्राप्त करने की व्यवस्था थी जिससे देश में अत्यधिक मुद्रा प्रसार की आशंका बनी रही। इस सम्बन्ध में शुरू से ही योजना के वित्तीय पक्ष की कटु आलोचना होती रही। साथ ही, योजनाकाल में कर-वृद्धि से विशेषतः परोक्ष करों में वृद्धि से उपभोक्ता वर्ग को ऊँचे मूल्य देनें पड़े। देश में विशाल मात्रा में विकास व्यय में वृद्धि का आयोजन था, लेकिन उपभोक्ता वस्तुओं के उत्पादन को इस अनुपात से कम ही बढ़ाने की व्यवस्था थी क्योंकि अधिकांश व्यय आधारभूत उद्योगों पर किया जाने को था। अतएव दूसरी योजना के प्रारम्भ से ही मुद्रा-स्फीति का दबाव प्रारम्भ हो गया किन्तु घाटे की वित्त-व्यवस्था के जिस सीमा तक प्रतिकूल परिणाम की आशंका थी, उतनी भयानक स्थिति योजनाकाल में नहीं उत्पन्न हो सकी। सबसे बड़ी बात तो यह है कि आर्थिक विकास की प्रत्येक प्रक्रिया में कुछ मुद्रा-स्फीति अवश्य ही निहित रहती है। इसे एक सीमा तक टाला भी नहीं जा सकता।

(५) सार्वजनिक क्षेत्र के विकास पर अपेक्षाकृत अधिक जोर दिया गया था :—प्रथम योजना में सार्वजनिक एवं निजी क्षेत्र का हिस्सा प्राय: ५० : ५० था जबकि दूसरी योजना में यह ६० : ४० हो गया। इसलिए कुछ लोगों ने यह आशंका प्रकट की थी कि निजी क्षेत्र को विकास का पूर्ण अवसर नहीं दिया गया। लेकिन वास्तव में, यह आशंका सही नहीं थी। द्वितीय योजना में निजी क्षेत्र के विकास के लिए बहुत-सी सुविधाएँ प्रदान की गयी थीं। साथ ही, निजी क्षेत्र को सार्वजनिक क्षेत्र के साथ कदम-में-कदम मिलाकर चलना चाहिए।

(६) विदेशी साधनों पर अत्यधिक निर्भरता :—दूसरी योजना में ८०० करोड़ रुपये के लगभग विदेशी ऋण व सहायता प्राप्त करने का आयोजन था, लेकिन यह अनुमान नीचा सिद्ध हुआ और बाद में इससे लगभग दुगुने विदेशी साधनों की आवश्यकता प्रतीत हुई। इतनी अधिक मात्रा में विदेशों पर निर्भरता किसी भी राष्ट्र के लिए अच्छी नहीं है। किन्तु, भारत जैसे अविकसित देश के औद्योगीकरण की कोई भी योजना बिना विदेशी पूंजी की सहायता के सफल नहीं हो सकती। फिर भी, इस सम्बन्ध में विस्तृत छान-बीन करके अनुमान लगाना चाहिए था। विदेशी साधनों पर अत्यधिक निर्भरता से दूसरी योजना में इस सम्बन्ध में बहुत अनिश्चितता रही तथा इसके घातक परिणाम भी भुगतने पड़े।

तृतीय पंचवर्षीय योजना (1961-66)

(Third Five Year Plan)

तृतीय पंचवर्षीय योजना के उद्देश्य (Objectives of the Third Five Year Plan) :—तृतीय पचवर्षीय योजना अगले १५ वर्षों के विकास की आवश्यकताओं को ध्यान में रखते हुए तैयार की गयी थी। इसके निम्नलिखित प्रधान उद्देश्य थे :—

(क) अगले पाँच वर्षों में राष्ट्रीय आय में वार्षिक ५ प्रतिशित से भी अधिक वृद्धि करना और इस हिसाब से देश के विकास में विनियोग करना जिससे आगे भी राष्ट्रीय आय में वृद्धि का यही क्रम जारी रहे। (Secure an increase in National income of over 5 p. c. per annum and at the same time ensure a pattern of investment so as to sustain this rate of growth during subsequent Plan period;) दूसरे शब्दों में, तृतीय पंचवर्षीय योजनाकाल में राष्ट्रीय आय में प्राय: २५ प्रतिशत से अधिक वृद्धि का आयोजन था, यानी राष्ट्रीय आय को १९६०-६१ में १४,५०० करोड़ रुपये से बढ़ाकर योजना के अन्त में १९,००० करोड़ रुपये करने का आयोजन था। योजनाकाल में प्रति व्यक्ति आय में १७ प्रतिशत वृद्धि का आयोजन था जिससे वह १९६०-६१ ई० में ३३० रुपये से बढ़कर १९६५-६६ ई० में ३८५ रुपये हो जाने को थी। तृतीय योजना में उपभोग-स्तर में ४ प्रतिशत प्रतिवर्ष की दर से वृद्धि का आयोजन था। साथ ही, योजना के अन्त में बचत को १४ प्रतिशत करने का लक्ष्य था।

किन्तु तृतीय योजना के इन लक्ष्यों की पूर्ति नहीं हो सकी तथा योजनाकाल में देश की राष्ट्रीय आय में बहुत ही कम वृद्धि हुई। १९६०-६१ ई० के मूल्य-तल के आधार पर तृतीय योजना के प्रथम चार वर्षों में राष्ट्रीय आय में २० प्रतिशत की वृद्धि हुई, किन्तु १९६५-६६ ई० में इसमें ५·७ प्रतिशत की कमी हुई। तृतीय योजनाकाल में प्रति-व्यक्ति आय में प्राय: कोई वृद्धि नहीं हुई क्योंकि राष्ट्रीय आय में जो कुछ भी वृद्धि हुई वह जनसंख्या में २·५ प्रतिशत वार्षिक वृद्धि से समाप्त हो गयी।

(ख) खाद्यान्न की उपज में आत्मनिर्भरता प्राप्त करना एवं कृषि की उपज में इतनी अधिक वृद्धि करना जिससे उद्योगों की बढ़ती हुई जरूरतें भी पूरी हों और निर्यात भी हो सके। (Achieve self-sufficiency in foodgrains and increase agricultural production to meet the requirements of industry and trade) :—द्वितीय योजना में कृषि पर अपेक्षाकृत कम जोर दिया गया था जिससे योजनाकाल में खाद्यान्न का अभाव हो गया। अतएव तृतीय पंचवर्षीय योजना में कृषि पर विशेष रूप से जोर दिया गया था। योजनाकाल में कुल कृषि उत्पादन में ३० प्रतिशत तथा खाद्यान्नों के उत्पादन में २६ प्रतिशत वृद्धि का आयोजन था। इस लक्ष्य की प्राप्ति के बाद देश के खाद्यान्नों के सम्बन्ध में आत्म-निर्भर हो जाने की आशा की जाती थी। किन्तु तृतीय योजना के कृषि सम्बन्धी लक्ष्य भी पूरे नहीं हो सके तथा १९६५-६६ ई० में खाद्यान्न का उत्पादन योजना के प्रारम्भिक वर्ष से भी कम हुआ। अतएव तृतीय योजनाकाल में खाद्य-संकट की स्थिति को दूर करने के लिए हमें विदेशों से बहुत अधिक मात्रा में खाद्यान्न का आयात करना पड़ा।

(ग) इस्पात, बिजली, तेल, ईंजन आदि बुनियादी उद्योगों को बढ़ाना और मशीन बनाने के कारखाने स्थापित करना जिससे १० वर्षों के अन्दर अपने देश के औद्योगिक विकास के लिए आवश्यक मशीनें देश से ही प्राप्त की जा सकें। आधार-भूत एवं प्रधान उद्योगों के विकास पर द्वितीय योजना में भी अधिक जोर दिया गया था। वास्तव में, द्रुतगति से आर्थिक विकास के लिए औद्योगीकरण अनिवार्य भी है। इस उद्देश्य से योजनाकाल में लोहा एवं इस्पात तथा कोयला आदि उद्योगों के विकास पर पर्याप्त जोर दिया गया था। योजनाकाल में समस्त औद्योगिक उत्पादन में ११ प्रतिशत वार्षिक वृद्धि का आयोजन था। किन्तु योजना के इस लक्ष्य की भी पूर्ति नहीं हुई तथा उत्पादन में वार्षिक वृद्धि केवल ७.९ प्रतिशत की दर से ही हुई।

(घ) देश की श्रम शक्ति (Man Power) का पूर्ण उपयोग एवं रोजगार के साधनों में पर्याप्त वृद्धि करना (Utilise to the Fullest Possible) :—बेकारी की समस्या के समाधान के लिए तृतीय पंचवर्षीय योजना में रोजगार के साधनों में वृद्धि पर विशेष जोर दिया गया था। तृतीय योजना में सम्मिलित कार्यक्रमों के परिणामस्वरूप योजनाकाल में १४० लाख (३५ लाख कृषि में तथा १०५ लाख गैर-कृषि में) अतिरिक्त व्यक्तियों के लिए रोजगार की व्यवस्था का आयोजन था। किन्तु तृतीय योजना के इस उद्देश्य की भी पूर्ति नहीं हो सकी तथा योजनाकाल में बेरोजगारों की संख्या में बहुत अधिक वृद्धि हुई।

(च) धन एवं आय के वितरण की विषमता को कम कर आर्थिक शक्तियों का अधिक न्यायोचित वितरण करना।

दीर्घकालीन विकास की व्यवस्था :—भारत जैसे अर्द्ध-विकसित देश, जिसकी अर्थ-व्यवस्था सदियों से अवरुद्ध रही है, के आर्थिक विकास के लिए दीर्घकालीन प्रयत्नों की आवश्यकता है। हमारी आर्थिक समस्याओं का समाधान एक, दो या तीन पंचवर्षीय योजनाओं के द्वारा नहीं किया जा सकता, उसके लिए दीर्घकालीन आयोजित प्रयत्नों की आवश्यकता होगी। अतएव विकास के इस क्रम में प्रत्येक पंचवर्षीय योजना एक स्तर का प्रतिनिधित्व करती है। प्रथम योजना के निर्माण के समय आयोग ने १९५१ से १९८१ तक के ३० वर्षों के लिए आर्थिक विकास के सम्बन्ध में एक अनुमान लगाया था। इसमें जनसंख्या की वृद्धि, राष्ट्रीय आय में वृद्धि बचत, विनियोग तथा उत्पादन में वृद्धि के सम्बन्ध में यह अनुमान लगाया गया था कि

राष्ट्रीय आय १९७०-७१ तक तथा प्रति व्यक्ति आय १९७७-७८ तक दुगुनी हो जायगी। किन्तु पहली योजना के संपादन में अत्यधिक सफलता के कारण योजना आयोग ने यह अनुमान लगाना प्रारम्भ किया कि राष्ट्रीय आय को १९६७-६८ तथा प्रति व्यक्ति आय को १९७२-७३ ई० तक ही दुगुना किया जा सकता है। किन्तु १९६१ ई० की जनगणना के अनुसार जनसंख्या में आयोग के अनुमान की अपेक्षा अधिक तीव्र गति से वृद्धि हुई जिससे आयोग के सभी अनुमान गलत सिद्ध हो गये।

अतएव तृतीय पंचवर्षीय योजना के निर्माण के क्रम में योजना आयोग ने आगामी पन्द्रह वर्षों के लिए विकास की सभी सम्भावनाओं को ध्यान में रखकर एक दीर्घकालीन विकास का कार्य-क्रम तैयार किया। वास्तव में, देश के आर्थिक विकास के लिए विकास की दीर्घकालीन व्यवस्था अनिवार्य है जिसमें कि अर्थ-व्यवस्था का तेजी से विकास हो सके तथा वह द्रुतगति से आत्म-निर्भरता तथा स्वत: प्रचालित विकास की ओर अग्रसर हो सके। आयोग के शब्दों में "तृतीय तथा बाद में आनेवाली योजनाओं के लिए विकास की जिस कार्य-प्रणाली की कल्पना की जा रही है, उसके अनुसार कृषि तथा उद्योगों की पारस्परिक निर्भरता, आर्थिक तथा सामाजिक विकास, राष्ट्रीय तथा क्षेत्रीय विकास और घरेलू एवं बाह्य साधनों को संचालित करने की पारस्परिक निर्भरता पर जोर देने की आवश्यकता है। इस नीति के अनुसार वैयक्तिक एवं तकनीकी क्षमता के विकास तथा उत्पादकता के सामान्य स्तर को ऊँचा उठाने पर पर्याप्त मात्रा में जोर देना अनि-वार्य है। इसके साथ ही, जनसंख्या, रोजगार तथा सामाजिक परिवर्तन पर भी जोर देने की आव-श्यकता है।

अत: इस व्यापक उद्देश्य को ध्यान में रखकर तृतीय तथा आगे आनेवाली योजनाओं में आर्थिक विकास की गति को तीव्र बनाने के लिए बचत तथा विनियोग में वृद्धि की व्यवस्था की गयी थी। द्वितीय योजना के अन्त में राष्ट्रीय आय का ११ प्रतिशत भाग विनियोग किया जाता था। इसे बढ़ाकर तृतीय, चतुर्थ तथा पाँचवीं योजनाओं के अन्त तक क्रमश: १४-१५, १७-१८ तथा १९-२० प्रतिशत करने का आयोजन किया गया। इसके परिणामस्वरूप चतुर्थ तथा पाँचवीं योजनाओं के अन्त में शुद्ध विनियोग के क्रमश: १७,००० तथा २५,००० हो जाने का अनुमान था। इसी प्रकार पाँचवीं योजना के अन्त तक आंतरिक बचत के राष्ट्रीय आय के ८·५ प्रतिशत से बढ़कर १८-१९ प्रतिशत तक हो जाने की आशा की गयी थी। इसी दीर्घकालीन विकास को ध्यान में रखकर तृतीय योजना का कार्य प्रारम्भ किया गया था।

तृतीय योजना का कुल विनियोग एवं व्यय

(Total Investment and Outlay of the Third Plan)

उपरोक्त उद्देश्यों को ध्यान में रखते हुए तृतीय योजनाकाल में कुल १०,४०० करोड़ रुपये विनियोग का आयोजन था, जबकि द्वितीय योजनाकाल में कुल विनियोग ६७५० करोड़ रुपये तथा प्रथम योजना में ३३६० करोड़ रुपये ही था। इसमें से सार्वजनिक क्षेत्र में ६३०० करोड़ रुपये तथा निजी क्षेत्र में ४१०० करोड़ रुपये विनियोग की व्यवस्था थी।

सार्वजनिक क्षेत्र में तृतीय योजनाकाल में कुल ७५०० करोड़ रुपये व्यय का आयोजन था जबकि द्वितीय योजनाकाल में वास्तविक व्यय ४६०० करोड़ रुपये तथा प्रथम योजनाकाल में १९६० करोड़ रुपये था। इस प्रकार तृतीय पंचवर्षीय योजना का आकार प्रथम एवं द्वितीय पंचवर्षीय योजनाओं की अपेक्षा बहुत बड़ा था।

तृतीय योजनाकाल में सार्वजनिक क्षेत्र में व्यय की जानेवाली कुल ७५०० करोड़ रुपये की रकम का विभिन्न मदों में वितरण निम्नलिखित तालिका से स्पष्ट हो जाता है :—

मदें	द्वितीय योजना		तृतीय योजना	
	कुल व्यय	प्रतिशत	कुल व्यय	प्रतिशत
१. कृषि एवं सामुदायिक विकास	५३०	११	१,०६८	१४
२. बड़ी एवं मध्यम सिंचाई योजनाएँ	४२०	९	६५०	९
३. बिजली	४४५	१०	१,०१२	१३
४. ग्रामीण एवं लघु उद्योग	१७५	४	२६४	४
५. संगठित उद्योग एवं खनिज	९००	२०	१,५२०	२०
६. परिवहन एवं संचार	१,३००	२८	१,४८६	२०
७. सामाजिक सेवाएँ एवं विविध	८३०	१८	१,३००	१७
८. Inventories	....	......	२००	३
कुल योग	४६००	१००	७५००	१००

सरकारी क्षेत्र में खर्च किये जाने वाले कुल ७५०० करोड़ रुपये में से ३६०० करोड़ रुपये केन्द्र द्वारा एवं ३९०० करोड़ रुपये राज्य सरकारों द्वारा व्यय किया जाने को था। इस प्रकार तृतीय योजना की वित्तीय सीमा (Financial limit) ७५०० करोड़ रुपये निश्चित की गयी थी, किन्तु इसका भौतिक लक्ष्य (Physical target) ८३०० करोड़ रुपये निश्चित किया गया था। वास्तव में, भौतिक एवं वित्तीय साधनों में इस प्रकार का अन्तर भारत में योजनाकरण के क्षेत्र में एक नयी चीज थी।

किन्तु पाँच वर्षों में सार्वजनिक क्षेत्र में तृतीय योजना का वास्तविक व्यय ८५७७ करोड़ रुपये, यानी आयोजित व्यय से लगभग १०७७ करोड़ रुपये अधिक था। इसका विभिन्न मदों में वितरण निम्नांकित तालिका से स्पष्ट है :—

तृतीय योजना का व्यय (करोड़ रुपये में)

मदें	तृतीय योजना का प्रस्तावित व्यय	तृतीय योजना का वास्तविक व्यय
१. कृषि एवं सामुदायिक विकास	१०६८	१०८९·०
२. वृहत एवं मध्यम सिंचाई	६५०	६६३·७
३. विद्युत	१०१२	१२५२·३
४. ग्रामीण एवं लघु उद्योग	२६४	२४०·८
५. संगठित उद्योग एवं खनिज	१५२०	१७२६·३
६. परिवहन एवं संचार	१४८६	२१११·७
७. सामाजिक सेवाएँ एवं विविध	१३००	१४९३·४
८. Inventories	२००	....
कुल	७५००	८५७७·२

इस प्रकार स्पष्ट है कि तृतीय योजना का वास्तविक व्यय कृषि, सिंचाई, एवं लघु उद्योग में प्राय: एक समान था जबकि परिवहन एवं संचार में वास्तविक व्यय बहुत अधिक तथा सामाजिक सेवाओं, संगठित उद्योग एवं खनिज तथा विद्युत् में थोड़ा अधिक था। मूल्य में अत्यधिक वृद्धि के कारण ही तृतीय योजना के व्यय में इतनी अधिक वृद्धि हुई।

निजी क्षेत्र में विनियोग :—तृतीय योजना में निजी क्षेत्र में कुल ४१०० करोड़ रुपये विनियोग की व्यवस्था थी। विभिन्न मदों में इसका वितरण निम्नांकित तालिका से स्पष्ट है :—

निजी क्षेत्र में विनियोग

मदें	(व्यय की रकम करोड़ रुपये में)
१. कृषि एवं सामुदायिक विकास	८००
२. विद्युत्	५०
३. ग्रामीण लघु उद्योग	२७५
४. उद्योग एवं खनिज	१०५०
५. यातायात एवं संवादवाहन	२५०
६. समाज सेवाएँ. गृह-निर्माण एवं विविध	१०७५
७. Inventories	६००
	कुल ४१००

तृतीय योजना में प्राथमिकता का क्रम
(Scheme of Priorities)

तृतीय योजनाकाल में सार्वजनिक क्षेत्र में व्यय की जाने वाली कुल रकम के विभिन्न मदों में वितरण से योजना में प्राथमिकता का क्रम स्पष्ट हो जाता है। योजनाकाल में कृषि, सिंचाई एवं सामुदायिक विकास पर कुल व्यय के २३ प्रतिशत भाग के खर्च का आयोजन था। द्वितीय योजना में इस मद में २० प्रतिशत भाग व्यय किया गया था। इससे स्पष्ट है कि तृतीय योजना में कृषि के विकास को उच्च प्राथमिकता प्राप्त थी। वास्तव में, तृतीय योजना का एक प्रधान उद्देश्य कृषि के क्षेत्र में आत्म-निर्भरता प्राप्त करना था। तृतीय योजनाकाल में कृषि तथा तत्सम्बन्धी कार्यों पर १०८९ करोड़ रुपये तथा सिंचाई पर ६६४ करोड़ रुपये वास्तविक व्यय हुआ। बड़े पैमाने के उद्योग एवं खनिज पर योजनाकाल में १,५२० करोड़ रुपये व्यय का आयोजन था जो योजना के कुल व्यय का प्राय: २०·० प्रतिशत भाग था। इस मद में वास्तविक व्यय १७२६ करोड़ रुपये था। इसके अतिरिक्त लघु एवं कुटीर उद्योग पर तृतीय योजना में कुल २६४ करोड़ रुपये, यानी योजना के कुल व्यय के लगभग ४ प्रतिशत भाग का आयोजन था। इस मद में वास्तविक व्यय २३६ करोड़ रुपये हुआ। इससे स्पष्ट है कि तृतीय योजना में उद्योग-धन्धों, विशेषत: आधारभूत एवं भारी उद्योगों को भी महत्त्वपूर्ण स्थान दिया गया था। इसके बाद यातायात एवं संवादवाहन का स्थान था। इस मद में योजना के कुल व्यय के प्राय: २० प्रतिशत भाग व्यय का आयोजन था। द्वितीय योजना में इस मद में अधिक, यानी प्राय: २८ प्रतिशत भाग व्यय किया गया था। इससे स्पष्ट है कि तृतीय योजना में यातायात एवं संवादवाहन को अपेक्षाकृत कम महत्त्व दिया गया था। यह तृतीय योजना की एक प्रधान कमी थी। विद्युत् उत्पादन पर योजना में कुल व्यय के १३·० प्रतिशत भाग व्यय का आयोजन था। (द्वितीय योजना में इस मद में केवल १० प्रतिशत भाग व्यय किया गया था।)

इसके बाद समाज-सेवाओं का स्थान था। इस मद में योजनाकाल में कुल १३०० करोड़ रुपये, जो कुल व्यय का प्राय: १७ प्रतिशत भाग था, के व्यय का आयोजन था। द्वितीय योजनाकाल में इस मद में १८ प्रतिशत भाग व्यय किया गया था।

तृतीय योजना में कृषि

(Agriculture in the Third Plan)

तृतीय योजना में कृषि को प्रधान स्थान दिया गया था। खाद्यान्नों के उत्पादन में आत्म-निर्भरता और अन्य उद्योगों तथा निर्यात के कच्चे माल की पैदावार में वृद्धि करना तीसरी योजना के कृषि-सम्बन्धी कार्यक्रम के मुख्य उद्देश्य थे। योजनाकाल में खाद्यान्नों की उपज में २६% तथा अन्य सभी फसलों की उपज के ३०% वृद्धि का आयोजन था। प्रथम योजनाकाल में कृषि-उत्पादन में २७ प्रतिशत तथा द्वितीय योजनाकाल में २० प्रतिशत की वृद्धि हुई, यानी प्रथम दशक में कृषि के उत्पादन में वार्षिक ४ प्रतिशत की वृद्धि हुई। तृतीय योजना में कृषि की मद में वार्षिक ६ प्रतिशत, यानी कुल ३० प्रतिशत वृद्धि का लक्ष्य था जबकि योजनाकाल में कृषि-पदार्थों के उत्पादन में वास्तविक वृद्धि केवल ११ प्रतिशत की ही हुई। प्रथम एवं द्वितीय पंचवर्षीय योजनाओं में कृषि की उपज में वृद्धि मुख्यतया कृषि के क्षेत्र तथा सिंचाई-प्राप्त क्षेत्र में विस्तार के द्वारा की गयी थी। इनमें सुधरे हुए तरीकों तथा संगठन में सुधार का बहुत ही कम महत्त्वपूर्ण स्थान था। किन्तु तृतीय योजना में इन पर अधिक जोर देने की व्यवस्था थी।

तृतीय योजना में कृषि की कुछ प्रमुख फसलों के उत्पादन के लक्ष्य तथा योजना के अन्त इनकी उपलब्धि निम्न प्रकार से है :—

तृतीय योजना में कृषि-पदार्थों के उत्पादन का लक्ष्य तथा उपलब्धि

फसल	१९६०-६१ में उत्पादन	तृतीय योजना (१९६५-६६) में उत्पादन का लक्ष्य	१९६५-६६ में उत्पादन
खाद्यान्न (लाख टनों में)	८२०	१०००	७२०
तिलहन ,, ,,	७०	१००	६४
गन्ना ,, ,, (गुड़ के रूप में)	१११	१०२	१२०
कपास (लाख गाँठ में)	५३	७०	४८
जूट ,, ,,	४१	६२	४५
चाय (लाख कि० ग्रा० में)	३२०	४०८	३७३

इनके अतिरिक्त फल, शाक, दूध, मछली मांस, अण्डा, नारियल, सुपारी, काजू, काली मिर्च, तम्बाकू, चमड़ा और लकड़ी आदि की पैदावार में वृद्धि पर भी पूरा जोर दिया गया था। तृतीय योजनाकाल में कृषि-पदार्थों के उत्पादन में आयोजित वृद्धि के लिए इनकी प्रति-एकड़ औसत उपज में भी वृद्धि पर विशेष रूप से जोर दिया गया था। खाद्यानों के उत्पादन में वृद्धि के परिणामस्वरूप देश में प्रति-व्यक्ति प्रतिदिन औसत १५ औंस अनाज और ३ औंस दाल उपलब्ध होने तथा संकट के समय के लिए भी कुछ बचत की आशा थी। इसी प्रकार कपास की उपज का जो लक्ष्य था उसके प्रति-व्यक्ति प्रतिवर्ष औसत १७५ गज के हिसाब से कपड़ा मिलने और निर्यात के लिए कुछ भी बचने की आशा थी।

इस प्रकार तृतीय योजना के कृषि-सम्बन्धी लक्ष्य पूरे नहीं हो सके। खाद्यान्नों के उत्पादन को बढ़ाकर १९६५-६६ ई० में १००० लाख टन करने का आयोजन था, किन्तु १९६१-६२ ई० में इनका उत्पादन ८१० लाख टन, १९६२-६३ ई० में ७८४ लाख टन, १९६३-६४ ई० में ७९४ लाख टन, १९६४-६५ ई० ८८९ लाख टन तथा १९६५-६६ ई० में ७२० लाख टन ही हुआ। इसी प्रकार कपास के उत्पादन को बढ़ाकर ७० लाख गाँठ तथा जूट को ६२ लाख गाँठ करने का आयोजन था जबकि १९६५-६६ ई० में इनका उत्पादन क्रमशः ४८ लाख गाँठ एवं ४५ लाख गाँठ ही हुआ।

तृतीय योजनाकाल में कृषि, सामुदायिक विकास एवं सिंचाई पर कुल १७१८ करोड़ रुपये, यानी योजना के कुल व्यय के २३% भाग व्यय का आयोजन था जबकि वास्तविक व्यय प्रायः १७५३ करोड़ रुपये हुआ। इसमें से कृषि एवं सामुदायिक विकास पर १०८९ करोड़ रुपये तथा बड़ी एवं मध्यम सिंचाई की योजनाओं पर ६६४ करोड़ रुपये व्यय हुआ। योजनाकाल में खाद्यान्नों के उत्पादन में २६ प्रतिशत तथा सभी फसलों के उत्पादन में ३० प्रतिशत वृद्धि का आयोजन था। योजना के कार्यक्रमों को कार्यान्वित करने के लिए कृषि-प्रशासन के उचित संगठन पर अधिकाधिक ध्यान देना आवश्यक समझा गया था। वस्तुतः, भारतीय कृषि में विकास के लिए व्यय में वृद्धि की उतनी आवश्यकता नहीं है जितना कि एक उचित कृषि-सम्बन्धी प्रशासन की जो इन कार्यक्रमों को सुचारु रूप से लागू कर सके। किन्तु योजकाकाल में खाद्यान्नों के उत्पादन में संतोषजनक प्रगति नहीं हो पायी। वस्तुतः १९६५-६६ ई० मे खाद्यान्नों का उत्पादन १९६०-६१ ई० की अपेक्षा भी कम ही रहा। गन्ना के अतिरिक्त अन्य किसी भी फसल के सम्बन्ध में योजना के लक्ष्य की:पूर्ति नहीं हो सकी।

तृतीय योजनाकाल में सिंचाई-प्राप्त भूमि के क्षेत्र को १९६०-६१ ई० में ७०० लाख एकड़ से बढ़ाकर योजना के अन्त में, यानी, १९६५-६६ ई० में ९०० लाख एकड़ करने का आयाजन था। इस प्रकार तृतीय योजनाकाल में सिंचित भूमि के क्षेत्र में २०० लाख एकड़ वृद्धि की व्यवस्था थी जबकि वास्तविक उपलब्धि प्रायः १३८ लाख एकड़ की ही हुई। इसी प्रकार नत्रजनक खाद का उपयोग, जो सन् १९६०-६१ ई० में करीब ३ लाख ६० हजार टन था, को बढ़ाकर १९६५-६६ ई० में १० लाख टन करने का आयोजन था, जबकि इसका उपयोग १९६५-६६ ई० में ६ लाख टन हुआ। अक्टूबर, १९६३ ई० तक देश की सम्पूर्ण ग्रामीण जन-संख्या को सामुदायिक विकास कार्यक्रम के अन्तर्गत लाने का आयोजन था। सहकारी संगठन पर भी जोर दिया गया था और खेती के लिए सहकारी समितियों द्वारा अधिक ऋण दिलवाने की व्यवस्था थी।

तृतीय पंचवर्षीय योजना में औद्योगिक विकास

(Industrial Development in the Third Five Year Plan)

द्रुतगति से आर्थिक विकास के लिए औद्योगिक विकास एक अनिवार्य शर्त है। प्रथम योजना में उद्योग-धन्धों के विकास पर पर्याप्त जोर नहीं दिया गया था। किन्तु, द्वितीय योजना काल में उदयोग धन्धों के विकास पर पर्याप्त जोर दिया गया था। इस मद में द्वितीय योजनाकाल में निजी तथा सार्वजनिक, दोनों क्षेत्रों में सम्मिलित रूप से विनियोग की रकम १९४५ करोड़ रुपये थी, जो आयोजित विनियोजित रकम से भी अधिक थी। आयोजित रकम से अधिक विनियोग का प्रधान कारण योजनाकाल में मूल्य-तल, विशेषतः औद्योगिक कच्चे पदार्थों के मूल्य में अधिक वृद्धि था। द्वितीय योजनाकाल में औद्योगिक उत्पादन में प्रति वर्ष औसत ८% के हिसाब से

वृद्धि हुई थी। योजना के अन्तिम वर्ष, १९६०-६१ ई० में तो औद्योगिक उत्पादन में १९५९-६० ई० की तुलना में १४·७% की वृद्धि हुई। तृतीय योजनाकाल में औद्योगिक उत्पादन में औसत वार्षिक ११ प्रतिशत वृद्धि का आयोजन था, किन्तु इस लक्ष्य की भी पूर्ति नहीं हो सकी तथा औद्योगिक उत्पादन में १९६१-६२ में ८·२ प्रतिशत, १९६२-६३ में ९·६ प्रतिशत, १९६३-६४ में ९·२ प्रतिशत तथा १९६४-६५ में ८·८ प्रतिशत की वृद्धि हुई जबकि १९६५-६६ ई० में केवल ५ ३ प्रतिशत की वृद्धि हुई। कुल मिलाकर औद्योगिक उत्पादन में योजनाकाल में ७९ प्रतिशत की वार्षिक वृद्धि हुई। किन्तु सामान्य औद्योगिक उत्पादन की अपेक्षा आधारभूत उद्योगों के उत्पादन में अधिक वृद्धि हुई। उदाहरण के लिए, विद्युत यन्त्र के उत्पादन में ७१ प्रतिशत, गैर-विद्युत यन्त्रों में ८२ प्रतिशत, धातुओं के उत्पादन में ५७ प्रतिशत पेट्रोलियम की वस्तुओं के उत्पादन में ४८ प्रतिशत तथा रासायनिक उद्योगों के उत्पादन में ३८ प्रतिशत की वृद्धि हुई। इसके विपरीत चीनी तथा वस्त्र-उदयोगों के उत्पादन में वृद्धि १३ प्रतिशत ही थी।

इस प्रकार तृतीय योजना में भी औद्योगिक विकास पर विशेष जोर दिया गया था। योजनाकाल में सार्वजनिक क्षेत्र में संगठित उद्योग एवं खनिज की मद में १५२० करोड़ रुपये व्यय का आयोजन था जो योजना के कुल व्यय का प्रायः २०% भाग था। किन्तु योजनाकाल में इस मद में कुल १७२६ करोड़ रुपये व्यय हुआ। इसके अतिरिक्त लघु एवं कुटीर उद्योगों पर २६४ करोड़ रुपये व्यय का आयोजन था जबकि योजना का कुल व्यय इस मद में २४० करोड़ रुपये हुआ।

भारी एवं बुनियादी उद्योगों पर जोर (Emphasis on heavy and basic industries) :—तृतीय पंचवर्षीय योजना में भारी एवं बुनियादी उद्योगों पर विशेष जोर दिया गया था जिससे आर्थिक व्यवस्था भविष्य में स्वतः प्रचालित हो सके। अतएव इस्पात, यन्त्र-निर्माण तथा अन्य उत्पादक वस्तुओं को उत्पन्न करने वाले उद्योगों इत्यादि के निर्माण पर तृतीय योजना में विशेष जोर दिया गया था।

इस्पात :—तृतीय योजना में इस्पात के उत्पादन की १९६०-६१ ई० में २२ लाख टन से बढ़ाकर १९६५-६६ ई० में ६८लाख टन करने का आयोजन था। भिलाई, रूरकेला और दुर्गापुर के कारखानों का इस उद्देश्य से विस्तार किया जाने को था जिससे कि वे ५५ लाख टन इस्पात की ढोकें बना सकें। तृतीय योजनाकाल में बिहार के बोकारो नामक स्थान में चौथा इस्पात कारखाना स्थापित करने का आयोजन था किन्तु बोकारो के कारखानों में उत्पादन का कार्य अब १९७३ ई० के अंत से ही प्रारम्भ होने की आशा है। साथ ही, सार्वजनिक क्षेत्र के अन्य कारखानों की प्रगति भी आयोजित तरीके से नहीं हुई, अतः, तृतीय योजना के अन्त में १९६५-६६ ई० में इस्पात का उत्पादन लगभग ४५ लाख टन ही हो पाया।[1]

मशीन बनाने के उद्योग :—तृतीय योजना में भारी मशीन बनाने वाले फाउण्ड्री फोर्ज (गढ़ाई और ढलाई), कोयला खोदने की मशीन बनाने वाली भारी मशीनों तथा औजार बनाने वाले कारखाने आदि की स्थापना का भी आयोजन था। तृतीय योजनाकाल में मशीन निर्माण करने वाले उद्योगों के उत्पादन में १४३ प्रतिशत वृद्धि की व्यवस्था थी। सार्वजनिक क्षेत्र में राँची में एक भारी यंत्र बनाने के कारखाने की स्थापना की गयी। साथ ही, मशीन टूल बनाने वाले दो और नये कारखाने स्थापित किये गये। निजी क्षेत्र में भी इनके विकास पर पर्याप्त जोर दिया गया।

1. Fourth Five Year Plan, p. 299.

कोयला :—तृतीय योजनाकाल में कोयले के उत्पादन को १९६०-६१ ई० के ५५५ लाख टन से बढ़ाकर १९६५-६६ ई० में ९७० लाख टन करने का आयोजन था जबकि कोयले का उत्पादन ७०३ लाख टन ही हुआ।

खनिज तेल :—तृतीय योजना प्रारम्भ होने के पूर्व तक पता लगे हुए खनिज तेल के भंडार के अनुसार नहरकटिया में प्रतिवर्ष २७·५ लाख टन अशोधित तेल निकाला जा सकता था। इस तेल को साफ करने के लिए नूनमाती और बरौनी में तेल सफाई के दो कारखाने स्थापित किये गये हैं। योजनाकाल में पेट्रोल के अन्य सम्भावित क्षेत्रों की जाँच की भी व्यवस्था थी। १९६५-६६ ई० में ३०·२ लाख टन अशोधित तेल का उत्पादन हुआ था।

योजनाकाल में कुछ प्रमुख उद्योगों के उत्पादन के लक्ष्य तथा इनकी उपलब्धि इस प्रकार हैं :—

उद्योग	इकाई	वार्षिक उत्पादन		१९६५-६६ में
		१९६०-६१ में उत्पादन	१९६५-६६ उत्पादन का लक्ष्य	वास्तविक उत्पादन
१. कोयला	लाख टन	५५५	९७०	७०३
२. खनिज लोहा	,,	११०	५००	२३०
३. तैयार इस्पात	,,	२८	६६	४५
४. अल्मुनियम	हजार टन	१८·२	८०	६२
५. सीमेंट	लाख टन	८०	१३२	१०८
६. कागज एवं गत्ता	हजार टन	३५०	७००	५५८
७. सल्फ्युरिक एसिड	हजार टन	३६८	१५००	६६२
८. कॉस्टिक सोडा	हजार टन	१०१	३४५	२१८
९. चीनी	लाख टन	३०	३५	३५·५
१०. सूती वस्त्र	करोड़ मीटर	४६५	५२५	४४०

चीन तथा पाकिस्तान के आक्रमण से उत्पन्न संकट की स्थिति के परिणामस्वरूप औद्योगिक कार्यक्रमों की प्राथमिकता में थोड़ा-सा परिवर्तन भी किया गया तथा इस्पात, आधारभूत हल्की धातु (basic light metals), खनिज तेल एवं यंत्र-निर्माण उद्योगों पर अधिक जोर दिया जाने लगा। इससे औद्योगिक विकास में सहायता मिलने के साथ-साथ यातायात तथा शक्ति आदि के विकास में भी सहायता मिलने की आशा की जाती थी।

ग्रामीण एवं लघु उद्योग :—हस्त-कर्घा और घरेलू उद्योग के जरिये कपड़े के उत्पादन को १९६०-६१ ई० के २०१·३ करोड़ मीटर से बढ़ाकर १९६५-६६ ई० में ३५० करोड़ मीटर करने का आयोजन था जबकि १९६५-६६ ई० में उत्पादन ३१८ करोड़ मीटर हुआ। दूसरी योजना में ६६ औद्योगिक संस्थान बनाये गये थे। तीसरी योजना में इस प्रकार के ३०० संस्थान और बनाने की व्यवस्था थी, जबकि १९६५-६६ ई० तक वास्तव में २३४ संस्थान और बनाये गये। चतुर्थ योजना में भी इस मद में विशेष ध्यान दिया जा रहा है।

बिजली :—द्वितीय योजना के अन्त में बिजली की संस्थापित क्षमता ५७ लाख किलोवाट हो गयी थी। इसे बढ़ाकर तीसरी योजना के अन्त तक १२७ लाख किलोवाट करने का आयोजन था, यानी विद्युत् की सम्भावित क्षमता में १२% वृद्धि का आयोजन था। किन्तु तृतीय योजना के इस लक्ष्य की भी पूर्त्ति नहीं हो सकी तथा १९६५-६६ ई० में विद्युत् की संस्थापित क्षमता लगभग १०२ लाख कि० वा० ही हुई। अणुशक्ति से भी ३ लाख किलोवाट बिजली उत्पन्न करने की एक योजना कार्यान्वित होने की व्यवस्था थी।

रोजगार :—तृतीय पंचवर्षीय योजना में रोजगार के साधनों में भी पर्याप्त वृद्धि का आयोजन था। योजना के अनुसार तृतीय योजना में कृषि के अतिरिक्त अन्य क्षेत्रों में १०५ लाख तथा कृषि में ३५ लाख व्यक्तियों के लिए अतिरिक्त रोजगार के साधनों की व्यवस्था थी। किन्तु तृतीय योजना के इस लक्ष्य की भी पूर्ति नहीं हो सकी।

यातायात एवं संवादवाहन (Transport and Communication) :—यातायात एवं संवादवाहन के क्षेत्र में भी तृतीय योजना में १४८५ करोड़ रुपये, यानी प्राय: २० प्रतिशत भाग के व्यय का आयोजन था, किन्तु आगे चलकर इसमें वृद्धि की गयी तथा योजनाकाल में इस मद में प्राय: २११२ करोड़ रुपये व्यय किया गया। यातायात एवं संवादवाहन के क्षेत्र में भी तृतीय योजना में पर्याप्त वृद्धि का आयोजन था। रेलों की माल ढोने की क्षमता को १९६०-६१ ई० में १५४० लाख टन से बढ़ाकर १९६५-६६ ई० में २४५० लाख टन करने, यानी ५९ प्रतिशत वृद्धि का आयोजन था जबकि योजना के अन्त में इनकी माल ढोने की अनुमानित क्षमता २०३० लाख टन हुई। योजनाकाल में १२०० मील लम्बी नयी रेल लाईन बनाने का आयोजन था। जहाजरानी के सम्बन्ध में भी योजना का लक्ष्य प्राय: २ लाख टन (G. R. T.) के नये जहाजों को काम में लाना था। बाद में इसमें वृद्धि की गयी जिसके परिणामस्वरूप देश में कुल जहाजों का टन भार १९६०-६१ ई० में ८.६ लाख GRT से बढ़कर १९६५-६६ में १५.४ लाख GRT हो गया।

तृतीय योजना के उक्त लक्ष्यों की पूर्ति के बाद भारत की आर्थिक व्यवस्था स्वत: प्रचालित विकास की ओर उन्मुख होगी ऐसी आशा की जाती थी। विकास का यह क्रम स्वयं उत्पादन एवं रोजगार में वृद्धि की नयी सुविधाएँ प्रदान करेगा। किन्तु जैसा कि उपरोक्त विवरण से स्पष्ट है, योजना के अधिकांश लक्ष्य पूरे नहीं हो सके। योजनाकाल में कृषि तथा उद्योग दोनों क्षेत्रों में उत्पादन आयोजित लक्ष्य से बहुत ही कम हुआ।

तृतीय पंचवर्षीय योजना के वित्तीय साधन
(Financial Resources of the Third Five Year Plan)

तृतीय योजना में सरकारी क्षेत्र में व्यय किये जाने वाले कुल ७५०० करोड़ रुपये की रकम को निम्नलिखित प्रकार से प्राप्त करने की व्यवस्था थी तथा कुल वास्तविक व्यय ८५७७ करोड़ रुपये की रकम निम्न प्रकार से प्राप्त हुई :—

(करोड़ रुपये में)

साधन	तृतीय योजना	योजना काल में
१. वर्तमान करों के आधार पर राजस्व से बचत	५५०	—४१९
२. वर्तमान आधार पर रेलों से प्राप्त धन	१००	६२
३. वर्तमान आधार पर सार्वजनिक क्षेत्र के अन्य उद्योगों से प्राप्त धन	४५०	३७३
४. सार्वजनिक ऋण	८००	८२३
५. अल्प बचत (Small Savings)	६००	५६५
६. भविष्य-निधि आदि से मिलने वाला धन	५४०	६०८
७. अनिवार्य जमा एवं वार्षिकी	....	११७
८. अतिरिक्त कर	१७१०	२८९२
९. विदेशी सहायता जिसकी बजट में व्यवस्था की गयी थी	२२००	२४२३
१०. घाटे की वित्त-व्यवस्था (Deficit Financing)	५५०	११३३
कुल योग	७५००	८५७७

करों से प्राप्त आय :—तृतीय पंचवर्षीय योजना में वर्तमान करों के आधार पर राजस्व से ५५० करोड़ रुपये बचत की व्यवस्था थी। योजनाकाल में केन्द्र एवं राज्य दोनों के वर्तमान करों से प्राप्त रकम में बहुत वृद्धि हुई। १९६०-६१ के करों की दर पर योजनाकाल में राष्ट्रीय आय का १० प्रतिशत भाग प्राप्त करने का आयोजन था जबकि इस प्रकार से ९.६ प्रतिशत भाग ही प्राप्त हुआ। किन्तु इसके साथ ही, गैर-योजना-सम्बन्धी व्यय (Non-plan expenditure) में भी अत्यधिक वृद्धि हुई जिसके परिणामस्वरूप पाँच वर्षों में इस मद में कुल ४१९ करोड़ रुपये का घाटा ही हुआ। इस प्रकार योजनाकाल में वर्तमान करों से प्राप्त शुद्ध आय में कोई वृद्धि नहीं हो सकी। अतएव इस कमी को पूरा करने के लिए अधिक मात्रा में नये करों को लगाया गया। नये करों से योजनाकाल में १७१० करोड़ रुपये प्राप्त करने की व्यवस्था थी जबकि नये करों से योजनाकाल में वास्तव में कुल २८९२ करोड़ रुपये, यानी आयोजित रकम से प्रायः ११८२ करोड़ रुपये अधिक की रकम प्राप्त हुई।

विदेशी सहायता (External Assistance) :—तृतीय योजना में द्वितीय योजना की अपेक्षा अधिक मात्रा में विदेशी सहायता की आवश्यकता का अनुमान था। योजनाकाल में कुल २२०० करोड़ रुपये विदेशी सहायता के प्रयोग का आयोजन था। इसमें से अमरिका के पी० एल० ४८० द्वारा मिलनेवाली प्रायः ६०० करोड़ रुपये तथा चुकाने योग्य होनेवाले ऋणों की अदायगी के लिए ५०० करोड़ रुपये की रकम सम्मिलित नहीं है। इस प्रकार यह रकम निश्चय ही बहुत अधिक है। किन्तु तृतीय योजना के प्रारम्भ में ही विदेशी विनिमय की कठिनाइयाँ उपस्थित हो गयीं। तृतीय योजना में पाँच वर्षों में प्रायः २४२३ करोड़ रुपये की रकम विदेशी सहायता के रूप में प्राप्त हुई। इस प्रकार विदेशी सहायता के रूप में तृतीय योजनाकाल में बहुत अधिक रकम, कुल व्यय का लगभग एक-चौथाई भाग प्राप्त हुआ।

सार्वजनिक क्षेत्र के उद्योगों से प्राप्त धन (Surplus from Public enterprises) :— योजना के वित्तीय साधनों के सम्बन्ध में दूसरी महत्वपूर्ण बात सार्वजनिक क्षेत्र के उद्योगों के लाभ से प्राप्त ४५० करोड़ रुपये की रकम थी। इस प्रकार की कोई रकम द्वितीय योजनाकाल अथवा इससे पहले प्राप्त नहीं हुई थी। सार्वजनिक क्षेत्र के उद्योगों से प्राप्त ४५० करोड़ रुपये की रकम में से ३०० करोड़ रुपये केन्द्रीय सरकार की संस्थाओं से तथा १५० करोड़ रुपये राज्य सरकार की संस्थाओं से प्राप्त करने का आयोजन था। किन्तु योजनाकाल में सार्वजनिक क्षेत्र के उद्योगों से वास्तव में ३७२ करोड़ रुपये की रकम प्राप्त हुई।

घाटे की वित्त-व्यवस्था (Deficit Financing) :—घाटे की वित्त-व्यवस्था से तृतीय योजना काल में केवल ५५० करोड़ रुपये प्राप्त करने की व्यवस्था थी जबकि द्वितीय योजनाकाल में इस मद से ११३३ करोड़ रुपये की रकम ही प्राप्त हुई थी। अतएव तृतीय योजना में घाटे की वित्त-व्यवस्था की रकम को कम रखा गया था क्योंकि द्वितीय योजना में इससे मूल्य-तल में बहुत अधिक वृद्धि हुई थी। किन्तु तृतीय योजना में घाटे की वित्त-व्यवस्था से ११३३ करोड़ रुपये की रकम, यानी कुल आयोजित रकम के दुगुने से भी अधिक रकम प्राप्त हुई। इससे स्पष्ट है कि तृतीय योजनाकाल में घाटे की वित्त-व्यवस्था के द्वारा द्वितीय योजना के बराबर रकम प्राप्त की गयी।

बाजार ऋण (Market Loans) :—जनता से प्राप्त ऋण से तृतीय योजनाकाल में ८०० करोड़ रुपये की रकम प्राप्त होने की आशा थी। इसमें से ४७५ करोड़ रुपये केन्द्र तथा ३२५ करोड़ रुपये राज्यों द्वारा प्राप्त करने का आयोजन था जबकि तृतीय योजना में ८२३ करोड़

रुपये की रकम इस रूप में प्राप्त हुई थी। द्वितीय योजना में इससे ७८० करोड़ रुपये की रकम प्राप्त हुई थी। इससे स्पष्ट है कि तृतीय योजन में बाजार ऋण से आयोजित रकम से भी अधिक रकम प्राप्त हुई। इसी प्रकार अल्प बचत से तृतीय योजनाकाल में ६०० करोड़ रुपये की रकम प्राप्त होने की आशा थी। द्वितीय योजना में इस मद से ५०० करोड़ रुपये प्राप्त होने का आयोजन था, किन्तु वास्तविक:रूप में ४०० करोड़ रुपये ही प्राप्त हुआ था। तृतीय योजनाकाल में इस मद से वास्तव में ५६५ करोड़ रुपये की रकम प्राप्त हुई। इससे स्पष्ट है कि योजनाकाल में अल्पकालीन ऋण के रूप में आयोजित रकम से कुछ कम ही प्राप्त हुआ।

तृतीय योजनाकाल में एक नये प्रकार की अनिवार्य बचत योजना का कार्यक्रम अपनाया गया। बाद में इसे वार्षिकी जमा (Aunuity Deposit) के रूप में बदल दिया गया। तृतीय योजनाकाल में इस मद में ११७ करोड़ रुपये की रकम प्राप्त हुई।

प्रतिरक्षा, विकास एवं संकट

(Defence, Development and Emergency)

१९६२ में चीन तथा १९६५ में पाकिस्तान के आक्रमण के कारण उत्पन्न संकट की स्थिति में देश के साधनों का प्रतिरक्षा एवं विकास (defence and development) दोनों दृष्टिकोण से विकास अनिवार्य हो गया। वास्तव में ये दोनों एक दूसरे के पूरक हो गये। इस राष्ट्रीय संकट की स्थिति में तृतीय योजना में इस प्रकार संशोधन करना आवश्यक हो गया जिससे प्रतिरक्षा की आवश्यकताओं की अधिक-से-अधिक पूर्ति की जा सके। सरकार एवं जनता ने इस आधारभूत तत्त्व के महत्त्व को समझा ओर अब इन दोनों पर एक साथ जोर दिया जाने लगा। तृतीय योजना में भी इस उद्देश्य से आवश्यक संशोधन किया गया। प्रथम एवं द्वितीय योजना के दस वर्षों में प्रतिरक्षा पर कुल २०७८ करोड़ रुपये व्यय किया गया। किन्तु चीनी आक्रमण ने प्रतिरक्षा पर व्यय में अत्यधिक वृद्धि कर दी। १९६३-६४ के बजट में योजना के अन्तर्गत विकास के लिए १९५० करोड़ रुपये तथा प्रतिरक्षा के लिए ८६७ करोड़ रुपये व्यय का आयोजन था। वास्तव में, तृतीय योजना के पाँच वर्षों में सुरक्षा पर १८८४ करोड़ रुपये व्यय किया गया। प्रतिरक्षा पर व्यय में इस प्रकार बहुत अधिक वृद्धि हो गयो। सुरक्षा पर १९६६-६७ के बजट में ८०० करोड़ रुपये व्यय का आयोजन था। इस प्रकार अब देश की कुल राष्ट्रीय आय का लगभग ५ प्रतिशत से भी अधिक भाग प्रतिरक्षा के ऊपर व्यय किया जाने लगा है।

संकट की स्थिति को ध्यान में रखते हुए तृतीय पंचवर्षीय योजना में विनियोग की जाने वाली कुल रकम में परिवर्तन भी किया गया। योजना में इस परिवर्तन का प्रधान कारण योजनाकाल में प्रतिरक्षा-सम्बन्धी उद्योगों के विकास पर अधिक जोर तथा आयात-सम्बन्धी आवश्यकताओं में वृद्धि था। वास्तव में, प्रतिरक्षा-सम्बन्धी तैयारियों के सिलसिले में देश के आर्थिक संगठन को अधिक प्रभावपूर्ण बनाने की आवश्यकता होगी।

तृतीय पंचवर्षीय योजना की प्रगति की समीक्षा

(An Appraisal of the Progress of the Third Plan)

किन्तु तृतीय योजना की प्रगति सन्तोषजक नहीं रही तथा इसमें आर्थिक जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में लक्ष्य से बहुत ही कम वृद्धि हुई। योजनाकाल में पाँच वर्षों में कृषि के उत्पादन में ३० प्रतिशत तथा उद्योग-धन्धों के उत्पादन में ७० प्रतिशत वृद्धि का आयोजन था। इसी प्रकार राष्ट्रीय आय में प्राय ३० प्रतिशत वृद्धि का आयोजन था। किन्तु तृतीय योजना की प्रगति को

देखने से यह स्पष्ट है कि योजना के अधिकांश लक्ष्यों की पूर्ति नहीं हो पायी। तृतीय योजना की इस असफलता का प्रधान कारण १९६२ ई० में चीन तथा १९६५ ई० में पाकिस्तान के साथ युद्ध है। इनके परिणामस्वरूप योजना को सुरक्षा से सम्बन्धित (Defence-oriented) करना पड़ा तथा उत्पादन की प्राथमिकताओं में भी परिवर्तन करना पड़ा। तृतीय योजना काल में १९६४-६५ के अतिरिक्त अन्य सभी वर्षों में मौसमी हवाएँ भी संतोषप्रद नहीं रहीं।

कृषि-पदार्थों के उत्पादन में १९६१-६२ ई० में १ प्रतिशत की वृद्धि हुई, किन्तु १९६२-६३ ई० ३ प्रतिशत की कमी हुई, पुन: १९६३-६४ ई० में ३·७ प्रतिशत तथा १९६४-६५ ई० में १०·५ प्रतिशत की वृद्धि हुई। किन्तु १९६५-६६ ई० के असामान्य वर्ष होने के कारण कृषि-पदार्थों के उत्पादन में अत्यधिक कमी हुई। इस वर्ष खाद्यान्न के उत्पादन में २० प्रतिशत की कमी हुई। खाद्यान्नों के उत्पादन को बढ़ाकर १९६५-६६ ई० तक १००० लाख टन करने का आयोजन था जबकि इनका उत्पादन १९६५-६६ ई० में ७२० लाख टन ही हुआ। इसी प्रकार औद्योगिक उत्पादन में भी तृतीय योजना में औसत रूप से वार्षिक १४ प्रतिशत वृद्धि का आयोजन था, जबकि इसमें १९६१-६२ ई० में ६·५ प्रतिशत, १९६२-६३ ई० में ७·७ प्रतिशत, १९६३-६४ ई० में ८·५ प्रतिशत तथा १९६४-६५ ई० में ३ प्रतिशत की हुई। किन्तु १९६५-६६ ई० में औद्योगिक उत्पादन में ४·३ प्रतिशत की वृद्धि हुई। इससे स्पष्ट है कि तृतीय योजना के औद्योगिक उत्पादन के लक्ष्य भी पूरे नहीं हो सके। परिणामस्वरूप योजनाकाल में राष्ट्रीय आय में भी अपेक्षित लक्ष्य से बहुत ही कम वृद्धि हुई। राष्ट्रीय आय में योजना काल में प्रथम चार वर्षों १९६०-६१ ई० के मूल्य-तल के आधार पर २० प्रतिशत की वृद्धि हुई जबकि १९६५-६६ ई० में इसमें ५·६ प्रतिशत की कमी हुई। इससे स्पष्ट है कि तृतीय योजना के लक्ष्यों की पूर्ति नहीं हो सकी। तृतीय योजना में राष्ट्रीय आय बढ़कर १९६५-६६ ई० में १९,००० करोड़ रुपये होने के बजाय लगभग १५,९३० करोड़ रुपये (१९६०-६१ ई० के मूल्य-तल पर) ही हुई। योजनाकाल में प्रति व्यक्ति आय में भी प्राय: कोई वृद्धि नहीं हुई।

इस प्रकार तृतीय योजना की प्रगति संतोषजनक नहीं रही। तृतीय योजना की इस असंतोषजनक प्रगति का प्रधान कारण कृषि तथा उद्योग-धन्धों के क्षेत्र में आयोजित लक्ष्य से बहुत ही कम वृद्धि है। चतुर्थ योजना के स्मृति-पत्र में आयोग ने इसकी व्याख्या निम्न प्रकार से की है: "In actual fact, national income growth in the first three years of the Third Plan has been less than 19 p. c.—owing largely to serious setbacks in agricultural production and delays in realisation of output from some of the investments—as against an increase of about 30 p. c. assumed for the five year period."[1]

तृतीय पंचवर्षीय योजना की कुछ आधारभूत कमजोरियाँ

(Some Basic Defects of the Third Five Year Plan)

तृतीय पंचवर्षीय योजना के अध्ययन से स्पष्ट है कि इसमें कई आधारभूत त्रुटियाँ थी। इसका सबसे बड़ा दोष तो यह था कि इसमें कई नीतियों की दृढ़तापूर्वक घोषणा तो की गयी थी किन्तु उन्हें कार्यान्वित करने में समान दृढ़ता का अभाव था। वास्तव में, इस योजना की अधिकांश नीतियों को कार्यान्वित करने में आत्म-बल का अभाव था। मूल्य-सम्बन्धी नीति, रोजगार-सम्बन्धी नीति तथा भूमि-सुधार की योजनाओं के साथ यह बात बिलकुल स्पष्ट रूप से

1. Memorandum on the Fourth Five Year Plan p. 1-2

लागू होता है। अतः हमलोग यहाँ पर तृतीय योजना की कुछ आधारभूत कमजोरियों की चर्चा करेंगे।

(१) कृषि-विकास सम्बन्धी उचित नीति का अभाव (Lack of a proper policy of Agricultural Development) :—पहली दो योजनाओं की तरह तृतीय योजना का भी सबसे बड़ा दोष कृषि के विकास के लिए समुचित नीति का अभाव था। वास्तव में कृषि-सम्बन्धी नियोजन के दो सहायक स्तर हैं—प्रथम स्तर विभिन्न फसलों के उत्पादन के राष्ट्रीय लक्ष्य का निर्धारण तथा इस लक्ष्य को पूर्ति के लिए कुल व्यय निश्चित करना होता है। इस प्रकार के राष्ट्रीय लक्ष्य का निर्धारण जनसंख्या के उपभोग की आवश्यकताओं तथा उद्योगों के लिए कच्चे पदार्थों की जरूरतों आदि को ध्यान में रखते हुए तय करना चाहिए और तब इन लक्ष्यों की पूर्ति के लिए कुल व्यय का निर्धारण करना चाहिए। द्वितीय स्तर राष्ट्रीय लक्ष्यों को प्रभावपूर्ण तरीके के कार्यान्वित करने के लिए प्रशासनिक व्यवस्था में उचित सुधार का होता है। इस द्वितीय स्तर में विभिन्न उत्पादन-सम्बन्धी इकाइयों के द्वारा सम्पादित किये जाने वाले लक्ष्यों की उचित रूप से निर्धारित करना होता है। राष्ट्रीय लक्ष्यों की पूर्ति के लिए प्रशासनिक व्यवस्था को क्रियाशील बनाना आवश्यक होता है। अन्य दो योजनाओं की तरह तृतीय योजना का प्रधान दोष भी कृषि-सम्बन्धी नीति के निर्धारण में इस द्वितीय स्तर पर उचित ध्यान का अभाव था। वास्तव में, इस योजना के कृषि-कार्यक्रमों की सबसे बड़ी त्रुटि यह थी कि इसमें कृषि-सम्बन्धी प्रशासनिक व्यवस्था में आवश्यक परिवर्तन लाये वगैर कृषि की मद में बहुत बड़ी रकम के व्यय का आयोजन था। इसलिए कृषि पर इतना जोर देने के बावजूद तृतीय योजना के कृषि-सम्बन्धी लक्ष्यों की पूर्ति नहीं हो सकी।

(२) निर्यात पर उचित जोर का अभाव (Lack of adequate emphasis on export) :—आर्थिक विकास की दीर्घकालीन योजना को कार्यान्वित करने में निर्यात का बड़ा ही महत्त्वपूर्ण स्थान है। वास्तव में, विदेशी सहायता के लिए भुगतान तथा आन्तरिक साधनों के द्वारा इसके प्रतिस्थापन के लिए निर्यात व्यापार में वृद्धि अनिवार्य है। किन्तु भारत में प्रथम तीनों पंचवर्षीय योजनाओं के अन्तर्गत इस आधारभूत लक्ष्य की अवहेलना की गयी थी। यही कारण है कि आर्थिक नियोजन के प्रथम दस वर्षों में विश्व के कुल व्यापार में भारत का हिस्सा १९५०-५१ ई० में २·१ प्रतिशत से घटकर १९६१-६२ ई० में १·२ प्रतिशत हो गया। तृतीय योजना में निर्यात-प्रोत्साहन की आवश्यकता को महसूस अवश्य किया गया था जो तृतीय योजना के निम्न बयान से स्पष्ट है "In view of the scarcity of the foreign exchange, there has to be a clear priority in its allotment in favoured industries producing for export or providing a substantial surplus for exports." किन्तु इस प्रकार की अभिव्यक्ति को कार्यरूप देने के लिए प्रायः कोई भी प्रयास नहीं किया गया था। वास्तव में, तृतीय योजना में निर्यात-प्रोत्साहन के उचित कार्यक्रम का अभाव था। राजकीय उद्योगों के निर्यात के लिए भी कोई लक्ष्य निर्धारित नहीं किया गया था। ऐसी स्थिति में विदेशों पर हमारी निर्भरता में वृद्धि होना बिल्कुल स्वाभाविक है।

(३) संवादवाहन एवं यातायात के साधनों के विकास का अभाव :—तृतीय योजना में औद्योगिक विकास के अनुरूप यातायात एवं संवादवाहन के साधनों पर जोर नहीं दिया गया था जिससे योजनाकाल में धीरे-धीरे कठिनाइयाँ उत्पन्न होने लगीं। वास्तव में, जबकि राजकीय

क्षेत्र में प्रथम योजना के कुल व्यय का २४·५ प्रतिशत तथा द्वितीय योजना का २८·६ प्रतिशत भाग व्यय किया गया था, तृतीय योजना में इस मद में केवल १६·८ प्रतिशत की व्यवस्था थी। यह तृतीय योजना की बहुत ही बड़ी कमी थी।

(४) **मूल्य-नीति के स्पष्टीकरण की आवश्यकता** :—तृतीय योजना में उचित मूल्य-नीति की आवश्यकता पर तो बल दिया गया था, लेकिन उसका यथेष्ट रूप से स्पष्टीकरण नहीं किया गया था। वास्तव में, आर्थिक विकास के लिए मूल्य में स्थिरता की बहुत अधिक आवश्यकता है। खाद्यान्नों एवं आवश्यक उपभोक्ता पदार्थों के मूल्य में स्थिरता अधिक आवश्यक है। किन्तु तृतीय योजनाकाल में मूल्य-स्तर में स्थिरता तो नहीं ही लायी जा सकी, उल्टे इसमें मूल्य-तल में बहुत अधिक वृद्धि हुई, जिसका योजना के कार्य-क्रमों पर बड़ा ही विपरीत प्रभाव पड़ा।

इस प्रकार, संक्षेप में तृतीय योजना कई दोषों से परिपूर्ण थी। वस्तुत: यह अर्थ-व्यवस्था के विभिन्न पहलुओं पर एक असम्बद्ध निबन्ध की तरह थी। परिणामस्वरूप योजना के बहुत सारे महत्त्वपूर्ण लक्ष्य पूरे नहीं हो सके तथा योजना पूर्णरूप से सफल नहीं हो सकी। तृतीय योजना की इस आर्थिक असफलता से योजनाकरण की वर्तमान प्रणाली पर से लोगों का विश्वास समाप्त हो रहा है। इसका भी भविष्य में आनेवाली योजनाओं पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ेगा। योजना के अन्तिम वर्ष में उत्पन्न खाद्य-संकट तथा मूल्य-तल में अत्यधिक वृद्धि से तो जनता का मानों धैर्य ही समाप्त हो गया है। अत: कृषि-सम्बन्धी नियोजन की प्रणाली में आमूल परिवर्तन लाने की आवश्यकता है। वास्तव में, यह स्पष्ट है कि कृषि के क्षेत्र में केवल सहकारी समितियों तथा सामुदायिक विकास-खण्डों की संख्या में वृद्धि से कोई आशाजनक प्रगति नहीं हासिल की जा सकती। इसके लिए आज कृषि के सम्बन्ध में अधिक यथार्थवादी दृष्टिकोण अपनाने की आवश्यकता है। इसी में देश तथा समाज दोनों ही का कल्याण निहित है।

वार्षिक योजनाएँ

(Annual Plans 1966-1969)

प्राक्कथन :—तृतीय पंचवर्षीय योजना का कार्य मार्च, १९६६ ई० में समाप्त हो गया तथा अप्रैल, १९६६ से चतुर्थ योजनाकाल के सम्बन्ध में एक स्मृति-पत्र (Memorandum on Fourth Five Year Plan) प्रस्तुत किया गया। आगे चलकर अगस्त, १९६६ ई० में इसकी एक रूप-रेखा (Draft outline) तैयार की गयी जिसे संसद् के समक्ष प्रस्तुत किया गया। किन्तु तृतीय योजना को कई कठिनाइयों का सामना करना पड़ा था। इनमें १९६२ एवं १९६५ ई० के चीनी तथा पाकिस्तानी आक्रमण एवं १९६५-६६ तथा १९६६-६७ में सूखा के कारण कृषि-पदार्थों के उत्पादन में भयानक कमी उल्लेखनीय हैं। इनके परिणामस्वरूप योजनाकरण के कार्य में शिथिलता उत्पन्न हो गयी तथा चतुर्थ योजना का कार्य अप्रैल, १९६९ ई० से पहले नहीं प्रारम्भ हो सका। इसी बीच १९६६-६७, १९६७-६८ एवं १९६८-६९ में तीन वार्षिक योजनाएँ कार्यान्वित की गयीं।

वार्षिक योजनाओं का कुल व्यय (Total outlay of Annual Plans):—१९६६-६७, १९६७-६८ तथा १९६८-६९ में तीन एक-वर्षीय योजनाएँ कार्यान्वित की गयीं। १९६६-६७ में कुल वास्तविक व्यय २१६५ करोड़ रुपये, १९६७-६८ में २०८५ करोड़ रुपये था तथा १९६८-६९ में २३७६ करोड़ रुपये हुआ। एकवर्षीय योजनाओं के अन्तर्गत कुल व्यय के विभिन्न मदों में वितरण का अन्दाजा निम्नांकित तालिका से लगाया जा सकता है :—

एक-वर्षीय योजनाओं में कुल व्यय का वितरण (करोड़ रुपये में)[1]

मदें	१९६६-६७ में वास्तविक व्यय	१९६७-६८ में वास्तविक व्यय	१९६८-६९ में वास्तविक व्यय	१९६६-६९ में कुल व्यय
१. कृषि एवं सामुदायिक विकास	३३४	३१८	४५९	११२१
२. वृहत एवं मध्यम सिंचाई	१४९	१४४	१७५	४६८
३. विद्युत	४०४	३९२	४१३	१२०९
४. ग्रामीण एवं लघु उद्योग	४३	४४	४१	१२८
५. संगठित उद्योग एवं खनिज	५१४	४७१	५२६	१५११
६. यातायात एवं संवादवाहन	४५४	३९४	४०१	१२१९
७. सामाजिक सेवाएं एवं विविध	२९५	३२२	३६१	९७८
कुल	२१९५	२०८५	२३७६	६६२६

इस प्रकार तीनों एक-वर्षीय योजनाओं का कुल व्यय ६६२६ करोड़ रुपया था जो चतुर्थ योजना, जिसमें पांच वर्षों में १५,२०९ करोड़ रुपये व्यय का आयोजन है, का ४२ प्रतिशत भाग हैं। इस बात को ध्यान में रखते हुए कि अर्थ-व्यवस्था १९६६-६८ के बीच सुस्ती का अनुभव कर रही थी, तीन वर्षों में ६६२६ करोड़ रुपये का व्यय कोई कम व्यय नहीं कहा जा सकता।

१९६६-६७ में अर्थ-व्यवस्था की प्रगति (Progress of the Economy during the year 1966-67) :—१९६६-६७ का वर्ष लगातार सूखा का दूसरा वर्ष था। इस वर्ष खाद्यान्नों का उत्पादन ७६० लाख टन था जो १९६५-६६ से थोड़ा अधिक होते हुए भी १९६४-६५ की तुलना में बहुत ही कम था। परिणामस्वरूप इस अवधि में बड़े पैमाने पर खाद्यान्नों का आयात करना पड़ा। कृषि के उत्पादन में ह्रास का औद्योगिक उत्पादन, विशेषतः उन उद्योगों के जो कृषि-पदार्थों पर निर्भर करते थे पर भी प्रतिकूल प्रभाव पड़ा। १९६६-६७ में औद्योगिक उत्पादन में केवल ०·३ प्रतिशत की वृद्धि हुई जबकि १९६४-६५ में वृद्धि की दर ७ प्रतिशत तथा १९६५-६६ में ३·९ प्रतिशत थी। विद्युत उत्पादन की क्षमता से १२ लाख कि० वा० की वृद्धि हुई। बचत-आय अनुपात, जो १९६५-६६ में १०·३ प्रतिशत था, १९६६-६७ में घटाकर ८·२ प्रतिशत हो गया। यातायात के साधनों पर भी इसका प्रतिकूल प्रभाव पड़ा।

१९६७-६८ तथा १९६८-६९ में आर्थिक प्रगति (Economic Progress during 1967-68 & 1968-69) :—आर्थिक पुनरुत्थान का क्रम १९६७-६८ में प्रारम्भ हुआ तथा १९६८-६९ में भी जारी रहा। पिछले वर्ष की तुलना में राष्ट्रीय आय में १९६७-६८ में ८·९ प्रतिशत तथा १९६८-६९ में १·८ प्रतिशत की वृद्धि हुई। पुनरुत्थान का जो क्रम १९६७-६८ में प्रारम्भ हुआ उसका १९६८-६९ में संतोषजनक परिणाम प्राप्त हुआ तथा मूल्य-तल एवं भुगतान संतुलन की स्थिति में आशाजनक सुधार हुआ।

इस अवधि में कृषि के उत्पादन में भी आशातीत प्रगति हुई। १९६५-६६ तथा १९६६-६७ में देश के अधिकांश भाग में दुर्भिक्ष की स्थिति उत्पन्न होने के कारण कृषि के क्षेत्र में नये तकनीक का बड़े पैमाने पर प्रयोग प्रारम्भ हुआ तथा इसके परिणाम भी अत्यन्त संतोषजनक हुए। नयी तकनीक के प्रयोग से कृषि-उत्पादन में एक प्रकार की क्रांति उत्पन्न हो गयी जिसे कृषि-क्रांति या हरी क्रांति (Green Revolution) कहते हैं। १९६७-६८ में खाद्यान्नों का

1. Economic Survey—1970-171.

उत्पादन ९५० लाख टन तथा १९६८-६९ में ९६० लाख टन हुआ जो पिछले सभी वर्षों से अधिक था। खाद्यान्नों के उत्पादन में अत्यधिक वृद्धि के परिणामस्वरूप इनके मूल्य में भी बहुत अधिक कमी हुई। १९६८-६९ में खाद्यान्नों के मूल्य में ९.५ प्रतिशत की कमी हुई।

इस अवधि में निर्यात में भी बहुत अधिक वृद्धि हुई। १९६७-६८ में निर्यात में ३.४ प्रतिशत तथा १९६८-६९ में १३.५ प्रतिशत की वृद्धि हुई। साथ ही आयात में इस अवधि में कमी हुई। आयात में कमी के लिए मुख्यत: खाद्यान्नों के आयात में बड़े पैमाने पर कमी उत्तरदायी थी।

निम्नांकित तालिका से एक-वर्षीय योजनाओं की अवधि में महत्वपूर्ण क्षेत्र में प्रगति का अन्दाजा लगाया जा सकता है :—

मदें	पिछले वर्ष से प्रतिशत परिवर्तन			
	१९६५-६६	१९६६-६७	१९६७-६८	१९६८-६९
१. राष्ट्रीय आय (स्थिर कीमतों पर)	−५.६	+०.९	+८.९	+१.७
२. कृषि-उत्पादन	−१७.१	−०.३	+२२.३	−१.८
३. खाद्यान्नों का उत्पादन	−१९.१	+३.१	+२८.०	−१.१
४. औद्योगिक उत्पादन	+५.१	+०.३	−०.५	+६.३
५. थोक कीमतें	+७.६	+१३.९	+११.६	−१.१
६. आयात	+४.४	−६.३	−३.४	−७.३
७. निर्यात	−१.३	−८.९	+३.६	+१३.५

उपरोक्त तालिका से एक-वर्षीय योजनाओं में देश की अर्थ-व्यवस्था के विभिन्न क्षेत्रों में प्रगति का अन्दाजा लगता है।

विशेष अध्ययन-सूची

1. Planning Commission : First, Second, Third and Annual Plans.
2. Govt. of India : Economic Survey 1969-70 & 1971·72
3. B. R. Shenoy : Planning & Economic Development.
4. Planning Commission : Progress Report of Five Year & Annual Plans.
5. Planning Commission : Fourth Five Year Plan.

---

1. Economic Survey 1969-70.

अध्याय : ८

चतुर्थ पंचवर्षीय योजना

(Fourth Five Year Plan)

आयोजित विकास के दो स्तर (Two phases of Planned Development):— चतुर्थ योजना के सम्बन्ध में विस्तारपूर्वक विवरण प्रारम्भ करने के पूर्व यह कहना युक्तिसंगत होगा कि देश के आयोजित आर्थिक प्रयत्नों को निम्नांकित दो स्तरों में विभाजित किया जा सकता है—प्रथम स्तर १९५१-५२ से १९६१-६२ का है। इस अवधि में सतत् विकास के लिए प्रयत्न किये गये। इन प्रयत्नों के परिणामस्वरूप देश में विनियोग कुल राष्ट्रीय आय के ७·६ प्रतिशत से बढ़कर १२·२ प्रतिशत तथा आन्तरिक बचत राष्ट्रीय आय के ५·३ प्रतिशत से बढ़कर ९·६ प्रतिशत हो गयी। इस अवधि में राष्ट्रीय आय में ४·१ प्रतिशत प्रति वर्ष की दर से वृद्धि हुई तथा प्रति-व्यक्ति आय में कुल १७ ६ प्रतिशत की वृद्धि हुई। इस अवधि के अन्तिम वर्षों में भारत में औद्योगिक क्रांति की शुरुआत हुई तथा सर्वत्र एक प्रकार का आशावाद वर्त्तमान था।

दूसरा स्तर १९६२ ई० के अन्त में चीनी आक्रमण के साथ प्रारम्भ होता है। चीनी आक्रमण ने हमारे विकास के क्रम को बिलकुल ठप कर दिया। आगे चलकर १९६५ ई० में पाकिस्तानी आक्रमण ने विकास की गति को बिल्कुल पीछे की ओर मोड़ दिया। १९६५-६६ तथा १९६६-६७ में देश के एक बहुत बड़े भाग में सूखा तथा अकाल की स्थिति ने आर्थिक विकास और भी अवरुद्ध किया। परिणामस्वरूप तृतीय योजना तथा बाद में तीन वर्षों के Plan holidays की अवधि ने आयोजित विकास के लिए उपयुक्त वातावरण को ही समाप्त कर दिया। इस स्तर की विशेषता को कुछ आँकड़ों से स्पष्ट किया जा सकता है। तृतीय योजना की पाँच वर्षों की अवधि में कुल राष्ट्रीय आय १४·७ प्रतिशत तथा प्रति व्यक्ति आय में १ प्रतिशत से भी कम की वृद्धि हुई। १९६४-६५ से १९६६-६७ के बीच मूल्य-तल में ४६·१ प्रतिशत की वृद्धि हुई। इसमें से १९६४-६५ में १०·९ प्रतिशत, १९६५-६६ में १५·३ प्रतिशत तथा १९६६-६७ में १६·५ प्रतिशत की वृद्धि हुई। परिणामस्वरूप, इस अवधि में वास्तविक आय में वृद्धि के बजाय कमी ही हुई।

तृतीय पंचवर्षीय योजना से आरम्भ होनेवाले अगले १५ वर्षों में भारत में योजनाकरण का प्रधान उद्देश्य में देश में स्वतः प्रचालित आर्थिक विकास के लिए मार्ग तैयार करना, अधिक रोजगार की व्यवस्था तथा देश में आर्थिक एवं सामाजिक विषमता को यथासम्भव कम करना माना गया था। तृतीय पंचवर्षीय योजना को इन उद्देश्यों की पूर्त्ति के दीर्घकालीन गहन कार्यक्रम का प्रथम स्तर समझा गया था तथा उसके आकार एवं नीति का निरूपण इसी आधार पर किया गया था। किन्तु तृतीय पंचवर्षीय योजना के प्रारम्भ से ही विभिन्न कारणों से इन क्षेत्रों में सन्तोषजनक प्रगति नहीं हो सकी तथा देश की मौलिक समस्याएँ—भूख, निर्धनता एवं बेरोजगारी इत्यादि प्रायः उसी प्रकार रह गयीं। चतुर्थ पंचवर्षीय योजना का निर्माण इसी संदर्भ में किया गया। अतएव इसमें इन समस्याओं के समाधान के लिए बहुत बड़े प्रयत्नों की आवश्यकता पर जोर दिया गया। योजना आयोग का इस सम्बन्ध में निम्न कथन विशेष रूप से स्पष्ट है :—"The Fourth Plan must insure that, inspite of unanticipated difficulties in the immediate past, the move

towards a better life for the common people maintains its momentum."[1] तृतीय योजनाकाल में मूल्य-तल में भी बहुत अधिक वृद्धि हुई। इस प्रकार तृतीय योजना की इस असफलता से देश में आर्थिक नियोजन के सम्बन्ध में एक निराशाजनक वातारण का सृजन हो गया। ऐसी स्थिति में चतुर्थ योजना का महत्त्व बहुत बढ़ जाता है। वास्तव में, चतुर्थ पंचवर्षीय योजना की प्रमुख समस्या मूल्य-तल में वृद्धि के वगैर विकास के क्रम को आगे बढ़ाना है जो योजना आयोग के निम्न बयान से स्पष्ट है :—"The crucial problem for the Fourth Plan is thus of accelerating the tempo of development without accelerating inflationary trends in the economy. This obviously entails higher savings and investments and clear priority not only for plan as against non-plan expenditure, but also for essential as against non-essential private expenditure."[2] अत: चतुर्थ योजना को तृतीय योजना के निम्नांकित चार व्यापक उद्देश्यों को पूरा करना होगा :—

(१) स्वत: प्रचालित अर्थ-व्यवस्था की प्राप्ति:

(२) प्रादेशिक संतुलन स्थापित करना जिससे विकास का लाभ सभी क्षेत्रों को समान रूप से प्राप्त हो सके;

(३) स्थायित्व के साथ-साथ विकास (Growth with stability); तथा

(४) हर एक व्यक्ति के लिए एक न्यूनतम जीवन-स्तर की व्यवस्था करना।

योजना आयोग (Planning Commission) के शब्दों में 'हमलोगों की अर्थ-व्यवस्था के विकास में चतुर्थ योजना निर्णायक महत्व की है। इसे पहले की तीन पंचवर्षीय योजनाओं तथा तीन वार्षिक योजना की निष्पत्तियों को सुदृढ़ बनाकर अर्थ-व्यवस्था को आगे बढ़ाना एवं इनकी त्रुटियों को यथासम्भव दूर करना है तथा पंचम योजना के अन्त तक देश में स्वत: प्रचालित अर्थ-व्यवस्था के निर्माण के लिए आधार तैयार करना है।" (The Fourth Five Year Plan represents a crucial stage in the development of our economy. It has to consolidate and carry forward the achievements of the three earlier plans, make up for their shortfalls as far as practicable and prepare the ground for a self-reliant economy to be attained by the end of the Fifth Plan.)

चतुर्थ पंचवर्षीय योजना के उद्देश्य

(Objectives of the Fourth Five Year Plan)

भारत में दीर्घकालीन नियोजन का मुख्य उद्देश्य 'स्थायित्व के साथ विकास' (Growth with stability) है। चतुर्थ योजना भी इसी व्यापक उद्देश्य को ध्यान में रखकर तैयार की गयी है। चतुर्थ पंचवर्षीय योजना को तैयार करने में योजना आयोग ने निम्नलिखित उद्देश्यों क प्रधानता दी है :—

(१) राष्ट्रीय आय में ५·५ प्रतिशत की वार्षिक वृद्धि (Attaining a growth of 5·5% per annum of National Income) :—चतुर्थ योजना में राष्ट्रीय आय में ५·५ प्रतिशत वार्षिक वृद्धि का आयोजन है। इसके लिए कृषि के उत्पादन में पाँच वर्षों में ३१ प्रतिशत तथा उद्योग-धन्धों के उत्पादन के पाँच वर्षों में ४० से ५० प्रतिशत वृद्धि का आयोजन है।

1. Memorandum on the Fourth Five Year Plan. p. 1.
2. Memorandum on the Fourth Five Year Plan. p. 1.

इस सम्बन्ध में चतुर्थ योजना का प्रधान उद्देश्य आर्थिक विकास की गति को तीव्र बनाना है। (The plan aims at accelerating the corrent tempo of economic activity so as to provide productive employment to all; extend the base of social services and bring about significent improvement in living standards of the people.)

(२) आत्म-स्वावलम्बन की प्राप्ति (To achieve self-reliance) :—कृषि तथा औद्योगिक उत्पादन के क्षेत्र में यथाशीघ्र आत्म-स्वावलम्बन की प्राप्ति के लिए ऐसे कार्यक्रमों को उच्च प्राथमिकता प्रदान करना जिससे निर्यात में वृद्धि हो तथा आयात हतोत्साहित हों। योजना काल में निर्यात में प्रतिवर्ष ७ प्रतिशत की वृद्धि का लक्ष्य रखा गया है। साथ ही, खाद्यान्न के उत्पादन में पर्याप्त वृद्धि का आयोजन है जिससे १९७१ ई० के बाद P L ४८० के अन्तर्गत अमेरिका से खाद्यान्न तथा कच्चे पदार्थों के आयात की आवश्यकता नहीं रह जाय।

(३) आर्थिक स्थायित्व (To bring about economic stability) :—आर्थिक विकास की गति को तीव्र बनाने के लिए आर्थिक स्थायित्व अनिवार्य है। इसके लिए सर्वप्रथम मूल्य-तल का स्थायित्व आवश्यक है और मूल्य के स्थायित्व को प्रोत्साहित करने के लिए स्फीतिजनक तत्त्वों को रोकना तथा घाटे की वित्त-व्यवस्था को समाप्त करना होगा। खाद्यान्न के उत्पादन में कमी तथा विदेशी सहायता पर अत्यधिक निर्भरता से अस्थायित्व उत्पन्न होने की आशंका रहती है। अतः इन्हें दूर करना भी आवश्यक है।

(४) आय की विषमता में कमी (Reduction of Income disparities) :— चतुर्थ पंचवर्षीय योजना का एक प्रधान उद्देश्य आय की विषमता में कमी करना है। किन्तु केवल वित्तीय उपायों द्वारा आय की विषमता को समाप्त नहीं किया जा सकता, अतएव चतुर्थ पंचवर्षीय योजना में इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए अर्थ-व्यवस्था के विकास की गति को बढ़ाने, व्यवसाय तथा उत्पादक के साधनों के स्वामित्व को अधिक विकेन्द्रीकरण, कमजोर इकाइयों की उत्पादकता को बढ़ाने तथा सामान्य मनुष्य, विशेषतः समाज के कम सुविधा-प्राप्त व्यक्तियों के लिए रोजगार के अधिक अवसर प्रदान करने पर जोर दिया गया है।" (The Fourth Plan intends to attain this social objective through more rapid growth of the economy. greater diffusion of enterprise and of the ownership of means of production, increasing productivity of the weaker units and widening opportunities of productive work and employment to the common man and particularly the less privileged section of the society.)

(५) क्षेत्रीय विषमता की समाप्ति (Correcting the Regional Imbalancy):— चतुर्थ पंचवर्षीय योजना में क्षेत्रीय विषमता को समाप्त करने की जवाबदेही राज्य सरकारों पर रखा गया है। प्रत्येक राज्य सरकार इस उद्देश्य से अविकसित क्षेत्रों के विकास के लिए सहकारी, निजी तथा सार्वजनिक क्षेत्र के अन्तर्गत उद्योग-धन्धों की स्थापना की योजना तैयार करेगी जिसके लिए भारत सरकार उन्हें आवश्यक वित्तीय सहायता प्रदान करेगी। इसके लिए राज्यों के बीच वित्तीय सहायता के वितरण की प्रणाली में भी परिवर्तन लाया गया है। इसके अनुसार केन्द्रीय सहायता का ६० प्रतिशत राज्यों के बीच उनकी जनसंख्या के आधार पर दिया जायगा।

(६) रोजगार के अवसरों में वृद्धि (Increase in Employment opportunities) :—चतुर्थ पंचवर्षीय योजना का एक प्रधान उद्देश्य सम्पूर्ण श्रम-शक्ति को रोजगार प्रदान

करने के लिए ग्रामीण तथा शहरी क्षेत्रों में रोजगार के अधिक अवसरों की व्यवस्था करना है। ग्रामीण क्षेत्रों में इस उद्देश्य से लघु सिंचाई, भूमि-संरक्षण तथा विशेष क्षेत्रों के विकास जैसा श्रम-प्रधान योजनाओं को प्राथमिकता प्रदान की जायगी। शहरी क्षेत्रों में इस उद्देश्य से उद्योग-धन्धों के विकास को प्राथमिकता दी जायगी और कृषि तथा उद्योग-धन्धों के क्षेत्र में अधिक उत्पादन के कारण तृतीयक क्षेत्र में भी रोजगार में वृद्धि की आशा की जाती है किन्तु चतुर्थ योजना में रोजगार में परिमाणात्मक वृद्धि की कोई चर्चा नहीं की गयी है।

(७) महत्त्वपूर्ण आर्थिक संस्थाओं का पुनर्गठन (Reorganisation of economic institutions) :—चतुर्थ पंचवर्षीय योजना में भूमि-सुधार के क्षेत्र में अधिक प्रगतिशील कार्यक्रमों पर जोर दिया गया है। साथ ही, इन कार्यक्रमों को अधिक सक्रियता के साथ कार्यान्वित किया जायगा। योजनाकाल में सहकारी कृषि-व्यवस्था के प्रचार को भी समुचित प्रोत्साहन प्रदान किया जायगा। साथ ही, सहकारिता के प्रचार पर भी जोर देने की व्यवस्था है।[1]

(८) परिवार नियोजन (Family Planning) :—जनसंख्या की अत्यधिक वृद्धि को रोकने तथा जीवन-स्तर में सुधार के लिए बड़े पैमाने पर देश भर में परिवार नियोजन के कार्यों को कार्यान्वित करने की सुविधा प्रदान करना चतुर्थ योजना का एक प्रधान उद्देश्य है।

(९) सामाजिक न्याय एवं समानता की प्राप्ति (Achieving Social Justice and Equality) :—राज्य द्वारा उचित नियन्त्रण के अभाव में विकास के क्रम में आय तथा सम्पत्ति में हुई वृद्धि के कुछ ही हाथों में केन्द्रीयकरण की सम्भावना बढ़ जाती है। अतएव राज्य द्वारा इस प्रकार के वितरण की विषमता को दूर करने के लिए यथोचित कदम उठाना आवश्यक है। एकाधिकार पर नियन्त्रण, बैंकों के राष्ट्रीयकरण तथा राजकीय वित्तीय संस्थाओं द्वारा उचित नीति के अनुकरण से इस सम्बन्ध में बहुत अधिक सहायता प्राप्त हो सकती है। योजना में समाज के कमजोर वर्ग की आवश्यकताओं पर विशेष जोर देने की व्यवस्था है।

इन्हीं आधारभूत उद्देश्यों को ध्यान में रखकर चतुर्थ पंचवर्षीय योजना तैयार की गयी।

चतुर्थ पंचवर्षीय योजाना का कुल व्यय

(Total Outlay of the Fourth Five Year Plan)

चतुर्थ पंचवर्षीय योजना (१९६९-७४) में निजी तथा सार्वजनिक क्षेत्रों में कुल २४,८८२ करोड़ रुपये व्यय का आयोजन है। इसमें से सार्वजनिक क्षेत्र में पाँच वर्षों में १५,९०२ करोड़ रुपये तथा निजी क्षेत्र में ८९८० करोड़ रुपये का व्यय प्रस्तावित है। सार्वजनिक क्षेत्र में व्यय की जानेवाली कुल १५,९०२ करोड़ रुपये की रकम में से १३,६५५ करोड़ रुपये विनियोग तथा २,२४७ करोड़ रुपये प्रचलित व्यय (Current outlay) है। सार्वजनिक क्षेत्र में व्यय किये जाने वाले कुल १५९०२ करोड़ रुपये में से केन्द्र की योजनाओं पर ८०९६ करोड़ रुपये, केन्द्र द्वारा प्रारम्भ योजनाओं पर ७८१ करोड़ रुपये, केन्द्र शासित प्रदेशों की योजनाओं पर ४२५ करोड़ रुपये तथा राज्यों की योजनाओं पर ६६०६ करोड़

1. ' Co-operative organisation should embrace all activities from production, through credit, sale, supply, processing and storage to consumer stores and act as an integrated system so that they can fully discharge their social and economic responsibilities of attending to the needs of the weaker among their members."

रुपये का व्यय किया जायगा। सार्वजनिक क्षेत्र में व्यय की जाने वाली कुल १५,९०२ करोड़ रुपये की रकम का विभिन्न मदों में वितरण निम्नांकित तालिका से स्पष्ट है :—

चतुर्थ योजना में सार्वजनिक क्षेत्र में कुल व्यय[1]

मदें	तृतीय योजना		चतुर्थ योजना	
	वास्तविक व्यय	प्रतिशत	कुल व्यय	प्रतिशत
१. कृषि, सामुदायिक विकास तथा सहकारिता	१०८९·०	१२·७	२,७२८	१७·१
२. सिंचाई एवं बाढ़-नियन्त्रण	६६३·७	७ ७	१,०८७	६·८
३. बिजली	१२५२·३	१४·०	२,४४८	१५ ४
४. लघु उद्योग	२४०·८	२·०	२९३	१·८
५. संगठित उद्योग एवं खनिज	१७२६·३	२०·१	३,३३८	२१·०
६. यातायात एवं संवादवाहन	२१११·७	२४·६	३,२३७	२०·३
७. समाज सेवाएँ एवं विविध	१४६३·६	१८·६	२,७७१	१७·६
कुल	८,५७७·२	१००·०	१५,९०२	१००·०

इस प्रकार अंतिम रूप मे अब चतुर्थ पंचवर्षीय योजना में सार्वजनिक क्षेत्र में कुल १५,९०२ करोड़ रुपये व्यय का आयोजन है। इसके अतिरिक्त निजी क्षेत्र (Private sector) में ८९८० करोड़ रुपये का विनियोग प्रस्तावित है। इसका विभिन्न मदों में वितरण निम्न तालिका से स्पष्ट है :—

चतुर्थ योजना में निजी क्षेत्र मे विनियोग[2]

मदें	कुल व्यय	प्रतिशत वितरण
१. कृषि, सामुदायिक विकास तथा सहकारिता	१,६००	१७·८
२. विद्युत्	७५	०·८
३. लघु उद्योग	५६०	६·२
४. संगठित उद्योग एवं खनिज	२,०००	२२·३
५. यातायात एवं संवादवाहन	९,२०	१०·२
६. समाज सेवाएं एवं विविध	३,८२५	४२·७
कुल	८,९८०	१००·०

1. Fourth Five Year Plan १९६६ ई० में चतुर्थ योजना की जो रूप-रेखा तैयार की गयी थी उसके अनुसार सार्वजनिक क्षेत्र में १६,००० करोड़ रुपये तथा निजी क्षेत्र में ७,७२५ करोड़ रुपये व्यय का आयोजन था। बाद में जो नयी रूप-रेखा तैयार की गयी उसके अनुसार १९६९-७४ में चतुर्थ योजना में कुल २४,३९८ करोड़ रुपये व्यय की व्यवस्था की गयी जिसमें सार्वजनिक क्षेत्र में १४,३९८ तथा निजी क्षेत्र में १०,००० करोड़ रुपये का व्यय प्रस्तावित था। किन्तु अंतिम रूप से २४ ८८२ करोड़ रुपये का व्यय ही स्वीकृत हुआ।

2. Fourth Five Year Plan—P. 52

इस प्रकार स्पष्ट है कि चतुर्थ पंचवर्षीय योजना में तीसरी तथा पहले की अन्य योजनाओं की अपेक्षा बहुत अधिक रकम के व्यय का आयोजन है। वास्तव में इतनी अधिक मात्रा में रकम प्राप्त करना तथा उसे संतोषजनक तरीके से व्यय करना एक कठिन कार्य है। इसलिए बहुत सारे राजनीतिज्ञ तथा विचारक इस योजना के आकार को कम करने की सिफारिश कर रहे हैं। किन्तु भारत जैसे अर्द्ध-विकसित अर्थ व्यवस्था वाले राष्ट्र के आर्थिक विकास के लिए इतनी मात्रा में विनियोग कोई बहुत अधिक नहीं है। वास्तव में इतने आकार की चतुर्थ योजना ही देश के आर्थिक विकास के लिए पर्याप्त है।

चतुर्थ योजना में प्रस्तावित प्राथमिकता का क्रम
(Scheme of Priorities in the Fourth Plan)

चतुर्थ पंचवर्षीय योजना में सार्वजनिक क्षेत्र में व्यय की जानेवाली कुल रकम के विभिन्न मदों में वितरण से यह स्पष्ट है कि इस योजना में कृषि, विद्युत् तथा उद्योग-धन्धों पर तृतीय योजना की अपेक्षा अधिक, यातायात एवं संवादवाहन तथा कुटीर उद्योग पर अपेक्षाकृत कम तथा समाज सेवाओं पर बराबर जोर दिया गया है। कृषि पर तृतीय योजना में कुल व्यय का २०·४ प्रतिशत भाग खर्च हुआ जबकि चतुर्थ योजना में इस मद में प्राय: २८ प्रतिशत भाग व्यय का आयोजन है। इसी प्रकार शक्ति पर तृतीय योजना में १४ प्रतिशत व्यय की व्यवस्था थी जबकि चतुर्थ योजना में इस मद में १५·४ प्रतिशत व्यय का आयोजन है। उद्योग एवं खनिज की मद में भी तृतीय योजना में २० प्रतिशत व्यय किया गया जबकि चतुर्थ योजना से २१ प्रतिशत खर्च व्यय आयोजन है। समाज सेवाओं एवं विविध पर दोनों पंचवर्षीय योजनाओं पर कुल व्यय लगभग एक समान है। किन्तु यातायात एवं संवादवाहन पर कुल व्यय तृतीय योजना काल में २४·६ प्रतिशत था जबकि चतुर्थ योजना में इसे घटाकर २०·१ प्रतिशत कर दिया गया है। इसी प्रकार कुटीर एवं लघु उद्योगों में तृतीय योजना के कुल व्यय का २·८ प्रतिशत भाग खर्च हुआ जबकि चतुर्थ योजना में इस मद में केवल १·८ प्रतिशत व्यय का आयोजन है। किन्तु जहाँ तक व्यय की जाने वाली रकम का सम्बन्ध है। चतुर्थ योजना का आकार बड़ा होने के कारण तृतीय योजना की तुलना में इसमें प्राय: प्रत्येक मद में बहुत अधिक रकम व्यय करने की व्यवस्था है।

अब प्रश्न यह है कि मूल्य-तल में वृद्धि की वर्तमान परिस्थिति में चतुर्थ पंचवर्षीय योजना में २४,८८२ करोड़ रुपये का व्यय वांछनीय है। इस सम्बन्ध में यह देखना उचित होगा। कि यदि चतुर्थ योजना का आकार छोटा किया जाय तो इससे मुद्रा-स्फीति का दबाव कम किया जा सकता है अथवा नहीं। चतुर्थ योजना के आकार को छोटा करने का तात्पर्य होगा उद्योग तथा कृषि पर कम मात्रा में विनियोग और कृषि में कम मात्रा में विनियोग से खाद्यान्न के उत्पादन में वृद्धि नहीं की जा सकती। इससे खादयान्नों के मूल्य में वृद्धि की प्रवृत्ति को रोका नहीं जा सकता। वास्तव में, छोटी योजना के द्वारा मूल्य-तल में कमी को रोकने का केवल एक-मात्र उपाय लोगों के हाथ में अधिक क्रय-शक्ति जाने देने से रोकना है। किन्तु उद्देश्य से जो भी प्रयास किये जायँगे उनका समाज के निर्धन तथा मध्यम वर्ग के व्यक्तियों पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ेगा। धनी वर्ग के लोग इससे बहुत कम प्रभावित होंगे क्योंकि इनकी आर्थिक स्थिति पहले से ही सुदृढ़ होने के कारण वे पर्याप्त मात्रा में खाद्यान्न खरीद सकते हैं।

अब ध्यानपूर्वक विचार करने से यह स्पष्ट होगा कि खाद्यान्नों के मूल्य को कम करने के दो ही सम्भावित उपाय हैं—पहला अल्प तथा दीर्घकाल में खाद्यान्नों की पूर्ति में वृद्धि जिनके लिए बड़ी

योजना अनिवार्य होगी और दूसरा इनकी मांग को कम करना जो एक छोटी योजना समाज के एक बहुत बड़े भाग की मांग को कम करके पूरी कर सकती है। किन्तु भारत जैसे-जनतांत्रिक नियोजन वाले देश में इन दोनों में पहला तरीका ही श्रेयष्कर जान पड़ता है। वास्तव मे, इस सम्बन्ध में आवश्यकता इस बात की है कि चतुर्थ पंचवर्षीय योजना का आकार पर्याप्त मात्रा मे बड़ा हो तथा इसमें से एक बड़ी रकम जनसंख्या के नियोजन पर व्यय की जाय। सारांश यह है कि एक बड़ी योजना ही जनसंख्या के नियोजन के प्रभावोत्पादक तरीके के साथ-साथ कुल मांग एवं पूर्ति में सामंजस्य स्थापित कर अर्थ-व्यवस्था को स्थायित्व प्रदान कर सकती है। चतुर्थ योजना के प्रस्तावित आकार के द्वारा भी अर्थ-व्यवस्था में अनुमानतः ५·५ प्रतिशत वार्षिक दर से वृद्धि होगी जो स्वयं वांछित दर से बहुत कम है। यदि इतना भी नहीं हो सका तो आर्थिक व्यवस्था को स्वयं-संचालित विकास की स्थिति में ले जाने में भी कठिनाई होगी। अतएव चतुर्थ योजना के कुल व्यय के निर्धारण में योजना आयोग के समक्ष कोई विकल्प नहीं रह गया था।

चतुर्थ पंचवर्षीय योजना की विधि
(Strategy of the Fourth Plan)

तृतीय पंचवर्षीय योजना में कृषि के क्षेत्र में अपेक्षित प्रगति नहीं हो सकी जिससे योजना काल में भीषण खाद्य-संकट की स्थिति उत्पन्न हो गयी थी। अतएव चतुर्थ पंचवर्षीय योजना में सिचाई एवं कृषि के विकास पर पर्याप्त जोर दिया जा रहा है तथा इस मद में व्यय की रकम को उद्योग-धन्धों के समकक्ष करने का प्रयास किया गया है। चतुर्थ योजना के अनुसार सार्वजनिक क्षेत्र में योजनाकाल में संगठित उद्योगों एवं खनिज पर ३८३८ करोड़ रुपये तथा कृषि एवं सिंचाई पर ३६१५ करोड़ रुपये व्यय का आयोजन है। इससे स्पष्ट है कि चतुर्थ पंचवर्षीय योजना में कृषि पर बहुत अधिक जोर दिया जा रहा है। वास्तव में, पहली तीन पंचवर्षीय योजनाओं के अनुभव से यह स्पष्ट है कि कृषि के क्षेत्र में क्रान्ति अपूर्ण एवं अपर्याप्त रहा। अतएव वर्तमान परिस्थितियों को देखते ए यह अनिवार्य भी जान पड़ता है। इसके लिए कृषि के यन्त्रीकरण की आवश्यकता पर जोर दिया जा रहा है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि भारत में, जहां का कृषक समाज भी प्राचीन रूढ़ियों से ग्रस्त है कृषि के यन्त्रीकरण के मार्ग में बहुत अधिक कठिनाइयाँ होंगी किन्तु परिस्थिति ऐसी है कि इस क्षेत्र में शुरुआत करनी है। इसलिए चतुर्थ योजना में खाद, ट्रैक्टर, कीड़े-मकोड़ों को मारने की दवाओं आदि के उत्पादन को बढ़ाने पर पर्याप्त जोर दिया जा रहा है।

देश की अर्थ-व्यवस्था में स्थायित्व लाने के लिए आवश्यक उपभोक्ता पदार्थों के मूल्य में स्थायित्व भी अनिवार्य है और भारत में कुल घरेलू आवश्यकता का लगभग तीन-चौथाई भाग कृषि-पदार्थों द्वारा निर्मित वस्तुओं का ही होता है। इन पदार्थों की मांग में योजनाकाल में ४·५ प्रतिशत प्रति वर्ष वृद्धि की आशा की जाती है। अतएव इस बात को ध्यान में रखकर चतुर्थ योजना में कृषि-पदार्थों के उत्पादन में इससे कुछ अधिक, यानी ५ लगभग प्रतिशत प्रति वर्ष वृद्धि का आयोजन किया गया है।

चतुर्थ पंचवर्षीय योजना में कृषि के विकास की प्रस्तावित नीति को गहन-क्षेत्र-सम्बन्धी नीति (Intensive area approach) कहा जा सकता है। इसके अन्तर्गत देश के कुछ चुने हुए क्षेत्रों में कृषि-कार्य में गहन प्रयत्नों की व्यवस्था की जा रही है। पाकिस्तान द्वारा भारत पर १९६५ में आक्रमण तथा अमेरिका द्वारा P. L. 480 के अन्तर्गत गेहूँ देने में आनाकानी करने के परिणामस्वरूप कृषि के विकास पर अधिक जोर देना आवश्यक हो जाता है। इस सम्बन्ध मे

चतुर्थ योजना का प्रधान उद्देश्य १९७१ से P. L. 480 के अन्तर्गत कृषि-पदार्थों के आयात को बिलकुल समाप्त करना था। संतोष का विषय है कि योजना का यह उद्देश्य पूरा हो गया है तथा १९७२ ई० से खाद्यान्न के आयात को बिल्कुल समाप्त कर दिया गया है।

किन्तु चतुर्थ योजना में कृषि पर अधिक जोर देने का तात्पर्य यह नहीं है कि औद्योगीकरण की गति को धीमा बनाया जाय। वास्तव में, भारत-जैसे विकासोन्मुख अर्थ-व्यवस्था वाले देश में कृषि तथा उद्योग दोनों में साथ-साथ विकास की भी प्रबल आवश्यकता है। तीव्र गति से औद्योगीकरण के लिए कृषि के उत्पादन खाद्यान्न एवं कच्चे माल में तीव्र गति से वृद्धि अनिवार्य है और कृषि के उत्पादन में वृद्धि के लिए रासायनिक खाद, कीड़े-मकोड़ों को मारने की दवा तथा कृषि-सम्बन्धी यंत्रों के उत्पादन से सम्बन्धित उद्योगों का तीव्र विकास की अनिवार्य है। सारांश यह है कि तीव्र गति से आर्थिक विकास के लिए कृषि एवं उद्योग दोनों का संतुलित विकास अनिवार्य है। इसीलिए चतुर्थ पंचवर्षीय योजना में कृषि के साथ-साथ उद्योग-धन्धों के विकास पर भी पर्याप्त जोर दिया जा रहा है, और सुरक्षा-सम्बन्धी प्रयत्नों में वृद्धि के साथ-साथ कृषि एवं उद्योग दोनों पर समान रूप से अधिक जोर देने के कारण चतुर्थ पंचवर्षीय योजना के आकार को बड़ा रखा गया है। आयोग ने इस सम्बन्ध में ठीक ही कहा है कि "Therefore, in the Fourth Five Year Plan, simultaneously with the adoption of the intensive area approach in agriculture the industrial programmes are to be reoriented in such a way that the production of essential inputs like fertilizers, insecticides and farm equipments is substantially augmented."

चतुर्थ पंचवर्षीय योजना के लक्ष्य

(Physical Targets of the Fourth Five Year Plan)

चतुर्थ पंचवर्षीय योजना के लक्ष्यों का निर्धारण योजना के विभिन्न उद्देश्यों को ध्यान में रखते हुए किया गया है। निम्नांकित तालिका से योजना के कुछ प्रमुख लक्ष्यों का अन्दाजा लगता है :—

मदें	१९६०-६१	१९६५-६६	१९६८-६९	१९७३-७४ लक्ष्य	१९७३-७४[1] (संभावित उपलब्धि)
खाद्यान्न (लाख टन में)	८२०	७२०	९८०	१२९०	१२३०
गन्ना (लाख टन गुड़)	११२	१२१	१२०	१५०	१३५
कपास (लाख गाँठ)	५३	४८	६०	८०	६२
जूट (,, ,,)	४१	४५	६२	७४	६०
प्राथमिक सहकारी समितियों द्वारा ऋण (करोड़ में)	२०२	३४२	४५०	७५०	६५०
कृषि-साख समितियों की सदस्यता (लाख में)	१७०	२६०	३००	४२०	....
सिंचाई-वृहत् एवं मध्यम (लाख हेक्टर)	१३१	१५२	१६९	२०८	....

1. Fourth Five Year Plan : Mid-Term Appraisal, 1972.

मदें	१९६०-६१	१९६५-६६	१९६८-६९	१९७३-७४ लक्ष्य	१९७३-७४ (संभावित उपलब्धि)
लघु सिंचाई ,,	१४८	१७०	१९०	२२२	....
तैयार इस्पात (लाख टन में)	२३·९	४५·१	४७	८१	६२
सीमेंट (लाख टन में)	८०	१०८	१२२	१८०	१८०
सल्फ्युरिक ऐसिड (हजार टन में)	३६८	६६२	१०३८	२५००	१७५०
कागज तथा दफ्ती (हजार टन में)	३५०	५५८	६४७	८५०	८५०
मिल के बने वस्त्र (करोड़ मीटर में)	४६४·९	४४०·१	४५१·७	५१०·०	४५०·०
खनिज लोहा (लाख टन में)	११०	२४५	२८१	५१४	४००
कोयला (लाख टन में)	५५७	६९७	६६५	९३५	....
शक्ति संस्थापित क्षमता (लाख कि०)	५६·५	१०२	१४३	२३२	२११·५
पक्की सड़कें (हजार कि० मी०)	२३६	२८७	३२५	५८५	....
रेल्वे द्वारा ढोये गये माल (लाख टन में)	१५६०	२०३०	२०४०	२६५०	२४००

राष्ट्रीय आय (National Income) :—चतुर्थ योजना में सम्मिलित कार्यक्रमों के आधार पर यह आशा की जाती है कि योजना काल में राष्ट्रीय आय में ५·५ प्रतिशत की दर से वार्षिक वृद्धि होगी। १९६८-६९ ई० के मूल्य-तल के आधार पर राष्ट्रीय आय के १९६८-६९ में २८,८०० करोड़ रुपये से बढ़कर १९७३-७४ में ३७,९०० करोड़ रुपये होने का अनुमान किया जाता है। आयोग के अनुसार योजनाकाल में जनसंख्या में २·५ प्रतिशत की वृद्धि के आधार पर प्रति व्यक्ति आय में ३ प्रतिशत वार्षिक वृद्धि का अनुमान किया जाता है। इस प्रकार प्रति-व्यक्ति आय १९६८-६९ में ५४६ रुपये से बढ़कर ६३६ रु० हो जायगी। राष्ट्रीय आय में योजनाकाल में विभिन्न क्षेत्रों का योगदान इस प्रकार से होगा :—

शुद्ध राष्ट्रीय उत्पत्ति का अनुमान (१९६८-६९ तथा १९७३-७४ में)

(१९६८-६९ के मूल्य-तल पर करोड़ रुपये में)

मदें	१९६८-६९	१९७३-७४
कृषि एवं तत्सम्बन्धी उद्योग	१४,८६४	१८,५५०
खनिज, निर्माण एवं लघु उद्योग	५,४९७	८,०५८
वाणिज्य, यातायात एवं संचार	४,४१४	६,१४२
अन्य	४,०२५	५,१५०
शुद्ध उत्पत्ति	२८,८००	३७,९००

राष्ट्रीय उत्पत्ति तथा आय में वृद्धि के इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए आंतरिक बचत की दर को १९६८-६९ में ९ प्रतिशत से बढ़ाकर १९७३-७४ में १३·६ प्रतिशत तथा विनियोग की दर को ११·३ प्रतिशत से बढ़ाकर १४·५ प्रतिशत करने का आयोजन है। खाद्यान्न के आयात को १९७०-७१ तक बिल्कुल समाप्त करने का आयोजन था। साथ ही, गैर-खाद्य-पदार्थों के आयात की वृद्धि को ५ प्रतिशत प्रतिवर्ष तक सीमित करने की व्यवस्था है तथा निर्यात में ७ प्रतिशत वार्षिक वृद्धि का आयोजन है। इससे विदेशी विनिमय-सम्बन्धी कठिनाइयों के धीरे-धीरे दूर होने की आशा की जाती है।

राष्ट्रीय आय से सम्बन्धित चतुर्थ योजना के प्रमुख तथ्यों को निम्नांकित तालिका से स्पष्ट किया जा सकता है :—

मदें इकाई	१९६८-६९	१९७३-७४
राष्ट्रीय आय (१९६८-६९ के मूल्य-तल पर करोड़ में)	२८,८००	३७,९००
जनसंख्या (अक्टूबर १ को करोड़ में)	५२·७	५९·७
प्रति-व्यक्ति आय (रु० में)	५४६	६३६
आंतरिक बचत राष्ट्रीय आय के प्रतिशत में	९	१३·२
शुद्ध विनियोग राष्ट्रीय आय के प्रतिशत में	११·३	१४·५
प्रति-व्यक्ति निजी उपभोग	४९४	५५९

चतुर्थ पंचवर्षीय योजना में कृषि
(Agriculture in the Fourth Five Year Plan)

चतुर्थ पंचवर्षीय योजना में कृषि पर विशेष रूप से जोर दिया गया है। वास्तव में, कृषि-पदार्थों, विशेषतः खाद्यान्नों के उत्पादन में वृद्धि आत्म-निर्भरता तथा मूल्य-स्थायित्व दोनों उद्देश्यों की पूर्ति के लिए आवश्यक है। योजना आयोग के अनुसार अर्थ-व्यवस्था में कृषि की निर्णायक स्थिति तथा तृतीय योजना में कृषि-सम्बन्धी कार्यक्रमों की सफलता को ध्यान में रखते हुए चतुर्थ पंचवर्षीय योजना में कृषि को सर्वोच्च प्राथमिकता दी जा रही है। (In view of the critical importance of agriculture and the recent experience of shortfall, agricultural programmes as well as the production and supply of various inputs of agriculture will be given the highest priority in the Fourth Plan.) देश के आर्थिक विकास को स्थायित्व प्रदान करने के लिए उपभोक्ता वस्तुओं के मूल्य में स्थायित्व आवश्यक है, और भारत में कुल घरेलू व्यय का ६० प्रतिशत तथा वस्तु के उपभोग का ८५ प्रतिशत भाग कृषि-पदार्थों तथा इन्हीं पर आधारित निर्मित पदार्थों का रहता है। अतः मूल्य-तल में स्थिरता की स्थिति से आय में आयोजित वृद्धि मुख्यतः कृषि के उत्पादन में वृद्धि पर ही आधारित है। National Sample Survey के अनुसार खाद्य-पदार्थों की मांग की लोच ०·८ है। इस लोच तथा जनसंख्या में अनुमानित वृद्धि को ध्यान में रखते हुए ऐसी आशा की जाती है कि कृषि-पदार्थों की मांग में योजना काल में ४·५ प्रतिशत प्रति वर्ष की दर से वृद्धि होगी। खाद्यान्नों के आयात को दूर करने के लिए इसमें और अधिक दर से, वृद्धि (लगभग ५ प्रतिशत वार्षिक) की आवश्यकता पड़ेगी। कृषि-पदार्थों के उत्पादन में दर से यानी ५ प्रतिशत वार्षिक वृद्धि का लक्ष्य विभिन्न परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुए उचित जान पड़ता है। किन्तु आयोग के अनुसार इस सम्बन्ध में दो बातों पर सदा ध्यान देना आवश्यक है। प्रथमतः, (क) मौसम की अनियमितता के कारण फसलों के उत्पादन में परिवर्तन, तथा (ख) दाल, तेलहन एवं रेशेदार फसलों के उत्पादन का

आवश्यकता से कम होना। इनमें से पहले के लिए सरकार द्वारा पर्याप्त मात्रा में धक्का प्रतिरोधक कोष (buffer stock) रख कर खाद्यान्नों के मूल्य को स्थायी बनाने के लिए हस्तक्षेप आवश्यक है तथा दूसरे के लिए उत्पादन क्षेत्र अथवा कृत्रिम पदार्थों के उत्पादन के द्वारा समायोजन आवश्यक है।

योजना काल में सार्वजनिक क्षेत्र में कृषि, सामुदायिक विकास, सहकारिता तथा सिंचाई की मद में कुल ३८१४·८ करोड़ रुपये व्यय का आयोजन है जो योजना के कुल व्यय का प्रायः २३ ६ प्रतिशत भाग है। तृतीय योजनाकाल में इस मद में व्यय १७५३ करोड़ रुपये था। अतः तृतीय योजना की अपेक्षा कृषि एवं सिंचाई पर चतुर्थ योजना में लगभग दुगुनी रकम व्यय का आयोजन है। निम्नांकित तालिका से कृषि-सम्बन्धी विभिन्न कार्यक्रमों पर प्रस्तावित व्यय का अन्दाजा लगता है—

कृषि पर व्यय (करोड़ रुपये में)

कार्यक्रम	तृतीय योजना में व्यय	१९६६-६९ में व्यय	चतुर्थ योजना में व्यय
१. कृषि-उत्पादन	२०३	२५२	५०५
२. लघु सिंचाई	२७०	३१४	५१६
३. भूमि-संरक्षण	७७	८८	१५९
४. क्षेत्रीय विकास	२	१३	३८
५. पशु-पालन एवं दुग्धपूर्ति	७७	७१	२३३
६. मत्स्य पालन	२३	३७	९३
७. वन	४६	४४	९२
८. गोदाम, विक्रय तथा संचय	२७	१५	९४
९. खाद्य, प्रोसेसिंग तथा सहायक खाद्यान्न	....		१९
१०. कृषि-क्षेत्र की वित्तीय संस्थाओं को केन्द्रीय सरकार द्वारा सहायता	....	४०	३२४
११. कृषि-पदार्थों का स्टॉक	...	१४०	२५५
१२. सहाकारिता	७६	६४	१७९
१३. सामुदायिक विकास एवं पंचायत	२८८	९९	११६
१४. वृहत् एवं मध्यम सिंचाई तथा बाढ़-नियन्त्रण	६६५	४५७	१०८७
१५. लघु किसान तथा कृषि श्रम	......		११५
कुल	१७५३	१६२३	३८१५

कृषि के क्षेत्र में चतुर्थ योजना के दो प्रमुख उद्देश्य हैं। प्रथमतः, अगले दस वर्षों में ५ प्रतिशत कृषि-उत्पादन में निरन्तर वृद्धि के लिए वातावरण तैयार करना और द्वितीयतः, ग्रामीण जनसंख्या के अधिकाधिक भाग को विकास के कार्यक्रम में भाग लेने के लिए प्रोत्साहित करना। अतएव योजना में कृषि-सम्बन्धी कार्यक्रमों का प्रधान उद्देश्य दो प्रकार के उपायों से कृषि की उत्पादकता में वृद्धि तथा असन्तुलन की समाप्ति के द्वारा कृषि-उत्पादन में वृद्धि करना है।

चतुर्थ योजना के लक्ष्य की पूर्ति से कृषि के उत्पादन में वार्षिक ५.५६ प्रतिशत (Compound) की दर से वृद्धि होगी। इसमें खाद्यान्नों के उत्पादन ५.९२ प्रतिशत तथा गैर-खाद्यान्नों के उत्पादन में ५.०१ प्रतिशत की वृद्धि होगी।

चतुर्थ पंचवर्षीय योजना में कृषि की विभिन्न फसलों के उत्पादन में वृद्धि के लिए निम्नांकित लक्ष्य निर्धारित किये गये हैं :—

कृषि-पदार्थों के उत्पादन का लक्ष्य

कृषि-पदार्थ	१९६०-६१	१९६५-६६	१९६८-६९	१९७३-७४	१९७३-७४ (मर्यादित उत्पादन)
१. खाद्यान्न (लाख टन में)	८२०	७२०	९८०	१२९०	१२३०
२. गन्ना (गुड़) ,, ,,	११२	१२१	१२०	१५०	१३५
३. तिलहन ,, ,,	७०	६३	८५	१०५	९८
४. कपास (लाख गाँठ में)	५३	४८	६०	८०	६२
५. जूट	४१	४५	६२	७४	६०
६. तम्बाकू (हजार टन में)	३०७	२९८	३८०	४५०	....

भूमि-सुधार (Land Reforms) :—प्रारम्भ से ही योजना आयोग द्वारा भूमि-सुधार पर अत्यधिक महत्त्व दिया जा रहा है। आयोग के भूमि-सुधार सम्बन्धी कार्यक्रमों का प्रधान उद्देश्य 'भूमि उसके जोतने वाले की हो' (Land to the tillers of the soil.) है। किन्तु पिछले १८ वर्षों में इस क्षेत्र में बहुत कम प्रगति हो पायी है। आयोग ने चतुर्थ योजना में भी इस बात पर जोर दिया है कि कृषि की उपज मे वृद्धि के लिए भूमि-सुधार बिल्कुल अनिवार्य है। इस उद्देश्य से जोतने वालों को भूमि की सुरक्षा प्रदान करने (Securiy of tenures) के लिए कई राज्यों में नियम बनाये गये हैं। जिन राज्यो में इस सम्बन्ध में अब तक नियम नहीं बनाये गये हैं, उनमें भी नियम बनाने पर चतुर्थ योजना काल में जोर देने की व्यवस्था की गयी है। योजना काल में भूमि के अधिकार के सम्बन्ध में अधिकार का लेखा (Record of rights) तैयार करने तथा सर्वे सेटलमेंट की व्यवस्था है जिसके लिए राज्य की योजनाओं में १०.७ करोड़ रुपये व्यय का आयोजन है। भूमि की अधिकतम सीमा-निर्धारण के कार्यक्रम को भी पूरा करने के सम्बन्ध में सुझाव दिये गये हैं। बेकार भूमि के उद्धार पर भी जोर दिया गया है। इस कार्य के लिए योजनाकाल में ४५ करोड़ रुपये व्यय की व्यवस्था है। चतुर्थ योजना में ९४ लाख हेक्टर भूमि में चकबन्दी का आयोजन है। इस कार्य के लिए २८.४ करोड़ रुपये व्यय की व्यवस्था है।

चतुर्थ योजना में सिंचाई (Irrigation in the Fourth Five Year Plan) :—चतुर्थ पंचवर्षीय योजना में कृषि के क्षेत्र में गहन कार्यक्रमों को प्रधानता दी जा रही है। इस योजना में सिंचाई के सम्बन्ध में पुनर्विचार करने पर जोर दिया गया है। देश की नदियों में कुल मिलाकर १६८ मिलियन हेक्टर-मीटर जल बहता है जिसमें से केवल ५६ मिलियन हेक्टर-मीटर का प्रयोग सिंचाई के लिए किया जा सकता है। १९५१ ई० तक केवल ९.५ मिलियन हेक्टर-मीटर, अथवा कुल प्रयोग किये जाने योग्य जल का १७ प्रतिशत भाग प्रयुक्त किया जाता था। तृतीय योजना के अन्त तक में बढ़कर १८.५ मिलियन हेक्टर-मीटर अथवा कुल प्रयोग किये जाने योग्य जल का प्रायः ३३ प्रतिशत भाग हो गया। १९६६-६९ के बीच २ मिलियन हेक्टर-मीटर अतिरिक्त जल का इस कार्य के लिए प्रयोग किया जाने लगा। चतुर्थ योजना में ५ मिलियन हेक्टर-मीटर और जल का सिंचाई के लिए प्रयोग करने का आयोजन है जिससे कुल २५.५

मिलियन हेक्टर-मीटर यानी कुल प्रयोग किये जाने योग्य जल का ४६ प्रतिशत भाग सिंचाई के लिए प्रयोग किया जाने लगेगा।

तीनों पंचवर्षीय योजनाओं में सिंचाई की क्षमता में बहुत अधिक वृद्धि हुई, किन्तु इसका पूर्ण रूप से उपयोग नहीं किया जा सका। चतुर्थ पंचवर्षीय योजना में सिंचाई के क्षेत्र में अतिरिक्त-क्षमता के सृजन तथा उपयोग के बीच अन्तर को कम करने का प्रयास किया जायगा। दूसरे शब्दों में, इस योजना में सिंचाई के क्षेत्र में अबतक जो कार्य किये गये हैं उन्हें सुदृढ़ बनाने का प्रयास किया जायगा। तृतीय योजनाकाल में सिंचाई की मद में ५८३ करोड़ रुपये तथा बाढ़-नियन्त्रण की मद में ८२ करोड़ रुपये व्यय तथा तीन एक-वर्षीय योजनाओं (१९६६-६९) में सिंचाई पर ४१४ करोड़ रुपये तथा बाढ़-नियन्त्रण पर ४३ करोड़ रुपये व्यय किया गया था। चतुर्थ योजनाकाल में, सिंचाई की मद में ९६५ करोड़ रुपये तथा बाढ़-नियन्त्रण पर १२९ करोड़ रुपये व्यय का आयोजन है। इससे चतुर्थ योजना में कुल ५० लाख हेक्टर भूमि की सिंचाई की अतिरिक्त क्षमता का सृजन होगा जिसमें से ३२ लाख हेक्टर का वास्तव में प्रयोग किया जायगा।

चतुर्थ पंचवर्षीय योजना में विद्युत् का विकास (Development of Power in the Fourth Plan) :—चतुर्थ पंचवर्षीय योजना में विद्युत् के विकास पर भी पर्याप्त जोर दिया गया है। तृतीय योजना के अन्त में विद्युत् की संस्थापित क्षमता १९६५-६६ ई० में १०२ लाख किलोवाट थी जो बढ़कर १९६८-६९ ई० में अनुमानतः १४३ लाख किलोवाट हो गयी। चतुर्थ योजना के अन्त में इसे बढ़ाकर १९७३-७४ ई० तक २३२ लाख किलोवाट करने का आयोजन है। निम्नांकित तालिका से १९६८-६९ ई० के बीच देश में विद्युत् की उत्पादन-क्षमता में वृद्धि का अन्दाजा लगता है :—

विद्युत-उत्पादन का विकास

वर्ष	संस्थापित क्षमता (लाख कि० वा० में)	प्रति-व्यक्ति उपयोग (इकाई में)
१९६०-६१	५६५	३८०
१९६५-६६	१०१.७	६१.४
१९६८ ६९	१४३.०	७७.३
१९७३-७४ (आयोजित)	२३२.०	......

१९७०-७१ में विद्युत् की उत्पादन क्षमता १६५ लाख कि० वा० हो गयी थी। योजना के अन्त तक कुल १ १०,००० गाँवों में बिजली को सुविधा प्रदान की जायगी। चतुर्थ योजनाकाल में इस मद में कुल २४४७.६ करोड़ रुपये व्यय का आयोजन है जबकि तृतीय योजना में इस मद में वास्तविक व्यय १२५२.३ करोड़ रुपये तथा तीन एकवर्षीय योजनाओं (१९६६-६९) में ११८२.२ करोड़ रुपये था।

चतुर्थ योजना में उद्योग

(Industries in the Fourth Five Year Plan)

तृतीय योजना से प्रारम्भ होने वाले आठ वर्षों औद्योगिक विकास बड़ा ही अनिश्चित ढंग से हुआ। तृतीय योजना के प्रथम चार वर्षों में औद्योगिक निवेश तथा विकास के लिए परिस्थितियाँ अपेक्षाकृत अनुकूल थीं, अतः विकास पर्याप्त मात्रा में हुआ। इसके बाद आने वाले तीन वर्षों की अवधि के अर्थ व्यवस्था के लिए उपयुक्त नहीं होने के कारण औदयोगिक विकास की दर में भी कमी ई, पहले धीरे-धीरे बाद में तीव्र गति से। १९६०-६१ को आधार मानने पर औद्योगिक उत्पादन में १९६१-६२ ई० में ८.२ प्रतिशत, १९६२-६३ ई० में ९.६ प्रतिशत,

१९६३-६४ में ६ ६ प्रतिशत तथा १९६३-६४ ई० में ८·३ प्रतिशत की वृद्धि हुई। इसके बाद औद्योगिक विकास की दर अत्यधिक मन्द हो गयी। १९६५-६६ ई० में यह ४.३ प्रतिशत, १९६६-६७ ई० में १·७ प्रतिशत तथा १९६७-६८ में ०·३ प्रतिशत हो गयी। किन्तु १९६८-६९ ई० में पुन: औद्योगिक उत्पादन में ६ २ प्रतिशत वृद्धि की आशा की जाती है।

औद्योगिक उत्पादन में यह कमी १९६५ ई० में पाकिस्तानी आक्रमण तथा इसके बाद के दो वर्षों में लगातार सूखे का परिणाम थी। इसका देश के सामान्य विकास की दर पर बड़ा ही प्रतिकूल प्रभाव पड़ा। चतुर्थ पंचवर्षीय योजना में उद्योग एवं खनिज को भी महत्त्वपूर्ण स्थान दिया गया था। चतुर्थ पंचवर्षीय योजाना में औद्योगिक विकास-सम्बन्धी कार्यक्रम का प्रधान उद्देश्य देश के औद्योगिक ढाँचे के असंतुलन को दूर करना ऐसी परिस्थितियों का सृजन करना हैं जिसमें उद्योगों की वर्तमान क्षमता का पूर्ण रूप से प्रयोग किया जा सकता है। साथ ही, भुगतान संतुलन पर अत्यधिक जोर दिये बगैर देश में औद्योगिक उत्पादन तथा क्षमता में यथासम्भव वृद्धि के लिए परिस्थितियों का निर्माण भी अनिवार्य है। इनके साथ ही, देश में बेरोजगारी की समस्या के समाधान के लिए उद्योगों के क्षेत्र में रोजगार के अधिकाधिक अवसरों का निर्माण भी आवश्यक है। इन सभी बातों को ध्यान में रखते हुए चतुर्थ योजना के औद्योगिक विकास-सम्बन्धी कार्यक्रम तैयार किये गये हैं। इस सम्बन्ध में सबसे बड़ी आवश्यकता तीव्रगति से आत्मनिर्भरता प्राप्त करने की है। आत्मनिर्भरता प्राप्त करने के लिए कृषि से सम्बन्धित उद्योगों का तीव्र गति से विकास आवश्यक है। अतः इस उद्देश्य से धातु, पेट्रोलियम तथा रसायन उद्योगों के विकास पर पर्याप्त मात्रा जोर देना आवश्यक है। इन उद्योगों में और अधिक विनियोग के साथ ही इनकी वर्तमान क्षमता का पूर्ण उपयोग अनिवार्य है।

द्वितीयत:, क्षेत्रीय असंतुलन को दूर करने के लिए उद्योग-धन्धों का भिन्न-भिन्न क्षेत्रों में dispersion है। वास्तव में, देश के भिन्न-भिन्न गैर-कृषि क्षेत्रों में रोजगार प्रदान करने के लिए उद्योग-धन्धों का dispersion आवश्यक है। इस प्रकार की नीति संतुलित विकास तथा तात्कालिक दृष्टिकोण से भी सम्पूर्ण समाज के लिए लाभदायक सिद्ध होगी।

तृतीयत:, पूँजी-प्रधान उद्योगों के विस्तार के परिणामस्वरूप परम्परागत उद्योगों में श्रमिकों में तकनीकी बेरोजगारी की सम्भावनाओं को दूर करना भी अनिवार्य है। ऐसा इसलिए आवश्यक हो जाता है कि देश की वर्तमान परिस्थितियों में अन्य मदों में रोजगार प्रदान करना बड़ा ही कठिन हो गया है। किन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं है कि औद्योगिक विकास में आधुनिक तकनीक का प्रयोग नहीं किया जायगा। इसका तात्पर्य केवल यही है कि इस प्रकार का कोई भी कदम उठाने में पर्याप्त मात्रा में सावधानी से काम लेना अनिवार्य है।

चतुर्थ:, योजनाकाल में भी देश का औद्योगिक विकास १९५६ ई० की औद्योगिक नीति के ढाँचे में ही होगा। इस नीति में सार्वजनिक, निजी तथा सहकारी क्षेत्रों में उद्योगों के विकास के लिए पर्याप्त मात्रा में सोच-समझकर नीति का अनुकरण किया गया है। सार्वजनिक क्षेत्र के अन्तर्गत केवल उन्हीं उद्योगों को रखा गया है जो देश के औद्योगिक ढाँचे की कमी को पूरा करने के लिए आवश्यक हैं। ऐसे क्षेत्र, जिसमें निजी अथवा सहकारी क्षेत्र के अन्तर्गत उचित विकास की आशा की जाती है, को सार्वजनिक क्षेत्र के अन्तर्गत नहीं रखा गया है। साथ ही सरकार ने औद्योगिक विकास की आवश्यकताओं को ध्यान में रखते हुए एक नयी औद्योगिक लाईसेंसिग नीति की घोषणा की है।

चतुर्थ पंचवर्षीय योजना में संगठित उद्योग एवं खनिज के विकास पर कुल ३३३८ करोड़ रुपये व्यय का आयोजन है जबकि तृतीय योजना में इस मद में वास्तविक व्यय १७२६ करोड़

रुपये था। इसके अतिरिक्त इस मद में निजी तथा सहकारी क्षेत्र में योजनाकाल में २२०० करोड़ रुपये विनियोग का आयोजन है। सार्वजनिक क्षेत्र में व्यय की जानेवाली कुल ३३३८ करोड़ रुपये की राशि में से ३१५१ करोड़ रुपये केन्द्रीय क्षेत्र में तथा १८७ करोड़ रुपये राज्य क्षेत्र में व्यय किया जायगा।

योजनाकाल में सार्वजनिक क्षेत्र में केन्द्रीय सरकार द्वारा उद्योग-धन्धों की मद में ३१५१ करोड़ रुपये व्यय का आयोजन है। इसमें से धात्विक उद्योगों पर ९८६ करोड़ रुपये, इस्पात तथा इंजीनियरिंग उद्योग पर ११२१ करोड़ रुपये, उर्वरक तथा कीड़े-मकोड़े मारने की दवाओं के उद्योग पर ४८४ करोड़ रुपये, माध्यमिक उद्योगों में १८५ करोड़ रुपये, उपभोक्ता उद्योगों पर ३७ करोड़ रुपये तथा अन्य उद्योगों पर २८७ करोड़ रुपये व्यय का आयोजन है। इनके अतिरिक्त खनिज उद्योगों के विकास पर ७१७ करोड़ रुपये तथा अणुशक्ति के विकास पर प्रायः ६१ करोड़ रुपये का व्यय प्रस्तावित है।

नीचे की तालिका से चतुर्थ योजना काल में कुछ प्रमुख उद्योगों के उत्पादन का लक्ष्य स्पष्ट हो जाता है :—

उद्योग	१९६०-६१ में उत्पादन	१९६५-६६ में उत्पादन	१९६८-६९ में उत्पादन	१९७३-७४ में लक्ष्य
तैयार इस्पात (लाख टन)	२३·९	४५	४७	८१
अल्मुनियम (हजार टन)	१८·३	६२·१	१२५·०	२२०·०
नत्रजनक खाद ('')	१०१·०	२३२·०	५४१	२५००·०
फासफेरिक खाद (,,)	५३·०	१२३·०	२१०·०	९००·०
सल्फ्यूरिक एसिड (,,)	३६८·०	६६२·०	१०३८·०	२५००·०
अखबारी कागज (,,)	२३·०	३०·०	३०·०	१५०·०
कोयला (लाख टन)	५५६·७	६६७·३	६९५·०	९३५·०
खनिज लोहा (,,)	११०·०	२४४·६	२८१·०	५१४·०
अशोधित पेट्रोल (,,)	४·१	३०·२	६०·६	८५·०

इस प्रकार योजनाकाल में लोहा, इस्पात, कोयला, औद्योगिक यन्त्र, पेट्रोलियम साफ करने के उद्योग, खाद एवं उर्वरक, कीड़े-मकोड़े मारने की दवा आदि के विकास पर पर्याप्त रूप से जोर दिया गया है। दुर्गापुर, भिलाई तथा राउरकेला के कारखानों की क्षमता में विस्तार के साथ-साथ बोकारो के कारखाने की क्षमता को बढ़ाकर ४० लाख टन किया जायगा। साथ ही, दक्षिणी भारत में इस्पात के तीन नये कारखानें की स्थापना भी की जायगी। अलमुनियम के उत्पादन को बढ़ाने पर पूरा जोर दिया जायगा तथा राखा, दरिबो तथा अग्नीगुन्दला में ताँबे की नयी खानों से ताम्बा प्राप्त करने का भी आयोजन है। बिजली के भारी यन्त्रों के उत्पादन के कारखानों के विस्तार का भी आयोजन है। योजनाकाल में दुर्गापुर, कोटा, गोआ, कोचीन, मद्रास कानपुर, काठगोदाम तथा हलदिया में खाद के नये कारखानों की स्थापना का आयोजन है।

चतुर्थ पंचवर्षीय योजनाकाल में सार्वजनिक क्षेत्र में उपभोक्ता वस्तुओं के उद्योगों की स्थापना का कार्य भी पहले-पहल किया जायगा। इस उद्देश्य से योजनाकाल में ३७ करोड़ रुपये व्यय का आयोजन है। खनिज-पदार्थों के अन्तर्गत लोहा, कोयला तथा ताँबे के उत्पादन को बढ़ाने पर भी विशेष रूप से जोर दिया जायगा। इस मद में योजनाकाल में २२७ करोड़ रुपये व्यय का आयोजन है। आशा है कि १९७३-७४ ई० तक ८५ लाख टन अशोधित तेल (Crude oil) का उत्पादन होने लगेगा।

चतुर्थ योजना में औद्योगिक उत्पादन में ८ से १० प्रतिशत वार्षिक वृद्धि का आयोजन है। इसमें से १९६९-७० में औद्योगिक उत्पादन के ६·९ प्रतिशत तथा १९७०-७१ में ३·६ प्रतिशत वृद्धि हुई।[1]

कुटीर एवं लघु उद्योगों (Cottage and Small Scale Industries) के विकास पर भी चतुर्थ योजनाकाल में पर्याप्त जोर दिया गया है। इस मद में योजनाकाल में सार्वजनिक क्षेत्र में २९३ करोड़ रुपये व्यय का आयोजन है। इसके अतिरिक्त निजी क्षेत्र में इस मद में ५६० करोड़ रुपये विनियोग की आशा की जाती है। विकेन्द्रित क्षेत्र के सभी प्रकार के कपड़े के उत्पादन को १९६८-६९ ई० में ३४० करोड़ मीटर से बढ़ाकर १९७३-७४ में ४२५ करोड़ मीटर करने की व्यवस्था है।

चतुर्थ योजना में यातायात एवं संवादवाहन
(Transport and Communication in the Fourth Plan)

आर्थिक विकास की किसी भी योजना में यातायात एवं संवादवाहन पर अधिकाधिक मात्रा में जोर देना अनिवार्य हो जाता है। चतुर्थ पंचवर्षीय योजना में भी यातायात एवं संवाद-वाहन के विकास पर पर्याप्त जोर दिया गया है। योजना काल में इस मद में सार्वजनिक क्षेत्र में कुल ३२४५ करोड़ रुपये व्यय का आयोजन है।

चतुर्थ योजनाकाल में रेलवे के विकास पर पर्याप्त जोर दिया गया है। रेलों के भार ढोने की क्षमता १९६८-६९ में २०·३ करोड़ टन थी जिसके बढ़कर १९७३-७४ में २८·० से २९·० करोड़ टन होने की आशा है। इसमें से रेलों की क्षमता उस समय तक २६·५ करोड़ टन होने की आशा है। शेष भार की पूर्ति वर्तमान साधनों के गहन प्रयोग के द्वारा होने की आशा की जाती है। रेलों के विकास पर योजनाकाल में १०५० करोड़ रुपये व्यय का आयोजन है। इसके अतिरिक्त रेलवे अपकर्ष कोष में से ५२५ करोड़ रुपये व्यय का आयोजन है। योजनाकाल में रेलों द्वारा १२५९ ईंजन, १ लाख से अधिक माल डब्बे तथा ६४१८ यात्री डब्बे खरीदने का आयोजन है। योजनाकाल में डिजल से १९६८-६९ में १९,२०० किलो मीटर गाड़ियाँ चलती थीं, इन्हें बढ़ाकर १९७३-७४ तक २२ हजार किलोमीटर करने का आयोजन है। इसी प्रकार वर्तमान समय में २९०० किलोमीटर का विद्युतीकरण किया गया है। इसे बढ़ाकर १९७३-७४ तक ४६०० कीलोमीटर करने का आयोजन है। योजनाकाल में आधारभूत एवं मुख्य उद्योगों की पूर्ति के लिए थोड़ी नयी लाइनों का भी निर्माण किया जायगा।

योजनाकाल में सड़कों के विकास की मद में ८७६ करोड़ रुपये, जहाजरानी के विकास पर १३१ करोड़ रुपये तथा नागरिक उड्डयन के विकास पर २०३ करोड़ रुपये व्यय का आयोजन है।

इस प्रकार उपरोक्त विवरण से यह स्पष्ट है कि चतुर्थ पंचवर्षीय योजना में यातायात एवं संवादवाहन के विकास पर पर्याप्त जोर दिया जा रहा है।

1. Fourth Five Year Plan : Mid-Term Appraisal. 1972

शिक्षा तथा सामाजिक सेवाएं (Education and Social Services) :—चतुर्थ पंचवर्षीय योजना में सामाजिक सेवाओं की मद में ३२८० करोड़ रुपये व्यय का आयोजन है। इसका विभिन्न मदों में वितरण निम्नांकित तालिका से स्पष्ट है :—

मदें	व्यय (करोड़ रुपये में)
शिक्षा	८२२·६ करोड़ रुपये
वैज्ञानिक अनुसंधान	१४०·३ ,, ,,
स्वास्थ्य	४३५·० ,, ,,
परिवार नियोजन	३१५·० ,, ,,
जल-आपूर्ति	४०५·८ ,, ,,
गृह-निर्माण तथा नागरिक एवं प्रादेशिक विकास	२३७·० ,, ,,
पिछड़े वर्गों का कल्याण	१४२·४ ,, ,,
सामाजिक कल्याण	४१·४ ,, ,,
प्रशिक्षण एवं श्रम-विभाजन	३९·६ ,, ,,
कुल	२५७९·४ करोड़ रुपये

पिछले आठ वर्षों में शिक्षा के क्षेत्र में पर्याप्त उन्नति हुई है। पहले से पाँचवे वर्ग के विद्यार्थियों की संख्या १९६०-६१ में ३·५ करोड़ से बढ़कर १९६८-६९ में ५·६ करोड़, छठे से आठवें वर्ग में ७० लाख से बढ़कर १३० लाख, नवें से ग्यारहवें वर्ग में ३० लाख से बढ़कर ७० लाख तथा विश्वविद्यालय स्तर में ७ ४ लाख से बढ़कर १६ ९ लाख हो गयी। शिक्षा के अन्तर्गत योजनाकाल में ६ से ११ वर्ष के बीच के ८५ ० प्रतिशत बच्चों को स्कूल भेजने का लक्ष्य है। शिक्षा की मद में ८२२·६ करोड़ रुपये व्यय का आयोजन है जिसमें २६·६ प्रतिशत प्राथमिक, २०·८ प्रतिशत माध्यमिक, १४ ५ प्रतिशत विश्वविद्यालय तथा २०·९ प्रतिशत तकनीकी शिक्षा पर व्यय का आयोजन है। योजनाकाल में स्वास्थ्य तथा परिवार नियोजन पर भी विशेष जोर देने की व्यवस्था है।

चतुर्थ योजना में रोजगार (Employment in the Fourth Five Year Plan) :—१९५१ से १९६१ ई० बीच श्रम-शक्ति में २१० लाख की वृद्धि हुई। इस अवधि में गैर-कृषि क्षेत्र में रोजगार में १२० लाख तथा कृषि के क्षेत्र में ५० लाख की वृद्धि हुई। इस प्रकार द्वितीय योजना के अन्त में बेरोजगारों की संख्या अनुमानतः ४० लाख थी। तृतीय योजना में श्रम-शक्ति में २४० लाख की वृद्धि हुई जबकि केवल १४५ लाख व्यक्तियों को ही रोजगार दिया जा सका। अतएव इस अनुमान के आधार पर चतुर्थ योजना के प्रारम्भ में ९० से १०० लाख व्यक्ति बेरोजगार थे। इनमें तीन-चौथाई ग्रामीण थे। चतुर्थ योजना में रोजगार के सम्बन्ध में निश्चित आँकड़े नहीं दिये गये हैं।

किन्तु चतुर्थ योजना में सम्मिलित कार्यक्रमों से ऐसी आशा की जाती है कि योजनाकाल में रोजगार की सुविधाओं में पर्याप्त मात्रा में वृद्धि होगी। श्रम-प्रधान उपायों—जैसे सड़क, लघु सिंचाई, भूमि संरक्षण, सिंचाई, बाढ़-नियन्त्रण, सहकारिता तथा लघु उद्योगों पर विशेष जोर दिया गया है। इसके अतिरिक्त श्रम-प्रधान उपायों को कार्यान्वित करने के लिए चतुर्थ योजना में औसत रूप से प्रतिवर्ष २९० करोड़ रुपये, वित्तीय संस्थाओं द्वारा सहायता प्रदान करने की

व्यवस्था है। कृषि-सम्बन्धी कार्यक्रमों पर अधिक जोर देने के कारण कृषि-क्षेत्र में भी रोजगार की सुविधाओं के पर्याप्त मात्रा में विकसित होने की आशा की जाती है।

चतुर्थ पंचवर्षीय योजना के वित्तीय साधन

(Financing of the Fourth Plan)

चतुर्थ पंचवर्षीय योजना में सार्वजनिक तथा निजी क्षेत्र में सम्मिलित रूप में २४,८८२ करोड़ रुपये के व्यय का आयोजन है। इसमें से सार्वजनिक क्षेत्र में १५,९०२ करोड़ रुपये व्यय तथा निजी क्षेत्र में ८९८० करोड़ रुपये विनियोग का आयोजन है। इस प्रकार सार्वजनिक क्षेत्र में कुल १५,९०२ करोड़ रुपये का जो व्यय प्रस्तावित है। उसे विभिन्न साधनों से निम्न प्रकार से प्राप्त करने का आयोजन है :—

चतुर्थ योजना के वित्तीय साधन (करोड़ रुपये में)

साधन	तृतीय योजना	चतुर्थ योजना
योजना के पूर्व प्रचलित करों के आधार पर बचत	--४१९	१६७३
,, ,, प्रचलित दरों पर रेलवे से लाभ	६२	२६५
,, ,, अन्य सार्वजनिक संस्थाओं की बचत	३७३	१७६४
रिजर्व बैंक से लाभ	८२३	२०२
जनता से ऋण	५६५	१४१५
छोटी-छोटी बचतें	७२५	७६९
विविध पूंजीगत प्राप्तियाँ	....	३१५२
बाह्य ऋण (पी०एल ४८०)को सम्मिलित करते हुए	२४२३	२६१४
अतिरिक्त कर तथा सार्वजनिक संस्थाओं को बचत	२८९२	३१९८
घाटे की वित्त-व्यवस्था	११३३	८५०
कुल	८५,७७	१५,९०२

करों से प्राप्त आय :—तृतीय योजना में प्रचलित करों की दर से ५५० करोड़ रुपये बचत का आयोजन था, किन्तु इससे ४१९ करोड़ रुपये का घाटा ही हुआ। इस मद में चतुर्थ योजना में बचत का अनुमान १९६८-६९ ई० में प्रचलित करों की दरों पर राष्ट्रीय आय तथा उत्पादन में प्रत्याशित वृद्धि को ध्यान में रखकर तथा करों की चोरी की रोक कर १६७३ करोड़ रुपये लगाया गया है। इसी प्रकार केन्द्रीय तथा राज्य सरकारों के गैर-योजना तथा गैर-विकास सम्बन्धी व्यय में प्रतिवर्ष वृद्धि का अनुमान साधारण दर पर लगाया गया है। इस प्रकार की बचत में से राज्य सरकारों का हिस्सा केवल १०० करोड़ रुपये लगाया गया है, यानी इनमें केन्द्रीय सरकार के बजट की ही प्रानता है। इस बचत का अनुमान कई मान्यताओं के आधार पर लगाया गया है—जैसे, खाद्यान्न पर कोई आर्थिक सहायता नहीं प्रदान की जायगी तथा कर्मचारियों के वेतन में कोई अतिरिक्त वृद्धि नहीं होगी।

इस प्रकार चतुर्थ योजनाकाल में करों से अधिकाधिक रकम प्राप्त करने पर जोर दिया जायगा। योजनाकाल में कृषि तथा ग्रामीण क्षेत्रों से अधिकाधिक मात्रा में कर प्राप्त करने

का प्रयास किया जायगा। अनुमान लगाया जाता है कि आयोजित विकास के परिणामस्वरूप नागरिक आय में वृद्धि का प्राय: ४० प्रतिशत भाग करों के रूप में प्राप्त कर लिया जाता है किन्तु ग्रामीण क्षेत्रों में १४·१५ प्रतिशत भाग ही प्राप्त होता है। अतएव चतुर्थ योजना में ग्रामीण क्षेत्रों में अधिक कर लगाने की व्यवस्था की जायगी।

सार्वजनिक क्षेत्र के उद्योगों से प्राप्त धन (Surplus from Public Enterprises) :—सार्वजनिक संस्थानों से प्रचलित दर के आधार पर २०२९ करोड़ रुपये लाभ की आशा है। इसमें २६५ करोड़ रुपये रेलों से तथा १७६४ करोड़ रुपये अन्य संस्थानों से प्राप्त करने का आयोजन है। तृतीय योजनाकाल में इस मद में ४५० करोड़ रुपये प्राप्त करने का आयोजन था जबकि वास्तविक रूप में ३७३ करोड़ रुपये प्राप्त हुए। चतुर्थ योजनाकाल में इस मद में प्राप्त की जानेवाली रकम कोई बहुत अधिक नहीं है। उचित मूल्य-नीति तथा खर्च में कमी के द्वारा इतनी कम रकम प्राप्त की जा सकती है।

वर्तमान आधार पर रेलों से चतुर्थ योजनाकाल में २६५ करोड़ रुपये प्राप्त करने का आयोजन है। तृतीय योजना का आयोजन इस सम्बन्ध में १००० करोड़ रुपये था जबकि वास्तविक प्राप्ति ६२ करोड़ रुपये के लगभग थी। इसी प्रकार चतुर्थ योजनाकाल में रिजर्व बैंक के लाभ के रूप में २०२ करोड़ रुपये की रकम दिखलायी गयी है। वास्तव में, रिजर्व बैंक प्रतिवर्ष अपनी आय का एक अंश Long term Operation Fund में हस्तांतरित करता है जिसका प्रयोग कृषि तथा उद्योग के क्षेत्र में विनियोग के लिए उधार देनेवाली संस्थाओं को सुपुर्द कर दिया जाता है।

बाजार ऋण तथा लघु बचत (Market Borrowings and Small Savings) :—चतुर्थ पंचवर्षीय योजना में सार्वजनिक ऋण से १४१५ करोड़ रुपये तथा लघु बचत से ७६९ करोड़ रुपये प्राप्त करने का आयोजन है। तृतीय योजनाकाल में सार्वजनिक ऋण से ८०० करोड़ रुपये प्राप्त करने का आयोजन था जबकि वास्तविक उपलब्धि ८२३ करोड़ रुपये, यानी लक्ष्य से भी अधिक प्राप्ति हुई थी। इसी प्रकार लघु बचत से ६०० करोड़ रुपये प्राप्त करने का आयोजन था जबकि वास्तविक उपलब्धि ५६५ करोड़ रुपये हुई। इसी प्रकार १९६६-६७ में बाजार ऋण से २२३ करोड़ रुपये तथा १९६७-६८ ई० में २१६ करोड़ रुपये की रकम प्राप्त हुई थी। लघु बचत से १९६८-६९ ई० में १२० करोड़ रुपये की रकम प्राप्त हुई थी। अतएव इन्हें देखते हुए चतुर्थ योजना का लक्ष्य कोई अधिक नहीं जान पड़ता। फिर भी इतनी अधिक मात्रा में ऋण-प्राप्ति के लिए योजनाकाल में विशेष प्रयत्नों की आवश्यकता होगी।

विविध पूंजीगत प्राप्तियाँ (Miscellaneous Capital receipts) :—चतुर्थ योजनाकाल में विविध पूंजीगत साधनों से ३१५२ करोड़ रु० प्राप्त करने की आशा की जाती है। योजनाकाल राज्य निर्वाह निधि (State Provident Fund) से ६६० करोड़ रुपये, जीवन बीमा निगम से ऋण के रूप में ३४३ करोड़ रुपये तथा अन्य साधनों से ११३० करोड़ रुपये प्राप्त करने का आयोजन है। किन्तु, साथ ही चतुर्थ योजनाकाल में इनके भुगतान के रूप में १०५ करोड़ रुपये वार्षिक चुकाने की आवश्यकता पड़ेगी। इस प्रकार इस मद से योजनाकाल में ३१५२ करोड़ रुपये शुद्ध प्राप्ति की आशा की जाती है जबकि तृतीय योजनाकाल में इस मद में ७२५ करोड़ रुपये प्राप्त हुआ था।

विदेशी सहायता (External assistance) :—विदेशी सहायता ने भारत के आर्थिक विकास में महत्त्वपूर्ण सहयोग प्रदान किया है। सितम्बर, १९६९ तक देश को विदेशों से कुल ९१७१·३ करोड़ रुपये विदेशी ऋण, अनुदान तथा पी० एल० ४८० के अन्तर्गत प्राप्त हुआ था जिसमें से उस समय तक ८०६३·४ करोड़ रुपये का प्रयोग किया गया था।

विदेशी सहायता से चतुर्थ योजनाकाल में २६१४ करोड़ रुपये प्राप्त करने का आयोजन है। इसमें से ३८० करोड़ रुपये पी० एल० ४८० के अन्तर्गत की सहायता है तथा शेष २२३४ करोड़ रुपये गैर-पी० एल० ४८० से प्राप्त होने की आशा है। तृतीय योजना में इस मद में २२०० करोड़ रुपये प्राप्त करने का आयोजन था जबकि वास्तविक उपलब्धि २४३३ करोड़ रुपये की हुई थी। १९६६-६७ ई० में विदेशी सहायता के रूप में १५७४ करोड़ रुपये, १९६७-६८ ई० में १७७९ करोड़ रुपये तथा १९६८-६९ ई० में ८७३ करोड़ रुपये प्राप्त हुआ था। विदेशी सहायता पर यह अत्यधिक निर्भरता हमारे लिए उचित नहीं है। योजनाकाल में विदेशी सहायता के सम्बन्ध में अनुमान चतुर्थ योजना की अवधि के लिए भुगतान संतुलन के अनुमान के आधार पर लगाया है। वास्तव में, चतुर्थ योजना में राजकीय क्षेत्र में कुल ३७३० करोड़ रुपये विदेशी सहायता का आयोजन है। इसमें से १११६ करोड़ रुपये सरकार द्वारा विदेशी ऋण तथा लाभ के भुगतान में व्यय किया जायगा, अतः योजना के लिए २६१४ करोड़ रुपये की शुद्ध प्राप्ति की आशा है। किन्तु योजना में इस बात पर भी जोर दिया गया है कि चूँकि वाह्य ऋण की वास्तविक प्राप्ति आयात तथा निर्यात की स्थिति एवं ऋण देने वाले देशों की नीति पर निर्भर करेगी, अतएव इस सम्बन्ध में बहुत अधिक अनिश्चितता की मात्रा पायी जाती है।

घाटे की वित्त-व्यवस्था (Deficit Financing) :—घाटे की वित्त-व्यवस्था के द्वारा चतुर्थ पंचवर्षीय योजना में ८५० करोड़ रुपये प्राप्त करने का आयोजन है। तृतीय योजना में इससे ५५० करोड़ रुपये प्राप्त करने का आयोजन था जबकि वास्तविक उपलब्धि ११३३ करोड़ रुपये की थी। इससे तृतीय योजनाकाल में मूल्य-तल में बहुत अधिक वृद्धि हुई। इसी प्रकार १९६७-६८ ई० में ४१६ करोड़ रुपये तथा १९६८-६९ ई० में ३०७ करोड़ रुपये घाटे की वित्त-व्यवस्था द्वारा प्राप्त किया गया था। इन सबको देखते हुए चतुर्थ योजना में घाटे की वित्त-व्यवस्था की रकम कोई बहुत नहीं जान पड़ती।

अतिरिक्त आन्तरिक साधनों के द्वारा प्राप्त रकम (Mobilization of additional domestic Resources) :—अन्तिम स्थान आन्तरिक साधनों के द्वारा अतिरिक्त रकम का है। इससे ३१९८ करोड़ रु० प्राप्त करने का आयोजन है। इसमें राज्य तथा केन्द्रीय दोनों सरकारों का हिस्सा है। इसके अन्तर्गत दो प्रकार के प्रयास आते हैं—सर्वप्रथम तो गैर-योजना-सम्बन्धी व्यय में अतिरिक्त बचत (economy in non-plan expenditure) का स्थान है। इसके बाद अतिरिक्त कोषों को प्राप्त करने का स्थान है। जहाँ तक बचत का प्रश्न है, चतुर्थ योजना के निर्माण में यह मान लिया गया है कि प्रशासनिक व्यय तथा करों को वसूल करने के व्यय में प्रति वर्ष ५ प्रतिशत की वृद्धि होगी। यदि वृद्धि की इस दर को ३½ प्रतिशत कर दिया जाय तो योजना के कार्य के लिए मद से ३३५ करोड़ रुपये को रकम उपलब्ध हो जायगी। किन्तु इस रकम की प्राप्ति के लिए विशेष प्रयत्नों की आवश्यकता होगी। योजनाकाल में ग्रामीण क्षेत्र से अधिक रकम प्राप्त करने का आयोजन है। आयोग के अनुसार पिछले वर्षों में कृषि के क्षेत्र में अत्यधिक विनियोग किया गया है जिससे किसानों की समृद्धि में बहुत अधिक वृद्धि हुई है। अतः चतुर्थ योजना में ग्रामीण क्षेत्रों से अधिक मात्रा में साधन प्राप्त करने पर जोर दिया जायगा। इसके लिए ग्रामीण क्षेत्रों में ऋण-पत्र वगैरह जारी किये जायेंगे तथा सिंचाई कर में भी वृद्धि की जायगी। अतिरिक्त आन्तरिक साधनों की प्राप्ति के सम्बन्ध में भी योजना आयोग का सुझाव निम्नलिखित उद्देश्यों को ध्यान में रखना है—मूल्य की स्थिरता, आर्थिक विकास के क्षेत्र में सार्वजनिक उद्योगों द्वारा अधिक साधन प्रदान करना, तथा आत्मनिर्भरता। मूल्य-स्थिरता का तो योजना की पूर्ति के क्षेत्र

में बहुत अधिक महत्त्व है। इसके लिए सरकार को बड़े पैमाने पर कुछ आवश्यक उपभोक्ता वस्तुओं के थोक एवं खुदरा बिक्री की व्यवस्था करनी पड़ सकती है जिसके लिए सरकार को तैयार रहने की आवश्यकता है।

अन्ततः, देश की वित्तीय नीति का उद्देश्य भुगतान संतुलन की स्थिति में सुधार भी होना चाहिए। इसके लिए निर्यात प्रोत्साहन की आवश्यकता होगी जिसमें वित्तीय अस्त्रों का प्रयोग आवश्यक हो सकता है। साथ ही, वित्तीय तरीकों से आयात को नियन्त्रित करने की भी आवश्यकता हो सकती है। इसके साथ ही वित्तीय नीति का एक प्रधान उद्देश्य आर्थिक विषमता का अन्त होना चाहिए। इसके लिए एक ओर तो निजी व्यक्तियों के हाथ में सम्पत्ति के अत्यधिक जमा होने से रोकने के लिए करों के द्वारा रुकावट लगानी होगी तथा दूसरी ओर शिक्षा एवं जन-स्वास्थ्य जैसी आवश्यक सुविधाओं पर राजकीय व्यय में अभिवृद्धि करनी होगी। इसमें से एक अथवा अधिक उद्देश्यों की पूर्ति के लिए अपनायी गयी नीति का उद्देश्य सार्वजनिक बचत को बढ़ना भी होना चाहिए क्योंकि नये उद्योगों के विकास में सार्वजनिक विनियोग का बड़ा ही महत्वपूर्ण स्थान है।

चतुर्थ योजना की आलोचनात्मक समीक्षा

(A Critical evaluation of the Fourth Five Year Plan)

इस प्रकार चतुर्थ पंचवर्षीय योजना का कार्य अप्रैल, १९६९ ई० से प्रारम्भ होता है। किन्तु इस योजना की बातों को लेकर आलोचना भी की जाती है। इनमें निम्नांकित आलोचनाएँ विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं :—

(१) चतुर्थ योजना रोजगार-प्रधान नहीं है (The Fourth plan is not employment-oriented) :—सर्वप्रथम तो यह कहा जाता है कि चतुर्थ योजना में रोजगार के साधनों की अधिकाधिक व्यवस्था का अभाव है। भारत जैसे अर्द्ध-विकसित देश में, जिसकी जनसंख्या में प्रतिवर्ष २.५ प्रतिशत की दर से वृद्धि हो रही है, योजनाकरण का प्रधान उद्देश्य बढ़ती हुई श्रम-शक्ति के लिए रोजगार के साधनों की व्यवस्था होना चाहिए। ऐसा अनुमान लगाया जाता है कि चतुर्थ योजना प्रारम्भ होने के समय देश में प्रायः १६० लाख व्यक्ति बेरोजगार थे। साथ-ही, योजना-काल में २३० लाख नये आगन्तुकों के लिएभी रोजगार की व्यवस्था करनी होगी, यानी पूर्ण रोजगार की व्यवस्था के लिए ३९० लाख व्यक्तियों को रोजगार प्रदान करना होगा। क्या योजना में इतने अधिक व्यक्तियों के लिए रोजगार की व्यवस्था की जा सकेगी? किन्तु पहली तीन पंचवर्षीय योजनाओं की तरह चतुर्थ योजना में भी इस उद्देश्य की पूर्त्ति के लिए प्रभावपूर्ण उपायों का अभाव है। योजना में कितने व्यक्तियों को रोजगार प्रदान किया जायगा, इसकी कोई चर्चा नहीं है। इससे स्पष्ट है कि योजना आयोग बेरोजगारी की समस्या की अवहेलना कर एक महत्त्वपूर्ण सामाजिक तथा आर्थिक समस्या से विमुख हो रहा है।

(२) प्रादेशिक विषमता (Regional imbalances) **तथा आय एवं सम्पत्ति के वितरण की विषमता** (Inequalities in the distribution of income and wealth) **को दूर करने का कोई सक्रिय प्रयास नहीं किया गया है** :—भारत में पिछले १८ वर्षों के आयोजित प्रयत्नों के बावजूद देश के विभिन्न क्षेत्रों के आर्थिक विकास में व्याप्त विषमता को दूर नहीं किया जा सका है। परिणामस्वरूप देश के कुछ भागों के लोगों का जीवन-स्तर सामान्य-स्तर से बहुत ही निम्न है। इसी प्रकार आय तथा सम्पत्ति के वितरण में भी घोर विषमता व्याप्त है। देश के प्रत्येक औसत निवासी तक योजनाकरण के लाभ को पहुँचाने के लिए इन दोनों प्रकार की विषमताओं को

दूर करना अनिवार्य है। किन्तु चतुर्थ पंचवर्षीय योजना में भी इस सम्बन्ध में निश्चित एवं प्रभावपूर्ण उपायों का अभाव है। इससे प्रत्येक व्यक्ति को एक न्यूनतम आय (national minimum) प्रदान करने के उद्देश्यों की पूर्ति भी नहीं हो पायगी।

(३) **निर्यात-सम्बन्धी नीति अवास्तविक है** :—चतुर्थ पंचवर्षीय योजना में निर्यात के सम्बन्ध में ७ प्रतिशत वार्षिक वृद्धि का आयोजन है। निर्यात में इतनी अधिक वृद्धि पिछले प्राय: १७-१८ वर्षों के अनुभव को देखते हुए अत्यधिक कठिन जान पड़ती है। १९६८-६९ ई० में निर्यात में १३ प्रतिशत की वृद्धि अवश्य हुई थी, किन्तु यह अवमूल्यन तथा औद्योगिक सुस्ती के बाद एक प्रकार से समुत्थान का परिणाम थी। निर्यात में इतनी अधिक वृद्धि के लिए निर्यात-सम्बन्धी उद्योगों के उत्पादन में वृद्धि, निर्यात की वस्तुओं में गुणात्मक सुधार आदि आवश्यक हैं जिनके लिए योजना में कोई निश्चित व्यवस्था नहीं की गयी है।

(४) **राजकीय उपक्रमों से अत्यधिक आय की आशा** (Too much expectation from public enterprises) :—चतुर्थ योजना कई अवास्तविक तथ्यों पर आधारित है। इसी प्रकार का एक तथ्य राजकीय उपक्रमों में विनियोग की गयी पूँजी से १५ प्रतिशत वार्षिक प्रतिफल की आशा है जो निश्चय ही बहुत अधिक जान पड़ती है। पिछले पाँच वर्षों में इनकी आय से तुलना करने पर यह अधिक स्पष्ट हो जाता है :—

केन्द्रीय सरकार के उपक्रमों की प्रत्याशित तथा वास्तविक आय (करोड़ रु० में)

वर्ष	प्रत्याशित आय	वास्तविक आय
१९६४-६५	६२·५४	२७·४९
१९६५-६६	४४·४२	२२·९९
१९६६-६७	३१·३७	—११·९३
१९६७-६८	९·२९	—४२·५८

इससे स्पष्ट है कि चतुर्थ योजना में राजकीय उपक्रम से प्रस्तावित आय पिछले कुछ वर्षों में इनकी निष्पत्तियों को देखते हुए अत्यधिक जान पड़ती है।

इस प्रकार चतुर्थ योजना की कई एक आलोचनाएं की जाती हैं। देश के कुछ राज्य, जिनमें अभी गैर-कांग्रेसी सरकारें हैं, भी इस योजना से संतुष्ट नहीं हैं। साथ ही, प्रत्येक राज्य केन्द्र से अधिकाधिक सहायता की मांग करता है। ऐसी स्थिति में चतुर्थ योजना कहाँ तक सफल होगी, कहना बड़ा ही कठिन जान पड़ता है। फिर भी, यह कहा जा सकता है कि देश के आर्थिक विकास के लिए नियोजित तरीकों को अपनाना ही एक-मात्र उपाय है। ऐसी स्थिति में योजनाकरण को बिल्कुल बन्द कर देने की अपेक्षा आगे की ओर बढ़ना ही उत्तम उपाय जान पड़ता है। (An uneasy beginning is better than a deadly pause.)

चतुर्थ योजना की अर्द्ध-सामयिक प्रगति

(Mid-term Appraisal of the Fourth Five Year Plan)

चतुर्थ पंचवर्षीय योजना के प्रथम तीन वर्षों में सार्वजनिक क्षेत्र में कुल व्यय ७९३० करोड़ रुपये व्यय हुआ जो योजना के कुल व्यय का ५०·१ प्रतिशत भाग है। १९६९-७०, १९७०-७१ तथा १९७१-७२ में योजना के विभिन्न मदों में वितरण का अन्दाजा निम्नांकित तालिका से लगता है—

१९६९-७० से १९७१-७२ में व्यय (करोड़ रुपये में)

मदें	१९६९-७०	१९७०-७१	१९७१-७२	तीन वर्षों का कुल योग	कुल का प्रतिशत
१. कृषि एवं तत्सम्बन्धी	३२५·१	५०५·१	५५४·२	१३८४·५	१७·४
२. सिंचाई एवं बाढ़-नियंत्रण	१९४·८	२१३·४	२३१·६	६३९·८	८·०

३. विद्युत्	४७२·७	५२४·५	५१९·०	१५१६·२	१९·०
४. ग्रामीण एवं लघु उद्योग	३७·३	४२·७	४६·३	१२६·३	१·६
५. उद्योग एवं खनिज	४२६·१	४५२·६	६०९·१	१४९०·८	१८·७
६. यातायात एवं संवादवाहन	४०८·१	४९७·५	६३१·२	१५३७·०	१९·३
७. सामाजिक सेवाएँ एवं विविध	३१४·८	४०५·२	५५५·०	१२७५·०	१६·०
कुल	२१८२·१	२६४१·८	३१४६·४	७९३०·३	१०० ०

इसका तात्पर्य यह है कि चतुर्थ योजना के शेष दो वर्षों में योजना के कुल व्यय के ५० प्रतिशत भाग व्यय करना होगा, यानी १९७२-७३ तथा १९७३-७४ में व्यय की मात्रा बहुत अधिक होगी।

इसी प्रकार चतुर्थ योजना के तीन वर्षों में राष्ट्रीय आय में अपेक्षित दर यानी ५·५ प्रतिशत वार्षिक से कम ही वृद्धि हुई। १९६९-७० में राष्ट्रीय आय में ५·३ प्रतिशत, १९७०-७१ में ४·७ प्रतिशत तथा १९७१-७२ में ४ प्रतिशत की वृद्धि हुई। कृषि के उत्पादन में वृद्धि १९६९-७० में ७·१ प्रतिशत तथा १९७०-७१ में ६·८ प्रतिशत थी (आयोजित ५ प्रतिशत वृद्धि से यह अधिक थी) किन्तु १९७१-७२ में यह घटकर ३·८ प्रतिशत हो गयी। किन्तु इसके विपरीत औद्योगिक उत्पादन में वृद्धि की दर बहुत ही कम थी। औद्योगिक उत्पादन का लक्ष्य ८ प्रतिशत था, किन्तु इस क्षेत्र में १९७०-७१ में वृद्धि की दर ३·७ प्रतिशत तथा १९७१-७२ में ४ प्रतिशत थी। औद्योगिक उत्पादन में आयोजित लक्ष्य से कम वृद्धि के लिए, चतुर्थ योजना की अर्द्ध-सामाजिक समीक्षा के अनुसार, दोषपूर्ण औद्योगिक लाईसेंसिंग नीति उत्तरदायी थी। जो समीक्षा के निम्न बयान से स्पष्ट है : "Unbalanced licencing as between established and new entrepreneuts, substantial and small entrepreneurs expansion and new applicants, public and private agencies, and developed and backward area locations have resulted in a high proportion of infructuous licences."[1] निम्नांकित तालिका से चतुर्थ योजना के प्रथम तीन वर्षों में महत्त्वपूर्ण क्षेत्र में वृद्धि का अन्दाजा लगता है—

मदें	पिछले वर्ष से प्रतिशत परिवर्तन १९६९-७०	१९७०-७१	१९७१-७२
१. राष्ट्रीय आय (१९६०-६१ के मूल्य-तल पर)	५·३	४·७	४·००
२. कृषि उत्पादन	७·१	६·७	३·७
३. खाद्यान्न का उत्पादन	५·८	८·३	४·८
४. औद्योगिक उत्पादन	६·८	३·७	४·०
५. थोक मूल्य	३·७	२·५	३·८
६. निर्यात	४·१	८·६	३·६

सारांश यह है कि चतुर्थ योजना की पूर्ण सफलता के लिए राष्ट्रीय आय में १९७२-७३ तथा १९७३-७४ में ७ प्रतिशत वृद्धि अनिवार्य है। इस लक्ष्य की पूर्ति के लिए कृषि के उत्पादन में कम-से-कम ५·५ प्रतिशत तथा औद्योगिक उत्पादन में ११ से १२ प्रतिशत तक वार्षिक वृद्धि अनिवार्य है। इसका तात्पर्य यह है कि विकास के आयोजित तथा प्राप्त अनुपात में असंतुलन को दूर करना अनिवार्य है। ऐसा नहीं होने से चतुर्थ योजना सफल नहीं हो सकती।

विशेष अध्ययन-सूची

1. Planning Commission : Memorandum on the Fourth Plan.
2. Planning Commission : Fourth Five Year Plan (1969-74)

1. The Fourth Plan : Mid-Term Appraisal, Vol. 1, p. 3.

अध्याय : ९

सामुदायिक विकास योजना

(Community Development Project)

प्राक्कथन :—भारत गाँवों का देश है। महात्मा गाँधी के शब्दों में भारत की आत्मा इसके गाँवों में निवास करती है। १९७१ ई० की जनगणना के अनुसार भारत के लगभग ८० प्रतिशत व्यक्ति यहाँ के प्रायः ६ लाख गाँवों में निवास करते हैं। चिरकाल से भारत के समस्त राष्ट्रीय जीवन की इकाई इसके ग्रामों में ही केन्द्रीभूत रही है। किन्तु आज भारतीय ग्रामों की स्थिति अत्यन्त ही शोचनीय है। वे अपना भूतपूर्व महत्त्व खो बैठे हैं। अंग्रेजों ने इनकी समृद्धि का अपहरण करके सात समुद्र पार अपने महलों में घी के दिये जलाये एवं गाँवों के शिक्षित तथा उर्वर मस्तिष्कों ने इनसे घृणा कर इनका परित्याग कर दिया। फलस्वरूप हमारे गाँव आज शोषितों, अशिक्षितों, दरिद्रों तथा परित्यक्तों के श्मशान बन गये हैं। मानव-जीवन से सम्बद्ध समस्त दोष इनमें केन्द्रीभूत हो गये हैं। समाज के शिक्षित, विद्वान कुशल तथा साहसी व्यक्ति गाँवों में रहने में आज अपने आपको असमर्थ पाते हैं। अतः यदि गाँवों को हम राष्ट्र की व्यवस्था में सहयोगी इकाई के रूप में परिणत करना चाहते हैं तो हमारा कर्त्तव्य है कि इनके सभी दोषों का परिष्कार कर उन्हें ऐसा विकसित एवं मनोरंजक बना दें कि वे पुनः हमारी सामाजिक एवं आर्थिक व्यवस्था के केन्द्र बन जायँ। ऐसा किये वगैर देश का आर्थिक तथा सामाजिक विकास सम्भव नहीं।

इस प्रकार भारत के आर्थिक विकास के लिए यहाँ के प्रायः ६ लाख ग्रामों के आर्थिक तथा सामाजिक जीवन में क्रान्तिकारी परिवर्तन लाना अनिवार्य है। हमारे ग्राम के प्रत्येक अंग विकृत हो चुके हैं; अतः सुधार के लिए हमें इनमें सर्वांगीण विकास, यानी इनके सभी अंगों के विकास का एक ही साथ प्रयत्न करना होगा। स्फुट प्रयत्नों से इनका विकास संभव नहीं। अतः हमें एक ही साथ ग्रामों का आर्थिक, सामाजिक तथा सांस्कृतिक पुनर्निर्माण करना है। इसके लिए कृषि की उन्नति, मनोरंजन के साधनों की व्यवस्था, शिक्षा, सफाई तथा चिकित्सा का प्रबन्ध, आपस के विद्वेष, संघर्ष तथा मुकदमेबाजी का अन्त, बेकारी, ऋणग्रस्तता तथा पशु-धन की समस्या का समाधान, यातायात एवं संवादवाहन के साधनों का विकास, ग्रामीणों में नवीन आशा का संचार आदि अनेक कार्यों की आवश्यकता है।

भारत में ग्राम-सुधार के प्रयास :—अंग्रेजी शासनकाल में गाँवों के विकास के लिए सरकार द्वारा प्रायः कोई भी प्रयत्न नहीं किया गया। ग्रामीण वातावरण के प्रति सरकार का दृष्टिकोण प्रारम्भ से ही प्रायः विद्वेषपूर्ण था। किन्तु हमारे देश के राजनीतिज्ञों तथा समाज-सुधारकों ने पुनर्निर्माण में ही राष्ट्रोद्धार का स्वप्न देखा था। महात्मा गाँधी ने राष्ट्रीय संग्राम के साथ-साथ ग्रामीण विकास को भी अपना परम कर्त्तव्य समझा तथा ग्रामीण-जीवन के उत्थान के लिए उनके नेतृत्व में अखिल भारतीय चर्खा संघ एवं अखिल भारतीय ग्रामोद्योग संघ ने ग्रामीण भारत में एक नयी जान फूँक दी। इसी प्रकार रवीन्द्रनाथ टैगोर ने भी इस दिशा में महत्त्वपूर्ण कार्य किया।

१९३५ ई० के संवैधानिक संशोधन के पश्चात् सरकार का भी ध्यान धीरे-धीरे इस ओर आकर्षित होने लगा और केन्द्रीय सरकार ने प्रान्तों को इस कार्य के लिए १ करोड़ रुपया अनुदान के रूप में दिया। सन् १९३७ ई० में विभिन्न प्रान्तों में कांग्रेसी सरकारों की स्थापना के बाद

ग्राम सुधार का कार्य तीव्र गति से प्रारम्भ हुआ। प्राय: प्रत्येक प्रान्त में ग्राम-सुधार के लिए एक पृथक् विभाग की स्थापना की गयी और ग्रामीण जीवन के सर्वतोमुखी विकास की योजनाएँ कार्यान्वित की जाने लगीं। किन्तु, इन प्रयत्नों की सबसे बड़ी त्रुटि यह थी कि सरकार के विभिन्न विभागों के प्रतिनिधि अपने विभागीय उद्देश्यों को लेकर पृथक्-पृथक् रूप से ग्रामीणों के पास पहुँचते थे जिससे बेचारा ग्रामीण किंकर्त्तव्यविमूढ़ हो जाता था और इनके सारे प्रयत्न प्रभावहीन हो जाते थे। वास्तव में, ग्रामीण जीवन पृथक्-पृथक् इकाइयों में विभाजित नहीं है, प्रत्युत् एक अविच्छिन्न सम्पूर्ण इकाई है। अत: ग्रामीण विकास के कार्यों का भी परस्पर सम्बद्ध होना अनिवार्य है, यानी इनके लिए एक सम्मिलित प्रयास आवश्यक है। इन प्रयत्नों की दूसरी त्रुटि यह थी कि इनसे ग्रामीण जनता में कोई उत्साह का संचार नहीं होता था क्योंकि ग्रामीण विकास की प्रेरणा ऊपर से आती थी। अत: ग्रामीण प्राय: इनका स्वागत नहीं करते। ग्रामीण-विकास के लिए ग्रामवासियों में उत्साह का संचार आवश्यक है, अन्यथा ग्रामीण विकास की कोई भी योजना सफल नहीं हो सकती।

सामुदायिक विकास योजनाएं

(Commuuity Development Projects)

इस प्रकार देश में आयोजित विकास की सफलता के लिए ग्रामवासियों को उसमें सक्रिय रूप से सम्मिलित करना अनिवार्य है। Grow More Food Enquiry Committee के निम्न विवरण से यह स्पष्ट है : "No plan can have any chance of success unless the million of small farmers in the country accept its objectives, share in the making, regard it as their own and are prepared to make the sacrifices necessary for implementing it." अतएव ग्रामीण सामुदायिक विकास के उपरोक्त अनुभवों के आधार पर योजना आयोग ने ग्रामीण विकास के लिए सामुदायिक विकास योजना नामक एक विस्तृत कार्यक्रम तैयार किया। संयुक्त राष्ट्रसंघ (United Nations) के एक विवरण के अनुसार "सामुदायिक विकास का तात्पर्य इस प्रक्रिया से है जिसके द्वारा जनता के प्रयत्नों को सरकारी अधिकारियों के द्वारा समाज के आर्थिक, सामाजिक तथा सांस्कृति परिस्थितियों में सुधार के प्रयत्नों के साथ समन्वित किया जाता है तथा इस प्रकार इन्हें राष्ट्र के जीवन के अंग के रूप में बना दिया जाता है जिससे राष्ट्रीय विकास में ये अपना पूरा-पूरा सहयोग प्रदान कर सकें।" (The term Community Development has come to connote the process by which efforts of the people themselves are united with those of governmental authorites to improve the economic, social and cultural conditions of communities, to integerate these communi'ies in to the life of the nation and to enable them to contribute fully to the national progress.) इसे २ अक्टूबर, १९५२ ई० से प्रारम्भ किया गया। इस कार्यक्रम के अनुसार सम्पूर्ण देश को अनेक योजना-क्षेत्र में विभाजित किया गया। प्रत्येक योजना-क्षेत्र में प्राय: ३०० ग्राम होते हैं जिनका क्षेत्र लगभग ५०० वर्गमील तथा जनसंख्या प्राय: २ लाख होती है एवं कृषि-योग्य भूमि का क्षेत्रफल $1\frac{1}{2}$ लाख एकड़ होता है। पुन: प्रत्येक योजना-क्षेत्र को तीन विकास-खण्डों (Development Blocks) में विभाजित करने की व्यवस्था की गयी है। प्रत्येक विकास-खण्ड में प्राय: एक सौ ग्राम होते हैं जिनकी जनसंख्या ५० से ७० हजार होती है। प्रत्येक खण्ड को पाँच-पाँच ग्रामों के समूहों में विभाजित किया गया है और प्रत्येक ग्राम-समूह एक ग्राम-स्तर कर्मचारी (Village Level Worker) का कार्य-क्षेत्र है।

1. United Nations : Community Development and Economic Development p-1.

अप्रैल, १९५८ ई० तक यह कार्यक्रम तीन स्तरों में कार्यान्वित होता था। किन्तु संशोधित तरीके के अनुसार पाँच वर्षों के विस्तृत कार्यक्रम के बाद यह कार्यक्रम पुनः ५ वर्षों के लिए चलता है। किन्तु व्यय की रकम कम कर दी जाती है। प्रथम स्तर प्रारम्भ होने के पूर्व १ वर्ष का एक पूर्व विकास स्तर का कार्य (Pre-extension phase) भी चलता है।

राष्ट्रीय-विस्तार सेवा (National Extension Services) :—सामुदायिक विकास कार्यक्रम प्रारम्भ होने से लोगों में व्यापक उत्साह का संचार होने लगा तथा ऐसे कार्यक्रम प्रारम्भ करने की मांग चारों ओर से होने लगी। किन्तु साधनों तथा प्रशिक्षित कर्मचारी-मण्डल के अभाव में एक ही साथ सर्वत्र ऐसे केन्द्र प्रारम्भ करना सम्भव नहीं था। अतः एक दूसरा कार्यक्रम, राष्ट्रीय विस्तार सेवा (National Extension Services), जो अपेक्षाकृत कम विस्तृत था, प्रारम्भ करने की योजना तैयार की गयी। इसे २ अक्टूबर, १९५३ ई० से प्रारम्भ किया गया। साथ ही, यह तय किया गया कि राष्ट्रीय-विस्तार सेवा-खण्डों में से ही कुछ क्षेत्र प्रति वर्ष सामुदायिक विकास कार्यक्रम के लिए चुने जायेंगे। प्रत्येक खण्ड में १ वर्ष तक काम करने के पश्चात् ३ वर्ष तक वह सामुदायिक विकास कार्यक्रम की कोटि में आ जायगा और ३ वर्ष के व्यापक कार्यक्रम के बाद पुनः राष्ट्रीय विस्तार सेवा की कोटि में चला जायगा। इस प्रकार राष्ट्रीय विस्तार-सेवा का रूप स्थायी होगा।

सामुदायिक विकास योजनाओं एवं राष्ट्रीय विस्तार सेवा का एक-मात्र उद्देश्य गाँवों में केवल पर्याप्त भोजन, वस्त्र, मकान, स्वास्थ्य एवं मनोरंजन के साधनों की व्यवस्था करना ही नहीं है। ये बातें तो ग्रामीण जीवन के विकास के लिए आवश्यक हैं ही, किन्तु सबसे बड़ी बात ग्रामीण जनता के दृष्टिकोण में परिवर्तन लाना है। इनमें उच्चतम जीवन-मान की आकांक्षा पैदा करनी है तथा उनमें जीवन के प्रति एक नवीन आशा एवं तौर-तरीकों का संचार करना है। यह हमारी सबसे बड़ी समस्या है। योजना आयोग के अनुसार राष्ट्रीय विस्तार सेवाएँ एवं सामुदायिक संस्थाएँ लोकतांत्रिक योजना की जान हैं। इनके माध्यम से ही पंचवर्षीय योजनाओं को भारत की करोड़ों ग्रामीण जनता तक पहुँचा जा सकता है। ये ही वे साधन हैं जिनके द्वारा स्थानीय तौर से, आपस में मिल-जुल कर सहयोग के आधार पर कार्य करते हुए ग्रामीण जनता एवं ग्रामों पर सामाजिक व्यवस्था में आमूल परिवर्तन लाया जा सकता है।

सामुदायिक विकास कार्यक्रम के महत्त्व का अन्दाजा निम्नलिखित कथन से बिल्कुल स्पष्ट हो जाता है : "प्रत्येक सामुदायिक खण्ड केन्द्रित प्रयत्न का क्षेत्र है जिसमें संसार के सभी विकास-सम्बन्धी अभिकरण स्थानीय संस्थाओं, जैसे पंचायत और सहकारी समिति के साथ मिलकर कार्य करेंगे। इसमें जो कार्य किये जाते हैं उन्हें ग्रामीण जीवन के सर्वांगीण विकास का अभिन्न अंग समझा जाता है। सबसे महत्त्वपूर्ण बात तो यह है कि कृषि के विकास की गति को तेज कर ये योजनाएँ सबल आर्थिक आधार की सृष्टि करना चाहती हैं। इस आन्दोलन का उद्देश्य प्रत्येक परिवार तक विकास के मन्त्र को पहुँचाना है और ऐसी स्थिति की सृष्टि करनी है जिसमें सम्पूर्ण समाज अधिक से-अधिक प्रयत्न कर सके, स्थानीय श्रम-शक्ति एवं अन्य साधनों का पूरा-पूरा उपयोग करे और पारस्परिक कल्याण और उत्तरदायित्व के आधार पर प्रगति करे। इस प्रकार समाज में सामाजिक एकता की प्राप्ति होगी।'

विकास-कार्यक्रम

(Development Projects)

भारत में सामुदायिक विकास योजनाओं का प्रारम्भ २ अक्टूबर, १९५२ ई० से हुआ जबकि देश भर में ५५ विकास क्षेत्रों में विकास का कार्यक्रम प्रारम्भ किया गया। सामुदायिक

विकास योजना का उद्देश्य ग्रामीण जीवन का सर्वतोमुखी विकास है। अतः इस कार्यक्रम के अन्तर्गत यथासम्भव ग्रामीण जीवन के सभी पहलुओं को स्पर्श करने का प्रयत्न किया गया है। इसमें कृषि एवं तत्सम्बन्धी कार्य, यातायात, शिक्षा, स्वास्थ्य, पूरक उद्योग-धन्धों का विकास, आवास (Housing), प्रशिक्षण (Training) तथा सामाजिक कल्याण के सम्बन्ध में विकास के कार्य किये जाते हैं।

अब इन विभिन्न कार्यक्रमों का निम्न विवरण प्रस्तुत किया जा रहा है :—

(१) **कृषि एवं तत्सम्बन्धी कार्यक्रम** (Agriculture and Related matters) :— यह कार्य-क्रम प्रथम योजनाकाल में तैयार किया गया था, अतः इसके अन्तर्गत कृषि तथा अधिक अन्न उपजाने पर विशेष ध्यान दिया गया था। कृषि को अधिक महत्त्व देने का कारण यह भी था कि भारत के ग्रामीण जीवन में कृषि की प्रधानता है। इसके अन्तर्गत निम्नलिखित कार्यक्रमों का आयोजन है—नयी व परती भूमि को कृषि-योग्य बनाना, उत्तम बीज एवं खाद की व्यवस्था करना, कृषि के उत्तम तरीकों का प्रचार, फल एवं तरकारी के उत्पादन में वृद्धि, कृषि-बाजार एवं साख की समुचित व्यवस्था, पशु-प्रजनन एवं चिकित्सा की सुविधा, भूमि के कटाव को रोकना, सहकारिता का विकास तथा कम्पोस्ट खाद का प्रयोग आदि। कृषि के क्षेत्र में सिचाई की भी समुचित व्यवस्था की जायगी। प्रत्येक गाँव में यथासम्भव एक बहुधन्धी सहकारी समिति की स्थापना की जायगी जिसका सदस्य प्रत्येक परिवार का एक व्यक्ति अवश्य होगा।

(२) **यातायात** :—इस कार्यक्रम के अन्तर्गत गाँवों में सड़कों के विकास पर जोर दिया गया है। प्रत्येक क्षेत्र में सड़कों का विकास इस प्रकार से करने का आयोजन है जिससे कोई भी गाँव मुख्य सड़क से ½ मील से अधिक की दूरी पर न हो। सड़कों का निर्माण यथासम्भव ग्राम-वासियों के ऐच्छिक श्रम द्वारा किया जायगा।

(३) **शिक्षा** :—इस कार्यक्रम के अन्तर्गत शिक्षा की समुचित व्यवस्था को भी अनिवार्य समझा गया है। अतः इसके अन्तर्गत सामाजिक, प्रारम्भिक तथा बुनियादी शिक्षा के प्रचार की व्यवस्था की गयी है। वयस्कों की शिक्षा के लिए वाचनालयों की भी स्थापना की जाती है। स्त्री-शिक्षा के विकास पर पर्याप्त जोर दिया गया है। साथ ही, प्रत्येक योजना-क्षेत्र में कारीगरों के प्रशिक्षण की व्यवस्था के लिए प्रशिक्षण केन्द्र स्थापित करने का आयोजन है।

(४) **स्वास्थ्य** :—इस कार्यक्रम के अन्तर्गत जन-स्वास्थ्य एवं सफाई पर विशेष ध्यान दिया जाता है। स्वास्थ्य संगठन का उद्देश्य गाँवों में अधिकाधिक स्वच्छता तथा पीने के लिए उत्तम जल एवं मातृ-सेवा की व्यवस्था करना तथा स्वच्छ रहन-सहन एवं अच्छे भोजन के बारे में शिक्षा देना है। प्रत्येक योजना-क्षेत्र में एक प्रारम्भिक चिकित्सा केन्द्र, एक अस्पताल तथा एक गतिशील चिकित्सालय की व्यवस्था है। संक्रामक रोगों को रोकने की व्यवस्था की जाती है। तीनों पंचवर्षीय योजनाओं में स्वास्थ्य एवं ग्रामीण सफाई कार्यक्रम की मद में सामुदायिक विकास कार्यक्रम के अन्तर्गत ४३७७ लाख रुपये व्यय किया था।

(५) **ग्रामीण उद्योग-धन्धों का विकास** :—इस कार्यक्रम के अन्तर्गत गाँवों में पूरक उद्योग-धन्धों के विकास का यथासम्भव प्रयत्न किया जाता है जिससे गाँवों के बेकार तथा अर्द्ध-बेकार लोगों को काम मिल सके। इससे किसानों की आय में पर्याप्त वृद्धि होगी।

(६) **भवन-निर्माण** :—इस कार्यक्रम के अन्तर्गत ग्रामों में आवास की समस्या के समाधान का भी प्रयत्न किया जा रहा है। गाँवों में उत्तम प्रकार के भवन-निर्माण के विषय में प्रदर्शनी तथा शिक्षा की व्यवस्था की जाती है तथा घने बसे हुए गाँवों में लोगों को नये स्थानों में भवन-निर्माण के लिए प्रोत्साहित किया जाता है। इसके अन्तर्गत गाँवों में पार्कों तथा मैदानों की भी व्यवस्था

की जा रही है। सामुदायिक विकास कार्यक्रम के अन्तर्गत तीनों पंचवर्षीय योजनाओं में इस मद में कुल २२९१ लाख रुपये व्यय किया गया।

(७) **सामाजिक कल्याण** :—इस कार्यक्रम के अन्तर्गत सामाजिक कल्याण के लिए खेल-कूद, मेले एवं प्रदर्शन तथा सामूहिक मनोरंजन की व्यवस्था पर भी जोर दिया गया है। इस प्रकार ग्रामीण-जीवन को हर प्रकार से सुखी बनाने की व्यवस्था की जाती है। इसके साथ ही लोगों में एकता तथा आत्म-निर्भरता की भावना को प्रबल बनाने पर भी जोर दिया जाता है।

सामुदायिक विकास तथा राष्ट्रीय विस्तार-सेवा कार्यक्रमों की प्रगति

सामुदायिक विकास कार्यक्रम को प्रारम्भ किये प्राय: २० वर्ष समाप्त हो चुके हैं। इस अवधि में इस कार्यक्रम की प्रगति का अन्दाजा निम्नांकित तालिका से लगाया जा सकता है :—

सामुदायिक विकास कार्यक्रम की प्रगति

	१९५५-५६	१९६०-६१	जनवरी, १९६९
खंड (संख्या)	१०६८	३१००	५२६५
इसके अन्तर्गत आये गाँवों की संखया (हजार में)	१५०	३७०	५६७
इसके अन्तर्गत लायी हुई जनसंख्या (लाख में)	७८०	२०००	४०४६

प्रथम पचवर्षीय योजना (First Five Year Plan) के अन्तर्गत कुल ग्रामीण जनसंख्या के एक-चौथाई भाग को इस कार्यक्रम के अन्तर्गत लाने का आयोजन था। योजनाकाल में यह कार्यक्रम कुल १०६८ खण्डों में आरम्भ हुआ। इसके अन्तर्गत १५० हजार गाँव थे जिनकी जनसंख्या ७·८ करोड़ थी। इस प्रकार प्रथम योजना का लक्ष्य प्राय: पूर्ण रूप से पूरा हो गया।

द्वितीय पंचवर्षीय योजना (Second Five Year Plan) में भी इन कार्यक्रमों को विशेष महत्त्व दिया गया था। द्वितीय योजना के अन्त तक इस कार्यक्रम के अन्तर्गत सम्पूर्ण ग्रामीण आबादी को लाने का आयोजन था। किन्तु वित्तीय कठिनाइयों के कारण यह सम्भव नहीं हो सका। फिर भी, द्वितीय योजना के अन्त तक इस कार्यक्रम के अन्तर्गत ३१०० खण्ड आ गये जिनमें लगभग ३·७ लाख गाँव तथा २० करोड़ लोग सम्मिलित थे। इनमें से ८८० खण्ड पाँच वर्ष पूरा करके अपने द्वितीय सोपान में पहुँच गये थे। इसके अतिरिक्त योजना के अन्त में ५०० विकास-खण्डों में पूर्व विस्तार का कार्यक्रम प्रारम्भ हो गया था। संशोधित कार्यक्रम के अनुसार अक्टूबर, १९६३ ई० तक सम्पूर्ण ग्रामीण जनसंख्या को इस कार्यक्रम के अन्तर्गत लाने का आयोजन था।

प्रथम एवं द्वितीय पंचवर्षीय योजनाओं के अन्तर्गत सामुदायिक विकास तथा राष्ट्रीय विस्तार सेवा-खण्डों की मद में कुल २३३·१ करोड़ रुपये व्यय किया गया।

तृतीय पंचवर्षीय योजना (Third Five Year Plan) में सामुदायिक विकास तथा पंचायत कार्यक्रम पर ३२१·९ करोड़ रुपये व्यय का आयोजन था जबकि वास्तविक व्यय सामुदायिक विकास योजनाओं पर २७६·८ करोड़ रुपये तथा पंचायत पर ११·७ करोड़ रुपये हुआ। इसी

जनवरी, १६६६ ई० तक कुल प्राय: ५२६५ खण्डों में कार्य प्रारम्भ हो गया था। इनके अन्तर्गत ५·६७ लाख गाँव थे जिनकी जनसंख्या ४०·४६ करोड़ थी। इस प्रकार देश के लगभग सम्पूर्ण ग्रामीण क्षेत्र में इस कार्यक्रम का विस्तार हो गया हैं।

इसी प्रकार तीन एक-वर्षीय योजनाओं (Three one Year Plans) में सामुदायिक विकास तथा पंचायत कार्यक्रम पर ६६·४ करोड़ रुपये व्यय किया गया।

चतुर्थ पंचवर्षीय योजना (Fourth Five Year Plan) में सामुदायिक विकास तथा पंचायत कार्यक्रम के मद में ११५·५ करोड़ रुपये व्यय का आयोजन है। चतुर्थ योजना प्रारम्भ होने के समय तक देश के सभी गाँवों को सामुदायिक विकास कार्यक्रम के अन्तर्गत लाया जा चुका था।

इस कार्यक्रम का वित्तीय दायित्व केन्द्र तथा राज्य सरकार दोनों पर है। अनावर्त्तक (non-recurring) व्यय का ७५ प्रतिशत भाग केन्द्र पर तथा २५ प्रतिशत भाग राज्य-सरकारों पर रहता हैं। आवर्त्तक (recurring) व्यय का भार दोनों पर बराबर-बराबर रहता है। साथ ही, इसमें जनता भी श्रम, भूमि तथा रुपये के रूप में कुछ सहयोग प्रदान करती है।

जन-सहयोग :—राष्ट्रीय विस्तार-सेवा एवं सामुदायिक विकास कार्यक्रम वस्तुतः जनता के कार्यक्रम हैं अतः इनकी सफलता जनता के सहयोग पर ही आश्रित है। इसलिए इनके कार्य-सम्पादन में स्थानीय लोगों, उनके प्रतिनिधियों एवं लोक-संगठनों के सहयोग की भी व्यवस्था है। ग्राम-स्तर पर ग्राम पंचायत एवं सहकारी समितियाँ, खण्ड स्तर पर खण्ड-परामर्शदात्री समितियाँ एवं जिला-स्तर पर जिला विकास समितियाँ जन-सहयोग प्राप्त करने में सहायक होंगी। इस प्रकार इन कार्यक्रमों की सफलता मुख्यत: जन-सहयोग पर ही आधारित है। ३१ मार्च, १६६८ ई० तक इन कार्यक्रमों में जन-सहयोग से विभिन्न रूप में १५८·४ करोड़ रुपये की रकम प्राप्त हुई थी जबकि सरकार द्वारा उस समय तक कुल ५६०·१ करोड़ रुपये खर्च किये गये थे। इस प्रकार जन-सहयोग से प्राप्त कुल रकम सरकारी खर्च का प्राय: २८ प्रतिशत भाग थी।

सामुदायिक विकास कार्यक्रम की आलोचनात्मक समीक्षा

(An Appraisal of the Community Development Project)

सामुदायिक विकास कार्यक्रम आज से प्राय: २० वर्ष पूर्व आरम्भ किया गया था। अपने जीवनकाल के इन २० वर्षों में इस कार्यक्रम ने अच्छी प्रगति हासिल की है। किन्तु इस कार्यक्रम की प्रगति बिल्कुल संतोषजनक नहीं कही जा सकती। सामुदायिक विकास कार्यक्रम की कार्यवाहियों के मूल्यांकन के लिए योजना आयोग ने एक पृथक् संस्था की स्थापना की है जिसे Programmes Evaluation Organisation कहते हैं। Programmes Evaluation Organisation के विवरण से इस कार्यक्रम में निम्नलिखित त्रुटियाँ स्पष्ट होती हैं :—

(क) कृषि के क्षेत्र में असफलता (Agricultural Extension effort has been inadequate) :—इन कार्यक्रमों में कृषि को विशेष महत्त्व दिया गया है। किन्तु कृषि के क्षेत्र में जो सफलता प्राप्त हुई है वह लक्ष्य से बहुत ही कम है। यद्यपि कृषि के सुधरे हुए तरीकों का प्रचार हुआ है; फिर भी, अधिकांश गाँवों में सिंचाई; जोतों की चकबन्दी तथा भूमि-संरक्षण आदि कार्यों के सम्बन्ध में विशेष प्रयास नहीं किये गये हैं। वास्तव में कृषि के उत्पादन में वृद्धि के लिए ये कार्यक्रम बिल्कुल अनिवार्य हैं। सहकारी कृषि के क्षेत्र में भी अभी बहुत ही कम प्रगति हो पायी है।

(ख) ग्रामीण उद्योगों एवं सहकारिता के क्षेत्र में असंतोषजनक प्रगति :—ग्रामीण एवं कुटीर उद्योगों के विकास तथा सहकारिता के प्रसार के क्षेत्र में भी प्रगति प्रायः असंतोषजनक रही है।

(ग) बहुधन्धी समितियों तथा ग्राम-पंचायतों की असंतोषजनक प्रगति :—सामुदायिक विकास कार्यक्रम के अन्तर्गत बहुधन्धी सहकारी समितियों तथा ग्राम-पंचायतों के निर्माण पर भी विशेष रूप से जोर दिया जाता है, किन्तु इनकी प्रगति भी संतोषजनक नहीं रही है। ग्राम-पंचायतों को ही बहुत-सारे सामुदायिक विकास सम्बन्धी कार्यक्रमों का सम्पादन करना होता है। किन्तु, अभी ग्राम-पंचायतों का इस ढंग से विकास नहीं हो पाया है जिससे कि ये अपने इस दायित्व का वहन कर सकें।

(घ) स्वावलम्बन की भावना का अभाव :—सामुदायिक विकास कार्यक्रम के द्वारा लोगों में अभी तक स्वावलम्बन की भावना का विकास नहीं हो पाया है। इन क्षेत्रों में भी ग्रामीण जनता अपने विकास के लिए सरकार पर ही आश्रित हैं। यह इन कार्यक्रमों की सबसे बड़ी असफलता है।

(च) निर्धन व्यक्तियों को अपेक्षाकृत कम लाभ (Distribution of benifits of the programmes in favour of the priviledged classes) :—सामुदायिक विकास तथा राष्ट्रीय विस्तार-सेवा कार्यक्रमों से प्राप्त लाभ का भी गाँवों में समान रूप में वितरण नहीं हो पाया है। गाँवों में जिन पहले से लोगों के पास अधिक भूमि है, वे ही इससे अधिक लाभान्वित हुए हैं

(छ) आर्थिक विकास की अपेक्षा कल्याण-सम्बन्धी कार्यक्रमों पर अधिक जोर दिया गया (More emphasis on welfare activities than on economic development) है। इन कार्यक्रमों में वस्तुतः अस्पताल, विद्यालय, गलियों तथा नालियों के निर्माण में अधिक जोर दिया जाता है क्योंकि योजना अधिकारी इसके द्वारा आगंतुकों को अपने कार्यक्रमों की उपलब्धियों को सुगमतापूर्वक दिख सकें। आर्थिक विकास सम्बन्धी वास्तविक कार्यों जैसे ग्रामीण क्षेत्रों में रोजगार में वृद्धि, कृषि के उत्पादन में वृद्धि आदि की वास्तव में अवहेलना की जाती है।

(ज) पूंजीवादी कृषि को प्रोत्साहन (Community Development programme encouraged the growth of capitalistic agriculture) :—सामुदायिक विकास कार्यक्रम की शुरूआत भूमि-सुधार कार्यक्रमों से पहले ही हुई थी। अतएव सरकार द्वारा इन कार्यक्रमों के अंतर्गत दी जानेवाली सहायता से बड़े-बड़े किसान ही अधिक लाभान्वित हुए। इससे, वास्तव में, भूमि सुधार के प्रतिरोध को बल मिला। इस सम्बन्ध में प्रो० मिड्रल (Mydral) का निम्नांकित कथन विशेष रूप से उल्लेखनीय है : "Although Indian leaders profess to want to see agriculture assume a more socialist pattern, their own Community Development programme has the effect of making agricultural practice more capitalistic."[1]

इस प्रकार इन कार्यक्रमों में बहुत-सी त्रुटियाँ हैं। इन त्रुटियों से यह स्पष्ट है कि इन कार्यक्रमों के सम्पादन में आमूल परिवर्तन की आवश्यकता है। भारत सरकार के निमन्त्रण पर U. N. Technical Assistance Administration की एक कमिटी ने भारत में सामुदायिक विकास कार्यक्रमों की प्रगति का मूल्यांकन किया था। समिति ने इनमें सुधार के लिए बहुत से सुझाव प्रस्तुत किये। इस समिति के सुझाव इन कार्यक्रमों के पुनर्संगठन के लिए विशेष रूप से महत्त्वपूर्ण हैं।

किन्तु, इन त्रुटियों के बावजूद इन कार्यक्रमों ने देश के करोड़ों ग्राम वासियों में एक नवीन आशा का संचार किया है, एक नयी भावना की सृष्टि की है। फिर भी इन कार्यक्रमों की प्रगति बहुत ही धीमी रही है। इन कार्यक्रमों ने ग्राम वासियों में उस व्यापक उत्साह का संचार नहीं किया है जो किसी भी योजना के तीव्र गति से सम्पादन के लिए महत्त्वपूर्ण हैं। आज भी

1. Mydral : Asian Drama p. 1345.

अधिकांश व्यक्ति इन कार्यक्रमों के प्रति उदासीन हैं। ग्रामीण जनता की इस उदासीनता एवं अकर्मण्यता ने इन कार्यक्रमों की प्रगति के मार्ग में रुकावट उत्पन्न कर दिया है। साथ ही, प्रशिक्षित कर्मचारियों एवं धन के अभाव के कारण भी इनकी प्रगति धीमी पड़ जाती है। देश में ग्राम-पंचायत का संगठन भी बहुत ही दोषपूर्ण है। एक तो अधिकांश क्षेत्रों में अभी पंचायतों की स्थापना ही नहीं हुई है, और जहाँ इनकी स्थापना हुई भी है वहाँ आपसी द्वेष आदि के कारण इनका कार्य सुचारु रूप से नहीं चल पाता है।

बलवंत राय मेहता समिति के सुझाव :—योजना आयोग ने १९५६ ई० में श्री बलवंत राय मेहता की अध्यक्षता में एक अध्ययन दल की नियुक्ति की थी जिसने इन कार्यक्रमों के संचालन में सुधार लाने के लिए बहुत से सुझाव प्रस्तुत किये थे। इनमें निम्नलिखित प्रमुख हैं :—

(१) प्रजातन्त्रात्मक विकेन्द्रीकरण (Democratic decentralization) :—समिति ने विकास-सम्बन्धी कार्यों के सम्पादन के लिए प्रजातन्त्रात्मक विकेन्द्रीकरण के आधार पर एक संगठन की स्थापना का सुझाव दिया था। समिति के अनुसार प्रत्येक विकास खण्ड, जिसकी जनसंख्या १ लाख से अधिक नहीं होनी चाहिए, के लिए ग्राम-पंचायतों द्वारा अप्रत्यक्ष चुनाव पर आधारित एक पंचायत समिति का निर्माण होना चाहिए। इसी आधार पर सम्पूर्ण जिले में विकास-सम्बन्धी कार्यों के सम्पादन के लिए एक जिला पंचायत परिषद् होनी चाहिए। समिति का यह सुझाव वास्तव में बड़ा ही महत्त्वपूर्ण एवं क्रान्तिकारी है। हमारे राज्यों में सामुदायिक विकास कार्यक्रमों के सम्पादन की प्रणाली को इसी आधार पर संगठित किया जा रहा है। किन्तु पंचायत समिति तथा जिला परिषद् आपसी द्वेष एवं गुटबन्दी का अखाड़ा बन जायेंगे। अतएव यहाँ ध्यान देने योग्य बात यह है कि केवल प्रजातन्त्रात्मक विकेन्द्रीकरण से ही समस्याओं का समाधान नहीं हो सकता। इसके लिए जनता में बड़े पैमाने पर नैतिक परिवर्तन लाने की आवश्यकता होगी।

(२) बहुधन्धी सहकारी समितियों की स्थापना :—समिति के अनुसार प्रत्येक गाँव या कुछ गाँवों को मिलाकर एक बहुधन्धी सहकारी समिति (Multipurpose Co-operative Society) की स्थापना की जानी चाहिए जो पंचायत के साथ मिलकर कार्य करेगी। समिति की राय में सहकारिता का उद्देश्य केवल किसानों को कम सूद पर पूँजी प्रदान करना ही नहीं होना चाहिए वरन्, इसका उद्देश्य सामुदायिक विकास के माध्यम के रूप में कार्य करना होना चाहिए।

बलवंत राय मेहता समिति के सुझावों के आधार पर १९५८ ई० में सामुदायिक विकास कार्यक्रम का प्रजातन्त्रात्मक विकेन्द्रीकरण किया गया जिसके अनुसार गाँवों के विकास की जिम्मेदारी तीन निर्वाचित स्थानीय संस्थाओं के हाथ सुपुर्द कर दी गयी है :—(i) गाँव-स्तर पर ग्रामवासियों द्वारा निर्वाचित ग्राम-पंचायत, (ii) खंड-स्तर पर प्रत्येक खंड में एक पंचायत समिति जिसके सदस्य उस खंड के प्रत्येक पंचायत के निर्वाचित प्रधान होंगे, तथा (iii) जिला-स्तर पर जिला-परिषद् जिसके सदस्य प्रत्येक खण्ड समिति के निर्वाचित प्रधान होंगे। इसे पंचायत राज्य कहते हैं। अधिकांश राज्यों ने इस नयी व्यवस्था को अपना लिया है। पंचायत राज्य की स्थापना से गाँवों के विकास में बहुत अधिक सहायता मिलने की आशा की जाती है।

विशेष अध्ययन-सूची

1. Planning Commission — Second, Third and Fourth Five Year Plans.
2. Govt. of India — India 1971-72.
3. G. Mydral — Asian Drama.

तृतीय खण्ड

"The secret of rapid agricultural progress in under-developed countries is to be found much more in agricultural extension, in fertilisers, in new seeds, pesticides, and in water supplies than in altering the size of the farm, in introducing machinery, or in getting rid of middlemen in the marketing process." —**W. A. Lewis.**

भारतीय कृषि एवं कृषि-सम्बन्धी समस्याएं
(Indian Agriculture and Agricultural Problems)

अध्याय : १०

भारतीय कृषि का सामान्य सर्वेक्षण

(A General Survey of the Indian Agriculture)

भारत की आर्थिक व्यवस्था में कृषि का महत्त्व (Importance of Agriculture in the Indian Economy) :—भारत एक कृषि-प्रधान देश है। पिछले प्रायः २० वर्षों में देश के औद्योगीकरण के सतत् प्रयास के वावजूद कृषि भारतीय अर्थ-व्यवस्था का आधार है। यहाँ की प्रायः ७० प्रतिशत जनसंख्या कृषि पर ही आश्रित है। कृषि पर आश्रित जनसंख्या का प्रतिशत १८७२ ई० में ६५ था जो बढ़कर १९५१ ई० में ७० प्रतिशत हो गया। ब्रिटेन, अमेरिका, कैनाडा तथा न्यूजीलैंड आदि देशों में कृषि पर आश्रित व्यक्तियों का प्रतिशत बहुत ही कम है। इतना ही नहीं, भारतीय कृषि देश की राष्ट्रीय आय का भी प्रधान साधन है जो निम्नांकित तालिका[1] से स्पष्ट है :—

राष्ट्रीय आय में कृषि का हिस्सा

वर्ष	राष्ट्रीय आय (प्रचलित मूल्य पर) (करोड़ रुपये में)	केवल कृषि से प्राप्त आय (करोड़ रुपये में)	कृषि की आय कुल राष्ट्रीय आय के प्रतिशत में
१९४८-४९	८,६५०	४,२५०	४९·१
१९५०-५१	९,५३०	४,८९०	५१·३
१९५५-५६	९,९८०	४,५२०	४५·३
१९६०-६१	१३,३८०	६,५७१	४९·१
१९६५-६६	२०,७५६	९,९४५	४५·५
१९६८-६९	२८,८४१	१४,५३१	५०·६

इस प्रकार १९६८-६९ ई० के अनुमान के अनुसार देश की कुल राष्ट्रीय आय का प्रायः ५०·६ प्रतिशत भाग कृषि से ही प्राप्त हुआ था। जबकि संयुक्त राज्य अमेरिका तथा ब्रिटेन में कुल राष्ट्रीय आय का केवल ३ तथा कैनाडा में ५ प्रतिशत एवं आस्ट्रेलिया में ७·६ प्रतिशत कृषि से प्राप्त होता है। वास्तव में जो देश जितना ही अधिक विकसित होगा, राष्ट्रीय आय में कृषि का हिस्सा उतना ही कम होता है। इतना ही नहीं, भारतीय कृषि से देश की विशाल जनसंख्या को भोजन प्राप्त होता है। साथ ही, कृषि से देश के बहुत-से उद्योग-धन्धों के लिए कच्चे पदार्थ भी प्राप्त होते हैं जिनमें सूती वस्त्र, जूट, चीनी, वनस्पति तथा बगान-उद्योग इत्यादि के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। भारत से निर्यात किये जाने वाले पदार्थों में भी कृषि-पदार्थों, जैसे-चाय, कहवा, तिलहन तथा तम्बाकू आदि की प्रधानता है। भारत से निर्यात की जाने वाली वस्तुओं में ५० प्रतिशत कृषि-पदार्थों तथा २० प्रतिशत कृषि पर आधारित उद्योगों का होता है। इस प्रकार यह विदेशी मुद्रा प्राप्त करने का

1. India—1970.

भी प्रधान साधन है। देश में केन्द्रीय सरकार तथा राज्य सरकारों को भी कृषि से विभिन्न रूप में प्रति वर्ष पर्याप्त मात्रा में आय प्राप्त होती हैं। भारत में यातायात के साधनों की आय भी कृषि पर ही आधारित है। देश के आन्तरिक व्यापार में कृषि की ही प्रधानता है। इन कारणों से देश के आयोजित आर्थिक विकास में भी कृषि का महत्त्वपूर्ण स्थान है। वस्तुतः, आर्थिक नियोजन की सफलता कृषि-उत्पादन में आशातीत वृद्धि पर ही आधारित है। इस प्रकार भारत की आर्थिक व्यवस्था में कृषि का बड़ा ही महत्त्वपूर्ण स्थान है। वस्तुतः कृषि, की समृद्धि पर ही देश की समृद्धि भी आधारित है।

भारत की आर्थिक व्यवस्था में कृषि का महत्त्व ब्रिटिश शासन काल के एक गवर्नर जेनरल **लार्ड मेयो** (Mayo) द्वारा ब्रिटिश सरकार को दिये गये निम्न विवरण से लगाया जा सकता है: "**आनेवाली अनेक पीढ़ियों तक धन एवं सभ्यता के विकास की दृष्टि से भारत की प्रगति प्रत्यक्ष रूप से उसकी कृषि की प्रगति पर निर्भर करेगी। संसार में सम्भवतः कोई भी ऐसा देश नहीं है जिसका कृषि में इतना प्रत्यक्ष, सीधा एवं घनिष्ठ स्वार्थ निहित है। भारत सरकार केवल सरकार ही नहीं, वरन् एक भू-स्वामी भी है।**" (For generations to come, the progress of wealth and civilization in India must be dependent on her progress in Agriculture. There is perhaps no country in the world in which the state has so immediate and direct interest in agriculture. The Government of India is not only a Government, but also the chief landlord.)

किन्तु भारत के आर्थिक जीवन में इतना महत्त्वपूर्ण स्थान होते हुए भी भारतीय कृषि आज अत्यन्त पिछड़ी हुई स्थिति में है। भारतीय कृषि की प्रति एकड़ उपज विश्व के अन्य सभी देशों से कम है। इससे हाल तक ही देश में प्रतिवर्ष बहुत बड़ी मात्रा में खाद्यान्न का आयात करना पड़ता था। इस प्रकार १९५१ ई० में ४७·३ लाख टन, १९५७ ई० में ३५·८ लाख टन, १९५९ ई० में ३७·१ लाख टन तथा १९६० ई० में प्रायः ४५ लाख टन खाद्यान्न का आयत करना पड़ा था। १९६७ ई० में ५३२ करोड़ रुपये मूल्य के ८६·७२ लाख टन अन्न का विदेशों से आयात किया गया था।[1] **डॉ० क्लाउस्टन** ने इस सम्बन्ध में ठीक ही कहा है कि "**भारत में पिछड़ी हुई जातियाँ तो हैं ही, पिछड़े हुए व्यवसाय भी हैं और दुर्भाग्यवश कृषि उनमें से एक है।**" (In India, we have our depressed classes, we too have our depressed industries and agriculture, unfortunately, is one of them.) भारतीय कृषि की इस कम उपज अथवा पिछड़े होने के अनेक कारण हैं, किन्तु इसका प्रमुख कारण गत १०० वर्षों में भारतीय कृषि का इंगलैंड की आवश्यकताओं के अनुरूप विकसित होना ही है।

कृषि का विकास देश के आर्थिक विकास के लिए अनिवार्य (Agricultural Development Essential for Economic Growth) :—भारतीय कृषि का महत्त्व इस बात से स्पष्ट हो जाता है कि इसका विकास देश के आर्थिक विकास के लिए बिल्कुल अनिवार्य है। प्रो० रैगनर नर्क्स ने आर्थिक विकास के संदर्भ में इस बात का सुझाव दिया है कि कृषि से अतिरिक्त जनसंख्या को हटाकर उद्योग-धन्धों में लगाना चाहिए। किन्तु भारत में प्रो० नर्क्स के सुझाव से इस सम्बन्ध में कई कारणों से घोर आशंका व्यक्त की जाती है। **सर्वप्रथम** तो औद्योगीकरण के लिए केवल

1—India, 1968. किन्तु भारत सरकार ने १९७२-७३ से खाद्यान्नों के आयात को बिल्कुल समाप्त करने का निर्णय किया है।

कृषि से मजदूरों को हटाकर उद्योग-धन्धों में लगाना ही पर्याप्त नहीं होगा। वास्तव में, औद्योगीकरण के लिए देशवासियों में एक विशेष प्रकार की मनोवृत्ति की आवश्यकता होती है जिसका अभी भारत में अभाव है। **द्वितीयतः**, तीव्र गति से औद्योगीकरण के लिए बढ़ती हुई शहरी आबादी को खिलाने के लिए भी खाद्यान्नों की पूर्ति में बहुत अधिक वृद्धि करनी होगी। इसी प्रकार उद्योग-धंधों की बढ़ती हुई आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए आवश्यक कच्चे पदार्थों के उत्पादन में भी बहुत अधिक वृद्धि करनी होगी। **तृतीयतः**, भारत जैसे विशाल जनसंख्या वाले देश में नये-नये उद्योग-धंधों के अन्तर्गत रोजगार प्रदान करना संभव नहीं है। वास्तव में, उद्योग-धन्धों के रोजगार प्रदान करने की शक्ति की एक सीमा होती है। अतएव देश के विशाल जनसंख्या के लिए कृषि अथवा ग्रामीण उद्योगों में ही अतिरिक्त रोजगार की व्यवस्था करनी होगी।

उपरोक्त विवेचन से स्पष्ट है कि भारत जैसे देश के आर्थिक विकास की किसी भी योजना में कृषि के विकास पर पर्याप्त ध्यान देना अनिवार्य है। भारत के योजना निर्माताओं को द्वितीय एवं तृतीय योजनाओं से यह चेतावनी प्राप्त हो गयी कि कृषि के क्षेत्र में विकास की शिथिलता से सम्पूर्ण योजनाकरण की प्रक्रिया को ही धक्का लग सकता है।

कृषि की उत्पादकता में वृद्धि (Increase in Agricultural Productivity) :—कृषि के उत्पादन में वृद्धि के लिए इसकी उत्पादकता, यानी प्रति एकड़ उपज (per acre yield) में वृद्धि अनिवार्य है। प्रथम पंचवर्षीय योजना काल में इस सम्बन्ध में महत्त्वपूर्ण प्रयास किये गये। बाद की योजनाओं में भी गहन कृषि-विकास के कार्यक्रमों पर अधिक जोर देने के कारण कृषि की उत्पादकता में निश्चित रूप से वृद्धि हुई है जो निम्नांकित तालिका से स्पष्ट है :—

कृषि की उत्पादकता का सूचनांक[1]

वर्ष	खाद्यान्नों की उत्पादकता का सूचनांक	गैर-खाद्यान्नों की उत्पादकता का सूचनांक	सभी वस्तुओं की उत्पादकता का सूचनांक
१९४९-५०	१००	१००	१००
१९६०-६१	११७	१०६	११८
१९६५-६६	१०६	१०३	११०
१९७०-७१	१४६	११८	१४१

उपरोक्त तालिका से स्पष्ट है कि पिछले प्रायः २०-२१ वर्षों में कृषि की उत्पादकता में प्रायः ४१ प्रतिशत की वृद्धि हुई है। उत्पादकता में वृद्धि गैर-खाद्य फसलों की तुलना में खाद्य-फसलों में ही अधिक हुई है। इसका प्रधान कारण खाद्यान्नों की कमी को दूर करने के लिए पंचवर्षीय योजनाओं में इनके उत्पादन में वृद्धि पर अधिक जोर है।

भारत में भूमि का उपयोग

(Land Utilization in India)

भारत का कुल भौगोलिक क्षेत्रफल ३२६८ लाख हेक्टर है। इसमें से १९६८-६९ ई० में केवल ३०५६ लाख हेक्टर भूमि, अर्थात् कुल क्षेत्रफल के प्रायः ९३·६ प्रतिशत भाग भूमि के लिए ही आँकड़े उपलब्ध थे। १९६८-६९ ई० में भारत संघ की कुल भूमि के उपयोग के सम्बन्ध में निम्नलिखित आँकड़े उपलब्ध थे :—

1. Indian Agriculture in Brief 1971 : P 101-102.

भारत संघ की भूमि का उपयोग[1] (लाख हेक्टर में) १९६८-६९ ई० में

वर्गीकरण	क्षेत्र	कुल सूचित क्षेत्र का प्रतिशत
१. कुल सूचित क्षेत्रफल (Total area reporting)	३०५६	१००
२. वन (Forest)	६२३	२०
३. कृषि के लिए अप्राप्य भूमि (Not available for cultivation)	४८३	१६
४. बंजर भूमि (Fallow land)	२२६	७
५. बंजर के अतिरिक्त अन्य अकृष्य भूमि (Other uncultivated land excluding fallow)	३५३	११
६. वास्तविक बोया गया क्षेत्र (Net area Sown)	१३८०	४५
७. एक से अधिक बार बोया गया क्षेत्र (Area Sown more than once)	२३०	७
८. कुल बोया गया क्षेत्र (Total cropped area)	१६१०	५२

भारत में भूमि के उपयोग-सम्बन्धी आंकड़ों के अध्ययन से यह स्पष्ट है कि यहाँ कुल सिंचित क्षेत्र के प्राय: ४५ प्रतिशत भाग भूमि में ही खेती का जाती है। वास्तविक बोये गये क्षेत्र के अन्तर्गत पिछले कुछ वर्षों से निरन्तर वृद्धि हो रही है। १९५०-५१ ई० में यह ११८७ लाख हेक्टर था, १९६८-६९ ई० में १३८० लाख हेक्टर हो गया। अतएव यहाँ कृषि-योग्य भूमि का औसत (१९६१ ई० की जनगणना के अनुसार) प्राय: ०·७५ एकड़ ही पड़ता है। कुल सूचित भूमि का प्राय: ७ प्रतिशत भाग बंजर है। बंजर के अतिरिक्त अन्य अकृष्य भूमि का क्षेत्र ३५३ लाख हेक्टर है। इस प्रकार की भूमि का अधिकांश भाग भूमि-उद्धार के द्वारा कृषि के अन्तर्गत लाया जा सकता है। योजना आयोग का मत है कि भारत में "जबकि जनसंख्या में उत्तरोत्तर वृद्धि होती जा रही है तथा भूमि के धरातल की पूर्त्ति स्थिर है और साथ ही इसका कुछ ही भाग कृषि के लिए उपलब्ध है····सिंचाई तथा कृषि-विकास के अन्य उपायों के द्वारा भूमि की उत्पादकता में पर्याप्त वृद्धि की जा सकती है तथापि यह आवश्यक है कि इस बात का पता लगाया जाय कि बंजर भूमि में से कितनी भूमि हमें कृषि के लिए और उपलब्ध हो सकती है। बढ़ती हुई जनसंख्या का एक प्रभाव यह भी पड़ेगा कि जो भूमि इस समय कृषि के अन्तर्गत है उसका कुछ क्षेत्र मकानों के निर्माण में चला जाय। सड़कों, रेलों, हवाई अड्डों आदि यातायात के साधनों के विकास होने पर भी भूमि का कुछ भाग इनमें चला जायगा। तेजी से होने वाले नागरीकीकरण (Urbanization) तथा बड़े-बड़े शहरों के आकार में वृद्धि होने के फलस्वरूप भूमि की और आवश्यकता पड़ेगी। सिंचाई के वृहत् बाँध भी कुछ उर्वर भूमि को अपने अन्तर्गत जल-प्लावित कर देंगे। साथ ही औद्योगिक कारखानों एवं अन्य प्रतिष्ठानों के लिए भी पर्याप्त भूमि चाहिये।

1. India Pocket Book of Economic Information, 1970.

देश की बढ़ती हुई जनसंख्या के कारण देश में भूमि-मानव अनुपात (Land-man ratio) में निरन्तर कमी हो रही है। निम्नांकित तालिका[1] से यह स्पष्ट है :—

१६०१ ई० से प्रति व्यक्ति उपलब्ध भूमि का क्षेत्र

वर्ष	प्रति-व्यक्ति उपलब्ध कृषि-योग्य भूमि का क्षेत्र
१६०१	१·०३ एकड़
१६११	१·०६ ,,
१६२१	१·११ ,,
१६३१	१·०४ ,,
१६४१	०·६४ ,,
१६५१	०·८४ ,,
१६६१	०·७५ ,,

भारत में कृषि-योग्य भूमि के क्षेत्र में वृद्धि की सम्भावना (Scope for increasing area under cultivation in India) :—भारत की वर्त्तमान खाद्य-समस्या के समाधान का एक प्रधान उपाय कृषि-योग्य भूमि के क्षेत्र में वृद्धि है। किसी देश की कृषि-योग्य भूमि में दो प्रकार से वृद्धि की जा सकती है—(क) **विस्तृत कृषि** (Extensive cultivation)—जब कृषि के क्षेत्र में अधिकाधिक वृद्धि कर कृषि के क्षेत्र का विस्तार किया जाता है तो इसे विस्तृत कृषि कहते हैं। (ख) **गहन कृषि** (Intensive cultivation)—जब एक निश्चित भूमि के टुकड़े पर ही अधिक पूँजी, श्रम तथा अन्य उपकरणों का प्रयोग किया जाता है तो इसे गहन कृषि कहते हैं। अब भारत में इन दोनों उपायों द्वारा कृषि के क्षेत्र में वृद्धि की सम्भावनाओं पर विचार किया जायगा।

जहाँ तक विस्तृत कृषि का प्रश्न है, इसके लिए देश में कृषि-योग्य भूमि के क्षेत्र में वृद्धि की आवश्यकता पड़ेगी। १६६८-६६ ई० में देश में बंजर-भूमि का क्षेत्र २२६ लाख हेक्टर तथा बंजर के अतिरिक्त अन्य अकृष्य भूमि का क्षेत्र ३५३ लाख हेक्टर था। इसके अतिरिक्त वनों के अन्तर्गत भूमि का क्षेत्र ६२३ लाख हेक्टर तथा कृषि के लिए अप्राप्य भूमि का क्षेत्र ४८३ लाख हेक्टर था। इसमें वनों के अन्तर्गत की भूमि को कृषि के अन्तर्गत लाना सम्भव नहीं है, क्योंकि देश में जंगलों का आज भी अभाव है। १६५२ ई० की सरकारी वन-नीति के अनुसार देश के कुल भौगोलिक क्षेत्र के कम-से-कम एक-तिहाई भाग में वनों का होना अनिवार्य है। इसी प्रकार कृषि के लिए अप्राप्य भूमि को भी कृषि के अन्तर्गत नहीं लाया जा सकता क्योंकि इस प्रकार की भूमि पहाड़, नदी, झील तथा मरुभूमि आदि के रूप में है अथवा मकान, सड़क इत्यादि के रूप में है। अतएव कृषि के क्षेत्र में वृद्धि की सारी आशाओं का केन्द्र बंजर तथा अन्य अकृष्य भूमि ही है। इस प्रकार की भूमि को विभिन्न उपायों द्वारा कृषि के अन्तर्गत लाया जा सकता है। किन्तु बंजर भूमि के उद्धार में भी बहुत अधिक कठिनाइयाँ हैं। सर्वप्रथम तो यह कार्य बहुत अधिक खर्चीला है। इसके लिए भारी-भारी ट्रैक्टरों की आवश्यकता पड़ती है। साथ ही, बंजर भूमि वाले क्षेत्रों की जलवायु भी अस्वास्थ्यकर होती है तथा इसमें आवागमन के साधनों का पूर्णतया अभाव रहता है। अतः इसमें सुधार के साथ-साथ जीवन की अन्य सुविधाओं की व्यवस्था भी अनिवार्य है। केन्द्रीय तथा राज्य सरकारों द्वारा पंचवर्षीय योजनाओं के अन्तर्गत इन क्षेत्रों में प्रयास किये जा रहे हैं तथा कुछ सफलता भी प्राप्त हुई है।

1. All India Rural Credit Survey, Vol. II-P. 21.

किन्तु, यद्यपि देश में विस्तृत कृषि की पर्याप्त संभावनाएँ मौजूद हैं, फिर भी देश की बढ़ती हुई जनसंख्या को देखते हुए यह कहना पड़ता है कि इससे दीर्घकाल में स्थिति में कोई आशाजनक सुधार नहीं हो सकता। अतएव दीर्घकाल में हमें इसके लिए गहन कृषि पर ही निर्भर करना पड़ेगा। भारत में गहन कृषि की बहुत अधिक संभावनाएँ हैं। यहाँ अभी प्रति-एकड़ उपज अन्य देशों की अपेक्षा बहुत ही कम है। अतएव अच्छे बीज, अच्छी एवं पर्याप्त मात्रा में खाद, नये-नये औजारों तथा अन्य उन्नत तरीकों को अपनाकर हम इसमें वृद्धि ला सकते हैं। इस सम्बन्ध में जापान तथा मिस्र का उदाहरण हमारे लिए विशेष शिक्षाप्रद है। भारत में प्रति-व्यक्ति उपलब्ध कृषि योग्य भूमि का क्षेत्र ०.७५ एकड़ है जबकि जापान में यह केवल ०.१७ एकड़, ब्रिटेन में ०.४२ एकड़, पश्चिमी जर्मनी में ०.४८ एकड़, चीन में ०.५० एकड़, संयुक्त राज्य अमेरिका २.६८ एकड़, रूस में २.५६ एकड़ तथा कैनाडा में ५०.७५ एकड़[1] है। किन्तु गहन कृषि को अपनाने के कारण इन देशों में प्रति एकड़ उपज बहुत अधिक होती है। भारत में भी इन उपायों को अपनाने से कृषि के उत्पादन में महत्त्वपूर्ण वृद्धि की जा सकती है।

इस प्रकार निष्कर्ष के तौर पर यह कहा जा सकता है कि "**भारतीय कृषि का भविष्य गहन कृषि पर ही निर्भर करता है न कि कृषि के क्षेत्र में विस्तार पर।**" (The future of the Indian Agriculture lies in intensification of cultivation rather than in extension of the cultivated area) किन्तु इसके लिए पूँजी की आवश्यकता होगी और अभी हमारे देश में किसानों के पास पर्याप्त मात्रा में पूँजी का अभाव है। अतएव पर्याप्त मात्रा में पूँजी की व्यवस्था कर हम गहन कृषि के द्वारा भारतीय कृषि का विकास कर सकते हैं।

भारतीय कृषि की प्रमुख समस्याएँ
(Main Problems of Indian Agriculture)

भारत एक कृषि-प्रधान देश है। किन्तु, कृषि-प्रधान देश होते हुए आज भी यहाँ कृषि की स्थिति अत्यन्त दयनीय है जिसके परिणामस्वरूप हमें विदेशों में लाये गये अन्न पर निर्भर करना पड़ता है। विश्व के कुछ प्रमुख देशों में खाद्यान्न के कुल उत्पादन तथा प्रति-व्यक्ति उपलब्धि को देखने से इस सम्बन्ध में भारत की वास्तविक स्थिति स्पष्ट हो जाती है :—

देश[2]	जनसंख्या (करोड़ में) १९६७ में	१९६७ में खाद्यान्न का कुल उत्पादन (लाख टन में)	प्रति-व्यक्ति प्रति-दिन ग्राम में उपलब्धि
सं० रा० अमेरिका	१९.९	२५२६	३४७८
सो० संघ	२३.६	१४१३	१६४०
फ्रांस	५.०	३१८	१७४२
जापान	१०.०	२१०	५७५
चीन	७९.७	१८४३	६३४
भारत	५१.१	९६०	५१५

भारतीय कृषि के समक्ष आज अनेक समस्याएँ हैं। इन समस्याओं को निम्नलिखित दो वर्गों के अन्तर्गत रखा जा सकता है :—

1. Third Five Year Plan p. 148.
2. Production Year Book 1968, Food and Agricultural Org. U. N. O.

(१) **कृषि की परिस्थितियों तथा तरीकों में विभिन्नता** (Differences in agricultural conditions and practices) :—सर्वप्रथम तो भारत संघ के भिन्न-भिन्न भागों में कृषि की परिस्थितियों तथा तरीकों में घोर विभिन्नता पायी जाती है। देश के भिन्न-भिन्न भागों में मिट्टी की बनावट, जलवायु तथा फसलों के तरीकों में विभिन्नता आदि पायी जाती है। भारतीय कृषि में इस प्रकार की विभिन्नता आरम्भ से ही पायी जाती है। इससे कृषि-विकास की कोई भी योजना तैयार करने में कठिनाई होती है। ब्रिटिश शासनकाल में इस समस्या के समाधान के लिए देश की कृषि में सामंजस्य उत्पन्न करने का कोई भी प्रयत्न नहीं किया गया। किन्तु स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद पंचवर्षीय योजनाओं के अन्तर्गत इस प्रकार के प्रयत्न किये जा रहे हैं।

(२) **प्रति-एकड़ कम उपज** (Low yield per acre) :—भारतीय कृषि की दूसरी प्रमुख समस्या **अन्य देशों की अपेक्षा यहाँ प्रति-एकड़ निम्न उत्पादन तथा फसलों की उपज का कम होना है।** (Comparing Indian agriculture with that in other countries, we find that productivity per acre and crop yields are distinctly low.) भारत में प्रति एकड़ गेहूँ का उत्पादन मिस्र के एक-तिहाई तथा हालैंड और डेनमार्क के एक चौथाई के बराबर एवं चावल का उत्पादन इटली के लगभग एक-चौथाई भाग के बराबर है। मकई का उत्पादन स्विट्जरलैंड तथा न्यूजीलैंड के एक-'तहाई भाग के बराबर है। गन्ने का उत्पादन क्यूबा के एक-तिहाई से कम, जावा के एक-चौथाई के बराबर, तथा हवाई का सातवाँ भाग है। कपास का उत्पादन मिस्र के एक-तिहाई भाग से भी कम है। इस प्रकार स्पष्ट है कि भारत में प्रति-एकड़ उपज अन्य सभी देशों की अपेक्षा बहुत ही कम है।

भारतीय कृषि के पिछड़े होने अथवा कम उपज के कारण

(Causes of the Backwardness or Low yield of Indian Agriculture)

भारतीय कृषि के पिछड़े होने अथवा प्रति-एकड़ कम उपज के निम्नलिखित मुख्य कारण हैं :—

(क) भूमि पर लगातार कृषि करने से इसकी उर्वरता कम हो गयी है। भूमि की उर्वरता में वृद्धि के लिए यहाँ पर किसान कृत्रिम खाद का बहुत कम प्रयोग करते हैं। इससे प्रति-एकड़ उपज का कम होना अति स्वाभाविक है।

(ख) भारतीय कृषि मौसमी हवाओं पर आश्रित है। किन्तु यहाँ मौसमी हवाओं की प्रकृति बहुत ही अनिश्चित है। साथ ही, यहाँ सिंचाई के समुचित साधनों का अभाव है। अभी तक देश की कुल कृषि की जाने वाली भूमि के प्राय: १६ प्रतिशत भाग में सिंचाई की सुविधा उपलब्ध हो पायी है। इस प्रकार सिंचाई के साधनों के अभाव में कृषि की प्रकृति अनिश्चित हो जाती है। **नोवेल्स** (Knowels) ने इस सम्बन्ध में ठीक ही कहा है कि **'भारत में मौनसून न आये तो कृषि-उद्योग में तालेबन्दी हो जाती है।'** (If monsoon fails, there is a lockout in agricultural industry.)

(ग) भारतीय किसान वर्ष में अधिकांशत: एक ही फसल उत्पन्न करता है। साथ ही, यहाँ फसलों के हेर-फेर की पद्धति (Rotation of crops) का प्रयोग भी नहीं किया जाता है।

(घ) उत्तम पशु और अच्छे बीज तथा आधुनिक औजारों का अभाव आदि भी भारतीय कृषि की कम उपज के लिए बहुत हद तक उत्तरदायी हैं।

(च) जोतों का अत्यधिक उपविभाजन (Subdivision) एवं अपखंडन (Fragmentation) भी भारतीय कृषि की कम उपज का एक प्रधान कारण है। भारत में औसत जोत का

आकार लगभग ७·५ एकड़ है जबकि संयुक्त राज्य अमेरिका में यह १४५ एकड़, डेनमार्क में ८० एकड़, इंगलैंड में ६२ एकड़ तथा जर्मनी में २१ एकड़ है। इससे भारत में जोतों के उपविभाजन का अन्दाजा लगता है। किसान के लिए छोटी-छोटी एवं बिखरी हुई जोतों का अर्थ है कम उपज, बर्बादी एवं ऋण का अधिक बोझ। (Undersized and scattered hodlings mean low productivity, waste and debt.)

(छ) ग्रामीण ऋण एवं महाजनों की शोषण-नीति भी भारतीय कृषि की कम उपज के कारणों में एक प्रधान कारण है। भारतीय किसान ऋण के अतिशय बोझ से दबे रहते हैं। इनकी आय का अधिकांश भाग ब्याज आदि के भुगतान में ही समाप्त हो जाता है। इस प्रकार आर्थिक एवं वित्तीय कठिनाइयों के कारण किसान भूमि-सुधार में अपना समय एवं शक्ति नहीं लगा सकते हैं।

(ज) भारत में भूमि पर जनसंख्या का अत्यधिक भार है। देश की कुल जनसंख्या के प्राय: ७० प्रतिशत व्यक्ति कृषि पर ही आश्रित हैं। इतना ही नहीं, कृषि पर आश्रित जनसंख्या का यह बोझ दिन-प्रति-दिन बढ़ता ही जा रहा है। देश की जनसंख्या में प्राय: १ करोड़ से भी अधिक की दर से प्रतिवर्ष वृद्धि हो रही है जिसमें से अधिकांश का सम्बन्ध कृषि से ही रहता है। प्रो० जॉन ई० रसेल (John E. Russel) ने यह अनुमान लगाया है कि प्रति सौ एकड़ भूमि पर पोलैंड में ३१ व्यक्ति; रूमानिया में ३० व्यक्ति, बुलगेरिया में ३३ व्यक्ति तथा ब्रिटेन में केवल ६ व्यक्ति काम करते हैं जबकि भारत में प्राय: १४८ व्यक्ति काम करते हैं। इससे भारत में भूमि पर जनसंख्या का अत्यधिक दबाव (Excessive pressure of population on land) स्पष्ट हो जाता है।

(झ) उचित विक्रय-व्यवस्था एवं गोदाम आदि की सुविधा का अभाव भी भारतीय कृषि के पिछड़े होने के कारणों में एक प्रधान कारण है। भारतीय किसान को उपजों के वर्गीकरण की भी सुविधा नहीं है, प्रामाणिक माप एवं वजन का अभाव है तथा किसान एवं उनकी उपज के उपभोक्ताओं के बीच मध्यस्थों की एक बहुत बड़ी लड़ी पायी जाती है जो अपनी अनावश्यक सेवाओं के लिए किसानों के लाभ का एक प्रमुख भाग स्वयं रख लेते हैं।

(ञ) भूमि की समुचित व्यवस्था का अभाव भी भारतीय कृषि के पिछड़े होने के कारणों में एक प्रधान है। भारतीय ग्रामों में अनुपस्थित जमींदारी व्यवस्था तथा किसानों की आर्थिक दासता पायी जाती है जो भारतीय कृषि की कम उपज अथवा पिछड़े होने के कारणों में प्रधान है।

सुधार के उपाय
(Remedial Measures)

भारतीय कृषि एवं किसानों के समक्ष उक्त सारी समस्याएँ हैं जिनके समाधान पर ही कृषि का विकास निर्भर करता है। स्पष्ट है कि भारतीय कृषि की सबसे बड़ी समस्या पूँजी के अभाव की समस्या है। पूँजी के अभाव की समस्या का समाधान किसानों के मध्य सहकारिता के प्रचार द्वारा किया जा सकता है। परन्तु भारतीय कृषि में विकास वस्तुत: इसमें संस्थागत एवं यांत्रिक परिवर्तनों तथा ऐसे उपायों पर निर्भर करता है जिनसे कृषि को मौनसून की अनिश्चितताओं से मुक्त किया जा सके। संस्थागत (Institutional) परिवर्तनों के अन्तर्गत देश के वर्तमान रैयती कानून एवं भूमि-व्यवस्था में परिवर्तन लाना होगा। इस प्रकार के परिवर्तनों का प्रधान उद्देश्य

देश में कृषक-स्वामित्व (Peasant proprietorship) की प्रथा तथा सहकारी कृषक-व्यवस्था होना चाहिए। साथ ही, महाजन तथा ग्रामीण ऋण की समस्या के समाधान के लिए भी सहकारी साख समितियों एवं गोदामों की व्यवस्था अनिवार्य है। इनकी स्थापना से महाजन एवं मध्यस्थ अपने-आप समाप्त हो जायेंगे। इस प्रकार उक्त परिवर्तनों द्वारा कृषि-व्यवस्था को सुदृढ़ आधार प्रदान किया जा सकता है।

किन्तु, संस्थागत परिवर्तनों के साथ-साथ कृषि के तरीकों में भी क्रांतिकारी परिवर्तनों की आवश्यकता है। कृषि के तरीकों में सुधार द्वारा प्रति-एकड़ उपज में वृद्धि होगी तथा उपज की किस्म में भी सुधार होगा। किन्तु, इससे बहुत बड़ी संख्या में लोगों को कृषि के अतिरिक्त अन्य उद्योगों में रोजगार प्रदान करना होगा। इस प्रकार स्पष्ट है कि कृषि में स्थायी सुधार के लिए एक सुव्यवस्थित योजना की आवश्यकता है। सुव्यवस्थित कृषि-नियोजन के बगैर कृषि एवं किसानों की स्थिति में सुधार प्रायः असम्भव है।

अन्त में निष्कर्ष के तौर पर यह कहा जा सकता है कि भारत जैसे-अर्द्ध-विकसित देश में कृषि की उन्नति मुख्य रूप से अच्छी खाद, उत्तम बीज, कीड़े-मकोड़ों को मारने की दवा तथा सिंचाई की सुविधा आदि पर निर्भर करती है। **प्रो० लिविस** (Lewis) का इस सम्बन्ध में यह कथन विशेष रूप से उल्लेखनीय है—"The secret of rapid agricultural progress in the under-developed countries is to be found much more in agricultural extension, in fertilisers, in new seeds, in pesticides and in water supplies than in altering the size of the farm, introducing machinery, or in getting rid of middlemen in marketing operations."[1]

भारतीय कृषि की मुख्य उपजें
(Important Indian Crops)

भारतीय कृषि की उपजें दो प्रकार की होती हैं—(१) **खाद्य-फसलें** (Food Crops) :— इनके अन्तर्गत चावल, गेहूँ, चना, जौ तथा अन्य दालें प्रमुख हैं; तथा (२) **अखाद्य-फसलें** (Non-food crops)—इनमें कपास, जूट, रबर तथा तम्बाकू आदि उल्लेखनीय हैं। भारतीय कृषि में प्रारम्भ से ही खाद्य-फसलों की प्रधानता रही है। १९४० ई० में कुल कृषि की जाने वाली भूमि के प्रायः ८० प्रतिशत भाग में खाद्य-फसलों की तथा २० प्रतिशत भाग में अखाद्य-फसलों की खेती हुई थी। आज भी खाद्य-फसलों का अनुपात प्रायः यही है। १९६०-६१ में भारत के कुल ३४३६ लाख एकड़ भूमि में खेती हुई थी, जिसमें से २७९६ लाख एकड़, यानी प्रायः ८० प्रतिशत भाग में खाद्य-फसलों तथा ६४० लाख एकड़, यानी प्रायः २० प्रतिशत भाग में अखाद्य-फसलों की खेती हुई थी।

कृषि-फसलों के क्षेत्र में वृद्धि (Increase in the area under different crops) :— १९५०-५१ से १९६७-६८ के बीच कुल कृषि की जाने वाली भूमि के क्षेत्र में २८ प्रतिशत की वृद्धि हुई। इसमें से गैर खाद्य-फसलों में ३९ प्रतिशत तथा खाद्य-फसलों के क्षेत्र में २६ प्रतिशत की वृद्धि हुई। निम्नांकित तालिका[2] से विभिन्न फसलों के क्षेत्र में १९५०-५१ से १९६७-६८ के बीच हुई वृद्धि का अन्दाजा लगता है :—

1. W. A. Lewis : The Theory of Economic Growth, p. 134.
2. India Agriculture in Brief 1971, p. 28-29.

विभिन्न फसलों के क्षेत्र में परिवर्त्तन १९५०-५१ = १००

फसलें	१९५०-५१	१९६०-६१	१९६७-६८
चावल	१००	११०	११९
गेहूँ	१००	१३२	१५३
ज्वार	१००	११८	१२०
दालें	१००	१२८	१२४
तेलहन	१००	१२७	१४३
कपास	१००	१३०	१३८
गन्ना	१००	१४१	११९

उपरोक्त तालिका से स्पष्ट है कि गेहूँ के क्षेत्र में ५३ प्रतिशत, तेलहन के क्षेत्र में ४३ प्रतिशत तथा कपास के क्षेत्र में ३८ प्रतिशत वृद्धि हुई है।

खाद्य-फसलें
(Food-Crops)

भारतीय कृषि में खाद्य-फसलों की ही प्रधानता है। ये विभिन्न प्रकार की खाद्य-फसलें देश की विशाल जनसंख्या के भोजन का प्रधान साधन हैं। १९६०-६१ ई० में खाद्यान्नों का कुल उत्पादन ८२० लाख टन था। किन्तु तृतीय योजनाकाल के अन्त में खाद्यान्नों का उत्पादन घटकर १९६५-६६ ई० में ७२३ लाख टन हो गया जो पुनः बढ़कर १९६८-६९ में ९८० लाख टन हो गया। चतुर्थ योजना के अन्त में, यानी १९७३-७४ ई० में इसे १२९० लाख टन करने का आयोजन है।

भारत की खाद्य-फसलों में निम्नलिखित प्रधान हैं :—

चावल (Rice) :—चावल भारत की प्रमुख खाद्य-फसल है तथा देश के अधिकांश लोगों के भोजन का एक प्रधान अंग है। विश्व के चावल-उत्पादक देशों में भारत का द्वितीय स्थान है। बर्मा के भारत से अलग होने के पूर्व भारत सम्पूर्ण विश्व का प्राय ४० प्रतिशत भाग चावल उत्पन्न करता था। साथ ही, यह विश्व में चावल का सबसे बड़ा निर्यातक देश भी था। किन्तु आजकल, विशेषतः, देश-विभाजन के पश्चात् तो हमें स्वयं बर्मा, श्याम आदि देशों से बहुत अधिक मात्रा में चावल का आयात करना पड़ता है। चावल की खेती मुख्यतः आन्ध्र प्रदेश, तमिलनाडु, पश्चिमी बंगाल, बिहार, उड़ीसा, उत्तर प्रदेश, असम तथा मध्य प्रदेश में होती है। अधिकांश राज्यों में जून-जुलाई में इसकी फसल बो दी जाती है तथा दिसम्बर तक तैयार हो जाती है। भारत में सम्पूर्ण कृषि की जाने वाली भूमि के प्रायः २२ से २४ प्रतिशत भाग में चावल की खेती होती है। निम्नलिखित तालिका[1] से गत कुछ वर्षों में देश में चावल की खेती के क्षेत्र तथा उत्पादन का अन्दाजा लगता है :—

चावल का क्षेत्र एवं उपज[2]

वर्ष	क्षेत्रफल (लाख हेक्टर में)	उत्पादन (लाख टन में)
१९५०-५१	३०८	२०६
१९५५-५६	३१५	२७६
१९६०-६१	३४१	३४६
१९६६-६६	३५३	३०७
१९६८-६९	३७०	३९८

1. India, 1971-72.
2. Economic Times, March 20, 1970.

इस प्रकार १९६८-६९ ई० में भारत में प्रायः ३७० लाख हेक्टर भूमि में चावल की खेती हुई थी तथा ३९८ लाख टन चावल का उत्पादन हुआ था। उपरोक्त तालिका से स्पष्ट है कि १९५०-५१ से १९६८-६९ के बीच चावल की खेती का क्षेत्र ३०८ लाख हेक्टर से बढ़कर ३७० लाख हेक्टर हो गया, यानी इसमें लगभग २० प्रतिशत की वृद्धि हुई जबकि इसके उत्पादन में प्रायः ९३ प्रतिशत की वृद्धि हुई यानी यह २०६ लाख टन से बढ़कर ३९८ लाख टन हो गया। इस अवधि में चावल की प्रति हेक्टर औसत उपज ६६९ कि० ग्राम से बढ़कर १९६८-६९ में १०७६ किलोग्राम हो गयी। किन्तु, भारत चावल के दृष्टिकोण से आत्मनिर्भर राष्ट्र नहीं है। इसका प्रमुख कारण यहाँ चावल की प्रति-एकड़ उपज का कम होना है। तृतीय योजना के अन्त में चावल के उत्पादन को बढ़ाकर ४५० लाख टन करने का आयोजन था, किन्तु इस लक्ष्य की पूर्ति नहीं हो सकी।

गेहूँ (Wheat) :—भारत की खाद्य-फसलों में चावल के बाद गेहूँ का ही प्रधान स्थान है। कुल कृषि की जाने वाली भूमि के लगभग ९ प्रतिशत भाग भूमि में इसकी खेती होती है। गेहूँ की खेती मुख्यतः उत्तर प्रदेश, पंजाब, हरियाणा, मध्य प्रदेश, महाराष्ट्र, गुजरात, राजस्थान तथा बिहार में होती है। कुल उत्पादन का तीन-चौथाई भाग केवल उत्तर प्रदेश, पंजाब, मध्यप्रदेश हरियाणा तथा राजस्थान राज्यों में होता है। प्रथम महायुद्ध के पूर्व विश्व के गेहूँ उत्पादक देशों में भारत का प्रमुख स्थान था। उस समय यहाँ से गेहूँ का निर्यात भी होता था। किन्तु, आजकल तो भारत को प्रत्येक वर्ष विदेशों से गेहूँ का बड़े पैमाने पर आयात करना पड़ता है। देश-विभाजन के फलस्वरूप गेहूँ उत्पन्न करने वाले कुछ प्रमुख क्षेत्र पाकिस्तान में चले गये जिससे भारत में गेहूँ का अभाव और भी बढ़ गया। निम्नलिखित तालिका[1] से गत कुछ वर्षों में गेहूँ के क्षेत्र तथा उत्पादन का अन्दाजा लगता है :—

गेहूँ का उत्पादन एवं क्षेत्र

वर्ष	क्षेत्रफल (लाख हेक्टर में)	उपज (लाख टन में)	प्रति हेक्टर औसत उपज (कि० ग्राम में)
१९५०-५१	९७	६५	६७०
१९५५-५६	१२४	८८	७१०
१९६०-६१	१२९	११०	८५३
१९६५-६६	१२७	१०४	८१९
१९६८-६९	१६०	१८७	११६९

इस प्रकार १९६८-६९ ई० में कुल १६० लाख हेक्टर भूमि में गेहूँ की खेती हुई थी तथा इसका उत्पादन १८७ लाख टन था। उपरोक्त तालिका से स्पष्ट है कि १९५०-५१ से १९६८-६९ के बीच गेहूँ के क्षेत्र में ६५ प्रतिशत की वृद्धि हुई जबकि इसके उत्पादन में १८८ प्रतिशत तथा प्रति हेक्टर औसत उत्पादन में ७४ प्रतिशत की वृद्धि हुई। गेहूँ की खेती के क्षेत्र में प्रथम योजना में औसत रूप से १० प्रतिशत, द्वितीय योजना में २० प्रतिशत, तृतीय योजना में ५ प्रतिशत तथा तृतीय योजना के बाद के तीन वर्षों में ९ प्रतिशत की वृद्धि हुई। इसी अवधि में इसके कुल उत्पादन में औसतन क्रमशः २१ प्रतिशत, २३ प्रतिशत, १४ प्रतिशत, तथा ४० प्रतिशत की वृद्धि हुई।

ज्वार-बाजरा (Millets) यह भारत में निर्धन मनुष्यों का प्रधान भोजन है। भारत के कम वर्षा वाले प्रदेशों में सिंचाई की सहायता के बगैर ही इसकी खेती होती है। ज्वार की खेती मुख्यतः आन्ध्र प्रदेश, पंजाब, गुजरात, महाराष्ट्र तथा तमिलनाडु में होती है। १९६५-६६ ई०

1. Economic Times, March 20, 1970.

में ज्वार की खेती कुल १७५ लाख हेक्टर भूमि में हुई थी तथा कुल उपज ७५ लाख टन थी। सम्पूर्ण उपज का दो-तिहाई भाग गुजरात, महाराष्ट्र, तमिलनाडु मध्य प्रदेश, तथा आंध्र में हुआ था। बाजरे की खेती गुजरात, महाराष्ट्र, उत्तर प्रदेश, आन्ध्र, तमिलनाडु तथा पंजाब में विस्तृत रूप से होती है। कुल उपज का प्रायः दो-तिहाई भाग बाजरा गुजरात, तमिलनाडु, उत्तर प्रदेश, तथा पंजाब में होती है। १९६५-६६ ई० में इसकी खेती ११६ लाख हेक्टर भूमि में हुई थी तथा उपज २६ लाख टन थी। ज्वार-बाजरा दोनों में किसी का कोई विशेष निर्यात नहीं होता। उपज के स्थानीय प्रदेशों में ही इनकी खपत मुख्य रूप से होती है।

इनके अतिरिक्त, खाद्यानों में जौ (Barley) एवं मकई (Maize) का प्रमुख स्थान है। १९६५-६६ ई० में जौ की खेती २६ लाख हेक्टर भूमि में हुई थी तथा कुल उपज २४ लाख टन थी। इसी प्रकार १९६५-६६ ई० में मकई की खेती प्रायः ४७·६ लाख हेक्टर भूमि में हुई थी तथा कुल उपज ३६ लाख टन थी।

चना (Gram) :—चना भारत की एक प्रमुख दाल है तथा इसकी उपज मुख्यतः उत्तर प्रदेश, बिहार, पंजाब एवं मध्य प्रदेश में होती है। निम्नलिखित तालिका से गत कुछ वर्षों में चने की खेती एवं इसकी उपज का अन्दाजा बताया जा सकता है :—

वर्ष	क्षेत्रफल (लाख हेक्टर में)	उपज (लाख टन में)
१९५०-५१	७५·७	३५·५
१९५५-५६	९७·८	५४·३
१९६०-६१	९२·८	६३·२
१९६५-६६	७९·६	४४·४
१९६७-६८	——	६०·४

अन्य दालें (Other Pulses) :—दालों की खेती सम्पूर्ण भारत में होती है और ये भारतवासियों के भोजन का मुख्य अंग हैं। इनमें चना, अरहर, मूँग, मसूर तथा उड़द विशेष रूप से प्रमुख हैं। इस प्रकार दालें भारतीय कृषि की मुख्य उपजों में हैं। भारत में चना के अतिरिक्त अन्य दालों की खेती १९६६-६७ ई० में १४२ लाख हेक्टर भूमि में हुई थी तथा इसका उत्पादन ६२ लाख टन था। ये मुख्यतः रबी की फसल हैं तथा इनकी खेती विशेषतः अन्य फसलों के साथ मिश्रित तौर पर की जाती है। देश के सभी भागों में प्रायः किसी-न-किसी प्रकार की दाल की खेती अवश्य ही होती है।

अखाद्य-फसलें
(Non-Food Crops)

भारत की कृषि-व्यवस्था में अखाद्य फसलों का भी महत्त्वपूर्ण स्थान है। किसानों के लिए ये फसलें नकदी (Cash Crops) या व्यावसायिक फसलों (Commercial crops) का कार्य करती हैं। साथ ही, इनका प्रयोग देश के कुछ प्रमुख उद्योग-धन्धों के लिए कच्चे पदार्थ के रूप में भी किया जाता है। अखाद्य-फसलों में से कुछ का निर्यात भी किया जाता है। इस प्रकार देश की आर्थिक व्यवस्था में इनका महत्त्वपूर्ण स्थान है।

भारत की अखाद्य फसलों में निम्नलिखित प्रमुख हैं :—

(१) **गन्ना** (Sugar cane) :—भारत गन्ने का उद्गम स्थान है। आज भी क्षेत्रफल के दृष्टिकोण से गन्ने के उत्पादन में विश्व में भारत का प्रथम स्थान है। भारत में गन्ने की खेती सबसे अधिक उत्तर प्रदेश, बिहार, आन्ध्र, गुजरात तथा पंजाब में होती है। भारत में गत कुछ वर्षों में गन्ने की खेती का क्षेत्रफल तथा उत्पादन निम्नलिखित तालिका से स्पष्ट होता है

वर्ष	क्षेत्रफल (लाख हेक्टर में)	उत्पादन लाख टन (गुड़ के रूप में)
१९५०-५१	१७·१	५६·२
१९५५-५६	१८·५	५९·६
१९६०-६१	२४·२	११२·०
१९६५-६६	२७·८	१२१·०
१९६८-६९	२५·०	१२०·०
१९७३-७४ (आयोजित)	....	१५०·०

भारत में गन्ने की प्रति-एकड़ औसत उपज बहुत ही निम्न है। १९२० ई० की भारतीय चीनी समिति के अनुसार चीनी की मात्रा के दृष्टिकोण से भारत की अपेक्षा क्यूबा में प्रति-एकड़ गन्ने की उपज तिगुनी, जावा की छः गुनी तथा हवाई की सात-गुनी है। इतना ही नहीं, देश के भिन्न-भिन्न भागों में भी उपज में विभिन्नता पायी जाती है। पंचवर्षीय योजनाओं में गन्ने की उपज में वृद्धि पर पर्याप्त जोर दिया जा रहा है। चतुर्थ पंचवर्षीय योजना में गन्ने की उपज को १९६८-६९ ई० में १२०२ लाख टन से बढ़ाकर १९७३-७४ ई० में १५० लाख टन करने का आयोजन है।

(२) **कपास** (Cotton) :—कपास भारत की एक प्रमुख रेशेवाली फसल है। भारत में कपास-उत्पादन के प्रमुख क्षेत्र गुजरात, महाराष्ट्र, मध्य प्रदेश, आन्ध्र प्रदेश, हैदराबाद, मैसूर, पंजाब तथा उत्तर प्रदेश हैं। कपास-उत्पादन की दृष्टि से भारत का विश्व में द्वितीय स्थान है। किन्तु भारत में कपास की प्रति-एकड़ उपज बहुत ही कम होती है। वर्षा पर आश्रित क्षेत्रों में प्रति एकड़ उपज ६० से ९० पौंड तथा सिंचाई वाले क्षेत्रों में १८० से २०० पौंड तक होती है। इसके विपरीत संयुक्त राज्य अमेरिका में कपास की प्रति-एकड़ औसत उपज २६७ पौंड तथा मिस्र में ३९० पौंड होती है। साथ ही, भारत में मुख्यत: छोटी रेशेवाली कपास ही उत्पन्न की जाती है। विभाजन के पूर्व भारत कपास का मुख्य निर्यातक देश था। किन्तु विभाजन के पश्चात् यह कपास, विशेषत: लम्बी रेशेवाली कपास का आयातक बन गया है। अविभाजित भारत के कपास की खेती वाली कुल भूमि का प्राय: ४० प्रतिशत भाग पाकिस्तान में चला गया। साथ ही, लम्बी रेशेवाली कपास उत्पन्न करने का अधिकांश क्षेत्र भी पाकिस्तान को ही मिल गया। पंचवर्षीय योजनाओं में कपास के उत्पादन में वृद्धि पर पूरा जोर दिया जा रहा है किन्तु इसमें अभी बहुत कम सफलता प्राप्त हुई है जो निम्नलिखित तालिका से स्पष्ट है :—

वर्ष	क्षेत्रफल (लाख हेक्टर में)	उत्पादन (लाख गाँठ में)
१९५०-५१	५८·८	२९·२
१९५५-५६	८०·९	४०·३
१९६०-६१	७६·१	५२·९
१९६५-६६	७९·४	४८·०
१९६८-६९	७७.०	६०·०
१९७३-७४ (आयोजित)	....	८०·०

चतुर्थ योजनाकाल में कपास के उत्पादन को १९६८-६९ ई० के ६० लाख गाँठ से बढ़ाकर १९७३-७४ ई० में ८० लाख गाँठ करने का आयोजन है।

(३) **जूट** (Jute) :—कपास के बाद भारत की रेशेवाली फसलों में जूट का ही स्थान है। भारत में जूट की खेती के प्रमुख क्षेत्र पश्चिमी बंगाल, असम, बिहार तथा उड़ीसा हैं। सम्पूर्ण

उत्पादन का आधा भाग जूट केवल पश्चिमी बंगाल में उत्पन्न होता है। विभाजन के पूर्व भारत को जूट के उत्पादन का विश्व में प्रायः एकाधिकार था, किन्तु विभाजन के पश्चात् जूट उत्पादन का ८१ प्रतिशत भाग पाकिस्तान को मिला तथा केवल १९ प्रतिशत भाग भारत में रहा। इससे भारत में जूट की कमी हो गयी। किन्तु पंचवर्षीय योजनाओं में जूट के उत्पादन में वृद्धि पर पूरा जोर दिया जा रहा है जो निम्नलिखित तालिका से स्पष्ट है—

वर्ष	क्षेत्रफल (लाख हेक्टर में)	उत्पादन (लाख गाँठ में)
१९५०-५१	५.७	३५.१
१९५५-५६	७.०	४४.०
१९६०-६१	६.३	४१.३
१९६५-६६	७.६	४४.८
१९६८-६९	५.०	६२.०
१९७३-७४ (आयोजित)	....	७४.०

इस प्रकार चतुर्थ योजनाकाल में जूट के उत्पादन को १९६८-६९ ई० के ६२ लाख गाँठ से बढ़ाकर १९७३-७४ ई० में ७४ लाख गाँठ करने का आयोजन है। भारत सरकार ने जूट के उत्पादन को प्रोत्साहित करने तथा मूल्य समर्थन के उद्देश्य से राजकीय क्षेत्र में ५ करोड़ रुपये की पूँजी से एक जूट आयोग (Jute Corporation) की स्थापना का निश्चय किया है।

(४) **चाय** (Tea) :—विश्व के चाय-उत्पादक देशों में चीन के बाद भारत का द्वितीय स्थान है। यहाँ चाय की खेती का बहुत विस्तृत क्षेत्र है। चाय की खेती मुख्यतः पहाड़ी ढालों पर होती है। यहाँ चाय की खेती मुख्यतः यूरोपीय व्यापारिक फर्मों द्वारा की जाती है जिन्होंने इस उद्योग में बहुत अधिक पूँजी विनियोग किया है। भारत में चाय की खेती मुख्यतः असम, बंगाल, उत्तर प्रदेश, तमिलनाडु तथा ट्रावनकोर की पहाड़ी ढालों पर होती है। सम्पूर्ण उत्पादन का लगभग ५० प्रतिशत भाग असम तथा २५ प्रतिशत भाग चाय बंगाल में उत्पन्न होती है। १९६५-६६ ई० में कुल ३४२ हजार हेक्टर भूमि में इसकी खेती हुई थी तथा उत्पादन ३६५ हजार टन था। भारत प्रतिवर्ष अपनी कुल उपज का प्रायः ७५ प्रतिशत भाग चाय इङ्गलैंड, संयुक्त राज्य अमेरिका तथा फ्रांस आदि देशों में भेजता है। यह विश्व में चाय का सबसे बड़ा निर्यातक देश है। इससे प्रर्याप्त मात्रा में विदेशी मुद्रा भी प्राप्त होती है।

द्वितीय योजना में चाय का उत्पादन १९५५-५६ ई० के २८५ हजार टन से बढ़कर १९६०-६१ ई० में ३२१ हजार टन हो गया। तृतीय पंचवर्षीय योजना के अन्त में, यानी १९६५-६६ ई० में यह बढ़कर ३६५ हजार टन तथा १९६८-६९ में ४१८ हजार टन हो गया। इसे बढ़ाकर चतुर्थ योजना के अन्त में ४५० हजार टन करने का आयोजन है।

(५) **कहवा** (Coffee) :—कहवा की खेती भारत में गत कुछ वर्षों से ही हो रही है। कहवा के बगान अधिकतर २००० फीट से लेकर ४००० फीट तक की ऊँचाई पर उच्च तापक्रम तथा साधारण वर्षावाले स्थानों में पाये जाते हैं। भारत में मैसूर तमिलनाडु, कुर्ग तथा ट्रावनकोर-कोचीन में कहवा की खेती मुख्य रूप से होती है। कुल उत्पादन का लगभग ५७ प्रतिशत भाग कहवा मैसूर में उत्पन्न किया जाता है। १९६५-६६ ई० में इसकी खेती १२८ हजार हेक्टर भूमि में हुई थी तथा उत्पादन ८० हजार टन था। भारत से अधिकांश कहवे का निर्यात किया जाता था।

(६) **तम्बाकू** (Tobacco) :—विश्व के तम्बाकू-उत्पादक देशों में संयुक्त राज्य अमेरिका तथा चीन के बाद भारत का तीसरा स्थान है। भारत में तम्बाकू की खेती के दो प्रमुख क्षेत्र हैं—

उत्तरी-पूर्वी क्षेत्र जिसके अन्तर्गत बिहार, उत्तर प्रदेश तथा पश्चिमी बंगाल के राज्य हैं और दक्षिणी क्षेत्र जिसमें तमिलनाडु, गुजरात, महाराष्ट्र तथा मैसूर में प्रमुख उत्पादक राज्य हैं। १९६५-६६ ई० में तम्बाकू की खेती ७७२ हजार हेक्टर भूमि में हुई थी तथा कुल उत्पादन २९८ हजार टन था।

आजकल तम्बाकू के निर्यात को बढ़ाने के लिए भी सरकार द्वारा प्रयत्न किये जा रहे हैं। चतुर्थ योजना में तम्बाकू के उत्पादन को १९६८-६९ में ३८० हजार टन से बढ़ाकर १९७३-७४ में ४८० हजार टन करने का आयोजन है।

भारत में फसलों का ढाँचा (१९०१-१९६५)
(Crop Pattern in India 1901-1965)

स्वतन्त्रता-प्राप्ति के पूर्व फसलों का ढाँचा (Crop pattern before the Independence)—भारतीय कृषि में वर्तमान शताब्दी में हुई प्रगति के अध्ययन के लिए विभिन्न प्रकार की फसलों के वितरण के सम्बन्ध में जानकारी अनिवार्य है। स्वतन्त्रता-प्राप्ति के पूर्व जनसंख्या तथा विभिन्न प्रकार के फसलों के क्षेत्र में हुए परिवर्तन का अन्दाजा निम्नलिखित तालिका[1] से लगता है :—

अविभाजित भारत की जनसंख्या एवं फसलों के क्षेत्र में परिवर्तन

वर्ष	जनसंख्या का निर्देशांक	कुल बोयी गयी भूमि के क्षेत्र का निर्देशांक		
		खाद्य फसलें	गैर-खाद्य फसलें	कुल फसलें
१९०१-१९०५	१००·०	१००·०	१००·०	१००·०
१९२१-१९२५	१०८·०	१०८·१	११८·२	१०८·९
१९३१-१९३५	१२०·५	१११·३	१३२·५	११४·८
१९४१-१९४५	१३७·९	११३·८	१४१·३	११८·४

उपरोक्त तालिका से स्पष्ट है कि वर्तमान शताब्दी के प्रथम ४५ वर्षों में देश की जनसंख्या में लगभग ३८ प्रतिशत की वृद्धि हुई जबकि कुल बोये गये क्षेत्र में केवल १८ प्रतिशत की ही वृद्धि हुई। इस काल में खाद्य-पदार्थों के क्षेत्र में वृद्धि बहुत ही कम, प्रायः १३·८ प्रतिशत की थी, किन्तु गैर-खाद्य फसलों के क्षेत्र में ४१·६ प्रतिशत की वृद्धि हुई। इस काल में खाद्य-फसलों में सबसे अधिक वृद्धि गेहूँ के क्षेत्र में, प्राय: ३४·६ प्रतिशत तथा सबसे कम वृद्धि ज्वार में प्राय: १०·८ प्रतिशत हुई। व्यावसायिक फसलों के अन्तर्गत सबसे अधिक वृद्धि गन्ना में प्राय: ५९·३ प्रतिशत तथा सबसे कम वृद्धि रेशोंवाली फसलों के अन्तर्गत प्राय: २३·९ प्रतिशत की हुई।

कुल बोया गया क्षेत्र १९००-०१ ई० में २७७२ लाख एकड़ से बढ़कर १९४४-४५ ई० में ३२८३ लाख एकड़ हो गया। इस काल में खाद्य-फसलों का अनुपात ३·३ प्रतिशत से घट गया तथा व्यावसायिक फसलों का अनुपात इतनी ही मात्रा में बढ़ गया।

स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद फसलों का ढाँचा (Crop-pattern after the Independence):—स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद भारत में कृषि के क्षेत्र में कई कारणों से महत्त्वपूर्ण वृद्धि हुई। इनमें अधिक अन्न उपजाओ आन्दोलन (Grow More Food Compaign) तथा पंचवर्षीय योजनाओं के अन्तर्गत कृषि-पदार्थों के उत्पादन में वृद्धि विशेष रूप से महत्त्वपूर्ण हैं। निम्नांकित तालिका[2] से १९५०-५१ से १९६७-६८ ई० के बीच फसलों के क्षेत्र में हुए परिवर्तन का अंदाजा लगता है :—

1. The studies in Indian Agricultural Economics by J. P. Bhattacharjee p. 10
2. Indian Agriculture in Brief 1971, p. 28-29.

१९५०-५१ से १९६७-६८ के बीच फसलों के ढाँचे में परिवर्तन

वर्ष	कुल बोये गये क्षेत्र का निर्देशांक		
	खाद्य-फसलें	गैर-खाद्य-फसलें	कुल फसलें
१९५०-५१	१००·०	१००·०	१००·०
१९५५-५६	११३·७	११९·२	११४·६
१९६०-६१	१२०·०	१२७·०	१२१·०
१९६७-६८	१२६·०	१३९·०	१२८·०

उपर्युक्त तालिका से स्पष्ट है कि १९५०-५१ से १९६०-६१ ई० के बीच कुल फसलों के क्षेत्र में २१ प्रतिशत की वृद्धि हुई जबकि इस अवधि में देश की जनसंख्या में प्रायः २१·५ प्रतिशत की वृद्धि हुई। पहले की ही तरह खाद्य-फसलों के क्षेत्र में इस काल में केवल २० प्रतिशत तथा व्यावसायिक फसलों के क्षेत्र में २७ प्रतिशत की वृद्धि हुई। खाद्य-फसलों में सबसे अधिक वृद्धि गेहूँ में, प्रायः ३९ प्रतिशत तथा व्यावसायिक फसलों में सबसे अधिक वृद्धि रेशेवाली फसलों में, प्रायः ३५·४ प्रतिशत की हुई।

इस प्रकार पिछले कुछ वर्षों से देश में खाद्य-फसलों के सापेक्षिक महत्त्व में कमी हो रही है। इसका अनुपात इस शताब्दी के प्रारम्भ में ८३ प्रतिशत से घट कर स्वतन्त्रता-प्राप्ति के समय ८० प्रतिशत तथा वर्तमान समय में लगभग ७५ प्रतिशत हो गया। इसके विपरीत व्यावसायिक फसलों के क्षेत्र में इसी अनुपात में वृद्धि हो रही है।

फसलों के ढाँचे को प्रभावित करनेवाले तत्त्व (Factors affecting Crop Pattern) :—फसलों का ढाँचा प्राकृतिक, तकनीकी, आर्थिक, सामाजिक, प्रशासनिक एवं राजनीतिक तत्त्वों से प्रभावित होता है। प्राकृतिक तत्त्वों के अन्तर्गत मिट्टी, जलवायु, वर्षा आदि उल्लेखनीय हैं। तकनीकी कारणों के अन्तर्गत सिंचाई की प्रकृति, फसलों का हेर-फेर आदि प्रमुख हैं। किन्तु किसी भी देश में फसलों का ढाँचा मुख्यतः आर्थिक तत्त्वों द्वारा ही प्रभावित होता है। इसमें कृषि पदार्थों की कीमतें, जोतों का आकार, जोखिम के विरुद्ध बीमा, पूँजी, बीज खाद आदि की उपलब्धि तथा भूमि की व्यवस्था उल्लेखनीय हैं। सरकार भी फसलों के ढाँचे को प्रभावित कर सकती है। उदाहरण के लिए, किसी खास फसल की खेती को प्रोत्साहित करने के लिए सरकार कर्ज आदि प्रदान करने की व्यवस्था कर सकती है अथवा कुछ अन्य प्रकार के आर्थिक प्रलोभन भी दे सकती है।

इस प्रकार फसलों के ढाँचे को विभिन्न तत्त्व प्रभावित करते हैं। इनमें परिवर्तन भी किया जा सकता है। अतएव ऐसा सोचना कि फसलों का ढाँचा दिया हुआ है तथा इसमें कोई परिवर्तन नहीं किया जा सकता उचित नहीं जान पड़ता। भारत में आर्थिक प्रेरणा के द्वारा फसलों के ढाँचे में आवश्यकतानुसार परिवर्तन किया जा सकता है।

विशेष अध्ययन सूची

1. A. N. Agrawal — Indian Agriculture and its Problems.
2. J. P. Bhattacharjee — Studies in Indian Agricultural Economics, Chapters I & II
3. Planning Commission — First, Second, Third and Fourth Five Year Plans.
4. Govt. of India — India, 1971-72.
5. Agricultural Situation in India, Annual 1964, 1968, 1971.

अध्याय : ११

सरकार की कृषि-सम्बन्धी नीति एवं नियोजन

(Government's Agricultural Policy and Planning)

प्राक्कथन :—अति आरम्भ से राष्ट्रों की नीतियों में कृषि-नीति का महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है। वास्तव में, किसी देश की आर्थिक व्यवस्था में कृषि का कई कारणों से महत्त्वपूर्ण स्थान होता है, अतएव दीर्घकालीन तक कोई भी राष्ट्र इसकी अवहेलना नहीं कर सकता। भारत की अर्थ-व्यवस्था में तो कृषि का और भी अधिक महत्त्वपूर्ण स्थान है। प्रथम महायुद्ध के पूर्व तक ब्रिटेन उद्योग, व्यापार आदि में विशिष्टता प्राप्त कर अपने खाद्यान्न तथा कच्चे माल की पूर्ति के लिए दूसरे देशों पर आश्रित रहता था, किन्तु प्रथम एवं द्वितीय महायुद्धों ने यह स्पष्ट कर दिया कि किसी भी अर्थ-व्यवस्था को सुस्थिर बनाने के लिए कृषि के विकास पर जोर देना आवश्यक है। अतएव देश के आर्थिक विकास की किसी भी योजना में सरकार द्वारा कृषि के विकास के लिए एक सुस्पष्ट नीति के अनुकरण की भी प्रबल आवश्यकता होती है।

जहाँ तक भारत का प्रश्न है, यह अति प्राचीन काल से ही एक कृषि-प्रधान देश रहा है। अतएव इसकी अर्थ-व्यवस्था में कृषि को विशिष्ट स्थान प्राप्त है। किन्तु ब्रिटिश सरकार प्रारम्भ से ही भारतीय कृषि के प्रति उदासीन थी। सरकार की इस उपेक्षा का भारतीय कृषि पर बहुत बुरा प्रभाव पड़ा। यह सत्य है कि ब्रिटिश शासन ने देश में शान्ति एवं सुव्यवस्था की स्थापना की, किन्तु इसकी अभिव्यक्ति जनसंख्या की अत्यधिक वृद्धि के रूप में हुई जिससे भूख, महामारी, अकाल आदि माल्थुसियन और अवरोधक प्रबल हो गये। इससे अर्थ-व्यवस्था का संतुलन बिगड़ता गया तथा समाज में निर्धनों एवं बेकारों की संख्या में वृद्धि होने लगी। इसके साथ ही ब्रिटिश सरकार की उपेक्षा-पूर्ण नीति के परिणामस्वरूप सरकार तथा किसानों के बीच जमींदारों, साहूकारों एवं अन्य इसी प्रकार के मध्यस्थों (middlemen) की एक शृंखला बँध गयी जिन्होंने निर्धन एवं असहाय कृषकों का तरह-तरह से शोषण प्रारम्भ किया। इसके साथ ही, यातायात एवं संवादवाहन के तीव्र गति से चलनेवाले साधनों ने भारतीय गाँवों की आत्मनिर्भरता को समाप्त कर उनका विश्व-बाजार से सम्बन्ध स्थापित कर दिया। परिणामस्वरूप, व्यावसायिक फसलों की अधिक मात्रा में खेती की जाने लगी, गाँवों तथा किसानों की आत्मनिर्भरता समाप्त हो गयी तथा भारत विश्व के मूल्य-तल के दायरे में आ गया। (Specialised production of commercial crops has greatly increased, self-sufficiency has declined and India has been brought within the orbit of world prices.) दूसरे शब्दों में, अब भारतीय कृषि तथा किसानों की समृद्धि विश्व बाजार पर आश्रित रहने लगी। इसीलिए कहा गया है कि "यदि भूतकाल में भारतीय कृषि मानसून के साथ जुआ थी तो वर्तमान में यह विश्व-बाजार के मूल्यों के साथ जुआ हो गयी है।" वास्तव में, भारतवासियों की निर्धनता एवं भारतीय कृषि के पिछड़े होने के विभिन्न कारणों में एक यह भी प्रधान कारण है।

भारतीय कृषि-नीति का उद्विकास

(Evolution of the Indian Agricultural Policy)

भारत-जैसे कृषि-प्रधान देश के लिए, जहाँ के प्रायः ७० प्रतिशत लोग खेती पर निर्भर करते हैं तथा जहाँ की राष्ट्रीय आय का प्रायः आधा भाग कृषि से ही प्राप्त होता है, एक सुस्पष्ट कृषि-नीति का महत्त्व बिल्कुल स्पष्ट है। किन्तु, ब्रिटिश सरकार बहुत दिनों तक भारतीय कृषि के प्रति उदासीन थी। फिर भी, गत शताब्दी के छठे दशक से सरकार परिवद्धित रूप में सामान्य कृषि-नीति की ओर झुकने लगी तथा कृषि विकास के लिए प्रयास किये जाने लगे। ब्रिटिश सरकार की नति में इस परिवर्तन के पीछे इसका निजी स्वार्थ ही निहित था। उस समय में अमेरीकी गृह-युद्ध के कारश ब्रिटेन के सूती-वस्त्र के कारखानों की कपास की आवश्यकता की पूर्ति नहीं हो पाती थी जिससे ब्रिटिश सरकार ने भारत को पूर्ति का साधन बनाया। राजस्व में वृद्धि के उद्देश्य से भी सरकार कृषि को प्रोत्साहित करना चाहती थी। लार्ड मेयो भारतीय कृषि से विकास के प्रति बहुत ही जागरूक थे। अतएव १८६६ ई० में एक कृषि-सूचना केन्द्र (Agricultural Bureau of Information) की स्थापना की गयी तथा दूसरे वर्ष ही कृषि, राजस्व एवं वाणिज्य विभाग (Department of Agriculture, Revenue and Commerce) की स्थापना हुई। किन्तु भारत सचिव की अनुदार नीति के परिणामस्वरूप यह विभाग स्थायी रूप नहीं धारण कर सका तथा १८७६ ई० में यह गृह विभाग में पुनर्विलीन हो गया। किन्तु, पुनः १८८० ई० के दुर्भिक्ष आयोग ने केन्द्र में एक कृषि-विभाग खोलने की सिफारिश की जिसकी सहायता के लिए प्रान्तों में कृषि निर्देशक (Director of Agriculture) के अन्दर एक कृषि-विभाग की स्थापना का सुझाव दिया गया। दुर्भिक्ष आयोग ने और भी कई महत्त्वपूर्ण सुझाव दिये थे, किन्तु सरकार ने इन प्रस्तावों के सम्बन्ध में तुरन्त ही कोई कार्य नहीं किया। फिर भी, १८८१ ई० में केन्द्रीय कृषि-विभाग, जिसे साम्राज्यीय कृषि-विभाग (Imperial Department of Agriculture) कहते हैं, पुनर्जीवित किया गया। साथ ही, विभिन्न प्रांतों में कृषि-विभागों की भी स्थापना की गयी।

१९०० से १९१९ ई० के बीच कृषि-नीति :—१८९९ ई० में भारत सरकार ने रॉयल एग्रीकलचरल सोसाइटी के परामर्शदाता एवं सुप्रसिद्ध रासायनिक डा० भोयेलकर (Voelker) को भारतीय कृषि की जाँच के लिए आमन्त्रित किया जिन्होंने Report on Improvement of Agriculture के रूप में अपना प्रतिवेदन प्रस्तुत किया। डा०भोयेलकर ने भारतीय कृषि के विकास की सम्भावनाओं की ओर ध्यान आकर्षित करते हुए यह बतलाया कि अच्छे रूप मे भारतीय रैयत अथवा खेतिहर उतना ही अच्छा है जितना कि एक औसत ब्रिटिश कृषक और कुछ रूप में तो वह उससे भी श्रेष्ठ है जबकि बुरे रूप में यह कहा जा सकता है कि उसकी यह स्थिति सुधार की सुविधाओं के अभाव के ही कारण बनी हुई है। डा०भोयेलकर के प्रतिवेदन का भारत सरकार की कृषि-नीति पर बड़ा ही महत्त्वपूर्ण प्रभाव पड़ा तथा इसका तात्कालिक परिणाम कृषि के क्षेत्र में वैज्ञानिक अनुसंधान का प्रारम्भ था। साथ ही, प्रांतीय सरकारों ने भी इस सम्बन्ध में रुचि लेना प्रारम्भ कर दिया। इसी बीच लार्ड कर्जन भारत के वायसराय होकर आये जिनके शासन काल में कृषि-विभाग का भी पुनर्गठन किया गया। १८९५ ई० से १८९९ ई० के बीच देश में बहुत-से अकाल पड़े जिसमें

१८९९ ई० के अकाल का प्रकोप सर्वाधिक गम्भीर था। अतएव १९०१ ई० में एक दुर्भिक्ष आयोग (Famine Commission) की नियुक्ति हुई जिसने अपने प्रतिवेदन में इस बात पर जोर दिया कि कृषि-सम्बन्धी समस्याओं में दक्ष गवेषणा का निरन्तर प्रयोग इस समय की महत्त्वपूर्ण आवश्यकता है। सरकार ने इस आयोग की सिफारिशों को स्वीकार कर लिया तथा प्रान्तों के कृषि-विभागों में समन्वय स्थापित करने के लिए १९०१ में एक Inspector General of Agriculture की नियुक्ति की गयी। साथ ही, विभिन्न प्रकार के विशेषज्ञों की नियुक्ति भी की गयी। १९०३ ई० में लार्ड कर्जन द्वारा नियुक्त सिंचाई आयोग (Irrigation Commission) का भी कृषि-सुधार पर व्यापक प्रभाव पड़ा। पुन: १९०४ ई० में सहकारी साख समिति अधिनियम (Co-operative Credit Societies Act) पारित हुआ तथा १९०५ ई० में केन्द्रीय एवं प्रान्तीय कृषि-विभागों का पुनर्गठन किया गया। १९०६ ई० में अखिल भारतीय कृषि-सेवा (All India Agriculture Services) का संगठन किया गया। ये सब सुधार भारतीय कृषि के नवीन महत्त्व की ओर संकेत करते थे। इस प्रकार लार्ड कर्जन के प्रयास से देश में एक वास्तविक एवं ठोस कृषि नीति की शुरुआत हुई।

१९१९ ई० के बाद :—१९१९ ई० के संवैधानिक सुधारों के अनुसार कृषि एवं सहकारिता प्रान्तीय सरकारों के हस्तांतरित विषय बन गये और यद्यपि केन्द्रीय सरकार के पास अधीक्षण, निर्देशन एवं नियन्त्रण-सम्बन्धी कतिपय शक्तियाँ वर्तमान रहीं तथापि केवल कृषि-गवेषणा एवं केन्द्रीय संस्थानों के गवेषण-सम्बन्धी कार्यकर्त्ताओं के प्रशिक्षण के अतिरिक्त केन्द्रीय राजस्व से प्रान्तीय विषयों के सम्बन्ध मे व्यय किया जाना संभव नहीं रहा। साथ ही, प्रान्तों के पास आवश्यक वित्त एवं प्रेरणा के अभाव में वे कृषि के विकास के लिए कुछ भी नहीं कर सके। १९२६ ई० में ब्रिटिश भारत की कृषि एवं ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था की जाँच के लिए सरकार द्वारा एक राजकीय कृषि आयोग (Royal Commission on Agriculture) की नियुक्ति की गयी जिसने १९२८ ई० में अपना प्रतिवेदन प्रस्तुत किया। कृषि आयोग ने बिल्कुल स्पष्ट रूप से यह स्वीकार किया कि **"भारतीय कृषि में सुधार की समस्या वस्तुत: भारतीय ग्रामीण जीवन में सुधार की समस्या है और इसका अध्ययन समग्र रूप से किया जाना चाहिए।"** (The problem of improving Indian agriculture is really the problem of improving Indian village life and that it must be studied as a whole.) आयोग ने कृषि-अनुसंधान पर विशेष रूप से बल दिया। आयोग की सिफारिशों के परिणामस्वरूप Imperial Council of Agricultural Research की स्थापना हुई। आयोग ने जोतों के उपविभाजन एवं अपखंडन, सिंचाई, पशु-धन के विकास, विपणन, सहकारिता एवं ग्रामीण शिक्षा आदि के सम्बन्ध में सुझाव प्रस्तुत किया। साथ ही, इसने यह बात भी स्पष्ट कर दी कि कृषि-सम्बन्धी सुधारों को प्रभावपूर्ण तरीके से लागू करने का दायित्व सरकार का ही है।

महान् आर्थिक मन्दी एवं भारतीय कृषि-नीति (Indian Agricultural Policy in the great Economic Depression) :—कृषि-प्रधान देश होने के कारण १९२९ ई० की महान् आर्थिक मन्दी का भारत पर अत्यन्त व्यापक प्रभाव पड़ा। कृषि-पदार्थों के मूल्य में कमी के कारण किसानों की आय में बहुत अधिक कमी हो गयी जिसका किसानों की आर्थिक स्थिति पर बहुत ही बुरा प्रभाव पड़ा। इस मंदी के प्रभावों को दूर करने के लिए भारत सरकार कोई प्रयत्न नहीं कर रही थी, वरन् अपनी परम्परागत अबंध नीति (Laissez Faire) का अनुकरण करती थी।

१९३७ ई० में प्रान्तीय स्वराज्य (Provincial Autonomy) की प्राप्ति के बाद अधिकांश प्रान्तों में कांग्रेसी मन्त्रिमण्डलों का निर्माण हुआ तथा कांग्रेसी सरकारों ने सर्वप्रथम कृषि में अभिरुचि लेना प्रारम्भ किया। किन्तु इनके पास कृषि-सम्बन्धी कोई निश्चित योजना नहीं थी। अतएव काँग्रेसी मन्त्रिमण्डल की अभिरुचि के बावजूद कृषि में कोई स्थायी सुधार नहीं हो पाया। इनका कार्य मुख्यतः रैयती सुधार (Tenancy Reforms) एवं ग्रामीण ऋण की मात्रा में कमी तक ही सीमित रहा। द्वितीय महायुद्ध के दौरान खाद्यान का आयात बिल्कुल बन्द हो गया जिससे देश को खाद्य-संकट की भीषण स्थिति का सामना करना पड़ा। १९४२-४३ ई० के बंगाल के अकाल ने भारतीय कृषि की कमजोरियों की ओर सर्वप्रथम भारत सरकार का ध्यान आकृष्ट किया।

खाद्यान्न की समस्या पर विचार करने के लिए १९४३ ई० में भारत सरकार द्वारा एक खाद्यान्न नीति समिति की नियुक्ति की गयी। इसी समिति के सुझावों के आधार पर खाद्यान्न की कमी को दूर करने के लिए १९४३ ई० में सरकार द्वारा 'अधिक अन्न उपजाओ आन्दोलन' (Grow more food Campaign) का श्रीगणेश हुआ। इस आन्दोलन के अन्तर्गत खाद्यान्न के उत्पादन में वृद्धि के लिए बहुत-से प्रयास किये गये। किन्तु सरकार के निरन्तर प्रयत्नों के बावजूद यह आन्दोलन आंशिक रूप से ही सफल हो सका। दूसरे शब्दों में, खाद्यान्न की कमी को पूरा करने में 'अधिक अन्न उपजाओ आन्दोलन' प्रायः विफल ही रहा। द्वितीय युद्ध काल में खाद्यान्न के अभाव के कारण खाद्यान के मूल्य एवं वितरण पर सरकार द्वारा नियन्त्रण लगाया गया। १९४७ ई० में देश-विभाजन ने खाद्यान्न-समस्या की जटिलता को और भी उग्र बना दिया। भारत संघ को अविभाजित भारत की कुल जनसंख्या का ८२ प्रतिशत भाग मिला, किन्तु चावल एवं गेहूँ उत्पन्न करने वाले कुल क्षेत्र का केवल क्रमशः ६८ प्रतिशत तथा ६५ प्रतिशत भाग ही प्राप्त हो सका।

राष्ट्रीय सरकार की कृषि-सम्बन्धी नीति :—स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद राष्ट्रीय सरकार ने खाद्यान्न के क्षेत्र में आत्मनिर्भरता (Self sufficiency) प्राप्त करने के लिए कृषि-सम्बन्धी एक विस्तृत कार्यक्रम को अपनाया है। इसके अंतर्गत खाद्यान्न के क्षेत्र में आत्मनिर्भरता प्राप्त करने के उद्देश्य से खाद्यान्नों के उत्पादन में वृद्धि पर पूरा-पूरा जोर दिया जा रहा है जिससे इनके आयात को बन्द किया जा सके। साथ ही, राष्ट्रीय सरकार की कृषि-सम्बन्धी नीति का एक प्रमुख उद्देश्य कपास, जूट, गन्ना तथा तिलहन जैसी व्यावसायिक फसलों के उत्पादन में वृद्धि भी है। विभाजन के फलस्वरूप भारत जूट एवं कपास जैसी महत्त्वपूर्ण फसलों का आयातक बन गया है। अतएव इन फसलों के सम्बन्ध में आत्मनिर्भरता भी राष्ट्रीय सरकार की कृषि-सम्बन्धी नीति का प्रधान उद्देश्य हो गया है। उक्त उद्देश्यों को ध्यान में रखकर सरकार द्वारा देश में विस्तृत कृषि-सम्बन्धी नियोजन का कार्यान्वयन किया जा रहा है जिसका श्रीगणेश प्रथम पंचवर्षीय योजना से होता है।

पंचवर्षीय योजनाओं में कृषि
(Agriculture in Five Year Plans)

भारत की आर्थिक व्यवस्था में कृषि का महत्त्वपूर्ण स्थान है। अतएव देश के आर्थिक विकास की किसी भी योजना में कृषि को महत्त्व देना अत्यंत अनिवार्य हो जाता है। इसीलिए पंचवर्षीय योजनाओं में कृषि को महत्त्वपूर्ण स्थान दिया जा रहा है।

प्रथम पंचवर्षीय योजना में कृषि की प्रगति

(Progress of Agriculture in the First Five Year Plan)

प्रथम पंचवर्षीय योजना खाद्यान्न एवं कच्चे पदार्थों के अभाव की पृष्ठिभूमि में तैयार की गयी थी, अतः इसमें कृषि को उच्च प्राथमिकता प्राप्त थी। योजनाकाल में कृषि-सम्बन्धी कार्यक्रमों पर कुल २४१ करोड़ रुपये व्यय का आयोजन था। इसके अतिरिक्त योजना में भूमि-सुधार एवं सामुदायिक विकास कार्यक्रम पर भी पूरा-पूरा जोर दिया गया था। प्रथम योजना में सिंचाई के विस्तार पर कुल ३८४ करोड़ रुपये व्यय का आयोजन था जो योजना के कुल व्यय का प्रायः १६·३ प्रतिशत भाग था। इस योजनाकाल में कई बहुद्देशीय नदी घाटी योजनाओं (Multipurpose River Valley Projects) पर कार्य प्रारम्भ किया गया।

योजनाकाल में वृहत् एवं मध्यम सिंचाई की योजनाओं द्वारा कुल ६३ लाख एकड़ अतिरिक्त भूमि में सिंचाई की सुविधा प्राप्त हुई जबकि योजना का लक्ष्य ८५ लाख एकड़ अतिरिक्त भूमि को इन कार्यक्रमों द्वारा सिंचाई के अन्तर्गत लाना था। अतः वृहत् एवं मध्यम सिंचाई के क्षेत्र में योजना के लक्ष्य पूरे नहीं हो सके। लघु सिंचाई कार्यक्रमों द्वारा प्रथम योजनाकाल में कुल १०० लाख एकड़ अतिरिक्त भूमि में सिंचाई की सुविधा प्राप्त हुई। योजनाकाल में खाद तथा उर्वरक (Fertilizers and Manures) के उपयोग में भी महत्त्वपूर्ण वृद्धि हुई। अमोनियम सल्फेट की कुल खपत १९५०-५१ ई० में २,७५,००० टन से बढ़कर १९५५-५६ ई० में ६ लाख टन हो गयी। इसी प्रकार फासफोरस खादों की खपत ४३ हजार टन से बढ़कर योजना के अन्तिम वर्ष में ७८ हजार टन हो गयी। उत्तम बीज के प्रयोग में भी इसी प्रकार महत्त्वपूर्ण वृद्धि हुई। योजनाकाल में केन्द्रीय ट्रैक्टर संघ (Central Tractor Organisation) द्वारा कुल ११८ लाख एकड़ भूमि का उद्धार किया गया। बहुत से राज्यों के भी अपने ट्रैक्टर संघ हो गये जिसके द्वारा प्रायः २८ लाख एकड़ भूमि का उद्धार किया गया। भूमि-सुधार के लिए सरकार द्वारा किसानों को ऋण एवं अनुदान भी दिये गये जिनके आधार पर कुल ५० लाख एकड़ भूमि का उद्धार हुआ। प्रथम पंचवर्षीय योजना में जापानी तरीके से धान की खेती पर भी जोर दिया गया तथा १९५५-५६ ई० तक कुल प्रायः २० लाख एकड़ भूमि पर इस तरीके से धान की खेती हुई थी। इन सब प्रयत्नों के फलस्वरूप योजनाकाल में कृषि-पदार्थों के उत्पादन में १८ प्रतिशत तथा खाद्यान्नों के उत्पादन में प्रायः १२० लाख टन की वृद्धि हुई। प्रथम योजनाकाल में विभिन्न फसलों के उत्पादन में वृद्धि का अन्दाजा निम्नांकित तालिका[1] से लगाया जा सकता है :—

फसलें	१९५०-५१ में उत्पादन	प्रथम योजना में वृद्धि का लक्ष्य	१९५५-५६ में उत्पादन	वास्तविक वृद्धि
खाद्यान्न (लाख टन में)	५४९	७६	६६९	१२०·०
तिलहन (,, ,,)	५२	४·०	५७	५·०
गन्ना (लाख टन गुड़ में)	५७	७·०	६१	४·०
कपास (लाख गाँठ)	२९	१३·०	४०	११·०
जूट (,, ,,)	३३	२१·०	४२	९·०

उपरोक्त तालिका से स्पष्ट है कि प्रथम योजनाकाल में खाद्यान्नों के उत्पादन में लक्ष्य में बहुत अधिक वृद्धि हुई। कपास तथा तिलहन के उत्पादन में भी लक्ष्य पूरे हो गये, किन्तु गन्ना तथा जूट का उत्पादन लक्ष्य से बहुत कम हुआ।

1. India Pocket Book of Economic Information.

प्रथम पंचवर्षीय योजना में कृषि के आयोजित विकास का सर्वप्रथम प्रयास किया गया था। किन्तु योजना तैयार करने के समय देश में कृषि-साख की कोई विस्तृत योजना तैयार नहीं थी जिसके फलस्वरूप योजनाकाल में भूमि-सम्बन्धी नीति एवं ग्रामीण साख कार्यक्रम में सामंजस्य नहीं स्थापित किया जा सका। यह प्रथम योजना के कृषि-सम्बन्धी कार्यक्रमों का प्रधान दोष था। साथ ही, प्रथम योजना तैयार करने में सहकारी कृषि पर आवश्यकता से अधिक जोर दिया गया था। आयोग ने सहकारी कृषि-आन्दोलन को सफलीभूत बनाने के लिए सहकारी ग्राम-व्यवस्था (Co-operative Village Management) को कृषि एवं ग्रामीण संगठन के क्षेत्र में अन्तिम आदर्श के रूप में अपनाया था। किन्तु, योजनाकाल में सहकारी कृषि-आन्दोलन को बहुत ही कम सफलता प्राप्त हुई। इसका प्रधान कारण सरकार के समक्ष भूमि-सुधार की एक विस्तृत योजना का अभाव था। साथ ही, योजनाकाल में उपविभाजन एवं अपखण्डन की बुराइयों को दूर करने का भी कोई सक्रिय प्रयास नहीं किया गया। कृषि की औसत इकाई ज्यों-की-त्यों छोटी ही रह गयी। इस प्रकार प्रथम पंचवर्षीय योजना में खाद्यान्नों के उत्पादन में पर्याप्त वृद्धि अवश्य हुई, किन्तु, योजनाकाल में भारतीय कृषि में कोई संस्थागत परिवर्त्तन नहीं लाया जा सका जो कृषि के स्थायी विकास के लिए अति अनिवार्य है।

द्वितीय पंचवर्षीय योजना में कृषि की प्रगति

(Progress of Agriculture in the Second Five Year Plan)

द्वितीय पंचवर्षीय योजना में कृषि की अपेक्षा औद्योगीकरण को उच्च प्राथमिकता प्राप्त थी। यह द्वितीय योजना की सबसे बड़ी कमी थी। वास्तव में, कृषि-प्रधान देशों के आर्थिक विकास की किसी भी योजना में कृषि की उपेक्षा नहीं की जा सकती। योजनाकाल में कृषि-विकास के विभिन्न कार्यक्रमों पर ३४१ करोड़ रुपये व्यय का आयोजन था जो योजना के कुल व्यय का प्रायः ७·१ प्रतिशत भाग था। (प्रथम योजना में इस मद में २४१ करोड़ रुपये व्यय का आयोजन था जो कुल व्यय का १०·२ प्रतिशत भाग था)। इस प्रकार द्वितीय योजना में यद्यपि प्रथम योजना की अपेक्षा कृषि को कम महत्त्व दिया गया था, फिर भी कुल व्यय द्वितीय योजना में सापेक्षिक रूप से अधिक था। द्वितीय योजना के अन्तर्गत कृषि-सम्बन्धी नियोजन के निम्नलिखित प्रधान उद्देश्य थे :—(क) भूमि उपयोग का नियोजन, (ख) अल्पकालीन एवं दीर्घकालीन लक्ष्यों का निर्धारण, (ग) विकास कार्यक्रम एवं सरकारी सहायता का समायोजन, तथा (घ) समुचित मूल्य-नीति। योजना आयोग के अनुसार प्रत्येक जिला तथा प्रमुख क्षेत्र के लिए एक पृथक् कृषि-सम्बन्धी नीति होनी चाहिए जिसकी पूर्त्ति के लिए किसान को व्यक्तिगत तथा सामूहिक रूप से तैयार करना होगा।

द्वितीय पंचवर्षीय योजना में कृषि-पदार्थों के उत्पादन का संशोधित लक्ष्य तथा योजना के अन्त में १९६०-६१ ई० में इनके उत्पादन का अन्दाजा निम्नलिखित तालिका[1] से लगता है :—

फसलें	१९५५-५६ में उत्पादन	द्वितीय योजना का प्रारम्भिक लक्ष्य	संशोधित लक्ष्य	१९६०-६१ में उत्पादन
खाद्यान्न (लाख टन में)	६६९	७६२	८१८	८२०
तिलहन (,, ,,)	५७	७१	७७	७०
गन्ना (लाख टन गुड़ के रूप में)	६१	७२	७९	११२
कपास (लाख गाँठ में)	४०	५४	६५	५३
जूट (,, ,,)	४२	५०	५५	४१

1. The Third Plan : Mid-term Appraisal.

उपरोक्त तालिका से स्पष्ट है कि योजना में खाद्यान्न एवं गन्ने के अतिरिक्त और किसी भी कृषि-पदार्थ के उत्पादन का लक्ष्य (संशोधित) पूरा नहीं हो सका। वास्तव में, द्वितीय योजना के संशोधित लक्ष्यों के निर्धारण में आयोग ने अतिशयोक्ति से कार्य लिया था। साथ ही, योजना में इस प्रकार के लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए एक सुनिश्चित कार्यक्रम का भी अभाव था।

द्वितीय योजनाकाल में सिंचाई-प्राप्त क्षेत्र में भी पर्याप्त वृद्धि का आयोजन था। १९५५-५६ ई० में कुल ५६२ लाख एकड़ भूमि में सिंचाई की सुविधा प्राप्त थी, इसे बढ़ाकर १९६०-६१ ई० में ८५० लाख एकड़ करने का आयोजन था। किन्तु, द्वितीय योजना के अन्त में अनुमानतः ७०० लाख एकड़ भूमि में सिंचाई की सुविधा प्राप्त हो सकी। इस प्रकार इस क्षेत्र में भी द्वितीय योजना के लक्ष्य की पूर्ति नहीं हो सकी।

इस प्रकार द्वितीय योजना से कृषि के क्षेत्र में हमारी स्थिति में कोई स्पष्ट सुधार नहीं हो सका। वास्तव में, द्वितीय योजना के कृषि-सम्बन्धी कार्यक्रमों में सामंजस्य का अभाव था। किन्तु, इस योजनाकाल में भारत सरकार ने कृषि-विकास के महत्त्व को समझा और इस उद्देश्य से कृषि में संस्थागत परिवर्तनों का प्रयास किया जाने लगा। योजनाकाल में सरकार ने कृषि के पुनर्संगठन के उद्देश्य से एक नई कृषि-सम्बन्धी नीति को अपनाया जिसमें ग्रामीण-व्यवस्था का संगठन संयुक्त सहकारी कृषि (Joint Co-operative farming) के आधार पर करने की व्यवस्था थी।

तृतीय पंचवर्षीय योजना में कृषि की प्रगति

(Progress of Agriculture in the Third Five Year Plan)

तृतीय पंचवर्षीय योजना में कृषि-विकास को पर्याप्त महत्त्व दिया गया था। योजना आयोग ने इस बात को स्पष्ट रूप से स्वीकार किया था कि '**तृतीय योजना की सफलता मुख्यतः कृषि के क्षेत्र में उसकी सफलता पर निर्भर करती है।**'' (A much larger task in agriculture remains to be accomplished during the Third Plan. More than any other sector, the success of the Third Plan will turn on the fulfilment of its agricultural targets) आयोग के अनुसार, "**तृतीय योजना ने इस बात को बिल्कुल स्पष्ट कर दिया था कि कृषि के उत्पादन में कमी आर्थिक विकास के मार्ग में सबसे बड़ी बाधा है जिसे किसी भी तरह से दूर करना अनिवार्य है।**" (In a scheme of development during the Third Plan, the first priority necessarily belongs to agriculture. Experience in the first two plans, and especially in the Second, has shown that the rate of growth in agricultural production is one of the main limiting factor in the progress of the Indian economy. Agricultural production has, therefore, to be increased to the largest exetent feasible and adequate resources have to be provided under the Third Plan for increasing agricultural production.)

तृतीय योजना काल में कृषि, लघु सिंचाई एवं सामुदायिक विकास कार्यक्रमों पर १०८९ करोड़ रुपये व्यय किया गया। इसके अतिरिक्त वृहत् एवं मध्यम सिंचाई की योजनाओं पर तृतीय योजना काल में ६५० करोड़ रुपये व्यय का आयोजन था जबकि कुल व्यय ६६३·७ करोड़ रुपये हुआ। इस प्रकार कृषि की मद में कुल १७५२·७ करोड़ रुपये व्यय हुआ जो योजना के कुल प्रत्याशित व्यय का प्रायः २२ प्रतिशत भाग था। तृतीय योजना में कृषि के विकास के लिए सिंचाई, भूमि-संरक्षण, शुष्क कृषि तथा भूमि-उद्धार (Irrigation, Soil Conservation, Dry Farming and-land reclamation), खाद एवं उर्वरक का प्रयोग तथा अच्छे हल एवं सुधरे हुए औजारों के प्रयोग में वृद्धि पर विशेष जोर दिया गया था।

तृतीय पंचवर्षीय योजना में मुख्य फसलों के उत्पादन के लक्ष्य तथा इनकी उपलब्धि निम्न तालिका[1] से स्पष्ट हैं :—

फसलें	१९६०-६१ ई० में उत्पादन	१९६५-६६ ई० में उत्पादन का लक्ष्य	१९६५-६६ में उत्पादन
खाद्यान्न (लाख टन में)	८२०	१०००	७२०
तिलहन (,, ,,)	७०	१००	६४·०
गन्ना (गुड़) ,, ,,)	१११	१०२	१२०
कपास (,, ,, गाँठ)	५३	७०	४८
जूट (,, ,,)	४१	६२	४५
तम्बाकू (हजार टन)	३०७	३२५	२९८
चाय (,, ,,)	३२०	४०८	३७३

उपरोक्त तालिका से तृतीय योजना के कृषि-उत्पादन-सम्बन्धी लक्ष्य तथा इनकी उपलब्धि स्पष्ट हो जाते हैं। योजना के उक्त लक्ष्यों की पूर्ति के बाद खाद्यान्न की स्थिति में पर्याप्त सुधार की आशा की गयी थी। अन्य फसलों के उत्पादन के लक्ष्य भी संतोषप्रद थे। कृषि-पदार्थों के उत्पादन में योजनाकाल के इस आयोजित लक्ष्य की पूर्ति के लिए निम्नांकित कार्यक्रमों पर विशेष रूप से जोर दिया जाने को था :—(क) सिंचाई, (ख) भूमि-संरक्षण एवं भूमि-उद्धार, (ग) उर्वरक और खाद का अधिकाधिक प्रयोग, तथा (घ) सुधरे हुए हल एवं अन्य उपकरणों का प्रयोग इत्यादि। किन्तु तृतीय योजना के कृषि-सम्बन्धी लक्ष्य पूरे नहीं हो सके। १९६४-६५ ई० में कृषि के उत्पादन, विशेषतः खाद्यान्नों के उत्पादन में बहुत अधिक वृद्धि हुई किन्तु १९६५-६६ ई० में सूखा पड़ जाने के कारण कृषि के उत्पादन में अत्यधिक कमी हुई, वास्तव में १९६५-६६ ई० में खाद्यान्न के उत्पादन में २० प्रतिशत की कमी हुई। जूट, कपास आदि व्यावसायिक फसलों के साथ भी यही बात थी।

योजनाकाल में सिंचाई-प्राप्त भूमि के क्षेत्र में भी पर्याप्त वृद्धि का आयोजन था। देश में कुल सिंचित भूमि का क्षेत्र १९६०-६१ में २७९ लाख हेक्टर से बढ़कर १९६५-६६ ई० में ३५० लाख हेक्टर हो जाने की आशा थी, किन्तु योजना के इस लक्ष्य की भी पूर्ति नहीं हुई तथा १९६५-६६ में कुल सिंचित भूमि का क्षेत्र ३२२ लाख हेक्टर ही हो सका। इसी प्रकार १९६३ ई० तक देश की सम्पूर्ण ग्रामीण जनसंख्या को सामुदायिक विकास एवं राष्ट्रीय विस्तार-सेवा कार्यक्रम के अन्तर्गत लाने का आयोजन था जो प्रायः पूर्ण हो गया।

तृतीय योजना में गहन जिला कृषि कार्यक्रम (Intensive Agricultural District Programme) तथा गहन कृषि-क्षेत्र कार्यक्रम (Intensive Agricultural Area Programme) प्रारम्भ किये गये।

इस प्रकार कृषि के क्षेत्र में तृतीय योजना की प्रगति संतोषजनक नहीं हुई। यह निश्चय ही खेद की बात है। इसके कई कारण थे जिनमें खराब मौसम, कृषि-सम्बन्धी कार्यक्रमों की अव्यावहारिकता तथा इन्हें कार्यान्वित करने में उदारता का अभाव आदि प्रमुख हैं। इस प्रकार अब यह स्पष्ट रूप से कहा जा सकता है कि तृतीय योजना के कृषि-उत्पादन-सम्बन्धी लक्ष्य पूरे नहीं हो सके। यह तृतीय योजना की एक बहुत बड़ी कमी सिद्ध हुई। इसके परिणामस्वरूप देश में खाद्यान्नों के मूल्य में अत्यधिक वृद्धि हुई। खाद्यान्नों के मूल्य में यह वृद्धि सरकार तथा योजना अधिकारियों के लिए एक चुनौती सिद्ध होने लगी जिसके संतोषजनक समाधान पर ही देश में

1. Fourth Five Year Plan. 1969--74.

आयोजित विकास की सफलता निर्भर करती है। केन्द्र में इस उद्देश्य से एक कृषि-उत्पादन परिषद् (Agricultural Production Board) की स्थापना की गयी है। परिषद् कृषि में सुधार तथा उत्पादन में वृद्धि के तरीकों पर विचार करेगी तथा राज्य सरकारों को इस सम्बन्ध में उचित परामर्श देगी। किन्तु राज्य सरकारें परिषद् की सिफारिशों को मानने के लिए बाध्य नहीं की जा सकतीं।

वार्षिक योजनाओं (१९६६-६९) में कृषि
(Agriculture During Annual Plans)

१९६५-६६ ई० का सूखा १९६६-६७ ई० तक चला। अतः, कृषि-उत्पादन की दृष्टि से १९६६-६७ ई० का वर्ष भी असामान्य वर्ष ही रहा। किन्तु इसके बाद कृषि के उत्पादन में आश्चर्यजनक गति से सुधार हुआ। १९६७-६८ में खाद्यान्नों का उत्पादन ९५६ लाख टन था जो १९६४-६५ से भी अधिक था। १९६८-६९ ई० में कृषि-पदार्थों के उत्पादन में और भी अधिक वृद्धि हुई।

तीन एक-वर्षीय योजनाओं में कृषि पर कुल व्यय १६२८ करोड़ रुपये हुआ जो तीनों योजनाओं के कुल व्यय का प्रायः २४ प्रतिशत भाग था। इन तीनों योजनाओं के अंतर्गत महत्त्वपूर्ण कृषि पदार्थों के उत्पादन में वृद्धि का अन्दाजा निम्नांकित तालिका से लगता है :—

वार्षिक योजनाओं में कृषि की उपज[1]

फसलें		१९६५-६६	१९६७-६८	१९६८-६९
खाद्य-फसलें	(लाख टन में)	७२०	९५०	९४०
तिलहन	(लाख टन में)	६४	८३	६८
गन्ना (गुड़)	(लाख टन में)	१२०	१००	१२८
कपास	(लाख टन में)	४८	५५	५१
जूट	(लाख टन में)	४५	६३	२९

इस प्रकार १९५०-५१ से १९६८-६९ के बीच कृषि के उत्पादन में महत्त्वपूर्ण वृद्धि हुई। प्रथम योजनाकाल में १९५१-५२ से १९५५-५६ ई० के बीच कृषि-पदार्थों के उत्पादन में २२·२ प्रतिशत की वृद्धि हुई, जिसका वार्षिक औसत ४·२ प्रतिशत था। द्वितीय योजनाकाल में (१९५६-५७ से १९६०-६१) में कृषि-पदार्थों के उत्पादन में २२·७ प्रतिशत, यानी वार्षिक ४·३ प्रतिशत की वृद्धि हुई। तृतीय योजनाकाल में यह प्रवृत्ति मन्द पड़ गयी तथा कृषि-पदार्थों के उत्पादन में ७·४ प्रतिशत, यानी वार्षिक १·१ प्रतिशत की कमी हुई। खाद्यान्न, जिनकी कृषि-पदार्थों के अंतर्गत प्रधानता है, के उत्पादन में प्रथम पंचवर्षीय योजना में २७·४ प्रतिशत, यानि वार्षिक ५·३ प्रतिशत, तथा द्वितीय योजना में १८·९ प्रतिशत, यानी वार्षिक प्रायः ४·० प्रतिशत की दर से वृद्धि हुई। किन्तु तृतीय योजनाकाल में इनमें ११·५ प्रतिशत, यानी वार्षिक १·९ प्रतिशत की दर से कमी हुई। १९५१-५२ से १९६५-६६ के बीच कृषि-पदार्थों के उत्पादन में ३८·८ प्रतिशत तथा खाद्यान्नों के उत्पादन में ३४·१ प्रतिशत की वृद्धि हुई। दूसरे शब्दों में इन १५ वर्षों में कुल कृषि-पदार्थों के उत्पादन में वार्षिक २·५ प्रतिशत तथा खाद्यान्नों के उत्पादन में २·३ प्रतिशत की वृद्धि हुई।

राजकीय क्षेत्र में १९५१-५२ से १९६८-६९ तक कृषि के क्षेत्र में कुल व्यय तथा चतुर्थ योजना में व्यय की व्यवस्था निम्नांकित तालिका से स्पष्ट है—

1. Indian Agriculture in Brief, 1971.

पंचवर्षीय योजनाओं में कृषि के क्षेत्र में व्यय (करोड़ रुपये में)

मदें	प्रथम योजना	द्वितीय योजना	तृतीय योजना	१९६६-६७	१९६७-६८	१९६८-६९	चतुर्थ योजना
कृषि-सम्बंधी कार्यक्रम	२११	३२३	८०५	२८७	३२१	३०४	२६१२·७
सामुदायिक विकास	७९	२२६	२८९	४०	३४	२४	११५·५
सिंचाई	३००	३८०	५८३	१३०	१३३	१४२	९६४·८
बाढ़-नियंत्रण	१४	४९	८२	१५	१४	१२	१२१·८
कुल	६०४	९७८	१७५९	४७२	५०२	४८२	३८१४·८

कृषि के क्षेत्र में १९६८-६९ के बाद उत्पादन में हुई वृद्धि को कृषि-क्रांति, या हरीत क्रांति (Green Revolution) की संज्ञा दी जाती है। खाद्यान्नों के उत्पादन में वृद्धि के परिणाम-स्वरूप १९७२ ई० से खाद्यान्न के आयात को बन्द कर दिया गया है। किन्तु यह हरीत क्रांति (Green Revolution) भी खाद्य-समस्या का संतोषजनक हल निकालने में सम्भवतः सफल नहीं हो सकती क्योंकि पिछले १५ वर्षों में कृषि-पदार्थों के उत्पादन में वार्षिक वृद्धि २·५ प्रतिशत की हुई जो जनसंख्या में वृद्धि के ही बराबर है। अतएव जीवन-स्तर में सुधार के लिए खाद्यान्नों के उत्पादन में और अधिक वृद्धि करना अनिवार्य है।

चतुर्थ पंचवर्षीय योजना में कृषि

(Agriculture in the Fourth Five Year Plan)

चतुर्थ पंचवर्षीय योजना में भी कृषि के विकास पर पर्याप्त जोर दिया जा रहा है। योजनाकाल में कृषि, सामुदायिक विकास एवं सहकारिता की मद में २७२८·२ करोड़ रुपये व्यय का आयोजन है। (तृतीय योजना में इस मद में कुल व्यय १०९४ करोड़ रुपये था।) इसके अतिरिक्त वृहत् एवं मध्यम सिंचाई की योजनाओं पर योजनाकाल में ९६५ करोड़ रुपये का व्यय प्रस्तावित है। (तृतीय योजना में कुल व्यय ५८३ करोड़ रुपये था।) इस प्रकार चतुर्थ योजना में कृषि एवं तत्सम्बन्धी कार्यों पर सार्वजनिक क्षेत्र में कुल ३८१४·८ करोड़ रुपये का व्यय प्रस्तावित है। यह योजना के कुल व्यय का प्रायः २४ प्रतिशत भाग है। इस प्रकार चतुर्थ योजनाकाल में कृषि को उच्च प्राथमिकता प्राप्त है। वास्तव में ऐसा आवश्यक भी था क्योंकि तृतीय योजना में सूखा एवं खराब मौसम के परिणामस्वरूप खाद्यान्न के उत्पादन में कोई वृद्धि नहीं हुई जिससे देश में अकाल की स्थिति उत्पन्न हो गयी जिसे दूर करने के लिए विदेशों से अरबों रुपये के अन्न का आयात करना पड़ा।

खाद्यान्न तथा अन्य कृषि-पदार्थों के अभाव की स्थिति को दूर करने के लिए चतुर्थ पंच-वर्षीय योजना में गहन कृषि-कार्यक्रम (Intensive Agricultural Programme) पर अधिक जोर दिया जा रहा है। साथ ही, उचित मूल्य-नीति पर भी पर्याप्त जोर दिया जा रहा है।

इस उद्देश्य से १९६५ ई० में एक Agricultural Prices Commission की नियुक्ति की गयी जिसका प्रमुख कार्य कृषि-पदार्थों के मूल्य के सम्बन्ध में सरकार को समय-समय पर परामर्श देना है। योजना में सुधरे हुए बीज के वितरण पर भी अधिक जोर दिया जा रहा है। राष्ट्रीय बीज निगम (National Seeds Corporation) द्वारा भी इस सम्बन्ध में महत्त्वपूर्ण कार्य किये जाने की आशा है। इनके अतिरिक्त योजनाकाल में साख की व्यवस्था; भूमि-सुधार, सिंचाई आदि पर भी पर्याप्त जोर दिया जा रहा है।

चतुर्थ पंचवर्षीय योजना में महत्त्वपूर्ण कृषि-पदार्थों के उत्पादन में वृद्धि के लक्ष्य निम्नांकित प्रकार से निश्चित किये गये हैं :—

पदार्थ	आधार वर्ष १९६८-६९ ई० में उत्पादन-क्षमता	अतिरिक्त उत्पादन का लक्ष्य	१९७३-७४ ई० में आयोजित उत्पादन	प्रतिशत वृद्धि
खाद्यान्न (लाख टन में)	९८०	३१०	१२९०	३०
गन्ना (गुड़ ,, ,,)	१२०	३०	१५०	२५
तिलहन (,, ,,)	८५	२०	१०५	२४
कपास (लाख गाँठ)	६०	२०	८०	३३
जूट (,, ,,)	६२	१२	७४	२०
तम्बाकू (हजार टन में)	३५०	१००	४५०	३०
चाय (हजार टन में)	४१८	४२	४५०	८

इस प्रकार चतुर्थ पंचवर्षीय योजना में खाद्यान्नों के उत्पादन में ३१० लाख टन वृद्धि का आयोजन है। १९५०-५१ ई० में खाद्यान्न का वास्तविक उत्पादन ५४९ लाख टन था जो बढ़-कर १९६०-६१ ई० में प्रायः ८२० लाख टन तथा १९६८-६९ में ९८० लाख टन हो गया, यानी १८ वर्षों में इसमें ४३१ लाख टन की वृद्धि हुई। अतएव केवल ५ वर्षों में ३१० लाख टन की वृद्धि को प्राप्त करने के लिए बहुत बड़े पैमाने पर प्रयत्नों की आवश्यकता होगी। किन्तु चतुर्थ योजना की अर्द्ध-सामयिक समीक्षा के अनुसार अब १९७३-७४ में खाद्यान्न का उत्पादन अनुमानतः १२२० लाख टन ही होगा।

चतुर्थ पंचवर्षीय योजना में ४० लाख हेक्टर अतिरिक्त भूमि में वृहत एवं मध्यम सिंचाई की योजनाओं तथा ३२ लाख हेक्टर अतिरिक्त भूमि में लघु सिंचाई की योजनाओं द्वारा सिंचाई की व्यवस्था है। योजना के अन्त तक ३२ लाख टन नत्रजनक खाद तथा १४ लाख टन फोस्फेरिक खाद के प्रयोग का आयोजन है।

निम्नांकित तालिका से भारत में पंचवर्षीय योजनाओं की अवधि में कृषि-पदार्थों के उत्पादन में हुई वृद्धि का अन्दाजा लगता है :—

वर्ष	खाद्यान्न (लाख टन में)	गन्ना (लाख टन गुड़ में)	तिलहन (लाख टन में)	कपास (लाख गाँठ में)	जूट (लाख गाँठ में)
१९५०-५१	५४९	६९	५२	२९	३५
१९५५-५६	६९९	७३	५७	४०	४५
१९६०-३१	८२०	११२	७०	५३	४१
१९६५-६६	७२०	१२१	६३	४८	४५
१९६६-६७	७५०	९५	६४	५०	५४
१९६७-६८	९५०	११०	६४	५३	६४
१९६८-६९	९८०	१२०	८५	६०	६२
१९७३-७४ (आयोजित)	१२९०	१५०	१०५	८०	७४

1. Report of the National Labour Commission. p, 14.

इस प्रकार कृषि-पदार्थों के उत्पादन में योजनाकाल में महत्त्वपूर्ण वृद्धि हुई। खाद्यान्न का उत्पादन १९५०-५१ में ५४९ लाख टन से बढ़कर १९६८-६९ मे ९८० लाख टन हो गया, किन्तु इस बीच देश की जनसंख्या भी ३६·१ करोड़ से बढ़कर लगभग ५३·० करोड़ हो गयी। योजना-काल में खाद के उत्पादन तथा प्रयोग में महत्त्वपूर्ण वृद्धि हुई। १९५०-५१ में नत्रजन खाद का प्रयोग ५६ हजार टन से बढ़कर १९६८-६९ में १४० लाख टन तथा फॉसफेट का उपयोग ७ हजार टन से बढ़कर १९६८-६९ में ४ लाख टन हो गया।

उपसंहार :—भारत की आर्थिक व्यवस्था में कृषि का बड़ा ही महत्त्वपूर्ण स्थान है। वास्तव में, देश की आर्थिक प्रगति बहुत हद तक कृषि के क्षेत्र में पर्याप्त उन्नति पर ही आधारित है। किन्तु भारतीय कृषि में आवश्यक सुधार लाने के लिए इसमें संस्थागत परिवर्तनों की आवश्यकता है। कृषि के उत्पादन में वद्धि के लिए गाँवों के वर्तमान सामाजिक ढाँचे में परिवर्तन लाना होगा। इसके लिए संगठित प्रयत्नों की आवश्यकता होगी। किन्तु प्रथम; द्वितीय एवं तृतीय पंचवर्षीय योजनाओं में इस क्षेत्र में बहुत कम प्रगति हुई है। प्रथम योजना में तो इस सम्बन्ध में शुरुआत ही हुई थी। द्वितीय योजना में इस प्रकार के परिवर्तन की आवश्यकता को महसूस किया गया था, किन्तु योजना के कार्यक्रमों में समन्वय का अभाव था जिससे इस क्षेत्र में पर्याप्त सफलता नहीं मिल पायी। तृतीय पंचवर्षीय योजना मे इस क्षेत्र मे संतोषजनक प्रगति नहीं हो पायी। परन्तु संतोष का विषय है कि अब सरकार ने इसके महत्त्व को स्वीकार किया है तथा हमारी नई कृषि-सम्बन्धी नीति में संयुक्त सहकारी कृषि की स्थापना पर अधिक जोर दिया गया है। साथ ही, गाँवों के संगठन में भी आमूल परिवर्तन लाने का प्रयास किया जा रहा है।

देशवासियों के जीवन-स्तर को ऊँचा उठाकर तथा पर्याप्त मात्र में भोजन की व्यवस्था के लिए भारतीय कृषि के उत्पादन में तीव्र गति से वृद्धि अनिवार्य है। इस सम्बन्ध में हरीत क्रांति (Green Revolution) के परिणाम अत्यन्त उत्साहवर्द्धक रहे हैं तथा इस आधार पर यह आशा की जाती है कि १९७२ के बाद खाद्यान्नों के आयात की कोई आवश्यकता नहीं रह जायगी अतएव जैसा कि प्रो० दंतवाला (M. L. Dantwala) ने कहा है : "The Green Revolution has given breathing time. Its greatest contribution is that it may help to relieve the tension caused by chronic food shortages and bring back the economists and planners to the more abiding issues of Indian Planning."

किन्तु हरीत क्रांति का रूप स्थायी नहीं है, अतः हमारे प्रयत्नों में इससे किसी प्रकार की शीथिलता का परिणाम घातक सिद्ध हो सकता है तथा हरीत क्रांति लाल क्रांति में परिवर्तित हो सकती है।

विशेष अध्ययन-सूची

1. Planning Commission — First Five Year Plan.
2. ,, ,, — Second Five Year Plan.
3. ,, ,, — Third Five Year Plan.
4. ,, ,, — The Third Plan : Mid-Term Appraisal.
5. ,, ,, — Fourth Five Year Plan. 1969-74
6. ,, ,, — Fourth plan : Mid-term Appraisal

अध्याय : १२

भारत की खाद्य-समस्या
(Food Problem of India)

आर्थिक विकास में खाद्यान्नों की पूर्त्ति का स्थान (Role of Food supply in the Economic Development) :—किसी देश के आर्थिक विकास में खाद्यान्नों की पूर्त्ति का महत्त्व-पूर्ण स्थान है। वास्तव, में भोजन मनुष्य की सबसे बड़ी आवश्यकता है, अतएव इसकी पूर्त्ति का देश के आर्थिक विकास के प्रत्येक स्तर से घनिष्ठ सम्बन्ध है। विकासशील देशों में तो विकास के साथ-साथ खाद्यान्न की पूर्त्ति में वृद्धि निम्नांकित कारणों से अति आवश्यक होती है— (१) **प्रथमतः**, आर्थिक विकास की प्रक्रिया में जैसे-जैसे देशवासियों की आय बढ़ती जाती है, वैसे-वैसे खाद्यान्नों की माँग भी बढ़ती जाती है। यदि ऐसी स्थिति में खाद्यान्नों की पूर्त्ति नहीं बढ़ती तो इनका मूल्य बढ़ जाता है और इस प्रकार मुद्रा-स्फीति की प्रवृत्ति और प्रबल हो जाती है। अतः विकासशील देशों में खाद्यान्न की पूर्त्ति में वृद्धि आवश्यक होती है। भारत जैसे देश में तो जन-संख्या में तीव्रगति से वृद्धि के कारण खाद्यान्नों की मांग में और तेजी के साथ वृद्धि हो रही है। अतः, मुद्रा-स्फीति की प्रवृत्ति को रोकने के लिए इनके उत्पादन में पर्याप्त मात्रा में वृद्धि अनिवार्य है। (२) **द्वितीयतः**, विकसित तथा अर्द्ध-विकसित देशों में जनसंख्या का एक बहुत बड़ा भाग भूखमरी के स्तर पर रहता है, अतः इनकी आय में वृद्धि से खाद्यान्न की मांग पर पहले और अधिक मात्रा में प्रभाव पड़ता है। (३) **तृतीयतः**, खाद्यान्नों की पूर्त्ति बढ़ने से इनके आयात को कम किया जा सकता है, या यदि इनके आयात की आवश्यकता नहीं पड़ी तो इन्हें निर्यात किया जा सकता है और इस प्रकार विदेशी विनिमय की बचत अथवा प्राप्ति होगी जिसे विकास के अन्य कार्यों में लगाया जा सकता है। भारत के सम्बन्ध में यह बात विशेष रूप से लागू होती है। यहाँ प्रति वर्ष अरबों रुपये के खाद्यान्न का आयात करना पड़ता है। अतः यदि खाद्यान्नों की पूर्त्ति बढ़ाई जाय तो इससे जो विदेशी मुद्रा बचेगी उसे विकास के अन्य कार्यों में खर्च किया जा सकता है।

भारत की खाद्य-समस्या की प्रकृति (Nature of the Food Problem of India) :—खाद्य-समस्या भारत की अत्यन्त महत्त्वपूर्ण तथा गम्भीर समस्या है।[1] गत कुछ वर्षों मे यह देश के राजनीतिज्ञों एवं अर्थशास्त्रियों के लिए एक पहेली-सी बन गयी है। भारत एक कृषि-प्रधान देश है और यद्यपि भारत के कुल कृषि-क्षेत्र के प्रायः तीन-चौथाई भाग में खाद्य फसलों की खेती होती है तथा देश की प्रायः ७० प्रतिशत जनसंख्या कृषि पर आश्रित हैं, फिर भी, यह आश्चर्य की बात है कि यहाँ खाद्यान्न का अभाव है जिससे हमें जहाजों से लाये हुए अन्न (Ship to mouth) पर आश्रित रहना पड़ता है। इस अभाव के फलस्वरूप आज देश की खाद्य-समस्या बहुत ही जटिल हो गयी है तथा हमारे राष्ट्रीय जीवन के प्रत्येक अंग को प्रभावित कर रही है। यह देश के आर्थिक, सामाजिक तथा राजनीतिक उत्थान के मार्ग में बहुत बड़ी बाधा उत्पन्न करती है। संक्षेप में, भारत की खाद्य-समस्या केवल खाद्यान्न के अभाव की ही समस्या नहीं है, वरन् हमारे भविष्य के निर्माण की समस्या है। इस समस्या को अच्छी अथवा बुरी, वर्षा या सूखा अथवा बाढ़ के नाम

---

1. प्रो० दंतवाला (Dantwala) के ये शब्द इस सम्बन्ध में अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है "What we have to cure is not a crisis but a chronic malady and the remedies for it are of a routine rather than of a spectacular nature."

पर नहीं छोड़ा जा सकता है। पर्याप्त एवं पौष्टिक भोजन के अभाव में देश की विशाल जनसंख्या के कल्याण का आदर्श उनके लिए सामाजिक न्याय प्राप्त करना तथा जनतन्त्रात्मक समाजवाद की स्थापना करना बिल्कुल असम्भव है। भूख मनुष्य की एक ऐसी मूल प्रवृत्ति है जिसकी पूर्ति सर्वप्रथम तथा किसी भी मूल्य पर अवश्य होनी चाहिए। इस सम्बन्ध में फोर्ड फाउन्डेशन के कृषि-उत्पादन दल का निम्नांकित कथन विशेष रूप से उल्लेखनीय है : "Without enough food, India's hope for improving human welfare, achieving social justice and securing democracy will become almost impossible of attainment." वास्तव में, देश की खाद्य-समस्या एक या दो वर्षों की समस्या नहीं होकर एक दीर्घकालीन समस्या हो गयी है। प्रो० दंतवाला (Dantwala) का इस सम्बन्ध में निम्नांकित कथन विशेष रूप से सही जान पड़ता है :—"It is my considered view that what we have to cure is not a crisis but a chronic malady." इस प्रकार देश की खाद्य-समस्या देशवासियों की आर्थिक, सामाजिक तथा राजनीतिक प्रगति का प्रथम सोपान है।

भारत में खाद्यान्न की कमी के कारण

(Causes of food shortage in India)

भारत में खाद्यान्न की कमी, यानी खाद्य-समस्या के बहुत से कारण बतलाये जाते हैं जिनमें निम्नलिखित विशेष रूप से प्रमुख हैं :—

(१) **बर्मा का भारत से पृथक् होना :**—१९३७ ई० में बर्मा के भारत से अलग होने के कारण देश में उपलब्ध खाद्यान्न की मात्रा में प्रायः १० से १५ लाख टन के बीच चावल की कमी हो गयी। इस कमी को पूरा करने के लिए बर्मा से प्रति १० से १५ लाख टन चावल का आयात करना पड़ता था। किन्तु जब बर्मा पर जापान का कब्जा हो गया तो चावल के आयात का यह साधन भी समाप्त हो गया और भारत को खाद्यान्न के अभाव का सामना करना पड़ा।

(२) **देश-विभाजन :**—१९४७ ई० में देश-विभाजन के फलस्वरूप भी खाद्यान्न की मात्रा में बहुत अधिक कमी हो गयी। भारत संघ को अविभाजित भारत की कुल जनसंख्या का प्रायः ८२ प्रतिशत भाग मिला, किन्तु चावल एवं गेहूँ उत्पन्न करने वाले क्षेत्रों का क्रमशः ६८ तथा ६५ प्रतिशत भाग ही प्राप्त हो सका। इस प्रकार विभाजन के फलस्वरूप देश में खाद्यान्न की कमी ७५० लाख टन से और बढ़ गयी।

(३) **जनसंख्या की अत्यधिक वृद्धि :**—भारत में खाद्यान्न की कमी का सबसे प्रमुख कारण देश की जनसंख्या में अत्यधिक वृद्धि है। १८८० के अकाल आयोग (Famine-Commission) के अनुसार उस समय भारत में प्रतिवर्ष ५० लाख टन खाद्यान्न का आधिक्य था लेकिन तब से जनसंख्या में खाद्यान्न के उत्पादन की अपेक्षा अधिक तेजी से वृद्धि होने लगी जिससे धीरे-धीरे खाद्यान्न का अभाव बढ़ता जा रहा है। १९०१ ई० से १९५० ई० के बीच देश की जनसंख्या में ५१·५ प्रतिशत की वृद्धि हुई। केवल १९५१ ई० से १९६० के बीच जनसंख्या में २१·५ प्रतिशत तथा १९६१ से १९७० के बीच प्रायः २·५ प्रतिशत की वृद्धि हुई। किन्तु, खाद्यान्न के उत्पादन में इससे बहुत ही कम वृद्धि हुई है। अतएव जिस अनुपात में देश की जनसंख्या में वृद्धि हो रही है, उस अनुपात में खाद्यान्न के उत्पादन में वृद्धि नहीं हो पाती जिससे खाद्यान्न का अभाव प्रति-दिन बढ़ता ही जा रहा है।

(४) **उत्पत्ति एवं उपभोग की प्रवृत्ति में परिवर्तन :** डा० राधा कमल मुखर्जी ने अपनी पुस्तक "Food Planning for Four Hundred Millions" में खाद्यान्न की कमी का एक

प्रधान कारण देश में उत्पत्ति एवं उपभोग की प्रवृत्ति में परिवर्तन बतलाया है। डॉ० मुखर्जी के अनुसार देश में पिछले कुछ वर्षों में गेहूँ तथा चावल जैसे पौष्टिक पदार्थों के बजाय निम्न कोटि की फसलों के उत्पादन को बढ़ाने की प्रवृत्ति बढ़ रही हैं। किन्तु उपभोग की स्थिति ठीक इसके विपरीत है। अधिकांश लोग निम्न कोटि के अनाजों की अपेक्षा गेहूँ एवं चावल के उपयोग पर ही अधिक जोर देते हैं। इस प्रकार उत्पत्ति एवं उपभोग की प्रवृत्ति में एक प्रकार के विरोधाभास के कारण भी चावल एवं गेहूँ का अभाव पाया जाता है। किन्तु ध्यानपूर्वक विचार करने से यह स्पष्ट होता है कि खाद्य-समस्या का यह कोई महत्त्वपूर्ण कारण नहीं है क्योंकि देश में प्रायः सभी प्रकार के अनाजों की कमी है।

(५) **प्रति एकड़ कम उत्पादन** :—भारत में खाद्यान्न की कमी का एक प्रधान कारण कृषि-पदार्थों की प्रति-एकड़ उपज का कम होना है। भारत में कृषि की जानेवाली कुल भूमि के प्रायः ८० प्रतिशत भाग में खाद्य-फसलों की खेती होती है, फिर भी खाद्य-फसलों के प्रति एकड़ कम उत्पादन के कारण देश में पर्याप्त मात्रा में खाद्यान्न का उत्पादन नहीं होता जिससे देश में खाद्य-संकट की स्थिति बनी रहती है।

(६) **बाढ़ तथा सूखा जैसी प्राकृतिक आपत्तियाँ** :—भारत में खाद्यान्न के अभाव का एक प्रमुख कारण मौसम की प्रतिकूलता भी है। भारतीय कृषि आज भी मुख्य रूप से मौनसून पर ही आधारित है और मौनसून की प्रकृति बड़ी ही अनिश्चित है। किसी वर्ष घोर वृष्टि के कारण बाढ़ आ जाती है तो किसी वर्ष वर्षा के अभाव में सूखा पड़ जाता है जिससे फसलों की अत्यधिक क्षति होती है। १९४७ ई० से १९७२ ई० तक प्रायः प्रति वर्ष देश के किसी-न-किसी भाग में बाढ़ जथवा सूखा का प्रकोप अवश्य ही होता रहा है जिससे उपज कम होती है तथा देश में खाद्यान्न की कमी होने लगी है।

किन्तु, उक्त सारे कारणों के साथ-साथ भारत की वर्तमान खाद्य-समस्या का प्रमुख कारण पंचवर्षीय योजनाओं में अधिक विनियोग की नीति के फलस्वरूप मांग में वृद्धि तथा उत्पादकों एवं व्यापारियों में संचय के प्रवृत्ति का आधिक्य है।

भारत की खाद्य-समस्या के विभिन्न पहलू

(Different aspects of India's Food Problem)

भारत में खाद्यान्न के अभाव की समस्या प्रथम महायुद्ध के समय से ही चली आ रही है। किन्तु १९४२-४३ ई० में बंगाल के भीषण अकाल ने सर्वप्रथम इस समस्या की जटिलता की ओर हमारा ध्यान आर्कषित किया। और, आजकल तो यह देश की सर्वाधिक प्रमुख समस्या हो गयी है जिसके समाधान पर ही देश का आर्थिक एवं राजनीतिक स्थायित्व निर्भर करता है।

भारत की खाद्य-समस्या के विभिन्न पहलू हैं जिनमें निम्नलिखित तीन प्रधान हैं :—

(क) **खाद्य-समस्या का परिमाणात्मक पहलू** (Quantitative aspect of the Food Problem), **यानी खाद्यान की मात्रा में कमी** :—भारत की खाद्य-समस्या का परिमाणात्मक पहलू सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है। वास्तव में, परिमाणात्मक दृष्टि से हमारी खाद्य-समस्या अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त तक भारत में खाद्यान्न का उत्पादन इसकी माँग की तुलना में अधिक था। किन्तु बीसवीं शताब्दी के आरम्भ से, विशेषतः प्रथम महायुद्ध के समय से देश की जनसंख्या में खाद्यान्न की अपेक्षा अधिक तेजी से वृद्धि होने लगी, जिससे खाद्यान्न की माँग

एवं पूर्ति में असंतुलन उत्पन्न होने लगा। खाद्यान्न के इस अभाव को दूर करने के लिए समय-समय पर खाद्यान्नों का आयात करना पड़ता था। १६३७ ई० में बर्मा के भारत से पृथक् होने के कारण चावल उत्पन्न करने का एक प्रमुख क्षेत्र भारत से अलग हो गया। इसी प्रकार १६४७ में देश-विभाजन के परिणामस्वरूप खाद्यान्न के अभाव में और भी वृद्धि हो गयी।

भारत में खाद्यान्न की मात्रा में कमी (Extent of the food Shortage) :—देश में खाद्य सम्बन्धी आँकड़ों को तैयार करने की दोषपूर्ण प्रणाली के कारण खाद्यान्न की कमी का सही-सही अनुमान लगाना कठिन है। १६३६-४० ई० के पहले डॉ० राधा कमल मुखर्जी के अनुसार देश में प्रायः ,२ प्रतिशत जनसंख्या के लिए खाद्यान्न का अभाव था। योजना आयोग के अनुसार प्रति-व्यक्ति भोजन की मात्रा १३·७ औंस रखने पर १६५१-५२ ई० में हमारे भोजन की कमी १६·४ लाख टन था, जो इस गति से जनसंख्या में वृद्धि होने पर १६५६ ई० तक बढ़कर ७० लाख टन तक हो जाती। लेकिन ग्रेगरी समिति के अनुसार संतुलित भोजन के अभाव में प्रति-व्यक्ति के लिए प्रतिदिन कम-से-कम १६ औंस अन्न आवश्यक है। साथ ही, १६७१ ई० की जनगणना के अनुसार जनसंख्या में प्रायः २.५ प्रतिशत से वृद्धि हो रही है। इस प्रकार योजना आयोग के अनुमान भी वस्तुतः कम ही है। यही कारण है कि वर्तमान समय में भारत को बड़े पैमाने पर खाद्यान्नों का आयात करना पड़ता है। १६६७ ई० में तो ८७ लाख टन तथा १६६६ ई० में १०४ लाख टन खाद्यान्न का विदेशों से आयात करना पड़ा था। खाद्यान्न का अभाव दिन-प्रति-दिन बढ़ता ही जा रहा है।

कुछ ही वर्ष पूर्व फोर्ड फाउन्डेशन (Ford Foundation) के विशेषज्ञों के एक दल ने तृतीय योजना के अन्त में देश के खाद्यान्न की कुल आवश्यकता का अनुमान ११०० लाख टन लगाया था। यह अनुमान इस आधार पर लगाया गया था कि १६६६ ई० तक देश की जनसंख्या ४८ करोड़ हो जायगी तथा प्रति-व्यक्ति प्रति दिन १८ औस अन्न के उपभोग की आवश्यकता होगी। किन्तु तृतीय योजना के अन्त में खाद्यान्न का कुल उत्पादन ७२० लाख टन ही हुआ। इस प्रकार तृतीय योजना के अन्त में खाद्यान्न की कुल आन्तरिक पूर्ति एवं माँग में अनुमानतः ३८० लाख टन की कमी थी। विशेषज्ञों के अनुसार इस अभाव को दूर करने के लिए अगले सात वर्षों में खाद्यान्नों के उत्पादन में वार्षिक ८·२ प्रतिशत की वृद्धि करनी होगी जब कि १६५२-५३ ई० से १६६४-६५ ई० के बीच इसके उत्पादन में औसत वार्षिक वृद्धि २·३ प्रतिशत ही थी। चतुर्थ पंचवर्षीय योजना के अन्त में भी खाद्य-पदार्थों के उत्पादन को बढ़ाकर १२६० लाख टन करने की व्यवस्था की जा रही है।

(ख) गुणात्मक पहलू यानी भोजन में पोषक तत्त्वों का अभाव (Deficiency of nutritions in our food) :—भारत की खाद्य-समस्या का एक महत्त्वपूर्ण पहलू हमारे भोजन में पोषक-तत्त्वों का अभाव है। हमारे यहाँ केवल अन्न की ही कमी नहीं है, वरन् हमारे भोजन में पोषक-तत्त्वों का भी अभाव है। १६४० ई० में सर जॉन मेगा (Sir John Megaw) ने यह अनुमान लगाया था कि "**भारत में केवल ३६ प्रतिशत व्यक्तियों को पोषक-तत्त्व-युक्त भोजन, ४१ प्रतिशत को कम पोषक तत्त्व-युक्त भोजन तथा २ प्रतिशत को अत्यन्त कम पोषक-तत्त्व-युक्त भोजन मिलता है**:" जहाँ तक संतुलित भोजन (Balanced diet) का प्रश्न है, यह कहा जा सकता है कि हमारे देश में ६५ प्रतिशत व्यक्तियों को संतुलित भोजन नहीं

मिलता। डाक्टर एकरायड (Aykroyd) के अनुसार देश के एक-तिहाई व्यक्तियों को कम पौष्टिक पदार्थ-युक्त भोजन मिलता है। विशेषज्ञों के अनुसार पौष्टिक भोजन के लिए एक औसत भारतीय के भोजन में कम-से-कम ३००० हजार कैलरीज (Calories) की आवश्यकता पड़ती है, किन्तु उसे आजकल प्रतिदिन केवल १८६० कैलरीज ही प्राप्त होता है। संयुक्त राज्य अमेरिका के एक औसत निवासी के भोजन में प्रतिदिन मिलने वाले ३३०० कैलरीज तथा ब्रिटेन के ३००० कैलरीज की तुलना में हम भारतवासियों के भोजन में पोषक-तत्वों का अभाव स्पष्ट हो जाता है। भारत में आज केवल अन्न की ही कमी नहीं है वरन् भोजन के लिए आवश्यक प्रायः सभी वस्तुओं की ५३.६ प्रतिशत की कमी है। देश के प्रत्येक व्यक्ति के लिए संतुलित आहार की व्यवस्था करने के लिए हमें दालों के उत्पादन में २८.५%, तरकारियों में ६५.३%, फलों में ५६.६%, दूध में ५४.६%, तिलहन में ७२.३%, घी में १००% तथा अण्डों में ५३.१% की वृद्धि करनी होगी।

(ग) **प्रशासनिक पहलू, यानी खाद्यान्न वितरण-व्यवस्था सम्बन्धी समस्याएँ** :—हमारे देश में खाद्य-वितरण की व्यवस्था भी अत्यन्त ही दोषपूर्ण है। यह दोष कई बातों से स्पष्ट हो जाता है। भारत में बहुत से व्यापारी तथा बड़े-बड़े किसान अपनी आवश्यकता से अधिक अन्न छुपाकर (hoarding) रखते हैं। खाद्य-वितरण-व्यवस्था-सम्बन्धी कर्मचारी भी कुशलतापूर्वक तथा ईमानदारी के साथ अपना कार्य नहीं करते। इनकी इस अकुशलतापूर्वक तथा बेईमानी के कारण सरकार के बहुत से कार्यक्रम, जैसे—अन्न की वसूली (procurement of foodgrains), मूल्य-नियन्त्रण (price-control), खाद्यान्नों से मुक्त गमनागमन पर प्रतिबन्ध (Restriction on free movement of food-grains) आदि सफल नहीं हो पाते हैं। यही कारण है कि जहाँ इंगलैंड तथा अमेरिका जैसे देशों में अन्न के वितरण पर नियन्त्रण से जनता की सुविधाएँ बढ़ जाती हैं, वहाँ भारत में नियन्त्रण नागरिकों के लिए एक बोझ-सा बन जाता है। अतः यह कहा जा सकता है कि 'भारत में खाद्यान्न की समस्या केवल उत्पादन की ही नहीं, वरन् सुव्यवस्थित वितरण के अभाव की भी है।'

१ जनवरी, १९६५ ई० को एक खाद्य निगम (Food Corporation of India) की स्थापना की गयी जिसका उद्देश्य खाद्यान्नों का क्रय-विक्रय तथा वितरण है। निगम ने प्रायः सभी महत्त्वपूर्ण राज्यों में अपने कार्यालय स्थापित कर लिया है।

(घ) **खाद्य-समस्या का आर्थिक पहलू** :—भारत की प्रस्तुत खाद्य-समस्या के विकराल रूप धारण करने का एक प्रमुख कारण देश की जनता में क्रय-शक्ति का सामान्य रूप से अभाव भी है। डा० एकराइड ने द्वितीय महायुद्ध के पूर्व यह अनुमान लगाया था कि भारत में प्रति-वयस्क संतुलित भोजन के लिए प्रतिमाह पाँच रुपये तथा असंतुलित भोजन के लिए ढाई-तीन रुपये व्यय करना पड़ता था। इसी अनुमान के आधार पर यह कहा जा सकता है कि आज के मूल्य-स्तर पर प्रति व्यक्ति संतुलित भोजन के लिए ३०-३५ रुपये तथा असंतुलित भोजन के लिए २०-२५ रुपये खर्च करना होगा। किन्तु वर्तमान स्थिति में हमारे देश के अधिकांश व्यक्तियों के लिए यह प्रायः असम्भव ही जान पड़ता है। ५ व्यक्ति वाले एक औसत भारतीय परिवार की औसत वार्षिक आय ४४४.४ रुपये है जिसका लगभग ८४% भाग खाद्यान्नों पर व्यय किया जाता है। इस प्रकार भारत की वर्तमान खाद्य-समस्या का एक प्रधान कारण सामान्य जनता में क्रय-शक्ति का अभाव है।

खाद्यान्न एव जनसख्या

(Food and Population)

किसी देश की जनसंख्या एवं खाद्यान्न के उत्पादन में बड़ा ही घनिष्ठ सम्बन्ध है। जब तक देश में खाद्यान्नों का उत्पादन जनसंख्या के अनुकूल होगा तब तक खाद्यान्न-संकट की कोई सम्भावना नहीं होगी। किन्तु, जहाँ जनसंख्या में खाद्यान्न की अपेक्षा अधिक तेजी से वृद्धि हुई, वहाँ दोनों में असंतुलन हो जायगा। भारत में खाद्यान्न की कमी का एक प्रमुख कारण देश की जनसंख्या में अत्यधिक वृद्धि है। गत शताब्दी तक देश में अन्न के उत्पादन तथा जनसंख्या में प्रायः संतुलन था। किन्तु बीसवीं सदी के प्रारम्भ से ही जनसंख्या खाद्यान्न की तुलना में अधिक तेजी से बढ़ने लगी। १९१४ ई० में मूल्य जाँच-समिति (Prices Enquiry Committee) के विवरण में श्री के० एल० दत्त ने यह बतलाया था कि १८९४ से १९१२ ई० के बीच जनसंख्या में वृद्धि की अपेक्षा कृषि की जानेवाली भूमि के क्षेत्र में कम ही वृद्धि हुई। कृषि-आयोग (Agriculture Commission) के सर जॉन रसेल ने भी इसी आशय का विचार व्यक्त किया था। इनके अनुसार बीसवीं शताब्दी के प्रथम २५ वर्षों में देश की जनसंख्या में ७६० लाख की वृद्धि हुई, किन्तु कृषि की जानेवाली भूमि के क्षेत्र में केवल ४० लाख एकड़ की ही वृद्धि हुई। श्री पी० के० वत्तल ने भी खाद्यान्न के अभाव के सम्बन्ध में प्रायः इसी प्रकार का अनुमान लगाया है। इनके अनुसार १९१३-१४ ई० से १९३४-३५ ई० के बीच जनसंख्या में प्रायः प्रतिवर्ष १ प्रतिशत की वृद्धि हुई, किन्तु खाद्यान्नों के उत्पादन में केवल ०.६५ प्रतिशत की ही वृद्धि हुई। इससे यह अनुमान लगाया जाता है कि देश की जनसंख्या तथा खाद्यान्न के उत्पादन में असंतुलन बढ़ता जा रहा है। डाक्टर ज्ञानचन्द के अनुसार १९०० ई० से १९२४ ई० के बीच जनसख्या में २१ प्रतिशत की वृद्धि हुई थी जबकि कृषि की जानेवाली भूमि के क्षेत्र में केवल ११ प्रतिशत की ही वृद्धि हुई।

उक्त सभी अनुमानों में कुछ अन्तर अवश्य है, किन्तु इन सभी का आशय प्रायः एक ही है। अतः यह बात निश्चित रूप से सत्य है कि देश में जनसंख्या की वृद्धि तथा खाद्य-उत्पादन में असंतुलन बढ़ता ही जा रहा है। १९३१ ई० के बाद तो यह असंतुलन और भी उग्र हो गया है। १९३१ ई० से १९४० ई० के बीच जनसंख्या में १२.७ प्रतिशत की वृद्धि हुई, किन्तु इसी बीच कृषि की जाने वाली भूमि के क्षेत्र में केवल १.५ प्रतिशत की ही वृद्धि हुई। इसी तरह १९४१ से १९५० ई० के बीच जनसंख्या में १३.२ प्रतिशत की वृद्धि हुई, किन्तु इस अवधि में खाद्यान्न का उत्पादन लगभग ज्यों-का-त्यों रह गया। योजना आयोग की राय में भी हमारी खाद्य-समस्या का मुख्य कारण जनसंख्या की अत्यधिक वृद्धि ही है। आयोग के शब्दों में "हमारी खाद्य-समस्या का प्रमुख कारण खाद्यान्न की मांग तथा पूर्ति का तत्कालीन असंतुलन नहीं, वरन् देश में खाद्यान्न की तुलना में जनसंख्या की निरन्तर अत्यधिक वृद्धि है।" १९५१ ई० की जन-गणना के विवरण के अनुसार १९६१ ई० तक हमारी जनसंख्या बढ़कर ४१ करोड़, १९७१ ई० तक ४६ करोड़ तथा १९८१ ई० तक ५२ करोड़ हो जाने को थी। इसके फलस्वरूप उपभोग के वर्तमान स्तर पर खाद्यान्न के उत्पादन को १९५१ ई० के ५४० लाख टन से बढ़ाकर १९६१ ई० में ८५० लाख टन, १९७१ ई० में ९९० लाख टन तथा १९८१ ई० में १०८० लाख टन करने की आवश्यकता होगी, यानी खाद्यान्न के उत्पादन में क्रमशः २१ प्रतिशत, ३७ प्रतिशत तथा ५४

प्रतिशत वृद्धि की आवश्यकता होगी। किन्तु ये अनुमान मिथ्या सिद्ध हो गये तथा देश की जनसंख्या १९६१ ई० में ४१ करोड़ होने के बजाय ४३·९ करोड़ तथा १९७१ में ५४·७ करोड़ हो गयी। अतएव खाद्यान्न की आवश्यकता और भी अधिक हो गयी। क्या देश में इस गति से खाद्यान्न के उत्पादन में वृद्धि की आशा की जा सकती है? यदि नहीं, तो इसे किस प्रकार पूरा किया जा सकता है? अतः जब तक भारत में जनसंख्या की वृद्धि को रोकने का प्रयास नहीं किया जायगा तब तक हमारी खाद्य-समस्या का कोई स्थायी समाधान सम्भव नहीं है।

सरकार की खाद्य-नीति
(Food Policy of the Government)

स्वतन्त्रता-प्राप्ति के पूर्व की खाद्य-नीति (Food Policy before Independence) :—द्वितीय महायुद्ध तथा बंगाल के भीषण अकाल के फलस्वरूप देश की खाद्य-समस्या की ओर सर्वप्रथम सरकार का ध्यान आकर्षित हुआ। तब से इसके निराकरण के लिए सरकार द्वारा निरन्तर प्रयत्न किये जा रहे हैं। स्वतन्त्रता-प्राप्ति के पूर्व इस उद्देश्य से किये गये सरकारी प्रयत्न निम्न प्रकार के हैं :—

(१) **अधिक अन्न उपजाओ आन्दोलन** (Grow More Food Campaign) :—१९४१ ई० में जापान के युद्ध घोषित करने तथा बर्मा पर जापानियों का कब्जा होने के कारण भारत की खाद्य-स्थिति बहुत ही गम्भीर हो गयी। इस स्थिति को सुधारने के लिए भारत सरकार ने दिसम्बर, १९४२ ई० में एक खाद्य-विभाग (Food Department) की स्थापना की। पुनः जुलाई, १९४३ ई० में भारत सरकार द्वारा एक खाद्यान्न-नीति-समिति (Food Grains Policy Committee) की नियुक्ति की गयी जिसने इस सम्बन्ध में निम्नलिखित सुझाव दिये :—(क) खाद्यान्नों का निर्यात बन्द किया जाय; (ख) प्रतिवर्ष औसत १५ लाख टन खाद्यान्न का आयात किया जाय जिसे एक केन्द्रीय खाद्यान्न कोष (Central Food Grains Reserve) में रखा जाय; (ग) अन्न वसूली (Procurement) की विशेष व्यवस्था की जाय; (घ) एक लाख से अधिक जनसंख्या वाले नगरों में राशनिंग की व्यवस्था की जाय; (च) अन्न छुपाकर संग्रह (hoarding) करने वालों के विरुद्ध कड़ी कानूनी कार्यवाही की जाय; तथा (छ) खाद्यान्नों के उत्पादन में वृद्धि के लिए 'अधिक अन्न उपजाओ आन्दोलन' (Grow More Food Campaign) चलाया जाय। भारत सरकार ने इस समिति के प्रायः सभी प्रस्तावों को स्वीकार कर लिया तथा समिति की सिफारिशों के आधार पर १९४३ ई० से देश में अधिक अन्न उपजाओ' आन्दोलन प्रारम्भ किया गया।

खाद्यान्न नीति समिति के प्रस्तावों के आधार पर देश में १९४३ ई० से **'अधिक अन्न** उपजाओ' आन्दोलन का श्री गणेश हुआ। इस आन्दोलन के अन्तर्गत खाद्यान्न के उत्पादन को बढ़ाने के लिए निम्नलिखित कार्यक्रम अपनाये गये—(क) **कृषि-योग्य भूमि के क्षेत्रफल में वृद्धि करना**—बंजर तथा बेकार भूमि के पुनरुद्धार (reclamation of waste lands) के द्वारा कृषि-योग्य भूमि के विस्तार का एक विस्तृत कार्यक्रम तैयार किया जाय। साथ ही, खाद्यान्नों के उत्पादन में वृद्धि के लिए वर्ष में एक से अधिक फसल उपजाने तथा अखाद्य फसलों के स्थान पर खाद्य-फसलों की खेती को बढ़ाने का प्रयत्न किया गया। (ख) **सिंचाई की सुविधाओं में वृद्धि**—कुएँ, तालाब तथा नल-कूपों के द्वारा सिंचाई के साधनों में वृद्धि का कार्यक्रम अपनाया गया।

'अधिक अन्न उपजाओ' आन्दोलन के अन्तर्गत सिंचाई की लघु एवं मध्यम दर्जे की योजनाओं पर ही विशेष ध्यान दिया गया। (ग) **खाद के उपयोग में वृद्धि**—'अधिक अन्न उपजाओ' आन्दोलन के अन्तर्गत भी खाद के प्रयोग पर विशेष जोर दिया गया। इसके अन्तर्गत रासायनिक खादों के वितरण की भी विशेष व्यवस्था की गयी। (घ) **उत्तम बीज की व्यवस्था**—किसानों को उत्तम बीज प्रदान करने की व्यवस्था भी इस आन्दोलन के अन्तर्गत की गयी।

'अधिक अन्न उपजाओ' आन्दोलन के अन्तर्गत विभिन्न योजनाओं को कार्यान्वित करने का सारा भार राज्य सरकारों को सौंप दिया गया लेकिन इन पर व्यय की जानेवाली रकम का आधा भाग इन्हें केन्द्रीय सरकार द्वारा प्राप्त होता था। किन्तु 'अधिक अन्न उपजाओ' आन्दोलन के अन्तर्गत खाद्य-समस्या के समाधान के लिए किये जाने वाले विभिन्न प्रयत्नों से कोई निश्चित लाभ नहीं हुआ।

किन्तु देश में खाद्यान्न की समस्या के समाधान में 'अधिक अन्न उपजाओ' आन्दोलन मुख्यतः विफल ही रहा तथा इसका इच्छित परिणाम नहीं हो सका। १९५० ई० में एक 'अधिक अन्न उपजाओ' आन्दोलन जाँच समिति की नियुक्ति की गयी जिसने इस आन्दोलन की त्रुटियों के अन्य निम्नांकित कारणों को उत्तरदायी बतलाया :—(क) सर्वप्रथम तो आत्म-निर्भरता के आदर्श को प्राप्त करना ही कठिन है। इसका अभिप्राय होगा उपभोग के वर्तमान स्तर को बनाये रखना, जो जनसंख्या की विशालता को देखते हुए सम्भव नहीं जान पड़ता। साथ ही, भारतीय कृषि पर मौसमी परिवर्तनों का इतना अधिक प्रभाव पड़ता है कि इससे कृषि के सम्बन्ध में कोई सामान्य कथन सम्भव नहीं जान पड़ता। (ख) इस आन्दोलन का संगठन अस्थायी रूप से किया गया था तथा इसे कार्यान्वित करने के लिए अस्थायी कर्मचारियों को रखा गया था। (ग) इस आन्दोलन के अन्तर्गत वितरित की जाने वाली खाद तथा बीज आदि बहुत ही कम क्षेत्र के लिए पर्याप्त थे। देश में खाद्यान्नों के अन्तर्गत की कुल २६०० लाख एकड़ भूमि में से १३० लाख एकड़ भूमि, यानी प्रायः ५ प्रतिशत भाग में ही यह कार्यक्रम अपनाया गया था। इससे किसानों का एक बहुत छोटा भाग ही इसके कार्यक्रम से लाभान्वित हो सका। अतः अधिक अन्न उपजाओ आन्दोलन से देश में राष्ट्रव्यापी उत्साह का संचार नहीं हो सका। परिणामस्वरूप यह आन्दोलन ग्रामीण-जीवन के स्तर को ऊँचा उठाने के लिए एक व्यापक आन्दोलन का रूप नहीं ले सका।

(२) **राशनिंग एवं नियन्त्रण** (Rationing and Control) :—१९४३ ई० के बंगाल के अकाल के बाद सरकार द्वारा खाद्यान्नों पर नियंत्रण की नीति को अपनाया गया। इसके अन्तर्गत सरकार द्वारा खाद्यान्नों के मूल्य एवं वितरण पर नियंत्रण, गांवों से अन्न की अनिवार्य वसूली आदि की नीति अपनायी गयी। इस कार्यक्रम के अन्तर्गत अगस्त, १९४७ ई० में १·४५ करोड़ जनसंख्या को राशनिंग की सुविधा उपलब्ध थी।

स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद की खाद्य-नीति

(Food Policy after Independence)

स्वतंत्रता-प्राप्ति के बाद राष्ट्रीय सरकार द्वारा खाद्य-समस्या के समाधान पर विशेष रूप से जोर दिया जाने लगा। १९४६ ई० में भारत की राष्ट्रीय सरकार ने महात्मा गाँधी के सुझावों के आधार पर खाद्यान्न पर से नियंत्रण हटा लिया। किन्तु, इसका परिणाम बहुत ही बुरा हुआ, अतएव

शीघ्र ही पुनः नियन्त्रण की नीति अपनानी पड़ी। देश की खाद्य-स्थिति पर विचार करने के लिए भारत सरकार द्वारा १९४७ ई० में एक दूसरी खाद्यान्न नीति समिति (Food Grains Policy Committee) की नियुक्ति की गयी। 'अधिक अन्न उपजाओ' आन्दोलन के सम्बन्ध में इस समिति का कहना था कि इसमें कोई सन्देह नहीं कि जिन उपायों द्वारा खाद्यान्न समस्या को हल करने का प्रयत्न किया जा रहा था, वे उत्तम थे, लेकिन उन्हें कार्यान्वित करने की पद्धति संतोषजनक नहीं थी।

खाद्यान्न नीति समिति ने इस सम्बन्ध में बहुत से सुझाव दिये जिनमें निम्नलिखित प्रमुख हैं :—(क) खाद्यान्नों के आयात पर सरकार का एकाधिपत्य होना चाहिए। भारत सरकार को केन्द्र में १० लाख टन चावल तथा गेहूँ को एक सुरक्षित कोष में रखना चाहिए। (ख) कृषि-योग्य बेकार भूमि के पुनरुद्धार के लिए समिति ने यह सुझाव दिया कि एक केन्द्रीय भूमि उद्धार परिषद् (Central Land Reclamation Organisation) की स्थापना की जाय जिसकी पूँजी ५० करोड़ रु० की होगी जो सरकार द्वारा दी जायगी। (ग) राज्य सरकारों तथा केन्द्रीय सरकार की कृषि-सम्बन्धी नीति में संतुलन स्थापित करने के लिए समिति ने केन्द्र तथा राज्यों में विशेष परिषदें बनाने का सुझाव दिया। (घ) समिति ने खाद्यान्न-उत्पादन की एक पंचवर्षीय योजना को कार्यान्वित करने का भी अनुरोध किया।

पंचवर्षीय खाद्य-योजना (१९४७-४८ ई० से १९५१-५२ ई० तक) :—इस समिति की सिफारिशों के आधार पर १९४७ ई० से खाद्यान्न की एक विस्तृत पंचवर्षीय योजना कार्यान्वित की गयी। इस योजना के अनुसार सरकार ने यह घोषित किया कि ३१ मार्च, १९५२ ई० तक भारत खाद्यान्न के सम्बन्ध में आत्मनिर्भर हो जायगा तथा इसके बाद अन्न के आयात की कोई आवश्यकता नहीं रह जायगी। इस योजना के अन्तर्गत पाँच वर्षों में खाद्यान्न के वार्षिक उत्पादन में लगभग ३० लाख टन की वृद्धि का आयोजन किया गया था। इसके लिए कुएँ, तालाब तथा ट्यूब वेल बैठाने की व्यवस्था की गयी और उत्तम बीज एवं खादों के वितरण की भी व्यवस्था की गयी। साथ ही, ६२ लाख एकड़ बंजर भूमि को कृषि-योग्य बनाने का एक कार्यक्रम अपनाया गया। इस योजना का कुल व्यय २८८ करोड़ रुपये रखा गया। लेकिन, १९५०-५१ ई० में खराब मौसम के कारण इस योजना के सारे अनुमान विफल हो गये तथा इच्छित परिणाम नहीं हासिल हो सका। इस प्रकार प्राकृतिक सहयोग के अभाव तथा त्रुटियों के कारण पंचवर्षीय खाद्य-योजना के उद्देश्य पूरे नहीं हो सके।

मूल्य-नियन्त्रण तथा रैशनिंग (Price control and Rationing) :—अन्न के अभाव एवं मूल्य में अत्यधिक वृद्धि के कारण सरकार द्वारा १९४३ ई० में खाद्यान्न के मूल्य पर नियन्त्रण तथा रैशनिंग की व्यवस्था की गयी। पहले अधिक जनसंख्या वाले नगरों में ही यह व्यवस्था लागू की गयी थी। सरकार द्वारा अन्न का एक अधिकतम मूल्य निश्चित कर दिया जाता था। लेकिन इन सब प्रयत्नों के फलस्वरूप अन्न छुपाने की प्रवृत्ति बढ़ गयी जिससे उपभोक्ताओं को बाध्य होकर चोर-बाजारी की शरण लेनी पड़ी तथा अधिक मूल्य देकर अन्न खरीदना पड़ा। अतः १९४७ ई० में महात्मा गाँधी के सुझावों के अनुसार अन्न पर से नियन्त्रण हटा लिया गया, लेकिन इसके फलस्वरूप अन्न के मूल्य में लगभग ५० प्रतिशत की वृद्धि हो गयी। अतः १९४८ में पुनः नियन्त्रण की नीति अपनायी गयी। पर १९५६ में पर्याप्त मात्रा में उत्पादन होने के कारण खाद्य-संकट की स्थिति में बहुत अधिक सुधार हुआ जिससे नियन्त्रण धीरे-धीरे कम किया जाने लगा तथा १९५४

ई० तक प्रायः सभी स्थानों में खाद्यान्न पर से नियन्त्रण हटा लिया गया। किन्तु पुनः १९६६ ई० में खाद्यान्न के अभाव के कारण देश के बड़े भाग में रैशनिंग तथा मूल्य-नियन्त्रण की व्यवस्था की गयी।

खाद्यान्नों का आयात (Import of foodgrains) :—खाद्यान्न के अभाव को दूर करने के लिए प्रतिवर्ष भारत सरकार को अन्न का आयात करना पड़ता है। भारत सरकार प्रतिवर्ष संयुक्त राज्य अमेरिका, कैनाडा, आस्ट्रेलिया, अर्जेन्टाइना एवं रूस से गेहूँ तथा बर्मा, स्याम आदि देशों से चावल का आयात करती है। इसके लिए आर्थिक विकास की अन्य योजनाओं को स्थगित कर करोड़ों रुपये विदेशी विनिमय के रूप में खर्च करने पड़ते हैं। बंगाल अकाल आयोग के अनुसार १९४१-४२ ई० के पूर्व पाँच वर्षों में अन्न का औसत वार्षिक आयात १० लाख टन था। आयात की यह मात्रा प्रतिवर्ष बढ़ती ही गयी। १९४९ ई० में ३७ लाख टन, १९५१ ई० में ४७ लाख टन तथा १९५२ ई० में ३८·६ लाख टन खाद्यान्न का आयात करना पड़ा। इसके बाद १९५३-५४ ई० में अच्छी उपज के कारण आयात की मात्रा में बहुत कमी हो गयी। किन्तु पुनः द्वितीय योजना के आरम्भ में खाद्य-समस्या ने गम्भीर रूप धारण कर लिया जिससे १९५९ ई० में १८ लाख टन तथा १९६० ई० में प्रायः ४५ लाख टन खाद्यान्न का आयात करना पड़ा। तृतीय योजना काल में खाद्यान्न के उत्पादन में कमी से इसके आयात में और अधिक वृद्धि हुई। १९६३ ई० में कुल ४५·६ लाख टन, १९६४ ई० में ६२·७ लाख टन, १९६५ ई० में ७४·६ लाख टन तथा १९६६ ई० में १०४ लाख टन खाद्यान्न का आयात करना पड़ा था। इतना ही नहीं, आयात किये हुए खाद्यान्न का मूल्य प्रायः अधिक होता है। इस दर से बेचने पर देश के मूल्य-स्तर में और वृद्धि होने की सम्भावना हो जाती है। अतः सरकार इस अन्न को कम ही मूल्य पर बेचती है। ऐसा करने में सरकार को प्रतिवर्ष बहुत अधिक मात्रा में व्यय करना पड़ता है।

किन्तु १९६७-६८, १९६८-६९ तथा १९६९-७० की हरी क्रांति (Green Revolution) के परिणामस्वरूप खाद्यान्न के उत्पादन में अत्यधिक वृद्धि के परिणामस्वरूप भारत सरकार ने १९७२ ई० के प्रारम्भ में खाद्यान्न के आयात को बन्द करने की घोषणा की है।

भारत सरकार की वर्तमान खाद्य-नीति :—सरकार की वर्तमान खाद्य-नीति में निम्नांकित बातें उल्लेखनीय हैं :—

(१) खाद्य-क्षेत्र (Food zones) का निर्माण;
(२) "बफर स्टॉक" का निर्माण;
(३) भारतीय खाद्यान्न निगम (Food Corporation of India) की स्थापना;
(४) अनाज के उत्पादक-मूल्य व उपभोक्ता-मूल्य निर्धारित करना;
(५) उचित मूल्यों पर माल बेचने की दूकानें खोलना;
(६) रिजर्व बैंक द्वारा खाद्यान्नों के संग्रह व सट्टा रोकने के लिए साख-नियन्त्रण; तथा
(७) खाद्यान्नों के उत्पादन को बढ़ाने के लिए गहन कृषि, जिला कार्यक्रम एवं सहकारी संयुक्त कृषि कार्यक्रम आदि।

(1) **खाद्य क्षेत्रों का निर्धारण** (Food zones) :—खाद्यान्नों की बढ़ती हुई कीमतों को रोकने के लिए सरकार ने गेहूँ व चावल जैसे प्रमुख खाद्यान्नों के लिए देश में कई क्षेत्र बनाये हैं। इन क्षेत्रों की संख्या में कभी कमी कर दी जाती है तो कभी वृद्धि। उदाहरण के लिए १९६४ ई० में सम्पूर्ण देश को ८ क्षेत्रों में विभाजित कर दिया गया। एक क्षेत्र से दूसरे क्षेत्र में गेहूँ का आना-जाना भारत सरकार की अनुमति के बगैर नहीं किया जा सकता है। एक क्षेत्र के अन्तर्गत घाटे का प्रदेश व आधिक्य का प्रदेश दोनों होते हैं। जैसे चावल के पूर्वी क्षेत्र में पश्चिमी बंगाल घाटे का

प्रदेश है और उड़ीसा चावल के लिए आधिक्य का प्रदेश है। एक क्षेत्र के विविध भागों में उस विशेष अनाज का आना-जाना स्वतन्त्र रहता है, लेकिन गल्ले की अन्तर्क्षेत्रीय गतिशीलता (inter-zonal movement of foodgrains) पर प्रतिबन्ध रहता है। इस प्रकार गेहूँ व चावल के क्षेत्र बनाकर सरकार ने गल्ले के भावों पर नियन्त्रण स्थापित करने का प्रयत्न किया है। इन उद्देश्यों से एक राज्यीय क्षेत्र (Single-state zone) की नीति अपनायी गयी है। खाद्यान्नों के क्षेत्र निर्धारित करने से अभाव के क्षेत्र में अनाज के बहुत ऊँचे मूल्य एवं आधिक्य के क्षेत्र में नीचे मूल्य पाये जाते हैं।

विभिन्न अर्थशास्त्रियों ने खाद्यान्नों की क्षेत्रीय नीति को समाप्त करने का जोरदार शब्दों में समर्थन किया है। इसकी सबसे बड़ी आलोचना यह है कि खाद्य-क्षेत्रों के परिणामस्वरूप एक राष्ट्रीय खाद्यान्न-नीति को कार्यान्वित करने में कठिनाई हो रही है। इसके परिणामस्वरूप सरकार ने १९७० ई० में गेहूँ के क्षेत्र को समाप्त करने की घोषणा की।

(२) **बफर स्टॉक का निर्माण करना** :--बफर स्टॉक (Buffer Stock) का निर्माण सरकार की खाद्य-नीति का एक महत्त्वपूर्ण अंग है। बफर स्टॉक का अभिप्राय यह है कि सरकार अपने पास खाद्यान्नों का हर समय कुछ कोष बनाये रखना चाहती है जो खाद्यान्नों के अभाव अथवा बढ़ती हुई कीमतों के समय प्रयुक्त किया जाता है। बफर स्टॉक का निर्माण सरकार के द्वारा आन्तरिक खरीद तथा वसूली से एवं विदेशों से अनाज का आयात करके किया जाता है। इस सम्बन्ध में सरकार का उद्देश्य एक ऐसी मूल्य-नीति को अपनाना है जिसमें उत्पादकों एवं उपभोक्ताओं दोनों के हितों का उचित समन्वय किया जा सके। उत्पादकों के हितों की रक्षा के लिए सरकार को कृषि-उपज के न्यूनतम मूल्य निर्धारित करने पड़ते हैं और उपभोक्ताओं के हितों की रक्षा के लिए अधिकतम मूल्य निर्धारित करने पड़ते हैं। इन न्यूनतम व अधिकतम मूल्यों के आधार पर बफर स्टॉक की क्रियाएँ संचालित की जाती हैं। यदि बाजार में अनाज के भाव निर्धारित की गयी न्यूनतम कीमतों से नीचे आने लगती है तो सरकार निर्धारित भाव पर अनाज खरीदने लगती है। इससे बफर स्टॉक में अनाज की मात्रा बढ़ जाती है। जब सरकार यह देखती है कि कुछ क्षेत्रों में अनाज की कमी है और भाव तेजी से बढ़ रहे हैं तो वह बफर स्टॉक में से अनाज बेचने लगती है जिससे उपभोक्ता को उचित मूल्यों पर अनाज मिल पाता है।

भारत सरकार ने १९७३-७४ तक ५० लाख टन खाद्यान्न के बफर स्टॉक के निर्माण का निर्णय किया था, किन्तु जून, १९७१ में ही बफर स्टॉक में ८४ लाख टन जमा हो गया।

(३) **भारत का खाद्यान्न-निगम** (Food Corporation of India) :—**खाद्यान्नों के** राजकीय व्यापार के लिए संसद के एक अधिनियम द्वारा १ जनवरी, १९६५ को Food Corporation of India की स्थापना की गयी। इसकी पूँजी १०० करोड़ रुपये है जो सरकार द्वारा प्रदान की गयी है। खाद्य-निगम अनाज की खरीद, संग्रह, परिवहन, लाने-ले-जाने, वितरण व बिक्री का कार्य करेगा। वह अनाज के व्यापार में प्रमुख स्थान प्राप्त करना चाहता है। यह निर्धारित भावों पर अनाज की खरीद करेगा और अनाज का बफर स्टॉक बनायेगा। निगम ने अब तक प्रायः सभी राज्यों में अपने कार्यालय स्थापित कर लिये हैं। १९६९-७० में निगम ने लगभग ७३५ करोड़ रुपये के अन्न का क्रय-विक्रय किया था। निगम के पास २८ लाख टन संचय का स्थान उपलब्ध है।

(४) **खाद्यान्न के न्यूनतम एवं अधिकतम मूल्यों का निर्धारण** :—बफर स्टॉक नीति को लागू करने के लिए गेहूँ, चावल व ज्वार के न्यूनतम मूल्य निर्धारित किये गये हैं। यदि कृषक को अपनी उपज की उचित कीमत नहीं मिल पाती है तो वह दूसरी फसलों को बोने लगता है। इसलिए उसे न्यूनतम कीमत की गारन्टी मिलनी चाहिए, जिससे वह फसलों में अनुचित परिवर्तन न करे।

(५) **उचित मूल्यों की दूकानें** (fair price shops) :—देश के विभिन्न भागों में उचित मूल्य की दूकानें खोली गयी हैं जिनके द्वारा अनाज का वितरण किया जाता है। इन दुकानों पर सरकारी गल्ले की व्यवस्था रहती है। गरीब-वर्ग के लोगों को इनसे विशेष लाभ हुआ है।

(६) **रिजर्व बैंक ने साख-नियन्त्रण के गुणात्मक उपायों** (Selective measures of credit control) को अपनाकर समय-समय पर विभिन्न कृषि-पदार्थों के आधार पर मिलने वाली साख को नियन्त्रित करने की चेष्टा की है। इससे अनाज के संग्रह करने पर रोक लगती है और साथ ही अनावश्यक सट्टेबाजी भी रुकती है। गेहूँ एवं चावल के आधार पर नियंत्रित साख प्रदान करने के लिए समय-समय पर रिजर्व बैंक अन्य बैंकों को हिदायतें देता है।

(७) **खाद्यान्नों के उत्पादन को बढ़ाने के लिए सरकार द्वारा गहन जिला कृषि-विकास कार्यक्रम** (Intensive Programme) को अपनाया गया है जिसके अन्तर्गत चुने हुए जिलों में कृषि-विकास के लिए गहन प्रयत्न किये जाते हैं। साथ ही, सरकार द्वारा सहकारी संयुक्त-कृषि (Co-operative Joint Farming) की स्थापना को भी प्रोत्साहित किया जा रहा है। इनके अतिरिक्त भूमि-व्यवस्था में भी इस प्रकार के सुधार किये जा रहे हैं जिससे खाद्यान्नों के उत्पादन में वृद्धि हो।

खाद्य-समस्या के समाधान के लिए सुझाव
(Some Suggestions for Solving the Food Problem)

उपरोक्त अनुभवों के आधार पर देश की खाद्य-समस्या के निराकरण के लिए विभिन्न सुझाव दिये जा सकते हैं। अध्ययन की सुविधा के लिए इन सुझावों को निम्नांकित तीन वर्गों में विभाजित किया जा सकता है—(क) खाद्यान्न के उत्पादन में वृद्धि (Measures to Increase food production); (ख) वितरण में सुधार (Change in the distribution); तथा (ग) खाद्यान्नों के मूल्य का स्थायित्व (Stabilisation of Foodgrain prices)।

(क) खाद्यान्नों के उत्पादन में वृद्धि (Increase in Production of Foodgrains) :—खाद्य-समस्या के स्थायी समाधान के लिए देश में खाद्यान्नों के उत्पादन में वृद्धि अनिवार्य है और खाद्यान्नों के उत्पादन में वृद्धि के लिए निम्नांकित तरीकों को अपनाना अनिवार्य हैं :—

(१) **वैज्ञानिक तरीकों के प्रयोग द्वारा कृषि की उपज में वृद्धि** :—भारतीय कृषि की प्रति एकड़ उपज में वैज्ञानिक तरीकों के प्रयोग के द्वारा वृद्धि की जा सकती है। श्री बर्न्स[1] के अनुसार भारतीय कृषि की उपज में सामान्यतः २० से ३० प्रतिशत तक की वृद्धि की जा सकती है; २० प्रतिशत उचित खाद के प्रयोग द्वारा, ५ प्रतिशत उत्तम बीजों के प्रयोग द्वारा तथा ५ प्रतिशत कीड़े-मकोड़े से फसलों की रक्षा के द्वारा। चावल एवं गेहूँ की उपज में तो यह सम्भावना क्रमशः ५० तथा १०० प्रतिशत तक की है। जापानी पद्धति से धान तथा मेक्सिको पद्धति से गेहूँ की खेती के द्वारा भी प्रति एकड़ उपज में बहुत ही संतोषजनक वृद्धि हुई है जिससे यह संभावना सत्य ही जान पड़ती है।

(२) **भूमि-व्यवस्था में सुधार** :—भारत की वर्तमान भूमि-व्यवस्था के अन्तर्गत कृषि-कार्य में लगे हुए अधिकांश व्यक्ति भूमि-हीन मजदूर हैं जिनमें कृषि में सुधार के लिए उत्साह का अभाव

1. Burns-Technical Possibilities of Agricultural Development in India.

है। साथ ही, हमारे यहाँ जोतें इतनी छोटी-छोटी टुकड़ों में विभाजित हैं कि उनमें सफलतापूर्वक कृषि-कार्य सम्पन्न नहीं हो सकता। सहकारी कृषि-व्यवस्था के द्वारा इनके आकार में वृद्धि आवश्यक है जिससे वैज्ञानिक ढंग पर कृषि-कार्य सम्भव हो सके।

(३) **कृषि-क्षेत्र का विस्तार** :—देश में खाद्यान्नों के उत्पादन में वृद्धि का एक तरीका कृषि की जानेवाली भूमि के क्षेत्र में विस्तार भी है। इसके लिए बंजर तथा बेकार भूमि के पुनरुद्धार द्वारा इन्हें कृषि-योग्य बनाने का प्रयत्न करना चाहिए। भूमि-सम्बन्धी उपलब्ध आँकड़ों के अनुसार देश में ६०० लाख एकड़ कृषि-योग्य भूमि बेकार है जिसका उद्धार कर कृषि-योग्य बनाया जा सकता है। ऐसी भूमि के आबाद होने से देश की खाद्य-समस्या का बहुत कुछ समाधान किया जा सकता है। परन्तु पुनरुद्धार के साथ-साथ इनमें कृषि के लिए अन्य सुविधाओं, जैसे सिंचाई, खाद, बीज तथा यातायात वगैरह की भी व्यवस्था करनी होगी।

(४) **संस्थागत परिवर्तन** (Institutional Changes) :—खाद्यान्नों के उत्पादन में वृद्धि आवश्यक संस्थागत परिवर्तनों के द्वारा भी की जाती है। इनमें भूमि-सुधार अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है। ऐसा कहा जाता है कि वर्तमान भूमि-प्रणाली इस प्रकार की है कि इससे खाद्यान्न के उत्पादन के लिए आवश्यक प्रोत्साहन नहीं मिलता। संस्थागत परिवर्तनों के द्वारा खाद्यान्नों के उत्पादन में महत्त्वपूर्ण वृद्धि की जा सकती है। यद्यपि कुछ विचारकों जैसे प्रो० लीविस (Lewis) ने कृषि-उत्पादन में वृद्धि के सिलसिले में भूमि-सुधार के महत्त्व को अस्वीकार किया है तथापि यह कहा जा सकता है कि भूमि की चकबन्दी तथा जोतों की अधिकतम सीमा के निर्धारण से इस क्षेत्र में अत्यधिक सहायता मिलेगी।

(ख) **खाद्यान्न-वितरण की व्यवस्था में सुधार** (Changes in the distribution of foodgrains) :—खाद्य-समस्या के समाधान के लिए खाद्यान्नों के वितरण की व्यवस्था में सुधार भी अनिवार्य है। पिछले कुछ वर्षों से सरकार ने इस सम्बन्ध में विभिन्न उपायों को अपनाया है। किन्तु इन उपायों की सफलता खाद्य-प्रशासन की कुशलता पर निर्भर करती है। वास्तव में खाद्य-समस्या के निराकरण के लिए देश की खाद्य-प्रशासन व्यवस्था के दोषों को दूर करना भी आवश्यक है। भारत में खाद्य-समस्या की जटिलता का एक प्रमुख कारण खाद्य-प्रशासन के कर्मचारियों की अकुशलता तथा बेईमानी एवं दोषयुक्त खाद्य-व्यवस्था है। अतः इसमें सुधार लाना अनिवार्य है। जब तक देश की खाद्य-व्यवस्था में आवश्यक सुधार नहीं लाया जायगा तब तक खाद्यान्न के उत्पादन की कोई भी योजना सफल नहीं हो सकती। इनके साथ ही खाद्य-प्रशासन का उद्देश्य प्रचार एवं पुरस्कार द्वारा किसानों को अधिक अन्न उपजाने के लिए प्रोत्साहित करना चाहिए।

(ग) **खाद्यान्नों के मूल्य का स्थायित्व** (Measures to stabilize food grain prices) :—वर्तमान समय में किसानों को अधिक अन्न उपजाने के लिए प्रोत्साहन देने के उद्देश्य से सरकार प्रति वर्ष के प्रारम्भ में ही महत्त्वपूर्ण खाद्यान्नों के लिए न्यूनतम मूल्य घोषित करती है। यदि बाजार में किसी अन्न की कीमत इस प्रकार से घोषित मूल्य से नीचे आ जाय तो सरकार उक्त मूल्य में इसे खरीदने के लिए तैयार रहती है। सरकार की खाद्यान्न नीति का प्रधान उद्देश्य खाद्यान्नों के मूल्य का स्थायित्व है। इस उद्देश्य से सरकार द्वारा विदेशों से आवश्यकतानुसार खाद्यान्न का आयात भी किया जाता है एवं उचित मूल्य की दूकानों (Fair Price Shops) द्वारा खाद्यान्नों के वितरण की व्यवस्था की जाती है इत्यादि।

(घ) **अन्य उपाय** (Other measures) :—उपरोक्त उपायों के साथ-साथ खाद्य-समस्या के समाधान के लिए निम्नांकित उपाय भी अपनाये जा सकते हैं :—

(१) **जनसंख्या का नियोजन**[1] (Population Planning) :—भारत की खाद्य-समस्या के समाधान के लिए जनसंख्या का नियन्त्रण' अति आवश्यक है। इस शताब्दी के प्रारम्भ से ही हमारे देश की जनसंख्या तथा खाद्यान्न के उत्पादन में असन्तुलन बढ़ता जा रहा है। इस समय देश की जनसंख्या में प्रायः प्रतिवर्ष १ करोड़ से भी अधिक की वृद्धि होती है जिससे खाद्य-समस्या का कोई स्थायी हल कभी नहीं मिल सकता। **'कम बच्चे उत्पन्न करो' आन्दोलन के बगैर इस स्थिति में किसी प्रकार भी 'अधिक अन्न उपजाओ' आन्दोलन सफल नहीं हो सकता।** (Grow More Food Campaign cannot be successful without Grow Less Children Campaign.) अतः जनसंख्या के नियोजन को किसी भी खाद्य-योजना का एक आवश्यक अंग समझना चाहिए। इसके लिए देश में परिवार नियोजन का अधिकाधिक प्रचार अनिवार्य है।

(२) **गाय, भैंस तथा मुर्गी आदि की संख्या में वृद्धि** :—हमारे भोजन में जो पोषक-तत्त्वों का अभाव है, उसे गाय, भैंस तथा मुर्गी आदि को अधिक संख्या में पाल कर भी दूर किया जा सकता है। ऐसा करने से दूध, घी तथा अण्डे के उत्पादन में वृद्धि होगी। साथ ही, देश के नागरिकों को अधिक मात्रा में दूध, घी तथा अण्डों के प्रयोग के लिए भी प्रोत्साहित करना चाहिए।

(३) **भोजन की वर्तमान आदतों में परिवर्तन** :—उपरोक्त सभी उपायों के साथ-साथ भोजन की वर्तमान आदतों में परिवर्तन भी आवश्यक है। अभी तक हमारे देश के भोज्य-पदार्थों में अन्न की ही प्रधानता रही। लेकिन, अन्न की प्रधानता को साग-सब्जी के अधिक प्रयोग द्वारा कम करना चाहिए। योजना आयोग ने भी इसी आशय का सुझाव दिया है। इस सम्बन्ध में आयोग ने चावल के बदले गेहूँ के उपयोग को बढ़ाने पर जोर दिया है। भारत के भोज्य-पदार्थों में चावल का प्रमुख स्थान है। किन्तु चावल का सम्पूर्ण उत्पादन हमारी आवश्यकताओं से प्रायः २ या ३ प्रतिशत कम होता है। इससे चावल के आयात करने का व्यय भी अन्य अन्नों की अपेक्षा अधिक पड़ता है। अतः चावल के बदले गेहूँ के उपयोग में वृद्धि की प्रबल आवश्यकता है। इसके साथ ही भोजन में फल, साग, सब्जी, मछली आदि के अधिकाधिक प्रयोग द्वारा अन्न की मात्रा को कम किया जा सकता है।

इस प्रकार भारत की खाद्य-समस्या के समाधान के लिए उपरोक्त सारे उपायों को काम में लाने की प्रबल आवश्यकता है। इनके द्वारा हम देश की इस जटिल समस्या का समाधान कर सकते हैं।

पंचवर्षीय योजनाएँ एवं खाद्य-नीति

(Food Policy under Five Year Plans)

प्रथम पंचवर्षीय योजना में खाद्य-नीति (Food Policy in the First Five Year Plan) :—प्रथम पंचवर्षीय योजना खाद्यान्न के अभाव की पृष्ठ-भूमि में तैयार की गयी थी; अतः योजना में खाद्यान्न के उत्पादन को बढ़ाने पर पूरा-पूरा जोर दिया गया था। योजना आयोग ने इस सम्बन्ध में **'सभी के लिए भोजन''** (Food for All) को अपनी नीति का मुख्य आधार माना था। **प्रथम योजना के अन्तर्गत खाद्य-नीति में निम्नलिखित बातों पर विशेष जोर दिया गया था :—**

१. जनसंख्या के नियोजन के विभिन्न तरीकों का विस्तारपूर्वक विवेचन 'जनसंख्या-सम्बन्धी नीति' वाले अध्याय में किया गया है।

(क) खाद्यान्नों के उत्पादन में प्रर्याप्त वृद्धि :—योजनाकाल में खाद्यान्न के उत्पादन में कुल ७६ लाख टन वृद्धि का आयोजन था। १९४९-५० ई० में हमारे यहाँ खाद्यान्न का कुल उत्पादन ५४० लाख टन था जिसको बढ़ाकर १९५५-५६ ई० तक ६१६ लाख टन, यानी खाद्यान्नों के उत्पादन में १४ प्रतिशत वृद्धि का आयोजन था। किन्तु प्रथम योजनाकाल में खाद्यान्नों के उत्पादन में लक्ष्य से भी अधिक वृद्धि हुई जो निम्नांकित तालिका से स्पष्ट है :—

वर्ष	कुल उत्पादन	वृद्धि या कमी
१९४९-५०	५४० लाख टन	....
१९५१-५२	५१२ ,, ,,	—२८ लाख टन
१९५२-५३	५८३	+ ४३ ,, ,,
१९५३-५४	६८७	+ १४७ ,, ,,
१९५४-५५	६७६	+ १३६ ,, ,,
१९५५-५६	६६९	+ १२९ ,, ,,

(ख) खाद्यान्न के वितरण की उचित व्यवस्था :—देश की वर्तमान स्थिति में किसी भी खाद्य योजना की सफलता बहुत कुछ खाद्य-वितरण की समुचित व्यवस्था पर निर्भर करती है। अतः मूल्य-नियन्त्रण, अन्न-प्राप्ति तथा रैशनिंग की व्यवस्था के सम्बन्ध में सरकार को जागरूक रहना होगा। खाद्यान्नों के मूल्यों में स्थिरता लाने के लिए सरकार को समय-समय पर इनका अधिकतम तथा न्यूनतम मूल्य निर्धारित करना होगा। नियन्त्रण की इस नीति की सफलता इसकी स्पष्टता, कर्मचारियों की कुशलता तथा जनता के सहयोग पर आश्रित है।

(ग) खाद्यान्न के आयात को यथासम्भव कम करना :—खाद्यान्नों के आयात में सरकार को प्रतिवर्ष अरबों रुपये का विदेशी विनिमय खर्च करना पड़ता है जिससे देश के आर्थिक विकास की अन्य योजनाएँ स्थगित करनी पड़ती हैं। अतः योजना आयोग ने खाद्यान्न के आयात को यथासम्भव कम करने की नीति को अपनाने पर जोर दिया था।

इस प्रकार प्रथम योजना में खाद्यान्नों के उत्पादन में आयोजित लक्ष्य से भी अधिक वृद्धि हुई जिससे खाद्यान्नों के आयात में बहुत कमी हुई। योजना के अन्त में खाद्य-समस्या की तरह कोई चीज नहीं जान पड़ती थी।

द्वितीय पंचवर्षीय योजना में खाद्य-नीति (Food Policy in the Second Five Year Plan) :—द्वितीय योजना में कृषि पर अपेक्षाकृत कम जोर दिया गया था। प्रारम्भ में द्वितीय योजनाकाल में १०० लाख टन अतिरिक्त खाद्यान्न उपजाने का लक्ष्य रखा गया था। किन्तु आगे चलकर योजना के कृषि-सम्बन्धी लक्ष्यों में संशोधन किया गया जिसके अनुसार खाद्यान्नों के अतिरिक्त उत्पादन को १५५ लाख टन कर दिया गया यानी द्वितीय योजनाकाल में खाद्यान्नों के उत्पादन में कुल २३·८ प्रतिशत वृद्धि का आयोजन था। द्वितीय योजना का भी यह लक्ष्य पूर्ण रूप से पूरा हो गया जो निम्नांकित तालिका से स्पष्ट है :—

द्वितीय योजना में खाद्यान्नों का उत्पादन

वर्ष	**उत्पादन (लाख टन में)**	**वृद्धि या कमी (लाख टन में)**
१९५५-५६ (क्षमता)	६५०	....
१९५६-५७	६८७	+ ३७
१९५७-५८	६२५	— २५
१९५८-५९	७५५	+ १०५
१९५९-६०	७१८	+ ६८
१९६०-६१	८२०	+ १७०

द्वितीय योजना में खाद्यान्नों के मूल्य में वृद्धि :—प्रथम योजना में खाद्यान्नों के उत्पादन में आशाजनक वृद्धि हुई थी जिसके फलस्वरूप बढ़ती हुई जनसंख्या को खिलाने की समस्या भी प्रायः हल हो गयी। अतः द्वितीय योजना के प्रारम्भ में सर्वत्र एक प्रकार का आशावाद वर्तमान था। १९५६-५७ ई० में उत्पादन भी ६८७ लाख टन हो गया। किन्तु, १९५७-५८ ई० में खाद्यान्न का उत्पादन घटकर ६२५ लाख टन ही हुआ। अतएव १९५७ ई० के प्रारम्भ से ही विभिन्न राज्यों से खाद्यान्नों के अभाव के सम्बन्ध में शिकायतें आने लगीं। अप्रैल-मई तक तो सारा देश मानों खाद्य-संकट से परिपूर्ण हो गया। खाद्यान्नों के मूल्य में बहुत अधिक वृद्धि हुई तथा खाद्यान्नों के मूल्य का निर्देशांक (१९५२-५३ = १००) जो १९५५-५६ में ७६ था बढ़कर १९५७-५८ में १०१ तथा १९५८-५९ में १०७ हो गया।

भारत सरकार ने खाद्यान्नों के मूल्य में इस अतिशय वृद्धि के कारणों की जांच के लिए २४ जून, १९५७ ई० को श्री अशोक मेहता की अध्यक्षता में एक **खाद्यान्न जांच-समिति** (Food-Grains Enquiry Committee) की नियुक्ति की। समिति ने १९ नवम्बर, १९५७ ई० को अपना प्रतिवेदन सरकार के सम्मुख रखा जिसमें गत कुछ वर्षों की खाद्य-स्थिति तथा खाद्यान्न के उत्पादन, वितरण एवं मूल्य-निर्धारण के सम्बन्ध में सरकारी नीति की व्याख्या की गयी थी। खाद्यान्न जांच समिति के अनुसार खाद्यान्नों के मूल्य में यह अतिशय वृद्धि द्वितीय योजना के प्रारम्भ में निजी एवं सार्वजनिक क्षेत्र में अत्यधिक विनियोग तथा आवश्यकता से अधिक घाटे की वित्त-व्यवस्था के परिणामस्वरूप ही हुई थी। द्वितीय योजनाकाल में खाद्य-पदार्थों के मूल्य में अत्यधिक वृद्धि के फलस्वरूप सामान्य जनता के लिए खाद्य-संकट की स्थिति उत्पन्न हो गयी।

समिति ने खाद्यान्नों के मूल्य में अतिशय परिवर्तन को रोकने के लिए दो स्थायी केन्द्रीय संस्थानों के संगठन की सिफारिश की—(१) **मूल्य-स्थिरीकरण प्रमण्डल** (Price Stabilization Board)—जो खाद्यान्नों के मूल्य में स्थिरता प्रदान करने के लिए उपयुक्त नीति तैयार करेगा, तथा (२) **खाद्यान्न-स्थिति नियामक संगठन** (Foodgrains Stabilization Organisation) यह मूल्य स्थिरीकरण प्रमण्डल की नीति और निर्देशन के अनुसार खाद्यान्नों के क्रय-विक्रय की व्यवस्था का नियमन करेगा। साथ ही, खाद्यान्नों के वितरण तथा गल्ले के व्यापार पर सामाजिक नियन्त्रण (Social control on Food trade) का सुझाव समिति द्वारा दिया गया। किन्तु अल्प-कालीन सुझावों के तौर पर समिति ने गल्ले के वितरण तथा व्यापार में फेयर प्राइस शॉप एवं सह-कारी समितियों को प्रधानता देने की सिफारिश की। समिति ने अभाव-ग्रस्त क्षेत्रों (Scarcity areas) की प्रमुख समस्या के समाधान के लिए इनकी आर्थिक व्यवस्था को संतुलित बनाने के उद्देश्य से ग्रामीण एवं लघु उद्योगों के विकास द्वारा रोजगार की सम्भावनाओं में वृद्धि पर जोर देने की सिफारिश की। साथ ही, इन क्षेत्रों में कृषि की उपज में वृद्धि के लिए बाढ़-नियन्त्रण एवं सिंचाई की योजनाओं के कार्यान्वयन पर भी जोर दिया। इस प्रकार खाद्यान्न जाँच समिति द्वारा बहुत-से महत्त्वपूर्ण सुझाव दिये गये थे जिनमें से कुछ सरकार द्वारा स्वीकृति भी कर लिये गये। किन्तु, अशोक मेहता समिति ने देश में खाद्यान्न के उत्पादन में वृद्धि के लिए कोई ठोस सुझाव नहीं प्रस्तुत किया जो उस समय की खाद्य-संकट की स्थिति को दूर करने के लिए नितान्त आवश्यक था।

तृतीय पंचवर्षीय योजना एवं खाद्य नीति (Food Policy in the Third Five Year Plan) :—तृतीय योजना के अन्त तक १९६५-६६ ई० में देश की जनसंख्या के ४८ करोड़

होने का अनुमान था। इतनी अधिक जनसंख्या के लिए कम-से-कम २५ प्रतिशत खाद्यान्न के अभाव का अनुमान लगाया गया था। इस कमी की पूर्त्ति के लिए तृतीय योजना में कृषि के उत्पादन में महत्त्वपूर्ण वृद्धि का आयोजन था। अतएव योजनाकाल में खाद्यान्नों के उत्पादन को १९६०-६१ ई० में ८२० लाख टन से बढ़ाकर १९६५-६६ ई० तक १००० लाख टन करने का आयोजन था। इसके परिणामस्वरूप प्रति-व्यक्ति उपलब्ध खाद्यान्न की मात्रा के १९६१-६२ ई० में १६ औंस से बढ़कर १९६५-६६ ई० में १७·५ औंस होने की आशा थी।

तृतीय योजनाकाल में खाद्यान्नों के उत्पादन में वृद्धि के लिए सरकार द्वारा कई प्रकार के प्रयास किये गये। कृषि-पदार्थों के उत्पादन में वृद्धि को प्रोत्साहित करने के लिए केन्द्र में केन्द्रीय खाद्य एवं कृषि मंत्री की अध्यक्षता में एक कृषि-उत्पादन परिषद् (Agricultural Production Board) को स्थापना की गयी है। १ जनवरी, १९६५ ई० को खाद्य-निगम (Food Corporation of India) की स्थापना की गयी जो खाद्यान्नों के क्रय-विक्रय, संचय तथा वितरण की व्यवस्था करता है। इसके अतिरिक्त जनवरी, १९६५ ई० में एक **कृषि-मूल्य परिषद्** (Agricultural Prices Commission) की स्थापना की गयी जो सरकार को मूल्य-सम्बन्धी नीति के सम्बन्ध में परामर्श देती है। साथ ही, सरकार द्वारा किसानों से अन्न आदि वसूलने का कार्यक्रम भी अपनाया गया। किन्तु इन सब प्रयत्नों के बावजूद खाद्य-समस्या का कोई स्थायी समाधान नहीं हो सका। वास्तव में खाद्यान्नों के उत्पादन में पर्याप्त वृद्धि के लिए कृषि में संस्थागत परिवर्तनों की आवश्यकता है जिस पर अभी तक उचित ध्यान नहीं दिया जा सका है। यह हमारे देश में कृषि-सम्बन्धी नियोजन की सबसे बड़ी त्रुटि है।

तृतीय पंचवर्षीय योजना का खाद्यान्न-सम्बन्धी लक्ष्य पूरा नहीं हो सका जो निम्नांकित तालिका से स्पष्ट है[1] :—

वर्ष	उत्पादन (लाख टन में)	वृद्धि या कमी (लाख टन में)
१९६१-६२	८२०	....
१९६२-६३	८०२	− १८
१९६३-६४	८०६	− १४
१९६४-६५	८९०	+ ७०
१९६५-६६	७२०	− १००

इस प्रकार १९६५-६६ ई० में देश के अधिकांश भाग में खाद्यान्न का बड़े पैमाने पर अभाव हो गया तथा देश के एक बड़े भाग में अकाल की स्थिति उत्पन्न हो गयी। इनके मूल्य में अतिशय वृद्धि हुई। सरकार के लाख प्रयत्नों के बावजूद खाद्य-पदार्थों के मूल्य में वृद्धि रुक नहीं सकी तथा खाद्यान्नों के मूल्य-तल का सूचनांक (१९५२-५३ = १००) मार्च, १९६४ ई० में १४१ से बढ़कर जनवरी, १९६६ ई० में १७२·८ हो गया। अतः बढ़ते हुए मूल्यों को रोकने के लिए खाद्यान्न के वितरण पर नियन्त्रण को बढ़ाना आवश्यक हो गया। मई, १९६६ ई० में २५५ लाख व्यक्तियों को रैशनिंग की व्यवस्था उपलब्ध थी तथा ८४० लाख व्यक्ति उचित मूल्य की दूकानों से लाभान्वित हो रहे थे।

तीन एक-वर्षीय योजनाओं में खाद्यान्नों का उत्पादन (Food Production in Three Annual Plans) :—तृतीय पंचवर्षीय योजना के बाद तीन एक वर्षीय-योजनाएँ (Annual

1. Govt. of India : Economic Survey, 1968-69.

Plans) कार्यान्वित की गयीं। इनमें १६६६-६७ ई० का वर्ष भी खाद्यान्न के उत्पादन के लिए असामान्य वर्ष सिद्ध हुआ तथा खाद्यान्न का उत्पादन ७४२·३ लाख टन हुआ। किन्तु इसके बाद १६६७-६८ तथा १६६८-६६ ई० में खाद्यान्न के उत्पादन में पर्याप्त वृद्धि हुई। १६६७-६८ में खाद्यान्न का उत्पादन ६५६ लाख टन हो गया जो पिछले सभी वर्षों से अधिक था। इसी प्रकार १६६८-६६ ई० में खाद्यान्न का उत्पादन ६८१ लाख टन हो गया। वास्तव में, १६६५-६६ तथा १६६६-६७ ई० के अकाल तथा सूखे की स्थिति ने किसान तथा सरकार की मनोवृत्ति में महत्त्वपूर्ण परिवर्तन का समावेश किया। इसने देश में कृषि-क्रान्ति, जिसे हरी क्रान्ति (Green Revolution) की संज्ञा दी जाती है, का सूत्रपात किया। इस सम्बन्ध में कृषि मूल्य आयोग के अध्यक्ष डा० अशोक मित्र का निम्नांकित कथन[1] विशेष रूप से महत्त्वपूर्ण जान पड़ता है—"Food grains production in 1967-68 has been excellent. Optimism has accordingly filled the air fostering a widespread impression that the agricultural revolution is more than three-quarters accomplished. Much of this optimism is owing to the increase in the wheat output over last year by almost 45 percent."

चतुर्थ पंचवर्षीय योजना मे खाद्य नीति (Food Policy in the Fourth Five Year Plan) :—चतुर्थ पंचवर्षीय योजना में खाद्यान्न के उत्पादन को बढ़ाकर १६७३-७४ ई० में १२६० लाख टन करने का आयोजन है। चतुर्थ योजना काल में खाद्य-पदार्थों के उत्पादन में वृद्धि के लिए सिंचाई की सुविधाओं में विस्तार, खाद तथा उर्वरक एवं सुधरे हुए बीजों का अधिकाधिक उपयोग, कीड़े-मकोड़े को मारने की दवाओं के उत्पादन तथा नये-नये यन्त्रों के प्रयोग पर विशेष जोर देने की व्यवस्था है। साथ ही, विक्रय-व्यवस्था में सुधार पर भी जोर दिया जा रहा है। किन्तु चतुर्थ योजना की अर्द्ध-सामयिक समीक्षा के अनुसार चतुर्थ योजना के अन्त में खाद्यान्नों का उत्पादन १३५० लाख टन ही होगा।

खाद्यान्नों के उत्पादन में पिछले तीन वर्षों में सुधार तथा वर्तमान वर्ष की अच्छी स्थिति के कारण भारत सरकार ने १६७२ से खाद्यान्न के आयात को समाप्त करने की घोषणा की है। १६७१-७२ में लगभग ११२० लाख टन खाद्यान्न का उत्पादन हुआ था।

इस प्रकार पंचवर्षीय योजनाओं के अन्तर्गत खाद्यान्नों के उत्पादन में पर्याप्त वृद्धि हो रही है। किन्तु देश की जनसंख्या में भी तीव्र गति से वृद्धि के कारण खाद्य-समस्या का अभी स्थायी रूप से समाधान नहीं निकल पाता है। निम्नांकित तालिका से यह स्पष्ट है :—

वर्ष	जनसंख्या (करोड़ में)	खाद्यान्न का उत्पादन (लाख टन में)	खाद्यान्नों के उत्पादन का सूचनांक (१६४६-५०=१००)
१६५०-५१	३६·१	५४६	६०·५
१६५५-५६	३६·२	६६२	११५·३
१६६०-६१	४३·६	८२०	१३७·१
१६६५-६६	४६·५	७२०	१२०·६
१६६६-६७	५०·२	७५०	१२३·८
१६६७-६८	५१·४	६५०	१५६·६
१६६८-६६	——	६८०	

1. Quoted from The Statesman of Oct. 14-15, 1968.

उपरोक्त तालिका से स्पष्ट है कि १९४९-५० से १९६८-६९ के प्राय: २० वर्षों में खाद्यान्न के उत्पादन में प्राय: ६० प्रतिशत की वृद्धि हुई है जबकि जनसंख्या में लगभग ४३ प्रतिशत की वृद्धि हुई। अतएव जनसंख्या में तीव्र गति से वृद्धि के कारण खाद्यान्नों के उत्पादन में वृद्धि से कोई महत्त्वपूर्ण लाभ नहीं उठाया जा सका है।

खाद्यान्नों का राजकीय व्यापार
(State Trading in Food-Grains)

सरकार के विभिन्न प्रयत्नों के बावजूद खाद्यान्नों के मूल्य में सदा परिवर्तन होते रहते हैं। इसके लिए मध्यस्थ के रूप में व्यापारीगण बहुत अंश तक उत्तरदायी हैं जो अधिकतम लाभ कमाने के उद्देश्य से बाजार में खाद्यान्नों की पूर्ति को मनमाने ढंग से नियंत्रित करने का प्रयास करते हैं। खाद्यान्न जाँच समिति ने इस समस्या पर विचार किया तथा इस बात की सिफारिश की कि मूल्य-स्थिरीकरण प्रमंडल धीरे-धीरे खाद्यान्नों के थोक व्यापार के एक बड़े भाग को अपने नियन्त्रण में लाये। किन्तु समिति का इस सम्बन्ध में अन्तिम उद्देश्य खाद्यान्न के थोक व्यापार का सामाजीकरण था। वास्तव में, भारत जैसे विकासोन्मुख आर्थिक व्यवस्था वाले देश के लिए यह आवश्यक जान पड़ता है। खाद्यान्न जैसी आवश्यक वस्तु का वितरण निजी व्यापारियों के हाथ में छोड़ना उचित नहीं जान पड़ता। अतएव भारत सरकार ने १९५९ ई० में खाद्यान्नों के राजकीय व्यापार (State trading in Food-grains) के सम्बन्ध में निर्णय लिया जिसे २ अप्रैल, १९५९ ई० से लागू किया गया। प्रारम्भ में केवल गेहूँ तथा चावल के व्यापार को ही राजकीय व्यापार के अन्तर्गत लाने का निश्चय किया गया। सरकार द्वारा इन खाद्यान्नों का थोक मूल्य तय किया जाने लगा जिस पर प्रारम्भ में लाइसेंस प्राप्त थोक व्यापारियों द्वारा इनकी खरीद की व्यवस्था की गयी। सरकार इन व्यापारियों से इनका सम्पूर्ण या एक हिस्सा ले सकती है और शेष ये खुदरा व्यापारियों को नियन्त्रित मूल्य पर बेच सकते हैं। खाद्यान्नों के राजकीय व्यापार के अन्तिम चरण में सम्पूर्ण अतिरिक्त उपज को सेवा सहकारिता (Service co-operatives) के द्वारा प्राप्त किया जायगा तथा वितरण का कार्य खुदरा व्यापारियों अथवा उपभोक्ता समितियों द्वारा किया जायगा। साथ ही, राजकीय व्यापार की व्यवस्था के लिए राज्यों में निगमों की भी स्थापना की जायगी।

खाद्य-निगम (Food Corporation of India) :—खाद्यान्नों के राजकीय व्यापार की नीति के अन्तर्गत १ जनवरी, १९६५ ई० को भारत सरकार ने एक Food Corporation of India की स्थापना की। इस निगम ने अबतक प्राय: सभी राज्यों में अपने कार्यालय स्थापित कर लिया है तथा खाद्यान्न के क्रय एवं वितरण का कार्य प्रारम्भ कर दिया है। अप्रैल, १९६९ से निगम भारत सरकार के खाद्यान्न के क्रय-विक्रय का एकमात्र साधन बन गया है। १९६९-७० ई० में निगम द्वारा कुल ५५ लाख टन अन्न का क्रय किया गया था। निगम ने १९६९-७० में क्रय-विक्रय की कुल रकम १४४३ करोड़ रुपये का किया। निगम ने कृषि-विकास के लिए खाद, सुधरे हुए औजार आदि का वितरण भी प्रारम्भ किया है। १९६६ ई० में आन्ध्र प्रदेश तथा तमिलनाडु की ३० हजार एकड़ भूमि में धान की खेती के सुधार के लिए निगम द्वारा बीज इत्यादि प्रदान किया गया था। १९७०-७१ में निगम द्वारा २४ चावल के कारखानों की स्थापना का प्रस्ताव है।

किन्तु खाद्यान्नों के राजकीय व्यापार की बहुत अधिक आलोचना की जाती है। आलोचकों का कहना है कि खाद्यान्नों के थोक व्यापार में बहुत अधिक जवाबदेही है जिसे सरकार अनुभव के अभाव में सफलतापूर्वक नहीं निभा सकती। साथ ही, इस कार्य के लिए निगमों की स्थापना में बहुत अधिक खर्च होगा जो आज की परिस्थिति में वांछनीय नहीं है। सबसे बड़ी बात तो मूल्य के सम्बन्ध में है। यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि खाद्यान्नों के राजकीय व्यापार से मूल्य में कमी होगी ही, क्योंकि अब तक इसका खाद्यान्न के मूल्य पर प्रायः कोई अच्छा प्रभाव नहीं पड़ सका है तथा मूल्य में वृद्धि की प्रवृत्ति अभी तक बनी ही हुई है। श्री अजित प्रसाद जैन ने अगस्त, १६६६ ई० में लोक-सभा में खाद्य-मंत्री के पद से अपने अन्तिम वक्तव्य में स्टेट ट्रेडिंग की सफलता के सम्बन्ध में आशंका प्रकट की थी। इनके अनुसार स्टेट ट्रेडिंग की सफलता खाद्यान्न के पर्याप्त भण्डार तथा प्रत्येक स्तर पर प्रभावपूर्ण नियन्त्रण के ऊपर निर्भर करती है।

विशेष अध्ययन-सूची

1. Govt. of India : Report of the Foodgrains Enquiry Committee (1959)
2. M. L. Dantwala : India's Food Problem (Pamphlet)
3. N. C. A. E. R. : Food Policy and Economic Growth.
4. Planning Commission : Second Five Year Plan, pp 256-69. 259-632, 72-73.
5. Third Five Year Plan-pp 302, 320-21.
6. Fourth Five Year Plan (1969-74)

★

अध्याय : १३

सिंचाई के साधन

(Sources of Irrigation)

भारत में सिंचाई का महत्त्व (Importance of irrigation in India) :—भारत एक कृषि-प्रधान देश है। कृषि की उन्नति के लिए जल की समुचित व्यवस्था नितांत आवश्यक है। पानी ही धरती का जीवन है। अच्छी भूमि, सबल पशु तथा उत्तम बीज, खाद एवं औजारों के रहने पर भी जल के अभाव में कृषि का कार्य अनिश्चित ही रह जाता है। श्री बर्न्स के मतानुसार सिंचाई की समुचित व्यवस्था द्वारा भारतीय कृषि की उपज में ५० से १०० प्रतिशत तक की वृद्धि की जा सकती है। वर्षों पूर्व भारत में सिंचाई के महत्त्व के सम्बन्ध में **सर चार्ल्स ट्रेवेलियन** (Sir Charles Trevelyan) ने कहा था, **"भारत में सिंचाई ही सब कुछ है, जल भूमि से अधिक मूल्यवान है क्योंकि जब जल भूमि में दिया जाता है तो यह उसकी उपजाऊ-शक्ति में कम-से-कम ६ गुनी वृद्धि करता है। इतना ही नहीं, यह ऐसी बहुत अधिक भूमि को** उत्पादक बना देता है जो **जल के बगैर कुछ भी नहीं उत्पन्न कर सकती थी।"** (Irrigation is everything in India, water is more valuable than land because when water is applied to land, it increases its productivity atleast six times and, generally a great deal more, and it renders great extent of land productive which otherwise would produce nothing.) इससे भारत में सिंचाई का महत्त्व बिल्कुल स्पष्ट हो जाता है।

वास्तव में भारत जैसे कृषि-प्रधान देश में सिंचाई के महत्त्व के निम्नलिखित प्रधान कारण हैं— (१) **वर्षा का अभाव** :—भारत में प्रतिवर्ष औसत ४५" वर्षा होती है, पर देश के भिन्न-भिन्न भागों में इसका वितरण समान नहीं है जिससे सिंचाई के कृत्रिम साधनों के बगैर कृषि-कार्य प्रायः असंभव हो जाता है। अतः कम वर्षा वाले स्थानों के लिए सिंचाई की व्यवस्था नितान्त अनिवार्य हो जाती है। (२) **वर्षा का अनिश्चित एवं अनियमित होना** :—भारत में वर्षा मौनसून से होती है। मौनसून की प्रकृति अत्यन्त अनिश्चित है। किसी वर्ष वर्षा बहुत अधिक होती है तो किसी वर्ष सूखा भी पड़ जाता है। वर्षा की अनिश्चितता से कृषि को मुक्त करने के लिए भी सिंचाई के कृत्रिम साधनों की व्यवस्था आवश्यक है। (३) **अधिक जल चाहने वाली फसलों के लिए** —कुछ फसलें ऐसी होती हैं जिन्हें नियमित रूप से अधिक जल की आवश्यकता पड़ती है; जैसे—चावल, गन्ना आदि। अतः इन फसलों की खेती के लिए भी अधिकांश क्षेत्रों में कृत्रिम सिंचाई के साधनों की आवश्यकता पड़ती है। (४) **वर्ष में एक से अधिक फसल उपजाने के लिए**—देश की जनसंख्या में निरन्तर वृद्धि हो रही है। इस बढ़ती हुई जनसंख्या के भरण-पोषण के लिए गहन कृषि, यानी वर्ष में दो या तीन फसलों की आवश्यकता होती है। इसके लिए भी सिंचाई के कृत्रिम साधनों की आवश्यकता पड़ती है।

भारत में सिंचाई की संभावनाएँ (Irrigation Potentialities in India) :—भारत में अभी तक नदियों के जल का बहुत ही कम उपयोग हो पाया है। योजना आयोग के अनुमान के अनुसार यहाँ की नदियों में कुल १६८० लाख हेक्टर जल बहता है जिसमें से केवल ५६० लाख हेक्टर-मीटर जल का प्रयोग सिंचाई के लिए किया जा सकता है। इसमें से १९५१ ई० तक केवल ९५ लाख हेक्टर मीटर, यानी सम्पूर्ण उपयोग में लाने लायक जल के केवल १७

प्रतिशत भाग, अथवा कुल जल-साधन के केवल ५·६ प्रतिशत भाग का ही सिंचाई के लिए उपयोग किया जाता था। तृतीय योजना के अन्त में यानी १९६५-६६ ई० में कुल १८० लाख हेक्टर मीटर, यानी कुल उपयोग किये जाने योग्य जल के प्रायः ३२ प्रतिशत भाग या कुल जल के १०·५ प्रतिशत भाग का उपयोग किया जाने लगा था। १९६६-६९ के बीच २० लाख हेक्टर मीटर जल के और उपयोग में लाये जाने का अनुमान है। चतुर्थ योजना में ५० लाख हेक्टर मीटर और जल को सिचाई के लिए प्रयोग किया जायगा जिससे १९७३-७४ तक २५० लाख हेक्टर मीटर, या कुल उपयोग किये जाने योग्य जल के ४६ प्रतिशत भाग का उपयोग किया जाने लगेगा। इससे स्पष्ट है कि हमारे देश में अभी सिचाई की सुविधाओं में विस्तार की बहुत अधिक संभावनाएँ हैं।

ऐसी आशा की जाती है कि ५६० लाख हेक्टर मीटर प्रयोग किये जाने योग्य जल से कुल ६०० लाख हेक्टर भूमि में सिंचाई की सुविधा प्रदान की जा सकती है। इसमें से ४५० लाख हेक्टर वृहत् एवं मध्यम सिंचाई की योजनाओं तथा १५० लाख हेक्टर लघु-सिंचाई की योजनाओं के द्वारा सिंचित किया जायगा। इसमें १९६८-६९ ई० के अन्त तक १८९ लाख हेक्टर भूमि में वृहत् एवं मध्यम सिंचाई की योजनाओं तथा ८१ लाख हेक्टर भूमि में लघु सिंचाई की योजनाओं द्वारा सिंचित करने की क्षमता स्थापित की जा चुकी थी, अतएव वृहत् एवं मध्यम सिंचाई की योजनाओं द्वारा और २६० लाख हेक्टर अतिरिक्त भूमि तथा लघु सिंचाई की योजनाओं द्वारा ७० लाख हेक्टर अतिरिक्त भूमि की सिंचाई की क्षमता के निर्मित करने का क्षेत्र अभी वर्तमान है।[1]

इसके अतिरिक्त पृथ्वी के नीचे (Ground water) भी सिंचाई के लिए बहुत अधिक क्षमता वर्तमान है जिसमें २२० लाख हेक्टर-मीटर जल का सिंचाई के लिए प्रयोग किया जा सकता है। इससे २२० लाख हेक्टर भूमि की सिंचाई हो सकती है। इसमें से १९६८-६९ तक १०९ लाख हेक्टर भूमि में इससे सिंचाई की क्षमता वर्तमान थी। जिस क्षेत्र में नहरों या तालाबों से सिंचाई का कार्य नहीं किया जा सकता है उसमें कुएँ द्वारा नीचे के पानी से सिंचाई की व्यवस्था की जाती है।

भारत में सिंचाई-प्राप्त क्षेत्र (Area under Irrigation) :—प्रथम योजना प्रारम्भ होने के समय १९५०-५१ ई० में देश की कुल ११२० लाख हेक्टर कृषि की जाने वाली भूमि में से २०६ लाख हेक्टर भूमि में सिंचाई होती थी। इसमें से ८८ लाख हेक्टर-भूमि में वृहत् तथा मध्यम तथा ११८ लाख हेक्टर भूमि में लघु सिंचाई के साधनों से सिंचाई होती थी। योजना आयोग का यह अनुमान है कि १९७५-७६ ई० तक ३४४ से ३६५ लाख हेक्टर भूमि को वृहत् एवं मध्यम योजनाओं के द्वारा सिंचाई के अन्तर्गत लाया जायगा, यानी इसमें लगभग चार गुनी वृद्धि हो जायगी। प्रथम योजनाकाल में सिंचाई की सुविधाओं में वृद्धि के लिए बहुत अधिक प्रयत्न किये गये जिनके फलस्वरूप १९५५-५६ ई० में कुल २२६ लाख हेक्टर, यानी कुल कृषि की जानेवाली भूमि के प्रायः १७·६ प्रतिशत भाग भूमि में सिंचाई की जाने लगी। इस प्रकार प्रथम योजनाकाल में सिंचाई-प्राप्त क्षेत्र में केवल २० लाख हेक्टर की ही वृद्धि हुई। द्वितीय योजना में विभिन्न साधनों द्वारा कुल ७२ लाख हेक्टर अतिरिक्त भूमि में सिंचाई की सुविधा प्रदान करने का आयोजन था। किन्तु योजना का यह लक्ष्य पूरा नहीं हो सका तथा द्वितीय योजना के अन्त में, यानी १९६०-६१ ई० में देश में कुल प्रायः २७९ लाख हेक्टर भूमि में ही सिंचाई की सुविधा प्राप्त

1. Fourth Plan-A Draft 1969-74.

हुई। इस प्रकार प्रथम दो पंचवर्षीय योजनाओं के फलस्वरूप कुल सिंचाई-प्राप्त भूमि का क्षेत्र १९५०-५१ ई० के २०६ लाख हेक्टर से बढ़कर १९६०-६१ ई० में लगभग २७९ लाख हेक्टर हो गया। तृतीय योजना में सिंचित भूमि के क्षेत्र को बढ़ाकर १९६५-६६ ई० तक ३९६ लाख हेक्टर करने का आयोजन था जबकि यह अनुमानतः ३२२ लाख हेक्टर तथा १९६८-६९ में ३६० लाख हेक्टर हो गया। **चतुर्थ पंचवर्षीय योजना** (Fourth Five Year Plan) में कुल सिंचित क्षेत्र को १९६८-६९ ई० में ३६० लाख हेक्टर से बढ़ाकर १९७३-७४ ई० में ४३४ लाख हेक्टर करने का आयोजन है।

निम्नलिखित तालिका से पंचवर्षीय योजनाओं में सिंचाई की प्रगति का अन्दाजा लगाया जा सकता है :—

पंचवर्षीय योजनाओं के सिंचाई-सम्बन्धी लक्ष्य एवं उपलब्धि (लाख हेक्टर में)

	वृहत् एवं मध्यम साधनों से सिंचित क्षेत्र	लघु सिंचाई के साधनों से सिंचित क्षेत्र	कुल सिंचित क्षेत्र
१. प्रथम योजना के प्रारम्भ में (१९५०-५१)	८८	११८	२०६
२. प्रथम योजना के लक्ष्य	३४	४५	७९
३. प्रथम योजना के अन्त में सिंचाई-प्राप्त क्षेत्र (१९५५-५६ ई० में)	१०१	१२५	२२६
४. प्रथम योजना की वास्तविक उपलब्धि	१३	७	२०
५. द्वितीय योजना के लक्ष्य	३६	३६	७२
६. द्वितीय योजना के अन्त में सिंचित क्षेत्र (१९६०-६१ ई० में)	१३१	१४८	२७९
७. द्वितीय योजना की वास्तविक उपलब्धि	३०	२३	५३
८. तृतीय योजना के लक्ष्य	४७	३५	८२
९. तृतीय योजना के अन्त में सिंचित क्षेत्र (१९६५-६६ में)	१५२	१७०	३२२
१०. १९६८-६९ में सिंचित क्षेत्र	१७०	१९०	३६०
११. चतुर्थ योजना के लक्ष्य (१९७३-७४)	२१२	२२२	४३४

इस प्रकार देश में सिंचाई-प्राप्त भूमि के क्षेत्र में निरन्तर ...
भिन्न-भिन्न राज्यों में सिंचाई की समान सुविधा उपलब्ध नहीं है।

निम्नलिखित तालिका[1] से विभिन्न राज्यों में सिंचित भूमि के क्षेत्र का अन्दाजा लगाया जा सकता है :—

१९५८-५९ ई० में विभिन्न राज्यों में सिंचित भूमि का क्षेत्र (हजार एकड़ में)

राज्य	सिंचित क्षेत्र	कुल सिंचित-क्षेत्र कृषि की जाने वाली भूमि के प्रतिशत में
आन्ध्र प्रदेश	७०	२६
असम	१५	३०
बिहार	५१	३०
जम्मू एवं कश्मीर	७	४६
महाराष्ट्र-गुजरात	३८	६
केरल	९	१९
मध्य प्रदेश	२१	५
तमिलनाडु	५६	३९
मैसूर	१९	८
उड़ीसा	२४	१७
पंजाब	७४	४०
उत्तर प्रदेश	३६	१२
राजस्थान	१२१	२९
पश्चिमी बंगाल	३३	२६
केन्द्र द्वारा शासित राज्य	५	....
सम्पूर्ण भारत	५७९	१८

भारत में सिंचाई के मुख्य साधन

(Main Sources of Irrigation in India)

भारत में सिंचाई के तीन मुख्य साधन हैं :—(१) कुएँ; (२) तालाब; और (३) नहरें। इनके अतिरिक्त आहर, खाई, चौर आदि के द्वारा भी सिंचाई का कार्य होता है। १९६७-६८ ई० में विभिन्न साधनों द्वारा कुल प्राय: २७५ लाख हेक्टर भूमि, यानी कुल कृषि की जानेवाली भूमि के प्राय: १९ प्रतिशत भाग में सिंचाई की सुविधा प्राप्त थी।[2] यह क्षेत्र सिंचाई के विभिन्न साधनों में निम्न प्रकार से बँटा हुआ था :—

नहरें	१९६७-६८ में सिंचाई-प्राप्त क्षेत्र (लाख हेक्टर में)	कुल सिंचित भूमि का प्रतिशत
नहरें	११३·०	४२·१
तालाब	४६·०	१८·४
कुएँ	९५·०	३१·०
अन्य साधन	२१·०	८·५
कुल	२७५·०	१००·०

1. Economic Survey of Indian Agriculture. P. 23.
2. India 1971-72.

अब सिंचाई के इन विभिन्न साधनों का निम्न विवरण प्रस्तुत किया जाता है :—

(१) कुएँ (Wells) :—कुएँ भारत में सिंचाई के सबसे महत्त्वपूर्ण तथा प्राचीनतम साधन हैं। आज भी भारत के अधिकांश भागों में कुओं से ही सिंचाई होती है। उत्तर प्रदेश, पंजाब, बिहार, बंगाल तथा तमिलनाडु आदि राज्यों में मुख्य रूप से सिंचाई के इन साधनों का प्रयोग किया जाता है। १८९३ में कुओं से सिंचाई के सम्बन्ध में डॉ० वोयलकर के निम्नांकित कथन उल्लेखनीय हैं :—"Nothing in agriculture of India impressed me so much as the excellence of cultivation carried on by irrigation from well." १९६७-६८ ई० में कुओं द्वारा कुल ९५ लाख हेक्टर भूमि, यानी कुल सिंचाई-प्राप्त भूमि के लगभग ३१ प्रतिशत भाग में सिंचाई होती थी। भारत में कुएँ अधिकांशतः व्यक्तिगत सम्पत्ति हैं। इनका सबसे बड़ा लाभ यह है कि किसान कुएँ बनाकर सिंचाई के लिए प्रायः स्वतन्त्र हो जाते हैं। 'अधिक अन्न उपजाओ आन्दोलन' के अन्तर्गत तो सरकार कुएँ बनाने के लिए किसानों को सहायता के रूप में आधा व्यय एवं आवश्यक सामग्री भी प्रदान करती है। किन्तु योजना आयोग ने कुओं के निर्माण में आर्थिक सहायता को धीरे-धीरे कम करने का सुझाव दिया है। कुओं के निर्माण में सहकारिता के आधार पर भी कार्य किया जा सकता है। एक कुएँ से औसत तौर पर २ हेक्टर भूमि की सिंचाई होती है तथा प्रति कुएँ से एक टन अतिरिक्त अन्न का उत्पादन होता है।

नल-कूप (Tube-well) :—आजकल देश में नल-कूपों का प्रचार भी धीरे-धीरे बढ़ रहा है। नल-कूपों के निर्माण-सम्बन्धी योजना को तैयार करने के लिए भारत सरकार ने १९४८ ई० में २ अमेरिकन विशेषज्ञों को बुलाया था। इन्हीं लोगों के प्रतिवेदन के आधार पर सरकार ने ६००० नल-कूपों की एक योजना तैयार की। इनमें से अधिकांश नल-कूप तैयार हो गये हैं। १९५० ई० के पूर्व भारत में कुल २५०० नल-कूप थे जिनमें से २,३०० नल-कूप केवल उत्तर प्रदेश में थे। प्रथम योजनाकाल में विभिन्न कार्यक्रमों के अन्तर्गत कुल ५,३८० नल-कूप लगाने की व्यवस्था थी, किन्तु इनमें से केवल ३४२२ नल-कूप ही लगाये गये। इनसे कोई २० लाख एकड़ अतिरिक्त भूमि में सिंचाई की सुविधा प्राप्त होने की आशा की जाती है। इसके अतिरिक्त योजनाकाल में भूमि की निचली सतह पर पाये जानेवाले जल को निकालने के लिए ३५० गहरे नल-कूप खोदने का कार्य प्रारम्भ किया गया था जो द्वितीय योजनाकाल में जारी रहा। द्वितीय पंचवर्षीय योजना में कुल ३५८१ नल-कूप लगाने का आयोजन था जिसका अनुमानित व्यय २० करोड़ रुपये था तथा जिससे ९ लाख एकड़ भूमि में सिंचाई की सुविधा मिलनेवाली थी। तृतीय योजनाकाल में १८२८ नल-कूप लगाने का आयोजन था जिनमें से अधिकांश उत्तर प्रदेश, गुजरात तथा पश्चिमी बंगाल में लगाये गये। नल-कूपों से विद्युत् के द्वारा सिंचाई का कार्य होता है। एक नल-कूप ६० से लेकर ४०० फीट की गहराई तक जाता है। इससे एक घण्टे में ३३०० गैलन जल निकलता है एक नल-कूप से लगभग २०० हेक्टर भूमि में सिंचाई का कार्य होता है। किन्तु नल-कूपों से सिंचाई में उचित प्रगति नहीं हो पाती है। नल-कूपों को अधिक प्रभावपूर्ण बनाने के लिए यहाँ यह सुझाव के रूप में कहा जा सकता है कि इनके प्रयोग करनेवालों के बीच सहकारिता की स्थापना की जाय।

(२) **तालाब** (Tank) :—तालाबों द्वारा सिंचाई की प्रथा भारत में अति प्राचीन काल से ही चली आ रही है। दक्षिणी भारत के पहाड़ी प्रदेशों में नहर तथा कुएँ खुदवाने में कठिनाई होती है, अतः तालाब द्वारा सिंचाई की पद्धति विशेष रूप से इसी भाग में पायी जाती है। ये तालाब कहीं-कहीं पर बड़ी-बड़ी झीलों के आकार से लेकर गाँव की छोटी-छोटी तलैया तक के आकार के होते हैं। मध्य प्रदेश, हैदराबाद तथा मैसूर राज्यों में बड़े-बड़े बाँध बनाकर झीलें तैयार की गयी हैं जिनसे सिंचाई का कार्य होता है। केवल आंध्र एवं तमिलनाडु राज्य में लगभग ६५,००० तालाब हैं जिनसे कोई १५ लाख हेक्टर भूमि में सिंचाई होती है। इसके अतिरिक्त महाराष्ट्र, बिहार तथा उड़ीसा में भी तालाब पाये जाते हैं। १९६७-६८ ई० में इनसे कुल ४६ लाख हेक्टर भूमि में सिंचाई होती थी जो कुल सिंचाई-प्राप्त भूमि का प्रायः १८·४ प्रतिशत भाग था। इन तालाबों में वर्षा का जल एकत्र किया जाता है और वर्ष के शेष भाग में इनसे सिंचाई का कार्य किया जाता है। तालाब प्रायःसभी जगह राज्य की सम्पत्ति होते हैं। इनके बनवाने में अपेक्षाकृत कम व्यय होता है। लेकिन आजकल अधिकांश तालाब पुराने होने के कारण अनुपयोगी हो गये हैं जिसके फलस्वरूप इन्हें लगातार साफ कराने की आवश्यकता पड़ती है।

(३) **नहरें** (Canals) :—भारत में नहरें सिंचाई का सर्वप्रमुख साधन हैं। यहाँ अकाल के प्रकोप को दूर करने के लिए प्राचीन समय में भिन्न-भिन्न राजाओं द्वारा नहरें बनवाई गयी थीं। ब्रिटिश शासन काल में भी इसी कारण नहरों के निर्माण पर विशेष जोर दिया गया। १९६:-६८ ई० में सभी प्रकार की नहरों द्वारा ११३ लाख हेक्टर भूमि में सिंचाई होती थी, जो कुल सिंचित भूमि का प्रायः ४२·१ प्रतिशत भाग था। हमारे देश में अधिकतर नहरें उत्तर के मैदान में ही पायी जाती हैं क्योंकि इस भाग की मिट्टी दोमट होने के कारण इस क्षेत्र में सुगमतापूर्वक नहरें निकाली जा सकती हैं। साथ-ही-साथ, इस भाग की मिट्टी अधिक उपजाऊ भी होती है जिससे नहर बनवाने का खर्च भी सुगमतापूर्वक निकल जाता है।

नहरें प्रायः तीन प्रकार की होती हैं—(१) **स्थायी नहरें** (Perennial canals)—स्थायी नहरें बर्फीली नदियों से निकाली जाती हैं जिनमें जल का बहाव निरन्तर बना रहता है। नदियों का बहाव बाँध (Barrage) बनाकर रोक लिया जाता है एवं जल का रुख बदल दिया जाता है। इन नहरों से सालों भर जल मिलने का विश्वास रहता है। पंजाब, उत्तर प्रदेश तथा बिहार में प्रायः इसी प्रकार की नहरें पायी जाती हैं। (२) **बरसाती नहरें** (Inundation canals)—इन नहरों से केवल वर्षा के दिनों में ही जल मिलता है। नदी के किनारों को काटकर ये नहरें निकाली जाती हैं। इस प्रकार की नहरें मुख्यतः प्राचीन सिन्ध और पंजाब में पायी जाती थीं। किन्तु विभाजन के पश्चात् ऐसी नहरें अधिकांशतः पाकिस्तान में चली गयीं। (३) **बाँध की नहरें** (Storage canals) :—घाटियों को बाँधकर वर्षा का जल जमा किया जाता है तथा सूखे के दिनों में इसे नहरों द्वारा सिंचाई के लिए प्रयोग किया जाता है। बांध की नहरें भी इसी प्रकार से निकाली जाती हैं। इस प्रकार की नहरें मुख्यतः मध्य प्रदेश तथा दक्षिणी भारत में पायी जाती हैं।

(४) **सिंचाई के अन्य साधन** (Other sources of Irrigation) :—इन प्रमुख साधनों के अतिरिक्त अन्य साधनों से भी सिंचाई का कार्य होता है। इनमें आहर-रहट, नदी-नालों के छोटे-छोटे बाँध, चौर के बाँध तथा बिजली के पम्पों द्वारा सिंचाई विशेष तौर से उल्लेखनीय है। छोटे-

छोटे नदी-नालों पर बाँध बनाकर तथा बिजली के पम्पों द्वारा इसका जल निकाल कर सिंचाई का कार्य होता है। प्रथम योजना में इस प्रकार के पम्पों की व्यवस्था पर अधिक जोर दिया गया था। १९६७-६८ ई० में सिंचाई के अन्य साधनों द्वारा प्राय: २१ लाख हेक्टर भूमि, यानी कुल सिंचाई-प्राप्त भूमि के प्राय: ८·५ प्रतिशत भाग में सिंचाई होती थी।

भारत सरकार की सिंचाई-सम्बन्धी नीति

(Irrigation Policy of the Govt. of India)

ब्रिटिश सरकार की सिंचाई-सम्बन्धी नीति (Irrigation Policy of the British Government) :—भारत में अति प्राचीन काल से राज्य द्वारा सिंचाई की व्यवस्था होती आ रही है। अकाल के प्रकोप को दूर करने के लिए हिन्दू तथा मुगल राज्यों द्वारा नहर एवं तालाब बनाये जाते थे। इस प्रकार ब्रिटिश सरकार को सिंचाई के बहुत से साधन, जैसे उत्तर भारत की कुछ बरसाती नहरें तथा मद्रास के तालाब आदि अपने पूर्वाधिकारियों से ही प्राप्त हुए थे। प्रारम्भ में ब्रिटिश सरकार द्वारा इन साधनों की उपेक्षा की गयी जिसके फलस्वरूप इनमें बहुत से नष्ट हो गये। लेकिन १९ वीं शताब्दी के मध्य से सरकार की इस नीति में परिवर्तन हुआ। सरकार ने स्वयं उत्पादक सिंचाई कार्यों (Productive works) का निर्माण प्रारम्भ किया। १९ वीं शताब्दी के अन्त में एक भयंकर अकाल पड़ा जिससे दक्षिणी भारत में बहुत अधिक क्षति हुई। इसके फलस्वरूप १९०१ ई० में लार्ड कर्जन द्वारा एक **सिंचाई आयोग** (Irrigation Commission) की नियुक्ति की गयी जिसने अकाल के निवारण के लिए रक्षात्मक उपायों की सिफारिश की। सिंचाई आयोग ने भारत में सिंचाई के साधनों के विकास के लिए एक निश्चित योजना तैयार की तथा उसे कार्यान्वित करने के लिए सरकार से अनुरोध किया। इसके फलस्वरूप सरकार की सिंचाई-सम्बन्धी नीति में बहुत बड़ा परिवर्तन हुआ तथा सिंचाई के साधनों के विकास पर सरकार द्वारा बहुत अधिक खर्च किया जाने लगा। पंजाब, मध्य प्रदेश, महाराष्ट्र, तमिलनाडु आदि राज्यों में उसी समय से नहरों का निर्माण प्रारम्भ हुआ।

१९१९ ई० के संवैधानिक सुधार के अनुसार सिंचाई एक प्रांतीय विषय बन गयी जिसके फलस्वरूप सिंचाई के साधनों की पूरी जिम्मेवारी प्रांतीय-सरकारों की हो गयी। १९२१ ई० के बाद सिंचाई के साधनों का विकास द्रुतगति से प्रारम्भ हुआ तथा ५० करोड़ रुपये की लागत से सिंचाई की कई महत्त्वपूर्ण योजनाएँ कार्यान्वित की गयीं जिनसे प्राय: २२० लाख एकड़ भूमि में सिंचाई की सुविधा प्राप्त हुई। इन योजनाओं में पंजाब की सतलज घाटी योजना, सिंध का सक्कर बाँध, मद्रास का कावेरी जलाशय एवं मेट्टूर योजना; उत्तर प्रदेश की शारदा एवं आगरा नहर तथा बम्बई के भण्डारा बाँध विशेष महत्त्व के हैं। १९२१ ई० के कृषि-आयोग ने सिंचाई एवं कृषि विभागों में घनिष्ठतर सम्बन्ध स्थापित करने की सिफारिश की। आयोग की सिफारिशों के आधार पर १९३१ ई० में केन्द्रीय सिंचाई सूचना आयोग (Central Bureau of Irrigation) की स्थापना हुई। अप्रैल, १९४५ ई० में भारत सरकार ने एक केन्द्रीय जल सिंचाई, बिजली एवं नौकाचलन आयोग (Central Water, Power, Irrigation and Navigation Commission) की नियुक्ति की। इस प्रकार ब्रिटिश शासनकाल में सिंचाई के साधनों का विकास अवश्य हुआ, किन्तु सरकार ने सुरक्षात्मक कार्यों की अपेक्षा उत्पादक कार्यों पर ही अधिक ध्यान दिया। उत्पादक कार्यों से शीघ्र पूँजी एवं ब्याज की वापसी हो जाती है, अतः सरकार द्वारा इन्हीं योजनाओं को प्राथमिकता दी जाती थी। साथ ही, ब्रिटिश शासन काल में सिंचाई की दर भी

बहुत ऊँची होती थी जो साधारण किसानों से परे थी। सिंचाई की दर वसूलने का तरीका भी बड़ा ही दोषपूर्ण था। संक्षेप में, यह कहा जा सकता है कि **"ब्रिटिश सरकार की सिंचाई नीति एक ऐसी सरकार द्वारा अनियोजित एवं असमन्वित विकास की गाथा है जो एक ऐसे देश के लिए सिंचाई की सुविधाएँ प्रदान करने की सम्भावनाओं को महसूस करने में विफल रही जहाँ पर जल भूमि से अधिक महत्त्वपूर्ण है।"** (The story of irrigational schemes in India under the British rule is a story of planless unco-ordinated efforts by a Government which failed to realise the potentialities of offering irrigation facilities to a country where water have been said to be more valuable than land.)

स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद सिंचाई नीति (Irrigation policy of the Government after Independence) :—देश-विभाजन के बाद हमारे समक्ष सबसे बड़ी समस्या खाद्यान्न एवं कुछ आवश्यक कच्चे पदार्थों के अभाव की समस्या थी। इस समस्या के समाधान के लिए सरकार कृषि-विकास पर विशेष जोर दे रही है और कृषि-विकास कार्यक्रम के अन्तर्गत सिंचाई के साधनों के विकास को प्राथमिकता दी जाती है। सिंचाई के साधनों के विस्तार के लिए सरकार द्वारा अनेक नदी-घाटी योजनाएँ (River valley Projects) कार्यान्वित की जा रही हैं जिनमें दामोदर, भाकरा-नागंल, कोशी, चम्बल, रिहांद, हिराकुण्ड तथा तुंगभद्रा योजनाएं आदि विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इन योजनाओं का व्यय बहुधा अधिक होता है। अतः इनका व्यय केन्द्रीय तथा राज्य सरकारों द्वारा सम्मिलित रूप से वहन किया जाता है। इन वृहत् सिंचाई योजनाओं के अतिरिक्त सरकारों द्वारा कुछ मध्यम आकार की योजनाएँ भी कार्यान्वित की जा रही हैं। द्वितीय योजना के अन्तर्गत मध्यम आकार की योजनाओं को ही प्रधानता दी गयी थी। इसका कारण यह था कि इन योजनाओं से वृहत् योजनाओं की अपेक्षा शीघ्र लाभ प्राप्त होता है। साथ ही, इनसे प्राप्त लाभ में एक प्रकार की निरंतरता भी बनी रहती है।

इनके अतिरिक्त 'अधिक अन्न उपजाओ' आन्दोलन के अन्तर्गत लघु-सिंचाई योजनाओं की ही प्रधानता थी। इस कार्यक्रम के अन्तर्गत सरकार किसानों को कुएँ बनवाने के लिए ऋण अथवा अनुदान प्रदान करती है, नल-कूप लगाये जाते हैं, नये-नये तालाबों का निर्माण किया जाता है अथवा प्राचीन तालाबों का जीर्णोद्धार किया जाता है। इनके अतिरिक्त सरकार द्वारा किसानों को रियायती मूल्य पर रहट तथा पम्प वगैरह का भी वितरण किया जाता है। इस प्रकार सरकार द्वारा सिंचाई के साधनों के विकास के लिए बहुत अधिक प्रयत्न किये जा रहे हैं तथा इन प्रयत्नों में सफलता भी मिली है। किन्तु समस्या की गम्भीरता को देखते हुए यह कहना पड़ता है कि इसमें और अधिक तत्परता की आवश्यकता है।

किन्तु आजकल **सरकार द्वारा सिंचाई के विकास के लिए किये गये प्रयत्नों में निम्नलिखित कठिनाइयाँ भी हैं—(१) वित्त का अभाव** :—सर्वप्रथम कठिनाई तो **वित्त के अभाव की है।** सरकार आजकल देश के आर्थिक विकास के लिए बहुत ही प्रयत्नशील है। किन्तु, देश में आवश्यक वित्त एवं विदेशी विनिमय का अभाव है। इस कमी को दूर करने के लिए सरकार विदेशों तथा विश्व-बैंक से ऋण ले रही है। (२) **आवश्यक यन्त्रों एवं सामग्री का अभाव** :— दूसरी कठिनाई आवश्यक यन्त्रों एवं सामग्रियों के अभाव-सम्बन्धी कठिनाई है। हमारे देश में सिंचाई की बड़ी-बड़ी योजनाओं को कार्यान्वित करने के लिए आवश्यक यन्त्रों एवं सामग्री का भी अभाव है। इस अभाव को दूर करने के लिए विदेशों से इनका आयात किया जाता है। किन्तु, विदेशी विनिमय-सम्बन्धी कठिनाइयों के फलस्वरूप इनका आयात पर्याप्त मात्रा में नहीं किया जा सकता।

(३) **आवश्यक विशेषज्ञों का अभाव** :—भारत में सिंचाई की योजनाओं को कार्यान्वित करने के लिए आवश्यक विशेषज्ञों का भी अभाव है। इस अभाव को दूर करने के लिए सरकार द्वारा प्रशिक्षण के लिए बहुत-से भारतीय विदेशों में भेजे जा रहे है। (४) **किसानों में अनुत्तरदायित्व की भावना** :—भारतीय किसान सिंचाई के क्षेत्र में अपने दायित्व पर भी ध्यान नहीं देते। वे नहर अथवा नल-कूपों के जल को सरकारी जल समझ कर उसे यों ही बर्बाद करते हैं जबकि दूसरे किसानों के खेत जल के बगैर सूखते रहते हैं। उपरोक्त कठिनाइयों के कारण भारत में सिंचाई के क्षेत्र में अपेक्षित प्रगति नहीं हो रही है।

वर्त्तमान सरकार की सिंचाई-सम्बन्धी नीति के दोष (Defects of the Irrigation Policy of the present Government) :—वर्त्तमान सरकार की सिंचाई नीति वास्तव में प्रशंसनीय है, फिर भी इस नीति में निम्नलिखित दोष हैं जिनका निराकरण सिंचाई के विकास के लिए अति आवश्यक है—(क) सर्वप्रथम दोष तो यह है कि **सरकार द्वारा वृहत् सिंचाई की योजनाओं पर ही अधिक जोर दिया जा रहा है।** लघु सिंचाई योजनाओं पर पूरा जोर नहीं दिया जाता है। किन्तु हम जानते है कि दोनों प्रकार के कार्यक्रमों के अपने-अपने अलग-अलग लाभ हैं। अतः सिचाई-सम्बन्धी नीति में दोनों के बीच यथासम्भव संतुलन स्थापित करने का प्रयत्न अनिवार्य हो जाता है। साथ ही, वृहत् योजनाओं के तैयार होने में बहुत अधिक समय लगता है, इनमें पूंजी की भी बहुत अधिक आवश्यकता पड़ती है तथा इनके लिए यन्त्र एवं सामग्रियों को प्राप्त करने के लिए हमें विदेशों पर आश्रित रहना पड़ता है। लघु कार्यक्रमों के साथ ऐसी बात नहीं पायी जाती है। इन्हीं सब बातों को ध्यान में रखकर द्वितीय योजना में मध्यम आकार की योजनाओं को ही प्रधानता दी गयी थी। (ख) सरकार की **सिंचाई-सम्बन्धी नीति का दूसरा दोष यह है कि सरकार ने सिंचाई की दर को बहुत** अधिक रखा **जिससे किसान साधारणतः सिंचाई के साधनों का पूरा-पूरा उपयोग नहीं कर पाते।** नल-कूपों के साथ यह बात मुख्य रूप से पाई जाती है। सिंचाई की दर के निर्धारण में जनता की आर्थिक स्थिति तथा सिंचाई से प्राप्त लाभों को ध्यान में रखना आवश्यक है। (ग) **'अधिक अन्न उपजाओ आन्दोलन'** के अन्तर्गत **व्यय की जाने वाली कुल रकम का अधिकांश भाग योंही बेकार हो जाता है।** इसके लिए देश में समुचित प्रशासनिक संगठन की आवश्यकता है। अतः, इन कार्यक्रमों को कार्यान्वित करने के लिए देश में एक समुचित प्रशासनिक व्यवस्था की आवश्यकता है।

लघु-सिंचाई कार्य[1]

(Minor Irrigation Work)

वृहत्-सिंचाई योजना के साथ-साथ देश में लघु सिंचाई की भी अनेक योजनाएँ कार्यान्वित की जा रही हैं। आजकल हमारे देश में लघु सिंचाई कार्यों पर सरकार द्वारा विशेष जोर दिया जा रहा है। १९६८-६९ ई० में कुल ३६० लाख हेक्टर सिंचित क्षेत्र में से लघु-सिंचाई कार्यों के द्वारा कुल प्रायः १९० लाख हेक्टर भूमि में सिंचाई की सुविधा प्राप्त थी। यह कुल सिंचित भूमि का प्रायः ५३ प्रतिशत भाग था। लघु-सिंचाई कार्यों के अंतर्गत कुएँ, नल-कूप, तालाब या छोटी-छोटी नदियों के बाँध आदि सम्मिलित है।

1—योजना आयोग के अनुसार लघु सिंचाई कार्यक्रम के अन्तर्गत वे कार्यक्रम आते हैं जिनमें १५ लाख रुपये या इससे कम खर्च होता है। इसके अतिरिक्त धरती के नीचे (ground water schemes) के सभी कार्यक्रम इसके अन्तर्गत ही आते हैं। मध्यम सिंचाई कार्यक्रमों में उन कार्यक्रमों को सम्मिलित किया जाता है जिनमें १५ लाख रुपये से ५ करोड़ रुपये तक का व्यय होता है तथा ५ करोड़ रुपये से अधिक व्यय वाले कार्यक्रमों का वृहत् सिंचाई कार्यक्रमों के अन्तर्गत रखा जाता है।

देश की सिंचाई-व्यवस्था में लघु एवं वृहत् दोनों प्रकार के कार्यों का अलग-अलग महत्त्व है। वास्तव में, सिंचाई के इन दोनों कार्य-क्रमों को एक-दूसरे का पूरक समझना चाहिए तथा प्रत्येक क्षेत्र के लिए ऐसी योजना की व्यवस्था होनी चाहिए जो उस क्षेत्र-विशेष के लिए अति उपयुक्त हो।

प्रथम पंचवर्षीय योजना (First Five Year Plan) में लघु सिंचाई कार्यों पर कुल ७७ करोड़ रुपये व्यय की व्यवस्था थी जिससे कुल ४५ लाख हेक्टर अतिरिक्त भूमि में सिंचाई की आशा की जाती थी। किन्तु वास्तव में योजना काल में इस प्रकार के सिंचाई कार्यों द्वारा कुल १७ लाख हेक्टर अतिरिक्त भूमि में ही सिंचाई की सुविधा प्राप्त हुई। 'अधिक अन्न उपजाओ आन्दोलन' के अन्तर्गत इन्हीं योजनाओं को प्रधानता दी गयी थी। इसमें कुओं की मरम्मत एवं निर्माण, नल-कूपों तथा तालाबों के निर्माण पर अधिक जोर दिया जाता था। प्रथम योजना काल में ४४२२ नल-कूप लगाये गये थे जिनसे कोई ८ लाख हेक्टर अतिरिक्त भूमि में सिंचाई की सुविधा मिलने की आशा थी। द्वितीय योजना में भी २० करोड़ रुपये की लागत पर ३५८१ नल-कूप लगाने का आयोजन था जिनसे ३३० हजार हेक्टर भूमि में सिंचाई की सुविधा मिलने की आशा थी। सरकार द्वारा किसानों को कुएँ बनवाने या मरम्मत करने के लिए ऋण अथवा अनुदान भी दिया जाता है। कुओं तथा नदियों से पानी निकालने के लिए सरकार द्वारा रियायती मूल्य पर बिजली के पम्प तथा रहट किसानों को दिये जा रहे है।

द्वितीय पंचवर्षीय योजना (Second Five Year Plan) में लघु सिंचाई कार्यक्रमों पर २५० करोड़ रुपये व्यय का आयोजन था। द्वितीय योजना के अन्त में १९६०-६१ में लघु सिंचाई के साधनों के द्वारा कुल १४८ लाख हेक्टर भूमि में सिंचाई की सुविधा उपलब्ध थी।

तृतीय पंचवर्षीय योजना (Third Five Year Plan) के अन्त में १९६५-६६ ई० में लघु सिंचाई कार्यक्रमों के द्वारा कुल १७० लाख हेक्टर भूमि में सिंचाई की सुविधा प्राप्त हुई। इस मद में योजना काल में २७० करोड़ रुपये व्यय हुए।

तीनों वार्षिक योजनाओं (Annual Plans) में लघु सिंचाई कार्यक्रमों पर १९६६-६९ के बीच ३१४ करोड़ रुपये व्यय किया गया। १९६८-६९ में लघु सिंचाई के साधनों द्वारा कुल १९० लाख हेक्टर भूमि में सिंचाई होती थी।

चतुर्थ पंचवर्षीय योजना (Fourth Five Year Plan) में इस मद में ५११ करोड़ रुपये का व्यय प्रस्तावित है। इससे योजना काल में ३२ लाख हेक्टर अतिरिक्त भूमि में सिंचाई की सुविधा प्राप्त होने का अनुमान है।

अशोक मेहता समिति के अनुसार देश के विभिन्न भागों में लघु सिंचाई के साधनों के विकास पर भी पर्याप्त जोर दिया जाना चाहिए। संतोष का विषय है कि सरकार इन कार्यक्रमों पर विशेष जोर दे रही है। नये-नये कुएँ, तालाब, नल-कूप आदि बनाये जा रहे हैं। किन्तु समिति के अनुसार पुराने कुओं तथा तालाबों की मरम्मत पर जरा भी ध्यान नहीं दिया जा रहा है जिससे लघु-सिंचाई कार्यों से वास्तविक लाभ में कोई वृद्धि नहीं हो रही है। पहले तालाबों की मरम्मत जमींदारों द्वारा की जाती थी, किन्तु जमींदारी प्रथा के उन्मूलन के बाद सरकार द्वारा इस पर विशेष ध्यान नहीं दिया जा रहा है। यह निश्चय ही खेदजनक बात है।

पंचवर्षीय योजनाओं में सिंचाई

(Irrigation in Five Year Plans)

प्रथम पंचवर्षीय योजना में सिंचाई कार्यों की प्रगति (Progress of Irrigation in the First Five Year Plan) :—प्रथम योजना में सिंचाई के विकास को उच्च प्राथमिकता

प्रदान की गयी थी। योजना काल में वृहत् एवं मध्यम सिंचाई तथा बिजली की कुल १७२ योजनाएं तैयार की गयी थीं जिनमें से योजनाकाल में १५३ पर कार्य प्रारम्भ किया गया। इन योजनाओं में ६ बहुउद्देशीय योजनाएँ थीं। इन योजनाओं से १९५५-५६ ई० तक ८५ लाख एकड़ अतिरिक्त भूमि की सिंचाई का लक्ष्य था, किन्तु इस लक्ष्य की पूर्ति नहीं हो पायी। योजनाकाल में वृहत् एवं मध्यम सिंचाई की योजनाओं से १३ लाख हेक्टर तथा लघु सिंचाई की योजनाओं से ७ लाख हेक्टर अतिरिक्त भूमि में सिंचाई की सुविधा प्राप्त हुई। इस प्रकार कुल सिंचित भूमि का क्षेत्र १९५०-५१ ई० में २०६ लाख हेक्टर से बढ़कर १९५५-५६ ई० में २२६ लाख हेक्टर हो गया।

द्वितीय पंचवर्षीय योजना में सिंचाई कार्यों की प्रगति (Progress of Irrigation in the Second Five Year Plan) :—द्वितीय योजनाकाल में सिंचाई के साधनों के विकास पर पर्याप्त जोर दिया गया था। योजनाकाल में प्रायः ७२ लाख हेक्टर अतिरिक्त भूमि की सिंचाई का आयोजन था। इसमें से ३६ लाख हेक्टर भूमि में वृहत् एवं मध्यम सिंचाई की योजनाओं द्वारा तथा ३६ लाख हेक्टर भूमि में लघु-सिंचाई की योजनाओं द्वारा सिंचाई का आयोजन था। योजनाकाल में वृहत् एवं मध्यम सिंचाई की योजनाओं पर कुल ३७० करोड़ रुपये व्यय हुआ। द्वितीय योजनाकाल में सिंचाई-कार्य के अन्तर्गत १५९ नयी योजनाएँ सम्मिलित की गयी थी। इनमें से अधिकांश मध्यम श्रेणी की योजनाएँ थीं। योजनाकाल में सिंचित भूमि का क्षेत्रफल १९५५-५६ ई० में २२६ लाख हेक्टर से बढ़कर १९६०-६१ ई० में २७९ लाख हेक्टर हो गया। इस प्रकार द्वितीय योजना के सिंचाई-सम्बन्धी लक्ष्य पूरे नहीं हो सके। प्रथम एवं द्वितीय योजना-काल में दस वर्षों में सिंचाई-प्राप्त क्षेत्र १९५०-५१ ई० में २०६ लाख एकड़ से बढ़कर १९६०-६१ ई० में २७९ लाख हेक्टर हो गया।

तृतीय पंचवर्षीय योजना में सिंचाई कार्यों की प्रगति (Progress of Irrigation in the Third Five Year Plan) :—तृतीय पंचवर्षीय योजनाकाल में वृहत् एवं मध्यम सिंचाई के कार्यों पर ५८३ करोड़ रुपये तथा बाढ़-नियंत्रण पर ८१·५ करोड़ रुपये व्यय किया गया। साथ ही, योजनाकाल में लघु-सिंचाई कार्यक्रम पर २७० करोड़ रुपये व्यय हुआ। योजनाकाल में वृहत्, मध्यम एवं लघु-सिंचाई कार्यक्रमों द्वारा कुल ४३ लाख हेक्टर अतिरिक्त भूमि में सिंचाई की सुविधा प्राप्त हुई। इस प्रकार देश में कुल सिंचित भूमि का क्षेत्रफल १९६०-६१ ई० में २७९ लाख हेक्टर से बढ़कर तृतीय योजना के अन्त में, यानी १९६५-६६ ई० तक, ३२२ लाख हेक्टर हो गया। योजना काल में वृहत् एवं मध्यम सिंचाई की योजनाओं द्वारा प्रायः २१ लाख हेक्टर तथा लघु-सिंचाई की योजनाओं द्वारा लगभग ३२ लाख हेक्टर अतिरिक्त भूमि को सिंचाई के अन्तर्गत लाया गया।

तीन वार्षिक योजनाओं (Three Annual Plans) में सिंचाई की मद में ४१४ करोड़ रुपये तथा बाढ़ नियंत्रण पर ४३ करोड़ रुपये व्यय किया गया। इस अवधि (१९६६-६९) में वृहत् एवं मध्यम-सिंचाई की योजनाओं द्वारा कुल १८ लाख हेक्टर तथा लघु-सिंचाई के कार्यक्रमों के द्वारा कुल २० लाख हेक्टर अतिरिक्त भूमि में सिंचाई हुई।

चतुर्थ पंचवर्षीय योजना (Fourth Five Year Plan) में सिंचाई की मद में ९६५ करोड़ रुपये व्यय का आयोजन है। इसके अतिरिक्त १२२ करोड़ रुपये बाढ़-नियंत्रण पर व्यय किया जायगा। चतुर्थ योजना के अनुसार योजना में वृहत् सिंचाई कार्यों के द्वारा ४२ लाख हेक्टर तथा लघु सिंचाई कार्यों द्वारा ३२ लाख हेक्टर अतिरिक्त भूमि में सिंचाई की सुविधा प्रदान करने का आयोजन है।

निम्नलिखित तालिका से द्वितीय, तृतीय एवं चतुर्थ पंचवर्षीय योजनाओं में सिचाई के क्षेत्र में प्रगति एवं लक्ष्य का अन्दाजा लगता है :—

सिंचाई-प्राप्त क्षेत्र (लाख हेक्टर में)

	१९६०-६१	१९६५-६६	१९६८-६९	१९७३-७४ (आयोजित)
वृहत् एवं मध्य	१३१	१५२	१७०	२१२
लघु-सिंचाई	१४८	१७०	१९०	२२२
कुल	२७९	३२२	३६०	४३४

सिंचाई एवं कृषि का स्थायित्व (Irrigation and Agricultural Stability) :—अब यह देखना है कि सिंचाई के साधनों में विस्तार का कृषि के स्थायित्व पर क्या प्रभाव पड़ा है ? उपरोक्त विवरण से यह स्पष्ट है कि देश में सिंचाई के क्षेत्र में धीरे-धीरे वृद्धि हो रही है। कुल सिंचित भूमि का क्षेत्र १९५०-५१ ई० में २०६ लाख हेक्टर, यानी कुल कृषि की जानेवाली भूमि का केवल १८ प्रतिशत भाग था। यह बढ़कर १९६०-६१ ई० में २७९ लाख हेक्टर, यानी कुल कृषि की जानेवाली भूमि का प्रायः १९ प्रतिशत भाग हो गया। इससे यह कहा जा सकता है कि अब भी देश पूर्ण रूप से कृषि के लिए मानसून पर ही आश्रित नहीं है। यही कारण है कि प्रति वर्ष देश के किसी-न-किसी भाग में बाढ़ तथा सूखा के बावजूद खाद्यान्न की कुल उपज पिछले कुछ वर्षों से निरन्तर बढ़ रही है। इससे स्पष्ट है कि सिचाई के साधनों में विस्तार से कृषि के स्थायित्व में वृद्धि हुई है।

इस सम्बन्ध में एक और महत्त्वपूर्ण बात यह है कि सिंचाई के क्षेत्र के विस्तार के सम्बन्ध में भी सहकारिता का बड़ा ही महत्त्वपूर्ण स्थान है। सहकारिता के आधार पर सिंचाई के विस्तार का प्रयास कुछ क्षेत्रों में किया भी गया है। उदाहरण के लिए, आन्ध्र प्रदेश में मुसी सिचाई योजना को सहकारिता के आधार पर पूरा करने का प्रयास किया जा रहा है। इसी प्रकार महाराष्ट्र के औरंगाबाद तालुका में कुओं के निर्माण के लिए भी सहकारी समितियों का निर्माण हुआ है। इसी आधार पर अन्य राज्यों में भी सहकारी समितियों का निर्माण किया जा सकता है। अतएव सिचाई के क्षेत्र में भी सहकारिता का महत्त्व कम नहीं है। सिंचाई के साधनों के विस्तार से कृषि के क्षेत्र में स्थायित्व की मात्रा निश्चित रूप से बढ़ेगी।

सिंचाई आयोग (Irrigation Commission) :—भारत सरकार ने अप्रैल, १९६९ ई० में श्री अजीत प्रसाद जैन की अध्यक्षता में एक सिंचाई आयोग की नियुक्ति की है जो १९७२ ई० के अन्त तक अपना प्रतिवेदन प्रस्तुत करेगा। सिंचाई आयोग की सिफारिशों से इस क्षेत्र में कुछ ठोस कदम उठाने की आशा की जाती है।

विशेष अध्ययन सूची

1. Planning Commission : The First Five Year Plan, Ch. XVI
2. ,, ,, : The Second Five Year Plan, Ch. XVII
3. ,, ,, : The Third Five Year Plan, Ch. XXIV
4. ,, ,, : Fourth Five Year Plan 1969-74 Ch. X.
5. Wadia and Merchant : Our Economic Problem, Ch. IX.
6. India 1971-72.

अध्याय : १४

उपविभाजन एवं अपखण्डन तथा सहकारी कृषि
(Subdivision and Fragmentation and Co-operative Farming)

प्राक्कथन :—भारतीय कृषि की पिछड़ी हुई स्थिति और किसानों की निर्धनता के जो अनेक कारण हैं, उनमें से जोतों का उपविभाजन एवं अपखण्डन भी एक प्रमुख कारण है। निर्माण उद्योगों की तरह कृषि में भी उत्पादन का एक आदर्श अनुमाप होता है जो उत्पादक के दृष्टिकोण से सर्वोत्तम होता है। एक सीमा के बाद इसमें कमी आने से उत्पादन का खर्च बढ़ने लगता है और धीरे-धीरे आर्थिक जोत समाप्त होने लगती है। कहा जाता है कि भारत छोटी-छोटी जोतों का देश है। उपविभाजन एवं अपखण्डन की समस्या पर विचार करने से इसके दोष स्पष्ट हो जाते हैं। इसके परिणामस्वरूप कृषि-योग्य भूमि छोटे-छोटे टुकड़ों में विभाजित हो जाती है जिससे कृषि कार्य कठिन और अधिक खर्चीला हो जाता है। साथ ही, इसके फलस्वरूप भारतीय कृषि-व्यवस्था की अन्य आधारभूत दुर्बलताएँ भी उभर आती हैं। डॉ० मन्न के शब्दों में "**यह साहस को समाप्त करता है, श्रम की बरबादी करता है, खेतों की चौहद्दी अथवा मेड़ में बहुत सी भूमि को बेकार बना देता है, गहरी खेती को असम्भव बनाता है तथा अधिक धनाढ्य व्यक्तियों को अच्छी कृषि सम्पत्ति के खरीददार होने में बाधक सिद्ध होता है।**" इससे कृषि-व्यवस्था में शिथिलता आ जाती है। इस प्रकार जोतों का उपविभाजन एवं अपखण्डन भारतीय कृषि की एक आधारभूत समस्या है जिसके समाधान द्वारा ही कृषि में स्थायी सुधार लाया जा सकता है।

उपविभाजन एवं अपखण्डन का अर्थ (Meaning of Subdivision and Fragmentation) :—जोतों का उपविभाजन एवं अपखण्डन दोनों दो पृथक चीजें हैं। **उपविभाजन का अर्थ परिवार के विभाजन अथवा अन्य कारणों से एक जोत के कई व्यक्तियों के बीच विभाजित होने से है।** हमारे देश में यह एक परिपाटी-सी हो गयी है कि भू-स्वामी की मृत्यु के बाद उसकी जोत उसके सभी उत्तराधिकारियों में बराबर-बराबर बँट जाती है। उपविभाजन की प्रक्रिया हमारे देश में एक लम्बे समय से चली आ रही है और आज तक उसका क्रम जारी है। अनेक पीढ़ियों से चली आनेवाली उपविभाजन की प्रक्रिया ने बड़ी-बड़ी जोतों को कितने ही छोटे-छोटे टुकड़ों में विभाजित कर डाला है।

अपखण्डन (Fragmentation) **का अर्थ एक ही व्यक्ति की कुल जोत के अनेक छोटे-छोटे टुकड़ों में विभाजित होना है जो एक ही स्थान में न होकर यत्र-तत्र बिखरे रहते हैं**, यानी एक दूसरे से सर्वथा पृथक् होते हैं। प्रायः यह देखा जाता है कि प्रत्येक उत्तराधिकारी भूमि की उपजाऊ शक्ति एवं स्थिति में विभिन्नता की दृष्टि से प्रत्येक प्रकार की भूमि में अपना हिस्सा लेना चाहता है जिससे जोतों का अपखण्डन बढ़ते जा रहा है। (Fragmentation is due to the subdivision of property among several joint owners each of whom wants a share in each quality of ancestral land.) अतः अपखण्डन, यानी जोतों का अनेक

पृथक्-पृथक् टुकड़ों में बँटबारा वस्तुतः उपविभाजन का ही परिणाम है। किन्तु जहाँ उपविभाजन का सम्बन्ध जोतों के क्षेत्रफल से है, वहाँ अपखण्डन का सम्बन्ध क्षेत्रफल और उसकी स्थिति दोनों से है।

भारत में जोतों के उपविभाजन एवं अपखण्डन की सीमा (Extent of Subdivision and Fragmentation of Holdings in India) :—भारत में जोतों का आकार बहुत ही छोटा एवं अनार्थिक है। उपविभाजन एवं अपखण्डन की प्रक्रिया सदियों से चली आ रही है जिससे जोतों का आकार निरन्तर छोटा होते जा रहा है। अखिल भारतीय कृषि-श्रम जाँच समिति ने अपने प्रतिवेदन में यह बतलाया था कि भारत में अधिकांश जोतें २ एकड़ या इससे भी कम की हैं। निम्नांकित तालिका से विश्व के अन्य देशों की अपेक्षा भारत में औसत जोतों के आकार का अन्दाजा लगता है :—

विश्व के प्रमुख देशों में जोतों के औसत आकार

देश	आकार	देश	आकार
इंगलैंड	२० एकड़	हालैंड	२६ एकड़
फ्रांस	२० एकड़	जर्मनी	२१ ,,
संयुक्त राज्य अमेरिका	१४५ एकड़	भारत	७·५ ,,

इससे भारत में जोतों के उपविभाजन का अन्दाजा लगता है। १९५१ ई० में योजना आयोग के आदेशानुसार राज्य सरकारों द्वारा भिन्न-भिन्न राज्यों में किसानों की आर्थिक स्थिति के सम्बन्ध में जाँच की गयी थी जिसके अनुसार उत्तर प्रदेश में ८१·२ प्रतिशत, बम्बई में ६६·३, मध्य प्रदेश में ५१·५, उड़ीसा में ७४·२, बिहार में ८३·३३, असम में ५२·१, ट्रावनकोर कोचीन में ९४·१, पेप्सू में ४४·४, हिमाचल प्रदेश में ९५·० तथा कुर्ग में ७६·० प्रतिशत स्वत्ताधिकारियों के पास ५ एकड़ से कम क्षेत्रफल की जोतें थीं।

नेशनल सैम्पुल सर्वे (N. S. S.) द्वारा आयोजित हाल में ही जोतों के सर्वेक्षण के अनुसार ग्रामीण क्षेत्रों में २२ प्रतिशत परिवारों के पास कोई भूमि नहीं है, २५ प्रतिशत परिवार के पास एक एकड़ या इससे भी कम भूमि है तथा २२ प्रतिशत परिवारों के पास पाँच एकड़ से भी कम भूमि है। इस प्रकार कुल प्रायः तीन-चौथाई ग्रामीण परिवार के पास गाँवों की कुल भूमि का केवल १८ प्रतिशत भाग है। इससे जोतों के उपविभाजन का अन्दाजा लगाया जा सकता है।

हमारे देश में केवल औसत जोतों का आकार ही छोटी नहीं, वरन् ये जोतें छोटे-छोटे टुकड़ों में विभाजित भी हैं जो गाँव के भिन्न-भिन्न भागों में बिखरे रहते हैं। महाराष्ट्र के पिपला सौदागर नामक ग्राम में डा० मन्न ने यह पता लगाया था कि १५६ भू-स्वामियों के पास ७२९ खेत थे जिनमें ३९६ खेत एक एकड़ से कम के थे और २११ खेत एक-चौथाई एकड़ से भी कम के थे। रत्नागिरि में निजी खेतों का आकार कहीं-कहीं पर ०·००६२५ एकड़ या ३० वर्गगज तक का है। इस प्रकार के छोटे-छोटे खेत प्रायः सभी राज्यों में पाये जाते हैं। इससे उपविभाजन के साथ-साथ अपखण्डन का भी अन्दाजा लगाया जा सकता है।

भारत में जोतों के उपविभाजन की सीमा का अन्दाजा निम्नांकित तालिका[1] से भी लगाया जा सकता है :—

भारत में जोतों का वितरण आकार के अनुसार

जोतों का क्षेत्र	संख्या		क्षेत्र	
	(लाख में)	प्रतिशत	(लाख एकड़ में)	प्रतिशत
एक एकड़ से कम	२१०	४२.१	४०	१·२
१ से ५ एकड़	१८०	२६·१	४८४	१४·४
५ से १० एकड़	८६	१४·२	६२३	१८·५
१० से २० एकड़	५४	८·७	७५२	२२·४
२० से ४० एकड़	२५	४·१	६६५	२०·७
४० से १०० एकड़	१०	१·६	५६३	१६·८
१०० एकड़ से अधिक	०·१	०·२	२००	६·०

उपरोक्त तालिका से यह स्पष्ट है कि भारत में कुल जोतों का ७१·२ प्रतिशत भाग ५ एकड़ अथवा इससे भी कम का है।

भारत में केवल जोतों का आकार ही छोटा नहीं; वरन् एक ही किसान की जोत विभिन्न टुकड़ों में विभाजित है जो गाँव के एक स्थान में नहीं होकर भिन्न-भिन्न भागों में बिखरी होती है। दूसरे शब्दों में, यहाँ उपविभाजन के साथ-साथ अपखण्डन की समस्या भी वर्तमान है। वास्तव में, अपखण्डन की समस्या उपविभाजन के साथ-ही-साथ उत्पन्न होती है।

जोतों के उपविभाजन तथा अपखण्डन के कारण
(Causes of Subdivision and Fragmentation of Holdings)

भारत में जोतों के उपविभाजन तथा अपखण्डन के बहुत से कारण बतलाये जाते हैं जिनमें निम्नलिखित प्रमुख हैं :—

(१) **जनसंख्या की अत्यधिक वृद्धि** (Excessive Growth of Population) :— जनसंख्या के उत्तरोत्तर वृद्धि के कारण जोतों का उपविभाजन बढ़ता जा रहा है। जब तक देश में पर्याप्त कृषि-योग्य भूमि उपलब्ध थी, तब तक परिवार के अतिरिक्त सदस्यों का प्रबन्ध भूमि के विभाजन किये बगैर ही सम्भव था। लेकिन आज भारत में जिस गति से जनसंख्या में वृद्धि हो रही है उस गति से कृषि-योग्य भूमि नहीं बढ़ती। पिछले दस वर्षों में भारत की जनसंख्या में प्रायः २५ प्रतिशत की वृद्धि हुई है, लेकिन भूमि की मात्रा तो प्रायः निश्चित ही है। साथ ही, भारत

1. Source—National Sample Survey, 8 th Round.

का मुख्य व्यवसाय कृषि ही है। ऐसी स्थिति में भूमि के ऊपर जनसंख्या का दबाव निरन्तर बढ़ता जा रहा है जिसके फलस्वरूप जोतों का उपविभाजन एवं अपखंडन भी बढ़ता ही जा रहा है।

वास्तव में, उपविभाजन एवं अपखण्डन का प्रधान कारण देश में जनसंख्या की अत्यधिक वृद्धि तथा इसके अनुरूप उद्योग-धन्धों के विकास का अभाव रहा है। जनसंख्या की वृद्धि के कारण जोतों का आकार निरन्तर छोटा होते जा रहा है, जो निम्नांकित तालिका से स्पष्ट है:—

जनगणना वर्ष	प्रति-व्यक्ति उपलब्ध कृषि-योग्य भूमि का औसत (एकड़ में)
१९२१	१·११
१९३१	१·०४
१९४१	०·९४
१९५१	०·८४

(२) **उत्तराधिकार तथा पैतृक-सम्पत्ति-सम्बन्धी कानून** (Law of Inheritance) :—भारत में उत्तराधिकार के नियम भी उपविभाजन तथा अपखंडन के लिए बहुत कुछ उत्तरदायी हैं। यहाँ हिन्दू परिवार में प्रत्येक पुत्र का पिता के जीवनकाल में ही परिवार की सम्पत्ति पर समान अधिकार हो जाता है। हिन्दू कोड में परिवर्तन के अनुसार अब तो पिता की सम्पत्ति में पुत्र के साथ-साथ पुत्रियों को भी हिस्सा मिलता है। विभाजन के समय प्रत्येक उत्तराधिकारी हर प्रकार की भूमि का एक-एक अंश चाहता है जिससे उपविभाजन के साथ-साथ अपखंडन भी बढ़ता जाता है। इंगलैंड में लॉ ऑफ प्रीमोजीनेचर के अनुसार भू-सम्पत्ति में केवल बड़े लड़के को ही हिस्सा मिलता है, पर इस प्रकार की व्यवस्था हमारे देश में नहीं है।

(३) **गृह उद्योग-धन्धों का ह्रास** (Decline of the Cottage Industries) :—भारत अठारहवीं तथा उन्नीसवी शताब्दी के मध्य तक अपने गृह उद्योगों के लिए विख्यात था, लेकिन इंगलैंड की औद्योगिक क्रान्ति के फलस्वरूप मशीनों द्वारा बनी हुई वस्तुओं की स्पर्धा से इन उद्योगों का ह्रास हो गया जिससे कारीगरों के समक्ष कृषि के अतिरिक्त कोई दूसरा चारा नहीं रह गया। कृषि ही देश की बढ़ती हुई जनसंख्या के जीविकोपार्जन का एक मात्र साधन रह गयी। इसके फलस्वरूप भूमि पर आश्रितों की संख्या में वृद्धि हो गयी और कृषि तथा उद्योग के बीच संतुलन प्रायः समाप्त हो गया।

(४) **किसानों की ऋणग्रस्तता** (Rural Indebtedness) :—किसान बीज, औजार एवं मवेशी आदि खरीदने तथा शादी-श्राद्ध के लिए बहुधा अपनी भूमि को बन्धक रखकर महाजनों से कर्ज लेते हैं। लेकिन कर्ज को निर्धारित समय पर अदा नहीं करने के कारण इन्हें बाध्य होकर अपनी भूमि का एक हिस्सा महाजनों के हाथ बेचना पड़ता है। इससे भी भूमि के उपविभाजन में सहायता मिलती है। अतः किसानों की ऋणग्रस्तता भी जोतों के उपविभाजन तथा अपखंडन का एक प्रमुख कारण है।

(५) **संयुक्त पारिवारिक व्यवस्था का विनाश तथा व्यक्तिवादी भावना का प्रसार** (Breakdown of the joint family system and growth of the spirit of individualism) :—प्राचीन काल में हमारे देश में संयुक्त परिवार की प्रथा प्रचलित थी जिससे कृषि-कार्य सम्मिलित रूप में होता था। इससे जोतों का उपविभाजन बहुत कम होता था। लेकिन आज व्यक्तिवादी भावना के विकास के फलस्वरूप लोग पृथक्-पृथक् रहना ही अधिक पसन्द करते हैं।

इससे जोतों का उपविभाजन निरन्तर बढ़ता ही जा रहा है। इस प्रकार संयुक्त परिवार के विनाश तथा व्यक्तिवादी भावना के प्रसार के फलस्वरूप भी उपविभाजन तथा अपखंडन अधिकाधिक होने लगा है। वास्तव में, व्यक्तिगत दृष्टिकोण से यह परिवर्तन उपविभाजन एवं अपखण्डन का सर्वाधिक प्रमुख कारण है।

(६) भू-सम्पत्ति से विशेष प्रेम (Too much attachment to landed property) :—साधारणतः भारतीय भू-सम्पत्ति से विशेष प्रेम दिखलाते हैं। भारत में भूमि को प्रतिष्ठा, सम्मान एवं सम्पन्नता का साधन समझा जाता है। 'उत्तम कृषि मध्यम वाण' की कहावत आज भी किसानों के बीच प्रचलित है। अतः प्रत्येक व्यक्ति अपनी पैतृक भू-सम्पत्ति से चिपटा रहता है तथा यथाशक्ति उसे अपने हाथ से निकलने नहीं देता। इस प्रकार परिवार के आकार में वृद्धि के साथ-साथ उपविभाजन तथा अपखंडन की समस्या और भी उग्र होती जाती है। पूर्वजों से उत्तराधिकार के रूप में प्राप्त भू-सम्पत्ति के प्रति किसान की इस अनुरक्ति ने कृषि के वैज्ञानिक संगठन के समस्त प्रयत्नों की सफलता को कम कर दिया है।

(७) ब्रिटिश शासनकाल (British Rule) : – ब्रिटिश शासनकाल में देश में शान्ति एवं सुरक्षा के कारण भूमिगत अधिकारों का महत्त्व बहुत अधिक बढ़ गया जिससे अत्यधिक संख्या में लोगों ने अपनी पूँजी को भूमि में ही लगाना प्रारम्भ कर दिया। इसके फलस्वरूप भी जोतों के आकार का छोटा होना अति स्वाभाविक था।

इस प्रकार कहा जाता है कि **"जनसंख्या की अत्यधिक वृद्धि, इसके अनुरूप उद्योग-धंधों का विस्तार न होना, संयुक्त पारिवारिक व्यवस्था का ह्रास तथा व्यक्तिवादिता का विकास आदि एवं इनको पुष्ट करने के लिए उत्तराधिकार एवं पैतृक सम्पत्ति-सम्बन्धी कानून भारत में जोतों के उपविभाजन तथा अपखण्डन के लिए मुख्य रूप से उत्तरदायी हैं।"**

उपविभाजन एवं अपखण्डन के दुष्परिणाम
(Evils of Subdivision and Fragmentation)

जोतों के उपविभाजन एवं अपखण्डन का कृषि तथा किसानों की आर्थिक स्थिति पर बड़ा ही बुरा प्रभाव पड़ा है :—

(१) अलाभकर कृषि (Uneconomic farming) :—अतिशय उपविभाजन के फलस्वरूप जोतों का आकार बहुत ही छोटा होते जा रहा है जिससे कृषक अपने साधनों का पूर्ण उपयोग नहीं कर पाते। कुछ खेत तो इतने छोटे होते हैं कि उनमें हल-बैल भी भली-भाँति नहीं घूम पाते। देश के कुल भागों में ऐसे भी खेत पाये जाते हैं जिनका आकार छोटा होने के कारण वे कृषि के योग्य नहीं रह पाते। उदाहरण के लिए, पंजाब के दुरलीकलाँ (Durlikalan) नामक गाँव में ४२४ ऐसे खेत थे जिनका क्षेत्रफल ,००६ एकड़ था। इस प्रकार उपविभाजन के फलस्वरूप कृषि-कार्य अलाभकर एवं अधिक खर्चीला हो जाता है क्योंकि स्थायी व्यय (Fixed cost) औसतन अधिक पड़ने लगता है। इससे साधनों का समुचित उपयोग भी नहीं हो पाता।

(२) वैज्ञानिक कृषि तथा भूमि-सुधार में कठिनाई (Hampers improved agricultural practices) :—जोतों के उपविभाजन तथा अपखण्डन से किसान न तो आधुनिक यन्त्रों का प्रयोग कर पाता है न अन्य प्रकार के सुधारों को ही लागू कर सकता है, अतः उत्पादन कम होने लगता है। वैज्ञानिक कृषि भी छोटी-छोटी जोतों में बिलकुल असम्भव हो जाती है। रूस तथा

अमेरिका में बड़ी-बड़ी जोतों के फलस्वरूप ही आधुनिक औजारों का अधिकाधिक प्रयोग सम्भव हो पाया है।

(३) **कृषि-योग्य भूमि का ह्रास** (Wastage of agricultural land) :—जोतों के छोटे-छोटे टुकड़ों में विभाजित होने के कारण बहुत-सी भूमि योंही आर तथा मेंड़ में बेकार चली जाती है। अनुमानत: यह कहा जाता है कि देश की कुल कृषि-योग्य भूमि का लगभग ३ प्रतिशत भाग मेंड़ों ने घेर रखा है। इसके फलस्वरूप बीज एवं खाद आदि की भी बर्बादी होती है।

(४) **समय तथा शक्ति का व्यर्थ अपव्यय** (Waste of time and energy) :—जोतों के उप-विभाजन एवं अपखण्डन के कारण एक टुकड़े से दूसरे टुकड़े में आने-जाने, हल-बैल ले जाने, रखवाली करने आदि में भी बहुत-सा समय यों ही बेकार नष्ट जो जाता है। छोटी-छोटी जोतों के फलस्वरूप समय के साथ-साथ किसानों की शक्ति का भी व्यर्थ अपव्यय होता है।

(५) **अधिक मुकदमेबाजी** :—जोतों के छोटे-छोटे टुकड़ों में विभाजित होने से किसानों के बीच मेंड़, रास्ता तथा चौहद्दी आदि के लिए प्राय: झगड़े हुआ करते हैं जिससे गाँवों में मुकदमेबाजी को अनावश्यक प्रोत्साहन मिलता है। गाँवों में पारस्परिक वैमनस्य बहुधा भूमि के कारण ही होता है जिससे मुकदमेबाजी को अनुचित प्रश्रय मिलता है।

(६) **सिंचाई की असुविधा** :—उपविभाजन तथा अपखण्डन के फलस्वरूप खेतों की सिंचाई में बहुत अधिक कठिनाई होती है। साथ ही, सिंचाई के लिए व्यय भी अधिक करना पड़ता है। किसान के खेत यत्र-तत्र बिखरे होते हैं जिससे वह प्रत्येक स्थान में सिंचाई की व्यवस्था भी नहीं कर पाता।

सारांश यह है कि उपविभाजन एवं अपखंडन के फलस्वरूप किसान के समय, शक्ति एवं साधनों का व्यर्थ अपव्यय होता है तथा कृषि-कार्य अलाभकर हो जाता है। इसके फलस्वरूप अतिवृष्टि तथा अनावृष्टि आदि का सामना करने के लिए किसानों के पास आवश्यक शक्ति भी नहीं रह जाती। आर एवं मेंड़ में बहुत-सी कृषि-योग्य भूमि योंही बेकार चली जाती है तथा इससे मुकदमेबाजी को भी अनावश्यक प्रश्रय मिलता है। अपखण्डन के कारण कृषि में स्थायी सुधार के कार्य जैसे कुओं की खुदाई आदि भी असम्भव हो जाते हैं।

डा० राधाकमल मुखर्जी ने अपनी पुस्तक "Rural Economy of India" में जोतों के उपविभाजन और अपखण्डन के दोषों की व्याख्या इस प्रकार से की है—"भारत के अधिकांश भागों में कृषि की अनुत्पादकता के लिए किसानों की अज्ञानता, लापरवाही अथवा काम करने की अनिच्छा आदि की अपेक्षा जोतों के उपविभाजन तथा अपखण्डन अधिक उत्तरदायी हैं। इस प्रकार की जोतों में किसानों को पर्याप्त मात्रा में काम भी नहीं मिलता जिससे वह वर्ष के अधिकांश समय में बेकार रहता है। किसानों की ऋणग्रस्तता जोतों के उपविभाजन का कारण तथा परिणाम दोनों है और कभी-कभी उदासीनता तथा ऋणग्रस्तता साथ-साथ जाती हैं।"[1]

1. "In many tracts, the inefficiency of agriculture is due more to the small size and scattered nature of the holdings than to ignorance or want of alertness on the part of the peasants. Such holdings do not afford sufficient work for the cultivator and leave him almost unemployed during most part of the year. Agricultural indebtedness is at once the cause and effect of the excessive division of the holdings and very often enforced idleness and indebtedness go together." —Dr. R. K. Mukherjee. Rural Economy of India. Vol. I., Page 63.

उपविभाजन एवं अपखंडन के तथाकथित लाभ :—किन्तु उपविभाजन तथा अपखंडन के कुछ आर्थिक एवं सामाजिक लाभ भी बतलाये जाते हैं। इनके फलस्वरूप गाँव के हर भाग में किसान की कुछ-न-कुछ भूमि अवश्य ही रहती है और ऋतु विपर्यय से रक्षा के हेतु किसानों की भूमि का गाँव के हर भाग में होना अनिवार्य हो जाता है। गाँव के अनेक भागों में विभिन्न प्रकार की भूमि पर दो या दो से अधिक फसलें अलग-अलग पैदा की जाती हैं जिससे वर्षा का अभाव तथा उसका अनियमित वितरण अगर एक फसल को नष्ट भी कर देता है तो दूसरे खेतों में अनुकूल फसल पैदा हो जाती है। भारतीय कृषि में फसलों के हेर-फेर की विस्तृत पद्धति, जो इसे पश्चिमी कृषि से अलग करती है, प्रधानतया बिखरी हुई जोतों के फलस्वरूप ही सम्भव हुई है। साथ ही, जोतों के इस उपविभाजन से गाँव की अधिकांश जनता के पास भूमि भी हो जाती है। भूमि के इस व्यापक वितरण के फलस्वरूप भूमिहीन वर्ग की वृद्धि रुकती है जिससे समाज में आर्थिक एवं सामाजिक अस्थिरता बढ़ती है।

लेकिन इन लाभों के कारण हम जोतों के उपविभाजन तथा अपखण्डन को उचित नहीं ठहरा सकते। ध्यानपूर्वक अध्ययन के बाद हम इस निष्कर्ष पर आते हैं कि इनसे सम्भावित लाभ की अपेक्षा हानि ही बहुत अधिक है। फलस्वरूप इनका निराकरण अनिवार्य हो जाता है।

उपविभाजन एवं अपखण्डन के दोषों को दूर करने के उपाय
(Remedial Measures)

जोतों का उपविभाजन एवं अपखंडन भारतीय कृषि के लिए सचमुच ही एक अभिशाप है, अतः कृषि में स्थायी सुधार के लिए इनका निराकरण नितांत आवश्यक है। उपविभाजन एवं अपखंडन के दोषों को दूर करने के लिए सामान्यतः दो प्रकार के सुझाव दिये जाते हैं :—

(१) **आर्थिक जोतों का निर्माण** (Creation of economic holdings) :—आर्थिक जोतों का निर्माण निम्नलिखित तरीकों से किया जाता है :—(क) जोतों की चकबन्दी के द्वारा; (ख) सम्पूर्ण भूमि का सामाजीकरण कर लिया जाय और तब उसमें सामूहिक कृषि के आधार पर खेती की जाय। रूस में प्रायः इसी प्रकार की कृषि-व्यवस्था पायी जाती है; (ग) किसानों की जोतों को एक में मिलाकर सहकारी कृषि अथवा संयुक्त व्यवस्था के आधार पर खेती का कार्य किया जाय।

(२) **आर्थिक जोतों को बनाये रखना** (Preservation of economic holdings) :—जब उपरोक्त तरीकों में से किसी एक के द्वारा आर्थिक जोत का निर्माण हो जाता है तो उसे पुनः उपविभाजन से बचाये रखने के लिए निम्नलिखित प्रयत्नों की आवश्यकता होगी—(क) वर्तमान उत्तराधिकार के नियम में परिवर्तन लाकर इंगलैंड के ज्येष्ठाधिकार (Law of Primogeniture) के आधार पर इस प्रकार की व्यवस्था की जाय जिससे भू-सम्पत्ति का अधिकार पिता के बाद केवल बड़े लड़के को ही मिले। किन्तु ऐसा करने के लिए परिवार के अन्य सदस्यों के लिए भी रोजगार की व्यवस्था करनी होगी। (ख) एक सीमा के बाद जोतों के उपविभाजन को कानून द्वारा रोक देना चाहिए। मिस्र में इस प्रकार की व्यवस्था है कि जोतों का विभिन्न सदस्यों के बीच उपविभाजन होना आवश्यक है, किन्तु कृषि का कार्य किसी एक ही व्यक्ति के द्वारा सभी सदस्यों के बदले में किया जाता है। (ग) बिखरी हुई जोतों की चकबन्दी के द्वारा। भारत के

विभिन्न राज्यों में आजकल चकबन्दी के प्रयत्न किये जा रहे हैं तथा इन प्रयत्नों में कुछ सफलता भी मिल रही है। (घ) सहकारी अथवा संयुक्त कृषि के द्वारा। अन्य देशों में इस प्रकार की कृषि-व्यवस्था को विशेष सफलता प्राप्त हुई है। किन्तु इस सम्बन्ध में ध्यान देने योग्य बात यह है कि आर्थिक जोत के निर्माण एवं पुनः विभाजित होने से बचाये रखने के कार्य में बहुत-सी कठिनाइयाँ हैं। अतएव इस कार्य के लिए जोतों की चकबन्दी एवं सहकारी कृषि की स्थापना ही अधिक उपयुक्त जान पड़ती है।

अब उपविभाजन तथा अपखण्डन के दोषों को दूर करने के इन विभिन्न उपायों का निम्नलिखित विवरण प्रस्तुत किया जा रहा है :—

जोतों की चकबन्दी
(Consolidation of Holdings)

अपखण्डन के दोषों को दूर करने का एक सामान्य उपचार जोतों की चकबन्दी (Consolidation of holdings) बताया जाता है। कृषि आयोग (Royal Commission on Agriculture) के अनुसार उपविभाजन एवं अपखण्डन की बुराइयों को दूर करने का केवल एक ही उपाय नजर आता है— वह है 'जोतों की चकबन्दी।' चकबन्दी का अर्थ है "विभिन्न बिखरे हुए टुकड़ों को एक चक या एक स्थान में परिणत करना, यानी अलाभकर जोतों को लाभकर जोतों में परिणत करना।" (By consolidation we mean the bringing together in one compact block all plots of land of a farmer which are scattered all over the village.) इसके द्वारा प्रत्येक किसान की सम्पूर्ण जोत एक स्थान या एक चक में कर दी जायगी। इस प्रकार चकबन्दी के द्वारा किसान को कई बिखरे हुए टुकड़ों के स्थान पर एक ही जगह में सारी भूमि प्राप्त हो जाती है। चकबन्दी के दो तरीके है :—(१) किसानों में परस्पर स्वेच्छापूर्वक सहयोग की भावना के आधार पर, तथा (२) कानून द्वारा चकबन्दी को अनिवार्य बनाकर। सहयोग के द्वारा चकबन्दी का कार्य शीघ्रतापूर्वक नहीं हो पाता। किसान चकबन्दी के लाभों को समझ नहीं पाते जिससे वे न तो अपनी भूमि छोड़ने को तैयार होते हैं और न थोड़ा-बहुत आवश्यक व्यय करने को ही तैयार होते हैं। कहीं-कहीं पर तो जमीन्दार या महाजन भी चकबन्दी के कार्य में रुकावट पैदा करते हैं। अतः कानून के द्वारा चकबन्दी को अनिवार्य बनाना ही उत्तम तरीका होता है। किसान को अपनी पैतृक भू-सम्पत्ति के प्रति मौलिक मोह रहता है जिससे वह उसे बदलना नहीं चाहता। चकबन्दी के मार्ग की ये जो बाधाएँ है उन्हें शिक्षा के प्रचार तथा उचित पथ-प्रदर्शनों के द्वारा दूर किया जा सकता है।

भिन्न-भिन्न राज्यों में चकबन्दी के प्रयत्न :— भारत में सर्वप्रथम १९२०-२१ ई० में पंजाब में श्री कालवर्ट की निगरानी में सहकारी समितियाँ बनाकर प्रचार और प्रेरणा के आधार पर चकबन्दी का कार्य प्रारम्भ किया गया जिसमें पर्याप्त सफलता मिली। इस कार्य को अधिक सफल बनाने के लिए नवम्बर, १९३६ ई० में एक चकबन्दी अधिनियम (Consolidation of Holdings Act) बनाया गया जिसने चकबन्दी की गति को और भी तीव्र बना दिया। इस अधिनियम के अनुसार अल्पसंख्यक व्यक्तियों के विरोध के बावजूद चकबन्दी को अनिवार्य बनाया गया। उत्तर प्रदेश में सहकारी समितियों द्वारा चकबन्दी के अतिरिक्त चकबन्दी को अनिवार्य

बनाने के लिए १९३८ ई० में चकबन्दी अधिनियम बनाया गया। इस अधिनियम के अनुसार गाँव के कम-से-कम आधे स्थायी भू-स्वामी जिनके पास गाँव की कम-से-कम दो-तिहाई भाग भूमि है, अगर भूमि की चकबन्दी के लिए तत्पर हों तो शेष आधे भू-स्वामियों को ऐसा करने के लिए बाध्य होना पड़ेगा। उत्तर प्रदेश में भी सहकारी समितियों द्वारा चकबन्दी का कार्य किया जाता है। १९४९-५० ई० के अन्त में उत्तर प्रदेश में ४२८ सहकारी चकबन्दी समितियाँ थीं जिनके द्वारा लगभग दो लाख एकड़ भूमि की चकबन्दी की गयी थी। इस राज्य में एक नया चकबन्दी अधिनयम, १९५३ ई० में पारित हुआ जो १ अप्रैल, १९५४ ई० से लागू है। इनके अतिरिक्त बम्बई, दिल्ली, पेप्सू, जम्मू तथा कश्मीर, बिहार और उड़ीसा आदि राज्यों में भी चकबन्दी-सम्बन्धी अधिनियम बनाये गये हैं।

प्रथम एवं द्वितीय पंचवर्षीय योजनाओं में भी प्रत्येक राज्य में भूमि की चकबंदी को प्रोत्साहन देने का सुझाव दिया गया था। योजना आयोग ने इस बात की सिफारिश की थी कि सामुदायिक विकास एवं राष्ट्रीय विस्तार सेवा-क्षेत्रों में चकबन्दी को कृषि-विकास कार्यक्रम के अन्तर्गत प्रधानता दी जानी चाहिये। द्वितीय पंचवर्षीय योजना में विभिन्न राज्यों में चकबन्दी-सम्बन्धी कानून बनाये गये। राज्यों की योजनाओं के अनुसार द्वितीय योजना में कुल ४५ करोड़ रुपये के व्यय से १४५ लाख हेक्टर भूमि की चकबन्दी का आयोजन था। किन्तु द्वितीय योजना के अन्त, यानी मार्च, १९६१ ई० तक केवल १२०·५ लाख हेक्टर भूमि में ही चकबंदी का कार्य पूरा हो सका था। इसमें से पंजाब में ६० लाख हेक्टर, मध्य प्रदेश में १५·६ लाख हेक्टर, उत्तर प्रदेश में १२ लाख हेक्टर तथा महाराष्ट्र में ६ लाख हेक्टर भूमि की चकबन्दी हुई थी।[1]

तृतीय योजनाकाल में कुल ११३ लाख हेक्टर भूमि की चकबन्दी का आयोजन था जबकि योजनाकाल में १२० लाख हेक्टर भूमि में चकबन्दी का कार्य पूरा हुआ। इस समय तक जितनी भूमि की चकबन्दी हुई उसमें से अधिकांश भूमि पंजाब, हरियाणा, उत्तर प्रदेश, राजस्थान तथा महाराष्ट्र राज्यों में है। अन्य राज्यों में चकबन्दी की प्रगति संतोषजनक नहीं है। इस मद में तृतीय योजनाकाल में १९ करोड़ रुपये व्यय किया गया।

१९६८-६९ के अन्त तक देश में कुल २९५·७ लाख हेक्टर भूमि की चकबन्दी हो गयी थी। हरियाणा तथा पंजाब राज्यों में चकबन्दी का कार्य प्रायः समाप्त हो गया है। **चतुर्थ पंचवर्षीय योजना** (Fourth Five Year Plan) में ९४·२ लाख हेक्टर अतिरिक्त भूमि में चकबन्दी का आयोजन है। इसके लिए योजना काल में कुल व्यय २८·४ करोड़ रुपये रखा गया है।

इस प्रकार अधिकांश राज्यों में चकबन्दी की प्रगति संतोषजनक नहीं है। अब समय आ गया है जबकि चकबन्दी को अनिवार्य बनाया जाय क्योंकि जब तक उपविभाजन एवं अपखण्डन को दूर नहीं किया जायगा तब तक भारतीय कृषि में स्थायी सुधार लाना सम्भव नहीं है। लेकिन राज्यों को इस प्रयत्न में विशेष सावधानी से काम लेना चाहिए। साथ ही, इसके प्रचार का पूरा-पूरा प्रयत्न होना चाहिए तथा चकबन्दी की योजना का प्रारम्भिक व्यय राज्यों को ही वहन करना चाहिए। किन्तु, चकबन्दी इस समस्या का एक स्थायी उपचार नहीं है। जब तक हमारे देश में उपविभाजन के कारण वर्तमान रहेंगे तब तक जोतों के उपविभाजन की समस्या ज्यों-कि-त्यों बनी

1. Fourth Plan : p. 188.

रहेगी। पंजाब एवं हरियाणा के चकबन्दी-सम्बन्धी अधिनियमों में इस प्रकार की व्यवस्था की गयी है कि एक न्यूनतम क्षेत्र के बाद जोतों का उपविभाजन नहीं किया जा सकता। इस न्यूनतम क्षेत्र को 'आदर्श जोत' कहा जाता है जिसे प्रत्येक जिले के लिए उसकी परिस्थितियों को ध्यान में रखकर निश्चित किया जाता है।

(२) **सामूहिक कृषि** (Collective Farming) :—जोतों के उपविभाजन तथा अपखण्डन के दोषों को दूर करने का एक उपाय देश की सम्पूर्ण भूमि का राष्ट्रीयकरण भी है। राष्ट्रीयकरण के बाद सब भूमि को बड़े-बड़े टुकड़ों में बाँट कर उसमें सामूहिक ढंग से कृषि की जायगी। इस प्रकार भूमि पर से व्यक्तिगत स्वामित्व का अन्त हो जायगा और उस पर समाज का स्वामित्व स्थापित हो जायगा। रूस तथा चीन में इसके द्वारा कृषि की उपज में बहुत अधिक वृद्धि हुई है। किन्तु यह व्यवस्था निश्चय ही क्रांतिकारी होगी और इसे अपनाने के लिए देश के सामाजिक एवं आर्थिक संगठन में आमूल परिवर्तन लाना होगा जो अभी शायद सम्भव नहीं है। अतः यह कहा जा सकता है कि यह प्रथा आज की परिस्थितियों के लिए सर्वथा अनुपयुक्त है।

(३) **सहकारी कृषि** (Co-operative Farming) :—सहकारी कृषि-व्यवस्था की स्थापना द्वारा भी हम उपविभाजन तथा अपखण्डन के दोषों को दूर कर सकते हैं। इसके द्वारा व्यक्तिगत स्वामित्व को रखते हुए भी बड़े पैमाने पर खेती की जा सकती है। इस पद्धति में कृषि का कार्य सहकारी समितियों द्वारा होगा। इस व्यवस्था के द्वारा कृषि में आधुनिक वैज्ञानिक यन्त्रों का प्रयोग किया जा सकता है। हमारे देश के कुछ भागों में इस प्रकार की व्यवस्था कायम करने का प्रयास भी किया गया है। वास्तव में, यह व्यवस्था भारत के लिए सबसे अधिक उपयुक्त है। इसीलिए पंचवर्षीय योजनाओं में भी सहकारी कृषि-व्यवस्था को भारतीय कृषि-व्यवस्था का अन्तिम उद्देश्य माना गया है।

(४) **संयुक्त ग्राम-व्यवस्था** (Joint Village Management) :—उपविभाजन तथा अपखण्डन की समस्या को सुलझाने के लिए श्री तारलोक सिंह ने एक नया सुझाव दिया है। इनका प्रस्ताव है कि गाँव की सम्पूर्ण भूमि संयुक्त प्रबन्ध तथा कृषि के लिए ले ली जाय। गाँव वाले इस प्रकार अपनी भूमि को मिलाकर स्वयं कृषि की व्यवस्था करें तथा उपज का वितरण भी उन्हीं के हाथ में रहे। इस प्रकार भूमि के समस्त वर्तमान अधिकार तथा पैतृक सम्पत्ति के मान्य एवं चिर-स्थायी नियम पूर्ववत् एवं सुरक्षित रहेंगे। यह योजना जनतन्त्रात्मक है तथा इसके द्वारा शांतिपूर्ण तरीके से परिवर्तन किया जा सकता है। लेकिन इसकी सफलता इसके प्रयोग के बाद ही कही जा सकती है।

(५) **उत्तराधिकार तथा पैतृक सम्पत्ति के कानून में परिवर्तन** :—भूमि के उपविभाजन को रोकने के लिए पैतृक सम्पत्ति तथा उत्तराधिकार के नियम में इस प्रकार से परिवर्तन लाना आवश्यक है जिससे कि भू-सम्पत्ति का अधिकार पिता के पश्चात् सबसे बड़े लड़के को ही मिले। लेकिन आज की स्थिति में अधिकांश लोगों को यह परिवर्तन मान्य नहीं होगा। साथ ही, दूसरे उत्तराधिकारियों के लिए रोजगार की व्यवस्था भी करनी होगी। देश में उद्योग-धन्धों के अभाव में इस परिवर्तन के कारण बेकारी की समस्या बढ़ती ही जायगी। इससे समाज में भूमि-हीन वर्ग की संख्या में भी वृद्धि होगी। किन्तु, फिर भी यह व्यवस्था की जा सकती है कि एक न्यूनतम क्षेत्र से कम की जोतों का विभाजन नहीं हो सकता एवं इस प्रकार परिवार के सदस्यों को उस पर संयुक्त रूप से कृषि करने के लिए बाध्य किया जा सकता है।

(६) **भूमि की आर्थिक इकाई को निश्चित करना** :—कानून द्वारा यह निश्चित कर दिया जाय कि भूमि का उपविभाजन केवल आर्थिक जोतों में ही हो सकता है। कृषि-व्यवस्था में स्थायी सुधार लाने के लिए यह आवश्यक जान पड़ता है। योजना आयोग ने भी सभी राज्यों द्वारा आर्थिक जोत निर्धारित करने का प्रस्ताव दिया है। सरकार द्वारा आर्थिक जोत की सीमा निर्धारित कर दी जाय और किसी भी व्यक्ति को आर्थिक जोत से छोटे टुकड़ों में जोतों को विभाजित करने का अधिकार नहीं दिया जाय। अधिकांश राज्यों में इस प्रकार के अधिनियम तैयार किये गये हैं।

आर्थिक जोत
(Economic Holding)

हमारे देश में आर्थिक जोतों के निर्माण पर आजकल बहुत जोर दिया जा रहा है। किन्तु आर्थिक जोत कहते किसे हैं? इसकी अनेक परिभाषाएँ दी गयी हैं। उदाहरण के लिए, डाक्टर मन्न के अनुसार आर्थिक जोत उस जोत को कहते हैं जिससे एक औसत परिवार का निर्वाह संतोषजनक तरीके से हो सके। कीटिंग के अनुसार आर्थिक जोत उस जोत को कहा जाता है जिससे कृषि-कार्यों का आवश्यक व्यय निकाल देने के बाद किसान अपने परिवार के निर्वाह के लिए पर्याप्त मात्रा में उत्पादन कर सके। दूसरे शब्दों में, "**आर्थिक जोत उस जोत को कहते हैं जिसपर कृषि से एक परिवार का भरण-पोषण किसी बाह्य सहायता के बगैर उचित तरीके से हो सके।**" (An economic holding consists of that area of land, the cultivation of which enables a family of farmers to enjoy a reasonable standard of living without help from outside sources.)

वास्तव में, भारत में आर्थिक जोत के आकार के सम्बन्ध में कोई निश्चित कथन सम्भव नहीं है। विभिन्न प्रदेशों की आर्थिक जोत एक समान नहीं हो सकती। जो क्षेत्र एक प्रदेश के लिए आर्थिक जोत समझा जाता है वह दूसरे प्रदेश के लिए आर्थिक नहीं भी हो सकता। कीटिंग महोदय के अनुसार सूरत जिले में एक माली ३ एकड़ से ही अपने परिवार का पोषण कर सकता है जबकि दक्षिण के शुष्क भागों में खराब मिट्टी वाली ३० एकड़ भूमि भी एक परिवार के लिए अपर्याप्त ही सिद्ध होगी। इस प्रकार आर्थिक जोत एक सापेक्षिक शब्द है तथा विभिन्न परिस्थितियों द्वारा निर्धारित होती है जिनमें कृषि की प्रणाली, भूमि की उर्वरा-शक्ति, फसलों का स्वभाव, सहकारिता का विकास तथा यातायात एवं संवादवाहन की सुविधाएँ आदि प्रमुख हैं। यदि खेती का तरीका प्राचीन है तो कम भूमि और यदि आधुनिक है तो अधिक भूमि आर्थिक जोत के लिए आवश्यक है। इसी प्रकार, सहकारी कृषि के लिए आर्थिक जोत का क्षेत्रफल बड़ा होना अनिवार्य है। फसलों के स्वभाव पर भी आर्थिक जोत का आकार निर्भर करता है। अधिक उर्वर भूमि में आर्थिक जोत का आकार छोटा तथा कम उर्वर भूमि में बड़ा होगा।

कांग्रेस कृषि-सुधार समिति ने कृषि-जोत के आकार को निर्धारित करने के लिए तीन मानदण्ड प्रस्तावित किये थे—

(१) **जीवन-स्तर** :—यानी जोतों का आकार इतना होना चाहिए जिससे कि एक कृषक परिवार को यथोचित जीवन-स्तर बनाये रखने के लिए पर्याप्त मात्रा में उपज प्राप्त हो सके।

(२) **रोजगार** :—यानी जोत का आकार इतना होना चाहिए कि इससे एक सामान्य परिवार तथा बैलों की एक जोड़ी को पूरे समय के लिए काम उपलब्ध हो सके।

(३) **तकनीकी सुविधाएँ** :—यानी आर्थिक जोत के निर्धारण में प्रत्येक क्षेत्र की कृषि-प्रणाली तथा तकनीकी व्यवस्था को ध्यान में रखना चाहिए।

अतः आर्थिक जोत का निर्धारण एक विवादग्रस्त विषय है। फिर भी, उक्त बातों को ध्यान में रखते हुए हम कह सकते हैं कि "**आर्थिक जोत वह जोत है जिस पर एक औसत परिवार के श्रम और पूँजी का आदर्श तरीके से अधिकतम उपयोग सम्भव हो तथा परिवार के सदस्यों का भरण-पोषण भी संतोषजनक न्यूनतम जीवन-स्तर के अनुकूल हो सके।**"

इस प्रकार उपरोक्त उपायों द्वारा जोतों के उपविभाजन तथा अपखण्डन को रोका जा सकता है। किन्तु भारतीय कृषि के इस मौलिक दोष को दूर करने का सबसे अच्छा तरीका सहकारी कृषि है। सहकारी कृषि की विशेषताओं के अध्ययन के पूर्व कृषि-व्यवस्था के विभिन्न रूपों की जानकारी आवश्यक है।

कृषि-व्यवस्था के विभिन्न रूप
(Different Forms of Cultivation)

संसार में आजकल कृषि-व्यवस्था के अनेक रूप पाये जाते हैं, जिनमें निम्नलिखित प्रमुख हैं :—

१. व्यक्तिगत कृषि-व्यवस्था (Individual Farming);
२. पूँजीवादी कृषि-व्यवस्था (Capitalistic Farming);
३. राजकीय कृषि-व्यवस्था (State Farming);
४. सामूहिक कृषि-व्यवस्था (Collective Farming); तथा
५. सहकारी कृषि-व्यवस्था (Co-operative Farming)।

(१) **व्यक्तिगत कृषि-व्यवस्था** (Individual farming) :—इस व्यवस्था में व्यक्ति अपनी जमीन या किराये की जमीन पर अपने साधनों से कृषि कार्य करता है। भारत में इस प्रकार की कृषि-व्यवस्था ही अधिकतर प्रचलित है। इसमें किसान बिना किसी बाह्य हस्तक्षेप के स्वतन्त्रतापूर्वक कार्य करता है। इसका सबसे बड़ा गुण यह है कि इससे कृषक के व्यक्तित्व का विकास होता है तथा उसमें प्रेरणा, उत्साह, साहस, जिम्मेदारी एवं कठिन परिश्रम आदि गुणों का विकास होता है। इसमें किसान का शोषण नहीं होता। लेकिन यह व्यवस्था बहुत ही दोषपूर्ण है क्योंकि साधारणतः एक व्यक्ति के साधन सीमित होते हैं जिससे इस व्यवस्था में किसानों को पर्याप्त सफलता नहीं मिल पाती। साथ ही, इस व्यवस्था में कृषि के आधुनिक तरीकों का प्रयोग भी नहीं हो सकता तथा बड़े पैमाने की कृषि का लाभ नहीं उठाया जा सकता है। भूमि के विभाजन का अधिकार होने से इसका उपविभाजन एवं अपखण्डन होने लगता है। इससे गैर-आर्थिक जोतें हो जाती हैं जिनका कृषि तथा किसान दोनों पर हानिकारक प्रभाव पड़ता है।

(२) **पूँजीवादी कृषि-व्यवस्था** (Capitalistic farming) :—**इस प्रकार की कृषि-व्यवस्था** इंगलैंड तथा अमेरिका में अधिक प्रचलित है। भारत में भी चाय, कहवा तथा रबर के बगानों में इसी प्रकार की कृषि-व्यवस्था पायी जाती है। दक्षिणी भारत में गन्ने की खेती में भी बड़े-बड़े फार्म पाये जाते हैं। इस व्यवस्था में भूमि पर व्यक्तियों, सिण्डीकेटों अथवा सम्मिलित पूँजी की कम्पनियों का अधिकार रहता है तथा वे ही इसके प्रबन्धकर्त्ता भी होती हैं। इनमें उत्पादन के

आधुनिक तरीकों—उत्तम बीज, अच्छी खाद तथा बड़े-बड़े यन्त्रों का उपयोग किया जाता है। इस व्यवस्था के अन्तर्गत पूँजीपति भूमि पर वैज्ञानिक ढंग से बड़े पैमाने पर कृषि-कार्य करते हैं। अतः इस प्रकार की कृषि में अधिक उत्पादन तथा भूमि का सदुपयोग सम्भव होता है। लेकिन भारत की वर्तमान स्थिति में इस प्रकार की कृषि-व्यवस्था हितकर नहीं सिद्ध होगी क्योंकि इस व्यवस्था में भूमि पर थोड़े ही व्यक्तियों का अधिकार हो जायगा तथा देश में भूमिहीन वर्ग की संख्या में वृद्धि हो जायगी। साथ ही, यन्त्रों के अधिकाधिक उपयोग से बेकारी के बढ़ने का भय बना रहेगा। अतः आज की स्थिति में भारत के लिए यह व्यवस्था उपयुक्त नहीं होगी।

(३) **राजकीय कृषि-व्यवस्था** (State farming) :—इस व्यवस्था के अन्तर्गत राज्य का अधिकार फार्म पर रहता है तथा कृषि की व्यवस्था वेतनभोगी कर्मचारियों के द्वारा की जाती है। अतः इस व्यवस्था में कृषि की सफलता मुख्यतः सरकारी कर्मचारियों की योग्यता पर निर्भर करती है। रूस में इस प्रकार के फार्म प्रारम्भ में स्थापित किये गये थे, लेकिन कर्मचारियों की अयोग्यता तथा मजदूरों में उत्साह के अभाव के कारण इन्हें वहाँ पर्याप्त सफलता नहीं प्राप्त हो सकी। भारत में भी कुछ स्थानों में राजकीय फार्म हैं जहाँ कृषि-सम्बन्धी अनुसंधान का कार्य होता है। जहाँ नयी भूमि कृषि-योग्य बनायी गयी है वहाँ भी कुछ स्थानों में राजकीय फार्म स्थापित किये गये हैं। इन फार्मों में आधुनिक तरीकों से कृषि-कार्य किया जाता है। भारत में भी इस प्रकार की कृषि-व्यवस्था के सफल होने की बहुत कम आशा है। साथ ही, राजकीय फार्मों में सरकारी कर्मचारियों के अतिरिक्त और सभी लोग मजदूर की ही गिनती में रहते हैं। अतः राजकीय कृषि-व्यवस्था हमारे देश के लिए उपयुक्त नहीं कही जा सकती।

(४) **सामूहिक कृषि-व्यवस्था** (Collective farming) :—सामूहिक कृषि-व्यवस्था में भूमि पर व्यक्तिगत या निजी स्वामित्व नहीं रहता वरन् भूमि, पूँजी तथा पशु—सभी पर समाज का अधिकार रहता है। राज्य द्वारा समस्त भूमि का सामाजीकरण हो जाता है। गाँव की सभी जोतों को एक में मिला दिया जाता है तथा आधुनिक तरीकों से खेती की जाती है। रूस तथा फिलिस्तीन (Patestine) में यह व्यवस्था अधिक प्रचलित है तथा उन देशों में इसे पर्याप्त सफलता भी मिली है। इसमें खेती एक निर्वाचित समिति या कॉरपोरेशन की देख-रेख में होती है। यह समिति हरेक आवश्यक कार्यों का प्रबन्ध भी करती है।

किन्तु भारत के लिए वर्तमान स्थिति में सामूहिक कृषि-व्यवस्था उपयुक्त नहीं जान पड़ती। इस प्रकार की कृषि-व्यवस्था का सबसे बड़ा दोष यह है कि इसमें किसान की व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का पूर्ण लोप हो जाता है और वे समाज-रूपी विशाल यंत्र के निष्प्राण पुर्जे की तरह हो जाते हैं। अतएव यह एक क्रांतिकारी प्रणाली है तथा इसके लिए देश की सामाजिक व्यवस्था में आमूल परिवर्तन लाने होंगे। देश में कृषक अपनी भूमि से अपना अधिकार नहीं छोड़ना चाहते हैं। आज-कल भारत सरकार का उद्देश्य प्रजातांत्रिक सामाजिक व्यवस्था का निर्माण है। लेकिन हमारे समाजवाद में ऐसी कृषि-व्यवस्था की प्रधानता होनी चाहिए जिसमें किसानों की व्यक्तिगत स्वतन्त्रता बनी रहे। अतः भारत की वर्तमान परिस्थितियों को देखते हुए कहा जा सकता है कि सामूहिक कृषि यहाँ सम्भव नहीं है।

सहकारी कृषि-व्यवस्था
(Co-operative Farming)

सहकारी कृषि-व्यवस्था सामूहिक तथा व्यक्तिगत कृषि के बीच का समझौता है। डॉ० **ओटो शिलर** (Otto Schiller) के अनुसार "**सहकारी कृषि कृषि-व्यवस्था का वह रूप है जिसमें भूमि का प्रयोग संयुक्त रूप में किया जाता है।**" (Co-operative Farming is understood as a form of farm management in which the land is used jointly.) इसी प्रकार १९५९ ई० में निजलिंगप्पा समिति ने अपने प्रतिवेदन में सहकारी कृषि की परिभाषा इस प्रकार से दी थी: "सहकारी कृषि-समिति कृषकों का एक ऐच्छिक संगठन है जिसमें मानव-शक्ति एवं भूमि जैसे साधन एकत्र किये जाते हैं जिससे उनका अच्छा प्रयोग हो सके। इसमें अधिकांश सदस्य कृषि में भाग लेते हैं जिससे उत्पादन, रोजगार तथा आय बढ़ती है। इस प्रकार की व्यवस्था में किसान आपस में मिलकर खेती करते हैं। इसमें व्यक्ति का अपनी भूमि पर व्यक्तिगत अधिकार बना रहता है, लेकिन खेती संयुक्त रूप से की जाती है।" **प्रजातांत्रिक तरीके की सहकारी कृषि-व्यवस्था की निम्नलिखित प्रधान विशेषताएँ हैं—**

(क) सभी सदस्य की भूमि को मिलाकर एक इकाई का रूप दिया जाता है।

(ख) प्रत्येक सदस्य को अपनी भूमि पर पूरा-पूरा अधिकार रहता है। दूसरे शब्दो में, इसमें व्यक्तिगत स्वामित्व (ownership) का अन्त नहीं होता।

(ग) खेती का प्रबन्ध संयुक्त रूप से किया जाता है।

(घ) सदस्यों को उनके कार्य के बदले में पारिश्रमिक दिया जाता है।

(च) पारिश्रमिक देने के बाद कुल लाभांश में से सुरक्षित कोष का अंश निकाल कर शेष सदस्यों के बीच विभाजित किया जाता है।

सहकारी कृषि-व्यवस्था के द्वारा छोटे-छोटे किसान भी अपनी भूमि पर व्यक्तिगत स्वामित्व को रखते हुए बड़े पैमाने की कृषि के लाभों को प्राप्त कर सकते हैं। साथ ही, इसके द्वारा खेती, पूँजी और श्रम के सभी साधनों को एकत्रित कर उनका समुचित उपयोग किया जा सकता है। महात्मा गाँधी का इस सम्बन्ध में यह कहना था कि "सहकारी कृषि के बगैर किसान कृषि के लाभ का पूरा-पूरा उपयोग नहीं कर सकते।" (I firmly believe that we shall not derive the full benefits of agriculture until we take to co-operative farming.)

सहकारी कृषि-व्यवस्था सामान्यतः निम्नलिखित चार प्रकार की होती हैं :—

(क) सहकारी संयुक्त कृषि-व्यवस्था (Co-operative Joint Farming) :—इस प्रकार की समितियाँ सदस्यों की छोटी-छोटी जोतों को मिलाकर एक इकाई में परिणत करती हैं। लेकिन प्रत्येक सदस्य का अपनी भूमि पर व्यक्तिगत अधिकार ज्यों-का-त्यों बना रहता है। ये समितियाँ स्वयं अपने फार्मों में खेती की व्यवस्था करती हैं। इस प्रकार इस व्यवस्था के अन्तर्गत बड़े पैमाने पर कृषि के प्रायः सभी लाभ प्राप्त होते हैं। यह व्यक्तिगत स्वामित्व और सामूहिक कृषि की प्रणाली है।

(ख) उन्नततर सहकारी कृषि-व्यवस्था (Co-operative Better Farming) :—इस प्रकार की कृषि-व्यवस्था के अन्तर्गत किसान अपनी खेती का प्रबन्ध स्वयं करते हैं। समिति

केवल इन्हें खेती के तरीकों में सुधार के उद्देश्य से अच्छे बीज, अच्छी खाद, आधुनिक औजार तथा सिंचाई आदि की व्यवस्था करती है। साथ ही, सदस्यों के उत्पादित मालों को एकत्र कर उनके विक्रय की व्यवस्था भी ये समितियाँ स्वयं करती है। इस प्रथा को सेवा-सहकारिता (Service Co-operatives) भी कहा जाता है।

(ग) सहकारी काश्तकारी कृषि-व्यवस्था (Co-operative Tenant Farming) :—इस व्यवस्था के अन्तर्गत भूमि को कई टुकड़ों में विभाजित किया जाता है और प्रत्येक टुकड़ा एक किसान को दे दिया जाता है। प्रत्येक किसान समिति द्वारा निर्धारित योजना के अनुसार खेती करता है। ये समितियाँ उन्हीं स्थानों के लिए अधिक उपयुक्त होती हैं जहाँ नयी भूमि को कृषि-योग्य बनाया गया हो। इस प्रणाली में कृषि की योजना तो सामूहिक रूप से बनती है, किन्तु उसका कार्यान्वयन व्यक्तिगत रूप से होता है।

(घ) सहकारी सामूहिक कृषि-व्यवस्था (Co-operative Collective Farming) :—इस व्यवस्था में सामूहिक स्वामित्व और सामूहिक कार्य-सचालन दोनों का समावेश रहता है। इसके अन्तर्गत समिति स्वयं भूमि का मालिक होती है तथा कृषि की व्यवस्था करती है। सदस्यों को उनकी मजदूरी दी जाती है तथा उसी अनुपात में लाभांश का भी वितरण किया जाता है। प्रत्येक सदस्य को समिति से सम्बन्ध विच्छेद करने की स्वतन्त्रता रहती है तथा उनकी पूँजी भी वापस की जा सकती है। इस प्रकार की समितियों का निर्माण अभी तक हमारे देश मे नहीं हो पाया है।

सहकारी कृषि-व्यवस्था हमारे देश की वर्त्तमान परिस्थितियो के लिए अति उपयुक्त है। इसके द्वारा उपविभाजन एवं अपखण्डन की सारी बुराइयो को दूर कर देश की कृषि-व्यवस्था को सुदृढ़ आधार पर संगठित किया जा सकता है। देश की भूमि, श्रम एवं पूँजी को एकत्र कर उनका समुचित विकास किया जा सकता है। इससे छोटे-छोटे किसान भी वृहत् पैमाने की कृषि के लाभों को प्राप्त कर सकते है।

भारत में सहकारी कृषि के बहुत-से उद्देश्य हैं। हमारे भूतपूर्व प्रधान मंत्री श्री जवाहरलाल नेहरू के शब्दों में सहकारी **कृषि-व्यवस्था के निम्नलिखित प्रधान लाभ हैं :—**

(१) सहकारिता के आधार पर कृषि से उत्पादन में वृद्धि होगी;
(२) ग्रामीण जनता की गरीबी दूर होगी, ग्रामवासियों में इससे एक नया जीवन एवं एक नयी आशा का संचार होगा;
(३) सहकारी कृषि से वर्ग-हीन समाज (Classless society) की रचना में सुविधा होगी;
(४) खाद्यान्नों के राजकीय व्यापार (State trading in Foodgrains) को बल मिलेगा एवं जोतों की अधिकतम सीमा के निर्धारण में भी सहायता मिलेगी; तथा
(५) इससे उपविभाजन एवं अपखण्डन की बुराइयाँ भी दूर होंगी एवं वैज्ञानिक कृषि के लिए मार्ग को प्रशस्त बनाया जा सकता है।

भारत में सहकारी कृषि की प्रगति

(Progress of the Co-operative Farming in India)

भारत में सहकारी कृषि-व्यवस्था को अपनाने के लिए सरकार द्वारा पूरा प्रयास किया जा रहा है। पंचवर्षीय योजनाओं में भूमि-सुधार का अन्तिम उद्देश्य सहकारी ग्राम-व्यवस्था की

स्थापना माना गया है। इस उद्देश्य से योजना काल में विशेष रूप से प्रचार भी किया जा रहा है। देश के विभिन्न राज्यों में सहकारी कृषि-व्यवस्था की स्थापना का प्रयास भी किया जा रहा है। महाराष्ट्र, उत्तर प्रदेश तथा पंजाब में बहुत अधिक सहकारी फार्म स्थापित किये गये हैं। बिहार में सहकारी गन्ना समितियाँ कई वर्षों से यह कार्य कर रही हैं। सरकार द्वारा भी इन समितियों की स्थापना के लिए बहुत अधिक सहायता दी जा रही है। मार्च, १९६८ ई० के अन्त तक देश में कुल ८,५८२ सहकारी कृषि-समितियाँ थीं जिनकी सदस्य-संख्या २,१४,४०० थी तथा जिनके द्वारा कुल ११ लाख एकड़ भूमि में खेती की जाती थी।

प्रथम अखिल भारतीय सहकारी काँग्रेस ने फरवरी, १९५२ ई० में यह प्रस्ताव स्वीकार किया कि राज्य एवं सहकारिता आन्दोलन द्वारा सहकारी कृषि के संगठन का यथासंभव प्रयास करना चाहिए। योजना आयोग भी सहकारी कृषि को यथासम्भव विकसित करने के पक्ष में था। इन उद्देश्यों से योजना आयोग द्वारा प्रथम पंचवर्षीय योजनाकाल में निम्नलिखित सुझाव दिये गए थे :—

(१) प्रत्येक सहकारी कृषि-फार्म के लिए परिस्थितियों के अनुसार न्यूनतम भूमि की मात्रा निर्धारित करनी चाहिए।

(२) सरकार द्वारा वित्त तथा तकनीकी सहायता प्रदान करने में सहकारी कृषि-समितियों को प्राथमिकता प्रदान करनी चाहिए।

(३) नयी भूमि पर कृषि-व्यवस्था करते समय सहकारी कृषि-समितियों को ही प्राथमिकता दी जानी चाहिए। साथ ही, बंजर-भूमि को कृषि-योग्य बनाने के लिए भी उचित सहायता देनी चाहिए।

(४) यदि किसी गाँव के अधिकांश किसान, जिनके पास कुल कृषि-योग्य भूमि का कम-से-कम आधा भाग हो, सहकारी कृषि-फार्म स्थापित करना चाहें तो उन्हें ऐसी कानूनी सुविधा होनी चाहिये जिससे कि सम्पूर्ण गाँव के लिए सहकारी कृषि-व्यवस्था की स्थापना की जा सके।

जुलाई, १९६५ ई० में भारत सरकार ने चीन की सहकारी कृषि-व्यवस्था के अध्ययन के लिए श्री० एस० के० पाटिल के नेतृत्व में एक भारतीय प्रतिनिधि मण्डल को चीन भेजा था। मण्डल के सुझाव देश में सहकारी कृषि-व्यवस्था के निर्माण के लिए निश्चय ही महत्त्वपूर्ण है। चीन में आर्थिक विकास के लिए योजना तैयार करने में समान्यतः रूस का ही अनुकरण किया गया है, किन्तु कृषि के क्षेत्र में रूस की तरह सामूहिक कृषि को नहीं अपना कर चीन में सहकारी कृषि-व्यवस्था पर अधिक जोर दिया गया है। फिर भी, चीन में सामूहिक कृषि की भावना का पूर्णतः अभाव नहीं है क्योंकि अन्ततः सहकारी कृषि-समितियाँ वहाँ भी सामूहिक कृषि-व्यवस्था में ही परिणत कर दी जायँगी। चीन में सहकारी कृषि की स्थापना में वहाँ की कम्युनिस्ट पार्टी का महत्त्वपूर्ण सहयोग रहा है। प्रारम्भ में चीन में केवल १९ उत्पादक सहकारी समितियों द्वारा सहकारिता आन्दोलन का कार्य प्रारम्भ हुआ। किन्तु मई, १९५६ ई० तक सम्पूर्ण चीन में एक करोड़ से भी अधिक सहकारी कृषि-समितियाँ संगठित की जा चुकी थीं जिसके सदस्य ग्रामीण क्षेत्र के प्रायः ९१ प्रतिशत परिवार थे। हमारे देश में राजनीतिक दल इस आन्दोलन की प्रगति में महत्त्वपूर्ण सहयोग प्रदान कर सकते है। चीन की ही तरह हमारे देश में भी सहकारी कृषि-व्यवस्था से कृषी की उपज में पर्याप्त वृद्धि की जा सकती है।

1—India—1971-72.

नागपुर प्रस्ताव एवं भूमि-सुधार की नयी रूप-रेखा :—जनवरी, १६५१ ई० में नागपुर काँग्रेस अधिवेशन में काँग्रेस दल ने संयुक्त सहकारी कृषि (Joint Co-operative Farming) को कृषि-सुधार के अन्तिम लक्ष्य के रूप में स्वीकार किया। भारतीय संसद् ने भी मार्च, १६५६ ई० में एक प्रस्ताव द्वारा नागपुर प्रस्ताव को स्वीकृति प्रदान की। संसद् ने इस आशय का प्रस्ताव स्वीकार किया कि आगामी तीन वर्षों में संयुक्त सहकारी कृषि के प्रथम चरण के रूप में सेवा सहकारिता (Service Co-operatives) की स्थापना पर जोर दिया जाय। किन्तु, सेवा सहकारिता से हमारा तात्पर्य क्या है ? सेवा सहकारिता किसानों के उस संगठन को कहते हैं जो किसानों के लिए बीज, अच्छी खाद तथा कृषि-सम्बन्धी औजारों की व्यवस्था करेगी। किन्तु इस प्रकार की समितियों की स्थापना में निस्सन्देह कठिनाई होगी। सेवा सहकारिता के संगठन के लिए पर्याप्त मात्रा में सुयोग्य व्यक्तियों को प्राप्त करने में भी कठिनाई होगी। इसमें कोई सन्देह नहीं कि इन कठिनाइयों को दूर किया जा सकता है; किन्तु इसमें बहुत अधिक सावधानी की आवश्यकता होगी। साथ ही, इसमें समय भी बहुत अधिक लगेगा।

भारतीय काँग्रेस का उद्देश्य सहकारी कृषि के अन्तर्गत कृषि के सम्पूर्ण अंगों को लाना है। इस प्रस्ताव में इस बात पर भी जोर दिया गया है कि १६६६ के अन्त तक प्रत्येक राज्य में जोतों की सीमा-निर्धारण का कार्य पूरा हो जाना चाहिए और इस प्रकार सीमा-निर्धारण के फलस्वरूप जो अतिरिक्त भूमि बचेगी उसकी व्यवस्था पंचायत के जिम्मे रहेगी और उस पर भूमि-हीन व्यक्तियों की सहकारी समितियों द्वारा कृषि की जायगी। इस प्रस्ताव के अनुसार किसानों की भूमि को एक जगह एकत्र करके सहकारिता के अन्तर्गत लाया जायगा। भूमि पर उसका व्यक्तिगत स्वामित्व ज्यों-का-त्यों बना रहेगा तथा इसके लिए किसानों को Share Certificates दिये जायँगे। भूमि पर सहकारी समितियों द्वारा संयुक्त रूप से वैज्ञानिक ढंग से कृषि की जायगी। उपज का एक हिस्सा प्रत्येक किसान को उसकी भूमि के आधार पर दिया जायगा तथा शेष उपज का वितरण उनके द्वारा किये गये श्रम के आधार पर किया जायगा। इससे बहुत अधिक लाभ की आशा की जाती है। सहकारी कृषि से उपज में वृद्धि होगी जिससे बाजार में आनेवाली अतिरिक्त उपज (Marketable Surplus) की मात्रा बढ़ेगी। इससे औद्योगीकरण को बल मिलेगा तथा विदेशी मुद्रा की प्राप्ति होगी। इस प्रकार जो अतिरिक्त पूँजी का निर्माण होगा उससे गाँव के विकास की योजनाएँ कार्यान्वित की जा सकती हैं।

जून, १६५६ में भारत सरकार ने सहकारी कृषि-व्यवस्था के विस्तार के सम्बन्ध में एक कार्यक्रम तैयार करने के लिए एक समिति नियुक्त की थी जिसने अपना सुझाव फरवरी, १६६० में दिया। समिति ने सहकारी कृषि-व्यवस्था की स्थापना के पूर्व की जानेवाली प्रारम्भिक कार्रवाइयों के सम्बन्ध में विस्तृत रूप से सुझाव दिया है। साथ ही, सुझाव के रूप में कहा गया था कि अगले चार वर्षों में प्रत्येक जिले के एक-एक खण्ड में सहकारी कृषि-व्यवस्था की स्थापना की जाय।

किन्तु भारत में सहकारी कृषि-व्यवस्था की स्थापना में बहुत-सी कठिनाइयाँ हैं। सर्वप्रथम यहाँ गावों में आज भी व्यक्तिगत भावना की प्रधानता है। अतः किसान शीघ्र इस प्रकार के सामूहिक कार्य के लिए तत्पर नहीं होते। साथ ही, इससे अप्रजातांत्रिक (Anti-democratic) शक्तियों को बल मिलेगा। इन्हीं कारणों से श्री मसानी, के० एम० मुन्शी तथा राजाजी जैसे विद्वानों ने सहकारी कृषि के विरुद्ध आशंका प्रकट की है। काँग्रेस दल के कुछ प्रमुख व्यक्तियों ने भी

सहकारी कृषि के विरुद्ध आवाज उठायी है। इन लोगों के अनुसार इससे भारतीय परम्परा समाप्त हो जायगी तथा पारिवारिक बन्धन अस्त-व्यस्त हो जायँगे। राजा जी की राय में इस प्रकार की कृषि-व्यवस्था से व्यक्ति, जोत तथा परिवार तीनों की स्वतन्त्रता (Freedom of man, freedom of the farm and family) समाप्त हो जायगी। किन्तु हमारे भूतपूर्व प्रधान मन्त्री पं० नेहरू इनकी आलोचना से सहमत नहीं थे। इनके अनुसार यह सोचना कि सहकारी कृषि आगे चलकर सामूहिक कृषि के रूप में परिणत हो जायगी, बिल्कुल तथ्यहीन जान पड़ता है। साथ ही, सहकारी कृषि को रूस आदि देशों की कृषि की बुराइयों के आधार पर नहीं देखना चाहिए क्योंकि हमारी राजनीतिक व्यवस्था उन देशों से सर्वथा भिन्न है। सरकार ने सहकारी कृषि की उपलब्धियों तथा कठिनाइयों की जाँच के लिए प्रो० डी० आर० गैडगिल की अध्यक्षता में एक समिति की नियुक्ति की थी जिसने अक्टूबर, १९६५ में अपना प्रतिवेदन सरकार के सम्मुख प्रस्तुत किया। समिति के अनुसार कुछ क्षेत्रों में सहकारिता के आधार पर कृषि के संगठन को पर्याप्त सफलता मिली है, किन्तु अधिकांश क्षेत्रों में ये मुख्यतः असफल ही रही हैं। इसका प्रधान कारण सहकारी सहायता का अभाव कहा जा सकता है। आर्थिक दृष्टि से समितियों को स्वावलम्बी बनाने के लिए समिति के अनुसार उन्हें लघु उद्योग स्थापित करने के लिए प्रोत्साहित करना चाहिए। समिति के अनुसार कृषि की समस्या के समाधान के लिए कोई सुगम रास्ता नहीं है, अतः ऋण व्यवस्था तथा पुनर्संगठन के बावजूद शीघ्र परिणामों की आशा नहीं की जानी चाहिए।

अन्त में यह कहा जा सकता है कि सहकारी कृषि के अपने लाभ अवश्य हैं, किन्तु अर्द्ध-विकसित एवं प्रजातांत्रिक व्यवस्था वाले देशों में इस प्रकार की कृषि-व्यवस्था को कार्य रूप में परिणत करने में निस्सन्देह कठिनाई होगी। इस प्रकार की कृषि-व्यवस्था को संचालित करने के लिए सुयोग्य नेतृत्व की आवश्यकता होगी जिसका हमारे गाँवों में अभी अभाव है। साथ ही, हमारे देश के किसानों में व्यक्तिवादी भावना इतनी कूट-कूट कर भरी है कि वे शीघ्र इस प्रकार के सामूहिक कार्य के लिए तैयार नहीं होंगे। सुयोग्य नेतृत्व एवं सामूहिक भावना के अभाव में सहकारी कृषि का कोई भी प्रयत्न देश में सफल नहीं हो सकता। अतएव सहकारी संयुक्त कृषि-प्रणाली को अपनाने के लिए देशवासियों के बीच समुचित सामाजिक एवं मनोवैज्ञानिक वातावरण तैयार करना होगा। शिक्षा एवं सामाजिक भावना के प्रचार द्वारा इस प्रकार का वातावरण तैयार किया जा सकता है। किन्तु इसमें भी समय लगेगा। अतः, देश में सहकारी कृषि-प्रणाली की योजना को कार्यान्वित करने में धैर्यपूर्वक काम लेने की आवश्यकता है।

डॉ० ओटो शिलर के सुझाव—सहकारी कृषि के सम्बन्ध में डॉ० ओटो शिलर (Otto Schiller) के सुझावों की व्याख्या यहाँ अनिवार्य है। हाल में ही इन्होंने **छोटी-छोटी जोतों के आधार पर व्यक्तिगत कृषि** (Individual farming with small holdings) का **सुझाव दिया है जिसमें नियोजन, विनियोग एवं विक्रय आदि सहकारिता के आधार पर किये जायँगे**। इस प्रकार की व्यवस्था की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इसमें छोटी-छोटी जोतों को एकत्र किये बगैर ही बड़े पैमाने की कृषि के लाभ प्राप्त किये जा सकते हैं। इसमें कृषि का कार्य छोटी-छोटी जोतों में व्यक्तिगत आधार पर किया जायगा। अतएव व्यक्तिगत स्वामित्व एवं प्रयोजन (Initiative) ज्यों-का-त्यों बना रहेगा, किन्तु कृषि-कार्य के लिए आवश्यक सभी सेवाओं का आयोजन सहकारिता के आधार पर किया जायगा। डॉ० शिलर का यह प्रस्ताव भारत की वर्तमान परिस्थितियों के लिए अधिक उपयुक्त जान पड़ता है। शिक्षा एवं सामूहिक भावना के अभाव में हमारे देश के कृषक सहकारी संयुक्त कृषि-व्यवस्था को अपनाने में संकोच कर रहे हैं।

अतः, अभी इसी प्रकार की व्यवस्था को अपनाया जा सकता है और आगे जब देश में समुचित मनोवैज्ञानिक एवं सामाजिक वातावरण तैयार हो जायगा तब डॉ० शिलर के प्रस्ताव में कुछ संशोधन लाकर मध्यम आकार की जोतों पर कृषि-कार्य प्रारम्भ किया जा सकता है और इस प्रकार धीरे-धीरे सहकारी संयुक्त कृषि के अन्तिम आदर्श को प्राप्त किया जा सकता है।

तृतीय पंचवर्षीय योजना (Third Five Year Plan) में देश के ३१८ जिलों में से प्रत्येक जिले के एक-एक सामुदायिक विकास प्रखण्ड में सहकारी कृषि का एक प्रयोग केन्द्र (Pilot Project) स्थापित करने का आयोजन था। प्रत्येक केन्द्र में १० सहकारी कृषि समितियाँ होंगी। इस प्रकार योजनाकाल में कुल ३१८० सहकारी समितियों की स्थापना की व्यवस्था थी। इसके अतिरिक्त देश के अन्य भागों में और ४ हजार सहकारी कृषि समितियों की स्थापना की व्यवस्था थी। इन समितियों की स्थापना में सरकार द्वारा विभिन्न प्रकार की सुविधाएँ प्रदान करने पर जोर दिया गया था। इन समितियों को अधिक लोकप्रिय बनाने के लिए एक (National Co-operative Farming Advisory Board) की स्थापना की गयी है। जनवरी, १९६८ में इस परिषद् ने यह प्रस्ताव किया कि (क) हरेक समिति को पुनर्वास कार्यक्रम पर ही जोर देना चाहिए; (ख) प्रत्येक समिति में भूमि प्राप्त करने का एक कार्यक्रम होना चाहिए, तथा (ग) उन्हीं समितियों को आर्थिक सहायता देनी चाहिए जो सरकार द्वारा निर्धारित नीतियों का अनुकरण कर सकें। राज्य सरकारों द्वारा भी राज्य-स्तर पर इस प्रकार की संस्थाएँ स्थापित की गयी हैं। इस प्रकार तृतीय योजनाकाल में सहकारी कृषि को अधिक लोकप्रिय बनाने के बहुत-सारे प्रयास किये गये।

मार्च, १९६६ ई० तक प्रयोग केन्द्रों में २७४९ सहकारी कृषि समितियाँ, जिनके अन्तर्गत २·७७ लाख एकड़ भूमि थी, संगठित की गयीं। इनके अतिरिक्त प्रयोग केन्द्रों के बाहर २७५२ नई सहकारी कृषि-समितियाँ स्थापित की गयीं जिनके अन्तर्गत ३ लाख एकड़ भूमि थी। मार्च, १९६८ ई० तक देश में ८५८२ सहकारी कृषि समितियाँ थीं, जिनके अन्तर्गत लगभग ११ लाख एकड़ भूमि थी। **चतुर्थ पंचवर्षीय योजना** (Fourth Five Year Plan) में सहकारी कृषि के विकास पर १८ करोड़ रुपये व्यय का आयोजन है।

किन्तु देश में सहकारी कृषि की प्रगति संतोषजनक नहीं कही जा सकती। वास्तव में, भारत-जैसे देश में शिक्षा एवं सामूहिक भावना के अभाव में इस प्रकार की कृषि-व्यवस्था को अपनाने के लिए किसान शीघ्र तैयार नहीं होते। अतः सरकार अब अपनी इस नीति में परिवर्तन कर रही है तथा ऐसा जान पड़ रहा है कि सहकारी कृषि के उद्देश्य का धीरे-धीरे परित्याग किया जा रहा है। साथ ही, जैसा कि प्रो० मिड्ल (G. Myrdal) ने कहा है "भारत में सहकारी कृषि-व्यवस्था से कृषि के क्षेत्र में किसी प्रकार के क्रान्तिकारी परिवर्तन की आशा नहीं की जा सकती।" इनके अनुसार "Co-operative farming in the Indian sense is far less radical than it seems on the surface. Indeed, its major weakness is that it produces virtually no change in the stutusquo. Traditional status distinctions between landowners and landless labourers and share croppers are maintained. and under the cover of respectability provided by the label co-operation may even become more deeply entrenched."

विशेष अध्ययन-सूची

1. Baljit Singh : Next step in Village India.
2. Khusro and Agrawal : Problems of Co-operative Farming in India.
3. G. Myrdal : Asian Drama.
4. National Simple Survey, Report No. 74
5. Congress Agrarian Reforms Committee Report (1949).
6. Third and Fourth Five Year Plans.

अध्याय : १५

भूमि-व्यवस्था एवं सुधार

(Land Tenures and Reform)

परिचय— :—भारत-जैसे कृषि-प्रधान देश में उचित भूमि-व्यवस्था का बड़ा ही महत्त्वपूर्ण स्थान है। भूमि-व्यवस्था के अध्ययन से भूमि के प्रति किसानों की वैधानिक स्थिति का अन्दाजा लगता है। किसान जिस भूमि को जोतता है उसके प्रति उसका क्या अधिकार है ? इसका अध्ययन भूमि-व्यवस्था के अन्तर्गत ही किया जाता है। दूसरे शब्दों में, **भूमि-व्यवस्था का तात्पर्य भूमि के स्वामी तथा उसके जोतने वाले का भूमि के प्रति अधिकार एवं दायित्व तथा मालगुजारी देने के सम्बन्ध में राज्य से सम्बन्धों की व्याख्या से है** (Land tenures may be defined as the system of rights and responsibilities of the owners and the cultivators of land vis-a-vis the state regarding the payment of revenue.) अर्थात् भूमि-व्यवस्था से हमारा अभिप्राय उन शर्तों से है जिन पर भूमि का स्वामित्व एवं उसे जोतने का अधिकार निर्भर करता है। दूसरे शब्दों में, भूमि-व्यवस्था का अर्थ उस प्रथा से है जिसके अन्तर्गत किसी व्यक्ति की भूमि पर उसके अधिकार एवं दायित्व का विचार होता है।

भूमि-व्यवस्था का अध्ययन कई कारणों से अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है। सर्वप्रथम तो राज्य के दृष्टिकोण से इस बात का पता लगाना आवश्यक है कि भूमि का वास्तविक मालिक कौन है ? भूमि-व्यवस्था के अध्ययन से ही इसका पता लगता है। साथ ही, भूमि-व्यवस्था का भूमि की उपज पर भी महत्त्वपूर्ण प्रभाव पड़ता है। किसान जिस भूमि को जोतता है यदि उसका मालिक वह स्वयं होता है तो वह बहुत ही मन लगाकर कार्य करता है जिससे उपज अधिक होती है। भूमि-व्यवस्था के अध्ययन से देश के सामाजिक संगठन, यानी देश में किस प्रकार की व्यवस्था सामंतवादी, पूँजीवादी या साम्यवादी व्यवस्था है, इसका भी अन्दाजा लगता है। इस प्रकार भूमि-व्यवस्था का देश की सामाजिक एवं राजनीतिक व्यवस्था से भी घनिष्ठ सम्बन्ध है। कृषि के विकास तथा किसानों के हित के साधन के लिए देश में समुचित भूमि-व्यवस्था का होना अति अनिवार्य है। वास्तव में, किसी भी देश के लिए सर्वाधिक उत्तम भूमि-व्यवस्था वही है जिसमें उत्पादन भी अधिकतम हो और साथ-ही-साथ किसान भी संतुष्ट हों। यदि किसी देश में भूमि-व्यवस्था कृषि के उत्पादन में वृद्धि तथा किसानों की आर्थिक स्थिति में सुधार में बाधक हो तो इसमें सुधार (Land Reforms) अनिवार्य है। अधिकांश अविकसित तथा अर्द्ध-विकसित देशों में स्थिति इसी प्रकार की है, अतः इनमें भूमि-सुधार की प्रबल आवश्यकता होती है।

आर्थिक विकास के लिए भूमि-सुधार का महत्त्व (Importance of Land Reforms for Economic Development) :— भारत-जैसे आर्थिक दृष्टि से अर्द्ध-विकसित देश के लिए भूमि-सुधार का सामाजिक परिवर्तन एवं आर्थिक विकास से अत्यधिक घनिष्ठ सम्बन्ध है। जैसा कि स्पष्ट है, अविकसित तथा अर्द्ध-विकसित देशों के आर्थिक विकास का आधार कृषि का विकास है। कृषि से खाद्यान्न तथा उद्योग-धन्धे के लिए महत्त्वपूर्ण कच्चे पदार्थ प्राप्त होते हैं और इनके उत्पादन में वृद्धि से औद्योगिक विकास की नींव सुदृढ़ होती है। साथ ही, कृषि के उत्पादन में

वृद्धि से जो आधिक्य (Surplus) होता है उसे औद्योगिक विकास के कार्य में प्रयोग किया जा सकता है। कृषि-उत्पादन में वृद्धि मुख्यतः दो तत्त्वों पर निर्भर करती है—तकनीकी तथा संस्थागत। तकनीकी तत्त्वों के अन्तर्गत अच्छे बीज, अच्छी खाद आदि तथा संस्थागत सुधारों के अन्तर्गत कृषि के हित में भूमि-स्वामित्व का पुनर्वितरण, रैयती कानूनों में सुधार, मध्यस्थ वर्ग की समाप्ति तथा कृषि का पुनर्गठन आदि आते हैं। भूमि-सुधार इसी प्रकार के संस्थागत सुधारों का प्रतीक है।

अन्य तत्त्वों के अतिरिक्त आर्थिक विकास पूँजी पर निर्भर करता है और अविकसित तथा अर्द्ध-विकसित देशो में भूमि-सुधार के द्वारा कृषि के उत्पादन में जो वृद्धि होती है उससे अतिरिक्त पूँजी का निर्माण होता है।

इस प्रकार आर्थिक विकास के लिए भूमि-सुधार का बड़ा ही महत्त्वपूर्ण स्थान है। कृषि का उत्पादन अधिकतम तभी होता है जबकि भूमि की व्यवस्था इसके लिए अनुकूल हो। यदि भूमि-व्यवस्था से कृषक वर्ग का शोषण होता है तो इससे किसानों को उत्पादन बढ़ाने की प्रेरणा नहीं मिलती। अतः भूमि-सुधार का अभिप्राय कृषि-विकास के मार्ग की सारी बाधाओं को दूर करना होना चाहिए जिससे कृषि का विकास निरन्तर जारी रहे। आर्थिक दृष्टि से विकसित देशों में प्रगतिशील भूमि-व्यवस्था पायी जाती है जिससे किसानों को उत्पत्ति बढ़ाने के लिए प्रोत्साहन मिलता है।

किसान का भूमि से सम्बन्ध :—किसान का भूमि से सम्बन्ध निम्नलिखित तीन प्रकार का हो सकता है :—

(क) भूमि का स्वामित्व राज्य के हाथ में हो और किसान राज्य के रैयत के रूप में राज्य को एक निश्चित लगान चुकाता हो। इस प्रकार की व्यवस्था को (State Landlordism) की प्रथा कहते हैं। समाजवादी राष्ट्रों में साधारणतः यही व्यवस्था पायी जाती है।

(ख) भूमि का स्वामित्व स्वयं किसानों के हाथ में रहता हो। भूमि पर स्वामित्व तभी पूर्ण समझा जाता है जब किसानों को अपनी भूमि को बेचने अथवा हस्तान्तरित करने का पूरा-पूरा अधिकार हो। जब किसान स्वयं भूमि को जोतता है तो इस प्रथा को **कृषक स्वामित्व** (Peasant Proprietorship) की प्रथा कहते हैं। कुछ व्यक्तियों के अनुसार भूमि-व्यवस्था की यही पद्धति सर्वश्रेष्ठ समझी जाती है। १९३५ ई० में ही भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस (Indian National Congress) ने अपने प्रस्ताव में इस प्रकार का विचार व्यक्त किया था।[1]

(ग) भूमि का स्वामित्व जमींदारों के हाथ में रहता है और किसान इनके रैयत के रूप में कार्य करते हैं। किसानों का रैयती अधिकार जमींदारों के साथ समझौते पर निर्भर करता है। किसान **दखली कास्तकार** (Occupancy tenant) हो सकता है। ऐसी स्थिति में जब तक वह लगान चुकाते जाता है तब तक उसकी भूमि से उसे कोई बेदखल नहीं कर सकता। किसान Tenant at will भी हो सकता है। ऐसी स्थिति में जमींदार रैयतों को अपनी मर्जी के अनुसार बेदखल कर सकता है अथवा इनके लगान में वृद्धि कर सकता है।

इस प्रकार भूमि-व्यवस्था के विभिन्न रूप हो सकते हैं। किन्तु, सर्वोत्तम भूमि-व्यवस्था वही है जिसमें राज्य एवं किसानों के बीच किसी प्रकार के बिचवैये न हों।

भारत में वर्तमान भूमि-व्यवस्था के विभिन्न रूप

(Different systems of Land tenures prevailing in India)

भारत में भूमि-व्यवस्था के विभिन्न रूप पाये जाते हैं—हजारों असामियोंवाली अत्यधिक वृहत् भू-सम्पदा से लेकर एक एकड़ से कम तक का भू-स्वामित्व। (The system of land

1. "There is only one fundamental method of improving village life.... namely, the introduction of the system of peasant proprietorship under which the tiller of the soil is himself the owner of it, and pays revenue direct to the Government without the intervention of any zamindar & taluqdar."

tenures in India exhibits almost every conceivable variation from big states containing thousands of tenants to minute holdings of land under an acre in size.) फिर भी, इसे कुछ निश्चित वर्गों में विभाजित किया जा सकता है। **वर्तमान समय में हमारे देश में भूमि-व्यवस्था के निम्नलिखित तीन रूप पाये जाते हैं :—**

(१) **जमींदारी व्यवस्था**[1] (Zamindari System) **या स्थायी प्रबन्ध** (Permanent Settlement) :—स्थायी प्रबन्ध बिहार, पश्चिमी बंगाल, उड़ीसा तथा उत्तर प्रदेश एवं आन्ध्र के कुछ हिस्सों में पाया जाता था। इस व्यवस्था के अन्तर्गत भूमि पर जमींदारों का पूरा-पूरा अधिकार होता था जो प्रतिवर्ष सरकार को एक निश्चित रकम लगान के रूप में देते थे। किन्तु स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद इस प्रथा को बिल्कुल समाप्त कर दिया गया है।

(२) **महालवारी व्यवस्था** (Mahalwari System) :—इस व्यवस्था में भूमि की बन्दोवस्ती सम्पूर्ण गाँव या महाल के साथ सम्मिलित रूप में की जाती है। गाँव के सभी किसान इसमें हिस्सेदार की तरह होते हैं। भूमि-कर अदा करने के लिए संयुक्त रूप से सारा महाल उत्तरदायी होता है। यह व्यवस्था उत्तर प्रदेश, पंजाब तथा मध्य प्रदेश के अधिकांश भागों में पायी जाती है।

(३) **रैयतवारी व्यवस्था** (Ryotwari System) :—इस व्यवस्था में भूमि का प्रबन्ध रैयतों के साथ व्यक्तिगत रूप में किया जाता है। प्रत्येक भूमिवाला भूमि का स्वामी होता है तथा जब तक वह सरकार को निश्चित समय पर नियत मालगुजारी चुकाते जाता है तब तक उसे भूमि से बेदखल नहीं किया जा सकता। यह प्रथा तमिलनाडु, गुजरात, तथा मध्य प्रदेश में प्रचलित है।

१९३७-३८ ई० में भारत में कुल खेती की जानेवाली भूमि के २५ प्रतिशत भाग में स्थायी जमींदारी-व्यवस्था, ३९ प्रतिशत भाग में अस्थायी जमींदारी तथा महालवारी व्यवस्था और ३६ प्रतिशत भाग में रैयतवारी व्यवस्था पायी जाती थी।

निम्नलिखित तालिका से १९३७-३८ ई० में इन तीनों प्रकार की व्यवस्था के अन्तर्गत भूमि का विभाजन स्पष्ट हो जाता है :—

व्यवस्था	क्षेत्रफल (करोड़ एकड़ में)	कुल क्षेत्र का प्रतिशत	पाये जाने वाले क्षेत्र
१. जमींदारी प्रथा (स्थायी प्रबन्ध)[1]	१३·०	२५	बंगाल, बिहार, आन्ध्र, उड़ीसा तथा उत्तर प्रदेश का बनारस डिविजन
२. महालवारी तथा अस्थायी जमींदारी व्यवस्था	१९·९	३९	मध्य प्रदेश, उत्तर प्रदेश, तथा पंजाब
३. रैयतवारी व्यवस्था	१८·३	३६	असम, गुजरात, महाराष्ट्र, तमिलनाडु तथा मध्य प्रदेश

१. अब प्रायः सभी राज्यों से जमींदारी प्रथा समाप्त कर दी गयी है।

अब इनका सविस्तार विवेचन प्रस्तुत किया जाता है :—

(१) **जमींदारी व्यवस्था या स्थायी प्रबन्ध** (Permanent Settlement) :—सर्वप्रथम १७६३ ई० में लार्ड कार्नवालिस ने बंगाल में जमींदारों के साथ भूमि का स्थायी प्रबन्ध किया। इसके पूर्व अस्थायी तौर पर जमींदारों के साथ भूमि की बन्दोवस्ती की जाती थी। स्थायी प्रबन्ध के अनुसार जमींदारों से मालगुजारी के रूप में एक निश्चित रकम सर्वदा के लिए तय कर दी गयी तथा उन्हें भूमि सदा के लिए दे दी गयी। जमींदार किसानों से जो लगान प्रारम्भ में वसूल करते थे उसका $\frac{10}{11}$ भाग सरकार का हिस्सा निश्चित किया गया तथा $\frac{1}{11}$ भाग जमींदारों के खर्च, परिश्रम एवं दायित्व के लिए इनके पास छोड़ दिया गया। जमींदारों को यह रकम प्रतिवर्ष सरकार को एक निश्चित समय के अन्दर देनी पड़ती थी। इस निश्चित समय के अन्दर मालगुजारी नहीं चुकाने पर भूमि नीलाम कर दी जाती थी। इस सम्बन्ध में अतिवृष्टि, अनावृष्टि आदि प्राकृतिक प्रकोपों के कारण मालगुजारी नहीं मिलने के लिए कोई रियायत नहीं की जाती थी। जमीदारों के लिए लगान की यह रकम सदा के लिए निश्चित कर दी गयी थी तथा सरकार इसमें कोई वृद्धि नहीं कर सकती थी। लेकिन, जमींदारों को लगान में वृद्धि करने का अधिकार दिया गया था। इस प्रकार की उत्पादन-व्यवस्था में उन्नति तथा मूल्य एवं सुरक्षा में वृद्धि के फलस्वरूप भूमि का मूल्य धीरे-धीरे बढ़ने लगा और जमींदारों ने लगान को बढ़ाना प्रारम्भ कर दिया। सरकारी तौर पर लगाये गये अनुमान के अनुसार १६०० ई० में स्थायी प्रबन्ध के क्षेत्रों से सरकार को प्राप्त मालगुजारी की रकम ४ करोड़ रुपये से कुछ कम थी जबकि उन क्षेत्रों से जमींदारों की आय लगभग १६ करोड़ रुपये थी।

यह व्यवस्था बंगाल तथा बिहार के अतिरिक्त बनारस डिविजन एवं आन्ध्र के उत्तरी भाग में भी लागू की गयी थी। १७६३ ई० **में बंगाल में स्थायी प्रबन्ध अथवा जमींदारी व्यवस्था लागू करने के निम्नलिखित कारण थे**—(१) **निश्चित आय** :—इस व्यवस्था से सरकार की आय निश्चित तथा स्थायी हो गयी। साथ ही, सरकारी लगान वसूल करने में कोई खर्च तथा असुविधाएँ भी नहीं होती थीं। इस प्रकार आर्थिक दृष्टिकोण से स्थायी प्रबन्ध सरकार के लिए नियमित तथा स्थायी आय का एक विश्वस्त साधन बन गया। साथ ही, अस्थायी व्यवस्था की असुविधाएँ भी अब न रहीं। (२) **वफादार वर्ग** :—स्थायी व्यवस्था करते समय लार्ड कार्नवालिस ने यह सोचा था कि जमींदार सरकार के प्रति सदा वफादार (Loyal) बने रहेंगे। इससे देश की राजनीतिक स्थिरता में वृद्धि होगी (३) **किसानों का नेतृत्व** :—जमींदारों से यह आशा की गयी थी कि वे किसानों के सामाजिक तथा आर्थिक जीवन में नेतृत्व करेंगे। (४) **कृषि की उन्नति** :—इससे कृषि की उन्नति तथा विकास में भी सहायता होगी। स्थायी प्रबन्ध के कारण जमींदारों का भूमि के साथ स्थायी सम्बन्ध स्थापित हो जायगा जिससे कृषि-विकास के लिए उन्हें प्रेरणा मिलेगी।

इसके अतिरिक्त उस समय की परिस्थितियों ने भी लार्ड कार्नवालिस को स्थायी प्रबन्ध करने के लिए बाध्य किया। लार्ड कार्नवालिस के आगमन के समय बंगाल में जमींदारों का पूरा सिक्का जमा हुआ था। साथ ही, यातायात के साधनों के अभाव, कृषि की पिछड़ी हुई स्थिति तथा कम्पनी के पास भूमि के सम्बन्ध में पर्याप्त ज्ञान एवं योग्य कर्मचारियों के अभाव के कारण भी स्थायी प्रबन्ध के अतिरिक्त दूसरा कोई साधन नहीं जान पड़ता था। अतः कम्पनी ने परिस्थितियों से बाध्य होकर स्थायी प्रबन्ध की नीति को अपनाया।

(२) **महालवारी व्यवस्था** (Mahalwari System) :—इस प्रणाली में भूमि की व्यवस्था किसी एक जमींदार के साथ न करके गाँव के सभी पट्टीदारों या जमींदारों के साथ सम्मिलित रूप में की जाती है। सर्व प्रथम हॉल्ट मेकेन्जी (Halt Makenzie) ने १८१६ ई० में यह प्रस्ताव कम्पनी के सम्मुख रखा और उसी के आधार पर उत्तर प्रदेश तथा पंजाब में यह प्रथा लागू की गयी। इस व्यवस्था में सरकारी कर इकट्ठा करने के लिए सारा महाल संयुक्त रूप से उत्तरदायी होता था। महाल के अन्तर्गत वे सभी लोग आते हैं जो किसी-न-किसी हिस्से के मालिक होते हैं। लेकिन सरकार अगर चाहे तो इनमें से किसी एक से भी लगान वसूल कर सकती है। इस प्रकार इस व्यवस्था में लगान चुकाने का उत्तरदायित्व व्यक्तिगत तथा सामूहिक दोनों प्रकार का होता है। स्थायी जमींदारी व्यवस्था तथा इस व्यवस्था में अन्तर केवल इतना ही था कि स्थायी व्यवस्था के अन्तर्गत जबकि भूमि का प्रबन्ध प्रत्येक जमींदार के साथ व्यक्तिगत रूप में किया गया था, महालवारी व्यवस्था के अन्तर्गत भूमि की व्यवस्था सम्मिलित रूप से सम्पूर्ण महाल के साथ की गयी थी। भूमि का प्रबन्ध उत्तर प्रदेश तथा पंजाब में ४० वर्षों के लिए किया गया था। इस व्यवस्था को अस्थायी प्रबन्ध के अन्तर्गत जमींदारी व्यवस्था का ही एक रूप कह सकते हैं।

मालगुजारी निश्चित करने के पूर्व सम्पूर्ण गाँव या महाल की भूमि की पैमाइश की जाती है, सीमा की रेखाएँ निश्चित की जाती हैं तथा सभी दलों के अधिकार की विशेष सूची तैयार की जाती है। इसके बाद प्रत्येक व्यक्ति की वास्तविक सम्पत्ति निश्चित की जाती है। वास्तविक सम्पत्ति (Net asset) के निर्धारण में निम्नांकित बातों को ध्यान में रखा जाता है :—जमींदार को उस भूमि से किसानों द्वारा प्राप्त लगान, चारागाह एवं फल आदि से होने वाले लाभ इत्यादि। आरम्भ में मालगुजारी की दर को वास्तविक सम्पत्ति का ८० प्रतिशत रखा गया, लेकिन बाद में लार्ड विलियम बैंटिक ने इसे घटाकर ६६ प्रतिशत कर दिया। पुनः सन् १८५५ ई० के सहारनपुर कानून के अनुसार मालगुजारी की दर को घटाकर ५० प्रतिशत कर दिया गया। अधिकांश स्थानों में मालगुजारी की यही दर प्रचलित है, लेकिन पंजाब में मालगुजारी की दर वास्तविक सम्पत्ति का केवल २५ प्रतिशत भाग ही है।

मध्य प्रदेश की मालगुजारी व्यवस्था :—मध्य प्रदेश की भूमि-व्यवस्था अन्य क्षेत्रों से भिन्न है। इसे मालगुजारी व्यवस्था (Malguzari Settlement) कहा जाता है। जहाँ तक मालगुजारी तय करने का प्रश्न है, मध्य प्रदेश की व्यवस्था भी ठीक उत्तर प्रदेश की ही तरह है। लेकिन, मध्य प्रदेश में मराठों के शासनकाल में भूमि का प्रबन्ध व्यक्तिगत रूप से मालगुजार कहलाने वाले व्यक्तियों के साथ किया जाता था। कम्पनी ने भी भूमि की व्यवस्था इन्हीं मालगुजारों के साथ व्यक्तिगत रूप में की। सरकारी लगान चुकाने का उत्तरदायित्व इन्हीं के ऊपर रहता है तथा अन्य ग्रामीणों की हैसियत रैयत की तरह होती है। भूमि का प्रबन्ध २० से ३० वर्षों तक के लिए किया जाता है। मालगुजारी निश्चित करने के समय सेट्लमेंट अफसर केवल मालगुजारों द्वारा दी जाने वाली मालगुजारी ही निश्चित नहीं करते, वरन् प्रत्येक रैयत द्वारा दी जाने वाली रकम भी निश्चित कर देते हैं।

(३) **रैयतवारी व्यवस्था** (Ryotwari System) —रैयतवारी व्यवस्था के अन्तर्गत सरकार भूमि की व्यवस्था स्वयं रैयतों के साथ करती है। सरकार तथा रैयतों के बीच कोई

मध्यस्थ वर्ग नहीं रह जाता। भूमि का अधिकारी ही उसका मालिक होता है और सरकार को सीधे मालगुजारी देता है। जब तक वह निश्चित समय पर मालगुजारी चुकाता रहेगा तब तक उसका अधिकार भूमि पर ज्यों-का-त्यों बना रहता है। भूमि के अधिकारियों को भूमि जोतने अथवा परित्याग तथा हस्तान्तरित करने का पूरा-पूरा अधिकार रहता है। इस प्रकार सरकार भूमि का सबसे बड़ा मालिक होती है। सरकारी आय लगान के रूप में मानी जाती है। प्रत्येक रैयत सरकारी लगान के लिए पृथक्-पृथक् रूप से उत्तरदायी होता है। लगान एक समय में केवल २० से ४० वर्षों तक के लिए ही निश्चित की जाती है। प्रो० काले ने रैयती क्षेत्र के रैयतों की तुलना बंगाल के जमींदारों के साथ करते हुए कहा है कि रैयतवारी क्षेत्र के भूमि-धर (Land-owners) को अपनी भूमि पर उतना ही अधिकार होता है जितना कि बंगाल के जमींदारों का। दोनों में अन्तर इतना ही है कि बंगाल में जमींदारों का लगान स्थायी है, लेकिन इनकी (रैयतवारी क्षेत्रों में) मालगुजारी को बढ़ाया भी जा सकता है। रैयतवारी व्यवस्था मुख्यतः महाराष्ट्र, गुजरात तथा तमिलनाडु में ही पायी जाती है।

तमिलनाडु की रैयती व्यवस्था :—रैयतवारी व्यवस्था सर्वप्रथम मद्रास में अपनायी गयी थी। यह मुख्यतः बोर्ड ऑफ रेवेन्यू के आदर्शों पर आधारित है। भूमि-प्रबन्ध के पूर्व गांव में भूमि की पैमाइश की जाती है और उर्वरा-शक्ति, जो किसी एक अनाज द्वारा की जाती है, के अनुसार भूमि का वर्गीकरण किया जाता है। इसके बाद पिछले बीस बिना अकाल वाले वर्षों की औसत उपज को मुद्रा के रूप में निकाला जाता है। इसमें कृषि का खर्च घटाकर जो वास्तविक उपज (Net product) बच जाती है, उसका आधा अधिकतम लगान के रूप में तय किया जाता है। तत्पश्चात् भूमि की स्थिति, सिंचाई की सुविधा तथा उर्वरा-शक्ति के अनुसार प्रत्येक भूमि के लिए अलग-अलग लगान तय किया जाता है। लेकिन अगर भूमि के अन्दर कोई खनिज पदार्थ निकल जाता है तो पुनः उसका लगान निश्चित होता है।

बम्बई की रैयतवारी व्यवस्था :—बम्बई में भूमि की व्यवस्था बम्बई लैण्ड रेवेन्यू कोड १७७९ ई० (Bombay Land Revenue Code 1779), जो पीछे चलकर १९३८ ई० में संशोधित किया गया था, के आधार पर की गयी। बम्बई की रैयतवारी व्यवस्था भी मुख्य तौर पर मद्रास के ही समान है। यहाँ भूमि की पैमाइश तथा वर्गीकरण उन्ही सिद्धान्तों के आधार पर किया गया है, लेकिन लगान तय करने के तरीकों में अन्तर है। लगान निश्चित करने में तीन कार्य करने पड़ते हैं—(१) पहले प्रत्येक तालुका की भूमि का वर्गीकरण किया जाता है। वर्गीकरण करने में जलवायु, वर्षा, बाजार, जनसंख्या, यातायात तथा मजदूरी आदि को ध्यान में रखा जाता है। (२) इसके बाद प्रत्येक वर्ग के लिए प्रामाणिक लगान की दर (Standard rate of revenue) तय कर दी जाती है। लगान तय करने में भी उपरोक्त बातों को ध्यान में रखा जाता है। (३) इसके बाद भिन्न-भिन्न जोतों का लगान प्रामाणिक लगान के अनुपात में निश्चित किया जाता है। प्रामाणिक लगान वाली भूमि को १६ आने वाली भूमि कहा जाता है। अगर इसका लगान ६ रुपये प्रति एकड़ है तो ८ आने वाली भूमि का लगान ३ रुपये प्रति एकड़ तय होगी। बम्बई की भूमि-व्यवस्था में समय-समय पर आवश्यकतानुसार परिवर्तन भी किया गया है, किन्तु सरकारी माल-गुजारी में एक निश्चित सीमा के बाद वृद्धि नहीं की जा सकती।

रैयतवारी व्यवस्था के गुण (Merits of Ryotwari System) :—भूमि की रैयतवारी व्यवस्था अन्य प्रकार की भूमि-व्यवस्था की अपेक्षा अधिक कार्य-कुशल होती है। इसका कारण

स्पष्ट है। भूमि पर स्थायी स्वामित्व होने के कारण किसान उसे अपनी स्थायी सम्पत्ति समझता है। अतएव वह सदा उसमें सुधार करने को प्रयास करता है। इससे उपज में वृद्धि होती है। इसके विपरीत जब रैयतों का भूमि पर अस्थायी हक होता है तो इससे उन्हें भूमि-सुधार की प्रेरणा नहीं मिलती इससे उपज में कमी होती है। इस सम्बन्ध में आर्थर यंग का निम्नलिखित कथन वास्तव में सत्य जान पड़ता है—"**निजी सम्पत्ति का जादू रेत को भी सोना बना देता है। किसी व्यक्ति को रुक्ष चट्टान पर स्थायी अधिकार दे दीजिये, वह उसे हरे-भरे उपवन मे बदल देगा। उसे किसी उपवन का नौ वर्षों के लिए ठेका दे दीजिये वह उसे मरूभूमि बना देगा।**" (Give a man a secure possession of a bleak rock, he will turn it into a garden; give him a nine years lease of a garden and he will convert it into a desert.)

कुछ राज्यों मे बँटाई की प्रथा का प्रचलन है जिसके अन्तर्गत उपज का एक भाग भूमि के मालिक को देना पड़ता है। इस प्रथा का परिणाम और भी बुरा होता है। इससे कृषि-कार्य उत्तम तरीके से नहीं हो पाता। साथ ही, वास्तविक जोतने वालों को उनके परिश्रम के लिए उचित रकम भी नही मिल पाती। पंजाब के इस प्रकार के २७ फर्मों का सर्वेक्षण किया गया था जिससे यह निष्कर्ष निकला कि वास्तविक जोतनेवाले को शुद्ध आय का केवल १८ प्रतिशत भाग ही मिलता है तथा शेष जमींदारों को प्राप्त होता है जिनपर कृषि का जरा भी जोखिम तथा दायित्व नहीं रहता।

किन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं कि रैयती कृषि की प्रथा सर्वथा दोषमुक्त होती है। इंगलैंड जैसे देश में कृषि-कार्य इसी पद्धति के आधार पर किया जाता है। किन्तु, वहाँ इसकी सफलता का प्रधान कारण यह है कि जमींदार रैयतों का सच्चा मित्र होता है तथा भूमि से प्राप्त आय का एक अंश उसके सुधार में सदा व्यय करता है। किन्तु, भारत में इस प्रकार की बात नहीं पायी जाती है। अतएव भूमि की व्यवस्था सदा निर्णायक नहीं होती। इस सम्बन्ध में जमींदारों एवं रैयतों का व्यवहार ही अधिक महत्त्वपूर्ण होता है। यदि कृषि की प्रणाली इस प्रकार की है कि रैयतों को किसी भी समय बगैर मुआवजा के हटा दिया जा सकता है तो यह प्रथा निश्चय ही असंतोष-जनक होगी।

किन्तु १५० वर्ष तक कार्य करने के बाद इन तीनों प्रकार की भूमि व्यवथाओं के स्वरूप में इतना अधिक परिवर्तन हुआ है कि इनका अन्तर प्रायः धुंधला हो गया है। श्री वेंकटसुबैया (Venkatasubbaih) ने इस पर जोर देते हुए यह कहा है कि "If Lord Cornwallis and Sir Thomas Munro, the respective protagonists of the Zamindari and Ryotwari, were to look at the system in 1940, they would barely recognise them as such."[1] किन्तु इन तीनों प्रथाओं में जमींदारी प्रथा की ओर बढ़ने की ही प्रवृत्ति दृष्टिगोचर होने लगी। उदाहरण के लिए, मध्य प्रदेश तथा उत्तर प्रदेश में, जहाँ पर भू-राजस्व की वसूली में सामूहिक दायित्व पर जोर दिया जाता था, यह प्रथा जमींदारी प्रथा की तरह हो गयी तथा पंजाब, जहाँ पर भू-राजस्व की वसूली पर व्यक्तिगत रूप में जोर दिया जाता था, इसने रैयतवारी प्रथा के गुणों को अपना लिया। इसी प्रकार इनाम तथा जागीरदारी क्षेत्र में जमींदार आधा से लेकर दो-तिहाई तक लगान मांगते थे। वास्तव में, स्वतंत्रता-प्राप्ति के पूर्व देश में एक ओर तो भूमिहीन मजदूर तथा अस्थायी रैयत (Tenants at will) थे तो दूसरी ओर बड़ी-बड़ी जमींदारियों वाले जमींदार थे।

1—H. Venkatasubbaih : Indian Economy since Independence p. 51.

भूमि—इसकी समस्या एवं नीति

(Land—Its Problems and Policy)

भूमि-व्यवस्था का कृषि की कार्य-क्षमता एवं भूमि के उत्पादन पर महत्त्वपूर्ण प्रभाव पड़ता है। अतएव आर्थिक विकास की किसी भी योजना में भूमि-व्यवस्था का बड़ा ही महत्त्वपूर्ण स्थान है। भारत-जैसे कृषि-प्रधान देश के आर्थिक जीवन में तो भूमि का और भी महत्त्वपूर्ण स्थान है। किन्तु यहाँ की भूमि-व्यवस्था बड़ी ही दोषपूर्ण है। अतएव देश के आर्थिक विकास एवं कृषि की उन्नति के लिए उचित भूमि-सम्बन्धी नीति का अनुकरण अति आवश्यक हो जाता है। वास्तव में, कृषि की विभिन्न समस्याओं के समाधान के लिए सम्पूर्ण भूमि-व्यवस्था में आमूल परिवर्तन अनिवार्य है। १९४८ ई० में एक कृषि-सुधार समिति (Agrarian Reforms Committee) की नियुक्ति की गयी थी। समिति ने भूमि-सुधार के सम्बन्ध में कुछ मूलभूत सिद्धांतों का प्रतिपादन किया जिन्हें योजना आयोग ने स्वीकार कर लिया है। ये सिद्धांत निम्नलिखित है :—

(१) कृषि-व्यवस्था ऐसी होनी चाहिए जो कृषि के विकास में सहायक हो;

(२) भूमि-व्यवस्था शोषण मुक्त होनी चाहिए;

(३) उत्पादन की कुशलता अधिकतम होनी चाहिए; तथा

(४) सुधार की योजना व्यावहारिक होनी चाहिए।

इन सिद्धान्तों को कार्य रूप में परिणत करने के लिए कुछ परिवर्त्तनों की आवश्यकता होगी; जैसे—जमींदारी-उन्मूलन कानून द्वारा रैयतों की स्थिति में सुधार, जोतों की इकाई का निर्धारण, जोतों की चकबन्दी तथा कृषि के क्षेत्र में यथासम्भव यन्त्रों का प्रयोग। उक्त सिद्धान्तों के आधार पर ही देश की कृषि-नीति को आधारित होना चाहिये। इस प्रकार की नीति के निम्न-लिखित दो उद्देश्य होंगे :—(१) आर्थिक दृष्टिकोण से इसका उद्देश्य अधिकतम कृषि-उत्पादन होना चाहिए। (२) सामाजिक दृष्टिकोण से इसका उद्देश्य धन एवं आय के वितरण की विषमता को दूर करना, शोषण को समाप्त करना, रैयतों एवं मजदूरों के अधिकारों की सुरक्षा तथा ग्रामीण जनसंख्या के विभिन्न वर्गों को विकास का अवसर प्रदान करना होना चाहिए।

भूमि-नीति के उक्त उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए किसान एवं राज्यों के बीच सभी प्रकार के बिचवैयों को समाप्त करना आवश्यक है। यह सुधार अब प्राय: पूरा हो गया है तथा सभी राज्यों से जमींदारों तथा अन्य मध्यस्थों को समाप्त कर दिया गया है। किन्तु, केवल जमींदारी उन्मूलन से ही हमारा उद्देश्य पूरा नहीं हो सकता। अब दूसरा कदम कृषि को इस प्रकार से संगठित करना होना चाहिए जिससे अधिकतम उत्पादन हो सके। साथ ही, रैयतों के अधिकारों को सुरक्षित बनाना तथा इनके लिए उचित लगान का निर्धारण भी अनिवार्य है। बड़े-बड़े काश्तकारों के लिए जोतों की अधिकतम सीमा निश्चित की जानी चाहिए। भविष्य में व्यक्तिगत कृषि के लिए भूमि की पुनर्प्राप्ति की एक सीमा निश्चित की जानी चाहिए। छोटे-छोटे किसानों के लिए सहकारी कृषि को प्रोत्साहित करना चाहिए। सहकारी कृषि इस क्षेत्र में विशेष लाभप्रद सिद्ध होगी।

जमींदारी उन्मूलन

(Abolition of the Zamindari System)

अंग्रेजों ने स्वहित से प्रेरित होकर भारत के कुछ भागों में जमींदारों के साथ भूमि की व्यवस्था की थी। किन्तु, धीरे-धीरे यह प्रथा दोषपूर्ण सिद्ध होने लगी तथा इसके विरुद्ध आवाज उठायी जाने लगी। जवाहरलाल नेहरू ने अपनी आत्मकथा (Autobiography) में जमींदारों की

तुलना गाड़ी के पांचवें पहिये से, जो अनावश्यक होती है की है। अतएव स्वतंत्रता-प्राप्ति के बाद इस प्रथा को समाप्त करना आवश्यक समझा गया।

जमींदारी प्रथा के दोष (Defects of the Zamindari System) :—जमींदारी व्यवस्था जिस युग और परिस्थिति में अपनायी गयी थी उसके लिए वह सर्वथा उपयुक्त समझी गयी थी। लेकिन बाद में इस व्यवस्था में अनेक दोष स्पष्ट होने लगे जिनमें निम्नलिखित प्रमुख हैं :—

(१) **सरकारी आय में कमी** :—जमींदारों की मालगुजारी सदा के लिए निश्चित कर दी गयी थी। लेकिन मूल्य में वृद्धि, भूमि की उन्नति तथा विकास एवं जनसंख्या में वृद्धि आदि के फलस्वरूप जमींदारों ने किसानों की मालगुजारी को बढ़ा दिया। लगान की इस वृद्धि से सरकार को कोई विशेष लाभ नहीं हुआ। फ्लाउड कमीशन (Floud Commission) ने इस सम्बन्ध में यह अनुमान लगाया था कि स्थायी प्रबन्ध के कारण सरकार को प्रतिवर्ष २ से ७ करोड़ रुपये की क्षति होती थी। साथ ही, इससे समाज में आर्थिक विषमता भी बढ़ती थी।

(२) **सरकार का कार्य केवल मालगुजारी वसूलने तक ही सीमित था** :—कृषि तथा किसानों की स्थिति में सुधार से इसका प्रायः कोई सम्बन्ध नहीं था।

(३) **मध्यस्थ वर्ग का अभ्युदय** :—जमींदारों के कारण सरकार तथा किसानों के बीच सीधा सम्पर्क न रहा जिससे सरकार कृषि तथा किसानों के प्रति उदासीन हो गयी। सरकार को किसानों के विषय में विशेष जानकारी नहीं होने के कारण दोनों के बीच अज्ञानता की एक बड़ी दीवाल खड़ी हो गयी। बाढ़, अकाल तथा अन्य प्रकार के संकट में भी किसानों को मालगुजारी से छूट नहीं मिल पाती थी। जमींदार किसानों से तरह-तरह के बेगार वसूल करते थे। बेगार की प्रथा इतनी अधिक हो गयी थी कि इसके भार से गरीब किसानों की कमर ही झुकती गयी। इस प्रकार जमींदारी प्रथा के फलस्वरूप किसानों का आर्थिक शोषण बढ़ गया।

(४) **अनुपस्थित जमींदारी व्यवस्था की बुराइयाँ** :—अधिकतर जमींदार गाँव छोड़कर शहरों में रहने लगे जिससे अनुपस्थित जमींदारी-व्यवस्था (Absentee Landlordism) का चलन हो गया। इसके फलस्वरूप किसानों और जमींदारों के बीच भी एक भू-उपस्वत्वधारी वर्ग का निर्माण हो गया। कृषि एवं कृषकों के प्रति इस वर्ग की कोई सहानुभूति नहीं थी जिससे कृषि-विकास की प्रेरणा नष्ट प्राय-सी हो गयी।

(५) **किसानों के साथ अन्याय** :—जमींदारों के साथ स्थायी प्रबन्ध भूमि की पैमाइश किये वगैर ही हुआ था। मालगुजारी की रकम भूमि का सर्वेक्षण किये वगैर, भूमिगत अधिकारों एवं लेखों को देखे वगैर तथा विभिन्न प्रकार की मिट्टियों की उत्पादन-क्षमता पर विचार किये वगैर ही निश्चित की गयी थी। अधिकार तथा दखल-सम्बन्धी आवश्यक कागजात भी नहीं तैयार हुए थे। फलस्वरूप किसानों के अधिकार को निश्चित रूप नहीं दिया जा सका था। इस व्यवस्था के फलस्वरूप रैयतों पर दो प्रकार के अन्याय हुए। एक तो इनसे भू-स्वामित्व का अधिकार छीन लिया गया और द्वितीयतः उन्हें पूर्ण रूप से केवल जमींदारों की दया पर ही छोड़ दिया गया जिन्होंने इन पर नाना प्रकार से लगान बढ़ाना प्रारम्भ किया। किसान परिश्रम करके खेतों की उपज बढ़ाते थे, किन्तु उसका वास्तविक लाभ जमींदारों को ही मिलता था। परिणाम हुआ कि जिस अनुपात में किसान गरीब होने लगे उसी अनुपात में जमींदारों की दौलत भी बढ़ने लगी। इसे रोकने के लिए १८८५ ई० में बंगाल टेनैन्सी ऐक्ट द्वारा किसानों को उनके अधिकारों की रक्षा के लिए कुछ कानूनी अधिकार भी दिये गये, किन्तु इनसे किसानों की स्थिति में कोई मौलिक सुधार नहीं हो पाया।

इस प्रकार जमींदारी प्रथा के फलस्वरूप सरकार की आय में क्षति हुई, भूमि की उर्वरा-शक्ति में ह्रास हुआ, जमींदार दिन-पर-दिन धनी होते गये, मध्यस्थों की संख्या बढ़ती गयी, आय के वितरण में अधिक विषमता हुई तथा किसानों की आर्थिक एवं सामाजिक स्थिति और कृषि पर भी इसका बुरा प्रभाव पड़ा। फ्लाउड कमीशन (Floud Commission) के अनुसार स्थायी प्रबन्ध से किसानों के सभी अधिकार छिन गये, मालगुजारी बेलोचदार हो गयी, कर-निर्धारण में असमानता आ गयी तथा सरकार को कृषि के सम्बन्ध में उचित ज्ञान नहीं रहा। वास्तव में, यह प्रथा एक लोहे का शिकंजा बन गयी जिससे सभी सम्बन्धित वर्गों का साहस तथा कार्यारम्भ की शक्ति विनष्ट हो गयी। सरकार भी धीरे-धीरे इन दोषों से अवगत होने लगी जिसका अन्दाजा भारत सरकार द्वारा १९०२ ई० में भूमि-सम्बन्धी आय की नीति पर तैयार किये गये स्मृति-पत्र के निम्न बयानों से लगता है—"स्थायी बन्दोबस्ती भूमि-व्यवस्था की एक ऐसी प्रथा है जिसका अनुमोदन किसी भी सुसभ्य देश के अनुभवों के आधार पर नहीं किया जा सकता। भारत में भी जो प्रयोग किये गये हैं उनमें एक भी प्रयोग ऐसा नहीं है जिसके आधार पर इस प्रथा को न्यायसंगत सिद्ध किया जा सके। इस प्रथा ने अन्याय के साथ-साथ किसानों को जमींदारी की मर्जी पर छोड़ रखा है जिन्होंने किसानों पर तरह-तरह के अत्याचार किये हैं। अतः, जमींदारों से किसानों की रक्षा के लिए ऐसे कड़े-कड़े कानून बनाने पड़े हैं जिनकी आवश्यकता अस्थायी बन्दोबस्ती वाले क्षेत्रों में कभी नहीं पड़ी है!"

भारत में जमींदारी उन्मूलन के प्रयत्न :—जमींदारी-व्यवस्था के उपरोक्त दोषों के फलस्वरूप आधुनिक युग के लिए यह बिल्कुल अनुपयुक्त हो गयी थी। अतः इसे समाप्त करना अनिवार्य-सा हो गया।

सर्वप्रथम बंगाल सरकार ने १९३८ ई० में सर फ्लाउड की अध्यक्षता में स्थायी प्रबन्ध पर विचार करने के लिए एक बंगाल लैंड रेवेन्यू कमीशन (Bengal Land Revenue Commission) की नियुक्ति की। फ्लाउड कमीशन ने बहुमत द्वारा जमींदारी-उन्मूलन के पक्ष में अपनी राय दी। कमीशन के अनुसार वर्त्तमान परिस्थितियों में स्थायी प्रबन्ध असामयिक हो गया था। अतः, यह आधुनिक समय के लिए न्याय-संगत तथा उपयुक्त नहीं रह गया था। इसमें बहुत-से दोष आ गये थे। भूमि के मूल्य में वृद्धि के फलस्वरूप होने वाले लाभ से सरकार पूर्णतया वंचित रह गयी, किसान तथा राज्य के बीच प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं रहने के कारण किसानों की आर्थिक तथा सामाजिक स्थिति दिन-प्रति-दिन खराब होने लगी, इत्यादि। इन दोषों के फलस्वरूप किसानों का उत्साह समाप्त हो गया जिससे आर्थिक विकास एकदम रुक-सा गया। इस प्रकार आर्थिक, सामाजिक तथा राजनैतिक, प्रत्येक दृष्टिकोण से, जमींदारी-व्यवस्था असामयिक तथा हानिकारक सिद्ध हुई। अतः, आयोग ने बहुमत से जमींदारी व्यवस्था को समाप्त करने की सिफारिश की। १९४५ ई० में बंगाल दुर्भिक्ष जाँच आयोग (The Bengal Famine Enquiry Commission) ने भी अपना विचार इसी प्रकार से व्यक्त किया था कि जब तक देश की भूमि-व्यवस्था में मौलिक सुधार नहीं किया जाता एवं जमींदारी व्यवस्था को समाप्त नहीं किया जाता तब तक कृषि के विकास तथा अकाल से स्थायी सुरक्षा सम्भव नहीं है। नेशनल प्लानिंग समिति ने भी जमींदारी उन्मूलन के प्रस्ताव को स्वीकार करते हुए अपने प्रतिवेदन में बतलाया था कि सम्पूर्ण प्राकृतिक सम्पत्ति पर जनता का सामूहिक रूप से अधिकार होना चाहिए। अतः राज्य तथा किसानों के बीच किसी भी प्रकार के मध्यस्थ; जैसे—जमींदार, तालुकेदार तथा मालगुजारी आदि को स्वीकार करना युक्ति-

संगत नहीं होगा। इस समिति ने स्पष्ट शब्दों में जमींदारी व्यवस्था को आर्थिक दृष्टिकोण से हानिकारक, असामयिक तथा अन्यायपूर्ण बतलाया। अतः हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि जमींदारी व्यवस्था ऐतिहासिक दृष्टिकोण से किसानों को जालसाजी और कपट के पासे में उलझाने वाली रही है, आर्थिक दृष्टिकोण से यह व्यवस्था पातकी तथा राजनीतिक दृष्टिकोण में मध्य-कालीन की प्रतीक जान पड़ती है। अतएव इसका उन्मूलन बिल्कुल आवश्यक हो गया है।

अब तक सभी राज्यों में जमींदारी अथवा जागीरदारी व्यवस्था, जिसके अन्तर्गत देश की कुल प्रायः ४० प्रतिशत से भी अधिक भूमि थी, के उन्मूलन का कार्य प्रायः समाप्त हो गया है। इससे करीब दो करोड़ किसानों का राज्य से प्रत्यक्ष सम्बन्ध स्थापित हुआ है तथा उनकी आर्थिक एवं सामाजिक स्थिति में सुधार हुआ है। मध्यस्थों के उन्मूलन का कार्य इनको मुआवजा देकर किया गया है। सम्पूर्ण देश के मध्यस्थों के लिए प्रायः ५७० करोड़ रुपये की रकम मुआवजे के रूप में चुकानी पड़ेगी जिसमें अभी तक ३२० करोड़ रुपये का भुगतान नकद तथा बौंड के रूप में किया जा चुका है।

बिहार में जमींदारी उन्मूलन

(Zamindari Abolition in Bihar)

भारत में जमींदारी उन्मूलन का प्रयत्न सर्वप्रथम बिहार में ही प्रारम्भ हुआ १९४६ ई० में कांग्रेसी मन्त्रिमण्डल संगठित होने पर यह बात सर्वप्रथम सरकार के समक्ष आयी तथा १९४७ ई० में सरकार ने 'बिहार स्टेट एक्जिविशन ऑफ जमींदारी बिल' नामक एक बिल व्यवस्थापिका सभा के समक्ष रखा जिसका उद्देश्य राज्य तथा किसानों के बीच पड़नेवाले सभी मध्यस्थों को समाप्त करना था। इस बिल का नाम आगे चलकर बिहार जमींदारी उन्मूलन विधेयक (Bihar Abolition of Zamindari Bill) दिया गया। १९४८ ई० में यह विधेयक बिहार व्यवस्थापिका की दोनों सभाओं द्वारा स्वीकृत किये जाने पर भारत के गवर्नर जेनरल के यहाँ स्वीकृति के लिए भेजा गया। किन्तु भारत सरकार ने कुछ आवश्यक संशोधन के लिए इसे लौटा दिया। १९४९ ई० में पुनः कुछ संशोधन के बाद यह विधेयक गवर्नर जेनरल की स्वीकृति पाकर विधान बन गया। किन्तु इसकी वैधानिकता पर कुछ जमींदारों ने आपत्ति की और न्यायालय ने कानून में भूमि-सुधार की आवश्यक व्यवस्था नहीं होने के कारण इसे रद्द कर दिया। अतः, इसकी जगह पर पुनः १९५० ई० में 'बिहार भूमि-सुधार अधिनियम' (Bihar Land Reforms Act) बनाया गया। इसकी वैधानिकता पर भी आपत्ति की गयी, किन्तु भारतीय संविधान के ३१ वें अनुच्छेद के संशोधन ने सारी कठिनाइयाँ दूर कर दीं और भारत के सर्वोच्च न्यायालय ने इस कानून को पूर्णतः वैध ठहराया।

बिहार में जमींदारी उन्मूलन का कार्य इसी कानून के आधार पर किया गया है। उन्मूलन कार्यक्रम के प्रथम चरण में सुविधा के लिए ५०,००० रुपये कुल वार्षिक आय से अधिक की जमींदारियों को लेने का कार्य प्रारम्भ हुआ। इस प्रकार की जमींदारियों की संख्या १५५ थीं। १९५३-५४ ई० तक १० हजार से ५० हजार के बीच की सारी जमींदारियों को ले लिया गया। गया, हजारीबाग, मुंगेर, दरभंगा, पूर्णिया, पलामू, सहरसा और चम्पारण जिलों की सभी जमींदारियाँ २६ जनवरी, १९५५ ई० में ले ली गयीं तथा शेष ९ जिलों में भी जमींदारी उन्मूलन का कार्य १ जनवरी, १९५६ ई० को समाप्त हो गया। इस प्रकार लगभग १५० वर्षों के बाद बिहार में जमींदारी प्रथा समाप्त हुई।

बिहार भूमि-सुधार कानून का मुख्य उद्देश्य राज्य एवं किसानों के बीच पड़नेवाले सभी बिचवैयों को समाप्त कर, किसान, जो भूमि को जोतते हैं, को भूमि का वास्तविक मालिक बनाना

है। इससे किसान तथा सरकार के बीच सीधा सम्पर्क स्थापित हो गया जो कृषि में स्थायी सुधार के लिए परम आवश्यक है। इस नियम के अनुसार जमींदारी के साथ-साथ उससे सम्बन्धित पेड़, घाट, खान एवं खनिज, जंगल, हाट-बाजार, मछलीगाह तथा कचहरी आदि पर भी सरकार का अधिकार हो गया। इससे राज्य सरकार की आय में वृद्धि के साथ-साथ राष्ट्रीय हित के उद्देश्य से इनका समुचित उपयोग भी हो सकेगा। बिहार भूमि-सुधार कानून के अनुसार जमींदारियों को लेने के लिए मुआवजा देना पड़ा है। जमींदारों की कुल आमदनी में से कुछ खास-खास खर्चों को काटकर जो शुद्ध आमदनी (net income) थी उसके ३ से २० गुना तक मुआवजा दिया गया है। १ लाख से अधिक शुद्ध आय वाली जमींदारियों के लिए ३ गुना तथा ५०० से कम शुद्ध आयवाली जमींदारियों के लिए २० गुना मुआवजा दिया गया है। मुआवजे की कुल रकम एक ही साथ नगद रुपयों में न देकर सरकारी ऋण-पत्रों (Govt. Bonds) के रूप में दी गयी जिसकी अदायगी ४० वर्षों में किस्त के अनुसार होगी। बिहार में कुल जमींदारियों के लिए प्रायः १६० करोड़ रुपये मुआवजे के रूप में देने पड़े हैं।[1] जमींदारी उन्मूलन योजना से राज्य सरकार को कोई आर्थिक कठिनाई नहीं हुई। वास्तव में, जमींदारी-उन्मूलन के फलस्वरूप जो अतिरिक्त वार्षिक आय हुई है उसी से मुआवजे की रकम तथा सूद के भी चुकता हो जाने की आशा है। फिर भी, उन्मूलन कार्यक्रम के प्रारम्भिक वर्षों में सरकार की आर्थिक कठिनाइयाँ कुछ अवश्य बढ़ गयीं।

उत्तर प्रदेश में जमींदारी उन्मूलन
(Abolition of Zamindari in U. P.)

उत्तर प्रदेश में भी जमींदारी उन्मूलन का कार्य समाप्त हो गया है। १० जनवरी, १९५१ ई० को उत्तर प्रदेश की सरकार ने एक जमींदारी-उन्मूलन अधिनियम पारित किया जिसके अनुसार जमींदारों को उनकी सीर या खुदकास्त; बगीचे, निजी कुएं एवं तालाबों को छोड़कर शेष सभी भूमि के स्वामित्व से पृथक् कर दिया गया। इस अधिनियम के अन्तर्गत उत्तर प्रदेश की सरकार ने भी जमींदारों को उनकी सम्पत्ति की अठगुनी क्षति-पूर्ति देने की व्यवस्था की है। इसके अतिरिक्त छोटे-छोटे जमींदारों को क्षतिपूर्ति के अतिरिक्त उनकी वास्तविक सम्पत्ति के मूल्य के लगभग २ से २० गुना तक पुनर्स्थापना सहायता देने की व्यवस्था की गयी है। क्षति-पूर्ति के लिए उत्तर प्रदेश सरकार ने एक जमींदारी उन्मूलन कोष (Zomindari Abolition Fund) की स्थापना की है। उत्तर प्रदेश में क्षतिपूर्ति के रूप में जमींदारों को दी जानेवाली कुल अनुमानित रकम १६८·३४ करोड़ रु० है।

इस अधिनियम के अनुसार उत्तर प्रदेश में अब निम्नलिखित ४ प्रकार के कृषक होंगे :— (१) **भूमिधर** :—हर एक कृषक अपनी भूमि का १० गुना लगान देने के पश्चात् अपनी भूमि का मालिक बन सकता है। उसे अपनी भूमि के उपयोग करने, बेचने, रेहन, रखने, दान में देने अथवा भूमि के किसी भी भाग पर मकान, कुआँ आदि बनवाने की पूर्ण स्वतन्त्रता होगी। इस श्रेणी के अन्तर्गत लगभग २० लाख जमींदार भी आ गये हैं जो जमींदारी उन्मूलन से पूर्व अपनी बिना लगान पर उठायी हुई भूमि पर स्वयं खेती करते थे। इस अधिनियम के अनुसार जो कृषक अपनी भूमि का १० गुना लगान देकर "भूमि-धर" बन जाता है उसके लगान में आगामी ४० वर्षों के लिए ५०% की कमी की दर दी जाती है। (२) **सीरदार**—सीरदार वे कृषक हैं जिन्हें

1. India, 1959.

जमींदारी उन्मूलन के पूर्व भूमि पर स्थायी मौरूसी अधिकार था। अब इस नयी व्यवस्था के अन्तर्गत सीरदार को स्थायी और पैतृक अधिकार प्रदान कर दिये गये हैं। इस अधिनियम में यह उल्लेख किया गया है कि किसी भी सीरदार को अपनी भूमि बेचने अथवा कृषि के अतिरिक्त दूसरे उपयोगों में लाने से पूर्व भूमि-धर बनाना अनिवार्य है। (३) **असामी** :—जो कृषक १९४७ ई० के पूर्व गैर-मौरूसी थे अथवा जिनका अपनी भूमि पर अस्थायी अधिकार था उनको 'असामी' वर्ग में रखा गया। (४) **अधिवासी** :—ऐसे कृषक, जो छोटे-छोटे जमींदारों की भूमि पर खेती करते थे और जिनका उस भूमि पर कोई स्थायी स्वामित्व नहीं था इस नये अधिनियम के अन्तर्गत उनको 'अधिवासी' वर्ग में रखा गया है। बाद में संशोधन के अनुसार अधिवासी वर्ग को समाप्त कर दिया गया तथा असामी वर्ग के कृषकों को यह अधिकार दिया गया कि यदि वे "जमींदारी उन्मूलन अधिनियम" के लागू होने के ५ वर्ष बाद तक अपनी भूमि के वार्षिक लगान का १५ गुना राज्य सरकार को दे दें तब उन्हें भूमि पर स्थायी स्वामित्व का अधिकार दे दिया जायगा। इस अधिनियम के अन्तर्गत व्यक्तिगत भूमि की न्यूनतम सीमा ६¼ एकड़ तथा अधिकतम सीमा ५० से ८० एकड़ तक निर्धारित कर दी गयी है।

जमींदारी उन्मूलन के आर्थिक एवं सामाजिक परिणाम

(Economic and Social effects of Zamindari Abolition)

ब्रिटिश शासन काल में देश के प्रायः प्रत्येक भाग में किसानों तथा राज्य के बीच विभिन्न प्रकार के मध्यस्थ वर्ग के लोग आ गये थे जिनके जिम्मे देश की कुल प्रायः १७३४ लाख एकड़ भूमि थी। जमींदारी उन्मूलन के परिणामस्वरूप अब सरकार द्वारा इसकी व्यवस्था की जाने लगी है। इसका कृषि तथा किसानों के आर्थिक जीवन पर बहुत ही महत्त्वपूर्ण प्रभाव पड़ा है। किसान इससे विशेष रूप में लाभान्वित हुए हैं। वे जमींदारों के शोषण से सदा के लिए मुक्त हो गये। जमींदारी उन्मूलन के फलस्वरूप उप-अधिकृत भूमि की व्यवस्था सरकार स्वयं किसानों के साथ कर रही है जिससे किसानों का राज्य के साथ सीधा सम्पर्क स्थापित हो गया है। इतना ही नहीं, किसानों का भूमि पर स्वामित्व हो जाने से उन्हें कृषि-कार्य में प्रोत्साहन मिलेगा; फलस्वरूप उत्पादन अधिक होगा तथा किसानों की आर्थिक स्थिति में भी कुछ सुधार होगा। सरकार नयी भूमि की व्यवस्था करते समय किसानों को सहकारी कृषि के लिए बाध्य कर सकती है। इससे भी उत्पादन में पर्याप्त वृद्धि होगी। जमींदारी उन्मूलन के साथ-साथ विभिन्न राज्यों में जोतों की अधिकतम सीमा निर्धारित करने की भी व्यवस्था की गयी है। इससे ग्रामीण जीवन में आर्थिक असमानता दूर होगी।

इतना ही नहीं, किसान पहले जो लगान चुकाते थे, उसका एक बहुत बड़ा भाग जमींदार अपने व्यक्तिगत हित के लिए रख लिया करते थे। इससे जनसाधारण को कोई लाभ नहीं होता था। किन्तु, अब सरकार इस रकम को जन-कल्याण के कार्यों में व्यय करेगी। साथ ही, जमींदार किसान से जो तरह-तरह की गैर-कानूनी वसूली करते थे अथवा बेगार वगैरह भी लेते थे, वह भी समाप्त हो जायँगी। कुछ राज्यों, जैसे उत्तर प्रदेश में तो किसानों की मालगुजारी कम करने की व्यवस्था भी की गयी है। अतः जमींदारी उन्मूलन से सरकारी आय में वृद्धि हुई है, समाज से एक शोषक तथा निष्क्रिय वर्ग का अन्त हो गया, आर्थिक विषमता बहुत कुछ अंशों में कम हुई है तथा कृषि की उपज में वृद्धि के लिए प्रोत्साहन मिला है।

लेकिन, जमींदारी-उन्मूलन के फलस्वरूप प्रारम्भ में सरकार की आर्थिक कठिनाइयाँ और भी बढ़ जायेंगी। जमींदारी उन्मूलन कानून के अनुसार जमींदारों को उनकी जमींदारी के बदले में ५७० करोड़ रुपये मुआवजा तथा पुनर्वास सहायता (Compensation and Rehabilitation Grant) के रूप में चुकाना पड़ा है। इस प्रकार सदियों के शोषण के पश्चात् भी जमींदारों को क्षतिपूर्ति दी जाती है। यह किसी प्रकार भी उचित नहीं है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि भारतीय संविधान के कारण ही ऐसा करना पड़ रहा है, किन्तु संविधान में इस आशय के संशोधन द्वारा यह कठिनाई दूर की जा सकती थी। क्षतिपूर्ति से भूमि-सुधार का उद्देश्य तो पूरा अवश्य हो जाता है, किन्तु समाज में आर्थिक विषमता ज्यों-की-त्यों बनी रह जाती है। दूसरी ओर मुआवजा नहीं देने से सरकार को कोई आर्थिक कठिनाई नहीं उठानी पड़ती तथा इस रकम को विकास के अन्य कार्यों में लगाया जा सकता था। इस प्रकार विभिन्न राज्यों के जमींदारी-उन्मूलन कानूनों का यह एक बहुत बड़ा दोष है।

जमींदारी उन्मूलन के साथ-साथ भूमि की पैमाइश तथा भू-धारियों के अधिकारों का लेखा पुनः तैयार करना होगा। उत्तर प्रदेश के अस्थायी बन्दोबस्ती वाले क्षेत्रों में यह कठिनाई उतनी प्रबल नहीं है क्योंकि इन राज्यों में शासन-सम्बन्धी व्यवस्था तथा व्यक्तिगत अधिकारों का लेखा मौजूद है। किन्तु स्थायी व्यवस्था वाले क्षेत्रों मे शासन-व्यवस्था तथा अधिकार-सम्बन्धी कागजातों का प्रायः अभाव है। फिर भी, यह कठिनाई कोई बहुत बड़ी नहीं है और कुछ ही समय मे इसे दूर किया जा सकता है।

काश्तकारी सुधार
(Tenancy Reforms)

देश के भिन्न-भिन्न भागों में जो विभिन्न तरीकों से भूमि की व्यवस्था की गयी थी, उसका सबसे बड़ा दोष यह था कि सरकार ने केवल लगान की वसूली तथा इसके परिणाम पर ही अधिकतर ध्यान दिया था किसान तथा रैयतों के हितों की रक्षा की कोई व्यवस्था नहीं की गयी थी। इनके फलस्वरूप जमींदारी व्यवस्था में जमींदार किसानों पर मनमाने ढंग से कर लगाने तथा इन्हें अकारण ही भूमि से बेदखल करने लगे। लगान के अतिरिक्त किसानों से नाना प्रकार की सलामी आदि भी वसूल किये जाते थे जो कभी-कभी लगान से भी बढ़ जाते थे। रैयतवारी व्यवस्था में इस प्रकार के बहुत-से दोष आने लगे। राज्य के कर्मचारी रैयतों पर मनमाने ढंग से अत्याचार करते थे। साथ ही, इस व्यवस्था के अन्तर्गत भूमि को किराये पर देने की प्रथा प्रचलित हो गयी जिससे इस व्यवस्था में और भी दोष आ गये। इस प्रकार जमींदारी क्षेत्रों के साथ-साथ रैयतवारी क्षेत्रों में भी किसान को नाना प्रकार की कठिनाइयों से मुक्त करने के लिए काश्तकारी कानून की आवश्यकता जान पड़ने लगी। भिन्न-भिन्न राज्यों में सुधार लाने के लिए समय-समय पर विभिन्न नियम भी बनाये गये। किन्तु स्वतंत्रता-प्राप्ति के बाद काश्तकारी कानूनों में सुधार की गति में कुछ तीव्रता आ गयी है।

भिन्न-भिन्न राज्यों में पारित किये गये काश्तकारी कानूनों से रैयतों को जो लाभ हुए हैं इनमें निम्नलिखित विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं—(क) रैयतों की मनमानी बेदखली (ejectment) बन्द हो गयी है तथा काश्तकारों को अपनी भूमि पर दखली अधिकार (occupancy right)

मिल गया है। (ख) लगान में मनमानी वृद्धि रुक गयी है। साथ ही बकाया लगान की वसूली के लिए ब्याज की दर घटाकर सभी राज्यों में ६¼ प्रतिशत कर दी गयी है। बकाया लगान के लिए अधिक भूमि नीलाम के विरुद्ध भी कानून बनाये गये हैं। जमींदार रैयतों से जो नजराना या सलामी लेते थे, उसे भी बन्द कर दिया था। (ग) रैयतों से बेगार लेने की प्रथा भी समाप्त हो गयी। (घ) रैयतों को अपनी दखली भूमि बेचने अथवा हस्तान्तरित करने का अधिकार भी दिया गया है।

लेकिन, इन काश्तकारी कानूनों से रैयतों को वास्तविक लाभ बहुत कम हुआ। अज्ञानता तथा गरीबी के कारण रैयत इन कानूनों से पूरा लाभ नहीं उठा सके। फलस्वरूप आज भी बहुत-से किसान, जो बटाईदार आदि के रूप में कृषि करते हैं, भूमि के अधिकार से वंचित रह जाते हैं। अतः भूमि-व्यवस्था में आमूल परिवर्तन की आवश्यकता है। कांग्रेस द्वारा नियुक्त कृषि-सुधार समिति (Agrarian Reforms Committee) ने इस सम्बन्ध में यह नारा बुलन्द किया कि "**भूमि उसके जोतने वाले को होनी चाहिए।**" (Land must belong to the actual tillers of the soil.) योजना आयोग ने भी भूमि-सुधार के विषय में अपना सुझाव देते हुए कहा है कि कृषि-उत्पादन में वृद्धि के लिए रैयतों को भूमि पर दखली अधिकार देना तथा भूमि के विषम वितरण को समाप्त करना अनिवार्य है। आज इसी उद्देश्य से भिन्न-भिन्न राज्यों में भूमि-सुधार सम्बन्धी नये-नये कदम उठाये जाते हैं।

भारत में भूमि-सुधार की नीति एवं प्रगति

(Land Reforms and its Progress in India)

स्वतंत्रता-प्राप्ति के बाद काश्तकारों, उप-काश्तकारों तथा भूमि-हीन मजदूरों की स्थिति में सुधार के लिए सरकार द्वारा एक प्रगतिशील भूमि-सुधार-सम्बन्धी नीति को अपनाया गया है। स्वतंत्रता-प्राप्ति के पूर्व भी काश्तकारों की स्थिति में सुधार के लिए कुछ प्रयत्न अवश्य किये गये थे, किन्तु इनसे स्थिति में कोई सुधार नहीं हुआ। अतः उनकी स्थिति में क्रांतिकारी परिवर्तन अनिवार्य हो गया।

सर्वप्रथम **प्रथम पंचवर्षीय योजना** (First Five Year Plan) में इस बात को स्वीकार किया गया था कि राष्ट्रीय विकास में भूमि के स्वामित्व का प्रश्न सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है। इसका देश के आर्थिक एवं सामाजिक संगठन पर महत्त्वपूर्ण प्रभाव पड़ा है। साथ ही भूमि के स्वामित्व का कृषि की उपज से भी बहुत ही घनिष्ठ सम्बन्ध है। **अतः प्रथम योजना में देश की वर्तमान भूमि व्यवस्था में सुधार लाने के लिए निम्नलिखित बातों पर जोर दिया गया था :—**

(१) राज्य तथा किसानों के बीच के सभी प्रकार के मध्यस्थों को समाप्त करना;

(२) काश्तकारी कानूनों में सुधार जिससे लगान में कमी की जा सके, रैयतों के अधिकारों को अधिकाधिक सुरक्षा प्रदान की जा सके तथा रैयतों को उनके द्वारा जोती जानेवाली भूमि खरीदने की सुविधा प्रदान की जा सके;

(३) जोतों की अधिकतम सीमा निश्चित की जाय;

(४) खेतिहर मजदूरों की स्थिति में सुधार किया जाय; तथा

(५) सहकारिता के आधार पर कृषि के संगठन को प्रोत्साहित किया जाय।

---

1. India 1959—p. 262.

इस क्षेत्र में अन्तिम उद्देश्य सहकारी ग्राम-व्यवस्था (Co-operative Village Management) की स्थापना होना चाहिए।

अधिकांश राज्यों में मध्यस्थों को समाप्त करने का प्रयास योजना के पूर्व मे ही आरम्भ हो गया था तथा प्रथम योजनाकाल में प्रायः सभी राज्यों से मध्यस्थों को समाप्त कर दिया गया। देश की कुल प्रायः ४३ प्रतिशत भाग भूमि मध्यस्थों के अधीन थी जो अब राज्य के प्रत्यक्ष अधिकार में आ गयी है। प्रथम योजनाकाल में रैयतों के अधिकारों को सुरक्षा प्रदान करने तथा जोतों की अधिकतम सीमा के निर्धारण का भी प्रयत्न किया गया था। कुछ राज्यों में व्यक्तिगत कृषि के लिए वापस ली जाने वाली भूमि (Resumption of land for Personal cultivation) की भी सीमा निश्चित की गयी थी। अधिकांश राज्यों में इस आधार पर लगान के कम करने के प्रयास भी किये गये। इस प्रकार प्रथम योजनाकाल में जोतों की चकबन्दी तथा सहकारी कृषि-व्यवस्था पर भी जोर दिया गया। भूमि-हीन मजदूरों के पुनर्वास की योजनाएँ भी कार्यान्वित की गयीं।[1]

किन्तु वास्तव में, प्रथम योजना काल में मध्यस्थों के उन्मूलन के अतिरिक्त भूमि-सुधार के अन्य क्षेत्रों में प्रगति सन्तोषजनक नहीं कही जा सकती।

द्वितीय पंचवर्षीय योजना (Second Five Year Plan) में भूमि-सुधार कार्यक्रम को विशेष महत्त्व दिया गया था। द्वितीय योजनाकाल के अन्तर्गत भूमि-सुधार के दो प्रमुख उद्देश्य थे—(क) कृषि-उत्पादन की वृद्धि में वर्तमान व्यवस्था के फलस्वरूप उपस्थित बाधाओं को दूर करना, तथा (ख) उच्च स्तर की कुशल उत्पादकता वाली कृषि-व्यवस्था के शीघ्रातिशीघ्र निर्माण के लिए परिस्थिति तैयार करना। इन उद्देश्यों की पूर्ति के लिए द्वितीय योजना के अन्तर्गत भूमि-सुधार के कार्यक्रम से निम्नलिखित बातों पर जोर दिया गया था :—(१) काश्तकारी व्यवस्था में सुधार; (२) जोतों की अधिकतम सीमा निर्धारित करना; तथा (३) कृषि का पुनर्संगठन जिसमें जोतों की चकबन्दी तथा सहकारी कृषि-व्यवस्था के विकास पर पूरा-पूरा जोर दिया गया। इस क्षेत्र में योजना का अन्तिम उद्देश्य सहकारी ग्राम-व्यवस्था का निर्माण बतलाया गया था। १९६३ ई० में केन्द्रीय गृह-मंत्री की अध्यक्षता में एक उच्च-स्तरीय समिति का निर्माण किया गया था जिसका उद्देश्य विभिन्न राज्यों में भूमि-सुधार के कार्यक्रमों को तेजी से कार्यान्वित करने में सहायता प्रदान करना था।

तृतीय पंचवर्षीय योजना (Third Five Yer Plan) में भूमि-सुधार का प्रधान उद्देश्य दूसरी योजना में निर्धारित नीति को पूर्ण रूप से कार्यान्वित करना था। योजना में इस बात पर जोर दिया गया था कि भूमि-सुधार सम्बन्धी कार्यक्रमों को यथाशीघ्र पूर्ण करना चाहिए जिससे देर होने के कारण अनिश्चितता का भय नहीं आने पाये।

चतुर्थ पंचवर्षीय योजना (Fourth Five Year Plan) में भी भूमि-सुधार को कृषि विकास की योजना का एक आवश्यक अंग माना गया है। योजना काल में जोतों की अधिकतम सीमा को निर्धारित करने, जोतों की चकबन्दी तथा सहकारी कृषि आदि कार्यक्रमों में तीव्रता लाने पर पर्याप्त जोर दिया गया है। योजनाकाल में भूमि के अधिकारों का अभिलेख तैयार करने की व्यवस्था भी की गयी है।

---

1. Review of the First Five Year Plan, PP. 318-20.

भूमि-सुधारों की प्रगति
(Progress of Land Reforms)

देश में भूमि-सुधारों की प्रगति का वर्णन निम्नांकित शीर्षकों के अन्तर्गत किया जायगा—

(१) **मध्यस्थ वर्ग की समाप्ति** :—इसमें जमींदारों, जागीरदारों तथा अन्य प्रकार के मध्यस्थों की समाप्ति आते हैं।

(२) **काश्तकारी कानून** :—इसके अन्तर्गत (क) लगान में कमी करना, (ख) रैयतों के अधिकारों की सुरक्षा, (ग) खुदकाश्त के लिए भूमि की पुनर्प्राप्ति, तथा (घ) रैयतों को भूमि पर दखली अधिकार दिलवाना।

(३) **जोतों के स्वामित्व की सीमा का निर्धारण। इसके अन्तर्गत** (क) वर्तमान की जोतों पर, तथा (ख) भविष्य की जोतों पर सीमा।

(४) **कृषि का पुनर्संगठन—इसके अन्तर्गत** (क) चकबन्दी, (ख) सहकारी कृषि, (ग) सहकारी ग्राम-व्यवस्था, तथा (घ) भूमिहीन मजदूरों की स्थिति में सुधार।

अब इनमें से प्रत्येक की प्रगति का विवरण प्रस्तुत किया जा रहा है :—

(१) **मध्यस्थ वर्ग की समाप्ति** (Abolition of intermediaries) :—अबतक देश के प्रायः सभी राज्यों में जमींदारों, जागीरदारों तथा अन्य सभी प्रकार के मध्यस्थों के उन्मूलन का कार्य प्रायः समाप्त हो गया है। इसके परिणामस्वरूप देश के लगभग दो करोड़ किसानों का सरकार के साथ प्रत्यक्ष सम्बन्ध स्थापित हो गया है। मध्यस्थों के उन्मूलन की व्याख्या इसी अध्याय में पहले ही जमींदारी उन्मूलन के अन्तर्गत की गयी है।

(२) **काश्तकारी सुधार** (Tenancy Reforms) :—मध्यस्थों की समाप्ति के बाद अब भूमि-सुधार के क्षेत्र में राज्य द्वारा काश्तकारी व्यवस्था में सुधार का अधिकाधिक प्रयत्न किया जा रहा है। **योजना आयोग ने काश्तकारी व्यवस्था में सुधार के अन्तर्गत निम्नलिखित विषयों पर जोर दिया है—**

(क) **लगान में कमी** (Reduction of Rent),

(ख) **रैयतों के अधिकारों की सुरक्षा** (Security of tenures),

(ग) **काश्तकारी के लिए भूमि की पुनर्प्राप्ति** (Resumption of land for personal cultivation), तथा

(घ) **रैयतों को उनके द्वारा जोती जानेवाली भूमि के स्वामित्व का अधिकार** (Ownership for tenants)।

अधिकांश राज्यों में काश्तकारी कानूनों में इन उद्देश्यों को ध्यान में रखकर आवश्यकतानुसार जो संशोधन किये जा रहे हैं उनकी निम्नलिखित व्याख्या प्रस्तुत की जा रही है :—

(क) **लगान में कमी करना** (Reduction of Rent) :—आज से लगभग १०-१२ वर्ष पूर्व अधिकांश राज्यों में बेदखली रैयत (Non-occupancy tenants) तथा बटाईदार (Share croppers) से उपज का आधा अथवा इससे भी अधिक भाग लगान के रूप में ले लिया जाता था। लगान के अतिरिक्त रैयतों को अन्य कई प्रकार की देन भी चुकानी पड़ती थी। लगान की यह दर निश्चय ही अत्यधिक अन्यायपूर्ण है। अतएव योजना आयोग द्वारा यह सुझाव दिया गया कि लगान भूमि की कुल उपज के $\frac{1}{6}$ भाग से किसी भी प्रकार अधिक नहीं

होनी चाहिए। अधिकांश राज्यों में इस प्रकार के नियम बनाये गये हैं जिनके अनुसार लगान की अधिकतम दर एक-चौथाई अथवा इससे भी कम कर दी गयी है।[1] किन्तु अभी पंजाब, पश्चिमी बंगाल तथा जम्मू-कश्मीर आदि राज्यों में लगान की दर $\frac{1}{2}$ से $\frac{1}{3}$ के बीच है। योजना आयोग की राय में लगान की दर में इस प्रकार की विभिन्नता अनुचित है, अतएव इसमें कमी लाने का यथाशीघ्र प्रयास करना चाहिए। साथ ही, लगान-सम्बन्धी अधिनियम को लागू करने के लिए उपज के रूप में लगान चुकाने की व्यवस्था नहीं होकर नगद मुद्रा के रूप में चुकाने की व्यवस्था की जानी चाहिए।

जहाँ पर भूमि पर जनसंख्या का बोझ बहुत अधिक है तथा रैयत की सामाजिक एवं आर्थिक स्थिति कमजोर है, वहाँ उनके लिए कानून का संरक्षण प्राप्त करना बड़ा ही कठिन हो जाता है। साथ ही यहाँ पर कानूनी प्रक्रिया बहुत ही महँगी है जिससे रैयतों के लिए न्याय प्राप्त करना संभव नहीं है। (When there is pressure on land and the social and economic position of tenants in the village is weak, it becomes difficult for them to seek the protection of Law. Moreover, resort to legal processes is costly and generally beyond the means of tenants. Thus, in many ways, despite the legislation, the scales are weighed in favour of the continuance of existing terms and conditions)

भिन्न-भिन्न राज्यों में लगान को कम करने के प्रयास किये गये। किन्तु योजना आयोग के अनुसार इससे छोटे-छोटे किसान बहुत ही कम लाभान्वित हुए हैं। तृतीय योजना के निम्न बयान से यह बिल्कुल स्पष्ट है।

(ख) **रैयतों के अधिकारों की सुरक्षा** (Security of Tenures) :—कृषि की उपज में वृद्धि के लिए रैयतों के अधिकारों की रक्षा अनिवार्य है। कुछ राज्यों में रैयतों के अधिकारों की सुरक्षा के लिए नियम बनाये जा चुके हैं। रैयतों के अधिकारों की सुरक्षा के सम्बन्ध में तैयार किये गये नियमों की तीन प्रमुख विशेषताएँ हैं—सर्वप्रथम, रैयतों की बेदखली गैर-कानूनी तरीके से नहीं होनी चाहिए, द्वितीयतः, कोई भू-स्वामी केवल व्यक्तिगत कृषि के लिए ही भूमि की पुनर्याप्ति कर सकता है तथा तृतीयतः, यह कि भूमि की पुनर्याप्ति के समय रैयतों को कम-से-कम एक न्यूनतम मात्रा में भूमि छोड़ दी जानी चाहिए।

(ग) किन्तु, इस सम्बन्ध में **व्यक्तिगत कृषि के लिए भूमि की पुनर्याप्ति** (Resumption of land for personal cultivation) को लेकर कठिनाई उपस्थित हो रही है। कठिनाई यह है कि भूमि की पुनर्याप्ति किस सीमा तक होनी चाहिए। योजना आयोग ने इस सम्बन्ध में इस आशय की सिफारिश की है कि व्यक्तिगत कृषि के लिए अविवाहित महिलाओं, विधवाओं, नाबालिगों, सेना में काम करनेवालों एवं मानसिक अथवा शारीरिक रोगों से पीड़ित व्यक्तियों को भूमि की पुनर्याप्ति की छूट दी जा सकती है। अन्य व्यक्तियों को भी एक सीमा के अंदर भूमि की पुनर्याप्ति का अधिकार दिया जा सकता है। आयोग ने इस सीमा के सम्बन्ध में निम्नलिखित सिफारिश की है :—(१) जब किसी व्यक्ति के पास न्यूनतम जोत (Basic holding)[1] से कम

---

१ योजना आयोग के अनुसार प्रत्येक राज्य अपनी विशेष परिस्थितियों के अनुसार अपने राज्य के लिए न्यूनतम एवं पारिवारिक जोत की सीमा निश्चित करेंगे। किन्तु एक पारिवारिक जोत साधारणतया तीन न्यूनतम जोत के बराबर होनी चाहिए।

2. Third Five Year Plan, P. 223

भूमि हो तो वह अपनी सम्पूर्ण भूमि व्यक्तिगत कृषि के लिए ले सकता है। (२) यदि किसी व्यक्ति के पास न्यूनतम जोत (Basic holding) से अधिक, किन्तु पारिवारिक जोत (Family holding) से कम भूमि हो तो वह अपने काश्तकार से अपनी आधी भूमि व्यक्तिगत कृषि के लिए ले सकता है, किन्तु इस प्रकार ली जाने वाली भूमि न्यूनतम जोत से किसी भी हालत में कम नहीं होनी चाहिए।

अधिकांश राज्यों में इस सम्बन्ध में कानून बनाये जा चुके हैं। किन्तु कुछ राज्यों में कानून के निर्माण की अवधि (Pendency of legislation) में बड़े पैमाने पर रैयतों की वेदखली की जाने लगी। अतएव इस प्रकार की बेदखली को रोकना आवश्यक हो गया है। द्वितीय पंच-वर्षीय योजना में इस सम्बन्ध में आयोग द्वारा निम्नलिखित सुझाव दिये गये थे—(i) पिछले कुछ वर्षों में हुई बेदखलियों की पुनः जाँच की जाय और जहाँ उचित हो वहाँ रैयतों को पुनः अधिकार दिलाने की व्यवस्था की जाय; (ii) भूमि अधिकार के स्वेच्छिक त्याग (Voluntary surrender of land) को हतोत्साहित करने के लिए बेदखलीकरण के पंजीकरण की व्यवस्था की जानी चाहिए; तथा (iii) भूमि के मालिक को भूमि की पुनर्याप्ति की सीमा के अन्तर्गत ही भूमि लेने का अधिकार होना चाहिए। अधिकांश राज्यों ने आयोग के सुझावों को अपने राज्य के अधिनियमों में स्थान दिया है।

(घ) रैयतों को भूमि पर दखली का अधिकार (Rights of Ownership for tenants) —भारत में भूमि-सुधार का प्रधान उद्देश्य भूमि उसके जोतने वाले की हो (Land to the tillers of the soil) होनी चाहिए। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए प्रथम योजना में इस बात की व्यवस्था की गयी थी कि पुनर्याप्ति न होने योग्य भूमि का स्वामित्व रैयतों को दे देना चाहिए। इसके लिए भूमि के मालिक को मुआवजा दिया जायगा। प्रथम योजनाकाल में कुछ राज्यों में इस प्रकार की व्यवस्था की गयी थी, किन्तु योजना काल में इस क्षेत्र में संतोषजनक प्रगति नहीं हो सकी। अतएव द्वितीय योजनाकाल में इस प्रकार की व्यवस्था की गयी थी कि रैयतों को भूमि के स्वामित्व दिलाने की व्यवस्था होनी चाहिए। मुआवजा की रकम उचित किश्तों में दिलाने की व्यवस्था होनी चाहिए।

मध्य प्रदेश, महाराष्ट्र, गुजरात, उत्तर प्रदेश, पश्चिमी बंगाल, तथा आन्ध्र प्रदेश में रैयतों को स्वामित्व दिलाने की व्यवस्था की गयी है। असम, पश्चिमी बंगाल तथा जम्मू एवं कश्मीर मे जोतों के स्वामित्व की अधिकतम सीमा निर्धारित की गयी है तथा इस सीमा से अधिक भूमि पर उसके जोतने वाले रैयतों का अपने आप अधिकार हो जाने की व्यवस्था है। बिहार में रैयतों को २० वर्षों के बाद भूमि का स्वामित्व खरीदने का अधिकार दिया गया है।

भारत में भूमि सुधार का एक प्रधान उद्देश्य एक निश्चित सीमा से अधिक भूमि को भूमि के मालिक से लेकर उसे भूमि की भूख मिटाने के लिए छोटे-छोटे अथवा भूमि-हीन व्यक्तियों को दी जाय। प्रो० गैडगिल (D. R. Gadgil) का इस सम्बन्ध में निम्नांकित कथन विशेष रूप से उल्लेखनीय है: "सभी साधनों में भूमि एक ऐसा साधन है जिसकी मात्रा सर्वाधिक सीमित है तथा इसके स्वामित्व के दावेदार बहुत अधिक हैं। अतएव कोई महत्त्वपूर्ण कारण नहीं होने पर किसी एक व्यक्ति को बहुत बड़े भूमि क्षेत्र पर अधिकार बनाए रखने देना अन्यायपूर्ण होगा। साथ ही, देश की सामाजिक तथा राजनीतिक परिस्थितियों को देखते हुए भी भूमि का पुनर्वितरण अनिवार्य है।" (Among all resources the supply of land is most limited, and the clai-

mants for its possession are extremely numerous. It is, therefore, obviously unjust to allow the exploitation of any large surface of land by a single individual unless other overwhelming reasons make this highly desirable. Moreover in the context of the current socio-political climate, redistribution of land would rather appear to be imperative.)[1]

जोतों के स्वामित्व का सीमा-निर्धारण

(Fixation of Ceilings on Agricultural Holdings)

प्रथम पंचवर्षीय योजना में इस सिद्धान्त को स्वीकार किया गया था कि कोई व्यक्ति अधिक-से-अधिक कितनी भूमि का मालिक हो सकता है, इसकी एक निश्चित सीमा निर्धारित कर दी जानी चाहिए। योजना आयोग ने यह सुझाव दिया था कि प्रत्येक राज्य अपनी वर्तमान परिस्थितियों के अनुसार अधिकतम जोत की सीमा निर्धारित कर दें। अधिकतम जोत के निर्धारण में सुगमता के उद्देश्य से प्रथम योजनाकाल में प्रायः सभी राज्यों में भूमि की गणना की गयी थी। द्वितीय पंचवर्षीय योजना[2] में योजना आयोग ने इस आशय की सिफारिश की थी कि योजनाकाल में प्रत्येक राज्य में अधिकतम जोत की सीमा का निर्धारण कर उसका शीघ्रतापूर्वक कार्यान्वयन होना चाहिए। अधिकतम सीमा-निर्धारण के प्रायः दो उद्देश्य है : (१) सर्वप्रथम भविष्य में नयी भूमि लेने की सीमा का निर्धारण (Ceiling on future acquisition of land); तथा (२) दूसरा, वर्तमान भूमि की सीमा का निर्धारण (Ceiling on existing holding)। भविष्य में कोई व्यक्ति अधिक-से-अधिक कितनी भूमि ले सकता है, इस सम्बन्ध में आन्ध्र प्रदेश, असम, महाराष्ट्र, मध्य प्रदेश, मैसूर, राजस्थान, उत्तर प्रदेश तथा पश्चिमी बंगाल आदि राज्यों में एक सीमा तय कर दी गयी है। वर्तमान भूमि के सम्बन्ध में भी सीमा-निर्धारण का प्रयत्न किया जा रहा है। इसके लिए भी आन्ध्र प्रदेश, असम, बिहार, मैसूर, पंजाब, राजस्थान तथा पश्चिमी बंगाल के राज्यों में कानून बनाये जा चुके हैं जिनके अनुसार विभिन्न रूपों में वर्तमान जोतों की निम्नलिखित सीमा निर्धारित की गयी है :—

कृषि जोतों की अधिकतम सीमा

राज्य	जोतों की अधिकतम सीमा	अतिरिक्त भूमि (Surplus land)
आन्ध्र	१८ से २१६ एकड़	३० हजार हेक्टर
असम	२५ एकड़	२७ ,, ,,
बिहार	१८ से ६० एकड़	....
गुजरात	१९ से १३२ एकड़	२० ,, ,,
हरियाना	२७ से १०० एकड़	७३ ,, ,,
केरल	१२ से १५ एकड़	....
महाराष्ट्र	१८ से १२६ एकड़	१५२ ,, ,,
मैसूर	२७ से २१६ एकड़	....
मध्य प्रदेश	२५ से ७५ एकड़	३४ ,, ,,
उत्तर प्रदेश	४० से ८० एकड़	९३ ,, ,,
पश्चिमी बंगाल	१२·४ से १७·३ एकड़	३५४ ,, ,,

1. Report of the Committee of the Panel on Land Reform, p. 99.
2. Second Five Year Plan, pp. 196-97.

कई राज्यों में सीमा-निर्धारण का कार्य प्रारम्भ हो गया है। जम्मू कश्मीर में यह कार्य पूर्ण हो गया है तथा इसके परिणामस्वरूप १·८ लाख हेक्टर अतिरिक्त भूमि प्राप्त हुई है जिसका वितरण भी किया जा चुका है। महाराष्ट्र में १·५ लाख हेक्टर भूमि को अधिक भूमि घोषित किया गया है तथा इस प्रकार की ५७ हजार हेक्टर भूमि भी वितरित की गयी है। उत्तर प्रदेश में ६७ हजार हेक्टर अधिक भूमि प्राप्त हुई है जिसमें ५५ हजार हेक्टर भूमि वितरित की गयी है। सम्पूर्ण देश के लिए १०·७५ लाख हेक्टर भूमि अतिरिक्त घोषित की गयी है। इसमें से ५ लाख हेक्टर भूमि का वितरण किया जा चुका है।

भूमि की हदबंदी से सम्बन्धित सम्पूर्ण प्रश्नों को सितम्बर १६७० ई० में एक Central Land Reforms Committee के जिम्मे सुपुर्द किया गया। समिति ने विभिन्न राज्यों से इस सम्बन्ध में आँकड़ों को एकत्र किया तथा सभी बातों पर विचार करते हुए कुछ राज्यों के अधिनियमों में समानता लाने के लिए अगस्त, १६७१ ई० में कुछ सामान्य सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया जो विभिन्न राज्यों के लिए इस सम्बन्ध में कानून बनाने के निर्देश का कार्य करेंगे। इस प्रतिवेदन पर अप्रैल, १६७२ में मुख्य मंत्रियों के सम्मेलन में विचार किया गया तथा अंतिम रूप से निम्नांकित निर्देश निश्चित किये गये :—

(क) सीमा का निर्धारण एक परिवार (Family) के लिए किया जाना चाहिए। परिवार के अंतर्गत पति-पत्नी तथा नाबालिग बच्चे सम्मिलित होंगे।

(ख) जब परिवार के सदस्यों की संख्या ५ से अधिक हो, तो ५ से अधिक प्रति अतिरिक्त सदस्य के लिए अधिक भूमि की व्यवस्था की जा सकती है, किन्तु इस प्रकार से प्राप्त भूमि अधिकतम जोत के दुगने से अधिक नहीं हो सकती।

(ग) निश्चित रूप से सिंचित तथा वर्ष में दो फसल देनेवाली भूमि के लिए अधिकतम सीमा १० से १८ एकड़ के बीच निश्चित की जा सकती है। भूमि की उपजाऊ शक्ति, सिंचाई की सुविधा तथा फसलों की प्रकृति के अनुसार अधिकतम सीमा में परिवर्तन किया जा सकता है, असिंचित भूमि के लिए भी अधिकतम सीमा प्रति परिवार ५४ एकड़ होनी चाहिए।

(घ) राज्यों के वर्तमान अधिनियमों में यंत्रीकृत कृषि, सुव्यवस्थित फार्म इत्यादि के सम्बन्ध में जो छूट की व्यवस्था की गयी है उसे समाप्त कर देना चाहिए।

(च) चाय, कहवा तथा रबर के बगानों के सम्बन्ध में जो छूट की व्यवस्था वर्तमान अधिनियमों में है उस प्रश्न पर सम्बद्ध मंत्रालयों तथा राज्य सरकारों द्वारा सम्मिलित रूप से विचार करना चाहिए। तब इस तरह अन्य छूटों पर मुख्य मंत्रियों द्वारा विचार कर इस सम्बन्ध में एक राष्ट्रीय नीति का निर्धारण होना चाहिए।

१६७२ ई० में कांग्रेस के चुनाव घोषणा-पत्र में इस सम्बन्ध में निम्नांकित की स्पष्ट रूप से चर्चा की गयी—"Land Reforms hold the key to greater efficiency in agricultural production and the evolution of a more equalitarian social order in rural areas. A ceiling for a family of five members may be fixed within the range of 10 to 18 acres of perennial irrigated land, or irrigited land capable of growing two crops."

किन्तु जोतों के स्वामित्व की सीमा-निर्धारण के कार्य की प्रगति संतोषजनक नहीं रही है। यद्यपि इस सम्बन्ध में नियम सभी राज्यों में बनाये जा चुके हैं तथापि अब तक केवल कुछ ही राज्यों में इसे पूर्णरूप से लागू किया जा सका है।

बिहार में जोतों के स्वामित्व का सीमा-निर्धारण (Fixation of Ceilings on Land Holdings in Bihar) :—बिहार में अधिकतम जोत की सीमा तय करने के उद्देश्य से बिहार कृषि-भूमि (हदबन्दी और व्यवस्था) विधेयक, १९५५ ई० में तैयार किया गया। किन्तु यह विधेयक चन्द कारणों से उस समय स्थगित कर दिया गया। इस आशय का एक नया विधेयक पुन: १९६० ई० में प्रस्तुत किया गया जो १९६१ ई० में पारित हुआ तथा २० अप्रैल, १९६२ ई० से यह लागू किया गया।

इस कानून के अनुसार एक परिवार के पास विभिन्न प्रकार की भूमि अधिक-से-अधिक कितनी रह सकती है, इसकी एक सीमा निश्चित कर दी गयी है। साथ ही, इस अधिनियम के अन्तर्गत जमीन रखने वाले छोटे-से-छोटे किसानों को भी जमीन का एक अंश सरकार को Land Levy के रूप में सौंपने के लिए बाध्य किया जायगा। इस कानून के अनुसार प्रत्येक भूमिपति, जिसका परिवार पाँच व्यक्तियों से अधिक का नहीं हो, उसके लिए भूमि की अधिकतम सीमा इस प्रकार से निश्चित की गयी है :—

(१) नहर द्वारा सिंचाई-प्राप्त भूमि—	२० एकड़
(२) नल-कूपों द्वारा सिंचाई-प्राप्त भूमि	३० एकड़
(३) दियारे की भूमि	५० एकड़
(४) पहाड़ी इलाके की भूमि	६० एकड़

जुलाई, १९७१ ई० में राज्य सरकार में भूमि की अधिकतम सीमा को आधा करने के लिए एक अध्यादेश जारी किया, किन्तु इस अध्यादेश को राष्ट्रपति की स्वीकृति नहीं मिल पाई है। आगे चलकर अधिकतम सीमा को सिंचित क्षेत्र के लिए घटा कर १८ एकड़ कर दिया गया। जिन किसान परिवारों के पास इससे अधिक भूमि होगी, उसे सरकार ले लेगी। साथ ही, कानून में इस बात की भी स्पष्ट रूप से व्याख्या की गयी है कि जिसके पास उपरोक्त हदबन्दी के अनुसार पूरी भूमि होगी, उसे विरासत के रूप में और भूमि नहीं मिल सकती। इसके साथ ही, इस कानून के अनुसार चन्द वर्ग के लोगों को छोड़कर कोई भी किसान अपनी भूमि बटाई पर नहीं दे सकता।

अब इस प्रकार के कानून की व्यावहारिक उपयोगिता के सम्बन्ध में विचार करना अनिवार्य है। सामाजिक न्याय की दृष्टि से भूमि की हदबन्दी उचित अवश्य है, किन्तु इसकी व्यावहारिक उपयोगिता पर सन्देह प्रकट किया जा सकता है। बिहार में इस हदबन्दी कानून से कुल प्राय: दो-ढाई लाख एकड़ से अधिक भूमि प्राप्त नहीं की जा सकती। इतनी भूमि राज्य के १७ लाख भूमि-हीन परिवारों के लिए निश्चय ही अपर्याप्त है। इसको यदि राज्य के प्राय: १७ लाख भूमि-हीन परिवारों में वितरित किया जाय तो प्रति परिवार को १ एकड़ से भी कम भूमि प्राप्त होगी। क्या इससे भूमिहीन व्यक्तियों की समस्या का समाधान किया जा सकता है ? क्या इससे समाजवादी ढाँचे की सामाजिक व्यवस्था के निर्माण में सहायता मिलेगी ?

इस प्रकार स्पष्ट है कि यह कानून योजना आयोग के विशुद्ध सिद्धांतवादी विचारकों के मस्तिष्क की उपज है। इसकी व्यावहारिक उपयोगिता बहुत ही कम है। इस प्रकार के प्रयास से समाजवादी ढाँचे की सामाजिक व्यवस्था का निर्माण तो दूर की बात है, इससे आम जनता के जीवन-स्तर में निश्चित रूप से कमी होगी। भूमि की हदबन्दी से विशेषत: मध्यम वर्ग के किसानों की कठिनाइयाँ बहुत बढ़ जायँगी। साथ ही, इससे भूमि-हीन व्यक्तियों को भी कोई विशेष लाभ नहीं हो पायगा। प्रति परिवार को यदि एक एकड़ भूमि भी दे दी जाय तो क्या वे इतनी भूमि के आधार पर सफल कृषि कर सकते हैं ? ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था की

जानकारी रखने वालों से यह बात छुपी नहीं है कि छोटे किसानों को कृषि कार्य में कितनी अधिक कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। इसके प्रत्युत्तर में सरकार ने सहकारी खेती की स्थापना की सिफारिश की है। किन्तु अब तक जहाँ भी इस देश में सहकारी-कृषि की स्थापना का प्रयास किया गया है उसमें बहुत ही कम सफलता मिल पायी है। इससे यह जान पड़ता है कि अफसर-शाही के बल पर साम्यवादी प्रकार की सामूहिक कृषि-व्यवस्था भले ही सम्भव हो जाय, सहकारी कृषि की स्थापना के क्षेत्र में भी बहुत-सी कठिनाइयाँ होंगी।

इतना ही नहीं, बटाई पर भूमि देने के सम्बन्ध में इस कानून में जो निषेध लगाया गया है, उसका परिणाम क्या होगा, इसका भी सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है। वर्त्तमान परिस्थितियों में इस प्रकार के कानून की व्यवस्था का परिपालन होना असम्भव ही जान पड़ता है। इससे स्पष्ट है कि नया अधिनियम योजना आयोग द्वारा घोषित उद्देश्यों की पूर्त्ति नहीं कर सकता। संभवतः इसलिए राज्य सरकार इस योजना को कार्यान्वित करने में विलम्ब कर रही है। किन्तु अब राज्य सरकार दृढ़ संकल्प है तथा आशा है कि शीघ्र ही इस अधिनियम को पूर्णतया लागू किया जायगा।

जोतों का चकबन्दी
(Consolidation of Holdings)

भारतीय कृषि में स्थायी सुधार लाने के लिए जोतों की चकबन्दी अति आवश्यक है। यही कारण है कि विभिन्न राज्यों में चकबन्दी के सम्बन्ध में राज्य सरकारें बहुत दिलचस्पी ले रही हैं। प्रथम योजना के अन्तर्गत भी योजना आयोग ने प्रत्येक राज्य में चकबन्दी के कार्यक्रम को तत्परता के साथ आगे बढ़ाने पर जोर दिया था। हमारे देश में चकबन्दी का कार्य राज्य के विभिन्न भागों में एक पीढ़ी पहले से ही होता आ रहा है, किन्तु इसमें बहुत कम सफलता मिली है। प्रथम योजना के अन्त तक इस सम्बन्ध में अधिकांश राज्यों के अपने-अपने कानून बन गये थे। द्वितीय पंचवर्षीय योजना में योजना आयोग ने इसे शीघ्रातिशीघ्र कार्यान्वित करने पर जोर दिया था। आयोग ने राष्ट्रीय विस्तार और सामुदायिक विकास खण्डों में चकबन्दी के कार्य पर अत्यधिक जोर देने की सिफारिश की थी। किन्तु द्वितीय योजनाकाल में चकबन्दी के क्षेत्र में अधिकांश राज्यों में बहुत कम प्रगति हुई। द्वितीय योजना के अन्त तक कुल १२०·५ लाख हेक्टर भूमि में ही चकबन्दी का कार्य पूरा हुआ। तृतीय योजना में कुल १२० लाख हेक्टर भूमि में चकबन्दी हुआ, यानी १९६५-६६ तक कुल २४० लाख हेक्टर भूमि में चकबन्दी की गयी। चतुर्थ योजना में प्रायः ९४ लाख हेक्टर अतिरिक्त भूमि में चकबन्दी का आयोजन है। तृतीय योजना काल में इस कार्यक्रम पर १९·२ करोड़ रुपये व्यय हुआ जबकि चतुर्थ योजना में इस मद में २८·४ करोड़ रुपये व्यय की व्यवस्था है।

नयी कृषि-नीति एवं नागपुर का भूमि-सुधार प्रस्ताव (New Agrarian Policy and Nagpur Resolution on Land Reforms) :—द्वितीय योजना में प्रसारित कृषि-सम्बन्धी नीति का प्रधान दोष यह था कि यह छिट-फुट (Piecemeal) तरीके से तैयार की गयी थी तथा इसमें ग्रामीण जीवन के विकास के लिए समुचित सुविधाओं की व्यवस्था नहीं थी। काँग्रेस दल ने शीघ्र ही इस कमी को महसूस किया। वास्तव में, भारत जैसे अविकसित देश में जो औद्योगीकरण की ओर उन्मुख हो, एक सुनिश्चित कृषि-नीति की बहुत प्रबल आवश्यकता है। अतएव जनवरी, १९५९ ई० में काँग्रेस के नागपुर वार्षिक अधिवेशन में देश की कृषि-नीति के सम्बन्ध में एक प्रस्ताव पारित हुआ।

इस प्रस्ताव की निम्नलिखित प्रधान विशेषताएँ हैं :—(१) गाँवों का संगठन ग्राम पंचायत एवं सहकारी समितियों के आधार पर होगा। इन दोनों संस्थाओं को अपने कार्यों के सम्पादन के लिए पूरा-पूरा अधिकार होना चाहिए। गाँव के सभी स्थायी निवासी इन समितियों के सदस्य होंगे। कई गाँवों की सहकारी समितियाँ मिलकर एक संघ का निर्माण करेंगी। इन समितियों का प्रधान उद्देश्य कृषि एवं गाँवों के आर्थिक विकास के लिए चतुर्दिक प्रयास करना होता है। ये समितियाँ गाँवों को साख एवं सुधरे हुए औजार प्रदान करेंगी, खेती के तरीकों में सुधार एवं उपज के विक्रय की व्यवस्था करेंगी।

(२) भविष्य में कृषि का संगठन सहकारी संयुक्त कृषि (Co-operative Joint Farming) के आधार पर होगा। इस प्रकार की व्यवस्था में भूमि का स्वामित्व किसानों के हाथ में रहेगा तथा इन्हें उनकी भूमि के अनुपात में उपज में से हिस्सा मिलेगा।

(३) सहकारी संयुक्त-कृषि समितियों की स्थापना के पूर्व प्रथम चरण के रूप में सम्पूर्ण देश में सेवा सहकारी समितियों की स्थापना की जानी चाहिए। सेवा सहकारी समितियों की स्थापना का कार्य तीन वर्षों के अन्तर्गत पूरा हो जाना चाहिए।

(४) सभी राज्यों में वर्त्तमान तथा भविष्य में ली जानेवाली जोतों की अधिकतम सीमा निर्धारित (Fixation of ceilings on existing and future holdings) कर दी जानी चाहिए। इस सम्बन्ध में कानून तथा मध्यस्थों के उन्मूलन का कार्य १९५९ ई० के अन्त तक पूरा हो जाना चाहिए।

(५) खेती प्रारम्भ होने के पूर्व ही प्रत्येक फसल का एक न्यूनतम मूल्य निश्चित कर देना चाहिए और आवश्यकता पड़ने पर इस मूल्य पर सरकार को उस फसल को खरीदने के लिए तैयार रहना चाहिए।

(६) खाद्यान्नों के थोक व्यापार को राजकीय व्यापार (State trading) के अन्तर्गत लाना चाहिए।

(७) कृषि-योग्य बेकार भूमि को यथाशीघ्र खेती के अन्तर्गत लाने का प्रयास होना चाहिए।

भारत सरकार की वर्तमान कृषि-नीति इसी प्रस्ताव पर आधारित है। सरकार की यह कृषि-नीति निश्चय ही सराहनीय है। किन्तु निष्कर्ष के तौर पर यह कहा जा सकता है कि इस नीति के निम्नलिखित तीन प्रमुख आधार होने चाहिए :—सर्वप्रथम तो कृषि-नीति का उद्देश्य किसानों की आर्थिक, सांस्कृतिक एवं सामाजिक स्थिति में सुधार होना चाहिए। दूसरा, यह कि कृषि-नीति का प्रधान उद्देश्य गाँवों के संगठन को इस प्रकार से प्रगतिशील बनाना होना चाहिए, जिससे की खाद्यान्न तथा कच्चे पदार्थों की अतिरिक्त उपज पर्याप्त मात्रा में बाजार के लिए उपलब्ध हो सके। साथ ही, कृषि-नीति में गाँवों के जनतांत्रिक संगठन तथा इसमें निहित स्वतन्त्रता की भावना को बनाये रखने पर भी जोर देना चाहिए। इन तीनों उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए सहकारी कृषि का संगठन ही एक-मात्र उपाय नजर आता है।

निष्कर्ष :—भारत में स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद भूमि-सुधार कार्यक्रम बड़े ही उत्साह के साथ प्रारम्भ किये गये। इस सम्बन्ध में पहले पर्याप्त सफलता भी प्राप्त हुई। उदाहरण के लिए, विभिन्न राज्यों से जमींदारों तथा अन्य मध्यस्थों का उन्मूलन इस क्षेत्र में बड़ा ही क्रांतिकारी कदम रहा है। किन्तु इसे भूमि-सुधार का अन्तिम उद्देश्य नहीं कहा जा सकता। वास्तव में, यह इस क्षेत्र में पहला ही कदम था। अभी भूमि-सुधार के क्षेत्र में बहुत बड़े-बड़े कार्यों को करना है

जैसे—जोतों की चकबन्दी, जोतों की सीमा का निर्धारण तथा **काश्तकारी** सुधार इत्यादि । इस सम्बन्ध में भी विभिन्न राज्यों द्वारा प्रयास किये जा रहे हैं, किन्तु राज्य अब इस दिशा में अत्यधिक शिथिलता-पूर्वक कार्य कर रहे हैं । प्रो० बालजित सिंह का इस सम्बन्ध में निम्नांकित कथन बड़ा ही महत्त्वपूर्ण है : "Not only have the recent land reforms not touched the issue of land distribution but they have also failed in preventing sub-letting and rack-renting. Quite many of them who till the soil have no land rights where as many of those who do not cultivate still own and possess land." वास्तव में, भारतीय कृषि की सफलता के लिए भूमि-सुधार की गति को और भी तीव्र बनाना अनिवार्य है । इस सम्बन्ध में हमारा नारा **'भूमि उसके जोतने वाले की हो'** (Land to the tillers of the soil) होना चाहिए । इसी व्यापक संदर्भ में सरकार तथा योजना अधिकारी को कार्य करना चाहिए तभी कृषि तथा किसानों की स्थिति में सुधार किया जा सकता है । प्रो० दन्तवाला का भी इस सम्बन्ध में यह कथन विशेष रूप से उपयुक्त जान पड़ता है कि **"भूमि-सुधार के लिए उठाये गये अब तक के कदम निश्चय ही संतोषजनक हैं, किन्तु इन्हें उचित रूप में लागू करने के अभाव में इनका परिणाम संतोषजनक नहीं हो पाया है ।"** (By and large, land reforms in India enacted so far and those contemplated in the near future are in the right direction; and yet due to lack of implementation the actual results are far from satisfactory.)

विशेष अध्ययन-सूची

1. Baljit Singh : Next Step in Village India.
2. Congress Agrarian Reforms Committee Report.
3. Report of the Bengal Land Revenue Commission.
4. First, Second, Third and Fourth Five Year Plans of India.

★

अध्याय : १६

किसान तथा उसके उपकरण
(The Agriculturist and his Equipments)

प्राक्कथन :—कृषि की उन्नति किसानों की आर्थिक एवं वैधानिक स्थिति के साथ-साथ उनके उपकरणों पर भी निर्भर करती है। किसान की भूमि किस प्रकार की है, उसकी जोतों का आकार क्या है, वह किस प्रकार के मवेशी एवं औजारों का प्रयोग करता है, इत्यादि का भी कृषि की सफलता से घनिष्ठ सम्बन्ध है। भूमि के प्रति किसानों की वैधानिक स्थिति, जोतों का आकार तथा सिंचाई के विभिन्न साधन आदि का विवरण पिछले कुछ अध्यायों में किया जा चुका है। अतएव अब इस अध्याय में हम किसान एवं उसके उपकरणों का अध्ययन करेंगे।

किसान (The Agriculturist) :—सर्वप्रथम हम किसान, यानी **हल के पीछे के वास्तविक व्यक्ति** (Man behind the Plough) की स्थिति का अध्ययन करेंगे। भारतीय किसान के सम्बन्ध में विद्वानों द्वारा विभिन्न प्रकार के विचार व्यक्त किये गये हैं। उदाहरण के लिए डॉ० वोयेलकर (Voelker) ने कृषि-सम्बन्धी अपने विवरण में भारतीय किसान की भूरी-भूरी प्रशंसा की है। कृषि आयोग ने भी इस बात को स्वीकार किया है कि जिन परिस्थितियों में भारतीय किसान कार्य करता है उनमें कृषि में सुधार के सम्बन्ध में कोई भी सुझाव देना आसान नहीं है। इन विचारों से स्पष्ट है कि भारतीय कृषि के पिछड़े होने के लिए यहाँ की परिस्थितियाँ ही बहुत हद तक उत्तरदायी हैं, इसमें किसानों का कोई दोष नहीं है। किन्तु इन विचारों के विपरीत कालवर्ट (Calvert) का यह कथन कि किसी देश की समृद्धि उसके प्राकृतिक साधनों पर नहीं, वरन् उसके निवासियों की शक्ति एवं साहस पर निर्भर करती है, इस बात की ओर संकेत करता है कि भारतीय किसान इसलिए निर्धन हैं कि इनमें ये सारे गुण नहीं पाये जाते हैं। अतएव इन विभिन्न विचारों से इस सम्बन्ध में किसी निश्चित निष्कर्ष पर पहुँचना कुछ कठिन हो जाता है।

किन्तु वास्तविकता यह है कि जहां परिस्थितियाँ अनुकूल होती है, भारतीय किसान सफलतापूर्वक कार्य कर लेता है। परन्तु जहाँ वर्षा कम होती है या भूमि की व्यवस्था दोषपूर्ण है, वहाँ किसानों की स्थिति अत्यन्त चिन्ताजनक हो जाती है। इंगलैंड, जापान तथा अमेरिका आदि देशों की तुलना में शारीरिक एवं मानसिक दृष्टि से भारतीय किसान निम्न अवश्य हैं, किन्तु इसके लिए यहाँ की सामाजिक, आर्थिक, ऐतिहासिक, राजनीतिक एवं भौगोलिक परिस्थितियाँ बहुत हद तक उत्तरदायी है। भारतीय किसान बहुधा बहुत-सारी बीमारियों का शिकार हो जाता है जिससे वह यदि जीवित भी रहता है तो काम करने से असमर्थ हो जाता है।

इतना ही नहीं, १९७१ ई० की जनगणना के अनुसार कुल केवल २९ प्रतिशत भारतीय ही शिक्षित हैं। शेष लोग अशिक्षा के घोर अन्धकार में फँसे हुए हैं। देश की वर्तमान शिक्षा-प्रणाली भी दोषपूर्ण है। इस प्रणाली में व्यावहारिकता का अभाव है। कृषि-विद्यालयों में भी जा

कृषि-सम्बन्धी शिक्षा दी जाती है उसमें भी व्यावहारिकता का अभाव है। किसानों की यह निर्धनता, अशिक्षा एवं दुर्बलता भारतीय कृषि के विकास के मार्ग में बहुत बड़ी बाधा सिद्ध हो रही है।

किन्तु इन सब अवगुणों के बावजूद उचित उपायों द्वारा भारतीय किसानों को शिक्षित, सुयोग्य, परिश्रमी एवं उत्साही बनाया जा सकता है। स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद भारतीय किसानों को जागरूक बनाने के लिए सामुदायिक विकास कार्यक्रम के अन्तर्गत महत्त्वपूर्ण कार्य किये जा रहे हैं। इससे भारतीय किसान के जीवन में चतुर्दिक विकास की आशा की जाती है।

भारत की मिट्टी

(Soil)

मिट्टी का भी हमारे आर्थिक जीवन से घनिष्ठ सम्बन्ध है। भारत-जैसे कृषि-प्रधान देश के लिए तो मिट्टी का अच्छा या बुरा होना बहुत अधिक महत्त्व रखता है। वास्तव में, कृषि की सफलता बहुत अंशों में मिट्टी पर ही निर्भर करती है। भारत में अनेक प्रकार की मिट्टी पायी जाती है; लेकिन कृषि के दृष्टिकोण से शाही कृषि आयोग ने भारतीय मिट्टी को निम्नलिखित ४ वर्गों में विभाजित किया है :—

(१) **गंगबार मिट्टी** (Alluvial soil) :—नदियां अपने प्रवाह के साथ इस प्रकार की मिट्टी लाती हैं और अपने दोनों किनारों पर जमा कर देती हैं। इस प्रकार की मिट्टी भारत में गंगा के मैदान, पूर्व तथा पश्चिम समुद्री तट, कृष्णा, कावेरी तथा गोदावरी के डेल्टा एवं असम की सुर्मा घाटी में पायी जाती है। यह मिट्टी नयी तथा बहुत ही उपजाऊ होती है। साधारणतः इसकी गहराई १००० फीट तक होती है, परन्तु कहीं-कहीं पर ३००० फीट की गहराई तक भी यह मिट्टी पायी जाती है। गेहूँ, चावल, ईख, जौ, चना आदि की खेती के लिए यह विशेष उपयुक्त होती है।

(२) **लाल मिट्टी** (Red soil) :—इस प्रकार की मिट्टी में लोहे का अंश अधिक होने के कारण इसका रंग लाल या पीला होता है। यह मुख्यतः तमिलनाडु, मैसूर, महाराष्ट्र के दक्षिण-पूर्वी भाग तथा उड़ीसा के प्रायः ८ लाख वर्गमील क्षेत्र में विस्तृत है। इसकी उर्वरा-शक्ति तथा गहराई सर्वत्र एक समान है। रासायनिक तत्त्वों के अभाव में प्रायः यह कम उपजाऊ होती है। यह ज्वार, मूंगफली तथा तिलहन की खेती के लिए विशेष उपयुक्त होती हैं।

(३) **काली मिट्टी** (Black soil) :—यह मिट्टी दक्षिणी पठार के प्रायः दो लाख वर्ग-मील क्षेत्र में पायी जाती है। इसमें आंध्र का कुछ भाग, महाराष्ट्र का अधिकांश भाग, पश्चिमी हैदराबाद, मध्य प्रदेश का पश्चिमी भाग तथा बरार आदि सम्मिलित हैं। यह ज्वाला-मुखी पर्वतों के लावा से बनी हुई है, अतः यह अति प्राचीन मिट्टी है। जहाँ वर्षा अधिक होती है वहाँ यह अधिक उपजाऊ होती है। कपास तथा ज्वार की कृषि के लिए यह विशेष रूप से उपयुक्त होती है। इसे कपास की मिट्टी (Cotton Soil) भी कहते हैं।

(४) **रेतीली मिट्टी** (Laterite soil) :—इस प्रकार की मिट्टी पहाड़ियों तथा पठारों पर पायी जाती है। छोटानागपुर, उड़ीसा के पहाड़ी प्रदेश, असम तथा मध्य प्रदेश के पूर्वी भाग में यह मिट्टी पायी जाती है। मोटी तथा पथरीली होने के कारण यह बहुत कम उपजाऊ होती है।

यह कृषि के लिए उपयुक्त नहीं होती, फिर भी सिंचाई के द्वारा कहीं-कहीं पर इसमें कृषि-कार्य किया जाता है।

मिट्टी-सम्बन्धी समस्याएँ

कृषि-प्रधान देशों के लिए मिट्टी की उर्वरा-शक्ति को बनाये रखना आवश्यक है। भारत के समक्ष आजकल मिट्टी-सम्बन्धी दो प्रमुख समस्याएँ है—(१) भूमि-क्षरण (Soil Erosion), तथा (२) भूमि की उर्वरा शक्ति का निरन्तर ह्रास।

भूमि-क्षरण की समस्या (Problem of Soil-erosion) :—कृषि-प्रधान देशों के लिए भूमि की उर्वरा-शक्ति को बनाये रखना एक प्रमुख समस्या है। भूमि की उर्वरा-शक्ति उसकी ऊपरी सतह में ही कुछ इंचों की गहराई तक पायी जाती है। पृथ्वी की इस ऊपरी सतह में, पोषक तत्त्व, शक्तिशाली रसायन तथा अन्य प्राकृतिक उपादान सन्निहित रहते है जिनके नष्ट होने से उत्पादन में कमी होने लगती है। इस पृथ्वी पर कितनी ही विरोधी शक्तियाँ सदा कार्य करती रही हैं जिनके फलस्वरूप भूमि की ऊपरी सतह कटकर बह जाती है तथा इसकी उर्वरता कम होने लगती है। हवा, पानी तथा अन्य प्राकृतिक विरोधी शक्तियों से पृथ्वी को होने वाली इस क्षति को ही भूमि-क्षरण कहते है। **इस प्रकार भूमि क्षरण के दो प्रमुख कारण हैं** :—(१) प्राकृतिक शक्तियाँ जिनमें हवा और पानी की क्रियाएँ सम्मिलित हैं, तथा (२) मानवीय शक्तियाँ, जो प्राकृतिक शक्तियों के लिए मार्ग तैयार करती है। प्राकृतिक शक्तियों के अन्तर्गत हवा एवं पानी दो महत्त्वपूर्ण शक्तियाँ हैं जिनके फलस्वरूप भूमि-क्षरण होता है। मूसलाधार वृष्टि से पृथ्वी की ऊपरी सतह की मिट्टी कटकर बह जाती है। बाढ़ के फलस्वरूप भूमि-क्षरण अधिक होता है। भूमि-क्षरण का प्रमुख कारण हवा भी है। सूखे क्षेत्रों में तीव्रगति से बहनेवाली हवा पृथ्वी के मूल तत्त्व को उड़ा ले जाती है।

प्राकृतिक शक्तियों के साथ-साथ मानवीय शक्तियाँ भी भूमि-क्षरण के लिए बहुत हद तक उत्तरदायी हैं। मानवीय शक्तियों में निम्नलिखित प्रमुख हैं :—

(१) **वनों का विनाश**—वन भूमि-क्षरण को रोकते हैं। वनों के वृक्षों एवं झाड़ियों की जड़ें पृथ्वी में बहुत नीचे तक रहती हैं जिनसे मूसलाधार वृष्टि के फलस्वरूप पृथ्वी की ऊपरी सतह बहने नहीं पाती। किन्तु ईंधन तथा कृषि-कार्य के लिए भूमि की अधिकाधिक आवश्यकताओं के फलस्वरूप मनुष्य ने वनों का बिना सोचे-समझे विनाश प्रारम्भ कर दिया जिससे भूमि-क्षरण अधिक होने लगा है। (२) **पशुओं द्वारा भूमि की अत्यधिक चराई**—भूमि की अत्यधिक चराई का भी उसकी उपजाऊ शक्ति पर बहुत बुरा प्रभाव पड़ता है। पशु, मुख्यतः भेंड़ एवं बकरियाँ घास को इस प्रकार से चरते हैं कि पुनः उसका पनपना असम्भव हो जाता है। इससे भूमि-क्षरण की प्राकृतिक शक्तियों को अत्यधिक बल मिलता है (२) **जुताई का दोषपूर्ण तरीका**—भारत में भूमि की जुताई के दोषपूर्ण तरीके का प्रभाव भी भूमि-क्षरण पर पड़ता है। इससे भूमि-क्षरण के कार्य को अत्यधिक बल मिलता है।

भूमि-क्षरण का नियन्त्रण (Control of soil erosion) :—भूमि की उर्वरा-शक्ति की रक्षा (Fertility Conservation) के लिए भूमि-क्षरण का नियन्त्रण अनिवार्य है। इसके लिए अधिकाधिक वृक्षारोपण आवश्यक है। वृक्षों की संख्या बढ़ने से भूमि-क्षरण कम हो जायगा। साथ ही, जिस क्षेत्र में भूमि-क्षरण का भय अधिक हो वहाँ पशुओं की चराई पर भी नियंत्रण अनिवार्य है। वनों का संरक्षण भी भूमि-क्षरण को रोकने के उद्देश्य से आवश्यक है।

इस उद्देश्य से १९५२ ई० में एक केन्द्रीय भूमि-संरक्षण बोर्ड (Central Soil Conservation Board) स्थापित किया गया है। प्रथम योजनाकाल में इस कार्य के लिए १'६ करोड़ रुपये व्यय किये गये जिससे प्रायः ७ लाख एकड़ भूमि लाभान्वित हुई। द्वितीय योजनाकाल में इस कार्य-क्रम पर १८ करोड़ रुपये व्यय किये गये जिससे ८० लाख एकड़ भूमि लाभान्वित हुई। द्वितीय योजना में इस कार्य को अधिक प्रभावपूर्ण बनाने के लिए योजना आयोग ने प्रत्येक राज्य में भूमि संरक्षण अधिनियम बनाने की सिफारिश की थी। इस प्रकार के अधिनियम महाराष्ट्र, गुजरात एवं उत्तर प्रदेश में बन भी चुके हैं। तृतीय पंचवर्षीय योजनाकाल में ६२ करोड़ रुपये के व्यय से ११० लाख हेक्टर भूमि के संरक्षण का आयोजन था। किन्तु योजनाकाल में इस कार्यक्रम से केवल ९८ लाख हेक्टर भूमि लाभान्वित हुई तथा इसका वास्तविक व्यय ७७ करोड़ रुपये हुआ।

वार्षिक योजनाओं (१९६६-६९) में इस मद में ८८ करोड़ रुपये व्यय हुआ।

चतुर्थ पंचवर्षीय योजना (Fourth Five Year Plan) के अन्तर्गत भूमि-संक्षरण की मद में १५१ करोड़ रुपये व्यय का आयोजन है जिससे कुल ५६ लाख हेक्टर भूमि के लाभान्वित होने की आशा है।

भूमि की उर्वरा शक्ति का निरन्तर ह्रास :—एक ही भूमि पर लगातार कृषि करते रहने के कारण उसकी उर्वरा-शक्ति घटती है जिससे उपज में निरन्तर ह्रास होता है। भूमि की उर्वरा-शक्ति में ह्रास को रोकने के लिए खाद का प्रयोग अनिवार्य है। इस सम्बन्ध में किसानों में कम्पोस्ट बनाने के तरीकों का प्रचार करना चाहिए। साथ ही, रासायनिक खादों के प्रयोग का भी प्रोत्साहित करना चाहिए।

पशु-धन
(Cattle Wealth)

भारत की कृषि-व्यवस्था में यहाँ के पशु-धन का महत्त्वपूर्ण स्थान है। कृषि-प्रधान देश होने के कारण भारत का पशु-धन भारत की आर्थिक व्यवस्था का एक प्रधान अंग है। यहाँ सर्वत्र खेतों की जुताई पशुओं द्वारा होती है। इनके द्वारा पानी खींचने एवं दँवनी का काम भी होता है तथा भारतीय ग्रामों में यातायात के साधन के रूप में भी पशुओं का ही प्रयोग किया जाता है। पशु-धन से ही गोबर तथा हड्डी-जैसी बहुमूल्य खाद जिनका खेतों में प्रयोग किया जाता है, प्राप्त होती है। साथ ही, भारत-जैसे शाकाहारी देश में जहाँ दूध ही एक ऐसा साधन है, जो लोगों के भोजन को स्वास्थ्यप्रद बनाता है, पशु-धन से ही प्राप्त होता है। इस प्रकार कृषि के आवश्यक साधन के रूप में पशु-धन का महत्त्वपूर्ण स्थान है। श्री डार्लिंग के अनुसार "भारत में पशु-धन के वगैर किसान के खेत बिना जोते रह जायँ, गोदाम तथा खलिहान खाली पड़े रह जायँ और खान-पान का स्वाद भी अधूरा रह जाय क्योंकि भारत-जैसे शाकाहारी देश में दूध, घी आदि नहीं मिलने से अधिक दुर्भाग्य की बात और क्या हो सकती है।"

पशुओं की संख्या :—भारत में विश्व के कुल प्रायः १९%गाय तथा बैल, १८ प्रतिशत बकरे-बकरियाँ एवं ५० प्रतिशत भैंसें पायी जाती हैं। निम्नलिखित तालिका से १९५६, १९६१ एवं

१९६६ ई० की पशु-गणनाओं (Livestock Census) के अनुसार देश में पशुओं की संख्या का अन्दाजा लगाता है :—

पशुओं की संख्या (लाख में)[1]

पशु	१९५६	१९६१	१९६६
गाय एवं बैल	१५८७	१७५५	१७६१
भैंस	४४३	५१२	५२९
भेंड़	३९२	४०२	४२०
बकरे और बकरियाँ	५५४	६०९	६४६
अन्य	८३	८६	८३
कुल पशुओं की संख्या	३०६५	३३६४	३४३९

इस प्रकार भारत में पशुओं की संख्या विश्व के प्रायः सभी देशों से अधिक है। F. A. O. के एक नवीनतम प्रकाशन के अनुसार विश्व में पशुओं की कुल संख्या प्रायः १७,३८० लाख है जिनमें से प्रायः ३४०० लाख पशु भारत में ही हैं। मोटे तौर पर यह अनुमान लगाया जाता है कि हमारे यहाँ प्रति १०० एकड़ बोयी गयी भूमि के लिए १०० गाय-भैंस हैं जबकि हॉलैंड में इनकी संख्या प्रति एक सौ एकड़ पर ३८ तथा मिस्र में केवल २५ है। इतना होने पर भी १९५०-५१ ई० में भारत के पशु-धन से कुल केवल ६६४ करोड़ रुपये की शुद्ध आय हुई थी जो कुल कृषि की आय का केवल १६ प्रतिशत भाग थी।

देश में पाये जानेवाले पशुओं की संख्या सबसे अधिक उत्तर प्रदेश में है। इस राज्य में देश के कुल पशुओं के प्रायः १५·५ प्रतिशत भाग पशु हैं। इसके बाद तमिलनाडु का स्थान है जहाँ इनका प्रतिशत ११·१ है। इसके बाद क्रमशः मध्य प्रदेश, बिहार तथा राजस्थान का स्थान है। परन्तु प्रति वर्गमील में रहने वाले पशुओं की संख्या की दृष्टि से पश्चिमी बंगाल में इनका घनत्व सबसे अधिक है। वहाँ इनकी आबादी का प्रति वर्गमील औसत घनत्व २८८ है। कश्मीर में इनकी आबादी का औसत घनत्व केवल २५ है जो सभी राज्यों से कम है। भारत में पशुओं की औसत आबादी का घनत्व ११५ है। हमारे देश में प्रति सौ व्यक्तियों के पीछे पशुओं की संख्या ४४ है, जबकि आस्ट्रेलिया में प्रति एक सौ व्यक्तियों के पीछे पशुओं की संख्या १९९, अर्जेन्टाइना में २४१ तथा न्यूजीलैंड में २६८ है।

पशु-धन की समस्याएँ

(Problems of Cattle Wealth)

हमारे देश में पशुओं की स्थिति बड़ी ही असंतोषजनक है। ये बिल्कुल अशक्त तथा कमजोर हैं। देखने में ये केवल हड्डियों के ढाँचे-मात्र जान पड़ते हैं। कमजोरी के फलस्वरूप ये कृषि-कार्य में यथोचित सहयोग नहीं प्रदान कर पाते। यहाँ बैलों की एक जोड़ी से औसतन ९ एकड़ भूमि जोती जाती है, जबकि मिस्र में यह औसत प्रायः ३३ एकड़ है। दूध देने वाली गाय तथा भैंसों की भी यही स्थिति है। इनसे बहुत कम मात्रा में दूध प्राप्त होता है। वास्तव में, हमारे देश में पशु आवश्यकता से बहुत अधिक हैं जिससे इनकी उपयोगिता निरंतर घटती जाती है।

1. India 1970.

देश की पशु संख्या में वृद्धि के साथ-साथ पशुओं की शारीरिक क्षमता और शक्ति भी घटती जाती है। हमारे यहाँ दूध देनेवाली गायों तथा भैंसों से भी बहुत कम उत्पादन होता है। फलस्वरूप देश में प्रति-व्यक्ति उपलब्ध दूध की मात्रा बहुत ही कम है। यहाँ १९५४ ई० में प्रति-व्यक्ति औसतन केवल ६·५ औंस दूध मिलता था। (संतुलित भोजन के लिए प्रति-व्यक्ति १५ औंस दूध आवश्यक है), जबकि आस्ट्रेलिया में ४४·७ औंस, कनाडा में ५६·८ औंस, डेनमार्क में ४०·३ औंस, इंगलैंड में ४०·७ औंस तथा संयुक्त राज्य अमेरिका में ३५·६ औंस दूध मिलता है। इसका प्रमुख कारण यह है कि भारत में प्रत्येक गाय तथा भैंस अन्य देशों की अपेक्षा बहुत कम दूध देती हैं। इस प्रकार भारत में औसत रूप से प्रति गाय प्रतिवर्ष ४१३ पौंड तथा प्रति भैंस ११०१ पौंड दूध देती है, जबकि इन दोनों का औसत आस्ट्रेलिया में ४८०२ पौंड, अमेरिका में ३२१८ पौंड तथा न्यूजीलैंड में ५६६० पौंड है।

हमारे देश में पशुओं की इस असंतोषजनक स्थिति के निम्नांकित प्रमुख कारण हैं :—

(१) **भारत में पशुओं की संख्या विश्व के प्रायः सभी देशों से अधिक है :**—इनमें बहुत से आर्थिक दृष्टि से बेकार है। पशु उपयोगिता जाँच समिति (Cattle Utilisation Committee) के अनुसार भारत में प्रायः १९ प्रतिशत पशु अनुत्पादक हैं[1] जिनका किसी कार्य में उपयोग नहीं हो सकता। डा० बर्न्स ने बैलों की संख्या के सम्बन्ध में भी यह अनुमान लगाया था कि उत्तर प्रदेश एवं बिहार में ४० लाख बैल आवश्यकता से अधिक हैं। उनके अनुसार बैलों की कुशलता में ६० प्रतिशत तक की वृद्धि की जा सकती है। इतना ही नहीं उनकी संख्या में वृद्धि भी हो रही है।

(२) **चारे का अभाव** (Lack of Fodder) :—भारत में पशु-धन की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि वह संख्या में संसार के सभी देशों से आगे तथा क्षमता में सभी से पीछे है। यहाँ पशुओं की संख्या आवश्यकता से अधिक है पर इनके लिए पर्याप्त चारे का अभाव है। सूखे चारे की उपलब्ध मात्रा को देखते हुए यह कहा जा सकता है कि भारत की एक-तिहाई पशु-संख्या आवश्यकता से अधिक है। हरे चारे का तो देश में और भी अभाव है। फलस्वरूप पशुओं को भर पेट भोजन भी नहीं मिलता। मार्च से जून के बीच तो इनकी स्थिति और भी बुरी हो जाती है। वर्षा प्रारम्भ होते ही हरी घास अंकुरित होने लगती है और ये खूब खाना प्रारम्भ कर देते हैं जिससे ये तरह-तरह की बीमारियों के शिकार बन जाते हैं। यूरोप में पशुओं के लिए चारे की खेती की जाती है, किन्तु हमारे देश में इस प्रकार की बात नहीं पायी जाती है। जनसंख्या की वृद्धि तथा खाद्यान्न के अभाव में चरागाह वाली भूमि को भी खेती के लिए ही प्रयुक्त किया जाता है। फलस्वरूप यहाँ चारे का नितान्त अभाव है जिससे देश का पशु-धन निरन्तर कमजोर होते जा रहा है एवं पशुओं के दूध देने की शक्ति भी घटती जा रही है।

(३) **भारत में पशुओं की नस्ल खराब है :**—हमारे देश में पशुओं की नस्ल बहुत ही खराब है। यहाँ प्रजनन के लिए चुने हुए पशुओं का प्रयोग नहीं किया जाता। अच्छी नस्ल के साँढ़ों के अभाव में पशुओं की नस्ल दिन-प्रतिदिन खराब होती जा रही है। पर्याप्त चारे के

1. First Five Year Plan, p. 273.

अभाव में यह समस्या और भी विकराल होती जा रही है। इससे इनकी कार्य-क्षमता घट रही है तथा ये कृषि में सहयोग नहीं प्रदान कर पाते।

(४) **पशुओं के रोगों के फलस्वरूप भी इनकी उपयोगिता कम होती है** :—भारत के पशु यदा-कदा तरह-तरह की बीमारियों के शिकार हो जाते हैं। समय-समय पर उन्हें मुख तथा पैरों की बीमारियों के अतिरिक्त रिंडरपेस्ट (Rinderpest) जैसी अन्य महामारियों का भी शिकार होना पड़ता है। इससे इनकी जीवन-शक्ति क्षीण होने लगती है तथा कार्य-क्षमता भी घटने लगती है। भारत मे पशुओं के रहने का स्थान भी बहुधा अस्वास्थ्यकर तथा पीने का पानी गन्दा होता है। साथ ही, देश में पशु-चिकित्सा की भी अभी समुचित व्यवस्था नहीं हो पायी है।

पशु-धन की समस्या का समाधान

देश के पशु-धन को आर्थिक दृष्टि से अधिक उपयोगी बनाने के लिए निम्नलिखित प्रयत्न आवश्यक हैं :—

(१) **उत्तम चारे की व्यवस्था** :—पशु-धन को अधिक उपयोगी बनाने के लिए उत्तम चारे की व्यवस्था अनिवार्य है। प्राचीन समय में प्रत्येक गांव में चरागाह होते थे जहाँ जानवर अपना पेट भरते थे। किन्तु आजकल हमारे देश में चरागाह वाली भूमि की मात्रा का निरन्तर ह्रास होते जा रहा है। अतः इसके लिए अनुपयोगी तथा अयोग्य जानवरों की मात्रा को घटना आवश्यक है। परन्तु यह प्रस्ताव भारतीय संस्कृति के विरुद्ध जान पड़ता है और शायद किसान इसे मानने के लिए तत्पर भी नहीं होंगे। इस प्रकार चारे के उत्पादन को बढ़ाकर ही इस समस्या का वास्तविक रूप में समाधान किया जा सकता है। इसके लिए बरसीन, गिनी, सूडान आदि घासों की खेती को प्रोत्साहित करना होगा। गाँव की परती भूमि तथा जिस भूमि में वर्ष में केवल एक ही फसल उगायी जाती है, उसमें भी फसल काटने के बाद घास उपजायी जा सकती है। साथ ही, चारे को खिलाने तथा संग्रह करने की प्रणाली में सुधार लाना होगा जिससे इसके प्रयोग में मितव्ययिता से काम लिया जा सके।

(२) **नस्ल सुधारने की व्यवस्था** :—पशुओं को अधिक उपयोगी बनाने के लिए इनकी नस्ल में सुधार भी आवश्यक है। यह भली-भाँति सिद्ध हो चुका है कि पशुओं के डील-डौल, हल खींचने की शक्ति, दूध उत्पादन की मात्रा आदि परम्परागत तौर पर एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी में समान रूप से पाये जाते हैं। अतः प्रजनन-व्यवस्था में गाय की अपेक्षा साँड़ का ही अधिक महत्त्व है। कहा भी जाता है कि साँड़ अकेले आधे पशु-समूह के बराबर होता है। (Bull is half the herd) बुरी नस्ल के कारण बछड़े भी नाटे और कमजोर होते हैं। अतः पशुओं की नस्ल सुधारने के लिए अच्छी किस्म के साँढ़ों की व्यवस्था करनी चाहिए। नस्ल-सुधार के कार्य के अन्तर्गत घटिया किस्म के साँढों को अयोग्य बना देना चाहिए तथा गांवों में अच्छी नस्ल के साँढ़ों की व्यवस्था की जानी चाहिए। कृषि-आयोग ने यह अनुमान लगाया था कि इसके लिए देश भर में इस प्रकार के १० लाख साँढों की आवश्यकता होगी। पंजाब के हिस्सार फार्म में इस सम्बन्ध में अत्यन्त उपयोगी कार्य किये जा रहे हैं। इन फार्मों से अच्छे-अच्छे साँढ़ पैदा कर गाँवों में वितरित किये जा रहे हैं। कुछ चुने हुए स्थानों में कृत्रिम गर्भाधान केन्द्र (Artificial insemination

Centres) स्थापित किये गये हैं। इन प्रयोगों के द्वारा इस क्षेत्र में निश्चय ही महत्त्वपूर्ण सुधार हुए हैं। फिर भी, अभी इसमें बहुत अधिक सुधार की आवश्यकता है।

(३) **पशु-चिकित्सा की उचित व्यवस्था** :—बीमारी से पशुओं की मृत्यु होने पर किसानों की बहुत बड़ी आर्थिक क्षति होती है। साथ ही, उत्तम चारा तथा नस्ल-सुधार की व्यवस्था की सफलता भी बहुत कुछ उत्तम पशु-चिकित्सा की सुविधा पर ही निर्भर करती है। अतः पशु-चिकित्सा की समुचित व्यवस्था पशु-धन के विकास के लिए नितान्त आवश्यक है: आजकल इस क्षेत्र में भारतीय पशु-चिकित्सा संस्थान (Indian Veterinary Research Institute) द्वारा महत्त्वपूर्ण खोजें की जा रही हैं। राज्य का चिकित्सा विभाग भी इस क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण कार्य कर रहा है। चिकित्सा की समस्या के समाधान के लिए गाँवों में जा-जाकर प्रचार करने की व्यवस्था पर जोर दिया जा रहा है। किन्तु इस प्रकार के चिकित्सालयों की संख्या अभी देश में बहुत कम है। अतः गाँवों में पशु-चिकित्सा के लिए अस्पतालों की स्थापना आवश्यक है। देश में अभी पशु-चिकित्सा का अभाव है, अतः इनकी संख्या में वृद्धि नितान्त आवश्यक है। साथ ही, किसान रूढ़िवादिता के कारण बीमारी से पशुओं की चिकित्सा के लिए शीघ्रतापूर्वक तत्पर नहीं होते। अतः इस क्षेत्र में विशेष प्रचार की आवश्यकता है। संतोष का विषय है कि सरकार द्वारा इस क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण कार्य किये जा रहे हैं।

पशु-धन के विकास के लिए किये गये सरकारी प्रयत्न

इस प्रकार भारत में पशु-धन के समक्ष आज अनेक समस्याएँ हैं। इनकी नस्ल खराब होती जा रही है। साथ ही, इन्हें पेट भर भोजन भी नहीं मिलता जिससे इनकी उत्पादन-शक्ति क्षीण होती जा रही है। भारतीय संविधान के अनुच्छेद ४८ में यह निर्देश किया गया है कि राज्य कृषि और पशु-पालन को आधुनिक तथा वैज्ञानिक प्रणालियों से संगठित करने का प्रयास करेगा तथा विशेषतः गायों और बछड़ों एवं अन्य दुधारु ढोरों की नस्ल के परीक्षण और सुधार के लिए अग्रसर होगा। अतः सरकार द्वारा विगत कुछ वर्षों से देश के पशु-धन के विकास के लिए महत्त्वपूर्ण प्रयत्न किये जा रहे हैं। सरकार सर्वप्रथम पशुओं की नस्ल सुधारने के कार्य पर अधिक जोर दे रही है। इसके लिए सरकार द्वारा **प्रमुख ग्राम-केन्द्र योजना** (Key Village Scheme) का कार्य-क्रम कार्यान्वित किया जा रहा है। प्रथम योजना के अन्तर्गत इस प्रकार के कुल ५७४ ग्राम केन्द्रों की स्थापना की गयी थी। प्रत्येक प्रमुख ग्राम-केन्द्र ३-४ गाँवों के बीच होता है जिसमें ३ वर्ष से अधिक उम्र की लगभग ५०० गायें तथा ३ या ४ अच्छी नस्ल के साँढ़ होते हैं। प्रत्येक केन्द्र से सभी घूमने वाले अतिरिक्त साँढ़ों को हटा दिया जाता है, या उन्हें अयोग्य बना दिया जाता है। प्रत्येक प्रमुख ग्राम-केन्द्र में पशुओं की संख्या, नस्ल, दुग्धोत्पादन आदि का विस्तृत लेखा-जोखा रखा जाता है और उनके भोजन तथा चिकित्सा की भी उचित व्यवस्था की जाती है। इन केन्द्रों के अतिरिक्त प्रथम योजनाकाल में १४६ कृत्रिम गर्भाधान केन्द्रों तथा २६ गोसदनों की भी स्थापना की गयी थी। इन केन्द्रों की स्थापना इस ढंग से की जा रही है कि प्रत्येक चार प्रमुख ग्राम-केन्द्र पर एक कृत्रिम गर्भाधान केन्द्र पड़े। द्वितीय पंचवर्षीय योजना में इस प्रकार के १२५८ प्रमुख केन्द्र ५४ मुख्य ग्राम-विस्तार केन्द्र (Key Village extension centres), तथा २४५ कृत्रिम गर्भाधान केन्द्रों की स्थापना का आयोजन था।

सरकार द्वारा पशु-धन के सम्बन्ध में किये गये कार्यों के अन्तर्गत गोसदनों की स्थापना का भी महत्त्वपूर्ण स्थान है। इन गोसदनों में अनुपयोगी पशुओं को रखने की व्यवस्था की जाती है। इनमें रहने वाले मर्द पशुओं को अयोग्य बना दिया जाता है। प्रथम योजना की अवधि में ९७ लाख रुपये के व्यय से १६० गोसदन स्थापित करने की व्यवस्था थी जिनमें बूढ़े, निर्बल तथा अनुयोगी पशुओं को रखने का आयोजन था, किन्तु योजनाकाल में केवल २५ गोसदनों की स्थापना ही की गयी। गोसदनों की स्थापना ऐसे स्थानों पर की जाती है जहाँ चरागाह वगैरह की उचित सुविधा हो। इन गोसदनों में आर्थिक दृष्टि से अनुपयोगी पशुओं के लिए चारा मिलने में कुछ सुगमता होगी। द्वितीय योजना में ३००० पशुओं के लिए कुल ६० गोसदनों का स्थापना का आयोजन था, किन्तु योजना काल में केवल ३४ गोसदनों की स्थापना की गयी। तृतीय पंचवर्षीय योजना में २३ और गोसदनों की स्थापना का आयोजन था। सरकार ने पशु-धन के विकास के लिए एक केन्द्रीय गोसम्बर्द्धन समिति की स्थापना की है जो देश में पशु-धन के विकास के लिए महत्त्वपूर्ण कार्य कर रही है।

चारे के अभाव को दूर करने के लिए भी सरकार द्वारा महत्त्वपूर्ण कार्य किये जा रहे हैं। इसके लिए नेपियर, गिनी, सूडान आदि घासों के उत्पादन को यथासंभव, बढ़ाने का प्रयास किया जा रहा है। पंचवर्षीय योजनाओं में Fodder Banks की स्थापना भी की जा रही है जिसमें इस समस्या के समाधान की आशा की जाती है। चारे को खिलाने तथा काटने की प्रणाली में भी आवश्यक सुधार किये जा रहे हैं। तृतीय योजना काल में गाँवों में चारे के प्रदर्शन के लिए क्षेत्र स्थापित करने की व्यवस्था थी।

पशु-सम्बन्धी चिकित्सा के विकास पर भी सरकार द्वारा जोर दिया जा रहा है। इसके लिए पशु-अस्पतालों की संख्या बढ़ती जा रही है। प्रथम योजना काल में पशु-अस्पतालों की संख्या २००० से बढ़ाकर २६५० हो गयी। द्वितीय योजना के अन्तर्गत इस प्रकार के १९० पशु-अस्पताल खोलने का आयोजन था जिनमें १४५ गतिशील चिकित्सालय (Mobile Dispensaries) शामिल थे। तृतीय योजना के अन्त तक पशु-अस्पतालों की संख्या को बढ़कर ८००० करने का आयोजन था। योजना के अन्त तक प्रत्येक प्रमंडल में कम-से-कम इस प्रकार का एक अस्पताल करने की व्यवस्था थी। इनके साथ ही प्रत्येक राज्य में राज्य सरकारों द्वारा प्रतिवर्ष पशु-प्रदर्शनी का भी आयोजन किया जाता है तथा प्रदर्शनी में लाये गये अच्छे पशुओं के लिए सरकार द्वारा पुरस्कार प्रदान किये जाते हैं। इस प्रकार सरकार द्वारा पशु-धन के विकास के लिए अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कार्य किये जा रहे हैं।

पंचवर्षीय योजनाओं में पशु-धन का विकास

(Development of Cattle Wealth in Five Year Plans)

प्रथम पंचवर्षीय योजना में पशु-धन का विकास[1] :—प्रथम पंचवर्षीय योजना में पशु-धन के विकास के लिए सरकार द्वारा बहुत-से प्रयत्न किये गये। प्रथम योजना काल में पशु-धन के विकास पर कुल ८ करोड़ रुपये व्यय हुए। पशु-धन के लिए योजना काल में मुख्य ग्राम-केन्द्रों की स्थापना के विकास पर पूरा-पूरा जोर दिया गया था। योजना काल में १४६ मुख्य ग्राम प्रखंड (Key Village Block); जिनमें गर्भाधान की सुविधा थी, स्थापित किये गये। इन ग्राम-केन्द्रों में पशुधन के

1. Review of the First Five Year Plan, pp. 127, 131.

विकास की प्रायः सभी सुविधाएँ दी जाती हैं। इन केन्द्रों में अच्छी नस्ल के साँढ़ दिये जाते हैं तथा सभी पुराने साँढ़ों को हटा दिया जाता है या निःशक्त बना दिया जाता है। प्रथम योजनाकाल में अनुपयोगी पशुओं को रखने के लिए २५ गोसदनों की स्थापना की गयी। गोसदनों की स्थापना में मुख्य कठिनाई उपयुक्त भूमि के अभाव की थी। साथ ही, प्रथम योजना काल में ६५० पशु-अस्पताल खोले गये। इनमें १३ गतिशील चिकित्सालय भी सम्मिलित थे। योजना काल में पशु-चिकित्सकों की संख्या को बढ़ाने पर भी पूरा-पूरा ध्यान दिया गया। प्रथम योजना काल में रिडरपेस्ट को दूर करने पर भी विशेष जोर दिया गया था। भारत में प्रायः ६० प्रतिशत पशुओं की मृत्यु इसी बीमारी से होती है।

द्वितीय पंचवर्षीय योजना में पशु-धन का विकास :- द्वितीय पंचवर्षीय योजना में पशु-धन के विकास पर्याप्त जोर दिया गया था। द्वितीय योजना में कुल ३४ गोसदनों की स्थापना की गयी तथा २४६ गोशालाओं को विकास के लिए चुना गया। द्वितीय योजनाकाल में १६६ नये मुख्य ग्राम प्रखण्ड (Key Village blocks) स्थापित किये तथा प्रथम योजनाकाल में स्थापित केन्द्रों का विस्तार किया गया। द्वितीय योजना के अन्त तक कुल २००० मुख्य ग्राम इकाइयों (Key Village units) तथा ६७० कृत्रिम गर्भाधान केन्द्रों (Artificial insemination centres) स्थापित किये गये। इस प्रकार द्वितीय योजना काल में पशुओं की नस्ल-सुधार पर भी पर्याप्त जोर दिया गया था। योजना काल में २२ हजार अच्छी नस्ल के प्रजनक पशु; ९,५०,००० अच्छे बैल तथा लगभग १० लाख अच्छी नस्ल की गायों के उत्पादन की व्यवस्था थी। द्वितीय योजना के अन्तर्गत पशु-धन के विकास के लिए चारे की समस्या पर भी ध्यान दिया गया। योजनाकाल में दूध की पूर्ति को बढ़ाने पर भी पर्याप्त ध्यान दिया गया। अनुमान लगाया जाता है कि प्रथम योजना के प्रारम्भ में देश के कुल १८ करोड़ टन दूध का उत्पादन हुआ था। अगले १०-१२ वर्षों में इससे ३० से ४० प्रतिशत वृद्धि का आयोजन था। इसके लिए अधिक दूध देनेवाली गायों तथा भैंसों की संख्या में वृद्धि की व्यवस्था थी।

देश भर में द्वितीय योजना के अन्त तक सभी प्रकार के ४००० पशु अस्पताल अथवा औषधालय हो गये। पशु-चिकित्सा की अधिकाधिक सुविधा प्रदान करने के लिए द्वितीय योजना काल में १६०० पशु-चिकित्सालयों की स्थापना की गयी। द्वितीय पंचवर्षीय योजनाकाल में पशु-धन के विकास पर कुल २१ करोड़ रुपये व्यय किये गये।

तृतीय पंचवर्षीय योजना में पशु-धन का विकास :—तृतीय पंचवर्षीय योजना में इस मद में ५४.५ करोड़ रुपये व्यय का आयोजन था जबकि वास्तविक व्यय ४३.६ करोड़ रुपये हुआ। तृतीय योजनाकाल में पशु-अस्पतालों की संख्या को बढ़ाकर ८००० करने का आयोजन था जिसमें प्रत्येक विकास प्रखण्ड में कम-से-कम एक पशु-अस्पताल अवश्य हो जाने की आशा थी। तृतीय योजना में २३ और गोसदनों की स्थापना की व्यवस्था थी जिनमें से मार्च, १९६४ ई० तक ८ गोसदन स्थापित किये जा चुके थे। साथ ही, १६८ गोशालाओं के विकास का भी आयोजन था जिनमें से मार्च, १९६४ ई० तक ७५ गोशालाओं की स्थापना की जा चुकी थी।

तृतीय योजना काल में ६१ मुख्य ग्राम प्रखण्ड (Key Village Blocks) स्थापित किये गये थे। इसके अतिरिक्त योजना काल में १९ गहन पशु-विकास कार्यक्रम (Intensive Cattle Development projects) स्थापित किये गये। योजना काल में दो Foder Banks भी स्थापित किये

गये। पशुओं की नस्ल-सुधार पर भी तृतीय काल में पर्याप्त ध्यान दिया गया था। इन प्रयत्नों के परिणामस्वरूप देश में दूध का उत्पादन बढ़कर १९६५-६६ में २ करोड़ टन हो गया।

तीनों वार्षिक योजनाओं (१९६६-६९) में पशु-पालन तथा दुग्ध आपूर्ति की मद में ५९·७ करोड़ रुपये व्यय किये गये।

चतुर्थ पंचवर्षीय योजना में पशु-धन का विकास :—चतुर्थ योजना में पशु-धन के विकास पर ९४ करोड़ रुपये तथा दुग्ध आपूर्ति (Dairying and Milk supply) कार्यक्रम पर १३९ करोड़ रुपये व्यय करने का आयोजन है।[1] योजनाकाल में ३४ गहन पशु-कार्यक्रम स्थापित करने का आयोजन है। इनके अतिरिक्त ६० मुख्य ग्राम केन्द्रों (Key Village Blocks) स्थापित किये जायँगे। चारा की समस्या के समाधान के लिए योजनाकाल में ५ चारा बैंक (Fodder Banks) स्थापित किये जायँगे। योजना के अन्त, यानी १९७३-७४ तक दूध की पूर्ति १९६८-६९ में २१२ लाख टन से बढ़कर २५० लाख टन हो जाने की आशा है।

विशेष अध्ययन-सूची

1. Wadia and Merchant : Our Economic Problem, Chap. IX.
2. Planning Commission : The First Five Year Plan.
3. ,, : The Third Five Year Plan, Ch. XIV
4. ,, : The Fourth Five Year Plan (1969-74)

———

1. Fourth Five Year Plan, P. 65.

अध्याय : १७

कृषि-साख

(Agricultural Credit)

आधुनिक कृषि-व्यवस्था में साख का महत्त्व :–आधुनिक युग में साख का बड़ा ही महत्त्वपूर्ण स्थान है। साख के वगैर इतने बड़े पैमाने पर उद्योग-धन्धों का विकास असम्भव है। अन्य उद्योगों की तरह साख कृषि का भी एक आवश्यक तत्त्व है। भारतीय गाँवों में प्रचलित एक कहावत के अनुसार "वही गाँव बसने योग्य है जहाँ पर आवश्यकता पड़ने पर कर्ज देने के लिए महाजन हों, दवा-दारू के लिए वैद्य हों, पूजा-पाठ के लिए पंडित हों तथा एक ऐसे जल का साधन हो जो कभी सूखता नहीं हो।" इससे भारत के आर्थिक जीवन में साख का महत्त्व स्पष्ट हो जाता है। ग्रामीण-साख सर्वेक्षण (Rural Credit Survey) के विवरण में भी यह कहा गया है कि "साख कृषक की उसी प्रकार से सहायता करता है जैसे फाँसी पर लटकते हुए व्यक्ति को जल्लाद की रस्सी।" (Credit supports the farmer as the hangman's rope supports the hanged.)

किन्तु भारत में कृषि-साख का प्रायः कोई संस्थागत रूप नहीं है। इसका कारण यह है कि किसान बहुधा गाँवों में निवास करते हैं जहाँ संगठित साख की कोई व्यवस्था नहीं पायी जाती है। भारत में कृषि-साख की इसी विशेषता की व्याख्या करते हुए प्रो० हैमिल्टन ने ठीक ही कहा था कि 'यहाँ गाँवों में बहुत-से बैंकर हैं किन्तु बैंक एक भी नहीं।' (People have many bankers but no bank.) किन्तु भारतीय कृषि-व्यवस्था में साख के अत्यधिक महत्त्व का सर्वप्रमुख कारण किसानों का निर्धनता के निर्मम जाल में उलझा होना है। कृषि से इन्हें इतनी आय नहीं होती कि ये अपना खर्च चला सकें। साथ ही, हमारे गाँवों में आय के अन्य साधनों का भी अभाव है। फलस्वरूप कृषि तथा अन्य आवश्यक खर्च के लिए किसानों को बाध्य होकर महाजनों से कर्ज लेना पड़ता है। ये महाजन (Money lenders) लेन-देन के सिलसिले में इन पर तरह-तरह के अत्याचार करते हैं जिससे कर्ज का बोझ सदा बढ़ता ही जाता है। एक बार महाजनों के चंगुल में फँस जाने पर भारतीय किसान के लिए इनसे छुटकारा पाना प्रायः असम्भव हो जाता है। इस प्रकार भारतीय कृषि के पिछड़े होने का एक प्रमुख कारण ऋण का यह अतिशय बोझ है जैसा कि श्री वोल्फ ने कहा है, "देश महाजनों के चंगुल में है। ऋण के बन्धन ही कृषि को जकड़े हुए है।" (The country is in the grips of mahajans. It is the bonds of debts that shackle Indian agriculture.) ऋण की मात्रा निरन्तर बढ़ती ही जाती है तथा किसान उससे जीवनपर्यन्त छुटकारा नहीं पाता। इसीलिये कहा जाता है कि "भारतीय किसान ऋण ही में जन्म लेता है, ऋण ही में पलता है तथा ऋण को विरासत के रूप में छोड़कर मर जाता है।" (The Indian peasant is born in debt, lives in debt, dies in debt and bequeaths debt.)

भारतीय किसान की साख के लिए आवश्यकता

भारतीय किसान को कृषि के लिए अल्पकालीन, मध्यकालीन तथा दीर्घकालीन तीन प्रकार के साख की आवश्यकता पड़ती है।

(१) अल्पकालीन साख (१५ महीने से कम की अवधि के लिए)– किसान को कृषि-कार्य में बीज, मजदूरी तथा भोजन आदि की व्यवस्था के लिए अल्पकालीन साख की आवश्यकता

पड़ती है। इस अल्पकालीन साख को वह फसल तैयार होने पर चुका देता है। इस प्रकार की साख के लेने एवं भुगतान करने में ६ से १५ महीने तक के समय का अन्तर होता है, किन्तु यह बहुधा १२ महीने तक के लिए ही लिया जाता है। इस प्रकार की सभी साख की मात्रा भिन्न-भिन्न क्षेत्रों तथा एक ही क्षेत्र के विभिन्न वर्गों के लिए भिन्न-भिन्न होती है। इसे मौसमी साख भी कहा जाता है। केन्द्रीय बैंकिंग जाँच समिति ने यह अनुमान लगाया था कि किसानों की अल्पकालीन साख की वार्षिक आवश्यकता कम-से-कम ३ से ४ अरब रुपये तक है। किन्तु डा० बलजित सिंह के अनुसार इसकी न्यूनतम सीमा ६ अरब रुपये है। अखिल भारतीय ग्रामीण साख सर्वेक्षण-समिति ने १९६९ से १९७३-७४ ई० के लिए अल्पकालीन साख का अनुमान लगभग २०० करोड़ रुपये लगाया है।

(२) मध्यकालीन साख (१५ महीने से लेकर ५ वर्ष की अवधि के लिए)—किसानों को महँगे कृषि के औजारों एवं पशु आदि खरीदने के लिए अथवा उत्पादन-सम्बन्धी अन्य आवश्यताओं की पूर्ति के लिए भी मध्यकालीन साख की आवश्यकता होती है। इस प्रकार के कर्ज की अवधि १५ महीने से लेकर ५ वर्ष तक की होती है। मध्यकालीन साख की मात्रा में भी प्रादेशिक विभिन्नता पायी जाती है।

(३) दीर्घकालीन साख (५ वर्षों से अधिक की अवधि के लिए)—किसानों को कुएँ, तालाब, बाँध आदि बनवाने तथा भूमि में स्थायी सुधार; जैसे—जल-निकासी, भूमि की घेराबन्दी एवं भूमि के पुनरुद्धार आदि के लिए दीर्घकालीन साख की आवश्यकता होती है। इस प्रकार के कर्ज के भुगतान की अवधि ५ वर्षों से अधिक होती है। केन्द्रीय बैंकिंग जाँच-समिति के अनुसार इस प्रकार के कर्ज की वार्षिक आवश्यकता कम-से-कम ५ अरब रुपये है।

अखिल भारतीय ग्रामीण साख सर्वेक्षण समिति (१९६९) के अनुसार चतुर्थ योजना काल में ५०० करोड़ रुपये मध्यकालीन तथा १५०० करोड़ रुपये दीर्घकालीन साख की आवश्यकता होगी।

किसान प्रायः दो प्रकार के कार्यों--उत्पादक तथा अनुत्पादक (Productive and unproductive) के लिए कर्ज लेता है। उत्पादक कर्ज कृषि-सम्बन्धी कार्यों; जैसे—बीज, खाद, बैल आदि के लिए लिये जाते हैं तथा अनुत्पादक कर्ज बहुधा उपभोग अथवा शादी-ब्याह या श्राद्ध आदि कार्यों के लिए लिया जाता है। इससे स्पष्ट है कि किसानों को उत्पादक कार्यों के साथ-साथ उपभोग के लिए भी कर्ज की आवश्यकता पड़ती है। उपभोग के लिए लिये जानेवाले कर्ज की मात्रा को कम किया जा सकता है, किन्तु इन्हें बिल्कुल समाप्त नहीं किया जा सकता।

ग्रामीण साख सर्वेक्षण (Rural Credit Survey) के प्रतिवेदन के अनुसार १९५०-५१ ई० में विभिन्न उद्देश्यों के लिए लिये जानेवाले ऋण का प्रतिशत निम्न प्रकार[1] से था। :—

ऋण लेने के उद्देश्य	कुल ऋण का प्रतिशत
कृषि-कार्य में पूँजीगत व्यय	२७·८
कृषि-कार्य में चालू व्यय	९·३
गैर-कृषि व्यवसाय-सम्बन्धी व्यय	६·६
पारिवारिक व्यय (Family Expenditure)	५०·२
अन्य प्रकार के व्यय	६·१
	कुल १००·०

1. All India Rural Credit Survey Report, P. 274.

३०९ पृष्ठ की तालिका से स्पष्ट है कि भारत में कृषि-साख का एक बहुत बड़ा भाग गैर-कृषि सम्बन्धी कार्यों के लिए ही लिया जाता है। कुल ऋण का प्रायः ५६·८ प्रतिशत भाग गैर-कृषि कार्यों अथवा अनुत्पादक कार्यों (Unproductive purposes) के लिए तथा केवल ४३·२ प्रतिशत भाग कृषि-कार्यों अथवा उत्पादक कार्यों (Productive purposes) के लिए लिया जाता है। इससे देश की कृषि-साख व्यवस्था का स्वरूप ही बदल जाता है।

कृषि-साख प्राप्ति के साधन

(Sources of Agricultural Finance)

भारतीय किसान बहुधा निम्नलिखित साधनों से साख प्राप्त करता है—

(१) गाँव का महाजन या देशी साहूकार;
(२) जमींदार;
(३) व्यावसायिक बैंक;
(४) सहकारी समितियाँ;
(५) भूमि-बन्धक बैंक (Land Mortgage Banks); तथा
(६) सरकार।

निम्नांकित तालिका से किसानों की साख-सम्बन्धी आवश्यकता की पूर्ति में इन विभिन्न साधनों के सहयोग का अन्दाजा लगता है :—

साख-प्राप्ति के साधन	१९५०-५१ में कुल साख का प्रतिशत[1]	१९६४-६५ में कुल साख का प्रतिशत[2]
१. सरकार	३·३	२·६
२. सहकारी समितियाँ	३·१	१५·५
३. सम्बन्धी	१४·२	८·८
४. जमींदार	१·५	०·६
५. कृषक-साहूकार	२४.९	३६·०
६. पेशेवर साहूकार	४४·८	१३·२
७. व्यापारी वर्ग	५·५	८·८
८. व्यावसायिक बैंक	०·९	०·६
९. अन्य साधन	१·८	१३·९
कुल	१००·०	१००·०

ग्रामीण साख सर्वेक्षण के अनुसार भारतीय किसान सभी प्रकार के कार्यों तथा सभी साधनों से प्रतिवर्ष अनुमानतः ७५० करोड़ रुपये ऋण लेता है। महाजन तथा साहूकार से वह अपनी कुल आवश्यकता का प्रायः ७० प्रतिशत भाग कर्ज लेता है। इससे स्पष्ट है कि भारत में कृषि-साख की समस्या की प्रमुख विशेषता इन महाजन तथा साहूकारों की प्रधानता है जो किसानों की निरन्तर गरीबी को ही अपनी जीविका का प्रधान साधन मानते हैं।

1—All India Rural Credit Survey, P. 867.

2—Reserve Bank of India Bulletin, Sept. 1965. चतुर्थ योजना की रूप-रेखा में योजना आयोग ने यह अनुमान लगाया था कि वर्तमान समय में कुल साख का प्रायः ३० प्रतिशत भाग सांस्थानिक साधनों में प्राप्त होता है।

ग्रामीण ऋणग्रस्तता
(Rural Indebtedness)

उपरोक्त विवरण से स्पष्ट है कि भारतीय कृषि एवं किसानों के समक्ष आज जितनी भी समस्याएँ हैं उनमें ग्रामीण ऋणग्रस्तता एक प्रमुख समस्या है।

ग्रामीण ऋण की मात्रा का अनुमान (Magnitude of Rural Debts) :—भारतीय ग्रामीण ऋणग्रस्तता के सम्बन्ध में समय-समय पर विभिन्न अनुमान लगाये गये हैं। ग्रामीण ऋण का अनुमान लगाने का सर्वप्रथम प्रयास Deccan Riots Commission ने १८७५ ई० में किया था। इस आयोग के अनुसार देश के प्रायः एक-तिहाई किसान ऋणग्रस्त थे तथा प्रति किसान ऋण का औसत ३७१ रुपये था। १८८० ई० के दुर्भिक्ष आयोग (Famine Commission) ने सम्पूर्ण देश से प्रमाण जमा करने के पश्चात् यह निष्कर्ष निकाला था कि भारत में कृषक वर्ग के लगभग एक-तिहाई व्यक्ति कर्ज में डूबे हुए हैं और कम-से-कम इतने ही लोग और हैं जो ऋणग्रस्त तो हैं, पर ऐसे नहीं कि पुनः अपनी स्थिति नहीं सुधार सकते। १८९५ ई० में निकोल्सन (Nicholson) ने मद्रास के ग्रामीण ऋण की मात्रा का अनुमान ४५ करोड़ रुपये लगाया था। इसी आधार पर १९११ ई० में मैकलगन (Maclagan) ने सम्पूर्ण ब्रिटिश भारत के ग्रामीण कर्ज का अनुमान ३०० करोड़ रुपये लगाया था। १९२५ ई० में श्री एम० एल० डार्लिंग ने पंजाब के ग्रामीण ऋण के आधार पर सम्पूर्ण ब्रिटिश भारत के ग्रामीण ऋण का अनुमान ६०० करोड़ रुपये लगाया था। १९२९ ई० में केन्द्रीय बैंकिंग जाँच समिति ने प्रांतीय बैंकिंग जांच समितियों द्वारा एकत्र आँकड़ों के आधार पर सम्पूर्ण भारत के ग्रामीण ऋण को ९०० करोड़ रुपये बतलाया था। विभिन्न प्रान्तीय बैंकिंग जाँच समितियों ने भिन्न-भिन्न प्रांतों के लिए ग्रामीण ऋण-सम्बन्धी निम्नलिखित ब्योरा दिया था—बम्बई एवं सिन्ध—८१ करोड़ रुपये, मद्रास—१५० करोड़ रुपये, बंगाल—१०० करोड़ रुपये, उत्तर प्रदेश—१२३ करोड़ रुपये, पंजाब—१३५ करोड़ रुपये, मध्य प्रदेश तथा बरार—३६·५ करोड़ रुपये, बिहार तथा उड़ीसा—११५ करोड़ रुपये, असम २२ करोड़ रुपये तथा केन्द्रीय प्रदेश—१८ करोड़ रुपये। ये आँकड़े अधिक व्यापक अवश्य हैं लेकिन इनकी सत्यता के सम्बन्ध में अनुमान लगाना कठिन है। १९३५ ई० में डॉक्टर राधा कमल मुखर्जी के अनुसार भारत का ग्रामीण कर्ज १२०० करोड़ रुपये था। इसी प्रकार १९३७ ई० में रिजर्व बैंक के कृषि-साख विभाग ने ग्रामीण ऋण का अनुमान १८०० करोड़ रुपये लगाया था।

किन्तु १९३९-४० ई० के बाद द्वितीय महायुद्ध काल में कृषि-पदार्थों के मूल्य में बहुत अधिक वृद्धि हुई जिसके फलस्वरूप किसानों की आय में भी वृद्धि हुई। आय में वृद्धि का प्रभाव ऋणग्रस्तता पर क्या पड़ा यह कहना विश्वसनीय आँकड़े के अभाव में कठिन है। लेकिन जीवन की आवश्यक वस्तुओं के मूल्य में वृद्धि के कारण किसान इस बढ़ी हुई आय का प्रयोग ऋण-भुगतान के लिए विशेष रूप में नहीं कर सके। १९४५ ई० के बंगाल अकाल आयोग के अनुसार छोटे-छोटे किसानों को इस मूल्य-वृद्धि से कोई विशेष भौतिक लाभ नहीं हुआ। लेकिन रिजर्व बैंक ने १९४२ ई० में यह बतलाया कि ऋणी किसानों ने या तो अपनी बढ़ी हुई आय से या अपनी भूमि के एक भाग को बेचकर अपने अधिकांश पुराने ऋणों का भुगतान कर दिया था। जो भी हो, इतना अवश्य है कि मूल्य-वृद्धि का प्रभाव ऋणग्रस्तता पर बहुत व्यापक रूप में नहीं पड़ा। इस सम्बन्ध में १९५० ई० में ग्रामीण बैंकिंग जाँच समिति ने यह बतलाया है कि "मूल्य-वृद्धि से देश के केवल मुट्ठी भर

जमींदारों को ही लाभ हुआ । गाँवों की विशाल बहुसंख्यक जनसंख्या को तो इससे बिल्कुल ही कोई लाभ नहीं हुआ ।"[1]

ग्रामीण साख सर्वेक्षण (All India Rural Credit Survey) के प्रतिवेदन में तो १९५१-५२ ई० में ग्रामीण ऋणग्रस्तता की समस्या के सम्बन्ध में कुछ महत्त्वपूर्ण तथ्य दिये गये हैं । सर्वेक्षण के अनुसार देश के कुल ६३·३ प्रतिशत ग्रामीण परिवार ऋणग्रस्त थे । यद्यपि ऋण की मात्रा में प्रत्येक जिले में बहुत बड़ी विषमता पायी जाती थी, फिर भी प्रति परिवार औसत ऋण की मात्रा २८३ रुपये थी । छोटे-छोटे किसानों पर ऋण की मात्रा कम तथा बड़े-बड़े किसानों पर अधिक थी । ऋण की अवधि में भी अन्तर था । कुल ऋण का ८२·४ प्रतिशत भाग ३ साल तथा इससे कम के लिए था । इसी प्रकार कुल ऋण का ७·३ प्रतिशत भाग ३ से ५ वर्ष तक के लिए, ५·३ प्रतिशत ५ से १०० वर्ष के लिए, ३·९ प्रतिशत भाग १० वर्ष से अधिक के लिए तथा केवल १·१ प्रतिशत ऋण के सम्बन्ध में कोई अवधि निश्चित नहीं थी । इससे स्पष्ट है कि कुल ऋण का लगभग ४ भाग तीन वर्ष अथवा इससे कम के लिए था ।

भारत में ग्रामीण ऋणग्रस्तता भारतीय किसानों की दीर्घ एवं अनवरत (Chronic) निर्धनता एवं कृषि की अविकसित स्थिति के परिणामस्वरूप ही पायी जाती है । निर्धनता एवं कृषि की अविकसित स्थिति के कारण भारतीय कृषक अपने पेशे की आकस्मिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए भी कुछ नहीं बचा पाता जिससे उसे कर्ज लेना पड़ता है ।

ग्रामीण ऋणग्रस्तता के कारण
(Causes of Rural Indebtedness)

भारतीय ग्रामीण ऋणग्रस्तता के निम्नलिखित प्रमुख कारण हैं :—

(१) भूमि पर जनसंख्या का अत्यधिक बोझ :—भारत में अधिकांश व्यक्ति कृषि पर ही आश्रित हैं । जनसंख्या की निरन्तर वृद्धि तथा उद्योग-धन्धे के अभाव के फलस्वरूप कृषि पर जनसंख्या का दबाव निरन्तर बढ़ता ही जा रहा है । अतः किसानों की औसत आय घटती जाती है । चूँकि अपनी आय से किसानों का काम नहीं चलता, अतः विवश होकर उन्हें कर्ज लेना पड़ता है । कर्ज लेने के साथ-साथ इनकी निर्धनता और भी बढ़ती जाती है जिससे ये कर्ज चुकाने में बहुधा असमर्थ सिद्ध होते हैं ।

(२) जोतों का अत्यधिक उपविभाजन एवं अपखण्डन (Excessive Subdivision and Fragmentation of Holdings) —जनसंख्या की वृद्धि तथा पैतृक सम्पत्ति सम्बन्धी नियमों के कारण किसानों की जोतों का उप-विभाजन निरन्तर बढ़ता ही जा रहा है । इससे किसानों की जोत एक आर्थिक इकाई नहीं रह जाती जिससे कृषि-पूँजी और श्रम की बड़ी बर्बादी होती है तथा उपज भी पर्याप्त नहीं होती । अतः किसानों को कर्ज लेने के लिए बाध्य होना पड़ता है ।

(३) कुटीर उद्योगों का पतन तथा सहायक उद्योग-धन्धों का अभाव :—भारतीय किसानों को कृषि-कार्य में वर्ष भर काम नहीं मिलता । वर्ष के कुल तीन-चार महीनों के अतिरिक्त वे प्रायः बेकार ही रहते हैं । इस समय में अगर उन्हें कोई पूरक धन्धा रहता तो इनकी

1. Review of the Co-operative Movement in India, 1939 46, p. 39.

आय में वृद्धि होती। लेकिन ब्रिटिश शासन काल में देश के कुटीर उद्योगों के पतन के फलस्वरूप पूरक आय का कोई साधन नहीं रह गया। अत: किसानों को बाध्य होकर ऋण लेना पड़ता है। श्री एम० एल० डार्लिंग (M. L. Darling) ने इस सम्बन्ध में ठीक ही कहा है कि "बिना ऋण लिए कुछ एकड़ भूमि पर किसी परिवार का पालन-पोषण करने के लिए बुद्धि, परिश्रम तथा मितव्ययिता की आवश्यकता होती है जो प्राय: गर्म देशों में नहीं पायी जाती है।"

(४) किसान तथा उसके पशु-धन की अस्वस्थता ;—भारतीय किसान सर्वदा तरह-तरह की बीमारियों का शिकार बना रहता है। कृषि के मौसम में विशेषकर मलेरिया आदि रोग उसे काम करने से असमर्थ बना देते हैं। इन रोगों के कारण किसानों की कार्यक्षमता कम हो जाती है। साथ ही, दवा-दारू आदि के लिए भी उन्हें कर्ज लेना पड़ता है। पशुओं की अस्वस्थता भी इसके लिए कम उत्तरदायी नहीं है। किसान के मवेशी पर्याप्त चारे के अभाव में केवल खाल और हड्डी के थैले मात्र ही रह जाते हैं। अधिकांश तो मवेशी रोग आदि के फलस्वरूप मर भी जाते हैं। किसानों को अन्य साधनों के अभाव में इन्हें खरीदने के लिए ऋण लेना पड़ता है। इस प्रकार ग्रामीण ऋणग्रस्तता का यह भी एक प्रमुख कारण है।

(५) फसलों की अनिश्चतता (Insecurity of harvests) :—भारतीय कृषि मौनसून के साथ जुएबाजी की तरह है। इससे फसलों का होना अनिश्चित रहता है। ऐसा अनुमान लगाया जाता है कि पंचवर्षीय कृषि-चक्र में एक अच्छा, एक बुरा और तीन साधारण वर्ष होते हैं। जिस वर्ष फसल नष्ट हो जाती है उस वर्ष किसानों को कर्ज लेना पड़ता है। केवल अच्छे वर्ष में ही वह अपने को ऋण-मुक्त रख सकता है। इस प्रकार ऋण की मात्रा को बढ़ाने में फसलों की अनिश्चितता का भी बड़ा हाथ है।

(६) सामाजिक एवं धार्मिक रीति-रिवाज —यद्यपि एक औसत भारतीय किसान साधारणतया मितव्ययिता एवं संयम का जीवन व्यतीत करता है, फिर भी सामाजिक एवं धार्मिक रीति-रिवाजों में अटूट श्रद्धा रखने के कारण वह विशेष अवसरों पर दिल खोल कर खर्च करता है जिससे ऋणग्रस्तता की मात्रा बढ़ती जाती है। लेकिन इन खर्चों को उसके ऋण का मूल कारण समझना उचित नहीं जान पड़ता। प्राय: यह देखा जाता है कि शादी तथा श्राद्ध की तुलना में भोजन एवं अन्य आवश्यक वस्तुओं; जैसे—बीज, मवेशी, खाद तथा औजार आदि के लिए किये जाने वाले ऋण ही किसानों के ऋण को बढ़ाने में अधिक सहायक होते हैं। फिर भी, इस प्रकार के अपव्यय का प्रभाव ग्रामीण ऋणग्रस्तता पर कम नहीं पड़ता।

(७) मुकदमेबाजी से अत्यधिक प्रेम :—अत्यधिक मुकदमेबाजी भी ग्रामीण ऋणग्रस्तता का एक प्रमुख कारण है। भारतीय किसान मुकदमेबाजी से विशेष प्रेम रखते हैं। इसलिए मुकदमेबाजी को भारतवासियों का राष्ट्रीय खेल कहना कोई अत्युक्ति नहीं होगी। हमारे देश की न्याय-पद्धति एवं भूमि की प्रथा भी इसे बढ़ाने के लिए बहुत हद तक उत्तरदायी है। मुकदमेबाजी में अधिक खर्च के लिए किसानों को ऋण लेना पड़ता है। लेकिन इसे ग्रामीण ऋण का एक छोटा कारण ही समझना चाहिए।

(८) कृषि का आत्मपूर्ण पेशा नहीं होना :—भारतीय किसान कृषि को जीवन-यापन का एक ढंग-मात्र (way of life) समझता है। वह उसे व्यापार या लाभकारी पेशा (Profitable

occupation) समझ कर कार्य नहीं करता। भारतीय किसान निराशावादी होता है और कृषि-कार्य में उनका अन्तिम उद्देश्य लाभ का उपार्जन करना नहीं होता। अतः वह अत्यधिक परिश्रम नहीं करता, जिससे कृषि-कार्य आत्मपूर्ण पेशा नहीं रह पाता है। फलस्वरूप किसानों को बाध्य होकर कर्ज लेना पड़ता है।

(९) पैतृक ऋण :—ग्रामीण ऋणग्रस्तता का एक प्रमुख कारण पैतृक ऋण भी है जो उचित प्रतिबन्ध के अभाव में बाप से बेटे को हस्तांतरित होता रहा है। भारतीय किसान पर पैतृक ऋण का असह्य बोझ है। इसीलिए कहा जाता है कि 'एक औसत भारतीय किसान ऋण में जन्म लेता है; ऋण ही में पलता है और ऋण का बोझ विरासत के रूप में अपने उत्तराधिकारियों पर छोड़कर मर जाता है।" अज्ञानता के फलस्वरूप किसान पैतृक ऋण का सम्मान करता है तथा उसे चुकाना अपना नैतिक एवं पवित्र कर्त्तव्य समझता है। वह इस सम्बन्ध में यह नहीं जानता कि उत्तराधिकारियों को तभी ऋण चुकाना पड़ता है जब वह मृतक व्यक्ति की सम्पत्ति प्राप्त करता हो। इस हालत में भी उसकी देनदारी प्राप्त सम्पत्ति के मूल्य तक ही सीमित रहती है। इस प्रकार अज्ञानता तथा परम्परा के कारण ऋण का बोझ पीढ़ी-दर-पीढ़ी बढ़ते जाता है। भारतीय ग्रामीण ऋण का अधिकांश भाग पैतृक ऋण ही है।

(१०) महाजन तथा अत्यधिक व्याज :—ग्रामीण ऋण का एक प्रमुख कारण महाजनों की शोषण की नीति भी है। महाजन ऋणी किसानों पर तरह-तरह के अत्याचार करते हैं तथा ऋण की मात्रा को बढ़ाते जाते हैं। इनके कार्यों पर कोई विशेष प्रतिबन्ध भी नहीं रहता। महाजनों की नीति इस प्रकार की होती है कि एक बार इनके चंगुल में फँस जाने पर किसानों के लिए छुटकारा पाना प्रायः असम्भव-सा हो जाता है। ये बहुत अधिक व्याज भी लेते हैं। कभी-कभी तो ये किसानों से चक्रवृद्धि दर से व्याज वसूल करते हैं। डार्लिङ्ग ने महाजनों द्वारा किसानों के इस शोषण का वर्णन करते हुए कहा है कि "किसान अपने लाभ से उसी प्रकारसे वंचित कर दिये जाते हैं जिस प्रकार कि भेड़ अपनी ऊन से वंचित कर दी जाती है।" (The raiyat was as easily shorn of his gains as the sheep of its fleece.) इस प्रकार अत्यधिक सूद की दर तथा महाजनो की शोषक नीति का भी ऋण के बोझ को बढ़ाने में कम हाथ नहीं है।

(११) लगान की दोष-पूर्ण नीति :—भारतीय किसानों को बहुधा अधिक लगान देना पड़ता है। साथ ही, लगान वसूल करने का तरीका भी कठिन है। अकाल पड़ने, फसल के मर जाने या कम होने के बावजूद लगान की मात्रा में किसी प्रकार की कमी नहीं होती। अतः लगान के अत्यधिक होने तथा इसके वसूलने की कठोरता ग्रामीण कर्ज का एक प्रमुख कारण है। किसान कर्ज लेकर लगान चुकाता है और इस प्रकार कर्ज का बोझ निरन्तर बढ़ते जाता है। जमींदारी उन्मूलन के पश्चात् मालगुजारी वसूलने की रीति में कुछ परिवर्तन की आशा की जाती थी; किन्तु समय ने इन सारी आशाओं को मिथ्या सिद्ध कर दिया है।

ऋणग्रस्तता के परिणाम
(Effects of Rural Indebtedness)

ऋणग्रस्तता का प्रभाव केवल किसानों के आर्थिक जीवन पर ही नहीं, वरन् सामाजिक तथा नैतिक जीवन पर भी पड़ता है। उत्पादक उद्देश्यों से लिया गया कर्ज किसानों की समृद्धि को बढ़ाता है, लेकिन अनुत्पादक उद्देश्यों से लिया गया कर्ज किसानों के लिए अभिशाप सिद्ध हो जाता

है। इसका बोझ सर्वदा बढ़ते जाता है। भारत के कुल ग्रामीण ऋण का प्राय: ५६·७ प्रतिशत भाग पारिवारिक व्यय तथा अन्य गैर-कृषि सम्बन्धी कार्यों के लिए ही लिया जाता है। अतः इससे किसानों की उत्पादन-क्षमता तथा आर्थिक स्थिति में कोई सुधार नहीं होता। दूसरे शब्दों में, इससे किसानों के ऋण चुकाने की क्षमता में वृद्धि नहीं होती, वरन् उसके शोषण की सम्भावना बढ़ जाती है जिससे उनकी कार्य-क्षमता घट जाती है। इस प्रकार भारत में ग्रामीण ऋणगस्तता के निम्नलिखित प्रधान परिणाम है :—

(१) आर्थिक परिणाम :—कर्ज के बोझ से निरन्तर दब रहने के कारण किसान अच्छी तरह से खेती नहीं कर पाता। उसके पास पर्याप्त साधनों का अभाव रहता है जिससे उपज कम होती है और फलस्वरूप आय भी कम होती है। फसल तैयार होते ही महाजन धावा बोलने लगते हैं। इस प्रकार जब किसान सोचता है कि जब अतिरिक्त परिश्रम का फल उसे न मिलकर उसके महाजन को मिलता है तो कृषि-कार्य के प्रति उसकी अभिरुचि समाप्त हो जाती है। साथ ही, कर्ज नहीं चुकाने के कारण बन्धक रखी गयी भूमि महाजनों के हाथ में चली जाती है जिससे भूमिहीन वर्ग की संख्या में वृद्धि होती है। इन भूमिहीन मजदूरों को दासत्व का जीवन व्यतीत करने के लिए बाध्य होना पड़ता है। इस प्रकार ऋणग्रस्तता के परिणामस्वरूप बहुत-से किसान अपनी आर्थिक स्वतन्त्रता को खो देते हैं तथा महाजन उनका तरह-तरह से आर्थिक शोषण करते हैं।

(२) सामाजिक परिणाम :—ऋणग्रस्तता का प्रभाव किसानों के सामाजिक जीवन पर भी पड़ता है। ऋण के परिणामस्वरूप महाजन तथा ऋणी के बीच आपसी संघर्ष बढ़ते जाता है। किसानों की भूमि महाजनों के हाथ में चले जाने के कारण भूमिहीन मजदूरों की संख्या बढ़ती है जिनके पास जीवन-यापन का कोई दूसरा साधन नहीं रह जाता। इस प्रकार ऋणग्रस्तता के फलस्वरूप सामाजिक असन्तोष भी बढ़ता है।

(३) नैतिक परिणाम :—ऋण लेने से किसानों की आर्थिक स्वतन्त्रता भी समाप्त हो जाती है और उन्हें दासत्व का जीवन व्यतीत करना पड़ता है। इससे ग्रामीण जनता का सर्वांगीण पतन होने लगता है। यह प्रथा किसानों को केवल उदासीन ही नहीं बनाती, वरन् झूठ और फरेब की ओर भी ले जाती है जिससे इनकी नैतिकता का ह्रास होने लगता है।

ग्रामीण ऋणग्रस्तता को कम करने के सरकारी प्रयत्न

(Government measures for tackling the problem of Rural Indebtedness)

इस प्रकार ग्रामीण ऋणग्रस्तता का भारतीय कृषि एवं किसानों पर बहुत बुरा प्रभाव पड़ा है। अतएव कृषि में स्थायी विकास के लिए इस समस्या का समाधान अति आवश्यक है। ग्रामीण ऋणग्रस्तता की समस्या के समाधान लिए के दो प्रकार के प्रयत्नों की आवश्यकता है :—

(क) उत्पादन-शक्ति में वृद्धि कर किसानों की आर्थिक स्थिति को सुदृढ़ बनाना; तथा

(ख) साख-सम्बन्धी सुविधाएँ प्रदान करना।

(क) उत्पादन-शक्ति में वृद्धि के द्वारा आर्थिक स्थिति को सुदृढ़ बनाना:— उत्पादन-शक्ति में वृद्धि कर किसानों की आर्थिक स्थिति को सुदृढ़ बनाया जा सकता है जिससे उन्हें कर्ज लेने की कोई आवश्यकता ही नहीं पड़ेगी। इस उद्देश्य से कृषि में स्थायी सुधार के लिए अन्य उपायों

को अमल में लाना होगा। साथ ही, इस उद्देश्य से ग्रामीण क्षेत्रों में सहायक उद्योगों का विकास भी अनिवार्य है क्योंकि इससे ग्रामवासियों की आय में वृद्धि होगी। इस प्रकार ग्रामीण ऋणग्रस्तता की समस्या का वास्तविक समाधान साख की व्यवस्था द्वारा नहीं, वरन् किसानों की आय में वृद्धि द्वारा ही किया जा सकता है। किन्तु, अभी तक सरकार द्वारा किये गये प्रयत्न मुख्यतः साख-सम्बन्धी सुविधाओं तक ही सीमित रहे हैं।

(ख) साख-सम्बन्धी सुविधाओं की व्यवस्था :—ऋणग्रस्तता की ओर सरकार का ध्यान सर्वप्रथम गत शताब्दी के अन्तिम वर्षों में आकर्षित हुआ और इस समस्या को सुलझाने के लिए सरकारी प्रयास किये जाने लगे। इस सम्बन्ध में किये गये सरकारी प्रयत्नों को निम्न प्रकार से तीन भागों में विभाजित किया जा सकता है :—

(i) पुराने ऋणों को कम करने के प्रयत्न;
(ii) नये ऋणों पर नियन्त्रण; तथा
(iii) नये ऋणों की व्यवस्था।

(i) पुराने ऋणों को कम करने का प्रयत्न :—यह सर्वविदित है कि जबतक किसानों को पुराने ऋण के बोझ से मुक्त नहीं किया जायगा, तबतक कृषि के विकास की कोई भी योजना सफल नहीं हो सकती। किसानों की आय तो पहले से ही अपर्याप्त है फिर भी अगर पुराने कर्ज के बोझ को कम नहीं किया जाय, तो उन पर अतिरिक्त भुगतान का बोझ भी बढ़ता ही जायगा। फलस्वरूप इनका जीवन-स्तर निम्न होते जायगा और कृषि-विकास के लिए उनकी प्रेरणा भी समाप्त हो जायगी। देश में नयी कृषि-साख-व्यवस्था के निर्माण के लिए पुराने कर्ज का निबटारा भी अनिवार्य है; जैसा गाडगिल ने बतलाया है कि जबतक अतीत के कर्ज के भारस्वरूप तथा बाधाजनक प्रभावों को निर्मूल नहीं कर दिया जायगा, तब तक नवीन कृषि-साख-व्यवस्था को निर्मित तथा कार्यान्वित करना सर्वथा असम्भव होगा।

भिन्न-भिन्न राज्यों में पुराने कर्ज को स्थगित या कम करने के लिए कानून बनाये गये हैं। जहाँ कर्जदार की सम्पत्ति उसके कर्ज को अदा करने के लिए पर्याप्त नहीं है वहाँ कर्जदार को दिवालिया स्वीकार करने की व्यवस्था भी कुछ राज्यों में की गयी है। भिन्न-भिन्न राज्यों में पुराने कर्जों को स्थगित या कम करने के लिए निम्नांकित प्रयन्न किये गये हैं —

(क) ऋणों के भुगतान को स्थगित करने की व्यवस्था :—१९२९ ई० की विश्व-व्यापी आर्थिक मन्दी के फलस्वरूप किसानों पर कर्ज का वास्तविक भार निरन्तर बढ़ने लगा, जिससे वे मूलधन तथा ब्याज चुकाने में असमर्थ हो गये। अतः किसानों को मन्दी से बचाने के लिए भिन्न-भिन्न प्रान्तों में कर्ज के भुगतान की कार्यवाही को स्थगित करने की व्यवस्था की गयी। इस प्रकार के कानून उत्तर प्रदेश में १९३२ ई० में एवं मध्य प्रदेश तथा बम्बई में १९३४ ई० में बनाये गये थे। इन कानूनों का अभिप्राय कर्जदार पर डिग्री के इजराय तथा उनकी बेदखली को रोकना है। इस प्रकार कानून द्वारा इन राज्यों में कर्जों के भुगतान को अस्थायी तौर से स्थगित करने की व्यवस्था की गयी है।

ऋण-समझौता विधान (Debt Conciliation Act) :—केन्द्रीय बैंकिंग जाँच-समिति की सिफारिशों के आधार पर महाजन तथा कर्जदार दोनों के पारस्परिक समझौते के अनुसार कर्ज को कम करने की व्यवस्था की गयी है। १९२९ ई० तथा बाद की भयानक मन्दी के समय किसान

कर्जों के भुगतान में असमर्थ होने लगे जिसके फलस्वरूप यह व्यवस्था करनी पड़ी। इस प्रकार का कानून सर्वप्रथम मध्य प्रदेश में १९३३ ई० के फरवरी माह में पारित हुआ जिसके अनुसार कर्ज को कम करने के लिए ऋण-समझौता बोर्ड का प्रयोग किया जाने लगा। इसके बाद १९३४ ई० में 'पंजाब कर्ज मुक्ति अधिनियम' (Punjab Relief of Indebtedness Act); १९३५ ई० में 'बंगाल कृषक ऋण अधिनियम' (Bengal Agriculturist Debt Act); १९३५ ई० में असम में 'कर्ज समझौता अधिनियम' (Debt Conciliation Act), तथा १९३६ ई० में मद्रास में 'कर्ज-समझौता अधिनियम' (Madras Debt Conciliation Act) बनाकर कर्ज के समझौता की व्यवस्था की गयी। यद्यपि विभिन्न प्रान्तों के कर्ज-समझौता विधानों की विस्तारपूर्ण कार्यवाही में कुछ अन्तर है, फिर भी साधारणतः इनमें बहुत कुछ समानता पायी जाती है। इनमें ३ से ९ सदस्यों का एक समझौता-बोर्ड बनाने की व्यवस्था है जिसका अध्यक्ष एक सरकारी पदाधिकारी होता है। इनमें कर्जदार तथा कर्जदाता दोनों के प्रतिनिधि रहते हैं। कर्जदाता या महाजन अपने कर्ज के समझौता के लिए बोर्ड से आवेदन कर सकता है। बोर्ड के समक्ष दोनों पक्ष अपना-अपना मामला पेश करते हैं। तब कर्जदार की आर्थिक स्थिति को ध्यान में रखते हुए ऋण की मात्रा कम की जाती है तथा ऋण वसूली के लिए १५ या २० वर्षों की किस्त कर दी जाती है।

ऋण के भुगतान का उचित प्रबन्ध करना ही ऋण समझौता विधानों का मुख्य उद्देश्य है। अतः इस विधान को सफल बनाने के साथ-साथ भुगतान का उचित ढंग निकालना भी आवश्यक है। यह कार्य भूमि-बन्धक बैंकों द्वारा अधिक सफलतापूर्वक किया जा सकता है। इस प्रकार इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए समझौता विधानों एवं भूमि-बन्धक बैंक में समन्वय स्थापित करना अनिवार्य हो जाता है।

(ग) ऋण को अनिवार्य रूप से कम या समाप्त करने की व्यवस्था :—कर्ज समझौता विधानों को कार्यान्वित करने में धीरे-धीरे स्वेच्छा के सिद्धांत के स्थान पर अनिवार्य बनाने की प्रवृत्ति प्रारम्भ है। स्वेच्छापूर्वक कर्ज समझौता में शीघ्रता नहीं हो पाती थी। अतः इसे सुचारु रूप से कार्यान्वित करने के लिए मद्रास, उत्तर प्रदेश, मध्य प्रदेश तथा बम्बई में कानून द्वारा कर्ज को अनिवार्य रूप से कम करने की व्यवस्था की गयी। इस उद्देश्य से मद्रास में १९३८ ई० में मद्रास कृषक कर्ज मुक्ति अधिनियम (Madras Agriculturist Debt Relief Act), मध्य प्रदेश तथा बरार ऋणग्रस्तता मुक्ति अधिनियम (C. P. and Berar Relief of Indebtedness Act); १९३४ ई० में बम्बई में कृषक कर्जदार मुक्ति अधिनियम (Bombay Agricultural Debtors Relief Act) तथा १९३९ ई० में उत्तर प्रदेश कृषक कर्ज मुक्ति अधिनियम (U. P. Agricultural Debt Redumption Act) आदि बनाये गये।

इन अधिनियमों के निम्नलिखित मुख्य उद्देश्य थे :—

(अ) अगामी वर्षों के लिए ब्याज की दर को निश्चित करना,

(ब) ब्याज की बकाया रकम को कम करना,

(स) बकाया ऋणों की रकम को इस प्रकार से कम करना कि महाजन द्वारा वसूल की गयी कुल रकम मूलधन के दुगुने से अधिक न होने पाय।

मद्रास के विधान के अनुसार १ अक्टूबर, १९३७ ई० तक जमा हुए कर्ज के ब्याज से ऋणियों को मुक्त कर दिया गया तथा आगे के लिए ६ प्रतिशत वार्षिक अधिकतम ब्याज की दर

निश्चित कर दी गयी। साथ ही, यह व्यवस्था भी की गयी कि भविष्य में कर्ज की रकम मूलधन के दुगुने से अधिक नहीं हो सकती। मध्य प्रदेश तथा बरार के अधिनियमों के अनुसार कर्ज समझौता बोर्डों के स्थान पर कर्ज-मुक्ति अदालतों (Debt Relief Courts) की व्यवस्था की गयी। इन अदालतों के द्वारा ऋणों के मूलधन के सम्बन्ध में भूमि के मूल्य में अनुमानित कमी के आधार पर किस्त द्वारा चुकाने की सुविधा प्रदान करने की व्यवस्था की गयी है। उत्तरप्रदेश के अधिनियम द्वारा कानूनी अदालतों को यह अधिकार दिया गया कि वे बकाया मूलधन की अदायगी में इतनी रकम दिला दें जो मूलधन की रकम के दुगुने से अधिक नहीं हो। बम्बई के अधिनियम के अनुसार कर्ज तसफीहा बोर्डों के द्वारा किसानों के कर्ज को आंशिक रूप में कम करने तथा उन्हें छोटी-छोटी किस्तों में अदा करने की सुविधा दी गयी है। मैसूर तथा ट्रावनकोर में भी इसी प्रकार की व्यवस्था की गयी है।

(ख) नये ऋणों पर नियन्त्रण :—ग्रामीण कर्ज की समस्या को सुलझाने का दूसरा उपाय नये कर्ज पर नियन्त्रण है। किसानों के बीच इस प्रकार का वातावरण तैयार किया जाय जिससे साधारणतया उन्हें उत्पादक कार्यों के लिए कर्ज लेने का प्रोत्साहन मिले। इनके लिए किसानों में अनुत्पादक कार्यों के लिए कर्ज लेने की विरोधी विचारधारा का प्रचार दिया गया। यह कार्य प्रचार तथा शिक्षा के प्रसार द्वारा ही सम्भव है। इससे किसान अपना उत्तरदायित्व समझेंगे तथा दूरदर्शिता से काम लेंगे। ग्राम-पंचायतों द्वारा इस कार्य में बहुत अधिक सहायता मिल सकती है।

लेकिन अगर प्रचार लाभदायक सिद्ध नहीं हुआ तो साख की सुविधा को सीमित बनाकर इस दिशा में सफलता प्राप्त की जा सकती है। आजकल भूमि के मूल्य में अत्यधिक वृद्धि के फलस्वरूप किसानों के कर्ज लेने की शक्ति भी बहुत अधिक बढ़ गयी है। अतः भूमि के हस्तान्तरण के अधिकारों को सीमित बनाकर भी कर्ज लेने की शक्ति को कम किया जा सकता है। साथ ही, महाजनों के लेन-देन के कार्य को भी नियमित बनाना इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए अनिवार्य हो जाता है। महाजनों को नियमित रूप से हिसाब रखने, एक निश्चित दर से अधिक ब्याज नहीं लेने तथा रुपया कर्ज देने के लिए लाइसेन्स लेने के लिए बाध्य किया जा सकता है। इस प्रकार के विधान बहुत से राज्यों में पाये जाते हैं। इन्हें यदि उचित रूप से कार्यान्वित किया जाय तो पर्याप्त सफलता मिल सकेगी और ऋणग्रस्तता की मात्रा भी कम हो जायगी।

भूमि के हस्तान्तरण पर प्रतिबन्ध :—भूमि के मुक्त हस्तान्तरण के कारण फिजूल खर्च किसान भूमि की जमानत के आधार पर मनमाना कर्ज लेते हैं। इससे ऋण के लेन-देन को बहुत अधिक प्रोत्साहन मिलता है जिससे किसानों की भूमि धीरे-धीरे महाजनों के हाथ जाने लगती है। अतः ऋण की मात्रा में कमी लाने के लिए भूमि के हस्तांतरण पर प्रतिबन्ध लगाना आवश्यक है। इस सम्बन्ध में सर्वप्रथम पंजाब में भूमि-हस्तांतरण अधिनियम (Punjab Land Alienation Act) बनाया गया। इसके अनुसार किसान की भूमि खेती न करनेवाला कोई व्यक्ति नहीं खरीद सकता तथा २० वर्षों से अधिक रेहन के रूप में नहीं रख सकता। इस कानून की बहुत अधिक आलोचना हुई। समय-समय पर इसमें आवश्यक संशोधन भी किये गये। लेकिन भारत में जनतन्त्र के निर्माण के बाद इसे संविधान के विपरीत समझ कर राष्ट्रपति ने इसका खंडन कर दिया। भूमि के हस्तांतरण पर प्रतिबन्ध के साथ-साथ किसानों के औजारों,

मवेशी तथा मकान के भी कुर्क और नीलाम एवं किसानों की गिरफ्तारी पर भी प्रतिबन्ध लगाया गया है तथा किस्तों में ऋणों के भुगतान करने की व्यवस्था की गयी है।

महाजनों पर प्रतिबन्ध-- किसान आज भी कर्ज का अधिकांश भाग महाजनों से ही प्राप्त करता है। वास्तव में, भारतीय गाँवों में आज भी "अदूरदर्शिता एवं अपव्यय की मरुभूमि में महाजन ही पूँजी-संचय की एक-मात्र हरीतिमा है।" (The money lender is the only basis of thrift in a desert of improvidence and extravagance.) किन्तु महाजन ऋणी किसानों का तरह-तरह से शोषण करते हैं। अतएव ऋणग्रस्तता के बोझ तथा महाजन के अत्याचारों को कम करने के लिए भिन्न-भिन्न राज्यों में महाजनों पर निम्नलिखित प्रतिबन्ध लगाये गये है :

(i) महाजनों की रजिस्ट्री तथा लाइसेंस :—ऋण के लेन-देन का व्यवसाय आरम्भ करने के पूर्व महाजनों को रजिस्ट्री कराकर लाइसेंस लेना अनिवार्य बना दिया गया है। इस कार्य में किसी प्रकार की गड़बड़ी करने पर इनका लाइसेंस रद्द कर दिया जाता है। बिहार, बंगाल, मध्य प्रदेश, महाराष्ट्र, गुजरात, उत्तर प्रदेश तथा पंजाब में इस प्रकार की व्यवस्था पायी जाती है।

(ii) नियमित रूप से हिसाब रखना :—कानून द्वारा महाजनों को लेन-देन का हिसाब नियमित रूप से रखना तथा समय-समय पर अपने कर्जदारों को कर्ज का ब्योरा देना अनिवार्य बना दिया गया है। साथ ही, ऋण-वसूली की रकम के लिए महाजनों को रसीद भी देनी पड़ती है। पर किसानों की अशिक्षा तथा अज्ञानता के कारण यह कानून व्यावहारिक रूप में बहुत अधिक लाभदायक नहीं हो पाता है।

(iii) ब्याज की दर पर नियन्त्रण :—कर्ज के लिए ब्याज की अधिकतम दर निश्चित कर दी गयी है। असुरक्षित कर्ज (Unsecured Loan) के लिए ब्याज की दर अधिक तथा सुरक्षित कर्ज (Secured Loan) के लिए कम तय की गयी है। बिहार में असुरक्षित कर्ज पर वार्षिक ब्याज की अधिकतम दर पर १२ प्रतिशत तथा सुरक्षित कर्ज पर ९ प्रतिशत तय की गयी है। बिहार तथा असम में चक्रवृद्धि ब्याज लेना भी गैर-कानूनी घोषित किया गया है। साथ ही, प्रायः सभी राज्यों में ऐसी व्यवस्था की गयी है कि ब्याज की सम्पूर्ण रकम मूलधन से अधिक नहीं हो सकती। लेकिन ब्याज दर-सम्बन्धी नियम को प्रयोग में लाना कठिन जान पड़ता है क्योंकि आवश्यकता पड़ने पर किसान अधिक ब्याज देकर भी कर्ज लेने को तैयार हो जाते हैं।

(iv) विविध : इनके अतिरिक्त किसानों को महाजनों से अन्य प्रकार के शोषण से बचाने की भी व्यवस्था की गयी है। महाजन किसान के औजार, मवेशी तथा मकान को कुर्क नहीं करा सकते। साथ ही, एक न्यूनतम मात्रा से कम भूमि को नीलाम भी नहीं कराया जा सकता है। इसी प्रकार किसानों की गिरफ्तारी पर भी प्रतिबन्ध लगाया गया है।

(ग) नये कर्ज की व्यवस्था :—इन सब प्रश्नों के द्वारा तो ऋणग्रस्तता की मात्रा कम हो जायगी लेकिन इसके साथ-साथ किसानों के लिए नये कर्ज की व्यवस्था भी आवश्यक है। इस उद्देश्य से किसानों तथा कारीगरों को अतिरिक्त साख प्रदान करने के अन्य साधनों को अधिक प्रोत्साहन देना चाहिए। कर्ज-प्राप्ति के भिन्न-भिन्न साधनों के अध्ययन में हम देख चुके है कि सहकारी समितियाँ इस सम्बन्ध में बहुत अधिक सहायक हो सकती हैं, किन्तु भारत में सहकारिता

आन्दोलन का विकास अभी बहुत ही कम हो पाया है। साथ ही, भारत में ऋणग्रस्तता की मात्रा इतनी अधिक है कि इसके लिए हम केवल सहकारिता पर ही निर्भर नहीं कर सकते। अतः सरकार द्वारा किसानों को अल्पकालीन, मध्यमकालीन तथा दीर्घकालीन आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए अत्यधिक मात्रा में साख प्रदान करना कठिन हो जाता है। पर्याप्त साख की व्यवस्था होने पर ही किसानों की आर्थिक स्थिति में सुधार तथा कृषि-विकास सम्भव हो सकता है। अभी तक सरकार द्वारा दिया जाने वाला कर्ज भी लोकप्रिय नहीं हो पाया है। अतः इन्हें लोकप्रिय बनाना भी सरकार का उद्देश्य होना चाहिए।

कृषि-साख का पुनर्संगठन

(Re-organisation of Agricultural Credit)

इस प्रकार भारतीय कृषि के लिए साख का अत्यधिक महत्त्वपूर्ण स्थान है, किन्तु कृषि-साख की वर्त्तमान व्यवस्था दोषों से परिपूर्ण है; अतएव इसका पुनर्संगठन अनिवार्य है। ग्रामीण साख-सर्वेक्षण (All India Rural Credit Survey) के अनुसार ग्रामीण साख का प्रधान उद्देश्य कृषि की उपज में वृद्धि होना चाहिए। इसे किसानों की दीर्घ, मध्यम तथा अल्पकालीन सभी प्रकार की आवश्यकताओं की पूर्ति करनी चाहिए। (Rural credit must be directcd principally towards improved production, it must meet long, medium as well as short term needs. It must be supervised; it must be available to all who are credit-worthy and at a moderate rate of interest. Obviously, in the village itself no form of credit organisation will be suitable except the co-operative socity. Co-operation has failed, but co-operation must succeed.) ग्रामीण साख सर्वेक्षण के इस बयान से भारतीय ग्रामीण साख के पुनर्संगठन का उद्देश्य बिलकुल स्पष्ट हो जाता है।

सरकार आज कृषि-साख के पुनर्संगठन के लिए बहुत अधिक प्रयत्नशील है। इस उद्देश्य से समय-समय पर बहुत-सी समितियों की नियुक्ति की गयी जिन्होंने इस सम्बन्ध में कई महत्त्वपूर्ण सुझाव दिये। उदाहरण के लिए, गाडगिल समिति ने इस समस्या के समाधान के लिए प्रत्येक राज्य में एक कृषि-साख नियम (Agricultural Credit Corporation) की स्थापना की सिफारिश की थी। कृषि-सुधार समिति ने इस सम्बन्ध में यह बतलाया कि सहकारी समितियों तथा भूमि-बन्धक बैंकों द्वारा अल्प एवं दीर्घकालीन कर्ज की व्यवस्था की जानी चाहिए। इसी उद्देश्य से कृषि साख समितियों को सुसंगठित करने पर जोर दिया जा रहा है।

भार में कृषि-साख के पुनर्संगठन के उद्देश्य से १९५० ई० में 'ग्रामीण बैंकिंग जाँच समिति'' (Rural Banking Enquiry Committee) ने कई महत्त्वपूर्ण सुझाव दिये थे जिनमें निम्नलिखित विशेष महत्त्व के हैं :—

(क) समिति के अनुसार ग्रामीण ऋण को कम करना निःसन्देह आवश्यक है, परन्तु वर्तमान परिस्थितियों में कृषि-साख संस्थाओं का निर्माण ही अधिक महत्त्वपूर्ण है। अतः इन्हें प्राथमिकता प्रदान करना नितान्त आवश्यक है। किन्तु देश के विभिन्न भागों में कृषि-साख की समस्या का स्वरूप एकसमान नहीं है; अतः भिन्न-भिन्न क्षेत्रों में अल्पकालीन तथा मध्यमकालीन ऋण देने वाली समस्याओं में भी विभिन्नता पायी जाती है। फिर भी इनका संगठन यथासंभव सहकारिता के आधार पर ही होना चाहिए।

(ख) समिति ने व्यावसायिक बैंकों को ग्रामीण क्षेत्रों में अपनी शाखाएँ खोलने के लिए प्रोत्साहित करने की सिफारिश की थी। ऐसा करने से वे ग्रामीण जनता तक पहुँच सकते हैं। इस कार्य के लिए रिजर्व बैंक को सस्ती दर पर इन्हें सहायता देने की व्यवस्था की जानी चाहिए।

(ग) समिति के अनुसार ग्रामीण साख प्रदान करने के क्षेत्र में सहकारी समितियों को ही अधिकाधिक प्रोत्साहित करना चाहिये।

(घ) किसानों को दीर्घ-कालीन साख प्रदान करने के उद्देश्य से समिति के अनुसार ऐसे क्षेत्रों में जहाँ इनका अभाव है, इनकी संख्या में वृद्धि नितान्त आवश्यक है।

इस प्रकार ग्रामीण बैंकिंग जाँच समिति ने कृषि-साख के पुनर्संगठन के लिए बहुत-से महत्त्वपूर्ण सुझाव प्रस्तुत किया था।

रिजर्व बैंक एवं ग्रामीण-साख का पुनर्संगठन

(Reserve Bank and the Re-organisation of Rural Credit)

रिजर्व बैंक प्रारम्भ से ही कृषि-साख के पुनर्संगठन पर जोर देता रहा है। इस उद्देश्य से रिजर्व बैंक के अन्तर्गत एक पृथक् कृषि-साख विभाग (Agricultural Credit Department) की स्थापना की गयी है जिसके प्रधान कार्य इस प्रकार से हैं—(१) कृषि-साख सम्बन्धी विभिन्न प्रश्नों की जाँच के लिए विशेषज्ञों की व्यवस्था; (२) सहकारी साख एवं सहकारी समितियों के प्रबन्ध में केन्द्रीय एवं राज्य सरकारों को परामर्श देना; (३) कृषि-पदार्थों के उत्पादन एवं अन्य कृषि-सम्बन्धी क्रियाओं के लिए प्रान्तीय सहकारी बैंकों के माध्यम से कर्ज प्रदान करना। रिजर्व बैंक ने प्रथम दो पंचवर्षीय योजनाओं में नियमन, नियन्त्रण एवं सहायता द्वारा सहकारिता आन्दोलन के विकास को बहुत अधिक प्रोत्साहित किया है। सहकारी बैंकों को रिजर्व बैंक द्वारा दिया गया ऋण १९५५-५६ ई० में १४ करोड़ रुपये से बढ़कर १९६१-६२ ई० में १०७ करोड़ रुपये हो गया।

ग्रामीण-साख सर्वेक्षण समिति (Rural Credit Survey Committee) :— ग्रामीण-साख की समुचित व्यवस्था के लिए रिजर्व बैंक ने १९५१ ई० में श्री ए० डी० गोरवाला की अध्यक्षता में एक ग्रामीण साख सर्वेक्षण समिति की नियुक्ति की जिसकी सिफारिशें सन् १९५४ ई० के सितम्बर माह में प्रकाशित हुईं। समिति ने इस सम्बन्ध में बहुत-से महत्त्वपूर्ण सुझाव सरकार के सम्मुख प्रस्तुत किये थे। देश में ग्रामीण साख की समुचित व्यवस्था के लिए सहकारी समितियों को महत्त्वपूर्ण बतलाया गया। साथ ही, समिति ने सहकारी साख एवं विक्रय समितियों के समायोजन पर भी जोर दिया था। कृषि-साख के पुनर्संगठन के लिए समिति की सिफारिशें निम्नांकित तीन सिद्धान्तों पर आधारित हैं :—

(१) कृषि-साख संगठन के प्रत्येक स्तर पर सरकारी सहयोग आवश्यक है;

(२) साख तथा अन्य ग्रामीण आर्थिक क्रियाओं में पूर्ण समन्वय हो; तथा

(३) ग्रामीण जनता की आवश्यकताओं के प्रति जागरूक, प्रशिक्षित एवं कुशल कार्यकर्त्ताओं द्वारा इन योजनाओं का प्रशासन हो।

इसके अतिरिक्त समिति ने निम्नलिखित संस्थाओं की स्थापना के लिए सरकार से सिफारिश की थी :—

रिजर्व बैंक के अन्तर्गत :—

दीर्घकालीन साख प्रदान करने के लिए—(क) राष्ट्रीय कृषि-साख (दीर्घकालीन) कोष [National Agricultural Credit (Long Term Operation) Fund] स्थापित किया जाय जिसकी प्रारम्भिक पूँजी ५ करोड़ रुपये होगी तथा जिसमें प्रतिवर्ष ५ करोड़ रुपये और रखे जायँ; तथा

(ख) राष्ट्रीय कृषि-साख सुस्थिरीकरण कोष [National Agricultural Credit (stabilization) Fund] जिसमें प्रतिवर्ष १ करोड़ रुपया रखा जाय।

कृषि एवं खाद्य मंत्रालय (Ministry of Food and Agriculture) के अधीन—

राष्ट्रीय कृषि-साख (सहायता एवं गारंटी) कोष [National Agricultural Credit (Relief and Guarantee) Fund] जिसमें १ करोड़ रुपया प्रतिवर्ष रखा जाय।

ये तीनों कोष नयी कृषि-व्यवस्था के आधार-स्तम्भ का कार्य करेंगे। साथ ही, ये संकट-काल में सहायता एवं सहयोग द्वारा ग्रामीण साख-व्यवस्था को स्थायित्व प्रदान करेंगे।

स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया (State Bank of India) :— ग्रामीण क्षेत्रों में साख की समुचित व्यवस्था के लिए समिति ने इम्पीरियल बैंक ऑफ इण्डिया तथा अन्य १२ बैंकों को मिलाकर एक स्टेट बैंक की स्थापना का सुझाव दिया था, जिसकी स्थापना १ जुलाई, १९५५ ई० को हुई। इसके तत्वावधान में समिति ने एक एकीकरण एवं विकास कोष की स्थापना का सुझाव दिया था।

प्रत्येक राज्य सरकार के अधीन—

(क) राज्य कृषि-साख (सहायता और गारंटी) कोष, तथा

(ख) राज्य सहकारिता विकास कोष।

प्रत्येक राज्य सहकारी बैंक तथा केन्द्रीय सहकारी बैंकों के अधीन—

कृषि-साख (सुस्थिरीकरण) कोष।

ग्रामीण-साख-सर्वेक्षण समिति ने अपने प्रतिवेदन में कृषि-साख के क्षेत्र में रिजर्व बैंक, स्टेट बैंक, राज्य सरकारों, सहकारी संस्थाओं तथा अन्य संस्थाओं का क्या भाग होना चाहिए, आदि के सम्बन्ध में विस्तारपूर्वक प्रकाश डाला है तथा आवश्यकतानुसार सुझाव भी प्रस्तुत किया है। समिति की अधिकांश सिफारिशों को सरकार ने स्वीकार कर लिया है तथा इस कार्य के लिए विभिन्न संस्थाओं की स्थापना भी की जा चुकी है।

पंचवर्षीय योजनाओं में कृषि-साख

(Agricultural Credit in the Five Year Plans)

प्रथम पंचवर्षीय योजना में सरकार तथा सहकारी संस्थाओं द्वारा १९५५-५६ ई० तक १२५ करोड़ रुपये कृषि-साख प्रदान करने का आयोजन था, किन्तु योजना के इस लक्ष्य की पूर्ति नहीं हो सकी तथा केवल ४३ करोड़ रुपये का कृषि-साख ही प्रदान किया जा सका। इसमें से ३० करोड़ रुपये अल्पकालीन, १० करोड़ रुपये मध्यमकालीन तथा ३ करोड़ रुपये दीर्घकालीन ऋण के रूप में दिया गया था।

द्वितीय पंचवर्षीय योजना में सरकार तथा सहकारी समितियों द्वारा कुल २१५ करोड़ रुपये कृषि-साख प्रदान किया गया जिसमें अल्पकालीन एवं मध्यमकालीन साख की मात्रा २०३ करोड़ रुपये, तथा दीर्घकालीन साख की मात्रा केवल १२ करोड़ रुपये थी।

तृतीय पंचवर्षीय योजना में सरकार तथा सहकारी समितियों द्वारा कुल ६७५ करोड़ रुपये कृषि-साख के रूप में देने की व्यवस्था थी जबकि वास्तव में ५६५ करोड़ रुपये प्रदान किये गये। इसमें से दीर्घ एवं मध्यमकालीन साख की मात्रा ४५० करोड़ रुपये तथा अल्पकालीन साख की मात्रा ११५ करोड़ रुपये थी।

इसी प्रकार **चतुर्थ पंचवर्षीय योजना** (Fourth Five Year Plan) के अन्तिम वर्ष में सरकार तथा सहकारी समितियों द्वारा कुल १४५० करोड़ रुपये कृषि-साख प्रदान करने का आयोजन है। इसमें से ७५० करोड़ रुपये अल्प एवं मध्यमकालीन साख तथा ७०० करोड़ रुपये दीर्घकालीन साख की मात्रा है।

पंचवर्षीय योजनाओं के अन्तर्गत दिये गये कृषि-साख की मात्रा का अन्दाजा निम्नांकित तालिका से स्पष्ट है :—

पंचवर्षीय योजनाओं में कृषि-साख (करोड़ रुपये में)

साख की प्रकृति	प्रथम योजना (अन्तिम वर्ष)	द्वितीय योजना (अन्तिम वर्ष)	तृतीय योजना (अन्तिम वर्ष)	चतुर्थ योजना (अन्तिम वर्ष)
अल्पकालीन एवं मध्यकालीन साख	४०	२०३	४५०	७५०
दीर्घकालीन साख	३	१२	११५	७००
कुल	४३	२१५	५६५	१४५०

इससे स्पष्ट है कि तृतीय योजना के अन्त में सहकारी संस्थाओं द्वारा देश की ग्रामीण साख की कुल आवश्यकताओं का एक बड़ा भाग पूरा किया जाने लगा था जबकि १९५१-५२ ई० में इनके द्वारा कुल साख की आवश्यकताओं का केवल ३·१ प्रतिशत भाग ही पूरा किया गया था।

कृषि-पुनर्वित्त निगम (Agricultural Re-Finance Corporation) :—भारत में किसानों को दीर्घकालीन वित्त प्रदान करने के उद्देश्य से भारत सरकार द्वारा १ जुलाई, १९६३ ई० को कृषि-पुनर्वित्त-निगम नामक एक संस्था का निर्माण हुआ। इसकी अधिकृत पूँजी २५ करोड़ रुपये की है जो १०,००० रुपये के २५ हजार हिस्सों में विभाजित है। इसमें प्रारम्भ में केवल पाँच करोड़ रुपये के ५००० हिस्से जारी किये गये हैं जिनमें से २५०० हिस्से रिजर्व बैंक द्वारा, १५०० हिस्से केन्द्रीय सहकारी बैंकों तथा केन्द्रीय भूमि-बन्धक बैंकों द्वारा एवं शेष जीवन बीमा निगम, अनुसूचित बैंकों तथा अन्य बीमा एवं विनियोगी संस्थाओं द्वारा खरीदे गये हैं। निगम की व्यवस्था ९ सदस्यों के एक संचालक मण्डल के द्वारा की जाती है जिसके अध्यक्ष रिजर्व बैंक के कृषि-साख विभाग के डिपुटी गवर्नर हैं। निगम भूमि-बन्धक बैंक जैसी किसानों को दीर्घकालीन साख प्रदान करनेवाली संस्थाओं के केन्द्रीय बैंक की तरह कार्य करता है। यह इस प्रकार की संस्थाओं को सुविधाजनक दरों पर ऋण प्रदान करता है। यह उन्हीं बड़े-बड़े कार्यों के लिए ऋण प्रदान करता है जिन्हें केन्द्रीय भूमि-बन्धक बैंक अथवा सहकारी बैंक अपने साधनों से पूरा नहीं कर सकते, जैसे भूमि का पुनरुद्धार, बगानों तथा विशेष प्रकार की फसलों की खेती के लिए ट्यूबवेल पम्पिंग सेट क्रय करने के लिए तथा पशु-धन एवं दुग्धशाला आदि का विकास। यह इन संस्थाओं, को ऋण भी प्रदान कर सकता है अथवा इनके ऋण-पत्र आदि खरीदता है। यह रिजर्व बैंक के सहयोग में कार्य करता है। १९६३-६४ ई० से १९६८-६९ ई० तक निगम ने १९९ विकास की

योजनाओं को स्वीकार किया है जिनकी वित्तीय लागत १५६·८ करोड़ रुपये है। चतुर्थ योजना-काल में निगम द्वारा २०० करोड़ रुपये के पुनर्वित्त प्रदान करने की आशा की जाती है।

साथ ही, कृषि-साख के क्षेत्र में भूमि-विकास बैंक (Land Development Bank) द्वारा भी महत्त्वपूर्ण सहयोग प्रदान किया जा रहा है। इनके द्वारा प्रदान की जाने वाली सहायता में भी महत्त्वपूर्ण वृद्धि हुई है। १९६०-६१ में वार्षिक साख १६ करोड़ रुपये से बढ़कर इन्होंने १९६८-६९ में १०० करोड़ रुपये की साख प्रदान किया। चतुर्थ योजनाकाल में इनके द्वारा ७०० करोड़ रुपये साख प्रदान करने का आशा की जाती है।

निष्कर्ष :—इस प्रकार कृषि-साख के संगठन के लिए निम्नांकित सुझाव दिये जा सकते हैं :—

(१) किसानों को दीर्घकालीन कर्ज प्रदान करने के लिए प्रत्येक राज्य में एक राज्य कृषि-साख निगम (State Agricultural Credit Corporation) की स्थापना की जाय।

(२) सहकारी साख समितियों तथा भूमि-बन्धक बैंकों को संगठित किया जाय।

(३) सरकार द्वारा दिये जानेवाले कर्जों को अधिक सुलभ बनाया जाय।

(४) प्रचार के द्वारा किसानों को अनुत्पादक कार्यों के लिए कर्ज लेने की प्रवृत्ति को कम किया जाय तथा इन्हें साख के उचित उपयोग की शिक्षा भी दी जाय।

उपरोक्त उपायों द्वारा ग्रामीण कर्ज का उचित प्रबन्ध हो सकता है।

निष्कर्ष :—भारत गाँवों का देश है। कृषि यहाँ का मुख्य व्यवसाय है। कृषि-प्रधान देश होने के कारण भूमि एक बहुमूल्य सम्पत्ति है। ऐसी स्थिति में एक कल्याणकारी राज्य का उद्देश्य इसे अधिकतम उत्पादन के लिए प्रयोग करना होना चाहिए जिससे जनसाधारण के जीवन-स्तर में सुधार हो सके। इससे भारतीय गाँवों का विकास होगा तथा देश की आर्थिक व्यवस्था अधिक सुदृढ़ होगी। इस उद्देश्य की पूर्ति में कृषि-साख के साधनों का बड़ा ही महत्त्वपूर्ण स्थान है। हर्ष का विषय है कि सरकार कृषि-साख की व्यवस्था को एक संगठित आधार प्रदान करने के लिए विशेष रूप से प्रयत्नशील है। रिजर्व बैंक द्वारा बड़े पैमाने पर साख-सर्वेक्षण के लिए पुनः निकट भविष्य में एक कमिटी की नियुक्ति की आशा की जाती है। साथ ही, भारत सरकार भी एक कृषि-आयोग (All India Commission on Agriculture) की नियुक्ति की बात सोच रही है। इससे कृषि-साख के वैज्ञानिक प्रबन्ध में बहुत अधिक सहायता की आशा की जाती है।

विशेष अध्ययन-सूची

1. R. B. I. : All India Rural Credit Survey. Vol. II.
2. ,, ,, : Report on Currency and Finance.
3. J. P. Bhattacharjee : Studies in Indian Agricultural Economics Ch. II.
4. Rural Credit Follow-up Surveys.
5. Report of the Committee on Co-operative Credit, Chapters III, VI. & XVII.

अध्याय : १८

सहकारिता आन्दोलन

(Co-operative Movement)

भारत में सहकारिता आन्दोलन का विकास :—उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम दस वर्षों में भारतीय किसानों की ऋणग्रस्तता ने विकराल रूप धारण कर लिया था। इस ऋणग्रस्तता से किसानों तथा श्रमजीवियों को मुक्त करने के लिए भारत में सहकारिता आन्दोलन का विकास हुआ। जर्मनी के छोटे-छोटे ग्राम-बैंकों की सफलता ने भारतीय समाज-सुधारकों का ध्यान इस ओर आकर्षित किया तथा १८८६ ई० में विलियम वेडरबर्न (William Wedderburn) और रानाडे ने किसानों को कर्ज से मुक्त कराने के लिए कृषि-बैंकों की स्थापना के सम्बन्ध में सरकार के समक्ष एक प्रस्ताव रखा, पर वह स्वीकृत नहीं हुआ। तत्पश्चात् १८९२ ई० में मद्रास सरकार ने फ्रेडरिक निकॉलसन (Fredrick Nicholson) को किसानों की ऋणग्रस्तता के निराकरण के सम्बन्ध में सुझाव देने के लिए नियुक्त किया। निकॉलसन का विवरण १८९५-९६ ई० में प्रकाशित हुआ। इसमें इस समस्या को दूर करने के लिए सहकारी साख-समितियों की स्थापना का समर्थन किया गया था। इसी समय उत्तर प्रदेश में डुपरनेक्स (Dupernex) तथा पंजाब में एडवर्ड मैकलगन सहकारी साख-समितियों का संगठन कर रहे थे। लेकिन इन प्रयत्नों का ब्रिटिश सरकार पर कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ा। इसी बीच १९०१ ई० के अकाल आयोग (Famine Commission) ने बड़े जोरदार शब्दों में सहकारी समितियों के संगठन का समर्थन किया। इनके परिणामस्वरूप १९०४ ई० में सहकारिता साख-समिति विधान (Co-operative Credit Societies Act, 1904) पारित हुआ। इसके अनुसार गाँव या नगर के कोई भी दस व्यक्ति मिलकर सहकारी साख-समितियों की स्थापना कर सकते थे। किन्तु यह विधान केवल साख-समितियों की ही स्वीकृति देता था। इसमें गैर-साख-समितियों की स्थापना की कोई व्यवस्था नहीं थी।

अतएव १९१२ ई० में एक दूसरा विधान बनाया गया। इसके अनुसार गैर-साख सहकारी समितियों की भी स्थापना की जाने लगी। अब क्रय-विक्रय, उत्पादन, बीमा, गृह-निर्माण आदि कार्यों के लिए भी सहकारी समितियों की स्थापना की जाने लगी। साथ ही, ग्राम तथा नगर-समितियों के वर्गीकरण में सीमित तथा असीमित दायित्व के सिद्धांत को बनाया गया। देख-भाल, हिसाब, निरीक्षण तथा पूँजी की सुविधा के लिए नयी संस्थाएँ—जिला संघ (District Unions), केन्द्रीय बैंक आदि की स्थापना की भी व्यवस्था की गयी। इसी बीच सहकारिता आन्दोलन की प्रगति की जाँच के लिए १९१४ ई० में सरकार ने श्री मैकलगन की अध्यक्षता में एक समिति की नियुक्ति की जिसकी विज्ञप्ति १९१५ ई० में प्रकाशित हुई। १९१९ ई० के राजनीतिक सुधारों के अनुसार सहकारिता प्रान्तीय सरकारों का हस्तांतरित विषय (Provincial Transferred Subject) बन गयी। अतएव इसके संचालन का भार अब प्रान्तीय सरकारों के हाथ में आ गया। इससे सहकारिता आन्दोलन को तीव्र गति प्राप्त हुई। शाही कृषि आयोग (Royal Commission on Agriculture) ने भी सहकारिता के विकास पर अधिक जोर दिया था। इस प्रकार १९१९ ई० से १९२९ ई० के बीच सहकारिता आन्दोलन की प्रगति तीव्र गति से होती रही, लेकिन इस अवधि में समितियों द्वारा दिये गये कर्ज का अधिकांश भाग लौटाया नहीं जा सका, अतः सहकारी समितियों की बहुत अधिक पूँजी मारी पड़ गयी।

१९२९ ई० की महान आर्थिक मन्दी से इस आन्दोलन को बहुत बड़ा धक्का लगा। अतएव समितियों की संख्या में वृद्धि की अपेक्षा उनके पुनर्निर्माण पर ही अधिक जोर दिया जाने लगा। १९३५ ई० में रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया (Reserve Bank of India) की स्थापना हुई। इसके अन्तर्गत एक पृथक् कृषि-साख विभाग (Agricultural Credit Department) का निर्माण हुआ जिसका कार्य कृषि के विकास के लिए आर्थिक सहायता प्रदान करना था। इसकी सहायता से रिजर्व बैंक ने सहकारिता आन्दोलन में सुधार लाने के प्रश्न का अध्ययन किया और साथ ही उसके पुनर्निर्माण के लिए महत्त्वपूर्ण सुझाव भी प्रस्तुत किया। इस प्रकार १९२९ ई० से १९३९ ई० तक की अवधि को सहकारिता आन्दोलन की अवनति तथा पुनर्निर्माण का समय कहा जाता है।

द्वितीय युद्धकाल में नियन्त्रित वस्तुओं को प्राप्त करने में भी अनेक कठिनाइयाँ होने लगी जिससे जनता ने उपभोक्ता भण्डारों (Consumer's Stores) का आश्रय प्रारम्भ किया। इस प्रकार उपभोक्ता भण्डारों की संख्या में वृद्धि होने लगी। सरकार ने भी इन्हें प्रोत्साहित करने के लिये नियन्त्रित वस्तुओं का वितरण इनके हाथ में सौंप दिया। उपभोक्ता भण्डारों के साथ-साथ उत्पादक समितियों की संख्या तथा आकार में भी बहुत वृद्धि हुई। इस प्रकार सहकारिता आंदोलन को द्वितीय महायुद्ध से बहुत अधिक प्रोत्साहन प्राप्त हुआ।

भारत में सहकारिता आन्दोलन की वर्तमान स्थिति

(Present Position of the Co-operative Movement in India)

द्वितीय महायुद्ध के पश्चात् सहकारिता आन्दोलन का विकास पूर्ववत् जारी रहा। इस अवधि में सहकारिता के कार्य-क्षेत्र में बहुत अधिक वृद्धि हुई। साख-समितियों की अपेक्षा गैर-साख समितियों के निर्माण पर विशेष ध्यान दिया जाने लगा। इसके परिणामस्वरूप तरह-तरह की समितियों का निर्माण प्रारम्भ हुआ जिनमें सहकारी गृह-निर्माण समितियाँ, सहकारी कृषि-समितियाँ तथा लिफ्ट इरिगेशन समितियाँ आदि विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। साथ ही, बहुधन्धी सहकारी समितियों Multipurpose Co-operative Societies) की प्रधानता भी बढ़ने लगी। इनका उद्देश्य किसानों को कर्ज देने के अतिरिक्त बीज, खाद आदि की व्यवस्था करना है। आजकल सहकारिता आन्दोलन का उद्देश्य किसानों के जीवन की सभी आवश्यकताओं की पूर्ति में सहायक होना समझा जाता है। इसी दृष्टिकोण से बहुधन्धी समितियों के विकास पर जोर दिया जाता है। लेकिन, सहकारिता आन्दोलन के विकास के इस स्तर पर भी साख समितियों की ही प्रधानता है। १९५१-५२ ई० में देश की सम्पूर्ण सहकारी समितियों का ही ६८·७ प्रतिशत भाग कृषि तथा गैर-कृषि साख समितियों का ही था। इस आन्दोलन पर देश-विभाजन का, विशेषतः पंजाब एवं बंगाल में प्रभाव भी बहुत अधिक पड़ा।

पंचवर्षीय योजनाओं में सहकारिता के विकास को प्रधान स्थान दिया गया है। वास्तव में, किसानों की आर्थिक स्थिति में सुधार लाने के लिये सहकारिता आन्दोलन को प्रोत्साहन देना आवश्यक हो गया है। स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद सहकारिता आन्दोलन के क्षेत्र में सबसे महत्त्वपूर्ण घटना रिजर्व बैंक द्वारा १९५१ ई० में ग्रामीण साख सर्वेक्षण समिति की नियुक्ति है। समिति ने अपना प्रतिवेदन दिसम्बर, १९५४ ई० में प्रस्तुत किया। इस सर्वेक्षण के अनुसार ५० वर्षों के प्रयत्नों के बावजूद कृषकों की साख-सम्बन्धी कुल आवश्यकता का केवल ३ प्रतिशत भाग ही सहकारी समितियों द्वारा पूरा किया जा सका था। अतः, सहकारिता आन्दोलन को अधिक प्रगतिशील बनाने के उद्देश्य से समिति द्वारा बहुत-से सुझाव दिये गये तथा विभिन्न संस्थाओं के निर्माण की सिफारिश की गयी। समिति ने ग्रामीण साख-व्यवस्था के समुचित संगठन के लिए निम्न-

लिखित सुझाव दिया था :—(क) सहकारी संस्थाओं के विभिन्न स्तरों पर राज्यभागिता, (ख) साख एवं अन्य आर्थिक क्रियाओं में पूर्ण समन्वय, (ग) किसानों को विक्रय की सुविधा प्रदान करने के उद्देश्य से गोदामों की स्थापना, तथा (घ) सभी कर्मचारियों के समुचित प्रशिक्षण की व्यवस्था। समिति ने इम्पिरियल बैंक तथा अन्य १२ बैंकों को मिलाकर एक स्टेट बैंक स्थापित करने की सिफारिश की। १ जुलाई, १९५५ ई० को इस बैंक की स्थापना की गयी। इस प्रकार समिति के सुझाव सहकारिता संगठन के लिए विशेष महत्त्व के हैं।

जून, १९५९ ई० में नागपुर कांग्रेस अधिवेशन एवं सरकार की नयी कृषि-सम्बन्धी नीति की घोषणा के समय से तो सहकारिता आन्दोलन का महत्त्व और भी बढ़ गया है। तृतीय पंचवर्षीय योजना में भी सहकारिता आन्दोलन को प्रमुख स्थान प्राप्त था। वास्तव में, सहकारिता हमारी तृतीय पंचवर्षीय योजना का आधार स्तम्भ थी। (Co-operatives had become the keystone of the main structure of our Third Five Year Plan.)

इस प्रकार भारत में सहकारिता आन्दोलन के प्रायः ६८ वर्ष समाप्त हो चुके हैं। इस अवधि में इस आंदोलन में विशेष प्रगति हुई है जो निम्नलिखित तालिका से स्पष्ट है :—

वर्ष	समितियों की संख्या (हजार में)	सदस्यों की संख्या (लाख में)	कार्यशील पूंजी (करोड़ रु० में)
१९०६-१०	१·९३	१·६२	०·६८
१९११-१५	११·७९	५·४८	५·४८
१९१६-२०	२८·४८	११·२९	१५·१८
१९२१-२५	५७·७१	२२·५५	३६·३६
१९२६-३०	९३·९४	३५·८९	४४·७९
१९३१-३५	१०५·७१	४३·३२	९४·६१
१९३६-४०	११६·९६	५०·७७	१०४·६८
१९४१-४५	१४९·८९	७२·१८	१२४·३५
१९४६-५०	१७२·१७	९१·६३	१६४·००
१९५१-५२	१८५·६३	१३७·९१	३०६·३४
१९५५-५६	२४०·४०	१७६·२२	४७९·००
१९५६-५७	२४३·७७	१९४·००	५६८·००
१९५७-५८	२५८·००	२१४·००	६९६·००
१९५८-५९	२८३·९७	२४७·६९	८७९·६०
१९५९-६०	३१३·५०	३०३·१३	१०८३·४०
१९६०-६१	३३२·००	३५०·००	१३१२·१०
१९६१-६२	३४१·८४	३६८.३५	१५३४·७८
१९६२-६३	३४६·१७	४१५·७०	१७६९·०४
१९६३-६४	३५६.४१	४५२.८९	२०९३·४१
१९६४-६५	३४९·५६	४६५·३९	२३३१·६०
१९६५-६६	३४२·२९	५००·९२	२७९२·९६
१९६६-६७	३३३·००	५५९·०६	३१८६·७३
१९६७-६८	३१९·००	५६१·६०	३६४४·६६

(१९४४-४५ ई० तक के आँकड़े पाँच वर्षों के औसत हैं)

एक औसत परिवार की संख्या पाँच मानने पर यह कहा जा सकता है कि जून, १९६८ ई० में लगभग २८ करोड़ या सम्पूर्ण जनसंख्या का प्रायः ५५ प्रतिशत भाग सहकारिता आन्दोलन के अन्तर्गत लाया जा चुका था।[1]

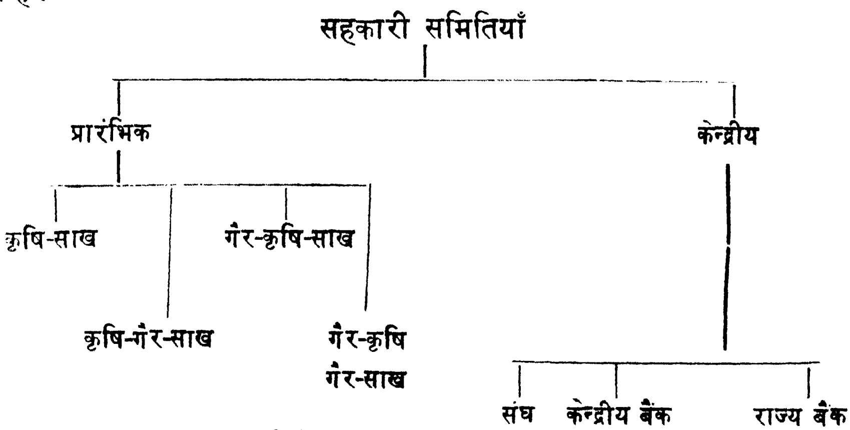
1. India 1971-72.

भारत में सहकारिता आन्दोलन का ढाँचा

(Structure of the Co-operative Movement in India)

भारत में सहकारी समितियों का संगठन रफाइजन (Raiffeisen) तथा शुल्ज डेलिज (Schulze-Delitsch) समितियों के आधार पर हुआ है। सर्वप्रथम भारत में सहकारी समितियों का संगठन रफाइजन समितियों के आधार पर हुआ था, किन्तु बाद में इन दोनों प्रकार की समितियों की विशेषताओं को अपनाया गया। भारत की सहकारिता संस्थाओं में तीन प्रकार की समितियों की प्रधानता है —ग्रामीण क्षेत्रों में प्रारम्भिक समितियाँ हैं, जिला अथवा तालुका में केन्द्रीय सहकारी बैंक (Central Co-operative Banks) हैं तथा राज्य स्तर पर राज्य सहकारी बैंक हैं।

भारत में सहकारी समितियों का संगठन निम्नलिखित तालिका से बिल्कुल स्पष्ट हो जाता है :—



इस प्रकार सहकारी समितियाँ विभिन्न प्रकार की होती हैं। किन्तु किसानों के दृष्टिकोण से कृषि-साख समितियों की ही प्रधानता है।

१९६०-६१ ई० में सभी प्रकार की सहकारी समितियों की संख्या निम्नलिखित प्रकार से थीं :—

सहकारी समितियाँ १९६०-६१

वर्गीकरण	संख्या (हजार में)	सदस्यता (लाख में)	कार्यशील पूंजी (लाख रु० में)	ऋण दी गयी रकम (लाख रु० में)
साख-समितियाँ				
कृषि-साख	२१२	१७०	२७३९०	२०२८०
गैर-कृषि-साख	१२	५०	१५०१०	१३०४०
अन्य	१०	२०	६०५७०	२७०
गैर-साख समितियाँ				
विक्रय	३	२०	४७६०	१३३०
अन्य	९५	९०	२३४८०	३०९०
कुल	३३२	३५०	१३१२१०	३७९८०

अब इनका निम्न विवरण प्रस्तुत किया जा रहा है —

प्रारम्भिक कृषि-साख समितियाँ (Primary Agricultural Credit Societies) :— प्रारम्भिक कृषि-साख समितियाँ कृषि-कार्यों के लिए साख की व्यवस्था करती हैं। देश की सहकारी संस्थाओं में कृषि-साख समितियों का आज भी महत्त्वपूर्ण स्थान है। जून, १९६३ ई० में इनकी संख्या २११ हजार हो गयी थी जो कुल समितियों का प्राय ८० प्रतिशत भाग था। उसी वर्ष इन समितियों के सदस्यों की संख्या २१७ लाख तथा इनकी कार्यशील पूँजी ३७०·३ करोड़ रुपये थी।

निम्नलिखित तालिका से प्रथम, द्वितीय एवं तृतीय योजनाओं में प्रारम्भिक कृषि-साख समितियों की प्रगति का अन्दाजा लगता है :—

काल	समितियों की संख्या	सदस्यों की संख्या (लाख में)	अल्प एवं मध्यमकालीन ऋण (करोड़ रुपये में)
१९५०-५१	१,०४,९९८	४४	२२·९
१९५५-५६	१,४९,९३९	७८	४९·२
१९६०-६१	२,१२,०००	१७०	२०२·८
१९६५-६६	१,९७,०००	२७०	३४६·०
१९६७-६८	१,७१,८०४	२८१	४२९·२
१९७३-७४ (आयोजित)	१,२०,०००	४००	७५०·०

प्रारम्भिक कृषि-साख समितियों की विशेषताएँ :—इस प्रकार की समितियों की निम्नलिखित प्रमुख विशेषताएँ है :—कृषि-साख समितियों के सदस्यों की संख्या कम-से-कम दस होती है। साधारणतः, इस प्रकार की समितियाँ प्रत्येक गाँव में रहती हैं। अतः इनके सदस्य वे ही हो सकते हैं जो एक ही गाँव में रहते हों, जिससे कि एक दूसरे की आर्थिक स्थिति से पूर्ण परिचित रहें। इनका दायित्व अपरिमित होता है। इससे समिति की साख बढ़ जाती है और कम ही सूद पर रुपया मिल जाता है। इस समितियों का कार्य-क्षेत्र विस्तृत नहीं होता। साधारणतया एक गांव में एक ही समिति रहती है। इन समितियों का प्रबन्ध तथा संचालन पूर्ण रूप से प्रजातन्त्रीय तथा अवैतनिक होता है। सदस्यो की वार्षिक बैठक में एक संचालक मण्डल का चुनाव होता है जिसके जिम्मे समिति की दैनिक कार्यवाही रहती है।

प्रारम्भिक कृषि-साख समितियों की कार्यशील पूँजी सदस्यों के प्रवेश शुल्क (entry fee) से, हिस्सों की बिक्री से, रक्षित कोष (Reserve Fund) की रकम से तथा सदस्यों एवं अन्य व्यक्तियों द्वारा जमा की हुई रकम से प्राप्त होती है। लेकिन इनके अतिरिक्त ये समितियाँ केन्द्रीय तथा प्रान्तीय सहकारी बैंकों एवं सरकार से कर्ज भी लेती हैं। सदस्यो को साधारणतः उत्पादक कार्यों (Productive Purposes) के लिए ही कर्ज दिये जाते है। किन्तु कभी-कभी पुराने ऋणों से मुक्त कराने तथा अनुत्पादक कार्यों (Unproductive purposes) के लिए भी कर्ज दिये जाते हैं। उत्पादक कार्यों के लिए दिये गये कर्ज के सूद की दर भी महाजनों की तुलना में बहुत कम होती है। साथ ही, कर्ज देने के लिए इनकी व्यक्तिगत जमानत ही पर्याप्त होती है। कर्ज की वसूली किस्तों में होती है जो साधारणतया फसल काटने के बाद का समय होता है, क्योंकि फसल तैयार होने पर किसान सुगमतापूर्वक अपनी रकम चुका सकते हैं। लेकिन किसान कर्ज चुकाने में तत्परता नहीं दिखलाते। अतएव समितियों की बहुत-सी पूँजी जकड़ जाती है और उनके कार्यक्रम में बाधा पड़ने लगती है।

साधारणतया समिति का कुल लाभ एक रक्षित-कोष (Reserve Fund) में जमा कर दिया जाता है। लेकिन जिन समितियों के हिस्से होते हैं, उन हिस्सों पर लाभ का कुछ प्रतिशत विभाजित भी कर दिया जाता है। समितियों के आय-व्यय की जाँच तथा देख-भाल के लिए सरकार द्वारा ऑडिटर्स एवं इन्सपेक्टर्स की नियुक्ति होती है। साथ ही, देख-भाल के लिए सहकारी संघ (Co-operative Unions) भी होते हैं, जो इन समितियों को उचित रूप से हिसाब रखने, उनकी जाँच करने तथा रुपया वसूल करने में सहायता प्रदान करते हैं।

भारत में प्रारम्भ से ही कृषि-साख समितियों पर अधिक ध्यान दिया जाता है। लेकिन आज भी इन समितियों का वितरण प्रत्येक राज्य में एक समान नहीं है। १९५१-५२ ई० में कुल १,१७०१० कृषि-साख समितियों में से ५४,१६९ समितियाँ, या सम्पूर्ण का ४६ प्रतिशत भाग केवल तीन राज्यों—बम्बई, मद्रास तथा उत्तर प्रदेश में थीं। सहकारिता नियोजन समिति (Co-operative Planning Committee) ने १९४५ ई० में इस बात की सिफारिश की थी कि १० वर्षों के अन्दर देश के ५० प्रतिशत ग्रामों में तथा ३० प्रतिशत ग्रामीण जनता के बीच प्रारम्भिक समितियाँ अपने कार्य का विस्तार कर लें।[1] किन्तु जून, १९६८ ई० तक कुल ग्रामीण जनसंख्या का प्राय: ५५ प्रतिशत भाग इन समितियों के अन्तर्गत लाया गया था।

कृषि-साख समितियों की असफलता के कारण (Causes of the failure of Agricultural Credit Societies in India) :—भारत में कृषि-साख समितियों की असफलता के निम्नलिखित प्रधान कारण हैं :—(१) इन समितियों द्वारा अपने सदस्यों को दिया अधिकांश कर्ज वसूल नहीं हो पाता है। रिजर्व बैंक द्वारा एकत्र आँकड़ों के अनुसार १९६२-६३ ई० में इन समितियों के बकाया कर्ज की रकम ७७·१८ करोड़ रुपये थी। इसका कारण यह है कि किसान कर्ज का अधिकांश भाग अनुत्पादक कार्यों में लगा देते हैं जिनमें कर्ज की अदायगी समय पर नहीं हो पाती। (२) कृषि-साख समितियों के पास सदस्यों की साख-सम्बन्धी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए पर्याप्त पूँजी की कमी है। १९६३-६४ ई० में औसत रूप से प्रत्येक समिति की प्रत्येक सदस्य औसत हिस्सा पूँजी केवल ३७ रु० तथा प्रति समिति औसत कार्यशील पूँजी १७,५२६ रु० थी।[2] पूँजी की अपर्याप्तता के कारण कृषकों को विवश होकर महाजनों से कर्ज लेना पड़ता है। यही कारण है कि आज भी हमारे गाँव में महाजनों का प्रभुत्व कम नहीं हो पाया है। (३) इनकी सूद की दर भी अधिक होती है। १९५७-५८ में सूद की दर उत्तर प्रदेश में ८·४ प्रतिशत, मध्य प्रदेश में १० प्रतिशत तथा बंगाल में ८ प्रतिशत थी[3] जो निश्चित ही बहुत अधिक है। इनके अतिरिक्त समितियों के संचालन, निरीक्षण तथा हिसाब आदि में भी अनेक दोष पाये जाते हैं जिनके फलस्वरूप ये सफलता पूर्वक कार्य करने में असमर्थ सिद्ध होती हैं।

प्रारम्भिक गैर-कृषि-साख समितियाँ (Primary Non-Agricultural Credit Societies) :—गैर-कृषि साख समितियाँ कृषि के अतिरिक्त अन्य कार्यों में लगे हुए लोगों को साख प्रदान कर उनकी सहायता करती हैं। ये अधिकांशत: नगरों में स्थापित की जाती हैं जहाँ शिल्पी तथा श्रमिक इनके सदस्य होते हैं। ये समितियाँ शुल्ज डेलीज (Schulze-Delitsch) सिद्धांत के आधार पर स्थापित की जाती है तथा इनका दायित्व सीमित होता है। जिस प्रकार कृषि-साख समितियों का उद्देश्य किसानों को साख प्रदान कर महाजनों के चंगुल से बचाना होता

1. Review of the Co-operative Movement. p. 8.
2. India 1966, P. 245
3. Review of the Co-operative Movement in India, P. 16

है, उसी प्रकार इन समितियों का उद्देश्य शिल्पी तथा श्रमिकों को सस्ती दर पर साख प्रदान कर उन्हें महाजनों व साहूकारों के चंगुल से बचाना होता है। जून, १९६३ ई० के अन्त में इस प्रकार की समितियों की सख्या १२,८५०; इनके सदस्यों की संख्या ५५.०३ लाख तथा इनकी कार्यशील पूँजी १८५.४ करोड़ रुपये थी। १९६२-६३ ई० में इन समितियों ने १६६.२१ करोड़ रुपये ऋण के रूप में दिया था। अन्य राज्यों की अपेक्षा महाराष्ट्र तथा गुजरात में इनका अधिक विकास हुआ है। इन समितियों को नगर साख-समितियों (Urban Credit Societies) भी कहा जाता है।

नगर-साख समितियाँ दो वर्गों में विभाजित की जा सकती है—(क) नगर बैंक (Urban bank), तथा (ख) अन्य नगर-साख समितियाँ। नगर बैंक साधारण बैंक के प्रायः प्रत्येक कार्य करते हैं। लेकिन अन्य नगर समितियाँ केवल सदस्यों के जमा लेने से उन्हें साख प्रदान करने का ही कार्य करती है। १९५७-५८ ई० में नगर बैंकों की संख्या ८२, इनके सदस्यों की संख्या १.१८ लाख तथा इनकी कार्यशील पूँजी ५६.९६ करोड़ रुपये थी। नगर साख-समितियाँ कारखानों में काम करने वाले मजदूरों तथा अन्य कर्मचारियों द्वारा संगठित की जाती हैं। इनमें सहकारी संचय (Co-operative Thrift Societies) तथा शिल्पी समितियों का प्रमुख स्थान है। सहकारिता नियोजन समिति (Co-operative Planning Committee) ने देशों में गैर-कृषि-साख समितियों के विकास के लिए सिफारिश की थी। देश के औद्योगिक मजदूरों की संख्या में भी वृद्धि हो रही है जिससे नगर साख-समितियों का भविष्य अशाजनक जान पड़ता है।

प्रारम्भिक कृषि-गैर-साख समितियाँ

(Primary Agricultural Non-credit Societies)

गैर-साख-कृषि समितियों के मुख्य कार्य किसानों की उपजों के विक्रय की व्यवस्था करना, भूमि की चकबंदी का प्रयत्न करना, सहकारी कृषि का प्रचार करना, अच्छी खेती की व्यवस्था करना, गृह-निर्माण करना तथा स्वास्थ्य और समाज सेवा द्वारा किसानों को उन्नतिशील बनाना है। दूसरे शब्दों में, कृषि-साख के अतिरिक्त ग्रामीण-जीवन के अन्य सभी पहलू इसके अन्तर्गत आ जाते हैं। १९५६-५७ ई० में कृषि गैर-साख समितियों की सख्या ३१,९०५ थी तथा इनके सदस्यों की संख्या २७.६ लाख थी। इस प्रकार इन समितियों का इतना महत्त्व होते हुए भी इनका विकास अभी बहुत ही कम हुआ है। इसके अनेक कारण हैं—उदाहरण के लिए १९१२ ई० के अधिनियम के पूर्व इस प्रकार की समितियाँ स्थापित नहीं की जाती थीं, इसके लिए योग्य एवं शिक्षित कर्मचारियों का अभाव है, आदि। किन्तु द्वितीय महायुद्ध के बाद इनका विकास बहुत अधिक हुआ है। युद्ध के समय सरकार नियन्त्रित वस्तुओं के वितरण में सहकारी समितियों को प्रधानता देती थी। अतः उस समय इस प्रकार की बहुत-सी समितियाँ कपड़ा, चीनी तथा तेल आदि आवश्यक वस्तुओं के वितरण के लिए स्थापित की गयीं। 'अधिक अन्न उपजाओ' आन्दोलन ने भी इन समितियों को बहुत अधिक प्रोत्साहित किया। भिन्न-भिन्न राज्यों में सहकारी कृषि तथा अतिरिक्त भूमि को कृषि-योग्य बनाने की व्यवस्था एवं खाद, बीज तथा खेती के औजारों के वितरण के लिए बहुत-सी समितियों का निर्माण हुआ है किन्तु, पुनः इन समितियों की संख्या कम होने लगी है। इसका प्रमुख कारण ग्रामीण क्षेत्रों में बहुधंधी समितियों का प्रचलन है।

कृषि-गैर-साख समितियों में सहकारी विक्रय समितियाँ (Co-operative marketing Societies), उत्तम कृषि समितियाँ (Better Farming Societies), सहकारी कृषि समितियाँ (Co-operative Farming Societies), फसल रक्षा समितियाँ (Crop-

protection Societies), सिंचाई समितियाँ (Irrigation Societies), भूमि-सुधार समितियाँ (Land Improvement Societies), उत्तम जीवन एवं ग्राम-सुधार समितियाँ (Better Living and Village Uplift Societies) आदि विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

इनमें सहकारी विक्रय समितियों का सबसे महत्त्वपूर्ण स्थान है। ये समितियाँ किसानों की उपज के विक्रय की व्यवस्था करती हैं। महाराष्ट्र, तमिलनाडु, उत्तर प्रदेश तथा बिहार में इस प्रकार की समितियाँ पायी जाती हैं। महाराष्ट्र में कपास बेचने वाली समितियों की प्रधानता है। तमिलनाडु में धान, मशाला एवं ईख तथा उत्तर प्रदेश एवं बिहार में ईख समितियाँ पायी जाती हैं। ये समितियाँ किसानों से उनकी उपज लेकर उन्हें उचित मूल्य पर विक्रय की व्यवस्था करती है। बिहार में १९६३-६४ ई० के अन्त तक गन्ना उत्पादक सहकारी समितियों (Cane Growers Co-operative Societies) की संख्या ९१६७ थी। उसी समय सहकारी गन्ना-संघों की संख्या ७० तथा इसके सदस्यों की संख्या ४,७०, ७७९ थी। १९५४-५५ ई० में इन समितियों एवं संघों ने २३१ लाख रुपये का गन्ना मिलों को प्रदान किया था जिससे उन्हें ७५ लाख रुपये कमीशन के रूप में प्राप्त हुए थे।[1] आजकल विक्रय समितियों की संख्या दिनों दिन बढ़ रही है।

प्रारम्भिक गैर-कृषि गैर-साख समितियाँ (Primary Non-Agricultural Non-credit Societies) :—ये समितियाँ शिल्पियों तथा श्रमिकों को साख के अतिरिक्त अन्य आर्थिक कार्यों में सहायता प्रदान करने के उद्देश्य से स्थापित की जाती हैं। १९५५-५६ ई० में इनकी संख्या २७,६३५ थी जो सम्पूर्ण समितियों का १२ प्रतिशत भाग था तथा इनके सदस्यों की संख्या ३३.२ लाख थी। इस समय ये समितियाँ विविध प्रकार की होती हैं जिनमें उपभोक्ता सहकारी समितियाँ (Consumer's Co-operatives), औद्योगिक समितियाँ (Industrial Co-operatives) तथा सहकारी गृह-समितियाँ (Co-operative Housing Societies) आदि प्रमुख हैं।

केन्द्रीय सहकारी समितियाँ :—प्रारम्भिक समितियों पर विचार कर लेने के बाद अब हम केन्द्रीय सहकारी समितियों पर विचार करेंगे। इन समितियों का कार्य प्रारम्भिक समितियों का संगठन तथा उन्हें आर्थिक सहायता प्रदान करना है। इस समय इनके तीन रूप पाये जाते हैं—(१) संघ (Union), (२) केन्द्रीय सहकारी बैंक (Central Co-operative Bank), तथा (३) राज्य सहकारी बैंक (State Co-operative Bank)।

(१) संघ (Union) :—संघ तीन प्रकार के होते हैं :—

(क) संरक्षित (Guaranteering) संघ :—इस प्रकार के संघ महाराष्ट्र में हैं। ये संघ सदस्य समितियों को केन्द्रीय बैंक द्वारा दिये जानेवाले कर्ज का संरक्षण (Guarantee) प्रदान करते हैं।

(ख) निरीक्षक संघ :—इस प्रकार के संघ महाराष्ट्र एवं तमिलनाडु में हैं।

(ग) साहूकारा (Banking) संघ :—इस प्रकार के संघ पंजाब में हैं। इस प्रकार के संघ का निर्माण किसी निश्चित क्षेत्र में विभिन्न समितियों के सम्मिलन से होता है। संघ प्रारम्भिक समितियों की देख-रेख का कार्य करते हैं। कभी-कभी ये प्रारम्भिक समितियाँ एवं केन्द्रीय सहकारी बैंकों के मध्य सहयोग का कार्य भी करती हैं।

राज्य सहकारी बैंक (State Co-operative Bank) :—राज्य सहकारी बैंक उच्चतम बैंक (Appex Bank) होते हैं जो प्रत्येक राज्य में केन्द्रीय सहकारी बैंक के समाशोधन गृह

1. India 1959.

(Clearing house) के रूप में कार्य करते हैं। इस प्रकार ये केन्द्रीय बैंकों के जरिये प्रारम्भिक समितियों के कार्यों की प्रगति को प्रभावित करते हैं, अत: देश के सहकारिता आन्दोलन का विकास बहुत कुछ इन बैंकों पर ही निर्भर करता है, इसलिए सर्वप्रथम मैकलगन समिति ने १९१५ ई० में इस प्रकार के उच्चतम बैंकों के निर्माण पर जोर दिया था।

१९६७-६८ ई० में इस प्रकार के बैंकों की संख्या २५ थी तथा इनके सदस्यों की संख्या २,१३,८६ थी। इनकी कार्यशील पूँजी ४४८ करोड़ रुपये थी तथा उस वर्ष इन्होंने ६५१ करोड़ रुपये ऋण के रूप में प्रदान किया था। सभी राज्यों में इन बैंकों के विधान एक समान नहीं हैं। पंजाब तथा बंगाल में केवल सहकारी संस्थाएँ ही इनका सदस्य बन सकती हैं; लेकिन अन्य राज्यों में अन्य व्यक्ति भी इनके सदस्य बन जाते हैं। किन्तु ऐसी हालत में बैंक के अन्तर्नियम को इस प्रकार बनाया जाता है कि सहकारी संस्थाओं का कोई अहित न हो।

केन्द्रीय सहकारी बैंक तथा सहकारी समितियों को साख देने के अतिरिक्त इन बैंकों ने अन्य सहकारिता-सम्बन्धी कार्यवाहियों को भी अपनाया है। ये विभिन्न सहकारी संस्थाओं को शृंखला-बद्ध करते हैं। साथ ही, ये चीनी, कपड़ा, तेल तथा खाद्यान्नों के वितरण का भी कार्य करते हैं। बिहार राज्य सहकारी बैंक तो खली, खाद, नमक, बीज एवं पुस्तक आदि का भी विक्रय करता है। इस प्रकार राज्य सहकारी बैंक विभिन्न प्रकार के कार्य करते हैं।

बहुधन्धी सहकारी समितियाँ (Multipurpose Co operative Societies) :—बहुधन्धी सहकारी समितियाँ उन समितियों को कहते हैं जो केवल किसी एक कार्य को न करके अनेक कार्यों को करती हैं। इनका उद्देश्य अपने सदस्यों को केवल साख पदान करना ही नहीं होता, वरन् अनेक प्रकार से उनकी सहायता करना भी होता है। इनका उद्देश्य किसानों के आर्थिक जीवन का सर्वांगीण विकास (Co-operation should embrace all aspects of economic life of the villagers) करना है। रिजर्व बैंक के अनुसार सहकारिता किसानों के लिए तभी लाभप्रद सिद्ध हो सकती है जब वह उनके जीवन में हर ओर से सहायता दे। इसी बात को लेकर रिजर्व बैंक ने बहुधन्धी समितियों का जोरदार समर्थन किया है। 'रॉयल कमीशन ऑन एग्रीकलचर' ने तो एक-धन्धी समितियों की ही सिफारिश की थी, लेकिन पिछले कुछ समय से जनमत बहुंधन्धी समितियों की स्थापना के पक्ष में ही है। योजना आयोग का भी यह कहना है कि भारत के आर्थिक ढाँचे में बहुधन्धी समितियों का विशेष महत्त्वपूर्ण स्थान है।

इस प्रकार बहुधन्धी समितियों का भारतीय किसानों के आर्थिक जीवन में बड़ा ही महत्त्वपूर्ण स्थान है। आजकल किसान आवश्यकता पड़ने पर साख समितियों से कर्ज तो लेता है, पर कर्ज देने के बाद समिति से उसका कोई सम्बन्ध नहीं रह जाता। जब कर्ज चुकाने का समय आता है, तो वह समिति से दूर भागने का प्रयत्न करता है। लेकिन, बहुधन्धी समितियों के सदस्यों का इनके साथ स्थायी सम्बन्ध हो जाता है, क्योंकि समिति उनके जीवन के हरेक पहलू में सहायक होती है। साख-विभाग कर्ज देता है, विक्रय विभाग उसकी उपज की बिक्री में सहायता देता है, उपभोक्ता विभाग उसे उपभोग की वस्तुएँ देता है, उत्तम कृषि-विभाग उसकी कृषि-सम्बन्धी आवश्यकताओं; जैसे—खाद, उत्तम बीज, नये-नये वैज्ञानिक औजार आदि की पूर्ति करता है, भूमि की चकबन्दी की व्यवस्था की जाती है, सहायक उद्योग-धन्धों के विकास तथा गाँव के स्वास्थ्य एवं

सफाई इत्यादि पर ध्यान दिया जाता है। इस प्रकार बहुधन्धी समितियाँ गाँव की सभी मुख्य समस्याओं को हल कर गाँव के सार्वजनिक कार्यों के केन्द्र के रूप में कार्य करती हैं।

अतः आजकल बहुधन्धी समितियों की स्थापना पर बहुत अधिक जोर दिया जा रहा है। साथ ही, बहुत-सी समितियों को बहुधन्धी समितियों के रूप में बदला जा रहा है। १९५७–५८ ई० में बहुधन्धी समितियों की संख्या प्रायः ७५ हजार, इनके सदस्यों की संख्या ४३ लाख तथा इनकी कार्यशील पूँजी ५९·१ करोड़ रुपये थी। अन्य राज्यों की अपेक्षा उत्तर प्रदेश में सबसे अधिक बहुधन्धी समितियाँ हैं। १९५७–५८ ई० में देश में कुल ७५ हजार बहुधन्धी समितियों में से ४२,६२२ समितियाँ केवल उत्तर प्रदेश में थीं। बहुधन्धी समितियों के विकास के लिए इस राज्य में एक योजना बनायी गयी थी जिससे इनकी संख्या में इतनी वृद्धि हुई है। वहाँ रजिस्ट्रेशन में एकधन्धी समितियों की अपेक्षा बहुधन्धी समितियों को प्राथमिकता दी जाती है। बिहार में बहुधन्धी समितियों की संख्या १९५१-५२ ई० के अन्त में ५,८९०; इनके सदस्यों की संख्या २·४१ लाख तथा इनकी कार्यशील पूँजी ५२·२३ लाख रुपये थी। उसी वर्ष इन समितियों द्वारा १८३६·७ लाख रुपये के सामान की बिक्री की गयी थी।

बहुधन्धी समितियों की सफलता का प्रमुख कारण युद्धकाल में वस्तुओं का अभाव तथा वितरण पर नियन्त्रण था। सरकार नियन्त्रित वस्तुओं के वितरण में इन्हीं समितियों को प्रधानता देती थी। अतः नियन्त्रण के समय में इन समितियों की बिक्री बहुत अधिक बढ़ गयी थी। किन्तु नियन्त्रण समाप्त हो जाने के बाद पुनः इनकी आय में कमी होने लगी है जिसे बढ़ाने के लिए इन्हें अपने कार्यों को अधिक विस्तृत करना होगा।

भारत में सहकारिता आन्दोलन की प्रगति का मूल्यकांन

(Review of the Progress of Co-operative Movement in India)

भारत में सहकारिता आन्दोलन के प्रायः ६८ वर्ष बीत चुके है, लेकिन अभी तक इस आंदोलन से देश की अधिकांश जनता को कोई लाभ नहीं पहुँचा सका है। १९६८-६९ ई० में कुल ३२९ हजार समितियाँ थीं, जिनके सदस्यों की संख्या ५९९·८ लाख तथा कार्यशील पूँजी प्रायः ४४९३·८ करोड़ रु० थी। एक औसत परिवार की संख्या ५ रखने पर भी यह कहा जा सकता है कि सहकारिता आन्दोलन के अन्तर्गत जून, १९६८ ई० तक केवल २८ करोड़ या कुल जनसंख्या के केवल प्रायः ५५ प्रतिशत व्यक्ति ही लाये गये थे। १९६५-६६ ई० में १९७ हजार प्रारम्भिक कृषि-साख समितियाँ थीं जिनके सदस्यों की संख्या ४५० लाख थी तथा कुल दिया गया कर्ज ६५० करोड़ रुपये था। ये समितियाँ प्रायः ९० प्रतिशत गाँवों में पायी जाती थीं तथा इनके अन्तर्गत कुल ग्रामीण जनसंख्या का प्रायः ४५ प्रतिशत भाग लाया गया था। चतुर्थ योजना के अंत तक १०० प्रतिशत गाँवों तथा ७५ प्रतिशत ग्रामीण जनता को इन कार्यक्रमों के अन्तर्गत लाने का आयोजन है।

फिर भी सहकारिता आन्दोलन से किसानों को बहुत-से लाभ हुए हैं। इनकी ऋण ग्रस्तता कम हुई है। साथ ही, इससे नैतिक लाभ भी प्राप्त हुए हैं। वे ही व्यक्ति इन समितियों के सदस्य बन सकते हैं जो जुआरी, गरीब, मुकदमेबाज तथा झगड़ालू आदि नहीं हैं और अपनी ईमानदारी के लिए प्रसिद्ध हैं। इस प्रकार सहकारिता के प्रभाव से इन दुष्कर्मों को त्यागने की प्रवृत्ति बढ़ रही है तथा लोग स्वावलम्बन, सहयोग, एकता एवं मितव्ययिता आदि गुणों को अपना रहे हैं। इससे सदस्यों का चारित्रिक एवं नैतिक विकास भी हो रहा है।

भारत में सहकारिता आन्दोलन की त्रुटियाँ
(Shortcomings of the Co-operative Movement in India)

इस समय भारत में सहकारिता आन्दोलन में अनेक त्रुटियाँ पायी जाती हैं। इसकी प्रगति में बहुत-सारी बाधाएँ हैं जिनके फलस्वरूप इसे संतोषजनक नहीं कहा जा सकता। सहकारिता आन्दोलन के विकास के सम्बन्ध में सुझाव देने के लिए समय-समय पर सरकार द्वारा विभिन्न समितियाँ नियुक्त की गयी थीं जिन्होंने इस आन्दोलन में निम्नलिखित त्रुटियाँ अनुभव की हैं :—

(१) साख एवं विक्रय में संयोजन का अभाव (Lack of Co-ordination between credit and marketing) :- ग्रामीण साख सर्वेक्षण समिति की सिफारिश के अनुसार भारत में सहकारिता आन्दोलन के विफल होने का प्रधान कारण साख एवं विक्रय-व्यवस्था में संयोजन का अभाव है। सहकारिता आन्दोलन को अधिक प्रभावपूर्ण बनाने के लिए साख एवं विक्रय के अन्तर्गत आनेवाली सारी क्रियाओं में संयोजन अनिवार्य है। किन्तु भारतीय ग्रामों में इस प्रकार की बात नहीं पायी जाती है। वास्तव में, भारत में सहकारिता आन्दोलन का विकास अव्यवस्थित ढंग से हुआ है जिससे ग्रामीण क्षेत्रों की विभिन्न क्रियाओं में संयोजन का अभाव पाया जाता है।

(२) सदस्यों का सहकारिता के सिद्धांत से पूर्ण रूप में अवगत न होना (Lack of wider understanding of the principles of Co-operation) :—सहकारी समितियों के अधिकाश सदस्य अशिक्षित एवं सहकारिता के सिद्धांतों से बिल्कुल अनभिज्ञ रहते हैं। उन्हें सहकारिता के सिद्धान्तों का पूरा-पूरा ज्ञान भी नहीं रहता है जिससे वे समितियों की कार्यवाही में बहुधा भाग नहीं लेते। वे समितियों को केवल महाजन एवं साहूकार की ही तरह साख-व्यवस्था का ही एक रूप मानते हैं। अतः अधिकांश सदस्य इनमें कोई दिलचस्पी नही लेते। कभी-कभी आपसी झगड़ों के कारण समिति के टूट जाने की आशंका भी बन रहती है।

(३) ऋण मिलने में विलम्ब का होना (Delay in obtaining loans) :— सहकारी समितियों से किसानों को कर्ज मिलने में प्रायः देर हो जाती है। ऐसा कहा जाता है कि कर्ज के लिए आवेदन-पत्र देने के कई महीने बाद कर्ज प्राप्त होता है। इस विलम्ब के कारण आर्थिक सहायता प्रायः बेकार हो जाती है। फलस्वरूप किसानों को अपनी आवश्यकता की पूर्ति के लिए महाजनों की सरण लेनी पड़ती है। इस प्रकार सहकारिता का मुख्य उद्देश्य पूरा नहीं हो पाता और इसके विरुद्ध असन्तोष की भावना फैलने लगती है।

(४) गैर-साख समितियों की ओर कम ध्यान दिया जाता है (Neglect of Non-Credit Societies) :—सहकारी समितियों के संगठन में गैर-साख समितियों की ओर विशेष ध्यान दिया जाता है। हमारे देश में साख समितियों का ही बाहुल्य है। फलस्वरूप सहकारिता का प्रवेश जीवन के केवल एक अंग में ही हो पाया है। १९५१-५२ में कुल सहकारी समितियों में से केवल ३१ प्रतिशत समितियाँ ही गैर-साख समितियाँ थीं। लेकिन किसान तथा मजदूरों की समस्याओं का वास्तविक समाधान केवल उन्हें साख देकर ही नहीं किया जा सकता, वरन् उनके सर्वाङ्गीण विकास के लिए गैर-साख समितियों का विकास भी आवश्यक है।

(५) सूद की ऊँची दर (High Rate of Interest) :—साधारणतः यह देखा जाता है कि प्रारम्भिक समितियाँ प्रायः ऊँची दर से ब्याज वसूल करती हैं। मध्य प्रदेश में सूद की दर १० प्रतिशत, उत्तर प्रदेश में ९ प्रतिशत, बिहार में १० से १५ प्रतिशत, मद्रास में ७½ प्रतिशत, महाराष्ट्र में ९ प्रतिशत और बंगाल में ८ प्रतिशत है। राज्य सहकारी बैंकों से केन्द्रीय बैंक कर्ज लेते हैं तथा ये प्राथमिक समितियों को कर्ज देते हैं। हर एक संस्था कुछ-न-कुछ सूद लेती है और इस प्रकार सदस्यों तक पहुँचते-पहुँचते सूद की दर बहुत अधिक हो जाती है। अतः किसान महाजन

से ही अपेक्षाकृत कम ब्याज की दर पर कर्ज प्राप्त कर लेता है। साथ ही, उनके लेन-देन का कार्य भी गुप्त रहता है जिससे समाज इनकी में मर्यादा कायम रहती है।

(६) **व्यवस्था की खराबी** :—सुयोग्य कार्यकर्त्ताओं के अभाव में समितियों के संचालन में भी अनेक त्रुटियाँ पायी जाती हैं। समिति के संचालकों का उचित रूप से चुनाव नहीं होता। ये लोग कर्ज देने में विवेक से काम नहीं लेते। इससे कर्ज के भुगतान में बहुत अधिक कठिनाइयाँ होती हैं। कृषि आयोग के शब्दों में; "समिति के सदस्य शक्ति होने पर भी समय पर कर्ज का भुगतान नहीं करते, सहकारिता के सिद्धांत तथा ग्रामीण कर्ज की आवश्यक बातों का उन्हें ज्ञान भी नहीं होता, पदाधिकारी रुपया न चुकाने वालों के विरुद्ध कोई कार्यवाही नहीं करते तथा इनमें सहकारिता की भावना का सर्वथा अभाव रहता है। नियम भंग करने वाले व्यक्तियों के विरुद्ध कोई कार्यवाही नहीं की जाती।" अतः सहकारी समितियों की व्यवस्था सुचारु रूप से नहीं होती।

(७) **सरकारी नियन्त्रण का आधिक्य** :—भारत में सहकारिता आन्दोलन की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इसके विकास में सरकार का बहुत बड़ा हाथ रहा है। आम जनता समितियों की कार्यवाही में बहुत कम रुचि लेती है। बहुत से इन समितियों को सरकारी संस्थाएँ ही समझते हैं। इस प्रकार की भावना सहकारिता के सिद्धान्त के प्रतिकूल है। साथ ही, सरकारी कर्मचारियों में समाज सेवा का भी अभाव पाया जाता है। अतएव समितियों की कार्यवाही में सहकारी हस्तक्षेप नहीं होना चाहिए, तभी ये सफलतापूर्वक अपने उद्देश्यों को प्राप्त कर सकती हैं।

इन सभी त्रुटियों के अतिरिक्त और भी बहुत-सी त्रुटियाँ हैं; जैसे सदस्यों का अनुचित चुनाव; सदस्यता के क्षेत्र का विस्तृत होना, समितियों का दोषपूर्ण विधान, सदस्यों के अन्दर स्वार्थ की भावना की प्रबलता, पूँजी की कमी तथा आपसी मतभेद आदि। इससे स्पष्ट है कि भारत में सहकारिता आन्दोलन की त्रुटियों का सम्बन्ध आर्थिक, सामाजिक तथा राजनीतिक सभी क्षेत्रों से है। इन्हीं सब कारणों से भारत में सहकारिता आन्दोलन की संतोषजनक प्रगति नहीं हुई है। जब तक इन त्रुटियों को दूर करने का प्रयत्न नहीं किया जायगा, सहकारिता आन्दोलन के विकास में कठिनाई होती ही रहेगी।

पंचवर्षीय योजनाएँ एव सहकारिता आन्दोलन

(Co-operation under Five Year Plans)

प्रथम पंचवर्षीय योजना में सहकारिता आन्दोलन का विकास (Development of Co-operative Movement in the First Five Year Plan) :—प्रथम पंचवर्षीय योजना में सहकारिता के विकास को विशेष महत्त्व दिया गया था। योजना आयोग की राय में सहकारिता का विकास प्रजातान्त्रिक व्यवस्था के लिए अत्यन्त आवश्यक है, अतः योजना के अंतर्गत सहकारिता के प्रचार की विशेष व्यवस्था की गयी थी। प्रथम योजना के पाँच वर्षों में देश में सहकारी समितियों की संख्या, १,८०,००० से बढ़कर प्रायः २,४०,०००; इनके सदस्यों की संख्या १३७·२ लाख से बढ़कर १७६·२ लाख तथा इनकी कार्यशील पूँजी ३७६ करोड़ रुपये से बढ़कर ४६९ करोड़ रुपये हो गयी। प्रथम योजना के अन्त में १,९८,६७९ कृषि समितियाँ थीं जिनमें से १,५९,९३१ अथवा प्रायः ८० प्रतिशत साख समितियाँ थीं। इसी प्रकार ३७,७४८ गैर-कृषि समितियाँ थीं जिनमें ७३ प्रतिशत गैर-साख समितियाँ थीं। प्रथम योजना में इस बात की व्यवस्था की गयी थी कि सहकारी समितियाँ तथा सरकार द्वारा कृषि को दिया जाने वाला कर्ज १९५५-५६ ई० तक १३५ करोड़ रुपये हो जाना चाहिए था। किन्तु, इस क्षेत्र में लक्ष्य की पूर्ति नहीं हो सकी तथा सहकारी समितियों द्वारा दिया जानेवाला कर्ज प्रथम योजना के अन्त तक केवल ४३ करोड़

1. Review of the First Five Year Plan.

रुपये ही हो सका। योजनाकाल में औद्योगिक सहकारी समितियों के विकास पर पर्याप्त जोर दिया गया था। इस प्रकार प्रथम योजना के अन्तर्गत सहकारिता के विकास को उच्च प्राथमिकता प्राप्त थी। योजनाकाल में सहकारिता के विकास पर कुल ७ करोड़ रुपये व्यय का आयोजन था।

द्वितीय पंचवर्षीय योजना में सहकारिता आन्दोलन की प्रगति (Progress of the Co-operative Movement in the Second Five Year Plan) :—द्वितीय पंचवर्षीय योजना में भी सहकारिता आन्दोलन के चतुर्दिक विकास पर जोर दिया गया था। योजना के अन्तर्गत भारतीय ग्रामीण जीवन के चतुर्दिक विकास के लिए सहकारिता का संगठन आवश्यक बतलाया गया था। इस उद्देश्य से निम्नलिखित बातों पर जोर दिया गया था —(१) सर्वप्रथम तो सहकारी समितियों का सम्बन्ध गाँव के विभिन्न कार्यों से होना चाहिए। इनके क्षेत्र को केवल ग्रामीण साख तक ही सीमित रखना उचित नहीं होगा। (२) गाँव के प्रत्येक परिवार का एक व्यक्ति किसी सहकारी समिति का सदस्य अवश्य रहे। इन उद्देश्यों को ध्यान में रखकर कार्य करने से सहकारिता के विकास में निस्संदेह सुविधा होगी। योजनाकाल में इस मद में ४७ करोड़ रुपये व्यय का आयोजन था। ग्रामीण साख सर्वेक्षण समिति की सिफारिशों के आधार पर योजनाकाल में सहकारिता के विकास के लिए एक विस्तृत कार्यक्रम तैयार किया गया था। योजना के अन्तर्गत १९६०-६१ ई० तक सहकारी समितियों द्वारा कृषि को प्रदान किये जानेवाले अल्पकालीन साख का लक्ष्य १५० करोड़ रुपये, मध्यमकालीन साख का ५० करोड़ रुपये तथा दीर्घकालीन साख का लक्ष्य २५ करोड़ रुपये रखा गया था। योजनाकाल में १०,४०० बड़े आकार की समितियाँ, १८०० प्रारम्भिक विक्रय-समितियाँ, ३५ सहकारिता के आधार पर चीनी के कारखाने, ४८ सहकारी रूई जीन के कारखाने तथा ११८ अन्य प्रकार की सहकारी समितियों के संगठन का आयोजन था। योजना में केन्द्रीय तथा राज्य गोदाम निगमों द्वारा ३५० गोदाम, विक्रय-समितियों के लिए १५०० गोदाम तथा बड़े आकार की प्राथमिक कृषि-साख समितियों के लिए ४ हजार गोदाम बनाने की व्यवस्था थी।

प्रथम एवं द्वितीय योजनाकाल के दस वर्षों में सहकारिता के क्षेत्र में तीव्र गति से प्रगति हुई। निम्नांकित तालिका से दोनों योजनाकाल में प्रारम्भिक कृषि-साख समितियों के क्षेत्र में प्रगति का अन्दाजा लगता है :—

प्रथम एवं द्वितीय योजनाओं में प्रारम्भिक कृषि-साख समितियों की प्रगति

वर्ष	समितियों की संख्या	सदस्यों की संख्या (लाख में)	अल्प एवं मध्यमकालीन ऋण (करोड़ रु० में)
१९५०-५१	१,०४,९९८	४४	२२.९
१९५५-५६	१,५९,९३९	७८	४९.६
१९५६-५७	१,६६,५१०	९१	६७.३
१९५७-५८	१,७१,५४३	१०२	९६.२
१९५८-५९	१,८२,९०५	११९	१२५.५
१९५९-६०	२,०३,१७२	१४४	१९६.१
१९६०-६१	२,१२,०००	१८०	२०३.०

ग्रामीण साख सर्वेक्षण समिति के अनुसार १९५१-५२ ई० में कृषकों के कुल ऋण की आवश्यकताओं का ३·१ प्रतिशत सहकारी समितियों द्वारा पूरा किया जाता था जबकि १९६१-६२ ई० में सहकारी समितियों तथा भूमि-बन्धक बैंकों द्वारा किसानों की कुल आवश्यकता का २५·८ प्रतिशत भाग पूरा किया जाने लगा।

तृतीय पंचवर्षीययोजना में सहकारिता (Co-operation in the Third Five Year Plan) :—तृतीय पंचवर्षीय योजना में सहकारिता के विकास पर पर्याप्त जोर दिया गया था। जुलाई, १९५९ ई० में श्री जी० एल मेहता की अध्यक्षता में कृषि-साख के विस्तार के अध्ययन के लिए एक समिति की नियुक्ति की गयी थी जिसने मई, १९६० ई० में अपना प्रतिवेदन प्रस्तुत किया था। समिति के प्रतिवेदन पर जून, १९६० ई० में विभिन्न राज्यों के सहकारिता मन्त्रियों की एक बैठक में विचार किया गया। इस आधार पर भारत सरकार ने राज्यों की सहकारिता-सम्बन्धी नीति के सम्बन्ध में नये निर्देश दिये जिनमें निम्नलिखित प्रमुख हैं—

(i) ग्रामीण समितियों के संगठन में कम-से-कम गाँवों को रखना चाहिए जिससे सहकारिता की मूलभूत विशेषताएँ ; जैसे - घनिष्ठ सम्पर्क, पारस्परिक सहयोग आदि की पूर्ति की जा सके।

(ii) राज्य इस प्रकार की प्रारम्भिक समितियों की हिस्सा पूँजी में प्रारम्भ में ५ से ८ वर्षों तक सम्मिलित हो सकता है। इन समितियों के उचित विकास के बाद राज्य इनसे धीरे-धीरे अपना सम्बन्ध विच्छेद कर सकता है।

(iii) राज्य प्रत्येक समिति द्वारा दिये गये अतिरिक्त ऋण के ३ प्रतिशत तथा सहकारी बैंक के ऋण के १ प्रतिशत तक अनुदान के रूप में दे सकता है।

उपरोक्त निर्देशों के आधार पर राष्ट्रीय विकास-परिषद् (National Development Council) ने इस सम्बन्ध में यह लक्ष्य रखा था कि तृतीय योजना के अन्त तक, यानी १९६५-६६ ई० तक सभी गाँवों को तथा कुल कृषक परिवार के प्रायः ६० प्रतिशत भाग को सहकारिता आन्दोलन के अन्तर्गत लाया जाय। परिषद् द्वारा निर्धारित इस नीति के आधार पर १९६५-६६ ई० के लिए योजना के निर्धारित कार्यक्रम तथा उपलब्धियों का अन्दाजा निम्नांकित तालिका[1] से लगता है :—

	द्वितीय योजना की उपलब्धियाँ (१९६०-६१)	तृतीय योजना की उपलब्धियाँ (१९६५-६६)	चतुर्थ योजना के लक्ष्य १९७३-७४)
प्रारम्भिक साख समितियों की संख्या (लाख में)	२·१	१·९७	१·२०
सदस्यों की संख्या (करोड़ में)	१·७	२·७	४·२
गाँवों का प्रतिशत	७५	९०	१००
कृषि पर आश्रित जनसंख्या जो इसके अन्तर्गत लायी गयी (प्रतिशत)	३०	४५	६०
सहकारिता के माध्यम से दिये जाने वाले ऋण			
अल्प एवं मध्यमकालीन (करोड़ रु० में)	२०३	३४६	७५०
दीर्घकालीन ,, ,,	३८	१६५	७००

1. India 1971-72

साथ ही, ६०० प्रारम्भिक विक्रय समितियाँ, १०० प्रादेशिक या जिला विक्रय समितियाँ, १००,०००० ग्रामीण क्षेत्रों में गोदाम, जिला में २०० मध्यम आकार के गोदाम तथा १७ राज्य स्तर पर बड़े-बड़े गोदाम बनाने का आयोजन था।

तृतीय पंचवर्षीय योजना में सहकारिता आन्दोलन के क्षेत्र में निम्नांकित प्रगति हुई : योजना के अन्त में कुल गाँवों के प्राय: ६० प्रतिशत भाग में सहकारी साख समितियों की स्थापना की जा चुकी थी जबकि जून, १९६१ ई० तक इसका प्रतिशत केवल ७५ था, इनकी सदस्य-संख्या १७० लाख से बढ़कर २७० लाख हो गयी थी तथा ४५ प्रतिशत ग्रामीण जनसंख्या में सहकारी समितियों की स्थापना हो चुकी थी जबकि जून १९६१ तक इसका प्रतिशत केवल ३० था। तृतीय योजना में सहकारिता के विकास पर अनुमानत: ७५.६ करोड़ रुपये व्यय किया गया। साथ ही योजना के अन्त में इनके द्वारा ३४६ करोड़ रुपये अल्प एवं मध्यमकालीन ऋण के रूप में तथा १६५ करोड़ रुपये दीर्घकालीन ऋण के रूप में दिया गया था। इनका तीन-चौथाई भाग केवल ६ राज्यों,—महाराष्ट्र, उत्तरप्रदेश, तमिलनाडु, गुजरात, आंध्र प्रदेश तथा पंजाब में दिया गया था। शेष राज्यों में सहकारिता की प्रगति अभी संतोषजनक नहीं हो पायी है।

तीन वार्षिक योजनाओं (Three Annual Plans) के अन्तर्गत सहकारिता आन्दोलन के विकास पर ६३.६ करोड़ रुपये व्यय किया गया। १९६८-६९ तक ४८ प्रतिशत ग्रामीण कृषक परिवारों को सहकारिता के अन्तर्गत लाया गया था तथा उस वर्ष १२० करोड़ दीर्घकालीन एवं ४९० करोड़ रुपये अल्पकालीन ऋण सहकारिता के माध्यम से प्रदान किया गया था। १९६८-६९ में सहकारी उत्पादन इकाइयों की संख्या बढ़कर १६०० हो गयी। सहकारिता के माध्यम से २०० करोड़ रुपये की खाद का वितरण किया गया था। इसी प्रकार ग्रामीण क्षेत्रों में इनके माध्यम से २७५ करोड़ रुपये तथा शहरी क्षेत्रों में २७० करोड़ रुपये की उपभोक्ता वस्तुओं का वितरण हुआ था।

चतुर्थ योजना में सहकारिता (Co-operation in the Fourth Five Year Plan) :—चतुर्थ पंचवर्षीय योजना में भी सहकारिता आन्दोलन के विकास पर पर्याप्त जोर दिया जा रहा है। चतुर्थ पंचवर्षीय योजना के अन्त तक प्रारम्भिक कृषि-साख समितियों की सदस्य-संख्या बढ़कर ४.२ करोड़ हो जायगी जिससे इसके अन्तर्गत ६० प्रतिशत कृषक परिवारों तथा सम्पूर्ण गाँवों को लाया जायगा। चतुर्थ योजना के अन्त, यानी १९७३-७४ दीर्घकालीन ऋण के रूप में ७०० करोड़ रुपये तथा अल्प एवं मध्यमकालीन ऋण के रूप में ७५० करोड़ रुपये वितरण का आयोजन है। साथ ही, १९७३-७४ तक ९०० करोड़ रुपये के कृषि-पदार्थों का विक्रय इन समितियों के द्वारा किया जायगा।

चतुर्थ पंचवर्षीय योजना में सहकारिता आन्दोलन के विकास पर १७८.६ करोड़ रुपये व्यय का आयोजन है। योजनाकाल में विक्रय समितियों के लिए १४०० गोदाम, २० हजार ग्रामीण गोदाम तथा ३२ सहकारिता के आधार पर चीनी के कारखानों की स्थापना का आयोजन है।

विशेष अध्ययन-सूची

1. Reserve Bank of India : Review of the Co-operative Movement in India
2. Govt. of India : Report of the Committee on Co-operative Credit (1960)
3. Reserve Bank of India : All India Rural Credit Survey Report II.
4. Planning Commission : First, Second, Third and Fourth Five Year Plans.

अध्याय : १६

कृषि-बाजार

(Agricultural Marketing)

प्राक्कथन :—किसानों की आर्थिक समृद्धि कृषि-उपज की समुचित विक्रय-व्यवस्था पर भी निर्भर करती है। किन्तु, दुर्भाग्यवश अपनी उपज का उचित मूल्य प्राप्त करने में भारतीय किसान बहुधा असमर्थ सिद्ध होते हैं। हमारे देश में किसान तथा उनकी उपज के अन्तिम उपभोक्ताओं के बीच बिचवैयों की एक लम्बी लड़ी लगी हुई है जो इनके लाभ का एक बड़ा हिस्सा अपनी आवश्यक सेवाओं के लिए ले लेते हैं। कृषि आयोग के अनुसार, "किसान के हितों को आर्थिक परिस्थितियों के मुक्त प्रवाह में बिना किसी सहारे छोड़ दिया जाता है जिससे उन्हें काफी क्षति उठानी पड़ती है। इसका कारण यह है कि उपज के वितरणकर्त्ता, जो अधिकाधिक संगठित होते जा रहे हैं तथा उपभोक्ताओं के अनुपात में वह एक छोटी-सी इकाई है।" प्राचीन काल में जब भारतीय किसान स्वयं अपने निर्वाह के लिए कृषि करते थे तब उन्हें बजार की आवश्यकता नहीं पड़ती थी। लेकिन आजकल ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था में कृषि के वाणिज्यीकरण (Commercialisation of Agriculture)तथा व्यापक प्रतियोगिता के फलस्वरूप कृषि-बाजार का स्थान महत्त्वपूर्ण हो गया है। अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के बाद जो कुछ भी अतिरिक्त उपज बचती है उसे किसान लगान चुकाने, महाजन को ऋण देने तथा अन्य आवश्यक कार्यों के लिए बेच देता है। कृषि एवं किसानों के आर्थिक जीवन में कृषि-बाजार का महत्त्व प्रथम पंचवर्षीय योजना में योजना आयोग के निम्न बयान से अधिक स्पष्ट हो जाता है :— "The purchase of the agriculturist's requirements and the sale of his produce are key activities in the business of farming and their importance is likely to be even more crucial in a socially regulated economy. Due to his inability to secure a fair deal at these two stages, the average agriculturist is denied the full fruits of his industry."

वर्तमान विक्रय-व्यवस्था :—आजकल हमारे देश में कृषि-बाजार की निम्नलिखित व्यवस्थ पायी जाती हैं :—

(१) **गाँवों में बिक्री** :—भारतीय किसान अपनी अतिरिक्त उपज का अधिकांश भाग गाँवों में ही बेचता है। गाँवों में बिक्री की जानेवाली उपज के सम्बन्ध में विभिन्न अनुमान लगाये गये हैं जो इस प्रकार हैं[1]—पंजाब के गाँवों में ही ६० प्रतिशत गेहूँ, ३५ प्रतिशत कपास तथा ७५ प्रतिशत भाग तिलहन बेच दिया जाता है। उत्तर प्रदेश में ८० प्रतिशत गेहूँ, ४० प्रतिशत कपास और ७५ प्रतिशत तिलहन तथा बिहार, उड़ीसा एवं बंगाल में ८५ प्रतिशत तिलहन एवं ६० प्रतिशत जूट गाँवों में ही बेच दिया जाता है। जहाँ किसानों पर ऋण का बोझ अधिक होता है वहाँ उन्हें अपनी उपज का अधिकांश भाग गाँवों में बेचने के लिए ही बाध्य होना पड़ता है। किसान जब अपनी उपज बाजार में न ले जाकर गाँवों में ही वेचता है तो उसे बहुत ही कम मूल्य मिल पाता है।

---

1. **Hussain—Marketing of Agricultural Produce in Northern India. P. 96.**

(२) बाजार और मंडियां :-किसानों की अतिरिक्त उपज बाजार में भी बिक्री के लिए आती है। खाद्यान्नों की अपेक्षा व्यावसायिक फसलों का अधिक भाग बाजार एवं मण्डियों में बिक्री के लिए आता है। मण्डियाँ प्रायः दो प्रकार की होती हैं - संगठित तथा असगठित। भारत में बहुत कम बाजार एवं मण्डियाँ अभी संगठित हैं, अधिकांश असंगठित एवं पुराने ढंग की ही मण्डियाँ पायी जाती हैं। इनमें आढ़तियों तथा व्यापारियों की संख्या अधिक रहती है। इस प्रकार असंगठित मण्डियों में किसानों को उनकी उपज का वास्तविक मूल्य नहीं मिल पाता।

कृषि-बाजार की प्रधान समस्याएँ

(Main Problems of Agricultural Marketing in India)

भारत में कृषि-उपज की वर्तमान विक्रय-व्यवस्था के समक्ष निम्नलिखित प्रधान समस्याएँ हैं :—

(१) उपज के लिए कम मूल्य :—उपज का अधिकांश भाग गाँवों में ही कम मूल्य पर बेच दिया जाता है। इससे किसानों को उनकी उपज का उचित मूल्य नहीं प्राप्त हो पाता। ऐसा बहुत कारणों से होता है। गाँवों में मध्यस्थों की प्रधानता रहती है जो गाँव-गाँव में घूमकर किसानों की अतिरिक्त उपज का क्रय करते रहते हैं। साथ ही, ग्रामीण किसान बहुधा कर्ज के बोझ से लदा रहता है जिससे बाध्य होकर उसे अपनी रकम साहूकार-सह-व्यापारी के हाथ कम ही मूल्य पर ही बेचना पड़ता है।

(२) यातायात एवं संवादवाहन के साधनों का अभाव :—भारत में यातायात तथा संवादवाहन के साधनों का अभाव है। यहाँ प्रति १०० वर्गमील में कुल २.८ मील रेल लाइनें हैं जबकि इंगलैंड में प्रति एक सौ वर्गमील में २२.७ मील तथा संयुक्त राज्य अमेरिका में ८.३ मील रेल लाइनें हैं। सड़कों का तो हमारे देश में और भी अभाव है। यहाँ प्रति सौ वर्गमील में केवल २३.८ तील ही सड़कें हैं जबकि ब्रिटेन में २०७ मील, जापान में ३६६ मील तथा अमेरिका में १०१ मील सड़कें प्रति एक सौ वर्गमील में हैं।

(३) वर्गीकरण तथा नमूने की सुविधा का अभाव (Lack of grading and sampling) :—भारत में कृषि-उपजों के वर्गीकरण तथा नमूने की सुविधा का अभाव पाया जाता है। सन् १९३७ ई० में कृषि की उपजों के वर्गीकरण तथा विक्रय-सम्बन्धी कानून [Agricultural Produce (Grading and Sampling) Act] के फलस्वरूप वर्गीकरण की दिशा में कुछ खास कार्य हुए हैं। इसके अनुसार सरकारी कर्मचारियों के निरीक्षण में खास-खास वस्तुओं का वर्गीकरण किया जाता है तथा उनपर 'आग मार्क' (Agmark) का लेबुल लगाकर बाजार में बेचने के लिए भेज दिया जाता है। किन्तु इस प्रकार की सुविधा अधिकांशतः निर्यात की जाने वाली कुछ वस्तुओं के साथ ही पायी जाती हैं।

(४) दोषपूर्ण किस्म (Defective quality) :—भारतीय कृषि की उपजें संसार के अन्य बाजारों में अधिक मात्रा में नहीं बिकतीं क्योंकि इनकी किस्म बहुधा अच्छी नहीं होती है। इसके अनेक कारण हैं, जैसे—उत्तम बीज का अभाव, पौधों के रोगों तथा कीड़े-मकोड़े से फसलों की बर्बादी, फसल काटने का प्राचीन एवं अवैज्ञानिक तरीका, गोदाम में वस्तुओं के संचय की सुविधा का अभाव, संतोषजनक एवं वैज्ञानिक वर्गीकरण का अभाव इत्यादि।

(५) अत्यधिक बिचवैयों का रहना (Large number of middlemen) :—हमारे देश में किसान तथा उनकी उपज के अन्तिम उपभोक्ताओं के बीच बिचवैयों की एक लम्बी लड़ी के रूप में व्यापारियों एवं दलालों का एक बहुत बड़ा समूह पाया जाता है। उदाहरण के लिए,

व्यापारी, कच्चा आढ़तिया, दलाल, पक्का आढ़तिया, थोक व्यापारी एवं खुदरा व्यापारी इत्यादि। इनमें से प्रत्येक अपनी-अपनी सेवाओं के लिए कुछ लेते हैं जिससे इन वस्तुओं के मूल्य में अनावश्यक वृद्धि हो जाती है। साथ ही, किसानों को भी उचित मूल्य नहीं मिल पाता।

(६) **गोदाम तथा संचय-गृहों की सुविधा का अभाव** :—भारत में कृषि-उपज के संचय के लिए गाँवों में गोदामों की भी व्यवस्था नहीं है। संचय की सुविधा के अभाव में बहुत-सा अनाज भूमि के नीचे अथवा मिट्टी के बर्त्तनों में चूहे तथा चींटियों की मर्जी पर छोड़ दिया जाता है। पानी पड़ने से इनके सड़ने का भी भय रहता है। ऐसा अनुमान किया जाता है कि वर्त्तमान व्यवस्था में गाँवों में जो अन्न के संचय की व्यवस्था उपलब्ध है उसमें १० से २० प्रतिशत तक अन्न चूहे अथवा चींटियों द्वारा खा लिया जाता है।

(७) **बाजार में धोखेबाजी का अधिक होना** :—नेशनल प्लानिंग कमिटी के अनुसार कृषि-बाजार में प्रायः निम्नलिखित प्रकार की धोखेबाजियाँ प्रचलित हैं :—

(क) **दोषपूर्ण वजन तथा तौल** (Defective weights and measures) :—हमारे देश में विभिन्न प्रकार के वजन तथा तौल प्रचलित हैं। आढ़तिया तथा व्यापारी तौल एवं वजन के द्वारा किसानों को सदा ठगने का प्रयास करते हैं।

(ख) **मण्डी तथा बाजार के शुल्क** :—कृषि-बाजार में किसानों से अनेक प्रकार के कर अथवा शुल्क भी वसूल किये जाते हैं। आढ़तिया किसान की उपज से अनेक प्रकार की कटौती, जैसे—पल्लेदारी, तौलाई, धर्मादा आदि लेते हैं। उपज का एक अंश तो लोग नमूने के रूप में ही उठा लेते हैं। इस प्रकार किसानों को अपनी सम्पूर्ण उपज का प्रायः ४ या ५ प्रतिशत भाग इन्हीं को देना पड़ता है जिससे इन्हें अत्यधिक हानि होती है।

(ग) बाजारों में बहुत-से दलाल पाये जाते हैं, जो बहुधा आढ़तियों का ही पक्ष लेते हैं। इससे किसान नाहक धोखेबाजी में फँसते हैं।

(घ) कृषि-बाजार में गुप्त रीति से वस्तुओं का मूल्य निश्चित किया जाता है। इससे किसान मूल्य के सम्बन्ध में प्रायः अनभिज्ञ रहता है। इस प्रकार कृषि-बाजार में उक्त धोखेबाजियाँ प्रचलित हैं।

(८) **विज्ञापन का अभाव** :—भारतीय कृषि-बाजार में विज्ञापन का पूर्णतया अभाव है जिससे किसानों को उनकी उपज का उचित मूल्य नहीं मिल पाता।

वर्त्तमान विक्रय-व्यवस्था की समस्याओं का उपचार

इस प्रकार कृषि-बाजार की वर्त्तमान व्यवस्था दोषों से परिपूर्ण है जिसके परिणामस्वरूप कृषि तथा किसानों को बहुत अधिक क्षति उठानी पड़ती है। अतः, कृषि में स्थायी सुधार लाने के लिए विक्रय-व्यवस्था में सुधार आवश्यक है। निम्नलिखित उपायों द्वारा इस व्यवस्था में सुधार लाया जा सकता है —

(१) **नियमित बाजारों (Regulated markets) की स्थापना** —वर्त्तमान विक्रय-प्रणाली के दोषों को दूर करने के लिए सर्वप्रथम तो नियमित बाजारों एवं मण्डियों की स्थापना आवश्यक है। भारत में नियमित बाजारों की स्थापना सर्वप्रथम १९१७ ई० के बरार कपास एवं अन्न-बाजार अधिनियम के अनुसार बरार में हुई थी। नियमित बाजारों में एक समिति रहती है जो बाजार के सम्पूर्ण कार्यों एवं शुल्कों को निश्चित करती है, प्रामाणिक वजन एवं तौल की व्यवस्था करती है तथा कटौतियों पर कड़ी दृष्टि रखती है। किन्तु देश में ऐसे बाजारों का प्रचार बहुत धीरे-धीरे हो रहा है। वास्तव में इसके पीछे व्यापारियों का स्वार्थ, किसानों की अज्ञानता तथा सरकार की उदासीनता छुपी हुई है। खाद्यान्न जाँच समिति के अनुसार इस

प्रकार के बाजार केवल आंध्र प्रदेश, महाराष्ट्र, गुजरात, मध्य प्रदेश, मद्रास, मैसूर तथा पंजाब आदि राज्यों में ही पाये जाते हैं। अन्य राज्यों में नियमित मंडियाँ नहीं हैं। फिर भी, कुछ राज्यों में इनकी स्थापना की जा रही है। समिति ने सम्पूर्ण देश में ऐसे बाजारों की स्थापना की सिफारिश बड़े जोरदार शब्दों में की थी।

१९५०-५१ ई० में नियमित बाजारों की कुल संख्या देश में २६५ थी। प्रथम योजना के अन्त में यह बढ़कर ४५० तथा द्वितीय योजना के अन्त में, यानी १९६०-६१ ई० में ७२५ हो गयी। अभी देश में कुल प्राय ३३०० से भी अधिक बाजार हैं। तृतीय योजना के अन्त तक देश के इन सम्पूर्ण बाजारों को नियमित बाजार के अंतर्गत लाने का आयोजन था। किन्तु दिसम्बर, १९७० तक नियमित बाजारों की संख्या बढ़कर २१३१ ही हो पायी। अब चतुर्थ योजना के अंत तक सभी बाजारों को नियमित बाजार के अंतर्गत लाने का आयोजन है।

(२) सहकारी विक्रय-व्यवस्था (Co-operative Marketing) – कृषि-बाजार सम्बन्धी कुछ कठिनाइयों को सहकारी विक्रय-व्यवस्था (Co-operative Marketing) द्वारा भी दूर किया जा सकता है। सहकारी विक्रय समितियाँ किसानों की उपज को एकत्र करती हैं, उन्हें गोदामों में ले जाती है, किसानों को पूँजी, खाद तथा उत्तम बीज आदि प्रदान करती हैं, उनके माल का बीमा करती है, तथा उनकी उपजों के वर्गीकरण एवं विक्रय की व्यवस्था करती हैं। १९५३-५४ ई० में भारत में २१४३ सहकारी विक्रय संघ तथा फेडरेशन (Co-operative marketiag unions and federations) थे जिनकी कार्यशील पूँजी १५ करोड़ रुपये थी तथा जिनके सदस्य १६·२ लाख व्यक्ति एवं ४४००० समितियाँ थीं। उस वर्ष इन संघों ने कुल ११·२ करोड़ रुपये का माल खरीदा तथा ११ करोड़ रुपये का माल बेचा था। एजेन्ट के रूप में इन्होंने इससे प्रायः दुगुना का कार्य किया था। सहकारी विक्रय-व्यवस्था के सम्बन्ध में ग्रामीण साख-सवक्षण (Rural Credit Survey) के प्रतिवेदन में बहुत-से सुझाव दिये गये थे जिनके आधार पर सरकार द्वारा सहकारी विक्रय-व्यवस्था के विकास पर पर्याप्त जोर दिया जा रहा है। समिति के सुझावों के आधार पर ही एक National Co-operative Development and Warehousing Board की स्थापना की गयी है। यह परिषद् सहकारिता के विभिन्न पहलुओं के साथ-साथ गोदामों तथा संचय-गृहों का निर्माण भी करती है।

(३) वजन तथा तौल का प्रामाणीकरण (Standardization of weights and measures) —कृषि-बाजार की समुचित व्यवस्था के लिए वजन तथा तौल का प्रमाणीकरण भी आवश्यक है। भारत सरकार ने हाल में ही तौल तथा वजन की मेट्रिक पद्धति को अपनाया है। देश के विभिन्न भागों में यह पद्धति अक्टूबर १९५८ ई० में लागू की गयी है। इससे इस क्षेत्र में बहुत अधिक सुधार की आशा की जाती है।

(४) उपज का वर्गीकरण —कृषि-उपज के वर्गीकरण के लिए सरकार द्वारा १९३७ ई० कृषि उत्पादन (वर्गीकरण तथा विक्रय) अधिनियम [Agricultural Produce (grading and mraketing) Act] बनाया गया। इसके अनुसार कृषि-विभाग के अधिकारियों द्वारा उपज का वर्गीकरण किया जाता है तथा अच्छी किस्म की वस्तुओं पर आगमार्क (AGMARK) की छाप दी जाती है, किन्तु यह व्यवस्था अभी कुछ ही वस्तुओं के साथ, विशेषतः निर्यात की जाने वाली वस्तुओं के साथ ही पायी जाती है।

(५) गोदाम तथा संचय-गृहों का निर्माण :—कृषि-उपज के संचय के लिए गोदामों तथा संचय-गृहों का निर्माण भी आवश्यक है। ग्रामीण साख सर्वेक्षण समिति ने एक अखिल भारतीय गोदाम निगम (All India Warehousing Corporation) तथा इसके आधार पर प्रत्येक राज्य में एक-एक गोदाम निगम स्थापित करने का सुझाव दिया था। सन्तोष का विषय है कि भारत सरकार द्वारा केन्द्रीय गोदाम निगम की स्थापना की गयी है। इसके अतिरिक्त बिहार, महाराष्ट्र, मैसूर, राजस्थान, तमिलनाडु, पश्चिमी बंगाल तथा उड़ीसा-सात राज्यों में राज्य गोदाम निगम भी स्थापित किये गये हैं। इन निगमों द्वारा देश के विभिन्न भागों में गोदामों की स्थापना की जा रही है। तृतीय योजना के अन्त तक देश में गोदामों की क्षमता को २५ लाख टन से

बढ़ाकर ५० लाख टन करने का आयोजन था जिसमें ३५ लाख टन की क्षमता सरकारी गोदामों की होने को थी। चतुर्थ योजना में १० लाख टन अतिरिक्त क्षमता के गोदाम बनाने का आयोजन है।

(६) मूल्य की स्थिरता (Stability of Prices) :—कृषि में स्थायी सुधार लाने तथा किसानों की आर्थिक समृद्धि में वृद्धि के लिए कृषि-पदार्थों के मूल्य में अत्यधिक उतार-चढ़ाव को रोकना आवश्यक है। मूल्य की स्थिरता (Stability) से किसानों को अधिक अन्न उपजाने के लिए प्रोत्साहन मिलता है। सरकार द्वारा इस सम्बन्ध में बहुत-सारे प्रयत्न किये जा रहे हैं। किसी खास कृषि-पदार्थ के मूल्य में एक निश्चित मात्रा से अधिक कमी होने पर सरकार उस वस्तु का स्वयं क्रय करने लगती है। इससे मूल्य में अधिक गिरावट का भय नहीं रहता। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए आयात-निर्यात सम्बन्धी नीति में भी आवश्यक परिवर्तन अनिवार्य हो जाता है। खाद्यान्न जाँच समिति ने खाद्यान्नों के मूल्य में स्थिरता लाने के उद्देश्य से एक मूल्य स्थिरीकरण प्रमण्डल (Price Stabilization Board) की स्थापना की सिफारिश की थी। इसकी सहायता के लिए एक केन्द्रीय खाद्यान्न सलाहाकर समिति (Central Food Advisory Council) तथा मूल्य-सम्बन्धी आँकड़े एकत्र करने के लिए एक विशेष प्रकार की सेवा (Price Intelligence Service) की स्थापना की भी सिफारिश की गयी थी। इनकी स्थापना से मूल्य के स्थिरीकरण में निस्सन्देह बहुत अधिक सहायता मिलेगी। खाद्य-पदार्थों के मूल्यों में स्थिरता लाने के लिए भारत सरकार ने खाद्यान्नों के थोक व्यापार को राजकीय नियंत्रण के अन्तर्गत (State Trading in Foodgrains) लाने का निश्चय किया है। इसके अन्तर्गत सर्वप्रथम चावल तथा गेहूँ के थोक व्यापार को राजकीय नियंत्रण के अन्तर्गत लाया गया है। कृषि-पदार्थों के मूल्यों में स्थायित्व के लिए जनवरी, १९६५ में भारत सरकार द्वारा एक Agricultural Price Commission की नियुक्ति की गयी जो सरकार को मूल्य-नीति के सम्बन्ध में परामर्श देता है।

पंचवर्षीय योजनाओं में कृषि-बाजार

(Agricultural Marketing in Five Year Plans)

प्रथम पंचवर्षीय योजना (First Five Year Plan) में कृषि-बाजार की समुचित व्यवस्था के विकास पर पर्याप्त जोर दिया गया था। योजनाकाल में कृषि-बाजारों को नियमित बाजारों के अन्तर्गत लाने की व्यवस्था की गयी थी। किन्तु योजना के अन्त तक केवल सात राज्यों में ही इस सम्बन्ध में अधिनियम लागू किया जा सका। योजना प्रारम्भ होने के पूर्व १९५०-५१ ई० में देश में कुल २६५ नियमित मंडियाँ थीं, १९५५-५६ ई० तक इनकी संख्या बढ़कर ४५० हो गयी। योजना के अन्तर्गत निर्यात की जानेवाली अधिकांश वस्तुओं के वर्गीकरण की व्यवस्था का आयोजन था। प्रथम योजनाकाल में १९५२ ई० में सरकार द्वारा अग्रिम अनुबन्ध (नियन्त्रण) अधिनियम [Forward Contracts (Regulation) Act] पारित किया गया तथा १९५३ ई० में एक अग्रिम बाजार आयोग (Forward Market Commission) की नियुक्ति की गयी। इस आयोग के फलस्वरूप बाजार में वस्तुओं के कृत्रिम अभाव तथा उनकी कीमत में अत्यधिक चढ़ाव-उतार में कमी की आशा की जाती है।

द्वितीय पंचवर्षीय योजना (Second Five Year Plan) :—ग्रामीण साख सर्वेक्षण समिति के प्रस्तावों के आधार पर केन्द्र में मार्च १९५७ ई० में एक अखिल भारतीय गोदाम निगम (All India Warehousing Corporation) का संगठन हुआ। इसी आधार पर अधिकांश राज्यों में एक-एक राज्य-गोदाम निगम की भी स्थापना की गयी। केन्द्रीय गोदाम निगम की अधिकृत पूँजी २० करोड़ रुपये है जो १०००० रुपये के २ लाख हिस्सों में विभाजित है। प्रारम्भ में इसमें से १० करोड़ रुपये के हिस्से जारी किये गये थे जिसमें से ४ करोड़ रुपये के हिस्से राष्ट्रीय सहकारिता विकास एवं गोदाम परिषद् द्वारा तथा शेष स्टेट बैंक, अनुसूचित बैंकों, सहकारी बैंकों तथा बीमा एवं सहकारी संस्थाओं द्वारा क्रय किये गये हैं। योजनाकाल में केन्द्रीय गोदाम

निगम एवं राज्य गोदाम निगमों द्वारा विभिन्न राज्यों से कुल १६७० गोदाम बनाये गये। साथ ही, सहकारी विक्रय-व्यवस्था के विस्तार पर भी जोर दिया गया था। किन्तु फिर भी सहकारी विक्रय-समितियाँ द्वितीय योजना के अन्त तक कुल अतिरिक्त उपज का केवल १० प्रतिशता भाग ही बेच सकी थीं, अत: शेष ६० प्रतिशत भाग के विक्रय के लिए अन्य तरीकों पर ही निर्भर रहना पड़ता था। द्वितीय योजना के अन्तर्गत नियमित बाजारों की संख्या १९५५-५६ ई० में ४५० से बढ़कर १९६०-६१ ई० में ७२५ हो गयी। उपज के वर्गीकरण तथा नमूना बनाने की सुविधाओं के विस्तार पर द्वितीय योजनाकाल में जोर दिया गया था। द्वितीय योजनाकाल में १८०० प्राथमिक सहकारी विक्रय समितियों की स्थापना की गयी थी। साथ ही, योजनाकाल में एक National Co-operative Marketing Federetion की भी स्थापना की गयी।

तृतीय पंचवर्षीय योजना (Third Five Year Plan) के अन्तर्गत देश के प्राय: सभी बाजारों को नियमित बाजार के अन्तर्गत लाने का आयोजन था, किन्तु योजना के अन्त में १६०० बाजारों को ही इसके अन्तर्गत लाया जा सका। तृतीय पंचवर्षीय योजना में गोदामों (warehouses) के निर्माण पर २३ करोड़ रुपये व्यय का आयोजन था जबकि वास्तविक व्यय इस मद में २७·४ करोड़ रुपये हुआ। योजना में बाजारू क्षेत्रों में ६६० तथा ग्रामीण क्षेत्रों में ६००० गोदाम बनाने को व्यवस्था थी। सहकारी विक्रय-व्यवस्था के प्रचार पर भी योजनाकाल में विशेष जोर दिया गया था। ऐसा अनुमान लगाया जा है कि द्वितीय योजनाकाल में सहकारी विक्रय समितियों ने २०० करोड़ रुपये के कृषि-पदार्थों का विक्रय किया था, तृतीय योजना के अन्त में सहकारी विक्रय समितियों द्वारा ४०० करोड़ रुपये के कृषि-पदार्थों के विक्रय का आयोजन था। विक्रय समितियों की स्थापना के लिए तृतीय योजनाकाल में सरकार द्वारा केन्द्रीय सहकारिता विकास कोष (Central Co-operative Development Fund) को ६ करोड़ रुपये देने की व्यवस्था थी

तीन वार्षिक योजनाएँ (Annual Plans) :— में भी कृषि-बाजार की सुविधाओं के विस्तार पर पर्याप्त जोर दिया गया था। इन योजनाओं में १९६६-६९ के बीच इस मद में १५·० करोड़ रुपये का व्यय किया गया। मार्च, १९६८ तक १८५५ बाजारों को नियमित बाजारों के अन्तर्गत लाया गया था। १९६८-६९ तक कुल ५७३ करोड़ रुपये के कृषि-पदार्थों का सहकारी समितियों द्वारा विक्रय किया गया था।

चतुर्थ पंचवर्षीय योजना (Fourth Five Year Plan) में भी कृषि-बाजार व्यवस्था के विकास पर पर्याप्त जोर देने का आयोजन है। मार्च, १९६८ तक देश के कुल १८५५ बाजारों को नियमित बाजारों के अन्तर्गत लाया गया था। शेष अभी लगभग १५०० बाजार हैं जिन्हें चतुर्थ योजना के अन्त तक नियमित बाजार के अन्तर्गत लाने का आयोजन है। योजना काल में गोदामों तथा संचय-गृहों के निर्माण पर भी पर्याप्त जोर दिया जायगा। इस उद्देश्य से योजना-काल में १२ करोड़ रुपये केन्द्रीय गोदाम निगम द्वारा तथा ६ करोड़ रुपये राज्य गोदाम निगमों द्वारा व्यय किये जाने का आयोजन है। योजनाकाल में २० लाख टन अतिरिक्त संचय की क्षमता के निर्माण का आयोजन है। चतुर्थ योजना में बाजार तथा संचय-गृहों के निर्माण की मद में ४० करोड़ रुपये व्यय का आयोजन है। चतुर्थ योजना के अन्त में, १९७३-७४ में सहकारी समितियों द्वारा कुल प्राय: ९०० करोड़ रुपये के कृषि-पदार्थों के विक्रय का आयोजन है।

विशेष अध्ययन-सूची

1. Bhattacharjee : Studies in Indian Agricultural Economics.
2. Nanavati and Anjaria : The Indian Rural Problem.
3. All India Rural Credit Survey. : General Report (Vol. 2), Chapters 7, 17 and 35.
4. Reserve Bank of India Bulletins, : July, 1962; Feb .1965.

अध्याय : २०

खेतिहर मजदूर

(Agricultural Labour)

समस्या का महत्त्व :—पुरातन विद्वान क्वेसने (Quesnay) ने एक बार कहा था, 'निर्धन किसान, निर्धन राजा तथा निर्धन देश।' (Poor peasant, poor king and poor country.) सभी देशों के सम्बन्ध में यह बात भले ही सत्य न हो, किन्तु भारत के सम्बन्ध में आज भी यह निश्चित रूप से सत्य है। यहाँ की ७० प्रतिशत जनता कृषि पर आश्रित है, फिर भी हम अपनी आवश्यकतानुसार अन्न नहीं उत्पन्न कर पाते। भारत एक कृषि-प्रधान देश है अतः इसकी आर्थिक व्यवस्था में खेतिहर मजदूरों का विशेष महत्त्वपूर्ण स्थान हैं। खेतिहर मजदूर से उन ग्रामीण मजदूरों का बोध होता है जो कृषि-कार्य में मजदूरी पर लगे हुए हों। किसानों के मजदूरों के रूप में भी खेतिहर मजदूर शब्द की परिभाषा दी जाती है। किन्तु, इस रूप में छोटे-छोटे किसान, रैयत तथा कारीगर भी कुछ समय के लिए मजदूरी कर लेते हैं; अतः खेतिहर मजदूर वर्ग तथा अन्य ग्रामीण मजदूर वर्गों में निश्चित रूप से अन्तर करना कठिन हो जाता है। कृषि-श्रम जाँच समिति (Agricultural Labour Enquiry Committee) ने खेतिहर मजदूरों की श्रेणी में कृषि-कार्य में लगे हुए उन सभी लोगों को रखा था जो वर्ष में जितने दिन काम करते हैं उसका आधा या आधा से अधिक भाग मजदूरी पर करते हों। इस परिभाषा के आधार पर उक्त समिति ने यह अनुमान लगाया था कि भारत में कुल ग्रामीण परिवार के प्रायः ३०·४ प्रतिशत भाग खेतिहर मजदूर हैं जिनमें प्रायः आधा भूमिहीन मजदूरों का परिवार है।

आज से कुछ वर्ष पूर्व तक भारत की आर्थिक व्यवस्था में मजदूर शब्द का अर्थ सदा संगठित उद्योगों में काम करनेवाले मजदूरों से ही समझा जाता था। भारत सरकार भी औद्योगिक मजदूरों की समस्याओं पर विशेष ध्यान देती थी तथा खेतिहर मजदूरों की समस्याओं की प्रायः उपेक्षा की जाती थी। इसके फलस्वरूप देश में खेतिहर मजदूरों की स्थिति बहुत ही दयनीय हो गयी। यह निश्चय ही बहुत बड़ी कमी थी। 'कृषि-सुधार समिति' (Agrarian Reforms Committee) के अनुसार 'कृषि-विकास की किसी भी योजना में खेतिहर मजदूरों की समस्याओं पर समुचित ध्यान नहीं देना, देश की कृषि-व्यवस्था की एक दर्दनाक समस्या की उपेक्षा करना होगा।' (To leave out the problem of agricultural labour in any scheme of agrarian reforms, as has been done so far, is to leave unattended a weeping wound in the agrarian system of our country.) किन्तु स्वतन्त्रता-प्राप्ति के पश्चात् राष्ट्रीय सरकार खेतिहर मजदूरों की स्थिति को सुधारने में विशेषरूप से प्रयत्नशील रही है।

खेतिहर मजदूरों की स्थिति की जाँच के लिए भारत सरकार ने एक समिति की नियुक्ति की थी जिसने १९५०-५१ ई० में ८०० गाँवों में ११ हजार खेतिहर मजदूर परिवारों की जाँच की। इस जाँच का विवरण १९५४-५५ ई० में प्रकाशित हुआ। पुनः प्रथम पंचवर्षीय योजना में मजदूरी की स्थिति में सुधार के लिए किये गये प्रयत्नों के अध्ययन के लिए १९५५-५६ ई० में खेतिहर

मजदूरों की स्थिति की दूसरी जाँच की गयी। इस बार ३६०० गाँव के कुल २८,५६० खेतिहर मजदूर परिवारों की जाँच की गयी। इसका विवरण १९६० ई० में प्रकाशित हुआ।

खेतिहर मजदूरों के भेद :—खेतिहर मजदूरों को मुख्यत: तीन वर्गों में विभाजित किया जा सकता है— (१) खेतों में काम करनेवाले मजदूर, जैसे— हलवाहे, खेत काटने वाले आदि। इन्हें पूर्णत: खेतिहर मजदूर कहा जा सकता है। (२) कृषि से सम्बन्धित अन्य कार्य करने वाले—गाड़ीवान, कुआँ खोदने वाले आदि। इन्हें अर्द्ध-कुशल (semi-skilled) मजदूर कहा जा सकता है। (३) वे मजदूर जो कृषि के अतिरिक्त अन्य सहायक उद्योगों में लगे हुए हैं; जैसे—बढ़ई, लोहार आदि। इन्हें ग्रामीण कलाकार कहा जा सकता है। काम करने की दशाओं के अनुसार खेतिहर मजदूरों को निम्नलिखित दो वर्गों में विभाजित किया जा सकता है—(१) आकस्मिक मजदूर (Casual labourers) तथा (२) आसंजित मजदूर (Attached labourers)। आकस्मिक मजदूर वे मजदूर हैं जो यदा-कदा विभिन्न मालिकों के साथ कार्य करते हैं, तथा आसंजित मजदूर वे हैं जो किसी खास किसान के साथ स्थायी रूप से एक निश्चित अवधि तक कार्य करते हैं। कृषि-श्रम जाँच समिति के अनुसार १९५०-५१ ई० में आकस्मिक एवं आसंजित मजदूरों का अनुपात १० : ९० था जबकि १९५६-५७ ई० में देश के कुछ खेतिहर मजदूरों के ७३ प्रतिशत आकस्मिक तथा २७ प्रतिशत आसंजित मजदूर थे। इससे स्पष्ट है कि पिछले कुछ वर्षों में आसंजित मजदूरों की संख्या में वृद्धि हुई है। खेतिहर मजदूरों में से कुछ के पास बिल्कुल भूमि नहीं होती। इन्हें भूमि-हीन मजदूर (Landless labourers) कहा जाता है। कृषि-श्रम जाँच समिति के अनुसार भारत के कुल ग्रामीण परिवार का ३०·४ प्रतिशत भाग खेतिहर मजदूरों का था जिनमें १५·२ प्रतिशत के पास कुछ भूमि थी तथा १५·२ प्रतिशत बिल्कुल भूमि-हीन मजदूर थे।

खेतिहर मजदूरों की संख्या :—भारत में खेतिहर मजदूरों की संख्या का अनुमान समय-समय पर लगाया गया है। नेशनल प्लानिंग कमिटी के विवरण में प्रो० रंगा ने भारत के खेतिहर मजदूरों की संख्या १० करोड़ बतलायी थी। यह तत्कालीन जनसंख्या के अनुसार देश की सम्पूर्ण जनसंख्या का २५ प्रतिशत भाग था। १९५१ ई० की जनगणना के अनुसार भारत की कुल २४९० लाख कृषिकार आबादी में से खेतिहर मजदूरों की संख्या ४९० लाख, यानी प्राय: २० प्रतिशत भाग थी। दूसरे शब्दों में, यह कहा जा सकता है कि देश की कुल आबादी के प्राय: १३ प्रतिशत खेतिहर मजदूर थे।[1] किन्तु यह प्रतिशत निश्चित ही बहुत कम है।

किन्तु खेतिहर मजदूरों के सम्बन्ध में विश्वसनीय आँकड़े कृषि-श्रम जाँच ससिति के विवरण के प्रकाशित होने पर ही उपलब्ध हुए हैं। उक्त समिति के अनुसार १९५०-५१ ई० में भारत की सम्पूर्ण ग्रामीण जनसंख्या के प्राय: ३०·४ प्रतिशत भाग खेतिहर मजदूरों का था। समिति ने १९५१ ई० की जनगणना के आधार पर यह निश्चित किया कि भारत में कुल ५·८ करोड़ ग्रामीण परिवार हैं जिनमें १·८ करोड़ परिवार खेतिहर मजदूरों का है। किन्तु १९५६-५७ ई० में हुई जाँच के विवरण के अनुसार भारत में खेतिहर मजदूर परिवारों की संख्या १·६३ करोड़ ही थी। खेतिहर मजदूर परिवारों की संख्या में इस कमी का प्रधान कारण खेतिहर मजदूरों के पेशे में परिवर्तन हो सकता है।

1 Wadia and Merchant—Our Economic Problems, P. 365.

१९५६-५७ ई० की कृषि-श्रम जाँच समिति के अनुसार खेतिहर मजदूरों की कुल संख्या ३·३ करोड़ थी जिनमें १·८ करोड़ पुरुष, १·२ करोड़ औरतें तथा ०·३ लाख बच्चे थे। इनमें ५७ प्रतिशत भूमि-हीन मजदूर थे जबकि १९५०-५१ ई० की जाँच के अनुसार भूमि-हीन मजदूरों की संख्या ५० प्रतिशत थी।

भारत में खेतिहर मजदूरों को समस्याएँ

हमारे देश में खेतिहर मजदूरों के समक्ष अनेक कठिनाइयाँ हैं। खेतिहर मजदूरों को बहुत ही कम मजदूरी मिलती है। अतएव बड़ी ही दयनीय स्थिति में ये अपना जीवन गुजारते हैं। कृषि-श्रम जाँच समिति के द्वारा संकलित आँकड़ों के अनुसार १९५० ई० में बिहार के मर्द खेतिहर मजदूरों की औसत दैनिक मजदूरी १ रुपया १९ पैसे से लेकर १ रुपया ३१ पैसे तक तथा औरतों की दैनिक मजदूरी ६९ पैसे से लेकर १ रु० तक थी। साथ ही, इन्हें मजदूरी चुकाने का कोई प्रामाणिक तरीका की नहीं है। इन्हें मजदूरी या तो नगद रुपये में या अन्न के रूप में या दोनों के रूप में दी जाती है। कम मजदूरी मिलाने के फलस्वरूप इनकी औसत आय भी बहुत कम होती है। कृषि-श्रम जाँच समिति के अनुसार १९५०-५१ ई० में प्रति खेतिहर मजदूर परिवार की औसत वार्षिक आय ४४७ रुपये थी। १९५६-५७ ई० की जाँच के विवरण के अनुसार एक औसत कृषक-मजदूर परिवार की वार्षिक आय ४३७ रुपये थी। इस आय का ६·८५ प्रतिशत भाग वे अपनी भूमि से, ७३·०४ प्रतिशत कृषि-श्रम से, ७·०४ प्रतिशत गैर कृषि-श्रम से तथा १३·१२ प्रतिशत अन्य तरीके से प्राप्त करते थे। कृषि-श्रम जाँच समिति के अनुसार एक औसत खेतिहर मजदूर परिवार में ४·४ व्यक्ति रहते हैं, अतएव प्रतिव्यक्ति औसत वार्षिक आय ९५·३ रुपये हुई। इससे स्पष्ट है कि इनकी आय बहुत ही कम है। आय कम होने से इनका जीवन-स्तर भी निम्न है। १९५६-५७ ई० की जाँच के अनुनार एक खेतिहर मजदूर पहिवार अपनी आय का ७७·३ प्रतिशत भाग भोजन, ६·१ प्रतिशत भाग वस्त्र तथा जूता, ७·९ प्रतिशत भाग ईंधन तथा ८·७ प्रतिशत अन्य आवश्यक मदों में व्यय करता था। निम्नांकित तालिका से खेतिहर तथा औद्योगिक मजदूरों की प्रति-व्यक्ति औसत आय का तुलनात्मक ढंग से अन्दाजा लगाया जा सकता है :—

प्रति व्यक्ति वार्षिक आय रुपये में

राज्य	खेतिहर मजदूर (१९५०-५१)	औद्योगिक मजदूर (१९५०-५१)	खेतिहर मजदूरों की आय औद्योगिक मजदूरों के प्रतिशत में
पश्चिमी बंगाल	१६०	२६८	५९
बिहार	११९	३३२	३६
मध्य प्रदेश	८७	२६२	३३
उड़ीसा	७९	१४५	५४
पंजाब	१२१	२१६	५६
बम्बई	८८	३६८	२४

खेतिहर मजदूरों के काम करने का समय भी निश्चित नहीं रहता है। उन्हें खेतों में बहुधा प्रातःकाल से लेकर ८-९ बजे संध्या समय तक कार्य करना पड़ता है। खेती के विशेष

अवसरों, जैसे—कटनी, रोपनी आदि पर तो इन्हें और भी अधिक समय तक कार्य करना पड़ता है। फिर भी इनकी मजदूरी में कोई वृद्धि नहीं होती।

खेतिहर मजदूरों को सर्वदा काम भी नहीं मिलता। वर्ष के अधिकांश भाग में ये बेकार ही रहते हैं। द्वितीय कृषि-श्रम-जाँच समिति के अनुसार १९५६-५७ ई० में भारत के आकस्मिक वयस्क मर्द खेतिहर मजदूरों (Casual adult male workers) को वर्ष में औसतन १९७ दिन तक कार्य मिला था। समिति ने यह अनुमान लगाया था कि ये वर्ष में प्रायः १२८ दिन तक पूर्णतः बेकार थे अपना-अपना काम (Self-employed) करते थे। समिति के अनुसार प्रायः १६ प्रतिशत व्यक्तियों को साल भर तक कोई कार्य नहीं मिलता। इस प्रकार भारत में खेतिहर मजदूरों के समक्ष बेकारी तथा अर्द्ध-बेकारी की बड़ी ही भीषण समस्या है।

खेतिहर मजदूरों पर कर्ज का बोझ भी बढ़ता जा रहा है। पर्याप्त मजदूरी तथा लगातार कार्य न मिलने के कारण इन्हें अपनी न्यूनतम आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए भी कर्ज का सहारा लेना पड़ता है जिससे ये महाजनों के चंगुल में फँस जाते हैं और एक बार इनके चंगुल में फँस जाने पर पुनः निकलना इनके लिए कठिन हो जाता है। खेतिहर मजदूर अधिकांशतः अपनी व्यक्तिगत स्वतन्त्रता को गिरवी रखकर ही कर्ज लेते हैं। कृषि-श्रम-श्रम-जाँच समिति के अनुसार १९५५-५६ ई० में ६४ प्रतिशत खेतिहर के मजदूर कर्ज के बोझ से ग्रसित थे तथा औसत कर्ज की मात्रा प्रति परिवार १३८ रुपये थी। इस प्रकार जाँच के अनुसार १९५६-५७ ई० में खेतिहर मजदूरों पर कुल १४३ करोड़ रुपये के लगभग कर्ज था जबकि १९५०-५१ ई० में कर्ज की अनुमानित रकम केवल ८० करोड़ रुपये ही थी। किन्तु उक्त समिति के इस अनुमान से खेतिहर मजदूरों की वास्तविक स्थिनि का अन्दाजा नहीं लगता क्योंकि वास्तविकता तो यह है कि शायद ही कोई ऐसा खेतिहर मजदूर परिवार होगा जो कर्ज के बोझ से मुक्त हो।

इस प्रकार भारत में खेतिहर मजदूरों के समक्ष आज अनेक समस्याएं हैं। इन पर मूल्यवृद्धि का भी बहुत बुरा प्रभाव पड़ता है। मूल्य के अनुपात में मजदूरी नहीं बढ़ने के कारण इनकी आर्थिक कठिनाइयाँ और भी उग्र हो गयी हैं। इनके बीच संगठन का अभाव है। इनकी कोई संगठित संस्था नहीं है जो इनके लिए सुविधाएँ दिलाने का प्रयत्न कर सके। इन्हें आवास की भी उचित सुविधा नहीं प्राप्त है। रहने के लिए उचित स्थान के अभाव में इन्हें बड़ी कठिन परिस्थितियों में अपना जीवन व्यतीत करना पड़ता है। इनकी झोपड़ी के नीचे की भूमि पर भी इनका अधिकार नहीं है। बीमारी, बुढ़ापे तथा अन्य परिस्थितियों से इन्हें बचाने के लिए सामाजिक सुरक्षा (Social Security) की भी कोई व्यवस्था नहीं हो पायी है। बहुत से राज्यों में इनकी स्थिति दासों के समान है। इस प्रकार अर्द्ध-बेकारी तथा सामाजिक कठिनाइयों से ग्रस्त खेतिहर मजदूरों की इतनी बड़ी संख्या निस्सन्देह हमारी कृषि-व्यवस्था के स्थायित्व तथा गम्भीर शक्तिहीनता का सूचक है। इस वर्ग की कठिनाइयों को दूर किये बगैर भारत की ग्रामीण अर्थ व्यवस्था की नींव सुदृढ़ नहीं हो सकती।

खेतिहर मजदूरों की हीनावस्था के कारण

भारत में वर्षों से खेतिहर मजदूरों की स्थिति दयनीय है। ब्रिटिश शासन काल में इनकी स्थिति को सुधारने के लिए प्रायः कोई प्रयत्न नहीं किया गया। फलतः इनकी कठिनाइयाँ और भी उग्र होती गयीं। भारत में खेतिहर मजदूरों की हीनावस्था के निम्नलिखित प्रमुख कारण हैं :—

(१) जनसंख्या की अत्यधिक वृद्धि के परिणामस्वरूप कृषि-भूमि का उपविभाजन (Subdivision of land due to excessive growth of population) :—भारत की जनसंख्या में निरन्तर वृद्धि हो रही है जिसके फलस्वरूप किसानों की भू-सम्पत्ति का उपविभाजन बढ़ता ही जा रहा है तथा जोतें निरन्तर छोटी होती जा रही हैं। जोतों का आकार छोटा होने के कारण कृषि-कार्य लाभकार हो जाता है। फलस्वरूप किसानों का निर्वाह केवल अपनी भूमि से ही नहीं हो पाता और वे कम ही मजदूरी पर काम करने के लिए विवश होते हैं। इस प्रकार देश की बढ़ती हुई जनसंख्या तथा इसके फलस्वरूप भू-सम्पत्ति के निरन्तर उपविभाजन के कारण खेतिहर मजदूरों की निर्धनता तथा विवशता बढ़ती जा रही है।

(२) कुटीर उद्योगों का ह्रास (Decline of Cottage Industries) :—भारत में ब्रिटिश शासनकाल के प्रारम्भ से ही अनेक कारणों से कुटीर उद्योग का विनाश होने लगा जिससे देश में सहायक उद्योग-धन्धों का सर्वथा अभाव हो गया। कुटीर उद्योगों के विनाश से बहुत से कारीगर बेकार हो गये तथा उन्हें बाध्य होकर कृषि का कार्य करना पड़ा। इससे खेतिहर मजदूरों की संख्या में वृद्धि हो गयी जिससे इन्हें कम मजदूरी पर ही कार्य करने के लिए विवश होना पड़ा।

(३) कर्ज का बोझ (Burden of indebtedness) :—हमारे देश के खेतिहर मजदूरों की आय इतनी कम है कि उन्हें अपनी न्यूनतम आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए भी कर्ज लेना पड़ता है। इसके अतिरिक्त विवाह एवं श्राद्ध आदि विशेष अवसरों पर भी वे कर्ज लेते हैं। मजदूरी कम होने के कारण ये कर्ज चुकाने में बहुधा असमर्थ रहते हैं तथा लाचार होकर इन्हें अपनी सम्पत्ति बेचनी पड़ती है। कभी-कभी तो कर्ज लेने के लिए इन्हें अपनी व्यक्तिगत स्वतन्त्रता तक को भी गिरवी रखना पड़ता है जिससे ये महाजनों के दास की तरह हो जाते हैं। इस प्रकार कर्ज के बोझ से खेतिहर मजदूरों की आर्थिक विवशता बढ़ती ही जा रही है।

(४) निरन्तर कार्य का नहीं मिलना (Seasonal Character of Employment):—भारत में खेतिहर मजदूरों को कम मजदूरी पर ही निरन्तर कार्य नहीं मिलता। ये बहुधा वर्ष के अधिकांश भाग में बेकार ही रहते हैं। ऐसा अनुमान लगाया गया है कि ये वर्ष में ४-५ महीनों तक बेकार ही रह जाते हैं। किसी-किसी भाग में तो ये ६ महीनों तक बेकार रह जाते हैं। द्वितीय कृषि-श्रम जाँच के अनुसार १९५६-५७ ई० में खेतिहर मजदूरों को वर्ष में औसतन १९७ दिनों तक कार्य मिलता है तथा ४० दिनों तक ये अपना कार्य करते हैं। इस प्रकार समिति के अनुसार १९५६-५७ ई० में ये १२८ दिन तक बेकार थे। आसंजित मजदूरों को वर्ष में औसत ३२६ दिन ही काम मिलता है। इनके लिए बेकारी का यह समय बड़ा ही दुःखद हो जाता है और फलस्वरूप भोजन, वस्त्र आदि के लिए भी कर्ज लेना पड़ता है। अतः निरन्तर काम न मिलने के कारण भी आर्थिक स्थिति खराब होती जा रही है।

(५) मजदूरी चुकाने की दोषपूर्ण पद्धति (Defective System of Wage Payments) :—हमारे देश में खेतिहर मजदूरों को मजदूरी चुकाने की पद्धति भी दोषपूर्ण है। कहीं तो मजदूरी नकद रुपयों में चुकायी जाती है, कहीं अन्न के रूप में, और कहीं दोनों के रूप में। परन्तु आजकल मजदूरी प्रायः द्रव्य के रूप में ही दी जाती है। इससे मजदूरों को वास्तव में क्षति होती है क्योंकि वस्तुओं के मूल में वृद्धि के फलस्वरूप मजदूरी में उस अनुपात में वृद्धि नहीं हुई है। अतः, इन्हें कम वास्तविक मजदूरी ही मिलती है। इस प्रकार मजदूरी चुकाने की विभिन्नतापूर्ण एवं दोषयुक्त पद्धति के कारण भी मजदूरों की स्थिति दयनीय होती जा रही है।

(६) दोषपूर्ण रैयती कानून तथा अनुपस्थित जमींदारी व्यवस्था (Defective Tenancy Legislation and absentee Landlordism) :—हमारे देश के वर्तमान रैयती कानून भी खेतिहर मजदूरों की संख्या में वृद्धि के लिए बहुत हद तक उत्तरदायी हैं। ये मजदूर दूसरों की भूमि पर काम करते और केवल अपनी मजदूरी के भागी होते हैं। जमीन का मालिक बहुधा खेती से बहुत दूर रहता है, फिर भी वह सम्पूर्ण उपज का हकदार होता है। अनुपस्थित जमींदारी व्यवस्था के कारण भी इनकी आर्थिक विषमता में वृद्धि हुई है। बड़े-बड़े जमींदार गाँवों में न रहकर नगरों में रहना पसन्द करते हैं। इनकी अनुपस्थिति में जमींदारी की व्यवस्था इनके कर्मचारियों द्वारा ही की जाती है जो किसानों पर तरह-तरह के अत्याचार करते हैं। बहुत-से किसान इस प्रकार भूमि से बेदखल कर दिये जाते हैं और उन्हें बाध्य होकर खेतिहर मजदूरों की श्रेणी में आना पड़ता है।

(७) खेतिहर मजदूरों में संगठन का अभाव (Lack of Organisation among the Agricultural Labourers) :—हमारे देश में खेतिहर मजदूरों के बीच अभी संगठन का पूर्णतया अभाव है। विभिन्न राजनीतिक दलों के प्रयास के फलस्वरूप देश के औद्योगिक मजदूर दिन-प्रति-दिन संगठित होते जा रहे हैं जिससे उनकी स्थिति में सुधार होते जा रहा है। किन्तु खेतिहर मजदूरों में अभी संगठन का अभाव है जिससे इनकी कठिनाइयों को दूर करने के लिए इनके द्वारा संगठित प्रयत्न नहीं किया जाता। वास्तव में, दूर-दूर तक बिखरे गाँवों की बिखरी बस्तियों में निर्धन जीवन व्यतीत करने वाले खेतिहर मजदूरों के बीच संगठन की प्रवृत्ति का अभाव अति स्वाभाविक है। इस प्रकार संगठन के अभाव के कारण भी इनकी आर्थिक विवशता अधिक हो गयी है।

(८) खेतिहर मजदूरों के प्रति सरकार और समाज की उदासीनता (Indifferent attitude of the Govt. and Society towards Agricultural Labourers) —हमारे देश में खेतिहर मजदूरों के प्रति सरकार तथा समाज प्रारम्भ से ही उदासीन रहे हैं। ब्रिटिश शासनकाल में तो इनकी स्थिति में सुधार लाने के लिए कोई भी प्रयास नहीं किया गया जिससे इनकी आर्थिक विवशता बहुत बढ़ गयी थी। इसमें कोई सन्देह नहीं कि स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद इस ओर सरकार का ध्यान आकर्षित हुआ है, फिर भी इस दिशा में अभी कोई महत्त्वपूर्ण सुधार नहीं हो पाया है।

इस प्रकार जनसंख्या की वृद्धि तथा जोतों के उपविभाजन, कुटीर-उद्योगों का ह्रास, अत्यधिक कर्ज का बोझ, निरंतर कार्य का नहीं मिलना, मजदूरी चुकाने की दोषपूर्ण पद्धति, अनुपस्थित जमींदारी व्यवस्था, संगठन का अभाव तथा समाज एवं सरकार की उदासीनता आदि कारणों से खेतिहर मजदूरों की आर्थिक विवशता बढ़ती ही जा रही है। इनका जीवन घोर निराशा में व्यतीत होता है। भूखे-नंगे पैदा होकर तथा आश्रयहीन मर जाने तक ही इनके जीवन का सारा इतिहास सीमित है। अतः इनकी स्थिति में सुधार लाने के लिए बहुत अधिक प्रयत्नों की आवश्यकता है।

खेतिहर मजदूरों की स्थिति में सुधार के प्रयत्न

(Attempts to improve the Condition of Agricultural Labourers)

आज से कुछ वर्ष पूर्व खेतिहर मजदूरों की समस्याओं पर सरकार एवं समाज द्वारा विशेष ध्यान नहीं दिया जाता था। परन्तु आजकल केन्द्रीय तथा राज्य सरकारों द्वारा इनके सम्बन्ध में

विशेष जानकारी प्राप्त करने तथा इनकी समस्याओं के समाधान का प्रयत्न किया जा रहा हैं। इनकी स्थिति में सुधार के लिए निम्नलिखित प्रयत्न आवश्यक हैं :—

(१) न्यूनतम मजदूरी की दर तय करना (Fixation of Minimum Wages) :— हमारे देश में खेतिहर मजदूरों की मजदूरी सबसे कम है। अतएव उन्हें उचित मजदूरी दिलाने की व्यवस्था होनी चाहिए। इसके लिए विधान द्वारा इनकी न्यूनतम मजदूरी को निश्चित करने का प्रयास किया गया है। न्यूनतम मजदूरी वह मजदूरी है जिससे कम किसी को भी मजदूरी नहीं मिलनी चाहिए। १९४८ ई० में भारत सरकार ने एक न्यूनतम मजदूरी विधान (Minimum Wages Act) पारित किया जिसके आधार पर राज्य सरकारों को तीन वर्षों की अवधि में खेतिहर मजदूरों की न्यूनतम मजदूरी निश्चित करनी थी। किन्तु इस अवधि के अन्तर्गत प्रत्येक राज्यों में यह कार्य सम्पन्न नहीं किया जा सका। अतः १९५१ ई० में इस अवधि को बढ़ाकर १९५५ ई० तक कर दिया गया। आन्ध्र, बिहार, मध्य प्रदेश, मैसूर, उत्तर प्रदेश, पश्चिमी बंगाल, पूर्वी पंजाब, राजस्थान, केरल, उड़ीसा, अजमेर, कुर्ग, दिल्ली, हिमाचल प्रदेश, कच्छ एवं त्रिपुरा में सर्वत्र तथा असम, गुजरात एवं महाराष्ट्र के कुछ भागों में न्यूनतम मजदूरी की दर तय कर दी गयी है तथा कुछ राज्यों में ऐसा किया भी जा रहा है। किन्तु, खेतिहर मजदूरों में संगठन के अभाव से इसका प्रभाव प्रायः नगण्य ही रहा है। बहुत-से मजदूर तथा किसान तो इस सम्बन्ध में अभी तक कुछ नहीं जान पाये हैं। अतः, न्यूनतम मजदूरी को मान्य बनाने के लिए इस क्षेत्र में सरकार को अधिक तत्पर होना चाहिए अन्यथा इससे कोई लाभ की आशा नहीं की जा सकती। द्वितीय पंचवर्षीय योजना में इस बात की सिफारिश की गयी थी कि अन्य क्षेत्रों में न्यूनतम मजदूरी भी शीघ्र ही निश्चित कर दी जाय।

(२) काम के घण्टे को निश्चित करना :—अन्य सभी उद्योगों के मजदूरों की तरह खेतिहर मजदूरों के कार्य करने का समय भी निश्चित होना चाहिए। हमारे देश में खेतिहर मजदूरों से बहुत अधिक समय तक कार्य लिया जाता है और उन्हें उचित अवकाश भी नहीं मिलता। अतः, इसे विधान के द्वारा निश्चित करना चाहिए। इस सम्बन्ध में भूमि-सुधार समिति (Agrarian Reforms Committee) का प्रस्ताव है कि एक दिन मनुष्य के लिए १२ घण्टे तथा औरतों के लिए १० घण्टे का होना चाहिए और ८ घण्टे से अधिक काम के लिए अतिरिक्त मजदूरी दी जानी चाहिए। काम के समय-सम्बन्धी विधान को कार्यान्वित करने में कठिनाइयाँ अवश्य होंगी; किन्तु इसे असम्भव जानकर छोड़ देना भी उचित नहीं होगा।

(३) खेतिहर मजदूरों के दासत्व को दूर करना :—यद्यपि भारतीय संविधान के अनुसार दास रखना एक दण्डनीय अपराध है, फिर भी देश में ऐसे भी खेतिहर मजदूर पाये जाते हैं जिनकी स्थिति दासों से अच्छी नहीं है। इनके मालिक इन्हें व्यावहारिक रूप से मोल लेते हैं। बम्बई में कोली, मद्रास में पुलेपान, उड़ीसा में चाकर, मध्य प्रदेश में सहकारी तथा बिहार में कामो इसी प्रकार के होते हैं। बहुत राज्यों में तो आज भी बेगार की प्रथा प्रचलित है। इन सबको समाप्त कर खेतिहर मजदूरों को जमींदारों के शोषण से बचाना आवश्यक है। ऐसा नहीं होने से हमारा ग्रामीण समाज कभी भी सुखमय नहीं हो सकता। गाँवों से बेगार की प्रथा को भी समाप्त कर देना चाहिए। इन सभी कार्यों के लिए खेतिहर मजदूरों के बीच संगठन कायम करना अनिवार्य है जिससे देश की विशाल जनराशि को अर्द्ध मानव के स्तर से ऊपर उठाया जा सके।

(४) कुटीर उद्योग-धन्धे का विकास :—हमारे देश में खेतिहर मजदूर वर्ष में प्रायः ४-५ महीने तक बेकार ही रहते हैं। इस बेकारी के समय में अगर इनके लिए पूरक धन्धों की

व्यवस्था होती तो बेकारी का समय अच्छे ढंग से व्यतीत होता तथा इनकी आय में भी कुछ वृद्धि होती। इस प्रकार कुटीर उद्योगों की व्यवस्था से खेतिहर मजदूरों की आर्थिक विवशता को बहुत अंश तक कम किया जा सकता है।

(५) शिक्षा तथा स्वास्थ्य-सम्बन्धी सुधार :—हमारे देश में खेतिहर मजदूरों के लिए शिक्षा की व्यवस्था की जानी चाहिए। शिक्षा के अभाव में ये तथा इनके लड़के अपने अधिकारों से पूर्णतया अनभिज्ञ रह जाते हैं। इनके लिए साधारण शिक्षा से अधिक महत्त्व विशेष शिक्षा का है जिससे वे सुगमतापूर्वक अपना जीवन व्यतीत कर सकें। शिक्षा के साथ-साथ स्वास्थ्य में सुधार की उचित व्यवस्था भी होनी चाहिए।

(६) आवास की व्यवस्था :—खेतिहर मजदूरों को रहने के लिए उचित वास स्थान भी उपलब्ध नहीं है। ये प्रायः गन्दी झोंपड़ियों के गन्दे वातावरण में रहते हैं। झोपड़ी के नीचे की भूमि भी बहुधा इनकी अपनी नहीं होती। अतः, इनकी आर्थिक स्थति में सुधार लाने के लिए यह आवश्यक है कि इनके लिए उचित वास-स्थान की सुविधा प्रदान की जाय। वास-स्थान की भूमि पर इनका अधिकार होना चाहिए। इस सम्बन्ध में बिहार सुविधा-प्राप्त व्यक्ति वास-स्थान काश्तकारी विधान १९४८ ई० विशेष रूप से उल्लेखनीय है। इस विधान के द्वारा ग्रामीण भूमिहीन मजदूरों को उनके वास-स्थान की सुरक्षा प्रदान की जाती है। इस प्रकार के विधान अन्य राज्यों में भी होने चाहिए।

(७) ऋण के बोझ को कम करना :—हमारे देश में खेतिहर मजदूर कर्ज के बोझ से दबे हुए हैं। अतः इनकी आर्थिक स्थिति में सुधार लाने के लिए यह आवश्यक है कि इनके कर्ज के बोझ को समाप्त किया जाय। इसके लिए विधान द्वारा पुराने ऋणों को समाप्त कर देना चाहिए तथा भविष्य में उचित दर पर कर्ज प्रदान करने के लिए इनके बीच सहकारी साख समितियों की स्थापना करनी चाहिए। पंचवर्षीय योजना में भी इस प्रकार के सुझाव दिये गये हैं।

(८) इनके बीच संगठन कायम करना :—खेतिहर मजदूरों की स्थिति में सुधार लाने के लिए यह आवश्यक है कि इनका एक देशव्यापी संगठन बनाया जाय। कृषि-सुधार समिति ने इनके बीच एक देशव्यापी संगठन की स्थापना की सिफारिश की थी। संगठन के द्वारा इनकी अधिकांश कठिनाइयों को दूर करने का सम्यक् प्रयास सम्भव है। इसके द्वारा देश के इस बड़े जन-समूह को अर्द्ध-मानव के उस स्तर से ऊपर उठाया जा सकता है जिसमें वह कुछ स्थानों पर इतना नीचे गिर गया है कि गोबर से चुने हुए अन्न के दाने खाकर अपना जीवन व्यतीत करता है। अतः इनकी स्थिति में सुधार के उद्देश्य से औद्योगिक मजदूरों की तरह कृषि-मजदूरों के बीच भी एक देश-व्यापी संगठन अनिवार्य है।

(९) भूमि-हीन मजदूरों के लिए भूमि की व्यवस्था :—भूमिहीन खेतिहर मजदूरों की समस्या का उचित समाधान इन्हें भूमि देकर ही किया जा सकता है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि देश में कृषि-योग्य भूमि का अभाव है, अतः प्रत्येक भूमि-हीन परिवार के लिए भूमि की व्यवस्था करना कठिन होगा। फिर भी, सरकार द्वारा जिस बंजर भूमि को कृषि-योग्य बनाया जाता है या अधिकतम सीमा-निर्धारण के पश्चात् जो भूमि सरकार के पास आती है उसकी व्यवस्था में भूमि-हीन कृषक मजदूरों को प्राथमिकता दी जानी चाहिए। किन्तु, इन्हें भूमि इसी शर्त पर दी जानी चाहिए कि ये उसमें सहकारिकता (Co-operative Farming) के आधार पर खेती करें। इससे इनकी स्थिति में पर्याप्त सुधार लाया जा सकता है। भारत सरकार द्वारा हाल में ही परती भूमि

के उद्धार के सम्बन्ध में सुझाव देने के लिए एक समिति नियुक्त की गयी थी। समिति ने १२ राज्यों में १६·८ करोड़ रुपये के व्यय से १०·८ लाख एकड़ भूमि के उद्धार की सिफारिश की है।

उपरोक्त सभी उपायों द्वारा भारत के खेतिहर मजदूरों की आर्थिक विवशता को कम किया जा सकता है।

पंचवर्षीय योजनाओं में खेतिहर मजदूर

(Agricultural Labourers in Five Year Plans)

योजना आयोग ने खेतिहर मजदूरों की स्थिति एवं समस्याओं पर विशेष प्रकाश डाला है तथा इनकी स्थिति में सुधार के लिए पंचवर्षीय योजनाओं में बहुत से सुझाव प्रस्तुत किये है। आयोग के अनुसार खेतिहर मजदूर ग्रामीण व्यवस्था के एक प्रमुख अंग हैं, अतः इनकी उन्नति एवं समृद्धि पर ही समस्त ग्रामीण व्यवस्था की उन्नति एवं समृद्धि आश्रित है। इस प्रकार खेतिहर मजदूरों की स्थिति में सुधार को पंचवर्षीय योजनाओं का एक प्रधान उद्देश्य माना गया है। योजना आयोग के निम्नांकित बयान से यह स्पष्ट है : "It is one of the primary objects of the Five Year Plans to ensure fuller opportunities for work and a better living to all sections of the rural community and, in particular, to assist agricultural labourers and, the backward classes to come up to the level of the rest. Their problems undoubtedly constitute a challenge and the obligation rests upon the community as a whole to find satisfactory solutions for them."

प्रथम पंचवर्षीय योजना (First Five Year Plan) में खेतिहर मजदूरों की स्थिति में सुधार लाने के उद्देश्य के बहुत से सुझाव दिये गये थे जिनमें निम्नलिखित विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं :—(१) अपेक्षाकृत कम मजदूरी वाले क्षेत्रों में बड़े-बड़े फार्मों तथा गहन कृषि के लिए चुने गये इलाकों में न्यूनतम मजदूरी विधान को यथाशीघ्र लागू करने का प्रयत्न आवश्यक है। देश के अन्य भागों में भी राज्य सरकारों द्वारा इस नियम को कार्यान्वित करने की व्यवस्था की जानी चाहिए। (२) कृषि-योग्य बनायी गयी बंजर भूमि की व्यवस्था में भूमिहीन मजदूरों को यथासम्भव प्राथमिकता दी जानी चाहिए। इस प्रकार की भूमि पर वे सहकारी समितियों का निर्माण कर कृषि का कार्य करेंगी। (३) प्रथम योजना में खेतिहर मजदूरों को वास-स्थान की भूमि प्रदान करने पर भी जोर दिया गया था। आयोग के अनुसार खेतिहर मजदूर अपनी झोपड़ी की नीचे वाली भूमि के भी मालिक नहीं होते जिससे इनकी स्थति बहुत ही दयनीय हो जाती है। ऐसी स्थिति में ऐसे भूमि-हीन किसानों को जिन्हें अपने मकान वाली भूमि पर अस्थायी अधिकार प्राप्त हो उस पर मौरूसी अधिकार दिये जायँ।

प्रथम योजनाकाल में भूमि-हीन मजदूरों के पुनर्वास के लिए २ करोड़ रुपये व्यय का एक कार्यक्रम तैयार किया गया था जिसे आगे घटाकर केवल १·५ करोड़ रुपये ही रखा गया। किन्तु योजनाकाल में इस मद में १ करोड़ रुपये से कम रकम खर्च की गयी।

द्वितीय पंचवर्षीय योजना (Second Five Year plan) :—में भी खेतिहर मजदूरों की स्थिति में सुधार के प्रयत्न किये गये थे। योजना में इस बात पर विशेष रूप से जोर दिया गया था कि जिन क्षेत्रों में अभी तक न्यूनतम मजदूरी नहीं निश्चित की जा सकी है, उन क्षेत्रों में इसे

यथाशीघ्र निश्चित करने की आवश्यकता है। साथ ही, बंजर भूमि उद्धार एवं जोतों की अधिकतम सीमा निर्धारण के फलस्वरूप जो अतिरिक्त भूमि बच जाती है उसकी व्यवस्था भूमि-हीन मजदूरों के साथ सहकारिता कृषि के आधार पर यथासम्भव की जानी चाहिए। योजना के अन्तर्गत इनकी स्थिति में सुधार के लिए ग्रामीण उद्योगों के विकास का भी आयोजन किया गया था। साथ ही, मजदूरों के वास-स्थान की भूमि, श्रम-सहयोग समितियों की स्थापना तथा भूमि-हीन मजदूरों के पुनर्वास पर भी योजना में विशेष जोर दिया गया था। योजनाकाल में १ लाख एकड़ भूमि पर १०,००० भूमि-हीन मजदूर परिवारों को बसाने के लिए ५ करोड़ रुपये व्यय की व्यवस्था की गयी थी। इसके अतिरिक्त द्वितीय योजना में पिछड़े वर्गों के उद्धार के लिए प्रायः ९० करोड़ रुपये व्यय किये गये।

तृतीय पंचवर्षीय योजना (Third Five Year Plan) :- तृतीय योजना में खेतिहर मजदूरों की स्थिति को सुधारने पर पर्याप्त जोर दिया गया था। योजनाकाल में कृषि एवं ग्रामीण विकास पर बहुत अधिक रकम व्यय की व्यवस्था थी। तृतीय योजना में इन कार्यक्रमों के माध्यम से ही खेतिहर मजदूरों की स्थिति में सुधार पर जोर दिया गया था। योजनाकाल में राज्यों की योजनाओं के अनुसार खेतिहर मजदूरों को बसाने के लिए ४ करोड़ रुपये तथा केन्द्रीय सरकार द्वारा ८ करोड़ रुपये व्यय की व्यवस्था थी। तृतीय योजनाकाल में ५० लाख एकड़ भूमि पर ७ लाख खेतिहर मजदूर परिवारों को बसाने की व्यवस्था थी। साथ ही, योजनाकाल में खेतिहर मजदूरों की अर्द्ध-बेरोजगारी की स्थिति को दूर करने के लिए गाँव में विभिन्न प्रकार के कार्य-क्रम अपनाये गये थे जिनके परिणामस्वरूप योजना के अन्त में प्रायः २५ लाख खेतिहर मजदूरों को १०० दिन की अतिरिक्त मजदूरी प्राप्त होने की आशा थी।

चतुर्थ पंचवर्षीय योजना (Fourth Five Year Plan) में छोटे-छोटे किसानों तथा खेतिहर मजदूरों की समस्याओं पर विशेष रूप से जोर दिया जा रहा है। इनकी स्थिति में सुधार के लिए दो प्रकार के कार्य किये जायँगे : सर्व प्रथम तो चतुर्थ योजनाकाल में कृषि के विकास के लिए बहुत से सामान्य कार्यक्रम अपनाये जायँगे जिससे सम्पूर्ण कृषक समाज के साथ-साथ छोटे-छोटे किसानों को भी लाभ होगा। देश के चुने हुए जिलों में छोटे-छोटे किसानों तथा खेतिहर मजदूरों की स्थिति में सुधार के लिए विशेष रूप से प्रयत्न किये जायँगे। इस योजनाकाल में इन जिलों में Small Farmers Development Agency नामक एक विशेष संस्था स्थापित करने का प्रयास किया जायगा। इस मद में चतुर्थ योजनाकाल में ११५ करोड़ रुपये व्यय का आयोजन है।

भूदान एवं भूमि-हीन मजदूर

किन्तु भूमि-हीन मजदूरों की समस्याओं का वास्तविक समाधान इन्हें भूमि देकर ही किया जा सकता है। इस सम्बन्ध में आचार्य विनोबा भावे का भूदान-यज्ञ आन्दोलन एक बहुत बड़ा कदम है। इस आन्दोलन का प्रचार सम्पूर्ण भारत में किया गया है। विनोबा जी गाँव-गाँव से भूमि दान के रूप में मांग कर देश में भूमि-हीन मजदूरों की समस्या का समाधान कर रहे हैं। उन्हें दान के रूप में जो भूमि मिल रही है उसे वे भूमि-हीन परिवारों के बीच वितरित कर रहे हैं। भूमि प्रायः इसी शर्त पर दी जाती है कि भूमि पानेवाला उसमें अपने हाथ से खेती करेगा और १० वर्षों तक किसी प्रकार भी भूमि दूसरे को हस्तान्तरित करने का उसे अधिकार नहीं होगा।

किन्तु प्रश्न यह है कि भूदान यज्ञ से कहाँ तक भूमिहीन मजदूरों की समस्याओं का समाधान किया जा सकता है ? भूदान यज्ञ आन्दोलन १८ अप्रैल, १९५१ ई० को प्रारम्भ हुआ था जब विनोबा जी ने इसके द्वारा ५ करोड़ एकड़ भूमि प्राप्त करने का लक्ष्य निश्चित किया था। किन्तु अक्टूबर, १९६६ ई० तक लगभग १६ वर्षों में भी भूदान से कुल प्राय: ४२ लाख एकड़ भूमि ही प्राप्त ही पायी थी। इसमें से तब तक केवल १० लाख एकड़ भूमि का ही वितरण किया जा सका था। क्या इतनी भूमि से भूमिहीन मजदूरों की समस्याओं का समाधान किया जा सकता है ? कृषि श्रम जाँच समिति के अनुसार देश में भूमिहीन खेतिहर मजदूर परिवारों की संख्या लगभग ८५ लाख है। अगर देश के ८५ लाख भूमिहीन मजदूर परिवारों में इस ४२ लाख एकड़ भूमि का वितरण किया भी जाय तो प्रत्येक परिवार को आधा एकड़ से भी कम भूमि मिलेगी। इस भूमि में भी बहुत-सी भूमि अत्यंत निम्न प्रकार की है; अतएव कृषि के लिए प्राय: अयोग्य है। स्पष्ट है कि भूदान द्वारा भूमिहीन मजदूरों के एक बहुत छोटे भाग को ही लाभान्वित किया जा सकता है। अत:, हम कह सकते हैं कि भूदान-यज्ञ से अगर भूमि-हीन मजदूरों की समस्याओं का समाधान असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य है।

विशेष अध्ययन-सूची

1. Dr. V. K. R. V. Rao : Agricultural Labour in India.
2. Reports of the Agricultural Labour Enquiry Committees.
3. First, Second, Third and Fourth Five Year Plans of India.
4. The Indian Labour Year Book.

अध्याय : २१

हरी क्रांति

(The Green Revolution)

प्राक्कथन—भारत एक कृषि-प्रधान देश है, परन्तु भारतीय कृषि अत्यन्त पिछड़ी हुई स्थिति में है। कृषि के इस पिछड़ेपन के अनेक कारण है जिनमें जोतों का उप-विभाजन एव अप-खंडन, उत्तम बीज का अभाव, खाद का अभाव, खेती की प्राचीन पद्धति आदि उल्लेखनीय हैं। कृषि के इस पिछड़ेपन के कारण ही हमें विदेशों से प्रतिवर्ष अरबों रुपयों के खाद्यान्न का आयात करना पड़ता है। किन्तु स्वतन्त्रता-प्राप्ति के पश्चात् देश के आर्थिक विकास के लिए कृषि के विकास को आवश्यक समझा गया और इस उद्देश्य से विभिन्न कार्यक्रम अपनाये गये। फलतः भारतीय कृषि, जो सदियों से निष्क्रिय अवस्था में पड़ी थी, अब विकास की ओर उन्मुख हुई है। नये-नये एवं सुधरे हुए खेती के तरीके, अधिक उपज देने वाले बीजों, उत्तम खाद तथा गहन कृषि कार्यक्रमों से कृषि के क्षेत्र में एक प्रकार की क्रांति उत्पन्न हो गयी जिसे हरी क्रांति (Green Revolution) की संज्ञा दी जाती है। तृतीय योजना के अंतिम वर्ष में खाद्यान्न का उत्पादन बहुत ही कम हुआ जिससे देश के एक बहुत बड़े भाग में भीषण खाद्य-संकट की स्थिति उत्पन्न हो गयी। अतएव खाद्य समस्या के स्थायी समाधान के लिए १९६६-६७ में कृषि-विकास की एक नयी नीति (New Strategy of Agricultural Development) की शुरुआत हुई। इस नयी नीति के अन्तर्गत निम्नांकित पंच-सूत्री विकास कार्यक्रमों को अपनाया गया—

(१) सर्वप्रथम ऊँची उपज देने वाले बीजों का उत्पादन बढ़ाया जाय तथा इनके वितरण की प्रणाली को संगठित किया जाय।

(२) द्वितीयतः, कृषि-साख एवं साधनों की पूर्त्ति में सुधार किया जाय।

(३) तृतीयतः, कृषि के क्षेत्र में तकनीकी जानकारी किसानों तक पहुँचायी जाय।

(४) चतुर्थतः, अधिक उपज से उत्पन्न समस्या- कटाई, संग्रह, विक्रय आदि का समाधान।

(५) अन्ततः, छोटे-छोटे किसानों को कृषि-यंत्र प्रदान करनेवाली संस्थाओं को सुदृढ़ बनाया जाय।

खाद्यान्नों के उत्पादन में १९६७-६८, १९६८-६९ तथा १९६९-७० में बहुत अधिक वृद्धि हुई है। १९६५-६६ में खाद्यान्नों का उत्पादन केवल ७२० लाख टन था जो बढ़कर १९६७-६८ में ९२० लाख टन तथा १९६९-७० में ९९६ लाख टन हो गया। १९७०-७१ में तो खाद्यान्नों का उत्पादन १०८० लाख टन तथा १९७१-७२ में ११२० लाख टन हुआ। इस प्रकार स्पष्ट है कि १९६५-६६ की तुलना में १९६७-६८, १९६८-६९ तथा १९६९-७० में खाद्यान्नों के उत्पादन में प्राय: ३० प्रतिशत तथा इससे भी अधिक की वृद्धि हुई है। उत्पादन में यह वृद्धि पिछले सभी वर्षों की अपेक्षा अधिक है। कृषि-उत्पादन के क्षेत्र में इस आश्चर्यजनक वृद्धि को ही हरी क्रांति कहते हैं।

हरी क्रान्ति के लिए उत्तरदायी कारण

(Contributory Factors)

इस हरी क्रांति के लिए बहुत-से कारण उत्तरदायी हैं। परन्तु इनमें सर्वाधिक गौरवपूर्ण स्थान कृषि-अनुसंधान परिषद् (Indian Council of Agricultural Research) तथा लुधियाना (पंजाब) एवं पंतनगर (उत्तर प्रदेश) के कृषि-विश्वविद्यालयों को है। ध्यानपूर्वक देखने

से स्पष्ट होगा कि यह हरी क्रांति मुख्यतः अधिक उपज देने वाले बीजों का ही परिणाम है जिन्हें पता लगाने में इन संस्थाओं ने महत्त्वपूर्ण सहयोग प्रदान किया है।

संक्षेप में, इस हरी क्रान्ति के लिए निम्नांकित कारण उत्तरदायी रहे हैं —

(१) भारी उपजदायी बीजों का उपयोग (Use of Wonder seeds)—कृषि के क्षेत्र में क्रान्तिकारी परिवर्तन मुख्यतः नये एवं आश्चर्यजनक बीजों की देन है। इन बीजों के परिणामस्वरूप महत्त्वपूर्ण खाद्यान्नों के प्रति-एकड़ उत्पादन में अत्यधिक वृद्धि हुई है। इनमें धान के ताईचुंग, आई० आर०–८ एवं गेहूँ के कल्याण सोना तथा सोनालिका आदि उल्लेखनीय हैं। १९६८-६९ में लगभग ९२ लाख हेक्टर, १९७०-७१ में १४६ लाख हेक्टर भूमि में उन्नत बीजों का प्रयोग किया गया था तथा १९७१-७२ तक १८० लाख हेक्टर भूमि को इन बीजों के अन्तर्गत लाने का आयोजन था। चतुर्थ योजना के अन्त में उन्नत बीजों के अन्तर्गत २५० लाख हेक्टर भूमि को लाने का लक्ष्य रखा गया है।[1] इन उन्नत किस्म के बीजों की उपज देशी किस्म की तुलना में बहुत अधिक होती है। गेहूँ के क्षेत्र में उपज में इससे बहुत अधिक वृद्धि हुई है। इस कार्य के लिए विभिन्न राज्यों में बीज निगम स्थापित किये जा रहे हैं जिससे बीजों के उत्पादन, प्रमाणीकरण और वितरण में सुविधा हो सके। विभिन्न राज्यों में बीज बहुगुणन फार्म भी संगठित किये गये हैं, एक राष्ट्रीय बीज निगम (National Seeds Corporation) की भी स्थापना की गयी है जिससे इस कार्य में बहुत अधिक सहायता मिल रही है।

(२) उर्वरकों के प्रयोग पर अधिक जोर (Emphasis on utilisation of Fertilisers)—कृषि की उपज में वृद्धि लाने में उर्वरकों का भी बड़ा ही महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है। नयी कृषि-विधि के अन्तर्गत प्रत्येक फसल के लिए उर्वरक की मात्रा निश्चित की गयी है। परिणामस्वरूप इनके उपयोग में बहुत अधिक वृद्धि हुई है। सम्पूर्ण भारत में फासफेरिक उर्वरकों का प्रयोग जो १९५०-५१ में ७ हजार मेट्रिक टन था, द्वितीय योजना के अन्तिम वर्ष १९६०-६१ में बढ़कर ५३ हजार मेट्रिक टन तथा १९६८-६९ में ३८२ हजार मेट्रिक टन हो गया। इसी प्रकार नाइट्रोजन उर्वरक का प्रयोग १९५०-५१ में ५६ हजार मेट्रिक टन से बढ़ कर १९६८-६९ में १२०८ हजार मेट्रिक टन हो गया तथा पोटाश के किस्म के रासायनिक उर्वरक का उपयोग जो १९५०-५१ में लगभग ६ हजार मेट्रिक टन था बढ़कर १९६८-६९ में १७० हजार टन हो गया।

उर्वरकों के वितरकों और उर्वरक खरीदने के लिए किसानों को क्रमशः लघु अवधि के ऋण और तकाबी दी जाती है। चतुर्थ योजना के अन्तिम वर्ष (१९७३-७४) में खाद तथा उर्वरकों के प्रयोग को बढ़ाकर ३० लाख मेट्रिक टन नाइट्रोजन, १५ लाख मेट्रिक टन फासफेट और १० लाख मेट्रिक टन पोटाश करने का आयोजन है। १९८०-८१ में उर्वरकों की मांग के बढ़कर १५० लाख टन होने का अनुमान है।

(३) आधुनिक उपकरण एवं सयंत्र (Modern Equipments and Machinaries) – कृषि-उत्पादन को बढ़ाने में तथा प्रति हेक्टर उत्पादन लागत को कम करने में आधुनिक कृषि-यन्त्रों; जैसे—ट्रैक्टर, बुलडोजर, ट्यूबवेल्स, डीजल इंजन, शक्ति चालित पम्प आदि का योगदान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। वास्तव में, कृषि के आधुनिक यन्त्रों के उपयोग से कृषि के उत्पादन में बहुत अधिक वृद्धि हुई है। पिछले कुछ वर्षों में इनके प्रयोग में बहुत अधिक वृद्धि हुई है। चतुर्थ योजना में २५० चुने गये जिलों में से प्रत्यक में जिला-स्तर पर एक कृषि-औजार केन्द्र खोलने का प्रस्ताव है, जहाँ उन्नत कृषि औजारों के उत्पादन, सर्विसिंग, मरम्मत एवं प्रचार का कार्य किया जायगा। चतुर्थ योजना

1. The Fourth plan : Mid-term Appraisal, Dec. 1971.

के अन्त में कम-से-कम २० प्रतिशत कृषकों को उन्नत कृषि-उपकरण एवं संयंत्र प्रदान करने का आयोजन है। कृषि के यंत्रीकरण (Mechanisation of Agriculture) से वर्ष में दो-तीन फसलों की खेती सम्भव हुई है।

(४) कीटनाशक औषधियों का उपयोग (Use of Pescticides):—भारत में पिछले कुछ वर्षों में कीटाणुनाशक व विभिन्न पौधे के रोगों के नियन्त्रण की दिशा में भारतीय कृषि-अनुसंधान परिषद् ने महत्त्वपूर्ण कार्य किया है। नयी कृषि योजना में सरकार कीटाणुनाशक औषधियों और पौधों की रक्षा के लिए उपकरण तैयार करने के लिए तेजी से कदम उठा रही है। देश के पौधा-संरक्षण निदेशालय के अन्तर्गत १७ केन्द्रीय पौधे संरक्षण केन्द्रों द्वारा फसलों के कीड़ों व रोग आदि के नियन्त्रण करने के लिए प्राविधिक परामर्श दिया जाता है। राज्य के कृषि-विभागों द्वारा कीटनाशक औषधियों और पौधा संरक्षण यन्त्र दिये जाते हैं। सन् १९६८-६९ में पौधा-संरक्षण कार्यक्रमों के अन्तर्गत ५ करोड़ ८६ लाख हेक्टर भूमि को लाभ पहुँचा तथा चतुर्थ योजना का इस सम्बन्ध में लक्ष्य ८ करोड़ हेक्टर का है।

(५) सिंचाई की सुविधाओं में वृद्धि (Extension of Irrigation):—हरी क्रान्ति के लिए उत्तरदायी तत्त्वों में सिंचाई की सुविधाओं में विस्तार का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है। पानी ही धरती का जीवन है, अतएव सिंचाई की सुविधाओं में विस्तार पर पंचवर्षीय योजनाओं में पूरा-पूरा जोर दिया गया है। नयी कृषि-विधि का प्रचार भी पहले उन्हीं क्षेत्रों में किया जाता है जहाँ निश्चित सिंचाई की सुविधा प्राप्त है। १९६५-६६ तथा १९६६-६७ के सूखे के कारण पूर्वी उत्तर-प्रदेश और बिहार में जो स्थिति उत्पन्न हुई उसके कारण कृषि कार्यक्रमों में छोटी सिंचाई परियोजनाओं को उच्च प्राथमिकता प्रदान करनी पड़ी और अब इस प्रकार बहुद्देशीय नदी घाटी योजनाओं तथा बड़ी-बड़ी नहरों के निर्माण के साथ-साथ लघु-सिंचाई कार्यक्रमों (Minor Irrigation schemes) पर भी पूरा जोर दिया जा रहा है। चतुर्थ योजना काल में बड़ी एवं मध्यम सिंचाई की योजनाओं द्वारा कुल ५७ लाख हेक्टर तथा लघु सिंचाई की योजनाओं द्वारा ३२ लाख हेक्टर अतिरिक्त भूमि को सिंचाई के अन्तर्गत लाने का आयोजन है।

(६) मूल्य-सम्बन्धी प्रोत्साहन (Price Incentives) :—कृषि तथा किसानों की उन्नति के लिए कृषि-पदार्थों का उचित मूल्य मिलना भी आवश्यक है। सरकार इस सम्बन्ध में भी जागरूक है। किसानों के हितों की रक्षा के लिए भारत सरकार द्वारा प्रतिवर्ष सभी प्रमुख फसलों की एक न्यूनतम कीमत (Support price) घोषित की जाती है जिस पर सरकार किसानों से उनकी फसल को खरीदने के लिए तत्पर होती है। इससे किसानों को उनके श्रम का उचित मूल्य मिल जाता है।

(७) साख की सुविधाओं में विस्तार (Improved credit facilities)—कृषि-साख की सुविधाओं में विस्तार पर भी वर्तमान समय में बहुत अधिक जोर दिया जा रहा है। इस सम्बन्ध में रिजर्व बैंक, स्टेट बैंक, १४ अन्य राष्ट्रीयकृत बैंक तथा सहकारी बैंकों एवं अन्य साख-संस्थाओं से महत्त्वपूर्ण सहायता मिल रही है। परिणामस्वरूप इन विभिन्न संस्थाओं द्वारा कृषि तथा किसानों को दिये जानेवाले ऋण की मात्रा १९६९ तक ४० प्रतिशत हो गयी थी। इससे भी कृषि-क्रान्ति को बहुत अधिक बल मिला है।

(८) भूमि-सुधार (Land Reforms) :- स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद भूमि-सुधार के उद्देश्य से बहुत सारे कदम उठाये गये हैं। इनमें (क) विभिन्न प्रकार के जमींदारों तथा मध्यस्थों का उन्मूलन, (क) काश्तकारी सुधार (Tenancy Reforms), (ग) जोतों की अधिकतम सीमा का निर्धारण, तथा (घ) जोतों की चकबन्दी (Consolidation Holdings) उल्लेखनीय हैं।

भूमि-सुधार के इन सब उपायों का भी कृषि तथा किसानों की स्थिति पर महत्त्वपूर्ण प्रभाव पड़ा है। इससे भी उपज की वृद्धि में बहुत अधिक सहायता प्राप्त हुई है।

(९) **वर्ष में दो या दो से अधिक फसलों की खेती** :—नये-नये तथा शीघ्र तैयार होने वाले बीजों के कारण, देश के अधिकांश भागों में वर्ष में अब दो या दो से अधिक फसलों की खेती सम्भव हो पायी है। सिंचाई वाले क्षेत्रों में इस प्रकार की फसलों का उगाना तो और भी आसान हो गया है। १९६८-६९ में ६० लाख हेक्टर से भी अधिक भूमि में एक से अधिक फसलों की खेती हुई थी। इससे उपज में अप्रत्याशित रूप से वृद्धि हुई है।

(१०) **गहन कृषि जिला विकास कार्यक्रम (Intensive District Programme)** :—फोर्ड फाउण्डेशन दल की सिफारिशों के आधार पर भारत सरकार ने देश के कुछ चुने हुए तथा निश्चित सिंचाई वाले क्षेत्रों में गहन जिला कृषि-विकास कार्यक्रम या पैकेज प्रोग्राम लागू किया। इस कार्यक्रम के अन्तर्गत इन जिलों में कृषि-विकास के गहन तरीकों को अपनाया गया है जिससे इन योजना-क्षेत्रों की उपज में पर्याप्त वृद्धि हुई है।

हरी क्रान्ति या गेहूँ क्रान्ति ? (Green Revolution or Wheat Revolution ?)—इस प्रकार हरी क्रान्ति कृषि के क्षेत्र में कई प्रकार के सुधारों के कारण ही सम्भव हो पायी है। इनमें से कुछ सुधार तो प्रथम पंचवर्षीय योजना के प्रारम्भ से ही अपनाये गये हैं, किन्तु १९६५-६६ में खाद्य-संकट की स्थिति गम्भीर होने के बाद इन पर जोर अधिक बढ़ गया। इनके परिणामस्वरूप कृषि के उत्पादन में महत्त्वपूर्ण रूप में वृद्धि प्रारम्भ हुई। किन्तु वास्तव में, खाद्यान्नों के उत्पादन के अन्तर्गत सभी फसलों के उत्पादन में समान रूप से वृद्धि नहीं हुई है। निम्नांकित तालिका से १९५०-५१ से १९७०-७१ के बीच प्रमुख खाद्यान्नों के उत्पादन का अन्दाजा लगता है :—

खाद्यान्नों का उत्पादन १९५०-५१ से १९७०-७१ (लाख मेट्रिक टन में)

फसल वर्ष	चावल	गेहूँ	ज्वार	बाजरा	अन्य अन्न	दालें	कुल खाद्यान्न
१९५०-५१	२२१	६८	६२	२७	७९	९२	५४९
१९५५-५६	२८७	८९	६७	३५	१०१	१०८	६९३
१९६०-६१	३१६	११०	९८	३३	१०६	१२७	८२०
१९६४-६५	३९०	१२३	९८	४४	११०	१२४	८९०
१९६५-६६	३०७	१०४	७५	३७	१००	९८	७२०
१९६७-६८	३७९	१६६	१०१	५१	१३७	१२२	९५६
१९६८-६९	३९८	१८७	९८	३८	११६	१०४	९४०
१९६९-७०	४०४	२०१	९७	५३	१२२	११७	९९५
१९७०-७१	४२४	२३२	८२	८०	१४३	११६	१०७८

उपरोक्त तालिका से स्पष्ट है कि खाद्य-पदार्थों के अन्तर्गत सबसे अधिक वृद्धि गेहूँ की उपज में ही हुई है। वास्तव में, गेहूँ की उपज १९५०-५१ में ६८ लाख मेट्रिक टन से बढ़कर १९७०-७१ में २३२ लाख मेट्रिक टन हो गयी, यानी इसमें लगभग चार गुनी वृद्धि हो गयी है, जबकि चावल की उपज १९५०-५१ में २२१ लाख मेट्रिक टन से बढ़ कर १९७०-७१ में ४२४ लाख मेट्रिक टन, यानी दुगुनी ही हुई। इससे स्पष्ट है, कि कृषि-क्रान्ति में गेहूँ का ही अधिक महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है। गेहूँ की उपज को बढ़ाने में मेक्सिको से प्राप्त नये प्रकार के गेहूँ जिनमें सोनारा ६४ तथा लर्मा ६४ A उल्लेखनीय हैं, से बहुत अधिक सहायता प्राप्त हुई है। इन नये बीजों ने भारत में गेहूँ क्रान्ति और इसी के माध्यम से कृषि क्रान्ति का सूत्रपात किया है। चावल इस दौड़ में निश्चय ही पीछे पड़ गया है। इसीलिए कहा जाता है कि "India's wheat and rice programmes have been like two powerful jet planes at the airport. Wheat rolled down the runway first and is now aloft." इसी-

लिए कुछ लोग तो इसे हरी क्रान्ति अथवा कृषि क्रान्ति नहीं कहकर गेहूँ क्रान्ति (Wheat Revolution) के नाम से ही पुकारते हैं।

क्या हरी क्रांति स्थायी है ?

(Is the Green Revolution Permanent ?)

इस प्रकार १९६७-६८ ई० से देश में कृषि के क्षेत्र में आशाजनक प्रगति का एक क्रम प्रारम्भ हुआ जिसे हरी क्रांति की संज्ञा दी जाती है। इसने किसानों में एक नयी आशा का संचार किया है। इस हरी क्रांति के परिणामस्वरूप उत्तम तथा सुधरे हुए एवं अधिक पैदावार वाले बीजों का उत्पादन बढ़ रहा है, किसानों को साख-प्राप्ति की अधिक सुविधाएँ उपलब्ध हो रही हैं, फसल-संग्रह एवं कृषि-उपज के विक्रय की व्यवस्था में सुधार हो रहा है तथा कृषि के क्षेत्र में नयी तकनीक का प्रयोग किया जा रहा है। इन सबके सम्मिलित परिणामस्वरूप कृषि के उत्पादन में आशाजनक वृद्धि हुई है। किन्तु हरी क्रांति का यह क्रम स्थायी नहीं कहा जा सकता। इसके निम्नांकित कारण हैं—

(१) ध्यानपूर्वक विचार करने से यह स्पष्ट होता है कि कृषि के क्षेत्र में यह नयी क्रान्ति केवल गेहूँ, मकई, ज्वार तथा बाजारा जैसी फसलों तक ही सीमित है। धान जैसी महत्त्वपूर्ण फसल इससे अभी तक मुख्यतः अप्रभावित ही रही है। साथ ही, दालों तथा जूट, कपास, तम्बाकू एवं तिलहन जैसी व्यावसायिक फसलों में भी इससे बहुत कम सुधार हुआ है। परिणामस्वरूप इनकी उपज पिछले दस वर्षों में लगभग स्थायी रही है। अतएव जब तक कृषि-क्रान्ति का प्रसार सभी फसलों तक नहीं होगा तब तक हरी क्रान्ति को स्थायी नहीं कहा जा सकता।

(२) द्वितीयतः, इस क्रान्ति के परिणामस्वरूप खाद्यान्नों के उत्पादन में जो वृद्धि हुई है, वह मुख्यतः पंजाब, हरियाना, पश्चिमी उत्तर प्रदेश तथा आन्ध्र, महाराष्ट्र एवं तमिलनाडु के कुछ भागों तक ही सीमित है। इस प्रकार देश का एक बहुत बड़ा भाग इस आन्दोलन से अभी तक लाभान्वित नहीं हुआ है। इसलिए कहा जाता है कि हरी क्रान्ति से देश के पूर्व विकसित क्षेत्र ही और अधिक विकसित हुए हैं जिससे क्षेत्रीय विषमता बढ़ी है। अतएव जबतक अन्य राज्यों में भी यह आन्दोलन नहीं पहुँचता तब तक कृषि-क्रान्ति को स्थायी नहीं कहा जा सकता।

(३) तृतीयतः, हरी क्रान्ति से देश के कुछ मुट्ठी भर बड़े-बड़े किसान ही लाभान्वित हो पाये हैं। कारण यह है कि सरकारी मशीनरी—सहकारी बैंक, विकास-प्रखण्ड आदि तथा बैंकों एवं बीमा संस्थाओं से निर्धन या छोटे-छोटे किसानों के लिए किसी प्रकार के लाभ की आशा करना उचित नहींहै। अतएव इससे पहले यह कहा जा सकता है कि हरी क्रान्ति से देश में पूँजीवादी कृषि को प्रोत्साहन मिला है।

अतः जब तक छोटे-छोटे किसानों को आवश्यक कृषि-साधन; जैसे—सिंचाई की व्यवस्था, रासायनिक खाद, कीटनाशक दवाइयाँ, अधिक उपज देने वाले बीज, साख की सुविधाएँ आदि शीघ्र, पर्याप्त और सस्ती दर पर उपलब्ध नहीं कराये जाते तबतक कृषि-क्रान्ति देश के लाखों भूमिहीन किसानों के लिए अर्थहीन ही रहेगी।

इस प्रकार कृषि विकास का यह नया कार्यक्रम अभी तक स्थायी हरी क्रान्ति लाने में सफल नहीं हुआ है जिसकी हमें आशा थी। वस्तुतः, अधिक पैदावार वाले कार्यक्रम उतने सफल नहीं हो सके जितनी कि प्रत्याशा थी क्योंकि (अ) सभी आदानों (Inputs) की एक साथ प्राप्ति नहीं हो सकी है; (ब) अच्छे गुण वाले बीजों की पूर्ति में विलम्ब हुआ है; (स) किसानों में खेती के आधुनिक तरीकों के प्रति अज्ञानता रही है, और (द) मानवीय कारण जिनके अन्तर्गत दिये गये फारमूले के अनुसार प्रगति नहीं हो सकती।

हरी क्रान्ति को स्थायी रूप कैसे दिया जाय ?—किन्तु अब प्रश्न यह है कि हरी क्रान्ति को किस प्रकार सफल बनाया जाय ? वास्तव में, हरी क्रान्ति की सफलता उपयुक्त सरकारी कृषि-नीति पर ही निर्भर करती है और सरकार की कृषि-सम्बन्धी नीति के प्रभावपूर्ण कार्यान्वियन के द्वारा ही इसे स्थायी रूप प्रदान किया जा सकता है। संक्षेप में, इसे स्थायी रूप देने के लिए निम्नांकित सुझाव दिये जा सकते हैं—

(i) कृषि-उत्पादन से सम्बन्धित सरकारी विभागों—पंचायतों, सहकारी समितियों व अन्य उसी प्रकार की संस्थाओं में समुचित समन्वय कृषि-नीति की सफलताओं के लिए अति आवश्यक है।

(ii) अधिक उपज वाले बीजों की खेती के लिए उर्वरक एवं अच्छी सिंचाई व्यवस्था का होना सबसे अधिक महत्त्व रखता है, अतएव उर्वरकों के बितरण की यथोचित व्यवस्था तथा इनके प्रयोग के सम्बन्ध में कृषकों को समुचित प्रशिक्षण पर जोर देना आवश्यक है। इसके साथ ही सिंचाई की व्यवस्था का समुचित विस्तार भी होना चाहिए।

(iii) भारत की मिट्टी में बहुत अधिक विषमता पायी जाती है, इसलिए कृषि वैज्ञानिकों को सम्पूर्ण देश की मिट्टी का पर्यवेक्षण करना चाहिए और उपयुक्त क्षेत्र के लिए उपयुक्त बीजों के विकास को प्रोत्साहित करना चाहिए।

(iv) कृषकों के लिए फसल बीमा (Crop insurance) योजना शीघ्रता एवं व्यापकता से लागू की जानी चाहिए।

(v) उचित ब्याज की दर पर पर्याप्त मात्रा में तथा उचित समय पर कृषि-साख की व्यवस्था होनी चाहिए।

(vi) खाद्यान्नों के मूल्यों को एक उचित सीमा तक बढ़ने देना चाहिए क्योंकि इससे जो अतिरिक्त आय होगी वह आगे चलकर अधिक उत्पादन के लिए प्रयुक्त हो सकती है।

(vii) फसलों को कीड़ों-मकोड़ों से बचाने के लिए प्रभावशाली कदम उठाये जाने चाहिए।

(viii) भूमि-सुधार कार्यक्रमों को शीघ्रता से लागू करना चाहिए तथा इनमें जो त्रुटियाँ हैं उन्हें भी दूर करने का प्रयत्न होना चाहिए। इस सम्बन्ध में अब तक प्राप्त अनुभव से लाभ उठाने का प्रयास करना चाहिए।

(ix) चावल तथा जूट, कपास एवं गन्ना जैसी व्यावसायिक फसलों के लिए भी उत्तम बीजों का इजाद अनिवार्य है। इनके वगैर कृषि के क्षेत्र में प्रगति अधूरी ही रह जायगी।

इस प्रकार उपरोक्त उपायों द्वारा कृषि क्रान्ति को स्थायी रूप दिया जा सकता है। कुछ लोग तो इसे कृषि-क्रान्ति मानने को तैयार ही नहीं हैं। इनके अनुसार न तो यह हरी है न क्रान्ति ही है।[1] किन्तु इस प्रकार की आलोचना वास्तव में तथ्ययुक्त नहीं है। कृषि के क्षेत्र में ये नये परिवर्तन एक वास्तविकता हैं तथा इसका देश के आर्थिक विकास पर महत्त्वपूर्ण प्रभाव पड़ेगा। इनकी सबसे बडी विशेषता यह है कि इनसे किसानों में एक नयी जागृति आयी है, एक नयी आशा का संचार हुआ है। साथ ही, किसानों ने पहले-पहल इस बात को समझा है कि कृषि केवल जीवन-यापन का ही एक साधन नहीं है, वरन् एक व्यवसाय है। (For the first time in the history of Indian Agriculture, the farmer has realised that farming is a business and not merely a way of life to which he must resign for himself.)

१ उदाहरण के लिए देखें, S. C. Tiwary : 'Green Revolution is a misnomer' in Yojna 26 Jan. 1970.

अध्याय : २२

कृषि का यंत्रीकरण

(Mechanisation of Agriculture)

प्राक्कथन :—अन्य उद्योग-धंधों की तरह कृषि-कार्य के सम्पादन के लिए भी विभिन्न प्रकार के उपकरणों की आवश्यकता पड़ती है। किन्तु भारतीय किसान द्वारा प्रयुक्त उपकरण अत्यन्त प्राचीन तथा रूढ़िवादी तरीके के होते है। आज भी यहाँ पर कृषि-कार्य में मनुष्य तथा पशु-शक्ति की ही प्रधानता है जबकि पश्चिमी देशों तथा सोवियत संघ के किसान अत्यत उन्नत प्रकार के यंत्रों का उपयोग करते हैं। कृषि के यंत्रीकरण के परिणामस्वरूप इन देशों म कृषि के क्षेत्र में इतने अधिक क्रांतिकारी परिवर्तन हुए हैं जिनकी तुलना १८वीं तथा १९वी शताब्दी की औद्योगिक क्रांति से की जा सकती है। कृषि के क्षेत्र में बड़े पैमाने पर यन्त्रों के प्रयोग के परिणामस्वरूप उत्पादन की लागत में कमी हुई है। दूसरे शब्दों में, इससे कृषि का आधुनिकीकरण हुआ है जिससे इन देशों के किसानों की समृद्धि में भी बहुत अधिक वृद्धि हुई। यंत्रीकरण के परिणामस्वरूप इन देशों में वीरान भूमि को लहलहाते हुए उपवन के रूप में परिणत किया गया है। इससे सामान्यतः, इस विश्वास को बल मिलता है कि प्रगतिशील कृषि के लिए कृषि का यंत्रीकरण आवश्यक है।

यंत्रीकरण का तात्पर्य (Meaning of Mechanisation) :—कृषि के यन्त्रीकरण का तात्पर्य कृषि-क्षेत्र में यथासंभव पशु तथा मानव-शक्ति के बदले यंत्रों का प्रयोग है। उदाहरण के लिए, जानवरों द्वारा लकड़ी के हल से खेत जोतने का कार्य ट्रैक्टर के द्वारा संपन्न किया जाता है, संयुक्त ड्रिल (Combined drill) एक ही साथ बीज की बोआई तथा खाद देने का कार्य करता है। इसी प्रकार फसल काटने तथा दँवनी का कार्य Combined harvester and Thrasher के द्वारा किया जाता है। इस प्रकार कृषि के यन्त्रीकरण का तात्पर्य खेती की सभी क्रियाओं—खेतों की जुताई से लेकर फसल की बिक्री तक के लिए मशीनों का प्रयोग है। (Mechanisation of agriculture means employment of machinery in one way or the other in almost all farming operations, ranging from the breaking the soil to the marketing and sale of the produce of the firm.) दूसरे शब्दों में कृषि के क्षेत्र में यन्त्रीकरण का आशाय कृषि-सम्बन्धी कार्यों, जिन्हें बैलों, घोड़ों एवं अन्य पशुओं अथवा मानवीय श्रम द्वारा किया जाता है, में यांत्रिक शक्ति के प्रयोग से है।[1]

कृषि का यंत्रीकरण दो प्रकार का हो सकता है (क) पूर्ण यंत्रीकरण (Complete mechanisation), तथा (ख) आंशिक यन्त्रीकरण (Partial mechanisation)। पूर्ण यन्त्रीकरण के अन्तर्गत कृषि के सारे कार्य मशीनों के द्वारा ही सम्पन्न किये जाते हैं, किन्तु आंशिक यन्त्रीकरण के अंतर्गत कृषि के केवल एक भाग के संपादन में ही यन्त्रों का प्रयोग किया जाता है। संयुक्त राज्य अमेरिका, कैनाडा तथा ब्रिटेन आदि देशो में श्रम की कमी के कारण कृषि का पूरा-पूरा यन्त्रीकरण

1. "Mechanisation of agriculture and farming process connotes application of machine power to work on land usually performed by bullocks, horses and other drought animals or by human labour."

—J. P. Bhattacharjee : Mechanisation of Agriculture in India.

हो गया है। सोवियत संघ ने भी भूमि की उर्वरा-शक्ति के अधिकतम शोषण तथा उत्पादन में वृद्धि के लिए अपनी कृषि का पूर्ण यंत्रीकरण किया है।

कृषि के यंत्रीकरण के पक्ष में तर्क (Arguments in favour of mechanisation of agriculture) :—भारतीय कृषि के यंत्रीकरण जैसे महत्त्वपूर्ण प्रश्न पर अभी तक अर्थशास्त्रियों तथा राजनीतिज्ञों में एकमत नहीं हो पाया है। एक ओर तो कुछ लोग कृषि के यन्त्रीकरण के पक्के समर्थक हैं जिनके अनुसार भारतीय कृषि में विकास के लिए कृषि के प्राचीन औजारों तथा आदिकालीन ढंगों का तिरस्कार अनिवार्य है। इन लोगों के अनुसार विज्ञान के इस युग में प्राचीन तरीकों के उपकरण सर्वथा अनुचित हैं तथा कृषि के पिछड़े होने का प्रधान कारण है। दूसरी ओर, कृषि यंत्रीकरण के प्रबल विरोधी हैं जो भारत की वर्तमान आर्थिक एवं सामाजिक परिस्थितियों में यन्त्रों के प्रयोग को बिल्कुल अनुचित करार करते हैं। इनके अनुसार पश्चिमी देशों तथा सोवियत संघ की अपेक्षा भारत की सामाजिक तथा आर्थिक स्थिति बिल्कुल भिन्न है। अत: कृषि के क्षेत्र में हमें इन देशों की तरह यन्त्रीकरण को प्रधानता नहीं देनी चाहिए।

फिर भी, कृषि के यन्त्रीकरण के पक्ष में बहुत-सारे तर्क दिये जा सकते हैं जिनमें निम्नांकित उल्लेखनीय हैं :—

(१) **बड़े पैमाने की मितव्ययिताएँ (Economies of Large scale production)**—कृषि के यंत्रीकरण का मुख्य आधार मशीनों के प्रयोग द्वारा सम्भव होनेवाली बड़े पैमाने की मितव्ययिता हैं। मशीनें तेजी से तथा सही कार्य करती हैं। मानव स्वयं तो बहुत ही थोड़ा उत्पादन कर सकता है; परन्तु यन्त्रों की सहायता से वह बहुत अधिक उत्पादन कर सकता है। उदाहरण के लिए, जितनी भूमि पर एक हल तथा एक जोड़ी बैलों के द्वारा १० दिन में जुताई कार्य किया जा सकता है उतनी भूमि की जुताई एक ट्रैक्टर एक ही दिन में ही कर सकता है।

(२) **उत्पादन-व्यय में कमी** :—कृषि के क्षेत्र में यन्त्रों के प्रयोग से उत्पादन-व्यय में भी कमी होती है। ऐसा अनुमान लगाया जाता है कि ४० अश्वशक्ति के एक ट्रैक्टर से खेती का कार्य करने का व्यय प्रति एकड़ १०० रुपये है जबकि ४० अश्व-शक्ति के बराबर बैलों के प्रयोग करने पर कृषि कार्य का प्रति एकड़ व्यय १६० रुपये है। इस प्रकार यांत्रिक कृषि का उत्पादन व्यय कम होता है।

(३) **बड़े पैमाने पर कृषि सम्भव** :—मशीनों के प्रयोग से बड़े पैमाने पर कृषि सम्भव होती है। वास्तव में, मशीनें बड़े पैमाने की कृषि के लिए अत्यन्त आवश्यक हैं। मशीनों से बड़े-बड़े खेत जोते जा सकते हैं, भारी मात्रा में फसलें काटी जाती हैं, उपज को मंडी तक पहुँचाया जा सकता है। मशीनों के अभाव में इने सारे कार्यों के सम्पादन में बहुत अधिक असुविधा होती है।

(४) **पशु-सम्बन्धी व्यय में बचत** :—कृषि-यन्त्रों के प्रयोग से कृषि-कार्य में पशुओं की आवश्यकता नहीं पड़ती या बहुत कम पड़ती है। उदाहरण के लिए, यन्त्रों से खेतों की जुताई होती है, सिंचाई के लिए पानी निकालने का कार्य किया जाता है, यातायात का कार्य किया जाता है, आदि। अत: इन सब कार्यों के लिए पशुओं की कोई आवश्यकता नहीं पड़ती जिससे इन्हें रखने के खर्च में बचत होती है।

(५) **व्यापारिक कृषि सम्भव**—कृषि के यन्त्रीकरण का एक लाभ यह भी है कि इससे व्यापारिक फसलों (Commercial crops) की बड़े पैमाने पर कृषि संभव होती है। साथ ही,

खाद्य-फसलों की भी बड़े पैमाने पर कृषि सम्भव होती है जिससे कृषि का मूल उद्देश्य ही बदल जाता है। अब किसान केवल जीवन-निर्वाह के लिए ही कृषि नहीं करता वरन् अपनी अतिरिक्त उपज को बाजार में बेचने के उद्देश्य से भी कार्य प्रारम्भ करता है।

(६) सामाजिक सुधार :—कृषि के यन्त्रीकरण से किसानों के सामाजिक जीवन में भी सुधार होने लगता है। यन्त्रीकरण के परिणामस्वरूप किसान भारी तथा नीरस कार्यों के बोझ से मुक्त हो जाता है, उसकी आर्थिक स्थिति में सुधार होता है तथा उसका जीव-स्तर भी ऊँचा होने लगता है। इससे सामाजिक जीवन की कुरीतियों को दूर करने में भी सहायता मिलती है।

(७) खास-खास कार्य :—जैसे बंजर भूमि को तोड़कर कृषि-योग्य बनाने; सड़कों, नालियों तथा नहरों आदि के निर्माण में भी मशीनों का प्रयोग आवश्यक होता है।

इनके अतिरिक्त मशीनों के प्रयोग के अन्य कई लाभ भी बतलाये जाते हैं जैसे यन्त्रीकरण से देश में ट्रैक्टर, पम्प आदि के निर्माण तथा मरम्मत एवं इनके लिए छोटे-छोटे पुर्जों के निर्माण के लिए सहायक धन्धों का विकास भी होता है। इससे यंत्रीकरण के परिणामस्वरूप जिन लोगों का रोजगार छिन जाता है उन्हें रोजगार मिलता है। इस प्रकार कृषि के यन्त्रीकरण से बेरोजगारी बढ़ने की भी कोई सम्भावना नहीं रहती। कृषि के यन्त्रीकरण से ग्रामीण क्षेत्रों में संवादवाहन की सुविधा बढ़ती है जिनसे अतिरिक्त उपजों को शीघ्रता से बाजार तक पहुँचाया जा सकता है। इस प्रकार, यंत्रीकरण से आधुनिक तरीके की कृषि सम्भव होती है। इससे प्रति-व्यक्ति तथा प्रति-एकड़ उपज दोनों में वृद्धि होती है, उत्पादन की लागत कम होती है तथा उपभोक्ता लाभान्वित होते हैं।

यन्त्रीकरण के विपक्ष में तर्क (Objections to mechanisation of Agriculture)—किन्तु भारत में कृषि के यन्त्रीकरण के विरुद्ध भी बहुत सारे तर्क प्रस्तुत किये जाते हैं जिनमें निम्नांकित विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं :—

(१) जोतों का छोटा तथा बिखरा होना (Holdings too small and scattered)—सर्वप्रथम तो यह कहा जाता है कि भारत में जोतों का आकार बहुत ही छोटा है। छोटी-छोटी जोतें भी एक स्थान में नहीं होकर गाँव के कई भागों में बिखरी होती हैं। अतः सोवियत संघ में जोतों का औसत आकार १६०० एकड़, संयुक्त राज्य अमेरिका में १४५ एकड़ तथा कैनाडा में २४४ एकड़ है जबकि भारत में यह ७·५ एकड़ ही है। इतना ही नहीं, भारत में छोटी तथा बिखरी जोतों के कारण कृषि के क्षेत्र में यन्त्रों का प्रयोग नहीं किया जा सकता है। वास्तव में, भारी ट्रैक्टर के लिए कम-से-कम १०० एकड़ तथा हल्के ट्रैक्टर के लिए ५० एकड़ के फार्म की आवश्यकता होती है। अतएव भारतीय जोतों के छोटा तथा बिखरा हुआ होने के कारण यहाँ पर यंत्रीकरण की सम्भावना बहुत ही कम है।

(२) बेरोजगारी की आशंका (Danger of Unemployment)—द्वितीयतः, भारतीय कृषि के यन्त्रीकरण से बहुत सारे श्रमिकों के बेरोजगार होने की आशंका रहती है। एक-एक मशीन कई मजदूरों के बराबर कार्य करते हैं, अतएव यन्त्रीकरण से लाखों की संख्या में खेतिहर मजदूर बेकार हो जायेंगे और इतनी बड़ी संख्या में खेतिहर मजदूरों को कृषि के अतिरिक्त अन्य उद्योगों (non-agricultural occupations) में रोजगार प्रदान करने में कठिनाई होगी। भारत में कृषि के यन्त्रीकरण के विरुद्ध उठायी जाने वाली यह सबसे गम्भीर आपत्ति है। अमेरिका, रूस तथा कैनाडा में वास्तविक समस्या श्रम की कमी है, किन्तु भारत में कृषि के क्षेत्र में श्रमिकों का प्राचुर्य है। साथ ही, यहाँ पर इन देशों की अपेक्षा श्रम बहुत ही सस्ता भी है। अतएव, यन्त्रीकरण के विरो-

धियों के अनुसार भारतीय कृषि में अमेरिका तथा रूस की कृषि की तरह यन्त्रीकरण सम्भव नहीं है।

(३) बड़े पैमाने पर विनियोग (Big Investment) :—कृषि के यन्त्रों को खरीदने के लिए बहुत अधिक पूँजी की आवश्यकता भी पड़ती हैं। उदाहरण के लिए, साधारण ट्रैक्टर की कीमत हमारे देश में २२,००० से २५,००० रुपये तक है। एक औसत भारतीय किसान के लिए इतना अधिक व्यय सम्भव नहीं है। अतएव केवल १० एकड़ या अधिक जोतवाले किसान ही ट्रैक्टर आदि खरीद सकते हैं तथा इससे लागत में मितव्ययिता का लाभ उठा सकते हैं।

(४) उत्पादकता में वृद्धि नहीं (No Increase in Productivity):—कुछ अर्थशास्त्रियों के अनुसार मशीनों से उत्पादकता में भी वृद्धि नहीं होती। इन लोगों के अनुसार कृषि के यन्त्रीकरण से केवल प्रति-श्रमिक उत्पादन में वृद्धि होती, प्रति एकड़ उत्पादन में कोई वृद्धि नहीं होती। इस प्रकार मशीनों की श्रेष्ठता केवल परिमाणात्मक है, गुणात्मक नहीं।

(५) अतिरिक्त पशुओं की व्यवस्था में कठिनाई :—कृषि के यन्त्रीकरण से बहुत अधिक संख्या में पशु बेकार हो जायँगे। इनके अतिरिक्त पशुओं की व्यवस्था में भी कठिनाई होगी। वास्तव में, एक-ब-एक इनकी संख्या को घटाना सम्भव नहीं है।

(६) अशिक्षा एवं अज्ञानता ((Illiteracy and Ignorance) :—भारतीय कृषकों की अशिक्षा तथा अज्ञानता भी यंत्रीकरण के क्षेत्र में बहुत बड़ी बाधा उपस्थित करती है। भारतीय कृषक अज्ञानता के कारण यंत्रों की क्रियाशीलता के सम्बन्ध में सुगमतापूर्वक जानकारी नहीं प्राप्त कर पाते।

(७) ईंधन-तेल, डिजल आदि की कमी (Shortage of Fuel oils)—भारत में अभी भी पेट्रोल तथा डिजेल आदि का अभाव है। ऐसी परिस्थिति में यदि ट्रैक्टर तथा अन्य यंत्रों का प्रयोग बढ़ाया जाय तो पेट्रोल तथा डिजल की मांग बढ़ जायगी और इनका बड़े पैमाने पर आयात करना पड़ेगा। साथ ही पेट्रोल तथा डिजल के अत्यधिक महंगा होने के कारण भी साधारण किसानों के लिए इन्हें खरीदना बहुत कठिन हो जाता है।

(८) मरम्मत की असुविधा (Lack of Repairing Facilities)— भारत में आज भी कृषि के अधिकांश यंत्रों का विदेशों से आयात करना पड़ता है। इनकी कीमत बहुत अधिक होती है। साथ ही, इनके लिए अतिरिक्त पूँजी को प्राप्त करने में भी बहुत अधिक कठिनाई होती है। मरम्मत की सुविधा अपर्याप्त होने के कारण, थोड़ी बहुत खराबी में पूरा यंत्र ही बेकार हो जाता है। इन कठिनाइयों से अधिकांश यंत्रों का पूरा-पूरा उपयोग नहीं हो पाता है। उदाहरण के लिए। १९५८ के जर्मन शिष्ट मंडल के अनुसार जर्मनी के ३०,००० में से अधिकांश ट्रैक्टर अतिरिक्त पुर्जों के अभाव में बेकार पड़े हुए थे।

इस प्रकार भारत में यंत्रीकरण के विरुद्ध बहुत सारी आपत्तियाँ उठायी जाती हैं। इन आपत्तियों को मोटे तौर पर दो वर्गों में विभाजित किया जा सकता है—

(क) तकनीकी कठिनाइयाँ—जैसे छोटी-छोटी तथा बिखरी हुई जोतें।

(ख) आर्थिक कठिनाइयाँ—जैसे किसानों की निर्धनता तथा पूँजी की कमी इत्यादि।

यंत्रीकरण-सम्बन्धी विवाद का मूल्यांकन—इस प्रकार भारत में कृषि के यंत्रीकरण के विरुद्ध बहुत सारे तर्क प्रस्तुत किये जाते हैं। किन्तु इनमें से अधिकांश तर्क तथ्यहीन जान पड़ते हैं। उदाहरण के लिए, छोटी तथा बिखरी हुई जोतें यंत्रीकरण के क्षेत्र में कोई बहुत बड़ी बाधा नहीं

उपस्थित कर सकतीं क्योंकि भविष्य में सरकार की कृषि-नीति का आधार सहकारी संयुक्त कृषि (co-operative Joint farming) की है जिसके अंतर्गत जोतों का आकार स्वयं बड़ा हो जायगा। साथ ही, भिन्न-भिन्न राज्यों में जोतों की चकबन्दी के लिए भी प्रयास किये जा रहे है जिससे बिखरी हुई जोतें एक चक में स्वतः हो जायँगी। साथ ही, छोटी-छोटी जोतों के लिए भी जापान की तरह विशेष प्रकार के औजारों का निर्माण किया जा सकता है।

इसी प्रकार यह तर्क कि कृषि के यत्रीकरण से बेरोजगारी को प्रश्रय मिलता है भी बिल्कुल तथ्यहीन है। इसमें कोई संदेह नहीं कि अल्पकाल में कृषि के यंत्रीकरण से बेरोजगारी बढ़ेगी, किन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि इसका समाधान नहीं हो सकता। कृषि के यंत्रीकरण से देश में यंत्रों के निर्माण सम्बन्धी उद्योगों का विकास होगा। इनमें बहुत अधिक व्यक्तियों को रोजगार प्राप्त होगा। इतना ही नहीं, यंत्रीकरण से अधिक कोयले, लोहे, इस्पात तथा परिवहन आदि की मांग भी बढ़ जायगी जिससे रोजगार के बहुत अधिक अवसर प्राप्त होंगे। और सबसे बड़ी बात तो यह है कि यंत्रीकरण पूर्ण नहीं होने के कारण बेरोजगारी में बहुत भारी वृद्धि की आशा नहीं की जा सकती।

इसी प्रकार यह आपत्ति कि यंत्रीकरण के लिए विदेशों से अधिक मात्रा में मशीनों तथा पेट्रोल आदि का आयात करना पड़ेगा भी सत्य नहीं है। सत्य तो यह है कि इन यंत्रों के निर्माण के लिए देश में भी उद्योग-धंधों का विकास किया जा रहा है। साथ ही, यंत्रीकरण से कृषि-पदार्थों की उपज बढ़ेगी जिसके इनके आयात की कोई आवश्यकता नहीं रह जायगी और इस प्रकार जो विदेशी मुद्रा की बचत होगी उसका प्रयोग इन मशीनों के आयात में किया जा सकता है। इसी प्रकार देश में पेट्रोल के उत्पादन में भी क्रमशः वृद्धि हो रही है जिससे इस सम्बन्ध में भी विशेष कठिनाई की आशा नहीं है।

इसी तरह यह कहना कि कृषि के क्षेत्र में यंत्रों के प्रयोग से प्रति एकड़ उत्पादन में वृद्धि नहीं होती भी बिल्कुल तथ्यहीन है। वास्तव में, रूस, अमेरिका तथा कनाडा आदि देशों में बड़े पैमाने पर मशीनों के प्रयोग से उत्पादन में बहुत अधिक वृद्धि हुई है। अतः भारत में इनके प्रयोग से उत्पादकता में वृद्धि नहीं होगी इसका कोई कारण नहीं जान पड़ता।

निष्कर्ष—इस प्रकार यंत्रीकरण के पक्ष तथा विपक्ष के तर्कों के विवेचन से यह स्पष्ट है कि यंत्रीकरण एक अच्छी नीति है क्योंकि इससे कृषि की उत्पादकता में वृद्धि होती है। साथ ही, भारी-भारी कार्यों के संपादन में भी सुगमता होती है, बेकार तथा बंजर भूमि को कृषि-योग्य बनाया जा सकता है तथा वर्ष में एक से अधिक फसलों की खेती की जा सकती है। अतः भारत में कृषि का बढ़ता हुआ यंत्रीकरण अयुक्तिसंगत नहीं है। वास्तव में, मशीनरी के प्रयोग का उद्देश्य हमारे देश में श्रम का प्रतिस्थान नहीं, वरन् उसकी सहायता करना होना चाहिए किन्तु भारत में यंत्रीकरण नीति एक ही बार बहुत बड़े पैमाने पर नहीं अपनायी जा सकती वरन् इसे काफी समय में फैलाकर अपनाना चाहिए। इस बीच अतिरिक्त श्रमिकों को गैर-कृषि पेशों (non-agricultural occupations) में प्रयुक्त करना चाहिए।

कृषि के यंत्रीकरण के आर्थिक परिणाम
(Economic Consequences of Mechanisation of Agriculture)

उपरोक्त विवरण से स्पष्ट है कि भारत में कृषि के यंत्रीकरण के लिए आज भी व्यापक क्षेत्र उपलब्ध हैं। कृषि के तकनीक तथा संगठन पर इसका महत्त्वपूर्ण प्रभाव पड़ेगा और इस प्रकार सम्पूर्ण देश की अर्थ-व्यवस्था इससे प्रभावित होगी। संक्षेप में, भारत में यंत्रीकरण के निम्नांकित आर्थिक परिणाम की आशा की जा सकती है—

(i) लागत संरचना में अन्तर (Changes in the cost structure)- यंत्रों के प्रयोग से कृषि कार्य की लागत-संरचना में परिवर्तन होता है। ऐसा अनुमान लगाया गया है कि १५ अश्वशक्ति के एक ट्रैक्टर से एक एकड़ भूमि जोतने का खर्च दो रुपये आता है जबकि हल एवं बैलों की सहायता से इसका व्यय ४ से ५ रुपये पड़ता है। इसी प्रकार लुधियाना विश्वविद्यालय के एक अध्ययन के अनुसार बैलों की जगह मशीनों के प्रयोग से बीज डालने के खर्च में ३१ प्रतिशत तथा बुआई में ४९ प्रतिशत की कमी होती है। इसी प्रकार Power thrasher से व्यय में ५७ प्रतिशत की कमीहोती है।

(ii) कृषि-आय में वृद्धि (Rise in farm Income) – यांत्रिक शक्ति तथा श्रम बचाने के उपायों के प्रयोग से कृषि के साधनों का समुचित उपयोग संभव होता है। इससे किसानों की आय बढ़ती है। उदाहरण के लिए, लुधियाना विश्वविद्यालय के उपरोक्त अध्ययन के अनुसार ट्रैक्टर के प्रयोग से कृषि की आय में १०३·४ प्रतिशत की वृद्धि हुई है।

(iii) मूल्य-स्थिरीकरण (Price stability)– कृषि के यंत्रीकरण से उपज में वृद्धि होगी तथा उपज बढ़ने से मूल्य के स्थिरीकरण में सहायता प्राप्त होगी।

(iv) ग्रामीण बेरोजगारी में वृद्धि (Increase in Rural unemployment)—यंत्रीकरण से ग्रामीण क्षेत्र में बेरोजगारी में वृद्धि होगी। इस सम्बन्ध में तारलोक सिंह का यह अनुमान है कि यंत्रीकरण से ग्रामीण जनसंख्या का २८ प्रतिशत भाग बेकार हो जायगा। इनके अतिरिक्त अर्द्ध-बेरोजगारों की संख्या में भी वृद्धि होगी। किन्तु गैर-कृषि क्षेत्र के विस्तार के द्वारा ही ग्रामीण बेरोजगारों को रोजी प्रदान की जा सकती है।

(v) आर्थिक संरचना में परिवर्तन (Change In economic structure)— यंत्रीकरण से कृषि का स्वरूप ही बदल जायगा—जीवन-निर्वाह की जगह कृषि का कार्य व्यावसायिक आधार पर (A shift form subsitence farming to commercial faming) किया जाने लगेगा। इसके दो परिणाम होंगे—सर्वप्रथम तो कृषि का स्वरूप घरेलू से बदलकर पूँजीवादी हो सकता है, तथा द्वितीयतः कृषि-पदार्थों के विक्रय के लिए विदेशों में नये-नये बाजारों की खोज करनी पड़ेगी। साथ ही, कृषि के क्षेत्र में कार्यकुशलता में वृद्धि कर कृषि तथा उद्योग इन दोनों क्षेत्रों में संतुलन स्थापित करने में सहायता होगी।

(iv) सामाजिक संरचाना में परिवर्त्तन (Changes in the Social structure)—यंत्रीकरण से सामाजिक संरचना में भी महत्त्वपूर्ण परिवर्त्तन की आशा की जा सकती है। यंत्रीकरण से भारी-भारी कार्यों के संपादन में सुविधा होगी तथा श्रमिकों का कार्य सुविधाजनक हो जायगा। साथ ही, उन्हें अधिक अवकाश भी मिलेगा। इससे किसानों की स्थिति में सुधार होगा। साथ ही, इससे भारत में पेशों की संरचना में परिवर्तन होगा तथा ग्रामीण क्षेत्रों में व्यापार, यातायात तथा विद्युतीकरण आदि क्षेत्रों में महत्त्वपूर्ण परिवर्तन होंगे।

इस प्रकार सारांश के तौर पर यह कहा जा सकता है कि यंत्रीकरण से सामान्य तथा विशिष्ट दोनों प्रकार के लाभों को देखते हुए यह कहा जा सकता है कि भारत में कृषि के यंत्रीकरण का कार्य एक शृंखलाबद्ध तरीके से होना चाहिए। इसके लिए निम्नांकित बातों पर ध्यान देने की आवश्यकता होगी—

(१) जरूरत मन्द किसानों को रियायती दर पर यंत्रों के क्रय के लिए साख की सुविधा प्रदान की जानी चाहिए।

(२) निर्धन किसानों को भाड़े पर यंत्र देने की व्यवस्था की जानी चाहिए,

(३) देश भर में ट्रैक्टर तथा अन्य यंत्रों की मरम्मत की सुविधा के लिए कारखानों की व्यवस्था होनी चाहिए।

(४) किसानों के बीच ट्रैक्टर तथा अन्य यंत्रों के प्रचार के लिए समय-समय पर प्रदर्शनियों का आयोजन किया जाना चाहिए।

चतुर्थ खण्ड

"Ere yet the pyramids looked down upon the valley of Nile, when Greece and Italy those of European civilization nursed only tenants of wilderness, India was the seat of wealth and grandeur". —*Edward Thornton*.

भारतीय उद्योग एवं औद्योगिक समस्याएँ
(Indian Industries and Industrial Problems)

अध्याय : २३

भारतीय उद्योगों का सामान्य सर्वेक्षण

(A General Survey of Indian Industries)

अतीत काल में भारतीय उद्योग (Indian Industries in the Past) :—अतीत काल में भारत अपने उद्योग-धन्धों के लिए विख्यात था। इतिहास इसका साक्षी है। औद्योगिक आयोग ने अपने वृत्तान्त में यह बतलाया है कि "उस समय जबकि आधुनिक सभ्यता का जन्म-स्थान, पश्चिमी यूरोप, जंगली कबीलों का निवास-स्थान था, भारत अपने शासकों की सम्पत्ति तथा कारीगरों के कला-कौशल के लिए प्रसिद्ध था।" (At a time when the west of Europe, the birthplace of the modern industrial system, was inhabited by uncivilised tribes, India was famous for the wealth of her rulers and for the artistic skill of her craftsmen.) बहुत बाद में भी (१७वीं शताब्दी में) जब पश्चिमी देशों से व्यापारी यहाँ आये, भारत का औद्योगिक विकास उन्नतिशील यूरोपीय देशों से किसी प्रकार भी कम नहीं था। बर्नियर (Barnier) तथा टेवर्नियर (Tevernier), जो मुगल शासनकाल में भारत आये थे, के वृत्तान्त से यह पता चलता है कि भारत में उस समय सूती एवं रेशमी वस्त्रों के अतिरिक्त सोना, चाँदी तथा लकड़ी आदि के धन्धे पूर्ण रूप से विकसित थे। टेवर्नियर ने अपने वृत्तांत में लिखा है कि "भारतीय निर्मित वस्तुएँ इतनी सुन्दर होती हैं कि वे आपके हाथ में हैं अथवा नहीं इसका पता भी नहीं चल पाता। ये अत्यन्त कोमल सूत से तैयार की जाती थीं तथा एक पौंड रूई में २५० मील लम्बा कपड़ा तक बुना जाता था।" ढाके की विश्वविख्यात मलमल इतनी सुन्दर एवं बारीक थी कि मैनचैस्टर के एक उद्योगपति ने उसे वस्तु की छाया (Shadow of a Commodity) कहा था जो मनुष्यों का नहीं वरन् अप्सराओं अथवा कीड़े-मकोड़ो का कार्य (Work of fairies or insects rather than of men) था।

ईस्ट इण्डिया कम्पनी तथा प्रारम्भिक ब्रिटिश शासनकाल (The East Indian Company and the Early British Rule) :—सन् १६०० ई० में ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने भारत तथा अन्य पूर्वी-एशियाई देशों से व्यापार करने के लिए रानी एलिजाबेथ से सनद प्राप्त की। कम्पनी का उद्देश्य भारत की बनी हुई वस्तुओं को यूरोप एवं इंगलैंड के बाजारों में पहुँचाना था। सतरहवीं शताब्दी के अन्त तक भारत के बने हुए कैलिको, छींट तथा मलमल इंगलैंड के बाजारों में बहुत अधिक लोकप्रिय हो गये थे। कम्पनी को इन वस्तुओं के व्यापार से बहुत अधिक लाभ होता था। किन्तु इससे इंगलैंड के ऊनी तथा रेशमी वस्त्र-उद्योग को बहुत बड़ा धक्का लगा। फलस्वरूप, १७०० ई० तथा १७२० ई० में ब्रिटिश पार्लियामेंट ने दो विधान पारित किये जिनके अनुसार इंगलैंड में भारतीय रंगीन कैलिको तथा छींट का उपयोग पूर्णतः गैर-कानूनी घोषित कर दिया गया। अतः अठारहवीं शताब्दी में रंगीन छींट एवं कैलिको का इंगलैंड में आयात केवल अन्य

यूरोपीय देशों में पुनर्निर्यात के लिए ही किया जाता था। इंगलैंड के बाजार में केवल सादे कैलिको एवं मलमल की माँग थी। किन्तु देश के ऊनी तथा रेशमी वस्त्र-उद्योगों की सुरक्षा के लिए भारतीय सादे कैलिको एवं मलमल पर भी इंगलैंड की सरकार ने भारी आयात-कर लगा दिया था।

इस समय १७६० ई० एवं १८२० ई० के बीच इंगलैंड में महान् आर्थिक परिवर्तन हो रहे थे जिसे औद्योगिक क्रान्ति (Industrial Revolution) की संज्ञा दी जाती है। विज्ञान के क्षेत्र में नित्य नये आविष्कार हो रहे थे—कोयले के द्वारा लोहा गलाने की पद्धति, हरग्रीव्स की स्पिनिंग जेनी, आर्क राइट की स्पिनिंग मशीन तथा जेम्स वॉट द्वारा वाष्प प्रचलित इंजन आदि के आविष्कार ने इंगलैंड के आर्थिक जीवन में एक क्रान्ति-सी ला दी। साथ ही, प्लासी के युद्ध के बाद भारतीय पूँजी बहुत बड़ी मात्रा में इंगलैंड जाने लगी जिसने इन आविष्कारों को मूर्त्त रूप देने में अकथनीय सहयोग प्रदान किया। ब्रुक्स आदम (Brooks Adam) के शब्दों में, "अत्यधिक मात्रा में भारतीय पूँजी के पदार्पण तथा इसके फलस्वरूप साख की अभिवृद्धि के पूर्व इस प्रकार की शक्ति का इंगलैंड में प्रायः अभाव था और यदि जेम्स वॉट ४० वर्ष पूर्व हुआ रहता तो वह तथा उसके आविष्कार निश्चय ही समाप्त हो गये होते।"[1] फलस्वरूप, इंगलैंड में बड़े-बड़े कारखाने स्थापित किये जाने लगे जिनमें उत्पादन का कार्य बहुत बड़े पैमाने पर बड़ी-बड़ी मशीनों द्वारा एवं विस्तृत श्रम-विभाजन के आधार पर किया जाता था। उपनिवेशों से इन कारखानों को प्रचुर मात्रा में कच्चे पदार्थ भी सुगमतापूर्वक उपलब्ध हो जाते थे। साथ ही, उपनिवेश इनके द्वारा निर्मित वस्तुओं के बाजार का भी कार्य करते थे। इन कारखानों को यातायात एवं संचार के अपार साधन भी उपलब्ध थे। फलस्वरूप, कारखानों द्वारा निर्मित वस्तुएँ अपेक्षाकृत सस्ती होती थीं। अतः भारतीय उद्योगों के लिए इनकी प्रतियोगिता करना असम्भव-सा हो गया।

ब्रिटिश सरकार एवं कम्पनी का उद्देश्य भारत को इंगलैंड के कारखानों की आवश्यकता के लिए कच्चे माल के उत्पादक तथा इसकी बनी हुई वस्तुओं के बाजार के रूप में विकसित करना था। कम्पनी की यह नीति संचालक मंडल द्वारा १७ मार्च, १८६७ ई० को गवर्नर को लिखित निम्न पत्र से स्पष्ट हो जाती है—"कम्पनी की यह इच्छा थी कि बंगाल में कच्चे रेशम के उत्पादन को प्रोत्साहित तथा रेशमी वस्त्र के उत्पादन को हतोत्साहित किया जाय। साथ ही, रेशम के सूत कातने वालों को कम्पनी के कारखानों में काम करने के लिए बाध्य करना चाहिए।" इससे भारतीय उद्योगों के प्रति तत्कालीन ब्रिटिश सरकार की नीति स्पष्ट हो जाती है। ब्रिटिश सरकार ने अपनी इस नीति का इतनी दृढ़ता के साथ अनुकरण किया कि उन्नीसवीं शताब्दी तक भारत मुख्य रूप से कच्चे पदार्थों का उत्पादक देश हो गया। श्री आर० सी० दत्त ने इस स्थिति का बयान बड़े ही मार्मिक एवं रोचक ढंग से किया है : "भारत अठारहवीं शताब्दी में एक प्रमुख औद्योगिक एवं खेतिहर देश था। यहाँ के बने हुए, कपड़े एवं अन्य वस्तुओं की माँग यूरोप तथा अन्य देशों के बाजारों में होती थी।"[2] (India in the eighteenth century was a great manufacturing as well as a great agricultural country and the products of the Indian looms were supplied in the markets of Asia and Europe.)[2] किन्तु ईस्ट-इंडिया

1. Brooks Adam—The Law of Civilization and the Decay.—"Before the influx of the Indian treasure and the expansion of credit which followed, no force sufficient for this existed and had Watt lived forty years ago, he and his inventions must have perished together."

2. R. C. Dutta : Economic History of India, P. 6.

कम्पनी एवं ब्रिटिश पार्लियामेंट ने भारत में अंग्रेजी शासन के प्रारम्भिक वर्षों में इंगलैंड के कारखानों को प्रोत्साहित करने के उद्देश्य से भारतीय उद्योगों को हतोत्साहित किया। उनका उद्देश्य यह था कि भारत इंगलैंड के कारखानों के लिए कच्चे माल का उत्पादन करे। इस नीति का अनुसरण बड़ी दृढ़ता के साथ किया गया और इसका परिमाण बड़ा ही घातक सिद्ध हुआ। भारतीय कारीगरों को कारखानों में काम करने के लिए बाध्य किया जाने लगा तथा इस उद्देश्य से कम्पनी के वाणिज्यीक अधिकारियों को जुलाहों के सम्बन्ध में बहुत विस्तृत अधिकार दिये गये। साथ ही, भारतीय सूती एवं रेशमी वस्त्रों पर अधिक आयात-कर लगा दिया गया जिससे कि ये इंगलैंड के बाजारों में प्रवेश नहीं कर सकते थे। इसके विपरीत इंगलैंड की बनी वस्तुओं को भारत के बाजारों में निःशुल्क मँगाया जाता था। फलस्वरूप, भारत धीरे-धीरे कच्चे पदार्थों का उत्पादक एवं निर्मित वस्तुओं का आयातक देश हो गया। अब इंगलैंड की बनी वस्तुएँ बहुत बड़ी मात्रा में भारत तथा अन्य एशियाई देशों में आने लगीं।"

१९वीं शताब्दी में देश की आर्थिक व्यवस्था में परिवर्तन

(Changes in the Economic System of the Country in the Nineteenth Century)

गत शताब्दी में भारत के आर्थिक जीवन में भी महान् परिवर्तन हुए। १८७९ ई० में स्वेज नहर बन जाने के बाद इंगलैंड की बनी हुई वस्तुएँ भारत के बाजारों में छा गयीं। ये वस्तुएँ देशी वस्तुओं की तुलना में अधिक सस्ती होती थीं। अतः, भारतीय कारीगरों के समक्ष अब दो ही रास्ते रह गये—या तो वे अपने उद्योग को नष्ट होने दें या नये-नये वैज्ञानिक यंत्रों को अपनायें। अपने प्राचीन तरीकों द्वारा विदेशी वस्तुओं की प्रतियोगिता का सामना करना भारतीय कारीगरों के लिए प्रायः असम्भव था। नये वैज्ञानिक यन्त्रों को अपनाने के लिए प्राचीन आर्थिक व्यवस्था में आवश्यक परिवर्तन लाना अनिवार्य था, पर ऐसा नहीं हो सका। इसके फलस्वरूप देश में एक विचित्र आर्थिक अव्यवस्था-सी उत्पन्न हो गयी। १९वीं शताब्दी के प्रारम्भ में प्राचीन आर्थिक संगठन धीरे-धीरे समाप्त होने लगे, किन्तु किसी दूसरी व्यवस्था की शुरुआत नहीं हुई। साथ ही, प्राचीन संगठन भी पूर्णरूपेण समाप्त नहीं हुए। देश के ५½ लाख से अधिक गाँव प्रायः ज्यों-के-त्यों रह गये। इससे देश का आर्थिक संतुलन बहुत दिनों के लिए समाप्त हो गया। १९वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में रेलों के विकास ने इस प्रक्रिया को और भी उग्र बना दिया। देश में रेलों का विकास आर्थिक दृष्टिकोण से नहीं, वरन् ब्रिटिश शासकों की सैनिक एवं प्रशासनिक आवश्यकताओं को ध्यान में रखकर हुआ था।

१९वी शताब्दी में भारत के आर्थिक जीवन में जो क्रांतिकारी परिवर्तन हुआ उसे 'वाणिज्यीक क्रांति' (Commercial Revolution) की संज्ञा दी जाती है, औद्योगिक क्रांति नहीं कहा जाता। देश में व्यावसायिक फसलों, जैसे–कपास, जूट, तेलहन एवं चाय आदि का महत्त्व बढ़ने लगा तथा खाद्यान्नों का क्षेत्र धीरे-धीरे कम होने लगा। किसान अब बाजार के लिए फसलों का उत्पादन करता था। कृषि के इस वाणिज्यीकरण (Commercialization of Agriculture) का भारत की हस्तकला पर भी बहुत प्रभाव पड़ा। पहले कारीगर अपनी वस्तुओं का विनियोग किसान की उपजों के साथ प्रत्यक्ष रूप में करता था, किन्तु अब किसान निर्यात के उद्देश्य से उत्पादन करने लगा। इसके फलस्वरूप गाँवों की प्राचीन आर्थिक व्यवस्था प्रायः अस्त-व्यस्त हो गयी।

सन् १८२३ ई० तक भारत मुख्यतया एक निर्यात-प्रधान देश था, किन्तु इसके बाद धीरे-धीरे यह एक आयातक देश हो गया। यह परिवर्तन इतनी द्रुतगति से हुआ कि शीघ्र ही भारत के बाजार में इंगलैंड की बनी हुई वस्तुएँ आच्छादित हो गयीं। मार्क्स के शब्दों में "भारत, जो अनादिकाल से विश्व के सूती वस्त्र-उत्पादन का केन्द्र रहा है, अब इंगलैंड के बने कपड़ों से पूर्णतः आच्छादित हो गया।"[1] कम्पनी तथा ब्रिटिश सरकार ने इंगलैंड के सूती-वस्त्र उद्योग के विकास के लिए भारतीय बुनकरों के प्रति अन्यायपूर्ण अस्त्र का प्रयोग किया। भारतीय सूती-वस्त्र पर इंगलैंड में ७० से ८० प्रतिशत तक आयात कर लगाये गये तथा किसी-किसी हालत में तो इनका आयात ही बिल्कुल बन्द कर दिया गया। इसके विपरीत, इंगलैंड की बनी वस्तुएँ भारत के बाजारों में प्रायः निःशुल्क आती थीं। अतः इंगलैंड ने अपने लिए संरक्षण की नीति को अपनाकर भारत पर मुक्त व्यापार की नीति लाद दी। इतिहासवेत्ता विल्सन का कहना है कि "यदि भारतीय कपड़ो पर इतना अधिक कर न लगाया गया होता और निषेधात्मक आज्ञाएँ न जारी की गयी होतीं तो पैसले (Paisley) और मैनचेस्टर के कारखाने प्रारम्भ में ही बन्द हो गये होते।" परन्तु इनके अस्तित्व को बनाये रखने के लिए भारतीय उद्योगों की आहुति दी गयी। "इस प्रकार ब्रिटिश निर्माताओं ने अपने एक ऐसे प्रतियोगी को समाप्त करने के लिए, जिससे समानता के आधार पर प्रतिस्पर्धा करना इनकी शक्ति से परे था, राजनीतिक अन्याय के अस्त्र का प्रयोग किया।"

भारत की प्राचीन औद्योगिक व्यवस्था के विनाश के कारण

(Causes of the decline of the old Indian Industrial Structure)

अंग्रेजों के भारत आगमन के समय तक भारत उद्योग-धन्धों की दृष्टि से एक अत्यन्त विकसित देश था। किन्तु १८वीं शताब्दी के अन्त में भारतीय उद्योगों के विनाश की प्रक्रिया प्रारम्भ हुई तथा उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य तक देश के प्राचीन उद्योग-धन्धे बिल्कुल समाप्त हो गये। भारत की इस प्राचीन औद्योगिक व्यवस्था के विनाश के बहुत-से कारण थे जिनमें निम्नलिखित विशेष रूप से महत्वपूर्ण हैं :—

(१) प्राचीन राज-दरबारों का अन्त :—ईस्ट इण्डिया कम्पनी भारत में पहले व्यापारिक उद्देश्य से आयी थी। किन्तु धीरे-धीरे इसके उद्देश्य में परिवर्तन होने लगा और कम्पनी एक राजनीतिक सत्ता बन गयी। भारत में अंग्रेजी शासन की स्थापना के फलस्वरूप सभी राजाओं तथा नवाबों का अन्त हो गया। ये प्राचीन राजे तथा नवाब कुटीर उद्योगों की वस्तुओं की मांग के प्रधान साधन थे, अतः इनके समाप्त होने से उद्योग-धन्धों को बहुत गहरा धक्का लगा। ये राजे तथा नवाब अपने दरबार में अच्छे-अच्छे कारीगरों को अच्छी रकम देकर रखते थे जिससे देश की कला को प्रोत्साहन मिलता था। अब देशी राजे एवं नवाबों की समाप्ति से देश के प्राचीन उद्योगों की मांग का एक प्रधान साधन ही समाप्त हो गया।

(२) नये सामन्तवादी वर्ग का उदय एवं पाश्चात्य सभ्यता की नकल:—देश में अंग्रेजी शासन की स्थापना के बाद सभी लोगों की रुचि में भी परिवर्तन होने लगा। शिक्षित तथा धनी वर्ग

---

1. As Marx observes "India the great workshop of cotton manufacture for the world since immemorial times became now inundated with English twists and cotton stuffs" Quoted by Wadia and Merchant—"Our Economic Problem"—P. 46.

यूरोपीय रीति-रिवाज एवं रुचियों का अनुकरण करने लगा। फलतः एक नये सामन्तवादी वर्ग का उदय हुआ। इस वर्ग के लोग भारतीय वस्तुओं को घृणा की दृष्टि से देखने लगे तथा यूरोपीय वस्तुओं को अपनाने में ही अपनी प्रतिष्ठा समझते थे। अतएव इस वर्ग ने यूरोपीय फैशन को अपनाया। ये अंग्रेजों की नकल में ही अपना गौरव समझते थे। (The adoption of European fashion was considered to be the hallmark of enlightenment.) इसका प्रभाव भी देश के उद्योग-धन्धों पर बहुत बुरा पड़ा। इसके फलस्वरूप विदेशी वस्तुओं की मांग बढ़ने लगी। ये वस्तुएँ प्रायः सस्ती होती थीं, अतः इससे देश के कुटीर उद्योग-धन्धों को बहुत गहरा आघात पहुँचा।

(३) **विदेशी वस्तुओं की प्रतियोगिता** :—अठारहवीं तथा उन्नीसवीं शताब्दी में इंगलैंड में औद्योगिक क्रान्ति (Industrial Revolution) हुई जिससे उत्पादन बड़े पैमाने पर यन्त्रों के प्रयोग द्वारा किया जाने लगा। मशीन की बनी हुई वस्तुएँ बहुधा सस्ती होती थीं। किन्तु भारतीय हस्तशिल्प की वस्तुएँ इनकी अपेक्षा महँगी पड़ती थीं। अतः भारतीय उद्योग-धन्धों के लिए उनकी प्रतियोगिता करना बहुत कठिन हो गया। देश में रेलवे तथा यातायात के अन्य साधनों के विकास ने विदेशी सस्ती वस्तुओं को देश के कोने-कोने तक पहुँचा दिया जिससे भारतीय उद्योगों के लिए इनकी प्रतियोगिता करना प्रायः असम्भव हो गया। परिणाम यह हुआ कि जो कुटीर उद्योग इस नयी स्थिति से अपने को समायोजित नहीं कर सके उनका अन्त हो गया तथा कुछ कतिपय उद्योग अपना अस्तित्व किसी प्रकार बनाये रख सके।

(४) **ईस्ट इण्डिया कम्पनी तथा ब्रिटिश पार्लियामेंट की घातक औद्योगिक नीति** :—भारतीय कुटीर उद्योग-धन्धों के ह्रास का एक प्रमुख कारण ईस्ट इण्डिया कम्पनी तथा ब्रिटिश पार्लियामेंट की घातक नीति थी। प्रारम्भ में कम्पनी का प्रधान उद्देश्य भारतीय उद्योगों की बनी हुई वस्तुओं को इंगलैंड तथा यूरोप के बाजारों में बेचने के लिए ले जाना था। अतएव प्रारम्भ में कम्पनी इन उद्योगों को प्रोत्साहन देती थी। किन्तु बाद में ब्रिटेन के स्वार्थी हितों ने कम्पनी को अपनी नीति में परिवर्तन के लिए विवश किया। अब कम्पनी का प्रधान उद्देश्य भारत को इंगलैंड के कारखानों के लिए कच्चे माल का उत्पादक तथा इनकी बनी हुई वस्तुओं के बाजार के रूप में विकसित करना था। कम्पनी ने अपनी इस नीति का बड़ी दृढ़ता के साथ अनुकरण किया जिससे शीघ्र ही सम्पूर्ण देश इंगलैंड की बनी वस्तुओं से आच्छादित हो गया। ब्रिटिश पार्लियामेंट ने भी इस महान् कार्य में अपना योगदान दिया। भारतीय कपड़ों के आयात से इंगलैंड के वस्त्र उद्योग की रक्षा के लिए पार्लियामेंट ने १७०० तथा १७२० ई० में दो विधान पारित किये जिनके अनुसार इंगलैंड में रंगीन भारतीय कैलिको तथा छींट का प्रयोग गैर-कानूनी घोषित कर दिया गया। सादे कैलिको तथा मलमल के आयात पर भी अत्यधिक मात्रा में आयात कर लगा दिये गये। इसके विपरीत ब्रिटेन के बने हुए साधनों का भारत में वगैर आयात कर के या मामूली आयात कर पर ही आयात किया जाता था। इस प्रकार कम्पनी तथा ब्रिटिश पार्लियामेंट की घातक नीति भी बहुत कुछ भारत की प्राचीन औद्योगिक परम्परा के विनाश के लिए उत्तरदायी थी। इस नीति के परिणामस्वरूप भारत ब्रिटेन का एक कृषि-उपनिवेश (a colonial agricultural appendage) बन गया। इस प्रकार भारत, जो पहले प्रधानतः एक निर्यातक देश था, १९वीं शताब्दी के प्रारम्भ से ही एक आयातक देश बन गया। देश की आर्थिक व्यवस्था में इस परिवर्तन ने कृषि एवं उद्योग के बीच के संतुलन को भंग कर दिया। मार्क्स (Marx) का इस सम्बन्ध

में यह कथन बड़ा ही महत्त्वपूर्ण है—"Apart from inundating the very mother country of cotton with cottons, the British imports into India uprooted over the whole surface of Hindustan the union between agricultural and manufacturing industry."

(५) यातायात एवं संवादवाहन के साधनों का विकास :—यातायात के क्षेत्र में क्रान्ति का भी भारतीय उद्योगों पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ा। वाष्प-शक्ति के अनुसंधान से तीव्र गति से चलने वाले यातायात के साधनों का विकास हुआ जिससे सम्पूर्ण विश्व एक छोटे नगर के समान हो गया। इसके साथ-ही-साथ स्वेज नहर के निर्माण के परिणामस्वरूप ब्रिटेन की सस्ती वस्तुएँ भारत में सुगमतापूर्वक तथा थोड़े ही समय में आने लगीं। भारत में लार्ड डलहौजी के समय में रेलों तथा सड़कों की प्रगति तेजी से हुई। रेलों के विकास ने भारतीय उद्योगों के लिए द्विधारी तलवार की तरह कार्य किया। एक ओर तो इन्होंने देश के कोने-कोने में यूरोपीय वस्तुओं के वितरण को सुगम बनाया तो दूसरी ओर देश के कच्चे माल के निर्यात को प्रोत्साहित किया। रेलों की भाड़े की दरें भी इसी प्रकार रखी गयीं थीं जिससे भारत से कच्चा माल भेजने तथा भारत में तैयार माल मँगाने वालों को प्रोत्साहन मिले। इस प्रकार रेल तथा सड़कों के विकास एवं स्वेज नहर के निर्माण ने इंगलैंड के कारखानों की बनी हुई वस्तुओं को देश के कोने-कोने तक पहुँचा कर उद्योगों के विनाश की प्रक्रिया को और भी तीव्र बना दिया।

(६) ईस्ट इण्डिया कम्पनी के कर्मचारियों के अत्याचार :—भारतीय उद्योगों के विनाश का एक प्रधान कारण कम्पनी के कर्मचारियों की अत्याचारपूर्ण नीति भी थी। कम्पनी के कर्मचारी तथा गोमास्ता अपनी शक्ति का दुरुपयोग कर कारीगरों पर तरह-तरह के अत्याचार करते थे। ये कारीगरों को बहुत कम मूल्य देकर कम्पनी के लिए काम करने को बाध्य करते थे। जो कारीगर कम्पनी के लिए काम करने को तैयार नहीं होते थे, कम्पनी के गोमास्ता उनके दाहिने हाथ का अंगूठा काट लेते थे। कम्पनी के कर्मचारियों के इस अत्याचार से तंग आकर बहुत-से कारीगर अपना पेशा छोड़ने लगे।

इनके अतिरिक्त भारत के प्राचीन उद्योगों के पतन के और भी कई कारण थे। भारतीय उद्योगों का पतन इतनी शीघ्रतापूर्वक हुआ कि भारतीय कारीगर अपने को नई परिस्थितियों से समायोजित नहीं कर सके, फलतः उन्हें विवश होकर अपना पेशा छोड़ना पड़ा और इस प्रकार भारत की प्राचीन औद्योगिक परम्परा ही नष्ट हो गयी।

भारत में आधुनिक उद्योगों का विकास

(Development of Modern Industries in India)

१९वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में आधुनिक तरीके के नये-नये उद्योग-धन्धों की स्थापना प्रारम्भ हुई। १८५० ई० से १८५५ ई० के बीच भारत में प्रथम सूती-वस्त्र एवं जूट के कारखाने स्थापित किये गये। इसी समय कोयला उद्योग एवं रेलों का निर्माण भी प्रारम्भ हुआ तथा सर्वप्रथम १८५३ ई० में बम्बई से लेकर थाना तक २० मील लम्बी पहली रेल लाइन का निर्माण हुआ। १८६५ ई० तक देश में १३ सूती-वस्त्र की मिलें तथा ३ हजार मील लम्बी रेल लाइनें थीं। भारत में औद्योगीकरण की प्रक्रिया सूती-वस्त्र एवं जूट उद्योग के विकास से ही प्रारम्भ हुई। १८७७ ई० तक सूती-वस्त्र के कारखानों की संख्या बढ़कर ५१ हो गयी जिनमें १२·५

लाख तकुए तथा १० हजार करघे थे। इसी प्रकार १८७७ ई० तक जूट के कारखानों की संख्या १८ हो गई। कोयले का वार्षिक उत्पादन प्रायः १० लाख टन हो गया एवं ८ हजार मील लम्बी रेल लाइनों का निर्माण हुआ। इस तरह प्रथम महायुद्ध तक देश के जूट, कपास तथा कोयला उद्योगों में उत्तरोत्तर वृद्धि होती गयी।

इस प्रकार बीसवीं सदी के आरम्भ तक भारत में आधुनिक उद्योग-धन्धों का विकास प्रारम्भ हो गया था। १६०८ ई० में बिहार के सिंहभूम जिले के साकची नामक स्थान में 'टाटा लोहे और इस्पात के कारखाने' की स्थापना हुई जिसमें १६१३ ई० में सर्वप्रथम इस्पात का उत्पादन हुआ। चाय तथा कहवा के बगानों की संख्या भी दिन-प्रतिदिन बढ़ती ही जा रही थी। १६०५ ई० के स्वदेशी आन्दोलन ने देश के औद्योगिक विकास को बहुत अधिक प्रोत्साहन प्रदान किया। स्वदेशी आन्दोलन ने भारतीय जनता के हृदय में एक नयी जागृति उत्पन्न कर दी जिससे देशी वस्तुओं के प्रयोग पर अधिक जोर दिया जाने लगा।

१६वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध से आधुनिक उद्योगों के विकास में बहुत-से तत्त्वों ने योगदान दिया जिनमें निम्नलिखित प्रधान थे—(क) ईस्ट इण्डिया कम्पनी के शासन का अन्त, (ख) रेलवे, सड़क एवं संवादवाहन के अन्य साधनों का विकास, (ग) नगरों का विकास, (घ) मशीन एवं यन्त्रादि के आयात की छूट, (ङ) मध्यम वर्ग का उदय, (च) राजनीतिक चेतना का विकास, (छ) भारतीय हस्त-शिल्प का ह्रास, (ज) अमेरिकी गृह-युद्ध, (झ) जापान की तीव्र औद्योगिक प्रगति एवं, (ट) देश में एक खास वर्ग के व्यक्तियों का अभ्युदय इत्यादि।

परन्तु इन सबके बावजूद, १६०० ई० तक भारत पूर्णरूप से खाद्यान्न एवं कच्चे पदार्थों का निर्यातक तथा निर्मित वस्तुओं का आयातक देश रहा। यहाँ से चावल, गेहूँ, कपास, तिलहन तथा चाय आदि का विदेशों में निर्यात किया जाता था और ब्रिटेन की बनी हुई वस्तुओं का मुख्य रूप से आयात किया जाता था। इस प्रकार भारत ब्रिटेन के कृषि-उपनिवेश (Agricultural Colony) की तरह हो गया था। साथ ही, चाय, कहवा, जूट एवं रेलवे के निर्माण में ब्रिटिश पूँजी का अधिकाधिक प्रयोग किया गया था। भारत सरकार की ओर से अब भी देश में औद्योगिक विकास को किसी भी प्रकार का प्रोत्साहन नहीं मिलता था। १६०५ ई० में लार्ड कर्जन ने एक व्यवसाय विभाग (Imperial Department of Commerce) की स्थापना की। कुछ प्रान्तीय सरकारें भी इस दिशा में अग्रसर हो रही थीं। किन्तु, १६१० ई० में भारत सचिव लार्ड मार्ले की घोषणा ने इन सबका उत्साह ठंढा कर दिया। लार्ड मार्ले राज्य निर्वाधता सिद्धान्त के पूर्ण समर्थक थे, अतः उद्योग-धन्धों को किसी प्रकार के सरकारी प्रोत्साहन के पक्ष में नहीं थे।

प्रथम महायुद्ध एवं बाद की औद्योगिक प्रगति

(Development of Industries during the First World War and After).

प्रथम महायुद्ध (१६१४-१८) ने भारत को औद्योगिक विकास का एक सुनहला अवसर प्रदान किया। युद्ध-काल में शत्रु-राष्ट्रों से तो आयात बन्द ही हो गया, साथ ही, मित्र-राष्ट्रों के भी युद्ध में लीन होने के फलस्वरूप इनका आयात बहुत कम हो गया। मित्र-राष्ट्रों की सैनिक आवश्यकताओं में भी बहुत अधिक वृद्धि हुई। फलस्वरूप, देशी वस्तुओं की मांग में आशातीत वृद्धि हुई। युद्ध-काल में जूट एवं सूती-वस्त्र उद्योगों को बहुत ही लाभ हुआ, किन्तु इसे विकास एवं पुनरावृत्ति के लिए नहीं रखकर इन उद्योगों ने सम्पूर्ण लाभ हिस्सेदारों के बीच विभाजित कर दिया।

देश में इस्पात का उत्पादन भी युद्ध-काल में बहुत बढ़ गया। युद्ध की विभीषिकाओं ने लोगों की आँखें खोल दीं और सभी इस बात का अनुभव करने लगे कि जीवन की परमावश्यक वस्तुओं के लिए वाह्य साधनों पर निर्भर रहना खतरे से खाली नहीं था। साथ ही, सैनिक महत्त्व के कारण भी देश के औद्योगिक विकास की आवश्यकता प्रबल जान पड़ने लगी। सभी प्रांतों में युद्धकाल में उद्योग विभाग की स्थापना की गयी एवं भारतीय पूँजीपतियों को युद्ध सामग्रियों के उत्पादन में पूँजी लगाने के लिए प्रोत्साहित किया जाने लगा। सन् १९१७ ई० में भारत सरकार ने एक भारतीय युद्ध सामग्री परिषद् (Indian Munitions Board) की स्थापना की। इसका उद्देश्य युद्धजनित आवश्यकताओं को ध्यान में रखते हुए द्रुतगति से देश के औद्योगिक विकास को प्रोत्साहित करना था। परिषद् ने आवश्यकतानुसार विदेशी यन्त्रों, प्राविधिक शिक्षा एवं अन्य प्रकार की व्यवस्था कर देश के औद्योगिक विकास में महत्त्वपूर्ण सहयोग प्रदान किया। युद्ध समाप्त होने पर इस परिषद् को व्यवसाय विभाग में मिला दिया गया।

औद्योगिक आयोग (Industrial Commission) :—भारत के औद्योगिक सर्वेक्षण के लिए १९१६ ई० में भारत सरकार ने एक औद्योगिक आयोग की नियुक्ति की। आयोग का उद्देश्य इस बात की जाँच करना था कि भारतीय पूँजी का किस प्रकार उद्योग एवं वाणिज्य में लाभपूर्ण तरीके से प्रयोग किया जा सकता है तथा इस कार्य में सरकार कितना सहयोग प्रदान कर सकती है। आयोग ने १९१८ ई० में अपना प्रतिवेदन प्रस्तुत किया जिसमें इस बात पर जोर दिया गया कि देश में आत्म-निर्भरता की स्थिति उत्पन्न करने के लिये उद्योग-धन्धों के विकास में सरकार का सक्रिय सहयोग प्रदान करना अनिवार्य है। इसके लिये सरकार के पास समुचित प्रशासकीय यन्त्र एवं वैज्ञानिक तथा प्राविधिक विषयों पर परामर्श देने के लिये विशेषज्ञों की आवश्यकता पर जोर दिया गया। आयोग की सिफारिशों के परिणामस्वरूप प्रान्तों में प्रांतीय उद्योग-परिषदों (Provincial Board of Industries) की स्थापना की गयी।

युद्ध समाप्त होने के कुछ समय बाद तक देश में विशेष रूप से औद्योगिक क्रियाशीलता दिखायी पड़ी। युद्धकाल में भारतीय उद्योगों ने बहुत अधिक मुनाफा कमाया था। प्रमुख सूती-वस्त्र के कारखानों ने तो १२० प्रतिशत तक मुनाफे का वितरण किया था। इस अत्यधिक लाभ से प्रभावित हो युद्धोत्तर काल में कम्पनियों का निर्माण बड़ी तीव्रता में प्रारम्भ हुआ। १९१८-१९ ई० में देश में कुल २७१३ रजिस्टर्ड कम्पनियाँ थीं जिनकी परिदत्त पूँजी १०६ करोड़ रुपये थी। १९२१-२२ ई० में कम्पनियों की संख्या बढ़कर ४७८१ तथा इनकी परिदत्त पूँजी २२३ करोड़ रुपये हो गयी।[2] युद्ध के बाद देश में ब्रिटिश पूँजी भी बहुत अधिक आने लगी। १९०९-१० ई० तक कुल १४७ लाख पौण्ड ब्रिटिश पूँजी भारत में आयी थी जिसका परिमाण बढ़कर १९२१ ई० में २९० लाख पौंड तथा १९२२ ई० में ३६० लाख पौंड हो गया। इस प्रकार युद्ध के बाद औद्योगिक क्षेत्र में सर्वत्र एक प्रकार का आशावाद वर्तमान था जिससे देश की औद्योगिक क्रियाशीलता अत्यधिक बढ़ गयी थी।

परन्तु, यह औद्योगिक अभिवृद्धि बहुत ही अल्पकालीन थी तथा १९२० ई० से व्यावसायिक मंदी की दीर्घकालीन अवधि प्रारम्भ हुई जिसके फलस्वरूप भारतीय उद्योगों को बहुत-सी कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। इस व्यावसायिक मन्दी के कारण थे—युद्धकाल की बचत प्रायः समाप्त

1. Gadgil—Industrial Evolution of India.

हो गयी थी। १९२०-२१ ई० में रुपये की विनिमय दर में कमी आने से आयात करने वालों को बहुत क्षति हुई। मजदूर संघों की स्थापना के फलस्वरूप मजदूर अपने अधिकारों से पूर्ण परिचित हो गये थे जिससे मजदूरी तथा अन्य सुविधाओं में इच्छानुसार वृद्धि नहीं होने के कारण हड़तालों की संख्या बढ़ गयी थी। व्यावसायिक मन्दी का सबसे प्रमुख कारण कृषि-पदार्थों के मूल्य में ह्रास था जिसके फलस्वरूप किसानों की क्रय-शक्ति बहुत कम हो गयी थी। १९२० ई० में रुपये के विनिमय मूल्य की वृद्धि ने व्यावसायिक मन्दी की अवधि को और भी बढ़ा दिया था। भारतीय उद्योग अभी आर्थिक मन्दी का सामना कर ही रहे थे कि इसी बीच १९२९ ई० की भयानक विश्व-व्यापी आर्थिक मंदी (Great Economic Depression) ने इनकी कठिनाइयों को और भी बढ़ा दिया। साथ ही, विदेशी प्रतियोगिता अधिक घनीभूत होने के कारण भारतीय उद्योगों की कठिनाइयाँ और भी उग्र हो गयीं। मन्दी काल में भारतीय निर्यात में बहुत कमी हुई। १९२९-३२ ई० के बीच भारतीय निर्यात का मूल्य ३३९ करोड़ से घटकर १३५ करोड़ रुपये हो गया। इसी बीच 'होम चार्जेज' तथा सूद के रूप में २४ करोड़ पौंड का सोना भारत से इंगलैंड चला गया जिसने भारत की निर्धनता को और भी उग्र बना दिया।

महान् आर्थिक मन्दी के बाद पुनः १९३६ ई० में उद्योगों की स्थिति में कुछ सुधार हुआ तथा कोयले के अतिरिक्त अन्य सभी उद्योगों के उत्पादन में वृद्धि होने लगी। १९२९-३० ई० की तुलना में चीनी का उत्पादन १९३६-३७ ई० में तिगुना हो गया। इसी प्रकार की वृद्धि कपड़ा, जूट, लोहा एवं इस्पात तथा कागज उद्योगों में भी हुई। इस उत्पादन में वृद्धि का प्रमुख कारण चीनी, कपड़ा, लोहा आदि उद्योगों को संरक्षण तथा सस्ते यन्त्रों के आयात से मिला हुआ प्रोत्साहन था। साथ ही, कांग्रेस के नेतृत्व में आयोजित स्वदेशी आन्दोलन से भी इन उद्योगों को बहुत बल मिला।

परन्तु १९३७-३८ ई० के उत्तरार्द्ध में अचानक व्यावसायिक मन्दी की प्रवृत्ति पुनः दिखायी पड़ने लगी। १९३३ ई० के बाद कृषि-पदार्थों के मूल्यों में वृद्धि होने लगी थी जिससे उद्योगों की वस्तुओं की माँग भी बढ़ने लगी थी। फलस्वरूप औद्योगिक उत्पादन में भी पर्याप्त वृद्धि हुई। किन्तु पुनः अक्टूबर, १९३७ ई० से मूल्य में कमी प्रारम्भ हो गयी। प्राथमिक वस्तुओं तथा शेयर के मूल्य शीघ्रतापूर्वक घटने लगे। इस प्रकार द्वितीय महायुद्ध के पूर्व देश के उद्योगों में सर्वत्र एक प्रकार की निराशा व्याप्त थी। परन्तु स्थिति अभी उतनी चिन्ताजनक नहीं हो पायी थी कि इसी बीच १९३९ ई० में द्वितीय महायुद्ध छिड़ जाने से पुनः व्यावसायिक अभिवृद्धि की दीर्घ-कालीन अवधि प्रारम्भ हो गयी।

विवेचनात्मक संरक्षण की नीति (Policy of Discriminating Protection) :— प्रथम महायुद्ध काल में भारतीय उद्योगों को जो प्रोत्साहन मिला था, वह निश्चय ही अस्थायी था। अतएव युद्ध के उपरान्त वह धीरे-धीरे समाप्त होने लगा। अतः संरक्षण के अभाव में पुनः भारतीय उद्योगों को विदेशी प्रतियोगिता का धक्का लगा। इन परिस्थितियों में सरकारी प्रशुल्क नीति में परिवर्तन की माँग देश भर में जोर पकड़ने लगी, किन्तु जन-साधारण की प्रबल इच्छा के बावजूद औद्योगिक आयोग के विचाराधीन विषयों में प्रशुल्क नीति को नहीं रखा गया था। परन्तु जब मांटेग्यू-चेम्सफोर्ड रिपोर्ट में इस बात पर जोर दिया गया कि भारतीयों को अपनी प्रशुल्क नीति-निर्धारण की पूरी स्वतन्त्रता होनी चाहिए तब देश के संरक्षणवादियों को इससे पर्याप्त बल

मिला। फलस्वरूप, संरक्षण की मांग जोर पकड़ने लगी, अतः १९२१ ई० में एक फिस्कल आयोग (Fiscal Commission) की नियुक्ति हुई जिसने बहुमत से भारत के लिए विवेचनात्मक संरक्षण (Discriminating Protection) के सम्बन्ध में सिफारिश की। १९२३ ई० में भारत सरकार ने विवेचनात्मक संरक्षण को नीति को स्वीकार कर लिया तथा इसके कार्यान्वयन का भार एक प्रशुल्क मंडल (Tariff Board) को सौंपा गया। इस नीति के अन्तर्गत विभिन्न उद्योगों, जैसे—लोहा एवं इस्पात उद्योग, कागज, सूती-वस्त्र एवं दियासलाई उद्योग आदि को संरक्षण प्रदान किया गया।

इस प्रकार उद्योग-धन्धों के प्रति सरकारी उदासीनता की नीति धीरे-धीरे समाप्त हो रही थी तथा सरकार ने अब राज्य-निर्बाधता के सिद्धान्त का परित्याग कर उद्योग-धन्धों के विकास के लिए सक्रिय सहयोग प्रदान करना प्रारम्भ कर दिया था। १९३९ ई० में द्वितीय महायुद्ध प्रारम्भ होने के साथ सरकारी सहयोग की नीति का महत्त्व और भी बढ़ गया। परन्तु इस काल की एक प्रमुख विशेषता साम्राज्य-अधिमान (Imperial Preference) की नीति का अनुसरण है जो १९३२ ई० के ओटावा समझौते के अनुसार देश की इच्छाओं के विरुद्ध भी भारत पर लाद दी गयी थी। इस नीति के अनुसार भारत को इंगलैंड तथा साम्राज्य के अन्य देशों की वस्तुओं को दूसरे देशों की अपेक्षा रियायत देने के लिए बाध्य होना पड़ा। इससे भारतीय उद्योगों को बहुत हानि हुई।

किन्तु आर्थिक मन्दी तथा अन्य कठिनाइयों के बावजूद दोनों महायुद्धों के बीच वाले समय में देश के उद्योग-धन्धों की प्रगति संतोषजनक रही। बहुत-से उद्योगों के उत्पादन में वृद्धि भी हुई जो निम्नांकित तालिका से स्पष्ट है :—

उद्योग	१९२२-२३	१९३८-३९
सीमेंट (टन में)	१,९३,६००	११,७७,०००
कोयला (लाख टन में)	१९०	२८३
सूती वस्त्र (लाख गज में)	१७,१३५	४२,६९३
कागज (टन में)	२३,५७६	६९,१९८
इस्पात की पिंडें (टन में)	१,३१,६००	९,७७,०००
चीनी (टन में)	८४,०००	१०,४०,०००
जूट के सामान (लाख गज में)	११,८७५	१७,७४०

किन्तु इस समय तक भारत के औद्योगिक विकास की सबसे बड़ी विशेषता देश में आधारभूत उद्योगों का अभाव था। द्वितीय महायुद्ध के पूर्व तक देश में केवल उपभोक्ता वस्तुओं के उत्पादन पर ही जोर दिया जाता था। मशीनों तथा पूँजीगत वस्तुओं के लिए उस समय तक भी हमें पूर्णरूप से विदेशों पर ही आश्रित रहना पड़ता था।

द्वितीय युद्ध-काल में भारत का औद्योगिक विकास

(Industrial Development during the Second World War)

१९३९ ई० में द्वितीय महायुद्ध प्रारम्भ हो जाने से भारत को औद्योगिक विकास का एक अच्छा अवसर मिला। सरकार द्वारा भी इस समय में औद्योगिक विकास के बहुत सारे प्रयास किये जाने लगे। १९४९ ई० में सरकार ने एक वैज्ञानिक एवं औद्योगिक अनुसंधान-परिषद् (Scientific and Industrial Research Board) की स्थापना की। कुशल श्रमिकों एवं विशेषज्ञों

के अभाव को दूर करने के लिए सरकार द्वारा इनके प्रशिक्षण की व्यवस्था की गयी। युद्धकाल में भारत को पूर्वी एशियाई तथा सुदुर-पूर्व के युद्ध-स्थलों में सामान भेजने के लिए केन्द्र समझा जाने लगा। इससे भारत का सैनिक महत्त्व स्पष्ट हो जाता है। युद्ध के प्रथम दो वर्षों में मित्र-राष्ट्रों से १६० करोड़ रुपयें के सामान की मांग हुई। सरकार द्वारा भी युद्ध के प्रथम दो वर्षों में क्रमशः ५६ तथा ७६ करोड़ रुपये के सामान का आर्डर दिया गया।

इस प्रकार द्वितीय युद्धकाल में भारतीय उद्योग-धन्धों को विकास का अच्छा अवसर मिला। कच्चे लोहे एवं इस्पात के उत्पादन में भी पर्याप्त वृद्धि हुई। युद्ध की सामग्रियों एवं छोटे-छोटे अस्त्रों के कारखानों के विस्तार के लिए १६४१ ई० में ४ करोड़ रुपये के व्यय से एक कार्यक्रम कार्यान्वित किया गया। मशीन-टूल, लाठे, फरनन्सेज तथा ड्रिलिग मशीन के उत्पादन के लिए ५४ कम्पनियों को लाइसेंस दिया गया। १६४१ ई० से देश में भारी रासायनिक उद्योग का विकास भी प्रारम्भ हुआ जिससे देश में सल्फ्यूरिक एसिड, सिनथेटिक अमोनिया, कास्टिक सोडा तथा ब्लिचिंग पाउडर आदि का निर्माण प्रारम्भ हुआ। १६४१ ई० में हिन्दुस्तान एयरक्राफ्ट कम्पनी, बंगलौर ने आयात किये गये पुर्जे से पहला जहाज तैयार किया। अन्य उद्योगों में भी इसी प्रकार का विस्तार हुआ। अनुमान लगाया जाता है कि युद्ध से सम्बन्धित प्रायः २६ हजार वस्तुओं का देश में उत्पादन होने लगा। युद्धकाल में भारतीय उद्योगों में विकास का आभास निर्यात में हुई आशातीत वृद्धि से लगता है। १६३८-३६ ई० में यहाँ से ४७·६ करोड़ रुपये की निर्मित वस्तुओं का निर्यात किया गया था जो १६४०-४१ ई० में बढ़कर ८१·२ करोड़ रुपये हो गया।

युद्ध काल में सरकार द्वारा अनेक विशेषज्ञ समितियों तथा प्राविधिक मिशनों की नियुक्ति ने भी देश के औद्योगिक विकास को प्रोत्साहित किया। १६४० ई० में नयी दिल्ली में पूर्वी समूह सम्मेलन (Eastern Group Conference) का आयोजन किया गया। इस सम्मेलन का मुख्य उद्देश्य पूर्व में मित्र-राष्ट्रों को यथासम्भव युद्ध की आवश्यकताओं के लिए आत्म-निर्भर बनाना था। भारत में 'पूर्वी-समूह परिषद्' (Eastern Group Conference) की स्थापना हुई। अप्रैल, १६४२ ई० में 'ग्रेडी मिशन' हिन्दुस्तान आया जिसने देश की औद्योगिक सम्भावनाओं को ध्यान में रखते हुए बहुत-से नये-नये उद्योगों की स्थापना का प्रस्ताव रखा। मिशन ने देश के औद्योगिक विकास के लिए विस्तृत कार्यकम तैयार किया। किन्तु, भारतीय उद्योगपति तथा जनता इस मिशन से लाभान्वित नहीं हो सके। इस प्रकार युद्धकाल में भी सरकार द्वारा देश के औद्योगिक विकास की उपेक्षा की गयी। ब्रिटिश सरकार ने उद्योग-धन्धों के विकास में भारत की तुलना में कैनाडा तथा आस्ट्रेलिया को ही प्राथमिकता दी। दो वर्षों में ही आस्ट्रेलिया ने सरकारी सहायता से इस्पात, हवाई जहाज एवं वायरलेस आदि का निर्माण प्रारम्भ कर दिया। युद्धकाल में आवश्यक सामग्रियों के उत्पादन के लिए कैनाडा में ७ सरकारी निगम संगठित किये गये। इस प्रकार युद्धकाल में भी ब्रिटिश सरकार ने भारत के हितों की उपेक्षा की। १६४० ई० में व्यवस्थापिका सभा में श्री सन्तानम ने कहा था कि भारतीय उद्योगपतियों ने सरकार से हवाई जहाज-निर्माण का कारखाना प्रारम्भ करने की सिफारिश की थी, पर सरकार की उदासीनता के फलस्वरूप इसमें बहुत अधिक विलम्ब हुआ। इसी प्रकार भारत में मोटर उद्योग प्रारम्भ करने की मांग की गयी थी, किन्तु सरकार द्वारा इस प्रस्ताव की भी स्वीकृति नहीं मिल पायी।

द्वितीय युद्धकाल में भारतीय उद्योगों की प्रगति का अन्दाजा निम्नलिखित[1] तालिका से लगाया जा सकता है :—

१९३७ = १००

वष	सूता-वस्त्र	जूट	इस्पात	चाना	सामट	कागज	रासायानक	सामान्य
१९३८	१०९·०	९८·३	१०८·०	८८·७	१२४·८	१२१·६	८४·५	१०५·४
१९३९	१०४·३	९२·४	१२५·०	६२·५	१५२·९	१३५·१	१०२·९	१०२·७
१९४०	१०३·३	९६·६	१२५·५	१०६·६	१५२·१	१६९·७	१३२ ३	१०६·९
१९४१	११४·८	९२·४	१३१·१	१०८·२	१८५·८	१८१·४	१५३·२	११७·८
१९४२	१०२·०	९९·०	१३६·७	७८·४	१९४·५	१८०·९	१३८·७	१११·२
१९४३	११७·०	८४·५	१४१·४	९५·३	१८८·४	१७९·२	१३८·६	११७·०
१९४४	१२२·९	८६·७	१३९·६	९७·१	१८२·१	१९२·७	१२६·३	११७·०
१९४५	१२०·०	८४·४	१४२·९	८५·५	१९६·५	१९६·५	१३४·१	१२०·४

युद्धकाल में मजदूरों की संख्या में भी पर्याप्त वृद्धि हुई। कारखानों में प्रतिदिन कार्य करने वाले मजदूरों की औसत संख्या में १९३९ एवं १९४२ ई० के बीच प्राय: ३१ प्रतिशत की वृद्धि हुई। संयुक्त पूँजी की कम्पनियों की परिदत्त पूँजी १९३९-४० ई० में २९० करोड़ रुपये से बढ़कर १९४५-४६ ई० में ५२४ करोड़ रुपये हो गयी।[2] युद्धकाल में वर्तमान उद्योगों ने अपनी सम्पूर्ण उत्पादन क्षमता के अनुसार कार्य किया।

यद्यपि युद्धकाल में नये-नये उद्योगों की स्थापना के लिए समुचित वातावरण नहीं था, फिर भी बहुत-से नये उद्योग, जिनमें फेरो-एलोआज (Ferro-alloys), अल्मुनियम, डिजल ईंजन, पम्प, साईकिल, सोडा एस, कास्टिक सोडा, सुपरफॉस्फेट तथा मशीन टूल्स आदि विशेष रूप मे उल्लेखनीय हैं, प्रारम्भ किये गये। किन्तु देश में कच्चे पदार्थों की प्रचुरता, श्रम के बाहुल्य तथा व्यापक माँग को ध्यान में रखते हुए इस प्रगति को संतोषजनक नहीं कहा जा सकता।

युद्धोत्तर-काल में औद्योगिक विकास

(Industrial Development in the Post-War Period)

१९४५ ई० में द्वितीय महायुद्ध समाप्त हुआ। द्वितीय महायुद्ध के बाद का समय भारतीय उद्योगों के लिए कठिनाइयों का समय था। युद्धकाल में निरन्तर काम करते रहने के फलस्वरूप अधिकांश कारखानों की मशीनें जीर्ण एवं बेकार हो गयी थीं। अत: इनके प्रतिस्थापन की समस्या बड़ी उग्र हो गयी। युद्धकाल में बहुत-से उद्योगों की स्थापना उद्योग-सम्बन्धी स्थायी तथ्यों को ध्यान में रखे बगैर ही की गयी थी। अत: युद्ध के बाद इनकी कठिनाइयाँ और भी बढ़ गयीं। युद्ध के दौरान में मुद्रा की पूर्ति बढ़ जाने से मुद्रा-स्फीति का दबाव निरन्तर बढ़ता जा रहा था। इन सब कारणों के अतिरिक्त युद्धोत्तर-काल में राजनीतिक एवं साम्प्रदायिक उत्क्रांति, नियन्त्रण एव काले बाजार की बुराइयाँ, विदेशों से आवश्यक सामान मिलने की कठिनाई तथा विदेशी प्रतियोगिता आदि के कारण भी भारतीय उद्योगों को कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। बहुत-से उद्योगों के क्षेत्र में युद्ध समाप्त होने के पूर्व ही उत्पादन घटने की प्रवृत्ति दिखायी पड़ने लगी। युद्धोत्तर-काल में तो इनके

1. Fiscal Commission Report. 1949-50.
2. Wadia and Merchant : Our Economic Problems, P. 431.

उत्पादन में बहुत अधिक ह्रास हुआ। युद्धोत्तर-काल में संभावित मन्दी को रोकने के लिए युद्धोत्तर-कालीन विकास की अनेक योजनाएँ तैयार की गयीं। किन्तु, वास्तव में मन्दी की सम्भावना के मिथ्या सिद्ध होने से मुद्रा-स्फीति को और भी बल मिल गया। युद्धकाल में उद्योगों के लाभ से भारतीय उद्योगपतियों ने विदेशी कम्पनियों से उनके उद्योगों को बहुत अधिक मूल्य देकर खरीदना प्रारम्भ किया। इसके फलस्वरूप, मुद्रा-स्फीति का दबाव निरन्तर बढ़ने लगा। इसी बीच १९४७ ई० में लियाकत अली बजट ने भारतीय उद्योगों की कठिनाइयों को और भी उग्र बना दिया।

युद्ध समाप्त होने के कुछ ही समय बाद भारतीय उद्योगों को मंदी का सामना करना पड़ा। इसके कई कारण थे—कच्चे पदार्थों के मूल्य में अप्रत्याशित वृद्धि हुई, विदेशों से आवश्यक यन्त्रों के मिलने में भी कठिनाइयाँ होने लगीं तथा हड़तालों के फलस्वरूप औद्योगिक सम्बन्ध दिन-प्रतिदिन खराब होने लगा। १९४७ ई० के देश-विभाजन तथा साम्प्रदायिक उथल-पुथल से भी उद्योगों की स्थिति चिन्ताजनक हो गयी। देश में राष्ट्रीय सरकार की स्थापना से स्थिति में कोई आशाजनक सुधार नहीं हो सका। लोग निजी उद्योगों के भविष्य के सम्बन्ध में आशंकित हो गये। राष्ट्रीय सरकार की स्थापना से औद्योगिक क्षेत्र में एक अजीब अनिश्चितता व्याप्त हो गयी। राष्ट्रीयकरण की आशंका, नये-नये कर, नियन्त्रण की अनिश्चित नीति एवं विदेशी विनिमय की कठिनाइयाँ आदि के फलस्वरूप उद्योग-धन्धों को विशेष कठिनाइयाँ उठानी पड़ीं। देश-विभाजन ने कुछ उद्योगों के समक्ष, जिनमें जूट एवं सूती वस्त्र-उद्योग प्रमुख थे, कच्चे पदार्थों के अभाव की एक नयी समस्या उत्पन्न कर दी। १९४७ ई० में भारतीय मुद्रा के अवमलयन से निर्यात को प्रोत्साहन अवश्य मिला, किन्तु आयात और भी महँगे हो गये। पाकिस्तान ने अपनी मुद्रा का अवमूल्यन नहीं किया था जिससे जूट एवं सूती वस्त्र-उद्योग की कठिनाइयाँ और भी बढ़ गयीं।

फिर भी, १९४६-५१ ई० के बीच उद्योगों का विकास पूर्ववत् जारी रहा। इस काल में अनेक नये-नये कारखानों की स्थापना हुई। १९४६ से १९५१ ई० के बीच प्राय पाँच वर्षों में नये कारखानों पर देश में कुल २६० करोड़ रुपये का विनियोग किया गया। इसके अतिरिक्त वर्तमान कारखानों के यन्त्रों के प्रतिस्थापन आदि के लिए १२५ करोड़ रुपये के यन्त्रों का विदेशों से आयात किया गया। इन पाँच वर्षों में इंजीनियरिंग तथा रसायन के क्षेत्र में भी नये-नये उद्योगों का विकास हुआ। इनमें मोटर उद्योग का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। इस उद्योग में कुल १० करोड़ रुपये विनियोग किये गये तथा पाँच फर्मों की स्थापना की गयी। पाँच करोड़ रुपये के विनियोग से सूती-वस्त्रों के लिए यन्त्र तैयार करने के एक उद्योग की स्थापना हुई। रेडियो उद्योग का विकास भी उत्साहजनक रहा। १९४७ ई० में देश में रेडियो तैयार करने के केवल दो कारखाने थे। इनकी संख्या बढ़कर १९५० ई० में ११ हो गयी जो ४५००० सेट प्रति वर्ष तैयार करते थे। बिजली के पंखों के उत्पादन में भी देश पूर्णतः आत्म-निर्भर बन गया। इसके अतिरिक्त स्टेनलेस स्टील, ब्लेड, घड़ी, बाल-बियरिंग, पिस्टन रिंग आदि के निर्माण में भी बहुत प्रगति हुई। रासायनिक उद्योगों के क्षेत्र में सोडा एस, कास्टिक सोडा आदि का उत्पादन प्रारम्भ किया गया।

देश-विभाजन और भारतीय उद्योग

(The Partition and Indian Industries)

१५ अगस्त, १९४७ ई० को भारत स्वतन्त्र हुआ। किन्तु स्वतन्त्रता-प्राप्ति के साथ-साथ देश हिन्दुस्तान एवं पाकिस्तान दो राष्ट्रों में विभाजित हो गया। देश-विभाजन का भारतीय उद्योगों पर महत्त्वपूर्ण प्रभाव पड़ा। इनमें से कुछ प्रमुख प्रभाव निम्नलिखित थे :—

(१) देश-विभाजन के परिणामस्वरूप अविभाजित भारत के कुल औद्योगिक संस्थानों ९१ प्रतिशत और औद्योगिक श्रमिकों के ९३ प्रतिशत भाग भारत में रहे जबकि उसे अविभाजित भारत के कुल क्षेत्रफल का केवल ७७·२ प्रतिशत भाग और कुल जनसंख्या का ८०·८ प्रतिशत भाग ही प्राप्त हुआ था। इस प्रकार विभाजन के परिणामस्वरूप भारत पाकिस्तान की अपेक्षा अधिक उद्योगीकृत राष्ट्र हो गया। लोहा और इस्पात, कागज तथा जूट जैसे कुछ महत्त्वपूर्ण उद्योगों का तो पाकिस्तानी क्षेत्र में बिल्कुल अस्तित्व ही नहीं रहा।

(२) अविभाजित भारत के अधिकांश खनिज-पदार्थ भी भारत में ही पड़ गये। कोयला, लोहा, मैंगनीज, अबरख आदि अधिकांशतः भारत में पड़ गये जबकि जिप्सम एवं सेंधा नमक जैसे कुछ खनिज पाकिस्तान में पड़ गये। किन्तु, पाकिस्तान के क्षेत्र के खनिज-पदार्थों के उत्पादन का कुल मूल्य (total value) अविभाजित भारत के खनिज-पदार्थों के कुल मूल्य का केवल ३ प्रतिशत भाग ही था। इसी प्रकार बिजली की प्रस्थापित क्षमता (installed capacity) के दृष्टिकोण से भी भारत की स्थिति पाकिस्तान की अपेक्षा अधिक अच्छी थी।

(३) प्रबन्धक एवं साहसी (Managerial and entrepreneurial) वर्गों के दृष्टिकोण से भी भारत को लाभ हुआ। विभाजन के परिणामस्वरूप भारत से जो मुसलमान पाकिस्तान में गये वे अधिकांशतः ग्रामीण शिल्पकार एवं श्रमिक थे, जबकि पाकिस्तान से भारत आनेवाले हिन्दुओं में अधिकांशतः प्रबन्धक एवं साहसी वर्ग के ही लोग थे।

(४) किन्तु विभाजन के परिणामस्वरूप जूट एवं कपास उत्पन्न करने वाले क्षेत्र का एक बहुत बड़ा भाग पाकिस्तान में चला गया जिससे देश में इन उद्योगों के लिए कच्चे पदार्थों का अभाव होने लगा। अविभाजित भारत के कुल जूट उत्पादन का प्रायः ८१ प्रतिशत भाग पाकिस्तान को तथा केवल १९ प्रतिशत भाग हिन्दुस्तान को मिला जबकि जूट के प्रायः सभी कारखाने भारत में ही रह गये। इसी प्रकार कपास के कुल उत्पादन का प्रायः ४० प्रतिशत भाग पाकिस्तान को तथा केवल ६० प्रतिशत भाग हिन्दुस्तान को मिला जबकि अविभाजित भारत की कुल ३९४ सूती-वस्त्र की मिलों में से ३८२ मिलें हिदुस्तान में ही रह गयीं। साथ ही, लम्बी रेशेवाली कपास के अधिकांश उत्पादन-क्षेत्र पाकिस्तान में चले गए। इस प्रकार विभाजन के कारण भारत के इन दोनों प्रमुख उद्योगों को कठिनाइयों का समाना करना पड़ा।

(५) विभाजन के कारण भारत को अपने उद्योगों का एक बहुत बड़ा बाजार भी हाथ से निकल गया।

इस प्रकार विभाजन ने देश के औद्योगीकरण को विभिन्न प्रकार से प्रभावित किया। इनके अतिरिक्त विभाजन का प्रभाव यातायात एवं बन्दरगाह सम्बन्धी सुविधाओं पर भी पड़ा। साथ ही, देश-विभाजन के परिणामस्वरूप बड़े पैमाने पर साम्प्रदायिक दंगे प्रारम्भ हुए जिनसे बहुत समय तक देश में एक प्रकार की अनिश्चितता का वातावरण बना रहा जिससे पूँजी-निर्माण के कार्य में कुछ बाधा उत्पन्न हुई।

१९४८ ई० औद्योगिक नीति[1] :—स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद ६ अप्रैल, १९४८ ई० को भारत सरकार ने अपनी औद्योगिक नीति की घोषणा की जिसमें इस बात पर जोर दिया गया कि देश के औद्योगीकरण में सरकार के सक्रिय सहयोग की आवश्यकता है। उक्त नीति के अनुसार उद्योग

१. औद्योगिक नीति का विस्तारपूर्वक विवेचन अगले अध्याय में किया गया है।

धन्धों को चार भागों में विभाजित किया गया । पहले वर्ग के अन्तर्गत अस्त्र-शास्त्र का निर्माण, अणु-शक्ति का विकास तथा रेलवे उद्योग थे जिनपर राज्य का पूर्ण स्वामित्व रहेगा । दूसरी श्रेणी में लोहा एवं इस्पात, कोयला, वायुयान एवं जलयानों का निर्माण आदि थे जिनके भावी विकास के लिए राज्य पूर्ण रूप से जिम्मेवार होगा । किन्तु, सरकार इन उद्योगों के विकास में आवश्यकतानुसार निजी उद्योगपतियों से भी सहयोग की मांग कर सकती है । तीसरे एवं चौथे वर्ग के अन्तर्गत सभी उद्योगों को रखा गया जिन्हें निजी क्षेत्र के लिए छोड़ दिया गया । यद्यपि इन वर्गों में भी राज्य का अधिकार है कि वह जनहित की दृष्टि से किसी भी उद्योग का स्वामित्व अपने हाथ में ले सकता है या यदि किसी उद्योग की प्रगति असन्तोषजनक रही हो उसका नियन्त्रण कर सकता है । इस प्रकार १९४८ ई० की औद्योगिक नीति का मुख्य उद्देश्य देश में एक मिश्रित अर्थव्यवस्था (Mixed Economy) की स्थापना था । इस उद्देश्य से उक्त नीति के अनुसार भारतीय उद्योगों को सार्वजनिक तथा निजी दो प्रमुख क्षेत्रों (Public and Private Sectors) में विभाजित कर दिया गया ।

उद्योग (विकास एवं नियमन) अधिनियम [Industries(Development and Regulations) Act] – उपरोक्त औद्योगिक नीति को सुचारु रूप से कार्यान्वित करने के लिए १९५१ ई० में एक उद्योग (विकास एवं नियमन) अधिनियम बनाया गया जिसे ८ मई, १९५२ ई० से लागू किया गया । यह नियम ३७ प्रकार के उद्योगों पर लागू है । इसके अनुसार सभी अनुसूचित उद्योगों में कोई भी नया कारखाना या औद्योगिक संस्थान खोलने के लिए सरकार की अनुमति आवश्यक होती है । यदि कोई उद्योग राज्य के आदेशों एवं नियमों का पालन न करे अथवा किसी उद्योग का उत्पादन अकारण ही कम हो जाय, किस्म खराब हो जाय या मूल्य में वृद्धि हो जाय तो राज्य उचित जाँच-पड़ताल के बाद उसकी व्यवस्था अपने हाथ में ले सकता है । अनुसूचित उद्योगों के विकास एवं नियमन-सम्बन्धी विषयों पर सरकार को परामर्श देने के लिए एक केन्द्रीय सलाहकार परिषद् बनायी गयी जिसमें विभिन्न वर्गों के प्रतिनिधि सदस्य के भी रूप में हैं । साथ ही, विभिन्न उद्योगों के लिए अलग-अलग विकास परिषदों की स्थापना की गयी । ये परिषदें विभिन्न उद्योगों के उत्पादन-सम्बन्धी लक्ष्य के निर्धारण की सिफारिश सरकार से कर सकती हैं ।

प्रथम पंचवर्षीय योजना में औद्योगिक विकास

(Industrial Development in the First Five Year Plan)

सुनियोजित ढंग से देश के आर्थिक विकास के लिए १९५० ई० में भारत सरकार द्वारा प्रधान मन्त्री श्री जवाहरलाल नेहरू की अध्यक्षता में एक योजना आयोग (Planning Commission) की नियुक्ति की गयी । आयोग ने देश के लिए एक पंचवर्षीय योजना तैयार की जो अप्रैल, १९५१ ई० से मार्च, १९५६ ई० तक के लिए थी । प्रथम पंचवर्षीय योजनाकाल में उद्योगधन्धों के विकास पर जोर नहीं दिया गया था । योजना में इस बात पर जोर दिया गया था कि निजी तथा सार्वजनिक दोनों क्षेत्र एक दूसरे के पूरक हैं । वास्तव में, इनके बीच किसी प्रकार की प्रतियोगिता नहीं है । अतः सार्वजनिक क्षेत्र में केवल उन्हीं उयद्योगों का विकास किया जाय जो निजी क्षेत्र के सामर्थ्य के बाहर हों ।[1] योजना में दोनों क्षेत्रों के विकास तथा उत्पादन के सम्बन्ध में पृथक्-पृथक् लक्ष्य निश्चित किये गये थे ।

1. The distinction between the public and private sectors relates more to the mode of operation than the ultimate objective. It is best for the public sector

प्रथम योजना में सरकारी क्षेत्र में संगठित उद्योग-धन्धों के विकास की मद में १३६ करोड़ रुपये व्यय का आयोजन था जो योजना के कुल व्यय का ५·८ प्रतिशत भाग था। निजी क्षेत्र में योजनाकाल में २३३ करोड़ रुपये की पूँजी विनियोग का अनुमान था जिसका प्रायः २६ प्रतिशत भाग धातु शोधन उद्योग में,२० प्रतिशत भाग पेट्रोल साफ करने के कारखानों में तथा १६ प्रतिशत भाग रासायनिक उद्योगों में विनियोग की व्यवस्था थी। इसके अतिरिक्त योजनाकाल में यन्त्रों के प्रतिस्थापन तथा आधुनिकीकरण पर १५० करोड़ रुपये व्यय का आयोजन था।

प्रथम योजनाकाल में सार्वजनिक तथा निजी क्षेत्रों में कुल २९३ करोड़ रुपये उद्योग-धन्धों की मद में विनियोग किया गया जिसमें से गैर-सरकारी क्षेत्र का विनियोग २३३ करोड़ रुपये था।[1] इस प्रकार गैर-सरकारी क्षेत्र का विनियोग आयोजित रकम के बराबर हुआ; किन्तु सरकारी क्षेत्र में आयोजित रकम से बहुत ही कम विनियोग हो सका। द्वितीय पंचवर्षीय योजना के अनुसार प्रथम योजनाकाल में औद्योगिक उत्पादन की प्रगति संतोषजनक रही। प्रथम योजनाकाल में औद्योगिक उत्पादन में ३८ प्रतिशत की वृद्धि हुई जिसमें विभिन्न वर्ग के उद्योगों का हिस्सा इस प्रकार से था :—पूँजीगत मालों (capital goods) के उत्पादन में ७० प्रतिशत, मध्यवर्ती मालों (inter mediate goods), विशेषतः औद्योगिक पदार्थों के उत्पादन में ३४ प्रतिशत, तथा उपभोक्ता वस्तुओं (consumers goods) के उत्पादन में ३४ प्रतिशत की वृद्धि हुई।

द्वितीय पंचवर्षीय योजना में औद्योगिक विकास

(Progress of Industrialisation in the Second Five Year Plan)

प्रथम पंचवर्षीय योजना में कृषि एवं सिंचाई के विकास पर अधिक जोर दिया गया था। किन्तु द्वितीय योजना के अन्तर्गत औद्योगिक विकास को अधिक महत्त्व दिया गया था। द्वितीय योजना काल[2] में संगठित उद्योगों में सार्वजनिक क्षेत्र में कुल ७७० करोड़ रुपये का विनियोग हुआ जबकि इस क्षेत्र में कुल ५६० करोड़ रुपये के विनियोग का आयोजन था। इसी प्रकार निजी क्षेत्र में भी योजनाकाल में कुल ८५० करोड़ रुपये विनियोग हुआ जबकि योजनाकाल में ६८५ करोड़ रुपये विनियोग की व्यवस्था थी। इस प्रकार द्वितीय योजनाकाल में उद्योग-धन्धों के क्षेत्र में विनियोग आयोजित रकम की अपेक्षा प्रायः ३० प्रतिशत अधिक रहा। किन्तु इस अधिक विनियोग का प्रधान कारण मूल्य-तल में वृद्धि के कारण अधिकांश कार्यक्रमों के व्यय में अप्रत्याशित वृद्धि था। द्वितीय योजनाकाल में सार्वजनिक क्षेत्र में भारी एवं आधारभूत उद्योगों के विकास पर ही अधिक जोर दिया गया था। योजनाकाल में सार्वजनिक क्षेत्र में लोहा एवं इस्पात के तीन नये कारखाने स्थापित किये गये जिनकी सम्मिलित उत्पादन क्षमता ३० लाख टन इस्पात की थी। साथ ही, टाटा आयरन एण्ड स्टील कम्पनी तथा इण्डियन आयरन एण्ड स्टील कम्पनी का विस्तार किया गया। योजनाकाल में हिन्दुस्तान जलयान के कारखाने तथा चितरंजन रेलवे ईंजन के कारखाने का भी विस्तार किया गया। सरकारी क्षेत्र में द्वितीय योजनाकाल में केरल में एक डी० डी० टी० का कारखाना स्थापित किया गया। अखबारी कागज की पूर्ति को बढ़ाने के लिए अखबारी कागज तैयार करने वाले एक कारखाने की भी स्थापना की गयी।

---

to develop industries for which private enterprise was unable to put up the resources required and run the risk involved leaving the rest of the field free for private enterprise."

1. Review of the First Five Plan—P. 182.
2. Third Five Year Plan P—455.

द्वितीय योजनाकाल में निजी क्षेत्र में संगठित उद्योगों के विकास पर पर्याप्त जोर दिया गया। इस क्षेत्र में लोहा तथा इस्पात उद्योग को अत्यधिक महत्त्व दिया गया। योजनाकाल में ११५ करोड़ रुपये व्यय से 'टाटा आयरन एण्ड स्टील कम्पनी' तथा 'इंडियन आयरन एण्ड स्टील कम्पनी' का विस्तारीकरण किया गया जिससे इनकी सम्मिलित उत्पादन क्षमता योजना के अन्त तक २३ लाख टन तैयार इस्पात की हो गयी। सीमेंट तथा भारी मशीन उद्योगों, सूती-वस्त्र, चीनी तथा जूट उद्योग के आधुनिकीकरण के क्षेत्र में भी विशेष प्रगति हुई। द्वितीय योजनाकाल में किये गए प्रयत्नों के फलस्वरूप सम्पूर्ण औद्योगिक उत्पादन में ६४ प्रतिशत वृद्धि की व्यवस्था थी।

निम्नलिखित तालिका[1] से द्वितीय योजनाकाल में कुछ प्रमुख उद्योगों के प्रस्तावित लक्ष्य तथा १९६०-६१ ई० में उनके उत्पादन का अन्दाजा लगता है—

उद्योग	इकाई	१९५५-५६ में उत्पादन	द्वितीय योजना के उत्पादन के लक्ष्य	१९६०-६१ ई० में वास्तविक उत्पादन
तैयार इस्पात	(लाख टन में)	१३	४४	२४
नत्रजनक खाद	(हजार टन में)	८०	२९०·९	१११·०
फॉसफोरिक खाद	(,, ,,)	१२	१२०·०	५३·०
अल्मुनियम	(,, ,,)	७·४	२५·४	१८·२
अखबारी कागज	(,, ,,)	४·२	१०·०	५·५
सीमेंट	(लाख टन में)	४२	१३२	८०

इस प्रकार अधिकांश क्षेत्रों में योजना का वास्तविक उत्पादन लक्ष्य से बहुत ही कम था। योजनाकाल में इस्पात का उत्पादन दोनों—सार्वजनिक तथा निजी क्षेत्र में लक्ष्य से बहुत ही कम था। इस प्रकार खाद, अल्मुनियम, अखबारी कागज तथा सीमेंट के क्षेत्र में भी उत्पादन लक्ष्य से बहुत ही कम रहा। किन्तु, कुछ क्षेत्रों में योजना का लक्ष्य पूरा हो गया तथा कुछ क्षेत्रों जैसे चीनी, इलेक्ट्रीक मोटर, पंखे, रेडियो आदि के क्षेत्र में उत्पादन लक्ष्य से भी अधिक हुआ।

प्रथम एवं द्वितीय पंचवर्षीय योजनाओं के दस वर्षों में औद्योगिक उत्पादन का सूचनांक १९५०-५१ ई० में १०० से बढ़कर १९६०-६१ ई० में १९४ हो गया।[2]

१९५६ ई० की औद्योगिक नीति (Industrial Policy of 1956)[3] :— दिसम्बर, १९५४ ई० में भारतीय संसद् ने समाजवादी ढाँचे की सामाजिक व्यवस्था (Socialist Pattern of Society) को देश की आर्थिक एवं सामाजिक नीति के उद्देश्य के रूप में अपनाया। अतः इससे औद्योगिक नीति में भी परिवर्त्तन की आवश्यकता जान पड़ी। फलस्वरूप, ३० अप्रैल, १९५६ ई० को भारत सरकार ने अपनी नयी औद्योगिक नीति की घोषणा की। इस नीति के अनुसार देश

1. Third Five Year Plan. p. 455.
2. Third Five Year Plan, p. 454.
3. १९५६ ई० की औद्योगिक नीति की सविस्तार व्याख्या आगे एक अध्याय में की गयी है।

के औद्योगिक विकास में राज्य का दायित्व बहुत बढ़ जाता है। इस नीति के अन्तर्गत उद्योगों को नये सिरे से तीन वर्गों में विभाजित किया गया। प्रथम वर्ग में पुनः वे उद्योग हैं जिनके विकास का पूरा दायित्व भारत सरकार पर है, किन्तु नयी नीति में इस वर्ग के अन्तर्गत कुल १७ उद्योगों को रखा गया है। इस प्रकार नयी औद्योगिक नीति के अनुसार देश के औद्योगिक विकास में सरकार का दायित्व बहुत अधिक बढ़ गया है। दूसरे वर्ग में १२ ऐसे उद्योग हैं जिनका कार्य-भार धीरे-धीरे सरकार पर पड़ेगा तथा जिनमें नयी इकाइयों की स्थापना सरकारी क्षेत्र के अन्तर्गत ही होगी। परन्तु इनके विकास में निजी क्षेत्र भी सहयोग प्रदान कर सकता है। तीसरे वर्ग में शेष सभी उद्योग आते हैं जो पूर्णतः निजी क्षेत्र में रहेंगे। द्वितीय एवं तृतीय योजनाओं में औद्योगिक विकास का कार्यक्रम इसी नीति के आधार पर तैयार किया गया था।

स्पष्ट है कि नयी औद्योगिक नीति के अनुसार सार्वजनिक क्षेत्र का महत्त्व बहुत बढ़ गया है। वास्तव में, यह आवश्यक भी जान पड़ता है। आयोजित अर्थ-व्यवस्था में नियोजक का उत्तर-दायित्व निस्संदेह बहुत बढ जाता है, फलतः, सार्वजनिक क्षेत्र की जिम्मेवारी में वृद्धि भी अति स्वाभाविक है। साथ ही, समाजवादी ढाँचे की सामाजिक व्यवस्था का निर्माण अनियंत्रित निजी क्षेत्र अथवा व्यक्तिगत उद्योगों के द्वारा सम्भव नहीं। अतः सार्वजनिक क्षेत्र को अधिक महत्त्व देना अनिवार्य हो जाता है।

तृतीय पचवर्षीय योजना में औद्योगिक विकास की प्रगति

(Progress of Industrial Development in the Third Five Year Plan)

तृतीय पंचवर्षीय योजना में उद्योग-धन्धों के विकास पर पर्याप्त जोर दिया गया था। योजना काल में संगठित उद्योग एवं खनिज के विकास पर सार्वजनिक क्षेत्र में कुल १८०८ करोड़ रुपये व्यय का आयोजन था, किन्तु, इस मद में वास्तविक व्यय १७२६ करोड़ रुपये हुआ। इसके अतिरिक्त निजी क्षेत्र में उद्योग-धन्धों के विकास पर १०५० करोड़ रुपये विनियोग का अनुमान है। इस प्रकार तृतीय योजनाकाल में उद्योग-धन्धों के विकास पर सार्वजनिक दोनों क्षेत्रों में कुल मिलाकर २७७६ करोड़ रुपये व्यय किया गया। योजनाकाल में भारी उद्योगों के विकास पर पूरा जोर दिया था जिससे देश की आर्थिक व्यवस्था भविष्य में स्वतः प्रचलित हो सके।

योजनाकाल में कुछ प्रमुख उद्योगों के विकास के लक्ष्य तथा १९६५-६६ ई० में इनका उत्पादन निम्नलिखित तालिका से स्पष्ट हो जाता है :—

		वार्षिक उत्पादन			
	उद्योग	१९५०-५१ में उत्पादन	१९६०-६१ में उत्पादन	तृतीय योजना के लक्ष्य	१९६५-६६ में उत्पादन
१	तैयार इस्पात (लाख टन में)	९·८	२४	६९	४५
२	अल्मुनियम (हजार टन में)	३·७	१८·२	८१	६२·१
३	सीमेंट (लाख टन में)	२७	८०	१३२	१०८

४. कागज एवं दफ्ती (हजार टन में)	११४	३५०	७११	५५८
५. सल्फ्युरिक एसिड (हजार टन में)	९९	३६८	१५२४	६६२
६. चीनी (लाख टन में)	११·२	३०·३	३५·५	३५·०
७. सूती-वस्त्र मिल का (करोड़ मीटर में)	३७२·०	४६५	५३०	४४०
८. कोयला (लाख टन में)	३२३	५५७	९७०	६७७
९. खनिज लोहा (लाख टन में)	३२	११०	३००	२८५

इस प्रकार तृतीय योजना में उद्योग-धन्धों के विकास पर पर्याप्त जोर दिया गया था। बाद में १९६२ ई० में चीनी आक्रमण तथा १९६५ ई० में पाकिस्तान के आक्रमण के कारण देश के औद्योगिक उत्पादन में और अधिक जोर देने की आवश्यकता पड़ी। किन्तु, योजना में औद्योगिक विकास की प्रगति बहुत ही धीमी रही। तृतीय योजनाकाल में औद्योगिक उत्पादन में १९६०-६१ ई० में ८·२ प्रतिशत, १९६२-६३ ई० में ९·६ प्रतिशत, १९६३-६४ ई० में ९·२ प्रतिशत, १९६४-६५ ई० में ८·३ प्रतिशत तथा १९६५-६६ ई० में ४·३ प्रतिशत की वृद्धि हुई जबकि योजना के अनुसार इसमें ११ प्रति वर्ष औसत प्रतिशत वृद्धि का आयोजन था।[1] किन्तु आधारभूत उद्योगों के क्षेत्र में वृद्धि अधिक थी। उदाहरण के लिए १९६१-६५ ई० के बीच विद्युत् यंत्र उद्योगों के उत्पादन में ७१ प्रतिशत, गैर-विद्युत् यन्त्रों में ८२ प्रतिशत तथा धातुओं के उत्पादन में ५७ प्रतिशत वृद्धि हुई, जबकि चीनी तथा वस्त्र-उद्योगों में वृद्धि क्रमशः १३ तथा २० प्रतिशत था।

औद्योगिक उत्पादन में इस कमी का प्रधान कारण १९६५ ई में पाकिस्तानी आक्रमण के कारण उत्पन्न अव्यवस्था तथा योजना के अन्तिम वर्ष में भयानक सूखे की स्थिति है। इन दोनों कारणों से बहुत-से उद्योगों को कच्चे पदार्थों के अभाव की कठिनाई का सामना करना पड़ता, अतः औद्योगिक उत्पादन में कमी बिल्कुल स्वाभाविक थी।

इस प्रकार तीनों पंचवर्षीय योजनाओं में औद्योगिक उत्पादन में पर्याप्त वृद्धि हुई। औद्योगिक उत्पादन का सूचनांक, १९५६ ई० में १०० के आधार पर १९५१ ई० में ७४ से बढ़कर १९६० ई० में १३०·२ तथा १९६६ ई० में १९२ हो गया, यानी इसमें द्वितीय एवं तृतीय योजना के १० वर्षों में ९२ प्रतिशत की वृद्धि हुई।[2] वर्ष के आधार पर इसका औसत ११ प्रतिशत होता है।

वार्षिक योजनाओं (१९६६-६९) (Annual plans) में उद्योग तथा खनिज के मद में १९६६-६९ में १५७५ करोड़ रुपये व्यय किया गया। इस अवधि में उद्योग-धन्धों के उत्पादन में बहुत ही कम वृद्धि हुई। १९६६-६७ में औद्योगिक उत्पादन में ०·२ प्रतिशत तथा १९६७-६८ ई० में केवल ०·५ प्रतिशत की वृद्धि हुई। इस अवधि में उद्योग-धन्धों के क्षेत्र में सुस्ती (Recession) आ गयी थी, जिससे बहुत से उद्योगों के उत्पादन में बहुत ही कम वृद्धि हुई। वस्त्र, धात्विक तथा यन्त्र उद्योगों में यह कमी सर्वाधिक थी। किन्तु १९६८-६९ में औद्योगिक उत्पादन में पुनः ६·८ प्रतिशत की वृद्धि हुई।

1. Fourth Five Year Plan 1969-74—A Draft outline.
2. India—1969.

चतुर्थ पंचवर्षीय योजना में उद्योग

(Industries in the Fourth Five Year Plan)

चतुर्थ पंचवर्षीय योजना में उद्योग-धन्धों के विकास पर पर्याप्त जोर दिया गया है। योजना-काल में सार्वजनिक क्षेत्र में संगठित उद्योग तथा खनिज के मद में लगभग ३३३८ रुपये व्यय का आयोजन है। इसके अतिरिक्त निजी तथा सहकारी क्षेत्र मे २००० करोड़ रुपये विनियोग की व्यवस्था है। योजना काल में लोहा एवं इस्पात उद्योग के विकास पर पर्याप्त जोर दिया जा रहा है। योजना काल में निजी तथा सार्वजनिक क्षेत्र दोनों ही १९५६ ई० की औद्योगिक नीति का अनुकरण करेंगे। निम्नांकित तालिका[1] से चतुर्थ योजना में कुछ प्रमुख औद्योगिक पदार्थों के उत्पादन का लक्ष्य स्पष्ट हो जाता है :—

उद्योग	१९६०-६१ ई० में उत्पादन	१९६५-६६ ई० में उत्पादन	१९६८-६९ ई० में उत्पादन	१९७३-७४ ई० में उत्पादन का लक्ष्य
१. तैयार इस्पात (लाख टन)	२४	४५	४७	८१
२. अल्मुनियम (हजार टन)	१८·३	६२·१	१२५	२२०
३. सल्फ्युरिक एसिड (,, ,,)	३६९	६६२	१०३८	२५००
४. नत्रजनक खाद (,, ,,)	१०४	२३२	५४१	५५००
५. कागज तथा दफ्ती (,, ,,)	३५०	५५८	६४७	८५०
६. सीमेंट (लाख टन)	८०	१०८	१२२	१८०
७. चीनी (,, ,,)	३०·३	३५·०	३५·६	४७
८. कच्चा लोहा (,, ,,)	११०	२४५	२८१	५१४
९. कोयला (,, ,,)	५५७	६७७	६९५	९३५
१०. सूती-वस्त्र मिल का (करोड़ मीटर में)	४६५	४४०	४५९·७	५१०

इस प्रकार चतुर्थ योजनाकाल में पाँच वर्षों में औद्योगिक उत्पादन में ९ प्रतिशत वार्षिक वृद्धि का आयोजन है। योजनाकाल में इस्पात की पिंडों के उत्पादन में ८०·५ प्रतिशत, अल्मुनियम के उत्पादन में ७० प्रतिशत, सल्फ्युरिक एसिड के उत्पादन में २८० प्रतिशत, सूती-वस्त्र के उत्पादन में २० प्रतिशत, खनिज लोहा के उत्पादन में १०५ प्रतिशत तथा कोयले के उत्पादन में २४ प्रतिशत वृद्धि का आजोयन है। किन्तु चतुर्थ योजना की अर्द्ध-सामयिक समीक्षा (Mid term Appraisal of the Fourth Plan) के अनुसार १९६९-७० में औद्योगिक उत्पादन में वास्तविक वृद्धि ६·९ प्रतिशत तथा १९७०-७१ में ३·६ प्रतिशत ही हुई।

नयी औद्योगिक लाइसेन्स नोति (New Industrial Licensing Policy) :—भारत सरकार ने १९७० ई० में अपनी नयी औद्योगिक लाइसेंस नीति की घोषणा की। इस नीति के अनुसार १ करोड़ रुपये तक के उद्योगों के लिए किसी प्रकार की अनुमति आवश्यक नहीं है, नये उद्योगपतियों के लिए १० लाख रुपये पर कुल पूँजी के १० प्रतिशत तक की विदेशी विनिमय सम्बन्धी आवश्यकता की पूर्ति की जायगी। १ से पाँच करोड़ के भीतर वाले मध्यम वर्ग में नये

1. Fourth Five Year Plan (1969-74)

उद्योगों के प्रवेश की छूट तथा इस क्षेत्र में बड़े-बड़े औद्योगिक-गृहों एवं विदेशी कम्पनियों के प्रवेश पर प्रतिबन्ध आदि नयी विशेषताएँ हैं।

इस नीति के अन्तर्गत सरकार ने उपभोक्ताओं के हितों को सर्वोपरि माना है। जब कभी भी निर्माता मूल्य में वृद्धि अथवा अपनी उपजों के किस्म को घटिया बनाकर उपभोक्ताओं के हितों को प्रभावित करने का प्रयास करेंगे। सार्वजनिक क्षेत्र उस उपभक्ता उद्योग में प्रवेश करेगा। साथ ही, जहाँ पर उत्पादन तथा माँग में बहुत बड़ा अंतर होगा वहाँ पर भी सरकारी क्षेत्र प्रवेश करेगा।

विशेष अध्ययन-सूची

1. Gadgil, D. R. : Industrial Evolution of India.
2. Mehta, M. M. : Structure of the Indian Industries.
3. Planning Commission : Programmes of Industrial Development (1956-61).
4. ,, ,, : Programmes of Industrial Development (1961-66)
5. Planning Commission : First, Second, Third and Fourth Five Year Plans.

———

अध्याय : २४

भारत का औद्योगिक पिछड़ापन

(Industrial Backwardness of India)

. भारत औद्योगिक दृष्टि से एक पिछड़ा राष्ट्र :—हमारे देश में आधुनिक उद्योगों का प्रारम्भ आज से लगभग एक शताब्दी से कुछ वर्ष पहले हुआ था। किन्तु हम उद्योग-धन्धों के क्षेत्र में विश्व के अन्य विकसित देशों की तुलना में बहुत ही पिछड़े हैं। हमारा यह पिछड़ापन औद्योगिक साधनों की प्रचुरता के बावजूद है। भारत में उद्योग-धन्धों के विकास के लिए आवश्यक प्राय: सभी खनिज-पदार्थों तथा कच्चे मालों की प्रचुरता है। विश्व के कतिपय प्रमुख देशों की तुलना में भारत में मुख्य औद्योगिक साधनों की प्रति-व्यक्ति उपलब्धि का अन्दाजा निम्नांकित तालिका से लगता है :—

प्रति व्यक्ति उपलब्ध औद्योगिक साधन सम्भावित

देश	कोयले का भण्डार (टन में)	कच्चे लोहे का भण्डार (टन में)	जल-शक्ति (किलोवाट में)
संयुक्त-राज्य अमेरिका	१०,२४५	४१·०	०·६५
ब्रिटेन	३,३९६	७३·४	०·०२
भारत	१७५	५४·२	०·०६
जापान	२३३	०·७	०·२५
बर्मा	१३	०·१	१·०१
इंडोनिशिया	३०	०·१	०·०३
पाकितांन	२	०·७	०·१२

[illegible]

का अभाव अवश्य है, किन्तु अधिकांश देशों की अपेक्षा यहाँ पर इनकी प्रचुरता है। अतएव स्पष्ट है कि औद्योगिक साधनों की प्रचुरता के बावजूद भारत औद्योगिक दृष्टि से एक पिछड़ा राष्ट्र है। विश्व के प्रमुख देशों की तुलना में भारत में सभी प्रमुख औद्योगिक पदार्थों का उत्पादन बहुत ही कम है। यह हमारे देश के लिए निश्चय ही चिन्ता की बात है।

पृष्ठ ३९३ की तालिका से विश्व के कुछ प्रमुख देशों में महत्त्वपूर्ण औद्योगिक पदार्थों के उत्पादन का अन्दाजा लगता है :—

1. "United Nations Economic Development and Planning Industrialisation"—Economic Bulletin in Asia and the Far-East. Dec, 1958, p. 40, Table—13.

१९६८ में कुल उत्पादन [1]

देश	जनसंख्या (करोड़ में)	इस्पात की ढोके (लाख टन में)	अलमुनियम (लाख टन में)	कोयला (लाख टन में)	सीमेंट (लाख टन मे)
सं० रा० अमेरिका	१९·९	१२७०	३२·६९	५३००	७१०
सोवियत संघ	२३·६	११३०	१०·६४	४५६०	९३०
ब्रिटेन	५·५	२७०	·४३	१९३०	२००
पश्चिमी जर्मनी	५·७	४१०	२·७९	१२४०	३५०
जापान	१०·०	६९०	१४·२१	५२०	४७०
चीन	७९·७	१२०	१·००	४६३०	१२०
भारत	५११·१	६५	·९६	७५०	१२०

भारत के औद्योगिक पिछड़ेपन के कारण (Causes of the Industrial Backwardness of India) :—इस प्रकार भारत औद्योगिक दृष्टि से एक पिछड़ा राष्ट्र है। भारत के इस औद्योगिक पिछड़ेपन के निम्नलिखित प्रधान कारण हैं :—

(१) औद्योगिक पूँजी का अभाव (Lack of Industrial Capital) :— आधुनिक युग में औद्योगिक विकास के लिए बहुत बड़े पैमाने पर पूँजी की आवश्यकता पड़ती है। किन्तु भारत में प्रारम्भ से ही पूँजी का अभाव रहा है। साथ ही, भारतीय पूँजी लज्जाशील (Shy) भी रही है। देश में प्रति-व्यक्ति आय अत्यन्त कम होने से यहां पर बचाने की शक्ति बहुत कम है। जिन लोगों के पास पूँजी है भी वे इसे उद्योगों में नहीं लगाकर अन्य लाभपूर्ण कार्यों में लगाना या सचय करना ही अधिक उचित समझते हैं। दरअसल में अधिकांश पूँजी सट्टेबाजी व व्यापार में ही लगायी गयी है अथवा जमीन के नीचे गाड़कर रखी गयी है। अतः, उद्योगों को आवश्यक मात्रा में पूँजी उपलब्ध नही हो पाती।

(२) निपुण एवं दक्ष श्रमिकों का अभाव (Lack of skilled and technical workers) :—भारत में साधारण श्रम का तो बाहुल्य है, लेकिन निपुण एवं दक्ष श्रमिकों की प्रारम्भ से ही कमी रही है। प्रशिक्षण की समुचित सुविधाओं के अभाव में यहां पर्याप्त मात्रा में कुशल श्रमिक नहीं मिल पाते। भारतीय श्रमिकों का गांवों से सम्बन्ध स्थायी तौर पर बना रहता है जिसमें अभी तक देश में कुशल एवं स्थायी श्रमिक वर्ग का प्रादुर्भाव नहीं हो पाया है। इससे भी औद्योगिक विकास में बाधा पहुँचती है।

(३) योग्य व्यवस्थापकों का अभाव (Lack of competent industrial organisers) :—भारत में सदा से ही कुशल प्रबन्धकों की कमी रही है। प्रारम्भ में उद्योग-धंधों की स्थापना में मैनेजिंग एजेन्सी प्रणाली ने महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा की, किन्तु धीरे-धीरे इस के दोषों ने जनता में उद्योग-धन्धों के प्रति एक प्रकार का अविश्वास उत्पन्न कर दिया। अतएव आगे चलकर यह प्रणाली अकुशल एवं निन्दनीय प्रमाणित हुई। अतः इसने देश के औद्योगिक विकास के मार्ग में आगे चलकर बाधाएँ उपस्थित कर दीं।

(४) प्रतिकूल सामाजिक वातावरण (Adverse social atmosphere) :—भारत में औद्योगिक विकास के लिए समुचित सामाजिक वातावरण का भी अभाव पाया जाता है। सदियों के विदेशी शासन ने हमारे समाज को अकर्मण्य बना दिया था। इसने भारतवासियों को भाग्यवादी एवं निराशावादी बना दिया जिससे ये अपनी आर्थिक स्थिति में सुधार के प्रति पूर्णतया उदासीन हो गये। जाति-प्रथा एवं संयुक्त-परिवार प्रणाली ने श्रम की गतिशीलता में बाधाएँ डालीं, संयुक्त परि-

1. Statistical Abstract 1969, U. S. A. 1969 & Commodity Year Book 1969.

वार प्रणाली ने प्रेरणा एवं साहस को समाप्त कर दिया और उद्यमकर्त्ताओं को आगे आने से रोका। इसका पूँजी-संचय पर भी प्रतिकूल प्रभाव पड़ा। उत्तराधिकार के नियम ने पूँजी के विघटन का द्वार खोल दिया। इस प्रकार भारत के पिछड़े हुए सामाजिक वातावरण ने औद्योगिक विकास में भी बाधा उत्पन्न की।

(५) **शक्ति के साधनों के विकास की कमी**—उद्योग-धन्धों को चलाने के लिए शक्ति के साधनों की पर्याप्त मात्रा में आवश्यकता होती है। किन्तु भारत में शक्ति के साधनों का अभी बहुत कम विकास हो पाया है। यहाँ शक्ति के तीन प्रधान साधन हैं--कोयला, जल एवं पेट्रोल। पेट्रोल का यहाँ बहुत अधिक अभाव है। कोयले की भी देश में कमी है। जल-विद्युत् के साधनों का भी पर्याप्त मात्रा में विकास नहीं हो पाया है। इससे औद्योगिक विकास में कठिनाई होती है। भारत के औद्योगिक पिछड़ेपन का यह एक प्रधान कारण है।

(६) **यातायात के साधनों का अभाव** :–औद्योगिक विकास के लिए यातायात एवं संवाद-वाहन के साधनों का विकास भी अनिवार्य है; किन्तु भारत के सभी भागों में यातायात एवं संवाद-वाहन के साधनों का प्रर्याप्त यात्रा में विकास नहीं होने से उद्योग-धन्धों के विकास में रुकावट हुई है। यद्यपि अंग्रेजों ने बहुत पहले देश में रेलों का विकास प्रारम्भ किया था, फिर भी यहाँ रेलों की व्यवस्था इस प्रकार से की गयी थी कि भारतीय उद्योगों की प्रगति में सहयोग प्रदान नहीं करती थीं।

(७) **विदेशी शासन (Alien Government)** :—भारत के औद्योगिक पिछड़ेपन का एक प्रधान कारण सदियों का विदेशी शासन है। भारत में ब्रिटिश सरकार की नीति शुरू से ही कुछ ऐसी रही कि यहाँ के घरेलू उद्योग-धन्धे तो लुप्त हुए ही, साथ-ही-साथ आधुनिक उद्योग-धन्धे भी नहीं पनप सके। प्रारम्भ से ही विदेशी सरकार का उद्देश्य भारत के निर्माणकारी उद्योगों को नष्ट करना, इसे कच्चा माल निर्यात करने वाला एक कृषि-प्रधान उपनिवेश Agricultural colony) बनाना तथा अपनी तैयार वस्तुओं के खरीदने वाला एक स्वतन्त्र बाजार के रूप में विकसित करना था। शायद इसलिए कहा जाता है कि 'आधुनिक इंगलैंड भारत को लूट कर बनाया गया है।' इस प्रकार ब्रिटिश सरकार की दोषपूर्ण नीति सम्भवत: देश के औद्योगिक पिछड़ेपन के महानतम कारणों में से एक है।

(८) **कुछ प्रमुख उद्योगों के लिए कच्चे माल का अभाव**—भारत में कुछ प्रमुख उद्योगों के लिए कच्चे पदार्थों का अभाव भी है। इनमें जूट, कपास आदि विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। कपास में भी लम्बी रेशेवाली कपास का विशेष रूप से अभाव है। यद्यपि पंचवर्षीय योजनाओं के अन्तर्गत इन कच्चे-पदार्थों के अभाव को दूर करने का प्रयास किया जा रहा है, फिर भी इसमें बहुत कम सफलता मिल पायी है।

(९) **आधुनिकीकरण के कार्यक्रमों की धीमी प्रगति**—भारत में नये कारखाने स्थापित करने की समस्या के साथ-साथ कुछ प्रमुख उद्योग; जैसे-सूती वस्त्र उद्योग, जूट उद्योग, चीनी उद्योग आदि के आधुनिकीकरण की भी प्रबल आवश्यकता है। औद्योगीकरण की धीमी प्रगति के कारण इनका उत्पादन बहुत कम होता है। साथ ही, आधुनिकीकरण के लिए बहुत अधिक साधनों का उपयोग भी करना पड़ता है जिससे औद्योगिक विकास के लिए साधन भी कम रह गये हैं।

(१०) **भौगोलिक तत्त्वों का विपक्ष में होना**—भारत के औद्योगिक पिछड़ेपन के लिए यहाँ की भौगोलिक स्थिति भी बहुत हद तक उत्तरदायी है। यहाँ की जलवायु उष्ण है जिससे लोग

अधिक परिश्रमी नहीं होते । यहाँ का समुद्री किनारा भी कटा-छटा नहीं है जिससे यहाँ अच्छे बन्दरगाहों की कमी है । इसी प्रकार देश के विशाल आकार, भाषा, जाति, रहन-सहन आदि की विभिन्नता ने भी औद्योगिक विकास के मार्ग में बाधाएँ उत्पन्न की है ।

औद्योगिक पिछड़ेपन को दूर करने के उपाय
(Remedial Measures)

इस प्रकार भारत के औद्योगिक पिछड़ेपन के युक्त सारे कारण हैं । किन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं है कि देश का औद्योगिक विकास ही नहीं किया जा सकता । द्रुतगति से औद्योगीकरण ही देश के आर्थिक विकास की कुँजी है। वास्तव में, द्रुतगति में औद्योगिक विकास के लिए निम्नलिखित प्रयत्नों को काम में लाने की आवश्यकता है :—

(१) प्राकृतिक साधनों का समुचित उपयोग :—औद्योगिक विकास के लिए प्राकृतिक साधनों का विकास अनिवार्य है । प्रकृति ने भारत को प्राकृतिक साधन प्रदान करने में अति उतारतापूर्वक काम लिया है । यहाँ प्राकृनिक साधनों का विशाल भंडार पड़ा है । इनके समुचित उपयोग के द्वारा हम देश का औद्योगिक विकास कर सकते है । जिस प्रकार पिछले कुछ वर्षों से देश मे शक्ति का विकास हुआ है उसी प्रकार हमारी विशाल खनिज और वन-सम्पत्ति के समुचित विकास द्वारा यथेष्ट मात्रा में देश का औद्योगिक विकास भी किया जा सकता है ।

(२) श्रमिकों की कार्य-क्षमता में वृद्धि :—उद्योग-धन्धों के विकास में श्रमिकों का भी महत्त्वपूर्ण योगदान रहता है । अतएव श्रमिकों के रहन-सहन में सुधार के साथ-साथ इनकी उत्पादकता बढ़ाने का प्रयत्न किया जाना चाहिए । श्रम को प्रबन्ध में साझेदार बनाना चाहिए ताकि वह उत्पादन बढ़ाने में पूर्ण रुचि ले सके । साथ ही, औद्योगिक-सम्बन्धों के सुधार पर जोर देना चाहिए । दूसरी ओर श्रमिक-संघो को भी अपने-अपने सदस्यों की कुशलता बढ़ाने की ओर ध्यान देना चाहिए ।

(३) पूँजी-निर्माण में वृद्धि :—औद्योगिक विकास के साथ-साथ निजी एवं सार्वजनिक दोनो क्षेत्रों में पूँजी की माँग बढ़ेगी । अत: पूँजी-निर्माण में वृद्धि के उपायों को काम में लाना चाहिए । बचत को प्रोत्साहन देना चाहिए । इधर कुछ वर्षों से सरकार ने पूँजी की पूर्ति बढ़ाने के लिए कई प्रकार की वित्तीय सस्थाएँ स्थापित किये हैं जिससे इस क्षेत्र में बहुत सुधार की आशा की जाती है । व्यावसायिक बैंकों के राष्ट्रीयकरण से भी इनमें सहायता की आशा है ।

(४) सरकारी क्षेत्र में उद्योगों का विकास :—भारत के भावी औद्योगिक ढाँचे में सार्वजनिक क्षेत्र का भी महत्त्वपूर्ण स्थान है । अतः सरकारी उद्योगों में कार्यकुशलता का स्तर सुधारा जाना चाहिए । इनकी सफलता पर ही भारत का औद्योगिक भविष्य निर्भर करेगा ।

(५) विदेशी पूँजी को प्रोत्साहन :—औद्योगिक विकास की प्रारम्भिक स्थिति में किसी भी देश के लिए विदेशी पूँजी बहुत अधिक लाभदायक सिद्ध होती है, किन्तु अभी हमारे देश में निजी विदेशी पूँजी बहुत कम मात्रा में आ रही है । इसे आकर्षित करने के लिए भारत में अनुकूल परिस्थितियाँ उत्पन्न की जानी चाहिए । साथ ही, विदेशी पूँजी का अधिकतम उपयोग किया जाना चाहिए । जून, १९६६ ई० में रुपये के अवमूल्यन के बाद विदेशी पूँजी के अधिक मात्रा में भारत आने की आशा थी, किन्तु ऐसा वास्तव में हो नहीं सका ।

(६) निजी क्षेत्र के दृष्टिकोण में परिवर्त्तन की आवश्यकता :—वर्तमान आर्थिक व्यवस्था के अन्तर्गत देश के औद्योगिक विकास में निजी क्षेत्र का स्थान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है । किन्तु

पिछले कुछ वर्षों में निजी क्षेत्र ने सरकारी नीति आदि की बहुत निन्दा की और साथ ही सार्वजनिक क्षेत्र को नीचा दिखलाने का भी प्रयास किया गया है। यह निश्चय ही खेद का विषय है। लेकिन भविष्य में निजी क्षेत्र को सार्वजनिक हित को सर्वोपरि मानकर चलाना चाहिए। सरकार को भी निजी क्षेत्र को समुचित प्रोत्साहन प्रदान करना चाहिए। दोनों क्षेत्रों को एक-दूसरे के साथ मिल-जुल कर एक-दूसरे के पूरक के रूप में कार्य करना चाहिए। इसी से भारत का औद्योगीकरण हो सकेगा।

(७) औद्योगिक नियोजन (Industrial Planning) :—एक अर्द्ध-विकसित आर्थिक व्यवस्था वाले देश के लिए औद्योगिक नियोजन का बहुत अधिक महत्त्व है। भारत में भी औद्योगीकरण की एक दीर्घकालीन योजना सरकार द्वारा तैयार की जानी चाहिए, किन्तु केवल औद्योगिक नियोजन से ही स्थिति में सुधार की आशा नहीं की जा सकती। नियोजन को कार्यान्वित करने में सरकार को तत्परता के साथ कार्य करना चाहिए। औद्योगिक नियोजन के कार्यान्वयन में निम्नलिखित तीन बातों पर विशेष रूप से जोर देना चाहिए—(क) आर्थिक व्यवस्था के विभिन्न अंगों का संतुलित विकास, (ख) उद्योग-धन्धों के विकास को प्राथमिकता। तथा (ग) औद्योगीकरण की आवश्यक सीमा का निर्धारण।

(८) कृषि का विकास :—औद्योगिक विकास के लिए कृषि का विकास भी अनिवार्य है। कुछ लोग कृषि को उद्योग-धन्धों का प्रतिद्वन्द्वी समझते हैं, किन्तु वास्तव में कृषि उद्योगों का प्रतिद्वन्द्वी नहीं वरन् पूरक है। कृषि से कुछ प्रमुख उद्योग-धन्धों को कच्चे पदार्थ, जैसे- गन्ना, जूट, कपास, तिलहन, तम्बाकू, इत्यादि प्राप्त होते हैं। साथ ही, कृषि के विकास से किसानों की क्रय-शक्ति में वृद्धि होती है जिससे उद्योग-धन्धों की वस्तुओं की मांग में वृद्धि होती है। इस प्रकार देश के औद्योगीकरण के लिए कृषि का विकास भी अनिवार्य है।

उपरोक्त सुझावों को काम में लाकर ही भारत तेजी से अपना औद्योगीकरण कर सकेगा। संतोष का विषय है कि पंचवर्षीय योजनाओं में इस क्षेत्र में बहुत अधिक कार्य किये जा रहे हैं तथा इसमें पर्याप्त सफलता भी मिल रही है।

विशेष-अध्ययन-सूची

1. Kuchchal, S. C. : The Industrial Economy of India.
2. Mehta, M. M. : Structure of the Indian Industries.

—:o:—

अध्याय : २५

कुटीर एवं लघु उद्योग-धन्धे

(Cottage and Small Scale Industries)

परिचय---प्राचीन काल में भारत अपने उद्योग-धन्धों के लिए प्रख्यात था। ईसा से सदियों पूर्व भारतीय वस्त्र-उद्योग अपनी कला-कौशल के लिए सुदूर मिस्र, यूनान और बेबीलोन आदि देशों में विख्यात था। ईसा से दो हजार वर्ष पूर्व के मिस्र में मशाला लगाकर रखे हुए शव आज भी अच्छे प्रकार की भारतीय मलमल में लपेटे हुए मिलते हैं। हमारे कुटीर उद्योग-धन्धों के सम्बन्ध में भारतीय औद्योगिक आयोग ने अपने वृत्तान्त में लिखा है कि--"उस समय जबकि आधुनिक औद्योगिक सभ्यता के जन्म-स्थान पश्चिमी यूरोप में असभ्य लोग निवास करते थे, भारत अपने शासकों की सम्पत्ति तथा कारीगरों की कलापूर्ण चातुरी के लिए विख्यात था।" (At a time, when the west of Europe, the birthplace of the modern industrial system, was inhabited by uncivilised people, India was famous for the wealth of her rulers and for the high artistic skill of her craftsmen.) एडवर्ड थार्टन[1] ने भी अपना विचार इसी प्रकार से प्रकट किया है--"जब मिस्र के पिरामीड नील नदी की घाटी की ओर नीचे झाँक रहे थे, जब इटली तथा यूनान, जो पश्चिमी सभ्यता के जन्म-स्थान हैं, जंगली कबीलों के निवास-स्थान थे, भारत धन्य-धान्य तथा वैभव का उद्‌गम स्थान था।" विदेशी व्यापारियों एवं भ्रमणकारियों ने भी हमारे प्राचीन कुटीर उद्योगों की भूरि-भूरि प्रशंसा की है। यहां की बनी हुई वस्तुओं की विदेशों में बहुत अधिक मांग होती थी। इनमें ढाके के कैलिको तथा मलमल, बनारस के रेशमी वस्त्र तथा कश्मीर के ऊनी शाल आदि प्रमुख थे।

किन्तु देश में अंग्रेजी शासन की स्थापना के बाद धीरे-धीरे इन उद्योगों का ह्रास प्रारम्भ हुआ तथा आज ये सारी बातें केवल स्मृति-स्वरूप ही रह गयी हैं। ब्रिटिश सरकार ने इस प्रकार की स्वार्थपूर्ण नीति का अनुकरण किया जिससे भारतीय कुटीर उद्योगों का ह्रास होने लगा तथा इनकी प्राचीन औद्योगिक ख्याति समाप्त हो गयी। किन्तु आज भी कुटीर उद्योग किसी-न-किसी रूप में वर्तमान हैं तथा देश की वर्तमान आर्थिक व्यवस्था में इनका महत्त्वपूर्ण स्थान है।

कुटीर एवं लघु उद्योगों की परिभाषा (Definition of Cottage and Small Scale Industries) : -उद्योग-धंधों को प्रायः तीन वर्गों में विभाजित किया जाता है :

(१) अधिक मात्रा में उत्पादन करने वाले उद्योग अथवा बड़े पैमाने के उद्योग-धन्धे (Large scale industries);

(२) कम मात्रा उत्पादन में करने वाले उद्योग अथवा लघु पैमाने के उद्योग-धन्धे (Small scale industries), तथा

(३) कुटीर उद्योग-धन्धे (Cottage Industries)।

1. History of the British Empire in India, p. 3.

कुटीर एवं लघु उद्योगों पर विचार करने के पूर्व इनके पारस्परिक अन्तर पर विचार करना अनिवार्य है। "कुटीर उद्योग-धन्धे वे धन्धे हैं जिनका संगठन एक स्वतन्त्र कारीगर अपनी पूँजी एवं श्रम से साधारण औजारों की सहायता के द्वारा करता है।" इस प्रकार के उद्योगों में पूँजी की अपेक्षा श्रम की ही प्रधानता रहती है। कारीगर अपने तथा अपने परिवार वालों के श्रम से साधारण औजारों के प्रयोग द्वारा अपना कार्य करता है। कहीं-कहीं तो इनमें शक्ति का भी प्रयोग किया जाता है; किन्तु अधिकांशतः छोटे पैमाने पर। स्विट्जरलैंड तथा जापान में कुटीर उद्योग मुख्यतः शक्ति के द्वारा ही चलाये जाते हैं। भारत में भी बिजली के प्रचार के बाद से कुटीर उद्योगों में अधिकाधिक विकास की आशा की जाती है।

१९४९-५० ई० के फिस्कल कमीशन (Fiscal Commission) के अनुसार "कुटीर उद्योग-धन्धे वे धन्धे हैं जो अंशतः परिवार के सदस्यों की ही सहायता द्वारा आंशिक अथवा पूर्णकालिक कार्य के रूप में किये जाते हैं।"[1] आयोग के अनुसार लघु-प्रमाप उद्योग वे उद्योग हैं जो मुख्यतः भाड़े के मजदूरों, साधारणतया १० से लेकर ५० तक के द्वारा चलाये जाते हैं तथा जो श्रमिकों के घर में नहीं चलाये जाते हैं। इनमें वे सब औद्योगिक इकाइयाँ (Units) सम्मिलित की जाती हैं जिनमें ७·५ लाख रुपये से कम की पूँजी लगी होती है। इसके अनुसार कुटीर उद्योग कृषि से सम्बन्धित हैं तथा केवल शहरी क्षेत्रों में ही इनमें पूरे समय तक कार्य मिलता है, जबकि लघु उद्योगों में कारीगरों को बहुधा पूरे समय तक कार्य मिलता है तथा इस प्रकार के उद्योग शहरी एवं अर्द्ध-शहरी क्षेत्रों में पाये जाते हैं।[2]

एक दूसरे प्रकार से भी लघु एवं कुटीर उद्योगों में अन्तर बतलाया जाता है। इस प्रकार जबकि कुटीर उद्योग अधिकतर कारीगरों के घरों में, उनके तथा उनके परिवारवालों के श्रम द्वारा साधारण औजारों की सहायता से, जो बिना शक्ति या कम शक्ति द्वारा प्रचालित होते हैं, चलाये जाते हैं, लघु पैमाने के उद्योगों में शक्ति द्वारा प्रचालित आधुनिक यन्त्रों का प्रयोग किया जाता है। लघु उद्योगों में श्रम तथा यन्त्र दोनों की प्रधानता रहती है। इनमें अधिक-से-अधिक ५० व्यक्ति कार्य करते हैं जबकि कुटीर उद्योगों में अधिक-से-अधिक ८-१० व्यक्ति, जो साधारणतः एक ही परिवार के सदस्य होते हैं, काम करते हैं। लघु उद्योगों की परिभाषा में हाल में ही भारत सरकार द्वारा एक संशोधन किया गया है। इसके अनुसार ७·५ लाख रु० से कम पूँजीवाली सभी औद्योगिक संस्थानों को, चाहे उनमें श्रमिकों की संख्या कितनी भी कम क्यों न हो, लघु उद्योगों की श्रेणी

1. "A Cottage industry has been defined as "one which is carried on wholly or primarily with the help of members of the family either as a whole or as a part time occupation."

A small scale industry, on the other hand, is one which is operated mainly with hired labour usually with 10 to 15 hands and is not carried on in the cottage of the worker. It includes all units or establishments having a capital investment of less than Rs. 7·5 lakhs.

2. "Cottage industries are associated with agriculture and provide whole time occupation only in urban areas; small scale industries generally provide whole time occupation to their workers and are located in urban or sub urban areas."

में रखा गया है। किन्तु इतना अन्तर होने पर भी इन दोनों प्रकार के उद्योगों की प्रकृति साधारणतः एक ही समान है और जैसा कि योजना आयोग ने कहा है "कुटीर एवं लघु उद्योगों में अन्तर प्रकट करने के लिए कोई निश्चित एवं सर्वमान्य रेखा नहीं है।"

भारतीय कुटीर उद्योगों की अवनति के कारण

(Causes of the Decline of Indian Cottage Industries)

उन्नीसवीं शताब्दी के अर्द्ध-पूर्व काल तक भारत के उद्योग-धन्धे अति विकसित स्थिति में थे तथा यहां की बनी हुई वस्तुएँ सम्पूर्ण विश्व में भेजी जाती थीं। किन्तु अंग्रेजों के भारत आगमन के पश्चात् भारतीय कुटीर-उद्योगों के भाग्य ने पलटा खाया और उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में इनकी अवनति प्रारम्भ हो गयी।

भारतीय कुटीर-उद्योगों की इस अवनति के निम्नलिखित मुख्य कारण थे :—

(१) प्राचीन राजा और नवाबों का अन्त (Decline of the old emperors and navabs) :—ईस्ट इण्डिया कम्पनी भारत में सबसे पहले व्यापारिक उद्देश्य से आयी थी। किन्तु धीरे-धीरे इसके उद्देश्य में परिवर्तन होने लगा और कम्पनी एक राजनीतिक सत्ता बन गयी। भारत में अंग्रेजी शासन की स्थापना के फलस्वरूप सभी राजा तथा नवाबों का अन्त हो गया। प्राचीन राजा तथा नवाब कुटीर उद्योगों की वस्तुओं की मांग के प्रधान स्रोत थे, अतः इनके समाप्त होने से कुटीर-उद्योगों को गहरा धक्का लगा। ये राजा तथा नवाब अपने दरबार में अच्छे-अच्छे कारीगरों को अच्छी रकम देकर रखते थे जिससे देश की कला को भी प्रोत्साहन मिलता था। अतः देशी राजे एवं नवाबों की समाप्ति से देश के कुटीर उद्योग-धन्धों को गहरा धक्का लगा।

(२) नये सामन्तवादी वर्ग का उदय (Rise of the new aristocratic class) :—देश में अंग्रेजी शासन की स्थापना के बाद सभी लोगों की रुचि में भी परिवर्तन होने लगा। देश का शिक्षित तथा धनी वर्ग यूरोपीय रीति-रिवाज एवं रुचियों का अनुकरण करने लगा। फलतः देश में एक नये सामन्तवादी वर्ग का उदय हुआ। इस वर्ग ने यूरोपीय फैशन को अपनाया। ये अंग्रेजों की नकल में ही अपना गौरव समझते थे। (To follow European fashions was considered the hallmark of enlightenment.) इसका प्रभाव भी देश के उद्योग-धन्धों पर बहुत बुरा पड़ा। इसके फलस्वरूप विदेशी वस्तुओं की मांग बढ़ने लगी। ये वस्तुएँ प्रायः सस्ती होती थीं, अतः इससे देश के कुटीर उद्योग-धन्धों को बहुत आघात पहुँचा।

(३) मशीनों की बनी हुई विदेशी वस्तुओं की प्रतियोगिता (Competition of machine-made foreign goods) : अठारहवीं तथा उन्नीसवीं शताब्दी में इंगलैंड में औद्योगिक क्रांति हुई जिससे उत्पादन बड़े पैमाने पर यंत्रों के प्रयोग द्वारा किया जाने लगा। मशीन की बनी हुई वस्तुएँ बहुधा सस्ती होती थीं। अतः कुटीर उद्योग-धन्धों के लिए इनकी प्रतियोगिता करना कठिन हो गया। देश में रेलवे तथा यातायात के अन्य साधनों के विकास ने विदेशी वस्तुओं को देश के कोने-कोने तक पहुँचा दिया जिससे भारतीय उद्योगों के लिए इनकी प्रतियोगिता प्रायः असम्भव हो गयी। परिणाम यह हुआ कि जो कुटीर-उद्योग इस नयी स्थिति से अपने को समायोजित नहीं कर सके, उनका अन्त हो गया तथा कतिपय उद्योग किसी प्रकार अपना अस्तित्व बनाये रख सके।

(४) **ईस्ट इण्डिया कम्पनी तथा ब्रिटिश पार्लियामेंट की घातक औद्योगिक नीति (Defective Policy of the British Govt. and the East India Company)** :—भारतीय कुटीर उद्योगों के ह्रास का एक प्रमुख कारण ईस्ट इण्डिया कम्पनी तथा ब्रिटिश पार्लियामेंट की घातक औद्योगिक नीति भी थी। प्रारम्भ में तो कम्पनी की नीति भारतीय उद्योगों को प्रोत्साहन देने की थी, क्योंकि कम्पनी का निर्यात-व्यापार इन्हीं वस्तुओं पर आधारित था। किन्तु इस नीति का इंगलैंड के स्वार्थी हितों ने विरोध किया, फलतः इंगलैंड की सरकार ने भारत से आनेवाली वस्तुओं पर एक कर लगा दिया। इनके अतिरिक्त इंगलैंड में औद्योगिक क्रांति के फलस्वरूप उत्पादन का कार्य बहुत बड़े पैमाने पर किया जाने लगा जिससे इन कारखानों की बनी हुई वस्तुओं की खपत के लिए बाजार की आवश्यकता पड़ने लगी। साथ ही, इनके लिए बहुत बड़ी मात्रा में कच्चे माल की भी आवश्यकता पड़ती थी। अतः ब्रिटिश सरकार का मुख्य उद्देश्य भारत को ब्रिटिश कारखानों की बनी हुई वस्तुओं के बाजार तथा इनके लिए कच्चे माल की प्राप्ति के साधन के रूप में विकसित करना था। सरकार ने इस नीति का बड़ी ही दृढ़ता के साथ अनुकरण किया। भारत की बनी हुई वस्तुओं पर इंगलैंड में कर लगा दिया गया, किन्तु इंगलैंड की बनी हुई वस्तुओं को भारत में वगैर किसी रुकावट के ही आने दिया जाता था। इसका प्रभाव हमारे उद्योग-धन्धों पर बहुत ही बुरा पड़ा। फलस्वरूप भारत का ग्रामीणीकरण शीघ्रता से बढ़ने लगा तथा देश का निर्माण-व्यापार द्रुतगति से घटने लगा।

(५) **भारतीय कारीगरों पर विभिन्न प्रकार के नियन्त्रण (Different types of restrictions over Indian artisans)** :—ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने इंगलैंड के उद्योगपतियों की सहायता के लिए भारतीय कारीगरों पर तरह-तरह के अत्याचार प्रारम्भ किया। उदाहरण के लिए। भारतीय कारीगरों को केवल कम्पनी के लिए वस्तुएं तैयार करने के लिए बाध्य किया जाता था। कम्पनी के गुमाश्ता इन्हें इनके सामानों के लिए कम ही मूल्य चुकाते थे। यदि कोई कारीगर कम्पनी के लिए काम करने से इनकार करता था तो कम्पनी के गुमास्ता उसके दाहिने अंगूठों को काट लेते थे। इस प्रकार कम्पनी ने भारतीय कारीगरों पर तरह-तरह के नियन्त्रण लगा दिये जिससे बाध्य होकर उन्हें अपना उत्पादन बन्द करना पड़ा।

इस प्रकार प्राचीन राजाओं तथा नवाबों का अन्त, मशीनों की प्रतियोगिता, मुक्त व्यापार की नीति, संरक्षण का अभाव तथा भारतीय उद्योग-धन्धों के प्रति ब्रिटिश सरकार की उदासीनता आदि के फलस्वरूप भारत के कुटीर उद्योग-धन्धों का ह्रास प्रारम्भ हो गया। उन्नीसवीं सदी के उतरार्द्ध में देश में यातायात एवं रेल-व्यवस्था के विकास के ह्रास ने इस प्रक्रिया में और शीघ्रता ला दी। फलतः भारत मुख्य रूप से कृषि-प्रधान देश बन गया। यहाँ के कच्चे पदार्थ तथा खाद्यान इंगलैंड में निर्यात किये जाने लगे तथा इंगलैंड की बनी हुई वस्तुएँ भारत में आयात की जाने लगीं।

भारतवर्ष में कुटीर एवं लघु उद्योगों के बने रहने के कारण

(Causes of the Survival of the Cottage and Small Scale Industries in India)

किन्तु आश्चर्य की बात यह है कि इतनी विषम परिस्थितियों के बावजूद भारत की प्राचीन औद्योगिक परम्परा पूर्णरूप से समाप्त नहीं हो पायी तथा गाँवों के पिछड़े वातावरण में भी भारत की हस्तकला किसी-न-किसी प्रकार से जीवित रही। वास्तव में, केवल हमारे देश में ही नहीं वरन् विश्व के आधुनिक औद्योगिक राष्ट्रों में भी कुटीर एवं लघु-उद्योग पूर्णरूपेण समाप्त नहीं

हो पाये हैं। आधुनिक औद्योगिक प्रगति, सामान्यतः वृहत् पैमाने के उद्योगों की प्रधानता से सम्बद्ध है, किन्तु आधुनिक औद्योगिक संरचना में कुटीर एवं लघु प्रमाप उद्योगों का सर्वथा लोप नहीं हो पाया है। जो देश आधुनिक औद्योगिक व्यवस्था के अग्रगण्य माने जाते हैं उनमें भी छोटे उद्योगों का एक निश्चित एवं महत्त्वपूर्ण स्थान है। उदाहरण के लिए, फ्रांस में ६६ प्रतिशत से भी अधिक व्यवसायों में से प्रत्येक में १०० से कम व्यक्ति लगे हुए हैं। जर्मनी में भी सम्पूर्ण जनसंख्या का प्रायः १२.६ प्रतिशत भाग अपनी आजीविका इसी प्रकार की दस्तकारियों से चलाता है। जापान की कुल औद्योगिक जनसंख्या के प्रायः १३ प्रतिशत तथा स्विट्जरलैंड में ३२ प्रतिशत लोग अपनी आजीविका ऐसे ही व्यवसायों से चलाते हैं। इसी प्रकार प्रायः प्रत्येक देश में कुटीर उद्योग जीवित हैं, आगे बढ़ रहे हैं तथा समाज में अत्यधिक महत्त्वपूर्ण कार्य कर रहे हैं।

इसका कारण यह है कि वृहत् उद्योगों की तुलना में इनके कुछ पृथक् लाभ हैं। सर्वप्रथम तो विद्युत् के बढ़ते हुए उपयोग ने उत्पादन की इकाइयों के छोटी होने की प्रवृत्ति को जन्म दिया है। इससे उद्योग की बाह्य तथा आन्तरिक मितव्ययिताएँ भी ज्यों-की-त्यों बनी रहती हैं। साथ ही, बड़े पैमाने के उद्योगों के फलस्वरूप केन्द्रीयकरण की बुराइयों ने भी उद्योगों के विकेन्द्रीकरण की प्रवृत्ति को प्रोत्साहित किया है। इससे भी उद्योगों के आकार में सामान्यतः छोटी होने की प्रवृत्ति पायी जाती है। वर्तमान सदी के प्रारम्भ से प्रत्येक देश में सहकारिता आन्दोलन के विकास ने भी लघु एवं कुटीर उद्योगों में एक नयी जान ला दी है। साथ ही, प्रत्येक समाज में कुछ ऐसी कलात्मक वस्तुएँ होती हैं जिनका उत्पादन बड़े पैमाने पर प्रायः सम्भव नहीं। कुछ ऐसी भी वस्तुएँ हैं जिनकी मांग स्थानीय एवं अल्प तथा बहुत सीमित होती हैं। अतः इनका उत्पादन बड़े पैमाने पर किया जा सकता है। इन्हीं सब कारणों से आज के इस विशालकाय औद्योगिक युग में भी कुटीर एवं लघु उद्योगों का महत्त्व कम नहीं हुआ है।

भारत की आर्थिक व्यवस्था में कुटीर एवं लघु उद्योग-धन्धों का महत्त्व
(Importance of Cottage and Small Scale Industries in the Indian Economy)

भारत की आर्थिक व्यवस्था में वर्तमान परिस्थितियों के अन्तर्गत, कुटीर एवं लघु उद्योगों का कई कारणों से महत्त्वपूर्ण स्थान है। अतः देश के औद्योगीकरण की किसी भी योजना में कुटीर उद्योगों को समुचित स्थान देना अनिवार्य हो जाता है। देश की ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था के निर्माण में तो इनका बहुत ही महत्त्वपूर्ण स्थान है। योजना आयोग (Planning Commission) के अनुसार, "ग्रामीण उद्योगों को विकसित करने का प्रमुख उद्देश्य रोजगार के अवसरों में वृद्धि करना, आय एवं रहन-सहन के स्तर को ऊँचा उठाना तथा एक अधिक संतुलित एवं समन्वित अर्थ-व्यवस्था का निर्माण करना है।" (The primary object of developing small industries in rural areas is to extend work opportunities, raise income and standard of living and to bring about a more balanced and integrated rural economy.)

भारत की आर्थिक व्यवस्था में कुटीर एव लघु-उद्योगों के महत्त्व के निम्नलिखित प्रधान कारण हैं :--

(१) अधिक रोजगार की व्यवस्था (Providing more employment) :—भारत में बेकारी की समस्या दिन-प्रति-दिन उग्र होती जा रही है। देश की जनसंख्या का एक बहुत बड़ा भाग रोजगार के साधनों से पूर्णतः अथवा आंशिक रूप से वंचित है। बेकारी किसी भी देश के लिए

बड़ी ही विशद् समस्या है। लार्ड वेवरीज के शब्दों में 'बेकारी का सबसे बड़ा दोष भौतिक नहीं वरन् नैतिक है। इससे केवल अभाव ही नहीं वरन् घृणा तथा द्वेष भी उत्पन्न होता है।" भारत की वर्तमान परिस्थितियों में बेकारी की समस्या राजनीतिक कठिनाइयों का भी कारण बन सकती हैं। देश में बड़े पैमाने के उद्योग-धन्धों के विकास द्वारा बेकारी की समस्या का समाधान नहीं किया जा सकता। साथ ही, संगठित उद्योगों के विकास से औद्योगिक केन्द्रों में श्रमिकों का केन्द्रीयकरण होगा जिससे औद्योगिक एवं श्रम-सम्बन्धी अनेक समस्याएँ उत्पन्न होंगी तथा सामाजिक सुरक्षा एवं सामाजिक बीमा पर बहुत अधिक खर्च करना पड़ेगा। इसके विपरीत कुटीर उद्योगों से शीघ्र तथा बड़े पैमाने पर रोजगार की व्यवस्था की जा सकती है। देश के कुटीर-उद्योगों में अनुमानतः २ करोड़ व्यक्ति लगे हुए हैं। केवल हस्तकरघा उद्योग में ५० लाख, अर्थात् सभी संगठित उद्योगों (वृहत् प्रमाप उद्योग, खनिज तथा बगान उद्योगों को सम्मिलित करते हुए) के बराबर व्यक्ति लगे हुए हैं। इसमें कोई सन्देह नहीं कि अधिकतम उत्पादन के लिए बड़े पैमाने के उद्योगों का विकास आवश्यक है, परन्तु इनके विकास की गति कितनी भी तीव्र क्यों न हो, इनसे भारत के विशाल जनसमूह को रोजगार नहीं दिया जा सकता। अतः देश में बेकारी की स्थिति को दूर करने मे कुटीर एव लघु उद्योगों का विशेष महत्त्व है।

(२) **कुटीर उद्योगों के विकास में कम पूँजी की आवश्यकता पड़ती है** :—कुटीर उद्योगों में मूल्यवान मशीनों एवं बड़ी-बड़ी इमारतों की आवश्यकता नहीं पड़ती। कुटीर उद्योग पूँजी-प्रधान (Capital-intensive) नहीं होकर श्रम-प्रधान (Labour-intensive) होते हैं। अतः, इनके लिए बड़े पैमाने के उद्योगों की तुलना में बहुत कम पूँजी की आवश्यकता पड़ती है। भारत एक निर्धन देश है। इसके पास पूँजी का अभाव है जिससे बहुत प्रमाप उद्योगों की स्थापना में कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। साथ ही, कुटीर-उद्योगों में अधिक तकनीकी ज्ञान की भी आवश्यकता नहीं पड़ती। इस प्रकार वर्तमान परिस्थितियों में द्रुतगति से औद्योगिक विकास के लिए कुटीर उद्योग-धन्धों का अत्यधिक महत्त्व है।

(३) **कुटीर उद्योगों के विकास द्वारा कृषि पर से जनसंख्या के अधिक बोझ को कम किया जा सकता है** :—भारत एक कृषि-प्रधान देश है। यहाँ की प्रायः ७० प्रतिशत जनसंख्या कृषि पर ही आश्रित है। किन्तु कृषि-कार्य में किसानों को निरन्तर काम नहीं मिलता। वे वर्ष के प्रायः ४-५ महीने तक बेकार ही रहते हैं। इससे किसानों के बेकारी का समय कट जायगा तथा उनकी आय में भी वृद्धि होगी। इस प्रकार देश में कुटीर उद्योगों के विकास द्वारा कृषि पर से जनसंख्या की अत्यधिक निर्भरता को कम किया जा सकता है।

(४) **आर्थिक शक्तियों का विकेन्द्रीकरण** :—पूँजीवादी आर्थिक व्यवस्था में बड़े पैमाने के उद्योगों की प्रधानता रहती है जिससे आर्थिक शक्तियों का केन्द्रीयकरण होता है। बड़े पैमाने के उद्योगों द्वारा राष्ट्रीय आय का एक बहुत बड़ा भाग कुछ व्यक्तियों को ही प्राप्त होता है जिसके फलस्वरूप आय के वितरण में विषमता बढ़ती है। किन्तु कुटीर-उद्योगों को प्रोत्साहन देने से यह असमानता काफी हद तक दूर की जा सकती है। इस प्रकार, कुटीर एवं लघु-उद्योग समाज में धन तथा आय के वितरण का मार्ग प्रशस्त करते हैं। साथ ही, बड़े-बड़े उद्योगों का कुछ ही नगरों में केन्द्रीयकरण होता है जिससे देश का समान रूप से औद्योगिक विकास सम्भव नहीं होता तथा केन्द्रीयकरण की

1. India 1971-72, P. 387.

बहुत सारी बुराइयाँ उत्पन्न होने लगती हैं। किन्तु कुटीर एवं लघु-उद्योग देश के कोने-कोने में बिखरे होते हैं। अतः इनसे केन्द्रीयकरण की बुराइयाँ उत्पन्न नहीं होतीं।

(५) **युद्ध से सुरक्षा** –औद्योगिक केन्द्रीयकरण का सबसे बड़ा दोष यह है कि यदि किसी एक स्थान पर सैनिक आक्रमण हो जाय तो उस स्थान के समस्त उद्योग नष्ट हो जायेंगे। अतः आधुनिक युग में सुरक्षा के लिए भी उद्योग-धन्धों का विकेन्द्रीकरण के आवश्यक है। विकेन्द्रीकरण के इस कार्य में कुटीर-उद्योगों द्वारा ही सबसे अधिक सहायता मिल सकती है। इस प्रकार कुटीर एवं लघु उद्योगों की प्रधानता रहने पर लड़ाई के समय भी देश की आर्थिक व्यवस्था सुरक्षित रहती है।

(६) **पूँजी एवं कुशलता की गतिशीलता में वृद्धि**:–कुटीर एवं लघु उद्योगों के विकास से देश में पूँजी एवं कुशलता की गतिशीलता में वृद्धि होती है, अन्यथा भारत जैसे विशाल जनसंख्या वाले देश में बहुत-सी पूँजी तथा कुशलता योंही बेकार रह जाती है। इस प्रकार कुटीर एवं लघु उद्योगों की स्थापना में देश की पूँजी तथा कुशलता का पूर्णरूपेण उपयोग सम्भव हो सकेगा।

(७) **श्रम एवं पूँजी में उत्तम सम्बन्ध** :--वर्तमान औद्योगिक अशान्ति का प्रमुख कारण बड़े-बड़े आधुनिक उद्योग हैं जिनमें हजारों-हजार की संख्या में मजदूर काम करते हैं। इनमें मजदूरों एवं पूँजीपतियों के बीच सीधा सम्पर्क नहीं रह जाता। फलस्वरूप हड़ताल तथा तालेबन्दी की संख्या दिन-प्रति-दिन बढ़ती जा रही है। कुटीर एवं लघु उद्योगों के साथ ऐसी बात नहीं पायी जाती है। इनमें श्रम एवं पूँजी में अधिक अन्तर नहीं रह जाता। प्रत्येक सेवायुक्त ही सेवा-योजक होता है। अतः 'स्वामी एवं नौकर' की भावना समाप्त हो जाती है। साथ ही, आर्थिक उथल-पुथल भी कम हो जाते हैं। इस प्रकार कुटीर एवं लघु उद्योगों की स्थापना से देश में औद्योगिक शान्ति की आशा की जा सकती है।

(८) **कुटीर उद्योग-धन्धों का नैतिक तथा सामाजिक दृष्टिकोण से भी अधिक महत्त्व है** :—बड़े पैमाने के उद्योगों में आधुनिक मशीनों द्वारा काम करनेवाले श्रमिकों की व्यक्तिगत स्वतन्त्रता समाप्त हो जाती है, वे प्रायः यंत्रवत् हो जाते हैं, काम करने में उन्हें आनन्द तथा गौरव का अनुभव नहीं होता। किन्तु कुटीर-उद्योगों में काम करनेवाले श्रमिक बहुधा अपने उद्योगों के स्वयं मालिक होते हैं जिससे वे आत्मगौरव का अनुभव करते हैं। साथ ही, इस प्रकार के उद्योगों में किसी प्रकार के शोषण का भय नहीं रहता। इस प्रकार कुटीर-उद्योगों के विकास द्वारा एक शोषण-रहित समाज की रचना की जा सकती है जिसमें मानव-जीवन का बहुमुखी विकास सम्भव हो सकता है।

इससे स्पष्ट है कि देश की आर्थिक व्यवस्था में कुटीर उद्योग-धन्धों का महत्त्वपूर्ण स्थान है। १९५६ ई० की औद्योगिक-नीति सम्बन्धी प्रस्ताव में ठीक ही कहा गया है कि "कुटीर एवं लघु उद्योग बड़े पैमाने पर एवं तात्कालिक रोजगार पैदा करते हैं, राष्ट्रीय आय के अधिक न्यायोचित वितरण को संभव बनाते हैं, तथा पूँजी एवं योग्यता-सम्बन्धी साधनों के अधिक प्रभावपूर्ण विदोहन में सहायक होते हैं। यदि देश भर में औद्योगिक उत्पादन के छोटे-छोटे केन्द्र स्थापित कर दिये जायँ तो अनियोजित नागरीकीकरण की समस्या का भी बहुत हद तक समाधान हो सकता है।" (They provide immediate large scale employment, they offer a method of ensuring a more equitable distribution of the national

income and facilitate effective mobilisation of resources of capital and skill which otherwise remain untilised. Some of the problems that unplanned urbanisation tends to create will be avoided by the establishment of small centres of industrial production all over the country. अतः भारत के आर्थिक विकास की किसी भी योजना में इनका एक विशिष्ट स्थान होगा। हमारा देश अभी आर्थिक विकास के प्रथम सोपान पर है। देश के समक्ष पूँजी एवं तकनीकी ज्ञान का अभाव विशेष रूप से है। ऐसी परिस्थिति में देश के औद्योगीकरण में पश्चिमी राष्ट्रों का अनुकरण करना हमारे लिए कठिन हो गया है। निस्संदेह भारत में बड़े पैमाने के उद्योगों के विकास के लिए बहुत बड़ा क्षेत्र है जिसका उपयोग आवश्य होना चाहिए। किन्तु इसके लिए हमें देश की विचित्र परिस्थितियों से आँख बन्द कर लेना भी खतरे से खाली नहीं होगा।

भारत के कुछ प्रमुख कुटीर तथा लघु उद्योग-धन्धे

(Some Important Cottage and Small Scale Industries of India)

(१) सूती हस्त-करघा उद्योग (Cotton Handloom Industries) :—भारत के कुटीर उद्योगों में सूती हस्त-करघा उद्योग का महत्त्वपूर्ण स्थान है। देश में अंग्रेजी शासन की स्थापना के पूर्व तक भारत का यह उद्योग विश्व में प्रख्यात था। ढाके के बने हुए मलमल तथा कैलिको की योरोप के बाजार में बहुत अधिक मांग थी।

१९०० ई० में भारत में मिल के कपड़े का उत्पादन ५२ करोड़ गज तथा हस्त-करघा उद्योग का उत्पादन प्रायः ६५ करोड़ गज था। किन्तु इसके बाद धीरे-धीरे हस्त-करघा उद्योग को विभिन्न कठिनाइयों का सामना करना पड़ा जिससे इसका सापेक्षिक महत्त्व कम होने लगा। प्रथम महायुद्ध के पूर्व इस उद्योग की स्थिति बड़ी ही शोचनीय थी। किन्तु, युद्धकाल में विदेशी कपड़ों का आयात घट गया। आयात के इस ह्रास को पूरा करने में भारतीय मिलों की असमर्थता तथा युद्ध के उपरान्त मिल के कपड़ों के ऊँचे मूल्य ने हस्त-करघा उद्योग को बहुत अधिक प्रोत्साहन प्रदान किया। परन्तु, पुनः १९२२-२३ ई० के बाद जापानी प्रतियोगिता के कारण भारतीय बुनकरों को बहुत क्षति उठानी पड़ी। १९२९-३० ई० की भयानक आर्थिक मन्दी के समय तो इस उद्योग की स्थिति और भी खराब हो गयी। किन्तु, इस बीच महात्मा गाँधी की प्रेरणा से स्थापित अखिल भारतीय बुनकर संघ (All India Weavers Association) ने इस उद्योग के उत्थान के लिए बहुमूल्य कार्य करना प्रारम्भ किया। १९३७ ई० के पश्चात् तो अधिकांश प्रान्तों में लोकप्रिय सरकारों की स्थापना से भारतीय हस्त-करघा उद्योग को बड़ा ही बल मिला। अधिकांश प्रान्तीय सरकारों ने इन्हें सक्रिय सहायता प्रदान करने की नीति अपनायी। १९३८-३९ ई० में मिल के कपड़ों का उत्पादन ३९१ करोड़ गज तथा सूती हस्त-करघा का उत्पादन १७० करोड़ गज था। इस प्रकार हस्त-करघा के कपड़ों का उत्पादन देश के कुल वस्त्र-उत्पादन का १९०० ई० में ६० प्रतिशत से घटकर १८३८-३९ ई० में ३० प्रतिशत हो गया। आजकल भी देश के कुल वस्त्र-उत्पादन का प्रायः ७० प्रतिशत भाग वस्त्र भारतीय कारखानों द्वारा तैयार किया जाता है। द्वितीय युद्धकाल में पुनः विदेशों से कपड़ों का आयात बन्द हो जाने के कारण इनकी स्थिति में कुछ सुधार हुआ, किन्तु सूत के अभाव में भारतीय हस्त-करघा उद्योग इस अवसर से पूरा-पूरा लाभ नहीं उठा सका। इस उद्योग की स्थिति में सुधार लाने के लिए १९५२ ई० में एक अखिल भारतीय हस्त-करघा परिषद् (All India Handloom Board) की स्थापना की गयी। आजकल तो भारत सरकार द्वारा इस उद्योग के विकास के लिए बहुत प्रकार की सहायता

दी जाती है जिससे इस उद्योग के उत्पादन में महत्त्वपूर्ण वृद्धि हुई है जो निम्नांकित तालिका से स्पष्ट है :—

वर्ष	उत्पादन
१९५०-५१	७,४२० लाख गज
१९५५-५६	१४,७१० ,, ,,
१९६०-६१	१९,३०० ,, ,,
१९६२-६३	२२,५०० ,, ,,
१९६५-६६	२८,००० ,, ,,

इस प्रकार भारत का हस्त-करघा-उद्योग आज भी देश का एक प्रमुख धन्धा है। तृतीय योजना काल में हस्त-करघा-उद्योग के उत्पादन को बढ़ाकर १९६५-६६ ई० तक २८००० लाख गज करने का आयोजना था।[1] रोजगार की दृष्टि से देश में कृषि के बाद इसका द्वितीय स्थान है। प्रायः २५ लाख परिवार इस उद्योग पर आश्रित हैं तथा इससे देश के कोई १०० लाख व्यक्तियों की आजीविका अर्जन-कर्त्ता अथवा उनके आश्रितों के रूप में चलती है। १९५१ ई० में देश में कुल २६ लाख करघे सूती-वस्त्र के उत्पादन में लगे हुए थे।[2] जिनमें से मद्रास में ८·४ लाख, असम में ८.४ लाख, उत्तर प्रदेश में २·५ लाख, बिहार में २ लाख, बम्बई में १·६ लाख, उड़ीसा में १.३ लाख, मणिपुर में १·२ लाख, मध्य प्रदेश में १ लाख, तथा पश्चिमी बंगाल में १ लाख से कुछ कम करघे थे। इस प्रकार हस्त-करघा-उद्योग प्रायः प्रत्येक राज्य में एक महत्त्वपूर्ण धन्धा है। हमारे देश में मिल के बने कपड़ों की प्रतियोगिता में हस्त-करघा-उद्योग की लोकप्रियता का प्रमुख कारण हाथ के बने कपड़ों के रंग एवं बनावट में विभिन्नता है।

किन्तु भारतीय सूती-करघा-उद्योग के समक्ष आज कई प्रमुख समस्याएँ हैं। सर्वप्रथम समस्या तो सूत प्राप्त करने की है। इस उद्योग को सूत के लिए मिलों पर आश्रित रहना पड़ता है। कारीगरों को सूत मिलने में बहुधा कठिनाई होती है तथा कभी-कभी उन्हें मूल्य भी अधिक चुकाना पड़ता है। वित्त एवं विक्रय की समुचित व्यवस्था का अभाव भी इस उद्योग की एक प्रमुख समस्या है। इनके अतिरिक्त, भारतीय हस्त करघा उद्योग में आधुनिक तरीकों के अपनाने की भी समस्या है। देश में प्रयोग किये जानेवाले करघे मुख्यतः प्राचीन हो गये हैं तथा इनकी उपयोगिता भी बहुत कम हो गयी है। अतः इसके विकास के लिए इनमें सुधार की बड़ी आवश्यकता है। मिल के बने कपड़ों की प्रतियोगिता की समस्या भी इस उद्योग की एक प्रमुख समस्या है। किन्तु मिल के बने कपड़ों की प्रतियोगिता मोटे और बारीक कपड़ों के क्षेत्र में न होकर प्रायः मध्यम श्रेणी के कपड़ों के क्षेत्र में ही पायी जाती है।

पंचवर्षीय योजनाओं में सूती हस्त-करघा उद्योग :—गत कुछ वर्षों से सरकार द्वारा हस्त-करघा उद्योग के विकास का प्रयत्न किया जा रहा है। प्रथम पंचमर्षीय योजना में भी इस उद्योग के विकास के लिए विशेष प्रयत्न किये गये। इस उद्योग के विकास के उद्देश्य से १९५२ ई० में एक अखिल भारतीय हस्त-करघा मंडल (All India Handloom Board) की स्थापना की गयी। यह मण्डल बुनकरों के लिए सहकारी समितियों की स्थापना तथा हस्त-करघा के कपड़ों की समुचित

1. Problems in the Third Plan, P. 30.
2. Wadia & Merchant—"Our Economic Problem" P. 616.

बिक्रय-व्यवस्था पर पर्याप्त जोर देता है। १९५२ ई० में सूती-वस्त्र मिलों के धोती तथा साड़ी के उत्पादन को ६० प्रतिशत तक ही सीमित कर दिया गया। इसके अतिरिक्त हस्त-करघा-उद्योग को सरकार द्वारा ऋण एवं अनुदान के रूप से भी सहायता प्रदान की जाती है। उदाहरण के लिए, रिजर्व बैंक ऑफ इंडिया हस्त-कर्घा के उत्पादन के विक्रय के लिए बैंक से १½ प्रतिशत कम ही दर पर पुर्नवित्त की सुविधा प्रदान करता है। मार्च, १९५६ ई० में एक अखिल भारतीय हस्त-करघा विक्रय सहकारी समिति की स्थापना की गयी तथा १९५५-५६ ई० तक देश भर में १२५६ हस्त-करघा वस्त्र के विक्रय केन्द्रों की स्थापना की गयी। प्रथम योजना काल में केन्द्रीय सरकार द्वारा हस्त-करघा उद्योग के विकास में कुल १२·२ करोड़ रुपये व्यय किये गये।[1]

द्वितीय पंचवर्षीय योजना (Second Five Year Plan) में भी हस्त-करघे द्वारा कपड़े के उत्पादन में महत्त्वपूर्ण वृद्धि हुई। योजना काल में आवश्यक कपड़े की अतिरिक्त माँग का अधिकांश भाग हस्त-करघा उद्योग से पूरा करने का ही आयोजना था। इस उद्देश्य से हस्त-करघा की औसत उत्पादन क्षमता को ४ गज से बढ़ाकर ६ से ८ गज प्रतिदिन करने का आयोजना था। मण्डल द्वारा निर्धारित लक्ष्य के अनुसार हस्त-करघा द्वारा २२,१९८ लाख गज कपड़े का उत्पादन होना चाहिए था जबकि १९६०-६१ ई० में हस्त-करघा के कपड़े का उत्पादन केवल १९,३०० लाख गज ही था। उत्पादन में आयोजित लक्ष्य से इस कम वृद्धि का प्रधान कारण लक्ष्यों के निर्धारण में विभिन्न राज्यों द्वारा देर था। द्वितीय योजना के अन्तिम तीन वर्षों में हस्त-करघे के कपड़े का निर्यात औसत रूप से ३६० लाख गज था। द्वितीय योजना काल में हस्त-करघा-उद्योग पर २९·७ करोड़ रुपये व्यय किया गया।

तृतीय पंचवर्षीय योजना (Third Five Year Plan) में हस्त-करघा-उद्योग पर कुल प्रायः २५·४ करोड़ रुपये व्यय हुआ। १९६५-६६ ई० में कपड़े के कुल उत्पादन का लक्ष्य ९२० करोड़ गज निश्चित किया गया था जिसमें से हस्त-करघा, शक्ति करघा तथा खादी का सम्मिलित लक्ष्य ३५० करोड़ गज निश्चित किया गया था जबकि १९६०-६१ ई० में इनका सम्मिलित उत्पादन २३५ करोड़ गज था। इसका अधिकांश भाग हस्त-करघा उद्योग से ही प्राप्त होने की आशा थी। योजना काल में हस्त-करघा उद्योग के उत्पादन को १९६०-६१ ई० में १९,३०० लाख गज से बढ़ाकर १९६५-६६ ई० में २८,००० लाख गज करने का आयोजन था।

१९६६-६९ में एक-वर्षीय योजनाओं के अन्तर्गत इस मद में १३·५८ करोड़ रुपये व्यय किया गया।

चतुर्थ पंचवर्षीय योजना (Fourth Five Year Plan) में सूती हस्त-करघा तथा शक्ति द्वारा प्रचालित करघा की मद में कुल २७ करोड़ रुपये व्यय की व्यवस्था की गयी है। योजना काल में विकेन्द्रित क्षेत्र (हस्त-कर्घा, शक्ति-करघा तथा खादी) के उत्पादन को १९६८-६९ में ३६० करोड़ मीटर से बढ़ाकर १९७३-७४ में ४२५ करोड़ मीटर करने का आयोजन है। इसमें से अधिकांश भाग हस्त-करघा से प्राप्त होगा।

२. रेशमी हस्त-करघा उद्योग

प्राचीन काल में यह उद्योग अत्यधिक तरक्की पर था, किन्तु आज इसकी स्थिति अच्छी नहीं है। रेशमी हस्त-करघा उद्योग मुख्य रूप से तमिलनाडु आन्ध्र प्रदेश, असम, मैसूर, उत्तर प्रदेश तथा

1. Review of the First Five Year Plan, P. 213.

महाराष्ट राज्यों में केन्द्रित है। १९४२ ई० में रेशमी हस्त-करघों की संख्या अनुमानतः ३·४५ लाख थी जिनमें से प्रायः दो लाख करघे केवल असम में थे। किन्तु १९५१ ई० में रेशमी हस्त-करघों की संख्या का अनुमान केवल २ लाख ही लगाया गया था। इस प्रकार रेशमी हस्त-करघों की संख्या के सम्बन्ध में सही अन्दाजा लगाना कठिन है। हमारे देश से बंगाल, असम, मैसूर, कश्मीर तथा बिहार के कुछ भागों में कच्चे रेशम का उत्पादन होता है जिसका प्रयोग इस उद्योग द्वारा किया जाता है। १९७० ई० सभी प्रकार के कच्चे रेशम का उत्पादन २८·४ लाख कि० ग्रा० था।[1] जिसका प्रायः दो-तिहाई भाग मैसूर राज्य में उत्पन्न हुआ था। इसके बाद पश्चिमी बंगाल, असम, जम्मू-कश्मीर एवं बिहार का स्थान था। केन्द्रीय सिल्क-परिषद् इस उद्योग के विकास की देख-रेख करती है। किन्तु आजकाल इस उद्योग की स्थिति उतनी अच्छी नहीं है। वर्तमान समय में भारत से अधिकांश रेशम के कोये का निर्यात कर दिया जाता है। कृत्रिम रेशमी कपड़ों के उत्पादन से भी इस उद्योग को बहुत धक्का लगा जिससे इसकी स्थिति विशेष रूप से चिन्ताजनक हो गयी है। किन्तु, अब सरकार ने इस उद्योग को सहायता प्रदान करना प्रारम्भ किया है जिससे इसकी स्थिति में सुधार होने लगा है।

प्रथम योजना काल में इस उद्योग के विकास के लिए विशेष प्रयत्न किये गये। इस उद्योग की देख-रेख के लिए १९४९ ई० में एक केन्द्रीय सिल्क-परिषद् (Central Silk Board) की स्थापना हुई। इस परिषद् का मुख्य उद्देश्य देश में रेशम उद्योग के विकास को प्रोत्साहित करना है। परिषद् ने योजना काल में कच्चे रेशम की किस्म को सुधारने, इसके मूल्य को स्थायी बनाने तथा प्रशिक्षण एवं अनुसन्धान आदि कार्यों पर विशेष जोर दिया था। द्वितीय योजना काल में शहतूत तथा अन्य साधनों से प्राप्त रेशम (Mulberry and non-mulberry) के विकास पर पर्याप्त जोर दिया गया। योजना के अन्तर्गत विदेशी प्रतियोगिता से इस उद्योग को बचाने के लिए इसकी किस्म को सुधारने तथा उत्पादन-व्यय को कम करने पर विशेष जोर दिया गया था। द्वितीय योजनाकाल में रेशम उद्योग (Sericulture) के विकास पर कुल ३·१ करोड़ रुपया व्यय किया गया। इन प्रयत्नों के फलस्वरूप देश में कच्चे रेशम के उत्पादन में वृद्धि हो रही है। तृतीय योजना काल में इस उद्योग के विकास पर ४·४ करोड़ रुपये व्यय किये गये। योजना काल में कच्चे रेशम का उत्पादन १९६०-६१ ई० में १०·४ लाख कि० ग्राम से बढ़कर १९६५-६६ ई० में २१ लाख कि० ग्रा० हो गया। चतुर्थ योजना में इस मद में १३ करोड़ रुपये का व्यय प्रस्तावित है। चतुर्थ योजना के अन्त तक १९७३-७४ में इसके उत्पादन को बढ़ाकर ३० लाख कि० ग्रा० तथा निर्यात को १० करोड़ रुपये करने का आयोजन है।

३. ऊनी हस्त-करघा-उद्योग

(Woollen Handloom Industry)

प्राचीन काल में भारत का ऊनी-हस्त-करघा-उद्योग अपनी पराकाष्ठा पर था। मुगलों के शासनकाल में भारतीय शाल, कम्बल, कालीन तथा दरी आदि की मांग विदेशों में भी होती थी, किन्तु भारत का यह उद्योग आज संतोषजनक स्थिति में नहीं है। फिर भी, आजकाल देश के प्रत्येक राज्य में किसी-न किसी रूप में ऊनी वस्तुओं का उत्पादन होता है। १९५१ ई० में यहाँ

1· India 1971-72, P. 392.

प्राय: ८० हजार ऊनी करघे थे। ऊनी हस्त-करघा उद्योग द्वारा तैयार वस्तुओं की माँग मुख्य रूप से देश के उत्तरी हिस्से में होती है। इसका बहुत छोटा हिस्सा आजकल निर्यात किया जाता है। द्वितीय योजना काल मे ऊनी हस्त-करघा उद्योग के विकास पर २ करोड़ रुपये व्यय का आयोजन था। अखिल भारतीय खादी बोर्ड ने ऊनी करघा (खादी) उद्योग के सम्बन्ध में द्वितीय योजना काल के लिए एक विस्तृत कार्यक्रम तैयार किया था जिसके अनुसार कम्बल के उत्पादन को १९५५-५६ ई० में २·५५ लाख गज से बढ़ाकर १९६०-६१ ई० में १० लाख गज तथा अन्य प्रकार के ऊनी कपड़ों के उत्पादन को १९५६-५७ ई० में ५ २५ लाख गज से बढ़ाकर १९६०-६१ ई० में २१ लाख गज करने का आयोजन था। तृतीय योजना काल में लगभग दो लाख ऊनी करघों को काम में लाने का आयोजन था।

४. खादी उद्योग
(Khadi Industry)

हाथ से बुने कपड़ों में खादी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। देश में राष्ट्रीय आन्दोलन के साथ-साथ गाँधीजी ने हाथ से सूत कातने तथा बुनने का प्रचार भी आरम्भ किया। वास्तव में, खादी राष्ट्रीय आन्दोलन कार्यक्रम का एक आवश्यक अंग बन गया था। गाँधीजी के शब्दों में, देश के स्वराज्य में चर्खे का महत्त्वपूर्ण सहयोग रहा है। उन्होंने चर्खा से होनेवाले लाभ की व्याख्या निम्न प्रकार से की थी—"हाथ से कताई भारतीय कृषक के लिए आय का एक स्थायी एवं अतिरिक्त साधन है, क्योंकि भोजन के उपरान्त मनुष्यों की सबसे बड़ी आवश्यकता कपड़े की होती है। अत: यह शाश्वत एवं सार्वभौम है। इसके लिए किसी विशेष पूँजी तथा महँगे औजारों की आवश्यकता भी नहीं पड़ती। साथ ही, इसमें बहुत अधिक बुद्धि तथा कुशलता की भी आवश्यकता नहीं पड़ती। इसमें कम ही शारीरिक श्रम करना होता है। अत: देश के बालक तथा वृद्ध भी इस कार्य को समान रूप से कर सकते हैं।" गाँधीजी के शब्दों में चर्खा धार्मिक तथा सामाजिक भावनाओं का विरोध नहीं करता एवं अकाल का समाना करने का सबसे सहज और पूर्ण तरीका है। केवल चर्खे द्वारा ही हर किसान की झोपड़ी तक कार्य पहुँचाया जा सकता है जिससे वे बेकार न रहें। साथ ही, इसके प्रसार द्वारा देश के करोड़ों व्यक्तियों के बीच आय का समान वितरण हो सकेगा। इस प्रकार चर्खा से हमारे देश की आर्थिक व्यवस्था को बहुत से लाभ प्राप्त हुए हैं। इन्हीं कारणों से गाँधी जी ने इसे किसान तथा बुनकर दोनों का मेरुदण्ड बतलाया है। चर्खा द्वारा काते हुए सूत से जो कपड़ा हाथ-करघे पर बुना जाता है उसे ही खादी कहते है।

देश में राष्ट्रीय आन्दोलन के फलस्वरूप १९३०-३१ ई० से चर्खे से सूत कातने तथा खादी उद्योग विशेष प्रगति कर रहा है। १९३७ में अधिकांश प्रांतों में कांग्रेसी सरकारों की स्थापना से इस उद्योग को और भी बल मिला। १९४१ ई० में भारत सरकार ने इस उद्योग की जाँच के लिए एक तथ्य समिति (Fact Finding Committee) की नियुक्ति थी। इस समिति की सिफारिशों के आधार पर सरकार ने इस उद्योग को प्रोत्साहन देना आरम्भ किया। स्वतन्त्रता-प्राप्ति के उपरान्त तो इस उद्योग के विकास के लिए सरकार विशेष रूप से प्रयत्नशील रही है। १९५३ ई० में भारत सरकार ने इस उद्योग के लिए एक अखिल भारतीय खादी तथा ग्राम-उद्योग परिषद् (All India Khadi and Village Industries Board) की स्थापना की। खादी उद्योग के विकास के लिए इस परिषद्

को प्रारम्भ में २ करोड़ रुपये का ऋण एवं अनुदान दिया गया। प्रथम योजना काल में खादी उद्योग के विकास पर कुल १'१४ करोड़ रुपये व्यय का आयोजन था। परिषद् ने इसके विकास का एक विश्वत कार्यक्रम अपनाया। इन सब प्रयत्नों के फलस्वरूप योजना काल में कुल खादी उत्पादन का मूल्य १९५०-५१ ई० में १.३ करोड़ रुपये से बढ़कर १९५५-५६ ई० में ५.८ करोड़ रुपये तथा १९५९-६० ई० में प्राय: १४'१४ करोड़ रुपये हो गये। प्रथम योजना काल में परिषद् द्वारा नासिक में एक केन्द्रीय तथा अन्य क्षेत्रीय प्रशिक्षण संस्थाएँ स्थापित की गयीं। खादी के विक्रय एवं प्रचार पर भी इस योजना काल में विशेष जोर दिया गया।

द्वितीय पंचवर्षीय योजना (Second Five Year Plan)[1] में भी विकेन्द्रित कताई तथा खादी (Decentralised Spinning and Khadi) के विकास पर पर्याप्त जोर दिया गया था। योजना आयोग के अनुसार यदि हस्त-करघा द्वारा आवश्यक कुल सूत विकेन्द्रित कताई द्वारा ही प्राप्त हो जाय तो इससे ग्रामीण क्षेत्र में रोजगार की वृद्धि होगी तथा सूत के लिए हस्त-करघा की मिलों पर निर्भरता भी समाप्त हो जायगी। अत: इसके विकास पर द्वितीय योजना के अन्तर्गत विशेष जोर दिया गया था। द्वितीय योजनाकाल में विकेन्द्रित कताई एवं खादी की मद में कुल १४.८ करोड़ रुपये व्यय का आयोजन था। इसके लिए अम्बर चर्खा के प्रयोग तथा प्रचार की व्यवस्था की जा रही है। एक चर्खे के निर्माण में प्राय: १०० रु० खर्च पड़ता है। द्वितीय योजनाकाल में अखिल भारतीय खादी ग्रामोद्योग परिषद् ने २.५ लाख अम्बर चर्खे के निर्माण तथा प्रचार का एक विस्तृत कार्यक्रम अपनाया था। १९६१ ई० तक ३८८,३०० अम्बर चर्खे वितरित किये गये। मिल के बने कपड़ों पर एक विशेष प्रकार का कर लगाया जाता है जिससे प्राप्त रकम को खादी के विकास में खर्च किया जाता है। इन प्रयत्नों के फलस्वरूप परम्परागत खादी का उत्पादन १९५०-५१ ई० में ७० लाख गज से बढ़कर १९६०-६१ ई० में ६४८ लाख गज हो गया।

तृतीय योजना (Third Five Year Plan) काल में खादी के उत्पादन का लक्ष्य १६ करोड़ गज निश्चित किया गया था, किन्तु इसका उत्पादन १९६५-६६ ई० तक ११ करोड़ गज ही हो पाया। योजनाकाल में ३ लाख अतिरिक्त अम्बर चर्खे को काम में लाने का आयोजन था, किन्तु इस सम्बन्ध में बहुत ही कम प्रगति हो पायी। तृतीय योजनाकाल में खादी के विकास पर ६० करोड़ रुपये व्यय किये गये। १९६३-६४ ई० में खादी उद्योग में प्राय: १८.६ लाख व्यक्तियों को रोजगार मिला था। अप्रैल, १९६४ ई० से खादी वस्त्र के विक्रय पर से छूट को समाप्त कर दिया गया। इसकी जगह पर जो कपास उत्पन्न करते तथा सूत कातते हैं उन्हें मुफ्त में वस्त्र बुनने की सुविधा दी जाती हैं तथा जो केवल सूत कातते हैं उन्हें ३७ पैसे प्रति वर्ग गज कपड़े की दर से उतना वस्त्र दिया जाता है।

५. कुटीर दियासलाई उद्योग (Cottage Match Industry) :—कुछ समय पूर्व तक देश में दियासलाई उत्पन्न करने के कारखानों को तीन वर्गों में विभाजित किया जाता था—(क) पाँच लाख ग्रौस से अधिक वार्षिक उत्पादन वाले कारखाने, (ख) १०० ग्रौस प्रतिदिन से अधिक पर पाँच लाख ग्रौस से वार्षिक उत्पादन वाले कारखाने तथा (ग) १०० ग्रौस प्रतिदिन से कम उत्पादन करने वाले कारखाने। हाल में एक चौथे वर्ग का निर्माण किया गया है जिसके अन्तर्गत १५ ग्रौस प्रतिदिन

1. India—1964. P. 287.
2. Second Five Year Plan.

से कम उत्पन्न करने वाले कारखाने रखे गए हैं। भारत के कुटीर दियासलाई उद्योग के समक्ष निम्न-लिखित प्रमुख समस्याएँ हैं :—(१) बड़े उद्योगों की प्रतियोगिता, (२) वित्तीय अभाव, (३) समुचित विक्रय-व्यवस्था का अभाव तथा (४) कच्चे पदार्थों की कमी आदि। बड़े उद्योगों से प्रतियोगिता के भय को दूर करने के लिए सरकार द्वारा 'क' वर्ग के कारखानों की क्षमता के विस्तार पर प्रतिबन्ध लगा दिया गया है। वित्तीय संकट को दूर करने के लिए कुटीर दियासलाई उद्योग को उत्पादन कर से मुक्त करने की सिफारिश की गयी है। द्वितीय योजना काल में खादी तथा ग्रामोद्योग परिषद् ने 'ख' वर्ग के १०० दियासलाई के कारखानों तथा तृतीय योजना काल में 'घ' वर्ग के २०० नये कारखानों की स्थापना करने की व्यवस्था की थी।

६. हाथ के बने कागज का उद्योग (Hand-made Paper Industry) :—हाथ के बने कागज के कुछ विशिष्ट गुणों के कारण आधुनिक औद्योगिक युग में भी यह उद्योग चल रहा है। उदाहरण के लिए, अधिकांश देशों में करेंसी नोट आज भी हाथ के बने कागज पर छपते हैं। भारत में हाथ से बने कागज बनाने का व्यवसाय शताब्दियों से चला आ रहा है, किन्तु मिल के बने कागज की प्रतियोगिता के कारण अब यह उद्योग प्राय: समाप्त हो चला था। परन्तु स्वदेशी आन्दोलन से इस उद्योग को भी पर्याप्त सहायता मिली। आजकल हाथ से कागज बनाने का कार्य उत्तर प्रदेश, कश्मीर, हैदराबाद, महाराष्ट्र तथा तमिलनाडु आदि राज्यों में किया जाता है। अखिल भारतीय खादी तथा ग्रामोद्योग परिषद् इस उद्योग के विकास के लिए विशेष प्रयत्नशील है। परिषद् ने इस उद्योग के विकास के लिए ऋण, अनुदान, यांत्रिक सहायता तथा कार्यकर्त्ताओं के प्रशिक्षण आदि को सहायता देकर विशेष कार्य किया है। परिषद् ने प्रथम योजना के अन्त तक हाथ से कागज बनाने के ६३ केन्द्र की स्थापना की थी। द्वितीय योजनाकाल में ८० कारखाने एवं ४०० प्रशिक्षण केन्द्रों की स्थापना करने का आयोजन था।[1] योजना के अन्त तक हाथ से बने कागज को बढ़ाकर १९६०-६१ ई० तक ४४०० टन करने का आयोजन था।

७. अन्य कुटीर उद्योग-धन्धे :—इनके अतिरिक्त देश में अनेक प्रकार के कुटीर एवं ग्रामीण उद्योग हैं जिनमें चावल की हाथ कुटाई, गुड़ एवं खाण्डसारी उद्योग तथा तेल घानी उद्योग आदि विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। देश के विभिन्न भागों में लकड़ी का काम, लोहे का काम, पीतल के बर्तन का काम, सोने एवं चाँदी के काम तथा साबुन, खिलौने एवं मूर्त्ति आदि के निर्माण के कार्य भी स्थानीय तौर पर किये जाते हैं। चावल की हाथ कुटाई को प्रोत्साहित करने के लिए ७ आने प्रति मन के हिसाब से आर्थिक सहायता दी जाती है। साथ ही, द्वितीय योजना में इस प्रकार के चावल को विक्रय-कर से मुक्त करने की सिफारिश की गयी थी। इसके लिए द्वितीय योजना के अन्तर्गत ५ करोड़ रुपये व्यय का आयोजन था। इसी प्रकार तेलघानी उद्योग पर योजनाकाल में ६ करोड़ रुपये तथा गुड़ एवं खांडसारी पर ७ करोड़ रुपये व्यय का आयोजन था।

कुटीर एवं लघु उद्योगों की समस्याएँ

(Problems of Cottage and Small Scale Industries)

इस प्रकार भारत की आर्थिक व्यवस्था में कुटीर एवं लघु उद्योग का बड़ा ही महत्त्वपूर्ण स्थान है। फिर भी, इसके समक्ष आज अनेक कठिनाइयाँ हैं जिनके फलस्वरूप इनकी स्थिति बहुत ही दयनीय है। कुटीर एवं लघु-उद्योगों की निम्नांकित प्रमुख कठिनाइयाँ हैं :—

1. Second Five Year Plan, P. 448.

(१) कच्चे पदार्थ-सम्बन्धी कठिनाई (Problem of Raw materials) :–कच्चे पदार्थ के सम्बन्ध में कुटीर एवं लघु उद्योगों को प्रायः उन वस्तुओं की आवश्यकता होती है जिनका उत्पादन बड़े पैमाने के उद्योगों में किया जाता है। उदाहरण के लिए, सूती हस्त-करघा उद्योग मिल के सूत पर पूर्ण रूप से निर्भर करता है। द्वितीय महायुद्ध के समय में हस्त-करघा उद्योग को सूत की कठिनाइयों का सामना करना पड़ता था। इस प्रकार कुटीर एवं लघु उद्योगों को कच्चा माल पर्याप्त मात्रा में नहीं मिलता है या कठिनाई से मिलता है। साथ ही, छोटे पैमाने पर खरीद होने तथा दलालों के कारण इन्हें बहुधा अधिक मूल्य भी चुकाना पड़ता है। इस कठिनाई को औद्योगिक सहकारी समितियों की स्थापना के द्वारा दूर किया जा सकता है। अधिकांश राज्यों में औद्योगिक सहकारिता के विकास पर भी जोर दिया जा रहा है। किन्तु समस्या की गम्भीरता को देखते हुए यह कहा जा सकता है कि इस क्षेत्र में और अधिक तत्परता की आवश्यकता है।

(२) उत्पादन की प्रविधि-सम्बन्धी कठिनाई (Technique of Production) :–कुटीर एवं लघु-उद्योगों में बहुधा उत्पादन के प्राचीन एवं परम्परागत तरीकों का ही प्रयोग किया जाता। ये तरीके बहुत प्राचीन हो चुके है जिससे इनकी उपयोगिता प्रायः समाप्त हो चुकी है। कारीगर अधिकांशतः अशिक्षित होते है जिससे इन्हें अपने व्यवसाय के सम्बन्ध में उचित ज्ञान नही रहता है। इन कारणों से उत्पादन अच्छी किस्म का नही हो पाता। उत्पादन की प्रविधि में सुधार लाने तथा कारीगरों की शिक्षा की व्यवस्था के लिए देश में संस्थाओं का अभाव है। कुछ संस्थाएँ निस्संदेह इस क्षेत्र में प्रशंसनीय कार्य कर रही हैं, जिनमें अखिल भारतीय बुनकर संघ, अखिल भारतीय ग्रामोद्योग संघ, अखिल भारतीय हस्त-करघा परिषद् तथा अखिल भारतीय खादी एवं ग्रामोद्योग परिषद् विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। प्रथम योजनाकाल में इस उद्देश्य से बहुत से कार्य किये गये थे। प्रत्येक राज्य सरकार द्वारा अनेक प्रशिक्षण-सम्बन्धी संस्थाओं की स्थापना की गयी थी। फोर्ड फाउण्डेशन द्वारा नियुक्त अन्तर्राष्ट्रीय आयोजन दल ने १९५५ ई० में अपने प्रतिवेदन में लघु एवं कुटीर उद्योगों के सम्बन्ध में चार शिल्पकला ज्ञान-सम्बन्धी केन्द्रीय संस्थानों की स्थापना की सिफारिश की थी। सरकार द्वारा बम्बई, कलकत्ता, दिल्ली तथा मद्रास में इस प्रकार की चार प्रादेशिक संस्थाएँ स्थापित की गयी हैं। इनके अतिरिक्त उद्योग विस्तार सेवा के तत्त्वावधान में १६ लघु उद्योग सेवा-संस्थानों की स्थापना की गयी।

कुटीर एवं लघु उद्योगों की उत्पादन की विधि में सुधार लाने के लिए यह आवश्यक है कि नवीन विधियों को लोकप्रिय बनाकर कारीगरों को उन्हें अपनाने की प्रेरणा दी जाय। स्थान-स्थान पर ऐसे केन्द्र स्थापित किये जायँ, जहाँ नये-नये आधुनिक यन्त्रों का प्रदर्शन किया जाय तथा इनके प्रयोग के सम्बन्ध में शिक्षा दी जाय। सरकार द्वारा कारीगरों को ऐसे यन्त्र किस्त पर दिये जायँ जिससे वे सुगमतापूर्वक आधुनिक यन्त्रों को अपना सकें। सहकारी समितियों को भी ऐसा करने के लिए प्रोत्साहित किया जा सकता है। साथ ही, कारीगरों को व्यावसायिक शिक्षा देने के उद्देश्य से स्थान-स्थान पर प्रशिक्षण केन्द्रों की स्थापना की जानी चाहिए। पचवर्षीय योजनाओं के अन्तर्गत स्थापित विभिन्न परिषदें एवं संस्थाएँ इस ओर विशेष ध्यान दे रही हैं। १९५५ ई० में सरकार द्वारा एक राष्ट्रीय लघु उद्योग निगम (National Small Industries Corporation) की स्थापना की गयी जो लघु उद्योगों को अन्य सहायता प्रदान करने के अतिरिक्त हायर परचेज (Hire purchase)

पर यन्त्र प्रदान करती है। अब तक निगम द्वारा इस कार्य के अन्तर्गत ४५.८ करोड़ रुपये की मशीनें लघु उद्योगों को हायर-परचेज पर प्रदान की गयी हैं।[1]

(३) वित्त-सम्बन्धी कठिनाई (Lack of Finance) :—वित्त-सम्बन्धी कठिनाई कुटीर एवं लघु उद्योगों की एक प्रमुख कठिनाई है। कारीगर बहुधा निर्धन होते हैं जिससे इनके पास आवश्यक मात्रा में पूँजी नहीं रहती। पूँजी के अभाव में इन्हें अनेक प्रकार की कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। इन्हें मशीन एवं आवश्यक औजार खरीदने के लिए दीर्घकालीन पूँजी तथा कच्चा माल खरीदने एवं पारिश्रमिक आदि चुकाने के लिए अल्पकालीन पूँजी की आवश्यकता पड़ती है। किन्तु आवश्यक पूँजी के अभाव में इन चीजों को खरीदने में ये बहुधा असमर्थ होते हैं। निर्धन होने के कारण इन्हें कर्ज लेना पड़ता है। साथ ही, ऋण देने वाले महाजनों या व्यापारियों के हाथ ही इन्हें अपना माल भी कम ही मूल्य पर बेचना पड़ता है जिससे इनके परिश्रम का उचित फल भी नहीं मिल पाता। पूँजी के अभाव में कारीगर कभी-कभी महाजन के यहाँ ही एक निश्चित वेतन पर काम करने लगते हैं। इस प्रकार भारतीय कुटीर एवं लघु उद्योगों के विकास के मार्ग में पूँजी की कठि-नाई आज सबसे बड़ी कठिनाई है।

इस कठिनाई को दूर करने के लिए कुटीर एवं लघु उद्योगों के बीच औद्योगिक सहकारिता का संगठन आवश्यक है। सहकारी समितियों द्वारा इन्हें उचित समय तथा कम सूद की दर पर पूँजी प्राप्त हो सकेगी। इस सम्बन्ध में केन्द्रीय बैंकिंग जाँच समिति ने भी सुझाव दिया था कि कारीगरों को अपनी सहकारी समितियाँ स्थापित करनी चाहिए। अन्तर्राष्ट्रीय आयोजन दल ने यह सिफारिश की थी कि—(क) सहकारी बैंकों को इन उद्योगों को वित्तीय सहायता प्रदान करने की ओर अधिक ध्यान देना चाहिए, (ख) व्यवसायिक बैंकों को भी इस दिशा में अधिक सहायता प्रदान करने के लिए तत्पर रहना चाहिए, (ग) प्रत्येक राज्य में एक राज्य वित्त-निगम की स्थापना की जानी चाहिए जो लघु उद्योगों को वित्तीय सहायता प्रदान करे, तथा (घ) वास्तविक सम्पत्ति की प्रतिभूति पर कर्ज देने की प्रथा को प्रोत्साहित करना चाहिए।

आजकल सरकार द्वारा कुटीर एवं लघु उद्योगों को वित्तीय सहायता प्रदान करने पर विशेष जोर दिया जा रहा है। केन्द्र एवं राज्य सरकार भी इस ओर अधिक ध्यान दे रही है। १९६०-६१ ई० में भारत सरकार ने लघु उद्योगों के विकास के लिए राज्य सरकारों को ७.७ करोड़ रुपया ऋण एवं अनुदान के रूप में प्रदान किया था। देश के प्रायः सभी राज्यों में राज्य वित्तीय निगम स्थापित किये गये हैं जो लघु-उद्योगों को वित्तीय सहायता प्रदान करते हैं। जुलाई, १९६० ई० से रिजर्व बैंक ने वित्तीय संस्थाओं को लघु उद्योग को ऋण प्रदान करने के लिए एक Guarantee Organisation की स्थापना की है जिसने प्रारम्भ से लेकर दिसम्बर, १९७० ई० के अन्त तक ७१६ करोड़ रुपये की गारन्टी प्रदान की।[2] दिसम्बर १९७० तक व्यावसायिक बैंकों ने लघु औद्योगिक इकाइयों को कुल ८५६ करोड़ रुपये का ऋण प्रदान किया था। इस प्रकार आजकल कुटीर एवं लघु उद्योगों को वित्तीय सहायता प्रदान करने के लिए सरकार द्वारा विशेष प्रयत्न किये जा रहे हैं। किन्तु इस कठिनाई को दूर करने के लिए कारीगरों के मध्य औद्योगिक सहकारिता (Industrial Co-operative) की स्थापना पर अधिक ध्यान देना लाभदायक होगा। प्रत्येक राज्य में औद्योगिक

1. India—1971-72, P. 391.
2. India—1971-72; p. 389.

सहकारिता संगठन को निस्सदेह प्रोत्साहित किया जा रहा है। किन्तु इनके विकास की गति इतनी मन्द है कि इससे अभी तक बहुत ही कम लाभ हो पाया है।

(४) विक्रय-व्यवस्था-सम्बन्धी कठिनाइयाँ (Problem of Marketing) :—कुटीर उद्योगों द्वारा निर्मित वस्तुओं की विक्रय-व्यवस्था भी दोषपूर्ण है। देश में इनकी वस्तुओं के विक्रय के लिए संगठित बाजारों का अभाव है। संगठित बाजार के अभाव में करीगरो को विक्रय के लिए स्वयं इधर-उधर जाना पड़ता है जिससे इनके समय और शक्ति की हानि होती है तथा उचित मूल्य भी नहीं मिल पाता। बाजारों में तरह-तरह के बिचवैये तथा दलाल पाये जाते हैं जो अपनी अनावश्यक सेवाओं के लिए कारीगरों के लाभ का एक हिस्सा कमीशन के रूप में वसूल करते है। साथ ही, बाजार मे इन उद्योगों की वस्तुओं को कठिन प्रतियोगिता का भी सामना करना पड़ता है। विक्रय-व्यवस्था में सुधार लाने के लिए सहकारी विक्रय समितियों का संगठन अनिवार्य है। ये समितियाँ इनकी वस्तुओं को उचित मूल्य पर बेचने की व्यवस्था करेगी। किन्तु इस समय सबसे बड़ी कठिनाई इनकी वस्तुओं की मांग का अभाव है; अत, मांग बढ़ाने के तरीकों पर जोर देना अनिवार्य है। इस उद्देश्य से सर्वप्रथम तो इनकी वस्तुओं की किस्म में सुधार लाना चाहिए तथा नमूना बनाने की पद्धति पर जोर देना चाहिए। इन उद्योगों की वस्तुओं के निर्यात को बढ़ाकर भी इनकी मांग में वृद्धि की जा सकती है। आस्ट्रेलिया, न्यूजीलैंड, कैनाडा, अमेरिका तथा मध्य-पूर्वी देशों में प्रचार द्वारा इनके उपयोग को बढ़ाने का बहुत बड़ा क्षेत्र है। 'अन्तर्राष्ट्रीय आयोजन मंडल' ने इस उद्देश्य से उत्तरी अमेरिका तथा यूरोप में एक-एक 'निर्यात-विकास कार्यालय' खोलने की सिफारिश की थी। कुटीर एवं लघु उद्योगों की वस्तुओं के नमूना एवं वर्गीकरण द्वारा भी इनके निर्यात को प्रोत्साहित किया जा सकता है।

(५) कर-सम्बन्धी कठिनाइयाँ (Problem of Taxation) :—केन्द्र तथा राज्य सरकारों द्वारा कुटीर एवं लघु उद्योगों पर तरह-तरह के कर भी लगाये जाते हैं। वास्तव में, ये उद्योग इन करों के वहन करने में असमर्थ हैं, इससे बड़े उद्योगों की वस्तुओं से प्रतियोगिता करने में इनकी शक्ति भी घट जाती है। अतः इन उद्योगों की वस्तुओं को विक्रय-कर, उत्पादन-कर, निर्यात-कर आदि करों से मुक्त कर देना चाहिए जिससे बड़े उद्योगों की वस्तुओं का ये सुगमतापूर्वक प्रतियोगिता कर सकें। आजकल सरकार ने लघु एवं कुटीर उद्योगों की वस्तुओं पर कम कर लगाने की नीति को अपनाया है। इतना ही नहीं, कुछ अनुरूप बड़े पैमाने के उद्योगों पर सरकार द्वारा एक विशेष कर भी लगाया जाता है जिससे कुटीर अथवा लघु उद्योगों को सहायता दी जाती है। उदाहरणार्थ सरकार ने हस्त-करघा उद्योग के विकास के लिए सूती कारखानो के कपड़े पर तीन पाई प्रति गज की दर से एक विशेष प्रकार का कर लगाया है।

(६) बड़े पैमाने के उद्योगों से प्रतियोगिता की कठिनाइयाँ (Competition with large scale industries) :—कुटीर एवं लघु उद्योगों के समक्ष उपरोक्त सारी कठिनाइयों के अतिरिक्त मिल की बनी वस्तुओं की प्रतियोगिता-सम्बन्धी कठिनाई भी एक प्रमुख कठिनाई है। मिल की बनी हुई वस्तुएँ कुटीर उद्योगों की वस्तुओं की अपेक्षा सस्ती होती हैं; अतः लोग मिल की बनी वस्तुओं को ही खरीदना चाहते हैं। इस प्रतियोगिता से इन उद्योगों की रक्षा के लिए यह आवश्यक होगा कि दोनों प्रकार के उद्योगों के उत्पादन-क्षेत्र पृथक्-पृथक् कर दिये जायँ तथा बड़े पैमाने के उद्योग के उत्पादन की मात्रा सीमित कर दी जाय। इससे प्रतियोगिता का भय समाप्त हो जायगा। आजकल

भारत सरकार ने इस उद्देश्य से उत्पादन के सामान्य कार्यक्रम (Common production programme) की नीति को अपनाया है जिसके अनुसार उत्पादन-क्षेत्रों का विभाजन और वर्गीकरण करके उनको सुरक्षित बनाने का प्रयत्न किया जा रहा है।

(७) संगठन का अभाव (Lack of Organisation) :—कारीगरों के बीच उचित संगठन के अभाव में भी इन्हें तरह-तरह की कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। अशिक्षा तथा अज्ञानता के कारण भी कारीगर बहुधा संगठन के महत्त्व को नहीं समझते हैं। अतः इनके बीच संगठन को प्रोत्साहित करने के लिए सरकार को श्रमिक-संघों की स्थापना पर जोर देना चाहिए तथा इनके संगठनों को आर्थिक सहायता भी प्रदान करनी चाहिए।

इस प्रकार कुटीर एवं लघु उद्योगों के समक्ष अनेक कठिनाइयाँ हैं जिनका समाधान इनके विकास के लिए अनिवार्य हैं। इन उद्योगों की समस्याओं तथा इनके उपचारों के अध्ययन से दो बातें स्पष्ट होती हैं—सर्वप्रथम तो कुटीर एवं लघु उद्योगों के विकास के लिए सरकारी प्रयत्न आवश्यक हैं। गत कुछ वर्षों से, विशेषतः स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद से सरकार निस्ससन्देह इस क्षेत्र में अधिक तत्परता से काम कर रही है। किन्तु, इन उद्योगों की वर्तमान स्थिति इतनी अधिक चिन्ताजनक है कि सरकारी सहायता के वगैर इनका विकास सम्भव नहीं जान पड़ता। अतः सरकार को इस क्षेत्र में और अधिक तत्परता से कार्य करने की आवश्यकता है। दूसरी महत्त्वपूर्ण बात यह है कि इन उद्योगों की कठिनाइयों के निवारण में औद्योगिक सहकारिता (Industrial Co-operatives) से बहुत सहायता मिल सकती हैं। इस प्रकार की समितियाँ उनके लिए पूँजी, औजार, कच्चे पदार्थ आदि की व्यवस्था करेंगी तथा इनके द्वारा उत्पादित मालों के विक्रय की जिम्मेदारी भी ले सकती है। इस प्रकार इन उद्योगों के विकास के लिए औद्योगिक सहकारिता का संगठन अनिवार्य है।

कुटीर एवं लघु उद्योगों के विकास के लिए सरकारी प्रयत्न

(Government Measures for the Development of Cottage and Small Scale Industries)

स्वतन्त्रता-प्राप्ति के पूर्व किये गये सरकारी प्रयत्न (Government measures in the pre-independence days) :—स्वतन्त्रता-प्राप्ति के पूर्व ब्रिटिश सरकार द्वारा देश के कुटीर एवं लघु-उद्योगों के विकास के लिए प्रायः कोई कार्य नहीं किया गया था। प्रारम्भ में ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने प्रारम्भ में इन उद्योगों को कुछ प्रोत्साहन दिया, किन्तु बाद में ग्रेट ब्रिटेन के उद्योगपतियों के दबाव में आकर उसने ऐसी नीति का अनुकरण किया जिसका परिणाम भारतीय उद्योगों के लिए बड़ा ही घातक सिद्ध हुआ। धीरे-धीरे ब्रिटिश उद्योग के बने माल भारतीय बाजार में छा गये तथा घरेलू वस्तुओं की मांग समाप्त हो गयी। बाद में भी सरकार इन उद्योगों के विकास के प्रति उदासीन रहने लगी। अतः ये अवनति की दशा में ही पड़े रहे। १९३० ई० के बाद देश के विभिन्न प्रान्तों में कुटीर उद्योग-धन्धों को पुनर्जीवित करने के लिए कुछ प्रयत्न अवश्य किये गये तथा १९३५ ई० में इनके निरीक्षण के लिए प्रत्येक प्रान्तों में एक उद्योग विभाग की स्थापना भी की गयी, किन्तु इन विभागों ने जितनी तत्परता से काम करना चाहिए था, नहीं किया। अतः इनसे पर्याप्त लाभ प्राप्त नहीं हो सका। १९३७ ई० में अधिकांश प्रान्तों में कांग्रेसी मन्त्रिमण्डल की स्थापना हुई जिन्होंने इन उद्योगों के विकास की ओर विशेष ध्यान दिया। किन्तु कांग्रेसी सरकारें बहुत दिनों तक नहीं ठहर सकीं, अतः सरकारी सहायता का यह क्रम स्थायी रूप नहीं ले सका।

स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद किये गये प्रयत्न

(Government Measures after the Independence)

संतोष का विषय है कि स्वतन्त्रता-प्राप्ति के उपरान्त सरकार द्वारा लघु एव कुटीर उद्योगों के के विकास लिए सराहनीय प्रयत्न किये जा रहे है। १९४८ ई० के औद्योगिक नीति-सम्बन्धी प्रस्ताव में कुटीर उद्योगों के महत्त्व पर पूरा जोर दिया गया था। इस नीति में यह स्पष्ट रूप से कहा गया कि सरकार कुटीर एवं लघु उद्योगो के विकास के लिए आवश्यक प्रोत्साहन प्रदान करेगी। प्रथम पंचवर्षीय योजना के अन्तर्गत तो ग्रामीण विकास पर पर्याप्त जोर होने के कारण कुटीर एवं ग्रामीण उद्योगों के विकास पर भी पूरा-पूरा जोर दिया गया था। योजना आयोग के अनुसार सार्वजनिक सेवाओं तथा वृहत् प्रमाप उद्योगों में नियुक्तियों की संख्या सीमित होने के कारण रोजगार में वृद्धि के उद्देश्य से देश में कुटीर एवं लघु-उद्योगों के विकास की बड़ी आवश्यकता है। द्वितीय योजनाकाल में कुटीर एवं लघु-उद्योगों के विकास पर पर्याप्त जोर दिया गया था। १९५६ ई० की औद्योगिक नीति-सम्बन्धी प्रस्ताव में भी देश की औद्योगिक व्यवस्था में कुटीर एवं लघु-उद्योगों के महत्त्व को स्वीकार किया गया था। १९७० ई० में सरकार द्वारा घोषित नयी औद्योगिक लाईसेंस नीति में भी कुटीर एवं लघु-उद्योगों के महत्त्व को स्पष्ट रूप से स्वीकार किया गया है।

सर्वत्रथम तो स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात् कुटीर एवं लघु-उद्योगों के विकास के लिए सरकार द्वारा कई आवश्यक मंडल एवं संस्थानों की स्थापना की गई है जिनमें निम्नलिखित प्रधान हैं :—

(१) कुटीर उद्योग प्रमण्डल (Cottage Industries Board), १९४८;

(२) केन्द्रीय सिल्क परिषद् (Central Silk Board), १९४९;

(३) अखिल भारतीय हस्त-कला प्रमण्डल (All India Handicrafts Board), १९५२;

(४) अखिल भारतीय हस्त-करघा प्रमण्डल (All India Handloom Board), १९५२;

(५) अखिल भारतीय खादी तथा ग्रामोद्योग आयोग (All India Khadi and Village Industries Commission), १९५५;

(६) लघु उद्योग प्रमण्डल (Small Scale Industries Board), १९५५; तथा

(७) नारियल जटा परिषद् (Coir Board)।

इन्हें सरकार द्वारा आवश्यकता अनुसार बहुत-से अधिकार तथा सुचारू रूप से कार्य करने के लिए आवश्यक धन-राशि भी दी गयी है। इनमें से प्रत्येक के पृथक्-पृथक् कार्य हैं।

सरकार द्वारा लघु एवं कुटीर-उद्योगों के विकास के लिए और भी बहुत-से महत्त्वपूर्ण कार्य किये जा रहे हैं। इन उद्योगों के सहायतार्थ अनुरूप बड़े पैमाने के उद्योगों पर कर लगाने, उत्पादन-क्षेत्र के निग्रह करने तथा आर्थिक सहायता द्वारा इन्हें अल्पकालीन सुरक्षा प्रदान करने के सिद्धांत को भी सरकार ने स्वीकार किया है। इसके फलस्वरूप मिल द्वारा बुने हुए कपड़े पर ३ पैसे प्रति गज का एक कर लगाया जाता है जिससे प्रायः ६ करोड़ रुपये की वार्षिक आय होती है। इस रकम से हस्त-करघा उद्योग को सहायता प्रदान की जाती है। उत्पादन-क्षेत्र के निग्रह के अन्त-

गर्त सूती-वस्त्र मिलों को उनके पूर्व उत्पादन के केवल ६० प्रतिशत धोती एवं साड़ियाँ उत्पन्न करने की अनुमति दी गयी है। सरकार ने अपनी भंडार खरीद-नीति (Stores Purchase Policy) में भी आवश्यक संशोधन किया है जिसके अनुसार खरीद के समय कुटीर एवं लघु-उद्योगों की वस्तुओं को प्राथमिकता दी जाती है। इस खरीद नीति के अन्तर्गत १९६२-६३ ई० में केवल केन्द्रीय सरकार[1] ने कुटीर एवं लघु-उद्योगों से ३०·२ करोड़ रुपये की वस्तुएँ खरीद की थी। लघु उद्योगों के विकास के लिए सामुदायिक विकास योजना के अन्तर्गत कुछ चुने हुए सामुदायिक विकास तथा राष्ट्रीय विस्तार खण्डों में औद्योगिक पदाधिकारियों की नियुक्ति की गयी है। इन उद्योगों को पूँजी एवं कच्चे माल के क्रय तथा विक्रय-सम्बन्धी सुविधाएँ प्रदान करने के लिए इनके बीच औद्योगिक सहकारिता के संगठन पर जोर दिया जा रहा है।

अन्तर्राष्ट्रीय आयोजन मण्डल (International Planning Team) :–१९५९ ई० में भारत सरकार ने फोर्ड फाउण्डेशन की सहायता से लघु उद्योगों की उत्पादन-सम्बन्धी समस्याओं तथा उनके रोजगार प्रदान करने के सामर्थ्य के अध्ययन के लिए विदेशी विशेषज्ञों के एक दल को आमन्त्रित किया था। इस अन्तर्राष्ट्रीय आयोजन-मण्डल ने देश के लघु-उद्योगों का सर्वेक्षण किया। इस मण्डल का प्रतिवेदन १९५४ ई० में प्रकाशित हुआ जिसमें इस बात पर जोर दिया गया था कि लघु-उद्योगों की त्रुटियों का एक प्रमुख कारण त्रुटिपूर्ण उत्पादन और प्रबन्ध है। मण्डल के अनुसार इन उद्योगों के विकास की शिथिलता का मुख्य कारण निजी क्षेत्र में आवश्यक प्रेरणा का अभाव है। साथ ही, सरकारी सहायता एवं सरकारी खरीद पर अत्यधिक निर्भरता, उत्पादन तथा विपणन के प्राचीन (Outdated) तरीके, साख की समुचित सुविधा तथा व्यवस्थित सुधार का अभाव आदि भी इनके लिए कम उत्तरदायी नहीं है। मण्डल के अनुसार इन उद्योगों की अवनति का मुख्य कारण उत्पादन एवं प्रबन्ध के सम्बन्ध में उचित तरीकों का अभाव तथा उत्पादन के सुधरे हुए तरीकों को नहीं अपनाना है। मण्डल के अनुसार, "युक्तिकरण एवं अभिनवीकरण को प्रक्रिया को रोकना केवल तर्कहीन ही नहीं है, वरन् इसका तात्पर्य भारतीय लघु उद्योगों में गति-हीनता तथा प्रतिगामिता को प्रश्रय देना होगा।" (To prevent rationalization to stop the process of modernization is not only illogical, it will force stagnation and retrogression of Indian small industries.) आयोजन मण्डल की राय में स्थायी औद्योगिक विकास के लिए निजी प्रेरणा एवं पूँजी को अत्यधिक प्रोत्साहित करना अनिवार्य है।

अन्तर्राष्ट्रीय आयोजन मण्डल ने भारत में लघु उद्योगों के विकास के लिए बहुत सारे सुझाव दिये थे जिनमें निम्नलिखित विशेष रूप से प्रमुख हैं :—

(१) देश के विभिन्न भागों में चार बहुउद्देशीय प्राद्योगिक संस्थान (Multipurpose Institutes of Technology) की स्थापना की जाय। ये संस्थाएँ छोटे-छोटे उद्योगों को व्यावसायिक प्रबन्ध, वित्त तथा विक्रय-सम्बन्धी सलाह प्रदान करेंगी।

(२) नमूना-सम्बन्धी एक राष्ट्रीय विद्यालय (A national school of design) की स्थापना की जाय। इस संस्था में कुटीर तथा लघु-उद्योगों के लिए नये-नये नमूने तथा डिजाइन आदि के सम्बन्ध में शिक्षा प्रदान की जायगी।

(३) लघु-उद्योगों की वस्तुओं की समुचित विक्रय-व्यवस्था के लिए एक सेवा निगम (A Marketing Service Corporation) की स्थापना की जाय जो लघु उद्योगों की वस्तुओं के विक्रय व्यवस्था करेगी।

---

1. The Third Plan : Mid-Term Appraisal.

(४) एक लघु उद्योग निगम (Small Industries Corporation) की स्थापना की जाय। साथ ही, उत्पादन, प्रशिक्षण एवं प्राविधिक विकास के लिए प्रदर्शनार्थ छोटे-छोटे केन्द्रों की स्थापना भी की जाय।

(५) दो निर्यात-विकास कार्यालय (Export Promotion Offices) स्थापित किये जायँ जिनमें से एक उत्तरी अमेरिका में तथा दूसरा यूरोप में हो।

सरकार ने उक्त सिफारिशों में से चार बहुउद्देशीय प्रायोगिक संस्थान, एक विक्रय सेवा-निगम, एक लघु उद्योग-निगम तथा निर्यात विकास कार्यालय-सम्बन्धी सिफारिशों को स्वीकार कर लिया है। उक्त सभी संस्थाओं की स्थापना भी की जा चुकी है।

पंचवर्षीय योजनाओं में कुटीर एवं लघु उद्योग-धन्धे
(Cottage and Small Scale Industries in Five Year Plans)

प्रथम पंचवर्षीय योजना में कुटीर एवं लघु उद्योगों की प्रगति (Development of cottage and small scale industries in the First Five Year Plan) :—पंचवर्षीय योजनाओं में कुटीर एवं लघु उद्योगों के विकास पर पर्याप्त जोर दिया जा रहा है। प्रथम पंचवर्षीय योजना कुटीर एवं लघु उद्योगों के विकास के क्षेत्र में निस्सन्देह ही प्रथम सक्रिय प्रयास थी। प्रथम योजनाकाल में इन उद्योगों के विकास के लिए कई अखिल भारतीय एवं राजकीय संस्थानों की स्थापना की गयी। इन संस्थानों द्वारा विभिन्न क्षेत्रों में कुटीर एवं लघु उद्योगों को आवश्यक सहायता प्रदान की जाती है। प्रथम पंचवर्षीय योजनाकाल में केन्द्रीय सरकार ने कुटीर उद्योगों के विकास के लिए इन प्रमण्डलों के माध्यम से ३३·९ करोड़ रुपये व्यय किया था। इसके अतिरिक्त, प्रथम योजनाकाल में राज्य सरकार द्वारा इन उद्योगों के विकास के लिए १०·१ करोड़ रुपये व्यय किया गया था। साथ ही, सामुदायिक विकास कार्यक्रम में ग्रामीण दस्तकारी तथा उद्योग की मद में १·८ करोड़ व्यय किया गया।[1]

प्रथम योजनाकाल में हस्त-करघा उद्योग को विशेष प्रोत्साहन प्रदान किया गया जिससे इसका उत्पादन १९५०-५१ में ७,४२० लाख गज से बढ़कर १९५५-५६ ई० में १४,७१० लाख गज हो गया। खादी के उत्पादन एवं प्रचार में भी विशेष प्रगति हुई। योजनाकाल में खादी उत्पादन का वार्षिक मूल्य १९५०-५१ ई० में १·३ करोड़ रुपये से बढ़कर १९५५-५६ ई० ५·४ करोड़ रुपये के लगभग हो गया। योजनाकाल में खादी तथा ग्रामोद्योग प्रमण्डल ने बहुत-से ग्रामोद्योगों को तरह-तरह की सहायता प्रदान की। लघु उद्योगों के विकास के लिए फरवरी, १९५५ ई० में एक राष्ट्रीय लघु उद्योग निगम की स्थापना की गयी। प्रथम योजना के अन्त तक निगम ने लघु उद्योगों को ८ लाख रुपये के यंत्र हायर परचेज के आधार पर प्रदान किया था। निगम का मुख्य कार्य लघु उद्योगों के वाणिज्यीक तथा विपणन-सम्बन्धी विकास को प्रोत्साहन प्रदान करना है। योजनाकाल में चार प्रादेशिक लघु उद्योग सेवा-संस्थान (Small Industries Service Institutes) दिल्ली, कलकत्ता, बम्बई तथा मद्रास में खोले गये।[2]

योजनाकाल में सरकार ने अपनी भंडार खरीद नीति (Stores Purchase Policy) में भी आवश्यक सुधार किया जिसके अनुसार सरकारी खरीद के समय कुटीर एवं लघु उद्योगो की

1. INDIA 1961. p. 330.
2. Review of the First Five Year Plan. P. 213.

वस्तुओं को प्राथमिकता प्रदान की जाने लगी। इसके फलस्वरूप भारत सरकार ने जबकि १९५२-५३ ई० में इन उद्योगों से केवल ६६ लाख रुपये का सामान खरीदा था, १९६२-६३ ई० में यह रकम बढ़कर लगभग ३० करोड़ रुपये हो गयी। साथ ही, योजनाकाल में इन उद्योगों के विकास के लिए उत्पादन के सामान्य कार्यक्रम (Common Production Programmes) की नीति अपनायी गयी जिसके अनुसार कुटीर एवं लघु उद्योगों के सहायतार्थ इनके अनुरूप बड़े पैमाने के उद्योगों पर कर लगाने एवं उत्पादन-क्षेत्र के निग्रह करने का प्रयत्न किया जाता है। लघु एवं कुटीर उद्योगों को अल्पकालीन सुरक्षा प्रदान करने के लिए सहकारिता के संगठन पर भी पर्याप्त जोर दिया जा रहा है। सामुदायिक विकास योजना क्षेत्रों तथा राष्ट्रीय विस्तार-सेवा-खण्डों में भी इन उद्योगों के लिए सरकार द्वारा अनेक प्रयत्न किये जा रहे हैं।

लघु उद्योगों को वित्तीय सहायता प्रदान करने के लिए योजनाकाल में प्रायः सभी राज्यों में एक-एक राज्य वित्तीय-निगम की स्थापना की गयी। स्टेट बैंक तथा इसके सहायक बैंकों द्वारा भी वित्तीय सहायता प्रदान करने की व्यवस्था की गयी है।

ग्रामीण एवं लघु उद्योग समिति या कर्वे समिति, १९५५
(Village and Small Scale Industries Committee or Karve Committee, 1955)

द्वितीय योजना तैयार करने के पूर्व कुटीर एवं ग्रामीण उद्योगों की समस्याओं पर विचार करने तथा इनके विकास के लिए एक कार्यक्रम प्रस्तुत करने के उद्देश्य से योजना आयोग ने १९५५ ई० में प्रो० डी० जी० कर्वे की अध्यक्षता में एक कमिटी जिसे 'ग्रामीण एवं लघु उद्योग (द्वितीय पंचवर्षीय योजना) समिति' कहते हैं, की नियुक्ति की। समिति ने अपनी सिफारिशें प्रस्तुत करते हुए निम्नलिखित उद्देश्यों को अपने समक्ष रखा था :—

(क) द्वितीय योजनाकाल में प्राद्योगिक बेकारी (Technological unemployment), विशेषतः परम्परागत ग्रामोद्योगों में होने वाली बेकारी को रोकने का यथासम्भव प्रयास करना,

(ख) द्वितीय योजनाकाल में विभिन्न लघु एवं ग्रामोद्योगों द्वारा अधिक-से-अधिक रोजगार प्रदान करने की व्यवस्था करना, तथा

(ग) विकेन्द्रित ढाँचे पर तीव्र गति से प्रगतिशील आर्थिक विकास के निर्माण के लिए आधार तैयार करना।

समिति के अनुसार भारत में ग्रामीण एवं लघु उद्योगों की बहुत दिनों से उपेक्षा होती आ रही है। प्रथम योजना में निस्संदेह इनके विकास का प्रयत्न किया गया था, किन्तु ये प्रयत्न किसी भी हालत में पर्याप्त नहीं थे। प्रथम योजनाकाल में इनके विकास के लिए ६ विशिष्ट मण्डलों की स्थापना की गयी थी तथा केन्द्र द्वारा इनके माध्यम से ३३·६ करोड़ रुपये खर्च किये गये थे। किन्तु कमिटी के अनुसार इन उद्योगों की स्थिति को देखते हुए यह पर्याप्त नहीं था। अतः इस समिति ने यह सुझाव दिया कि योजनाकाल में उन लघु एवं कुटीर उद्योगों के विकास पर पूरा जोर दिया जाय तो रोजमर्रे की आवश्यकताओं की वस्तुएँ तैयार करते हैं, जैसे—सूती कपड़े, ऊनी कपड़े, चावल की कुटाई, वनस्पति तेल, गुड़, खण्डसारी, जूते तथा दियासलाई इत्यादि।

इनके अतिरिक्त रेशम के कीड़े पालना, रेशम बुनना, हस्त-करघा उद्योग, नारियल का जटा कातना तथा बुनना आदि उद्योगों के विकास पर भी कमिटी ने पूरा-पूरा जोर दिया था।

कर्वे समिति की मुख्य सिफारिशें (Main Recommendations of the Karve Committee) :—कर्वे समिति ने लघु एवं ग्रामोद्योगों के विकास के लिए बहुत से सुझाव योजना आयोग के सम्मुख रखा जिनमें निम्नलिखित विशेष महत्त्व के हैं :-

(१) राज्य सरकारों को चाहिए कि सहकारी समितियों को अधिकाधिक मात्रा में वित्त प्राप्त करने की व्यवस्था करें जिससे ये ग्रामीण एवं लघु उद्योगों की अधिक-से-अधिक सहायता कर सकें। कमिटि के अनुसार रिजर्व बैंक तथा स्टेट बैंक भी इन उद्योगों को अन्यान्य रूप से सहायता प्रदान करते हैं। कमिटी ने इस आशय की भी सिफारिश की थी कि जब तक इन उद्योगों के सहायातार्थ संस्थागत रूप में ऋण की व्यवस्था न हो जाय, तबतक अखिल भारतीय प्रमण्डलों, राज्य विभागों तथा राज्य वित्त निगमों को इन्हें आवश्यक सहायता प्रदान करती रहनी चाहिए।

(२) ग्रामीण एवं लघु उद्योगों को विस्तार का अवसर प्रदान करने के लिए कमिटी ने यह सुझाव दिया था कि अनुरूप बड़े पैमाने के उद्योगों के उत्पादन की अधिकतम सीमा निश्चित कर दी जाय जिससे अधिक होनेवाली मांग की पूर्ति लघु उद्योगों की वस्तुओं से की जानी चाहिए।

(३) सहकारिता के आधार पर संगठित लघु एवं ग्रामोद्योगों की वस्तुओं का न्यूनतम मूल्य सरकार द्वारा निश्चित कर लेना चाहिए। इस मूल्य से कम पर बेचने में जो घाटा हो उसे राज्य द्वारा पूरा करना चाहिए।

(४) समिति ने यह सुझाव दिया कि बड़े उद्योगों पर एक विशेष प्रकार का उत्पादन शुल्क लगाया जाय जिससे प्राप्त आय लघु एवं कुटीर उद्योगों के सहायतार्थ व्यय की जाय। इस प्रकार के शुल्कों के निम्नलिखित तीन उद्देश्य होने चाहिए :—(क) छोटे पैमाने के उद्योगों के पुनरुत्थान के लिए धन एकत्र करना, (ख) मूल्य-वृद्धि के फलस्वरूप बड़े उद्योगों को प्राप्त अधिक लाभ को लेना, तथा (ग) छोटी मात्रा में उत्पादन करने वालों के हित में मूल्य में अन्तर करना।

(५) समिति ने केन्द्र में ग्रामीण एवं लघु उद्योगों के लिए एक पृथक् मंत्रालय की स्थापना का सुझाव दिया था।

उपरोक्त सिफारिशों के आधार पर कर्वे समिति ने द्वितीय योजनाकाल में कुटीर एवं लघु उद्योगों के विकास के लिए एक विस्तृत कार्यक्रम तैयार किया तथा योजनाकाल में इस मद में २६० करोड़ रुपये व्यय की सिफारिश की, किन्तु योजना आयोग ने द्वितीय योजनाकाल में कुटीर एवं लघु उद्योगों के लिए केवल २०० करोड़ रुपये व्यय का आयोजन किया था। द्वितीय योजनाकाल में इस मद में वास्तविक व्यय १८० करोड़ रुपये ही हुआ।

कर्वे समिति की सिफारिशों की समीक्षा (An Apparisal of the Recommenda tions of the Karve Committee) :—कर्वे समिति की सिफारशें निस्संदेह लघु एवं ग्रामीण उद्योगों के विकास के लिए ठोस सुझाव के रूप में है। समिति का यह विचार है कि भारत कि आर्थिक व्यवस्था में कुटीर एवं लघु उद्योगों का विशिष्ट स्थान है जो निश्चय ही सराहनीय है। कुटीर एवं लघु उद्यगों में आज भी देश के लाखों व्यक्ति लगे हुए हैं। अतएव देशवासियों की आय, रोजगार के स्तर तथा जीवन-स्तर को उठाने के लिए देश के आर्थिक विकास की किसी भी

योजना में कुटीर एवं लघु उद्योगों को महत्त्वपूर्ण स्थान देना अति अनिवार्य है। फिर भी, कर्वे समिति के विचारों तथा सुझावों की अत्यधिक आलोचना हुई। लघु एवं ग्रामीण उद्योगों में लगे लाखों व्यक्तियों की कुशलता, आय तथा जीवन-स्तर में वृद्धि से राष्ट्रीय हित में वृद्धि अवश्य होगी। किन्तु, परम्परागत उद्योगों में काम करनेवाले मजदूरों को उनके घर पर ही काम देने से, जिसकी सिफारिश समिति के प्रतिवेदन में की गयी थी, मजदूरों को कुशल प्रविधियों को अपनाने के लिए उचित प्रोत्साहन भी नहीं मिलेगा। कुटीर एवं लघु उद्योगों के लिए भी कुशल प्रविधियों का अपनाना अनिवार्य हो जाता है, अन्यथा दीर्घकाल में इन उद्योगों को कठिनाइयों का सामना करना पड़ेगा। समिति ने उपभोक्ता उद्योगों के अधिकतम उत्पादन की सीमा निर्धारित करने की सिफारिश की है जिसका उद्देश्य अतिरिक्त मांग को लघु उद्योगों की ओर प्रेरित करना है। साथ ही, लघु एवं ग्रामीण उद्योगों के विकास के लिए विपणन, आवश्यक प्रशाधनों की पूर्ति एवं वित्तीय सहायता आदि के लिए सिफारिश की गयी थी। किन्तु प्रो० वी० के० मदन के अनुसार इस प्रकार की सिफारिशें निश्चय ही अप्रयोगात्मक हैं, क्योंकि इन्हें कार्यान्वित करने के लिए बहुत बड़ी रकम की आवश्यकता होगी। साथ ही, बड़े उद्योगों के उत्पादन की मात्रा निश्चित कर देने से छोटे उद्योगों में अकुशल प्रविधियों के प्रयोग स्थायी बनने की आशंका है। समिति ने लघु उद्योगों के आधुनिकीकरण तथा अभिनवीकरण की सिफारिश इसी शर्त पर की थी कि इसके फलस्वरूप बेकारी न बढ़ने पाये। किन्तु, समिति का यह तर्क बिलकुल निराधार तथा खोखला है। इससे देश के दीर्घकालीन आर्थिक विकास को निश्चय ही आघात पहुँचेगा। इस प्रकार कर्वे समिति की सिफारिशों के विरुद्ध बहुत-सी आलोचनाएँ दी गयी हैं।

द्वितीय पंचवर्षीय योजना में कुटीर एवं लघु उद्योगों की प्रगति

(Progress of Cottage and Small Scale Industries in the Second Five Year Plan)

द्वितीय पंचवर्षीय योजना में कुटीर एवं लघु उद्योगों के विकास पर पर्याप्त जोर दिया गया था। ३० अप्रैल, १९५६ ई० को भारत सरकार ने अपनी नयी औद्योगिक नीति की घोषणा की जिसमें इस बात पर जोर दिया गया कि भारत सरकार कुटीर एवं लघु उद्योगों के विकास के लिए उचित प्रोत्साहन प्रदान करेगी। साथ ही, योजनाकाल में अतिरिक्त रोजगार प्रदान करने के लिए भी कुटीर एवं लघु उद्योगों के विकास पर अधिक जोर देना अनिवार्य बतलाया गया। उपरोक्त बातों को ध्यान रखते हुए द्वितीय योजनाकाल में कुटीर एवं लघु उद्योगों को संरक्षण प्रदान करने के लिए निम्नलिखित तीन तरीके अपनाये गये :—

(१) बड़े पैमाने के उद्योगों के उत्पादन की मात्रा पर प्रतिबन्ध लगा दिया गया और उससे अधिक होनेवाली मांग की पूर्ति लघु तथा कुटीर उद्योगों से की जाने लगी। इस प्रकार की सिफारिश कर्वे समिति द्वारा ही की गयी थी।

(२) बड़े पैमाने के उद्योगों की वस्तुओं पर विशेष उत्पादन कर लगाये गए तथा इन करों से प्राप्त आय से ग्रामीण एवं लघु उद्योगों को सहायता देने की व्यवस्था की गयी।

(३) द्वितीय योजनाकाल में कुटीर एवं लघु उद्योगों के विकास के लिए सरकार ने इन्हें प्रयत्क्ष आर्थिक सहायता भी प्रदान की। लघु उद्योगों को विभिन्न प्रकार की सहायता प्रदान

करने के लिए औद्योगिक संस्थानों (Industrial Estates) की स्थापना का कार्यक्रम अपनाया गया। योजनाकाल में ११·६ करोड़ रुपये के व्यय से इस प्रकार के ६० औद्योगिक संस्थान स्थापित किये गये। साथ ही, द्वितीय योजनाकाल में जो अतिरिक्त क्रय-शक्ति का सृजन होगा उसके लिए अधिक मात्रा में आवश्यक उपभोक्ता वस्तुओं की मांग की पूर्ति कुटीर एवं लघु उद्योगों को बढ़ाकर ही करने की व्यवस्था थी।

द्वितीय योजनाकाल में कुटीर एवं लघु-उद्योगों के विकास पर २०० करोड़ रुपये व्यय करने का आयोजन था, किन्तु योजनाकाल में इस मद में वास्तविक व्यय १८० करोड़ रुपये ही हुआ जिसका विभिन्न मदों में वितरण पृष्ठ ४२३-४२४ की तालिका से स्पष्ट है।

इसके अतिरिक्त विस्थापितों के पुनर्वास कार्यक्रम के अन्तर्गत ११ करोड़ रुपये कुटीर एवं लघु उद्योगों तथा औद्योगिक कर्ज के लिए और ७ करोड़ रुपये प्रशिक्षण के लिए खर्च की व्यवस्था थी। सामुदायिक विकास कार्यक्रम में भी द्वितीय योजनाकाल में अम्बर चर्खे के प्रचार पर पूरा जोर दिया गया। कर्वे समिति ने देश में अम्बर चर्खे के प्रचार पर पूरा जोर दिया था। भारत सरकार द्वारा मार्च, १९५६ ई० में नियुक्त अम्बर चर्खा कमिटी ने भी इस आशय का सुझाव दिया था कि देश में सूत कातने के लिए अम्बर चर्खे के प्रयोग को प्रोत्साहित किया जाय। अम्बर चर्खे के प्रचार द्वारा हस्त-करघा उद्योग की मिलों पर सूत के लिए निर्भरता कम हो जायगी। साथ ही, इससे बहुत-सी लोगों को रोजी भी मिलेगी। फलतः, सरकार ने १९५६-५७ ई० में ४ करोड़ रुपये ऋण एवं अनुदान से ७५ हजार अम्बर चर्खा के वितरण का एक कार्यक्रम स्वीकृत किया। जून, १९६१ ई० तक देश में कुल प्रायः ३·८ लाख अम्बर चर्खे वितरित किये गये। तृतीय योजनाकाल में ३ लाख अतिरिक्त अम्बर चर्खे के वितरण तथा २·५ लाख पुराने अम्बर चर्खे को अधिक प्रभावपूर्ण तरीके से काम में लाने की व्यवस्था थी।

कुटीर एवं लघु उद्योगों के सहायतार्थ १९५५ ई० में एक राष्ट्रीय लघु उद्योग निगम (National Small Industries Corporation) की स्थापना की गयी। यह लघु उद्योगों को विभिन्न प्रकार से सहायता प्रदान करता है। १९६१ ई० तक निगम ने सरकार से ८ करोड़ रुपये के लघु उद्योगों की वस्तुओं का आर्डर प्राप्त किया था। यह निगम लघु उद्योगों को किश्त पर यन्त्र भी प्रदान करता है। इस कार्यक्रम के अन्तर्गत निगम ने १९६२-६३ ई० के प्रथम ८ माह में १०·६ करोड़ रुपये की मशीनें किश्त पर दी थी। बम्बई, कलकत्ता, मद्रास तथा कानपुर में चार सहायक निगम भी स्थापित किये गये हैं।

तृतीय पंचवर्षीय योजना में कुटीर एवं लघु उद्योग-धन्धों की प्रगति

(Progress of Cottage and Small Scale Industries in the Third Five Year Plan)

प्रथम एवं द्वितीय पंचवर्षीय योजनाओं में कुटीर एवं लघु उद्योगों के विकास पर पर्याप्त जोर दिया गया था। इन उद्योगों ने रोजगार बढ़ाने, उपभोक्ता वस्तुओं के उत्पादन में वृद्धि करने तथा आय के वितरण को अधिक न्यायोचित बनाने में यथोचित सहयोग प्रदान किया। तृतीय पंचवर्षीय योजना में इन बातों का और भी महत्त्वपूर्ण स्थान था। अतएव तृतीय पंचवर्षीय में भी कुटीर एवं लघु-उद्योगों के विकास पर पूरा-पूरा जोर दिया गया था। इन उद्योगों के द्वारा

रोजगार की अधिकाधिक मात्रा में व्यवस्था होगी तथा उपभोक्ता वस्तुओं के उत्पादन मे भी वृद्धि होगी।

योजना आयोग के अनुसार तृतीय योजनाकाल में ग्रामीण एवं लघु-उद्योग सम्बन्धी कार्यक्रम के निम्नलिखित प्रधान उद्देश्य थे :—

(i) इन उद्योगों में लगे हुए कारीगरों की उत्पादन-क्षमता में वृद्धि करना और उन्हें अधिक कार्यकुशल बनाने, यान्त्रिक परामर्श देने एवं अच्छे-अच्छे औजार तथा ऋण आदि की सहायता देकर उत्पादन व्यय को कम करना;

(ii) ग्रामीण क्षेत्रों एवं छोटे-छोटे शहरों में इन उद्योगों को प्रोत्साहित करना;

(iii) आर्थिक सहायता, विक्रय में छूट तथा आश्रय प्राप्त-बाजार (Sheltered markets) में धीरे-धीरे कमी लाना;

(iv) बड़े पैमाने के उद्योगों के सहायक के रूप में लघु-उद्योगों को विकसित करना; तथा

(v) कारीगरों के मध्य सहकारी समितियों का संगठन।

नीति एवं उपाय (Policy and Measures) :—ग्रामीण एवं लघु उद्योगों के विकास के लिए तृतीय पंचवर्षीय योजना में बहुत-सारे प्रयास किये गये जिनमें निम्नलिखित विशेष रूप से महत्त्व-पूर्ण हैं :—योजनाकाल में कारीगरों के प्रशिक्षण के लिए विशेष सुविधा प्रदान करने की व्यवस्था थी। वित्तीय कठिनाइयों को दूर करने लिए योजनाकाल में लघु एवं कटीर उद्योगों को ऋण देने की सुविधाओं में और अधिक विस्तार किया गया। तृतीय योजनाकाल में गाँवों एवं छोटे-छोटे शहरों में, विशेषतः अविकसित क्षेत्रों में कुटीर एवं लघु-उद्योगों के विकास को विशेष रूप से प्रोत्साहित करने का आयोजन था। योजनाकाल में इन उद्योगों को दी जाने वाली सरकारी सहायता, विक्रय कर में छूट आदि में क्रमशः कमी करने पर जोर दिया गया था। तृतीय योजनाकाल में कारीगरों के मध्य औद्योगिक सहकारी समितियों (Industrial Co-operative Societies) की स्थापना पर भी विशेष रूप से जोर दिया गया था।

तृतीय योजनाकाल में ग्रामीण एवं लघु-उद्योगों के विकास पर कुल २६४ करोड़ रुपये व्यय का आयोजन था जबकि वास्तविक व्यय २४०·७६ करोड़ रुपये हुआ। इसका विभिन्न मदों में वितरण अगले पृष्ठ की तालिका से स्पष्ट है। इसके अतिरिक्त सामुदायिक विकास कार्यक्रम, विस्थापित लोगों के पुनर्वास तथा पिछड़े वर्गों के कल्याण आदि के अन्तर्गत भी ग्रामीण-उद्योगों के लिए अतिरिक्त रकम उपलब्ध होने की आशा थी। साथ ही, तृतीय योजनाकाल में कुटीर एवं लघु उद्योगों पर निजी क्षेत्र (Private sector) में २७५ करोड़ रुपये विनियोग का अनुमान है।

विकास के कार्यक्रम (Programmes for Development) :—तृतीय योजनाकाल में कुटीर एवं लघु उद्योगों के विकास पर प्रर्याप्त जोर दिया गया था। इसके परिणामस्वरूप विकेन्द्रित क्षेत्र में कपड़े का उत्पादन १९६०-६१ में २०७ करोड़ मीटर से बढ़कर १९६५-६६ ई० में ३०५ करोड़ मीटर हो गया। १९६५-६६ ई० में १२ करोड़ रुपये के हस्त-करघा के कपड़ों का विदेशों में निर्यात भी किया गया था। १९६६-६७ ई० में १७३ करोड़ रुपये की हस्तकला (Handicraft) की वस्तुओं का उत्पादन हुआ था तथा १९६८-६९ ई० में ७६·५ करोड़ रुपये की हस्तकला की वस्तुओं का निर्यात किया गया था।

१९६०-६१ ई० में ६६ औद्योगिक संस्थान (Industrial estates) स्थापित किये गये थे। तृतीय योजनाकाल में ३०० और औद्योगिक संस्थान स्थापित करने का आयोजन था। मार्च, १९६६ ई० तक देश में कुल ३४६ औद्योगिक संस्थान हो गये थे।[1]

लघु उद्योगों के विकास कार्यक्रम के अन्तर्गत कुछ चुने हुए छोटे-छोटे शहरों एवं ग्रामीण क्षेत्रों में इनके विकास को प्रोत्साहन देने पर जोर दिया गया था। तृतीय योजनाकाल में खादी ग्रामोद्योग (Khadi and Village Industries Commission) द्वारा इस प्रकार के ३ हजार चुने हुए क्षेत्र, यानी ग्राम इकाइयों की स्थापना की व्यवस्था थी। इसके अतिरिक्त साख, विपणन आदि की सुविधाओं में भी योजनाकाल में विस्तार किया गया था। सरकार ने १९६२-६३ में ३०·२ करोड़ रुपये के लघु उद्योगों की बनी वस्तुओं का क्रय किया था। राष्ट्रीय लघु उद्योग निगम द्वारा भी उद्योगों को किस्त पर विभिन्न प्रकार के यन्त्र आदि दिये जा रहे हैं। तृतीय योजनाकाल में नारियल जटा उद्योग तथा रेशम उद्योग के विकास पर विशेष जोर दिया गया था।

तृतीय योजनाकाल में कुटीर एवं लघु उद्योगों के क्षेत्र में किये गये प्रयत्नों के फलस्वरूप कुल प्राय: ८० लाख अतिरिक्त व्यक्तियों को आंशिक रूप से (Part time) तथा १० लाख व्यक्तियों को पूर्ण रूप से (Whole time) रोजगार प्राप्त होने की आशा थी।

तीन वार्षिक योजनाओं (Annual Plans) १९६६-६९ के अन्तर्गत कुटीर तथा लघु उद्योगों के विकास में कुल १३२·६ करोड़ रुपये व्यय किया गया। इस अवधि में इनके उत्पादन में भी आशातीत वृद्धि हुई।

चतुर्थ पंचवर्षीय योजना में लघु एवं कुटीर उद्योग-धन्धे

(Cottage and Small Scale Industries in the Fourth Five Year Plan)

चतुर्थ योजना में भी कुटीर एवं लघु उद्योगों के विकास पर पर्याप्त जोर दिया जा रहा है। योजनाकाल में कुछ प्रमुख उपभोक्ता उद्योगों को यथासम्भव विकेन्द्रित करने का प्रयास किया जायगा। इस उद्देश्य से कुछ उद्यगों के सम्पूर्ण अथवा एक महत्त्वपूर्ण भाग को कुटीर एवं लघु उद्योगों के लिए सुरक्षित किया जा रहा है।

चतुर्थ योजनाकाल में कुटीर एवं लघु उद्योगों के विकास पर सार्वजनिक क्षेत्र में २९३ करोड़ रुपये व्यय का आयोजन है। विभिन्न मदों में इसका वितरण निम्नांकित तालिका से स्पष्ट है :—

पंचवर्षीय योजनाओं में कुटीर एवं लघु उद्योगों पर व्यय (करोड़ रुपये)[2]

मदें	द्वितीय योजना का व्यय	तृतीय योजना का व्यय	१९६६-६९ में व्यय	चतुर्थ योजना में आयोजित व्यय
हस्त करघा एवं शक्ति द्वारा प्रचालित करघा	३१·७	२६·८९	१३·५८	३९·३५
खादी, अम्बर खादी एवं ग्रामोद्योग	८२·४	८९·३३	५५·४१	९६·४७

1. Fourth Five Year Plan.
2. Fourth Five Year Plan.

रेशम के कीड़े पालने का उद्योग	३·१	४·३९	३·८०	१०·३६
नारियल जटा उद्योग	२·०	१·७६	१·२८	५·०३
हस्त-शिल्प (Handicrafts)	४·८	५·३०	४·५३	१३·४६
लघु उद्योग	४४·४	८६·१२	३६·३५	१०४·२५
औद्योगिक संस्थान	११·६	२२·१५	७·५८	१६·०८
ग्रामीण उद्योग-सम्बन्धी अन्य कार्यक्रम	....	४·७६	६·५५	५·१०
कुल	१८०·०	२४०·७६	१३२·०८	२९३·१३

इसके अतिरिक्त निजी क्षेत्र में ५०० करोड़ रुपये विनियोग की आशा है। साथ ही, योजना-काल में सामुदायिक विकास कार्यक्रम, विस्थापित लोगों के पुनर्वास तथा विशेष क्षेत्रों के विकास कार्यक्रम के अन्तर्गत भी इस मद में कुछ रकम व्यय की जाने को है।

चतुर्थ योजनाकाल में कुटीर एवं लघु उद्योगों को बड़े पैमाने पर वित्तीय सहायता प्रदान करने का आयोजन है। उत्पादन के तकनीक में सुधार पर भी पर्याप्त जोर देने की व्यवस्था है। इसी प्रकार कच्चे पदार्थों की पूर्ति, नये यन्त्र आदि पर भी जोर दिया जा रहा है। औद्योगिक सहकारी समितियों के निर्माण पर भी जोर दिया जा रहा है। योजनाकाल में विकेन्द्रित क्षेत्र के कपड़े के उत्पादन को १९६०-६१ में ३६० करोड़ मीटर से बढ़ाकर १९७३-७४ में ४२५ करोड़ मीटर करने का आयोजन है। साथ ही, ३० करोड़ रुपये के मूल्य के वस्त्र के निर्यात की भी व्यवस्था है। चतुर्थ योजनाकाल में नये औद्योगिक संस्थानों की स्थापना नहीं कर वर्तमान संस्थानों को ही अधिक सुदृढ़ बनाया जायगा।

चतुर्थ योजनाकाल में विनियोग की उपरोक्त रकम के आधार पर ऐसा अनुमान लगाया जाता है कि इन कार्यों से पर्याप्त व्यक्तियों को अधिक समय के लिए अथवा आंशिक रूप से तथा कुछ व्यक्तियों को पूर्ण काल के लिए रोजगार मिलने की आशा है।

विशेष अध्ययन-सूची

1. Kuchchal, S. C. : The Industrial Economy of India.
2. Dhar, P. N. : Small Scale Industries.
3. First, Second, Third and Fourth Five Year Plans of India.
4. Report of the Village and Small Scale Industries Committee.
5. Report of the International Perspective Planning Team.

अध्याय : २६

भारत के प्रमुख संगठित उद्योग-धन्ध

भारत औद्योगिक दृष्टि से एक पिछड़ा देश है। यहाँ संगठित उद्योगों का विकास वास्तव में प्रथम महायुद्ध के बाद से ही प्रारम्भ हुआ है। १६६६ ई० के भारतीय उद्योगों के सर्वेक्षण (Survey of Industries) के अनुसार भारत में कुल १३,४२४ रजिस्टर्ड कारखाने थे जिनमें शक्तिवाले कारखानों में ५० से अधिक व्यक्ति तथा वगैर शक्तिवाले में १०० व्यक्ति कार्य करते थे। इनमें से जिन ११,६३३ कारखानों के सम्बन्ध में आँकड़े उपलब्ध हैं उनमें ७५४८ करोड़ रुपये की उत्पादक पूँजी लगी थी तथा प्रायः ३९.३ लाख व्यक्तियों को रोजी मिली थी। इन्होंने ६८७ करोड़ रु० मजदूरी तथा तनख्वाह के रूप में वितरित किया था। उस वर्ष इन कारखानों द्वारा कुल ७२१३ करोड़ रुपये की वस्तुओं (ex-factory price) का निर्माण हुआ था। उस वर्ष इनमें ५४०३ करोड़ रुपये की कच्ची सामग्री आदि (Input) का प्रयोग हुआ था। साथ ही, देश के प्रमुख संगठित उद्योगों में सूती-वस्त्र-उद्योग, जूट उद्योग, लोहा एवं इस्पात उद्योग, चीनी उद्योग, सीमेंट उद्योग तथा रासायनिक उद्योगों के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।[1]

अब भारत के कुछ संगठित उद्योगों का निम्न विवरण प्रस्तुत किया जा रहा है—

१. सूती-वस्त्र उद्योग

(Cotton Industry)

देश के संगठित उद्योगों में सूती-वस्त्र उद्योगों का स्थान सर्वोपरि है। १९७० ई० में भारत में कुल ६५७ सूती-वस्त्र के कारखाने (३६७ केवल बुनाई वाले तथा शेष मिले-जुले) थे जिनमें कुल प्रायः ४०० करोड़ रुपये की पूँजी लगी हुई थी तथा लगभग ९.६७ लाख मजदूर काम करते थे। इन कारखानों में १७४.५ लाख तकुए तथा २.०८ लाख करघे थे। पिछले कुछ वर्षों से सहकारी क्षेत्र में भी सूती-वस्त्र के कारखानों की संख्या बढ़ती जा रही है। इस प्रकार बुचानन के शब्दों में "भारत का सूती-वस्त्र उद्योग देश के अतीत का गौरव, वर्त्तमान और भविष्य का सन्देह, किन्तु सदैव आशा की वस्तु रहा है।"[2]

भारत में आधुनिक सूती-वस्त्र उद्योग का विकास—आधुनिक भारतीय सूती-वस्त्र उद्योग का आरम्भ १८५४ ई० में हुआ जब एक पारसी उद्योगपति की कावस जी डावर ने बम्बई में 'बाम्बे स्पिनिंग कम्पनी' नामक एक कारखाना स्थापित किया। प्रारम्भ में इस उद्योग

1. India 1971-72.
2. As Buchanan observes, "For India cotton manufacture is ancient glory, past and present tribulation, but always a hope."

की प्रगति बहुत ही शिथिल थी तथा १८६१ ई० तक देश में सूती-वस्त्र के बारह कारखाने थे। १८६१ ई० में अमेरिकन गृह-युद्ध के कारण कपास का मूल्य बहुत बढ़ गया जिससे सूत की अपेक्षा कपास का निर्यात ही अधिक लाभदायक हो गया। इससे सूती-वस्त्र उद्योग की स्थिति विशेष चिन्ताजनक हो गयी। किन्तु १८७२-७३ ई० से इस उद्योग की स्थिति में सुधार होने लगा और कारखानों की संख्या भी बढ़ने लगी। १८७९ ई० में देश में कुल ५६ सूती-वस्त्र की मिलें हो गयी जिनमें ९३ हजार करघे तथा १४५ लाख तकुए काम करते थे। इन मिलों में उस वर्ष ४३ हजार मजदूर काम करते थे।

परन्तु, इस काल में सरकार की नीति इस उद्योग को आर्थिक सहायता प्रदान करने के बजाय हतोत्साहित करने की ही थी। लंकाशायर के सूती-वस्त्र उद्योग की रक्षा के लिए भारत में इंगलैंड से आयात किये जानेवाले कपड़े एवं सूत पर से आयात कर हटा दिया गया। इतना ही नहीं, सरकार ने देश में निर्मित कपड़े पर ३ प्रतिशत का एक उत्पादन कर लगा दिया। इससे सूती वस्त्र-उद्योग को बहुत आघात पहुँचा। बीसवीं सदी के प्रारम्भ में देश में स्वदेशी आन्दोलन प्रारम्भ हुआ एवं लोगों ने विदेशी माल का बहिष्कार करना शुरू किया। इस आन्दोलन ने देश के सूती वस्त्र-उद्योग को बहुत अधिक प्रोत्साहित किया। किन्तु १९०७ ई० में चीन में सूत का मूल्य गिर जाने तथा देश में अकाल पड़ने के फलस्वरूप कपड़े एवं सूत की मांग घट गयी तथा मिल-मालिकों को विशेष कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। फिर भी, प्रथम महायुद्ध के पूर्व तक इस उद्योग ने विशेष प्रगति कर ली थी। १९१३-१४ ई० में देश में कुल २६४ सूती-वस्त्र के कारखाने थे जिनमें १८६ करोड़ रुपये की पूँजी लगी हुई थी तथा प्रायः २६ लाख श्रमिक कार्य करते थे। इन कारखानों में करघों तथा तकुओं की संख्या क्रमशः ९९·७ हजार तथा ६६·२ लाख थी।

भारत का सूती-वस्त्र उद्योग अपने प्रारम्भिक काल में विशेष रूप से बम्बई में ही केन्द्रित था। बम्बई में सूती-वस्त्र के कारखानों का यह केन्द्रीयकरण स्थायी प्राकृतिक कारणों से उतना प्रभावित नहीं था जितना कि अन्य लाभों से। बम्बई में केन्द्रीयकरण का एक महत्त्वपूर्ण कारण यह था कि उन दिनों भारत के सूती वस्त्र-उद्योग का आधार चीन को किया जाने वाला सूत का निर्यात था और बम्बई इसके लिए विशेष रूप से उपयुक्त था। साथ ही, बम्बई में पूँजी एवं साख-सम्बन्धी सुविधाएँ भी उपलब्ध थीं। बन्दरगाह होने के कारण विदेशों से यन्त्र एवं कोयला आदि मँगाने में भी बम्बई की स्थिति विशेष सुविधाजनक थी। किन्तु, १८८७ ई० के बाद नागपुर, शोलापुर तथा अहमदाबाद में, जो कपास उत्पन्न करने वाले केन्द्रों के प्रायः निकट थे, तेजी के साथ सूती-वस्त्र के कारखानों की स्थापना प्रारम्भ हुई। इन स्थानों में सस्ती दर पर कच्चा माल तथा श्रम मिल जाता था। साथ ही, ये विपणन केन्द्रों से भी समीप पड़ते थे। साथ ही, रेलों के विकास तथा बीसवीं सदी के प्रारम्भ में चीन से सूत की मांग में ह्रास ने भी बम्बई के महत्त्व को कम करने में सहायता प्रदान की। परन्तु, आज भी सूती वस्त्र-उद्योग में कारखानों की संख्या की दृष्टि से बम्बई का भारत में अद्वितीय स्थान है।

प्रथम महायुद्ध एवं बाद की प्रगति :—अन्य उद्योगों की तरह सूती वस्त्र-उद्योग को भी प्रथम विश्व-युद्ध ने बहुत अधिक प्रोत्साहन प्रदान किया। युद्ध के कारण विदेशी कपड़ों का आयात प्रायः समाप्त हो गया। साथ ही, देश में सैनिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए कपड़े की मांग में भी पर्याप्त वृद्धि हुई। युद्ध-जनित कारणों के फलस्वरूप १९१७ ई० में इस उद्योग के लिए

व्यापक एवं स्मरणीय अभिवृद्धि का काल प्रारम्भ हुआ। यद्यपि यंत्रों एवं आवश्यक विशेषज्ञों के अभाव में उद्योग का विकास उतना आशाजनक नहीं हो सका; फिर भी, युद्ध काल में सूती-वस्त्र उद्योग ने बहुत अधिक लाभ कमाया। उत्पादन में भी आशातीत वृद्धि हुई, किन्तु तैयार वस्तुओं में गुणात्मक ह्रास आ गया। युद्ध समाप्त हो जाने के बाद भी १९२२-२३ ई० तक देश में इसका अबाध गति से विकास होता रहा।[1] फलस्वरूप जहाँ १८९९-१९०० ई० में देश में कपड़ों की कुल आवश्यकता का केवल ९% भाग भारतीय सूती-वस्त्र के कारखानों द्वारा पूरा किया जाता था, वहाँ १९२१-२२ ई० में इनके द्वारा कुल आवश्यकता का प्रायः ४२ प्रतिशत भाग पूरा किया जाने लगा। १९१७-१८ ई० से १९२१-२२ ई० के बीच इस उद्योग की विनियोजित पूँजी २०·८४ करोड़ रुपये से बढ़कर ४०·९८ करोड़ रुपये हो गयी। इस काल में सूती-वस्त्र उद्योग को विशेष मुनाफा भी हुआ।

किन्तु, यह अभिवृद्धि बहुत समय तक नहीं ठहर सकी और १९२२-२३ ई० से इस उद्योग के लिए अवसाद एवं संकट का दीर्घकाल प्रारम्भ हुआ। इसके कई मुख्य कारण थे। १९२० ई० के बाद कृषि-पदार्थों के मूल्य में ह्रास के फलस्वरूप कृषक-वर्ग की क्रय-शक्ति घट गयी थी जिससे कपड़े की मांग भी कम हो गयी। युद्ध के बाद विदेशी प्रतियोगिता, विशेषतः जापान की प्रतियोगिता में भी बहुत वृद्धि हो गयी। विदेशी विनिमय की दरों में परिवर्त्तन का प्रभाव इस उद्योग पर बहुत बुरा पड़ा। इसके अतिरिक्त, इस काल में सूती-वस्त्र उद्योग की कठिनाइयों के लिए उद्योगपतियों को बहुत हद तक दोषी ठहराया जा सकता है। शीघ्र ही, लाभ की आशा में वे उद्योग के वास्तविक हितों के प्रति उदासीन रहने लगे थे। साथ ही, युद्धकाल में अत्यधिक काम के बोझ से बहुत-सी मशीनें घिस गयी थी, बाजार के विस्तार पर जरा भी ध्यान नहीं दिया गया तथा कपास, कोयला एवं अन्य सामानों के अपव्यय को रोकने का जरा भी प्रयास नहीं किया गया। इनके अतिरिक्त श्रम बचाने के अद्यतन उपायों की कमी, यन्त्रों का गलत ढंग से उपयोग तथा मांग घट जाने पर एक अल्पकालीन एवं व्यवस्थित योजना का अभाव आदि कारणों ने भी सूती वस्त्र-उद्योग की कठिनाइयों को बहुत बढ़ा दिया। बम्बई में इसका प्रभाव बहुत बुरा पड़ा। भारतीय सूती-वस्त्र उद्योग अभी इस अवसाद का सामना ही कर रहा था कि इसी बीच १९२९ ई० की भयानक आर्थिक मन्दी ने इनकी कठिनाइयों को और भी बढ़ा दिया।

सूती वस्त्र उद्योग को संरक्षण

(Protection to Cotton Textile Industry)

भारतीय सूती-वस्त्र उद्योग को इन कठिनाइयों से मुक्त कराने के लिए संरक्षण की मांग की जाने लगी। १९२३ ई० में भारत सरकार ने विवेचनात्मक संरक्षण (Discriminating Protection) की नीति को स्वीकार किया। सूती-वस्त्र उद्योग को संरक्षण प्रदान करने के प्रश्न पर विचार करने के लिए १९२६ ई० में सरकार ने एक प्रशुल्क मण्डल की नियुक्ति की जिसने

१. प्रथम महायुद्ध काल में सूती-वस्त्र को विकास का अच्छा अवसर प्राप्त हुआ। इस अवसर से उद्योग ने लाभ भी उठाया जिसका अन्दाज निम्नांकित तालिका से लगाया जा सकता है :—

देश में सूती-वस्त्र की आवश्यकता की पूर्ति के विभिन्न साधन

वर्ष	सूती-वस्त्र के कारखानों द्वारा	हस्त-करघे द्वारा	आयात द्वारा
१८९९-१९००	९%	६४%	२७%
१९२१-१९२२	४२%	२६%	३२%

१९२७ ई० में अपना प्रतिवेदन प्रस्तुत किया जिसके आधार पर सितम्बर, १९२७ ई० से सूत के आयात पर १½ आना प्रति पौंड या मूल्यानुसार ५ प्रतिशत, जो भी अधिक हो, का एक संरक्षणात्मक कर तीन वर्षों के लिए लगा दिया गया। किन्तु बाद में इस कर की अवधि को तीन वर्षों के लिए और अधिक बढ़ाया गया। किन्तु इससे सूती-वस्त्र उद्योग की स्थिति में कोई आशाजनक सुधार नहीं हो सका। साथ ही, जापानी प्रतियोगिता भी बढ़ती गयी जिसके फलस्वरूप उद्योग में अवसाद बना रहा। अतः श्री० जी० एस० हार्डी के प्रतिवेदन के आधार पर १९३० ई० में सूती-वस्त्र उद्योग (संरक्षण) अधिनियम [Cotton Industry (Protection) Act] पारित हुआ जिसके अनुसार ब्रिटिश कपड़ों के आयात पर १५ प्रतिशत तथा अन्य देशों के कपड़े के आयात पर २० प्रतिशत का एक कर लगाया गया। इसके अतिरिक्त बम्बई को आर्थिक एवं प्राविधिक दृष्टि से संगठित करने के लिए सादे-भूरे (Plain grey) कपड़े पर कम-से-कम ३½ आना प्रति पौंड का एक कर लगाया गया। मार्च, १९३१ ई० में आय में वृद्धि के लिए आयात किये गये कपड़ों पर मूल्यानुसार ५% का एक और कर लगा दिया गया। पुनः अक्टूबर, १९३१ ई० में सभी आयात करों पर २५ प्रतिशत का एक अतिरिक्त शुल्क (Surcharge) लगाया गया। इस प्रकार कुल मिलाकर ब्रिटिश कपड़ों पर आयात कर २५ प्रतिशत तथा अन्य देशों के कपड़ों पर ३१¼ प्रतिशत हो गया।

१९३० ई० में सूती-वस्त्र उद्योग (संरक्षण) अधिनियम के अन्तर्गत संरक्षण करों की अवधि ३१ मार्च, १९३३ ई० तक थी। अतः १९३२ ई० में प्रशुल्क मण्डल द्वारा सूती-वस्त्र उद्योग की स्थिति की पुनः जाँच की गयी। किन्तु, मण्डल की जाँच समाप्त होने के पूर्व ही जापानी सिक्कों के अवमूल्यन ने जापानी प्रतियोगिता को और भी बढ़ा दिया। इसके फलस्वरूप मण्डल की सिफारिशों के अनुसार जापानी कपड़े के आयात पर कर को बढ़ाकर मूल्यानुसार ५० प्रतिशत या ५¼ आना प्रति पौण्ड, जो भी अधिक हो, कर दिया गया तथा सादे-भूरे कपड़ों पर कर की दर को ४ आने प्रति पौण्ड से बढ़ाकर ५¼ आने प्रति पौण्ड कर दिया गया। पुनः १९३३ ई० में जापान के राशिपातन (Dumping) का सफलतापूर्वक सामना करने के लिए इन दरों को बढ़ाकर मूलयानुसार ७५%तथा सादे-भूरे कपड़े पर ६¾ आने प्रति पौण्ड कर दिया गया। साथ ही, १९०४ ई० में हुए भारत जापान व्यापारिक समझौते को रद्द कर दिया गया। इसके प्रत्युत्तर में जापान ने भारतीय कपास खरीदना बन्द कर दिया। अन्त में, दोनों देशों के बीच १९३४ ई० में एक व्यापारिक समझौता हुआ जिसके अनुसार प्रति १० लाख गाँठ भारतीय कपास की खरीद के बदले जापान को भारत में ३२·५ करोड़ गज कपड़ा आयात करने का अधिकार मिला। साथ ही, जापान से अधिकतम आयात की मात्रा ४० करोड़ गज निश्चित कर दी गयी। इसी समय ब्रिटेन से आए हुए एक गैर-सरकारी प्रतिनिधि मण्डल तथा भारतीय उद्योगपतियों के बीच भी एक समझौता हुआ जिसे मोदी-लीज पैक्ट (Modi-Lees Pact) कहा जाता है। यह समझौता ३१ दिसम्बर, १९३५ ई० तक के लिए किया गया था। इन समझौतों के आधार पर एक नया सूती-वस्त्र-उद्योग (संरक्षण) अधिनियम पारित हुआ जिसके अनुसार करों की दरें निम्न प्रकार से हो गयीं :—

	ब्रिटिश आयात	अन्य देशों के आयात
सूत	५% (या १⅛ आना प्रति पौंड)	६¾% (या १⅞ आ० प्रति पौंड)
वस्त्र	२५% (या ४½ आना प्रति पौंड)	५०%(या ५¼ आ० प्रति पौंड)

पुनः १९३५ ई० में भारत सरकार ने इंगलैंड से आयात किये जाने वाले कपड़े के विरुद्ध भारतीय सूती-वस्त्र उद्योग को संरक्षण प्रदान करने के प्रश्न पर जाँच के लिए एक विशेष शुल्क

मण्डल की नियुक्ति की। इस मण्डल के प्रतिवेदन के आधार पर जून, १६३६ ई० से भारत सरकार ने ब्रिटेन से आयात किये जाने वाले छपे कपड़ों के अतिरिक्त अन्य सभी प्रकार के कपड़ों पर आयात कर को घटाकर २०% या ३¼ आना प्रति पौंड, जो भी अधिक हो, कर दिया गया। साथ ही, भारत-जापान समझौते की अवधि को और तीन वर्षों के लिए बढ़ाकर मार्च, १६४० ई० तक कर दिया गया।

१६३६ ई० का भारत—ब्रिटेन व्यापारिक समझौता :—१६३६ ई० में भारत और ब्रिटेन के बीच ओटावा समझौता के बदले में एक नया व्यापारिक समझौता हुआ जिसके अनुसार ब्रिटिश वस्त्रों पर आयात कर निम्न प्रकार से हो गया :—

छपे वस्त्रों पर मूल्यानुसार १७½%;

भूरे वस्त्रों पर मूल्यानुसार १५% या २ आना ७½ पाई, जो भी अधिक हो; तथा

अन्य वस्त्रों पर मूल्यानुसार १५%

इस समझौते के अनुसार ब्रिटेन को प्रतिवर्ष ३५ करोड़ गज निम्नतम कोटा के आयात की स्वीकृति दी गयी। यदि किसी वर्ष आयात ३५ करोड़ गज से कम हुआ तो आधारभूत आयात करों में २ प्रतिशत की छूट तथा अगर किसी वर्ष आयात ३५ करोड़ गज से अधिक हुआ तो आधारभूत करों में २ प्रतिशत की वृद्धि की व्यवस्था की गयी। किन्तु भारतीय संविधान सभा तथा सूती-वस्त्र उद्योग ने इस समझौते का विरोध किया क्योंकि यह व्यवस्था ऐसे समय में की गयी थी जबकि भारतीय सूती-वस्त्र-उद्योग की स्थिती अति असन्तोषजनक थी। साथ ही, इसमें भारतीय कपास की खरीद के सम्बन्ध में भी समुचित व्यवस्था का अभाव था। अत: संरक्षण का दर में इस प्रकार कमी द्वारा इस अधिनियम ने भारतीय सूती-वस्त्र उद्योग के हितों को बलि दे दी।

द्वितीय युद्धकाल में संरक्षण की अवधि को बढ़ा दिया गया। युद्ध-समाप्ति के बाद पुन: १६४६ ई० में प्रशुल्क मण्डल द्वारा सूती-वस्त्र उद्योग की स्थिति की जाँच की गयी। इस समय प्रमण्डल ने इस बात की सिफारिश की कि सूती वस्त्र-उद्योग को पुन: संरक्षण नहीं दिया जाय। प्रशुल्क मण्डल की सिफारिशों के आधार पर १६४७ ई० में सूती वस्त्र-उद्योग से संरक्षण हटा लिया गया। इस प्रकार भारतीय सूती-वस्त्र उद्योग को कुल मिलाकर प्राय: २० वर्षों तक संरणक्ष मिला।

संरक्षण की इस नीति की कई प्रकार से आलोचना की जाती है। सर्वप्रथम तो यह कहा जाता है कि संरक्षण की इस नीति में कई बार संशोधन हुए जिसके फलस्वरूप आयात करों में भी परिवर्तन करना पड़ा। इससे सूती-वस्त्र उद्योग को सदैव आशा एवं सन्देह के बीच टँगे रहना पड़ा। किन्तु, यह आलोचना संरक्षण के सिद्धांत के विरुद्ध नहीं, वरन् सरकारी प्रबन्ध के विरुद्ध है। दूसरी आलोचना यह दी जाती है कि ब्रिटिश कपड़ों के आयात को सदैव विशेष रियायत दी जाती थी। किन्तु, यह देश की परतन्त्रता का परिणाम था। इस सम्बन्ध में यह जानना भी आवश्यक है कि १६३२ ई० में भारत पर साम्राज्यीय अधिमान (Imperial Preference) की नीति इसकी इच्छा के विरुद्ध लाद दी गयी जिसके अनुसार ब्रिटेन एवं राष्ट्र-संघ के आयात को विदेशों की तुलना में विशेष रियायत देने के लिए भारत बाध्य था।

इतना होने पर भी संरक्षण से भारतीय सूती-वस्त्र उद्योग को बहुत अधिक प्रोत्साहन मिला तथा इसके फलस्वरूप इस उद्योग की विशेष प्रगति हुई जो निम्न तालिका से [1] स्पष्ट है :—

1. Report of the Fiscal Commision—1949-50.

	१६२६	१६३६	प्रतिशत वृद्धि
कारखानों की संख्या	३३४	३८६	१६·५
तकुओं की संख्या (लाख में)	८७·१	१००·६	१५.४
करघों की संख्या (लाख में)	१·६	२·६०	२५·४
मजदूरों की संख्या (लाख में)	३·७	४·३	१५·२

द्वितीय महायुद्ध में सूती-वस्त्र उद्योग (Cotton Mill Industry in the Second World War):—द्वितीय विश्व-युद्ध ने भारत के सूती-वस्त्र उद्योग को सुधार का एक सुनहला अवसर प्रदान किया। युद्धकाल में जापान एवं इंगलैंड से कपड़े का आयात प्राय: समाप्त हो गया। साथ ही, देश में सैनिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए भी कपड़े की मांग में बहुत वृद्धि हुई। युद्ध के फलस्वरूप भारत को एशिया के मित्र-राष्ट्रों को, जो पहले कपड़े के लिए जापान पर आश्रित थे, कपड़ा देना पड़ा। इससे भी कपड़े की मांग में अप्रत्याशित वृद्धि हुई। १६४० ई० में फ्रांस की हार के बाद तो भारत को पूर्व के मैनचेस्टर की तरह काम करने के लिए बाध्य होना पड़ा। कपड़े की मांग को पूरा करने के लिए सभी कारखानों में दो-दो अथवा तीन-तीन पालियाँ काम होने लगी।

द्वितीय विश्व-युद्ध प्रारम्भ होने के पूर्व भारतीय सूती-वस्त्र उद्योग प्राय: निष्क्रिय स्थिति में था। सितम्बर, १६३६ ई० में युद्ध प्रारम्भ हुआ था। युद्ध के प्रथम आठ महीने में उत्पादन ६ प्रतिशत तथा मूल्य में ११ प्रतिशत की कमी हुई। किन्तु, इसके बाद कपड़े के मूल्य और उत्पादन दोनों में निरन्तर वृद्धि होने लगी। १६४१ ई० में जापान के युद्ध में प्रवेश करने के बाद भारतीय सूती-वस्त्र उद्योग का पूर्व में प्राय: एकछत्र साम्राज्य हो गया। सरकार एवं पूर्वी दल द्वारा कपड़े की मांग में बहुत वृद्धि हुई तथा आस्ट्रेलिया, मलाया, पश्चिमी एवं दक्षिणी अफ्रिका और अन्य एशियाई देशों में कपड़े का निर्यात किया जाने लगा। इसके फलस्वरूप देश में कपड़े का अभाव हो गया एवं मूल्य-तल में भी अधिक वृद्धि हुई। १६४३ ई० में मूल्य अपनी चरम सीमा पर पहुच गया और देश में सर्वत्र-वस्त्र संकट व्याप्त हो गया। इसे दूर करने के लिए सरकार को नियन्त्रण की नीति अपनानी पड़ी। मूल्य-वृद्धि को रोकने तथा उत्पादन में वृद्धि के लिए १६४३ ई० में केन्द्र में एक 'उद्योग एवं सिविल सप्लाइज विभाग' की स्थापना की गयी और जून, १६४३ ई० में 'टेक्सटाइल क्लाथ एण्ड यार्न आर्डर' लागू किया गया। सरकार के सहयोग से कारखानों में जनता के लिए एक सस्ते वस्त्र (स्टैन्डर्ड क्लाथ) का निर्माण प्रारम्भ किया गया, किन्तु शीघ्र ही इस योजना को छोड़ देना पड़ा। मूल्य में अप्रत्याशि वृद्धि तथा उत्पादन बढ़ाने के विभिन्न प्रयत्नों को काम में लाने के फलस्वरूप कपड़े के उत्पादन में विशेष वृद्धि हुई और १६४३-४४ ई० में कपड़े का उत्पादन ४८७ करोड़ गज तथा सूत का उत्पादन १६८ करोड़ पौंड हुआ, जो पिछले सभी वर्षों से अधिक था। किन्तु कपड़े की मांग भी निरन्तर बढ़ती जा रही थी। अत: कपड़े के अभाव को दूर करने के लिए १६४४ ई० में कपड़ा तथा १६४५ ई० में सूत के वितरण पर नियन्त्रण लगाया गया। कई कारणों से इस नियन्त्रण को जनवरी, १६४८ ई० में हटा दिया गया, किन्तु इसके फलस्वरूप मूल्य में और अधिक वृद्धि हुई। अतएव पुन: जुलाई, १६४८ ई० में कपड़े के उत्पादन एवं वितरण दोनों को नियन्त्रण के अन्तर्गत लाना पड़ा। १६५२ ई० में कपड़े के उत्पादन में पुन: पर्याप्त वृद्धि हुई जिससे अप्रैल, १६५२ ई० में फाइन तथा सुपरफाइन कपड़े पर पूर्ण रूप से तथा साधारण कपड़े के ८० प्रतिशत पर नियन्त्रण पर से हटा दिया गया। १६५३ ई० में नियन्त्रण की नीति में और ढिलाई की गयी।

देश-विभाजन का सूती-वस्त्र उद्योग पर प्रभाव (Effects of Partition of Cotton Mill Industry) :—देश-विभाजन का सूती-वस्त्र-उद्योग पर बहुत बुरा प्रभाव पड़ा। विभाजन के फलस्वरूप ८०-९० करोड़ गज कपड़े का बाजार, जो इसके पूर्व देशी बाजार का ही एक अंग था, भारत के हाथ से निकल गया। साथ ही, कपास उत्पन्न करने वाले क्षेत्र का अधिकांश भाग (लगभग ४० प्रतिशत भाग) पाकिस्तान में चला गया जबकि सूती-वस्त्र के कुल प्रायः ३९४ कारखानों में से ३८० कारखाने भारत में ही रह गये। अतः भारतीय कारखानों को कपास की कमी का सामना करना पड़ा। इसके फलस्वरूप, जबकि अविभाजित भारत कपास का निर्यातक था, विभाजन के पश्चात् भारत मुख्य रूप से कपास का आयातक देश बन गया। देश में लम्बी रेशेवाली कपास का मुख्य तौर से अभाव हो गया। इस प्रकार विभाजन के बाद देश के सूती-वस्त्र उद्योग के समक्ष कपास, विशेषतः लम्बी रेशेवाली कपास प्राप्त करने की समस्या बहुत ही गम्भीर हो गयी। प्रारम्भ में पाकिस्तान के साथ राजनीतिक मनमुटाव के कारण भी कपास प्राप्त करने में बहुत अधिक कठिनाई होने लगी। सितम्बर, १९४९ ई० में भारतीय रुपये के अवमूल्यन (पाकिस्तान ने अपने रुपये का अवमूल्यन १९५५ ई० में किया) ने इस कठिनाई को और भी उग्र बना दिया। इस समस्या के समाधान के लिए पाकिस्तान से कई व्यापारिक समझौते भी किये गये; किन्तु दुर्भाग्यवश वे सफल नहीं हो सके। अतः आजकल पंचवर्षीय योजनाओं में सरकार द्वारा देश में कपास के उत्पादन को बढ़ाने पर पूरा जोर दिया जा रहा है। तथा इसमें कुछ सफलता भी मिली है। साथ ही, इस समस्या के तत्कालीन समाधान के लिए मिस्र आदि देशों से कपास का आयात भी किया जाता है।

सूती-वस्त्र उद्योग की वर्तमान स्थिति

(Present Position of the Cotton Mill Industry)

भारत के सूती-वस्त्र उद्योग का देश के संगठित उद्योगों में सर्वप्रथम स्थान है। १९७० ई० में कुल ६५७ सूती-वस्त्र के कारखाने थे जिनमें ४०० करोड़ रुपये से अधिक की पूँजी लगी हुई थी तथा प्रायः ९·६७ लाख मजदूर काम करते थे। इन कारखानों में १७७ लाख तकुए तथा २·०८ लाख करघे थे। देश के सूती-वस्त्र के कारखानों द्वारा १९६८-६९ ई० में अनुमानतः कुल ४५९·७ करोड़ मीटर कपड़े तथा ९२·९ करोड़ कि० ग्राम सूत का उत्पादन हुआ था। इस प्रकार सूती-वस्त्र उद्योग के उत्पादन में निरन्तर वृद्धि हो रही है। निम्नांकित तालिका से गत कुछ वर्षों में इसके उत्पादन का अन्दाजा लगता है :—

वर्ष	सूत (करोड़ किलोग्राम)	सूती-वस्त्र (करोड़ मीटर)
१९४८-४९	६५·६	३९५·०
१९५०-५१	५३·४	३४०·१
१९५५-५६	७४·४	४६६·५
१९६०-६१	८०·१	४६४·६
१९६५-६६	९०·७	४४०·१
१९६८-६९	९५·९	४५९·७
१९७३-७४ (लक्ष्य)	११५·०	५१०·०

वर्तमान समय में सहकारिता के आधार पर सूती-वस्त्र के कारखानों की भी स्थापना की जा रही है। इस समय इस प्रकार के २८ सहकारी कारखाने हैं जिनमें ४·३२ लाख तकुए काम कर रहे हैं।

उद्योग का विभिन्न राज्यों के बीच वितरण :—भारतीय सूती-वस्त्र उद्योग का विभिन्न राज्यों के बीच वितरण बड़ा ही विषम एवं विचित्र है। कई कारणों से जिनकी व्याख्या पहले की जा चुकी है, प्रायः आधे से अधिक कारखाने केवल गुजरात एवं महाराष्ट्र राज्यों में ही केन्द्रित हैं। (राज्यों के पुनर्संगठन के पश्चात् बम्बई राज्य देश के कुल उत्पादन का प्रायः ६८ प्रतिशत भाग कपड़ा एवं ५३ प्रतिशत भाग सूत उत्पन्न करता था।) इन राज्यों में भी अधिकांश कारखाने बम्बई एवं अहमदाबाद दो नगरों में ही मुख्यतः केन्द्रित हैं। इसके बाद तमिलनाडु का स्थान है। इस राज्य में सूती-वस्त्र के ९८ कारखाने हैं। इनके अतिरिक्त पश्चिमी बंगाल में ५०, उत्तर प्रदेश में २१, पंजाब एवं दिल्ली में ११, मैसूर में ११, केरल में २०, आन्ध्र में २ कारखाने तथा बिहार में दो कारखाने हैं। इस प्रकार अब सूती-वस्त्र उद्योग में महाराष्ट्र-गुजरात राज्य का एकाधिकार धीरे-धीरे समाप्त हो रहा है तथा इसके कारखाने अन्य राज्यों में भी स्थापित किये जा रहे हैं।

आयात एवं निर्यात :—प्रथम महायुद्ध के पूर्व भारत मुख्य रूप से कपड़े का आयातक था तथा प्रतिवर्ष ब्रिटेन एवं जापान से बहुत बड़ी मात्रा में कपड़े का आयात करता था। किन्तु प्रथम युद्ध के बाद धीरे-धीरे ब्रिटेन के आयात में कमी आने लगी और जापान ने उसके स्थान को ग्रहण करना आरम्भ किया। द्वितीय युद्धकाल में ब्रिटेन एवं जापान दोनों देशों से आयात प्रायः समाप्त हो गया। किन्तु युद्ध समाप्त होने के बाद पुनः आयात में वृद्धि होने लगी और १९४५ ई० में देश में ११ करोड़ गज कपड़े का आयात हुआ था। तब से प्रतिवर्ष भारत में सूती कपड़े का आयात १० करोड़ गज के लगभग होता रहा है। आज कल सूती-वस्त्र का आयात प्रायः नगण्य है।

द्वितीय युद्ध ने भारत से कपड़े के निर्यात को प्रोत्साहित किया। १९३८-३९ ई० में यहाँ से कुल १७·७ करोड़ गज कपड़े का निर्यात हुआ था जो बढ़कर १९४२ ई० में १०६·१ करोड़ गज हो गया। यहाँ से कपड़े का निर्यात आस्ट्रेलिया, मलाया, पश्चिमी एवं दक्षिणी अफ्रिका तथा अन्य एशियाई राष्ट्रों को किया जाता था।

किन्तु, युद्ध समाप्त होने के बाद कपड़े के निर्यात में कमी आ गयी तथा १९४७ ई० में यहाँ से केवल २१ करोड़ रुपये मूल्य का २७ करोड़ गज कपड़ा बाहर भेजा गया था। किन्तु, पुनः धीरे-धीरे कपड़े के निर्यात में वृद्धि होने लगी तथा १९५०-५१ ई० में भारत से १६० करोड़ रुपये मूल्य का १२१ करोड़ गज कपड़ा बाहर भेजा गया था। प्रथम योजनाकाल में निर्यात को प्रोत्साहित करने के लिए सरकार द्वारा बहुत-से प्रयत्न किये गये। इस उद्देश्य से कपड़े पर से निर्यात कर कम कर दिया गया। परन्तु, आजकल अन्तर्राष्ट्रीय बाजार में भारतीय सूती-वस्त्र उद्योग को पुनः जापानी प्रतियोगिता का सामना करना पड़ रहा है जिससे निर्यात की मात्रा धीरे-धीरे घट रही है। १९६०-६१ ई० में यहाँ से ८३ करोड़ रुपये मूल्य का ६० करोड़ मीटर कपड़ा निर्यात किया गया था जबकि १९७०-७१ में ६८ करोड़ रुपये मूल्य का ४२ करोड़ मीटर कपड़ा निर्यात किया गया था। निर्यात में इस कमी के लिए विदेशी प्रतियोगिता के अतिरिक्त उत्पादन-व्यय में वृद्धि, कपास के मूल्य तथा मजदूरी इत्यादि में वृद्धि उत्तरदायी है। तृतीय योजनाकाल में सूती-वस्त्र के निर्यात का वार्षिक लक्ष्य ८५ करोड़ मीटर रखा गया था। जून, १९६६ ई० में रुपये के अवमूल्यन के बाद से कपड़े के निर्यात में और अधिक वृद्धि की आशा की गयी थी जो पूरी नहीं हो सकी।

भारतीय सूती वस्त्र-उद्योग की समस्याएँ
(Problems of the Indian Cotton Mill Industry)

हमारे देश में सूती वस्त्र-उद्योग का भविष्य निश्चय ही आशाजनक है। देश की जनसंख्या द्रुतगति से बढ़ रही है। साथ ही, देश में योजनाकरण के द्वारा लोगों के जीवन-स्तर को ऊँचा उठाने का प्रयास किया जा रहा है। इन प्रयत्नों के फलस्वरूप भविष्य में कपड़े की मांग में महत्त्वपूर्ण वृद्धि की आशा की जाती है। किन्तु इस उद्योग के समक्ष अनेक कठिनाइयाँ हैं। सूती वस्त्र-उद्योग को भविष्य में एक सुदृढ़ आधार प्रदान करने के लिए इन समस्याओं का समाधान नितांत आवश्यक है। वास्तव में, इस उद्योग के समक्ष आज निम्नांकित प्रमुख समस्याएँ हैं :—

(१) कच्चे माल-कपास का अभाव (Lack of Raw material-Cotton) :—कपास के सम्बन्ध में आज भी हमारा देश स्वावलम्बी नहीं हो पाया है। १९४७ ई० में देश-विभाजन के फलस्वरूप भारत में कपास का, विशेषत: लम्बी रेशेवाली कपास का अभाव हो गया जिससे भारतीय सूती वस्त्र-उद्योग को कपास के अभाव का सामना करना पड़ा। इस सम्बन्ध में सर्वाधिक दु:ख की बात यह है कि विश्व की कुल कपास की खेती के क्षेत्र का २६ प्रतिशत भाग भारत में है, किन्तु इसका उत्पादन विश्व के कुल उत्पादन का १० प्रतिशत भाग है। सूती-वस्त्र उद्योग को सुदृढ़ आधार प्रदान करने के लिए कपास की दृष्टि से स्वावलम्बन अनिवार्य है। इस उद्देश्य से सरकार द्वारा बहुत-से प्रयत्न किये जा रहे हैं। पंचवर्षीय योजनाओं में कपास की उत्पादन में वृद्धि पर विशेष जोर दिया जा रहा है। १९५०-५१ ई० में भारत में कपास का उत्पादन २९ लाख गाँठ था जो प्रथम योजना के अन्त में, १९५५-५६ ई० में बढ़कर ४० लाख गाँठ १९६०-६१ ई० में ५३ लाख गाँठ तथा १९६५-६६ में ४८ लाख गाँठ ही हुआ। १९६८-६९ में कपास का उत्पादन ६० लाख गाँठ हुआ तथा चतुर्थ योजना के अन्त में १९७३-७४ में इसे बढ़ाकर ८० लाख गाँठ करने का आयोजन है। किन्तु चतुर्थ योजना की अर्द्ध-सामयिक समीक्षा के अनुसार १९७३-७४ तक कपास के उत्पादन के ६२ से ६५ लाख गाँठ होने का ही अनुमान है।

(२) यन्त्रों एवं मशीनों के अभिनवीकरण की समस्या (Problem of modernisation of plant and machinery) :—द्वितीय युद्धकाल में सूती-वस्त्र के कारखानों में दो-दो अथवा तीन-तीन पालियों तक काम हुआ जिससे अधिकांश मशीनें प्राय: जीर्ण एवं बेकार हो गयीं, अतएव इनका प्रतिस्थापन अनिवार्य है। बम्बई मिल एशोसिएशन ने १९५० ई० में यह अनुमान लगाया था कि बम्बई के कारखानों के ९० प्रतिशत यन्त्र २५ वर्षों से अधिक के हैं।[1] इनमें से कुछ मशीनों का आयात करना पड़ेगा। किन्तु; अधिकांश मिल-मालिकों के पास नयी मशीनें खरीदने के लिए पर्याप्त मात्रा में साधन नहीं हैं। साथ ही, आधुनिक यंत्रों का प्रयोग भी अनिवार्य है। रूस, चीन तथा ब्रिटेन की मिलों में क्रमश: ७२·३, ८७ तथा ३९ प्रतिशत कर्घे स्वचालित (automatic looms) हैं जबकि भारत में इस प्रकार के कर्घों की संख्या केवल १६·६ प्रतिशत ही है। पुरानी मशीनों के अभिनवीकरण के मार्ग में दो प्रधान कठिनाइयाँ हैं—सर्वप्रथम कठिनाई तो इन मशीनों की उपलब्धि तथा द्वितीयत: इनके लिए पूँजी की व्यवस्था करना है। ऐसा अनुमान लगाया जाता है कि सूती-वस्त्र के यंत्रों के अभिनवीकरण में कम-से-कम ८०० करोड़ रुपये व्यय करना पड़ेगा। उद्योगपति स्वयं इतनी मात्रा में पूँजी की व्यवस्था नहीं कर सकते। अत: इस कार्य के लिए सरकारी

१. एक मशीन द्वारा साधारणत: ३० वर्ष तक काम किया जा सकता है।

सहायता अनिवार्य है। राष्ट्रीय औद्योगिक विकास निगम (NIDC) सूती-वस्त्र उद्योग को इस कार्य में सहायता दे रहा है। किन्तु, इस समस्या के समाधान के लिए देश में इस प्रकार की मशीनों के निर्माण की भी व्यवस्था की जानी चाहिये। अभी तक इस क्षेत्र में बहुत ही कम काम हुआ है। किन्तु आशा है कि अगली पंचवर्षीय योजनाओं में इस पर विशेष जोर दिया जायगा। सरकार द्वारा स्थापित National Textile Corporation से भी इस क्षेत्र में अत्यधिक सहायता की आशा की जाती है।

(३) युक्तिसंगत पुनर्संगठन (Rationalisation) :—हमारे देश में सूती-वस्त्र के कारखानों का संगठन वैज्ञानिक तरीके से नहीं हुआ है। अधिकांश कारखानों का आकार इतना छोटा है कि इनमें उत्पादन प्रायः अलाभकर होता है। सूती-वस्त्र के प्रायः १३५ कारखानों का आकार बहुत ही छोटा तथा अलाभकर है। श्रमिकों की कार्यक्षमता भी बहुत ही कम है। इन्हीं कारणों से मिलों की संख्या अधिक होते हुए भी उत्पादन में कोई आशाजनक वृद्धि नहीं हो पायी है। संगठन-सम्बन्धी इन दोषों को दूर करने के लिए इस उद्योग का युक्तिसंगत पुनर्संगठन आवश्यक है। युक्तिसंगत पुनर्संगठन (Rationalisation) का अर्थ यह है कि कारखानों का संगठन इस प्रकार से हो एवं उत्पादन इस तरीके से किया जाय कि कच्चे पदार्थ एवं श्रम का कम-से-कम अपव्यय हो। इसके अन्तर्गत श्रमिकों को शिक्षित बनाया जायगा, कच्चे माल तथा तैयार की गयी वस्तुओं का प्रमाणीकरण होगा, काम करने के तरीकों में आवश्यक सुधार होगा तथा यातायात एवं विक्रय की व्यवस्था को अधिक सुदृढ़ बनाने की आवश्यकता होगी। किन्तु भारत में युक्तिसंगत पुनर्संगठन का इस आधार पर भी विरोध किया जाता है कि इससे बेरोजगारी बढ़ती है। आई० एन० टी० यू० सी० (I. N. T. U. C.) के अध्यक्ष ने १९५४ ई० में इसका विरोध करते हुए कहा था कि सूती वस्त्र उद्योग में युक्तिसंगत पुनर्संगठन अपनाने पर इसकी रोजगार प्रदान करने की क्षमता में कमी आ जायगी। सूती वस्त्र-उद्योग के युक्तिसंगत पुनर्संगठन का हस्त-करघा उद्योग पर भी प्रभाव पड़ेगा। अतः उन्होंने यह सुझाव दिया था कि इस कार्यक्रम को अपनाने के पूर्व पर्याप्त मात्रा में नये कारखानों की व्यवस्था की जानी चाहिये। वास्तव में, भारत-जैसे देश में जहाँ जन-शक्ति की अत्यधिक प्रचुरता है, बेरोजगारी के अप्रत्याशित भय को दूर करने के लिए युक्तिसंगत पुनर्संगठन को धीरे-धीरे अपनाना चाहिए।

(४) **चौथी समस्या मांग में परिवर्तन के अनुसार उत्पादन में समायोजन (adjustment of the pattern of production to the change in the consumer's preferences)** :—वर्तमान समय में विभिन्न प्रकार के मानव निर्मित सूत से तैयार मिश्रित प्रकार के कपड़ों (mixed fabrics) की मांग दिन-प्रति-दिन बढ़ती जा रही है। अतः भारतीय सूती-वस्त्र उद्योग को इस परिवर्तित मांग की पूर्ति के लिए अपने को समायोजित करना होगा। इसके लिए मानव-निर्मित सूतों के साथ-साथ मिश्रित तौर पर वस्त्र के निर्माण को प्राथमिकता देनी होगी।

(५) **विश्व बाजार में बढ़ती हुई प्रतियोगिता की समस्या (Problem of increasing competition in the world market)** :—भारत सरकार ने देशी बाजार का एक बहुत बड़ा भाग हस्त-करघा-उद्योग के लिए सुरक्षित कर दिया है, अतएव सूती वस्त्र-उद्योग की सफलता बहुत कुछ निर्यात पर ही निर्भर करती है। द्वितीय योजनाकाल में १०० करोड़ गज कपड़े के वार्षिक निर्यात का आयोजन था, जो पूरा नहीं हो सका। तृतीय योजनाकाल में सूती-वस्त्र के वार्षिक निर्यात का लक्ष्य ९८·५ करोड़ गज रखा गया था। चतुर्थ योजना में भी इस पर पर्याप्त जोर दिया गया है। किन्तु, भारत से सूती-वस्त्र का निर्यात १९५५-५६ में १०० करोड़ रुपये से घटकर १९६९-७०

में ८६·६ करोड़ रुपये हो गया। सरकार इस उद्देश्य से सूती-वस्त्र के निर्यात को बहुत अधिक प्रोत्साहित कर रही है। किन्तु पिछले कुछ वर्षों से विश्व बाजार में भारतीय सूती वस्त्र-उद्योग को विदेशी प्रतियोगिता का सामना करना पड़ रहा है। ब्राजील, मेक्सिको, मिश्र तथा अर्जेन्टाइना आदि कपास-उत्पादक देशों में भी सूती वस्त्र-उद्योग की स्थापना के प्रयत्न किये जा रहे हैं। जापान पुनः इस क्षेत्र में अत्यधिक तेजी के साथ अग्रसर हो रहा है और १९५४-५५ ई० के बाद विश्व के सूती वस्त्र निर्यातक राष्ट्रों में पुनः इसका स्थान प्रथम हो गया है। देश के अन्दर भी जापानी प्रतियोगिता का भय है. पाकिस्तान में भी इस उद्योग का विकास हो रहा है। साथ ही, पश्चिमी जर्मनी, स्पेन तथा इटली आदि देश भी कपड़े के निर्यातक हो रहे हैं। इंगलैण्ड के साझे बाजार (Common market) में प्रवेश करने के बाद यह कठिनाई और भी बढ़ जायगी, क्योंकि भारत के कुल सूती-वस्त्र के निर्यात का प्रायः एक-तिहाई भाग ब्रिटेन ही खरीदता है।

(६) **हस्त-करघा एवं मिल-उद्योग के समन्वय की समस्या** (Problem of Co-ordination between Handloom and Mill Industry) :—भारत के कुल सूती-वस्त्र के उत्पादन का प्रायः २५ प्रतिशत भाग विकेन्द्रित क्षेत्र, विशेषतः हस्त-करघा-उद्योग द्वारा उत्पन्न किया जाता है। हस्त-करघा उद्योग में पूर्ण या आंशिक रूप से कोई ५० लाख व्यक्तियों को रोजी प्राप्त होती है। अतः मिल उद्योग के विकास की किसी भी योजना में हस्त-करघा के साथ समन्वय पर पूरा जोर देना चाहिए। प्रायः ऐसा कहा जाता है कि सूती-वस्त्र उद्योग का विकास इस प्रकार से होना चाहिए कि मिल एवं हस्त-करघा की बनी वस्तुओं में कोई प्रतियोगिता न रहे। इस उद्देश्य से इन दोनों प्रकार के उद्योगों के उत्पादन-क्षेत्र तथा उत्पादन की मात्रा निश्चित कर दी जानी चाहिए। ऐसा करने से इनमें प्रतियोगिता की सम्भावना नहीं रह जायगी। इस उद्देश्य से आजकल भारत सरकार ने उत्पादन के सामान्य कार्यक्रम (Common Production Programme) की नीति को अपनाया है जिसके अनुसार उत्पादन-क्षेत्र का विभाजन कर उन्हें सुरक्षित बनाने का प्रयास किया जाता है। किन्तु हस्त-करघा-उद्योग को प्रोत्साहन करने के उद्देश्य से मिल के क्षेत्र को अनावश्यक रूप से सीमित करना बुद्धिमानी का कार्य नहीं होगा। कानूनगो तथा कर्वे समितियों की सिफारिशों के आधार पर सरकार ने द्वितीय योजनाकाल में मिल उद्योग के उत्पादन को ५०० करोड़ गज तक ही सीमित रखा तथा योजनाकाल में अतिरिक्त कपड़े की माँग की पूर्ति को विकेन्द्रित क्षेत्र से पूरा करने पर जोर दिया। तृतीय योजनाकाल में भी सूती-वस्त्र के अतिरिक्त उत्पादन का अधिकांश भाग हस्त-करघा के द्वारा ही प्राप्त करने का आयोजन था। इससे स्पष्ट है कि सरकार हस्त-करघा-उद्योग को अधिकाधिक प्रोत्साहन देना चाहती है तथा अतिरिक्त मांग की अधिकाधिक पूर्ति हस्त-करघा के कपड़ों से ही करना चाहती है। किन्तु, हस्त-करघा उद्योग को अनावश्यक महत्त्व दिया जा रहा है। देश की आर्थिक व्यवस्था में हस्त-करघा उद्योग का निस्सन्देह विशिष्ट स्थान है, अतः इसको प्रोत्साहन देना अनिवार्य है। परन्तु, यह प्रोत्साहन मिल उद्योग की उत्पादन-शक्ति को स्थायी बनाकर नहीं होना चाहिए। अतः उद्योग के दोनों पहलुओं में सामंजस्य स्थापित करना चाहिए जिससे उद्योग के विकास में कोई कठिनाई नहीं हो सके और वह गतिशील बना रहेगा।

(७) **सरकारी नियन्त्रण का आधिक्य एवं कर का अधिक बोझ** (Excessive Government control and burden of taxation) :—सूती-वस्त्र उद्योग की एक प्रमुख समस्या अत्यधिक सरकारी नियन्त्रण एवं कर के अधिक बोझ से उत्पन्न होती है। सरकार सूती कपड़े पर उत्पादन शुल्क (excise duty) में निरन्तर वृद्धि करते जा रही है जिससे इसके मूल्य में

अनावश्यक रूप से वृद्धि हो रही है। सरकार द्वारा समय-समय पर आय में वृद्धि के उद्देश्य से कपड़े पर उत्पादन शुल्क की दर में भी वृद्धि की जा रही है। इससे उद्योग की कठिनाइयाँ निश्चय ही बढ़ जाती हैं। वास्तव में, सूती-वस्त्र उद्योग के स्वस्थ विकास के लिए कर के बोझ को उचित स्तर पर रखना अनिवार्य है। इससे इस उद्योग के विकास में कोई कठिनाई नहीं होगी।

(८) अकुशल तथा अलाभप्रद मिलें (Inefficient and uneconomic Mills):–भारत में सूती-वस्त्र के कारखानों की संख्या बहुत अधिक है। इनमें से अधिकांश कारखानों का आकार बहुत छोटा होने के कारण उनका उत्पादन व्यय बहुत अधिक पड़ता है। साथ ही, कुछ कारखाने अकुशल भी हैं। अतएव ऐसी मिलों को या तो बन्द कर देना चाहिए या उनमें सुधार तथा विकास के द्वारा इन्हें लाभप्रद तथा आर्थिक आधार प्रदान करना चाहिए।

पंचवर्षीक योजनाओं में सूती वस्त्र उद्योग
(Cotton Mill Industry in Five Year Plans)

प्रथम पंचवर्षीय योजना (First Five Year Plan) में कपड़े एवं सूत के उत्पादन में महत्त्वपूर्ण वृद्धि का आयोजन था। १९५०-५१ ई० में सूत का उत्पादन ५३·४ करोड़ कि० ग्राम तथा कपड़े का उत्पादन ३४० करोड़ मीटर था। योजना के अन्त में यह बढ़कर १९५५-५६ ई० में ७४·४ कि० ग्राम सूत तथा ४६६·५ करोड़ मीटर कपड़ा हो गया। इस प्रकार योजनाकाल में सूत के उत्पादन में ३८·५ प्रतिशत तथा कपड़े के उत्पादन में ३७·३ प्रतिशत की वृद्धि हुई। प्रथम योजना काल में उत्पादन में वृद्धि के फलस्वरूप देश में कपड़े की प्रति-व्यक्ति औसत खपत १९५०-५१ ई० में १०·९ मीटर से बढ़कर १९५५-५६ ई० में १४·७ मीटर हो गयी। (इसमें सभी प्रकार के कपड़े सम्मिलित हैं।)

द्वितीय पंचवर्षीय योजना (Second Five Year Plan) के अन्त तक १९६०-६१ ई० में प्रति-व्यक्ति औसत खपत १७ मीटर के आधार पर यह अनुमान लगाया गया था कि आंतरिक खपत के लिए कुल ७३० करोड़ मीटर कपड़े की आवश्यकता होगी। इसके अतिरिक्त योजना में ९५ करोड़ मीटर कपड़ा विदेशों में निर्यात करने का लक्ष्य था। इस प्रकार १९६०-६१ ई० तक प्रायः ८२५ करोड़ मीटर कपड़े की आवश्यकता का अनुमान था जिसकी पूर्ति उत्पादन की तीनों इकाइयों—मिल, हस्त-करघा तथा शक्ति द्वारा प्रचालित करघा द्वारा करनी थी। इसमें से द्वितीय योजना के अन्त में मिल के कपड़े का उत्पादन ४६५ करोड़ मीटर तथा सूत का उत्पादन ८० करोड़ कि० ग्रा० हुआ। इस प्रकार द्वितीय योजना का यह लक्ष्य पूर्ण रूप से पूरा हो गया।

तृतीय पंचवर्षीय योजनाकाल (Third Five Year Plan) में सूती वस्त्र के उत्पादन को १९६५-६६ ई० में ५५० करोड़ मीटर करने का आयोजन था। अनुमान लगाया गया था कि १९६५-६६ ई० में आंतरिक उपयोग के लिए ८०५ करोड़ मीटर तथा निर्यात के लिए ८० करोड़ मीटर कपड़े की आवश्यकता पड़ेगी, यानी १९६५-६६ ई० में कुल ८८५ करोड़ मीटर कपड़े की आवश्यकता होगी। इसमें से मिल उद्योग का हिस्सा ५५० करोड़ मीटर तथा विकेन्द्रित क्षेत्र का ३३५ करोड़ गज निश्चित किया गया। किन्तु, योजना का यह लक्ष्य पूरा नहीं हो सका तथा १९६५-६६ ई० में सूती वस्त्र का उत्पादन ४४० करोड़ मीटर तथा सूत का उत्पादन ९०·८ करोड़ कि० ग्राम ही हुआ।

योजनाकाल में सूती वस्त्र-उद्योग के पुनर्स्थापन तथा आधुनिकीकरण पर १०५ करोड़ रुपये व्यय किये गये। तृतीय योजनाकाल में सहकारिता के आधार पर सूती वस्त्र के कारखानों की

स्थापना के क्षेत्र में भी विशेष प्रगति हुई। योजनाकाल में इस प्रकार के ४४ नये कारखाने खोलने की अनुमति दी गयी।

चतुर्थ पंचवर्षीय योजना (Fourth Five Year Plan)[1] के अन्त में, यानी १९७३-७४ ई० तक मिल के सूती-वस्त्र के उत्पादन को बढ़ाकर ५१० करोड़ मीटर तथा सूत के उत्पादन को ११५·० करोड़ कि० ग्राम करने का आयोजन है। चतुर्थ योजनाकाल में पुनर्स्थापन तथा आधुनिकीकरण पर १३२·५ करोड़ रुपये तथा विस्तारीकरण पर १३४ करोड़ रुपये व्यय का अनुमान किया जाता है। यह लक्ष्य कोई बहुत बड़ा नहीं है, फिर भी इस उद्योग की समस्याओं को दूर करने का यथासम्भव प्रयास सरकार द्वारा किया जाना चाहिए। जोशी कमिटी ने इस उद्योग की प्रमुख समस्याओं की ओर सरकार का ध्यान आकर्षित किया था और इनके समाधान के लिए समुचित उपाय भी बतलाये थे। किन्तु, इन सिफारिशों के बावजूद सरकार कपड़े के उत्पादन-शुल्क में वृद्धि ही करती जा रही है। उत्पादन-शुल्क में इस वृद्धि से मुख्यतः फाइन तथा सुपरफाइन कपड़े ही प्रभावित हुए हैं। किन्तु इस उद्योग के संकट स्पष्टतः यह बतलाते हैं कि यदि सरकार अपनी कर-नीति को कठोर बनायगी तो इस उद्योग में उत्पादन ह्रास नियम (Law of Diminishing Returns) अवश्य ही लागू होने लगेगा।

पंचवर्षीय योजनाओं में सूती वस्त्र-उद्योग की प्रगति का अन्दाजा निम्नांकित तालिका से लगाया जा सकता है :—

पंचवर्षीय योजनाओं में सूत एवं कपड़े का उत्पादन

	१९५०-५१	१९५५-५६	१९६०-६१	१९६५-६६	१९६८-६९	१९७३-७४ (आयोजित)
सूत (करोड़ कि० ग्रा०)	५३·४	७४·४	८०·१	९०·७	९५·९	११५·०
कपड़ा (करोड़ मीटर में)	३४०	४६६·५	४६४·९	४४७·१	४५९·७	५१०·०

पिछले २० वर्षों में सूती-वस्त्र उद्योग की प्रगति का अन्दाजा निम्नांकित तालिका से भी लगाया जा सकता है :—

	१९५१	१९७१
१. कारखानों की कुल संख्या	३७८	६६४
२. तकुओं की संख्या (हजार में)	१०,९९९	१७,८७६
३. कर्घों की संख्या (हजार में)	१९४,५६७	२०९,०२१
४. सूत का उत्पादन (हजार किलोग्राम में)	५९१,४३१	९६४,७५६
५. सूती-वस्त्र (मिल का उत्पादन) हजार मीटर में	३,७२७,२६४	४,१५७,०९४
(विकेन्द्रित क्षेत्र) ,,	१,०१३,०००	३,६९२,०००
६. कपास की खपत (लाख गांठ में)	३८·५	६३·९

इस प्रकार विभिन्न कठिनाइयों के बावजूद इस उद्योग की वर्तमान प्रवृत्ति निरंतर विस्तार की ओर है। अतएव हमारा विचार है कि यदि वैज्ञानिक कर-नीति (Scientific pattern of Fiscal measures), उदार आधुनिकीकरण की नीति एवं यथार्थवादी निर्यात विकास की नीति अपनायी जाय तो यह उद्योग निश्चय ही विकास की ओर उन्मुख होगा।

1. Fourth Plan (1969-74) P. 300.

२. जूट उद्योग
(Jute Industry)

भारत की औद्योगिक व्यवस्था में जूट-उद्योग का महत्त्वपूर्ण स्थान है। यह विदेशी मुद्रा प्राप्त करने का एक प्रमुख साधन है। जूट की वस्तुओं के निर्यात से १९६९-७० ई० में २०९ करोड़ रुपये विदेशी विनिमय के रूप में प्राप्त हुआ था। यह देश के कुल निर्यात का प्रायः २२ प्रतिशत भाग था। इस समय देश में कुल ११२ जूट के कारखाने हैं जिनमें लगभग १०० करोड़ रुपये की पूँजी लगी हुई है। इन कारखानों में ७२,६५० कर्घे थे जिनमें से ४५ प्रतिशत हैसियन तथा ५५ प्रतिशत टाट एवं बोरा तैयार करते हैं। १९६८ ई० में जूट का उत्पादन १०·८५ लाख टन था। इस उद्योग की वार्षिक उत्पादन क्षमता १३ लाख टन की है।

उद्योग का प्रारम्भिक इतिहास (Early History of Development) :—भारत में जूट कातने की पहली मिल १८५५ ई० में बंगाल के श्रीरामपुर के समीप रिशरा नामक स्थान में जॉर्ज आकलैंड द्वारा चालू की गयी। १८५९ ई० में इस उद्योग में सर्वप्रथम शक्ति द्वारा चालित करघे का प्रयोग किया गया। प्रारम्भ में इस उद्योग का विकास बहुत मंद रहा। किन्तु इसके बाद इसका विकास प्रारम्भ हुआ और १८६८ से १८७३ ई० के बीच जूट के कारखानों ने 'खूब रुपया बनाया' एवं कारखानों ने ५ से २५ प्रतिशत तक का लाभांश दिया। इसके फलस्वरूप बहुत-सी नयी मिलें स्थापित की गयीं और उत्पादान में भी बहुत अधिक वृद्धि हुई। इससे लाभ की मात्रा घटने लगी एवं जूट-उद्योग को संकट का सामना करना पड़ा। लेकिन, इस समय तक देश में जूट उद्योग पूर्णतः सुदृढ़ हो गया था। १८८६ ई० में भारतीय जूट मिल संघ (Indian Jute Mill Association) की स्थापना हुई जिसने इस उद्योग के विकास एवं इसकी स्थिति को सुदृढ़ बनाने में महत्त्वपूर्ण सहयोग प्रदान किया। १८८५ ई० के बाद इस उद्योग की उत्तरोत्तर वृद्धि होने लगी। प्रथम महायुद्ध के पूर्व तक यह धन्धा काफी सुदृढ़ हो चुका था और भारतीय जूट की वस्तुओं का निर्यात विश्व के प्रायः सभी प्रमुख देशों में होने लगा था। १९१३-१४ ई० में भारत में कुल ६४ जूट के कारखाने थे जिनमें ४३·३ लाख गाँठ कच्चे जूट की खपत हुई थी तथा १८·३ करोड़ रुपये के जूट के सामान का निर्यात किया गया था।

प्रथम महायुद्ध एवं उसके बाद की प्रगति (Development during the First World War and After) :—प्रथम महायुद्ध ने अन्य उद्योगों की तरह जूट-उद्योग को भी प्रोत्साहन प्रदान किया। युद्ध-स्थलों में बालू के थैलों एवं त्रिपाल आदि की मांग में वृद्धि के कारण निर्यात में महत्त्वपूर्ण वृद्धि हुई। विदेशों में यन्त्र वगैरह मँगाने की असुविधा ने नये कारखानों की सम्भावना कम कर दी। साथ ही, युद्ध ने कच्चे जूट के निर्यात की सम्भावना को समाप्त कर उनके मूल्य को बढ़ाने से रोक दिया। युद्धकाल में मित्र-राष्ट्रों की सेना के लिए भारतीय मिलों ने १३९ करोड़ पौंड जूट के कपड़े तथा १० लाख पौंड सुतली तैयार किया। बढ़ी हुई मांग को पूरा करने के लिए जूट के कारखानों ने अपनी पूरी क्षमता के अनुसार कार्य किया। युद्धकाल में कारखाना अधिनियम भी ढीला कर दिया गया और कच्चे जूट के निर्यात को पूर्णतया रोक दिया गया। कच्चे जूट के मूल्य एवं मजदूरी में वृद्धि नहीं होने के कारण युद्धकाल में जूट की मिलों ने बहुत ही मुनाफा कमाया।

किन्तु युद्ध के बाद जूट-उद्योग को बहुत कारणों से कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। युद्ध-सम्बन्धी मांग समाप्त हो जाने से जूट की वस्तुओं की मांग बहुत कम हो गयी। साथ ही, युद्ध के बाद कच्चे जूट के मूल्य एवं मजदूरी में वृद्धि प्रारम्भ हो गयी। युद्धकाल में अत्यधिक

मुनाफे से प्रभावित हो युद्ध के तुरंत बाद में बहुत-सी नयी-नयी मिलें प्रारम्भ की जाने लगीं। जूट-उद्योग को कोयले का अभाव का सामना करना पड़ा जिसमें १६१६-२० ई० में बहुत-से कारखानों को कुछ समय तक बन्द रखने के लिए बाध्य होना पड़ा। इन कठिनाइयों का सामना करने के लिए जूट की मिलों ने अप्रिल, १६२१ ई० में सप्ताह में ४ दिन काम करने का एक समझौता किया जो १६२६ ई० तक चलता रहा। किन्तु युद्धोत्तरकालीन कठिनाइयों के बावजूद इस उद्योग की प्रगति संतोषजनक रही तथा इसमें सम्पन्नता बनी रही। नये-नये कारखानों की स्थापना हुई तथा उत्पादन कार्य भी उसी प्रकार से चलता रहा एवं मिल-मिलकों ने बहुत अधिक मुनाफा कमाया। १६२६ ई० तक जूट-उद्योग ने बड़ी उन्नति कर ली। १६२३ से १६२६ ई० के बीच ७ वर्षों में जूट की उत्पादन-शक्ति में प्रायः २५ प्रतिशत की वृद्धि हुई।

१६२६ ई० की भयानक आर्थिक मन्दी एवं बाद (The Great Economic Depression of 1929 and After) :—किन्तु १६२६ ई० की भयानक आर्थिक मन्दी ने जूट-उद्योग को बहुत अधिक प्रभावित किया। आर्थिक मन्दी के कारण जूट की वस्तुओं का निर्यात बहुत घट गया जिससे इसे उद्योग को भीषण कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। इस प्रकार १६२८-२६ ई० में जहाँ भारत से ५७ करोड़ रुपये की जूट की वस्तुओं का निर्यात होता था, वहाँ १६३३-३४ में केवल ११·४ करोड़ रुपये की जूट की वस्तुओं का निर्यात हो सका। मन्दी के कारण जूट के कारखानों में प्रति सप्ताह काम के घण्टों को घटा दिया गया तथा कुछ करघों को भी बन्द कर दिया गया। १६३६ ई० में जूट के उत्पादन में वृद्धि करने तथा खेती-सम्बन्धी अनुसंधान को प्रोत्साहन करने के लिए एक भारतीय केन्द्रीय जूट समिति (Indian Central Jute Committee) की स्थापना हुई जो इस उद्योग के चतुर्दिक विकास का प्रयत्न करती है। १६३८ ई० में विदेशी व्यापार की अनिश्चितता तथा मिलों की आपसी प्रतिस्पर्धा के कारण जूट-उद्योग को पुनः कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। इस प्रकार सितम्बर, १६३८ ई० तक जूट उद्योग एक भीषण संकट की ओर अग्रसित हो रहा था। अतः बंगाल की जूट मिलों एवं जूट उत्पादकों की रक्षा के लिए बंगाल सरकार ने एक विशेष अध्यादेश जारी कर बंगाल की जूट मिलों को प्रति सप्ताह ४५ घण्टे से अधिक काम करने से रोक दिया। इस अध्यादेश के भय से १६३६ ई० में संस्था एवं बाहरी मिलों के बीच एक समझौता हुआ जिसके अनुसार मिलों ने २० प्रतिशत जूट के कपड़े तथा ७½ प्रतिशत बोरा तैयार करने वाले करघों को बन्द रखकर ४५घण्टे प्रति सप्ताह काम करने का निश्चय किया किन्तु, इसी बीच १६३६ ई० में द्वितीय विश्व युद्ध प्रारम्भ हो जाने के कारण स्थिति में अपने-आप सुधार हो गया और मिलों के उत्पादन तथा मुनाफे दोनों में आशातीत वृद्धि हुई।

लेकिन इतना होने पर मन्दी और संकट काल में जूट-उद्योग सूती वस्त्र-उद्योग की अपेक्षा अधिक सुरक्षित रहा। इसका प्रमुख कारण इस उद्योग का सुदृढ़ आन्तरिक संगठन था। भारतीय जूट मिल-संघ के नेतृत्व में जूट की मिलों ने पारस्परिक सहयोग में उत्पादन सीमित रखने की नीति का बड़ी सफलता से अनुकरण किया। साथ ही, मिलों के पास पर्याप्त सुरक्षित कोस ने भी इन्हें इन कठिनाइयों का सफलतापूर्वक सामना करने में अकथनीय सहयोग प्रदान किया।

द्वितीय महायुद्ध एवं युद्धोत्तरकालीन समस्याएँ (Second World War and the Post-war Problems)—१६३६ ई० में द्वितीय महायुद्ध प्रारम्भ होने के साथ-साथ सैनिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए जूट की वस्तुओं की मांग अत्यधिक बढ़ गयी जिससे जूट और जूट की वस्तुओं के मूल्य में अप्रत्याशित वृद्धि हुई। अतएव काम करने के घण्टों पर जो रोक लगायी गयी थी

उसे पूर्णतया हटा दिया गया और मिलों ने ६० घण्टे प्रति सप्ताह काम करना प्रारम्भ कर दिया। साथ ही, भारत सरकार ने एक विशेष अध्यादेश द्वारा कारखाना अधिनियम की कुछ धाराओं को भी स्थगित कर दिया। फलतः, उत्पादन एवं निर्यात में बहुत अधिक वृद्धि हुई। १९३९-४० ई० में जूट की वस्तुओं का उत्पादन १२·८ लाख टन तथा निर्यात ११ लाख टन था।

किन्तु, युद्ध काल में जहाँ मूल्य में वृद्धि से उद्योग को लाभ हुआ वहाँ इसके समक्ष कई नयी समस्याएँ भी आ गयीं। इनमें निर्यात की समस्या सर्वोपरि थी। युद्धकाल में शत्रु-राष्ट्रों को होनेवाला निर्यात तो प्रायः समाप्त हो ही गया, साथ ही, समुद्री यातायात की जोखिम के कारण मित्र-राष्ट्रों को होनेवाला निर्यात भी बहुत घट गया। इसका प्रभाव जूट की मिलों पर बहुत बुरा पड़ा। साथ ही, बहुत-से देशों ने जूट की स्थानापन्न वस्तु निकालने का प्रयत्न प्रारम्भ कर दिया तथा कुछ देशों को इसमें सफलता भी मिली। इससे जूट-उद्योग को बहुत क्षति की आशंका होने लगी। किन्तु भारतीय जूट-संघ के प्रयत्नों एवं सुदूर पूर्व के युद्ध-स्थलों से जूट की वस्तुओं की मांग के परिणामस्वरूप भारत का जूट-उद्योग इन कठिनाइयों से बच गया। सितम्बर, १९४० ई० में संघ की सदस्य-मिलों ने प्रति माह में एक सप्ताह काम बन्द करने तथा ४५ घण्टे प्रति सप्ताह काम करने का निश्चय किया। किन्तु, इस बीच में युद्ध के लिए बोरों के भारी आर्डर प्राप्त होने के फलस्वरूप मिलों ने प्रति सप्ताह ६० घण्टे काम करना प्रारम्भ कर दिया। पुनः मई, १९४२ ई० में चन्द कठिनाइयों के कारण मिलों ने ५४ घण्टे प्रति सप्ताह काम करने तथा १० प्रतिशत करघों को बन्द करने का निश्चय किया। किन्तु, मार्च, १९४३ ई० में अमेरिका से हैसियन कपड़े का एक बहुत बड़ा आर्डर मिलने के कारण मिलों ने ६० घण्टे प्रति सप्ताह काम करना प्रारम्भ कर दिया। इस प्रकार द्वितीय युद्ध का समय जूट उद्योग के लिए आशा एवं आशंका का समय रहा। युद्धकाल में २६ मिलें सरकार द्वारा सैनिक भण्डार एवं सामग्री तैयार करने के लिए ले ली गयी थीं। इस भाँति जूट-उद्योग द्वितीय युद्धकाल में अपनी प्रस्थापित क्षमता के प्रायः २५ प्रतिशत भाग से वंचित रहा। फिर भी, युद्ध-सम्बन्धी सारी आवश्यकताओं की पूर्ति करने में यह पूर्णतया समर्थ था। वास्तव में, जूट-उद्योग की प्रमुख समस्या उत्पादन-क्षमता की अतिरिक्तता है जिससे इसे यदा-कदा उत्पादन को सीमित करने की नीति अपनाने के लिए बाध्य होना पड़ा।

विगत दोनों महायुद्धों के बीच जूट-उद्योग की प्रगति का अन्दाजा निम्न तालिका[1] से स्पष्ट है :—

वर्ष	कारखानों की संख्या	अधिकृत पूँजी (करोड़ में)	करघों की संख्या (हजार में)	तकुओं की संख्या (हजार में)
१९०९-१० से १९१३-१४				
(औसत)	६०	१२·०९	३३·५	६९२
१९२५-२६	९०	२१·३५	५०·५	१०६४
१९३०-३१	१००	२३·६१	६१·८	१,२२५
१९३७-३८	१०५	२४·८९	५२·४	१,१०८
१९४६-४७	१०६	....	६६·०	१,२९५

1. India 1971-72.

जूट उद्योग पर देश विभाजन का प्रभाव
(Effects of Partition on Jute Industry)

द्वितीय महायुद्ध के दो वर्ष बाद जूट उद्योग को सबसे बड़ी समस्या का सामना करना पड़ा। अगस्त, १९४७ ई० में देश-विभाजन हुआ, जिसके फलस्वरूप अविभाजित भारत के कच्चा जूट उत्पन्न करने वाले कुल क्षेत्र का केवल २१ प्रतिशत भाग तथा कच्चे जूट की कुल उपज का केवल २० प्रतिशत भाग भारत को मिला जबकि जूट की प्रायः सभी मिलें भारत संघ में ही रह गयीं। इससे जूट उद्योग को कच्चे माल के अभाव की भीषण समस्या का सामना करना पड़ा। विभाजन के पश्चात् भारत में केवल १७ लाख गाँठ जूट का उत्पादन हुआ था जबकि पाकिस्तान में कच्चे जूट का उत्पादन प्रायः ६८ लाख गाँठ था। अतएव देश की मिलों को कच्चे जूट के लिए पाकिस्तान पर आश्रित होना पड़ा। प्रारम्भ में, राजनीतिक मनमुटाव के कारण दोनों देशों का व्यापारिक सम्बन्ध ठीक नहीं था। नवम्बर, १९४७ ई० में पाकिस्तान ने भारत को जानेवाले जूट पर एक कर लगा दिया। इसके फलस्वरूप दोनों देशों के बीच मई, १९४८ ई० में एक व्यापारिक समझौता हुआ जिसके अनुसार पाकिस्तान ने भारत को ५० लाख गांठ जूट देने का वादा किया। पुनः १९४९ ई० में एक दूसरा समझौता हुआ जिसके अनुसार पाकिस्तान ने प्रतिवर्ष भारत को ४० लाख गाँठ जूट देना स्वीकार किया।

इसी बीच सितम्बर, १९४९ ई० में भारतीय रुपये के अवमूल्यन (Devaluation) के कारण पाकिस्तानी जूट का मूल्य (पाकिस्तान ने अपनी मुद्रा का अवमूल्यन १९५५ ई० में किया) भारतीय मुद्रा के रूप में ४४ प्रतिशत से बढ़ गया। साथ ही, भारतीय जूट के निर्यात की वस्तुओं का मूल्य डॉलर क्षेत्र में प्रायः ३० प्रतिशत घट गया। अतः जूट उद्योग के समक्ष एक नयी कठिन स्थिति उत्पन्न हो गयी। भारतीय जूट-मिल संघ ने अक्तूबर, १९४९ ई० में सभी मिलों को यह आदेश दिया कि पाकिस्तानी जूट के लिए वे एक निश्चित मूल्य से अधिक कीमत न दें। इसी बीच अप्रैल, १९५० ई० में दोनों देशों के बीच एक व्यापारिक समझौता हुआ जिसके अनुसार जुलाई, १९५० ई० तक पाकिस्तान ने भारत को ८ लाख गाँठ जूट देना स्वीकार किया, किन्तु इस समझौते की शर्त पाकिस्तान ने पूरी नहीं की। पुनः फरवरी, १९५१ ई० में एक दूसरा व्यापारिक समझौता हुआ जिसके अनुसार अगले १६ महीने में पाकिस्तान ने भारत को ३० लाख गाँठ जूट देना स्वीकार किया। इसके साथ ही भारत ने जूट के उत्पादन को बढ़ाने के लिए निरन्तर प्रयत्न करता रहा। वास्तव में, भारतीय जूट मिलों की पाकिस्तानी जूट पर निर्भरता समाप्त करने के लिए यह आवश्यक है कि देश में कच्चे जूट के उत्पादन को बढ़ाया जाय। भारत सरकार द्वारा इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए बहुत अधिक प्रयत्न किये जा रहे हैं। इन प्रयत्नों के फलस्वरूप देश में जूट की खेती के क्षेत्र एवं उपज दोनों में वृद्धि हो रही है।

निर्यात (Export) :—भारत जूट की निर्मित वस्तुओं का महत्त्वपूर्ण निर्यातक देश है। द्वितीय महायुद्ध के पूर्व कुल भारतीय निर्यात का १६ प्रतिशत भाग जूट की वस्तुओं का ही था, द्वितीय युद्ध के बाद बढ़कर यह २७·९ प्रतिशत तथा विभाजन के बाद बढ़कर ३५·३ प्रतिशत हो गया। किन्तु, इसके बाद इसका प्रतिशत घटने लगा तथा १९५१-५२ में यह घटकर प्रायः २० प्रतिशत हो गया। १९६६-६७ में २५० करोड़ रुपये मूल्य की जूट की वस्तुओं का निर्यात किया गया था किन्तु १९६९-७० में यह २०९ करोड़ रुपये हो गया। यह कुल निर्यात का १५ प्रतिशत भाग था।

जूट की वस्तुओं का पहले मुख्यतः संयुक्त राज्य अमेरिका को निर्यात किया जाता था किन्तु वर्तमान समय में कई कारणों से वहाँ पर भारतीय जूट की वस्तुओं की मांग घट रही है। किन्तु,

पूर्वी यूरोप के देशों तथा सोवियत संघ में जूट की वस्तुओं की मांग में वृद्धि का पर्याप्त क्षेत्र है। भारत सरकार भी जूट के निर्यात को बढ़ाने पर पर्याप्त जोर दे रही है तथा इस उद्देश्य से जूट की कई किस्मों पर से निर्यात कर में पर्याप्त मात्रा में छूट दी गयी है।

जूट उद्योग की प्रमुख समस्याएँ

(Important Problems of the Jute Industry)

इस प्रकार भारतीय जूट उद्योग का भविष्य अत्यंत उज्जवल है। जूट उद्योग देश के लिए विदेशी मुद्रा अर्जित करने का प्रमुख साधन है तथा भविष्य में भी रहेगा। किन्तु, वर्तमान समय में भारतीय जूट-उद्योग के समक्ष कई समस्याएँ हे जिनमें निम्नांकित प्रमुख समस्याएँ हैं :—

(क) कच्चे जूट का अभाव (Shortage of Raw Jute) :—देश-विभाजन के बाद भारतीय जूट-उद्योग के समक्ष सर्वाधिक प्रमुख समस्या कच्चे माल के अभाव की समस्या है। देश-विभाजन के फलस्वरूप जूट उत्पन्न करने का प्रायः ८० प्रतिशत भाग पाकिस्तान में चला गया। इस अभाव को दूर करने के लिए सरकार द्वारा देश में जूट के उत्पादन को बढ़ाने पर पूरा जोर दिया जा रहा है। प्रथम पंचवर्षीय योजना (First Five Year Plan) में कच्चे जूट का उत्पादन १९५०-५१ ई० में प्रायः ३३ लाख गाँठ से बढ़कर १९५५-५६ ई० में ४२ लाख गांठ हो गया। द्वितीय पंचवर्षीय योजना (Second Five Year Plan) में भी कच्चे जूट के उत्पादन को बढ़ाकर १९६०-६१ ई० में ५५ लाख गाँठ करने का आयोजन था। किन्तु, योजना का यह लक्ष्य पूरा नहीं हो सका तथा १९६०-६१ ई० में जूट का उत्पादन केवल ४१ लाख गाँठ ही हुआ। तृतीय पंचवर्षीय योजना (Third Five Year Plan) के अन्त में जूट के उत्पादन को बढ़ाकर १९६५-६६ ई० तक ६२ लाख गाँठ करने का आयोजन था। किन्तु, १९६५-६६ ई० में जूट का उत्पादन प्रायः ४५ लाख गाँठ ही हुआ। इसी प्रकार १९६८-६९ में जूट का उत्पादन ६२ लाख गाँठ था। चतुर्थ योजना में १९७३-७४ ई० तक जूट के उत्पादन को बढ़ाकर ७४ लाख गाँठ करने का आयोजन है। कच्चे जूट के उत्पादन में वृद्धि के साथ-साथ इसके मूल्य को एक न्यूनतम स्तर पर बनाये रखने का प्रयास भी आवश्यक है। इससे कच्चे जूट के उत्पादकों को उनकी फसल का उचित मूल्य मिलेगा और वे अधिक उत्पादन का प्रयत्न करेंगे। साथ ही, कच्चे जूट की किस्म पर भी समुचित ध्यान देना चाहिए। इस प्रकार रासायनिक खादों के अधिकाधिक प्रयोग, जूट की खेती के क्षेत्र में वृद्धि, बंजर भूमि के उद्धार, धान एवं जूट की सम्मिलित खेती तथा पश्चिमी बंगाल के अतिरिक्त अन्य राज्यों में जूट की खेती के विस्तार द्वारा कच्चे जूट के उत्पादन में महत्त्वपूर्ण वृद्धि की जा सकती है।

(ख) यंत्रों एवं उपकरणों के आधुनिकीकरण की समस्या (Modernisation of plants and equipments) :—जूट उद्यग के अधिकांश यंत्र अत्यन्त पुराने हो गये हैं। अतः इनका जीर्णोद्धार अनिवार्य है। भारतीय जूट-उद्योग की समृद्धि मुख्यतया विदेशी बाजार पर ही आधारित है। विश्व के बाजार में अपने एकाधिकार की स्थिति को बनाये रखने के लिए इस उद्योग का आधुनिकीकरण आवश्यक है। आधुनिकीकरण के फलस्वरूप जूट की वस्तुओं के उत्पादन की लागत में कमी की आशा की जाती है जिससे विदेशी बाजार में भारतीय जूट उद्योग दूसरे देशों की प्रतियोगिता का सफलतापूर्वक सामना कर सकेगा। जूट-उद्योग के आधुनिकीकरण के लिए सरकार विशेष रूप से सचेष्ट है। जूट की मिलों को यन्त्र आदि के आयात की विशेष सुविधा दी जा रही है। साथ ही, देश में भी जूट की मशीनों के निर्माण की व्यवस्था की जा रही है। इस कार्य के

लिए राष्ट्रीय औद्योगिक विकास निगम (NIDC) द्वारा मिलों को ऋण देने की व्यवस्था भी की जा रही है। तृतीय योजनाकाल में इस उद्योग के यन्त्रों एवं उपकरणों के आधुनिकीकरण के लिए १२ करोड़ रुपये और विनियोग की आवश्यकता का अनुमान लगाया गया था। जूट-उद्योग में आधुनिकीकरण की प्रगति बहुत ही संतोषजनक है। जूट-उद्योग में लगे ५·३२ लाख करघों में से ४·३ लाख का आधुनिकीकरण किया जा चुका है।

(ग) व्यवसाय में सट्टेबाजी की अधिकता की समस्या (Problem of excessive speculation in industry) :—तीसरी समस्या जूट-उद्योग में अत्यधिक सट्टेबाजी का प्रचलन है। जब कच्चे जूट अथवा जूट द्वारा उत्पन्न वस्तुओं का मूल्य गिरने लगता है तो सट्टेबाजी के कारण ये वस्तुएँ और भी सस्ती हो जाती हैं। इसके विपरीत जब इनके मूल्य में वृद्धि होने लगती है तो सट्टेबाजी के कारण इनका मूल्य और भी अधिक बढ़ जाता है। इसका निर्यात व्यापार पर बहुत बुरा प्रभाव पड़ता है। निर्यात प्रोत्साहन समिति ने भी सरकार का ध्यान इस समस्या की ओर आकर्षित किया था। इस तरह की सट्टेबाजी उद्योग के हितों के लिए निश्चय ही हानिकारक है। अतः सरकार को इसपर प्रतिबन्ध लगाना चाहिए। भारतीय जूट मिल-संघ के अध्यक्ष श्री गोयनका ने मार्च, १९५८ ई० में संघ के समक्ष भाषण देते हुए सट्टेबाजी की समस्या को दूर करने के लिए अग्रिम बाजार (Future markets) की स्थापना की सिफारिश की थी।

(घ) अत्यधिक मूल्य एवं स्थानापन्न वस्तुओं की समस्या (Problem of high price and the emergence of substitutes) :—इस उद्योग के समक्ष चौथी प्रमुख समस्या ऊँचे मूल्य एवं विदेशों में जूट की स्थानापन्न वस्तुओं की प्रतियोगिता की आशंका है। द्वितीय युद्ध के बाद जूट की वस्तुओं के मूल्य में निरन्तर वृद्धि होती जा रही है जिससे विदेशों में वस्तुएं महँगी पड़ती हैं। अतः, बहुत-से राष्ट्र जूट की सस्ती स्थानापन्न वस्तुओं का पता लगाने का प्रयत्न कर रहे हैं। वेस्ट इण्डिज, फिलिपाईन्स तथा ब्राजिल आदि देशों में अन्य पौधों के रेशों से जूट की तरह वस्तुओं के निर्माण का प्रयत्न जारी है। विगत महायुद्ध के समय से संयुक्त-राज्य अमरिका ने जूट की जगह कागज के बोरों का उत्पादन प्रारम्भ कर दिया है। यह इस उद्योग की आधारभूत समस्या है तथा इसका सम्बन्ध इसके भविष्य से है। जूट मिल-संघ के अध्यक्ष ने फरवरी, १९५९ ई० में अपने भाषण में यह बतलाया था कि जिस प्रकार कच्चे माल की कमी के कारण जूट-उद्योग की स्थिति अत्यंत गम्भीर हो गयी है, उसी प्रकार की गम्भीर स्थिति अत्यधिक मूल्य के कारण जूट की जगह पर अन्य वस्तुओं के अधिकाधिक प्रयोग द्वारा उत्पन्न होने की आशंका से सदा बनी रहती है। इस समस्या का समाधान जूट की वस्तुओं के मूल्य में कमी है। १९६० ई० के प्रारम्भ से ही जूट की वस्तुओं के मूल्य में वृद्धि को रोकने का प्रयास किया जा रहा है। वास्तव में, जब तक भारतीय जूट की वस्तुएँ कम मूल्य पर विदेशियों को प्राप्त होती रहेंगी तब तक इस प्रकार के भय की सम्भावना नहीं है। अतः, इस बात का सदा प्रयत्न होना चाहिए कि वस्तुओं का मूल्य कम रहे। साथ ही, इनकी किस्म में भी सुधार होता रहे। निकट भविष्य में पाकिस्तान के बढ़ते हुए जूट-उद्योग से भी प्रतियोगिता का भय है जिसके लिए भी इस उद्योग को सदा तैयार रहना अनिवार्य है।

(ङ) किस्म में सुधार तथा जूट के नये उपयोगों की खोज की समस्या (Problem of improvement in quality and search of new uses for Jute products) :—भारतीय जूट-उद्योग की एक प्रधान समस्या जूट की किस्म का खराब होना है। जूट-उद्योग की प्रगति

के लिए यह अनिवार्य है कि इस उद्योग की वस्तुओं की किस्म में सुधार लाया जाय। साथ ही, जूट की वस्तुओं के नये-नये उपयोगों की खोज भी अनिवार्य है। इस सम्बन्ध में जूट मिल-एसोशिएशन द्वारा बहुत ही महत्त्वपूर्ण कार्य किये जा रहे हैं। इस क्षेत्र में कुछ प्रगति भी हुई है, किन्तु अभी और प्रयत्नों की आवश्यकता है।

इनके अतिरिक्त जूट-उद्योग में उत्पादन-क्षमता की अधिकता (Surplus Productive capacity) एवं निम्न उत्पादन-क्षमता (Less productivity) इत्यादि समस्याएँ भी वर्त्तमान हैं। इस उद्योग के विकास के लिए इन कठिनाइयों को दूर करना भी अनिवार्य है।

जूट जाँच समिति के सुझाव (Recommendations of the Jute Enquiry Commission) :—भारत सरकार ने १९५३ ई० में जूट-उद्योग व कच्चे जूट के उत्पादन के सम्बन्ध में व्यापक जाँच के लिए श्री के० आर० पी० आयंगर की अध्यक्षता में एक समिति नियुक्त की जिसने मई, १९५४ ई० में अपना प्रतिवेदन प्रस्तुत किया। समिति की सिफारिशों में निम्न-लिखित प्रधान हैं :—(१) जूट की मिलों का आधुनिकीकरण किया जाय (Modernising and re-equipping the Jute industry)। (२) जूट-उद्योग में बेकार उत्पादन-क्षमता (Unused installed capacity) मौजूद है, इसलिए नयी मिलें स्थापित करने की आवश्यकता नहीं। अतएव इसकी वर्त्तमान उत्पादन-शक्ति का ही पूरा-पूरा प्रयोग करना वाछनीय होगा। (३) कच्चे जूट के उत्पादन में भारत को निरपेक्ष आत्मनिर्भरता (Absolute self-sufficiency) प्राप्त करने के बजाय सापेक्ष आत्मनिर्भरता (Relative self-sufficiency) प्राप्त करने की कोशिश करनी चाहिए। सापेक्ष आत्म-निर्भरता का अभिप्राय यह है कि भारत कुछ कच्चा जूट (जो यहाँ उत्पन्न नहीं हो सकता है) पाकिस्तान से मंगायगा और शेष का उत्पादन देश में ही करने का प्रयत्न करेगा। देश में उत्तम किस्म की जूट की पैदावार भी बढ़ायी जानी चाहिए। (४) भारत को कच्चे जूट का निर्यात किसी भी स्थिति में नहीं करना चाहिए। (५) जूट की विस्तृत खेती के स्थान पर गहन-खेती को ही प्रोत्साहित किया जाय। (६) जूट उद्योग के लिए एक विकास समिति (Development Council) बनायी जाय। (७) कच्चे जूट का एक न्यूनतम मूल्य निर्धारित किया जाय और क्षेत्रीय वितरण-प्रणाली प्रारम्भ की जाय।

भारत सरकार ने दिसम्बर, १९५४ ई० में जूट-जाँच समिति की कुछ सिफारिशों को स्वीकार किया जिसके अनुसार भारत में जूट की नयी मिलें स्थापित नहीं की जायँगी, कच्चे जूट की किस्म सुधारी जायगी और उत्पादन बढ़ाने के लिए जूट की गहन-खेती पर भी जोर दिया जायगा। आशा है, भविष्य में कच्चे जूट का उत्पादन इससे और बढ़ सकेगा।

पंचवर्षीय योजनाओं में जूट-उद्योग

(Jute Industry in Five Year Plans)

पंचवर्षीय योजनाओं में कच्चे जूट के उत्पादन को बढ़ाने का प्रयास किया जा रहा है। इसमें सफलता भी प्राप्त हुई है, किन्तु अभी तक भारत जूट के सम्बन्ध में पूर्णरूपेण आत्मनिर्भर राष्ट्र नहीं हो पाया है। अतएव पंचवर्षीय योजनाओं में जूट उद्योग के विशेष विस्तार का प्रयास किया जा रहा है। निम्नांकित तालिका [1] से पंचवर्षीय योजनाओं में जूट-उद्योग की प्रगति का अन्दाजा लगाया जा सकता है :—

1. Fourth Five Year Plan, p. 336.

जूट की वस्तुओं का उत्पादन

वर्ष	उत्पादन (हजार टन में)
१९४८-४९	११०५
१९५०-५१	८३७
१९५५-५६	१०७१
१९६०-६१	१०९७
१९६५-६६	१३९९
१९६८-६९	१०८९
१९७३-७४ (आयोजित लक्ष्य)	१४००

१९६५-६६ ई० में जूट उद्योग का उत्पादन १३९९ हजार टन था जो पिछले सभी वर्षों तथा तृतीय योजना के लक्ष्य से भी अधिक था। चतुर्थ योजना के अन्त में १९७३-७४ तक इसे बढ़ाकर १४०० हजार टन करने का आयोजन है।

भारत सरकार ने ५ करोड़ रुपये की हिस्सा पूँजी से सरकारी क्षेत्र में एक जूट आयोग स्थापित करने का निश्चय किया है जो कच्चे जूट के मूल्य को स्थायी बनाने तथा जूट-उद्योग को विकसित करने का प्रयत्न करेगा। जूट आयोग वस्तुतः Buffer Stock Agency; जूट बोर्ड तथा जूट विपणन संस्था के रूप में कार्य करेगा।

३. लोहा एवं इस्पात-उद्योग
(Iron and Steel Industry)

परिचय :—लोहा एवं इस्पात-उद्योग एक आधारभूत उद्योग (Basic Industry) है। अतः किसी देश के आर्थिक विकास में इस उद्योग का महत्त्वपूर्ण स्थान है। भारत में अति प्राचीन काल से ही लोहे एवं इस्पात का निर्माण होते चला आ रहा है। यहाँ के कारीगर लोहा एवं इस्पात की वस्तुओं के निर्माण में विशेष कुशल थे। दिल्ली का ऐतिहासिक लौह स्तम्भ इसका साक्षी है। भारत के इस प्राचीन धन्धे ने विश्व में उस समय बड़ी ख्याति प्राप्त कर ली थी। किन्तु कालान्तर से हमारा यह प्राचीन उद्योग आधुनिक प्रगति के समक्ष नहीं ठहर सका। फलस्वरूप, आज हम इस उद्योग के क्षेत्र में अत्यन्त पिछड़े हैं तथा १९७० ई० में भारत विश्व के कुल इस्पात के उत्पादन का केवल १·१ प्रतिशत भाग इस्पात उत्पन्न करता था। अमेरिका, ब्रिटेन तथा रूस आदि देशों की तुलना में हमारे देश से इस्पात का उत्पादन प्रायः नगण्य है। इस्पात की प्रति-व्यक्ति खपत, जो आज के युग में लोगों के भौतिक रहन-सहन के स्तर का द्योतक और राष्ट्र के औद्योगिक विकास का मापदण्ड है, १९६८ ई० में भारत में केवल १२ कि० ग्राम था, जबकि जापान, संयुक्त-राज्य अमेरिका, ब्रिटेन तथा रूस में इसकी प्रति-व्यक्ति औसत खपत क्रमशः ६६२ कि० ग्राम, ५९३ कि० ग्राम, ४७८ कि० ग्राम, तथा ४४७ कि० ग्राम थी। सोवियत रूस के बराबर भी इस्पात की प्रति-व्यक्ति खपत हासिल करने के लिए हमें देश की वर्त्तमान जनसंख्या के आधार पर १० करोड़ टन इस्पात की प्रतिवर्ष आवश्यकता पड़ेगी जबकि हमारा वर्त्तमान उत्पादन ५० लाख टन के लगभग ही है।

लोहा एवं इस्पात उद्योग का विकास (Development of the Iron and Steel Industry) :—भारत के आधुनिक लोहा एवं इस्पात-उद्योग का वास्तविक इतिहास १९०७ ई० से प्रारम्भ होता है जबकि बिहार के सिंहभूम जिले के साकची नामक स्थान में स्वर्गीय जमशेदजी

नौसरवानजी टाटा द्वारा "टाटा आयरन एण्ड स्टील कम्पनी" की स्थापना हुई। १६११ ई० में इस कम्पनी ने सर्वप्रथम कच्चा लोहा तथा १६१३ ई० में इस्पात उत्पन्न किया। तब से कारखाने का उत्तरोत्तर विकास होता रहा है और आज यह न केवल भारत, वरन् एशिया का सबसे बड़ा लोहे तथा इस्पात का कारखाना है। स्थिति की दृष्टि से साकची, जो आगे जलकर जमशेदपुर के नाम से विख्यात हो गया, इस उद्योग के लिए अति उपयुक्त सिद्ध हुआ, क्योंकि इसके निकट कच्चा लोहा, कोयला, मैंगनीज, चूना-पत्थर आदि आवश्यक वस्तुएँ प्रचुर मात्रा में उपलब्ध थीं। यहाँ जल की सुविधा भी प्राप्त थी तथा कलकत्ता के समीप होने के कारण बाहर से आवश्यक यन्त्र वगैरह मँगाने या निर्मित वस्तुओं के निर्यात की सुविधा भी थी।

टाटा आयरन एण्ड स्टील कम्पनी (TISCO) की सफलता ने भारत में लोहा एवं इस्पात-उद्योग के विस्तार का द्वार खोल दिया। इसकी सफलता से प्रभावित हो १९१८ ई० में आसनसोल के समीप हीरापुर में 'इण्डियन आयरन एण्ड स्टील कम्पनी' की स्थापना हुई। १६२३ ई० में मैसूर राज्य के भद्रावती नदी के किनारे 'मैसूर आयरन एण्ड स्टील कम्पनी' की स्थापना हुई जो दक्षिण भारत में लोहे एवं इस्पात का अभी तक एकमात्र कारखाना है। १६३७ ई० में बर्नपुर के समीप 'स्टील कार्पोरेशन ऑफ बंगाल' की स्थापना हुई जिसे १९३६ ई० में 'इंडियन आयरन एण्ड स्टील कम्पनी' (IISCO) में मिला दिया गया।

प्रथम महायुद्ध में लोहा एवं इस्पात उद्योग का विकास (Iron and Steel Industry in the First World War) :— भारत के लोहा एवं इस्पात-उद्योग के विकास का इतिहास वस्तुतः टाटा कम्पनी के विकास का ही इतिहास है। इस कम्पनी ने सर्वप्रथम १६१३ ई० में इस्पात का उत्पादन किया। इसी बीच १९१४ ई० में प्रथम महायुद्ध छिड़ जाने के कारण इसे विकास का बड़ा अच्छा मौका मिला। युद्ध के कारण लोहे एवं इस्पात का आयात घट गया। दूसरी ओर देश में सैनिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए इस्पात की मांग में वृद्धि के फलस्वरूप यह कारखाना १९१६ ई० तक अपनी पूरी क्षमता पर काम करने लगा। युद्धकाल में टिस्को (TISCO) ने मेसोपोटामिया, फिलिस्तीन, पूर्वी अफ्रिका एवं अन्य युद्धस्थलों में सैनिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए बहुत बड़ी मात्रा में रेल की लाईनें एवं स्लीपर प्रदान किया। १६१७ ई० में इस कारखाने के विस्तार की एक बहुत बड़ी योजना कार्यान्वित की गयी जो १९२४ ई० में पूरी हुई। इस प्रकार महायुद्ध ने इस उद्योग की नींव को पूर्णरूप से सुदृढ़ बना दिया। युद्धकाल में भी उत्पादन में महत्त्वपूर्ण वृद्धि हुई। कच्चे लोहे का उत्पादन, जो १६०० ई० में ३५ हजार टन था, १९१४ ई० में १६२ हजार टन तथा १६१६ ई० में २२२ हजार टन हो गया। १६१६ ई० में इस्पात का उत्पादन ६६ हजार टन था।

लोहा एवं इस्पात उद्योग को संरक्षण (Protection to the Iron and Steel Industry) :—युद्ध के उपरान्त अन्य उद्योगों की तरह लोहा एवं इस्पात-उद्योग को भी कठिन परिस्थितियों का सामना करना पड़ा। युद्धोत्तरकाल में सामान्य आर्थिक संकट की स्थिति उत्पन्न हो गयी थी जिसके प्रभाव से लोहा एवं इस्पात-उद्योग भी वंचित न रह सका। इसके कई कारण थे—युद्ध समाप्त होने के बाद लोहे एवं इस्पात की सैनिक मांग समाप्त हो गयी। साथ ही, इस उद्योग को विदेशी प्रतियोगिता का भी सामना करना पड़ा। विदेशी विनिमय-दर में परिवर्तन ने विदेशी प्रतियोगिता को और भी उग्र बना दिया। ऐसी स्थिति में विदेशी प्रतियोगिता के समक्ष इस उद्योग को अपने बल पर खड़ा रहना कठिन हो गया। फलस्वरूप १६२३ ई० में इसने सरकार से संरक्षण की मांग की।

भारत सरकार द्वारा नियुक्त प्रशुल्क मण्डल (Tariff Board) ने इस उद्योग की स्थिति की जाँच की तथा सरकार से इस उद्योग को संरक्षण प्रदान करने की सिफारिश की। सरकार ने प्रशुल्क मण्डल की सिफारिशों को स्वीकार कर लिया तथा १९२४ ई० में एक इस्पात-उद्योग संरक्षण विधेयक पारित हुआ जिसके अनुसार इस्पात से तैयार कुछ वस्तुओं पर आयात कर में वृद्धि की गयी। साथ ही, भारत में निर्मित भारी इस्पात की बनी रेलें, फिशप्लेटों एवं रेल के डब्बों पर आर्थिक सहायता (Bounty) प्रदान की गयी। १९२४ से १९२५ ई० के बीच इस प्रकार आर्थिक सहायता के रूप में कुल २४२ लाख रुपये दिये गये। उक्त संरक्षण की अवधि १९२७ ई० में समाप्त होने को थी, अतः १९२६ ई० में पुनः प्रशुल्क मण्डल द्वारा इस उद्योग की स्थिति की जांच की गयी जिसने कुछ दिशाओं में सात वर्षों के लिए संरक्षण प्रदान करने की सिफारिश की। साथ ही, मण्डल ने इस बात पर भी जोर दिया कि इस्पात के उत्पादन पर नकद आर्थिक सहायता के बजाय आयात कर में वृद्धि कर संरक्षण प्रदान किया जाय। इन सिफारिशों के आधार पर १९२७ ई० में एक नया इस्पात-उद्योग संरक्षण विधेयक स्वीकृत हुआ जिसके अनुसार सात वर्षों के लिए उद्योग को पुनः संरक्षण प्रदान किया गया।

१९२७ ई० के संरक्षण अधिनियम के द्वारा लगाये गये करों की कार्याविधि ३१ अक्टूबर, १९३४ ई० तक थी। इसी बीच १९३३ ई० में प्रशुल्क मण्डल के द्वारा पुनः इस उद्योग की स्थिति की जाँच की गयी। मण्डल की सिफारिशों के आधार पर पुनः १९३४ ई० में एक नया इस्पात-उद्योग संरक्षण-अधिनियम पारित हुआ जिसे १ नवम्बर, १९३४ ई० से सात वर्षों के लिए लागू किया गया। इसके अनुसार अधिकांश वस्तुओं पर आयात करों में पर्याप्त कमी कर दी गयी। इसके फलस्वरूप आय में जो कमी हुई इसे पूरा करने के लिए देश में इस्पात की पिंडों (Steel ingots) के उत्पादन पर ४ रु० प्रति टन का एक उत्पाद शुल्क (Excise Duty) लगाया गया। किन्तु संरक्षण की अवधि समाप्त होने के पूर्व ही १९३९ ई० में द्वितीय महायुद्ध छिड़ गया। अतः संरक्षण की अवधि को बढ़ाकर १९४७ ई० तक कर दिया गया। उक्त अवधि के समाप्त होने पर प्रशुल्क मण्डल द्वारा पुनः इस उद्योग की स्थिति की जाँच की गयी। मण्डल के अनुसार देश में इस्पात की पूर्त्ति की तुलना में मांग अधिक थी और कभी-कभी तो आयात किये गये इस्पात का मूल्य भारतीय इस्पात के मूल्य से अधिक होता था। अतः मण्डल ने संरक्षण हटा लेने की सिफारिश की और १ अप्रैल, १९४७ ई० से लोहा एवं इस्पात उद्योग पर से संरक्षण हटा लिया गया।

इस प्रकार देश के इस्पात उद्योग को प्रायः २३ वर्षों तक संरक्षण मिलता रहा। संरक्षण की यह नीति पूर्णतया निर्दोष एवं त्रुटिहीन नहीं कही जा सकती। वास्तव में, इंगलैंड के प्रति अनुचित पक्षपात करने से संरक्षण द्वारा उद्योग को उतना लाभ नहीं हो सका जितना इससे लाभ होना चाहिए था। फिर भी, संरक्षण के फलस्वरूप इस उद्योग ने महत्त्वपूर्ण उन्नति की तथा इस्पात के उत्पादन में भी पर्याप्त वृद्धि हुई। इस्पात का उत्पादन जो १९१६ ई० में ९९ हजार टन था, १९२१ ई० में १२६ हजार टन, १९२९ ई० में ४०० हजार टन तथा १९४० ई० में ८४८ हजार टन हो गया। इस तरह संरक्षण के फलस्वरूप ही यह उद्योग थोड़े ही समय में इतना शक्तिसम्पन्न हो सका है। संरक्षण से उत्पादक तथा श्रमिकों की कार्यक्षमता में भी वृद्धि हुई तथा लागत व्यय में पर्याप्त कमी हुई।

द्वितीय महायुद्ध एवं बाद की प्रगति (Progress of the Industry during and after the Second World War) :—द्वितीय महायुद्ध ने इस उद्योग की उन्नति एवं विकास में महत्त्वपूर्ण सहयोग प्रदान किया। युद्ध काल में विदेशों से इस्पात का आयात बन्द हो गया।

साथ ही, रेल कम्पनियों तथा सैनिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए भी इस्पात की माँग में पर्याप्त वृद्धि हुई। युद्धकाल में कई प्रकार की नयी-नयी वस्तुओं का उत्पादन भी प्रारम्भ हुआ। १६४० ई० में एक ह्वील टायर तथा एक्सेल की मशीन लगायी गयी। १६४५ ई० में टाटा लोकोमोटिव एवं इंजीनियरिंग कम्पनी ने देश में ही रेल के ईंजन तथा ब्वायलर आदि बनाना प्रारम्भ किया। युद्धकाल में यह उद्योग अपनी माँग को पूरा करने में प्राय: असमर्थ रहा जिससे लोहा एवं इस्पात के मूल्य में वृद्धि होने लगी। अत: वाध्य होकर सरकार को १६४४ ई० में इसके उत्पादन एवं वितरण पर नियंत्रण लगाना पड़ा। लोहे एवं इस्पात के उत्पादन में १६४३ ई० तक तीव्र गति से वृद्धि हुई, किन्तु इसके बाद वृद्धि की गति मंद पड़ गयी। इस्पात का उत्पादन १६४८ ई० तक घटता रहा। इसके बाद उत्पादन में पुन: वृद्धि होने लगी। अत: यह कहा जा सकता है कि यदि संरक्षण ने इस उद्योग में शक्ति का संचार किया तो द्वितीय महायुद्ध ने इसे विकास की गतिशीलता प्रदान की।

किन्तु, युद्ध की समाप्ति के बाद अनेक कारणों से इस उद्योग को कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। इस संकटमय स्थिति के कारणों में से कुछ तो तत्कालीन परिस्थितियों से सम्बद्ध तथा कुछ उद्योग की आंतरिक दशाओं से। बाह्य कारणों में से मुद्रा-स्फीति का अत्यधिक दबाव, युद्धकालीन सामरिक आवश्यकता-सम्बन्धी माँग का समाप्त होना, देश-विभाजन तथा सरकार की असन्तोषजनक आर्थिक नीति प्रमुख हैं। उद्योग की आंतरिक कठिनाइयों में मशीनों का पुराना एवं जर्जर होना, पूँजी का अभाव, कच्चे माल की कठिनाई, श्रम की उत्पादन-क्षमता में ह्रास तथा वेतन में वृद्धि आदि विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। किन्तु, १९४८ ई० के बाद पुन: उत्पादन में वृद्धि होने लगी और तब से यह प्रवृत्ति बराबर बनी रही है जो निम्नांकित[1] तालिका से स्पष्ट है :—

उत्पादन (हजार टनों में)

	कच्चा लोहा (Pig Iron)	तैयार इस्पात (Finished Steel)
१६००	३५	—
१६१६	२२३	६६
१६३९	१२३५	८४८
१६४७	१३२०	८६३
१६५०-५१	१७००	१००४
१६६०-६१	४३००	२४००
१६६५-६६	७१००	४५००
१६६८-६६	७३००	४७००
१६७०-७१	७०१०	४५००

लोहा तथा इस्पात उद्योग की वर्तमान स्थिति
(Present Position of the Iron and Steel Industry)

इस प्रकार लोहा तथा इस्पात उद्योग भारत का एक प्रधान उद्योग है। पंचवर्षीय योजनाओं के अंतर्गत इस उद्योग के विकास के बहुत सारे प्रयास किये जा रहे हैं जिससे इसके उत्पादन में पर्याप्त वृद्धि हो रही है।

1. India, 1971-72.

इस समय देश में लोहा एवं इस्पात के निम्नलिखित प्रमुख उत्पादक हैं:—

(१) टाटा आयरन एण्ड स्टील कम्पनी (Tata Iron and Steel Company) :—यह देश में लोहा एवं इस्पात का सबसे बड़ा कारखाना है। टाटा कम्पनी को अपनी लोहा, कोयला, चूना-पत्थर तथा मैंगनीज आदि की खानें हैं। ८५ करोड़ रुपये के व्यय से द्वितीय योजना में इस कारखाने के विस्तारीकरण का एक कार्यक्रम पूरा हुआ जिसके फलस्वरूप इस कारखाने की वार्षिक उत्पादन-क्षमता ८ लाख टन से बढ़कर १५ लाख टन तैयार इस्पात की हो गयी। १६० करोड़ रुपये के अनुमानित व्यय से इसके विस्तारीकरण का एक कार्यक्रम चतुर्थ पंचवर्षीय योजना में कार्यान्वित किया जा रहा है जिससे इसकी उत्पादन-क्षमता ३० लाख टन इस्पात पिंडों की हो जायगी।

(२) दूसरा कारखाना इण्डियन आयरन एण्ड स्टील कम्पनी (Indian Iron and Steel Company) है, जो १९१८ ई० में स्थापित की गयी थी। इसके कारखाने हीरापुर एवं कुल्टी में हैं। ४२·५ करोड़ रुपये के व्यय से इसके विस्तारीकरण का एक कार्यक्रम द्वितीय योजना में पूरा हुआ जिससे इसकी उत्पादन-क्षमता ६ लाख टन से बढ़कर ८ लाख टन तैयार इस्पात की हो गयी। चतुर्थ पंचवर्षीय योजना में इसके विस्तारीकरण का एक कार्यक्रम कार्यान्वित किया जायगा जिससे इसकी उत्पादन-क्षमता १३ लाख टन इस्पात की पिंडों की हो जायगी। लगातार पिछले कई वर्षों से उत्पादन-क्षमता से बहुत कम उत्पादन होने के कारण १९७२ ई० में भारत सरकार ने इस की व्यवस्था को अपने हाथों में ले लिया।

(३) तीसरा कारखाना मैसूर आयरन एण्ड स्टील वर्क्स है, जो मैसूर की राज्य सरकार का है। इसने १९२३ ई० में उत्पादन का कार्य प्रारम्भ किया था। इसके विस्तारीकरण की भी एक योजना ६ करोड़ रुपये के व्यय से कार्यान्वित की गयी है जिससे इसकी उत्पादन क्षमता बढ़कर ८५ हजार टन तैयार इस्पात हो गयी।

इनके अतिरिक्त सार्वजनिक क्षेत्र में लोहा एवं इस्पात के निम्नलिखत कारखाने स्थापित किये गये हैं :—

(४) रूरकेला (Rourkela) :—सार्वजनिक क्षेत्र में पहला कारखाना उड़ीसा के रूरकेला नामक स्थान में जर्मनी की क्रुप डीमाग (Krupp Demagg) नामक कम्पनी के सहयोग से १७० करोड़ रुपये के अनुमानित व्यय से स्थापित किया गया है। यह हीराकुण्ड बांध के समीप ब्राह्मणी नदी पर स्थित है। १९७०-७१ ई० में इसका उत्पादन १०·४ लाख टन इस्पात की पिंडें था। इस कारखाने में इस्पात की चादरें तैयार की जाती हैं जिनका प्रयोग जलपोत एवं रेल के डिब्बों के निर्माण में किया जाता है। तृतीय योजनाकाल में इस कारखाने के विस्तार की योजना कार्यान्वित की गयी जिससे इसकी उत्पादन-क्षमता बढ़कर १८ लाख टन इस्पात की पिंडें हो गयी है।

(५) भिलाई :—दूसरा कारखाना रूस सरकार के सहयोग से मध्य प्रदेश के भिलाई (Bhilai) नामक स्थान में १३१ करोड़ रुपये के अनुमानित व्यय से स्थापित किया गया है। इस कारखाने को इस्पात के उत्पादन के लिए प्रायः सभी प्राकृतिक सुविधाएँ उपलब्ध हैं। १९७०-७१ ई० में इस कारखाने में १९·४ लाख टन इस्पात की पिंडों का उत्पादन हुआ था। इसकी क्षमता २५ लाख टन इस्पात की पिंडों की है। चतुर्थ योजना में इस कारखाने की उत्पादन-क्षमता को बढ़ाकर ४२ लाख टन इस्पात की पिंडें करने का कार्यक्रम कार्यान्वित किया जा रहा है।

(६) दुर्गापुर :—तीसरा कारखाना पश्चिमी बंगाल के दुर्गापुर नामक स्थान में १३८ करोड़ रुपये के अनुमानित व्यय से एक ब्रिटिश कम्पनी के सहयोग से स्थापित किया गया है। १९६९-७० ई० में इसमें ८·२ लाख टन इस्पात की पिंडों का उत्पादन हुआ था। इस कारखाने का

भी विस्तारीकरण किया गया है जिसके अनुसार इसकी क्षमता बढ़कर १६ लाख इस्पात की पिंडों की हो गयी है।

राजकीय क्षेत्र के इन तीन कारखानों की व्यवस्था हिन्दुस्तान स्टील लि० (Hindustan Steel Limited) नामक एक कम्पनी के द्वारा की जाती है जिसकी अधिकृत पूँजी (authorised capital) ६०० करोड़ रुपये है जो पूर्ण रूप से भारत सरकार द्वारा प्रदान की गयी है।

(७) बोकारो इस्पात :—सार्वजनिक क्षेत्र में चौथा लोहे एवं इस्पात का कारखाना बिहार के बोकारो में स्थापित किया जा रहा है जिसकी संस्थापित उत्पादन-क्षमता ४० लाख टन स्टील इनगोट की होगी। रूस की सरकार के सहयोग से यह कारखाना स्थापित किया जा रहा है। इसे दो स्तरों में कार्यान्वित किया जायगा—प्रथम स्तर का कार्य चतुर्थ योजना काल में पूरा होगा, जिससे इसकी उत्पादन-क्षमता १७ लाख टन इस्पात की पिंड तथा ८.८ लाख टन फाउन्ड्री के लिए कच्चा लोहा की होगी। बोकारो के प्रथम स्तर का अनुमानित व्यय ७६० करोड़ रुपये है। संशोधित कार्यक्रम के अनुसार अब इस कारखाने में मार्च, १९७३ ई० से उत्पादन प्रारम्भ होगा। इसकी व्यवस्था (Bokaro Steel Ltd.) नामक एक सरकारी कम्पनी द्वारा की जाती है जिसकी अधिकृत पूँजी ५०० करोड़ रुपये है।

इनके अतिरिक्त चतुर्थ योजनाकाल (Fourth Five Year Plan) में दक्षिणी भारत में इस्पात के तीन नये कारखानों की स्थापना पर कार्य प्रारम्भ किया जा रहा है। सार्वजनिक क्षेत्र में स्थापित किये जाने वाले इन तीन इस्पात के कारखानों में पहला आन्ध्र प्रदेश के विशाखापट्टम (Visakhapatnam) तथा दूसरा मैसूर के होस्पेट (Hospet) नामक स्थान में होंगे और इनमें नर्म इस्पात का उत्पादन होगा जबकि तीसरा कारखाना तमिलनाडु के सलेम (Salem) में होगा तथा यह विशेष प्रकार के इस्पात का उत्पादन करेगा। विशाखापटनम तथा होस्पेट के कारखाने की क्षमता २० लाख नर्म इस्पात तथा सलेम कारखाने की २.५ लाख टन विशेष इस्पात के उत्पादन की होगी। चतुर्थ योजना में इस कार्य के लिए ११० करोड़ रुपये व्यय की व्यवस्था की गयी है।

उद्योग की वर्त्तमान समस्याएँ
(Present Problems of the Industry)

लोहा एवं इस्पात उद्योग के विकास के लिए भारत में प्रायः सभी प्राकृतिक सुविधाएँ उपलब्ध हैं। देश की खानों में पर्याप्त मात्रा में अच्छे प्रकार के लोहे का भंडार है। लोहे की खानों के समीप ही कोयला, मैंगनीज, चूना पत्थर तथा डोलामाइट आदि आवश्यक पदार्थ प्रचुर मात्रा में पाये जाते हैं। साथ ही, देश में लोहे एवं इस्पात का विस्तृत बाजार भी है जिसमें निरन्तर वृद्धि होती जा रही है। फिर भी, इस उद्योग की प्रगति में बहुत-सी समस्याएँ हैं [1] जिनमें निम्नलिखित विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं :—

(१) मूल्य-सम्बन्धी कठिनाई :—भारत में इस्पात का उत्पादन आवश्यकता से कम होता है, अतः विदेशों से इसका आयात करना पड़ता है। अब देश में उत्पन्न इस्पात का मूल्य विदेशों से आयात किये गये इस्पात की तुलना में कम होता है। अतः इन दोनों प्रकार के इस्पात के मूल्यों को बराबर करने के लिए सरकार इस्पात के मूल्य पर नियन्त्रण रखती थी तथा इस्पात का एक Retention Price तय करती थी। इसी मूल्य पर देश में इस्पात का विक्रय किया जाता था। किन्तु जिस मूल्य पर उपभोक्ता इस्पात खरीदते थे वह मूल्य retention मूल्य से अधिक होता था।

1. Programmes for Industrial Development 1951-56, Planning Commission. pp.—14-16.

इन दोनों के अन्तर को एक Steel Equalisation Fund में रखा जाता था जिसका उपयोग इस्पात के उत्पादकों को उनके विकास एवं आधुनिकीकरण में सहायता देने में किया जाता था। सरकार की इस नीति के फलस्वरूप देश में इस्पात का मूल्य १९५४ ई० से निरन्तर बढ़ते जा रहा था। वर्त्तमान समय में तो इस्पात की कीमत में बहुत अधिक वृद्धि हो गयी है।

(२) मेटालार्जिकल कोयले का अभाव (Lack of Metallurgical Coal) :— भारत में मेटालार्जिकल कोयले का अभाव है। अनुमान लगाया जाता है कि हमारे देश में मेटालार्जिकल कोयले का जो भंडार है, वह देश के लोहे के कुल भंडार के केवल $\frac{1}{10}$ भाग को ही गला सकता है। वर्त्तमान समय में इस प्रकार के कोयला का कुल उत्पादन प्रायः १०० से ११० लाख टन है जबकि इस्पात के वर्त्तमान कारखानों की वार्षिक खपत लगभग ५० लाख टन है। शेष कोयला योंही बरबाद हो जाता है। अतएव हमें शीघ्रातिशीघ्र इस प्रकार के कोयले के संरक्षण की व्यवस्था करनी चाहिए। इस्पात के कारखानों में मुख्यतः मेटालार्जिकल कोयले का ही उपयोग किया जाता है जिसकी हमारे देश में भारी कमी है। यह इस उद्योग के विकास में एक बहुत बड़ी कठिनाई है। साथ ही, देश का कुल कोयला प्रायः एक ही भाग में सीमित है जिससे दूसरे भाग में इस्पात का कारखाना स्थापित करने में यातायात की कठिनाई उपस्थित हो जाती है। किन्तु धुले हुए कोयले के प्रचार एवं अन्य साधनों से लोहा गलाने की पद्धति के फलस्वरूप यह कठिनाई कोई बहुत बड़ी नहीं जान पड़ती।

(३) विशेषज्ञों एवं आवश्यक यन्त्रों का अभाव (Lack of the Technical personal and machinery)—लोहा एवं इस्पात उद्योग के लिए पर्याप्त मात्रा में विशेषज्ञों की आवश्यकता पड़ती है जिसका हमारे देश में अभाव है। साथ ही, इस उद्योग के लिए आवश्यक यन्त्रों का भी देश में बहुत बड़ा अभाव है। अतः इसके लिए हमें विदेशों पर आश्रित रहना पड़ता है। विदेशी-विनिमय सम्बन्धी वर्तमान कठिनाइयों के फलस्वरूप यह समस्या और भी जटिल हो गयी है।

(४) पूँजी की कमी (Lack of Capital)—लोहा या इस्पात उद्योग एक भारी उद्योग है, अतएव इसके लिए बहुत बडी मात्रा में पूँजी की आवश्यना पड़ती है। किन्तु भारत में पूँजी का अभाव है। प्राचीन कारखानों की औद्योगिक कुशलता तो बनाये रखने के लिए इनका अभिनवीकरण (rationalization) आवश्यक है। अभिनवीकरण कार्यक्रम के अन्तर्गत भी नयी-नयी मशीनों का प्रयोग अनिवार्य है जिसके लिए पूँजी की आवश्यकता होगी। लोहा एवं इस्पात उद्योग के समक्ष यह एक प्रधान कठिनाई है। किन्तु आजकल नये कारखानों की स्थापना केवल सार्वजनिक क्षेत्रों में ही हो रही है। साथ ही, निजी क्षेत्र के कारखानों को भी सरकार द्वारा विस्तार में लिए आवश्यक कर्ज आदि प्रदान किया जा रहा है।

(५) पूर्ण संस्थापित क्षमता का उपयोग नहीं होता (Steel Industry in operating below the installed capacity)—१९६९-७० में इस्पात के कुल कारखानों की उत्पादन-क्षमता का केवल ६७ प्रतिशत तथा १९७०-७१ में ६५ प्रतिशत भाग उत्पादन होता था। टाटा के कारखाने को छोड़कर, जो अपनी कुल संस्थापित क्षमता का ९६ प्रतिशत भाग प्रयोग करता है, इस्पात के सभी उत्पादकों में पूर्ण क्षमता का उत्पादन नहीं किया जाता। दुर्गापुर के कारखाने में तो पूर्ण क्षमता के केवल ३५ प्रतिशत भाग का ही उपयोग किया जाता है। अतएव इस्पात के नये कारखानों की स्थापना के पूर्व पुराने कारखानों की क्षमता के पूर्ण उपयोग की ही व्यवस्था की जानी चाहिए।

इनके अतिरिक्त मजदूरों की अधिकता तथा श्रम एवं पूँजी का असन्तोषजनक सम्बन्ध आदि भी इस उद्योग की कुछ कठिनाइयाँ हैं। भविष्य में देश के औद्योगिक विकास के लिए लोहा एवं इस्पात उद्योग का विकास अनिवार्य है। अतः इस उद्योग की प्रमुख कठिनाइयों को दूर करना परमावश्यक है।

पंचवर्षीय योजनाओं में लोहा एव इस्पात उद्योग

(Iron and Steel Industry in Five Year Plans)

स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद १९४८ ई० में भारत सरकार ने अपनी प्रथम औद्योगिक नीति की घोषणा की जिसके अनुसार लोहा एवं इस्तात उद्योग के विकास में सरकार का महत्त्वपूर्ण दायित्व है। १९५६ ई० की औद्योगिक नीति में भी इस बात पर जोर दिया गया है कि इस उद्योग के विकास की जिम्मेवारी भविष्य में भारत सरकार की ही होगी। उक्त नीति के अनुसार भारत की पंचवर्षीय योजनाओं में लोहा एवं इस्पात उद्योग के विकास पर पर्याप्त जोर दिय जा रहा है।

प्रथम पंचवर्षीय योजना में लोहा एवं इस्पात उद्योग की प्रगति (Progress of Iron and Steel Industry in the First Five Year Plan)—प्रथम योजनाकाल में देश में तैयार इस्पात (Finished steel) की वार्षिक प्रस्थापित उत्पादन-क्षमता १९५०-५१ ई० में १०.५१ लाख टन से बढ़कर १९५५-५६ ई० में १३ लाख टन हो गयी तथा इस्पात का उत्पादन १९५०-५१ ई० में ९.६७ लाख टन से बढ़कर १९५५-५६ ई० में १२.७४ लाख टन हो गया। इस प्रकार प्रथम योजनाकाल में इस्पात उद्योग की संस्थापित क्षमता में १८ प्रतिशत तथा उत्पादन में ३०.५ प्रतिशत की वृद्धि हुई।[1] १५ जून, १९५५ ई० को केन्द्र में एक पृथक् लोहा एवं इस्पात मंत्रालय की स्थापना की गयी।

द्वितीय पंचवर्षीय योजना में इस्पात उद्योग की प्रगति (Progress of Steel Indusry in the Second Five Year Plan)—द्वितीय पचवर्षीय योजना का एक प्रधान उद्देश्य आधारभूत एवं भारी उद्योगों पर विशेष जोर देते हुए तीव्र गति से देश का औद्योगीकरण था। अतः योजना काल में लोहा एवं इस्पात उद्योग के विकास पर पर्याप्त जोर दिया गया था। योजनाकाल में सार्वजनिक क्षेत्र के अन्तर्गत दस-दस लाख टन इस्पात की पिंडों की उत्पादन-क्षमता के तीन कारखाने रूरकेला, भिलाई तथा दुर्गापुर में स्थापित किये गये। रूरकेला तथा भिलाई के कारखानों को लौह धातु प्रदान करने के उद्देश्य से तालदीह (Taldih) तथा ढलाई राझरा (Dhali Rajhra) क्षेत्र की खानों का तथा दुर्गापुर के लिए गुआ क्षेत्र की खानों का विकास किया गया है। इन कारखानों को कोयला प्रदान करने के उद्देश्य से दुर्गापुर एवं बोकारो में दो कोयला धुलने के कारखाने (Coal washeries) भी स्थापित किये गये हैं।

निजी क्षेत्र में भी लोहा एवं इस्पात के विकास पर द्वितीय योजनाकाल में पर्याप्त जोर दिया गया था। योजनाकाल में टाटा आयरन एण्ड स्टील कम्पनी तथा इन्डियन आयरन एण्ड स्टील कम्पनी दोनों का विस्तारीकरण किया गया जिसके फलस्वरूप इनकी सम्मिलित उत्पादन क्षमता १३.५ लाख टन इस्पात से बढ़कर योजना के अन्त में २३ लाख टन (टाटा की उत्पादन-क्षमता १५ लाख टन तथा इण्डियन आयरन एण्ड स्टील कम्पनी की ८ लाख टन) इस्पात हो गयी। सार्वजनिक क्षेत्र के तीनों कारखानों के सम्मिलित उत्पादन का लक्ष्य १९६०-६१ ई० में ३० लाख टन इस्पात था जबकि इनका वास्तविक उत्पादन १९६०-६१ में ६ लाख टन ही हुआ।

1. Review of the First Five Year Plan. p. 198.

टाटा कम्पनी एवं इण्डियन कम्पनी का उत्पादन भी योजनाकाल में लक्ष्य से कम ही था। इस प्रकार द्वितीय योजना में इस्पात का लक्ष्य पूरा नहीं हो सका। द्वितीय योजना का लक्ष्य इस सम्बन्ध में ४३ लाख टन इस्पात था जबकि वास्तविक उत्पादन केवल २४ लाख टन तैयार इस्पात हुआ।

तृतीय पंचवर्षीय योजना में लोहा एवं इस्पात उद्योग की प्रगति (Progress of Iron and Steel Industry in the Third Five Year Plan) तृतीय पंचवर्षीय योजनाकाल में तैयार इस्पात के उत्पादन को १९६०-६१ ई० में २४ लाख टन से बढ़ाकर १९६५-६६ ई० में ६८ लाख टन करने का आयोजन था। इसका अधिकांश भाग सरकारी क्षेत्र के कारखानों से प्राप्त करने का आयोजन था। योजनाकाल में सरकारी क्षेत्र में बिहार के बोकारो नामक स्थान में लोहा एवं इस्पात का चौथा कारखाना स्थापित करने की व्यवस्था थी, किन्तु यह कारखाना अब १९७३ ई० में ही उत्पादन प्रारम्भ करेगा। योजनाकाल में भिलाई, रूरकेला तथा दुर्गापुर के कारखानों की उत्पादन-क्षमता में भी विस्तार का आयोजन था। साथ ही, टाटा कम्पनी तथा इण्डियन आयरन एण्ड स्टील कम्पनी की उत्पादन-क्षमता में भी विस्तार की व्यवस्था थी। किन्तु योजनाकाल में सरकारी क्षेत्र के तीनों कारखानों के विस्तार में विलम्ब हो गया। साथ ही, बोकारो के कारखाने की स्थापना में भी देर हुई जिससे तृतीय योजना का लक्ष्य पूरा नहीं हो सका तथा तैयार इस्पात का अनुमानित उत्पादन १९६५-६६ ई० में केवल ४५ लाख टन ही हुआ।

तीनों वार्षिक योजनाओं (Annual Plans) में भी लोहा तथा इस्पात उद्योग के उत्पादन को बढ़ाने पर पर्याप्त जोर दिया गया था जिसके परिणामस्वरूप १९६८-६९ ई० में तैयार इस्पात का उत्पादन बढ़कर ४७ लाख टन हो गया।

चतुर्थ पंचवर्षीय योजना (Fourth Five Year Plan) में तैयार इस्पात के उत्पादन को १९६८-६९ ई० में ४७ लाख टन से बढ़ाकर १९७३-७४ ई० में ८१ लाख टन करने का आयोजन है। इतने बड़े पैमाने पर इस्पात के लक्ष्य की पूर्ति के लिए वर्तमान नये कारखानों की उत्पादन-क्षमता में वृद्धि का आयोजन है। योजनाकाल में भिलाई के कारखाने के उत्पादन को २५ लाख टन से बढ़ाकर ३२ लाख टन इस्पात की पिंडें करने का आयोजन है। साथ ही, बोकारो कारखाने के प्रथम स्तर में १७ लाख टन इस्पात के उत्पादन को भी पूरा करने का आयोजन है। चतुर्थ योजनाकाल में इस्पात के विस्तार के लिए १०३४ करोड़ रुपये का व्यय प्रस्तावित है। इसमें से ६८० करोड़ रुपया बोकारो के कारखानों में व्यय होगा। इस्पात के अन्य कारखानों के उत्पादन को बढ़ाने के लिए इनकी कुशलता में वृद्धि का आयोजन है। गैर-सरकारी क्षेत्र के कारखानों के विस्तार पर भी योजनाकाल में जोर दिया जाएगा। योजना के अन्तिम वर्ष में १० लाख टन तैयार इस्पात तथा १५ लाख टन लोहा के निर्यात का आयोजन है।

चतुर्थ योजना काल में तीन इस्पात के नये कारखाने दक्षिणी भारत में स्थापित करने का आयोजन है।

निम्नांकित तालिका से पंचवर्षीय योजनाओं में लोहा एवं इस्पात उद्योग की प्रगति का अन्दाजा लगता है—

	१९६०-६१	१९६५-६६	१९६८-६९	१९७३-७४ (लक्ष्य)
तैयार इस्पात	२४	४५	४७	८१
इस्पात की पिंडें	३४·२	६५	६५	१०८
बिक्री के लिए कच्चा लोहा	११	१२	१३	३८

स्पष्ट है कि पंचवर्षीय योजनाओं में इस्पात के उत्पादन में पर्याप्त वृद्धि हो रही है।

1. Fourth Five Year Plan. 1969-74

४. चीनी उद्योग
(Sugar Industry)

उद्योग का प्रारम्भिक इतिहास :—भारत के संगठित उद्योगों में चीनी उद्योग का स्थान प्रमुख है। भारत गन्ने की खेती का आदि स्थान है। प्राचीन काल में यहाँ से गन्ने की बनी हुई वस्तुओं का निर्यात भी किया जाता था। १९वीं शताब्दी के मध्य तक इंगलैंड में उपयोग की जाने वाली कुल चीनी का प्राय: एक-चौथाई भाग भारत से प्राप्त होता था। किन्तु इसके बाद आस्ट्रिया, जर्मनी तथा जावा आदि देशों की सरकारी सहायता द्वारा तैयार की जानेवाली चीनी की प्रतियोगिता के फलस्वरूप इस उद्योग को बहुत धक्का पहुँचा। प्रथम महायुद्ध काल में इस उद्योग को कुछ प्रोत्साहन अवश्य मिला, पर वह बिल्कुल ही अस्थायी था। युद्ध के बाद पुन: इस उद्योग को विदेशों की सस्ती चीनी की प्रतियोगिता का सामना करना पड़ा। १९१९ ई० में सरकार द्वारा नियुक्त 'चीनी समिति' के विवरण से ऐसा ज्ञान होता है कि उस समय देश में गन्ने की पैदावार बढ़ रही थी जिसके फलस्वरूप गन्ने एवं गुड़ की कीमत घट रही थी। समिति ने गन्ना व्यवसाय को इस मन्दी के भय से मुक्त करने के लिए देश में आधुनिक ढंग के चीनी के कारखाने स्थापित करने की सम्भावनाओं की जाँच की सिफारिश की थी।

चीनी उद्योग को संरक्षण (Protection to Sugar Industry) :—प्रथम महायुद्ध के पश्चात विश्व में चीनी के उत्पादन में बहुत वृद्धि हुई जिससे इसका मूल्य क्रमश: घटने लगा। अत: भारतीय बाजार में विदेशी चीनी सस्ते दर पर उपलब्ध हो जाती थी। भारत सरकार ने विदेशों से आनेवाली चीनी के आयात पर आय की दृष्टि से एक कर लगाया था, फिर भी विदेशी चीनी का मूल्य भारतीय चीनी और खाँड से कम ही पड़ता था। अत: गन्ना-उत्पादक प्रान्तों से इस उद्योग को संरक्षण प्रदान करने की माँग की जाने लगी। इसके फलस्वरूप सरकार ने इस उद्योग की स्थिति की जाँच के लिए १९२९ ई० में एक प्रशुल्क मण्डल की नियुक्ति की जिसकी सिफारिशों के आधार पर इस उद्योग को १९३१ ई० में सात वर्षों के लिए संरक्षण प्रदान किया गया। संरक्षण के फलस्वरूप चीनी उद्योग को विकास का अच्छा अवसर मिला।

भारतीय चीनी उद्योग के विकास का इतिहास वस्तुत: १९३१ ई० से ही प्रारम्भ होता है जब इसे सरकार द्वारा संरक्षण प्राप्त हुआ। संरक्षण के फलस्वरूप इस उद्योग का तीव्रता से विकास आरम्भ हुआ। १९३१-३२ ई० में भारत में चीनी के केवल ३२ कारखाने थे जिनका उत्पादन केवल १.६ लाख टन था। कारखानों की संख्या बढ़कर १९३८-३९ में १३२ तथा उत्पादन ६.७ लाख टन हो गया। इसके फलस्वरूप चीनी के आयात में बहुत अधिक कमी हुई। १९३१ ई० के पूर्व भारत औसत रूप से प्रतिवर्ष १० लाख टन चीनी का आयात करता था। आयात की यह मात्रा १९३८-३९ ई० में घटकर केवल २२ हजार टन रह गयी। इस प्रकार भारत जो अपनी कुल आवश्यकता के लिए पहले विदेशी चीनी पर आश्रित था, संरक्षण के फलस्वरूप कुछ ही वर्षों में चीनी का विश्व में सबसे बड़ा उत्पादक देश हो गया।

इस प्रकार भारत के संरक्षण-प्राप्त उद्योगों में चीनी उद्योग का स्थान अद्वितीय है। चीनी उद्योग को संरक्षण प्रदान करने के लिए सरकार ने सर्वप्रथम १९३१ ई० में सात वर्षों के लिए विदेशी चीनी के आयात पर ७ रु० २५ पैसा प्रति हंडरवेट के हिसाब से एक आयात कर लगाया। आगे चलकर आय की दृष्टि से अक्टूबर, १९३१ ई० में सभी आयात करों पर २५% का एक अतिरिक्त शुल्क (Surcharge) लगाया गया जिसके फलस्वरूप चीनी पर आयात कर वस्तुत:

९ रु० ६ पैसा हंडरवेट हो गया। धीरे-धीरे संरक्षण के लाभ स्पष्ट होने लगे और १९३४ ई० तक चीनी का आयात बहुत घट गया। आयात घट जाने पर सरकारी आय में कमी होने लगी जिसे पूरा करने के लिए १९३४ ई० में देश में चीनी के उत्पादन पर १ रु० २५ पैसा प्रति हंडरवेट का एक उत्पाद कर (Excise Duty) लगाया गया, जिसे १९३७ ई० में बढ़ाकर २ रु० प्रति हंडरवेट कर दिया गया। संरक्षण से चीनी उद्योग बहुत ही लाभान्वित हुआ तथा चीनी के बढ़े हुए उत्पादन एवं मूल्य से मिल-मालिकों ने बड़ा लाभ कमाया। किन्तु इस लाभ से गन्ना उत्पादक प्रायः वंचित रह गये। अतः, गन्ने के मूल्य को निर्धारित करने के उद्देश्य से सरकार ने १९३७ ई० में एक कानून बनाया। उस समय से उत्पादन की लागत, मिलों के लाभ तथा अन्य सारी बातों को ध्यान में रखकर प्रतिवर्ष सरकार द्वारा गन्ने का एक मूल्य तय किया जाता है। १९३७ ई० में चीनी उद्योग की स्थिति की जाँच के लिए एक प्रशुल्क मण्डल की नियुक्ति की गयी। प्रशुल्क मंडल ने इस उद्योग की प्रगति पर बहुत अधिक प्रसन्नता प्रकट की तथा सरकार से इस बात की सिफारिश की कि चीनी के आयात पर ७ रु० २५ पैसे प्रति हंडरवेट के हिसाब से आयात कर लगाया जाय। साथ ही, २ रु० हंडरवेट के उत्पादक कर को भी इसमें सम्मिलित कर लिया जाय। अतः, मण्डल द्वारा कुल मिलाकर ९ रु० २५ पैसे प्रति हंडरवेट संरक्षण कर लगाने की सिफारिश की गयी। साथ ही, प्रशुल्क मण्डल ने इस बात पर भी जोर दिया कि देश में चीनी के उत्पादन पर उत्पादन कर केवल चीनी उद्योग के लिए ही नहीं, बल्कि गन्ने के उत्पादकों के हित के भी विरुद्ध था। अतः, मण्डल ने इसे हटा लेने की सिफारिश की। मण्डल ने शीरा तथा अन्य गौण-पदार्थों के समुचित उपयोग पर भी जोर दिया। किन्तु सरकार के निर्णय में विलम्ब के कारण १९३९ ई० तक पुराने कर ही चलते रहे।

१९३९ ई० में सरकार ने चीनी उद्योग को दो वर्षों के लिए और संरक्षण प्रदान किया जिसके अनुसार चीनी के आयात पर ८ रु० ७५ पैसे प्रति हंडरवेट के हिसाब से आयात कर लगाया गया जो मंडल द्वारा प्रस्तावित कर (९ रु० २५ पैसे प्रति हंडरवेट) से ५० पैसे प्रति हंडरवेट कम था। किन्तु उत्पाद कर को सरकार ने नहीं हटाया। युद्धकाल में संरक्षण जारी रखने के सामान्य अधिनियम (Protection Duties Continuance Act) के आधार पर चीनी उद्योग को भी संरक्षण मिलता रहा। १९४७ ई० में प्रशुल्क मण्डल ने इस उद्योग की स्थिति की पुनः जाँच की। मण्डल की सिफारिशों के आधार पर संरक्षण की अवधि दो वर्षों के लिए और बढ़ा दी गयी। १९४९ ई० में प्रशुल्क मण्डल ने पुनः इस उद्योग की स्थिति की जाँच की और दो वर्षों के लिए संरक्षण की अवधि और बढ़ाने की सिफारिश की। किन्तु, मण्डल की सिफारिशों के विरुद्ध विधान सभा द्वारा केवल एक वर्ष के लिए ही संरक्षण प्रदान किया गया। १९५० ई० में प्रशुल्क मण्डल ने इस उद्योग की स्थिति की विस्तारपूर्वक जाँच के पश्चात् सरकार से चीनी उद्योग पर से संरक्षण हटा लेने की सिफारिश की। सरकार ने मण्डल की सिफारिशों के आधार पर १९५० ई० में चीनी उद्योग पर से संरक्षण हटा लिया। इस प्रकार चीनी उद्योग को कुल मिलाकर लगातार प्रायः १९ वर्षों तक संरक्षण मिला।

संरक्षण से भारतीय चीनी उद्योग को बहुत ही लाभ हुआ और कुछ ही वर्षों में भारत, जो संरक्षण के पूर्व चीनी के लिए विदेशों पर आश्रित था, संरक्षण के फलस्वरूप विश्व में चीनी का सबसे बड़ा उत्पादक राष्ट्र हो गया। अतः भारतीय चीनी उद्योग को 'संरक्षण का शिशु' (The Indian Sugar Industry is the child of protection) कहा जाता है।

निम्नांकित तालिका से संरक्षण के बाद देश में चीनी उद्योग के विकास का अन्दाजा लगता है :—

वर्ष	चीनी के कारखानों की संख्या	चीनी का उत्पादन (हजार टन में)
१९३१-३२	३३	१९०
१९३८-३९	१२२	६४२
१९४५-४६	१३८	९२३
१९५०-५१	१९३	११३४
१९५५-५६	१४३	१८९०
१९६०-६१	१७४	३०२१
१९६५-६६	२००	३५४१
१९६८-६९	२०५	३५५८
१९७३-७४ (लक्ष्य)	....	४७००

किन्तु संरक्षण की नीति की कई कारणों से आलोचना भी की जाती है। सर्वप्रथम तो चीनी के आन्तरिक उत्पादन पर लगाये गये कर से इस उद्योग को बहुत क्षति पहुँची। मई, १९३७ ई० में विश्व के २१ प्रमुख चीनी उत्पादक-राष्ट्रों के बीच एक समझौता हुआ जिसमें भारत भी सम्मिलित था। इस समझौते के अनुसार ५ वर्षों तक भारत बर्मा के अतिरिक्त अन्य किसी भी देश में समुद्र के जरिये चीनी का निर्यात नहीं कर सकता था। लेकिन दूसरी ओर अन्य सभी देशों को भारत के बाजार में चीनी बेचने की छूट दे दी गयी। इस प्रकार की नीति ऐसे समय में अपनायी गयी थी जब देश का चीनी उद्योग अपनी आंतरिक आवश्यकताओं से अधिक उत्पादन कर सकता था। अतः इस समझौते का भारतीय चीनी उद्योग पर बहुत ही बुरा प्रभाव पड़ा। प्रो० अदारकर ने इस नीति की आलोचना करते हुए कहा है कि इस अन्तर्राष्ट्रीय समझौते से भारतीय उद्योगों के विकास के प्रति तत्कालीन भारत सरकार की वास्तविक अभिरुचि का अन्दाजा लगता है।

नियन्त्रण :— प्रारम्भ से ही चीनी उद्योग पर सरकार का थोड़ा-बहुत नियन्त्रण रहा है। सन् १९३४ ई० के 'सुगर केन एक्ट' द्वारा प्रान्तीय सरकारों को गन्ने का न्यूनतम मूल्य तय करने का अधिकार दिया गया था। १९३७ ई० में चीनी के अधिक उत्पादन के फलस्वरूप चीनी बाजार में मन्दी आ जाने के कारण आन्तरिक प्रतियोगिता के भय से उत्तर प्रदेश तथा बिहार की ९० चीनी मिलों ने उत्पादन, मूल्य तथा गन्ने की उपलब्धि आदि तय करने के लिए एक भारतीय चीनी सिन्डिकेट (Indian Sugar Syndicate) की स्थापना की। इन दोनों प्रांतों की सरकारों द्वारा इस सिन्डिकेट को मान्यता प्रदान की गयी तथा उत्तर प्रदेश एवं बिहार की मिलों को चीनी के विक्रय एवं गन्ने की खरीद के लिए सिन्डिकेट से माध्यम से काम करने के लिए बाध्य किया गया।

द्वितीय महायुद्ध एवं बाद के समय में चीनी के उत्पादन एवं वितरण पर सरकार का नियन्त्रण रहा। भारत सरकार द्वारा 'सुगर कन्ट्रोल आर्डर' (१९४२) के अन्तर्गत चीनी की थोक एवं खुदरा कीमत तय कर दी गयी तथा वितरण की व्यवस्था की गयी। १९४३-४४ ई० के बाद देश में चीनी का उत्पादन घट गया जिससे द्वितीय महायुद्ध के अन्तिम वर्षों में चीनी का अभाव-सा जान पड़ने लगा। अधिक उत्पादन के उद्देश्य से चीनी मिलों को प्रोत्साहन प्रदान करने के लिए १९४७ ई० में चीनी पर से नियन्त्रण हटा लिया गया। किन्तु इसका प्रभाव आशाजनक नहीं हुआ

तथा मूल्य में वृद्धि होने लगी। सरकार मूल्य में इस वृद्धि के लिए उद्योगपतियों को दोष देती थी और उद्योगपति इसके लिए गन्ने के अधिक मूल्य, मजदूरों की अशान्ति-प्रिय नीति, उत्पाद कर एवं सरकार के अनुचित अंकुश को दोष देते थे। फलस्वरूप, सरकार ने १६४६ ई० में पुनः नियन्त्रण की नीति को अपनाया तथा १६५० ई० में भारतीय चीनी सिन्डिकेट को तोड़ दिया। पुनः १६५० ई० में चीनी के उत्पादन को प्रोत्साहित करने के उद्देश्य से सरकार ने आंशिक रूप में नियन्त्रण हटाने की घोषणा की। साथ ही, गुड़ तथा खांडसारी के मूल्य भी निश्चित कर दिये गये जिससे चीनी उद्योग को कोई हानि न हो। १६५०-५१ ई० में उत्तर प्रदेश में गन्ने की फसल अच्छी होने के कारण चीनी का उत्पादन बहुत अधिक हुआ। अतः, १६५१-५२ ई० में नियन्त्रण की नीति को और भी उदार बनाया गया तथा १६५२-५३ ई० में चीनी पर से अन्तिम से रूप नियन्त्रण हटा दिया गया। किन्तु पुनः १९६२-६३ ई० में चीनी का उत्पादन कम होने के कारण मूल्य में वृद्धि होने लगी। अतएव अप्रैल, १६६३ ई० से पुनः चीनी के मूल्य तथा वितरण पर नियन्त्रण लगया गया। किन्तु १६६८ ई० में इसे आंशिक रूप से अनियन्त्रित कर दिया गया है जिसके अनुसार आजकल ४० प्रतिशत चीनी मुक्त बाजार में बेची जाती है।

चीनी उद्योग की वर्तमान स्थिति

(Present Position of the Sugar Industry)

भारत के वृहत् प्रमाप उद्योगों में चीनी उद्योग का प्रमुख स्थान है। बड़े पैमाने के उद्योग में इसका स्थान देश में तृतीय है। इसमें कुल ५०० करोड़ रुपये की पूँजी का विनियोग हुआ है। तथा २.५ लाख श्रमिक कार्य करते हैं। इसके अतिरिक्त गन्ना उत्पादक तथा वितरक के रूप में बहुत सारे व्यक्तियों को इस उद्योग से रोजी मिली है। इससे देश की आर्थिक व्यवस्था में चीनी उद्योग का महत्त्व स्पष्ट हो जाता है। विश्व के चीनी एवं गन्ना उत्पादक राष्ट्रों में भारत का सर्व प्रथम स्थान है। भारत में गन्ने द्वारा तीन प्रकार से चीनी तैयार की जाती है—(क) आधुनिक ढंग की बड़ी-बड़ी मिलों द्वारा, (ख) स्वदेशी चीनी या खांडसारी चीनी, तथा (ग) गुड़। मिल की चीनी अधिक साफ होती है। खांडसारी चीनी गुड़ से तैयार की जाती है जो भूरे रंग की होती है और गुड़ गाँवों में किसानों द्वारा तैयार किया जाता है। हमारे देश में कुल गन्ने का अनुमानतः ६० प्रतिशत भाग गुड़ बनाने में ही प्रयोग किया जाता है।[1] इसका प्रमुख कारण चीनी की अपेक्षा गुड़ का अधिक सस्ता होना है जिससे आज भी हमारी ग्रामीण जनसंख्या का बहुत बड़ा भाग मुख्यतः गुड़ का ही उपयोग करता है।

चीनी का उत्पादन गन्ना पर आधारित होने के कारण बड़ा ही अनिश्चित रहता है। इससे चीनी की उपलब्धि में भी अनिश्चितता पायी जाती है। पिछले कुछ वर्षों में चीनी के उत्पादन आंतरिक उपयोग तथा निर्यात का अन्दाजा निम्नांकित तालिका[2] से लगता है—

चीनी का उत्पादन, उपयोग तथा निर्यात हजार टन में

वर्ष	प्रारम्भिक कोष	उत्पादन	आन्तरिक उपयोग	निर्यात
१६६०-६१	७.२०	३०.१३	२०.५२	२.५२
१६६५-६६	८.२७	३५.५५	२७.६७	३.६८
१६६६-६७	११.८७	२१.६०	२६.२६	१.८५
१६६८-६६	४.३४	३५.५६	२६.०५	०.८४
१६६६-७०	१३.०४	४२.६०	३२.६४	२.२१
१६७०-७१	१४.४४	३५.००	४२.००	१.००

1. Wadia & Merchant—"Our Economic Problem." P. 463
2. प्रारम्भिक कोष १ अक्टूबर का है तथा उत्पादन अक्टूबर से सितम्बर तक।

इस प्रकार भारत विश्व में चीनी का सबसे बड़ा उत्पादक देश है। किन्तु हमारे देश में चीनी की प्रति-व्यक्ति औसत खपत अन्य देशों की तुलना में बहुत ही कम है। १९६६ ई० में चीनी की प्रति व्यक्ति वार्षिक खपत ग्रेट ब्रिटेन में १३५ ग्राम, संयुक्त राज्य अमेरिका में १३३ ग्राम तथा आस्ट्रेलिया में १४४ ग्राम थी जबकि भारत में यह केवल ५० ग्राम ही थी।

चीनी उद्योग का विभिन्न राज्यों के बीच वितरण :—प्रारम्भ में भारत का चीनी उद्योग उत्तर-प्रदेश, बिहार तथा अन्य उत्तरी राज्यों में ही केन्द्रित था। १९३७-३८ ई० में देश के कुल चीनी उत्पादन का प्रायः ८५ प्रतिशत इन्हीं दो राज्यों से प्राप्त हुआ था। चीनी उद्योग के इस केन्द्रीयकरण के बहुत-से कारण थे जैसे उत्तर प्रदेश तथा बिहार में गन्ने की खेती अधिक होती है। साथ ही, इस भाग में चीनी की मिलों को सुगमतापूर्वक कोयला भी प्राप्त हो जाता है। भारत का यह भाग घना आबाद भी है, जिससे चीनी की मिलों के लिए श्रमिक भी सुगमतापूर्वक प्राप्त हो जाते हैं तथा चीनी के लिए बाजार भी मिल जाता है। उक्त सभी कारणों से यह उद्योग मुख्यतः उत्तर-प्रदेश तथा बिहार में ही केन्द्रित रहा है। किन्तु, पिछले कुछ वर्षों से इस उद्योग के दक्षिण में, विशेषतः गुजरात, महाराष्ट्र, तमिलनाडु, आन्ध्र तथा मैसूर आदि राज्यों में विकसित होने की प्रवृत्ति पायी जाती है। परिमाणस्वरूप १९७०-७१ में चीनी उत्पादन में विभिन्न राज्यों का हिस्सा इस प्रकार हो गया है। उत्तर-प्रदेश ३४·८ प्रतिशत, बिहार ७·८ प्रतिशत महाराष्ट्र २८·२ प्रतिशतः आन्ध्र प्रदेश ७·१ प्रतिशतः मैसूर ५·५ प्रतिशत तथा तमिलनाडु ८ प्रतिशतः सारांश यह है कि दक्षिणी राज्यों में पिछले कुछ वर्षों में चीनी उद्योग का अधिक विकास हो रहा है। वास्तव में, दक्षिण भारत की भूमि गन्ने की खेती के लिए अधिक उपयुक्त है। इस भाग में गन्ने की प्रति-एकड़ औसत उपज भी अधिक है तथा गन्ने में रस का अनुपात उत्तरी भाग की अपेक्षा १ से २ प्रतिशत अधिक रहता है। अतः, दक्षिणी भारत में गन्ने के कारखाने को अधिक प्राकृतिक सुविधाएँ उपलब्ध हैं। साथ ही, इस भाग के कारखाने अपने गौण पदार्थों का भी अच्छे ढंग से उपयोग कर लेते हैं।

चीनी उद्योग की वर्तमान समस्याएँ
(Present Problems of the Sugar Industry)

भारतीय चीनी उद्योग के समक्ष आज निम्नलिखित प्रमुख समस्याएँ हैं :—

(१) गन्ने की प्रति-एकड़ उपज का कम होना (Low per acre yield of sugar-cane) :—भारत में गन्ने की प्रति-एकड़ औसत उपज विश्व के प्रायः सभी देशों से कम है तथा निरन्तर कम होती जा रही है। १९६१-६२ ई० में गन्ने की प्रति-एकड़ उपज हमारे देश में १७·१ टन थी। इसकी तुलना में क्यूबा में प्रति-एकड़ उपज ५६ टन तथा हवाई में ८० टन थी। साथ ही, भारत के सभी राज्यों में गन्ने की उपज एक समान नहीं होती। उत्तर प्रदेश एवं बिहार में, जहाँ देश के कुल उत्पादन का प्रायः दो-तिहाई से भी अधिक भाग गन्ना उपजाया जाता है, गन्ने की प्रति-एकड़ उपज १९६०-६१ ई० में क्रमशः १२·० तथा ११·२ टन थी, तमिलनाडु (आन्ध्र सहित), महाराष्ट्र तथा आन्ध्र में क्रमशः ५८·२; ३१·० तथा २१·७ टन थी। अतः तमिलनाडु, आन्ध्र तथा महाराष्ट्र जैसे राज्य में गन्ने की खेती के विस्तार को प्रोत्साहित करना अनिवार्य है।

1. India Pocket Book of Economic Information 1970.

(२) **गन्ने से अपेक्षाकृत कम चीनी का मिलना** (Less sugar from cane) :—भारत में केवल गन्ने की प्रति-एकड़ उपज ही कम नहीं है, वरन् यहाँ उत्तम प्रकार के गन्ने की खेती भी नहीं होती जिससे गन्ने से उपलब्ध चीनी का अनुपात अपेक्षाकृत कम होता है। हमारे देश में चीनी की कीमत अधिक होने का एक यह भी प्रमुख कारण है। गन्ने से प्राप्त चीनी का प्रतिशत आस्ट्रेलिया में १४·३३, क्यूबा में १२·२५, मारिशस में १३·८ तथा जावा में ११·४६ है जबकि भारत में यह केवल ६·५ प्रतिशत ही है। गन्ने से अपेक्षाकृत कम चीनी प्राप्त होने का प्रमुख कारण हमारे देश में गन्ने की किस्म का खराब होना है। साथ ही, मिलों में गन्ना पहुँचने में देर होती है जिससे गन्ने का अधिकांश रस रास्ते में ही सूख जाता है और फलतः चीनी का अनुपात भी घट जाता है। अतः गन्ने से उपलब्ध चीनी के प्रतिशत को बढ़ाने के लिए उत्तम कोटि के गन्ने की कृषि को प्रोत्साहित करना अनिवार्य है। साथ ही, मिलों तक गन्ना पहुँचाने में होनेवाली देर को भी यथासम्भव कम करने का प्रयत्न करना चाहिए।

(३) **गन्ने का अभाव** (Shortage of cane supply) :—भारत में पिछले कुछ वर्षों से चीनी के कारखानों को पर्याप्त मात्रा में गन्ना नहीं मिल पाता। उत्तरी भारत के कारखानों को बहुत ही कम गन्ना मिल रहा है। इसका प्रधान कारण इस भाग में चीनी के कारखानों का बहुत समीप में स्थित होना है। साथ ही, इस भाग में किसान कारखानों की सुविधानुसार गन्ने की पूर्ति को नियमित बनाने का प्रयास नहीं करते, इससे चीनी के कारखानों को उनकी सुविधानुसार पर्याप्त मात्रा में गन्ना नहीं मिलता। १९६०-६१ ई० में गन्ने के मूल्य में वृद्धि के कारण इसकी उपज में पर्याप्त मात्रा में वृद्धि हुई। किन्तु १९६२-६३ ई० में पुनः गन्ने की उपज में बहुत कमी हो गयी। साथ ही, गुड़ एवं खांडसारी की कीमत में वृद्धि के परिणामस्वरूप चीनी के कारखानों की कठिनाइयाँ और बढ़ गई। इससे चीनी के उत्पादन में पिछले कुछ वर्षों से निरन्तर कमी हो रही है।

(४) **गौण-पदार्थों के समुचित उपयोग की व्यवस्था का अभाव** (Lack of poper utilization of by-products) :—भारत में चीनी के कारखानों के गौण-पदार्थों का भी समुचित ढंग से उपयोग नहीं किया जाता है। इस उद्योग का सबसे महत्वपूर्ण गौण-पदार्थ छोआ (Molasses) है जिसका प्रयोग अल्कोहल तैयार करने में किया जाता है। अल्कोहल के उत्पादन द्वारा देश में पेट्रोल की कमी को दूर किया जा सकता है। आजकल देश की चीनी मिलों में प्रति-वर्ष ३०० से ४०० हजार टन छोआ निकलता है जिसमें से अधिकांश बेकार हो जाता है। इससे २० से २५ मिलियन गैलन अल्कोहल तैयार किया जा सकता है। अनुमान लगाया जाता है कि अल्कोहल तैयार करने का खर्च ४ आना से ६ आना प्रति गैलन तक पड़ता है। (१० आने गैलन के हिसाब से उत्पादन कर जोड़ने पर भी पेट्रोल की तुलना में यह सस्ता ही होता है।) चीनी के मूल्य में कमी लाने का यह प्रमुख तरीका है। ग्रेडी मिशन ने भी इसकी चर्चा की थी, किन्तु हमारे देश में इस ओर अभी कम ध्यान दिया जाता है। प्रथम पंचवर्षीय योजना में पावर अल्कोहल के उत्पादन को १९५०-५१ ई० में ५० लाख गैलन से बढ़ाकर १९५५-५६ ई० में १८० लाख गैलन करने का आयोजन था; किन्तु प्रथम योजना के अन्त तक वास्तविक उत्पादन केवल १०० लाख गैलन ही हुआ। पुनः, द्वितीय योजना के अन्त तक पावर अल्कोहल का लक्ष्य १९६०-६१ ई० में १७० लाख गैलन था। इसी प्रकार गन्ने के छिलके से कागज, कार्ड-बोर्ड आदि तैयार किये जा सकते हैं। यदि इस उद्योग के गौण-पदार्थों का समुचित रूप से उपयोग किया जाय तो चीनी के कारखानों की आय बढ़ेगी तथा चीनी की कीमत में भी कमी होगी।

---

1. INDIA 1957 PP. 134——15.

(५) आधुनिकीकरण की समस्या (Problem of modernisation) :—अधिकांश चीनी के कारखानों का आकार अलाभकर है। इससे उत्पादन व्यय अधिक होता है और फलस्वरूप मूल्य भी बढ़ जाता है। अतः उत्पादन व्यय कम करने के लिए इस उद्योग का आधुनिकीकरण आवश्यक है। इसके लिए अनुकूलतम आकार के छोटे कारखानों का बढ़ना अनिवार्य है। साथ ही, कारखाने में अच्छे यन्त्रों एवं उत्पादन के आधुनिक तरीकों के प्रयोग का प्रयत्न करना चाहिए; भारतीय चीनी उद्योग में आधुनिक यन्त्रों के प्रयोग की बड़ी आवश्यकता है। चीनी उद्योग के विकास परिषद् ने यह अनुमान लगाया था कि वर्तमान कारखानों के आधुनिकीकरण का व्यय लगभग ६० करोड़ होगा। अधिकांश कारखाने पूँजी के अभाव में आधुनिकीकरण की स्थिति में नहीं हैं, अतएव अन्य उद्योगों की तरह राष्ट्रीय औद्योगिक विकास निगम (NIDC) को चीनी के कारखानों को भी आर्थिक सहायता प्रदान करनी चाहिए।

पचवर्षीय योजनाओं में चीनी उद्योग
(Sugar Industry in Five Year Plans)

योजना आयोग के अनुसार १९५०-५१ ई० में चीनी के कारखानों की उत्पादन-क्षमता १४.४ लाख टन थी। प्रथम पंचवर्षीय योजना (First Five Year Plan) के प्रारम्भ में इसमें किसी प्रकार के विस्तार का आयोजना नहीं था तथा चीनी के उत्पादन का लक्ष्य १५ लाख टन रखा गया था। किन्तु, १९५२ ई० में चीनी पर से नियन्त्रण हटाने के कारण इसकी मांग में वृद्धि हो गयी जिससे योजनाकाल मे चीनी उत्पादन के लक्ष्य को १५ लाख टन से बढ़ाकर १८ लाख टन कर दिया गया। इसके लिए सरकार द्वारा नये-नये कारखानों की स्थापना तथा वर्तमान कारखानों के विस्तार की अनुमति भी दी जाने लगी। प्रथम योजना के अन्त में १९५५-५६ ई० में चीनी का उत्पादन बढ़कर १८·६ लाख टन हो गया, यानी उत्पादन में लक्ष्य से भी अधिक वृद्धि हुई।

द्वितीय पंचवर्षीय योजना (Second Five Year Plan) में चीनी उद्योग के विकास पर पर्याप्त जोर दिया गया था। योजनाकाल में चीनी के उत्पादन को बढ़ाकर २२.५ लाख टन करने का आयोजना था। किन्तु योजना के अन्त में यानी १९६०-६१ ई० में चीनी का उत्पादन लगभग ३० लाख टन हुआ। इस प्रकार द्वितीय योजनाकाल में भी चीनी का उत्पादन लक्ष्य से बहुत अधिक हुआ।

तृतीय पंचवर्षीय योजना (Third Five Year Plan) के अन्तर्गत चीनी के उत्पादन को बढ़ाकर १९६५-६६ ई० तक ३५ लाख टन करने का आयोजन था। साथ ही, गन्ने के उत्पादन को बढ़ाकर १९६५-६६ ई० तक १० करोड़ टन करने का आयोजन था। तृतीय योजनाकाल में चीनी उद्योग के विकास पर १०० करोड़ रुपये विनियोग की व्यवस्था थी। योजना के इस लक्ष्य की पूर्ति से चीनी की प्रति-व्यक्ति खपत में पर्याप्त वृद्धि की आशा की जाती थी। साथ ही, निर्यात के लिए भी कुछ रकम बचने की आशा थी। योजनाकाल में सहकारिता के आधार पर ५४ चीनी के कारखानों की स्थापना की अनुमति दी गयी। किन्तु १९६२-६३ ई० में चीनी का उत्पादन घटकर २३ लाख टन हो गया। अतएव, १९६३ ई० के प्रारम्भ में ही देश में चीनी का संकट उत्पन्न हो गया। परन्तु यह संकट निश्चय ही अस्थायी था। ४ अगस्त १९६३ ई० को भारत सरकार द्वारा श्री एस० सार० सेन की अध्यक्षता में एक चीनी आयोग (Sugar Commission) की नियुक्ति की

गयी। इस आयोग का मुख्य उद्देश्य गन्ने के मूल्य तथा चीनी के वितरण के अतिरिक्त नये कारखानों की स्थापना तथा पुराने कारखानों के विस्तार के लिए अनुमति प्रदान करने की नीति के सम्बन्ध में सिफारिश करना है।

तृतीय योजना के अन्त में १९६५-६६ ई० में चीनी का उत्पादन ३६·४ लाख टन हुआ।

तीनों वार्षिक योजनाओं (Annual plans) के अन्त में १९६८-६९ में चीनी का उत्पादन २९ लाख टन हुआ। वास्तव में, इन वार्षिक योजनाओं की अवधि में गन्ने की कम उपज के कारण चीनी के उत्पादन में अत्यधिक कमी हुई।

चतुर्थ पंचवर्षीय योजना (Fourth Five Year plan) में चीनी के उत्पादन को बढ़ाकर १९७३-७४ ई० तक ४७ लाख टन करने का आयोजन है। इसमें से अनुमानतः ७·५ लाख टन निर्यात के लिए उपलब्ध होने की आशा है। योजनाकाल में सहकारिता के आधार पर चीनी के कारखानों की क्षमता के विस्तार पर अधिक जोर देने की व्यवस्था है।

५. सीमेंट उद्योग

(Cement Industry)

सीमेंट उद्योग हमारे देश का एक आधारभूत उद्योग है। सीमेंट इमारती सामानों में अद्वितीय है, अतः इसकी मांग बहुत अधिक होती है। आधुनिक ढंग से सीमेंट तैयार करने का पहला कारखाना मद्रास में १९०४ ई० में प्रारम्भ किया गया था, किन्तु भारतीय सीमेंट उद्योग का वास्तविक इतिहास प्रथम महायुद्ध के साथ प्रारम्भ होता है। प्रथम महायुद्ध के पूर्व तक भारत को अपनी कुल आवश्यकता की पूर्ति के लिए विदेशों से सीमेंट का आयात करना पड़ता था। १९१४ ई० में हमारे देश में १,३०,००० टन सीमेंट का आयात किया गया था। किन्तु धीरे-धीरे इस उद्योग के विकास के साथ-साथ सीमेंट का आयात भी कम होने लगा तथा आजकल भारत सीमेंट के क्षेत्र में प्रायः आत्म-निर्भर हो गया है। निम्नलिखित तालिका[1] से प्रारम्भ से आज तक भारत में सीमेंट उद्योग की प्रगति का अन्दाजा लगता है :—

वर्ष	उत्पादन (हजार टन में)	वर्ष	उत्पादन (हजार टन में)
१९१४	१०	१९६०-६१	७,९००
१९३०	५७७		
१९४७	१४७०	१९६५-६६	१०,८००
१९५०-५१	२७००	१९६८-६९	१३,६००
१९५५-५६	४६७०	१९७३-७४ (लक्ष्य)	१८,०००

प्रथम महायुद्ध एवं बाद के समय में इस उद्योग को विकास का अच्छा अवसर प्राप्त हुआ जिसके फलस्वरूप इस उद्योग में आशाजनक उन्नति हुई। १९१४ ई० में उत्पादन केवल १० हजार टन था जो बढ़कर १९१८ ई० में ८५ हजार टन हो गया। किन्तु, १९२४-२५ ई० में इस उद्योग में कुछ मन्दी के चिह्न दिखाई पड़ने लगे। इसका प्रमुख कारण अत्यधिक उत्पादन तथा आन्तरिक एवं विदेशी प्रतियोगिता का दबाव था। मन्दी से मुक्ति पाने के उद्देश्य से सीमेंट कारखानों ने एक 'भारतीय सीमेंट संघ' (Indian Cement Manufacturers Association) बनाया जिसका मुख्य उद्देश्य पूर्ति को नियमित बनाना तथा मूल्य को निश्चित करना था। इस कार्य में

1. India 1971-72 and Fourth Plan.

संघ को पर्याप्त सफलता भी मिली तथा इनकी आपसी प्रतियोगिता समाप्त हो गयी। सदस्य कम्पनियों के विक्रय-सम्बन्धी कोटा को निश्चित करने के लिए १९३० ई० में एक सीमेंट मारकेटिंग कम्पनी की स्थापना हुई। सीमेंट उद्योग के इतिहास में दूसरा महत्त्वपूर्ण कदम १९३६ ई० में उठाया गया जब १० बड़े-बड़े मिलों ने मिलकर 'ऐसोसियेटेट सीमेंट कम्पनी लि०' (The Associated Cement Co. Ltd) नाम की एक कम्पनी बनायी। इस एकीकरण से उद्योग को बहुत लाभ हुआ। किन्तु, १९३६-३७ ई० की तेजी में सीमेंट की बहुत-सी नयी मिलें प्रारम्भ की गयीं जिनमें डालमिया कम्पनी का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। १९३८ ई० में सीमेंट की कुछ मिलों ने 'डालमिमा-समूह' का निर्माण किया। इससे पुन: इस उद्योग में आन्तरिक प्रतियोगिता बढ़ गयी। किन्तु १९४० ई० में ए० सी० सी० तथा डालमिया-समूह में आपसी समझौता हो गया जिससे इस उद्योग में आन्तरिक प्रतियोगिता का भय समाप्त हो गया।

द्वितीय महायुद्ध प्रारम्भ होने से इस उद्योग को बहुत लाभ हुआ। युद्धकाल में आयात बन्द हो गया तथा सैनिक आवश्यकताओं के लिए सीमेंट की माग में बहुत अधिक वृद्धि हुई। फलस्वरूप नये-नये कारखानों की भी स्थापना होने लगी। १९४२ ई० में भारत सरकार ने सीमेंट पर नियन्त्रण लगाया तथा सम्पूर्ण भारत के लिए सीमेंट का मूल्य निश्चित कर दिया। देश के कुल उत्पादन का ९० प्रतिशत भाग सीमेंट युद्ध की आवश्यकताओं के लिए ले लिया जाता था तथा केवल १० प्रतिशत भाग ही नागरिक कार्यों के लिए उपलब्ध था। तब से सीमेंट पर से सरकार का नियन्त्रण किसी-न-किसी रूप में बराबर बना रहा है।

देश-विभाजन के पूर्व १९४७ ई० में भारत में कुल २४ सीमेंट के कारखाने थे जिनकी वार्षिक उत्पादन-क्षमता २,८०,०० टन थी। इनमें से १९ कारखाने जिनकी वार्षिक उत्पादन क्षमता २, ३०,००० टन थी भारत में रह गये तथा शेष पाकिस्तान में चले गये। इसके बाद सीमेंट के और भी नये कारखाने स्थापित किये गये। १९६१-६२ ई० में देश में सीमेंट के कुल ३५ कारखाने थे। सीमेंट के कारखाने असम, पश्चिम बंगाल तथा कश्मीर के अतिरिक्त प्राय: अन्य सभी राज्यों में पाये जाते हैं। अधिकांश कारखाने A. C. C तथा डालमिया-साहू जैन समूह में हैं। पिछले कुछ वर्षों से राज्य सरकारों द्वारा भी सीमेंट के कई कारखाने स्थापित किये गये हैं। सीमेंट कॉरपोरेशन ऑफ इण्डिया नामक एक संस्था राजकीय क्षेत्र में स्थापित की गयी है जिसका प्रधान उद्देश्य देश में चूना-पत्थर के क्षेत्रों की जाँच करना तथा सीमेंट उत्पादन की क्षमता में विस्तार करना है। भारत में सीमेंट की माँग आज भी इसकी पूर्ति से अधिक है, अतएव इस उद्योग के विस्तार का बहुत बड़ा क्षेत्र है। किन्तु प्रधान समस्या सीमेंट उद्योग के लिए आवश्यक यंत्रों को प्राप्त करना है। आजकल देश में सीमेंट के यंत्र-निर्माण करने वाले कारखाने भी स्थापित किये जा रहे हैं।

पंचवर्षीय योजनाओं में सीमेंट उद्योग (Cement Industy in Five Year Plans) :– **प्रथम पंचवर्षीय योजना (First Five Year Plan)** में सीमेंट उद्योग के विकास पर पर्याप्त जोर दिया गया था। योजनाकाल में सीमेंट का उत्पादन १९५०-५१ ई० में २७ लाख टन से बढ़कर १९५५-५६ ई० में ४६·७ लाख टन हो गया।

द्वितीय पंचवर्षीय योजना (Second Five Year Plan) में सीमेंट उद्योग को उच्च प्राथमिकता प्राप्त थी। योजना के अन्तर्गत सीमेंट के उत्पादन को बढ़ाकर १९६०-६१ ई० तक १३० लाख टन, यानी प्राय: १८३ प्रतिशत वृद्धि का आयोजन था। द्वितीय योजना में इस उद्योग के विकास के लिए कुल ८० करोड़ रुपये विनियोग का आयोजन था। किन्तु १९६०-६१ ई० में सीमेंट

का उत्पादन ७९·० लाख टन ही हुआ। अतएव द्वितीय योजना का इस सम्बन्ध में लक्ष्य पूरा नहीं हो सका।

तृतीय पंचवर्षीय योजना (Third Five Year Plan) के अन्तर्गत सीमेंट के उत्पादन को १९६०-६१ ई० में ७९·० लाख टन से बढ़कर १९६५-६६ ई० में १३२ लाख टन करने का आयोजन था, किन्तु तृतीय योजना का यह लक्ष्य पूरा नहीं हो सका तथा तृतीय योजना के अन्त में सीमेंट का उत्पादन १०८ लाख टन ही हुआ। योजनाकाल में सीमेंट के नये कारखानों की स्थापना के लिए सरकारी क्षेत्र में एक सीमेंट कॉरपोरेशन ऑफ इण्डिया (Cement Corporation of India) की स्थापना की गयी। इस निगम ने अब दो कारखानों की स्थापना की है तथा चतुर्थ योजनाकाल में तीन और कारखाने असम, हिमाचल प्रदेश तथा देहरादून में स्थापित किए जायेंगे।

वार्षिक योजनाओं (Annual Plans) के अन्त में, यानी १९६८-६९ में सीमेंट का उत्पादन १३६ लाख टन था।

चतुर्थ पंचवर्षीय योजना (Fourth Five Year Plan) में सीमेंट के उत्पादन को १९६८-६९ ई० में १३६ लाख टन से बढ़ाकर १९७३-७४ ई० तक १८० लाख टन करने का आयोजन है। योजनाकाल में सार्वजनिक क्षेत्र में भी सीमेंट के उत्पादन को बढ़ाने पर जोर दिया जायगा। इस उद्देश्य से सीमेंट निगम के अतिरिक्त राज्य सरकारों की सीमेंट को भी कारखानों की स्थापना के लिए भी प्रोत्साहित करने की व्यवस्था है।

पिछले कुछ वर्षों से देश में सीमेंट की मांग में निरंतर वृद्धि हो रही है। फिर भी १९६६ में भारत में सीमेंट का प्रति व्यक्ति औसत उपयोग २२ कि० ग्रा० था जबकि स्विट्जरलैण्ड में ७१५ कि० ग्रा०, जापान में ३६५ कि० ग्रा०, संयुक्त-राज्य अमेरिका में ३४२ कि० ग्राम तथा ब्रिटेन में ३०५ किलो ग्राम था।

६. ईंजीनियरिंग उद्योग

इंजीनियरिंग उद्योग के अन्तर्गत विभिन्न उद्योगों के लिए यंत्र एवं अन्य उपकरण, बिजली के सामान, रेल तथा मोटर गाड़ियों के ईंजन इत्यादि आते हैं। द्वितीय महायुद्ध के पूर्व तक हमारे देश में इन उद्योगों का अभाव था। किन्तु युद्ध के दौरान में सरकार द्वारा ईंजीनियरिंग उद्योग के विकास के लिए छिट-पुट प्रयन्त प्रारम्भ किये गये। १९४७ ई० से तो इन उद्योगों के विकास के लिए सरकार विशेष रूप से प्रयत्नशील है तथा अबतक भारत कई वस्तुओं के उत्पादन में प्रायः आत्म-निर्भर हो गया है। वास्तव में, द्रुतगति से आर्थिक विकास के लिए ईंजीनियरिंग उद्योग का विकास अनिवार्य है क्योंकि इस उद्योग के द्वारा विभिन्न उद्योगों के लिए यन्त्र इत्यादि तैयार किये जाते हैं।

पंचवर्षीय योजनाओं के अन्तर्गत इंजीनियरिंग उद्योग के विकास पर पर्याप्त जोर दिया जा रहा है। द्वितीय पचवर्षीय योजना (Second Five Year Plan) में इसके विकास के कई कार्यक्रम कार्यान्वित किये गये। तृतीय पंचवर्षीय योजना में भी ईंजीनिरिंग उद्योग के विकास के लिए बहुत अधिक प्रयत्न किये गये।

पंचवर्षीय योजनाओं में इस उद्योग की प्रगति का अन्दाजा निम्नलिखित तालिका से लगाया जा सकता है :—

उद्योग	१९५०-५१	१९६०-६१	१९६५-६६	१९६८-६९	१९७३-७४ (लक्ष्य)
१. औद्योगिक यन्त्र					
(क) सूती-वस्त्र उद्योग के यन्त्र (करोड़ रु०)	—	१०·४	२१·६	१३·८	४५·०
(ख) सीमेंट ,, ,,	—	०·६०	४·९	८·२	१९·०
(ग) कागज ,, ,,	—	—	१·७	२·४	१३·५
(घ) मशीन टूल्स ,,	०·३४	७·०	२९·४	२५·०	६५·०
२. मोटर एवं तत्सम्बन्धी उद्योग (हजार)	१६·५	४७·८	७६·०	१०·७	२९५
३. बाईसिकिल (लाख)	१·०	१०·७	१५·७	१९·९	३२·०
४. विद्युत् ईंजीनियरिंग उद्योग					
बिजली का पंखा (लाख)	१·९	१०·६	१३·६	१५·०	३०·०
रेडियो रिसिवर (हजार)	४९	२८२	६०६	१४८९	३८००

इस प्रकार पिछली तीन पंचवर्षीय योजनाओं में इंजीनियरिंग उद्योग में विशेष प्रगति हुई है। चतुर्थ पंचवर्षीय योजना (Fourth Five Year Plan) में भी इंजीनियरिंग उद्योग को उच्च प्राथमिकता दी गयी है। योजनाकाल में इस उद्योग पर निजी क्षेत्र में ७९·७ करोड़ रुपये विनियोग का आयोजन है।

७. कागज उद्योग
(Paper Industry)

हाथ से कागज बनाने का धन्धा भारत में सदियों पूर्व से होता आ रहा है। किन्तु, आधुनिक ढंग से कागज बनाने का पहला कारखाना भारत में सर्वप्रथम १८७० ई० में कलकत्ता के निकट हुगली नदी पर स्थित बाली नामक स्थान में स्थापित किया गया। इसके बाद लखनऊ में 'अपर इण्डिया पेपर मिल' (१८८९), बंगाल में 'टीटागढ़ पेपर मिल' (१८८२), पूना में 'दक्कन पेपर मिल' (१८८७) तथा अन्य कारखाने स्थापित किये गये। इस प्रकार १९०० ई० तक देश में कागज बनाने के कुल ७ कारखाने स्थापित हो गये थे जिनमें प्रतिवर्ष १९ हजार टन कागज बनता था। किन्तु, प्रारम्भ में भारतीय कागज उद्योग को सस्ते विदेशी कागज की प्रतियोगिता का सामना करना पड़ा। फिर भी, १९२४ ई० तक देश में कागज के कुल ९ कारखाने हो गये जिनमें ३३,००० टन कागज का उत्पादन होता था। इस उद्योग को विदेशी प्रतियोगिता से राहत दिलाने के लिए १९२५ ई० में सरकार द्वारा इसे संरक्षण प्रदान किया गया। १९२५ ई० के कागज उद्योग संरक्षण अधिनियम के अनुसार विदेशी कागज के आयात पर १ आना प्रति पौंड की दर से सात वर्षों के लिए एक आयात कर लगाया गया। १९३२ ई० में पुनः इस कर की अवधि सात वर्षों के लिए और बढ़ा दी गयी। १९३२ ई० में इन करों में कुछ कमी कर दी गयी। द्वितीय युद्धकाल में भी कागज उद्योग को संरक्षण मिलता रहा। १९४७ ई० में फिर से संरक्षण की अवधि बढ़ाने की आवश्यकता नहीं समझ कर इस उद्योग से संरक्षण हटा लिया गया। संरक्षण के फलस्वरूप भारतीय कागज उद्योग का बहुत आशाजनक विकास हुआ।

द्वितीय महायुद्ध के दौरान में कागज के कारखानों की संख्या बढ़ कर १५ हो गयी तथा १९४४ ई० में इसका उत्पादन १,३०,८८४ टन हो गया। तब से देश में कागज उद्योग की

उत्तरोत्तर प्रगति होती जा रही है। १९५०-५१ में कागज का उत्पादन ११६ हजार टन, १९६०-६१ में ३५० हजार टन तथा १९६५-६६ में ५५८ हजार टन हो गया।

भारत में कागज उद्योग के लिए आवश्यक प्रायः सभी कच्चे पदार्थ पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध हैं। यहाँ के वनों में सबाई एवं भाभर घास तथा बाँस आदि पर्याप्त मात्रा में पाये जाते हैं। भारत में आजकल प्रायः सभी प्रकार के कागज तथा दफ्तियाँ तैयार की जाती हैं। किन्तु, अखबारी कागज के क्षेत्र में हमारा देश अभी बहुत ही पिछड़ा है। भारत में अखबारी कागज (newsprint) का पहला कारखाना जनवरी, १९३५ ई० में स्थापित किया गया। १९६०-६१ ई० में इसका उत्पादन २५ हजार टन था। तृतीय योजना में अखबारी कागज के उत्पादन को बढ़ाकर १९६५-६६ ई० तक १२० हजार टन करने का आयोजन था, किन्तु उत्पादन ३० हजार तक ही हुआ।

पंचवर्षीय योजनाओं में कागज उद्योग (Paper Industry in Five Year Plans) :—पंचवर्षीय योजनाओं में कागज उद्योग के विकास पर पर्याप्त जोर दिया जा रहा है जिसका अन्दाजा निम्नांकित तालिका से लगता है :—

कागज एवं दफ्ती का उत्पादन (हजार टन में)

किस्म	१९५०-५१	१९६०-६१	१९६५-६६	१९६८-६९	१९७३-७४ (आयोजित)
बार्षिक उत्पादन क्षमता	१३७	४१८	५६७	७३०	१११०
कागज एवं दफ्ती	१३२	३५०	५५८	६४७	८५०
अखबारी कागज	—	२३	३०.३	३१	१५०

इस प्रकार **प्रथम पंचवर्षीय योजना** (First Five Year Plan) के अन्त में कागज एवं दफ्ती का उत्पादन १९५५-५६ ई० में १९० हजार टन हो गया। **द्वितीय पंचवर्षीय योजना** (Second Five Year Plan) में भी इसके उत्पादन में महत्त्वपूर्ण वृद्धि हुई। १९६०-६१ तक कागज एवं दफ्ती का उत्पादन ३५० हजार टन तथा अखबारी कागज का उत्पादन २३ हजार टन हो गया।

तृतीय पंचवर्षीय योजना (Third Five Year Plan) में कागज एवं दफ्ती के उत्पादन को बढ़ाकर १९६५-६६ में ७०० हजार टन तथा अखबारी कागज के उत्पादन को ३२० हजार टन करने का आयोजन था। किन्तु योजना का यह लक्ष्य पूर्ण नहीं हो सका तथा १९६५-६६ में कागज एवं दफ्ती का उत्पादन ५५८ हजार टन तथा अखबारी कागज का उत्पादन केवल ३० हजार टन हुआ। १९६८-६९ में कागज का उत्पादन ६४७ हजार टन था।

चतुर्थ पंचवर्षीय योजना (Fourth Five Year Plan) में कागज एवं दफ्ती के उत्पादन को १९६८-६९ में ६४७ हजार टन तथा अखबारी कागज के उत्पादन को ३१ हजार टन से बढ़ाकर १९७३-७४ ई० में क्रमशः ८५० हजार टन तथा अखबारी कागज १५० हजार टन करने का आयोजन है। योजना के लक्ष्यों की पूर्ति के लिए १९६९ में एक Paper Corporation of India का निर्माण किया गया है।

८. भारी रसायन उद्योग
(Heavy Chemical Industries)

'भारी-रसायन' के अन्तर्गत वे रसायन आते हैं जो विभिन्न प्रकार की उपभोक्ता वस्तुओं के निर्माण में कच्चे-पदार्थ के रूप में प्रयोग किये जाते हैं। इनके अन्तर्गत सल्फरिक एसिड,

नाइट्रिक तथा हाइड्रोक्लोरिक एवं अन्य प्रकार के एसिड, कॉस्टिक सोडा, सोडा एस तथा इसी प्रकार की अन्य वस्तुएँ आती हैं। रासायनिक उद्योगों का विकास किसी देश के औद्योगिक विकास के लिए एक आश्यक शर्त है, क्योंकि रासायनिक पदार्थों की आवश्यकता कागज, कपड़ा, चीनी, चमड़ा एवं औषधियों के निर्माण में पग-पग पर पड़ती है। हमारे देश में रसायन उद्योग का बहुत कम विकास हुआ है। द्वितीय महायुद्ध के पूर्व रासायनिक उद्योगों के अन्तर्गत केवल सल्फरिक एसिड तथा इसी प्रकार के कुछ अन्य पदार्थों का ही महत्त्व था। किन्तु, आजकल इस उद्योग का विकास उत्तरोत्तर हो रहा है।

पंचवर्षीय योजनाओं में इनके विकास पर पर्याप्त जोर दिया जा रहा है। निम्नांकित तालिका से गत् कुछ वर्षों में महत्त्वपूर्ण रासायनिक पदार्थों के उत्पादन का अन्दाजा लगता है —

रासायनिक पदार्थों का उत्पादन (हजार टन में)

	१९५०-५१	१९६०-६१	१९६५-६६	१९६८-६९	११७३-७४ (आयोजित)
नत्रजनक खाद	९	१०१	२३२	५४१	२५००
फोस्फेरिक खाद	९	५३	२३	२१०	९००
सल्फरिक एसिड	१०१	३६८	६६२	१०३८	२५००
सोडा एस	४५	१५२	३३१	४९५	५५०
कास्टिक सोडा	१२	१०१	२१८	३०४	५००

इनमें नत्रजनक खाद (Nitrogenous fertilisers) के अतिरिक्त अन्य सभी प्रकार के रासायनिक उद्योगों का विकास निजी क्षेत्र के अन्तर्गत ही हुआ है।

विशेष अध्ययन-सूची

1. Mehta, M. M. : Structure of the Indian Industries.
2. Roshen, G. : Industrial Changes in India.
3. Planning Commission : First, Second, Third and Fourth Five Year Plans.
4. ,, Programmes of Industrial Development (1956-61)
5. ,, Programmes of Industrial Development (19 1-66)
6. Govt. of India : India 1971-72

अध्याय : २७

सरकारी क्षेत्र की औद्योगिक संस्थाएँ[1]

(State-Owned Industrial Undertakings)

प्राक्कथन :— भारत की वर्तमान औद्योगिक नीति के अनुसार कुछ विशेष प्रकार के उद्योगों के विकास का पूरा दायित्व भारत सरकार पर ही है। १९५६ ई० की औद्योगिक नीति (३० अप्रैल, १९५६ की नीति) के अनुसार 'अ' श्रेणी के उद्योगों के विकास का पूर्ण दायित्व भारत सरकार पर है तथा 'ब' श्रेणी के उद्योगों को भी धीरे-धीरे सरकारी क्षेत्र के अन्तर्गत लाने का आयोजन है। उक्त नीति के आधार पर सरकार द्वारा स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद देश में विभिन्न प्रकार के नये-नये-उद्योगों की स्थापना की गयी है। इनमें से अधिकांश उद्योग राष्ट्रीय महत्त्व के हैं। साथ ही,इनकी स्थापना निजी क्षेत्र के सामर्थ्य से परे है।

प्रथम योजना के प्रारम्भ में केन्द्रीय सरकार के उपक्रमों (रेलवे को छोड़कर) में लगभग २९ करोड़ रुपये की पूँजी का विनियोग हुआ था जो तृतीय योजना के अन्त में बढ़कर २४१५ करोड़ रुपये तथा ३१ मार्च, १९७१ को ४६८२ करोड़ रुपये हो गया। उस समय केन्द्रीय सरकार के तत्वावधान में ९७ कम्पनियाँ थीं, जिनमें से १० अभी निर्माणाधीन थीं। इनमें से केवल हिन्दुस्तान स्टील लि० में १०३६ करोड़ रुपये की पूँजी लगी थी। केन्द्रीय सरकार के उपक्रमों में १९७०-७१ में कुल ६·६ लाख मजदूर कार्य करते थे। इन संस्थाओं ने १९७०-७१ में ९६ करोड़ रुपये की सामग्रियों का विदेशों में निर्यात किया था। इनके अतिरिक्त राज्य सरकारों के उपक्रमों में भी तृतीय योजना के अंत में लगभग २००० करोड़ रु० विनियोग किया गया था।[2]

इस प्रकार स्पष्ट है कि देश के आर्थिक जीवन में राजकीय उपक्रमों का महत्त्व निरंतर बढ़ते जा रहा है। सार्वजनिक क्षेत्र के विस्तार का उद्देश्य देश के आर्थिक विकास की गति को तीव्र बनाना है। किन्तु यह तो केवल एक आर्थिक तर्क है। इसके पक्ष में इससे अधिक महत्त्वपूर्ण सामाजिक तर्क भी है। वास्तव में, वर्तमान समय में राज्य का एक प्रधान कार्य निजी व्यक्तियों के हाथ में धन एवं आय के अत्यधिक केन्द्रीयकरण को रोकना है और इस उद्देश्य से सरकारी क्षेत्र में अधिकाधिक उद्योगों की व्यवस्था आवश्यक है। दूसरे शब्दों में, राजकीय उद्योग धन एवं आय के अत्यधिक केन्द्रीयकरण की प्रवृत्ति को रोकते हैं।

राजकीय उपक्रमों के संगठन का स्वरूप

संगठन की दृष्टि से देश के राजकीय उपक्रमों को मुख्यतया निम्नलिखित तीन वर्गों में विभाजित किया जा सकता है :—

(i) विभागीय ढंग पर (Departmental basis) :—इसमें वे उपक्रम आते हैं जिनकी व्यवस्था सरकार के विभागों के द्वारा की जाती है (Undertakings managed by administrative departments of the Govt.)। उदाहरण के लिए, चितरंजन का रेलवे ईंजन कारखाना तथा इन्टेगरल कोच फैक्ट्री इत्यादि। किन्तु, देश में इस प्रकार के उद्योगों का सीमित रूप में ही प्रयोग हुआ है।

---

१. यह अध्याय मुख्यत: India 1971-72 पर आधारित है।

2. Administrative Reforms Commission Report on Public Sector Undertakings, Oct. 1967.

(ii) निजी सीमित दायित्व वाली कम्पनियों के आधार पर (Private Limited Companies) :— इनमें वे उपक्रम आते हैं जिनकी व्यवस्था संयुक्त पूँजी के आधार पर निर्मित निजी सीमित दायित्व वाली कम्पनियों के द्वारा की जाती है, जिनमें सरकार या तो इनकी सम्पूर्ण हिस्सा पूँजी अथवा आधे से अधिक भाग स्वयं प्रदान करती है। (Undertakings managed by companies in which the Government holds either the entire or the major part of the capital.) उदाहरण के लिए हिन्दुस्तान एन्टिबॉयटिक्स लिमिटेड, नहान फाउण्ड्री लिमिटेड, हिन्दुस्तान स्टील्स लिमिटेड इत्यादि।

(iii) सार्वजनिक निगम (Public Corporations) :—इनमें ऐसे उपक्रम आते हैं जिनकी व्यवस्था वैधानिक मण्डलों के द्वारा की जाती है। (Undertakings managed by statutory corporations.) उदाहरण के लिए, दामोदर भैली कॉरपोरेशन, एयर इण्डिया कॉरपोरेशन तथा जीवन बीमा निगम इत्यादि।

इस प्रकार राजकीय उपक्रमों की व्यवस्था के तीन तरीके हमारे देश में प्रचलित हैं। किन्तु इनमें औद्योगिक संस्थाओं के लिए सरकारी विभागों द्वारा व्यवस्था उपयुक्त नहीं होती क्योंकि इनमें एक ओर तो सरकारी हस्तक्षेप अधिक होता है तथा निर्णय लेने में बहुत अधिक देर होती है तो दूसरी ओर इनकी कुशलता भी बहुत कम होती है। इसीलिए श्री ए० डी० गोरवाला[1] ने अपने Report on the efficient conduct of State Enterprises में यह विचार व्यक्त किया है कि "विभागीय व्यवस्था एक सामान्य नियम नहीं बनकर केवल अपवाद ही होनी चाहिए।" (Departmental management must be rare exception and not the general rule).)

निजी सीमित कम्पनी द्वारा राजकीय उद्योगों की व्यवस्था के अन्तर्गत या तो सभी हिस्से या अधिक हिस्से सरकार अपने पास रखती है। इस प्रकार की कम्पनियाँ अन्य कम्पनियों की तरह आधे से कार्य करती हैं। अन्तर केवल इतना ही होता है कि इनके संचालक मण्डलों में सरकार द्वारा मनोनीत सदस्य होते हैं। इनकी कार्यविधि अपेक्षाकृत अधिक सरल होती है एवं निर्णय में भी कोई देर नहीं होती। किन्तु इनका सबसे बड़ा दोष यह है कि ये संसद् के नियन्त्रण में नहीं होतीं। भारत में राजकीय उपक्रमों की व्यवस्था में इसी तरीके की कम्पनियों की प्रधानता है।

राजकीय उपक्रमों की व्यवस्था में वैधानिक निगमों का विशेष महत्त्व है। वैधानिक निगम अर्द्ध-स्वतन्त्र संस्था होते हैं जो संसद् के विशेष नियमों के द्वारा स्थापित किये जाते हैं तथा जिन्हें पृथक् कानूनी अस्तित्व प्राप्त होता है। इनमें सरकारी नियन्त्रण एवं हस्तक्षेप बहुत ही कम होता है तथा इनके कर्मचारी, हिसाब-किताब एवं वित्तीय साधन सभी अपने होते हैं। इसीलिए प्रेसिडेन्ट रूजवेल्ट (President Roosevelt) के अनुसार "इन निगमों के पास सरकार जैसी शक्ति तथा निजी उपक्रम जैसी लोच एवं प्रेरणा होती है।" (....Clothed with the power of Government but possessed of the flexibilities and initiative of private enteprises.) श्री गोरवाला के अनुसार भी "राजकीय उद्योगों की व्यवस्था के सम्बन्ध में उन क्षेत्रों में जो बिल्कुल व्यावसायिक प्रकृति के होते हैं, वहाँ संयुक्त पूँजी कम्पनी तथा जहाँ सरकार जैसे कार्यों की आवश्यकता होती है, वहाँ पर सार्वजनिक निगमों की प्रधानता होनी चाहिए।" (The company type of organisation is preferred where the nature of the work is substantially commercial, the public corporation is to be preferred where the

1. A. D. Gorwala : Report on the Efficient Conduct of State Enterprises,

undertaking is discharging what is in effect an extention of the functions of the Government e. g., irrigation or hydro-electric projects.)[1]

स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद देश में सरकारी क्षेत्र में स्थापित कुछ प्रमुख औद्योगिक संस्थाओं का विवरण इस प्रकार है :—

भारतीय उर्वरक निगम

(Fertilizer Corporation of India)

देश में उर्वरकों की बढ़ती हुई मांग की पूर्त्ति के लिए खाद के जो विभिन्न कारखाने स्थापित किये गये उनकी व्यवस्था के लिए 'भारतीय ऊर्वरक निगम' नामक एक संस्था स्थापित की गयी जिसके जिम्मे निम्नांकित कारखानों की व्यवस्था है :—

(१) सिन्द्री का खाद-कारखाना (Sindri Fertilizer Factory) :—सिन्द्री का खाद कारखाना भारत सरकार के औद्योगिक साहस का प्रथम उदाहरण है। १६५१ ई० के पूर्व भारत को बहुत बड़ी मात्रा में विदेशों से कृत्रिम खाद का आयात करना पड़ता था। द्वितीय युद्ध के दौरान जब देश में खाद्यान्न का अभाव विकट समस्या का रूप धारण करने लगा तब देश में कृत्रिम खाद के उत्पादन की आवश्यकता महसूस की जाने लगी। इस उद्देश्य से १६४६-४७ ई० में बिहार में दामोदर नदी पर बसे सिन्द्री नामक ग्राम में खाद का एक कारखाना स्थापित करने का कार्य प्रारम्भ हुआ। इस कारखाने में खाद के उत्पादन का कार्य ३१ अक्टूबर, १६५१ ई० से प्रारम्भ हुआ। इसको स्थापित करने में कुल प्राय: २८ करोड़ रुपये व्यय हुआ। इसकी व्यवस्था फरटिलाईजर कॉरपोरेशन ऑफ इण्डिया लिमिटेड नामक एक कम्पनी द्वारा की जाती है। इसकी वार्षिक उत्पादन-क्षमता ३,३०,००० टन अमोनियम सल्फेट तैयार करने की है। १५ करोड़ रुपये के व्यय से सिन्द्री के विस्तारीकरण की एक योजना कार्यान्वित की गयी है जिसके अन्तर्गत एक कोक वोभेन प्लांट स्थापित किया गया है जिससे कि इसके उत्पादन में ६० प्रतिशत वृद्धि की आशा की जाती है। विस्तारीकरण का कार्य पूरा हो गया है। इससे प्रतिदिन ७० टन यूरिया तथा ४०० टन सल्फेट नाईट्रेट की खाद गौण-पदार्थ के रूप में उत्पन्न की जायगी। १६७०-७१ ई० में सिन्द्री के खाद कारखाने में २·५ लाख टन अमोनियम सल्फेट; १५,००० टन यूरिया तथा ४२,००० टन नमक की खाद का उत्पादन हुआ था। पिछले वर्ष की अपेक्षा इसका उत्पादन प्रत्येक क्षेत्र में कम था।

खाद के अन्य कारखाने (Other Fertilizer Factories) :—देश में खाद की बढ़ती हुई मांग को पूरा करने के लिए द्वितीय पंचवर्षीय योजनाकाल से ही सरकार द्वारा सार्वजनिक क्षेत्र में खाद के कई नये कारखानों की स्थापना की गयी है। इनमें निम्नांकित उल्लेखनीय हैं :—

इनमें नांगल में ३० करोड़ रुपये के व्यय से एक कारखाना स्थापित किया गया है जिसमें फरवरी, १९६१ ई० से उत्पादन प्रारम्भ हो गया। इसकी उत्पादन-क्षमता ३·२ लाख टन कैलसियम नाइट्रेट सल्फेट की है। १६७०-७१ ई० में २·२ लाख टन कैलसियम अमोनियम नाइट्रेट का उत्पादन हुआ था।

नवम्बर, १६६५ ई० में ट्रोम्बे का खाद-कारखाना चालू किया गया। इसमें ३२ करोड़ रुपये व्यय हुआ है तथा यहाँ प्रतिवर्ष ६० हजार टन नाइट्रोजन एवं ४५,००० टन फॉस्फेट की खाद का उत्पादन होगा। १६७०-७१ ई० में ६४,००० मिश्रित खाद का उत्पादन हुआ था।

फरवरी, १६६८ ई० में गोरखपुर में खाद के एक कारखाने में उत्पादन का कार्य प्रारम्भ हुआ। इसमें ८० हजार टन यूरिया का प्रतिवर्ष उत्पादन होता है। १६७०-७१ ई० में इसमें १·५ लाख टन यूरिया का उत्पादन हुआ था।

अगस्त, १६६८ में नामरूप में खाद के कारखाने में उत्पादन का कार्य प्रारम्भ किया गया। इसकी वार्षिक क्षमता ५५,००० टन यूरिया तथा १ लाख टन अमोनियम सल्फेट के उत्पादन

1. Ibid P. 18.

की है। १९७०-७१ ई० में इसमें ३१ हजार टन यूरिया तथा ६३ हजार टन अमोनियम सल्फेट का उत्पादन हुआ था।

रूरकेला इस्पात-कारखाने के सहायक के रूप में रूरकेला में खाद उत्पादन के लिए एक कारखाने को दिसम्बर, १९६२ ई० में चालू किया गया। इसकी वार्षिक क्षममा ५.९ लाख टन कैलसियम अमोनियम नाइट्रेट उत्पन्न करने की है। १९७०-७१ ई० में इसमें ९७ हजार टन कैलसियम अमोनियम नाइट्रेट का उत्पादन हुआ था।

इनके अतिरिक्त मार्च, १९६६ से निवेली के कारखाने में भी खाद-उत्पादन का कार्य प्रारम्भ हुआ। यह निवेली लिगनाइट कॉरपोरेशन की सहायक संस्था के रूप में कार्य करता है। इसकी वार्षिक क्षमता ७० हजार नाइट्रोजन उत्पन्न करने की है। १९७०-७१ ई० में इसमें ६९ हजार टन यूरिया का उत्पादन हुआ था।

दिसम्बर, १९६६ ई० में मद्रास में एक खाद के कारखाने की स्थापना के लिए Madras Fertilizer Ltd. की स्थापना की गयी। इसके द्वारा ३.६ लाख टन मिश्रित खाद तथा २.१ लाख टन यूरिया का उत्पादन होगा। इनके अतिरिक्त फरटिलाइजर कॉरपरेशन द्वारा दुर्गापुर तथा बरौनी में १.५२ लाख टन नाइट्रोजन की वार्षिक उत्पादन-क्षमता के दो कारखानों की स्थापना की जा रही है।

जनवरी, १९६१ ई० में सार्वजनिक क्षेत्र में खाद के कारखानों की व्यवस्था के लिए २०० करोड़ रुपये की अधिकृत पूंजी से Fertilizer Corporation of India Ltd. नामक एक कम्पनी की स्थापना की गयी। इस कम्पनी के अंतर्गत आजकल पाँच स्थानों में उत्पादन का कार्य होता है—बिहार के सिन्द्री, पंजाब के नांगल, महाराष्ट्र के ट्रोम्बे, उत्तर प्रदेश के गोरखपुर तथा असम के नामरूप में। इनके अतिरिक्त बिहार के बरौनी तथा पश्चिमी बंगाल के दुर्गापुर में कारखाने बनाये जा रहे हैं। चतुर्थ योजना का इस सम्बन्ध में लक्ष्य १९७३-७४ तक ३७ लाख टन नत्रजनक खाद की क्षमता स्थापित करना है।

(२) चितरंजन का रेलवे ईंजन कारखाना (Chitaranjan Locomotive Works) :– देश में रेलवे ईंजन तैयार करने के लिए सरकारी क्षेत्र में पश्चिमी बंगाल के चितरंजन नामक स्थान में एक कारखाना स्थापित किया गया है। कारखाने की व्यवस्था भारत सरकार के रेलवे मन्त्रालय द्वारा की जाती है। प्रारम्भ में इसकी वार्षिक उत्पादन-क्षमता १२० ईंजन तथा ५० बायलर तैयार करने की थी। किन्तु, बाद में इसका विस्तार किया गया जिसके फलस्वरूप आजकल यह कारखाना २०० से अधिक W G., W T., W P. और W L. प्रकार के ईंजन प्रतिवर्ष तैयार करता है। १९६१ से इसमें बिजली से भी ईंजन उत्पन्न करने का मार्य प्रारम्भ हुआ। १९५० ई० में जबकि उत्पादन प्रारम्भ हुआ से लेकर मार्च, १९७१ तक इसने २३३२ वाष्प ईंजन तथा २७३ विजली से चलने वाले ईंजन तैयार किये थे। इसके विस्तारीकरण की योजना के अन्तर्गत एक हेवी स्टील फाउण्ड्री (Heavy Steel Foundry) की स्थापना करने की व्यवस्था है जिससे भारतीय रेलों की हेवी कास्टिंग की सम्पूर्ण आवश्यकता की पूर्ति आंतरिक साधनों से ही हो सकेगी।

डिजेल ईंजन का कारखाना, वाराणसी (Diesel Locomotive Works, Varanasi) :—इसके अतिरिक्त डिजेल ईंजन के निर्माण के लिए वाराणसी में १५० डिजेल एवं बिजली ईंजन की क्षमता के एक डिजेल लोकोमोटिव वर्क्स की स्थापना की गयी है। इसमें आयात किये गये सामानों से जून, १९६४ ई० से डिजेल ईंजन का निर्माण किया जाने लगा है। इस कारखाने द्वारा मार्च, १९७१ तक ३७५ डिजेल ईंजन तैयार किये गये थे।

इन्टेगरल कोच फैक्ट्री (Integral Coach Factory) :—यह कारखाना रेल के डब्बों के निर्माण के लिए पेराम्बूर में स्थापित किया गया है। इसमें उत्पादन का कार्य अक्टूबर, १९५५ ई० से प्रारम्भ हुआ। प्रारम्भ से लेकर मार्च १९७१ ई० तक इसमें अनुमानतः ८०३३ सवारी डब्बों का निर्माण हुआ था। यह चौड़ी तथा मीटर गेज दोनों प्रकार के डब्बों का उत्पादन करता है।

(३) **हिन्दुस्तान शिपयार्ड** (Hindustan Shipyard) :—भारत में जहाज बनाने के लिए १९४१ ई० में विजगापट्टम में 'सिंधिया स्टीम नेविगेशन कम्पनी' द्वारा एक कारखाना स्थापित किया गया। मार्च, १९५२ में यह कारखाना भारत सरकार द्वारा ले लिया गया। इसकी व्यवस्था 'हिन्दुस्तान शिपयार्ड लिमिटेड' द्वारा की जाती है जिसकी सम्पूर्ण पूँजी अब भारत सरकार द्वारा प्रदान की गयी है। यह शिपयार्ड ४ आधुनिक तरीके के डिजेल-प्रोपेल्ड (Diesel Porpelled) जहाजों का प्रतिवर्ष निर्माण कर सकता है। तृतीय योजना में भी इसका विस्तार किया गया। इस कारखाने के द्वारा पहला जहाज मार्च, १९४८ में पानी में उतारा गया तथा मार्च, १९७१ तक इस कारखाने द्वारा ४·५ लाख टन भार के ५० जहाजों का निर्माण हुआ था। चतुर्थ योजना में भी इसका विस्तार किया जायगा।

एक दूसरा शिपयार्ड कोचीन में बनाया जा रहा है जिस पर ३६ करोड़ रुपये व्यय की व्यवस्था है। इसकी प्रारम्भिक वार्षिक उत्पादन-क्षमता ६६,००० G. R. T. के जहाजों के निर्माण तथा ८५,००० G. R. T. के जहाजों की मरम्मत की है। फरवरी, १९६५ ई० में जापान के एक फर्म से इसके निर्माण के लिए अनुबन्ध किया गया।

(४) **हिन्दुस्तान एयरक्राफ्ट** (Hindustan Aircraft) :—भारत में हवाई जहाज निर्माण करने के लिए एक कारखाना सेठ बालचन्द द्वारा १९४० ई० में बंगलोर में स्थापित किया गया था। युद्धकाल में इस कारखाने में केवल मरम्मत का कार्य होता था। बाद में भारत सरकार ने इसके अधिकांश हिस्सों को खरीद लिया। मार्च, १९५१ ई० में हिन्दुस्तान एयरक्राफ्ट लि० की पूँजी ३·८ करोड़ रुपये थी जिसमें सरकार ने ३·२ करोड़ रुपये के हिस्से लिये थे। इसमें आई० ए० एफ० के जहाजों की मरम्मत के साथ-साथ 'सुपरसोनिक एवं भैमपायर जेट' नामक हवाई जहाजों के निर्माण का कार्य भी प्रारम्भ किया गया है। यह एच० टी० २ (H. T. 2) नामक ट्रेनर हवाई जहाज का निर्माण भी करता है। हाल ही में यहाँ जेट फायटर के निर्माण का कार्य प्रारम्भ किया गया है। इस कारखाने में भारतीय रेलों के डिब्बे तथा राज्य एवं निजी यातायात संस्थानों के लिए बसों का ढाँचा भी तैयार किया जाता है।

१९६४ ई० में Mig 12 तथा अन्य प्रकार के सामरिक हवाई जहाजों के निर्माण के लिए २५ करोड़ रुपये की अधिकृत पूँजी द्वारा भारत सरकार ने Hindustan Aeronautics Ltd. नामक एक कम्पनी की स्थापना की। इसमें हिन्दुस्तान एयरक्राफ्ट बंगलोर तथा Aeronautics India Ltd. दोनों को भी शामिल कर लिया गया है। कम्पनी ने हिन्दुस्तान एयरक्राफ्ट तथा कानपुर में जहाज निर्माण के भण्डार की व्यवस्था को भी ले लिया है। मिग के निर्माण के लिए नासिक, कोरपट तथा हैदराबाद में कारखानों का निर्माण किया गया है।

(५) **डी० डी०टी० फैक्टरी** (D. D. T. Factory) :—भारत सरकार ने UNICEF तथा WHO की सहायता से दिल्ली में एक डी० डी० टी० का कारखाडा प्रारम्भ किया है। कारखाने की व्यवस्था हिन्दुस्तान इन्सेक्टिसाइड प्रा० लिमिटेड द्वारा की जाती है जिसकी अधिकृत पूँजी १·३ करोड़ रुपये की है। इस कारखाने में अप्रैल, १९५५ ई० से उत्पादन का कार्य प्रारम्भ हुआ तथा १९६९-७० ई० में इसमें २०९२ टन टेकनिकल डी० डी० टी० तैयार हुआ।

डी० डी० टी० का एक दूसरा कारखाना द्वितीय योजना में केरल के अलवये (Alaway) नामक स्थान में ७६ लाख रुपये के व्यय से स्थापित किया गया जिसने अप्रैल, १९५८ से काम करना प्रारम्भ कर दिया। इसकी उत्पादन-क्षमता १४०० टन डी० डी० टी० उत्पन्न करने की है। १९६९-७० ई० में इसका उत्पादन १३५६ टन था। १·१ करोड़ रुपये के व्यय से दोनों कारखानों का विस्तारीकरण किया जा रहा है।

(६) हिन्दुस्तान एण्टि-बॉयटिक्स (Hindustan Anti-boitics) :—देश में पेनसिलिन की बढ़ती हुई मांग को पूरा करने के लिए पूना के समीप पिम्परी नामक स्थान में भारत सरकार ने UNICEF तथा WHO की सहायता से एक पेनसिलिन का कारखाना स्थापित किया है। इसकी व्यवस्था हिन्दुस्तान एण्टि-बॉयटिक्स लि०, जिसकी अधिकृत पूँजी ४ करोड़ रुपये है, के द्वारा की जाती है। १९६६-६७ में इसमें ६९७·८ लाख मेगा यूनिट पेनसिलिन तैयार किया गया था। इसमें बाईसिलिन (Bicilin) तथा स्ट्रेप्टोमाइसिन के उत्पादन का भी प्रयास किया जा रहा है। कारखाने की कुल उत्पादन-क्षमता का २० प्रतिशत भाग बाईसिलिन के उत्पादन में लगाने का आयोजन है। इस उद्देश्य से इसकी क्षमता में वृद्धि की गयी है जिसके फलस्वरूप इसकी उत्पादन-क्षमता ८०० लाख मेगायूनिट हो गयी है।

पिम्परी में ही २·७५ करोड़ रुपये के व्यय से स्ट्रेप्टोमाइसिन उत्पन्न करने का एक कारखाना स्थापित किया गया है जिसमें फरवरी, १९६३ ई० में उत्पादन का कार्य प्रारम्भ हो गया। इसकी उत्पादन-क्षमता को बढ़ाने के लिए इसका विस्तारीकरण किया गया है जिससे अब यह ८०-९० टन प्रतिवर्ष का उत्पादन कर रहा है। इसमें १९६९-७० ई० में ८३,१३८ कि० ग्रा० स्ट्रेप्टोमाइसिन तैयार किया गया था।

(७) हिन्दुस्तान केबुल्स (Hindustan Cables) :—डाक-तार विभाग के टेलीफोन केबुल्स की मांग की पूर्ति के उद्देश्य से पश्चिमी बंगाल के रूपनारायणपुर में हिन्दुस्तान केबुल्स के कारखाने की स्थापना की गयी। इस कारखाने में उत्पादन का कार्य १९५४ ई० में प्रारम्भ हुआ। इसकी प्रारम्भिक उत्पादन-क्षमता ४८० मील केबुल्स तैयार करने की थी। इस कारखाने का विस्तार किया जा रहा है जिससे इसकी उत्पादन-क्षमता के १००० मील केबुल्स प्रतिवर्ष हो जाने का अनुमान है। इसके अतिरिक्त १९६० ई० से इसमें ३०० मील एक्सीयल केबुल्स का उत्पादन भी होने लगा है। १९६९-७० ई० में इसमें लगभग ५·५ लाख घन कि० मि० सूखे केबुल २,००१ ट्यूब कि० मी० कोएक्सिया तथा ४२,६९५ घन कि० मि० प्लास्टिक लम्बे केबुल तारों का निर्माण हुआ था।

(८) हिन्दुस्तान मशीन टूल्स (Hindustan Machine Tools) :—बंगलोर के समीप स्थित इस कारखाने ने भारत में सर्वप्रथम लाठे का उत्पादन मई, १९५६ ई० में प्रारम्भ किया तथा आजकल यहाँ २५ लाठे का प्रतिमाह निर्माण किया जाता है। कारखाने में दूसरे प्रकार के यन्त्रों, जैसे—प्रिंटिंग मशीन, रेडियल ड्रिल्स तथा मिलिंग मशीन आदि के उत्पादन का कार्य भी किया जाता है। १९६६-६७ ई० में इसमें १९६८ मशीनें तैयार की गयीं थीं। हिन्दुस्तान मशीन टूल्स के एक दूसरे कारखाने में पंजाब के पिंजोर नामक स्थान में अक्टूबर, १९६३ ई० में उत्पादन का कार्य प्रारम्भ किया गया। १९६६-६७ ई० तक इसमें १·६२ करोड़ रुपये के मूल्य के यंत्रों का उत्पादन हुआ था। इसके दो और कारखानों की स्थापना की गयी है। एक केरल के कलमासरी में तथा दूसरा हैदराबाद के सनतनगर में। इसमें कलमासरी के कारखाने में अक्टूबर, १९६४ ई० में उत्पादन का कार्य प्रारम्भ हुआ तथा १९६६-६७ में इसने २·७ करोड़ रु० मूल्य के ६७३ यंत्रों का उत्पादन किया तथा सनतनगर में १९६५ के अन्त में उत्पादन का कार्य प्रारम्भ हुआ तथा १९६६-६७ ई० में इसमें ८९ लाख रु० मूल्य के ३७ मशीनों का उत्पादन हुआ। हिन्दुस्तान मशीन टूल्स में घड़ी

कारखाने का उत्पादन १९६२ ई० में प्रारम्भ हुआ तथा इसकी वार्षिक उत्पादन-क्षमता प्रतिवर्ष २४ लाख घड़ी तैयार करने की है। चौथी पंचवर्षीय योजना में चेकोस्लाविया के सहयोग से दो और मशीन टूल्स के कारखाने स्थापित करने का आयोजन है।

(९) नहान फाउण्ड्री (Nahan Foundry) :—अक्टूबर, १९५२ ई० में नहान फाउण्ड्री लि० हिमाचल प्रदेश का उद्घाटन हुआ था। जनवरी, १९५३ ई० में सरकार ने इसकी व्यवस्था नहान फाउण्ड्री कम्पनी के नाम हस्तांतरित कर दिया। सितम्बर, १९६४ ई० से इसकी व्यवस्था हिमाचल प्रदेश सरकार को सौंप दी गयी है। इस कारखाने में कृषि-सम्बन्धी औजार, जैसे—गन्ना पेरने की मशीन आदि का निर्माण होता है। किन्तु निजी क्षेत्र की प्रतियोगिता के कारण गन्ना की मशीनों का उत्पादन १९५२-५३ ई० से कम कर दिया गया तथा अन्य पदार्थों का उत्पादन किया जाने लगा है। यह रेलों के लिए स्लिपर तथा टेलीग्राफ विभाग के लिए सामान तैयार करता है। १९६१-६२ ई० में यहाँ २८३२ टन सामग्री का उत्पादन हुआ था, जबकि १९५९-६० ई० में इसका उत्पादन ३०६७ टन था।

(१०) बिजली के भारी यन्त्र (Heavy Electrical Equipment) :—बिजली के यन्त्र बनाने के लिए १९५६ ई० में हेवी ऐलेक्ट्रिकल लि० नामक एक कम्पनी की स्थापना हुई। यह कारखाना ब्रिटिश कम्पनी के सहयोग से भोपाल में स्थापित किया गया है। इसमें उत्पादन का कार्य जुलाई, १९६० ई० से प्रारम्भ किया गया। १९६५-६६ में १०·१९ करोड़ रुपये के सामानों का उत्पादन हुआ था। इसमें पावर ट्रांसफॉरमर, स्विचगीयर, तथा रेलवे के विद्युतीकरण के लिए आवश्यक सामग्रियों का उत्पादन होता है।

इस प्रकार का एक और बिजली के यंत्र का कारखाना हरद्वार के समीप रानीपुर में स्थापित किया जा रहा है। इसी प्रकार हैदराबाद के समीप रामचन्द्र-पुरम में एक कारखाना स्थापित करने का आयोजन है। इस प्रकार का दूसरा कारखाना त्रिचुलपल्ली में स्थापित किया जा रहा है। इन दोनों कारखानों तथा हरद्वार के कारखाने की व्यवस्था के लिए १९६४ ई० में Bharat Heavy Electricals Ltd नामक एक नयी कम्पनी की स्थापना की गयी है। इस प्रकार के और भी कारखानों की स्थापना राष्ट्रीय औद्योगिक विकास निगम (National Industrial Development Corporation) द्वारा की जायगी। इनके अतिरिक्त सरकारी क्षेत्र में और भी बहुत से कारखाने केन्द्रीय तथा राज्य सरकारों द्वारा स्थापित किये गये हैं। भारी औद्योगिक यन्त्र (Heavy Industrial machinery) बनाने का एक कारखाना रूस की सरकार के सहयोग से राँची के समीप हटिया में भी स्थापित किया गया है। इसकी वार्षिक उत्पादन-क्षमता १० हजार टन के यन्त्रों के निर्माण की है।

(१०) इस्पात के तीन कारखाने :—द्वितीय पंचवर्षीय योजनाकाल में सरकारी क्षेत्र में लोहा एवं इस्पात के तीन नये कारखाने स्थापित किये गये। इन तीनों कारखानों की व्यवस्था "हिन्दुस्तान स्टील (प्रा०) लि०", जिसकी अधिकृत पूँजी ६०० करोड़ रुपये है, द्वारा की जाती है। इनके अतिरिक्त 'मैसूर आयरन एण्ड स्टील वर्क्स' के विस्तार का कार्य भी चल रहा है जिससे इसमें एक लाख टन इस्पात का उत्पादन होने लगेगा। इसी प्रकार बिहार के बोकारो नामक स्थान में लोहा एवं इस्पात का एक कारखाना सरकारी क्षेत्र में स्थापित किया जा रहा है जिसमें उत्पादन का कार्य १९७३ ई० से प्रारम्भ होगा। इसकी व्यवस्था Bokaro Steels (Private) Ltd. नामक एक कम्पनी के द्वारा की जाती है।

इनके अतिरिक्त देश में और भी कई औद्योगिक संस्थानों की स्थापना की जा रही है। उदाहरण के लिए, पेट्रोल साफ करने के दो कारखानों की राजकीय क्षेत्र में स्थापना की गयी है जिनकी व्यवस्था के लिए Indian Refineries Ltd. नामक एक कम्पनी की स्थापना की गयी है। अब यह Indian Oil Corporation का एक अंग है। सरकार द्वारा पेट्रोल निकालने तथा साफ करने के लिए विदेशी कम्पनियों तथा सरकारों के साथ मिल-जुलकर भी कम्पनियों का निर्माण किया गया है जिनमें Oil India Ltd. [भारत सरकार एवं Burma Oil Company के बराबर-बराबर हिस्से हैं,), मद्रास रिफाइनरीज लिमिटेड जिनमें भारत सरकार, नेशनल ईरानियन कम्पनी तथा पैन अमेरिकन इंटरनेशनल कम्पनी लिमिटेड सम्मिलित हैं) आदि उल्लेखनीय हैं।

इस प्रकार पिछले कुछ वर्षों से राजकीय उपक्रमों की संख्या में पर्याप्त वृद्धि हुई है। निम्नांकित तालिका[1] से पंचवर्षीय योजनाओं में राजकीय उपक्रमों की प्रगति का अन्दाजा लगता है।

राजकीय उपक्रमों में विनियोग

अवधि	कुल विनियोग (करोड़ रु० में)	राजकीय उपक्रमों की संख्या
प्रथम योजना के प्रारम्भ में (३१-३-१९५१)	२९	५
द्वितीय योजना के प्रारम्भ में (३१-३-१९५६)	८१	२१
तृतीय योजना के प्रारम्भ में (३१-३-१८६१)	९५३	४८
तृतीय योजना के अन्त में (३१-३-१९६६)	२,४१५	७४
३१-३-१९६७ को	२,८४१	७७
३१-३-१९६८ को	३,३३३	८३
३१-३-१९६९ को	३,९०२	८५
३१-३-१९७० को	४,३०१	९१
३१-३-१९७१ को	४,६८२	९७

राजकीय उपक्रमों की मुख्य समस्याएँ

(Main Problems of Public Undertakings)

इस प्रकार स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद राजकीय उपक्रमों की संख्या तथा क्षेत्र में निरन्तर वृद्धि होती जा रही है। चतुर्थ पंचवर्षीय योजना में तो उपभोक्ता उद्योगों के क्षेत्र में भी राजकीय संस्थाओं की स्थापना का आयोजन है। किन्तु राजकीय उद्योगों के समक्ष कुछ समस्याएँ हैं। सबसे बड़ी समस्या

1. Hand book of information on Public Enterprises, Bureau of Public **Enterprise.**

इनकी कार्यकुशलता में वृद्धि की है। यह दो दृष्टि से आवश्यक है। सर्वप्रथम तो राष्ट्रीय उद्योग होने के नाते जनता की आँखें इनके कार्य-कलापों पर लगी रहती हैं, अतः इनके लिए यह आवश्यक हो जाता है कि ये अपनी कार्यकुशलता को बढ़ायें, लागत कम करें तथा उत्तम किस्म का माल बना सकें। द्वितीयतः, निजी क्षेत्र की तुलना में इनका कार्य अधिक अच्छा होना चाहिए, वरन् निजी उद्योगपतियों को सरकारी क्षेत्र की निन्दा का मौका मिल जायगा। अतः सार्वजनिक क्षेत्र को औद्योगिक सम्बन्ध, श्रम-कल्याण-कार्य, श्रमिकों को प्रबन्ध में हिस्सा, उत्पादन की किस्म व लागत आदि में एक आदर्श उपस्थित करना चाहिए जिससे निजी क्षेत्र वाले भी इसका अनुसरण कर सकें।

राजकीय क्षेत्र के उद्योगों की कार्यकुशलता बढ़ाने तथा उत्पादन-स्तर में सुधार के लिए निम्नांकित सुझाव दिये जा सकते हैं :—

(१) **संसद का नियंत्रण** :—राजकीय क्षेत्र में उद्योग चाहे निगम के रूप में संगठित हों या कम्पनी अथवा सरकारी विभाग के अन्तर्गत हो, संसद् के नियन्त्रण में होना चाहिए। इनको संसद् के प्रति उत्तरदायी होना चाहिए। लेकिन संसद् को भी इनके दैनिक कार्यों व साधारण सौदों (ordinary transactions) में हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए। ऐसे कार्यों में उद्योगों को पर्याप्त आन्तरिक स्वतन्त्रता दी जानी चाहिए। सरकार को महत्त्वपूर्ण बातों में ही हस्तक्षेप करना चाहिये। संसद् में उद्योगों की वार्षिक रिपोर्ट व खातों पर बहस होनी चाहिए।

(२) **संचालक मण्डल का चुनाव** :—सार्वजनिक उद्योगों का प्रबन्ध एक संचालक मण्डल द्वारा किया जाना चाहिए जिसमें उस उद्योग-विशेष का ज्ञान रखने वाले व्यक्तियों को सदस्य बनाया जाय। ऐसा करने से इनकी कार्य-कुशलता बढ़ सकेगी। निजी क्षेत्र के अनुभवी व्यक्तियों को भी संचालक मण्डल में लिया जाना चाहिए।

(२) **कार्य-कुशलता की जाँच (Efficiency Audit)** :—सार्वजनिक उद्योगों में प्रति-वर्ष कार्यकुशलता की जाँच की जानी चाहिए। ऐसा करने से इनकी त्रुटियों पर ध्यान दिया जा सकेगा और भविष्य में अधिकारी अधिक सावधानी से कार्य कर सकेंगे।

(४) **अन्य कर्मचारियों की नियुक्ति में सावधानी** :—अन्य कर्मचारियों की नियुक्ति में भी पर्याप्त सावधानी से काम लेना चाहिए। सरकारी विभागों के प्रशासकों को उद्योगों की व्यवस्था का अनुभव नहीं होता है, इसलिए विशेषज्ञ कर्मचारियों को औद्योगिक प्रबन्ध-सेवा (Industrial Management Service) के अन्तर्गत चुनना चाहिए और बाद में उनके प्रशिक्षण की व्यवस्था की जानी चाहिए। ऐसा करने से ही सार्वजनिक श्रेणी के उद्योगों को उच्च श्रेणी के कर्मचारी उपलब्ध हो सकेंगे।

(५) एक-इकाई कम्पनियों की प्रधानता (Single Unit Companies) :—राजकीय क्षेत्र के उद्योगों के संगठन के लिए यथासंभव एक-इकाई से सम्बन्धित कम्पनियों का निर्माण करना चाहिए। इससे विभिन्न संस्थाओं की कुशलता, उत्पादन व्यय आदि के सम्बन्ध में स्पष्ट जानकारी प्राप्त की जा सकती है।

विशेष अध्ययन-सूची

1. Govt. of India : India, 1971-72
2. Planning Commission : Programmes of Industrial Development (1961-66)

अध्याय : २८

भारत सरकार की औद्योगिक नीति

(Industrial Policy of the Govt of India)

औद्योगिक विकास में राज्य का महत्त्व (The Role of the State in Industrial Development) :—प्रारम्भ में राज्य का कार्य केवल बाहरी आक्रमण से देश की सुरक्षा तथा देश के अन्दर शान्ति कायम रखना ही समझा जाता था। उस समय लोगों की यह धारणा थी कि मनुष्य निजी स्वार्थ की भावना से प्रेरित होकर कोई भी कार्य स्वयं उत्तम तरीके से करता है। पुरातन अर्थशास्त्रियों ने भी इस मुक्त व्यापारवादी अर्थ-नीति (Laissez Faire or Free Trade Policy) को ही मान्यता प्रदान की। इन लोगों के अनुसार सरकार के हस्तक्षेप से व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का अपहरण होता है। किन्तु मानव-सभ्यता मे विकास के साथ-साथ राज्य के कार्यों में भी उत्तरोत्तर वृद्धि होती गयी। राजनीतिक कार्यों के साथ-साथ धीरे-धीरे राज्य का आर्थिक क्षेत्र में भी हस्तक्षेप बढ़ने लगा और आजकल तो हमारे समक्ष विश्व में एक ओर पूँजीवाद तथा दूसरी ओर साम्यवाद के दो निश्चित आर्थिक ढाँचे वर्तमान हैं। आर्थिक व्यवस्था के ये दोनों परस्पर विरोधी स्वरूप इस समय भी विश्व में जीते-जागते पाये जाते हैं। एक ओर रूस एवं चीन में साम्यवाद का साम्राज्य है तो दूसरी ओर संयुक्त-राज्य अमेरिका में पूँजीवाद का आधिपत्य। विश्व के अन्य राष्ट्रों में भी इन्हीं दोनों प्रकार की आर्थिक व्यवस्थाओं का पृथक्-पृथक् अथवा सम्मिलित रूप देखने को मिलता है। भारत में आज हमारा उद्देश्य पूँजीवादी आर्थिक व्यवस्था की जगह जनतंत्रात्मक समाजवाद (Democratic Socialism) का निर्माण करना है। सरकार इस आदर्श की प्राप्ति के लिए बहुत अधिक प्रयत्नशील है। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए उद्योग-धन्धों के क्षेत्र में राज्य का दायित्व दिन-प्रति-दिन बढ़ता जा रहा है।

स्वतंत्रता-प्राप्ति के पूर्व भारत सरकार की औद्योगिक नीति (Industrial Policy of the Govt. of India in the Pre-independence period) :—

औद्योगिक नीति एक बहुत ही व्यापक धारणा है तथा इसका अन्तर्गत उन सभी तरीकों, सिद्धान्तों, नीतियों तथा विधानों का समावेश रहता है जो किसी देश की औद्योगिक संस्थाओं को नियंत्रित करते हैं तथा उसके औद्योगीकरण के स्वरूप को निर्धारित करते हैं। इसमें वित्तीय एवं मौद्रिक नीतियों, प्रशुल्क नीति, श्रम-नीति, तथा वाह्य सहायता के साथ-साथ सार्वजनिक एवं निजी सरकार की स्थिति का समावेश रहता है। ब्रिटिश शासनकाल में देश के औद्योगिक विकास के लिए एक सुनिश्चित नीति का प्रारम्भ से ही अभाव था। ईस्ट इण्डिया कम्पनी के शासनकाल के प्रारम्भ में कम्पनी भारत के उन उद्योगों को प्रोत्साहन प्रदान करती थी जिन पर उसका निर्यात व्यापार आधारित था। किन्तु, इंगलैंड के उद्योगपतियों द्वारा कम्पनी की नीति के विरोध किये जाने पर इस नीति में आमूल परिवर्तन लाया गया तथा भारत को इंगलैंड के कारखानों के कच्चे माल की पूर्ति का एक साधन समझा जाने लगा। जब भारत का शासन कम्पनी के हाथ से ब्रिटिश क्राउन के हाथ में आया तो भी हमारे देश के प्रति ब्रिटिश सरकार की

नीति में कोई आमूल परिवर्तन नहीं हुआ। इंगलैण्ड में उस समय स्वतन्त्र-व्यापार (Laissez Faire) का युग था। भारत को भी बाध्य होकर इसी नीति का अनुकरण करना पड़ा। किन्तु, स्वतंत्र व्यापार की नीति का भारतीय उद्योगों पर बड़ा ही बुरा प्रभाव पड़ा।

प्रथम महायुद्ध के समय इस नीति में थोड़ा परिवर्तन हुआ। युद्ध की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए देश में कुछ विशेष प्रकार की वस्तुओं के उत्पादन को बढ़ाना आवश्यक समझा गया। अतः औद्योगिक क्षेत्र में राजकीय प्रोत्साहन की नीति का श्रीगणेश हुआ। १९१६ ई० में भारत सरकार ने देश की औद्योगिक सम्भावनाओं की जाँच के लिए एक औद्योगिक आयोग (Industrial Commission) की नियुक्ति की। आयोग ने देश के औद्योगिक विकास के लिए सरकारी प्रोत्साहन की भी सिफारिश की, किन्तु आयोग की सिफारिशों पर सरकार ने कुछ भी ध्यान नहीं दिया। परिणामस्वरूप। युद्ध समाप्त होने पर युद्धकाल में प्रारम्भ किये गये उद्योगों को विदेशी प्रतियोगिता का सामना करना पड़ा जिससे उनकी स्थिति बड़ी ही चिन्ताजनक हो गयी। १९१९ ई० के संवैधानिक सुधार के अनुसार उद्योग एक प्रान्तीय विषय बन गया तथा प्रान्तीय सरकारों को औद्योगिक विकास के लिए सहायता देने का अधिकार दिया गया। कुछ प्रान्तीय सरकारों द्वारा इस क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण कार्य भी किये गये। उदाहरण के लिए, मद्रास सरकार ने इस क्षेत्र में प्रशंसनीय कार्य किया, किन्तु भारत सरकार एवं सेक्रेटरी ऑफ स्टेट्स से प्रोत्साहन के अभाव में राज्य सरकारें इस क्षेत्र में बहुत आगे नहीं बढ़ सकीं।

द्वितीय युद्धकाल (१९३९-४५) में भी युद्ध की सामग्रियों के निर्माण के लिए सरकार द्वारा प्रयत्न प्रारम्भ किये गये। युद्धकाल में ईस्टर्न ग्रुप कान्फ्रेंस, ग्रेडी मिशन तथा अन्य कई समितियाँ उद्योग के विकास के लिए नियुक्त की गयीं। किन्तु इनका उद्देश्य देश का औद्योगिक विकास नहीं था। युद्ध ने देश के उद्योग-धन्धों को प्रोत्साहन अवश्य प्रदान किया, किन्तु सरकार द्वारा कोई भी ऐसा प्रयत्न नहीं किया गया जिससे युद्धकालीन विकास को स्थायी रूप दिया जा सके। युद्काल में ही देश के आर्थिक विकास के लिए युद्धोत्तरकालीन आर्थिक पुनर्निर्माण की योजनाओं की चर्चा हो रही थी। इस उद्देश्य में १९४३ ई० में भारत सरकार ने बहुत-सी औद्योगिक समितियों की नियुक्ति भी की तथा केन्द्र में एक योजना एवं विकास विभाग का निर्माण किया गया। युद्ध-समाप्ति (१९४५ ई०) के बाद सरकार ने औद्योगिक विकास के लिए कुछ प्रयत्न भी आरम्भ किया, किन्तु इन सब प्रयत्नों से कोई विशेष लाभ नहीं हुआ।

स्वतंत्रता-प्राप्ति के बाद औद्योगिक नीति (Industrial Policy after the Independence) :—इस प्रकार ब्रिटिश शासनकाल में भारत के औद्योगिक विकास के लिए कोई सुदृढ़ एवं सुनिश्चित औद्योगिक नीति नहीं अपनायी गयी। फलस्वरूप भारत औदयोगिक दृष्टि से एक पिछड़ा राष्ट्र बन गया। भारत के इस औदयोगिक पिछड़ेपन का प्रमुख कारण उद्योग-धन्धों के प्रति सरकार की उदासीनता थी। किन्तु स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद राष्ट्रीय सरकार देश के औदयोगिक विकास के लिए बहुत ही प्रयत्नशील है।

१९४८ ई० की औदयोगिक नीति

(Industrial Policy of 1948)

स्वतन्त्रता-प्राप्ति के एक वर्ष से कम ही समय में ६ अप्रैल, १९४८ ई० को भारत सरकार के तत्कालीन उद्योग मन्त्री, स्वर्गीय डा० श्यामा प्रसाद मुखर्जी ने भारतीय संसद् के सम्मुख औदयोगिक नीति-सम्बन्धी प्रस्ताव को रखा।

१९४८ ई० की औद्योगिक नीति की निम्नलिखित प्रमुख विशेषताएँ हैं :-

उद्योग-धन्धों का चार वर्गों में विभाजन (Division of industries into four broad categories) :—१९४८ ई० की औद्योगिक नीति के अनुसार देश के उद्योग-धन्धों को निम्नलिखित चार वर्गों में विभाजित किया गया :—

(क) प्रथम वर्ग में अस्त्र-शस्त्र का निर्माण, अणु-शक्ति का उत्पादन एवं नियन्त्रण तथा रेलवे यातायात जैसे महत्त्व के उद्योग (Defence and strategic industries) थे, जिन पर सरकार का पूर्ण एकाधिकार (Exclusive monopoly of State) होगा।

(ख) द्वितीय वर्ग में कोयला, लोहा एवं इस्पात, वायुयान एवं जलयान के यन्त्र का निर्माण, टेलीफोन, तार और बेतार आदि का निर्माण जैसे प्रमुख एव आधारभूत उद्योग (Basic and key industries) थे जो सरकारी नियन्त्रण के क्षेत्र (Government controlled sphere) में रहेंगे। इनके भावी विकास के लिए सरकार स्वयं जिम्मेदार होगी। किन्तु इस वर्ग के उद्योगों के विकास के लिए सरकार निजी क्षेत्र के उद्योगपतियों से भी आवश्यकतानुसार सहयोग की मांग कर सकती है। इस क्षेत्र के वर्तमान उत्पादकों को १० वर्षों तक स्वतन्त्रता पूर्वक कार्य करने दिया जायगा और इसके बाद इनकी स्थिति का निरीक्षण किया जायगा। किन्तु इस वर्ग के सरकारी उद्योगों का प्रबन्ध सार्वजनिक निगमों (Public Corporations) द्वारा किया जायगा।

(ग) तीसरी श्रेणी में वे बीस अन्य प्रमुख उद्योग-धन्धे रखे गये जो निजी व्यवस्था के अन्तर्गत रहेंगे, परन्तु जिन पर सरकार का नियमन एवं नियन्त्रण (Controlled and regulated by the State) रहेगा। इस वर्ग के प्रमुख उद्योग नमक, मोटर ट्रैक्टर, इलेक्टिकल, इंजीनियरिंग, भारी रसायन, खाद, औषधियाँ, रसायन-सम्बन्धी उद्योग, पावर अल्कोहल, रबर का निर्याण, सूती एवं ऊनी वस्त्र उद्योग, सीमेंट, चीनी, कागज और जल यातायात, खनिज-व्यवसाय तथा सुरक्षा सम्बन्धी व्यवसाय आदि हैं। इस श्रेणी के उद्योग राष्टीय महत्त्व के हैं।

(४) चौथे वर्ग में शेष सभी उद्योग थे जो पूर्णत: निजी क्षेत्र द्वारा व्यवस्थित किये जायँगे। किन्तु इन उद्योगों पर भी सरकार का सामान्य रूप से नियन्त्रण (General control of the State) रहेगा।

(ii) कुटीर एवं लघु उद्योग-धन्धों का महत्त्व (Importance of the Cottage and Small Scale industries)—इस औद्योगिक नीति के अन्तर्गत देश की आर्थिक व्यवस्था में कुटीर एवं लघु उद्योगों को भी महत्त्वपूर्ण स्थान दिया गया था। अत: सरकार द्वारा इन उद्योगों के विकास के प्रयत्न को आवश्यक बतलाया गया। किन्तु कुटीर एवं लघु उद्योगों का विकास बड़े उद्योगों के प्रतियोगी के रूप में नहीं, वरन् इनके पूरक के रूप में करने पर जोर दिया गया था। इस उद्देश्य से केन्द्रीय सरकार द्वारा कुटीर एवं लघु उद्योगों तथा वृहत् प्रमाप उद्योगों में समन्वय स्थापित करने का प्रयत्न किया जायगा। साथ ही, इन उद्योगों के विकास में सहकारिता का अधिकाधिक सहारा लेने का निश्चय किया गया तथा इस उद्देश्य से औद्योगिक सहकारी समितियों के निर्माण को प्रोत्साहित करने पर जोर देने की व्यवस्था की गयी।

(ii) उत्तम औद्योगिक सम्बन्ध (Better Industrial Relations) :—औद्योगिक नीति में इस बात पर भी जोर दिया गया था कि अधिकतम औद्योगिक उत्पादन के लिए उत्तम

औद्योगिक सम्बन्ध अनिवार्य है। अतः सरकार द्वारा श्रमिकों की स्थिति सुधारने पर भी जोर दिया जायगा। सरकार इस बात पर भी ध्यान देगी कि श्रमिकों को लाभ का एक हिस्सा दिया जाय तथा उन्हें व्यवसाय में भाग लेने का अधिकाधिक मौका प्रदान किया जाय। श्रमिकों के हितार्थ आवास की समुचित व्यवस्था के लिए भी सरकार प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से सहायता करेगी।

(v) विदेशी पूँजी का उपयोग (Use of Foreign Capital) :—विदेशी पूँजी के सम्बन्ध में उक्त नीति में यह कहा गया था कि भारत विदेशी पूँजी तथा विदेशी साहस का उपयोग करने के लिए सहर्ष प्रस्तुत है। किन्तु १९४८ ई० की औद्योगिक नीति-सम्बन्धी प्रस्ताव में यह स्पष्ट कर दिया गया कि विदेशी कम्पनियों को भारतीय विशेषज्ञ प्रशिक्षित करने पड़ेंगे। साथ ही, विदेशी पूँजी का नियन्त्रण भारतीय हाथों में ही रहेगा। (A a rule, the major interest in ownership and effective control should always be in Indian hands; but power will be taken to deal with exceptional cases in a manner calculated to serve the national interest. In all cases, however, the training of suitable Indian personnel for the purpose of eventually replacing foreign experts, will be insisted upon.) इनका राष्ट्रीयकरण होने पर उन्हें उचित मुआवजा भी दिया जायगा।

(v) कर-नीति (Taxation Policy) :—उक्त नीति में देश की कर-प्रणाली के सम्बन्ध में भी यह घोषणा की गयी कि देश की कर-प्रणाली ऐसी होगी जिसके द्वारा बचत एवं विनियोग को प्रोत्साहन मिलेगा। साथ ही, कर-प्रणाली इस प्रकार की होगी जिसमें समाज में धन एवं आय के वितरण की विषमता को भी कम किया जा सके।

(vi) प्रशुल्क नीति (Tariff Policy) :—प्रशुल्क नीति के सम्बन्ध में इस नीति में यह आश्वासन दिया गया था कि देश की प्रशुल्क नीति अनुचित विदेशी प्रतियोगिता को रोकेगी तथा उपभोक्ता पर बोझ डालने देश के आर्थिक साधनों के समुचित उपयोग करने में सहायक होगी। (Tariff policy will be designed to prevent unfair foreign competition and promote the utilisation of India's resources withont imposing unjustifiable burdens on the consumers.)

१९४८ ई० की औद्योगिक नीति का मूल्यांकन

(An Appraisal of the 1948 Industrial Policy)

भारत सरकार की १९४८ ई० की औद्योगिक नीति का मुख्य उद्देश्य देश में एक मिश्रित आर्थिक व्यवस्था (Mixed Economy) का निर्माण था। इस नीति में ऐसी व्यवस्था के निर्माण का आयोजन था जिसमें सार्वजनिक तथा निजी, दोनों क्षेत्र साथ-साथ मिल-जुल कर काम करेंगे। कुछ उद्योग-धन्धों पर केवल राज्य का अधिकार होगा, कुल उद्योग-धन्धों में राज्य तथा निजी उपक्रमियों दोनों का हाथ रहेगा तथा कुछ उद्योग-धन्धे केवल निजी क्षेत्रों के लिए छोड़ दिये गये। इस प्रकार उक्त नीति ने उद्योग-धन्धों को तीन क्षेत्रों में रखा —(क) राज्य-अधिकृत क्षेत्र, (ख) राज्य-नियन्त्रित क्षेत्र, तथा (ग) निजी क्षेत्र। वास्तव में इस प्रकार का क्षेत्र-विभाजन उस समय की परिस्थितियों के लिए सर्वोत्तम था। कारण यह है कि स्वतन्त्रता-प्राप्ति के उपरान्त सरकार के पास पर्याप्त मात्रा में साधन नहीं थे जिससे बड़े पैमाने पर उद्योगों का राष्ट्रीयकरण सम्भव नहीं था। हमारे देश में सरकार के पास पूँजी, कुशल कर्मचारी एवं अनुभवी संचालकों

की बड़ी कमी थी। ऐसी स्थिति में सरकार के लिए मध्यम मार्ग का अवलम्बन ही लाभप्रद था, अर्थात् आवश्यक उद्योगों का राष्ट्रीयकरण किया जाय तथा अन्य उद्योगों पर सरकार केवल सामान्य नियन्त्रण रखे।

फिर भी, १९४८ ई० की औद्योगिक नीति की कई बातों को लेकर आलोचना की जाती है। सर्वप्रथम तो यह नीति ऐसे समय में प्रस्तुत की गयी थी जबकि देश के समक्ष आर्थिक विकास की एक समुचित योजना का अभाव था। यह ऐसे समय में घोषित की गयी थी जबकि देश में उद्योग-धन्धों के राष्ट्रीयकरण की भावना अति प्रबल थी। अतएव इस नीति में आधारभूत उद्योगों के राष्ट्रीयकरण की अनावश्यक धमकी वर्तमान थी। दूसरे वर्ग के उद्योग-धन्धों के सम्बन्ध में उक्त नीति में इस बात की घोषणा की गयी कि १० वर्षों के बाद सरकार द्वारा इस क्षेत्र के उद्योगों की स्थिति का निरीक्षण किया जायगा। इस धमकी से निजी क्षेत्र में राष्ट्रीयकरण की आशंका व्याप्त हो गयी जिसका उद्योग-धन्धों पर बहुत बुरा प्रभाव पड़ा। पूँजीपति उद्योग-धन्धों से उदासीन हो गये तथा इन्होंने पूँजी का विनियोग बन्द कर दिया। इसके फलस्वरूप निजी क्षेत्र में पूँजी का निर्माण (Capital formation) कम हो गया तथा आधारभूत एवं मुख्य उद्योगों के क्षेत्रों में यन्त्रों एवं उपकरणों के विस्तारीकरण एवं पुनर्स्थापन में भारी रुकावट उत्पन्न हो गयी। (This threat of nationalisation after ten years unnerved the private enterpreneurs, retarded capital formation in the private sector and postponed expansion and replacement of plants and equipments in the sphere of basic and heavy industries.) अतः इस औद्योगिक नीति की घोषणा के दो वर्ष बाद सरकार को यह स्पष्ट रूप से कहने के लिए बाध्य होना पड़ा कि १० वर्षों के उपरान्त भी आधारभूत एवं मुख्य उद्योगों की सभी इकाइयों का राष्ट्रीयकरण सरकार के लिए शायद सम्भव नहीं होगा। उक्त नीति का यह सबसे बड़ा दोष था। वास्तव में, औद्योगिक नीति की घोषणा के समय सरकार के समक्ष देश के आर्थिक विकास की कोई निश्चित रूप-रेखा नहीं थी। १९४८ ई० की औद्योगिक नीति का दूसरा सर्वाधिक प्रमुख दोष नीति एवं विकास की प्रक्रिया में समायोजन का अभाव था। जिस समय इस औद्योगिक नीति की घोषणा की गयी थी उस समय सरकार के सम्मुख देश के औद्योगिक विकास की कोई निश्चित योजना नहीं थी। अतएव इससे औद्योगिक विकास की निश्चित योजना की शुरुआत में कोई सहायता नहीं मिल सकी।

डा० वी० के० आर० वी० राव ने इस नीति के सम्बन्ध में ठीक ही कहा है कि "यह नीति न तो उद्योगों के कप्तान को संतुष्ट कर सकी, न इसके विनियोजकों, औद्योगिक श्रमिकों एवं आम जनता को ही। वास्तव में, उत्पादन में किसी भी प्रकार की महत्त्वपूर्ण वृद्धि के लिए जिस उत्साह एवं प्रगतिशीलता की आवश्यकता थी; उसे प्रदान करने में यह पूर्णतया असफल रही।" (The policy satisfied neither the captains of industries, nor investors, nor the industrial workers, nor the general public....(It) failed to provide the dynammism and the positive stimulus required for any significant increase in production.)

फिर भी, उक्त नीति का सबसे बड़ा गुण यह था कि इसने देश में मिश्रित आर्थिक व्यवस्था एक ऐसी आर्थिक व्यवस्था, जिसमें सार्वजनिक तथा निजी दोनों वर्गों के उद्योगों के पृथक्-

पृथक् क्षेत्र होंगे, के निर्माण के लिए मार्ग को प्रशस्त बनाया। इसी मिश्रित आर्थिक व्यवस्था को आधार मानकर भारत की पंचवर्षीय योजनाओं के अन्तर्गत औद्योगिक विकास के कार्यक्रम निर्धारित किये गये थे।

औद्योगिक (विकास एवं नियमन) अधिनियम, १९५१

[Industries (Development & Regulation) Act, 1951]

उक्त औद्योगिक नीति पर अमल करने तथा निजी क्षेत्र के नियन्त्रित विकास के उद्देश्य से भारत सरकार ने १९५१ ई० में एक औद्योगिक (विकास एवं नियमन) अधिनियम तैयार किया जो मई, १९५२ ई० में लागू किया गया। प्रथम सूची में प्रकाशित ३७ उद्योगों पर यह अधिनियम लागू होता है। मई, १९५३ ई० में इस अधिनियम में संशोधन किया गया जिसके अनुसार इसे ४५ उद्योगों पर लागू किया गया। इस अधिनियम के अन्तर्गत राष्ट्रीय महत्त्व के प्रायः सभी उद्योग आते हैं। इस अधिनियम के अनुसार निजी क्षेत्र के उद्योगों के नियमन एवं नियन्त्रण के लिए सरकार को बहुत ही विस्तृत अधिकार दिये गये हैं। इसकी निम्नलिखित प्रमुख विशेषताएँ[1] हैं:—

(क) अनुसूचित उद्योगों में सभी उद्योगों की वर्त्तमान इकाइयों को एक निश्चित समय के अन्दर रजिस्ट्री करानी होगी। साथ ही, भारत सरकार से लाइसेंस प्राप्त किये बगैर अनुसूचित उद्योगों के क्षेत्र में कोई भी नया कारखाना नहीं स्थापित किया जा सकता और न वर्तमान कारखानों का विस्तार ही हो सकता है।

(ख) यदि सरकार यह समझती है कि किसी अनुसूचित उद्योगों के उत्पादन की नीति एवं क्रिया में कोई ऐसी कमी आ गयी है जिसका औचित्य नहीं किया जा सकता तथा किसी उद्योग की वस्तुओं के मूल्य में अनुचित वृद्धि हो रही है तो वह उस उद्योग की स्थिति की जाँच का आदेश दे सकती है। यदि कोई उद्योग जाँच के बाद दिये गये आदेशों का पालन नहीं करता तो सरकार उसका प्रबन्ध अपने हाथ में ले सकती है।

(ग) अनुसूचित उद्योगों के विकास एवं नियमन-सम्बन्धी मामलों पर सरकार को उचित परामर्श देने के लिए एक 'केन्द्रीय सलाहकार परिषद्' (Central Advisory Council) की स्थापना की गयी जिसमें मिल-मालिकों, कर्मचारियों, उपभोक्ताओं तथा दूसरे वर्ग के प्रतिनिधि शामिल हैं।

(घ) अधिनियम में इस बात पर भी जोर दिया गया कि प्रत्येक प्रमुख वर्ग के उद्योगों के लिए एक विकास परिषद् (Development Council) की स्थापना की जाय जिसमें उद्योग-पतियों, श्रमिकों एवं उपभोक्ताओं के प्रतिनिधियों के साथ-साथ उद्योग विशेष से सम्बन्ध रखनेवाले कुछ विशेषज्ञ भी होंगे। ये विकास-परिषदें पंचवर्षीय योजना में निजी क्षेत्र के लक्ष्यों के सम्बन्ध में सिफारिश करेंगी। साथ ही, वस्तुओं की किस्म में सुधार एवं उद्योग की उत्पादन-शक्ति में वृद्धि, लघु उद्योगों के साथ समन्वय तथा वैज्ञानिक एवं औद्योगिक अनुसंधान के सम्बन्ध में भी ये सिफारिश करेंगी। बहुत-से उद्योगों के लिए इस प्रकार की परिषदों की स्थापना भी की गयी है।

---

१. प्रथम पंचवर्षीय योजना, पृ० २४५।

औद्योगिक (विकास एवं नियमन) अधिनियम का देश के औद्योगीकरण पर प्रभाव :--८ मई, १९५२ ई० से यह अधिनियम लागू है। इस अधिनियम के अनुसार अब तक उद्योग-धन्धों के सम्बन्ध में सरकार को सलाह देने के लिए एक केन्द्रीय सलाहकार-परिषद् (Central Advisory Council), एक लाइसेंसिंग समिति तथा बहुत-सी विकास-परिषदों की स्थापना हुई है। इन विभिन्न प्रकार की संस्थाओं ने देश के औद्योगीकरण को निस्संदेह प्रोत्साहित किया है। केन्द्रीय सलाहकार परिषद् ने कुछ प्रमुख उद्योग-धन्धों के सम्बन्ध में सरकार को समय-समय पर बहुमूल्य सुझाव भी प्रदान किये हैं। विकास परिषदों का कार्य भी सुचारु रूप से चल रहा है तथा इन्होंने उत्पादन एवं व्यवस्था के सम्बन्ध में महत्त्वपूर्ण सहयोग प्रदान किया है। इन परिषदों की बैठक समय-समय पर होती है जिनमें प्रत्येक उद्योग की विभिन्न समस्याओं पर विचार किया जाता है।

इस प्रकार इस अधिनियम का देश के औद्योगीकरण पर बड़ा ही गुणकारी प्रभाव पड़ा है। भारत जैसे अर्द्ध-विकसित आर्थिक वाले देश में उद्योगों के विकास के लिए एक निश्चित योजना की बड़ी आवश्यकता है। औद्योगिक (विकास एवं नियमन) अधिनियम राज्य को ऐसे अधिकार प्रदान करता है जिससे देश संतुलित औद्योगिक विकास की ओर अग्रसरित हो सके। लाइसेंसिंग प्रथा के कारण उद्योगपति अब अपनी इच्छानुसार कहीं कोई संस्था नहीं स्थापित कर सकते। किन्तु, इस अधिनियम के विपक्ष में भी बहुत-सी बातें कही जाती हैं। कुछ लोगों का कहना है कि इस अधिनियम के कारण निजी क्षेत्र पर सरकार का नियन्त्रण बहुत बढ़ गया है जिससे पूँजी की प्राप्ति में कठिनाई होती है। किन्तु, देश के आयोजित आर्थिक विकास के लिए थोड़ी-बहुत मात्रा में सरकारी नियन्त्रण अनिवार्य होता है। कुछ आलोचकों का कहना है कि लाइसेंस प्रदान करने में सरकार खुले दिल से काम नहीं लेती है। साथ ही, लाइसेंसिंग समिति के अन्तर्गत भी बहुत से दोष आ गये हैं। इन बुराइयों को दूर करने के लिए यह सुझाव दिया जा सकता है कि केन्द्रीय सलाहकार परिषद् द्वारा समय-समय पर इन उद्योगों की स्थिति की जाँच की जानी चाहिए। इस समिति की जगह पर कुछ लोग ब्रिटेन के 'बोर्ड ऑफ ट्रेड' के आधार पर उद्योगों के नियन्त्रण के लिए एक Board of Control for Industries बनाने की राय भी देते हैं। इस प्रकार के बोर्ड बनाने से निजी क्षेत्र को निस्संदेह बहुत अधिक लाभ की आशा की जाती है।

भारत सरकार की १९५६ ई० की औद्योगिक नीति

(Industrial Policy of 1956)

औद्योगिक नीति में परिवर्त्तन की आवश्यकता :—भारत सरकार ने ६ अप्रैल, १९४८ ई० को अपनी प्रथम औद्योगिक नीति की घोषणा की थी। १९५६ ई० तक औद्योगिक नीति के प्रायः ८ वर्ष समाप्त हो चुके थे। इन आठ वर्षों में भारत की राजनैतिक एवं आर्थिक व्यवस्था में निम्नांकित महत्त्वपूर्ण परिवर्तन हुए थे जिनके फलस्वरूप औद्योगिक नीति में परिवर्तन की आवश्यकता पड़ी :—

(१) सर्वप्रथम तो २६ जनवरी, १९५० को भारत सरकार का नया संविधान लागू हुआ जिसमें कुछ मौलिक अधिकारों की गारन्टी प्रदान की गयी तथा राज्य के नीति-निर्देशक तत्त्वों (Directive Principles of State Policy) का उल्लेख किया गया।

(२) देश में आर्थिक नियोजन का कार्य संगठित ढंग से आरम्भ किया गया एवं ३१ मार्च, १९५६ ई० को प्रथम पंचवर्षीय योजना का कार्य समाप्त हुआ एवं १ अप्रैल, १९५६ ई० से द्वितीय पंचवर्षीय योजना का कार्य प्रारम्भ हुआ।

(३) साथ ही, दिसम्बर, १९५४ ई० में भारतीय संसद् ने देश में 'समाजवादी ढाँचे की सामाजिक व्यवस्था' (Socialist Pattern of Society) का निर्माण अपनी सामाजिक तथा आर्थिक नीति के आदर्श के रूप में स्वीकार किया।

(४) और अन्ततः, द्वितीय पंचवर्षीय योजना में उद्योग-धन्धों के विकास को उच्च प्राथमिकता प्रदान की गयी थी।

इन परिवर्तनों के फलस्वरूप देश के लिए नयी औद्योगिक नीति की घोषणा अनिवार्य हो गयी। साथ ही, इन उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए यह आवश्यक हो गया कि देश में आर्थिक विकास की गति को तीव्रतर बनाया जाय तथा भारी एवं यन्त्र-उत्पादक उद्योगों का विकास किया जाय, सरकारी क्षेत्र का विस्तार किया जाय तथा बड़े एवं वृद्धिशील सहकारी क्षेत्र का निर्माण किया जाय। ये अधिकांश व्यक्तियों के लिए लाभप्रद तरीके से रोजगार के अवसर बढ़ाने एवं रहन-सहन के स्तर तथा कार्य की दशाओं में सुधार के लिए सुदृढ़ आर्थिक आधार प्रदान करेंगे। साथ ही, आय तथा धन के वितरण में व्याप्त विषमता को कम करना, पूँजीपतियों के एकाधिकार को समाप्त करना तथा विभिन्न क्षेत्रों में कुछ ही व्यक्तियों के हाथों में आर्थिक शक्ति के केन्द्रीकरण को रोकना अति आवश्यक था। अतः राज्य नयी औद्योगिक संस्थाओं की स्थापना तथा यातायात की अधिकाधिक सुविधाएँ प्रदान करने में धीरे-धीरे अधिक भाग लेगा। इनके अतिरिक्त, राज्य अधिकाधिक मात्रा में व्यापार भी अपने हाथ में ले लेने का प्रयत्न करेगा। किन्तु इन सबके साथ ही देश की विकासोन्मुख आर्थिक व्यवस्था में निजी क्षेत्र को भी विकास तथा विस्तार का पर्याप्त अवसर प्रदान किया जायगा। 'समाजवादी ढाँचे की सामाजिक व्यवस्था' के आदर्श की प्राप्ति एवं द्रुतगति से देश के आर्थिक विकास के लिए यह आवश्यक हो जाता है कि सभी आधारभूत एवं सुरक्षा-संबंधी उद्योग तथा जनहित-सम्बन्धी सेवाएँ सरकारी क्षेत्र के अधीन रहें। अन्य प्रकार के आवश्यक उद्योगों को भी, जिनके लिए निजी क्षेत्र के पास आवश्यक साधन मौजूद नहीं हैं, सरकारी क्षेत्र में रखा जाना चाहिए। इस प्रकार राज्य को अधिकाधिक मात्रा में उद्योगों के भावी विकास का दायित्व अपने ऊपर लेना पड़ेगा। फिर भी, वर्तमान परिस्थितियों में सरकारी क्षेत्र को निश्चित करना आवश्यक हो जाता है। अतः राज्य के दायित्व को ध्यान में रखते हुए सरकार ने ३० अप्रैल, १९५६ ई० को अपनी नयी औद्योगिक नीति की घोषणा की। यह नीति नये संविधान के सिद्धान्तों, समाजवादी व्यवस्था के उद्देश्यों तथा गत कुछ वर्षों में प्राप्त अनुभवों पर आधारित है।

१९५६ ई० की औद्योगिक नीति की निम्नलिखित प्रमुख विशेषताएँ हैं :—

(i) उद्योग-धन्धों का तीन वर्गों में विभाजन (Division of Industries into three broad categories) :—नयी औद्योगिक नीति के अनुसार उद्योग-धन्धों को निम्नलिखित तीन वर्गों में विभाजित किया गया है :—

(१) प्रथम श्रेणी में वे उद्योग हैं, भविष्य में जिनके विकास का पूरा दायित्व सरकार पर है। (Industries whose future development will be the exclusive responsibility of the State.) इस श्रेणी के अन्तर्गत १७ उद्योग हैं जिनमें अस्त्र-शस्त्र (Arms and ammunitions) का निर्माण, परमाणु-शक्ति (Atomic energy) का विकास, लोहा एवं इस्पात, भारी यन्त्र, कोयला खनिज तेल, वायुयान का निर्माण, वायु एवं रेलवे यातायात, जलयान निर्माण, टेलीफोन निर्माण, जल-विद्युत का वितरण आदि सम्मिलित हैं। इस वर्ग के उद्योगों में सभी नये उद्योग सरकारी क्षेत्र में ही प्रारम्भ किये जायेंगे। किन्तु, इसका अर्थ यह नहीं कि निजी क्षेत्र की वर्तमान इकाइयों के विकास पर अथवा नये कारखानों की स्थापना में निजी क्षेत्र से सहयोग प्राप्त करने पर किसी तरह की रुकावट होगी। हाँ, अस्त्र-शस्त्र, अणु-शक्ति के विकास तथा रेलवे एवं हवाई यातायात पर केवल केन्द्रीय सरकार का ही एकाधिकार होगा। साथ ही, आवश्यकता पड़ने पर राज्य या तो अधिकांश पूँजी प्रदान कर अथवा उद्योग-धन्धों के संचालन एवं नीति पर नियन्त्रण रखकर निजी क्षेत्र से सहयोग प्राप्त करेगा।

इस प्रकार नयी नीति के प्रथम वर्ग के अन्तर्गत १९४८ ई० की औद्योगिक नीति के प्रथम एवं द्वितीय दो वर्गों को मिलाकर एक कर दिया गया। ऐसा वास्तव में उचित जान पड़ता है क्योंकि द्वितीय तथा आगे आनेवाली पंचवर्षीय योजनाओं में देश के औद्योगीकरण में राज्य का दायित्व बढ़ता ही जायगा। किन्तु, १९४८ ई० की नीति की तुलना में नयी औद्योगिक नीति में इस वर्ग के वर्तमान निजी उत्पादकों को भी स्वतन्त्रतापूर्वक कार्य करने का अवसर प्राप्त होगा।

(२) द्वितीय श्रेणी के अन्तर्गत १२ उद्योग-धन्धे रखे गये हैं जिन्हें धीरे-धीरे सरकार के स्वामित्व में लाया जायगा। (Industries which will be progressively State-owned.) भविष्य में इन उद्योगों के द्रुत विकास के लिए सरकार इस क्षेत्र में अधिक नये कारखानों की स्थापना करेगी। इस श्रेणी के अन्तर्गत अल्मुनियम, फेरो एलोयाज, एन्टी-बॉयटिक, खान, कृत्रिम रबर रासायनिक पल्प तथा सड़क एवं समुद्री यातायात विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इस श्रेणी के उद्योगों में सार्वजनिक तथा निजी क्षेत्र में सहयोग पर पूरा-पूरा जोर दिया गया है, । राज्य स्वयं इस क्षेत्र में अधिक-से-अधिक कारखानों की स्थापना का प्रयास करेगा। किन्तु, साथ ही, निजी क्षेत्र को भी विकास का पूरा-पूरा अवसर प्रदान किया जायगा। इस प्रकार द्वितीय श्रेणी के उद्योगों के विकास में मिश्रित आर्थिक व्यवस्था पर जोर दिया गया है। इस क्षेत्र के बहुत-से उद्योग विकासोन्मुख आर्थिक व्यवस्था के अन्तर्गत आधारभूत महत्त्व के हैं, अतः, निजी क्षेत्र की अनुपस्थिति में नये कारखानों की स्थापना का दायित्व ग्रहण करना सरकार द्वारा अति आवश्यक है।

(३) शेष सभी उद्योग (All the remaining Industries) को तीसरी श्रेणी में रखा गया है जिनका विकास सामान्यतः निजी क्षेत्र के प्रयत्नों द्वारा किया जायगा। (Industries whose future development will be left to the initiative and enterprise of the private sector.) इस नीति की तीसरी श्रेणी की तुलना १९४८ ई० की औद्योगिक नीति की

चौथी श्रेणी के साथ की जा सकती है। नयी औद्योगिक नीति में इस बात पर जोर दिया गया है कि सरकार इन उद्योगों के सहायतार्थ, यातायात, शक्ति के साधन एवं अन्य सेवाओं का विकास करेगी तथा इन्हें वित्तीय सहायता प्रदान करने के लिए विशेष वित्तीय संस्थाओं की स्थापना करेगी। किन्तु, निजी क्षेत्र से भी यह आशा की जाती है कि वह पंचवर्षीय योजनाओं में निर्धारित कार्यक्रम के अनुसार कार्य करने का प्रयास करेगा तथा औद्योगिक (विकास एवं नियमन) अधिनियम के उपबन्धों को मानने के लिए तैयार होगा। इस क्षेत्र के उद्योगों के सम्बन्ध में भी उक्त नीति में यह घोषणा की गयी है कि सरकार जनहित एवं पंचवर्षीय योजनाओं के सफल संपादन के लिए आवश्यकतानुसार तीसरी श्रेणी में भी नये कारखाने स्थापित कर सकती है।

इस प्रकार १९५६ ई० की औद्योगिक नीति में उद्योग-धधों को नये सिरे से उक्त तीन श्रेणियों में विभाजित किया गया है। इस विभाजन से यह स्पष्ट है कि देश के औद्योगिक विकास में राज्य का दायित्व बढ़ता जा रहा है। साथ ही, इस नीति के अनुसार निजी क्षेत्र को भी यथासम्भव विकास का अवसर दिया गया है। किन्तु, निजी क्षेत्र की औद्योगिक संस्थाओं को राज्य की सामाजिक एवं आर्थिक नीति के सामान्य ढाँचे के अनुसार ही कार्य करना होगा। साथ ही, उन पर औद्योगिक (विकास एवं नियमन) अधिनियय तथा अन्य सम्बन्धित सन्नियमों का नियन्त्रण होगा। पर सरकार भी उन्हें सहायता देने के लिए सदा तत्पर रहेगी। जब किसी उद्योग में निजी तथा सरकारी दोनों प्रकार की संस्थाएँ वर्तमान होंगी तो सरकार यह प्रयत्न करेगी कि दोनों के साथ यथासम्भव समानता का बर्ताव किया जाय।

(ii) **उद्योगों का विभिन्न श्रेणियों में विभाजन पूर्ण नहीं है** (**Industrial categories are not like watertight compartments**) :—परन्तु उद्योगों के इस प्रकार पृथक्-पृथक् तीन श्रेणियों में विभाजन का आशय यह नहीं है कि ये एक दूसरे से बिल्कुल अलग होंगे। विशेष परिस्थितियों में उपरोक्त निर्धारित विभाजन में परिवर्तन भी किया जा सकता है। उदाहरण के लिए। कुछ उद्योग दो या दो से अधिक श्रेणियों में भी रखे जा सकते हैं। सरकार जन-हित एवं योजनाकरण की आवश्यकताओं को ध्यान में भी रखते हुए तीसरी श्रेणी में भी नये-नये कारखानों की स्थापना कर सकती है। इसी प्रकार विशेष परिस्थितियों में पूँजीपतियों को भी प्रथम श्रेणी के उद्योगों में भाग लेने की अनुमति दी जा सकती है। १९५६ की नीति की यह प्रधान विशेषता है।

(iii) **निजी क्षेत्र के साथ उचित बर्ताव** (Fair and non-discriminatory treatment of the private sector) :—१९५६ ई० की औद्योगिक नीति में इस बात पर भी जोर दिया गया है कि सरकार निजी क्षेत्र के साथ उचित व्यवहार रखेगी जिससे इनके स्वस्थ विकास को प्रोत्साहन मिले। इस उद्देश्य से आनेवाली पंचवर्षीय योजनाओं में यातायात, शक्ति तथा अन्य सेवाओं के विकास एवं उचित वित्तीय नीति के द्वारा निजी क्षेत्र के विकास को प्रोत्साहित किया जायगा। इन्हें वित्तीय सहायता प्रदान करने के लिए राज्य वित्तीय संस्थाओं की स्थापना में भी सहयोग प्रदान करेगी। साथ ही, सहकारिता के आधार पर निर्मित औद्योगिक संगठनों को विशेष रूप से प्रोत्साहित किया जायगा। उचित हालतों में राज्य निजी क्षेत्र को आवश्यक वित्तीय सहायता भी प्रदान करेगा, किन्तु यदि इस प्रकार की वित्तीय सहायता की मात्रा अधिक है तो राज्य की सहायता सम्बन्धित संस्थाओं की हिस्सा पूँजी में भाग के रूप में ही होगी। किन्तु निजी क्षेत्र को भी राज्य द्वारा निर्धारित सामाजिक एवं आर्थिक नीति के अनुरूप अपने को समन्वित करना

होगा। यदि एक ही उद्योग में सार्वजनिक एवं निजी दोनों प्रकार की संस्थाएँ हैं, तो राज्य की नीति दोनों को उचित सहायता प्रदान करने की होगी।

(iv) वृहत् तथा कुटीर एवं लघु उद्योग-धन्धों के विकास का समन्वय (Co-ordination of the development of small scale industries with large scale industries) :—१९५६ ई० की औद्योगिक नीति-सम्बन्धी प्रस्ताव में कुटीर एवं लघु उद्योगों के विकास पर भी जोर दिया गया है। उक्त नीति के अनुसार देश की आर्थिक व्यवस्था में इन उद्योगों का कई कारणों से महत्त्वपूर्ण स्थान है। इन उद्योगों द्वारा शीघ्र एवं बड़े पैमाने पर रोजगार प्रदान किया जा सकता है, राष्ट्रीय आय के वितरण को अधिक समान बनाया जा सकता है तथा पूँजी एवं निपुणता का प्रभावपूर्ण तरीके से उपयोग किया जा सकता है। साथ ही, इन उद्योगों के विकास के द्वारा केन्द्रीयकरण की बुराइयाँ भी दूर की जा सकती हैं। अतः, औद्योगिक नीति-सम्बन्धी प्रस्ताव में इस बात पर जोर दिया गया है कि सरकार यथासम्भव लघु उद्योगों की प्रतियोगिता की शक्ति में वृद्धि का प्रयत्न करेगी। साथ ही, राज्य द्वारा लघु उद्योग एवं वृहत् पैमाने के उद्योगों में समन्वय स्थापित करने का प्रयास किया जायगा। इनके विकास के लिए सरकार बड़े पैमाने के उद्योगों की उत्पादन-शक्ति को सीमित करेगी तथा इन्हें वित्तीय सहायता प्रदान करेगी। वास्तव में, कुटीर एवं लधु उद्योगों के सम्बन्ध में इस प्रकार की नीति का आधार द्वितीय पंचवर्षीय योजना था जिसमें इस बात पर जोर दिया गया था कि देश के आर्थिक विकास के लिए कुटीर उद्योग-धन्धों का विकास भी अति आवश्यक है, क्योंकि इनके द्वारा अधिकाधिक मात्रा में उपभोक्ता वस्तुएँ उत्पन्न की जा सकती हैं तथा रोजगार का सृजन किया जा सकता है।

(v) विभिन्न क्षेत्रों का संतुलित औद्योगिक विकास (Balanced Industrial development of different regions) :—देश के विभिन्न क्षेत्रों के औद्योगिक विकास के स्तर में व्याप्त अन्तर (Disparities in industrial development of different regions) को कम करने पर भी उक्त औद्योगिक नीति-सम्बन्धी प्रस्ताव में जोर दिया गया है। देश के कुछ भागों में उद्योग-धन्धों का सर्वथा अभाव है। इसके फलस्वरूप इन क्षेत्रों में बेकारी की समस्या बहुत गम्भीर है। औद्योगिक नीति-सम्बन्धी प्रस्ताव में इस बात पर जोर दिया गया है कि औद्योगिक दृष्टि से पिछड़े क्षेत्रों में औद्योगिक विकास के लिए शक्ति, जल तथा यातायात-सम्बन्धी सुविधाएँ प्रदान की जायँगी। इससे देश के संतुलित आर्थिक विकास में सहायता मिलेगी।

(vi) सार्वजनिक क्षेत्र के उद्योगों का प्रबन्ध (Management of Public sector enterprises) :—१९५६ ई० की औद्योगिक नीति में इस बात की भी व्याख्या की गयी है कि औद्योगिक विकास के कार्यक्रम को पूरा करने में देश के तकनीकी एवं प्रबन्ध के साधनों पर बहुत अधिक जोर पड़ेगा। अतः, सरकारी सेवाओं में एक टेक्निकल एण्ड मैनेजिरियल कैडर की स्थापना की जायगी।

(vii) औद्योगिक शान्ति (Industrial peace) :—उक्त नीति के अनुसार औद्योगिक प्रगति के लिए औद्योगिक शान्ति भी आवश्यक है। एक समाजवादी प्रजातन्त्र में श्रम भी विकास कार्यक्रम में साझेदार की तरह है, अतः विकास के कार्य में उसे अधिक सक्रिय सहयोग प्रदान करना आवश्यक होता है। देश में श्रम की कार्यक्षमता को बढ़ाने के लिए श्रमिकों के जीवन-स्तर में वृद्धि नितांत आवश्यक है। इसके लिए इनके कार्य करने की स्थिति में सुधार भी आवश्यक है। औद्योगिक नीति-सम्बन्धी प्रस्ताव में इस बात की भी चर्चा की गयी है कि मजदूरों तथा

टेकनिशियनों को उद्योग-धन्धों के प्रबन्ध में यथासम्भव भाग देने की व्यवस्था की जानी चाहिए। राजकीय क्षेत्र के उद्योगों को इस दिशा में पथ-प्रदर्शन का कार्य करना चाहिए।

स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद राज्य उद्योग तथा व्यापार में अधिकाधिक भाग ले रहा है। ऐसी स्थिति में यह बड़ा महत्त्वपूर्ण हो जाता है कि इसकी क्रियाओं का संचालन उचित रूप से हो। औद्योगिक नीति में इस बात पर जोर दिया गया है कि इन राजकीय संस्थाओं द्वारा शीघ्र निर्णय तथा दायित्व ग्रहण करने की भावना इसकी प्रगति के लिये नितान्त आवश्यक है। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये अधिकारों का यथासम्भव विकेन्द्रीकरण होना चाहिए तथा व्यवस्था व्यापारिक सिद्धांतों के आधार पर की जानी चाहिए। रोज-रोज के कार्यों में इन्हें अधिक-से-अधिक स्वतन्त्रता रहनी चाहिए। देश में राजकीय औद्योगिक संस्थाओं से ऐसी आशा की जाती है कि ये राज्य की आय की वृद्धि में सहायक होंगे तथा नये क्षेत्रों में विकास के लिए धन एकत्र करेंगी। किन्तु, इन संस्थाओं को हानि भी हो सकती है। अत: राजकीय औद्योगिक संस्थाओं की प्रगति का अन्दाजा सम्पूर्ण तथ्यों के आधार पर ही लगाना चाहिए।

१९५६ ई० की औद्योगिक नीति का मूल्यांकन
(An Appraisal of Industrial Policy of 1956)

भारत सरकार की १९५६ ई० की औद्योगिक नीति देश के आर्थिक विकास के लिये एक महत्त्वपूर्ण कदम है। देश की पंचवर्षीय योजनाओं में आयोजित आर्थिक विकास के लिये इस नीति का बड़ा ही महत्त्वपूर्ण स्थान है। भारत जैसे अर्द्ध-विकसित आर्थिक व्यवस्था वाले देश में द्रुतगति से आर्थिक विकास की किसी भी योजना की सफलता के लिये उद्योग-धन्धों के क्षेत्र में सरकार का अधिकाधिक दायित्व ग्रहण करना अनिवार्य हो जाता है। द्रुतगति से विकास के लिये विनियोग की मात्रा में निरन्तर वृद्धि आवश्यक है, क्योंकि इससे पूँजी के निर्माण में सहायता मिलती है। प्रजातांत्रिक व्यवस्था के अन्तर्गत ऐसा करने के लिये मिश्रित आर्थिक व्यवस्था (Mixed economy) जिसमें सार्वजनिक तथा निजी दोनों क्षेत्रों का सहयोग प्राप्त हो, ही एक-मात्र उपाय है। अत: १९५६ ई० के औद्योगिक नीति-सम्बन्धी प्रस्ताव में एक ऐसी मिश्रित अथवा नियन्त्रित आर्थिक व्यवस्था के निर्माण का आयोजन है जिसमें देश के आर्थिक विकास के लिये सरकारी तथा निजी दोनों क्षेत्र हाथ-में-हाथ मिलाकर कार्य करेंगे जिससे कि विकास की योजनाएँ सफल हो सकें। इस दृष्टिकोण से उक्त औद्योगिक नीति प्रशंसनीय है। इस नीति की सर्वाधिक प्रमुख विशेषता सरकार की औद्योगिक नीति एवं पंचवर्षीय योजनाओं के औद्योगिक कार्यक्रमों के बीच समन्वय स्थापित करना था।

किन्तु निजी क्षेत्र के उद्योगपतियों ने इस नीति की कटु आलोचना की है। इनका कहना है कि १९५६ ई० की औद्योगिक नीति के अनुसार राजकीय उपक्रम के क्षेत्र को अनुचित रूप से विस्तृत तथा निजी क्षेत्र को संकुचित बना दिया गया है। आलोचकों के अनुसार योग्य व्यवस्थापकों, तकनीकी जानकारी तथा आवश्यक पूँजी आदि के अभाव में राज्य के लिये इतने बड़े पैमाने पर उद्योगों की व्यवस्था लाभदायक नहीं सिद्ध हो सकती है। आलोचकों के अनुसार जब सरकारी क्षेत्र में प्रगति संतोषप्रद नहीं हो रही है तो इतने उद्योगों को सरकार के अधीन छोड़ना न्यायपूर्ण नहीं होगा। उदाहरण के लिये, विश्व बैंक के तत्कालीन अध्यक्ष श्री ब्लैक के अनुसार इस नीति को

उचित रूप में कार्यान्वित करने पर सार्वजनिक क्षेत्र के वित्तीय तथा प्रशासनिक साधनों पर अनावश्यक रूप से भार पड़ेगा जिसके योग्य यह क्षेत्र अभी शायद नहीं हो पाया है। (The policy if rigidly applied, could only result in imposing heavy additional burdens on already overstrained financial and administrative resources of the public sector and restricting the rate of development in these vitally important fields.) साथ ही, निजी क्षेत्र को भी इसमें अपनी सार्थकता सिद्ध करने का अवसर नहीं मिल पाता। इस नीति के निर्माता भी शायद स्वयं इस कठिनाई से अनभिज्ञ नहीं थे, क्योंकि इस नीति में यह चर्चा है कि उद्योगों के इस प्रकार पृथक्-पृथक् श्रेणियों में विभाजन का आशय यह नहीं है कि ये एक दूसरे से बिल्कुल पृथक् होंगे। (The division of industries, into separate categories does not imply that tbey are being placed in watertight compartments..........In appropriate cases, privately owned units may be permitted to produce an item falling within schedule. A for meeting their own requirements or as by products.) किन्तु जहाँ सार्वजनिक क्षेत्र असफल हो जायगा वहाँ निजी क्षेत्र क्या आगे आ सकता है? इस प्रकार आलोचकों के अनुसार इस नीति के फलस्वरूप प्रथम श्रेणी के उद्योगों में निजी क्षेत्र के लिये उचित वातावरण का अभाव है।

द्वितीयतः, आलोचकों के अनुसार इस नीति से सरकार की नियत्रण-शक्ति दिन-प्रतिदिन बढ़ती ही जायगी। इनके अनुसार इस नीति में राष्ट्रीयकरण की धमकी परोक्ष रूप मे वर्तमान है जिससे निजी क्षेत्र को विकास के कार्य में कोई प्रेरणा नहीं मिलेगी तथा पूँजी के निर्माण में भी शिथिलता आ जायगी। इस नीति ने उद्योगपतियों तथा व्यापारियों को एक प्रकार से असामंजस्य में डाल रखा है। साथ ही, इससे आर्थिक शक्ति का केन्द्रीयकरण राजनीतिज्ञों के हाथ में हो जाता है जो देश के आर्थिक विकास के लिये निश्चय ही उचित नहीं है। इससे देश का औद्योगिक विकास वास्तव में रुक-सा जाता है। इस प्रकार उक्त नीति की घोषणा से निजी क्षेत्र आतंकित-सा हो गया है।

परन्तु, इस नीति की अधिकांश आलोचनाएँ तथ्यहीन हैं। वास्तव में, इसमें राष्ट्रीयकरण की कोई भी धमकी नहीं दी गयी है, उल्टे इसमें निजी क्षेत्र के विकास के लिए उपाय बतलाये गये है तथा पर्याप्त अवसर भी प्रदान किया गया है। इस प्रकार उक्त नीति पर लगाये गये बहुत से आरोप केवल आलोचना की दृष्टि से ही लगाये गये हैं। वास्तव में, यदि हम अपने देश का द्रुतगति से आर्थिक विकास चाहते हैं, जनता के जीवन-स्तर को ऊँचा उठाना चाहते हैं तथा देश में सही रूप से समाजवादी व्यवस्था का निर्माण करना चाहते हैं तो अत्यधिक मात्रा में सरकारी नियन्त्रण एवं हस्तक्षेप आवश्यक हो जाता है। अतः निजी क्षेत्र को अपने-आप इन परिस्थितियों से समन्वय स्थापित करने का प्रयत्न करना चाहिए। इस नीति में निजी क्षेत्र के विकास के लिए समुचित सहायता की भी व्यवस्था है। हाँ, इतना अवश्य है कि सरकारी मशीनरी अभी अकुशल एवं अपूर्ण है। किन्तु, सरकार इस ओर जागरूक है तथा इन दोषों को दूर करने का प्रयत्न भी कर रही है।

औद्योगिक नीति में संशोधन की आवश्यकता
(Need for a Review of the Industrial Policy)

अब प्रश्न यह है कि क्या वर्तमान औद्योगिक नीति में संशोधन की आवश्यकता है? वास्तव में, पिछले कुछ वर्षों में हुई आर्थिक एवं राजनीतिक घटनाओं के परिणामस्वरूप औद्योगिक नीति

पर पुनः विचार करना आवश्यक जान पड़ता है। पिछले वर्षों में चीन एवं पाकिस्तानी आक्रमण के परिणामस्वरूप उत्पन्न संकट की परिस्थितियों में यह आवश्यक हो गया है कि आनेवाले कुछ वर्षों में औद्योगिक कार्यक्रमों का प्रधान उद्देश्य सुरक्षा एवं विकास (Defence and development) दोनों की आवश्यकताओं को पूरा करना होना चाहिए। प्रतिरक्षा की आवश्यकताओं पर आधारित विकास कार्यक्रम के अन्तर्गत यन्त्रों तथा उपकरणों के निर्माण के लिए मशीनों के निर्माण की क्षमता में वृद्धि आवश्यक है। इस उद्देश्य से मशीन निर्माण करने वाले कारखानों की अधिकाधिक संख्या में स्थापना अनिवार्य है। इससे देश की आर्थिक व्यवस्था स्वतः प्रचलित हो सकेगी। साथ ही, इस संकटकालीन स्थिति में निर्यात-सम्बन्धी उद्योगों के अधिकाधिक विकास की भी आवश्यकता है। इससे निर्यात में वृद्धि होने के साथ-साथ आयात में कमी होगी और इस प्रकार विदेशी विनिमय की बचत होगी।

अतएव, इस संदर्भ में देश की औद्योगिक नीति पर पुनर्विचार करना आवश्यक जान पड़ता है। साथ ही, चतुर्थ पंचवर्षीय योजना में आवश्यक उपभोक्ता वस्तुओं के उत्पादन पर भी जोर दिया जा रहा है। इन वस्तुओं की पूर्ति को बढ़ाने के लिए राज्य स्वयं उपभोक्ता उद्योगों के क्षेत्र में प्रवेश करना चाहता है; अतः कुछ आवश्यक उपभोक्ता उद्योगों की स्थापना सार्वजनिक क्षेत्र में करने की बात भी सोची जा रही है। अभी इस सम्बन्ध में कुछ निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता, फिर भी यह सत्य है कि सार्वजनिक क्षेत्र में उपभोक्ता उद्योगों की स्थापना का निजी क्षेत्र पर कोई प्रतिकूल प्रभाव नहीं पड़ेगा। वास्तव में, सरकार का उद्देश्य मूल्य-तल में अत्यधिक वृद्धि को रोकने के लिए आवश्यक उपभोक्ता वस्तुओं की पूर्ति को बढ़ाना है। साथ ही, सरकार ने सार्वजनिक क्षेत्र के उद्योगों की मूल्य-नीति के सम्बन्ध में भी पुनर्विचार किया है। चतुर्थ योजना के स्मृति-पत्र में इस बात की चर्चा की गयी थी कि सार्वजनिक उद्योगों की मूल्य-नीति इस प्रकार की होनी चाहिए जिससे इनमें लगायी गयी पूँजी पर उचित प्रतिफल प्राप्त हो सके। (Capital is a scarce resource and the prices of public enterprises must be so set as to provide an adequate return on the capital employed in them. A return of 12 p. c. on the Invested capital would be an appropriate criterion for determining the price policy for most public undertakings.

इन सब कारणों से देश की औद्योगिक नीति पर पुनर्विचार करना आवश्यक जान पड़ता है। तृतीय योजना में औद्योगिक विकास को उच्च प्राथमिकता प्रदान की गयी थी, किन्तु अधिकांश क्षेत्रों में योजना के औद्योगिक लक्ष्य पूरे नहीं हो सके जिससे तृतीय योजनाकाल में हम आर्थिक विकास के क्षेत्र में बहुत आगे नहीं बढ़ सके। ६ जून, १९६६ ई० से भारतीय रुपये के अवमूल्यन का भी उद्योग-धन्धों पर महत्त्वपूर्ण प्रभाव पड़ा। चतुर्थ पंचवर्षीय योजना में भी उद्योग-धन्धों के विकास पर पर्याप्त जोर दिया गया है। ऐसी स्थिति में औद्योगिक नीति पर नये सिरे से विचार करने की प्रबल आवश्यकता है। योजना आयोग के भूतपूर्व सदस्य श्री तारलोक सिंह ने भी इसी प्रकार का विचार व्यक्त किया था। किन्तु चतुर्थ योजना (१९६९-७४) में इस बात को स्पष्ट किया गया है कि इसमें उद्योग-धन्धों का विकास १९५६ ई० की औद्योगिक नीति के आधार पर ही होगा। निजी तथा सार्वजनिक दोनों क्षेत्र १९५६ ई० की औद्योगिक नीति के अनुसार ही कार्य करेंगे।

1. Memorandum on the Fourth Five Year Plan. P. 21.

किन्तु द्रुतगति से आर्थिक विकास के लिए देश की औद्योगिक नीति में अब संशोधन अनिवार्य है। इन संशोधनों का सम्बन्ध सामान्यत: निम्नलिखित बातों से होना चाहिए :—

(१) कृषि की उत्पादकता को बढ़ाने के लिए कृषि-सम्बन्धी उद्योगों के उत्पादन मे वृद्धि पर जोर देना अनिवार्य है।

(२) मूल्य-तल में स्थायित्व की दृष्टि से आवश्यक उपभोक्ता उद्योगों के उत्पादन में वृद्धि करनी होगी।

(३) इंजीनियरिंग उद्योगों के उत्पादन में पर्याप्त मात्रा में वृद्धि। इस सम्बन्ध में हमारा उद्देश्य इंजीनियरिंग उद्योगों की वर्तमान क्षमता के पूर्ण उपयोग के द्वारा इनके वार्षिक उत्पादन को २५०० करोड़ रुपये से बढ़ाकर ४००० करोड़ रुपये करना होना चाहिए।

(४) सभी प्रमुख उद्योगों में लागत व्यय को कम करने की एक वृहत् योजना कार्यान्वित की जानी चाहिए।

(५) विदेशी सहायता के प्रयोग के पूर्व इसकी पूर्णरूप से जाँच-पड़ताल कर लेनी चाहिए।

(६) उद्योगों के प्रशासन, विशेषत: राजकीय क्षेत्र के उद्योगो के प्रशासन को अधिक सुदृढ़ बनाने का प्रयत्न करना चाहिए।

नयी लाईसेंसिग नीति

(New-Licensing Policy)

भारत सरकार ने १९७० में अपनी नयी लाईसेंसिग नीति की घोषणा की है। वास्तव में, औद्योगिक विकास की गति को तीव्रतर बनाने तथा प्रशासनिक कुशलता में वृद्धि के लिए लाईसेंसिग नीति में परिवर्तन की आवश्यकता बहुत पहले से ही प्रतीत हो रही थी। इस लाईसेंसिग नीति का उद्देश्य दुर्लभ साधनों के उचित आबंटन, सीमित विदेशी विनिमय के साधनों का समुचित उपयोग तथा विभिन्न क्षेत्रों के विकास को ध्यान में रखते हुए उद्योग-धन्धों की स्थापना को प्रोत्साहित करना है। अत: इन व्यापक उद्देश्यों को ध्यान में रखते हुए योजना आयोग ने देश के लिए चतुर्थ योजना की रूप-रेखा में एक उचित लाईसेंसिग नीति की रूप-रेखा प्रस्तुत की थी। प्रशासन सुधार आयोग (Administrative Reforms Commission) ने भी लाईसेंसिग नीति में संशोधन की आवश्यकता पर जोर दिया था। इस आयोग ने औद्योगिक क्षेत्र में एक 'मुक्त क्षेत्र' (free areas) की स्थापना का सुझाव दिया था। इसके अनुसार ऐसे उद्योग जिनमें विदेशी विनिमय तथा राजकीय वित्तीय संस्थानों से सहायता की कोई आवश्यकता नहीं हो, उन्हें प्रारम्भ करने के लिए किसी प्रकार के लाईसेंस की आवश्यकता नहीं होनी चाहिए।

इसी प्रकार सरकार द्वारा नियुक्त Industrial Licensing Policy Inquiry Committee ने भी अपने प्रतिवेदन में देश के औद्योगिक विकास में लाईसेंसिंग नीति के महत्त्व को आवश्यक बतलाते हुए मध्यम दर्जे के उद्योगों के लिए लाईसेंसिंग को सुगम बनाने का सुझाव प्रस्तुत किया था। किन्तु समिति के अनुसार बड़े-बड़े उद्योगपतियों तथा विदेशी संस्थाओं को इस क्षेत्र में बिल्कुल लाईसेंस नहीं प्रदान करना चाहिए।

इस सब प्रतिवेदनों तथा सुझावों को ध्यान में रखते हुए भारत सरकार ने हाल में ही अपनी नयी औद्योगिक लाईसेसिंग नीति की घोषणा की। इस नीति की निम्नांकित प्रधान विशेषताएँ हैं :—

(१) सर्वप्रथम तो प्राथमिक उद्योगों की एक सूची (list of core industries) होगी जिसमें आधारभूत (basic, critical and strategic) उद्योगों को सम्मिलित किया जायगा। इस वर्ग के लिए कच्ची सामग्री आदि प्रदान करने में प्राथमिकता प्रदान की जायगी।

(२) इन प्राथमिक उद्योगों के अरितिक्त, शेष ऐसे उद्योगों को जिसमें ५ करोड़ रुपये से अधिक की रकम सम्मिलित होगी को 'heavy investment sector' कहा जायगा। इनमें १९५६ ई० की औद्योगिक नीति में वर्णित राजकीय क्षेत्र के अतिरिक्त शेष सभी उद्योगों में बड़े-बड़े उद्योगपति तथा विदेशी कम्पनियाँ भी भाग ले सकती हैं।

(३) १ करोड़ रुपये से ५ करोड़ रुपये के विनियोग का एक मध्यम क्षेत्र (middle sector) होगा जिसमें बड़ी-बड़ी औद्योगिक कम्पनियों तथा विदेशियों के अतिरिक्त अन्य लोगों को भी विदेशी विनिमय की स्थिति को ध्यान में रखते हुए सुगमता से लाईसेंस दिया जायगा।

(४) १ करोड़ रुपये के विनियोग तक के नये संस्थानों अथवा पुराने संस्थानों के विस्तार के लिए कोई लाईसेंस की आवश्यकता नहीं होगी। किन्तु इस प्रकार की छूट केवल उन्हीं उद्योगों की दी जायगी जो बड़ी औद्योगिक कम्पनियों तथा विदेशियों से सम्बद्ध नहीं हैं, जिन्हें यंत्र आदि के आयात के लिए २० लाख रुपये या कुल विनियोग के १० प्रतिशत से अधिक के विदेशी विनिमय की आवश्यकता नहीं पड़ती है तथा जो एकाधिकार अधिनियम के अन्तर्गत क्षमताशील (dominant undertaking) उद्योग नहीं हैं।

(५) लघु उद्योगों के लिए क्षेत्र को सुरक्षित रखने की वर्तमान नीति जारी रहेगी। कृषि-सम्बन्धी उद्योगों (Agro-Industries) को प्रारम्भ करने में भी सहकारिता क्षेत्र को प्राथमिकता प्रदान की जायगी।

इस प्रकार भारत सरकार की नयी औद्योगिक लाईसेसिंग नीति से देश के औद्योगिक विकास में अत्यधिक तीव्रता आने की आशा की जाती है। १९७० ई० में औद्योगिक लाईसेंसिंग नीति में

परिवर्तन के साथ-साथ भारत सरकार ने राजकीय वित्तीय संस्थाओं (State Financial Institutions) द्वारा दी जानेवाली वित्तीय सहायता एवं सार्वजनिक क्षेत्र के विकास सम्बन्धी नीति (Policy regarding the growth of the public sector) में भी कुछ परिवर्तन किया है। वास्तव में वर्तमान परिस्थितियों में एक नयी एवं व्यापक औद्योगिक नीति की घोषणा की प्रबल आवश्यकता है।

विशेष अध्ययन-सूची

1. Kuchchal, S. C. : The Industrial Economy of India.
2. Venkatsubbiah, H. : Indian Economy since Independence.
3. Report of the Fiscal Commission, 1949-50, Vol I, pp. 410-16.
4. Second Five Year Plan of India.
5. Fourth Five Year Plan of India.

अध्याय : २६

संरक्षण-नीति

(India's Fiscal Policy)

भारत के लिए संरक्षण की आवश्यकता (Need for a sound Fiscal Policy for India) :—किसी भी देश के आर्थिक विकास के लिए सुदृढ़ संरक्षण नीति का महत्त्वपूर्ण स्थान है। औद्योगिक विकास की प्रारम्भिक अवस्था में उद्योग-धन्धों को संरक्षण प्रदान करना प्रायः सभी देशों में अनिवार्य हो जाता है। जर्मनी, संयुक्त-राज्य अमेरिका तथा जापान आदि देशों ने संरक्षण के बल पर ही द्रुतगति से अपना औद्योगिक विकास किया है। संरक्षण के पक्ष में बहुधा बहुत-से तर्क दिये जाते हैं। भारत के साथ इनमें से कुछ तर्क सामान्य रूप से लागू भी होते हैं। संरक्षण के समर्थन का सबसे प्रबल आधार शिशु-उद्योग-सम्बन्धी तर्क है। कहा भी जाता है कि उद्योग-धन्धों को उनकी प्रारम्भिक अवस्था में विदेशी प्रतियोगिता से बचाने के लिए संरक्षण देना अनिवार्य है। भारत में अभी औद्योगिक विकास प्रारम्भिक अवस्था में ही है, अतः समुचित संरक्षण के अभाव में उद्योग-धन्धों के विकास में कठिनाई का होना अति स्वाभाविक है। संरक्षण के पक्ष में प्राकृतिक साधन-सम्बन्धी तर्क भी यदा-कदा प्रस्तुत किया जाता है। भारत में प्राकृतिक साधनों की प्रचुरता है और यदि उन्हें उचित समय तक पर्याप्त मात्रा में संरक्षण प्राप्त हो तो देश के इन प्राकृतिक साधनों का समुचित विकास किया जा सकता है। इससे देश की आर्थिक समृद्धि में वृद्धि होगी तथा जन-साधारण के जीवन-स्तर में भी सुधार होगा। भारत में संरक्षण को इस आधार पर भी उचित ठहराया जाता है कि कुछ विशेष महत्त्व के उद्योगों में देश के हित में आत्म-निर्भरता प्राप्त करना बिल्कुल अनिवार्य है। उदाहरण के लिए सुरक्षा-सम्बन्धी उद्योग तथा आधारभूत वस्तुओं के उत्पादन में देश के हित में आत्म-निर्भरता की प्रबल आवश्यकता है। अतः, इन उद्योगों को संरक्षण प्रदान करना आवश्यक है। उपरोक्त तथ्यों की विवेचना से स्पष्ट है कि भारत जैसे अर्द्ध-विकसित आर्थिक व्यवस्था वाले देश में उद्योग-धन्धों के विकास के लिए एक यथोचित संरक्षण-नीति की प्रबल आवश्यकता है।

भारत में प्राशुल्किक स्वतन्त्रता (Fiscal Autonomy) का प्रारम्भ :—ब्रिटिश शासन-काल के प्रारम्भिक वर्षों में भारत में सामान्यतः स्वतन्त्र व्यापार की नीति का अनुसरण किया जाता था। देश में आयात-निर्यात कर अवश्य लगाये जाते थे, किन्तु इनका मुख्य उद्देश्य उद्योग-धन्धों का संरक्षण नहीं होकर राजस्व की वृद्धिमात्र होता था। प्रो० बी० पी० अदारकार ने बड़े स्पष्ट शब्दों में इनकी व्याख्या निम्न प्रकार से की है; "१९२३ ई० तक भारत की प्रशुल्क नीति (Fiscal policy) मुख्य रूप से स्वतन्त्र व्यापार को प्रोत्साहित करनेवाली रही थी और आयात-निर्यात करों के निर्धारण में जनता की समृद्धि पर नहीं वरन् सरकार की राजस्व-सम्बन्धी आवश्यकताओं के आधार पर विचार किया जाता था।"[1] प्रथम

1. B. P. Adarkar. The Indian Fiscal Policy, P. 421.

महायुद्ध के समय सरकार ने बहुत-सी वस्तुओं पर आयात कर लगाया तथा इनकी दरों में वृद्धि भी की गयी। इससे संयोगवश कुछ उद्योगों को संरक्षण भी प्राप्त हुआ। किन्तु यह संरक्षण बिलकुल आकस्मिक था तथा इसका उद्देश्य उद्योगों को संरक्षण प्रदान करना नहीं, वरन् सरकार की आय में वृद्धि था।

प्रथम विश्व-युद्ध ने भारत के औद्योगिक विकास की संभावनाओं की ओर सर्वप्रथम सरकार का ध्यान आकर्षित किया। युद्ध काल में देश में कई नये-नये उद्योगों का विकास हुआ तथा कुछ पुराने उद्योगों ने अच्छी प्रगति हासिल कर ली। इससे भारतवासियों में देश के औद्योगीकरण की भावना धीरे-धीरे जाग्रत होने लगी। १९१६ में भारत सरकार द्वारा नियुक्त औद्योगिक आयोग ने देश की औद्योगिक संभावनाओं की जाँच के पश्चात् देश के द्रुतगति से औद्योगीकरण की सिफारिश की। इस समय माँटेग्यू चेम्सफोर्ड सुधार की घोषणा की गयी जिसके अनुसार भारत-वासियों को स्वशासन की स्वतन्त्रता प्राप्त हुई। इसी सम्बन्ध में ब्रिटिश संसद् के दोनों सदनों की प्रवर-समिति (Joint Select Committee of both Houses of Parliament) ने १९१९ ई० में भारत के लिए प्राशुल्किक स्वतन्त्रता (Fiscal autonomy) की सिफारिश की। समिति की इस सिफारिश के आधार पर ब्रिटिश संसद् ने १९२१ ई० में भारत के लिए प्राशुल्किक स्वतन्त्रता का प्रस्ताव (Fiscal Autonomy Convention) स्वीकृत किया। इस प्रस्ताव के अनुसार यह निश्चित किया गया कि भारत सरकार द्वारा अपने विधान मण्डल की स्वीकृति से निर्धारित प्रशुल्क नीति में कुछ विशेष परिस्थितियों को छोड़कर, भारत सचिव किसी भी प्रकार का हस्तक्षेप नहीं करेंगे।

१९२१ ई० के संरक्षण आयोग एवं विवेचनात्मक संरक्षण की नीति
(Fiscal Cemmission of 1921 and the Policy of Discriminating Protection)

१९२१ ई० में भारत सरकार ने उद्योग-धन्धों के संरक्षण तथा साम्राज्यीय अधिमान (Imperial Preference) सिद्धान्तों पर विचार करने के लिए सर इब्राहिम रहिमतुल्ला की अध्यक्षता में एक उद्योग-संरक्षण आयोग (Fiscal Commission) की नियुक्ति की जिसने १९२३ ई० में अपना प्रतिवेदन प्रस्तुत किया। आयोग ने जाँच के पश्चात् यह बतलाया कि यद्यपि भारत एक कृषि-प्रधान देश है, फिर भी यहाँ औद्योगिक विकास की असीम संभावनाएँ है। आयोग की राय में उद्योग-धन्धों के समुचित विकास द्वारा भूमि पर बढ़ती हुई जनसंख्या के बोझ को कम किया जा सकता है तथा देश की आर्थिक समृद्धि में भी वृद्धि की जा सकती है। औद्योगिक विकास द्वारा देश की आर्थिक, सामाजिक तथा राजनैतिक स्थिति में भी सुधार किया जा सकता है; तथा इससे देशवासियों के चरित्र को सुदृढ़ बनाया जा सकता है। किन्तु देश के औद्योगिक विकास के लिए संरक्षण आवश्यक है, अतः आयोग ने बहुमत[1] से भारत में विवेचनात्मक संरक्षण (Discriminating Protection) के सम्बन्ध में अपनी सिफारिशें दीं।

१. आयोग के कुछ सदस्य सभी उद्योगों को संरक्षण देने के पक्ष में थे, अतः उन्होंने अपनी विमति टिप्पणी (note of dissent) दी।

विवेचनात्मक संरक्षण की नीति के अनुसार केवल उन्हीं उद्योगों को संरक्षण प्रदान किया जायगा जो आयोग द्वारा निर्धारित निम्नलिखित तीन शर्तों को पूरा करते हों :—

(१) संरक्षण उसी उद्योग को प्रदान किया जायगा जिसके लिए देश में प्रायः सभी प्राकृतिक सुविधाएँ—जैसे पर्याप्त मात्रा में कच्चे पदार्थ, सस्ती शक्ति, पर्याप्त मात्रा में श्रमिकों की पूर्ति तथा विस्तृत आंतरिक बाजार आदि उपलब्ध हों। (The Industry to be protected should possess natural advantages such as abundant supply of raw materials, cheap power, sufficient supply of labour and a large home market.) जिन उद्योगों को सापेक्षिक ढंग से ये सुविधाएं पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध न होंगी, वह विश्व के समक्ष उद्योगों की प्रतियोगिता में समान स्तर पर खड़ा नहीं हो सकता जिसके फलस्वरूप वह देश तथा समाज पर भार बन जायगा;

(२) उद्योग ऐसी स्थिति में हो कि संरक्षण के वगैर उसका विकास बिल्कुल संभव नहीं हो अथवा संरक्षण के वगैर देश के हित में वांछनीय ढंग से विकसित नहीं हो सकता हो (The industry must be one which, without the help of protective tariff would not be able to develop at all or would not develop rapidly enough to serve the interests of the country); तथा

(३) उसी उद्योग को संरक्षण देना चाहिए जो अन्त में संरक्षण के वगैर ही विश्व बाजार में प्रतियोगिता का सामना कर सके। (The industry be able to face foreign competition eventually without tariff assistance.) आयोग के अनुसार संरक्षण का तात्पर्य ऐसे उद्योगों को अस्थायी रूप से संरक्षण देने से है जो कुछ समय बाद स्वयं अपने पैरों पर खड़ा होने की शक्ति रखते हों।

इस प्रकार विवेचनात्मक संरक्षण की नीति के ये तीन प्रधान सूत्र (triple formula) थे। इन सूत्रों के अतिरिक्त आयोग ने संरक्षण प्रदान करने के लिए कुछ अन्य आवश्यक बातों पर भी प्रकाश डाला। आयोग की राय में उस प्रकार के उद्योगों को संरक्षण प्रयत्न करने में प्राथमिकता दी जानी चाहिए—(i) जिनके उत्पादन व्यय में भविष्य में कमी होने की सम्भावना हो, (ii) साथ ही, जो कुछ समय में ही देश की समस्त आवश्यकताओं को पूरा करने की क्षमता रखते हो; (iii) विदेशी वस्तुओं के राशिपातन (Dumping) अथवा आर्थिक सहायता प्राप्त वस्तुओं के आयात को रोकने के लिए भी उद्योगों को संरक्षण प्रदान करने की आश्यकता को स्वीकार किया गया। (iv) आयोग के अनुसार राष्ट्रीय प्रतिरक्षा एवं सैनिक महत्त्व के उद्योगों तथा आधारभूत उद्योग-धन्धों को संरक्षण प्रदान करने में प्राथमिकता दी जानी चाहिए।

विवेचनात्मक-संरक्षण नीति के परिणाम
(Working of the Policy of Discriminating Protection)

आयोग की सिफारिशों को सरकार ने स्वीकार कर लिया तथा विधान-मण्डल के १९२३ ई० के एक प्रस्ताव के अनुसार एक प्रशुल्क-मण्डल (Tariff Board) की नियुक्ति की गयी। विवेचनात्मक संरक्षण की नीति के अन्तर्गत देश के बहुत-से उद्योगों को सरकार द्वारा संरक्षण प्रदान किया गया जिनमें लोहा एवं इस्पात-उद्योग, चीनी उद्योग, कागज उद्योग आदि के नाम

विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इन उद्योगों पर विवेचनात्मक संरक्षण का प्रभाव निश्चय ही संतोषजनक रहा जैसा कि कुछ प्रमुख उद्योगों के सम्बन्ध में निम्न विवरण से स्पष्ट है :—

(क) लोहा और इस्पात उद्योग :—१९२३ ई० में जब सरकार ने विवेचनात्मक संरक्षण की नीति का स्वीकार किया तो सर्वप्रथम लोहा तथा इस्पात उद्योग ने संरक्षण की मांग की। प्रथम महायुद्ध के बाद इस उद्योग को विदेशी प्रतियोगिता का सामना करना पड़ा था। १९२४ ई० में प्रशुल्क मण्डल ने इस उद्योग की स्थिति की जाँच के बाद संरक्षण की सिफारिश की। यह उद्योग संरक्षण आयोग द्वारा निर्धारित प्रायः सभी शर्तों को पूरा करता था। साथ ही, यह आधारभूत उद्योग भी था। अतः, प्रशुल्क-मण्डल की सिफारिशों के आधार पर इस उद्योग को १९२४ ई० में संरक्षण प्रदान किया गया। संरक्षण की यह अवधि १९२७ ई० में समाप्त होने वाली थी, अतः १९२६ ई० में प्रशुल्क-मण्डल ने जाँच के पश्चात् इस उद्योग को पुनः सात वर्षों के लिए और संरक्षण की सिफारिश की। १९३३ ई० में प्रशुल्क-मण्डल द्वारा पुन इस उद्योग की स्थिति की जाँच की गयी तथा १९३४ ई० से इसे सात वर्षों के लिए और संरक्षण दिया गया। किन्तु इसकी अवधि समाप्त होने के पूर्व ही द्वितीय युद्ध छिड़ गया, अतः संरक्षण की अवधि को बढ़ाकर ३१ मार्च, १९४७ ई० तक कर दिया गया। संरक्षण से इस उद्योग को बहुत लाभ हुआ तथा १९३२-३३ ई० तक यह उद्योग देश की कुल मांग का प्रायः ७२ प्रतिशत भाग पूरा करने लगा। इस्पात का उत्पादन १९२३ ई० में १, ३१, ००० टन से बढ़कर १९४० ई० में १०, ७०, ००० टन हो गया। अत, १९३९ ई० से ही संरक्षण अनावश्यक जान पड़ने लगा, किन्तु औपचारिक रूप से इसे १९४७ ई० से ही हटाया गया।

(२) सूती-वस्त्र उद्योग —प्रथम युद्धकाल में सूती वस्त्र-उद्योग ने बहुत लाभ कमाया था। किन्तु, युद्ध के बाद उद्योग को भीषण अवसाद का सामना करना पड़ा। अतः इस उद्योग की स्थिति की जाँच के लिए १९२६ ई० में एक प्रशुल्क-मण्डल की नियुक्ति की गयी जिसने १९२७ ई० में अपना प्रतिवेदन प्रस्तुत किया। किन्तु भारत सरकार ने इसकी सभी सिफारिशों को स्वीकार नहीं किया तथा १९२७ ई० में केवल सूत के आयात पर १½ आ० प्रति पौंड या मूल्यानुसार ५ प्रतिशत, जो भी अधिक हो, का एक संरक्षणात्मक कर ३ वर्षों के लिए लगाया गया। किन्तु इससे स्थिति में कोई सुधार नहीं हुआ, अतः १९२९ ई० में सूती-वस्त्र उद्योग (संरक्षण) अधिनियम के अनुसार ब्रिटिश कपड़ों के आयात पर १५ प्रतिशत तथा अन्य देशों के कपड़े के आयात पर २० प्रतिशत का एक कर लगाया गया। इस कर की अवधि मार्च, १९३३ ई० तक थी। किन्तु इसी बीच जापानी प्रतियोगिता बढ़ने लगी जिसे रोकने के लिए १९३२ ई० में जापानी कपड़े के आयात पर ५० प्रतिशत तथा १९३३ ई० में ७५ प्रतिशत का एक आयात कर लगाया गया। पर अन्त में दोनों देशों के बीच १९३४ ई० में एक समझौता हुआ जिसके अनुसार कर की दरों में परिवर्तन किया गया। १९३९ ई० में इसी प्रकार का एक समझौता भारत और ब्रिटेन के बीच हुआ जिसके अनुसार आयात कर की दरों में परिवर्तन किया गया। युद्ध-समाप्ति के बाद १९४६ ई० में प्रशुल्क-मण्डल द्वारा सूती-वस्त्र उद्योग की स्थिति की पुन जाँच की गयी और मण्डल की सिफारिशों के आधार पर १९४७ ई० में सूती-वस्त्र उद्योग पर से संरक्षण हटा लिया गया। इस प्रकार सूती-वस्त्र उद्योग को कुल मिलाकर प्राय २० वर्षों के लिए संरक्षण मिला।

(३) चीनी उद्योग :—भारतीय चीनी उद्योग का विकास मुख्यत संरक्षण के फलस्वरूप ही हुआ। यही कारण है कि इस उद्योग को 'संरक्षण का शिशु'[1] कहा जाता है। सर्वप्रथम इस उद्योग को १६३१ ई० में संरक्षण प्राप्त हुआ जब सात वर्षों के लिए ७ रु० ४ आ० प्रति हंडरवेट का एक आयात कर विदेशी चीनी के आयात पर लगाया गया। १६३० ई० में पुनः इस उद्योग की जाँच के लिए एक प्रशुल्क-मण्डल की नियुक्ति की गयी जिसकी सिफारिशों के अनुसार १६३६ ई० में सरकार ने चीनी उद्योग को दो वर्षों के लिए और संरक्षण प्रदान किया तथा विदेशी चीनी के आयात पर लगाये गये कर को बढ़ाकर ८ रु० १२ आ० प्रति हंडरवेट कर दिया। युद्धकाल में अन्य उद्योगों की तरह इसे भी संरक्षण मिलता रहा। युद्ध के बाद १६४७ ई० में इस उद्योग की स्थिति की जाँच की गयी तथा २ वर्षों के लिए संरक्षण की अवधि और बढ़ा दी गयी। १६४६ ई० में पुनः प्रशुल्क प्रमण्डल ने २ वर्षों के लिए संरक्षण की अवधि बढ़ाने की सिफारिश की, किन्तु १ वर्ष के लिए ही और संरक्षण प्रदान किया गया तथा १९५० ई० में इस उद्योग पर से संरक्षण हटा लिया गया। संरक्षण के फलस्वरूप, इस उद्योग ने विशेष प्रगति करली। १६३१-३२ ई० में भारत में कुल ३२ चीनी के कारखाने थे जिनका उत्पादन केवल १२० हजार टन था। १६५०-५१ ई० में चीनी के कारखानों की संख्या बढ़कर १३६ तथा उत्पादन ११०० हजार टन हो गया। इस प्रकार भारत, जो संरक्षण के पूर्व चीनी के लिए विदेशों पर आश्रित था, संरक्षण से कुछ ही समय के बाद विश्व में चीनी का सबसे बड़ा उत्पादक देश हो गया।

(४) भारी रासायनिक उद्योग (Heavy Chemical Industries) :—भारी रासायनिक उद्योगों के अन्तर्गत सल्फरिक एसिड, हाइड्रोक्लोरिक एसिड, नाइट्रिक एसिड आदि आते हैं। इन उद्योगों को संरक्षण प्रदान करने के प्रश्न पर १६२६ ई० में एक प्रशुल्क-मण्डल ने विचार किया तथा मण्डल की सिफारिशों के आधार पर १६३१ ई० में भारी रासायनिक उद्योग संरक्षण अधिनियम पारित किया गया जिसके अनुसार मैगनेशियम क्लोराइड को ३१ मार्च, १६३६ ई० तक तथा अन्य रसायनों को ३१ मार्च, १६३३ ई० तक के लिए संरक्षण देने की बात तय हुई। भारी रासायनिक उद्योग एक नवीन उद्योग था। इसका विकास देश में प्रथम महायुद्ध के बाद से ही प्रारम्भ हुआ। संरक्षण के फलस्वरूप इस उद्योग का विकास भी संतोषजनक ढंग से हुआ तथा द्वितीय महायुद्ध काल तक इसने पर्याप्त उन्नति कर ली।

(५) कागज उद्योग :—कागज उद्योग को सर्वप्रथम १६२५ ई० में सात वर्षों के लिए संरक्षण मिला जबकि कुछ प्रकार के कागज के आयात पर एक आना प्रति पौंड का एक संरक्षण कर लगाया गया। पुनः कागज उद्योग संरक्षण अधिनियम १६३२ ई० के अनुसार संरक्षण की अवधि को बढ़ाकर ३१ मार्च, १६३६ ई० तक कर दिया गया। साथ ही, बाँस की लुगदी के आयात पर ४९ रु० प्रति टन का आयात-कर लगाया गया। १६३७-३८ ई० में प्रशुल्क-मण्डल ने इस उद्योग को संरक्षण जारी रखने का सुझाव दिया जिसके अनुसार मार्च, १६४७ ई० तक इस उद्योग को संरक्षण मिलता रहा। संरक्षण से इस उद्योग का भी समुचित रूप में विकास हुआ। १६२३ ई० में कागज की केवल ६ मिलें थीं जिनका उत्पादन २६,२८४ टन था। संरक्षण के फलस्वरूप इस उद्योग की अच्छी प्रगति हुई तथा १६३६ ई० में कुल १६ कागज की मिलें हो गयीं जिनका उत्पादन १,०३,१६५ टन हो गया।

1. 'Sugar Industry is the child' protection.

इस प्रकार विवेचनात्मक संक्षरण से देश के उद्योगों को निश्चय ही बहुत अधिक लाभ हुआ जो निम्नांकित तालिका से[1] स्पष्ट है :—

सरंक्षण-प्राप्त उद्योगों की प्रगति

वस्तुएँ	१९२२	१९३९	प्रतिशत वृद्धि
इस्पात की वस्तुएँ (हजार टन में)	१३१	१०४२	६३५
सूती-वस्त्र (दस लाख गज में)	१७१३	४११६	२४०
दियासलाई (दस लाख ग्रोस)	१६	२२	३७.५
कागज (हजार टन में)	२४	६७	२७६
चीनी (हजार टन में)	२४	९३५	३८७९

उपरोक्त तालिका से स्पष्ट है कि विवेचनात्मक संरक्षण की नीति के फलस्वरूप देश के कुछ उद्योगों को बहुत अधिक लाभ हुआ। कुछ उद्योगों ने तो इतनी शीघ्रतापूर्वक प्रगति की जिससे कि संरक्षण जल्द ही शीघ्र हटा लिया गया।

संरक्षण का प्रभाव कुछ सहायक उद्योगों पर भी अच्छा पड़ा। संरक्षित उद्योगों के लिए कच्चा माल प्रदान करनेवाले उद्ययोगों को भी इस नीति से परोक्ष रूप में लाभ हुआ। इस प्रकार देश में कपास एवं गन्ने की खेती, दियासलाई एवं कागज के काम आने वाली लकड़ियों का उद्योग तथा खनिज उद्ययोग, जैसे—लोहा, कोयला, आदि उद्योगों ने भी प्रर्याप्त प्रगति कर ली। गन्ने एवं कपास की खेती के क्षेत्र एवं उपज में भी पर्याप्त वृद्धि हुई। इसी प्रकार ऐसे छोटे-छोटे उद्योग-धन्धों ने जो कपड़ा, कागज, चीनी तथा लोहा एवं इस्पात उद्योगों पर आश्रित थे, भी पर्याप्त उन्नति कर ली। संरक्षण के फलस्वरूप देश में औद्योगिक मजदूरों की संख्या में भी पर्याप्त वृद्धि हुई। साधारणतया यह अनुमान लगाया जाता है कि १९२३ ई० से १९४७ ई० के बीच कारखानों में काम करनेवाले मजदूरों की संख्या में प्रायः ७५ प्रतिशत की वृद्धि हुई। इस प्रकार विवेचनात्मक संरक्षण का देश के कुछ उद्‌योग-धन्धों पर निश्चय ही अच्छा प्रभाव पडा।

विवेचनात्मक संरक्षण की नीति की समालोचना

(Criticisms of the Policy of Discriminating Protection)

किन्तु, यद्यपि विवेचनात्मक संरक्षण की नीति से कुछ उद्‌योगों को लाभ हुआ तथापि इस नीति को भारत जैसे अविकसित देश के लिए न्यायसंगत नहीं कहा जा सकता। वास्तव में, इस नीति के विरुद्ध बहुत सारी आलोचनाएँ दी जाती हैं जिनमें निम्नांकित प्रमुख हैं :—

• (१) संरक्षण के लिए निर्धारित शर्तों की अस्पष्टता :—विवेचनात्मक संरक्षण के विरुद्ध सबसे बड़ी आलोचना आयोग द्वारा संरक्षण के लिए निर्धारित 'तीन मूल शर्तों' से सम्बन्धित है। संरक्षण की ये शर्त्तें बिलकुल अस्पष्ट तथा अव्यावहारिक थीं। उदाहरण के लिए पहली शर्त्त यह थी कि केवल उन्हीं उद्ययोगों को संरक्षण प्रदान किया जाय जिन्हें सभी प्राकृतिक सुविधाएँ पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध हों, किन्तु यह हास्यास्पद जान पड़ता है। जब किसी उद्योग को पर्याप्त मात्रा में सभी प्राकृतिक सुविधाएँ उपलब्ध होंगी तो उसके विकास के लिए सम्भवतः संरक्षण की आवश्यकता ही नही पड़ेगी। दूसरी शर्त, यानी किसी उद्योग का विकास बिना संरक्षण के न

१. यह तालिका १९४९-५० ई० के फिस्कल कमीशन की रिपोर्ट पर आधारित है।

हो, लागू होने के लिए उद्योग के समक्ष कुछ ऐसी असुविधा होनी चाहिए जिसे संरक्षण के बगैर दूर नहीं किया जा सकता हो। किन्तु, प्रथम शर्त्त पूरी होने के बाद किसी विशेष असुविधा की सम्भावना ही नहीं रह जाती, अत: ये शर्त्तें परस्पर-विरोधी जान पड़ती हैं। इस प्रकार इन शर्तों को व्यावहारिक रूप में लागू करने में कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है।

(२) इस नीति में नये उद्योगों को संरक्षण प्रदान करने की व्यवस्था नहीं की गयी थी :—विवेचनात्मक संरक्षण की नीति का एक आवश्यक दोष यह भी था कि इसमें केवल वर्तमान उद्योग ही संरक्षण की मांग कर सकते थे। वास्तव में, संरक्षण नीति का उद्देश्य केवल वर्तमान उद्योगों को संरक्षण प्रदान करना ही नहीं होना चाहिए, वरन् इसका उद्देश्य सम्भावित उद्योग-धन्धों के विकास को भी प्रोत्साहन प्रदान करना होना चाहिए। इस प्रकार नये उद्योगों को छोड़ देने से भारत में विवेचनात्मक संरक्षण की नीति का कार्य-क्षेत्र बहुत ही संकुचित हो गया।

(३) अस्थायी प्रशुल्क-मण्डल की व्यवस्था :—आयोग ने उद्योगों को संरक्षण देने के उद्देश्य से जाँच करने के लिए अस्थायी तौर पर एक प्रशुल्क-मण्डल की नियुक्ति का सुझाव दिया था। अत: प्रत्येक उद्योग की जाँच के लिए अस्थायी तौर से अलग-अलग प्रशुल्क-मण्डलों की नियुक्ति करनी पड़ी। इससे विभिन्न प्रशुल्क-मण्डल इस सम्बन्ध में कोई भी दीर्घकालीन नीति नहीं अपना सके।

(४) संरक्षण-नीति को कार्यान्वित करने में सरकार ने उदारता से काम नहीं लिया :—विवेचनात्मक संरक्षण की नीति के विरुद्ध आम तौर से यह भी कहा जाता है कि सरकार तथा प्रशुल्क अधिकारी इस संरक्षण की नीति को कार्यान्वित करने में उदारता से काम नहीं लेते थे। संरक्षण की शर्त्तों का संकुचित अर्थ में प्रयोग किया जाता था जिनसे कुछ ऐसे उद्योगों को, जो संरक्षण पाने योग्य थे, संरक्षण नहीं दिया गया। संरक्षण प्रदान करने में अधिकारीगण भी बहुधा बिलम्ब करते थे जिससे उचित समय पर संरक्षण नहीं मिल पाता था।

निष्कर्ष :—इस प्रकार जैसा की प्रो० अदारकर (Adarkar) ने कहा है "विवेचनात्मक संरक्षण की इस नीति ने उद्योगों को निरुत्साहित सहायता द्वारा, जो अरुचि एवं अवहेलनापूर्ण तरीकों से दी जाती थी, देश के उद्योगों को उनके भाग्य पर छोड़ने के अतिरिक्त अन्य किसी भी प्रकार से उनकी रक्षा नहीं की।" (It has vouchsafed nothing better than a prefunctory assistance, indifferently and grudgingly rendered to industries whose subsequent development has been left to take its own cource.) विश्व के किसी भी भारत जैसे असंतुलित आर्थिक व्यवस्था वाले देश में जहाँ कृषि की प्रधानता तथा औद्योगिक विकास की अपार सम्भावनाएँ हैं, इस तरह अनिच्छापूर्वक ढंग से संरक्षण प्रदान करने का उदाहरण नहीं मिलता।[1] साथ ही विवेचनात्मक संरक्षण की नीति से केवल उपभोक्ता उद्योगों को ही लाभ हुआ था; पूँजीगत उद्योगों को इससे कोई लाभ नहीं हुआ। इस प्रकार इस नीति का सर्वाधिक प्रमुख दोष यह था कि इसने

1. "Never in the history of any country protection was granted in such a hatf-hearted, halting and reluctant manner as in India, a country ailing from all the ills of an unbalanced economy, predominantly dependent on agriculture. and possessing immense potentialities for industrialisation."—Wadia and Merchant : Our Economic Problem, P. 523.

देश में संतुलित औद्योगिक विकास को प्रोत्साहित करने में कोई सहायता नहीं प्रदान की। अतः स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद इस नीति को समाप्त कर संरक्षण की एक साधारण, सीधी एवं लोचदार नीति अपनाने की आवश्यकता पर जोर दिया जाने लगा।

युद्धोत्तर-काल में संरक्षण की नीति

(Fiscal Policy in the Post-war Period)

१९३९ ई० में जब द्वितीय महायुद्ध प्रारम्भ हुआ तो देश के जिन उद्योगों को संरक्षण प्राप्त था, युद्धकाल में भी उन्हें उसी प्रकार संरक्षण मिलता रहा। युद्धकाल में अन्य उद्योगों के संरक्षण का प्रश्न नहीं उठा क्योंकि विदेशों से आयात कम होने के कारण प्रतियोगिता की कोई भी समस्या नहीं थी। किन्तु युद्ध समाप्त होने के बाद संरक्षण का प्रश्न पुनः उपस्थित हुआ। युद्धकाल में अनेक नये उद्योगों की स्थापना की गयी। इन्हें संरक्षण प्रदान करने के प्रश्न पर विचार करने के लिए नवम्बर, १९४५ ई० में दो वर्षों के लिए एक प्रशुल्कमंडल की नियुक्ति की गयी तथा उद्योगों को संरक्षण प्रदान करने की सिफारिश करने में प्रशुल्क-मंडल के सहायतार्थ निम्नलिखित शर्तें निर्धारित कर दी गयीं :—

(१) उद्योग दृढ़ व्यावसायिक आधार पर संगठित अथवा संचालित होता हो,

(२) (क) उद्योग को उपलब्ध प्राकृतिक एवं आर्थिक सुविधाओं तथा इसके उत्पादन को देखते हुए यह सम्भव जान पड़ता हो कि उचित समय के अन्दर वह पर्याप्त विकास कर लेगा जिससे उसे पुनः संरक्षण की आवश्यकता नहीं रह जायगी; तथा

(ख) उद्योग ऐसा हो जिसे संरक्षण अथवा आर्थिक सहायता प्रदान करना राष्ट्रीय हित में वांछित हो तथा इस प्रकार की सहायता का जनता पर बहुत अधिक भार नहीं पड़ता हो।

उपरोक्त शर्तों के आधार पर इस अस्थायी प्रशुल्क-मंडल को संरक्षण प्रदान करने के लिए सिफारिश करने का अधिकार दिया गया। इस प्रकार १९४५ ई० में सरकार द्वारा निर्धारित शर्त्तें विवेचनात्मक संरक्षण की नीति से पूर्णतया भिन्न थीं। इस नीति मे सर्वप्रथम 'राष्ट्रीय हित' को स्थान दिया गया। राष्ट्रीय हित का अर्थ केवल देश की रक्षा से ही नहीं, बरन् देश के आर्थिक कल्याण से भी था। उक्त नीति के तीन प्रमुख उद्देश्य थे :—(१) देश के प्राकृतिक एवं आर्थिक साधनों के अधिकतम उपयोग द्वारा राष्ट्रीय सम्पत्ति में वृद्धि; (२) सुरक्षा के लिए देश को अधिक सुदृढ़ बनाना, तथा (३) उच्च एवं स्थायी स्तर पर रोजगार की व्यवस्था करना। १९४७ ई० तक अस्थायी प्रशुल्क-मंडल के समक्ष ४० उद्योगों की जाँच के मामले आये जिनमें से मंडल ने ३२ को अपनी सिफारिशों के साथ सरकार के समक्ष प्रस्तुत किया। इनमें से २८ युद्धकालीन उद्योग थे तथा ४ (सूती-वस्त्र, लोहा एवं इस्पात, चीनी तथा कागज-उद्योग) युद्ध के पूर्व के थे। मंडल ने युद्धकालीन उद्योगों एवं चीनी उद्योग को संरक्षण प्रदान करने तथा सूती-वस्त्र, लोहा तथा इस्पात एवं कागज पर से संरक्षण हटा लेने की सिफारिश की।

स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद प्रशुल्क नीति (Fiscal Policy after Independence) :— स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद अप्रैल, १९४७ ई० में राष्ट्रीय सरकार ने अपनी औद्योगिक नीति की घोषणा की जिसमें इस बात का जिक्र किया गया कि सरकार की प्रशुल्क नीति का उद्देश्य उपभोक्ताओं पर किसी प्रकार का अनुचित बोझ दिये बगैर अनुचित विदेशी

प्रतियोगिता को समाप्त करना तथा देश के साधनों के अधिकतम प्रयोग को प्रोत्साहन प्रदान करना होगा। (The tariff policy of the Government will be designed to prevent unfair foreign competition and to promote the utilisation of India's resources without imposing unjustifiable burdens on the consumers.) अगस्त, १९४८ ई० में एक विशेष प्रस्ताव द्वारा प्रशुल्क-मंडल के कार्यों का विस्तार किया गया। इस प्रस्ताव के अनुसार मंडल को और भी निम्नलिखित कार्य सौंपे गये— (१) देश में उत्पादन की जानेवाली वस्तुओं के उत्पादन व्यय की जाँच करना तथा उनके मूल्य को निश्चित करना; (२) राशिपातन (dumping) के विरुद्ध भारतीय उद्योगों के संरक्षण के लिए सरकार को सुझाव देना; (३) विभिन्न प्रकार के संरक्षण करों के प्रभाव का अध्ययन करना; तथा (४) संरक्षित उद्योगों की प्रगति पर सदा दृष्टि रखना। नवम्बर, १९४८ ई० में एक दूसरे प्रस्ताव के द्वारा प्रमुख आधारभूत उद्योगों को संरक्षण प्रदान करने में युद्धजनित उद्योगों की तरह ही सुविधा प्रदान करने की व्यवस्था की गयी।

१९४९-५० ई० का उद्योग-संरण आयोग

(Fiscal Commission of 1949-50)

१९४८ ई० में राष्ट्रीय सरकार ने अपनी औद्योगिक नीति की घोषणा की। उक्त नीति के अन्तर्गत सरकार पर जो जिम्मेवारियाँ आयीं उन्हें पूरा करने के लिए २८ अप्रैल, १९४९ ई० के एक प्रस्ताव के द्वारा भारत सरकार ने श्री बी० टी० कृष्णमाचारी की अध्यक्षता में दूसरे उद्योग-संरक्षण आयोग (Second Fiscal Commission) की नियुक्ति की जिसका मुख्य कार्य १९२२ ई० से अब तक की भारत सरकार की संरक्षण-नीति की जाँच करना तथा भविष्य की संरक्षण-नीति एवं उसे कार्यान्वित करने के लिए उपयुक्त मशीनरी के सम्बन्ध में सिफारिश करना था। आयोग ने १९५० में अपना प्रतिवेदन प्रस्तुत किया। द्वितीय संरक्षण आयोग (१९४९-५० ई०) ने अपने कार्य को एक नवीन दृष्टिकोण से सपादित किया तथा संक्षरण के लिए नवीन सिद्धातों को अपनाया। (The Second Fiscal Commission of 1949-50 approached their task from a new angle of vision and laid down new principles of protection.)

कृष्णमाचारी आयोग ने संरक्षण की समस्या पर अधिक संतुलित एवं विस्तृत दृष्टिकोण से विचार किया तथा इस बात पर जोर दिया कि संरक्षण को केवल व्यावसायिक नीति का विकल्प मात्र नहीं मान कर राष्ट्र के आर्थिक विकास के उद्देश्य की पूर्ति का साधनमात्र समझना चाहिए। चूँकि संरक्षण की नीति देश के आर्थिक विकास की योजना का एक अंग है, अतः इस प्रश्न पर पृथक् रूप से विचार नहीं किया जा सकता। उद्योगों को संरक्षण प्रदान करने की नीति का सम्बन्ध देश के आर्थिक विकास के कार्यक्रम से होना चाहिए अन्यथा इससे देश में असंतुलित आर्थिक विकास को अनुचित प्रोत्साहन मिलेगा। किन्तु इस प्रकार की व्यापक नीति के निर्धारण में कुछ समय लगेगा, अतः आयोग ने संरक्षण की एक सामान्य नीति की सिफारिश की।

कृष्णमाचारी आयोग ने प्रथम आयोग द्वारा निर्धारित शर्तों की कटु आलोचना की तथा यह सुझाव दिया कि संरक्षण प्रदान करने में राष्ट्रीय हित को प्रधानता दी जानी चाहिए।

इस आधार पर आयोग ने प्रशुल्क-मण्डल के अनुकरण के लिए निम्नलिखित सामान्य सिद्धान्तों को निर्धारित किया :—

(i) आयोग के मतानुसार यदि किसी उद्योग के लिए श्रम, बाजार, शक्ति तथा यातायात के साधन आदि सुविधाएँ उपलब्ध हों तो केवल कच्चा माल नहीं होने के कारण उसे संरक्षण की सुविधा प्रदान करने में किसी प्रकार की कठिनाई नहीं होनी चाहिए।

(ii) किसी उद्योग को संरक्षण प्रदान करते समय उससे यह आशा नहीं करनी चाहिए कि उद्योग सम्पूर्ण मांग को पूरा कर सकता है।

(iii) किसी उद्योग को उपलब्ध बाजार की सुविधाओं पर विचार करते समय देश एवं विदेश में स्थित वर्तमान एवं संभावित निर्यात-बाजार पर भी विचार करना चाहिए।

(iv) उन उद्योगों को जो किसी संरक्षित उद्योगों की वस्तुओं को कच्चे पदार्थ के रूप में उपयोग करते हैं, क्षति-पूरक-संरक्षण (Compensatory protection) देना चाहिए।

(v) नये उद्योगों को भी उसी प्रकार संरक्षण की सुविधा देनी चाहिए जो पहले से स्थापित उद्योगों को दी जाती हैं। उन नये उद्योगों को जिनका भविष्य उज्ज्वल है तथा जिनकी स्थापना में बहुत अधिक पूँजी एवं कुशल श्रमिकों की आवश्यकता है संरक्षण की आवश्यकता और भी अधिक है।

कृष्णमाचारी आयोग ने एक विकास कोष की सिफारिश की जिसमें संरक्षणात्मक करों से प्राप्त आय के एक अंश को रखा जायगा। इस कोष से उपयुक्त उद्योगों को आर्थिक सहायता प्रदान की जानी चाहिए।

यद्यपि कृष्णमाचारी आयोग की नियुक्ति के समय देश में आयोजित विकास का कार्य प्रारम्भ नहीं हुआ था, फिर भी आयोग ने अपनी सिफारिशें इस प्रकार से दीं जिससे आयोजित विकास का कार्य सुचारु रूप से कार्यान्वित किया जा सके। आयोग ने आयोजित क्षेत्र के उद्योगों को निम्नलिखित तीन वर्गों में विभाजित किया :—

(१) प्रतिरक्षा एवं युद्ध-सम्बन्धी उद्योग (Defence and other strategic industries) :—इस वर्ग के उद्योगों को हर हालत में संरक्षण देने की सिफारिश की गयी, चाहे इसका खर्च कितना भी अधिक क्यों न हो।

(२) आधारभूत एवं प्रमुख उद्योग (Basic and Key industries) :—इस वर्ग के उद्योगों को दिये जानेवाले संरक्षण का प्रकार, उसकी मात्रा एवं शर्तों को निर्धारित करने का पूरा-पूरा अधिकार प्रशुल्क-मण्डल (Tariff Commission) के हाथों में होगा। इसमें मण्डल आवश्यकतानुसार समय-समय पर परिवर्तन की सिफारिश भी कर सकता है।

(३) 'अन्य उद्योग' (Other industries) :—तीसरी श्रेणी के सम्बन्ध में आयोग ने निम्नलिखित दो शर्तों को निश्चित किया :—(क) उद्योग को उपलब्ध आर्थिक सुविधाओं और उसकी वास्तविक अथवा सम्भावित लागत को ध्यान में रखते हुए यह निश्चित हो कि उचित अवधि में उद्योग अपना पूरा-पूरा विकास कर लेगा जिससे बिना संरक्षण एवं सहायता के उसका काम सफलतापूर्वक चल सके अथवा इस श्रेणी के उद्योगों को संरक्षण प्रदान करना चाहिए अथवा नहीं इसका निर्णय प्रशुल्क आयोग (Tariff Commission) ही करेगा, और (ख) उद्योग ऐसा हो जिसे संरक्षण प्रदान करना राष्ट्रीय हित में वांछित हो तथा जनता पर इस प्रकार के कर के अधिक भार पड़ने की सम्भावना न हो।

आयोजित क्षेत्र के बाहर वाले उद्योगों पर तीसरी श्रेणी के "अन्य उद्योगों" पर लागू होनेवाली शर्तें ही लागू होंगी।

प्रशुल्क आयोग (Tariff Commission) :—आयोग ने प्रशुल्क आयोग (Tariff Commission) नाम की एक स्थायी संस्था की स्थापना की सिफारिश की जिसमें अध्यक्ष सहित अधिक से-अधिक पाँच सदस्य होंगे। सदस्यों की नियुक्ति उनके गुणों के आधार पर होनी चाहिए, न कि किसी अन्य विशेषता के आधार पर। सदस्यों को उनकी नियुक्ति के पूर्व किसी निजी कम्पनी से सम्बन्ध रहने पर उसे व्यक्त करना चाहिए तथा आयोग की सदस्यता छोड़ने के तीन वर्ष बाद तक इन्हें किसी औद्योगिक संस्था में कोई शासन-सम्बन्धी पद भारत सरकार की अनुमति के बगैर नहीं स्वीकार करना चाहिए।

आयोग की सिफारिशों के आधार पर १९५२ ई० के प्रशुल्क आयोग अधिनियम (Tariff Commission Act) के अनुसार एक प्रशुल्क आयोग की नियुक्ति की गयी। इसके सदस्यों की नियुक्ति प्रारम्भ में तीन वर्षों के लिए की गयी, किन्तु वे पुनः नियुक्त किये जा सकते हैं। इसके तीन सदस्य हैं। इस आयोग को पहले के प्रशुल्क-मण्डलों की अपेक्षा अधिक व्यापक अधिकार दिये गये हैं। प्रशुल्क आयोग (Tariff Commission) के कुछ प्रमुख कार्य इस प्रकार से हैं— (१) प्रशुल्क आयोग संरक्षण के उद्देश्य से पूर्व स्थापित उद्योगों के साथ-साथ उन उद्योगों के सम्बन्ध में भी जाँच तथा सिफारिश कर सकता है जिसमें अभी उत्पादन प्रारम्भ नहीं हुआ है, किन्तु, संरक्षण प्रदान करने पर उत्पादन प्रारम्भ किया जा सकता है। (२) आयोग किसी भी वस्तु के मूल्य से सम्बन्धित किसी भी प्रश्न पर विचार कर सकता है एवं सुझाव दे सकता है, चाहे वह वस्तु संरक्षित हो अथवा नहीं। (३) आयोग प्रत्येक उद्योग की आवश्यकता तथा परिस्थितियों के अनुसार संरक्षण की अवधि निश्चित करने में स्वतन्त्र है। (४) आयोग संरक्षण प्रदान करने के लिए उद्योग की स्थिति की जाँच करेगा तथा समय-समय पर इसकी रिपोर्ट सरकार को देगा। यह संरक्षण करों में कमी या वृद्धि की सिफारिश भी कर सकता है, राशिपातन (dumping) के सम्बन्ध में विचार कर सकता है तथा यदि कोई उद्योग संरक्षण से अनुचित लाभ उठा रहा हो तो उसके संरक्षण को कम या समाप्त करने की सिफारिश भी कर सकता है।

नयी संरक्षण-नीति की कार्यशीलता (Working of the New Fiscal Policy) :—नयी संरक्षण-नीति को कार्यान्वित करने के लिए १९५२ ई० में एक प्रशुल्क आयोग की नियुक्ति की गयी जिसे बहुत ही विस्तृत अधिकार दिये गये हैं। आयोग ने बहुत-से नये प्रार्थी उद्योगों की स्थिति की जाँच की तथा कुछ पुराने उद्योगों की अवधि बढ़ाने के सम्बन्ध में भी जाँच के पश्चात् सिफारिश की है। नये उद्योगों के अन्तर्गत मोटर उद्योग, कास्टिक सोडा, ब्लिचिंग पाउडर, डाईस्टफ, बॉल बियरिंग उद्योग आदि हैं। १९५३-५४ ई० से लेकर १९५६-५७ ई० तक प्रशुल्क आयोग के कार्यों का अन्दाजा निम्नांकित तालिका से लगाया जा सकता है :—

वर्ष	संरक्षण की अवधि बढ़ाने की जाँच	नये रूप से संरक्षण प्रदान करने की जाँच	मूल्य-सम्बन्धी जाँच
१९५३-५४	११	४	३
१९५४-५५	१७	५	१
१९५५-५६	१७	३	६
१९५६-५७	४	२	४

इस प्रकार प्रशुल्क आयोग देश के उद्योग-धन्धों के विकास के लिए प्रशंसनीय कार्य कर रहा है। किन्तु, आयोग के सदस्यों की संख्या कम है और इसे कार्य बहुत अधिक करना पड़ता है। अतः सुझाव के तौर पर यह कहा जा सकता है कि सदस्यों की संख्या में उद्योग-संरक्षण आयोग की सिफारिशों के अनुसार वृद्धि की जानी चाहिए।

द्वितीय संरक्षण आयोग की सिफारिशों का मूल्यांकन

(An Appraisal of the Recommendations of the Second Fiscal Commission)

द्वितीय उद्योग-संरक्षण आयोग की सिफारिशें बहुत ही व्यापक है। सरकार ने आयोग की सारी सिफारिशों को मान लिया और उन्हें कार्यान्वित करने के लिए २१ जनवरी, १९५२ ई० को एक स्थायी प्रशुल्क आयोग की स्थापना की गयी। आयोग ने संरक्षण को आर्थिक विकास की सामान्य योजना का एक अंग माना है, अतः संरक्षण की समस्या को पृथक् रूप से नहीं देखा जा सकता। आयोग की सिफारिशों में प्रतिरक्षा-सम्बन्धी एवं आधारभूत उद्योगों को पर्याप्त महत्त्व दिया गया है। वास्तव में, ये उद्योग देश की सुरक्षा एवं आर्थिक विकास के लिए अत्यधिक महत्त्व-पूर्ण हैं, अतः इन्हें विशेष सुविधाएँ देना अनिवार्य भी है। नवीन उद्योगों को संरक्षण देने के सम्बन्ध में भी आयोग द्वारा निश्चित रूप से सिफारिश की गयी है। नये उद्योगों के लिए इस प्रकार की सुविधा का अभाव विवेचनात्मक संरक्षण की नीति का सबसे बड़ा दोष था। संरक्षण प्रदान करने की शर्त्तों को भी अधिक व्यापक कर दिया गया है जिससे प्रशुल्क आयोग को अपना निर्णय देने में सुगमता हो। विवेचनात्मक संरक्षण का सबसे बड़ा दोष यह था कि संरक्षण प्रदान करने के लिए निर्धारित शर्त्तों का भी बहुत संकीर्ण अर्थ लिया जाता था। संरक्षित उद्योगों के विकास एवं उन्नति के सम्बन्ध में नियमित रूप से जाँच की भी व्यवस्था की गयी है। संरक्षित उद्योगों पर निश्चित रूप से उत्तरदायित्व भी रखा गया जिससे आर्थिक विकास में अत्यधिक सहायता मिलने की आशा की जाती है।

किन्तु, आयोग द्वारा 'अन्य उद्योगों' के सम्बन्ध में निर्धारित शर्त्तें बहुत कुछ १९२१ ई० के 'तीन मूल सिद्धांतों के' अनुरूप ही जान पड़ती हैं। 'उद्योगों को प्राप्त आर्थिक सुविधाएँ' की शर्त्तें १९२१ ई० के आयोग द्वारा निर्धारित पहली शर्त्त की ही तरह है। इसी प्रकार 'उद्योग से यह आशा की जाती है कि वह उचित समय में पर्याप्त उन्नति कर लेगा तथा उचित समय के बाद इस योग्य हो जायगा कि संरक्षण के बगैर भी चल सके' क्रमशः १९२१ ई० की दूसरी तथा तीसरी शर्त्तों से मिलती-जुलती है। इन सब शर्त्तों के साथ भी बहुत अंशों में अस्पष्टता वर्तमान है जिससे प्रशुल्क आयोग के लिए इस सम्बन्ध में एक निश्चित निर्णय पर पहुँचना कठिन हो जाता है। अतः यह कहा जा सकता है कि प्रमुख तथा आधारभूत उद्योगों की तरह 'अन्य उद्योगों' को भी संरक्षण प्रदान करने या न करने का अधिकार प्रशुल्क आयोग के हाथ में छोड़ देना इन अनिश्चित शर्त्तों की अपेक्षा अधिक होता। इस प्रकार द्वितीय संरक्षण आयोग द्वारा संरक्षण के लिए निर्धारित नवीन दशाएँ विवेचनात्मक संरक्षण की दशाओं की पुनरावृत्ति मात्र हैं। अतः इनके फलस्वरूप देश की प्राशुल्किक नीति में कोई आमूल परिवर्त्तन नहीं हुआ।

प्रशुल्क नीति में संशोधन की आवश्यकता (Need for a change in the Fiscal Policy of the country) :—इस प्रकार द्वितीय संरक्षण आयोग की सिफारिशों की बहुत सारी

आलोचनाएँ दी जाती हैं। किन्तु, इनके बावजूद यह कहा जा सकता है कि आयोग की सिफारिशें आज से प्राय: २३ वर्ष पहले दी गयीं थीं। इस बीच औद्योगिक विकास के क्षेत्र में बहुत अधिक परिवर्तन हुए हैं। तीन पंचवर्षीय योजनाओं के परिणामस्वरूप देश में बहुत-से नये-नये उद्योगों की स्थापना हुई है। सार्वजनिक क्षेत्र का भी क्रमश: विस्तार हो रहा है। सरकार ने समाजवादी ढाँचे की सामाजिक व्यवस्था को अपनी आर्थिक एवं सामाजिक नीति के अन्तिम आदर्श के रूप में स्वीकार किया है। इस प्रकार पिछले लगभग २२ वर्षों की आंतरिक एवं बाहरी घटनाओं ने यह स्पष्ट कर दिया है कि भारत की संरक्षण नीति में ऐसे संशोधनों की आवश्यकता है जिससे द्रुतगति से इसका औद्योगिक विकास हो सके। और हाल में चीनी एवं पाकिस्तानी आक्रमणों से उत्पन्न संकट की स्थिति ने तो तीव्रगति से औद्योगीकरण की आवश्यकता को और भी प्रबल बना दिया है। वास्तव में, सब उद्योगों को चाहे संरक्षण देना वांछनीय भले ही न हो किन्तु महत्त्वपूर्ण उद्योगों को आवश्यक सरकारी सहायता एवं सहयोग अवश्य ही मिलना चाहिए।

गत कुछ वर्षों से विदेशी विनिमय संकट ने एक सुव्यवस्थित विदेशी व्यापार नीति अपनाने को प्रेरित किया है। भविष्य में संरक्षण एवं औद्योगिक विकास (Defence and industrial development) की आवश्यकताओं के लिए भारत को अधिक-से-अधिक विदेशी मुद्रा अर्जित करने का भरसक प्रयास करना चाहिए। इसके लिए एक ओर तो निर्यात उद्योगों के विकास का प्रयास करना होगा और दूसरी ओर अनावश्यक आयात बन्द करने होंगे एवं साथ में आवश्यक आयातों के लिए भी देश में प्रतिस्थापन योग्य पदार्थ निकालने होंगे। इस प्रकार योजना-बद्ध अर्थ-व्यवस्था में हमारी समस्त विदेशी व्यापार-नीति इस प्रकार निर्मित करनी होगी ताकि योजना सफल हो सके। अत:, हमारा ध्यान अब प्रशुल्क नीति से हटकर उपयुक्त विदेशी व्यापार-नीति पर लगा है जो अति आवश्यक है। शायद यही कारण है कि द्वितीय एवं तृतीय पंचवर्षीय योजनाओं में संरक्षण के सम्बन्ध में कोई भी चर्चा नहीं की गयी थी। इससे स्पष्ट है कि औद्योगिक विकास के लिए प्रशुल्क के अतिरिक्त अन्य साधन काम में लाने होंगे किन्तु इसका अभिप्राय यह नहीं है कि अब प्रशुल्क आयोग या अधिकारी की कोई आवश्यकता ही नहीं है, वरन् यह सुझाव है कि प्रशुल्क उद्योगों की उन्नति का केवल एक साधन है एक-मात्र साधन नहीं। इसलिए उचित विदेशी व्यापार सम्बन्धी-नीति, सरकारी क्षेत्र में उद्योगों की स्थापना एवं योजना के लक्ष्यों की पूर्ति आज अधिक आवश्यक समझे जाते हैं। अत: प्रशुल्क नीति का स्थान धीरे-धीरे गौण होते जा रहा है, क्योंकि यह नकारात्मक नीति है जिससे आयात किये गये माल की लागत बढ़ जाती है। वास्तव में, रचनात्मक उपायों को अपनाकर देशी उद्योगों की लागत कम करने से संरक्षण के उद्देश्यों की सिद्धि हो सकती है तथा देश का औद्योगिक विकास भी हो सकता है।

विशेष अध्ययन-सूची

1. B. P. Adarkar : Indian Fiscal Policy.
2. A. L. Day : Policy of Protection in India.
3. Report of the Fiscal Commission, 1921-22.
4. Report of the Fiscal Commission, 1949-50.

अध्याय : ३०

औद्योगिक वित्त एव प्रबन्ध-अभिकर्त्ता प्रणाली

(Industrial Finance and the Managing Agency System)

प्राकथन :—द्रुतगति से औद्योगिक विकास के लिए पर्याप्त मात्रा में पूँजी की आवश्यकता पड़ती है। पूँजी ही आधुनिक व्यापारिक तथा औद्योगिक संस्थाओं का जीवन है। पूँजी के वगैर कोई भी उद्योग अथवा व्यापार नहीं चल सकता। उद्योग-धन्धों को स्थापित करके इन्हें चलाने एवं समय-समय पर विस्तार करने के लिए पूँजी की आवश्यकता पढ़ती है। प्रत्येक औद्योगिक संस्थाओं को साधारणतया दो प्रकार की पूँजी की आवश्यकता पड़ती है—

(१) **स्थायी या अचल पूँजी** (Fixed Capital) :—सर्वप्रथम स्थायी सम्पत्ति जैसे—मकान, भूमि, यन्त्र आदि क्रय करने तथा व्यवसाय के विस्तारीकरण के लिए स्थायी अथवा अचल पूँजी की आवश्यकता पड़ती है।

(२) **चल या कार्यशील पूँजी** (Working Capital) :—दूसरे, अस्थायी सम्पत्ति, जैसे—कच्चा माल खरीदने, विज्ञापन तथा विक्रय-सम्बन्धी खर्चों एवं अन्य दैनिक कार्यों के लिए पूँजी की आवश्यकता पड़ती है जिसे चल या कार्यशील पूँजी कहते है। इन दोनों प्रकार की पूँजी की आवश्यकता को क्रमश: दीर्घकालीन साख (Long period Credit) तथा अल्पकालीन साख (Short Period Credit) भी कहा जाता है। किसी उद्योग को कितनी स्थायी एव कितनी कार्यशील पूँजी की आवश्यकता पड़ती है, यह उस उद्योग के आकार तथा स्वरूप पर निर्भर करता है।

स्थायी पूँजी (Fixed Capital) **की प्राप्ति के साधन** :—भारत में अधिकांश कम्पनियाँ अपनी स्थायी पूँजी जनता में अपने (क) अंश-पत्रों (Shares), एवं (ख) ऋण-पत्रों (Debentures) को बेचकर प्राप्त करती हैं।

(क) **अंश-पत्र** (Shares) :—सभी उद्योग जिनका संचालन मिश्रित पूँजी की कम्पनियों (Joint Stock Companies) द्वारा होता है अपनी स्थायी पूँजी का एक बहुत बड़ा भाग अंश-पत्रों के निर्गमन के द्वारा ही प्राप्त करते हैं। कोई भी कम्पनी कार्य प्रारम्भ करने के पूर्व अंश-पत्रों का निर्गमन करती है। प्रत्येक अंश-पत्र के खरीददार कम्पनी का एक भागीदार होता है। वह कम्पनी के लाभ का हकदार होता है। अंश साधारणतया दो प्रकार के होते हैं— साधारण अंश (Ordinary Shares) तथा पूर्वाधिकारी अंश (Preference shares)। मुनाफे के वितरण में पूर्वाधिकारी अंशवालों को प्राथमिकता दी जाती है। इसके बाद साधारण अंशवालों का स्थान आता है।

(ख) **ऋण-पत्र** (Debentures) :—स्थायी पूँजी प्राप्त करने के लिए कम्पनियाँ समय-समय पर ऋण-पत्र भी जारी करती है। ऋण-पत्रों का खरीददार कम्पनी का ऋणदाता होता है। इन ऋण-पत्रों पर एक निर्धारित दर से ब्याज भी दिया जाता है। ऋण-पत्र के खरीददार को

कम्पनी के अंशधारी की तरह कम्पनी की व्यवस्था में मत देने का अधिकार नहीं होता, किन्तु कम्पनी के भंग होने पर कम्पनी की सम्पत्ति पर पहले ऋण-पत्र वालों का ही अधिकार होता है। पश्चिमी देशों में ऋण-पत्र दीर्घकालीन साख प्राप्त करने का एक महत्त्वपूर्ण साधन है, किन्तु भारत में इसका अभी बहुत अधिक प्रचलन नहीं हुआ है।

पश्चिमी देशों की तरह हमारे देश में ऋण-पत्रों के लोकप्रिय नहीं होने के निम्नांकित प्रधान कारण हैं :—

(१) सर्वप्रथम तो अन्य देशों की तरह भारत में ऋण-पत्रों के लिए कोई स्वतन्त्र बाजार नहीं है। १९३४ ई० के पूर्व इम्पीरियल बैंक को भी ऋण-पत्र को जमानत के रूप में स्वीकार करने का अधिकार नहीं था। इसके अतिरिक्त भारत के विनियोजक बहुधा अपनी पूँजी उद्योग-धन्धों में लगाने के लिए तैयार नहीं होते थे। साथ ही, भारतीय ऋण-पत्र अधिक ऊँचे अधिमान के होते हैं; अतः उन्हें साधारण विनियोजक खरीद भी नहीं सकते। ऋण-पत्रों के हस्तान्तरण के समय टिकट वगैरह के रूप में भी अधिक रकम चुकानी पड़ती है जिससे लोग इन्हें खरीदना पसन्द नहीं करते। इन कारणों से भारत में ऋण-पत्र केवल एक विशेष वर्ग के व्यक्ति ही खरीदते हैं।

(२) भारत में ऋण-पत्रों की लोकप्रियता में भारतीय बैंक भी बहुधा बाधक सिद्ध होते हैं। जो कम्पनी ऋण-पत्र का निर्गमन करती हैं उनकी साख बैंकों की दृष्टि में घट जाती है। साथ ही भारतीय बैंक इन कम्पनियों के अंश-पत्रों की जमानत पर बहुधा कर्ज नहीं देते।

(३) छोटी-छोटी संस्थाएँ ऋण-पत्रों का निर्गमन नही कर सकती हैं क्योंकि इनके ऋण-पत्र की जनता में मांग ही कम होती है। अत ऋण-पत्रों के आधार पर केवल बड़ी-बड़ी संस्थाएँ ही ऋण प्राप्त कर सकती हैं।

(४) सरकार द्वारा भी बहुत प्रकार की प्रतिभूतियाँ जारी की जाती हैं। ये भारतीय बाजार में ऋण-पत्रों के प्रतियोगी की तगह कार्य करती हैं। इन कारणों से भारत में ऋण-पत्रों का निर्गमन ही उतना लोकप्रिय नहीं हो पाता है।

अतः हमारे देश में स्थायी पूँजी प्राप्त करने में ऋण-पत्रों का महत्त्व अपेक्षाकृत कम रहता है जो निम्नांकित तालिका[1] से स्पष्ट है —

साधन	कलकत्ते की मिश्रित पूँजी कम्पनियाँ	बम्बई की मिश्रित पूँजी कम्पनियाँ
अंशों से प्राप्त पूँजी (करोड़ रुपये में)	७६·३६	५२·८३
ऋण-पत्रों से प्राप्त पूँजी (करोड़ रुपये में)	८·६५	१७·५१

इस प्रकार हमारे देश की औद्योगिक संस्थाएँ अपनी स्थायी पूँजी का अधिकांश भाग अंश-पत्रों के द्वारा ही प्राप्त करती हैं। केन्द्रीय बैंकिंग जाँच समिति के अनुसार प्रत्येक १०० इकाई

1. Quoted by Wadia and Merchant: Our Economic Problem. P. 622

पूँजी में से ७५ प्रतिशत पूँजी साधारण अंशों द्वारा, १६ प्रतिशत पूर्वाधिकारी अंशों द्वारा तथा केवल ९ प्रतिशत ऋण-पत्रों द्वारा प्राप्त की जाती थी। प्रो० बसु[1] के अनुसार आज भी इस अनुपात में वस्तुतः कोई परिवर्तन नहीं हुआ है। इसके विपरीत, ब्रिटिश उद्योगों से ४७ प्रतिशत पूँजी साधारण अंशों द्वारा, ३३ प्रतिशत पूर्वाधिकारी अंशों द्वारा तथा २० प्रतिशत ऋण-पत्रों द्वारा प्राप्त की जाती है। रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया के अनुसार निजी क्षेत्र में १९४८ ई० से १९५६ ई० के बीच १६८ करोड़ रुपये की नयी पूँजी का निर्गमन हुआ था जिसमें से ६७·७ करोड़ रुपये साधारण अंशों द्वारा, तथा ४०·४ करोड़ रुपये ऋण-पत्रों द्वारा प्राप्त हुआ था।[1] वाडिया और मर्चेण्ट के अनुसार भारत में आजकल ऋण-पत्र बहुधा कम्पनी के लिए ही नहीं, वरन् प्रबन्ध अभिकर्त्ताओं (Managing Agents) की आवश्यकताओं की पूर्त्ति के लिए भी जारी किये जाते हैं। इस प्रकार १९५६ ई० में डालमिया सीमेंट कम्पनी लि० ने अपने प्रबन्ध अभिकर्त्ता, डालमिया जैन एण्ड कम्पनी लि० के विनियोग के लिए पूँजी प्रदान करने के उद्देश्य से ऋण-पत्रों का निर्गमन किया था। इस प्रकार के अनेक उदाहरण हमारे समक्ष हैं। ऋण-पत्रों की लोकप्रियता में इससे भी बाधा उत्पन्न होती है।

इस प्रकार भारत में ऋण-पत्रों के निर्गमन में सबसे प्रमुख कठिनाई बैंकों का व्यवहार है। भारतीय बैंक ऋण-पत्र निर्गमित करने वाली कम्पनियों को साख प्रदान करने में बहुधा आनाकानी भी करते हैं। बैंक के इस व्यवहार में परिवर्तन लाकर ऋण-पत्रों को, जो विदेशों में उद्योगों के लिए स्थायी पूँजी प्राप्त करने का एक महत्त्वपूर्ण साधन है, भारत में भी अधिक लोकप्रिय बनाया जा सकता है।

कार्यशील पूँजी
(Working Capital)

भारत के विभिन्न भागों में औद्योगिक संस्थाएँ विभिन्न प्रकार से अपनी कार्यशील पूँजी प्राप्त करती हैं। किन्तु, हमारे देश में कार्यशील पूँजी प्राप्त करने के साधारणतः निम्नलिखित चार प्रधान साधन हैं :—

(१) जनता से जमा :—जनता से जमा स्वीकार करने की प्रथा अहमदाबाद तथा बम्बई की सूती मिलों की एक अनोखी विशेषता है। देश में अन्यत्र इसका प्रचलन नहीं है। इस क्षेत्र में जनता द्वारा कम्पनियों में जमा रखने की प्रणाली का प्रचलन प्रारम्भ में लोगों का बैंकों के प्रति अविश्वास के फलस्वरूप ही शुरू हुआ। इससे लोग अपनी रकम को ऐसे व्यक्ति के पास रखने लगे जिन्हें वे अच्छी तरह से जानते थे तथा जहाँ से किसी असुविधा के बगैर वे अपनी रकम प्राप्त कर सकते थे। केन्द्रीय बैंकिंग जाँच समिति के अनुसार बम्बई की सूती-वस्त्र मिलों ने अपनी कुल पूँजी का ११ प्रतिशत भाग तथा अहमदाबाद की मिलों ने ३९ प्रतिशत भाग जनता से जमा के रूप में प्राप्त किया था। इस प्रकार अहमदाबाद तथा बम्बई की सूती वस्त्र-मिलों के लिए कार्यशील पूँजी प्राप्त करने का यह एक प्रदान साधन है। यह साधन अन्य साधनों की अपेक्षा अधिक सस्ता भी पड़ता है। किन्तु गत २० वर्षों से जनता के जमा का महत्त्व धीरे-धीरे घट रहा है। इसका प्रमुख कारण जनता में बैंकिंग-सम्बन्धी आदतों का अधिकाधिक प्रचार है।

(२) निजी जमा (Private Deposit) :—निजी जमा की प्रथा का भी हमारे देश में प्रचलन बढ़ता जा रहा है। भारत के प्रायः सभी नये उद्योगों में उद्योगपतियों, उनके मित्रों

1. Industrial Finance in India—1953-p. 7.
2. Reserve Bank of India Bulletin. August 1955, p, 761.

तथा प्रबन्ध अभिकर्त्ताओं से कार्यशील पूँजी का एक बड़ा भाग प्राप्त किया जाता है। इस प्रकार के कर्ज बैंक-दर से बहुधा आधा प्रतिशत अधिक पर दिये जाते हैं। अहमदाबाद एवं बम्बई की बहुत-सी सूती मिलों को इस प्रकार के जमा द्वारा बन्द होने से बचाया गया। निजी जमा की अचानक मांग का भी कोई प्रश्न नहीं उठता। बहुत-से नये उद्योगों के प्रारम्भिक काल में, जब उन्हें पूँजी मिलने का कोई अन्य साधन नहीं होता, तब इस साधन से पूँजी मिलती है। पुरानी औद्‌योगिक संस्थाओं को भी कठिनाई के समय इस प्रकार ली गयी रकम से बहुत अधिक सहायता मिलती है।

(३) देशी महाजन तथा साहूकार :—आज से कुछ वर्ष पूर्व देश के आर्थिक जीवन में देशी महाजन एवं साहूकारों का महत्त्वपूर्ण स्थान था। आज भी यद्यपि बड़ी-बड़ी औद्‌योगिक संस्थाएँ इनसे उधार नहीं लेतीं, फिर भी छोटी-छोटी एवं मध्यम वर्ग की औद्योगिक संस्थाएँ अपनी कार्यशील पूँजी का एक बड़ा भाग इनसे प्राप्त करती हैं। देशी महाजन व्यक्तिगत जमानत पर कर्ज देते हैं जिसके लिए ये बहुधा अधिक सूद लेते हैं। सर्राफ कमिटी ने कार्यशील पूँजी की प्राप्ति के इस साधन को अधिक नियमित बनाने के लिए इस बात की सिफारिश की थी कि इनके बिलों को भी रिजर्व बैंक द्वारा मान्यता प्रदान की जानी चाहिए। किन्तु महाजन उधार देने के कार्यों के साथ-साथ बहुधा अन्य प्रकार के कारोबार भी करते है। अतः इन्हें संगठित रूप देने में कठिनाई होगी। आजकल इन देशी महाजनों तथा साहूकारों का महत्त्व धीरे-धीरे घट रहा है।

(४) बैंकों से ऋण :—औद्योगिक संस्थाएँ अपनी कार्यशील पूँजी का एक बहुत बड़ा भाग बैंकों से भी प्राप्त करती हैं। भारतीय बैंकिंग-व्यवस्था के अन्तर्गत रिजर्व बैंक, स्टेट बैंक, ज्वायंट स्टॉक बैंक तथा विनिमय बैंक प्रमुख हैं। इनमें रिजर्व बैंक तथा स्टेट बैंक उद्‌योगों को ६ महीने से अधिक के लिए कर्ज नहीं दे सकते। साथ ही, वे अचल सम्पत्ति की जमानत पर भी कर्ज नहीं देते। विनिमय बैंकों का औद्योगिक वित्त से प्रायः कोई सम्बन्ध नहीं रहता। अतः भारत में औद्‌योगिक बित्त प्रदान करने के प्रमुख साधन ज्वायन्ट स्टॉक बैंक, यानी व्यावसायिक बैंक ही हैं। ज्वांयट स्टॉक बैंक भी व्यावसायिक बैंक होने के नाते दीर्घकाल के लिए ऋण नहीं देते। ये उद्योगों को बहुधा किसी निश्चित जमानत के आधार पर कर्ज देते हैं। किन्तु इस प्रकार का कर्ज बहुत अधिक खर्चीला होता है क्योंकि व्यावसायिक बैंक बैंक-दर से बहुधा १ प्रतिशत अधिक सूद की दर पर कर्ज देते हैं। साथ ही, कर्ज अल्पकाल के लिए मिलता है; अतः इसे सदा नया (renew) कराना पड़ता है। फिर भी, गत कुछ वर्ष से बैंकों द्वारा प्राप्त कर्ज में वृद्धि हो रही है। अनुसूचित बैंकों द्वारा भारतीय उद्‌योगों को दी गयी ऋण की रकम दिसम्बर, १९५३ ई० में १६७ करोड़ रुपये से बढ़कर दिसम्बर, १९५६ ई० में ३०६ करोड़ रुपये हो गयी। प्रमुख बैंकों के राष्ट्रीयकरण के बाद अब तो ये लघु उद्योगों को भी ऋण प्रदान करने लगे हैं, फिर भी फिस्कल कमीशन के शब्दों में देश की बढ़ती हुई आवश्यकताओं के लिए व्यावसायिक बैंकों द्वारा प्रदान की गयी साख-सम्बन्धी सुविधाएँ निश्चय ही अपर्याप्त हैं।

(५) सरकार तथा सरकारी संस्थाओं से ऋण :—वर्तमान समय में औद्योगिक वित्त प्रदान करने का एक प्रधान साधन भारत सरकार, राज्य सरकारें तथा सरकारी वित्तीय संस्थाएँ जैसे औद्‌योगिक वित्त निगम (Industrial Finance Corporation), राज्य वित्तीय निगम (State Finance Corporation), औद्योगिक बैंक (Industrial Bank), यूनिट ट्रस्ट (Unit Trust) तथा जीवन बीमा निगम (Life insurance Corporation) आदि उल्लेखनीय हैं। वर्तमान समय में ये संस्थाएँ औद्योगिक वित्त की कुल आवश्यकता का महत्त्वपूर्ण भाग पूरा करती है।

औद्योगिक वित्त-व्यवस्था में सुधार के सुझाव

भारत में औद्योगिक वित्त के साधनों के सर्वेक्षण से हम इस निष्कर्ष पर आते हैं कि यहाँ उद्योगों को या तो पर्याप्त मात्रा में वित्तीय सहायता नहीं मिलती है या यदि मिलती भी है, तो इसके लिए उन्हें बहुधा अधिक मूल्य चुकाना पड़ता है। व्यावसायिक बैंक उद्योगों को केवल अल्पकालीन साख प्रदान करते हैं। पश्चिमी देशों की तरह दीर्घकालीन साख-प्राप्ति के साधनों का हमारे देश में अभी अभाव है। यहाँ उद्यौग-धन्धों को दीर्घकालीन साख प्रदान करने के लिए केवल एक ही औद्योगिक बैंक है। पश्चिमी देशों की तरह यहाँ संगठित पूँजी बाजार भी नहीं पाया जाताहै। हाल में ही, सरकार द्वारा औद्योगिक वित्त की व्यवस्था के लिए कुछ विशिष्ट संस्थाओं, जैसे—विभिन्न प्रकार की वित्त निगमों एवं एक औद्योगिक विकास बैंक की स्थापना अवश्य हुई है। किन्तु, इनसे देश के उद्योग-धन्धों को अभी पर्याप्त मात्रा में लाभ नहीं हो सका है। साथ ही, ऐसा भी कहा जा सकता है कि देश में पूँजी की पूर्त्ति बहुत कम है। वास्तविकता तो यह है कि भारत में पूँजी के विनियोग के सम्बन्ध में विश्वस्त तथा विशेषज्ञ सलाह देनेवाली संस्थाओं का अभाव है जिससे एक औसत भारतीय इस कार्य में अपने-आप को प्रायः असमर्थ पाता है। आये दिन अनेक कम्पनियों की असफलता सुनकर उनकी असमर्थता और भी बढ़ जाती है। सारांश यह है कि समुचित प्रयत्नों द्वारा देश की औद्योगिक वित्त-व्यवस्था में आवश्यक सुधार लाया जा सकता है।

देश को औद्योगिक वित्त-व्यवस्था में सुधार के लिए सामान्यतः निम्नलिखित सुझाव दिये जा सकते हैं :—

(१) व्यावसायिक बैंकों को उद्योग-धन्धों को ऋण प्रदान करने के लिए प्रोत्साहित करना चाहिए :—सर्वप्रथम तो देश के बड़े-बड़े व्यावसायिक बैंकों की उद्योग-धन्धों के प्रति अधिक उदार नीति का अनुकरण करना चाहिए। ये कम्पनियों के अंशों का अभिगोपन (nnder-write) कर सकते हैं तथा उसी आधार पर इन्हें दीर्घकालीन ऋण भी प्रदान कर सकते हैं। व्यावसायिक बैंक वर्तमान कम्पनियों के अभिनवीकरण तथा नयी कम्पनियों की स्थापना में भी सहायता प्रदान कर सकता है। राष्ट्रीकरण के बाद व्यावसायिक बैंकों से इस क्षेत्र में बहुत अधिक सहायता की आशा की जाती है।

(२) विनियोगी संस्थाओं की स्थापना (Establishment of Investment trusts) :—छोटे-छोटे एवं बिखरे हुए विनियोजकों को सलाह देने के लिए विनियोगी संस्थाओं (Investment Trust) की स्थापना की जानी चाहिए। इस प्रकार की संस्थाओं को कम्पनियों के हिस्से रखना चाहिए जिन्हें ये छोटे-छोटे विनियोजकों के हाथ बेच सकती हैं। इस प्रकार छोटे-छोटे विनियोजकों से पूँजी प्राप्त की जा सकती है। यूनिट ट्रस्ट ऑफ इण्डिया से इस क्षेत्र में बहुत अधिक सहायता की आशा की जाती है।

(३) औद्योगिक बैंकों की स्थापना :—पश्चिम के औद्योगिक राष्ट्रों की तरह यहाँ भी औद्योगिक बैंकों (Industrial Banks) की स्थापना को प्रोत्साहित करना चाहिए। ये औद्योगिक बैंक उद्योगों को दीर्घकालीन साख प्रदान कर सकते हैं। अप्रैल; १९६४ ई० में इस प्रकार का एक औद्योगिक बैंक (Industrial Development Bank) भारत सरकार द्वारा स्थापित किया गया। अतः इसकी स्थापना से औद्योगिक वित्त के क्षेत्र में एक बड़े अभाव की पूर्ति की आशा की जा सकती है। औद्योगिक वित्त निगम (Industrial Finance Corporations), राज्य वित्त निगम (State Financial Corporations) तथा इसी प्रकार की अन्य संस्थाओं की स्थापाना से भी इस क्षेत्र से बहुत अधिक सहायता प्राप्त हुई है।

प्रबन्ध-अभिकर्त्ता प्रणाली
(Managing Agency System)

उत्पत्ति एवं विकास :—प्रबन्ध अभिकर्त्ता प्रणाली भारतीय औद्योगिक व्यवस्था की एक अपूर्व विशेषता है। यह प्रथा विश्व में अपने ढंग की निराली है। कोई भी व्यक्ति, फर्म अथवा कम्पनी जिसे कम्पनी के साथ किये गये समझौते के अनुसार कम्पनी के कार्यों की व्यवस्था का अधिकार प्राप्त है, प्रबन्ध अभिकर्त्ता (Managing Agents) कहलाता है। (Managing agents are individuals and group of individuals who, possessing strong Financial resources, carry out the preliminary work of investigation precedent to the starting new concerns, promote Joint stock compnies, act as their financiers and generally manage their business.) ये कम्पनी के संचालकों के नियंत्रण एवं निर्देशों के अनुसार अथवा किसी समझौते के अनुसार ही कार्य करते हैं। इनके हाथ में कम्पनी की सम्पूर्ण व्यवस्था रहती है, फलत: ये कम्पनी पर अपना पूरा नियन्त्रण रखते हैं। इन पर संचालकों का नियन्त्रण केवल समझौते की शर्तों के अनुसार ही रहता है। संचालक गण इन्हें समझौते की सीमा के अन्तर्गत ही निर्देश जारी कर सकते हैं। समझौते के अभाव में इनका सम्बन्ध तत्सम्बन्धी कानून के द्वारा निर्धारित होता है।

भारत के औद्योगिक विकास में प्रबन्ध अभिकर्त्ताओं का प्रारम्भ से ही महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है। भारतीय प्रशुल्क मण्डल के अनुसार देश के केवल सरकारी क्षेत्र के संगठित बड़े उद्योगों को छोड़कर अन्य सभी उद्योग प्रबन्ध-अभिकर्त्ताओं के साहस से ही पनप पाये हैं। वास्तव में, प्रबन्ध-अभिकर्त्ता प्रणाली का उदय भारत के औद्योगिक विकास के साथ-ही-साथ हुआ। हमारे देश में औद्योगिक विकास के लिए आवश्यक प्राय सभी प्राकृतिक साधन मौजूद थे, पूँजी एवं साहस के अभाव में नये उद्योगों की स्थापना में कठिनाई होती थी।[1] प्रबन्ध-अभिकर्त्ता किसी फार्म की स्थापना में आवश्यक सभी प्रारम्भिक कार्रवाइयों को करते थे—ये फर्म की स्थापना की योजना तैयार करते थे, उसकी रजिस्ट्री करते थे, उसके हिस्से बेचते थे, आवश्यक पूँजी प्रदान करते थे, और जब फर्म चलने लगती तो अपनी अधिकांश पूँजी उससे निकालकर केवल प्रबन्ध तक ही अपने कार्य को सीमित रखते थे। भारत के औद्योगिक विकास के प्रारम्भ में एक ऐसे वर्ग की प्रबल आवश्यकता थी। अत धीरे-धीरे प्रबन्ध अभिकर्त्ताओं का महत्त्व बढ़ने लगा। भारतीय बैंक भी कम्पनियों को दीर्घकालीन कर्ज नहीं प्रदान करते थे। अल्पकालीन साख के लिए भी ये बहुधा प्रबन्ध-अभिकर्त्ताओं द्वारा ऋण की गारन्टी चाहते थे। अच्छी आर्थिक स्थितिवाली कम्पनियाँ भी बैंकों से तब तक ऋण नहीं प्राप्त कर सकतीं जब तक उनके प्रबन्ध-अधिकर्त्ता उनके ऋणों की गारन्टी नहीं प्रदान करें। देश के औद्योगिक संगठन में प्रबन्ध-अभिकर्त्ताओं के महत्त्वपूर्ण स्थान का यह भी प्रमुख कारण है। इस प्रकार देश की परिस्थितियों ने प्रबन्ध-अभिकर्त्ताओं को महत्त्वपूर्ण बनाने में अकथनीय सहयोग प्रदान किया है।[2]

प्रबन्ध अभिकर्त्ताओं की फर्म अधिकांशत: साझेदारी अथवा निजी सीमित दायित्व की कम्पनियाँ (Private Limited Companies) के रूप में पायी जाती हैं। इन फर्मों का निर्माण अधिक पैसे वाले कुशल व्यापारियों द्वारा किया जाता है। इनका उद्देश्य अपने अनुभव एवं ज्ञान के बल पर, स्वयं अपने या उधार ली गयी पूँजी द्वारा उद्योग-धन्धों की स्थापना एवं उनका प्रबन्ध करना है। भारत में औद्योगिक विकास के प्रारम्भ में दो वर्गों के व्यक्तियों ने उद्योगों की स्थापना का कार्य प्रारम्भ किया। एक वर्ग तो अँग्रेज व्यापारियों एवं साहसियों का

1. Reserve Bank of India Bulletin—May, 1956, P, 532.

2. "Thus history, geography and economics all combined to create and develop a system which in some of its distinctive features still retains its unique character." Company Law Committee, 1952, PP. 82-83.

था जो अपनी अथवा अपने देश की पूँजी से भारत में उद्योग-धन्धों की स्थापना करना चहता था तथा दूसरा वर्ग बम्बई, अहमदाबाद एवं अन्य केन्द्रों के सूती-वस्त्र के व्यापारियों का था। अतः आज के प्रबन्ध अभिकर्त्ता-गृहों में से कुछ संस्थाएँ भारतीय एवं कुछ यूरोपीय हैं।

भारत में प्रबन्ध अभिकर्त्ता प्रणाली की उत्पत्ति देश में संगठित पूँजी बाजार के अभाव के कारण ही हुई। हमारे यहाँ लोग व्यवसाय में पूँजी लगाना नहीं चाहते थे। साथ ही, देश में उद्योग-धन्धों की स्थापना को प्रोत्साहित करने के लिए औद्योगिक बैंकों का भी अभाव था। औद्योगीकरण के प्रारम्भिक काल में, जबकि देश में उद्योग प्रारम्भ करने के लिए साहस तथा पूँजी दोनों का अभाव था, प्रबन्ध अभिकर्त्ता प्रणाली ने इन दोनों अभाव को पूरा किया। इसी से इस प्रथा को उत्पत्ति हुई। वास्तव में, प्रबन्ध-अभिकर्त्ता व्यवसाय आरम्भ करते हैं, उनमें पूँजी लगाते हैं, उनका प्रबन्ध करते हैं तथा अन्य पूँजी प्रदान करने वालों का उस व्यवसाय में विश्वास उत्पन्न करते हैं। देश की सैकड़ों कम्पनियों की स्थापना आजकल प्रबन्ध अभिकर्त्ताओं के द्वारा ही की गयी है। आज के सुसंगठित तथा सुदृढ़ साधन वाले सूती-वस्त्र तथा इस्पात उद्योग, चाय एवं कहवा के बगान आदि को वर्त्तमान स्थिति तक पहुँचाने में पुराने प्रबन्ध अभिकर्त्ताओं ने अकथनीय सहयोग प्रदान किया है।

देश में प्रबन्ध-अभिकर्त्ता प्रणाली के विस्तार का सही अन्दाजा लगाना कठिन है। एक साधन के अनुसार भारत में कम्पनियों की कुल संख्या प्रायः २८,५०० से भी अधिक है जिनमें प्रारम्भिक काल के मूल्य-स्तर के आधार पर प्रायः १६०० या १७०० करोड़ रुपये की पूँजी के विनियोग का अनुमान किया जाता है। भारत में कम्पनियों के उत्पादन में सहायक परि-सम्पत्ति का प्रायः ८६ प्रतिशत भाग उन कम्पनियों की परि-सम्पत्ति है जो प्रबन्ध-अभिकर्त्ताओं के प्रबन्ध में हैं। अनुमान लगाया जाता है कि अप्रैल, १९६६ ई० में देश में ५९० फर्में अथवा कम्पनियाँ प्रबन्ध-अभिकर्त्ताओं के रूप में कार्य करती थीं। इनमें से २९३ साझेदारी, ७० पब्लिक लिमिटेड कंम्पनियाँ तथा २२७ निजी कम्पनियों के रूप में कार्य करती थीं।

प्रबन्ध-अभिकर्त्ता प्रणाली की कार्यवाही के सम्बन्ध में हाल में ही एक अध्ययन किया गया है जिसके आधार पर इनके द्वारा व्यवस्थित कम्पनियों का अन्दाजा निम्नलिखित तालिका से लगाया जा सकता है :--

प्रबन्ध-अभिकर्त्ताओं द्वारा व्यवस्थित कम्पनियों की संख्या

	१९५४-५५			१९६२-६३		
	सार्वजनिक कम्पनियाँ	निजी कम्पनियाँ	कुल	सार्वजनिक कम्पनियाँ	निजी कम्पनियाँ	कुल
१. कुल कार्य करने वाली कम्पनियाँ	९,१२६	१९,४४२	२८,५६८	५,३७०	१९,२१८	२४,५८८
२, प्रबंध अभिकर्त्ताओं द्वारा व्यवस्थित कम्पनियाँ	४०९१	९६४	५,०५५	१,२१७	२२३	१४४०
३. (२) पहले के % में	४४.९	५.०	१७.७	२२.६	१.२	५.९

(२) व्यवस्थापन का एकत्रीकरण (Concentration of control) :—प्रबन्ध-अभिकर्त्ता प्रणाली का दूसरा प्रधान दोष यह है कि एक ही अभिकर्त्ता के अधीन ब ुत-से उद्योग-धन्धों की व्यवस्था रहती है। इस प्रथा के प्रारम्भ से ही व्यवस्थापन के एकत्रीकरण की प्रवृत्ति स्पष्ट होने लगी है। इसके फलस्वरूप इनका कार्य-क्षेत्र बहुत व्यापक तथा वित्तीय पैमाना बहुत बड़ा हो जाता है। बिहार और उड़ीसा बैंकिंग जाँच समिति के अनुसार कलकत्ते की एक फर्म एन्ड्रयू यूल एण्ड कं० (Andrew Yule & Co.) ५४ कम्पनियों का प्रबन्ध करती थी। श्री दमुवदा के अनुसार ब्रिटिश प्रबन्ध-अभिकर्त्ता फर्मों में सबसे अधिक मैकडोल एण्ड कम्पनी द्वारा ६० कम्पनियों तथा सबसे कम बी० ए० इलियास एण्ड कम्पनी द्वारा केवल १० कम्पनियों की व्यवस्था की जाती है। भारतीय प्रबन्ध अभिकर्त्ताओं में बिड़ला ब्रदर्स द्वारा सबसे अधिक, प्राय: १२८ तथा सबसे कम सूरजमल नागरमल द्वारा ११ कम्पनियों को व्यवस्था की जाती है। किन्तु अब भारतीय कम्पनी अधिनियम में संशोधन के अनुसार एक प्रबन्ध अभिकर्त्ता अधिक-से-अधिक दस फर्मों की ही व्यवस्था कर सकता है। अत. ५९० वर्तमान प्रबन्ध अभिकर्त्ताओं में से अधिकांश के जिम्मे एक या दो फर्मों की ही व्यवस्था है। व्यावसायिक योग्यता एवं सार्वजनिक हित के उद्देश्य से व्यवस्थापन के इस एकत्रीकरण से बहुत लाभ की आशा की जा सकती है—उदाहरणार्थ चूँकि एक ही अभिकर्ता फर्म द्वारा कई धन्धों की ओर से माल, यन्त्र एवं अन्य वस्तुओं की खरीद-बिक्री की जाती है तथा एक ही कार्यालय से इन सबका प्रबन्ध होता है, अत: इससे अनेक आन्तरिक एवं बाह्य मितव्ययिताएँ (internal and external economies) प्राप्त होती हैं। साथ ही, इनमें विभिन्न कम्पनियों में वित्तीय सहयोग सम्भव होता है क्योंकि एक कम्पनी का अतिरिक्त धन आवश्यकता पड़ने पर दूसरी कम्पनी को मिल जाता है।

किन्तु अधिकांश प्रबन्ध-अभिकर्त्ता फर्म की व्यवस्था अयोग्य अथवा अनैतिक व्यक्तियों द्वारा की जाती हैं जिससे इस प्रथा में नियन्त्रण-सम्बन्धी अनेक बुराइयाँ आ गयी हैं। ऐसी स्थिति में व्यवस्थापन के एकत्रीकरण से व्यवस्थापन-सम्बन्धी अनेक दोष आ जाते हैं।

(३) अन्तर-विनियोग (Inter-locking of funds) :—प्रबन्ध अभिकर्त्ता अपने नियन्त्रण के अन्तर्गत की कम्पनियों की आधिक्य राशि दूसरी कम्पनियों को ऋण के रूप में देते हैं। इस प्रकार व्यवस्थापन के एकीकरण से अन्तर विनियोग की प्रथा का प्रचलन हो गया है। बम्बई तथा अहमदाबाद की सूती मिलों में यह प्रथा विशेष रूप से पायी जाती है। एक कम्पनी के विस्तारीकरण के लिए प्राप्त धन बहुधा दूसरी कम्पनी को पुनर्जीवित करने में लगाया जाता है। इस प्रकार अच्छी आर्थिक स्थिति वाली कम्पनी का धन बुरी आर्थिक स्थिति वाली कम्पनी में लगाया जाता है जिसका अच्छी कम्पनी की स्थिति पर विपरीत प्रभाव पड़ता है। अन्तर-विनियोग का समाज पर भी बड़ा बुरा प्रभाव पड़ता है। इसके फलस्वरूप निर्बल कम्पनियाँ भी जीवित रहती हैं जो समाज एवं देश के लिए निश्चय ही हानिकारक है। विनियोगी वर्ग पर भी इसका बुरा प्रभाव पड़ता है। १९३० ई० में सोराक स्पिनिंग एण्ड विंग कं० के तलपट में इसके प्रबन्ध अभिकर्त्ता मफतलाल चन्दुलाल एण्ड कम्पनी के नाम १६,१७,००० रुपये ऋण के रूप में दिखाया गया था। इस प्रकार के बहुत-से उदाहरण हमें मिलते हैं।

(४) आर्थिक शोषण (Economic exploitation) :—प्रबंध अभिकर्त्ता अपनी व्यवस्था के अन्तर्गत की कम्पनियों का विभिन्न रूप से शोषण भी करते हैं। ये अपने पारिश्रमिक के रूप में कम्पनी के लाभ का एक बहुत बड़ा भाग अपने पास रख लेते हैं। ये कम्पनी से विभिन्न रूप

में पारिश्रमिक लेते हैं जिनमें निम्नलिखित प्रमुख हैं—व्यक्तिगत भत्ता, उत्पादन पर कमीशन, कच्चे माल पर कमीशन तथा कार्यालय का कार्य चलाने के लिए भी उन्हें कुछ धन दिया जाता है। १९५६ ई० के कम्पनी विधान के पूर्व प्रबन्ध-अभिकर्त्ता कम्पनियों से उनके माल की बिक्री के आधार पर अपना पारिश्रमिक लेते थे। कम्पनियों के लिए यह बिल्कुल न्याय संगत नहीं था। प्रबन्ध-अभिकर्त्ताओं की आय कम्पनी की सम्पूर्ण आय के प्रतिशत अनुपात में १९४६ ई० में १२ प्रतिशत तथा १९५२ ई० में १४ प्रतिशत थी। इससे स्पष्ट है कि कम्पनियों के लाभ का एक बहुत बड़ा अंश प्रबन्ध-अभिकर्त्ता स्वयं ले लेते है।

(५) **प्रबन्ध-अभिकर्त्ता प्रणाली धीरे-धीरे वंशानुगत** (hereditary) हो गयी जिसके परिणामस्वरूप अयोग्य व्यक्ति भी प्रबन्ध-अभिकर्त्ता होने लगे। अतएव अयोग्य व्यक्तियों के प्रबन्ध-अभिकर्त्ता होने के कारण इस सम्बन्ध में कठिनाई बहुत बढ़ने लगी। इस प्रकार प्रबन्ध-अभिकर्त्ता प्रणाली से व्यापार के संचालन में भी शिथिलता आ जाती है।

(६) **अनुचित परिकल्पना को प्रोत्साहन** :—इस प्रणाली के फलस्वरूप अंशों में बहुत अधिक मात्रा में परिकल्पना (Large Scale Speculation) होने लगी है। ये विभिन्न प्रकार के अंशों के मूल्य में अपनी इच्छानुसार परिवर्तन करने की कोशिश करते हैं जिससे विनियोक्ताओं को बहुत ही हानि होती है।

(७) **संचालकगण भी इनके हाथ की कठपुतली बन गये** :—कम्पनी की दैनिक कार्य-वाही के लिए संचालकगण ही जिम्मेदार होते हैं। किन्तु धीरे-धीरे ये संचालकगण प्रबन्ध-अभिकर्त्ताओं के हाथ की कठपुतली की तरह होते हैं, अतः इन्हीं के इशारे पर सारा कार्य करते हैं।

प्रबन्ध-अभिकर्त्ता प्रणाली का भविष्य
(Future of the Managing Agency System)

इस प्रकार उपरोक्त सभी दोषों के विवरण से स्पष्ट है कि प्रबन्ध-अभिकर्त्ता प्रणाली वर्तमान परिस्थितियों में सर्वथा उपयोगी नहीं रह गयी है। प्रारम्भ में इस प्रथा ने देश के औद्योगीकरण में निस्सन्देह बहुत ही महत्त्वपूर्ण सहयोग प्रदान किया था, किन्तु आज विभिन्न दोषों के फलस्वरूप यह सर्वथा अनुपयोगी हो गयी है। तब क्या इस प्रथा को समाप्त कर देना चाहिए ? इस सम्बन्ध में हमारे समक्ष दो भिन्न दृष्टिकोण हैं। उदाहरण के लिए, प्रो० के० टी० साह के अनुसार "यह प्रथा बिल्कुल बेकार हो गयी है, अतः इसे यथाशीघ्र समाप्त करना अनिवार्य है।" (The system is rotten root and branch, leaf and bark and blossom and must be abolished at the very first opportunity.) किन्तु १९४९-५० ई० का फिस्कल कमीशन इस प्रथा को समाप्त करने के बजाय इसमें सुधार लाने के पक्ष में था। कम्पनी-विधान समिति की भी यही राय थी। समिति के अनुसार देश की विभिन्न परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुए वर्त्तमान आर्थिक व्यवस्था के अन्तर्गत प्रबन्ध-अभिकर्त्ता प्रणाली पर निर्भर करना आवश्यक जान पड़ता है। समिति की राय में इस प्रथा में निस्सन्देह बहुत-से दोष आ गये हैं, फिर भी सुधार द्वारा इससे निजी क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण सहयोग प्राप्त किया जा सकता है। फलतः समिति ने इसके अवगुणों को दूर करने के लिए कम्पनी अधिनियम की प्रबन्ध अभिकर्त्ता-सम्बन्धी धाराओं में आवश्यक संशोधन के लिए भी सुझाव दिया था। योजना आयोग भी कम्पनी विधान समिति की राय से सहमत है। कम्पनी विधान समिति ने प्रबन्ध-अभिकर्त्ताओं की नियुक्ति की शर्तें, उनके पारिश्रमिक तथा उनके उधार लेन-देन सम्बन्धी अनुबन्ध एवं कम्पनी की खरीद-बिक्री के अधिकार

के सम्बन्ध में संशोधन की सिफारिश की थी। समिति की सिफारिशों के आधार पर भारतीय कम्पनी अधिनियम में आवश्यक संशोधन किया गया है जिसमें प्रबन्ध अधिकर्त्ताओं पर तरह-तरह के नियन्त्रण की व्यवस्था भी की गयी है।

उक्त तथ्यों के विश्लेषण से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि प्रबन्ध-अभिकर्त्ता प्रणाली अब वर्त्तमान परिस्थितियों में लाभदायक नहीं रह गयी है। अतः देश के औद्योगिक विकास के हित में इसे समाप्त कर देना ही अधिक उपयुक्त होगा। प्रबन्ध-अभिकर्त्ता निजी क्षेत्र के औद्योगिक गृहों को वित्तीय सहायता अवश्य प्रदान करते हैं, किन्तु देश के औद्योगिक हित में यह आवश्यक है कि निजी क्षेत्र को वित्तीय सहायता प्रदान करने के लिए अधिक उचित एवं संगठित व्यवस्था के विकास को प्रोत्साहित किया जाय। इसके लिए देश में औद्योगिक बैंकों के संगठन को प्रोत्साहित करना आवश्यक है। साथ ही, उद्योगों के सहायतार्थ विभिन्न संस्थाओं एवं निगमों की स्थापना के फलस्वरूप अब इस प्रकार की शोषक प्रथा बिलकुल अनावश्यक तथा अनुपयोगी हो गयी है, अतः इसे समाप्त करना ही अधिक उचित जान पड़ता है।

१९५६ ई० के पूर्व प्रबन्ध-अभिकर्त्ता प्रणाली में सुधार (Reforms in the Managing Agency system prior to 1956 Company Act)—उपरोक्त कारणों से देश में धीरे-धीरे प्रबन्ध-अभिकर्त्ता प्रणाली के विरुद्ध प्रतिक्रिया होने लगी जिसके फलस्वरूप भारतीय कम्पनी विधान में १९३६ ई० में संशोधन किया गया तथा प्रबन्ध-अभिकर्त्ताओं पर निम्नलिखित प्रतिबन्ध लगाये गये :—(१) किसी भी प्रबन्ध-अभिकर्त्ता की नियुक्ति २० वर्षों से अधिक के लिए नहीं की जा सकती है। पुराने प्रबन्ध-अभिकर्त्ताओं की नियुक्ति भी इस विधान के प्रारम्भ होने से २० वर्षों के बाद समाप्त हो जायगी। (२) इसके अनुसार प्रबन्ध-अभिकर्त्ताओं का वेतन भी लाभ के एक निश्चित प्रतिशत के रूप में निश्चित कर दिया गया तथा जिस वर्ष लाभ नहीं होता, उस वर्ष इन्हें एक न्यूनतम रकम कार्यालय के भत्ते के रूप में देने की व्यवस्था की गयी। (३) ऋण के लेन-देन के सम्बन्ध में भी कुछ प्रतिबन्ध लगाये गये हैं। इस संशोधन के अनुसार किसी एक कम्पनी के कोष का एक ही प्रबन्ध अभिकर्त्ता के अन्तर्गत की किसी दूसरी कम्पनी के विकास में उपयोग नहीं किया जा सकता। (४) कोई भी प्रबन्ध-अभिकर्त्ता कम्पनी के संचालक-मण्डल के एक-तिहाई से अधिक संचालकों को मनोनीत नहीं कर सकता। (५) कम्पनी प्रविवरण में प्रबन्ध-अभिकर्त्ता के साथ किये गये समझौते की शर्तों को दिखलाना भी अनिवार्य बनाया गया।

इसके अतिरिक्त और भी बहुत-से संशोधन किये गये, किन्तु ये संशोधन ब्रिटिश शासन-काल में उचित रूप से लागू नहीं किये गये। अतएव इस स्थिति में कोई संतोषजनक सुधार नहीं हुआ। अतः, स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद अक्टूबर, १९५० ई० में एक कम्पनी विधान समिति (Company Law Committee) की नियुक्ति की गयी। समिति ने इस सम्बन्ध में बहुत से महत्त्वपूर्ण सुझाव दिये जिनके आधार पर संसद् में एक भारतीय कम्पनी विधेयक प्रस्तुत किया गया जो संसद् द्वारा पारित होने पर १ अप्रैल, १९५६ ई० से लागू किया गया।

१९५६ ई० का भारतीय कम्पनी विधान तथा प्रबन्ध-अभिकर्त्ता प्रणाली (The Indian Companies Act of 1956 and the Managing Agency System):—१९५६ ई० कम्पनी अधिनियम के निम्नांकित तीन मुख्य उद्देश्य है—(१) समुचित विधान द्वारा कम्पनी व्यवस्था की बुराइयों को दूर करना, (२) अंशधारियों एवं जनसाधारण के हितों के व्यवस्थापकों की कार्यवाहियों के विरुद्ध सुरक्षा; तथा (३) निजी क्षेत्र को समाजवादी ढाँचे की सामाजिक व्यवस्था की स्थापना के योग्य बनाना। प्रबन्ध अभिकर्त्ता प्रणाली के सम्बन्ध में इस अधिनियम में निम्नलिखित व्यवस्थाएँ की गयी हैं :—

(i) इसके द्वारा एक विशेष वर्ग के उद्योग तथा व्यापार के अन्तर्गत की सभी कम्पनियों की व्यवस्था में २५ अगस्त, १९६० ई० के बाद प्रबन्ध-अभिकर्त्ता की नियुक्ति अथवा पुनर्नियुक्ति की स्वीकृति सर्वप्रथम कम्पनी के सर्वसाधारण बैठक द्वारा तथा तत्पश्चात् केन्द्रीय सरकार द्वारा करानी होगी।

(ii) किसी प्रबन्ध-अभिकर्त्ता की नियुक्ति एक बार में १५ वर्षों से अधिक के लिए नहीं की जा सकती।

(iii) साथ ही, इस अधिनियम के अनुसार १५ अगस्त, १९६० ई० के बाद कोई भी प्रबन्ध-अभिकर्त्ता एक साथ १० कम्पनियों से अधिक का प्रबन्ध नहीं कर सकता है। इनके अतिरिक्त दिवालिया होने अथवा कम से-कम ६ माह का कारावास मिलने पर प्रबन्ध-अभिकर्त्ता को स्वतः पदत्याग कर देना पड़ेगा।

(vi) वेतन के सम्बन्ध में इस बात की व्यवस्था की गयी कि प्रबन्ध-अभिकर्त्ताओं को सामान्यतः कम्पनी के वार्षिक वास्तविक लाभ (Annual net profit) के १० प्रतिशत से अधिक वेतन के रूप में नहीं दिया जा सकता है। इससे अधिक वेतन देने के लिए कम्पनी को एक विशिष्ट प्रस्ताव द्वारा अनुमति प्रदान करना होगी तथा इस आधार पर केन्द्रीय सरकार की अनुमति भी प्राप्त करनी होगी। प्रबन्ध-अभिकर्त्ताओं के अधिकार पर भी इस नियम द्वारा बहुत-से प्रतिबन्ध लगाये गये हैं।

(v) प्रबन्ध-अभिकर्त्ता ऐसी व्यावसायिक इकाइयों में जिनमें केवल पाँच तक संचालक हैं एक संचालक की नियुक्ति तथा पाँच से अधिक संचालकवाली कम्पनियों में दो संचालकों की नियुक्ति कर सकता है। साथ ही, प्रबन्ध-अभिकर्त्ता अपने अधिकारों का प्रयोग समझौते की शर्तों के अनुसार संचालक मण्डल (Board of Directors) के निरीक्षण एवं निर्देश में ही कर सकते हैं।

(vi) इस नियम द्वारा प्रबन्ध-अभिकर्त्ताओं पर और भी बहुत-से प्रतिबन्ध लगाये गये हैं, जैसे—एक ही प्रबन्ध-अभिकर्त्ता के प्रबंध में एक से अधिक कम्पनियों के बीच अन्तर-विनियोग, कम्पनी द्वारा उसी वर्ग की अन्य कम्पनियों के अंशों को खरीदना तथा प्रबन्ध-अभिकर्त्ता के अन्तर्गत की कम्पनियों द्वारा प्रबन्ध अभिकर्त्ताओं को कर्ज देना आदि पर भी प्रतिबन्ध लगाया गया है। इन सब नियमों के उल्लंघन करने पर कठिन दण्ड की व्यवस्था भी की गयी।

(vii) इस अधिनियम के अनुसार किसी कम्पनी की साधारण सभा के एक साधारण प्रस्ताव द्वारा प्रबन्ध-अभिकर्त्ताओं को धोखा अथवा विश्वासघात करने, कर्त्तव्यच्युत तथा कुप्रबन्ध के लिए उनके पद से हटाया जा सकता है।

भारतीय कम्पनी (संशोधन) अधिनियम १९६० और प्रबन्ध-अभिकर्त्ता-प्रणाली (Indian Companies Amendment Act 1960 and the Managing Agency System) :— १९५६ ई० के कम्पनी विधान की बहुत अधिक आलोचना की जाने लगी, अतएव सरकार ने इस विधान के संशोधन के सम्बन्ध में राय देने के लिए एक समिति की नियुक्ति की जिसके प्रतिवेदन के आधार पर कम्पनी विधान में पुनः संशोधन हुआ जो दिसम्बर, १९६० ई० से लागू है। इस संशोधन के द्वारा प्रबन्ध-अभिकर्त्ता प्रणाली में चले आने वाले बहुत-से दोषों को दूर करने का प्रयास किया गया है। सर्वप्रथम तो प्रबन्ध अभिकर्त्ता किसी कम्पनी के कोष का पुनर्विनियोग नहीं कर सकते। प्रबन्ध-अभिकर्त्ता के पारितोषिक के सम्बन्ध में भी इसमें कई संशोधन किये गये हैं। साथ ही, इस संशोधन के अनुसार कोई भी व्यक्ति अथवा फर्म किसी कम्पनी का प्रबन्ध-अभिकर्त्ता

सभी हो सकता है जबकि उसके नाम सार्वजनिक कम्पनी के १० प्रतिशत तथा निजी कम्पनी के ५ प्रतिशत हिस्से हों।

प्रबन्ध-अभिकर्त्ता जाँच समिति (Managing Agency Inquiry Committee, 1966) :—किन्तु इन सब के बावजूद स्थिति में कोई सुधार नहीं हो सका। अतएव भारत सरकार ने डॉ० आई० जे० पटेल की अध्यक्षता में एक समिति की नियुक्ति की जिसका प्रधान उद्देश्य प्रबन्ध-अभिकर्त्ता प्रणाली को समाप्त करने की वांछनीयता पर विचार करना था। समिति ने चीनी, सूती-वस्त्र, सीमेंट, कागज तथा जूट उद्योगों में प्रबन्ध-अभिकर्त्ता प्रणाली की कार्यवाही का अध्ययन किया तथा इन उद्योगों से इस प्रथा को समाप्त करने की सिफारिश की। किन्तु इस प्रथा को समाप्त करने में समिति ने धीरे-धीरे तथा सावधानीपूर्वक कार्य करने का सुझाव दिया। भारत सरकार ने समिति की सिफारिशों को स्वीकार कर लिया तथा इन उद्योगों में २ अप्रैल, १९६७ से नये प्रबन्ध-अभिकर्त्ताओं की नियुक्ति को बिल्कुल बन्द कर दिया तथा अप्रैल, १९७० से इन उद्योगों से प्रबन्ध-अभिकर्त्ता प्रणाली को समाप्त करने की घोषणा की, किन्तु १९६८ ई० के भारतीय कम्पनीज विधान में संशोधन के अनुसार १ अप्रैल, १९७० ई० से देश के सभी उद्योगों से प्रबन्ध-अभिकर्त्ता प्रणाली को समाप्त करने की व्यवस्था की गयी। साथ ही, सेक्रेटरी तथा ट्रेजरर के द्वारा कम्पनियों की व्यवस्था को भी उसी दिन से समाप्त कर दिया गया।

किन्तु इस संशोधन का परिणाम यही हुआ की पहले के जो मैनेजिंग एजेन्ट थे वही अब इन कम्पनियों के मैनेजिंग डायरेक्टर तथा कुछ हालतों से मैनेजिंग कन्सलटेंट (Managing Consultants) आदि हो गये तथा तनख्वाह आदि के रूप में बड़ी-बड़ी रकमें लेते हैं।

विशेष अध्ययन-सूची

1. R R. Nigam : Managing Agencies in India.
2. N. C. A. E R. : The Managing Agency System—A Review of its Working and Prospects.
3. N. DASS. : Industrial Enterprises in India.
4. Report of the Managing Agency Inquiry Committee, 1966.

अध्याय : ३१

औद्योगिक वित्त निगम एवं अन्य वित्तीय संस्थाएँ

(Industrial Finance Corporation and other Financial Institutions)

परिचय :—द्रुतगति से औद्योगिक विकास के लिए पर्याप्त मात्रा में स्थायी एवं चल पूँजी की आवश्यकता पड़ती है। छोटे अथवा बड़े, सभी उद्योगों को इन दोनों प्रकार की पूँजी की आवश्यकता पड़ती है। अन्य देशों की तरह हमारे देश में भी बड़े-बड़े उद्योगपतियों को अपनी औद्योगिक योजनाएँ कार्यान्वित करने के लिए सुविधापूर्वक पूँजी प्राप्त हो जाती है। आवश्यकता पड़ने पर ये बैंकों से भी कर्ज ले लेते हैं, अपने मित्रों को विनियोग के लिए प्रोत्साहित करते हैं तथा इनके अधीन की कम्पनियों के ऋण-पत्र भी सुगमतापूर्वक बिक जाते हैं। वित्त-प्राप्ति के क्षेत्र में वास्तविक कठिनाई का सामना उन व्यापारियों को करना पड़ता है जो इस क्षेत्र के लिए होते हैं। इनके पास उचित योजनाएँ तो रहती हैं किन्तु उन्हें कार्यान्वित करने के लिए पूँजी का अभाव रहता है। इस प्रकार के व्यापारियों को वित्तीय सहायता की सर्वाधिक आवश्यकता होती है। जर्मनी आदि पश्चिमी देशों में औद्योगिक बैंक इस कार्य में आवश्यक सहयोग प्रदान करते हैं। किन्तु, भारत में औद्योगिक बैंकों का अभाव है। यहाँ पश्चिमी देशों की तरह विनियोगी संस्थाएँ (Investment Trusts) तथा निर्गम गृह (Issue Houses) भी नहीं पाये जाते हैं। साथ ही, व्यावसायिक बैंक केवल अल्पकाल के लिए ही ऋण प्रदान करते हैं। अतः हमारे देश में दीर्घकालीन वित्त-प्राप्ति के साधनों का बिल्कुल अभाव है जिसके लिए एक विशेष प्रकार की संस्था की स्थापना की आवश्यकता बहुत दिनों से महसूस होता रही है।

औद्योगिक वित्त-निगम

(Industrial Finance Corporation)

इस अभाव को दूर करने के लिए औद्योगिक आयोग ने औद्योगिक बैंक की तरह एक विशेष प्रकार की संस्था के निर्माण का सुझाव दिया था। केन्द्रीय बैंकिंग जाँच-समिति ने भी इस कार्य के लिए देश में एक औद्योगिक वित्त निगम की स्थापना का सुझाव दिया था। किन्तु, स्वतन्त्रता-प्राप्ति के पूर्व तक इस प्रकार के निगम की स्थापना नहीं की जा सकी थी। अन्ततः, संसद् द्वारा स्वीकृत एक अधिनियम के आधार पर १ जुलाई, १९४८ ई० को भारत सरकार द्वारा औद्योगिक वित्त-निगम (Industrial Finance Corporation) की स्थापना हुई। निगम एक अर्द्ध-स्वतंत्र (semi-autonomous) संस्था है जिसके अंशधारी भारत सरकार, रिजर्व बैंक तथा कुछ विशेष प्रकार की संस्थाएँ हैं। औद्योगिक वित्त निगम की स्थापना के द्वारा सरकार ने इस क्षेत्र की एक बहुत बड़ी कमी को दूर किया है। औद्योगिक वित्त निगम एवं अन्य वित्त तथा विकास निगम देश के औद्योगिक विकास में बहुत अधिक सहायक हो रहे हैं तथा आयोजित आर्थिक विकास के लिए देश में पूँजी के निर्माण को प्रोत्साहित कर रहे हैं।

निगम का संगठन (Organisation of the I. F. C.) :—औद्योगिक वित्त निगम की अधिकृत पूंजी (Authorised capital) १० करोड़ रुपये है जो पाँच-पाँच हजार रुपये के २० हजार पूर्ण परिदत्त अंशों (full paidup shares) में विभाजित है। इसमें से अब तक ८·३५ करोड़ रुपये के १६,७०० हिस्से जारी किये गये हैं जो पूर्णरूप में क्रय कर लिये गये हैं। इसके हिस्सेदार भारत सरकार, रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया, अनुसूचित बैंक, बीमा कम्पनियाँ, विनियोग ट्रस्ट एवं सहकारी बैंक आदि हैं। निगम के हिस्सों को केन्द्रीय सरकार द्वारा उनके मूलधन तथा २½ प्रतिशत लाभांश की गारंटी मिली हुई है।

निगम का प्रबन्ध १२ व्यक्तियों के एक संचालक मण्डल द्वारा होता है। इनमें से केन्द्रीय सरकार द्वारा तीन तथा रिजर्व बैंक द्वारा दो संचालक मनोनीत किये जाते हैं। इनके अतिरिक्त दो संचालकों का अनुसूचित बैंकों, दो का सहकारी बैंकों तथा दो का बीमा कम्पनियों एवं अन्य हिस्सेदारों द्वारा निर्वाचन होता है। प्रबन्ध संचालक की नियुक्ति केन्द्रीय सरकार द्वारा की जाती है। इनमें से पाँच संचालकों की एक प्रबन्ध अथवा शासकीय समिति होती है जिसमें प्रबन्ध संचालक के अतिरिक्त मनोनीत संचालकों द्वारा निर्वाचित दो तथा निर्वाचित संचालकों द्वारा निर्वाचित दो संचालक रहते हैं।

औद्योगिक वित्त निगम के कार्य
(Functions of the I. F. C.)

औद्योगिक वित्त निगम के निम्नलिखित प्रमुख कार्य हैं :—

(१) निगम भारत की किसी भी ऐसी पब्लिक लिमिटेड कम्पनी अथवा सहकारी संस्था को जो निर्माण, खनिज या विद्युत उद्योगों में लगी हो, २५ वर्षों की अवधि तक के लिए ऋण प्रदान कर सकता है तथा उनके ऋण-पत्रों (debentures) को खरीद सकता है। औद्योगिक वित्त-निगम के विधान में १९६० ई० के संशोधन के अनुसार निगम औद्योगिक संस्थाओं की हिस्सा पूंजी में भी प्रत्यक्ष रूप से भाग ले सकता है।

(२) औद्योगिक संस्थाओं द्वारा लिए जाने वाले ऐसे ऋण अथवा जारी किये गये ऋण-पत्रों की गारण्टी प्रदान करना जो २५ वर्षों के भीतर ही वापस की जानेवाली हों।

(३) औद्योगिक संस्थाओं द्वारा जारी किये गये स्टॉक, शेयर, बाण्ड तथा ऋण-पत्रों का अभिगोपन (underwriting), यानी उनके भुगतान का उत्तरदायित्व लेना। किन्तु, यह आवश्यक है कि इस प्रकार के स्टॉक, शेयर, ऋण-पत्र आदि सात वर्षों के भीतर ही बिक जाएँ।

ऋण लेनेवाली संस्थाओं के संचालक मण्डल में निगम अपना प्रतिनिधि मनोनीत कर सकता है तथा ऋण की शर्तों को भंग करनेवाली संस्थाओं को अपने नियन्त्रण के अन्तर्गत भी ले सकता है।

इस प्रकार निगम का प्रमुख उद्देश्य बड़े उद्योगों को जिन्हें पूंजी बाजार में कर्ज नहीं मिलता, दीर्घ एवं मध्यकालीन कर्ज प्रदान करना है। निगम केवल निजी क्षेत्र के उद्योगों को ही ऋण देता है। निजी क्षेत्र में भी केवल पब्लिक लिमिटेड कम्पनियों तथा सहकारी संस्थाओं को जो वस्तुओं के निर्माण, खनिज अथवा बिजली के उत्पादन में लगे हों, ऋण देता है। यह प्राइवेट लिमिटेड कम्पनियों तथा साझेदारी संस्थाओं को ऋण प्रदान नहीं करता है। निगम राष्ट्रीय महत्त्व के उद्योगों की आवश्यकताओं पर विशेष ध्यान देता है। इस प्रकार निगम का

प्रमुख कार्य उद्योगों को दीर्घ एवं मध्यकालीन आर्थिक सहायता प्रदान करना है। किन्तु ऐसा करने में यह व्यावसायिक बैंकों से प्रतियोगिता नहीं करना चाहता। वास्तव में, निगम का प्रमुख उद्देश्य आर्थिक क्षेत्र में व्यावसायिक बैंकों को सहायता देना है जिससे देश में पूँजी की समस्या के समाधान में ये दोनों समुचित सहयोग प्रदान कर सकें।

निगम किसी एक कम्पनी को अपनी परिदत्त पूँजी के दस प्रतिशत या ५० लाख रुपये, जो भी कम हो; से अधिक ऋण नहीं प्रदान करता। किन्तु, १९५३ ई० के एक संशोधन के अनुसार अब इस रकम को बढ़ाकर एक करोड़ रुपये कर दिया गया है, यानी अब निगम किसी एक कम्पनी को एक करोड़ रुपये तक का भी कर्ज दे सकता है। किन्तु इस प्रकार के कर्ज की भारत सरकार द्वारा स्वीकृति आवश्यक है।

अपने उद्देश्यों की पूर्ति के लिए निगम अन्य आवश्यक कार्यों को भी सम्पन्न करता है।

इस प्रकार निगम उद्योगों की सहायता के लिए विभिन्न प्रकार के कार्य करता है। इससे देश के औद्योगिक विकास में निश्चय ही बहुत अधिक सहायता की आशा की जाती है। ऋण अथवा सहायता के लिए प्राप्त सभी आवेदन-पत्रों पर विशेषज्ञों द्वारा जाँच की जाती है। ऋण देने के पूर्व निगम द्वारा उद्योगों के राष्ट्रीय महत्त्व, व्यवस्थापकों की योग्यता, कच्चे माल तथा विशेषज्ञों की व्यवस्था, योजना की व्यावहारिकता तथा कुल व्यय, उत्पादन की किस्म एवं जमानत आदि पर विशेष रूप से ध्यान दिया जाता है। किन्तु इनकी जानकारी भी आवश्यक है कि निगम द्वारा दी जानेवाली सहायता का उपयुक्त ढंग से उपयोग होता है अथवा नहीं। साथ ही, निगम किसी कम्पनी अथवा फर्म की आर्थिक स्थिति में सुधार लाने के लिए महत्त्वपूर्ण सुझाव भी दे सकता है।

निगम के साधन (Resources of the Industrial Finance Corporation)—औद्योगिक संस्थाओं को वित्तीय सहायता प्रदान करने के लिए निगम को साधनों की आवश्यकता पड़ती है, जिसे वह निम्न प्रकार से प्राप्त करता है :—

(क) शेयर पूँजी (Share capital) :—सर्वप्रथम तो निगम की अधिकृत पूँजी १० करोड़ रुपये है जो ५००० रुपये प्रति शेयर की दर से २०,००० पूर्ण प्रदत्त हिस्सों में विभाजित है। अब तक निगम ने ८·३५ करोड़ रुपये के १६,७०० हिस्से जारी किया है।

(ख) जमा (Deposit) :—निगम जनता का जमा भी स्वीकार कर सकता है, किन्तु इस प्रकार के जमा की रकम १० करोड़ रुपये से अधिक नहीं हो सकती तथा इसका भुगतान पाँच वर्षों के बाद ही किया जा सकता है।

(ग) बन्धक एवं ऋण-पत्र (Bonds and Debentures):—इसके अतिरिक्त निगम को बाजार में अपने बाँड तथा ऋण-पत्रों की बिक्री का भी अधिकार प्राप्त है, किन्तु इनका मूल्य निगम की परिदत्त पूँजी तथा सुरक्षित कोष के पाँच-गुना से अधिक नहीं हो सकता है। इस प्रकार निगम की कुल परिदत्त पूँजी जब १० करोड़ रुपये हो जायगी और सुरक्षित कोष में १० करोड़ रुपये संग्रह हो जायँगे तो अपने पूर्ण विकसित रूप में यह बाजार में बाँड अथवा ऋण-पत्र बेचकर १०० करोड़ रुपये तक प्राप्त कर सकता है। इस प्रकार जनता का जमा, परिदत्त पूँजी, सुरक्षित कोष तथा बाँड एवं ऋण-पत्र सभी मिलाकर निगम के पास ११० करोड़ रुपये तक जमा हो जा सकता

है। मार्च, १९६६ ई० तक निगम ने कुल ४१ करोड़ रुपये ऋण-पत्र जारी किया था तथा सरकार से जून, १९६७ तक ६७७ करोड़ रुपये का ऋण लिया था।

इस प्रकार निगम विभिन्न साधनों से पूंजी प्राप्त कर सकता है। किन्तु देश के उद्योगों की आवश्यकताओं को ध्यान में रखते हुए निगम के साधन के वर्तमान स्रोतों को पर्याप्त नहीं कहा जा सकता। इससे निगम अपने कार्यों का सफलतापूर्वक सम्पादन नहीं कर सकता। अतः इसे और अधिक साधनों की आवश्यकता है। इस उद्देश्य से १९५३ ई० के एक संशोधन के अनुसार निगम को १८ माह के लिए रिजर्व बैंक से ३ करोड़ रुपये तक ऋण लेने का अधिकार दिया गया। साथ ही, पुनर्निर्माण अथवा विकास के कार्यों के लिए निगम को विश्व बैंक से भी कर्ज लेने का अधिकार दिया गया है। १९५७ ई० के एक दूसरे संशोधन के अनुसार निगम को और भी बहुत-से अधिकार दिये गये हैं जिससे वह अपने साधनों में वृद्धि कर सकता है।

निगम के कार्यों का ब्योरा :—अब तक निगम की स्थापना के प्रायः २४ वर्ष समाप्त हो चुके हैं जिसके बीच निगम ने बहुत-से महत्त्वपूर्ण कार्यों का सम्पादन किया है। निगम द्वारा बहुत-सी औद्योगिक संस्थाओं को दीर्घकालीन कर्ज प्रदान किया गया है। मार्च, १९७१ ई० के अन्त तक निगम[1] द्वारा ३६३ करोड़ रुपये ऋण की स्वीकृति दी गयी थी जिसमें से ३१३ करोड़ रुपये ऋण का वितरण किया गया था। इसमें से अधिकांश ऋण नयी संस्थाओं को दिया गया है जिन्होंने स्वतंत्रता-प्राप्ति के बाद कार्य प्रारम्भ किया था। जून, १९६६ ई० तक इसने ४३० कार्यक्रमों को सहायता प्रदान की थी। जुलाई, १९६२ ई० से निगम द्वारा ऋणों पर ९ प्रतिशत की दर से सूद ली जाती है। सूद तथा मूल-धन निर्धारित समय पर चुकाने से ½ प्रतिशत की छूट भी दी जाती है। निगम केवल नये उद्योगों की स्थापना के लिए ही कर्ज नहीं प्रदान करता, वरन् वर्तमान संस्थाओं का विस्तार तथा विकास के लिए भी कर्ज प्रदान करता है। १९५७ ई० के संशोधन के अनुसार राष्ट्रीय महत्त्व की संस्थाएँ केन्द्रीय अथवा राज्य सरकार या किसी बैंक की गारन्टी देकर निगम से ऋण ले सकती हैं।

निगम के कार्यों का मूल्यांकन

(An Appraisal of the Working of the Corporation)

इस प्रकार निगम औद्योगिक वित्त प्रदान करने के क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण कार्य करता है। किन्तु कई-एक बातों को लेकर निगम के कार्यों की आलोचना की गयी है जिनमें निम्नलिखित प्रमुख हैं :—

(१) सर्वप्रथम आलोचना यह है कि निगम का कार्य रूढ़िवादी ढंग से चलाया जाता है जिससे इच्छित लाभ नहीं प्राप्त हो पाता। निगम ने अब तक आर्थिक सहायता की मांग करनेवाले अधिकांश आवेदन-पत्रों को अस्वीकृत कर दिया है। साथ ही, आवेदन-पत्रों पर विचार करने में निगम द्वारा अनावश्यक रूप से देर भी की जाती है जिससे उद्योगों को उचित समय पर सहायता नहीं मिल पाती। १९४८ ई० से १९६२ ई० के बीच १५ वर्षों में प्रायः २२२ करोड़ रुपये ऋण

1. India 1971-72.

की माँग के लिए ८२२ आवेदन-पत्र दिये गए थे जिनमें से केवल १३०·२७ करोड़ रुपये की मांग-वाले ४२७ आवेदन-पत्र का ही स्वीकृत किया गया। निगम के अधिकारियों के अनुसार आवेदन-पात्रों की इस अत्यधिक अस्वीकृति का मुख्य कारण आवेदन पत्रों के साथ उचित योजना का अभाव बतलाया जाता है। निगम के विरुद्ध यह भी कहा जा सकता है कि निगम ने आवेदन-पत्रों की स्वीकृति में पक्षपात दिखलाया है। इस पक्षपात के आरोप की जाँच के लिए भारत सरकार द्वारा निगम के कार्यों की जाँच के लिए एक समिति की नियुक्ति की गयी थी जिसने निगम को इसके विरुद्ध लगाये गए पक्षपात के अभियोग से मुक्त कर दिया है।

(२) निगम के विरुद्ध दूसरी आलोचना यह दी जाती है कि यह ऋण के लिए ब्याज अधिक लेता है। आजकल निगम द्वारा प्रायः ९ प्रतिशत वार्षिक ब्याज लिया जाता है। इसमें से निर्धारित समय पर ऋण चुकानेवालों को ½ प्रतिशत की छूट दी जाती है। निगम मुख्यतः दीर्घकालीन ऋण प्रदान करता है। दीर्घकालीन ऋण के लिए ब्याज की यह दर निश्चय ही अधिक है। अतः अधिकांश कम्पनियाँ निगम से ऋण लेना नहीं चाहती हैं। निगम के ऋण को अधिक लोकप्रिय बनाने के लिए ब्याज की दर में कमी आवश्यक है।

(३) निगम द्वारा अभी तक बहुत कम रकम ऋण के रूप में दी गयी है। मार्च, १९७१ ई० के अन्त तक निगम ने कुल ३९३ करोड़ रुपये की ऋण की स्विकृति दी थी जिसमें से ३१३ करोड़ रुपये यानी कुल स्वीकृत ऋण का केवल ८० प्रतिशत भाग ही दिया गया था। इससे स्पष्ट है कि अभी तक निगम ने वास्तव में बहुत ही कम रकम ऋण के रूप में दिया है। इस सम्बन्ध में निगम के अधिकारियों का कहना है कि इसका कारण समुचित आवेदन-पत्रों का अभाव है। किन्तु यह तथ्यहीन जान पड़ता है क्योंकि निगम के पास आने वाले अधिकांश आवेदन-पत्रों को अस्वीकृत कर दिया जाता है। साथ ही, उपयुक्त आवेदन-पत्रों के अभाव की जिम्मेवारी भी निगम के अधिकारियों पर ही है। इनके असहयोग तथा विलम्ब की नीति के फलस्वरूप आवेदन पत्रों का अभाव बना रहता है।

(४) निगम के विरुद्ध एक आलोचना यह भी दी जाती है कि निगम ने अभी तक बहुत कम कम्पनियों के अंशों एवं ऋण-पत्रों का अभिगोपन (Under-writing) किया है। जून, १९६७ ई० तक निगम ने केवल २२ करोड़ रुपये के अभिगोपन की स्वीकृति प्रदान की थी। यह निश्चय ही बहुत कम है। इससे स्पष्ट है कि निगम ने अबतक अपने कार्य को मुख्यतः कम्पनी को ऋण प्रदान करने तक ही सीमित रखा है। इस सम्बन्ध में निगम के तत्कालीन अध्यक्ष श्री लाला श्री राम ने निगम की एक सामान्य बैठक में बतलाया था कि 'औद्योगिक वित्त निगम का उद्देश्य पूँजी बाजार के पूरक के रूप में कार्य करना है न कि पूँजी बजार को बिलकुल हटाकर स्वयं उसका स्थान ले लेना है।' किन्तु अध्यक्ष का यह अभिमत निगम के उद्देश्यों को स्पष्ट नहीं करता वास्तव में अधिकारियों द्वारा निगम के उद्देश्यों के सम्बन्ध में उचित दृष्टिकोण नहीं अपनाया जाता है। यदि देश में विकसित पूँजी बाजार होता तो इस प्रकार के निगम की स्थापना की कोई आवश्यकता ही नहीं रह जाती।

(५) निगम के विरुद्ध कुछ आलोचकों का कहना है कि निगम द्वारा पूर्व विकसित राज्यों को ही अधिकांश ऋण दिये गये हैं। उदाहरणार्थ जून, १९६९ ई० तक निगम द्वारा दिये

गये कुल ऋण का ४५ प्रतिशत भाग केवल महाराष्ट्र, मद्रास तथा पश्चिमी बंगाल जैसे औद्योगिक राज्य को ही दिया गया था। इसी प्रकार उद्योगों के चुनाव में भी यही बात पायी जाती है। अधिकांश ऋण उन्हीं उद्योगों के अन्तर्गत की कम्पनियों को दिये जाते हैं जो पहले से ही विकसित स्थिति में हैं। वास्तव में, निगम को ऋण प्रदान करने में पिछड़े राज्यों तथा अविकसित उद्योगों को प्राथमिकता देनी चाहिए।

(६) निगम द्वारा केवल पब्लिक लिमिटेड कम्पनियों एवं सहकारी संस्थाओं को ही ऋण दिये जाते हैं, अतः प्राइवेट लिमिटेड कम्पनियाँ तथा साझेदारी की संस्थाएँ इस लाभ से सर्वथा वंचित रह जाती हैं। यह भी उचित नहीं जान पड़ता।

(७) निगम के अधीन एक 'यांत्रिक जाँच-सह-आर्थिक अनुसंधान विभाग' (Technical Investigation-cum-Economic Research Department) की बड़ी आवश्यकता है। इसके अभाव में आवेदन-पत्रों की समुचित जाँच में निगम को कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। अतः, निगम के तत्त्वावधान में एक आर्थिक अनुसंधान विभाग की स्थापना अति आवश्यक है।

सुचेता कृपलानी कमिटी की सिफारिशें :—इस प्रकार औद्योगिक वित्त निगम के विरुद्ध अनेक आलोचनाएँ दी जाती हैं जिनमें से अधिकांश उपयुक्त जान पड़ती हैं। निगम के प्रथम चार वर्षों की कार्यवाही से लोगों में घोर निराशा व्याप्त हो गयी थी तथा संसद् में निगम के विरुद्ध पक्षपात एवं विभेद का आरोप लगाया गया। फलतः भारत सरकार ने निगम के कार्यों की विस्तृत जाँच के लिए श्रीमती सुचेता कृपलानी की अध्यक्षता में एक समिति की नियुक्ति की जिसने अपना प्रतिवेदन ७ मई, १९५३ ई० को प्रस्तुत किया। समिति ने निगम को उसके विरुद्ध लगाये गये पक्षपात के अभियोग से मुक्त कर दिया। किन्तु, निगम की कार्यवाही में आवश्यक सुधार के लिए समिति ने बहुत-से सुझाव प्रस्तुत किये जिनमें निम्नलिखित विशेष रूप से महत्त्वपूर्ण हैं :—

(१) अवैतनिक अध्यक्ष की जगह पर निगम के लिए स्थायी वैतनिक अध्यक्ष (Whole-time Paid Chairman) की नियुक्ति की जानी चाहिए;

(२) संचालक मंडल के सदस्यों में एक अर्थशास्त्री (Economist), एक व्यवस्थापन विशेषज्ञ (Management Expert) तथा एक चार्टर्ड एकाउन्टेन्ट (Chartered Accountant) का होना आवश्यक है;

(३) निगम के प्रत्येक शाखा-कार्यालय में एक क्षेत्रीय सलाहकार परिषद् (Regional Panel) का होना आवश्यक है;

(४) यदि निगम के किसी संचालक का सम्बन्ध किसी ऐसी संस्था से है जिसने ऋण के लिए आवेदन किया हो तो इस प्रकार की संस्था को ऋण देने के लिए संचालक मंडल की बैठक में, जिसमें वोट देनेवाले कम-से-कम दो-तिहाई सदस्य उपस्थित हों, सर्वसम्मति से स्वीकृति आवश्यक है;

(५) ऋण की स्वीकृति में अनावश्यक विलम्ब को यथासम्भव कम करने का प्रयास करना चाहिए;

(६) अगले तीन वर्षों के लिए एक फर्म के ५० लाख रुपये से अधिक ऋणवाले सभी आवेदनों को केन्द्रीय मन्त्रिमण्डल की स्वीकृति के लिए भेज देना चाहिए; तथा

(७) निगम को प्रतिवर्ष अपनी वार्षिक कार्यवाही का विस्तृत विवरण प्रस्तुत करना चाहिये एवं संचालन मण्डल की बैठक दिल्ली के साथ-साथ बम्बई, कलकत्ता तथा मद्रास जैसे प्रमुख व्यावसायिक केन्द्रों में भी होनी चाहिए।

सरकार द्वारा समिति की अधिकांश सिफारिशें स्वीकार कर ली गयी हैं। ६ अगस्त, १९५५ ई० को एक स्थायी वैतनिक अध्यक्ष की नियुक्ति की गयी। सरकार ने निगम को इसके संचालन मण्डल की बैठकें कलकत्ता, बम्बई तथा मद्रास में भी करने तथा अपनी कार्यवाही के सम्बन्ध में एक विस्तृत वार्षिक विवरण प्रकाशित करने का निर्देश दिया। साथ ही, निगम को इस बात का भी निर्देश दिया गया कि ऋण की स्वीकृति देते समय ५०% की न्यूनतम सीमा का ध्यान रखना चाहिये तथा कर्ज लेने वाली कम्पनी की आय की क्षमता का विशेष रूप से अनुमान लगा लेना चाहिये। साथ ही, किसी एक कम्पनी अथवा आवेदक को ५० लाख रुपये से अधिक कर्ज की स्वीकृति देने के पूर्व केन्द्रीय सरकार की अनुमति आवश्यक है। इस प्रकार समिति के सुझावों के आधार पर निगम के कार्यों में आवश्यक सुधार लाने का प्रयत्न किया गया है। इससे आशा की जाती है कि निगम देश के औद्योगिक विकास में विशेष रूप से सहायक हो सकेगा।

राज्य वित्तीय निगम
(State Financial Corporations)

भारतीय औद्योगिक वित्त निगम का कार्य-क्षेत्र सीमित है। यह केवल बड़े उद्योगों के अन्तर्गत की पब्लिक लि० कम्पनियों तथा निर्माण कार्य में लगी सहकारी संस्थाओं को ही कर्ज प्रदान करता है। अतः, मध्यम एवं लघु उद्योगों को वित्तीय सहायता प्रदान करने के उद्देश्य से सितम्बर, १९५१ ई० में एक 'राज्य वित्तीय निगम अधिनियम' (The State Financial Corporations Act) पारित हुआ। इस अधिनियम के अनुसार विभिन्न राज्यों में राज्य वित्तीय निगमों की स्थापना की जाने लगी। इस समय देश में १८ राज्य वित्तीय निगम हैं। इनकी अधिकृत पूँजी लगभग १५ करोड़ रुपये तथा परिदत्त पूँजी २० करोड़ रुपये है। राज्य वित्तीय निगमों का संगठन भी मुख्यतः औद्योगिक वित्त निगम के आधार पर ही किया गया है। फिर भी, इनमें कुछ महत्त्वपूर्ण अन्तर है। सर्वप्रथम तो औद्योगिक वित्त निगम केवल पब्लिक लिमिटेड कम्पनियों तथा निर्माण कार्य में लगी सहकारी संस्थाओं को सहायता देता है, किन्तु राज्य वित्तीय निगम प्राइवेट लिमिटेड कम्पनियों साझेदारों तथा व्यक्तिगत उपक्रमों को भी सहायता प्रदान कर सकते हैं। दूसरा अन्तर यह है कि जबकि औद्योगिक वित्त निगम के हिस्से केवल केन्द्रीय सरकार, रिजर्व बैंक बीमा कम्पनियाँ, अनुसूचित बैंकों तथा इसी प्रकार की अन्य वित्तीय संस्थाएँ खरीद सकती हैं, राज्य वित्तीय निगम के हिस्से व्यक्ति-विशेष भी उनकी कुल पूँजी के २५ प्रतिशत तक खरीद सकते हैं। तीसरा अन्तर यह है कि औद्योगिक वित्त निगम २५ वर्षों के लिए कर्ज की गारंटी दे सकता है, किन्तु राज्य वित्तीय निगम २० वर्षों के लिए ही गारंटी दे सकता है।

१९५१ ई० के अधिनियम के अनुसार किसी राज्य वित्तीय निगम की अधिकृत पूँजी कम-से-कम ५० लाख रुपये तथा अधिक-से-अधिक ५ करोड़ रुपये हो सकती है। महाराष्ट्र, उत्तरप्रदेश तथा आन्ध्र राज्यों के अतिरिक्त अन्य सभी राज्यों के वित्त निगमों की अधिकृत पूँजी २

करोड़ रुपये तथा परिदत्त पूँजी १ करोड़ रुपये है। उत्तर प्रदेश में अधिकृत पूँजी ३ करोड़ रुपये तथा आन्ध्र एवं महाराष्ट्र में ४ करोड़ रुपये है। इनकी पूँजी के सम्बन्ध में राज्य सरकार द्वारा गारंटी दी जाती है। औद्योगिक वित्त-निगम की तरह राज्य वित्तीय निगम भी बौंड तथा ऋण-पत्रों की बिक्री द्वारा साधन जमा कर सकते हैं। किन्तु इस प्रकार जमा की गयी रकम इसकी परिदत्त पूँजी एवं सुरक्षित कोष के पाँच गुने से अधिक नहीं हो सकती। प्रत्येक निगम का संचालन १० सदस्यों के एक संचालक मण्डल द्वारा होता है जिसमें राज्य सरकार द्वारा मनोनीत ३, रिजर्व बैंक द्वारा १, औद्योगिक वित्त-निगम द्वारा १; राज्य सरकार द्वारा मनोनीत प्रबन्ध संचालक तथा अन्य अंशधारियों के अलग-अलग ४ सदस्य रहते हैं। राज्य वित्तीय निगम अधिनियम के अनुसार ये निगम औद्योगिक संस्थाओं को २० वर्षों की अवधि तक चुकाये जानेवाले ऋण अथवा अग्रिम दे सकते हैं। साथ ही, उद्योग-धन्धों द्वारा लिये जानेवाले ऐसे ऋणों की गारंटी कर सकते हैं जो २० वर्षों के अन्दर ही वापस होनेवाले हों। इनके अतिरिक्त ये निगम किसी कम्पनी के हिस्से अथवा ऋण-पत्रों के भुगतान का दायित्व इस शर्त पर ले सकते हैं कि सात वर्षों के अन्दर ही इनकी बिक्री हो जाय। १९५६ ई० के एक संशोधन के अनुसार इन निगमों को केन्द्रीय सरकार, राज्य सरकार तथा औद्योगिक वित्त-निगम के एजेन्ट के रूप में कार्य करने का भी अधिकार मिला है। साथ ही, इस संशोधन के द्वारा दो अथवा तीन राज्यों के लिए सम्मिलित रूप से भी एक निगम की स्थापना की जा सकती है। १९६२ ई० के राज्य वित्तीय निगम अधिनियम में एक संशोधन के अनुसार इन निगमों को औद्योगिक संस्थाओं द्वारा अनुसूचित बैंकों तथा राज्य सहकारी बैंकों से लिये जानेवाले ऋणों की गारंटी प्रदान करने का अधिकार प्रदान किया गया है। साथ ही, इस संशोधन द्वारा राज्य वित्तीय निगमों को किसी एक औद्योगिक संस्था को दिये गये कर्ज की मात्रा १० लाख से बढ़ाकर २० लाख रुपये कर दी गयी।

इन निगमों ने अब तक उद्योग-धन्धों को मुख्यतः कर्ज एवं अग्रिम के रूप में वित्तीय सहायता प्रदान की है। केवल आन्ध्र एवं महाराष्ट्र के निगमों ने क्रमशः १७ लाख एवं ३·७५ लाख रुपये का ऋण-पत्र खरीदा है। साथ ही, इन निगमों ने अब तक न तो औद्योगिक संस्थाओं द्वारा जारी किये गये हिस्सों के भुगतान का दायित्व ग्रहण किया है, न इनके द्वारा लिए जानेवाले कर्जों की गारंटी ही दी है। मार्च, १९७० ई० तक राज्य वित्तीय निगमों द्वारा कुल १२५.९ करोड़ रुपये ऋण की स्वीकृति दी गयी थी जिनमें से १०८·०७ करोड़ रुपये ऋण का वितरण हुआ था।

राज्य वित्तीय निगमों की कार्यवाही का मूल्यांकन :—यहाँ पर राज्य वित्तीय निगमों के कार्यों पर ध्यान देना अनिवार्य है। लघु एवं मध्यम पैमाने के उद्योगों को बहुधा तीन प्रकार की पूँजी की आवश्यकता होती है :—(१) प्रारम्भिक विनियोग के लिए पूँजी, (२) विस्तारीकरण तथा विकास की योजनाओं के लिए कर्ज तथा (३) दैनिक कार्यवाही के लिए कार्यशील पूँजी। अधिकांश राज्य वित्तीय निगमों ने अभी तक मुख्यतः विस्तारीकरण के लिए ही कर्ज प्रदान किया है तथा थोड़ी बहुत कार्यशील पूँजी भी दी है, किन्तु प्रारम्भिक पूँजी बिलकुल नहीं दी गयी है। परन्तु मध्यम एवं लघु उद्योगों को विस्तारीकरण के लिए कर्ज के अतिरिक्त कार्यशील पूँजी की भी आवश्यकता पड़ती है। इस प्रकार की अधिकांश संस्थाओं के समक्षः कार्य-

शील पूँजी के अभाव की समस्या ही बहुत उग्र है जिससे इनका दैनिक कार्य ही रुक जाता है। इस प्रकार की संस्थाओं को बैंकों द्वारा भी बहुत ही कम पूँजी मिलती है क्योंकि इनकी वस्तुएँ बहुधा बैंकों द्वारा जमानत के रूप में स्वीकृत नहीं की जाती है। अतः राज्य वित्तीय निगमों द्वारा इन्हें कार्यशील पूँजी की भी व्यवस्था की जानी चाहिये अन्यथा अधिकांश उद्योगों को इससे कोई विशेष लाभ नहीं होगा।

इस सम्बन्ध में दूसरी ध्यान देने योग्य बात यह है कि राज्य वित्तीय निगमों द्वारा मध्यम आकार की संस्थाओं को ही अधिकांशतः सहायता दी जाती है। लघु उद्योग इस लाभ से बहुधा वंचित रह जाते हैं। इसका मुख्य कारण यह है कि लघु पैमाने की औद्योगिक संस्थाओं को कर्ज देने में जोखिम अधिक रहती है। साथ ही, इस प्रकार की संस्थाएँ न तो अंकेक्षण की मान्य-पद्धति (accepted auditing and accounting methods) का ही अनुकरण करती हैं और न इनके पास जमानत के लिये आवश्यक मात्रा में स्थायी सम्पत्ति ही होती है। किन्तु, यदि लघु उद्योगों को पंचवर्षीय योजनाओं में निर्धारित लक्ष्यों की पूर्ति के योग्य बनाना है तो राज्य वित्तीय निगमों द्वारा इन्हें अधिकाधिक मात्रा में कर्ज देना आवश्यक है। इस उद्देश्य से राज्य वित्तीय निगमों को अपनी नीति में आवश्यक संशोधन करना चाहिए तथा थोड़ा-बहुत जोखिम उठाने के लिए तैयार रहना चाहिए।

राज्य वित्तीय निगम से कर्ज लेने में खर्च बहुत अधिक पड़ता है। अधिकांश राज्यों में वार्षिक ब्याज की दर ६ प्रतिशत है। इसके अतिरिक्त उधार लेने वाली संस्थाओं को रजिस्ट्रेशन फीस, स्टाम्प कर आदि के रूप में भी कुछ व्यय करना पड़ता है। इस प्रकार राज्य वित्तीय निगम से कर्ज लेने का कुल व्यय लगभग ९ से १० प्रतिशत तक पड़ता है जो लघु एवं मध्यम उद्योगों के लिए साधारणतया महँगा होता है। इसका कारण यह है कि निगम द्वारा इसके अंशधारियों को ३½ प्रतिशत लाभ की गारन्टी रहती है जिससे ये अधिक ब्याज लेने के लिए बाध्य हो जाते हैं।

इस सम्बन्ध में सुझाव के तौर पर यह कहा जा सकता है कि राज्य वित्तीय निगम से लिए जाने वाले कर्जों पर स्टाम्प कर तथा रजिस्ट्रेशन फीस की छूट दी जानी चाहिए। इससे इनका कर्ज कुछ सस्ता पड़ेगा। इस प्रकार की छूट आजकल पंजाब, असम एवं राजस्थान में दी जाती है।

राष्ट्रीय औद्योगिक विकास निगम

(National Industrial Development Corporation)

यह एक विशुद्ध राजकीय संस्था है जिसकी स्थापना २० अक्टूबर, १९५४ ई० को हुई थी। इस निगम का प्रमुख उद्देश्य उद्योगों को वित्तीय सहायता प्रदान करना तथा आयोजित औद्योगिक विकास को प्रोत्साहित करना है। अन्य कार्यों के साथ-साथ निगम की स्थापना मुख्यतः सूती-वस्त्र तथा जूट-उद्योगों के आधुनिकीकरण तथा मशीन-टूल्स उद्योग के लिए विशेष ऋण प्रदान करने के उद्देश्य से की गयी थी। राष्ट्रीय औद्योगिक विकास निगम उन क्षेत्रों में नये उद्योगों की स्थापना को प्रोत्साहित करता है जिनमें अब तक निजी पूँजी एवं साहसोद्यम के अभाव से विकास प्रायः नहीं हुआ था। इस निगम की अधिकृत पूँजी १ करोड़ रुपये तथा परिदत्त

पूँजी १० लाख रुपये की है जो पूर्णतया भारत सरकार द्वारा प्रदान की गयी है। इसके अतिरिक्त सरकार द्वारा आवश्यकतानुसार निगम को अतिरिक्त राशि भी प्रदान की जायगी। निगम का प्रबन्ध एक संचालक मण्डल द्वारा होता है जिसमें २० सदस्य होते हैं। वाणिज्य एवं उद्योग मन्त्री इसके अध्यक्ष हैं। ये सभी सदस्य भारत सरकार द्वारा मनोनीत किये गये हैं तथा इनमें १० उद्योगपति, ५ अधिकारी एवं ४ इंजीनियर हैं। यह निगम लैटिन अमेरिका के 'फोमेंटो निगम' (Fomento Corporation) की तरह है।

इस निगम का उद्देश्य देश के औद्योगिक विकास के लिए आवश्यक मशीनरी एवं यन्त्र प्रदान करना, व्यक्तिगत उपक्रमियों को सरकार द्वारा स्वीकृत औद्योगिक योजनाओं की पूर्ति के लिए आवश्यक यांत्रिक, इंजीनियरिंग, आर्थिक अथवा अन्य सुविधाएँ प्रदान करना तथा वर्तमान निजी उदयोगों को विभिन्न प्रकार की सुविधाएँ प्रदान करना है। इस प्रकार औद्योगिक विकास निगम का उद्देश्य देश के सुदृढ़ औद्योगिक विकास के लिए सरकार के एजेन्ट के रूप में कार्य करना है। निगम उदयोगों को वित्तीय सहायता बहुत ही कम देता है, केवल अविकसित क्षेत्रों में किसी विशेष प्रकार के उदयोगों की स्थापना के लिए ही यह वित्तीय सहायता प्रदान कर सकता है।

यह निगम सूती-वस्त्र एवं जूट-उदयोगों के अभिनवीकरण एवं आधुनिकीकरण एवं मशीन-टूल्स उद्योगों के विस्तार के लिए सरकार के एजेन्ट के रूप में कार्य करता है। किन्तु अभी तक निगम द्वारा बहुत ही कम कम्पनियों को इस सम्बन्ध में सहायता दी जा सकी है। अब तक इस निगम ने इन उदयोगों के लिए २७·७१ करोड़ रुपये ऋण की स्वीकृति दी है जिसमें से दिसम्बर १९७० तक १८·९२ करोड़ रुपये का प्रयोग किया गया था। इससे स्पष्ट है कि निगम के निर्णयों का शीघ्र कार्यान्वयन नहीं किया जा रहा है। इसका मुख्य कारण निगम के पास आवश्यक साधनों का अभाव है। साथ ही, यह कहा जा सकता है कि निगम को केवल भारी एवं आधार-भूत उद्योगों के विकास पर ही जोर नहीं देकर छोटे उपभोक्ता उद्योगों के विकास का भी प्रयत्न करना चाहिए। देश के लिए भारी उदयोगों के साथ-साथ उपभोक्ता वस्तुओं को उत्पन्न करनेवाले उद्योगों का विकास भी आवश्यक है। फिर वर्तमान औद्योगिक नीति के अनुसार भारी उद्योगों का विकास अब केवल राजकीय क्षेत्र में ही किया जा रहा है। अतः, इस निगम द्वारा उपभोक्ता वस्तुओं के उद्योगों, विशेषतः पिछड़े क्षेत्रों के विकास पर अधिक जोर देना चाहिये।

औद्योगिक साख एवं विनियोग निगम
(Industrial Credit and Investment Corporation)

१९५४ ई० के प्रारम्भ में संयुक्त राज्य अमेरिका तथा विश्व बैंक द्वारा आयोजित एक प्रतिनिधि मण्डल भारत आया जिसने भारत सरकार से इंगलैंड के 'इण्डस्ट्रियल एण्ड कमर्शियल कॉरपोरेशन' की तरह एक निगम बनाने का सुझाव दिया। इस प्रतिनिधि मण्डल के सुझावों के आधार पर ५ जनवरी, १९५५ ई० को 'इण्डस्ट्रियल क्रेडिट एण्ड इन्वेस्टमैंट कॉरपोरेशन' नामक एक प्राइवेट लि० कम्पनी की स्थापना की गयी। इस निगम की अधिकृत पूँजी २५ करोड़ रुपये तथा परिदत्त पूँजी ५ करोड़ रुपये है। इसके हिस्सेदार भारतीय बैंक, बीमा कम्पनियाँ तथा उद्योगपतियों के अतिरिक्त अमेरिका तथा ब्रिटेन के भी कुछ व्यक्ति एवं संस्थाएँ हैं। इस प्रकार निगम के हिस्सेदार दूर-दूर तक विस्तृत हैं। प्रारम्भिक पूँजी के अतिरिक्त निगम को

यू० एस० टेकनिकल कॉरपोरेशन एडमिनिस्ट्रेशन से ७·५ करोड़ रुपये की राशि जमा के रूप में मिली है जिस पर इसे कोई ब्याज नहीं देना पड़ता है। साथ ही, इसे विश्व बैंक से ९·५ करोड़ रुपये का एक कर्ज तथा संयुक्त राज्य विकास ऋण-कोष (U. S. Development Loans Fund) से ९·३८ करोड़ रुपये ऋण के रूप में मिला है जिसकी गारण्टी भारत सरकार द्वारा दी गयी है। इस प्रकार प्रारम्भ में ही निगम को पर्याप्त रकम कार्यशील पूँजी के रूप में मिल गयी है। निगम अपनी परिदत्त पूँजी एवं जमा की रकम के तीन गुना तक उधार भी ले सकता है। निगम का प्रबन्ध एक संचालक मंडल द्वारा होता है जिसमें ११ सदस्य तथा एक जेनरल मैनेजर होते हैं। इन संचालकों में ७ भारतीय, २ ब्रिटिश, एक अमेरिकी तथा एक वाणिज्य एवं उद्योग मंत्रालय के प्रतिनिधि हैं। मार्च, १९७१ ई० के अन्त में निगम का कुल साधन १९४ करोड़ रुपये था। इसमें से ७१ करोड़ रुपये देशी मुद्रा के रूप में तथा १२३ करोड़ रुपये विदेशी मुद्रा में था।

इस निगम का प्रमुख कार्य निजी क्षेत्र के औद्योगिक उपक्रमों के निर्माण, विस्तार एवं आधुनिकीकरण में सहायता प्रदान करना है। निगम नये उद्योगों की स्थापना में भी सहायता करता है तथा इन्हें इक्यूटी कैपिटल (Equity Capital) प्रदान करता है। (The Corporation aims to stimulate the promotion of new industries, expansion and modernisation of existing one, to encourage the inflow and participation of foreign capital in Indian private enterprises and to furnish technical and managerial aid.) यह इस निगम का प्रमुख एवं नया कार्य होगा जो औद्योगिक वित्त निगम द्वारा नहीं किया जाता है। निगम व्यक्तिगत क्षेत्र के औद्योगिक उपक्रमों में देशी एवं विदेशी व्यक्तिगत पूँजी के विनियोग को प्रोत्साहन प्रदान करेगा। यह नयी कम्पनियों के अंशों एवं प्रतिभूतियों का अभिगोपन करेगा तथा प्रबन्ध-सम्बन्धी यांत्रिक एवं प्रशासकीय सलाह भी देगा। औद्योगिक वित्त एवं ऋण निगम ने अब तक कितनी ही कम्पनियों को सलाह तथा आर्थिक सहायता प्रदान की है। इस प्रकार यह महत्त्वपूर्ण कार्य रहा है। इसका कार्यक्षेत्र भी बहुत अधिक विस्तृत है। किन्तु निगम एक पूर्णतः ऋण देनेवाली संस्था ही नहीं है जिसका सम्बन्ध केवल उस प्रतिभूति से है जो बदले में इसे दी जा रही हो, वरन् इसने कई ऐसे कार्यों को भी सम्पन्न किया है जिन्हें इस प्रकार की अन्य संस्थाओं ने भारत में कभी नहीं किया है। इसने अंशों के अभिगोपन (underwriting) का कार्य किया है तथा नयी कम्पनियों की पूँजी में भी भाग लिया है। मार्च, १९७० के अन्त तक इस निगम ने २९५ करोड़ रुपये की वित्तीय सहायता प्रदान करने की स्वीकृति दी थी जिसमें से १८० करोड़ रुपये का ऋण दिया जा चुका था। कुल स्वीकृत ऋण का ३७ प्रतिशत महाराष्ट्र, २३ प्रतिशत गुजरात तथा १० प्रतिशत तमिलनाडु को दिया गया है।

राष्ट्रीय लघु उद्योग निगम
(National Small Scale Industries Corporation)

लघु उद्योगों को विपणन एवं यन्त्र-सम्बन्धी सुविधाएँ प्रदान करने के उद्देश्य से फरवरी, १९५५ ई० में एक राष्ट्रीय लघु उद्योग निगम की स्थापना की गयी। इस निगम द्वारा ऐसे लघु उपक्रमों को सहायता प्रदान की जाती है जिनमें ५ लाख रुपये से कम की पूँजी का विनियोग हुआ हो तथा शक्ति द्वारा प्रचालित उद्योगों में अधिक-से-अधिक ५० एवं बिना शक्ति द्वारा प्रचा-

लित उद्योगों में १०० व्यक्ति कार्य करते हों। निगम एक प्राइवेट लिमिटेड कम्पनी है जिसकी अधिकृत पूंजी १० लाख रुपये की है। इसकी सम्पूर्ण पूंजी भारत सरकार द्वारा प्रदान की गयी है। भारत सरकार इस निगम की कार्यशील पूंजी में वृद्धि के लिए आवश्यकतानुसार अधिक पूंजी भी प्रदान करेगी। यह निगम लघु उद्योग प्रमंडल (Small Scale Industries Board) के निकटतम सम्पर्क में कार्य कर रहा है। यह लघु उद्योगों को 'हायर-परचेज' के आधार पर यन्त्र इत्यादि प्रदान करता है। 'हायर परचेज' की शर्तें इस प्रकार हैं—साधारण प्रकार के यन्त्रों के लिए प्रारम्भ में मूल्य का २० प्रतिशत तथा विशेष प्रकार के यन्त्रों के लिए मूल्य का ३३½ प्रतिशत देना पड़ता है। सूद की दर ५ प्रतिशत निश्चित की गयी है। राष्ट्रीय लघु उद्योग निगम भविष्य में लघु उद्योगों की वस्तुओं के विक्रय की व्यवस्था करेगा। इस निगम के चार सहायक निगम—बम्बई, मद्रास, कलकत्ता तथा दिल्ली में स्थापित किये गये हैं। विपणन एवं 'हायर-परचेज'-सम्बन्धी सुविधाओं के अतिरिक्त यह निगम इन उद्योगों के लिए आवश्यक कच्चे पदार्थों की भी व्यवस्था करता है। इस निगम ने प्रारम्भ से लेकर अबतक लगभग ७६०० लघु उपक्रमों की स्थापना में योगदान दिया है।

यूनिट ट्रस्ट ऑफ इण्डिया
(Unit Trust of India)

यूनिट ट्रस्ट एक मध्यस्थ वित्तीय संस्था है जिसका उद्देश्य छोटे-छोटे विनियोजकों की अतिरिक्त रकम को जमा करना और उन्हें विभिन्न प्रकार की प्रतिभूतियों में विनियोग करना है। इस प्रकार के विनियोग से प्राप्त आय को खर्च काट देने के बाद यूनिट खरीदने वालों के बीच लाभांश के रूप में वितरित कर दिया जाता है। भारत में यूनिट-ट्रस्ट ऑफ इण्डिया की स्थापना Unit Trust of India Act, 1963 के अनुसार की गयी है तथा १ जुलाई, १९६४ ई० से इसने कार्य करना प्रारम्भ किया। इसकी प्रारम्भिक पूंजी ५ करोड रुपये की है जिसमें से २½ करोड़ रुपये रिजर्व बैंक द्वारा ७५ लाख रुपये जीवन बीमा निगम द्वारा, ७५ लाख रुपये स्टेट बैंक तथा इसकी सहायक संस्थाओं द्वारा एवं १ करोड़ रुपये अनुसूचित बैंकों तथा अन्य वित्तीय संस्थाओं द्वारा प्रदान किया गया है।

इसके प्रत्येक यूनिट की कीमत १० रुपये है जो समय-समय पर ट्रस्ट द्वारा निर्धारित मूल्य पर जनता को बेचे जाते हैं। कोई एक व्यक्ति कितना यूनिट खरीद सकता है इसकी कोई निश्चित सीमा नहीं है। इसकी व्यवस्था एक बोर्ड ऑफ ट्रस्टीज के अधीन है जिसके चेयरमैन एवं चार सदस्यों की नियुक्ति रिजर्व बैंक द्वारा, एक सदस्य जीवन बीमा निगम द्वारा एवं एक स्टेट बैंक द्वारा नामजद किये जाते हैं तथा शेष सदस्य-संस्थाओं द्वारा दो सदस्यों का निर्वाचन होता है।

इस प्रकार यूनिट ट्रस्ट देश के मध्यम एवं निम्न आयवाले वर्ग के लोगों की अतिरिक्त आय के विनियोग का एक अच्छा साधन प्रदान करता है। साथ ही, यह छोटी-छोटी बचतों को जमा कर देश के आयोजित आर्थिक विकास में इन्हें प्रभावपूर्ण तरीके से प्रयोग भी करेगा। मार्च, १९७२ ई० तक १०२·८ करोड़ रुपये के यूनिट का शुद्ध विक्रय (Net sale) हुआ था।[1] ट्रस्ट अपनी पूंजी का विनियोग भी करता है। जून, १९७१ ई० तक उसने १०५ करोड़ रुपये का विनियोग किया था। वर्तमान समय में यह ८ प्रतिशत का लाभ दे रहा है।

---
1. Eastern Economist, 12 M, 1972.

औद्योगिक विकास बैंक
(Industrial Development Bank)

३० अप्रैल, १९६४ ई० को संसद् ने एक विधेयक स्वीकृत किया जिसके अनुसार १ जुलाई, १९६४ ई० को एक औद्योगिक विकास बैंक की स्थापना की गयी जो उद्योगों को दीर्घ एवं मध्य-कालीन साख प्रदान करेगा। औद्योगिक विकास बैंक की स्थापना एक ऐसी मुख्य संस्था के रूप में हुई थी जो उद्योगों को साख प्रदान करने वाली अन्य संस्थाओं की कार्यवाहियों में समन्वय स्थापित करेगा। साथ ही, यह औद्योगिक संस्थाओं की स्थापना, व्यवस्थापन तथा विस्तार (Promotion, management and expansion) के लिए ऋण भी प्रदान कर सकता है। औद्योगिक विकास बैंक की अधिकृत पूंजी ५० करोड़ रुपये है जिसे बढ़ाकर बाद में १०० करोड़ रुपये तक किया जा सकता है तथा निर्गमित पूंजी अब ३० करोड़ रुपये है। बैंक की सम्पूर्ण पूंजी रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया द्वारा प्रदान की गयी है जो इसकी व्यवस्था के लिए भी पूर्ण रूप से उत्तर-दायी होगा। रिजर्व बैंक का संचालक मंडल इस बैंक का भी संचालक मंडल है। इसे सरकार द्वारा १० करोड़ रुपये का ३० वर्षों के लिये ब्याजमुक्त ऋण दिया गया है। औद्योगिक विकास बैंक के साधनों में आगे चलकर वृद्धि की भी व्यवस्था है। यह केन्द्रीय सरकार से कर्ज प्राप्त कर सकता है, बौंड तथा ऋण-पत्र बेच सकता है, रिजर्व बैंक के राष्ट्रीय औद्योगिक साख कोष [National Industrial Credit (Long term operations) Fund] से ऋण ले सकता है तथा एक वर्ष से अधिक के लिए जनता से जमा भी प्राप्त कर सकता है। जून, १९६६ ई० तक भारत सरकार से इस बैंक ने ९२·९ करोड़ रुपये ऋण लिया था। सितम्बर, १९६४ ई० में Refinance Corporation for Industries को भी औद्योगिक बैंक में मिला दिया गया।

औद्योगिक विकास बैंक का प्रधान उद्देश्य औद्योगिक संस्थाओं को दीर्घ तथा मध्यम-कालीन कर्ज प्रदान करना है। साथ ही, यह अन्य संस्थाओं को भी इसके लिए प्रोत्साहित कर सकता है। तीन से २५ वर्षों तक के लिए औद्योगिक संस्थाओं को दिये जाने वाले कर्ज को भी यह Refinance कर सकता है, अनुसूचित बैंकों तथा सहकारी बैंकों द्वारा उनको १० वर्षों के लिए दिये जाने वाले कर्ज को Refinance कर सकता है, औद्योगिक वित्त निगम तथा राज्य वित्तीय निगमों के हिस्से खरीद सकता है तथा विनिमय बिलों को पुनः बट्टा कर सकता है। यह औद्योगिक संस्थाओं द्वारा लिये गये ऋण अथवा हिस्से एवं ऋण-पत्रों की गारंटी भी प्रदान कर सकता है। मार्च, १९७१ ई० तक बैंक ने ४१५ करोड़ रुपये की प्रभावपूर्ण सहायता की स्वीकृति दी जिसमें से ३३२ करोड़ रुपये वास्तव में दिया गया था। सबसे अधिक खाद उद्योग को १७·३ प्रतिशत, यंत्र उद्योग को १५·९ प्रतिशत तथा वस्त्र उद्योग को १३ प्रतिशत दिया गया था।

इस प्रकार औद्योगिक विकास बैंक रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया की सहायक संस्था के रूप में कार्य करता है। किन्तु इसकी उपयोगिता के सम्बन्ध में अभी सन्देह प्रकट किया जाता है। आलो-चकों के अनुसार देश में विभिन्न प्रकार की विशेषज्ञ वित्तीय संस्थाओं के रहते हुए इस प्रकार की किसी पृथक् संस्था की आवश्यकता नहीं थी वरन् इन्हीं संस्थाओं को अधिक सुदृढ़ बनाना अधिक उत्तम होता। फिर भी, यह कहा जा सकता है कि देश में औद्योगिक विकास की आवश्यकताओं को देखते हुए एक औद्योगिक विकास बैंक की आवश्यकता पर किसी भी प्रकार का सन्देह नहीं प्रकट किया जा सकता है।

निष्कर्ष :—इस प्रकार स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद भारत में उद्योग-धन्धों को वित्तीय तथा अन्य प्रकार की सुविधाएं प्रदान करने के लिए विभिन्न प्रकार के वित्तीय निगमों एवं औद्योगिक

विकास बैंक की स्थापना की गयी है। ये निगम तथा बैंक देश के औद्योगिक विकास में महत्त्वपूर्ण सहयोग प्रदान कर रहे हैं इसमें कोई संदेह नहीं है। इन विभिन्न वित्तीय संस्थाओं द्वारा निजी क्षेत्र की संस्थाओं को ऋण, गारंटी तथा प्ररम्भिक पूंजी के रूप में पिछले तीन वर्षों में दी गयी रकम का अन्दाजा लगता है :—

वित्तीप संस्थाओं द्वारा दी गयी सहायता (करोड़ रुपये में)[1]

संस्थाएँ	१९६८-६९	१९६९-७०	१९७०-७१
औद्योगिक बैंक	४८·६	५३·१	८४·६
औद्योगिक वित्त निगम	२२·७	१८·६	१५·०
औद्योगिक साख एवं विनियोग	३७·०	२२·८	४१·०
राज्य वित्तीय निगम	१९·६	३३·४	४९·६
राज्य औद्योगिक विकास निगम	४·४	२५·९	२०·४
यूनिट ट्रस्ट	१०·३	१०·०	१५·२
जीवन बीमा निगम	१७·७	१३·६	....
कुल	१६०·३	१५९·९	२४७·८

उपरोक्त तालिका से स्पष्ट है कि विभिन्न वित्तीय संस्थाओं द्वारा उद्योग-धन्धों को दिये जाने वाले साख की मात्रा में निरंतर वृद्धि हो रही है।

विशेष अध्ययन-सूची

1. Govt. of India : India, 1971-72.
2. Reserve Bank : Report on Currency and Finance of India.
3. Reserve Bank of India Bulletin.

1. Reserve Bank of India : Report on currency and Finance, 1970-71.

अध्याय : ३२

विदेशी पूँजी एवं आर्थिक विकास

(Foreign Capital and Economic Development)

भारत के आयोजित आर्थिक विकास में विदेशी पूँजी का महत्त्व (The role of Foreign capital in the Planned Economic Development of India) :—भारत जैसे अर्द्ध-विकसित देश के आर्थिक विकास में विदेशी पूँजी का बड़ा ही महत्त्वपूर्ण स्थान है। ब्रिटिश शासन-काल में विदेशी पूँजी ने भारत के खनिज-उद्योग, जूट, रेलवे तथा नहर आदि के विकास में महत्त्वपूर्ण सहयोग प्रदान किया था। किन्तु, उस समय विदेशी पूँजी का देश के आर्थिक पुनरुत्थान तथा सन्तुलित औद्योगिक विकास के लिए कभी भी प्रयोग नहीं किया गया। इसके परिणामस्वरूप देश का औद्योगीकरण असंतुलित ढंग से हुआ जिसका देश की आर्थिक व्यवस्था पर बहुत ही बुरा प्रभाव पड़ा। अतएव स्वतन्त्रता-प्राप्ति के पूर्व लोग विदेशी पूँजी का भारत आना ठीक नहीं समझते थे। इसका प्रमुख कारण राजनैतिक था क्योंकि विदेशी व्यापारी अधिकांशतः देश की प्रगति में बाधक सिद्ध होते थे।

किन्तु, स्वतन्त्रता-प्राप्ति के पश्चात् इस समस्या का रूप ही बदल गया। आज हमारे देश की पंचवर्षीय योजनाओं में बड़ी-बड़ी रकमों के विनियोग का आयोजन है जिसे देश के आंतरिक साधनों से प्राप्त करना प्रायः असम्भव है। अतः आज देश के औद्योगिक विकास के लिये विदेशी पूँजी की आवश्यकता एवं महत्त्व में वृद्धि हो गयी है। प्रायः ऐसा कहा जाता है कि अर्द्ध-विकसित देशों का आर्थिक विकास पूँजीगत साधनों के अभाव तथा पूँजी-निर्माण की कमी के फलस्वरूप अवरुद्ध-सा हो जाता है। अर्द्ध-विकसित आर्थिक व्यवस्था वाले देशों में जनसंख्या एवं प्राकृतिक साधनों की तुलना में पूँजी का अभाव रहता है। भारत के साथ तो यह बात विशेष रूप से पायी जाती है। हमारे देश की जनसंख्या विशाल है तथा यहाँ प्राकृतिक साधनों की भरमार है, किन्तु इसके समुचित उपयोग के लिए पूँजीगत साधनों एवं पूँजी दोनों का अभाव है। योजना आयोग (Planning Commission) के अनुसार, "भारत के विकास की योजनाएँ आन्तरिक साधनों से उपलब्ध वित्त की तुलना में बहुत बड़ी हैं। फलस्वरूप हमारे अथक प्रयत्नों के बावजूद साधनों का कुछ अभाव रह ही जायगा जिसके लिए हमें विदेशों पर आश्रित रहना पड़ेगा।" अतः योजना आयोग के अनुसार वर्तमान स्थिति में द्रुतगति से औद्योगिक विकास के लिये विदेशी पूँजी का महत्त्वपूर्ण स्थान है।[1] इससे देश के आर्थिक विकास में विदेशी पूँजी का महत्त्व स्पष्ट हो जाता है। भारत जैसे अर्द्ध-विकसित आर्थिक व्यवस्था वाले देश में विदेशी पूँजी केवल आर्थिक विकास की गति को ही प्रभावित नहीं करती, वरन् इससे देश में बचत एवं विनियोग को भी प्रोत्साहन मिलता है।[2] इस प्रकार आर्थिक विकास में विदेशी पूँजी महत्त्वपूर्ण सहयोग

1. "In securing rapid industrial development under present condition, foreign capital has an important part to play."

2. "External finance is necessary not only to increase the rate of development, but to act as stimulant to domestic saving."

प्रदान कर सकती है। संसार के प्राय: अधिकांश देशों को अपने आर्थिक विकास के प्रारम्भिक काल में विदेशी पूँजी की सहायता लेनी पड़ी है। विदेशी पूँजी से विकास की गति में तीव्रता के साथ-साथ आंतरिक बचत को भी प्रोत्साहन मिलता है। इसकी सहायता से देश की बचत का आर्थिक साधनों के विकास में उपयोग किया जा सकता है। अत:, विदेशी पूँजी की सहायता के बगैर देश में सन्तोषजनक आर्थिक प्रगति नहीं हो सकती। तृतीय एवं चतुर्थ पंचवर्षीय योजनाओं में विनियोग की राशि के अधिक होने तथा औद्योगीकरण पर अत्यधिक जोर देने के फलस्वरूप हमें पहले की अपेक्षा विदेशी पूँजी पर अधिक निर्भर करना पड़ रहा है।

भारत में विदेशी पूँजी की मात्रा
(Amount of Foreign Capital in India)

भारत में कुल कितनी विदेशी पूँजी का विनियोग हुआ है, इसका सही-सही अनुमान लगाना कठिन है। ब्रिटिश शासन-काल में विदेशी पूँजी भारत में इतने विभिन्न रूपों में आती थी कि इसे आँकने का कोई भी प्रयत्न केवल अनुमान मात्र ही रह जाता था। फिर भी इस सम्बन्ध में समय-समय पर विभिन्न अनुमान लगाये गये हैं। उदाहरण के लिये १९११ ई० में सर जॉर्ज पैस (Sir George Pais) ने यह अनुमान लगाया था कि ब्रिटेन के कुल विदेशी विनियोग का प्राय: ११ प्रतिशत भाग भारत में विनियोग किया गया था। १९१४ में भारत में विदेशी पूँजी का अनुमान ३९·८ करोड़ पौंड तथा १९३२-३३ ई० में ८३ करोड़ पौंड लगाया गया था। ब्रिटिश एसोसियेटेड चैम्बर ऑफ कॉमर्स ने १९३३ ई० में भारत में विदेशी पूँजी का अनुमान १०० करोड़ पौंड लगाया था जिसका विवरण इस प्रकार से था :—

	(करोड़ पौंड में)
सरकार का स्टर्लिंग कर्ज	३७·९
भारत में काम करने वाली कम्पनियाँ जिनकी रजिस्ट्री विदेशों में हुई है	५०·०
भारत में रजिस्टर्ड विदेशी कम्पनियाँ तथा अन्य	१२·१
कुल	१००·०

किन्तु श्री फिन्डले शिराज (Findlay Shirras) ने इन सभी अनुमानों को गलत बतलाया है। इनके अनुसार १९२९-३० ई० में भारत में कुल ५० करोड़ पौंड की ब्रिटिश पूँजी लगी हुई थी। १९२९-३० ई० के बाद और अधिक मात्रा में ब्रिटिश पूँजी भारत आयी जिससे इस मात्रा में अब तक अवश्य ही बहुत अधिक वृद्धि हो गयी होगी।

रिजर्व बैंक ने भारत में विनियोग की गयी विदेशी पूँजी का सर्वेक्षण कर १९४८ ई० में 'भारत के विदेशी दायित्व एवं सम्पत्ति की गणना' (Census of India's Foreign Liabilities and Assets)नामक एक पुस्तिका[1] प्रकाशित की। इस रिपोर्ट के अनुसार ३० जून, १९४८ ई० को भारत में कुल ३२०·४ करोड़ रुपये की विदेशी पूँजी लगी हुई थी जिसमें से

१. उक्त सर्वेक्षण के अनुसार भारत में कुल विदेशी व्यावसायिक विनियोग ३० जून, १९४८ ई० को ३२०·४२ करोड़ रुपये था जिसमें ब्रिटेन का विनियोग २३० करोड़ रुपये यानी कुल विनियोग का प्राय: ७२ प्रतिशत भाग था। * Census of India's Foreign Liabilities and Assets : Reserve Bank of India—p. 84

२३० करोड़ रुपये अथवा ७२ प्रतिशत भाग केवल इंगलैंड से प्राप्त हुआ था। इसके अतिरिक्त अमेरिका ने केवल १० करोड़ रुपये ही लगाया था। इसी प्रकार श्री एम० शाह के अनुसार विभाजन के समय भारत में ४३० करोड़ रुपये की विदेशी पूँजी कारखानों, बगानों तथा व्यापार में लगी हुई थी जिसमें भारत संघ में २६६ करोड़ रुपये की पूँजी रही। १९६० ई० के अन्त में विदेशी विनियोग (Foreign business Investment) की कुल रकम ६६०·५ करोड़ रुपये आंकी गयी थी। इसमें से १५२·४ करोड़ रुपये पेट्रोलियम उद्योग में, २८९·४ करोड़ रुपये निर्माण उद्योग में; ९९·५ करोड़ रुपये बगान उद्योग में तथा शेष पूँजी अन्य उद्योगों में लगी थी। रिजर्व बैंक के ही एक अध्ययन के अनुसार मार्च १९६५ तक भारत में निजी क्षेत्र में कुल विदेशी विनियोग ६३५·८ करोड़ रुपये था जिसमें ६१३·३ करोड़ रुपये प्रत्यक्ष तथा ३२२·५ करोड़ पाटफोलियो विनियोग था।

चेस्टर बाउल्स (Chester Bowels) के अनुमान के अनुसार अप्रैल, १९५१ ई० से मई १९६८ ई० तक भारत को विदेशों से कुल ११,८९६ करोड़ रुपये की विदेशी सहायता की स्वीकृति प्राप्त हुई थी जिसमें से ९,८९२ करोड़ रुपये का प्रयोग किया गया था। इसमें विभिन्न देशों का हिस्सा निम्नांकित तालिका से स्पष्ट होता है :—

अप्रैल, १९५१ से मई, १९६८ तक भारत के आर्थिक विकास के लिए प्रयुक्त विदेशी सहायता (कराड़ रुपये में)[1]

साधन	अधिकृत रकम (करोड़ रुपये में)	भारत द्वारा प्रयुक्त रकम (करोड़ रुपये में)	भारत द्वारा प्रयुक्त कुल विदेशी सहायता का प्रतिशत
संयुक्त राज्य अमेरिका	६३६१	५८४७	५९·१
विश्व बैंक एवं अन्तर्राष्ट्रीय विकास संघ (I. D. A.)	१४२२	१२८२	१३·०
पश्चिमी जर्मनी	८०२	६८८	७·०
ब्रिटेन	६२०	५५३	५·६
रूस	१०३१	५४६	५·५
कैनाडा	५०१	३८५	३·९
जापान	३३२	२५४	२·६
फ्रांस	१५६	६७	०·७
आस्ट्रेलिया	५७	५४	०·५
जेकोस्लोवाकिया	९१	४४	०·४
निदर लैंड	५२	३७	०·४
अन्य	४६२	१३५	१·३
कुल	११,८९६	९८९२	१००·०

1. Source—Eastern Economist, Nov. 1968. भारत सरकार की एक विज्ञप्ति के अनुसार १९५१ से मार्च, १९७१ तक देश में कुल १३,५६४ करोड़ रुपये की विदेशी सहायता की स्वीकृति हुई थी तथा ११,९७८ करोड़ रुपये की रकम व्यय की गयी थी। "Economic Survey of India-1971-72."

वास्तव में, देश में प्रयुक्त कुल विदेशी पूँजी का सही-सही अनुमान लगाना कुछ कठिन हो गया है। इसका कारण यह है कि अधिकांश विदेशी कम्पनियों ने भारतवासियों को हिस्सेदार के रूप में भी रख लिया है। इनमें सेन रैले, टाटा आई० सी० आई०, बिरला नाफिल्ड आदि उल्लेखनीय हैं। टीटागढ़ पेपर मिल्स में भी इसी तरह प्रायः ८० प्रतिशत भारतीय हिस्सेदार हो गये हैं। कुछ विदेशी कम्पनियों ने अपने संचालक मण्डल में भारतीय संचालकों को भी नियुक्त किया है। इससे विदेशी पूँजी के सम्बन्ध में कोई निश्चित अनुमान लगाना बहुत कठिन-सा हो गया है। फिर भी, अभी भारत में कुल विनियोग की गयी पूँजी का एक बहुत बड़ा भाग विदेशी पूँजी के रूप में ही है। डा० ज्ञानचन्द के अनुसार "देश के प्रायः ७६६ प्रमुख वर्तमान फर्मों में से लगभग ५५ प्रतिशत फर्म विदेशी व्यवस्था एवं नियन्त्रण के अन्तर्गत है। इनमें ब्रिटिश पूँजी एवं व्यवस्था की प्रधानता है जिसके नियन्त्रण में सूती-वस्त्र उद्योग का ३० प्रतिशत भाग, कोयले का ५४ प्रतिशत भाग, इंजीनियरिंग का ४८ प्रतिशत भाग, जूट का ८० प्रतिशत भाग और रसायन तथा चीनी उद्योग का प्रायः ४७ प्रतिशत भाग है।"[1]

क्या विदेशी पूँजी का देश में प्रयोग किया जाय ?:—अब प्रश्न यह है कि वर्तमान परिस्थितियों में देश में विदेशी पूँजी का उपयोग लाभदायक है अथवा नहीं। भारत में विदेशी पूँजी के प्रयोग के पक्ष में बहुत से तर्क दिये जाते हैं जिनमें निम्नलिखित विशेष महत्त्व के हैं :—

(क) भारत में आर्थिक विकास के लिए प्राकृतिक साधनों की भरमार है। यहाँ पर सभी आवश्यक प्राकृतिक पदार्थों की प्रचुरता है, किन्तु पूँजी के अभाव में इनका समुचित विकास नहीं हो पाया है। इस प्रकार विदेशी पूँजी के उपयोग द्वारा हम विशाल एवं विविध प्राकृतिक सम्पत्ति का विकास कर अपना जीवन समृद्ध बना सकते हैं।

(ख) विदेशी पूँजी के उपयोग से उत्पादन की नवीन पद्धति की जानकारी भी प्राप्त हो सकती है। हमारे देश में उत्पादन के आधुनिक तरीकों का अभी बहुत कम विकास हुआ है। ऐसी स्थिति में विदेशी पूँजी के साथ जो तकनीकी जानकारी (Technical knowledge) देश को प्राप्त होती है, वह भी एक बहुत बड़ा लाभ है।

(ग) विदेशी पूँजी के अभाव में देशी पूँजी भी प्रभावपूर्ण नहीं हो पाती है। उदाहरण के लिए, जब कोई उद्योगपति देश में कोई कारखाना स्थापित करना चाहता है जिसके लिए कुछ विदेशी यन्त्र आदि आवश्यक होते हैं तो ऐसी स्थिति में विदेशी पूँजी अथवा सहायता नहीं मिलने पर सम्पूर्ण कार्य, ठप पड़ जायँगे।

(घ) विदेशी पूँजीपति उद्योग-धन्धों की स्थापना के लिए आवश्यक प्रायः सभी प्रारम्भिक कार्यवाहियों को करते हैं तथा प्रारम्भिक जोखिम भी उठाते हैं। बाद में, इनके द्वारा दिखाये गये मार्ग पर देश के उद्योगपति भी चल सकते हैं। विदेशी पूँजी के उपयोग का एक यह भी लाभ है।

(च) विदेशी पूँजी के उपयोग से देश में बचत एवं विनियोग को प्रोत्साहन मिलता है जिससे भविष्य में और अधिक आर्थिक विकास के लिए प्रोत्साहन मिलता है।

---

1. Dr. Gyanchand -- "Industrialisation of India and Commonwealth Countries"-India Quarterly, 1947, pp, 326-333.

(छ) रेल, बन्दरगाह, सिंचाई की योजनाओं तथा विद्युत उत्पादन-केन्द्रों आदि आर्थिक विकास के उत्पादनों की स्थापना में विदेशी पूँजी के अनुभव से लाभ उठाने के लिए भी विदेशी पूँजी का महत्त्वपूर्ण स्थान होता है।

किन्तु विदेशी पूँजी के उपयोग के कतिपय दोष भी हैं जो इस प्रकार से हैं :—

(क) विदेशी पूँजी का सबसे बड़ा दोष राजनैतिक है। जो देश विदेशी पूँजी का अधिक उपयोग करता है, वह धीरे-धीरे राजनीतिक क्षेत्र में पराधीन बन जाता है। प्रायः यह कहा जाता है कि शासनसत्ता व्यापार का अनुगमन करती है। (Flag follows the trade) मध्य एशिया के अधिकांश देश इसके उदाहरण हैं। देश के अन्तर्गत सुरक्षा एवं आधारभूत उद्योगों में विदेशी पूँजी लगाने से कभी-कभी देश की सुरक्षा भी खतरे में पड़ जाती है।

(ख) विदेशी पूँजी के अधिक प्रयोग करने से स्वतन्त्र आर्थिक नीति को अपनाने में भी कठिनाई होती है। भारत ने समाजवादी समाज की स्थापना को अपने आदर्श के रूप में स्वीकार किया है। हमारी विदेशी नीति भी सक्रिय तटस्थता के आधार पर आधारित है। ऐसी स्थिति में अमेरिका, इंगलैंड तथा पश्चिमी जर्मनी आदि देशों से सहायता लेने पर विकास के क्रम को बदलने की आवश्यकता पड़ सकती है।

(ग) विदेशी पूँजी के उपयोग का दूसरा दोष यह है कि इससे बहुत-सा साधन ब्याज एवं लाभ के रूप में प्रतिवर्ष विदेशों में चला जाता है। इससे देश को कोई लाभ नहीं होता। साथ-ही-साथ, निर्धनता में भी वृद्धि होती है।

(घ) विदेशी लोग बहुधा देशवासियों को अपने नियंत्रित उद्योगों में अच्छे पदों पर नहीं रखते हैं। ये व्यावसायिक रहस्य भी गुप्त रखने की कोशिश करते हैं। इससे देशवासियों को उचित लाभ नहीं होता,।

(च) अत्यधिक मात्रा में विदेशी यन्त्र आदि के प्रयोग से विदेशों पर हमारी निर्भरता बढ़ती है। साथ ही, विदेशी यन्त्र आदि उसी देश की आवश्यकताओं को ध्यान में रखकर निर्मित किए जाते हैं; अतः उनसे भारत जैसे अविकसित देश में विदेशी पूँजी के बाद अधिक सहायता नहीं मिलती।

इस प्रकार विदेशी पूँजी के उपयोग के उपरोक्त सभी दोष हैं। किन्तु यहाँ यह कहना अनुचित होगा कि भारत में विदेशी पूँजी के उपयोग में कोई आपत्ति है, वास्तव में आपत्ति विदेशी नियन्त्रण के सम्बन्ध में है। अतः विदेशी पूँजी का देश के विकास के लिए इस शर्त पर स्वागत किया जा सकता है कि इसका नियन्त्रण हर हालत में भारतीयों के हाथ में ही रहे। वर्तमान समय में भारत सरकार की भी विदेशी पूँजी के सम्बन्ध में यही नीति है।

विदेशी पूँजी के सम्बन्ध में सरकारी नीति

(Government's Policy towards Foreign Capital)

भारत में गत् शताब्दी के मध्य में रेलों तथा नहरों के निर्माण में बहुत अधिक विदेशी पूँजी लगायी गयी। उन दिनों देश में पूँजी का अभाव था जिससे औद्योगिक विकास के मार्ग में बहुधा बाधा पहुँचती थी अतएव ब्रिटिश पूँजी ने देश में उद्योग-धन्धों की स्थापना में प्रवर्तक तथा पथ-प्रदर्शक का कार्य किया। भारत में प्राकृतिक साधन एवं श्रमिकों की भरमार थी तथा

तैयार वस्तुओं के लिए विस्तृत बाजार भी था। इस मौके से ब्रिटिश व्यवसायियों ने लाभ उठाकर भारत में ब्रिटिश पूँजी की सहायता से कोयला एवं चाय तथा कहवा बगानों को प्रारम्भ किया। इस प्रकार गत शताब्दी में अधिकांश उद्योगों का विकास विदेशी पूँजी की सहायता से ही हुआ था। किन्तु वर्तमान शताब्दी के प्रारम्भ में विदेशी पूँजी का विरोध कई कारणों से किया जाने लगा। विदेशी उद्योगों में भारतवासियों को रोजी नहीं मिलती थी जिससे भारतवासी औद्योगिक ज्ञान से वंचित रह जाते थे। भारत की तत्कालीन विदेशी सरकार भी विदेशी कम्पनियों को तरह-तरह से प्रोत्साहन प्रदान करती थी जिससे भारतवासियों को भारी क्षति उठानी पड़ी।

१९२३ ई० के फिस्कल कमीशन ने अपने प्रतिवेदन में इस बात का जिक्र किया था कि भारतवासी विदेशी पूँजी को अनियन्त्रित तरीके से भारत आने देने के पक्ष में नहीं थे। फिर भी, आयोग ने विदेशी पूँजी की सहायता से देश के औद्योगिक विकास के पक्ष में अपनी सिफारिश दी थी। किन्तु आयोग के अल्प-संख्यकों ने अपनी विमत्ति टिप्पणी (note of dissent) में विदेशी पूँजी के लिए निम्नलिखित तीन शर्तों का सुझाव दिया था—(क) विदेशी पूँजीवाली कम्पनियों की रजिस्ट्री भारत में ही की जाय तथा इनकी पूँजी भारतीय मुद्रा में हो; (ख) इस प्रकार की कम्पनी के संचालक मण्डल में भारतीय व्यक्तियों को भी एक उचित अनुपात में रखना चाहिए, तथा (ग) इन कम्पनियों द्वारा भारतवासियों का प्रशिक्षण की समुचित व्यवस्था की जानी चाहिए। १९२५ ई० में विदेशी पूँजी समिति ने भी इनमें से अधिकांश सुझावों को स्वीकार करते हुए यह सुझाव दिया था कि भारत में विदेशी पूँजी को प्रोत्साहन देना चाहिए। परन्तु, समिति ने इस बात पर जोर दिया कि जब सरकार किसी विदेशी व्यापारी को कोई विशेष रियायत दे तो इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि उस रियायत से मुख्यतः भारत को ही लाभ पहुँचे। साथ ही, इन कम्पनियों द्वारा भारतवासियों के प्रशिक्षण की समुचित व्यवस्था भी की जानी चाहिए। किन्तु भारत सरकार ने समिति की इन सिफारिशों को स्वीकार नहीं किया और विदेशी पूँजी तट कर संरक्षण की सम्पूर्ण सुविधाओं तथा सरकार द्वारा दी गयी अन्य रियायतों का लाभ उठाती रही। साथ ही, १९३५ ई० के संविधान में इस बात की व्यवस्था की गयी कि किसी भी ब्रिटेन निवासी को ब्रिटिश भारत में सम्पत्ति के अधिकारी होने तथा किसी प्रकार के व्यवसाय अथवा व्यापार करने पर कोई रुकावट नहीं होगी।

नेशनल प्लानिंग कमिटी ने भी औद्योगिक वित्त-सम्बन्धी अपने प्रतिवेदन में भारत में विदेशी पूँजी के उपयोग के सम्बन्ध में निम्नलिखित शर्तों की सिफारिश की थी—(१) भारत में विदेशी पूँजी का विनियोग सरकार की अनुमति के बगैर नहीं किया जाय; (२) विदेशी पूँजी का उपयोग ऊपर की शर्तों के अतिरिक्त किसी भी आधारभूत उद्योग; खनिज तथा अन्य प्रकार की प्राकृतिक सम्पत्ति-सम्बन्धी उद्योग में नहीं किया जाय; (३) किसी भी उपक्रम में विदेशी पूँजी का उपयोग सरकार द्वारा निर्धारित शर्तों पर ही किया जाना चाहिए; तथा (४) आधारभूत उद्योगों, खनिज एवं प्राकृतिक सम्पत्ति-सम्बन्धी उद्योगों में लगायी गयी वर्तमान पूँजी शीघ्रातिशीघ्र सरकार द्वारा ले लेनी चाहिए। इस प्रकार नेशनल प्लानिंग कमिटी ने विदेशी पूँजी के सम्बन्ध में उपरोक्त सभी सुझाव दिये थे।

स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद विदेशी पूँजी-सम्बन्धी नीति
(Policy towards Foregin Capital since Independence)

स्वतन्त्रता-प्राप्ति के पश्चात भारत सरकार ने १९४८ ई० में अपनी औद्योगिक नीति-सम्बन्धी घोषणा में विदेशी पूँजी के महत्त्व को स्वीकार किया, किन्तु यह बात भी स्पष्ट कर दी गयी कि भारतीय उद्योगों में इस प्रकार की पूँजी के उपयोग पर सावधानीपूर्वक नियन्त्रण रखा जायगा। साथ ही, यथासम्भव इसका नियन्त्रण एवं स्वामित्व भारतीयों के हाथ में ही रहेगा। इसका ध्यान भी रखा जायगा कि विदेशी पूँजी के उपयोग से विदेशी प्रतियोगिता को अनावश्यक प्रश्रय नहीं मिल रहा है तथा इसका प्रयोग देश के प्राकृतिक साधनों के उपयोग के लिए ही किया जा रहा है। १९४९-५० ई० के फिस्कल कमीशन ने भी देश में विदेशी पूँजी के महत्त्व को स्वीकार किया। किन्तु आयोग ने यह बतलाया कि इस प्रकार की पूँजी का उपयोग केवल राजकीय क्षेत्र की उन योजनाओं में किया जाना चाहिए जिनमें पूँजीगत मालों का आयात आवश्यक हो। इस आयोग ने इन योजनाओं के लिए विदेशी पूँजी को आवश्यक बतलाते हुए इस बात की सिफारिश की कि इस सम्बन्ध में सरकार को इस प्रकार की नीति का अनुकरण करना चाहिए जिससे कि भारत में विदेशी पूँजी के उपयोग के लिए समुचित वातावरण तैयार हो सके।[1]

भारत में विदेशी पूँजी के सम्बन्ध में सरकार की नीति ६ अप्रैल, १९४९ ई० को प्रधान मन्त्री द्वारा संविधान सभा में दिये गये भाषण से स्पष्ट हो जाती है। प्रधान मन्त्री ने विदेशी पूँजी के महत्त्व पर जोर देते हुए कहा कि हमारे यहाँ अतीत में जिस प्रकार विदेशी पूँजी को उपयोग में लाया गया है, उसी के परिणामस्वरूप आज इस बात पर जोर दिया जा रहा है कि राष्ट्र के हित में विदेशी पूँजी के कार्य-क्षेत्र एवं उसके उपयोग पर नियन्त्रण रखा जाय। किन्तु आज स्थिति पूर्णतः भिन्न है। अतः आज विदेशी पूँजी पर नियन्त्रण का उद्देश्य यह होना चाहिए कि इसका उपयोग भारत के अधिकतम लाभ के लिए किया जा रहा हो। हमारी राष्ट्रीय बचत इतनी अधिक नहीं है कि इससे विकास की नयी योजनाओं का सम्पादन किया जा सके। अतः विकास की योजनाओं के कार्यान्वियन में विदेशी पूँजी की आवश्यकता पड़ती है। भारत की वर्तमान परिस्थितियों में विदेशी पूँजी का महत्त्व इस कारण से भी अधिक है कि इसके साथ ही विदेशों से हम मशीनें, यन्त्र तथा तकनीकी, जानकारी जिनका भारत में अभी अभाव है, प्राप्त कर सकते हैं।

इस प्रकार विदेशी पूँजी के सम्बन्ध में भारत सरकार की नीति १९४९ ई० में संविधान सभा के समक्ष प्रधान मन्त्री के निम्न बयान से स्पष्ट हो जाती है :—

(१) भारतीय उद्योगों की तरह विदेशी उद्योगों को भी भारत सरकार की औद्योगिक नीति का अनुकरण करना होगा,

(२) सरकार विदेशी उद्योगों पर कोई ऐसा प्रतिबन्ध नहीं लगाना चाहती जो अन्य समान भारतीय उद्योग पर लागू न हों,

1. "It should be the duty of the State policy to create and maintain conditions favourable for the inflow of all such foreign capital as desires to come to India."

(३) विदेशी पूँजी वाली कम्पनियाँ भी उन्हीं नियमों के अनुसार लाभ कमाने के लिए स्वतन्त्र होंगी जो यहाँ की कम्पनियों पर लागू हैं;

(४) सरकार दूसरे देशों में लाभ तथा पूँजी भेजने के लिए अपनी विदेशी विनिमय की स्थिति को ध्यान में रख कर समुचित सुविधाएँ देगी; तथा

(५) यदि किसी विदेशी कम्पनी को सरकार अपने अधिकार में लेगी तो उसे उचित मुआवजा दिया जायगा।

प्रधान मंत्री ने यह भी बतलाया कि साधारणत: विदेशी उपक्रमों का नियंत्रण भी भारतीयों के हाथ में ही होना चाहिए, किन्तु एक निश्चित समय के लिए विदेशी नियंत्रण में भी सरकार को कोई आपत्ति नहीं होगी, बशर्ते कि वह राष्ट्रीय हित के विपरीत न हो। इसी प्रकार यदि उपयुक्त भारतीय उपलब्ध नहीं हों तो किसी विदेशी की नियुक्ति में भी सरकार को कोई आपत्ति नहीं होगी। इस प्रकार उपरोक्त शर्तों को ध्यान में रखते हुए सरकार विदेशी पूँजी का देश के आर्थिक विकास में सहयोग प्रदान करने के लिए सदा स्वागत करेगी। (Government would gladly welcome their contribution in a constructive and co-operative role in development of India's economy.)

द्वितीय योजनाकाल में उत्पन्न विदेशी विनिमय-सम्बन्धी संकट की स्थिति में भारत-सरकार की विदेशी पूँजी-सम्बंधी नीति में पुन: कुछ आवश्यक संशोधन किया गया। ४ जुलाई, १९५७ ई० को भारतीय संसद् में पुन: प्रधान मंत्री ने यह घोषणा की कि "हम लोग भूत में सदा विदेशी पूँजी का स्वागत करते रहे हैं और वर्तमान में भी इसका स्वागत करेंगे।" (We have always welcomed foreign capital in the past and we shall welcome it in the future.)

इस प्रकार भारत सरकार की वर्तमान नीति विदेशी पूँजी को प्रोत्साहन प्रदान करने वाली रही है। योजना आयोग ने भी भारत सरकार की नीति को स्वीकार करते हुए इस बात पर जोर दिया है कि विदेशी पूँजी का देश के आर्थिक विकास में महत्त्वपूर्ण स्थान है। स्वतंत्रता-प्राप्ति के बाद प्रारम्भ में देश में ब्रिटिश विनियोग कुछ कम हो गया था, किन्तु प्रधान मंत्री के इस आश्वासन के बाद पुन: इसमें पुरानी गति आ गयी। आज संयुक्त राज्य अमेरिका, कैनाडा तथा रूस आदि देशों का विनियोग भी भारत में बढ़ रहा है। साथ ही, सरकार द्वारा विदेशी पूँजी को विभिन्न प्रकार से प्रोत्साहन भी दिया जा रहा है। सरकार आजकल विदेशी फर्मों, संस्थाओं तथा सरकार से साझेदारियाँ भी स्थापित कर रही है—उदाहरण के लिए एक ब्रिटिश फर्म एवं एक जर्मन फर्म के द्वारा लोहे एवं इस्पात के कारखाने स्थापित किये गये हैं। अप्रैल, १९५६ ई० में एक जापानी फर्म के साथ मल्टिपुल यूनिट इलेक्ट्रिक कोचेज (Multiple Unit Electrical Coaches) के निर्माण के लिए समझौते की स्वीकृति दी गयी। रूस की सरकार के सहयोग से देश में एक इस्पात का कारखाना स्थापित किया जा रहा है। इस प्रकार विदेशी एवं भारतीय व्यापारियों के मेल जोल से संयुक्त उद्योगों का निर्माण किया जा रहा है जिससे विदेशों से इक्विटी कैपिटल (Equity Capital) भी मिलती है। इस दिशा में शुरुआत हो चुकी है; जैसे मोटरकार के निर्माण के लिए बिरला-नफील्ड, बसों एवं ट्रकों के निर्माण के लिए टाटा बेंज तथा साइकिल बनाने के लिए सेन-रैले का साझा आदि।

पंचवर्षीय योजनाएँ एवं विदेशी पूँजी की आवश्यकता

(Five Year Plans and the need for Foreign Capital)

पंचवर्षीय योजनाओं में बहुत बड़े पैमाने पर विदेशी सहायता की आवश्यकता पड़ती है। उदाहरण के लिये प्रथम पंचवर्षीय योजना (First Five Year Plan) में भारत को ३८१·७५ करोड़ रुपये की विदेशी सहायता प्राप्त हुई थी जिसमें से २९३ करोड़ रुपये की राशि प्रथम योजनाकाल में प्रयुक्त हुई।

इसी प्रकार द्वितीय पचवर्षीय योजनाकाल (Second Five Year Plan) में ५ वर्षों में ८०० करोड़ रुपये विदेशी साधनों से प्राप्त करने का आयोजन था। किन्तु द्वितीय योजना के प्रथम २ वर्षों में ही विदेशी विनिमय संकट (Foreign Exchange Crisis) की स्थिति उत्पन्न हो गयी तथा रिजर्व बैंक के विदेशी विनिमय कोष में तीव्र गति से कमी होने लगी। इससे द्वितीय योजना के इस सम्बन्ध में सम्पूर्ण अनुमान ही अस्त-व्यस्त हो गये। किन्तु विश्व बैंक तथा अन्य देशों की सहायता से स्थिति में धीरे-धीरे सुधार हुआ। द्वितीय योजना के अन्त तक २५३१ करोड़ रुपये की विदेशी सहायता उपलब्ध हुई थी जिसमें से १४३०·२ करोड़ रुपये की राशि प्रयुक्त हुई थी।

तृतीय पंचवर्षीय योजना (Third Five Year Plan) में भी विदेशी पूँजी के प्रयोग पर जोर दिया गया था। तृतीय योजनाकाल में कुल २९३५·९ करोड़ रुपये की विदेशी सहायता प्राप्त हुई थी। इसमें से लगभग २२०० करोड़ रुपये की राशि प्रयुक्त की गयी थी। इसी प्रकार १९६६-६७ में १५०७ करोड़ रुपये, १९६७-६८ में ७१९ करोड़ रुपये, १९६८-६९ में ९४७ करोड़ रुपये तथा १९६९-७० में ६३४ करोड़ रुपये की विदेशी सहायता प्राप्त हुई थी। इसमें से १९६६-६७ में ११३१ करोड़ रुपये, १९६७-६८ में ११९६ करोड़ रुपये, १९६८-६९ में ९०३ करोड़ रुपये तथा १९६९-७० में ८५६ करोड़ रुपये का प्रयोग किया गया था।[1]

चतुर्थ योजना (Fourth Five Year Plan) में पाँच वर्षों में २६१४ करोड़ रुपये की विदेशी सहायता का अनुमान लगाया गया है। इसमें से ३८० करोड़ रुपये P L ४८० के अन्तर्गत तथा २२३४ करोड़ रुपये अन्य सहायता के रूप में प्राप्त होने की आशा है।[2]

पंचवर्षीय योजनाओं में राजकीय क्षेत्र में विदेशी पूँजी की मांग का अनुमान निम्नांकित तालिका से लगाया जा सकता है :—

पंचवर्षीय योजनाओं में विदेशी पूँजी (करोड़ रुपये में)

योजना	राजकीय क्षेत्र में कुल व्यय	राजकीय क्षेत्र मे विदेशी पूँजी	कुल व्यय का प्रतिशत
प्रथम योजना	२,०१२	२९३	१०·१
द्वितीय योजना	४·६००	१·०००	२१·७
तृतीय योजना	७,५००	२,२००	२९·३
एकवर्षीय योजनाएँ (१९६६-६९)	६,२५६	२,४२६	३२.८
चतुर्थ योजना (१९६९-७४)	१५,९०२	२,६१४	१६·२

1. Economic Survey—1971-72 Govt. of India.

२. चतुर्थ योजना में विदेशी ऋणों के लौटाने में लगी रकम को छोड़ दिया गया है। यदि इन्हें भी सम्मिलित किया जाय तो कुल ४००० करोड़ रुपये विदेशी पूँजी की आवश्यकता होगी।

पंचवर्षीय योजनाओं के कार्यान्वयन के लिए भारत सरकार विदेशी सरकारों एवं विभिन्न वित्तीय संस्थाओं से कर्ज ले रही है। सरकारी स्तर पर अमेरिका, रूस, चेकोस्लोवाकिया तथा जापान से भारत को कर्ज के रूप में विदेशी साधन प्राप्त हुए हैं। कोलम्बो प्लान तथा अमेरिका के प्वांइट फोर प्रोग्राम, P L ४८० तथा P L ६६५ के अन्तर्गत भी सरकार को सहायता मिलती हैं। विश्व बैंक तथा इसकी सहायक संस्था के रूप में अन्तर्राष्ट्रीय वित्त निगम (International Finance Corporation) से भी भारत को सार्वजनिक तथा निजी दोनों क्षेत्रों में पर्याप्त सहायता मिल रही है। मई, १९६८ ई० तक विश्व बैंक तथा अन्तर्राष्ट्रीय विकास परिषद् जैसी संस्थाओं से देश को १४२२ करोड़ रुपये का ऋण प्राप्त हुआ था। इनके अतिरिक्त गैर-सरकारी संस्थाएँ; जैसे—फोर्ड फाउण्डेशन, अमेरिका का आयात-निर्यात बैंक (Export-Import Bank) आदि से भी ऋण मिल रहा है।

चतुर्थ पंचवर्षीय योजना का आकार बहुत बड़ा होने के कारण इसमें और अधिक मात्रा में विदेशी साधनों की आवश्यकता पड़ेगी। अतएव यदि हम चतुर्थ पंचवर्षीय योजना की सफलता के लिए विदेशी पूँजी चाहते हैं तो हमें इसके लिए देश में विश्वास एवं सुरक्षा का समुचित वातावरण तैयार करना होगा। साथ ही, हमें इस संबंध में अपनी नीति को और भी अधिक उदार बनाना होगा। इस सम्बन्ध में अमेरिका के राजदूत श्री बकर के सुझावों का यहाँ उल्लेख आवश्यक जान पड़ता है, इन्होंने विदेशी पूँजी की निम्नलिखित सुविधाएँ देने का सुझाव दिया था :—

(क) विदेशी उद्योग को एकाएक राष्ट्रीयकरण के भय से मुक्त करना,

(ख) करो में विशेष छूट; तथा

(ग) दुहरे कर (Double Taxation) से सुरक्षा।

इस प्रकार की सुविधाओं के फलस्वरूप देश में विदेशी पूँजी की मात्रा में निश्चय ही वृद्धि होगी। अधिक मात्रा में विदेशी सहायता प्राप्त करने के उद्देश्य से ही भारत सरकार ने अपनी मुद्रा का ६ जून, १९६६ ई० को अवमूल्यन किया। अवमूल्यन से अधिक मात्रा में विदेशी पूँजी के आकर्षित होने की आशा थी, किन्तु ऐसा नहीं हो पाया।

भारत में पूँजी का निर्माण
(Capital Formation in India)

पूँजी-निर्माण का तात्पर्य यह है कि कोई देश अपनी समस्त चालू उत्पादन-क्षमता को अपने वर्तमान उपभोग की आवश्यकताओं में नहीं लगाकर इसका एक अंश पूँजीगत वस्तुओं के निर्माण में लगाता है। इससे देश की उत्पादन-क्षमता बढ़ती है जिससे भविष्य में अधिक वस्तुओं का उत्पादन होता है। संयुक्त राष्ट्र-संघ के एक प्रतिवेदन के अनुसार "पूँजी-निर्माण किसी देश की वर्तमान उत्पत्ति एवं आयात का वह भाग है जो गणना की अवधि में न तो उपभोग में लगाया जाता है न निर्यात ही किया जाता है, वरन् पूँजीगत वस्तुओं के कोष में वृद्धि के लिए प्रयोग किया जाता है।" (Capital formation is that part of a country's current output and imports which is not consumed or exported during the accounting period but set aside as additions to its stock of capital goods.)

भारत की प्रमुख आर्थिक समस्या जनता की निर्धनता तथा निम्न जीवन-स्तर है। जीवन स्तर में सुधार के लिए कृषि एवं उद्योग दोनों के उत्पादन में वृद्धि आवश्यक है और उत्पादन में वृद्धि के लिए हमें अत्यधिक मात्रा में पूँजी की आवश्यकता पड़ती है। इस प्रकार देश के आर्थिक विकास की गति पूँजी के निर्माण पर ही निर्भर करती है। द्रुतगति से आर्थिक विकास के लिए तो हमें अत्यधिक मात्रा में पूँजी की आवश्यकता पड़ेगी। इससे देश में पूँजी के निर्माण की समस्या अति महत्त्वपूर्ण हो जाती है। अभी कुछ ही वर्ष पूर्व तक हमारे पूँजी बाजार (capital market) में पूँजी का अभाव था। कहा जाता था कि भारतीय पूँजी विकास के कार्यक्रम में उचित सहयोग नहीं प्रदान कर रही है। द्वितीय महायुद्ध के पूर्व देश की राष्ट्रीय आय अनुमानतः २,००० करोड़ रुपये थी जिसमें १२० करोड़ रुपये यानी कुल राष्ट्रीय आय के प्रायः ६ प्रतिशत भाग का विनियोग होता था। १९४८-४९ ई० में देश की राष्ट्रीय पूँजी ८००० से ९००० करोड रुपये के बीच हो गयी थी जिस पर ६ प्रतिशत को दर से कम-से कम ४८० करोड़ रुपये विनियोग होना चाहिये था, किन्तु जानकार सूत्रों के अनुसार विनियोग की रकम ३५० से ४५० करोड़ रुपये के बीच में ही थी। योजना आयोग के अनुसार १९५०-५१ ई० में राष्ट्रीय आय ९,११० करोड़ रुपये थी जिसमें से ४५० करोड़ रुपये, यानी प्रायः५ प्रतिशत का ही विनियोग हुआ था। प्रथम योजना के अन्त में १९५५-५६ ई० में राष्ट्रीय आय बढ़कर १०,८०० करोड़ रुपये हो गयी तथा विनियोग ७९० करोड़ रुपये; यानी प्रायः ७·३ प्रतिशत हो गया। द्वितीय योजना के अन्त तक, १९६०-६१ ई० के मूल्य-तल के आधार पर राष्ट्रीय आय बढ़कर अनुमानतः १४,५00 करोड़ रुपये हो गयी। तृतीय योजना के अन्त तक इसी मूल्य पर राष्ट्रीय आय बढ़कर १९,000 करोड़ रुपये होने का अनुमान था जब कि यह १५,०३९ करोड़ रुपये ही हुई। चतुर्थ योजना के अनुसार १९६७-६८ ई० में बचत की दर ८ प्रतिशत थी। इसके बढ़कर १९७३-७४ ई० तक १२·९ प्रतिशत या १९८०-८१ ई० तक १६·५ प्रतिशत हो जाने की आशा है।[1]

पंचवर्षीय योजनाओं में आंतरिक बचत, विनियोग एवं विदेशी पूँजी का अन्दाजा निम्नांकित तालिका[2] से लगाया जा सकता है :—

विनियोग, आंतरिक बचत एवं विदेशी पूँजी का विनियोग राष्ट्रीय आय के प्रतिशत में

वर्ष	विनियोग	आंतरिक बचत	विदेशी पूँजी का आगमन
१९५०-५१	५·६%	५·७%	—०·१
१९५५-५६	१०·३	९·७	०·६
१९६०-६१	१४·०	१०·३	३·७
१९६८-६९	११·३	९·०	२·३
१९७३-७४ (आयोजित)[3]	१४·५	१३·२	१·३

इस प्रकार पंचवर्षीय योजनाओं में विनियोग एवं आंतरिक बचत में धीरे-धीरे वृद्धि करने का प्रस्ताव है। स्पष्ट है कि आन्तरिक बचत में वृद्धि के साथ-साथ विदेशी पूँजी के विनियोग को हतोत्साहित किया जाता है जिससे कि अर्थ-व्यवस्था स्वावलम्बन की ओर अग्रसर हो सके। किन्तु विदेशी पूँजी की आवश्यकता में अपेक्षित कमी नहीं हो रही है।

1. Fourth Five Year Plan.
2. The Economic Times, June 28 1969.
3. at 1968-69 Prices.

किन्तु, क्या विनियोग की इस दर से हमारा द्रुतगति से आर्थिक विकास सम्भव है ? इंगलैंड तथा अमेरिका जैसे देशों में प्रति-व्यक्ति आय को २०-२५ वर्षों में दुगुना करने के लिए राष्ट्रीय आय के १२ से १५ प्रतिशत के शुद्ध विनियोग (net investment) की आवश्यकता होती है। किन्तु भारत जैसे देश में जहाँ जनसंख्या में प्रतिवर्ष २.५ प्रतिशत की दर से वृद्धि होती है, केवल प्रति-व्यक्ति आय को समान बनाये रखने के लिए (maintaining Per-capita income constant) राष्ट्रीय आय के ६ से ७ प्रतिशत के विनियोग की आवश्यकता पड़ेगी। इससे यह स्पष्ट है कि हमारे देश में विनियोग की वर्तमान दर निश्चय ही अति असन्तोषजनक है।

किसी भी देश में पूँजी का निर्माण एक बड़ी प्रक्रिया है जिसके निम्नलिखित तीन स्तर हैं :—

(१) बचत का होना, जो बचाने की इच्छा एवं योग्यता पर निर्भर करता है;

(२) बचत को जमा कर उचित दिशा में लगाना जिससे उसे विनियोग करने योग्य बनाया जा सके। यह बैंकिंग व्यवस्था के समुचित विकास पर निर्भर करता है, तथा

(३) पूँजीगत माल (Capital goods) की उपलब्धि जो साहसोद्यम पर निर्भर करता है।

भारत में पूँजी-निर्माण के क्षेत्र में कुछ कठिनाइयाँ हैं। सर्वप्रथम कठिनाई तो बचत को छुपाकर रखने (hoarding) की प्रथा के फलस्वरूप है। हमारे देश में यह प्रथा आज भी प्रचलित है। बचत का कुल भाग निर्यात भी कर दिया जाता है जिससे देश की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए यह उपलब्ध नहीं होता। पूँजी के निर्माण पर कर का भी प्रभाव पड़ता है। कर की मात्रा अधिक होने से विनियोग कम होता है। उदाहरण के लिए, १९४७-४८ ई० के लियाकत अली खाँ के बजट का देश में पूँजी-निर्माण पर बिल्कुल प्रतिकूल प्रभाव पड़ा था। समाज में धन एवं आय के वितरण का भी पूँजी के निर्माण पर प्रभाव पड़ता है। यदि आय का वितरण इस प्रकार का हो कि इसका अधिकांश भाग मध्य एवं निम्न वर्गों के व्यक्तियों को प्राप्त हो तो इससे पूँजी- निर्माण में कमी आ जाती है। इसी प्रकार एक विकासित बैंकिंग व्यवस्था का अभाव पूँजी-निर्माण के मार्ग में बाधा पहुँचाता है।

भारत में पूँजी-निर्माण की दर निश्चय ही कम है। एक विकासोन्मुख आर्थिक व्यवस्था वाले देश में राष्ट्रीय आय का कम-से-कम १५ से २० प्रतिशत भाग तक विनियोग के लिए बचाना आवश्यक है। किन्तु भारत में बचत इससे बहुत ही कम होती है। यहाँ पूँजी-निर्माण की दर में कमी के बहुत-से कारण हैं। देश में उत्पादन-क्षमता की कमी इसके लिए मुख्य रूप से उत्तरदायी है। प्रति-व्यक्ति उत्पादन कम होने के कारण बचत एवं विनियोग का कम होना स्वभाविक ही है। भारत में सर्वत्र निर्धनता का निर्मम जाल फैला हुआ है। देश की अधिकांश जनता को पर्याप्त मात्रा में एवं पौष्टिक भोजन भी नहीं मिल पाता। ऐसी परिस्थिति में अर्द्ध-भूखी एवं अर्द्ध-नंगी जनता से अधिक बचत की आशा करना केवल दुराशा मात्र ही होगी। कुछ लोग, जैसे १९४९-५० ई० का फिस्कल कमीशन, पूँजी के निर्माण की कमी का कारण उद्योगों के राष्ट्रीयकरण का भय बतलाते हैं। परन्तु वास्तव में बात ऐसी नहीं है। देश में बैंकिंग व्यवस्था के समुचित विकास का अभाव भी इसका एक प्रमुख कारण है।

किन्तु, देश की पंचवर्षीय योजनाओं के सफल सम्पादन के लिए पूँजी-निर्माण की दर में वृद्धि अनिवार्य है। देश के उपभोग-स्तर को नियन्त्रित कर पूँजी के निर्माण में वृद्धि की जा सकती है। किन्तु हमारे देश में उपभोग-स्तर इतना निम्न है कि वर्तमान परिस्थितियों में इसमें किसी

प्रकार की कमी का प्रभाव उत्तम नहीं होगा। अत: हमारे सामने केवल एक ही उपाय नजर आता है—वह है उद्योगों का राष्ट्रीयकरण। देश के उद्योग-धन्धों के राष्ट्रीयकरण से इनका लाभ जनहित के उद्देश्य से आर्थिक विकास के कार्यों में लगाया जा सकता है और इस प्रकार पूँजी के निर्माण में वृद्धि की जा सकती है। अत:, सुझाव के तौर पर यह कहा जा सकता है कि यथाशीघ्र देश के प्रमुख उद्योगों का राष्ट्रीयकरण किया जाय जिससे इनकी व्यवस्था जनहित के उद्देश्य से की जा सके तथा इनके लाभ को विकास के कार्यों में लगाया जा सके। इस सम्बन्ध में सरकार द्वारा जीवन बीमा, १४ प्रमुख व्यवसायिक बैंकों तथा सामान्य बीमा उद्योग, आदि का राष्ट्रीयकरण निश्चय ही एक प्रशंसनीय कदम रहा है। किन्तु इसके लिए सरकारी क्षेत्र के उद्योगों की व्यावस्था में सुधार करने की आवश्यकता होगी। देश में पूँजी-निर्माण को प्रोत्साहित करने के लिए बैंकिग एवं विनियोग व्यवस्था के विकास को प्रोत्साहित करना भी आवश्यक है। १४ प्रमुख व्यावसायिक बैंकों के राष्ट्रीयकरण से इस सम्बन्ध में बहुत अधिक सहायता की आशा की जाती है। साथ ही, छोटी-छोटी बचतों को एकत्र करने पर भी पूरा जोर देना चाहिए। इस सम्बन्ध में यूनिट ट्रस्ट ऑफ इंडिया जैसी संस्थाएँ विशेष रूप से सहायक सिद्ध हो रही हैं।

विशेष अध्ययन-सूची

1. Reserve Bank of India : India's Foreign Liabilities and Assets; Survey Report (1961)
2. Govt. of India : Report of the Committee on utilization of External Assistance, 1964.
3. V. K. R. V. Rao : Foreign Aid and India's Economic Growth.
4. NCAER : Development Without Aid.
5. Planning Commission : First, Second, Third and Fourth Five Year Plans.

अध्याय : ३१

औद्योगिक श्रम

(Industrial Labour)

भारत में औद्योगिक श्रम का बढ़ता हुआ महत्त्व (Growing Importance of Industrial Labour in India):—भारत में औद्योगिक श्रम के एक पृथक वर्ग का अभ्युदय गत शताब्दी के मध्य से आरम्भ होता है। अठारहवीं शताब्दी के अन्त तक वंशानुगत परम्परा के आधार पर आधारित कुटीर उद्योग-धन्धों ने अनेक प्रकार की कलापूर्ण एवं सुन्दर वस्तुएँ तैयार कर देश के विदेशी व्यापार को समुन्नत किया था। किंतु, कुटीर उद्योग-धन्धों के विनाश के फलस्वरूप कारीगरों को बाध्य होकर भूमि पर ही आश्रित होना पड़ा। इस प्रकार बहुत दिनों तक कृषि ही देश के विशाल जन-समुदाय की जीविका का एक-मात्र साधन थी। उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य में सरकार द्वारा अकाल को दूर करने के लिए बड़े पैमाने पर नहरों एवं सड़कों का निर्माण प्रारम्भ किया गया। इसी समय देश में रेलवे का निर्माण भी बड़ी तेजी के साथ प्रारम्भ हुआ। इन निर्माण कार्यों में बहुत बड़ी संख्या में लोगों को कार्य मिलने लगा, अतः धीरे-धीरे जनसंख्या का प्रवाह गाँवों से शहरों की ओर होने लगा। थोड़े ही समय के बाद में खनिज उद्योग का विकास प्रारम्भ हुआ तथा धीरे-धीरे बगान एवं कारखाना उद्योगों का महत्त्व भी बढ़ने लगा। संगठित उद्योगों में देश के विभिन्न भागों से मजदूर आकर कार्य करने लगे तथा इस प्रकार देश में औद्योगिक मजदूरों के एक पृथक् वर्ग का अभ्युदय हुआ। बहुत दिनों तक इनकी संख्या बहुत ही कम रही; अतः देश के सामाजिक तथा राष्ट्रीय जीवन में इस वर्ग का कोई महत्त्व नहीं था।

निम्नांकित तालिका[1] से भारत में औद्योगिक श्रमिकों की संख्या का अन्दाजा लगता है :—

वर्ष	संख्या (लाख में)
१९००	५·०
१९२०	१४ ०
१९४०	२२·०
१९५०	३०·०
१९६०	३८·०
१९६९	४८·०

उपरोक्त तालिका से स्पष्ट है कि १९०० ई० से कारखानों में काम करने वाले व्यक्तियों की संख्या में निरंतर वृद्धि हो रही है। १९५० ई० के बाद इनकी संख्या में वृद्धि और अधिक हुई है। कुल कार्यकारी जनसंख्या का केवल २ प्रतिशत भाग औद्योगिक मजदूरों का है। यह प्रतिशत कम अवश्य है किन्तु राष्ट्रीय आय में औद्योगिक श्रमिकों का योगदान अधिक होने के कारण इनका महत्त्व बहुत बढ़ जाता है।

1. The Indian Labour Year Book and India, 1971-72.

विभिन्न पेशों में लगे श्रमिकों की संख्या :—पिछले पृष्ठ की तालिका से स्पष्ट है कि भारत में गत कुछ वर्षों से औद्योगिक श्रमिकों की संख्या में वृद्धि हो रही है। इस वृद्धि का प्रमुख कारण स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद में देश का द्रुतगति से औद्योगिक विकास है। देश के विभिन्न उद्योगों में काम करने वाले मजदूरों की संख्या का अन्दाजा निम्नांकित तालिका से स्पष्ट हो जाता है[1] :—

उद्योग	१९६८ में औसत प्रतिदिन काम करने वाले मजदूरों की संख्या (लाख में)
१. निर्माण उद्योग	४४·४
२. खनिज उद्योग	६·१
३. बगान, वन तथा मत्स्य	११.०
४. भवन-निर्माण	९·०
५. विद्युत, गैस एवं अन्य	३·६
६. वाणिज्य एवं व्यापार	५.३
७. यातायात, संग्रह एवं संवहन	२२·४
८. सेवाएँ	६१.२
कुल	१६३.३

उपरोक्त तालिका से स्पष्ट है कि भारत के संगठित उद्योगों में काम करने वाले श्रमिकों में सबसे अधिक कारखानों में ही कार्य करते हैं। १९६८ ई० में सभी राज्यों को मिलाकर कारखानों में कुल ४४४० हजार मजदूर औसत प्रतिदिन काम करते थे। इसी प्रकार बगानों में १९६८ ई० में प्रतिदिन औसत ११ लाख मजदूर, यातायात तथा संवहन में २२·४ लाख जिनमें से रेलवे में १३·५ लाख मजदूर, खानों में १९६८ ई० में ६१० हजार मजदूर तथा प्रमुख बन्दरगाहों में ६८ हजार मजदूर प्रतिदिन औसत रूप में काम करते थे। १९६८ ई० में कारखानों में काम करने वाले मजदूरों में सबसे अधिक महाराष्ट्र (९३८ हजार), उत्तर प्रदेश (३८४) तथा पश्चिमी बंगाल (८५० हजार) के और सबसे कम उड़ीसा में (७५ हजार) मजदूर काम करते थे। १९६८ ई० में बिहार राज्य में २५८ हजार मजदूर औसत रूप में प्रतिदिन कारखानों में काम करते थे।

कारखानों में काम करने वाले मजदूरों में से सबसे अधिक मजदूर सूती-वस्त्र उद्योग में लगे हुए हैं। सूती वस्त्र-उदयोग में १९६५ ई० में औसतन प्रतिदिन ८५९ हजार मजदूर काम करते थे। इसी प्रकार खानों में काम करने वाले मजदूरों में सबसे अधिक मजदूर कोयले की खानों में काम करते थे। १९६९ ई० में कोयले की खानों में ६·४ लाख मजदूर कार्य करते थे।

१९६५ ई० में बगानों में प्रतिदिन औसत रूप से ११६५ हजार मजदूर काम करते थे। १९११ ई० बगानों में काम करने वाले श्रमिकों की संख्या ७०१ हजार तथा १९२१ ई० में प्राय: १० लाख थी। इस प्रकार बगानों में काम करनेवाले श्रमिकों की संख्या में भी धीरे-धीरे वृद्धि हो रही है। बगान उदयोगों में चाय, कहवा तथा रबर उद्योग प्रमुख हैं जिनमें १९६५ ई० में क्रमश: ८०७ हजार, २३६ हजार तथा १२२ हजार मजदूर, प्रतिदिन काम करते थे। चाय के बगानों में काम करने वाले अधिकांश मजदूर बगानों में ही बस गये हैं जबकि कहवा बगानों में

1. Report of the National Labour Commission, p. 27

काम करने वाले मजदूर अधिकांशतः गाँवों से आते-जाते हैं। रबर के बगानों में भी काम करने-वाले प्रायः आधे मजदूर बाहर से कार्य करने आते हैं।

औरत तथा बच्चे[1] :—१९५१ ई० में कारखानों में काम करने वाले कुल वयस्क श्रमिकों के क्रमशः ११·४ प्रतिशत औरतें थीं। १९४९ ई० में बगानों में काम करने वाले कुल वयस्क मजदूरों में ४७·२ प्रतिशत औरतें थीं। गत कुछ वर्षों से खानों तथा कारखानों, दोनों में काम करने वाली औरतों की संख्या में धीरे-धीरे कमी हो रही है। सूती-वस्त्र उद्योग में यह कमी सर्वाधिक है। खानों में औरतें आजकल निचली सतह में काम नहीं करतीं।

१९५२ ई० में कारखानों में कुल ६,१५९ बच्चे कार्य करते थे। ये अधिकांशतः रसायन एवं रासायनिक पदार्थों के उत्पादन वाले उद्योगों, अधात्विक खनिज तथा तम्बाकू उद्योग में काम करते थे। कारखानों में काम करने वाले बच्चों के प्रतिशत में भी धीरे-धीरे कमी हो रही है। १८९२ ई० में इनका अनुपात कुल श्रमिकों का प्रायः ३·९ प्रतिशत था जो १९५२ ई० में घटकर केवल ०·२५ प्रतिशत रह गया। किन्तु, बगानों में आज भी अधिक संख्या में बच्चों का उपयोग किया जाता है। असम में चाय के बगीचों में १९५०-५१ ई० में ७३,७७६ अथवा कुल श्रमिकों के प्रायः १४·३ प्रतिशत बच्चों की संख्या थी। इससे स्पष्ट है कि बच्चों का आज भी बगानों में अधिक उपयोग किया जाता है।

औद्योगिक श्रम की पूर्त्ति

(Supply of Industrial Labour)

पश्चिमी देशों में उदयोगों में कार्य करने वाले श्रमिकों का एक स्थायी वर्ग होता है जिसका कृषि आदि से कोई सम्बन्ध नहीं रहता। उन देशों में अधिकांश मजदूरों का पालन-पोषणा कारखानों के वातावरण में ही होता है। कारखानों के वातावरण में इनका यह पालन-पोषणा उनकी औद्योगिक श्रेष्ठता के लिए बहुत हद तक उत्तरदायी है। किन्तु, भारत में इस प्रकार के एक स्थायी औद्योगिक श्रमिक वर्ग का बहुत दिनों तक अभाव रहा है। आज भी भारतीय उद्योगों में काम करने वाले अधिकांश मजदूर गाँवों से ही आते हैं। औद्योगिक केन्द्रों में काम करने वाले अधिकांश श्रमिक वास्तव में ग्रामीण ही होते हैं जिनकी प्रारम्भिक शिक्षा-दीक्षा गाँवों में ही होती है तथा जिनकी आस्था ग्रामीण रीति-रिवाजों में रहती है। इससे गाँव के जीवन से ही उन्हें अधिक प्रेम रहता है तथा शहरों के अनोखे वातावरण एवं परिस्थितियों से इनका जी ऊब-सा जाता है। अतः यथाशीघ्र अवसर मिलने पर वे गाँवों को लौट जाने का प्रयत्न करते हैं। इनमें से अधिकांश मजदूरों का कृषि से प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप में सम्बन्ध रहता है, उदाहरणार्थ वे अधिकांशतः या तो संयुक्त कृषक परिवार के सदस्य होते हैं या उनका कोई अपना सगा-सम्बन्धी घर पर कृषि-कार्य करता है। इस प्रकार आज भी भारत में पश्चिमी देशों की तरह औद्योगिक श्रमिकों का एक स्थायी वर्ग नहीं हो पाया है।

भारत में कृषि पर आश्रित जनसंख्या की बहुलता, जिनमें बहुतों को कृषि में ६ महीने भी कार्य नहीं मिलता, को देखकर प्रायः इस प्रकार की बात सोची जा सकती है कि भारत में औद्योगिक श्रमिकों की कभी कमी नहीं रही होगी। किन्तु, बहुत समय तक भारतीय उद्योग के समक्ष श्रमिकों के अभाव की समस्या रही है जो विशेष अवसरों पर जैसे १८९६ ई० के प्लेग तथा

1. यह विवरण मुख्यतः "Recent Developments in certain Aspects of Indian Economy" Part II, pp. 4-5 पर आधारित है।

१९१८ ई० के इनफ्लुएंजा के समय बहुत गम्भीर रूप धारण कर लेती थी। किन्तु इसके बाद जनसंख्या की तीव्र गति से वृद्धि के फलस्वरूप आज श्रमिकों के अभाव की कोई आशा नहीं की जा सकती। साथ ही, आवागमन के साधनों के विस्तार के फलस्वरूप भी उद्योग-धन्धों में श्रमिकों का कभी अभाव नहीं होता। फिर भी, आजकल हमारे देश में विशेषज्ञ श्रमिकों का अभाव है जिसके फलस्वरूप उद्योगों को कभी-कभी कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है।

भरती का तरीका (Methods of Recruitment) :—औद्योगिक मजदूरों की भरती तरीकों का प्रभाव मजदूरों की कार्य-क्षमता तथा कल्याण पर भी पड़ता है। भारत के कारखानों में मजदूरों की भरती का ढंग कुछ भिन्न होता है। मिल के व्यवस्थापक सीधे आवश्यक श्रम की भरती नहीं करते। अधिकांश भरती कुछ मध्यस्थों के माध्यम से ही होती है जिन्हें सरदार, जमादार, मिस्त्री या जोबर कहा जाता है। ये लोग प्राय पुराने मजदूर होते हैं जो कारखानों की परिस्थितियों से पूर्णतः परिचित रहते हैं। यूरोपियन फर्मों में तो भरती की यह प्रथा आज भी पाई जाती है क्योंकि मालिकों को मजदूरों के सम्बन्ध में उचित ज्ञान नहीं रहता है। अतः इन कारखानों में मालिक एवं मजदूरों के बीच ये मध्यस्थ एक आवश्यक कड़ी के रूप में कार्य करते हैं। पुराने मजदूरों पर भी इनका प्रभाव इतना अधिक रहता है कि काम छूटने के भय से ये इन मध्यस्थों को सदा कुछ-न-कुछ देने के लिए बाध्य होते रहते हैं। इससे मजदूरों की स्वाधीनता घट जाती है तथा उनकी आय का एक भाग इन मध्यस्थों के पास चला जाता है। औरत श्रमिकों की भरती में भी इसी प्रकार की बात पायी जाती है।

भरती की दूसरी प्रथा ठेकेदारों के जरिये मजदूरों की भरता है। मिल-मालिक इस कार्य के लिए कुछ ठेकेदार नियुक्त कर देते हैं जिससे उनकी जवाबदेही समाप्त हो जाती है। कारखाने की ओर से इन ठेकेदारों को कमीशन दिया जाता है। रेलवे तथा कोयले की खानों में भरती की यही पद्धति आज भी प्रचलित है। कारखानों में उन्हीं ठेकेदारों को भरती स्वीकार की जाती है जिनकी दरें सबसे कम होती हैं। अतः इस प्रकार की भरती से मजदूरों को उचित मजदूरी नहीं मिलती। यह पद्धति इसलिए भी दोषपूर्ण है कि मालिक इसमें श्रम-कल्याण-सम्बन्धी सुविधाओं की जिम्मेदारी से बच जाते हैं। यह इसका सबसे बड़ा दोष है। साथ ही, इसमें मजदूरों का अत्यधिक शोषण भी होता है।

भारतीय कारखानों में मजदूरों की भरती का एक जरिया श्रम अधिकारियों के द्वारा भरती भी है। बहुत-से कारखानों में श्रम-अधिकारी नियुक्त किये जाते हैं जिनके जरिये मजदूरों की भरती होती है। भरती का यह तरीका प्रथम दो तरीकों से अवश्य ही अच्छा है। किन्तु प्रायः यह देखा जाता है कि ये श्रम-अधिकारी भी केवल नाम-मात्र का ही कार्य करते हैं। भरती का कार्य वास्तव में सरदारों द्वारा ही किया जाता है। इनके अतिरिक्त भरती के अन्य तरीके भी प्रचलित हैं। कानपुर में उत्तर भारत नियोक्ता संघ ने इस कार्य के लिए एक श्रम नियोजनालय स्थापित किया है। बहुत-से जूट कारखानों में भी श्रम-नियोजनालय (Employment Bureau) की स्थापना की गयी है जिनका प्रमुख कार्य श्रमिकों की भरती करना होता है। इस प्रकार मजदूरों की भरती के बहुत-से विचित्र तरीके हमारे देश में प्रचलित हैं।

काम-दिलाऊ संस्थाएँ (Employment Exchanges) :—किन्तु द्वितीय महायुद्ध के बाद भरती के इन तरीकों में आमूल परिवर्तन हुआ। देश में सरकार द्वारा काम-दिलाऊ संस्थाओं (Employment Exchanges) की स्थापना की गयी है जो सभी प्रकार के लोगों को काम दिलाने का कार्य करती हैं। कारखानों में मजदूरों की भरती का कार्य भी इन संस्थाओं के जरिये

ही किया जाता है। इन संस्थाओं ने इस क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण कार्य प्रारम्भ किया है। अभी हाल में ही सरकार ने शिवराम कमिटी के सुझावों के आधार पर काम-दिलाऊ दफ्तर के पुनर्संगठन की बात निश्चित की है जिससे इन्हें अधिक उपयोगी बनाया जा सकता है। शिवराम कमिटी ने इस सम्बन्ध में बहुत-से महत्त्वपूर्ण सुझाव दिये हैं। सर्वप्रथम तो काम-दिलाऊ संस्थाओं को राष्ट्रीय नियोजनालय सेवा (National Employment Service) के नाम से स्थायी रूप देने की सिफारिश की गयी। साथ ही, सरकारी दफ्तरों में मजदूरों की भरती इन्हीं संस्थाओं के द्वारा की जानी चाहिए। सरकारी सहायता मिलने वाले कारखानों या दफ्तरों में भी इन्हीं के द्वारा भरती की जानी चाहिए। समिति ने यह सुझाव दिया है कि सभी बेकार व्यक्तियों की एक सूची रखी जाय जिसे कारखानों या अन्य नियोक्ताओं के पास भेजा जाय। इसी प्रकार बेकार लोगों को भी इस बात की सूचना दी जाय कि किस दफ्तर में जगह रिक्त है। कमिटी के सुझावों के आधारों पर काम करने से काम-दिलाऊ संस्थाओं को वास्तव में बहुत ही उपयोगी बनाया जा सकता है। किन्तु इस सम्बन्ध में हमारा अन्तिम उद्देश्य पश्चिमी देशों की तरह देश में एक स्थायी औद्योगिक श्रमिक वर्ग की स्थापना होनी चाहिए। वास्तव में, द्रुतगति से औद्योगीकरण के लिए यह नितांत आवश्यक है।

भारत में काम-दिलाऊ संस्थाओं की स्थापना १९४५ ई० में प्रारम्भ हुई। १९७० ई० के अन्त में देश में कुल ४२९ काम-दिलाऊ संस्थाएँ (Employment Exchanges) थीं तथा इनमें रजिस्टर्ड व्यक्तियों की संख्या ४५१९ हजार थी। नवम्बर, १९५६ ई० से काम-दिलाऊ संस्थाओं का नियन्त्रण राज्य सरकारों के अधीन आ गया है तथा केन्द्रीय सरकार का कार्य केवल नीति-निर्धारण तक ही सीमित रह गया है।

भारतीय श्रमिकों की कार्य-क्षमता
(Efficiency of Indian Labourers)

प्राय: यह कहा जाता है कि भारतीय श्रमिक अन्य देशों के श्रमिकों की तुलना में अकुशल होते हैं। भारतीय श्रमिकों की यह अकुशलता एक सर्वविदित तथ्य की तरह है। इस प्रकार श्रम-आयोग के सम्मुख श्री एच० पी० मोदी ने अपने बयान में यह बतलाया था कि "जापान का एक मजदूर ६ कर्घों को चलाता है और उसकी कार्य-क्षमता ९५ प्रतिशत होती है, चीन का एक मजदूर ४ कर्घों को चलाता है और उसकी कार्य-क्षमता ८० प्रतिशत होती है, किन्तु एक भारतीय मजदूर केवल २ कर्घों को चलाता है और उसकी कार्य-क्षमता ८० प्रतिशत ही होती है।" इसी प्रकार औद्योगिक आयोग के समक्ष एक बयान में यह बतलाया गया था कि यूरोप का एक मजदूर भारतीय मजदूर की अपेक्षा चौगुना काम करता है। सूती-वस्त्र उद्योग की स्थिति की जाँच करने के लिए जो टैरिफ बोर्ड नियुक्त किया गया था, उसने १९२६-२७ ई० में अपने प्रतिवेदन में कहा था कि जापान में एक औसत मजदूर २४० तकुओं पर, इंगलैंड में ५७० से लेकर ६०० तकुओं पर तथा अमेरिका में ११२० तकुओं पर काम करता है। किन्तु भारत में एक मजदूर औसत रूप से १८० तकुओं पर ही काम करता है। उपरोक्त विवरण से भारतीय श्रमिकों की अकुशलता स्पष्ट हो जाती है।

किन्तु, डा० गिलबर्ट स्लेटर (Gilbert Slater) के अनुसार इन विवरणों में भारतीय श्रमिकों की अकुशलता अधिक बढ़ा-चढ़ा कर प्रदर्शित की गयी है। भारत एवं लंकाशायर में

एक कर्घे को चलाने में लगाये गये श्रमिकों की संख्या से परिस्थिति का यथार्थ मूल्यांकन नहीं होता। भारत में अधिक श्रमिकों को लगाने का एक कारण इनकी कम मजदूरी भी है। लंकाशायर तथा अन्य पश्चिमी देशों में मजदूरी की दर अधिक होने के कारण मजदूरों की संख्या में मितव्ययिता से काम लेना पड़ता है। इन सब बयानों के विपरीत सर थामस हॉलैंड ने भारतीय श्रमिकों की श्रेष्ठता को सिद्ध करने का प्रयत्न किया है। इनके अनुसार भारतीय श्रमिक देश के किसी भी उद्योग में सफलतापूर्वक कार्य कर सकता है। द्वितीय महायुद्धकाल में आये हुए ग्रेडी शिष्टमण्डल के अनुसार "६५ सेंट प्रतिदिन पाने वाले भारतीय श्रमिक अन्धेरे वातावरण में अच्छी मशीनों का उत्पादन कर रहे थे। बम्बई के फॉयरस्टोन के कारखानों में भारतीय श्रमिक डेट्रीयोट स्थित फॉयरस्टोन के कारखानों में काम करने वाले श्रमिकों के बराबर काम करते थे। टाटा लोहे एवं इस्पात के कारखाने में प्रति-व्यक्ति की उत्पादन-क्षमता पिट्सबर्ग के कारखानों से कम नहीं है।" इससे स्पष्ट है कि यूरोप तथा अमेरिका के श्रमिकों की तुलना में भारतीय श्रमिक अकुशल नहीं हैं। भारतीय मिलों के कम उत्पादन का दायित्व केवल भारतीय श्रमिकों का ही नहीं है, इसके लिए देश का वातावरण तथा प्रबन्ध की अकुशलता भी आंशिक रूप से उत्तरदायी है। भारतीय श्रमिक बहुधा अशिक्षित होते हैं। इन्हें गन्दे वातावरण में अद्यतन मशीनों द्वारा काम करना पड़ता है तथा इनकी मजदूरी भी कम होती है, आदि अनेक कारणों से भी भारतीय श्रमिकों द्वारा उत्पादन कम होता है।

भारत में श्रम-सन्नियम

(Labour Legislation of India)

भारत में श्रम-सन्नियम इंगलैंड तथा संयुक्त राज्य अमेरिका जैसे औद्योगिक देशों की तरह महत्त्वपूर्ण नहीं हैं। कारण यह है कि यहाँ पश्चिमी देशों की तुलना में यन्त्रों का प्रचार बहुत धीरे-धीरे तथा बाद में हुआ। अतः, यहाँ औद्योगिक श्रम के एक पृथक् वर्ग का उदय भी बहुत बाद में हुआ। किन्तु, देश के औद्योगीकरण के साथ-साथ इन नियमों का महत्त्व भी धीरे-धीरे बढ़ रहा है तथा आशा की जाती है कि अगले कुछ वर्षों में पंचवर्षीय योजनाओं के सफल सम्पादन के फलस्वरूप श्रम-सन्नियमों का महत्त्व और भी बढ़ जायगा।

भारत में श्रम-सन्नियम के इतिहास को निम्नलिखित चार कालों में विभाजित किया जा सकता है :—

१. १८५९ ई०, जब देश में पहला श्रम-सन्नियम पारित हुआ, से लेकर १९२१ ई० तक जब अन्तर्राष्ट्रीय श्रम-संघ का प्रभाव स्पष्ट होने लगा;

२. १९२२ ई० से १९३४ ई० तक;

३. १९३५ ई० से १९४७ तक; तथा

४. स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद।

प्रथम काल के श्रम-सन्नियम की विशेषता यह थी कि ये नियम किसी विशेष उद्योग के सम्बन्ध में ही बनाये गये थे; जैसे बगान, कारखाना, खान इत्यादि। कारण यह था कि विभिन्न प्रकार के उद्योगों का विकास देश के विभिन्न भागों में तथा विभिन्न समय में हुआ था। **द्वितीय काल**, यानी १९२२-३४ ई० में केन्द्रीय सरकार द्वारा १९२२ ई० में कारखाना अधिनियम तथा १९२६ ई० में औद्योगिक-संघर्ष अधिनियम (Trade Disputes Act) पारित हुआ। इनके

अतिरिक्त इस अवधि में प्रान्तीय सरकारों द्वारा भी बहुत-से अधिनियम बनाये गये जिनमें बम्बई एवं अन्य राज्यों के मातृत्व लाभ अधिनियम (Maternity Benefit Acts) विशेष रूप से महत्त्वपूर्ण हैं। १९३५ ई० से १९४७ ई० के बीच भी देश में अनेक श्रम-सन्नियम बनाये गये। स्वतंत्रता-प्राप्ति के बाद तो सरकार द्वारा औद्योगिक मजदूरों की समस्या को विशेष रूप से महत्त्व दिया जा रहा है तथा इनके समाधान के लिए सरकार बहुत अधिक प्रयत्न कर रही है। इस उद्देश्य से प्रत्येक क्षेत्र में विभिन्न प्रकार के विस्तृत अधिनियम बनाये गये हैं।

कारखाना अधिनियम

(Factories Act)

देश के श्रम-सन्नियमों में कारखाना अधिनियमों का विशेष महत्त्व है। सन् १८५० ई० के बाद बम्बई का सूती वस्त्र-उद्योग बड़ी तेजी के साथ विकास कर रहा था जिसे देखकर लंकाशायर के व्यवसायियों को ईर्ष्या होने लगी। ईर्ष्या से उन्होंने भारतीय मजदूरों के लिए श्रमिक आन्दोलन प्रारम्भ किया। इस आन्दोलन का दिखावटी उद्देश्य तो श्रमिकों का कल्याण था, किन्तु इसका वास्तविक उद्देश्य भारतीय उद्योगपतियों के मार्ग में बाधाएँ उत्पन्न करना था। इसके फलस्वरूप १८८१ ई० में पहली बार श्रमिकों के हितों में कारखाना अधिनियम बनाया गया। किन्तु चूँकि यह अधिनियम श्रमिकों की सारी समस्याओं का समाधान नहीं कर पाया, अतएव १८९१, १९२१ १९२२ तथा १९३४ में और कारखाना अधिनियम बनाया गया।

१९४८ ई० का कारखाना अधिनियम

(Factories Act, 1948)

किन्तु इन अधिनियमों में कई त्रुटियाँ थीं। अतः १९४८ ई० में श्री रीग की अध्यक्षता में एक श्रम-जाँच-समिति की नियुक्ति की गयी जिसने पहले के सभी कारखाना-अधिनियमों की कटु आलोचना की। समिति के अनुसार बड़े-बड़े स्थायी कारखानों में तो इन नियमों का पालन अवश्य होता था, किन्तु छोटे-छोटे एवं मौसमी कारखानों में इनका पालन नहीं किया जाता था। निर्धारित समय से अधिक काम करने वाले मजदूरों को विधान द्वारा निश्चित दर से मजदूरी नहीं दी जाती थी। साथ ही, कम आयु वाले बच्चों से भी काम लिया जाता था। इन सब त्रुटियों को दूर करने के लिए १९४८ ई० में एक अधिक विस्तृत कारखाना अधिनियम पारित हुआ जिसे १ अप्रैल, १९४८ ई० से लागू किया गया।

१९४८ ई० का कारखाना अधिनियम दस या दस से अधिक व्यक्तियों द्वारा परिचालित शक्ति का प्रयोग करने वाले तथा बीस या बीस से अधिक व्यक्तियों द्वारा परिचालित परन्तु शक्ति का प्रयोग नहीं करने वाले सभी कारखानों पर लागू होता है। इसके अतिरिक्त राज्य सरकारों को यह अधिकार दिया गया है कि वे इस अधिनियम की धाराओं को किसी भी अन्य व्यावसायिक अथवा औद्योगिक संस्थान पर लागू कर सकती हैं। इस अधिनियम के अन्तर्गत मौसमी तथा स्थायी कारखानों का विभेद समाप्त कर दिया गया।

इस अधिनियम के अनुसार कारखानों की स्थापना अथवा उनके विस्तार के पूर्व राज्य सरकार की अनुमति आवश्यक बनायी गयी है। कारखानों के लिए रजिस्ट्री करना तथा लाइसेंस प्राप्त करना भी आवश्यक बना दिया गया है। वयस्क श्रमिकों के लिए कार्य की अधिकतम अवधि

प्रति सप्ताह ४८ घण्टे तथा प्रतिदिन ९ घण्टे निश्चित कर दी गयी। लगातार ५ घण्टे तक काम करने पर ½ घण्टे का विश्राम आवश्यक बनाया गया। निर्धारित समय से अधिक काम करने से मजदूरी साधारण मजदूरी की दूनी होगी। वेतन-रहित वार्षिक छुट्टियाँ वयस्कों के लिये वर्ष मे १० दिन के बजाय २० दिन काम के बाद एक दिन तथा अल्प-वयस्कों के लिए १५ दिन के बाद एक दिन तय कर दी गयी। औरत एवं अल्प-वयस्क मजदूरों से कारखानों में ६ बजे सुबह से ७ बजे संध्या तक ही काम लिया जा सकता है। १४ वर्ष से कम आयु वाले बच्चों से कारखानों में काम नहीं लिया जा सकता। १४ वर्ष से १८ वर्ष तक की आयु वाले अल्प-वयस्कों के काम की अवधि प्रतिदिन ५ घण्टे निश्चित की गयी। साथ ही, इनसे काम लेने के पहले इन्हें शारीरिक समर्थता का प्रमाण देना भी आवश्यक बनाया गया।

१९४८ ई० के कारखाना-अधिनियम के अन्तर्गत मजदूरों के स्वास्थ्य एवं सुरक्षा पर भी पर्याप्त जोर दिया गया। हवा, रोशनी एवं तापमान के नियंत्रण के अतिरिक्त पीने के लिए स्वच्छ जल, शौचालय तथा स्नानागारों की भी व्यवस्था की गयी। अप्रैल, १९४९ ई० के बाद स्थापित होने वाले सभी कारखानों में प्रति-श्रमिक ५०० घनफीट स्थान का रहना आवश्यक माना गया। मशीनों को चलाने, बन्द करने, उठाने तथा साफ करने में मजदूरों के शारीरिक बचाव की भी व्यवस्था की गयी है। २३० से अधिक श्रमिक वाले कारखानों में एक कैंटीन की व्यवस्था भी आवश्यक है। साथ ही, ३०० से अधिक श्रमिक वाले सभी कारखानों में सरकारी सहायता से एक श्रम-कल्याणकारी पदाधिकारी (Labour Welfare Officer) की नियुक्ति अनिवार्य कर दी गयी है। इस प्रकार, १९४८ ई० के अधिनियम में श्रमिकों की सुरक्षा के लिए विस्तृत व्यवस्था की गयी है। इस अधिनियम को पालन कराने के लिए पर्याप्त निरीक्षकों की नियुक्ति की व्यवस्था भी की गयी है।

खान-सम्बन्धी अधिनियम

(Mines Act)

खानों में काम करने वाले श्रमिकों के लिए भी समय-समय पर पृथक् नियम बनाये गये हैं। सर्वप्रथम १९०१ ई० में इस सम्बन्ध में एक अधिनियम पारित हुआ जिसमें केवल सुधार तथा निरीक्षण की व्यवस्था की गयी थी। इस अधिनियम में काम करने की अवधि तथा सुविधाओं के सम्बन्ध में कोई व्यवस्था नहीं थी।

अन्तर्राष्ट्रीय श्रम-सम्मेलन की सिफारिशों तथा देश के खान-उद्योगों में बढ़ती हुई श्रमिकों की संख्या को दृष्टि में रखते हुए सन् १९२३ ई० में एक संशोधित खान अधिनियम पारित किया गया। इस अधिनियम के अनुसार जमीन के ऊपर काम करने वाले श्रमिकों के लिए काम की अधिकतम अवधि ६० घण्टे प्रति सप्ताह निश्चित की गयी। एक सप्ताह में ६ दिन से अधिक कार्य नहीं होंगे। साथ ही, खानों में १३ वर्ष से कम आयु वाले बच्चों से काम लेने की मनाही कर दी गयी। किन्तु, १९२३ ई० के अधिनियम में बहुत-सी त्रुटियाँ रह गयी थीं। अतएव इन्हें दूर करने के लिए १९२९ ई० में एक दूसरा अधिनियम पारित किया गया जिसके अनुसार औरतों को खानों के अन्दर काम करने से मना कर दिया गया। केवल बंगाल, बिहार और मध्य प्रदेश के कोयले की खानों में यह नियम लागू नहीं किया गया था। अन्ततः १ जुलाई, १९२९ ई० से खानों के अन्दर औरतों को काम करने से पूर्णतः निषेध कर दिया गया।

इस अधिनियम में पुनः १९३५ ई० में संशोधन किया गया जिसके अनुसार निम्नलिखित व्यवस्था की गयी —(क) खानों का कोई भी श्रमिक एक सप्ताह में ६ दिन से अधिक काम नहीं करेगा, (ख) खान के ऊपर काम करने वाला कोई भी व्यक्ति एक सप्ताह में ५४ घण्टे तथा एक दिन में १० घण्टे से अधिक काम नहीं करेगा, कार्य का समायोजन इस प्रकार से किया जायगा कि विश्राम काल को लेकर इसका काम किसी भी दिन १२ घण्टे से अधिक नहीं होगा, (ग) खानों के अंदर काम करने वाले मजदूर प्रतिदिन ६ घण्टे से अधिक कार्य नहीं करेंगे। (घ) १५ वर्ष से कम आयु वाले बच्चों को खानों में काम की मनाही कर दी गयी। इस अधिनियम में पुनः १९३६, १९३७, १९४० एवं १९४६ ई० में संशोधन किया गया।

१९५२ ई० का खान अधिनियम :—उक्त खान-सम्बन्धी सन्नियमों को एकत्र करने के लिए १९५२ ई० में एक खान अधिनियम तैयार किया गया जो पहले के सभी अधिनियमों से विस्तृत है। यह १ जुलाई, १९५२ ई० से लागू किया गया। इस अधिनियम के अनुसार खानों के बाहर काम करने वाले वयस्कों के लिए ९ घण्टे प्रतिदिन तथा ४५ घण्टे प्रति सप्ताह एवं खानों के भीतर काम करने वाले वयस्क श्रमिकों के लिए ८ घण्टे प्रतिदिन तथा ४८ घण्टे प्रति सप्ताह निश्चित किया गया।

खान के अन्दर काम करने वाले श्रमिकों को अतिरिक्त समय के लिए साधारण दर से दुगुनी तथा ऊपर काम करने वाले श्रमिकों को ड्योढ़ा वेतन दिया जायगा। १८ वर्ष से कम के बच्चों तथा औरतों को खानों के अन्दर काम करने पर पूर्ण प्रतिबन्ध लगा दिया गया। १५ वर्ष से कम आयु वाले बच्चे खानों के ऊपर तथा नीचे काम नहीं कर सकते। बच्चों के काम की अवधि प्रतिदिन ४½ घण्टे निश्चित की गयी। मासिक वेतन के आधार पर काम करने वालों के लिए वर्ष में १८ दिन तथा साप्ताहिक आधार पर वेतन पाने वालों के लिए ७ दिन सवेतनिक छुट्टी की व्यवस्था की गयी। इस अधिनियम में खानों में काम करने वाले श्रमिकों के स्वास्थ्य एवं सुरक्षा की व्यवस्था भी की गयी। इनके अतिरिक्त केन्द्रीय सरकार के एक विशेष आदेश के अनुसार १९४८ ई० के कारखाना अधिनियम की सुरक्षा एवं स्वास्थ्य-सम्बन्धी धाराएँ हर खानों में लागू की गयीं।

बगान उद्योग अधिनियम

चाय बगानों की समस्याएँ अपनी तरह की अनोखी हैं। इन बगानों में मजदूर अधिकांशतः बाहर से काम करने आते है। अतः १९३२ ई० में इनके सम्बन्ध में एक अधिनियम बनाया गया। यह अधिनियम श्रम-आयोग की सिफारिशों पर आधारित था। इसका मुख्य उद्देश्य नियुक्ति पर नियन्त्रण रखना था। इस अधिनियम के अनुसार प्रान्तीय सरकारों को सहायता प्राप्त प्रवासियों के ऊपर नियन्त्रण रखने का अधिकार मिला। इस उद्देश्य से प्रवासी मजदूर नियन्त्रण-कर्त्ता की नियुक्ति की व्यवस्था की गयी। इस अधिनियम के अनुसार १६ वर्ष से कम आयु वाले बच्चे केवल अपने सम्बन्धियों अथवा अपने माता-पिता के साथ ही असम जा सकते थे। इसी प्रकार विहाहित स्त्रियाँ केवल अपने पति के साथ ही असम जा सकती थीं। प्रत्येक प्रवासी श्रमिक असम से तीन वर्ष बाद लौटने का अधिकारी था। श्रमिक एवं उनके कुटुम्बियों को प्रत्येक तीन वर्ष के अन्त में अपने जाने का खर्च सेवायोजकों से लेने का अधिकार था। तीन साल के

अन्दर प्रवासी श्रमिक केवल स्वास्थ्य खराब होने, काम नहीं मिलने, मजदूरी रोक ली जाने अथवा किसी अन्य पर्याप्त कारण से ही लौट सकते थे।

१९५१ ई० का बगान श्रम-अधिनियम :—१९५१ ई० में बगानों में काम करनेवाले श्रमिकों के सम्बन्ध में एक बगान श्रम-अधिनियम बनाया गया। यह अधिनियम चाय, रबर, कहवा, सिनकोना आदि के उन सभी बगान-उद्योगों पर लागू होता है जिनमें कम-से-कम ३० व्यक्ति काम कर रहे हों और २५ एकड़ अथवा अधिक भूमि पर खेती की जा रही हो। इसके अनुसार वयस्क श्रमिकों के लिए काम के घण्टों की अधिकतम सीमा ५४ तथा बच्चों के लिए ४० घण्टे निश्चित की गयी। बगानों में १२ वर्ष से कम आयुवाले बच्चों की नियुक्ति नहीं की जा सकती। साथ ही, इसके अनुसार औरतों एवं बच्चों पर ७ बजे संध्या से ६ बजे सुबह तक काम करने पर प्रतिबन्ध लगाया गया। इस अधिनियम के अन्तर्गत श्रमिकों के लिए औषधि, शिक्षा एवं अन्य सुविधाओं—जैसे पीने के लिए स्वच्छ जल, कैंटीन, बाल-गृह, छुट्टियाँ तथा आराम आदि की भी व्यवस्था की गयी।

यातायात के लिए श्रम-अधिनियम :—यातायात के साधनों के अन्तर्गत सबसे अधिक मजदूर रेलवे में काम करते हैं। रैलवे के सभी कारखाने १९२२ ई० के कारखाना अधिनियम के अन्तर्गत आते हैं। इन कारखानों में काम करनेवाले श्रमिकों के अतिरिक्त अन्य रेलवे श्रमिकों के लिए १९३० ई० में भारतीय रेलवे अधिनियम बनाया गया। इसके अनुसार रेलवे कर्मचारी, जिसका काम लगातार न हो, एक सप्ताह में ८४ घण्टे तथा जिसका काम लगातार हो वह एक सप्ताह में ६० घण्टे से अधिक काम नहीं करेगा। साथ ही, प्रति सप्ताह २४ घण्टे का विश्राम आवश्यक बनाया गया। १९५१ ई० में रेलवे श्रमिक (काम के घण्टे) अधिनियम पारित हुआ जिसके अनुसार आजकल श्रमिकों के काम के घण्टे आदि नियन्त्रित होते हैं।

बन्दरगाहों पर काम करनेवाले श्रमिकों के लिए १९४८ ई० में डॉक वर्कर्स (रेगुलेशन आफ एम्पलायमेंट) ऐक्ट बनाया गया जिसमें इनकी मजदूरी, प्रशिक्षण, स्वास्थ्य एवं कल्याण आदि की व्यवस्था की गयी है। इसके अनुसार केन्द्रीय अथवा राज्य सरकारों को डाकों में काम करनेवाले मजदूरों की सुविधाओं एवं रोजगार के लिए आवश्यक अधिनियम बनाने का अधिकार मिला है। मोटर वेहिकल्स अधिनियम (Motor Vehicles Act), १९३९ ई० द्वारा मोटर चालकों के वेतन, नियुक्ति की आयु, काम के घण्टे आदि निश्चित किये जाते हैं।

दूकान एवं वाणिज्यिक संस्थान अधिनियम (Shops and Commercial Establishments Act) :—यह नियम सर्वप्रथम बम्बई में १९३९ ई० में और तत्पश्चात् अन्य राज्यों में बनाया गया। इस अधिनियम के अनुसार दूकानों एवं अन्य वाणिज्यिक संस्थानों में काम के घण्टों को निश्चित करने की व्यवस्था भी की गयी। वयस्कों के लिए काम के घण्टे ८ से १० तथा बच्चों के लिए ५ से ७ निश्चित किया गया है। वयस्कों को ५ से ६ घण्टा लगातार काम करने पर ½ से १ घण्टा तथा बच्चों को २ से ३ घण्टे के बाद ½ से १ घण्टे तक विश्राम की व्यवस्था है।

मजदूरी-सम्बन्धी अधिनियम :—१९३६ ई० का मजदूरी भुगतान अधिनियम (Payment of Wages Act) कारखाना, रेलों, कोयले की खानों तथा असम एवं मद्रास के बगानों में काम करने वाले श्रमिकों पर लागू होता है। इस अधिनियम के अन्तर्गत २०० रुपये या इससे कम मासिक वेतन पाने वाले श्रमिक ही आते हैं। अधिनियम के अनुसार मजदूरी चुकाने की अधिकतम अवधि १ माह निश्चित की गयी है। मजदूरी नकद मुद्रा के रूप में दी जानी

चाहिए। जिन कारखानों में मजदूरों की संख्या एक हजार से कम है वहाँ मजदूरी अगले माह की ७ तारीख तक तथा जहाँ मजदूरों की संख्या १ हजार से अधिक है वहाँ १० ता० तक अवश्य दे दी जानी चाहिए। जुर्माने के रूप में मजदूरों की आय में से किसी भी माह में २ पैसे प्रति रुपये से अधिक नहीं काटा जा सकता। साथ ही, जुर्माने से प्राप्त रकम को श्रम-कल्याण के कार्यों पर व्यय किया जायगा।

न्यूनतम मजदूरी अधिनियम, १९४८
(Minimum Wages Act, 1948)

न्यूनतम मजदूरी का प्रश्न (The question of Minimum Wages) :—विश्व के प्रायः सभी देशों में आज इस बात को स्वीकार कर लिया गया है कि समाज में जीवन का एक न्यूनतम स्तर सभी व्यक्तियों के लिए आवश्यक है। मजदूर और उसके परिवार का स्वास्थ्य तथा कार्यक्षमता एवं आत्म-प्रतिष्ठा बनाये रखने के लिए सभी उद्योगों में मजदूरों को एक न्यूनतम रकम चुकानी चाहिए। इस सिद्धान्त के पीछे यह भावना कार्य करती है कि है कि श्रम केवल बाजार में खरीदी और बेची जाने वाली वस्तु ही नहीं है, वरन् वह उत्पादन का एक-मात्र मानवीय साधन है और उसको मिलनेवाले प्रतिफल पर ही उसकी कार्य-क्षमता के साथ-साथ मानव सभ्यता का अस्तित्व भी निर्भर करता है। अतः, यदि माँग एवं पूर्ति की शक्तियाँ एक न्यूनतम रहन-सहन का स्तर कायम करने में असमर्थ हों तो सरकार के लिए इन शक्तियों का नियन्त्रण आवश्यक हो जाता है। इस सम्बन्ध में कभी-कभी यह तर्क दिया जाता है कि यदि मजदूरी बढ़ा दी जाय तो इसका दुरुपयोग शराब पीने अथवा अन्य बुरी आदतों में किया जाने लगेगा। इस प्रकार इससे न तो श्रमिकों की कार्य-क्षमता में वृद्धि होगी न जीवन-यापन का स्तर ही ऊँचा उठता है। यह भी कहा जा सकता है कि मजदूरी बढ़ाने से उद्योग अन्तर्राष्ट्रीय प्रतियोगिता में नहीं ठहर सकते। किन्तु, ये सारे तर्क वास्तव में तथ्यहीन हैं।

परन्तु, न्यूनतम रहन-सहन का स्तर क्या है? यह ठीक-ठीक कहना कठिन है। वास्तव में रहन-सहन का स्तर विभिन्न परिस्थितियों पर निर्भर करता है जिनमें आर्थिक विकास का स्तर प्रमुख है। आर्थिक विकास के स्तर में विभिन्नता के फलस्वरूप विभिन्न देशों के जीवन-स्तर में भी विभिन्नता पायी जाती है। यहाँ इस विवादास्पद विषय की चर्चा करना उचित नहीं है। केवल इतना ही कहना पर्याप्त है कि मजदूरी कम-से-कम इतनी अवश्य होनी चाहिए जिससे कि मजदूर और उसके परिवार के स्वास्थ्य, कार्य-क्षमता और आत्मप्रतिष्ठा को कायम रखने के लिए वर्तमान मूल्य-स्तर पर आवश्यकतानुसार वस्तुएँ प्राप्त हो सकें। मजदूरी इस अनिवार्य स्तर से किसी भी हालत में कम नहीं होनी चाहिए। वस्तुतः, इस सम्बन्ध में हमारा वास्तविक लक्ष्य तो यह होना चाहिए कि मजदूरों की मजदूरी केवल उनके अस्तित्व एवं कार्य-क्षमता को बनाये रखने भर ही नहीं हो, वरन् इतनी हो जिससे कि उनके लिए आधुनिक सुसभ्य जीवन की अन्य सुविधाएँ, जैसे—शिक्षा, उत्तम आवास, विश्राम एवं मनोरंजन आदि भी प्राप्त हो सकें। इसे आदर्शतम मजदूरी कहा जा सकता है। विभिन्न उद्योगों में काम करने वाले मजदूरी की मजदूरी इसी न्यूनतम और आदर्शतम मजदूरी के बीच तय की जानी चाहिए। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि न्यूनतम मजदूरी वह न्यूनतम सीमा है जिससे कम मजदूरी मिलने पर श्रमिकों के लिए आत्म-सम्मानपूर्वक जीवन-यापन असम्भव हो जाता है तथा आदर्शतम मजदूरी वह है जिस स्तर पर मजदूर अन्य सभ्य नागरिकों की तरह अपना जीवन-यापन भी कर सकते हैं। इन दोनों के बीच उचित मजदूरी (fair wages)

का स्तर है जो श्रम की माँग एवं पूर्ति, उत्पादकता तथा उद्योग-धन्धे के सामर्थ्य द्वारा निश्चित होता है।

१९४८ ई० का न्यूनतम मजदूरी-विधान (Minimum Wages Act of 1948) :— भारत में सर्वप्रथम १९२१ ई० के शाही श्रम आयोग ने इस ओर सरकार का ध्यान आकर्षित किया किन्तु स्वतन्त्रता-प्राप्ति के पूर्व तक इस क्षेत्र में सरकार ने कोई महत्त्वपूर्ण कदम नहीं उठाया। १९४८ ई० में एक न्यूनतम मजदूरी विधान (Minimum Wages Act) बनाया गया। इस अधिनियम के द्वारा केन्द्रीय एवं राज्य सरकारों को कुछ विशेष उद्योगों में, जहाँ श्रमिकों के शोषण अथवा उसकी सम्भावना अधिक है, न्यूनतम मजदूरी निश्चित करने का अधिकार दिया गया है। इसके अनुसार निम्नलिखित उद्योगों में अब तक न्यूनतम मजदूरी तय की गयी है—ऊनी शाल तथा कालीन बनाने वाले उद्योग, चावल, आटा तथा दाल तैयार करनेवाले उद्योग, तम्बाकू एवं बीड़ी उद्योग, रबर, चाय तथा कहवा के बगान, पत्थर तोड़ना तथा कुटना, लोहा उद्योग, अबरख की खानें, निजी मोटर परिवहन तथा चमड़ा सिझाने के उद्योग। अन्य उद्योग में भी राज्य सरकारें तीन महीने पूर्व सूचना देकर इसे लागू कर सकती हैं। इसके अन्तर्गत कृषि भी सम्मिलित है जिसमें कुछ राज्य सरकारों द्वारा यह आंशिक रूप में लागू भी किया गया है। इसके द्वारा कृषि में तीन वर्ष तथा अन्य उद्योग-धन्धों में दो वर्षों के बाद न्यूनतम मजदूरी निर्धारित हो जानी चाहिए। किन्तु बाद में एक संशोधन द्वारा इस अवधि में वृद्धि की गयी है। पुनः बाद में १९५७ ई० के एक संशोधन के अनुसार १९५९ ई० के अन्त तक उल्लिखित उद्योग के सभी श्रमिकों को इस नियम के अन्तर्गत लाने का आयोजन था। बाद में १९६१ ई० के एक संशोधन के अनुसार न्यूनतम मजदूरी विधान के लागू करने की सीमा को समाप्त कर दिया गया। इस अधिनियम के अनुसार न्यूनतम मजदूरी तय करने के लिए राज्य सरकारें सलाहकार समितियाँ नियुक्त करती हैं, जो राज्य-सरकारों को इस विषय की जाँच के बाद सलाह देती है। न्यूनतम मजदूरी की दरों में समय-समय पर सरकार द्वारा परिवर्तन भी किया जा सकता है। इस अधिनियम का उद्देश्य ऐसे उद्योगों में श्रमिकों की न्यूनतम मजदूरी तय करना है जिनमें श्रमिक संगठन नहीं हो जिससे वे उचित मजदूरी की मांग करने में प्रायः असमर्थ हों।

यह अधिनियम वास्तव में प्रसंसनीय है। फिर भी इसके विरुद्ध बहुत-सी आलोचनाएँ दी जाती हैं। सर्वप्रथम तो इसका क्षेत्र बहुत ही संकीर्ण है। इसमें बड़े पैमाने के उद्योगों की कोई चर्चा नहीं की गयी है। लेकिन बड़े पैमाने के उद्योगों में भी मजदूरी की दर निश्चित रहती है जिससे इसमें भी मजदूरी की समस्या अव्यवस्थित उद्योगों की तरह ही गम्भीर है। अतः इन उद्योगों में भी राजकीय नियन्त्रण की बड़ी आवश्यकता है। साथ ही, इस अधिनियम में न्यूनतम मजदूरी तय करने के लिए जिस मशीनरी की व्यवस्था की गयी है वह भी संतोषजनक नहीं है। वास्तव में, न्यूनतम मजदूरी की दर निश्चित करने के लिए एक स्थायी समिति की आवश्यकता है जिसमें सरकार मिल मालिक तथा मजदूरी सभी के प्रतिनिधियों का रहना आवश्यक है। प्रतिनिधियों के मनोनयन में सतर्कता से काम लेना चाहिए। इस अधिनियम में न्यूनतम मजदूरी क्या है, इसकी व्याख्या भी नहीं की गयी है। वास्तव में, इस अधिनियम में न्यूनतम मजदूरी की स्पष्ट व्याख्या अनिवार्य है। इस अधिनियम का एक दोष यह भी बतलाया जाता है कि सेवायोजक न्यूनतम मजदूरी को ही अधिकतम मजदूरी समझते हैं, अतः जिन उद्योगों में श्रमिकों को पहले अधिक मजदूरी मिलती थी उनमें मजदूरी घटा भी दी गयी है।

श्रमिक-संघ एवं औद्योगिक संघर्ष अधिनियम (Trade Union and Industrial Disputes Act) :—भारत में पहला श्रमिक-संघ अधिनियम (Trade Union Act), १९२६ ई० में पारित हुआ। इस अधिनियम द्वारा श्रमिक-संघों को रजिस्टर्ड कराने की सुविधा तथा अन्य बहुत से कानूनी अधिकार प्रदान किये गये। १९४७ ई० तक इस अधिनियम में कोई महत्त्वपूर्ण संशोधन नहीं हुआ। १९४७ ई० में इस अधिनियम की एक बहुत बड़ी कमी को संशोधन के द्वारा दूर किया गया। इस संशोधन के अनुसार मिल-मालिकों को प्रतिनिधि श्रमिक-संघों (Representative Trade Union) को मान्यता प्रदान करने के लिए बाध्य किया गया।

भारत में पहला औद्योगिक संघर्ष अधिनियम (Industrial Disputes Act), १९२९ ई० में पारित हुआ जिसके अनुसार मालिक एवं मजदूरों के झगड़ों को समाप्त करने के लिए 'ऐच्छिक समझौते' की व्यवस्था की गयी। यह अधिनियम स्वतन्त्रता-प्राप्ति के समय तक चलता रहा। स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद एक नया औद्योगिक संघर्ष अधिनियम बनाया गया जिसके अनुसार औद्योगिक संघर्षों को समाप्त करने के लिए कार्य समितियों, समझौता अफसरों, समझौता-परिषदों तथा औद्योगिक अदालतों की स्थापना की व्यवस्था की गयी। १९५० ई० के औद्योगिक संघर्ष (अपील अदालत) [Industrial Disputes (Appellate Tribunal) Act, 1950] के अनुसार औद्योगिक अदालतों के निर्णयों के विरुद्ध सिफारिशों के लिए भारत सरकार द्वारा स्थायी अपील अदालत की नियुक्ति की गयी। किन्तु, १९५६ ई० के औद्योगिक संघर्ष कानून के अनुसार इस 'अपील अदालत' को विघटित कर दिया गया तथा तीन प्रकार के नये न्यायालयों की व्यवस्था की गयी—(१) श्रमिक न्यायालय, (२) औद्योगिक न्यायालय, तथा (३) राष्ट्रीय न्यायालय। श्रमिक-संघ एवं औद्योगिक संघर्ष-सम्बन्धी इन अधिनियमों की विस्तारपूर्वक विवेचना अगले अध्याय में की जायगी।

सामाजिक सुरक्षा (Social Security) **सम्बन्धी अधिनियम**[1] :—मजदूरों को बीमारी, बुढ़ापा, दुर्घटना, अकाल, मृत्यु आदि जोखिमों एवं अनिश्चितताओं से मुक्त करने या बचाने की व्यवस्था को ही सामाजिक सुरक्षा कहा जाता है। इस सम्बन्ध में भी सरकार द्वारा समय-समय पर भिन्न-भिन्न सुविधाएँ प्रदान करने के उद्देश्य से विभिन्न अधिनियम तैयार किये गये हैं। इनमें सबसे पहले श्रमिक क्षति-पूर्ति अधिनियम (Workmen's Compensation Act), १९२३ ई० में बनाया गया जिसके अनुसार व्यावसायिक रोगों अथवा दुर्घटनाओं के शिकार श्रमिकों को क्षति-पूर्ति देने की व्यवस्था की गयी। कई प्रान्तों में औरतों को भी मातृत्व की सुविधा प्रदान करने के लिए मातृत्व लाभ अधिनियम (Maternity Benefit Act) बनाये गये जिनके अनुसार औरत श्रमिकों को प्रसव के पहले तथा बाद में छुट्टी एवं अन्य सुविधाएँ प्रदान की जाती हैं। इसके अतिरिक्त खनिज उद्योगों में लगे श्रमिकों के कल्याण के लिए समय-समय पर बहुत से विधान बनाये गये जिनमें Mica Mines Labour Welfare Fund Act 1946; तथा Coal Mines Provident Fund and Bonus Schemes Act, 1948 आदि उल्लेखनीय हैं। सामाजिक सुरक्षा के क्षेत्र में सबसे प्रमुख अधिनियम १९४८ ई० का कर्मचारी राज्य बीमा अधिनियम (Employee's State Insurance Act) है जिसके अनुसार पाँच प्रकार के लाभ या सुविधाएँ देने की व्यवस्था की गयी है—बीमारी के लिए, मातृत्व के लिए, अयोग्यता के लिए, आश्रितों के लिए, तथा चिकित्सा के लिए। इस

१. सामाजिक सुरक्षा के सम्बन्ध में विस्तारपूर्वक विवेचना अगले अध्याय में की गयी है।

उद्देश्य से एक कोष का निर्माण किया गया है जिसकी देख-रेख के लिए एक निगम की स्थापना की गयी है।

राष्ट्रीय श्रम-आयोग (National Labour Commission) :—भारत सरकार ने २४ दिसम्बर, १९६६ को भारत के भूतपूर्व न्यायाधिपति श्री० बी० गजेन्द्रगदकर की अध्यक्षता में एक राष्ट्रीय श्रम-आयोग की नियुक्ति की। आयोग के विचाराधीन विषयों में श्रमिकों की वर्तमान स्थिति, इनकी मजदूरी, राष्ट्रीय न्यूनतम मजदूरी का निर्धारण, सामाजिक सुरक्षा की वर्तमान व्यवस्था, श्रम-संघों के कार्य एवं महत्त्व तथा श्रम सन्नियम आदि रखा गया था। आयोग ने २८ अगस्त, १९६९ को भारत सरकार के समक्ष अपना प्रतिवेदन प्रस्तुत किया। आयोग के सुझावों का औद्योगिक श्रमिकों के लिये बड़ा ही महत्त्वपूर्ण स्थान है।

विशेष अध्ययन-सूची

1. V. V. Giri : Labour Problems in the Indian Industry, Ch. I.
2. V. B. Singh : Industrial Labour in India, Chapters XXVIII to XXIX
3. Indian Labour Year Book, 1968, Chapter 4.
4. Reserve Bank of India Bulletin, April, 1964.
5. India, 1971-72.
6. Report of the National Labour Commission, 1969.

अध्याय : ३४

श्रमिक-संघ एवं औद्योगिक सम्बन्ध

(Trade Unions and Industrial Relations)

श्रमिक-संघ का अर्थ (Meaning of Trade Union) :—श्रमिक-संघ आधुनिक विशालकाय उत्पादन-व्यवस्था की एक प्रमुख देन है। श्री तथा श्रीमती वेब के अनुसार श्रमिक-संघ वास्तव में मजदूरी पर निर्वाह करने वाले व्यक्तियों के काम की दशाओं को और न बिगड़ने देने तथा उनमें सुधार के लिए बनाये गये स्थायी संगठन हैं। इससे स्पष्ट है कि इन लोगों के अनुसार श्रमिक-संघों के दो मुख्य उद्देश्य हैं—सर्वप्रथम तो अभी तक जो कुछ प्राप्त हो सका है उसे ज्यों-का-त्यों बनाये रखना और द्वितीयत: काम की दशाओं में और सुधार लाने की व्यवस्था करना। किन्तु, यदि ध्यानपूर्वक विचार किया जाय तो यह स्पष्ट होगा कि श्रमिक-संघों का अन्तिम उद्देश्य अपने सदस्यों के सौदा करने की शक्ति (Bargaining powers) मे वृद्धि करना है जिससे वे आपस में मिलकर स्वयं अपनी समस्याओं का समाधान कर सकें। वे अपने इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए विभिन्न उपायों को अपनाते हैं। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए श्रमिक-संघों की शुरूआत हुई तथा आज भी इन संघों का प्रधान उद्देश्य यही है। आज भी संसार के किसी देश के मजदूरों की शक्ति वहाँ के श्रमिकों की जागरूकता पर ही निर्भर करती है। इस प्रकार श्रमिक-संघ श्रम-जीवियों के संगठन का केन्द्र-बिन्दु है। वास्तव में, ये सामाजिक अशान्ति नहीं वरन् सामाजिक प्रगति के प्रतीक हैं।

श्रमिक-संघों की आवश्यकता (Necessity of Trade Unions) :—पूँजीवादी उत्पादन-व्यवस्था की एक प्रमुख विशेषता पूँजी एवं श्रम का पार्थक्य है। इस प्रकार की उत्पादन व्यवस्था में उत्पादन का कार्य बहुत बड़े पैमाने पर दूर-दूर तक विस्तृत बाजारों के लिए किया जाता है। आज कारखानों में हजारों-हजार की संख्या में मजदूर कार्य करते हैं। पूँजीपतियों ने इन कारखानों की स्थापना में अपार धनराशि खर्च की है। इनका उद्देश्य अपनी इस पूँजी के बदौलत अधिक-से-अधिक लाभ कमाना होता है। उत्पादन-व्यय को कम करने के लिये ये मजदूरों को कम-से-कम मजदूरी देना चाहते हैं। निर्धन एवं निस्सहाय मजदूरों को रोजी के अन्य साधनों के अभाव में विवश होकर मालिकों की शर्तों को मन्जूर करना पड़ता है। कम मजदूरी के अतिरिक्त कारखानों में औद्योगिक क्रांति के प्रारम्भिक काल में इन्हें १२-१४ घण्टे तक प्रतिदिन कार्य करना पड़ता था। इनके लिए उचित विश्राम की व्यवस्था भी नहीं थी तथा जीवन की अन्य सुविधाओं का नामोनिशान तक नहीं था। मजदूरों की इस विवशता से मिल-मालिक इनका तरह-तरह से शोषण करते थे। मालिकों की इस स्वार्थ-वृत्ति तथा मजदूरों की विवशता एवं पंगुता के विरुद्ध धीरे-धीरे मजदूरों में स्वाभाविक प्रतिक्रिया होने लगी तथा वे आपस में संगठित होने का प्रयत्न करने लगे। श्रमिक-संघों का निर्माण इस प्रतिक्रिया का परिणाम है।

श्री सिडनी वेब के अनुसार श्रमिक-संघों के निर्माण में हमें तीन स्पष्ट अवस्थाएँ देखने को मिलती हैं :—सबसे पहले मजदूर एक-दूसरे की सहायता करके अपनी स्थिति सुधारने का प्रयत्न करते हैं। किसी मजदूर की बीमारी, बेकारी अथवा अन्य किसी मुसीबत में वे आपसी चन्दे द्वारा उसकी सहायता करते हैं। श्री वेब ने इसे **'पारस्परिक बीमा'** का नाम दिया है। इस प्रकार के संगठन से मजदूरों को लाभ अवश्य होता है, किन्तु इसमें मालिकों द्वारा शोषण समाप्त नहीं होता। अत: मजदूरों में वर्ग के आधार पर संगठन होने लगा। इस स्तर पर जब मालिक मजदूरों को विभिन्न प्रकार की सुविधाएँ देने से इनकार करते हैं तो मजदूर भी काम करने से इनकार करते हैं और इस प्रकार 'हड़ताल' की शुरुआत हुई। हड़तालों से मजदूरों को भी आर्थिक कष्ट होता है, किन्तु मिल-मालिकों को सबसे अधिक हानि होती है क्योंकि कारखानों में काम बन्द हो जाने से इनकी आय का साधन ही समाप्त हो जाता है। इस स्तर तक आते-आते श्रमिकों में संगठन बहुत बढ़ जाता है तथा उनकी शक्ति में भी बहुत अधिक वृद्धि हो जाती है। इस प्रकार के कार्यों में सामूहिक संगठन का महत्त्व है, अत: इसे **'सामूहिक सौदेबाजी'** (Collective bargaining) का नाम दिया जा सकता है। धीरे-धीरे श्रमिकों की माँग से जनता भी इनके प्रति सहानुभूति प्रकट करने लगती है तथा समाज में इनकी स्थिति सुधारने के लिए उत्सुकता बढ़ जाती है। अन्त में, देश की सरकार को भी इस क्षेत्र में हस्तक्षेप करना पड़ता है तथा विधान द्वारा मजदूर-संघों के नेतृत्व और प्रतिनिधित्व को स्वीकार किया जाता है। इस प्रकार औद्योगिक सम्बन्धों की समस्या के समाधान में राज्य का महत्त्व बढ़ जाता है तथा इनके लिए विधान भी बनाये जाते हैं। अत: श्रमिक-संघों के विकास के इस तीसरे स्तर को **'वैधानिक स्वीकृति"** का नाम दिया जाता है। इस प्रकार श्रमिक-संघों के विकास में ये तीन स्तर स्पष्टत: नजर आते हैं। प्रत्येक पूँजीवादी उत्पादन-व्यवस्था वाले देश में श्रमिक-संघों के विकास में ये तीन स्तर देखने को मिलते हैं।

भारत में श्रमिक-संघ आन्दोलन की शुरूआत
(Beginning of the Trade Union Movement in India)

भारत में प्रथम महायुद्ध के पूर्व तक श्रमिकों में संगठन का अभाव था। भारत का औद्योगिक इतिहास, वास्तव में, गत शताब्दी के उत्तरार्द्ध से प्रारम्भ होता है। १८५४-५५ ई० के बाद देश में बड़े पैमाने के उद्योगों का विकास धीरे-धीरे प्रारम्भ हुआ। प्रारम्भ में इन उद्योगों में काम करने वाले मजदूरों को बहुत-सी कठिनाइयाँ उठानी पड़ती थीं। भारतीय मजदूरों में बहुत दिन तक सामूहिक सौदेबाजी की शक्ति (Collective bargaining) की भावना का विकास नहीं हुआ था। अत:, ये मालिकों द्वारा विभिन्न प्रकार से शोषित होते रहे। सर्वप्रथम १८७५ ई० में श्री सोरभजी शुपुरजी बंगाली ने मजदूरों की इस दयनीय दशा की ओर भारत सरकार का ध्यान आकर्षित करने का प्रयास किया। इसी समय श्री नारायण मेवाजी लोखंडे ने श्रमिकों को संगठित करने का प्रयास किया। १८९० ई० में फैक्टरी कमीशन ने भी लोखंडे को मजदूरों की स्थिति सुधारने के सम्बन्ध में अपना सुझाव देने के लिए आमन्त्रित किया था। इन्होंने १८९० ई० में 'बम्बई मिल हैण्ड्स एशोशियेशन' नामक मजदूरों का संगठन स्थापित किया। १८९७ ई० में भारत एवं बर्मा की एक अमलगमेटेड सोसाइटी ऑफ रेलवे सर्वेन्ट्स की स्थापना हुई। इसका उद्देश्य भाई-चारे के आधार पर संघ कायम करना था। वर्तमान शताब्दी के प्रारम्भिक वर्षों में

कुछ संघों की स्थापना हुई जिनमें बम्बई पोस्टल यूनियन, १९०६; प्रिन्टर्स यूनियन, कलकत्ता १९०८ तथा सी-मेन यूनियन, कलकत्ता आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। १९१० ई० में कामगर हित-वर्द्धक सभा नामक श्रमिक-संघ का निर्माण हुआ, किन्तु इसने भी इस क्षेत्र में कोई प्रशंसनीय कार्य नहीं किया। प्रथम महायुद्ध काल में मँहगाई एवं उपनिवेशों में भारतीय श्रमिकों के प्रति भेद-भाव, स्वदेशी आन्दोलन का विकास तथा रूस की जन क्रान्ति के फलस्वरूप मजदूरों में एक नयी चेतना का संचार होने लगा। स्वदेशी आन्दोलन से भी देश के श्रमिक-संघ आन्दोलन को बड़ा बल मिला।

भारत में श्रमिक-संघ का इतिहास, वास्तव में, प्रथम महायुद्ध के बाद से ही प्रारम्भ होता है जब १९१८ ई० में मद्रास की सूती मिलों के श्रमिकों ने श्री बी० पी० वाडिया के नेतृत्व में एक मजदूर-संघ का निर्माण किया। इसके बाद अन्य स्थानों में भी श्रमिक-संघों का निर्माण होने लगा जिसके फलस्वरूप अगले वर्ष तक संघों की संख्या ४ तथा इनके सदस्यों की संख्या २० हजार हो गयी। १९२० ई० में महात्मा गाँधी की प्रेरणा से अहमदाबाद में अखिल भारतीय मजदूर संघ (All India Trade Union Congress) की स्थापना हुई जिससे इस आन्दोलन को बहुत बड़ा प्रोत्साहन मिला। सम्पूर्ण देश के श्रमिक वर्ग को संगठित रूप देने वाली यह पहली संस्था थी। १९२२ ई० में केन्द्रीय श्रम समिति की स्थापना हुई तथा उसी वर्ष आल इण्डिया रेलवे मेन्स फेडरेशन तथा पोस्ट एण्ड टेलीग्राफ यूनियन की स्थापना भी की गयी। किन्तु, १९२० ई० में मालिकों के विरुद्ध हड़ताल करने पर मद्रास हाईकोर्ट ने हड़ताल को गैर-कानूनी घोषित कर दिया जिससे श्रमिक-संघों को बहुत बड़ा धक्का पहुँचा। इसके बाद श्रमिक-संघों को वैधानिक मान्यता दिलाने की कोशिश की जाने लगी। इन सारे प्रयत्नों के परिणामस्वरूप १९२६ ई० में एक ट्रेड यूनियन ऐक्ट (Trade Union Act, 1926) पारित हुआ जिसके अनुसार श्रमिक-संघों को कानूनी मान्यता प्रदान की गयी। तब से देश में श्रमिक-संघों की संख्या में उत्तरोत्तर वृद्धि हो रही है।

सन् १९२६ ई० का श्रमिक-संघ अधिनियम (The Trade Union Act, 1926) :— भारत में १९२६ में पहला ट्रेड यूनियन ऐक्ट पारित हुआ जो जून, १९२७ ई० से लागू किया गया। इस अधिनियम के अनुसार श्रमिक-संघों को रजिस्टर्ड कराने की सुविधा प्राप्त हुई। श्रमिक-संघों की रजिस्ट्री ऐच्छिक थी। किन्तु, रजिस्टर्ड संघों को बहुत-सी सुविधाएँ एवं अधिकार प्राप्त थे जिससे प्रायः सभी संघ रजिस्ट्री कराने पर अधिक जोर देते थे। रजिस्टर्ड संघों को अपना नाम और उद्देश्य निश्चित रूप से घोषित करना पड़ता था। साथ ही, उन्हें अपने सदस्यों की एक सूची रखनी पड़ती थी तथा अपने कोष की वार्षिक जाँच विधिवत् रूप से करानी पड़ती थी। श्रमिक-संघों का जमा कोष केवल सदस्यों के हित के लिए ही व्यय किया जा सकता था। सामाजिक एवं राजनीतिक हित के लिए ही ये संघ एक पृथक् कोष स्थापित कर सकते थे, किन्तु इसमें चन्दा देना सदस्यों की इच्छा पर निर्भर करता था। रजिस्टर्ड संघों के पदाधिकारियों की कम-से-कम आधी संख्या उस उद्योग में लगे हुए मजदूरों की होनी चाहिए। इस प्रकार उक्त अधिनियम द्वारा रजिस्टर्ड संघों पर बहुत-सी जिम्मेवारियाँ लाद दी गयी थीं। किन्तु, साथ-ही-साथ, उन्हें बहुत-सी सुविधाएँ भी प्राप्त थीं। रजिस्टर्ड श्रमिक-संघ द्वारा वैध उद्देश्यों की पूर्ति के लिए किये गये न्यायोचित कार्यों के लिए अधिकारियों को अपराध के दायित्व से मुक्त

कर दिया गया। साथ ही, इन पर षड्यन्त्र का आरोप भी नहीं लगाया जा सकता है। रजिस्टर्ड श्रमिक-संघ के किसी सदस्य पर किसी औद्योगिक संघर्ष को अग्रसारित करने के लिए किसी प्रकार का दिवानी मुकदमा भी नहीं चलाया जायगा। इसी तरह किसी रजिस्टर्ड श्रमिक-संघ के किसी सदस्य के विरुद्ध इस आधार पर दिवानी कचहरी में कोई मुकदमा नहीं चलाया जा सकता जब तक कि यह भली-भाँति सिद्ध न कर दिया जाय कि वह संघ की कार्यकारिणी को बिना बताये या उसके प्रकट आदेशों के विरुद्ध कार्य किया हो।

१९४७ ई० में इण्डियन ट्रेड यूनियन ऐक्ट में संशोधन हुआ जिसके अनुसार प्रतिनिधि श्रम-संघों को मिल-मालिकों द्वारा मान्यता प्रदान करना आवश्यक बना दिया गया। मान्यता प्रदान करने को निम्नलिखित शर्तें निर्धारित की गयीं—

(क) श्रम-संघों का रजिस्टर्ड करना आवश्यक है।

(ख) संघ के सभी सदस्य एक ही उद्योग अथवा सम्बन्धित उद्योगों में काम करने वाले हों, तथा

(ग) संघ कारखाने में काम करने वाले श्रमिकों की एक प्रतिनिधि संस्था हो।

इस संशोधन में कुछ ऐसी बातों की भी चर्चा की गयी है जो मालिकों तथा रजिस्टर्ड संघों के लिए अनुचित थी।

१९२६ ई० के श्रमिक-संघ अधिनियम में पुनः १९६० ई० में संशोधन हुआ जिसके अनुसार प्रत्येक श्रमिक का न्यूनतम चंदा २५ पै० प्रति माह निश्चित किया गया। इस संशोधन के अनुसार रजिस्ट्रार अथवा उनके द्वारा नियुक्त कोई भी व्यक्ति किसी श्रमिक-संघ के आवश्यक कागजात वगैरह की जाँच कर सकता है।

१९२६ ई० के ट्रेड यूनियन ऐक्ट ने श्रमिक-संघ के विकास को बहुत ही प्रोत्साहित किया। इसी समय कम्युनिस्टों ने भी श्रम-आन्दोलन में प्रवेश किया तथा इस क्षेत्र में इनका प्रभुत्व दिन प्रतिदिन बढ़ने लगा। १९२४ ई० के कानपुर अधिवेशन के बाद इनका प्रभुत्व ट्रेड यूनियन कांग्रेस पर प्रारम्भ हो गया तथा १९२८-२९ ई० तक इन्होंने अपनी स्थिति काफी सुदृढ़ कर ली। अतः, १९२९ ई० के 'अखिल भारतीय ट्रेड यूनियन कांग्रेस' के नागपुर अधिवेशन में नरम दल के अनुयायियों ने श्री एन० एम० जोशी के नेतृत्व में 'अखिल भारतीय ट्रेड यूनियन फेडरेशन' नामक एक पृथक् संस्था का निर्माण किया। इस तरह का आन्दोलन की प्रगति पर बड़ा ही बुरा प्रभाव पड़ा। पुनः १९३१ ई० में रानडे एवं देशपांडे नामक वामपक्षी नेताओं ने अखिल भारतीय रेड ट्रेड यूनियन कांग्रेस की स्थापना की जिससे इस आन्दोलन की प्रगति को और भी आघात पहुँचा। किन्तु १९३४ ई० में 'अखिल भारतीय ट्रेड यूनियन कांग्रेस' तथा 'रेड ट्रेड यूनियन कांग्रेस' में एक समझौता हुआ जिसके फलस्वरूप ये दोनों संस्थाएँ पुनः आपस में मिल गयीं। इसी बीच अखिल भारतीय ट्रेड यूनियन फेडरेशन से भी बातचीत चलती रही तथा १९३८ ई० में श्री वी० वी० गिरि के प्रयत्नों के फलस्वरूप यह संस्था भी 'अखिल भारतीय ट्रेड यूनियन कांग्रेस' में मिल गयी।

द्वितीय महायुद्ध में श्रमिक-संघ आन्दोलन (Trade Union Movement in the Second World War) :—द्वितीय महायुद्ध का आन्दोलन की प्रगति पर अच्छा प्रभाव नहीं पड़ा तथा युद्धकाल में शामिल होने के प्रश्न को लेकर ट्रेड यूनियन कांग्रेस में फूट पड़ने लगी।

साम्यवादी लोग रूस का अनुकरण करते हुए ब्रिटिश सरकार को सहायता क॰ चाहते थे, किन्तु राष्ट्रवादी नेता ब्रिटिश सरकार को सहायता नहीं देना चाहते थे। युद्धकाल श्री एम० एन० राय और उनके समर्थकों ने, जो युद्ध के प्रयत्नों में पूरा-पूरा सहयोग देने के में थे, 'इण्डियन फेडरेशन ऑफ लेबर' नामक एक पृथक् संस्था का निर्माण किया। इसी व १९४२ ई० में कांग्रेसी नेताओं की गिरफ्तारी के बाद 'ट्रेड यूनियन कांग्रेस' पर पुनः कम्युनि का प्रभाव स्थापित हो गया। स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद कम्युनिस्टों के प्रभाव को कम करने लिए कांग्रेसी नेताओं की प्रेरणा से एक नयी संस्था 'अखिल भारतीय राष्ट्रीय ट्रेड यूनियन कांग्रे (All India National Trade Union Congress) की स्थापना हुई। आजव भारतीय मजदूरों की यह सबसे बड़ी प्रमुख संस्था है। समाजवादी दलवालों ने १९४९ ई० 'हिन्द मजदूर सभा' नामक एक पृथक् संस्था की स्थापना की। प्रो० शाह के नेतृत्व में 'संयुक्त श्रम-संघ सभा' (United Trade Union Congress) का संगठन किया गया। इस प्रक आजकल भारत में उपरोक्त चार अखिल भारतीय श्रम-संगठन है।

श्रमिक-संघों की वर्तमान स्थिति

(Present Position of Trade Unions)

पिछले कुछ वर्षों से भारत में श्रमिक-संघ आन्दोलन की निरन्तर प्रगति हो रही है जिसक अन्दाजा निम्नलिखित तालिका [1] से लगाया जा सकता है :—

वर्ष	रजिस्टर्ड संघों की संख्या	इनके सदस्यों की संख्या
१९२७-२८	२९	१,००,६१९
१९३९-४०	६६७	५,११,१४८
१९४४-४५	८६५	८,८९,३८८
१९४७-४८	२७६६	१६,६२,९२९
१९४९-५०	३५२२	१८,२१,१३२
१९५१-५२	३८४४	१८,५३,२१३
१९५५-५६	८०९५	२२,७४,७३२
१९५८-५९	१०,२२८	३६,४७,१४८
१९६०-६१	११,३१२	३७,८२,०००
१९६४-६५	१३,०२३	४८,६६,०००

१९५१-५२ ई० में ३७४४ रजिस्टर्ड श्रमिक-संघों में से ३६५६ मजदूरों की संस्थाएँ थीं। पश्चिमी बंगाल, बम्बई, उत्तर प्रदेश तथा बिहार में इनकी संख्या सबसे अधिक, यानी क्रमशः ९२१; ६२९; ५२‘; ५१८ और ५०६ थी। १९५१-५२ ई० में औरत सदस्यों की संख्या १,१६,०६१ थी जो कुल सदस्यों की संख्या का प्रायः ६·३ प्रतिशत भाग था। औसत सदस्यों की संख्या का प्रतिशत १९२७-२८ ई० में केवल १·२ ही था। उपरोक्त तालिका से यह पता चलता है कि १९४७-४८ ई० के बाद श्रमिक-संघों की संख्या में तीव्रता के साथ वृद्धि हुई, किन्तु प्रति संघ औसत सदस्यों की संख्या १९४८-४९ ई० के बाद क्रमशः घट रही है।

1. Report of the National Labour Commission.

आजकल भारत में श्रमिक-संघों के चार प्रमुख अखिल भारतीय संगठन हैं जिनकी १९६६ ई० में सदस्य संख्या इस प्रकार से थी[1] :—

अखिल भारतीय श्रमिक-संघों की सदस्यता

संस्था के नाम	सम्बन्धित श्रमिक-संघों की संख्या	कुल सदस्यों की संख्या	कुल का प्रतिशत
१. भारतीय राष्ट्रीय ट्रेड यूनियन कांग्रेस (I.N.T.U. C,)	१३०५	१४,१७,५५३	५९·५
२. अखिल भारतीय ट्रेड यूनियन कांग्रेस (A.I.T.U.C.)	८०८	४,३३,५६४	१८·२
३. हिन्द मजदूर सभा (H.M.S.)	२५८	४,३६,९७७	१८·३
४. यूनाइटेड ट्रेड यूनियन कांग्रेस (U. T. U. C.)	१७०	९३,४५४	४·०
कुल	२५४१	२३,८१,५४८	१००·०

इन विभिन्न संस्थाओं का विवरण इस प्रकार से है :—

(१) **भारतीय राष्ट्रीय ट्रेड यूनियन कांग्रेस** (Indian National Trade Union Congress) :—यह संस्था कांग्रेसी विचारधारा के अन्तर्गत है। १९६६ ई० में इससे सम्बन्धित श्रम-संघों की संख्या १३०५ तथा सदस्यों की संख्या १४,१७,५५३ थी।

(२) **अखिल भारतीय ट्रेड यूनियन कांग्रेस** (All India Trade Union Congress) :—यह साम्यवादियों के हाथों में है। १९६६ ई० में इससे सम्बन्धित श्रम-संघों की संख्या ८०८ तथा सदस्यों की संख्या ४,३३,५६४ थी।

(३) **हिन्द-मजदूर सभा** (Hind Mazdoor Sabha) :—यह समाजवादियों द्वारा स्थापित की गयी संस्था है। १९६६ ई० में इससे सम्बन्धित संघों की संख्या २५८ तथा सदस्यों की संख्या ४,३६,९७७ थी।

(४) **यूनाइटेड ट्रेड यूनियन कांग्रेस** (United Trade Union Congress) :—इस संस्था के अधिकांश सदस्य बंगाल तथा तमिलनाडु में हैं। १९६६ ई० में इससे सम्बन्धित संघों की संख्या १७० तथा सदस्यों की संख्या ९३,४५६ थी।

भारत में इन श्रमिक-संघों की आय बहुत ही कम है। १९२७-२८ ई० में इनकी आय १·६ लाख रुपये थी जो १९४१-४२ ई० में बढ़कर १६·७ लाख रुपये तथा १९४६ ई० में ४२·४ लाख रुपये हो गयी। इसी प्रकार इनकी आय १९५१-५२ ई० में ७५·४ लाख रुपये तथा १९५३-५४ ई० में ९७·४ लाख रुपये थी। इससे स्पष्ट है कि श्रमिक-संघों की संख्या में वृद्धि के साथ-साथ उनके साधनों में कोई विशेष वृद्धि नहीं हुई है। इसी प्रकार श्रम-संघों की संख्या में गत वर्षों में वृद्धि अवश्य हुई है, किन्तु इनकी सदस्य-संख्या में अपेक्षाकृत कम ही वृद्धि हुई।

इस प्रकार श्रमिक-संघ आन्दोलन ने भारत में थोड़े ही समय में असाधारण उन्नति की है। १९२७-२८ ई० में देश में सिर्फ २९ रजिस्टर्ड संघ थे जिनकी संख्या बढ़कर १९४७-४८ ई० में

1. India 1971-72.

२७६६ तथा १९६६ ई० में २५४१ हो गयी । इससे इस आन्दोलन की प्रगति स्पष्ट हो जाती है । यह आन्दोलन देश के मजदूरों में विशेष लोकप्रिय हो गया है ।

भारतीय श्रमिक-संघों की त्रुटियाँ

(Weaknesses of the Trade Union Movement in India)

जब हम भारतीय श्रम-संघों के सदस्यों की तुलना देश की संगठित उद्योगों में लगे मजदूरों की संख्या के साथ करते हैं तो यह स्पष्ट हो जाता है कि भारतीय श्रम-संघ आन्दोलन अभी बहुत कम प्रगति कर सका है । वास्तव में, भारतीय श्रमिक-संघों की प्रगति के मार्ग में बहुत सी कठिनाइयाँ हैं जिनके फलस्वरूप इसे अभी बहुत कम सफलता मिल पायी है । इनमें से कुछ प्रमुख कठिनाइयाँ इस प्रकार हैं :—

(१) **श्रमिकों की प्रवासी प्रवृत्ति** (Migratory character of the workers) :—भारतीय श्रमिक-संघ के विकास में सबसे पहली बड़ी कठनाई श्रमिकों की प्रवासी प्रवृत्ति है । भारतीय श्रमिक औद्योगिक केन्द्रों में अधिक दिनों तक नहीं ठहरते हैं । साथ ही, ये एक कारखाने में बहुत दिनों तक कार्य नहीं करते । इस प्रकार के श्रमिक स्थायी श्रमिकों की तुलना में श्रम-संगठन में बहुत ही कम दिलचस्पी रखते हैं ।

(२) **अशिक्षित श्रमिकों में जनतन्त्रात्मक भावना का अभाव** (Lack of democratic spirit among the illiterate and ignorant workers) :—भारतीय श्रमिक बहुधा अशिक्षित होते हैं जिससे ये अपने भविष्य के विषय में बहुत कम सोचा करते है । साथ ही, ये अनुशासन के महत्त्व को भी बहुत कम समझ पाते हैं । श्रमिक-संघों की प्रगति में यह बहुत ही बड़ी बाधा है ।

(३) **भाषा, धर्म, जाति आदि की विविधता** (Differences in language, religion, caste and creed etc.) :—श्रमिक-संघों की सफलता में भाषा, धर्म, जाति आदि की विभिन्नता के फलस्वरूप श्रमिकों में भेद-भाव, संदेह एवं ईर्ष्या आदि को प्रोत्साहन मिलता है । इससे दृढ़ एवं स्थायी संगठन नहीं कायम हो पाता ।

(४) **श्रमिकों की निर्धनता** (Poverty of the Workers) :—भारतीय श्रमिकों को बहुत ही कम मजदूरी मिलती है । इससे इनका जीवन यापन भी बहुत कठिनाई से चलता है । अतः वे संघों को अपना चन्दा तथा शुल्क भी समय पर नहीं चुका सकते हैं । साथ ही, मजदूरों के पास इतना कम अवकाश रहता है कि ये संघ आदि के विषय में बहुत ही कम सोच पाते हैं ।

(५) **मालिकों की दमन-नीति तथा सरकार की उदासीनता** :—भारत में मिल-मालिक अथवा सेवायोजकों की दमन-नीति भी श्रमिक-संघों के विकास के मार्ग में बहुत बड़ी बाधा सिद्ध होती है । मालिक श्रमिकों पर तरह-तरह के अत्याचार करते हैं, ये इनकी मजदूरी रोक लेते हैं इन्हें घरों से निकलवा देते हैं तथा इसी प्रकार के अन्य अत्याचार भी करते हैं । सरकार भी बहुत समय तक श्रमिक-संघों के प्रति उदासीन थी । इससे भी श्रमिक-संघों का समुचित विकास नहीं हो पाता ।

(६) **मजदूरों को अवकाश की कमी** (Lack of leisure among labourers) :—भारतीय श्रमिकों को कारखाने में बहुत ही अधिक समय तक कार्य करना पड़ता है जिससे इन्हें, संघ की समस्याओं की ओर सोचने का समय नहीं मिल पाता । वे साधारणतः कारखानों में ८-१० घंटे तक काम करके आते हैं और खा-पीकर अपने घर सो जाते हैं । इस प्रकार अवकाश का अभाव भी श्रमिक-संघों की प्रगति में बाधक सिद्ध होता है ।

(७) दलबन्दी और नेतृत्व का अभाव (Political rivalries and lack of leadership) :—भारतीय श्रम-आन्दोलन प्रारम्भ से ही राजनीतिक नेताओं एवं दलों के हाथों में रहा है। एक ही नेता का बहुत संघों से सम्बन्ध रहता है जिससे ये अपना बहुत कम समय किसी एक संघ को दे सकते हैं। इसका श्रमिक-संघों की प्रगति पर बड़ा ही बुरा प्रभाव पड़ता है। ये नेता मजदूरों की वास्तविक परिस्थितियों से परिचित नहीं रहते तथा अपने उद्देश्यों की पूर्ति के लिए ही श्रमिक-संघों में प्रवेश करते हैं। श्रम-आन्दोलन की सफलता बहुत कुछ उचित नेतृत्व पर आधारित है। उचित नेतृत्व के अभाव में भारतीय श्रमिक-संघों को बहुत-सारी कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। अतः यह कहा जा सकता है कि 'भारतीय श्रमिक-संघ नेतृत्व एवं वित्त दोनों दृष्टिकोण से आत्म-निर्भर नहीं है।' (The Trade Union Movement in India is neither self-reliant nor financially self-sustaining.)

(८) मजदूर संघों के सीमित कार्य-क्षेत्र (Limited functions of Trade Unions) :—भारत में श्रमिक-संघों की प्रगति में एक बहुत बड़ी बाधा इनके कार्य-क्षेत्र का सीमित होना है। ये अपने समय का अधिकांश भाग केवल लड़ाकू कार्यों में ही लगाते हैं तथा रचनात्मक कार्यों, जैसे—बेकारी, बुढ़ापा एवं बीमारी आदि पर बहुत ही कम ध्यान देते हैं। इनका पूरा समय अपनी सुविधाओं में वृद्धि आदि के लिए मालिकों से लड़ने तथा हड़ताल आदि में ही लग जाता है। इससे इन्हें जनसाधारण की सहानुभूति नहीं प्राप्त हो पाती है।

(९) संघों का छोटा आकार (Small size of the unions) :—श्री वी० वी० गिरि के अनुसार भारत में श्रमिक-संघ आन्दोलन के अविकसित होने का एक प्रधान कारण अधिकांश श्रम-संघों के आकार का छोटा होना है। इनके अनुसार लगभग तीन-चौथाई संघ के सदस्यों की संख्या ५०० से भी कम है।

निष्कर्ष के रूप में, योजना आयोग (Planning Commission) के शब्दों में यह कहा जा सकता है कि "श्रमिक-संघों की अधिकता, राजनीतिक मनमुटाव, साधनों की कमी एवं श्रमिकों में एकता का अभाव भारत में श्रमिक-संघ आन्दोलन की प्रधान त्रुटियाँ हैं।" (Multiplicity of trade unions, political rivalries, lack of resources, and disunity in the ranks of the workers are some of the major weaknesses in a number of existing unions.)

भारतीय श्रमिक-संघों की स्थिति में सुधार के उपाय

(Methods to help the growth of Trade Unions)

इस प्रकार भारत में श्रमिक-संघ आन्दोलन की उपरोक्त सारी त्रुटियाँ हैं। अतएव श्रमिक-संघ आन्दोलन के विकास के लिए इन त्रुटियों को दूर करना अनिवार्य है। किन्तु केवल श्रमिक ही इनका निराकरण नहीं कर सकते, इसके लिए सरकार एवं सेवायोजकों को भी प्रयत्नशील होना पड़ेगा। श्रमिक-संघ आन्दोलन को सुदृढ़ बनाने से देश के आयोजित आर्थिक विकास में बहुत अधिक सहायता मिलेगी। इस सम्बन्ध में श्री वी० वी० गिरि का निम्नांकित कथन विशेष रूप से महत्त्वपूर्ण है : "If the Trade Union Movement is not united and strong enough to achieve these objectives, the industrial structure to be built in India on the basis of full-fledged socialist democracy would not have firm

foundations and the State, inspite of its best ideals and designs, would find it difficult to assure fundamental rights to working class."[1] विश्व के अधिकांश देशों में आर्थिक नियोजन की नीति ने प्राचीन तरह के श्रमिक-संघों के महत्त्व को बिल्कुल समाप्त कर दिया है। आज श्रम-संघों का उद्देश्य केवल मालिकों के शोषण से मजदूरी की रक्षा-मात्र ही नहीं रह गया है, वरन् इनका वास्तविक उद्देश्य मजदूरों के वर्तमान जीवन-स्तर में सुधार तथा औद्योगिक व्यवस्था में हाथ बँटाना हो गया है। भारत में भी श्रम आन्दोलन के सम्बन्ध में आज यही प्रमुख समस्या है। अब हमारे देश में वह स्थिति आ गयी है जबकि श्रमिक-संघों को मालिक और मजदूरों के सम्बन्ध में हड़ताल द्वारा सुधार का एक साधन-मात्र नहीं समझ कर इन्हें पंचवर्षीय योजनाओं की सिद्धि में सहयोग प्रदान करने का एक आवश्यक साधन समझना चाहिए। अतः देश में श्रम-आन्दोलन का मुख्य उद्देश्य अब हड़ताल आदि न होकर पंचवर्षीय योजनाओं की सिद्धि में सहयोग प्रदान करना होना चाहिए। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए श्रमिक-संघ का स्वस्थ विकास अनिवार्य है।

देश में श्रमिक-संघों के विकास की गति को तीव्र करने के विभिन्न उपाय हैं जिनमें से कुछ का निम्न विवरण प्रस्तुत किया जा रहा है :—

(१) श्रमिकों की शिक्षा तथा प्रशिक्षण की व्यवस्था (Provision of education and training to workers) :—श्रमिकों में नेतृत्व की कमी को दूर करने तथा इन्हें संगठन के उद्देश्यों से परिचित कराने के लिए इनकी निरक्षरता को दूर करना अनिवार्य है। श्रमिक-संघों को बाहरी नेताओं के प्रभाव से मुक्त करना भी आवश्यक है। इसके लिए इन्हें शिक्षित बनाना पड़ेगा। साथ ही साथ, संगठन कायम करने के लिए प्रशिक्षण देने की भी आवश्यकता है।

(२) श्रमिक-संघों को राजनीति से अलग रहना चाहिए (Trade Unions should be free from politics) :—देश में सभी राजनीतिक दल श्रमिकों के बीच अपना-अपना अधिकार जमाना चाहते हैं। किन्तु श्रमिकों की भलाई करने के बजाय उनका मुख्य उद्देश्य अपने राजनीतिक आधिपत्य को बढ़ाना ही होता है। वास्तव में, सभी श्रमिकों का स्वार्थ एक है। इनके बीच विभिन्न संस्थाएँ रहने की कोई आवश्यकता नहीं है। यदि वे सम्मिलित होकर कार्य करें तो श्रमिकों के स्वास्थ्य एवं श्रमिक-आन्दोलन को आगे बढ़ा सकेंगे। किन्तु, ऐसी स्थिति तभी हो सकती है जब श्रमिक-संघ राजनीतिक दलों से अपना सम्बन्ध तोड़ लें।

(३) इनके कार्य-क्षेत्र को विस्तृत बनाना (Extension of the scope of activities) :—भारत में श्रमिक-संघों को हड़ताल आदि के अतिरिक्त रचनात्मक कार्यों की ओर भी ध्यान देना चाहिए। इस कार्य में श्रमिक-संघों को सिर्फ श्रमिकों की ही नहीं, वरन् मिल-मालिकों, जनता और सरकार की भी सहानुभूति प्राप्त हो सकेगी।

(४) श्रमिक-संघों के प्रति मिल-मालिकों के वर्ताव में परिवर्त्तन (Change in the attitude of mill-owners towards Trade Unions) :—श्रमिक संघों के प्रति मिल-मालिकों को भी सहानुभूति दिखलानी चाहिए। उन्हें यह न भूलना चाहिए कि ऐसे संगठनों से सिर्फ मजदूरों को ही लाभ नहीं होता वरन् मिल-मालिकों, उपभोक्ताओं तथा समाज को भी लाभ होता है। एक शक्तिशाली श्रमिक-संगठन के रहने से औद्योगिक संघर्ष में कमी आ सकती है जिससे उत्पादन में

1. V. V. Giri : Labour Problems in Indian Industries, P. 44.

वृद्धि होगी। इस प्रकार उपरोक्त उपायों द्वारा श्रमिक-संघों की स्थिति में सुधार किया जा सकता है।

औद्योगिक सम्बन्ध

(Industrial Relation)

औद्योगिक सम्बन्ध की समस्या आधुनिक पूँजीवादी उत्पादन-व्यवस्था के साथ अविच्छिन्न रूप से जुड़ी हुई है। आज की पूँजीवादी उत्पादन-व्यवस्था दो वर्गों में स्पष्ट रूप से विभाजित है—एक ओर तो पूँजीपतियों एवं उद्योगपतियों का वर्ग है जो श्रम के अतिरिक्त उत्पादन के अन्य साधनों के स्वामी हैं। इस वर्ग का उद्देश्य उत्पादन से अधिकतम लाभ कमाना रहता है। दूसरी ओर, श्रमिकों का वर्ग है जो अपने श्रम को बेच कर अपनी आजीविका प्राप्त करता है। अपने उद्देश्यों की पूर्ति के लिए पूँजीपति आपस में संगठन कायम करने का प्रयत्न करते हैं तथा दूसरी ओर अपनी मजदूरी बढ़ाने एवं काम की दशाओं में सुधार लाने के उद्देश्य से श्रमिक आपस में संघ बनाते हैं। इन दोनों संगठनों के बीच ईर्ष्या, सन्देह एवं भय की बहुत बड़ी खाई पायी जाती है। प्राय: ऐसा देखा जाता है कि छोटी-छोटी बातों को लेकर भी इनमें संघर्ष हो जाता है जिससे औद्योगिक सम्बन्ध खराब हो जाते हैं। इसके परिणामस्वरूप हड़ताल एवं तालेबन्दी (Strike and lockouts) होने लगते हैं जिनका प्रभाव इन दोनों वर्गों के साथ-साथ सम्पूर्ण समाज पर भी पड़ता है। इस प्रकार औद्योगिक सम्बन्ध का महत्त्व केवल श्रम एवं पूँजी के लिए ही नहीं है, वरन् सम्पूर्ण समाज के लिए है। औद्योगिक समृद्धि के लिए श्रम एवं पूँजी के बीच शांतिपूर्ण सम्बन्ध आवश्यक है। वास्तव में मालिक-मजदूर के सम्बन्ध को समाज की अधिकतम आवश्यकताओं की पूर्ति के रचनात्मक प्रयास में साझेदारी के रूप में समझना चाहिए। भारत जैसे विकासोन्मुख आर्थिक व्यवस्था वाले देश में औद्योगिक शांति का महत्त्व और भी बढ़ जाता है।

औद्योगिक संघर्ष के कारण (Causes of Industrial Disputes) :—औद्योगिक संघर्ष के विभिन्न कारण हैं जिनमें निम्नलिखित प्रमुख हैं—

(१) मजदूरी (Wages) :—भारत जैसे निर्धन देश में रहन-सहन का स्तर बहुत कुछ मजदूरी की दर ही निर्भर करता है। यहाँ के निर्धन मजदूरों के लिए उनकी मजदूरी ही सब कुछ है। किन्तु, यहाँ इसके निर्धारण का कोई निश्चित एवं वैज्ञानिक आधार नहीं है। सेवायोजक सदा कम मजदूरी देने का प्रयत्न करते है तथा मजदूर इनमें वृद्धि करना चाहते हैं। अत: दोनों वर्गों के बीच इस बात को लेकर यदा-कदा झगड़ा होता है। भारत में लगभग ३० प्रतिशत औद्योगिक झगड़े मजदूरी एवं बोनस को लेकर ही होते है।

(२) छुट्टियाँ तथा काम के घण्टे (Leisure and hours of work) :—औद्योगिक संघर्ष का एक प्रमुख कारण छुट्टियाँ तथा काम के घण्टे भी हैं। सवैतनिक छुट्टियाँ तथा काम के घण्टों को लेकर बहुत समय तक मजदूरों में बहुत असन्तोष रहा। आजकल इन सभी चीजों के सम्बन्ध में विधान अवश्य हैं, किन्तु अभी इनका पालन छोटे-छोटे कारखानों में समुचित रूप से नहीं होता। मालिक मजदूरों को बहुत कम छुट्टी देते हैं, इनसे बहुधा अधिक समय तक काम लेते हैं तथा इनकी मजदूरी से गैर-कानूनी कटौती करते हैं। इन सब बातों से भी हड़ताल को प्रोत्साहन मिलता है।

(३) भरती, उन्नति और छंटनी आदि में पक्षपात :—हमारे देश में भरती, उन्नति एवं छंटनी आदि में भी मालिक पक्षपात करते हैं। उचित व्यक्तियों को तरक्की न देकर अयोग्य व्यक्तियों को तरक्की दी जाती है। भरती में भी पक्षपात किया जाता है। इससे तंग आकर श्रमिक हड़ताल वगैरह प्रारम्भ कर देते हैं।

(४) गैर-आर्थिक कारण :—भारत में कुछ गैर-आर्थिक कारणों से भी हड़ताल को प्रोत्साहन मिलता है। उदाहरण के लिए, मजदूर कभी-कभी राजनैतिक नेता के आगमन पर कारखानों में एक-दो दिन के लिए काम रोक देते हैं, किन्तु इसका प्रभाव आगे नहीं बढ़ता।

१९५४ ई० में औद्योगिक संघर्ष के विभिन्न कारणों का ब्योरा निम्न प्रकार[1] से था :—

मजदूरियाँ एवं भत्ते	३०·० प्रतिशत
बोनस	६·७ ,,
भरती, तरक्की एवं छंटनी आदि	३७·० ,,
छुट्टियाँ एवं काम के घण्टे	१०·० ,,
अन्य	१६·३ ,,
कुल	१००·० ,,

इससे स्पष्ट है कि औद्योगिक संघर्ष के विभिन्न कारणों में मजदूरी, भत्ते, भरती एवं तरक्की तथा छंटनी आदि की ही प्रधानता है।

१९४७ ई० औद्योगिक संघर्ष सबसे अधिक हुए थे। इसके बाद धीरे-धीरे सरकारी प्रयत्नों के फलस्वरूप औद्योगिक संघर्षों की संख्या घटने लगी है। निम्नलिखित तालिका से गत कुछ वर्षों में औद्योगिक-संघर्षों की संख्या का अन्दाजा लगता है :—

वर्ष	संघर्षों की संख्या	मजदूरों की संख्या (हजार में)	जन-दिनों की हानि (Man-days lost) (लाख में)
१९२१	३९६	६००	७०
१९३९	४०६	४०९	४०
१९४५	८२०	७४८	३१
१९४७	१८११	१८४०	१६२·६
१९५१	१४७१	६९१	३८२
१९५७	१६३०	८२९	६४·३
१९६०	१५०६	९८३	६५·२
१९६४	२१५१	१००२	७७·२
१९६६	२५५६	१४१०	१३८·५

१९३१ ई० के बाद जितनी भी हड़तालें हुई थीं उनमें १९३४ ई० में बम्बई में सूती-वस्त्र उद्योग की हड़ताल सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण थीं। इस हड़ताल में १,९०,००० मजदूर सम्मिलित

1. Recent Developments in certain aspects of the Indian Economy-II P.14.

थे तथा ७७·५ लाख जन-दिनों की हानि हुई थी। इस हड़ताल का प्रमुख कारण बोनस था। १९२८ ई० में २०३ हड़तालें हुई थीं जिनमें से १११ बम्बई तथा ६० बंगाल में हुई थीं। इनमें से १०० हड़ताल केवल सूती एवं ऊनी वस्त्र-उद्योग में हुई थी। १९३७ ई० में अधिकांश प्रांतों में कांग्रेसी सरकारों की स्थापना के बाद हड़तालों की संख्या में कुछ वृद्धि हो गयी। इस वर्ष ६७९ हड़तालें हुई थीं जिनमें लगभग २११ सूती-वस्त्र तथा जूट-उद्योग में थीं। १९४७ ई० में पुनः हड़तालों की संख्या में बहुत अधिक वृद्धि हो गयी। इस वर्ष कुल १८११ औद्योगिक संघर्ष हुए थे जिनमें १८·४ लाख मजदूर सम्मिलित थे तथा प्रायः १६२६ लाख जन-दिनों की हानि हुई थी। इसके बाद सरकारी प्रयत्नों के फलस्वरूप धीरे-धीरे संघर्षों की संख्या भी घटने लगी। साथ ही, सरकारी हस्तक्षेप के कारण श्रमिकों की मजदूरी, बोनस तथा काम करने की दशाओं में भी सुधार होने लगा। मालिकों एवं मजदूरों के झगड़े को शांत करने के लिए औद्योगिक अदालतों ने भी महत्त्वपूर्ण सहयोग प्रदान किया है। किन्तु १९५० ई० में पुनः बम्बई राज्य के सूती-वस्त्र कारखानों में एक आम हड़ताल हुई जिसमें १०८ लाख जन-दिनों की हानि हुई। इसके बाद जन-दिनों की हानि का स्तर प्रायः एक समान रहा है।

औद्योगिक संघर्षों की रोक-थाम एवं निपटारा

(Prevention and Settlement of Industrial Disputes)

औद्योगिक संघर्षों का प्रभाव श्रम एवं पूँजी पर ही नहीं पड़ता, वरन् इससे सम्पूर्ण समाज को क्षति उठानी पड़ती है। अतः, राज्य द्वारा इनकी रोक-थाम एवं निपटारा (Prevention and Settlement) आवश्यक है। समय-समय पर राज्य द्वारा औद्योगिक शांति बनाये रखने के लिए विभिन्न विधान बनाये गये हैं। इन विधानों द्वारा संघर्षों से सम्बन्धित पक्षों के बीच समझौता मध्यस्थता एवं फैसले की व्यवस्था की जाती है।

औद्योगिक संघर्ष अधिनियम, १९२९ ई० (Trade Disputes Act, 1929) :— औद्योगिक संघर्षों के निपटारा के लिए सर्वप्रथम १९२९ ई० में एक औद्योगिक संघर्ष अधिनियम बनाया गया। इस अधिनियम के अनुसार एक अथवा दोनों दलों की इच्छा मालूम होने पर जाँच-समिति अथवा समझौता परिषदों की नियुक्ति की व्यवस्था की गयी। साथ ही, आकस्मिक तथा सहानुभूतिजनित हड़तालों को अवैध करार दिया गया। औद्योगिक संघर्षों के अतिरिक्त अन्य किसी भी प्रश्न पर हड़ताल को दण्डनीय अपराध घोषित किया गया। जनोपयोगी (Public utility) सेवाओं में हड़ताल के लिए १४ दिनों की पूर्व नोटिस देने की व्यवस्था की गयी।

इस प्रकार १९२९ ई० के अधिनियम द्वारा ऐच्छिक समझौते की व्यवस्था की गयी। औद्योगिक शांति के लिए ऐच्छिक समझौते का निस्संदेह बहुत बड़ा महत्त्व है। किन्तु इस अधिनियम को बहुत कारणों से पर्याप्त सफलता नहीं मिल पायी। १९२९-३२ ई० के बीच प्रायः ५०० संघर्ष हुए। किन्तु, इनमें केवल दो के लिए ही जाँच समिति तथा दो के लिए समझौता बोर्डों का निर्माण किया गया। इससे इस अधिनियम की सफलता का अन्दाजा लगता है। वास्तव में, इस अधिनियम की सबसे बड़ी कमी औद्योगिक संघर्षों की सुनवाई के लिए स्थायी प्रबन्ध का अभाव थी; यह अधिनियम ब्रिटिश ट्रेड डिस्प्युट्स ऐक्ट, १९२७ पर आधारित था। श्रम आयोग के अनुसार इस अधिनियम में ब्रिटिश ऐक्ट की कम महत्त्वपूर्ण बातों को ही प्रधानता दने

का प्रयास किया गया था। अधिक महत्त्वपूर्ण बातों के सम्बन्ध में कोई व्यवस्था नहीं की गयी थी।[1]

१९३४ ई० में बम्बई में एक औद्योगिक संघर्ष समझौता अधिनियम (Bombay Trade Disputes Conciliation Act) पारित हुआ जिसके अनुसार औद्योगिक झगड़ों के समझौते की व्यवस्था की गयी। प्रारम्भ में यह अधिनियम केवल बम्बई शहर तथा आस-पास के सूती-वस्त्र के कारखानों में ही लागू किया गया था, किन्तु बाद में प्रांत के अन्य भागों में भी इसे लागू करने की व्यवस्था की गयी। पुन: १९३८ ई० में बम्बई में कांग्रेसी शासन काल में एक औद्योगिक संघर्ष अधिनियम (Industrial Disputes Act, 1938) पारित हुआ। इस अधिनियम के अनुसार श्रमिक संघों को तीन वर्गों में विभाजित किया गया। इसके अनुसार जबतक समझौते एवं मध्यस्थ निर्णय के सभी उपचार असफल न हो जायँ, हड़ताल एवं तालेबन्दी को अवैध करार किया गया। संघर्ष प्रारम्भ होने के पूर्व ही समझौते की व्यवस्था की जानी चाहिये। इस अधिनियम में एक औद्योगिक न्यायालय की व्यवस्था भी की गयी।

भारत सरकार द्वारा इस बीच औद्योगिक शांति के लिए कोई प्रयत्न नहीं किया गया। द्वितीय महायुद्ध काल में भारत सुरक्षा अधिनियम के अन्तर्गत उद्योगों में हड़ताल एवं तालेबंदियों को रोक दिया गया। किन्तु, १९४७ ई० में स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद सरकार ने देश में औद्योगिक शांति बनाये रखने के लिए कुछ नये तरीके निकालने का प्रयत्न आरम्भ किया। युद्ध के बाद में औद्योगिक अशांति बहुत अधिक बढ़ गयी तथा सर्वत्र हड़ताल एवं तालेबन्दी की बात सुनने में आने लगी। अत: भारत सरकार द्वारा १९४७ ई० में एक औद्योगिक संघर्ष अधिनियम पारित किया गया।

१९४७ ई० का औद्योगिक संघर्ष अधिनियम :—इस अधिनियम के अनुसार १०० से अधिक श्रमिक वाले औद्योगिक संस्थानों में श्रम समितियों (Work Committees) की व्यवस्था की गयी। इन समितियों में सेवायोजक तथा श्रमिक दोनों के बराबर प्रतिनिधि रहते हैं। इनका काम मालिकों तथा मजदूरों के बीच होनेवाले मतभेदों के कारणों को दूर करने का प्रयास करना है। १९६७ ई० के अन्त में केन्द्रीय संस्थानों में ९७२ श्रम-समितियों का निर्माण हो चुका था। इसके अतिरिक्त इस अधिनियम के अनुसार सरकारें समझौता अधिकारियों (Conciliation officers), समझौता परिषदों (Board of Conciliations) एवं जाँच अदालतों की भी नियुक्ति करती हैं। इस अधिनियम के अनुसार राज्यों में श्रम-न्यायालयों की स्थापना का आयोजन है। प्रभावित श्रमिकों की संख्या १०० से कम रहने पर ही झगड़ों को इन न्यायालयों में भेजा जाता है। जब प्रभावित श्रमिकों की संख्या इससे अधिक रहती है तो इन झगड़ों को राज्य सरकारें औद्योगिक अदालत (Industrial Tribunals) तथा भारत सरकार राष्ट्रीय अदालत (National Tribunal) के पास भेजती है। इन अदालतों का निर्णय दोनों दलों को कम-से-कम एक वर्ष के लिए मान्य होगा। समझौतों की सुनवाई तथा मान्यता की अवधि में हड़ताल एवं तालेबन्दियाँ वर्जित हैं। १९५० ई० के एक संशोधन द्वारा औद्योगिक अदालतों के विरुद्ध अपील

1. "The Act had tried to copy the less valuable part of the machinery employed in Great Britain while ignoring its more valuable part."

के लिए केन्द्रीय सरकार द्वारा एक स्थायी श्रम अपील अदालत (Labour Appellate Tribunal) की नियुक्ति की गयी।

इस अधिनियम के अनुसार साधारण एवं जनोपयोगी उद्योगों में भेद किया गया है। साधारण उद्योगों में झगड़ों के निपटारा के लिए सरकार तभी हस्तक्षेप करती है जब दोनों दलों के बहुसंख्यक व्यक्ति इस बात के लिए सरकार से सिफारिश करें। किन्तु जनोपयोगी उद्योगों के लिए सरकार सभी परिस्थितियों में हस्तक्षेप करने के लिए तैयार होगी तथा शान्ति के लिए आवश्यकतानुसार कार्यवाही करेगी। १९४७ ई० का यह अधिनियम भारत में औद्योगिक शान्ति के लिए निस्सन्देह पहला प्रमुख प्रयत्न है। इसके द्वारा सरकार ने देश में औद्योगिक शान्ति कायम रखने के लिए सर्वप्रथम प्रयत्न प्रारम्भ किया।

किन्तु, इस अधिनियम के द्वारा सरकार ने मजदूरों से उनके हड़ताल का अधिकार छीन लिया। मजदूरों के पास यही एक ऐसा अधिकार था जिससे वे पूँजीपतियों के शोषण एवं अत्याचार से अपनी रक्षा करते थे। देश में उत्पादन-वृद्धि के लिए औद्योगिक शान्ति निस्सन्देह आवश्यक है, किन्तु इस उद्देश्य से भूखे एवं नंगे मजदूरों से हड़ताल का अधिकार छीन लेना अच्छा नहीं जँचता। एक राष्ट्रीय सरकार के लिए यह उचित नहीं जान पड़ता। औद्योगिक संघर्ष केवल भारत के लिए ही नयी चीज नहीं है, यह पूँजीवादी उत्पादन व्यवस्था की एक प्रमुख विशेषता है। पूँजीवादी उत्पादन-व्यवस्था में मजदूरी एवं काम की दशाओं में सुधार लाने के लिए हड़ताल ही मजदूरों की सबसे बड़ी शक्ति है। इनके ऊपर अनिवार्य समझौता (Compulsory arbitration) को लादना इनके इस जन्म-सिद्ध अधिकार को छीन लेना है। युद्ध-काल या किसी अन्य राष्ट्रीय संकट की स्थिति में इस नीति का अनुकरण किया जा सकता है, किन्तु सामान्यतः अनिवार्य समझौता द्वारा औद्योगिक शान्ति नहीं कायम की जा सकती है।

१९५६ ई० का औद्योगिक संघर्ष अधिनियम :—१९५६ ई० में एक औद्योगिक संघर्ष (संशोधन) अधिनियम पारित हुआ जिसके अनुसार समझौता की प्रक्रिया को कुछ सुगम बनाया गया है। इस संशोधन के अनुसार श्रमिकों की श्रेणी में ५०० रुपये से कम मासिक वेतन पाने वाले सभी औद्योगिक कार्यकर्त्ताओं को रखा गया है। इसके अनुसार श्रम अपील अदालतों को भंग कर दिया गया तथा तीन प्रकार के न्यायालयों की स्थापना की गयी है—(क) श्रमिक न्यायालय, (ख) औद्योगिक न्यायालय, तथा (ग) राष्ट्रीय न्यायालय। इन सभी न्यायालयों के क्षेत्र निर्धारित कर दिये गये हैं तथा इनके फैसलों के विरुद्ध किसी प्रकार की अपील की व्यवस्था नहीं है। सरकार इन फैसलों में परिवर्तन कर सकती है, परिवर्तन-सम्बन्धी आज्ञाओं को सदन के समक्ष १५ दिन के अन्दर ही रखना होगा। संसद् इसे अस्वीकार भी कर सकती है। इस प्रकार वास्तविक निर्णय संसद् के हाथ में ही है।

इस प्रकार भारत जैसे विकासोन्मुख आर्थिक व्यवस्था वाले देश के लिए उत्तम औद्योगिक सम्बन्ध आवश्यक है। द्रुतगति से औद्योगिक विकास के लिए श्रमिक एवं मालिकों के बीच जब तक उत्तम सम्बन्ध न रहेगा तब तक देश में औद्योगिक शांति नहीं रह सकती। औद्योगिक शांति बनाये रखने के लिए आजकल आम तौर पर यह सुझाव दिया जाता है कि मजदूरों को भी कारखानों की व्यवस्था से सम्बन्धित करना चाहिए। १९५६ ई० में भारतीय श्रम-परिषद् ने

पर विचार किया तथा कुल कारखानों में इसे लागू करने की बात भी तय की जा चुकी है। वास्तव में, जब तक विकास के कार्य में श्रम अपने को भागीदार नहीं समझेगा तब तक देश के औद्योगिक विकास में निस्सन्देह कठिनाई होगी।

विशेष अध्ययन-सूची

1. S. D. Puneker : Trade Unionism in India.
2. V. B. Karnik : Indian Trade Unions : A Survey
3. V. V. Giri : Labour Problem in Indian Industry, Chaps. VI & VII
4. Indian Labour Year Book. 1963, Ch. IV.
5. Fourth Five Year Plan. Ch. XV.
6. Govt. of India : Report of the Labour Commission, 1969.

अध्याय : ३५

श्रम-कल्याण एवं सामाजिक सुरक्षा

(Labour Welfare and Social Security Measures)

श्रम-कल्याण (Labour Welfare) :—मजदूरों की सामाजिक एवं मानसिक उन्नति के लिए उन्हें विभिन्न प्रकार की सुविधाएँ प्रदान करना अनिवार्य है। केवल वेतन तथा काम के घण्टों के निर्धारण से ही इनकी उन्नति नहीं हो सकती। अतः इनके लिए विभिन्न प्रकार की सुविधाओं का आयोजन आवश्यक हो जाता है। श्रमिकों के लिए विभिन्न प्रकार की सुविधाओं के आयोजन को ही श्रम कल्याण (Labour Welfare) कहा जाता है। अन्तर्राष्ट्रीय श्रम-संगठन के अनुसार श्रम-कल्याण कार्यों का उद्देश्य श्रमिकों के लिए उनके वातावरण में ऐसी सेवाओं तथा सुविधाओं की व्यवस्था करना है जिनसे कारखानों में वे उचित ढंग से कार्य कर सकें। इन सुविधाओं से श्रमिकों के स्वास्थ्य में उन्नति होगी तथा उनकी कार्यक्षमता में भी वृद्धि होगी। १९३७ ई० में अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संगठन के एक प्रस्ताव में श्रम-कल्याण के अन्तर्गत जलपान-गृह, आराम तथा खेल-कूद की सुविधाएँ, दवा-दारू की व्यवस्था तथा इनके आने-जाने के लिए सवारी आदि के प्रबन्ध को रखा गया था। श्रम-जाँच समिति ने अपने प्रतिवेदन में श्रम-कल्याण के अन्तर्गत श्रमिकों के बौद्धिक, शारीरिक, नैतिक एवं आर्थिक विकास के साधनों को रखा था। इसके अनुसार श्रम-कल्याण कार्यों के अन्तर्गत आवास-व्यवस्था, सहकारी समितियाँ, मातृ-सेवा एवं शिशु-गृह, शौचालय की व्यवस्था, सामाजिक बीमा तथा प्रोविडेंट फण्ड आदि आ जाते हैं।

इस प्रकार आज श्रम-कल्याण का विस्तृत अर्थ में प्रयोग किया जाता है। इसके अन्तर्गत कारखानों के अन्दर तथा बाहर दोनों प्रकार की सुविधाएँ आती हैं। भारतीय कारखानों के अन्दर कल्याण-कार्य के अन्तर्गत वैज्ञानिक तरीके से भरती, कारखानों में स्वच्छता, प्रकाश एवं वायु तथा दुर्घटनाओं के रोक-थाम की व्यवस्था की जानी चाहिए। श्रमिकों की नियुक्ति एवं तरक्की के लिए जिस पद्धति का अनुसरण किया जा रहा हो, वह पूर्व निश्चित एवं वैज्ञानिक होनी चाहिए। कारखानों में प्रायः यह देखा जाता है कि श्रमिकों को अपनी नौकरी बनाये रखने के लिए विभिन्न प्रकार के मध्यस्थों की सेवा करनी पड़ती है जिससे उनकी कार्यक्षमता घट जाती है। कारखानों के बाहर श्रमिकों के लिए गृह-व्यवस्था, शिक्षा की समुचित व्यवस्था, चिकित्सा, भोजन, मनोरंजन तथा सहकारी समितियों का प्रबन्ध आदि कल्याण कार्यों के अन्तर्गत आते हैं।

भारत में निम्नलिखित कारणों से श्रम-कल्याण कार्य अत्यधिक महत्त्वपूर्ण हो जाते हैं :—

(१) श्रमिकों की प्रवासी प्रवृत्ति :—भारत में अन्य देशों की तरह औद्योगिक श्रमिकों का एक दृढ़ वर्ग उत्पन्न नहीं हुआ है। यहाँ के मजदूर हृदय से किसान होते हैं और मौका मिलने

पर गाँवों में वापस जाना चाहते हैं। उनका गाँवों से सम्बन्ध-विच्छेद नहीं हो पाता है। इसलिए औद्योगिक केन्द्रों में उनके लिए भोजन, मकान व मनोरंजन आदि की सुविधाएँ बढ़ाकर आकर्षण उत्पन्न किया जाना आवश्यक है। ऐसा करने से मजदूर अपने आपको औद्योगिक वातावरण के अनुकूल बना सकेंगे।

(२) सुदूर स्थानों में कल्याण कार्य आवश्यक :—उन बगानों, खानों व अन्य छोटे-छोटे उद्योगों में जो एकान्त स्थानों में स्थित है, विशेष रूप से कल्याण कार्यों की आवश्यकता होती है, वहाँ यातायात व दैनिक उपभोग की वस्तुओं की व्यवस्था करनी होती है।

(३) श्रम-संघों की धीमी प्रगति :—भारत के श्रम-संघों ने मजदूरों के कल्याण के लिए विशेष कार्य नहीं किया है, इसलिए कल्याण-कार्य सरकार एवं मालिकों द्वारा ही किया जाना चाहिए।

(४) श्रमिकों का निम्न जीवन-स्तर :—भारतीय मजदूरों का जीवन-स्तर बहुत निम्न होता है; इसलिए कल्याण-कार्यों के द्वारा उनके लिए पौष्टिक भोजन, अच्छा मकान, शिक्षा एवं चिकित्सा आदि की व्यवस्था की जाती है। कल्याण-कार्यों के अभाव में उन्हें ये सुविधाएँ नहीं मिल सकेंगी।

इस प्रकार उपरोक्त कारणों से भारत में श्रम-कल्याण कार्य का महत्त्व बहुत अधिक स्पष्ट हो जाता है।

हमारे देश में श्रम-कल्याण का आयोजन मुख्यतः तीन प्रकार के व्यक्तियों अथवा संस्थाओं द्वारा किया जाता है :—(१) उद्योगपति, (२) सरकार, एवं (३) श्रमिक-संघ।

उद्योगपतियों द्वारा आयोजित श्रम-कल्याण कार्य :—श्रमिकों के कल्याणार्थ कुछ मिल-मालिक प्रारम्भ से ही थोड़ा बहुत कार्य करते आ रहे हैं। उदाहरण के लिए बम्बई के अधिकांश सूती-वस्त्र के कारखानों में चिकित्सालय एवं जलपान गृहों की व्यवस्था है। इनके अतिरिक्त सहकारी समितियाँ, अनाज की सस्ती दूकानें, वयस्क पाठशाला तथा प्रोविडेन्ट फण्ड आदि की व्यवस्था भी की गयी है। कुछ कारखानों में बोर्डिङ्ग हाउस भी स्थापित किये गये हैं जिनमें श्रमिकों को सस्ता खाना मिलता है। अहमदाबाद की सूती मिलों में भी इस प्रकार की व्यवस्था की गयी है। इस दृष्टि से नागपुर के एम्प्रेस मिल, मद्रास का बकिंघम एण्ड कर्नाटिक मिल्स, देहली क्लॉथ एण्ड जेनरल मिल्स, बंगलोर वूलियन कॉटन एण्ड सिल्क मिल आदि ने अत्यन्त ही प्रशंसनीय कार्य किया है।

उद्योगपतियों की संस्थाओं में भारतीय जूट मिल संघ (Indian Jute Mill Association) ने श्रमिकों के कल्याणार्थ बहुत-से बहुमूल्य कार्य किये हैं। संघ की ओर से कई श्रम-कल्याण केन्द्र स्थापित किये गये हैं जिनमें श्रमिकों के कल्याणार्थ बहुत-से कार्य किये जाते हैं। संघ की ओर से प्राथमिक पाठशाला, वाचनालय तथा खेल-कूद की व्यवस्था भी की जाती है। औरत श्रमिकों के लिए महिला-कल्याण समिति है। जूट मिलों में व्यक्तिगत रूप से भी श्रम-कल्याण के कार्यों का आयोजन किया गया है। प्रायः सभी जूट की मिलों में चिकित्सालयों की व्यवस्था है। कुछ मिलों में मातृ-केन्द्र की व्यवस्था भी है। जूट की ५१ मिलों में शिशु-गृह एवं ४५ मिलों में जलपान-गृह का आयोजन किया गया है। इसी प्रकार ऊनी तथा रेशमी वस्त्र की बड़ी-बड़ी मिलों में भी श्रम-कल्याण कार्यों का आयोजन किया गया है।

टाटा आयरन एण्ड स्टील कम्पनी द्वारा श्रम-कल्याण का बहुत बड़े पैमाने पर आयोजन किया गया है। कम्पनी की ओर से ४०० बेड वाला एक बहुत बड़ा अस्पताल है, मातृ-केन्द्रों की भी व्यवस्था है, ३ हाई स्कूल, १० मिड्ल स्कूल तथा अनेक प्राथमिक विद्यालय हैं। कम्पनी की ओर से एक विशाल क्रीड़ा-स्थल, जलपान-गृह तथा मुफ्त सिनेमा की भी व्यवस्था है। इसके अतिरिक्त श्रमिकों के लिए निवास-स्थान, सहकारी उपभोक्ता भण्डार तथा डाकखाने की व्यवस्था है। इसी प्रकार टाटा कम्पनी द्वारा श्रम-कल्याण की आदर्श व्यवस्था की गयी है।

रेलवे विभाग द्वारा भी कर्मचारियों के कल्याणार्थ चिकित्सालयों, स्कूलों, जलपान-गृहों तथा एक्स-रे आदि का आयोजन किया गया है। रेलवे विभाग द्वारा कर्मचारियों को सस्ती दरों पर अनाज देने की भी व्यवस्था की गयी है। कोयला तथा अभ्रक की खानों में भी श्रम-कल्याण के विभिन्न कार्यों का आयोजन किया गया है। इनमें कानून द्वारा श्रमिक-कल्याण कोष का निर्माण किया गया है जिससे श्रमिकों के कल्याणार्थ बहुत से कार्य किये जाते हैं। कोलार के सोने की खानों में भी श्रमिकों के लिए बहुत-से हितकर कार्य किये जा रहे हैं।

श्रमिक-संघों द्वारा आयोजित कल्याण-कार्य :—कुछ श्रमिक संघों ने भी छोटे पैमाने पर श्रम-कल्याण कार्यों का आयोजन किया है। इन संघों द्वारा किये जानेवाले कल्याण-कार्यों में 'टेक्सटाइल लेबर एशोसियेशन' अहमदाबाद के कार्य विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इनके अतिरिक्त मजदूर सभा, कानपुर तथा मिल मजदूर संघ, इन्दौर ने भी बहुत-से उल्लेखनीय कार्य किये हैं। इन संघों द्वारा पुस्तकालय, चिकित्सालय तथा वाचनालय आदि की व्यवस्था की जाती है। किन्तु, आवश्यक धन के अभाव में श्रम-संघों का कार्य बहुत ही सीमित हो जाता है।

सरकार द्वारा आयोजित श्रम-कल्याण कार्य :—द्वितीय महायुद्ध के बाद से केन्द्रीय तथा राज्य सरकारों ने भी श्रम-कल्याण कार्यों में क्रियात्मक रूप से भाग लेना प्रारम्भ कर दिया है। १९४८ ई० के कारखाना अधिनियम, १९५२ ई० के खान अधिनियम तथा १९५१ ई० के बगान अधिनियम में श्रम-कल्याण के उद्देश्य से विभिन्न प्रकार की सुविधाओं की व्यवस्था को अनिवार्य बनाया गया है। इन अधिनियमों के अन्तर्गत अनेवाली संस्थाओं में चिकित्सालयों, जलपान-गृहों, आराम गृहों, शिशु-गृहों तथा काम के घण्टे निश्चित करने की व्यवस्था की गयी है। कल्याण कार्यों के लिए एक विशेष कोष की स्थापना का आयोजन है जिसे श्रमिकों के कल्याण पर खर्च किया जायगा। ५०० या अधिक श्रमिकवाले सभी कारखानों में श्रम-कल्याणकारी अफसरों की नियुक्ति को भी अनिवार्य बना दिया गया है।

१९४४ ई० में कोयले की खानों में काम करनेवाले मजदूरों के कल्याण के लिए एक कोयला खान श्रमिक कल्याण कोष (Coal Mines Labour Welfare Fund) स्थापित किया गया, जो श्रमिकों की शिक्षा, चिकित्सा तथा मनोरंजन आदि की सुविधा की व्यवस्था करता है। इस कोष द्वारा ३ केन्द्रीय अस्पतालों, १२ प्रादेशिक अस्पताल-सह-मातृत्व केन्द्रों, २ गतिशील चिकित्सालयों, ५३ मातृत्व-सह-शिशु कल्याण केन्द्रों तथा ४ टी० बी० केन्द्रों की व्यवस्था की गयी है। इनके अतिरिक्त इस कोष द्वारा वयस्क शिक्षा केन्द्र, महिला कल्याणकारी केन्द्र तथा शिशु-क्रीड़ा स्थल आदि की भी व्यवस्था की गयी है। इस कोष से श्रमिकों के लिए औद्योगिक गृहों के निर्माण की भी व्यवस्था की जाती है। खानों से भेजे जानेवाले कोयले पर एक विशेष प्रकार का कर लगाया

जाता है जिससे प्राय: दो करोड़ रुपये की वार्षिक आय होती है। कोष की आय का यही प्रधान साधन है। १९६३-६४ ई० में इस कोष की आय ३२८·५ लाख रुपये तथा कल्याण-कार्यों एवं गृह-निर्माण पर अनुमानित व्यय २९८·१ लाख रुपये था।

अभ्रक खान उद्योग श्रमिक-कल्याण कोष (Mica Mines Labour Welfare Fund) .—इसी आधार पर अभ्रक की खानों में काम करनेवाले श्रमिकों के लिए भी एक अभ्रक खान-उद्योग श्रमिक-कोष (Mica Mines Labour Welfare Fund) की स्थापना की गयी है। इस कोष द्वारा अभी तक दो अस्पताल प्रारम्भ किये गये हैं तथा बहुत-से चिकित्सालय एवं प्रसूति गृहों का निर्माण किया गया है। इनके अतिरिक्त इस कोष द्वारा अनेक प्राथमिक स्कूलों की व्यवस्था भी की गयी है तथा पुस्तकें एवं छात्रवृत्तियाँ प्रदान की जाती हैं। १९७०-७१ ई० में इस कोष द्वारा अभ्रक उत्पादक राज्यों में १२ लाख रुपये आन्ध्र प्रदेश को, २३ ९ लाख रुपये बिहार को तथा ११·५ लाख रुपये राजस्थान को दिया गया था।

मोटर यातायात श्रमिक अधिनियम (Motor Transport Workers' Act) :—मोटर यातायात में कार्य करनेवाले श्रमिकों के कल्याण तथा इनके कार्य करने की दिशाओं में सुधार के लिए मई, १९६१ ई० में एक मोटर यातायात श्रमिक अधिनियम बनाया गया। इस अधिनियम में श्रमिकों के लिए कैन्टीन, आराम-गृह, वर्दी, कार्य के घण्टे तथा छुट्टी आदि की व्यवस्था भी की गयी है।

लौह खनिज श्रमिक-कल्याण अधिनियम (Iron Ore Mines' Labour Welfare Act) :—लोहे की खानों में कार्य करनेवाले मजदूरों के कल्याण के लिए १९६१ ई० में The Iron Ore Mines Labour Welfare Act, 1961 बनाया गया। इसके अनुसार कोयला तथा अभ्रक की ही तरह लोहे को खानों से निकाले गये लोहे पर भी एक प्रकार का कर लगाया जाता है जिससे प्राप्त रकम को इन खानों में कार्य करनेवाले श्रमिकों की भलाई पर खर्च किया जाता है। अक्टूबर, १९६३ ई० मे इस अधिनियम को लागू किया गया है तथा प्रारम्भ में २५ पैसे प्रति मेट्रिक टन का एक कर लगाया जाता है। १९७०-७१ में कोष द्वारा कल्याण कार्यों पर ७७ लाख रुपये व्यय किया गया।

बगानों में काम करनेवाले श्रमिकों के कल्याण के लिए Plantations Labour Act, 1961 ई० में व्यवस्था की गयी है। इस अधिनियम के अनुसार मिल-मालिकों को बगानों में काम करनेवाले श्रमिकों को आवास की सुविधा प्रदान करनी पड़ती है। साथ ही, श्रमिकों के लिए चिकित्सा, मनोविनोद तथा जलपान आदि की सुविधा भी देनी पड़ती है। श्रमिकों के लिए शिक्षा की व्यवस्था भी करनी पड़ती है। इस प्रकार इस अधिनियम के अनुसार बगानों में काम करनेवाले श्रमिकों को विभिन्न प्रकार की सुविधाएँ प्रदान की जाती हैं।

अधिकांश राज्य सरकारों द्वारा श्रम-कल्याण केन्द्र स्थापित किये गये हैं जिनमें श्रमिकों की शिक्षा, व्यायामशाला, वाचनालय, पुस्तकालय तथा मनोरंजन आदि की व्यवस्था की जाती है। १९५४-५५ ई० में इस प्रकार के प्राय: २०० श्रम-कल्याण केन्द्र कार्य करते थे। बम्बई में इस प्रकार के प्राय: ५४ केन्द्र कार्य कर रहे हैं। महाराष्ट्र सरकार द्वारा १९५३ ई० में 'श्रम-कल्याण कोष अधिनियम' पारित हुआ जिसमें श्रमिकों पर लगाये जानेवाले जुर्माने तथा दान वगैरह की रकम जमा की जाती है। अन्य राज्यों में भी इस प्रकार के कल्याण-केन्द्रों की स्थापना की गयी है। हाल में ही एक 'केन्द्रीय कल्याण-बोर्ड' तथा कुछ राज्यों में 'राज्य कल्याण-बोर्ड' की स्थापना की गयी है।

इस प्रकार केन्द्रीय विभिन्न तथा राज्य सरकारों द्वारा श्रम-कल्याण के बहुत-से कार्य किये जाते हैं। किन्तु, इन कार्यों के सफल सम्पादन के लिए सुयोग्य एवं ईमानदार कर्मचारियों की अवश्यकता है। भारत जैसे देश में, जहाँ अधिकांश श्रमिक अशिक्षित तथा अपने अधिकारों से पूर्णत: अनभिज्ञ हैं, श्रम-कल्याण कार्यों की वास्तविक सफलता इन कर्मचारियों की योग्यता एवं ईमानदारी पर ही निर्भर करती है।

निष्कर्ष

भारत में श्रम-कल्याण कार्यों के अध्ययन से यह स्पष्ट है कि यहाँ श्रम-कल्याण की सुविधाओं में विविधता पायी जाती है। एक प्रदेश से दूसरे प्रदेश में, एक उद्योग से दूसरे उद्योग में एवं एक ही उद्योग की विभिन्न इकाइयों में कल्याण कार्यों में भी अन्तर पाया जाता है। कल्याण कार्यों की सफलता पर्याप्त कोष पर निर्भर करती है। भारत में श्रम-कल्याण कार्य को आगे बढ़ाने के लिए मुख्य रूप से निम्नलिखित सुझाव दिये जा सकते हैं—

(१) १९४८ ई० के कारखाना अधिनियम की श्रम-कल्याण-सम्बन्धी धाराओं का पूरा-पूरा पालन किया जाय।

(२) विभिन्न उद्योगों में विभिन्न प्रकार के कल्याण कार्यों को प्राथमिकता दी जाय जैसे—बगान-मजदूरों को विशेषतया मकान की सुविधा खान मजदूरों को मकान, शिक्षा व दवा की सुविधाएँ एवं जहाँ स्त्रियाँ कार्य करती हैं वहाँ मातृत्व एवं शिशु-गृहों की स्थापना पर विशेष जोर दिया जाय। इस सम्बन्ध में विस्तृत जाँच की आवश्यकता है।

(३) मजदूरों को कल्याण समितियों में अधिक-से-अधिक भाग लेने का अवसर दिया जाय ताकि कल्याण-कार्यों में तीव्रगति से प्रगति हो सके।

(४) श्रम कल्याण पदाधिकारियों (Labour Welfare Officers) के चुनाव में अत्यधिक सावधानी से कार्य लेना चाहिए। इस पद पर वे ही व्यक्ति नियुक्त किये जायँ जो मजदूरों का विश्वास प्राप्त कर सकें एवं अच्छे प्रशासक हो सकें। उन्हें मजदूरों के कल्याण में वास्तविक रुचि अथवा उत्साह होना चाहिए।

(५) कोयला एवं अभ्रक की खानों के कोषों की तरह अन्य खनिजों के लिए कोष भी स्थापित किये जायँ।

(६) केन्द्रीय एवं राज्य सरकारों द्वारा अधिक संख्या में कल्याण-केन्द्रों की स्थापना की जानी चाहिए।

(७) मजदूरों की सहकारी समितियाँ बनायी जायँ और सहकारिता के आधार पर मकान-निर्माण, साख व उपभोग की वस्तुएँ प्राप्त करने की व्यवस्था की जाय।

(८) मालिकों द्वारा अनिवार्य रूप से प्रदान की जाने वाली सुविधाओं में कल्याण-कार्यों को पूर्णतया स्पष्ट किया जाय और उनको अपनी जिम्मेवारी निभाने के लिए प्रेरित किया जाय।

(९) श्रम-संघ को कल्याण-कार्यों में अधिक रुचि लेनी चाहिए।

(१०) सरकारी उद्योगों में कार्य करनेवाले मजदूरों से कल्याण-कार्यों की उचित व्यवस्था करके उद्योगपतियों के समक्ष आदर्श उपस्थित किया जाना चाहिए।

औद्योगिक गृह
(Industrial Housing)

भारत के प्रायः सभी बड़े-बड़े औद्योगिक नगरों में निवास-स्थान के अभाव की समस्या पायी जाती है। अधिकांश मजदूर गन्दी बस्तियों के गन्दे वातावरण में अपना जीवन व्यतीत करते

हैं। बम्बई के चालों, कानपुर के अहातों तथा कलकत्ता की गन्दी बस्तियों को देखने से मजदूरों की इस दर्दनाक स्थिति का अंदाजा लगाया जा सकता है। एक छोटे-से अंधेरे कमरे में कई मजदूर अपना कार्य चलाते हैं। निवास-स्थान की असुविधा का मजदूरों की कार्य-क्षमता तथा स्वास्थ्य पर बड़ा ही बुरा प्रभाव पड़ता है। जमशेदपुर तथा डालमियानगर के नये औद्योगिक नगरों में एवं हार्वे मिल, जे० सी० मिल, ग्वालियर तथा कानपुर में ब्रिटिश इण्डिया कारपोरेशन द्वारा श्रमिकों के लिए अच्छे गृहों की व्यवस्था अवश्य की गयी है, किन्तु इन्हें अपवादस्वरूप समझना ही अधिक उचित होगा। अधिकांश केन्द्रों में श्रमिक गन्दी झोपड़ियों के गन्दे वातावरण में ही अपना जीवन व्यतीत करते हैं। इस प्रकार के गन्दे, अनुपयुक्त एवं सुविधाहीन घरों में श्रमिकों का जीवन नीरस एवं आनन्द-रहित हो जाता है। अतः इनके जीवन को सुखमय बनाने तथा इनकी कार्य-क्षमता में वृद्धि के लिए अच्छे प्रकार के सुधरे हुए घरों की व्यवस्था अनिवार्य है।

औद्योगिक श्रमिकों के लिए आवास-स्थान की व्यवस्था उद्योगपतियों, श्रमिक-संघ तथा सरकार द्वारा की जा सकती है। भारत में श्रमिक-संघों के पास आवश्यक कोष के अभाव में वे इस प्रकार की सुविधा नहीं प्रदान कर सकते हैं। कुछ उद्योगपतियों ने अपने कारखानों में काम करनेवाले श्रमिकों के लिए घर बनाने का आयोजन किया है। किन्तु इस सम्बन्ध में आजकल सरकार द्वारा विशेष प्रयत्न किये जा रहे हैं। अप्रैल, १९४८ ई० में भारत सरकार ने अपनी औद्योगिक नीति-सम्बन्धी प्रस्ताव में दो वर्षों के बीच २० लाख औद्योगिक गृहों के निर्माण के एक कार्यक्रम की घोषणा की थी जिसका व्यय सरकार, मिल-मालिकों तथा श्रमिकों द्वारा एक निश्चित प्रतिशत में पूरा किया जाने को था। इस उद्देश्य से एक गृह-परिषद् (Housing Board) बनाने का भी निश्चय किया गया था। किन्तु राज्य सरकारों की अकर्मण्यता के कारण इस कार्यक्रम को कार्यान्वित नहीं किया जा सका। अतः दिसम्बर, १९५२ ई० में सरकार ने सहायता प्राप्त औद्योगिक आवास कार्यक्रम (Subsidised Industrial Housing Scheme) को अपनाया जिसके अनुसार कारखाना अधिनियम, १९४८ ई० तथा खान अधिनियम, १९५२ ई० (कोयला तथा अभ्रक को खानों को छोड़कर) के अन्तर्गत आनेवाले औद्योगिक मजदूरों के लिए आवास गृहों के निर्माण का एक व्यापक कार्यक्रम अपनाया गया। इस कार्यक्रम के अन्तर्गत केन्द्रीय सरकार द्वारा राज्य सरकारों, उद्योगपतियों तथा सहकारी समितियों को औद्योगिक मजदूरों के लिए घर बनाने के उद्देश्य से ऋण एवं अनुदान देने का आयोजन है। १९६३ ई० के अन्त तक केन्द्रीय सरकार द्वारा इस उद्देश्य से दिये गये ऋण एवं अनुदान का अन्दाजा निम्नलिखित तालिका[1] से लगाया जा सकता है :—

साधन	(करोड़ रुपये में) ऋण	अनुदान	कुल	स्वीकृत गृहों की संख्या
१. राज्य सरकार	२५·४७	२४·३६	४९·८३	१,३०,१८८
२. उद्योगपति	५·१५	३·००	८·१५	३२,९५७
३. श्रमिक सहकारी समितियाँ	१·४७	०·६०	२·०७	६,३१५
४. केन्द्रीय सरकार	....	....	१·०२	२,६६४
कुल	३२·०९	२७·९६	६१·०७	१,७२,१२४

1. India 1965, P. 385,

औद्योगिक गृहों के निर्माण के लिए १९५२ ई० से योजना आयोग की सिफारिशों के आधार पर सरकार ने सहायता प्राप्त औद्योगिक गृहों के निर्माण के कार्यक्रम को अपनाया। इस कार्यक्रम के अन्तर्गत प्रथम योजना काल में १३·२६ करोड़ रुपये के व्यय से ४३,८१९ गृह बनाये गये। द्वितीय योजना काल में जून, १९६१ ई० तक ८५,८३६ औद्योगिक गृहों का निर्माण किया गया। तृतीय पंचवर्षीय योजना में सहायता-प्राप्त औद्योगिक गृह कार्यक्रम के अन्तर्गत २९·८ करोड़ रुपये के व्यय से ७३,००० गृह बनाने का आयोजन था। १९६५ ई० के अन्त तक कुल मिलाकर १,६४,९३३ गृहों के निर्माण का कार्य पूरा हो गया था।

उपरोक्त तथ्यों के विवेचन से यह स्पष्ट है कि भारत सरकार की तत्परता के बावजूद उद्योगपतियों तथा औद्योगिक सहकारी समितियों ने इस कार्यक्रम से समुचित लाभ उठाने का प्रयत्न नहीं किया। औद्योगिक गृहों की योजना के सफल सम्पादन के लिए सुझाव के तौर पर यह कहा जा सकता है कि निजी क्षेत्र के प्रत्येक उद्योगों में एक संयुक्त आवास समिति होनी चाहिए जिसमें सरकार, उद्योगपतियों तथा श्रमिकों के प्रतिनिधि रहेंगे। इन सभी के सम्मिलित सहयोग से गृह-निर्माण के कार्य में तीव्रता आ जायगी जिससे श्रमिकों के आवास की समस्या का समाधान किया जा सकता है। भारत सरकार द्वारा औद्योगिक गृहों के निर्माण पर विशेष रूप से जोर दिया जा रहा है। १९५२ ई० में केन्द्र में एक पृथक् गृह मन्त्रालय (Ministry of Housing) का निर्माण किया गया। अधिकांश राज्यों में भी इस प्रकार का पृथक् मंत्रालय स्थापित किया गया है। इस प्रकार पंचवर्षीय योजनाओं के अन्तर्गत औद्योगिक गृहों के निर्माण पर विशेष रूप से जोर दिया जा रहा है।

सामाजिक सुरक्षा
(Social Security)

मानव-जीवन जोखिम तथा अनिश्चतताओं से परिपूर्ण है। पग-पग पर हमें नाना प्रकार के जोखिम तथा अनिश्चितताओं का सामना करना पड़ता है। बेकारी, बुढ़ापा, दुर्घटना तथा मृत्यु आदि सभी मानव-जीवन के साथ लगे हुए हैं। इन जोखिमों तथा अनिश्चितताओं का व्यक्तिगत रूप से सामना करना मनुष्य के लिए कठिन हो जाता है। निर्धन मजदूरों के जीवन में तो इन जोखिमों एवं अनिश्चितताओं की भयंकरता और भी गम्भीर हो जाती है। अत्यधिक गरीबी के फलस्वरूप ये थोड़े दिनों की बेकारी से भी अपनी रक्षा नहीं कर सकते हैं। साथ ही, कारखानों में काम करने से सदा इन्हें दुर्घटनाओं का भय बना रहता है। इन सभी जोखिमों एवं अनिश्चितताओं से श्रमिकों के जीवन को बचाने के लिए आधुनिक समाज में जो व्यवस्था की जाती है, उसे 'सामाजिक सुरक्षा' (Social Security) कहते हैं। साधारण शब्दों में **"सामाजिक-सुरक्षा का आशय उस सुरक्षा से है जिनके द्वारा कोई समाज एक पद्धति-युक्त तरीके से अपने समाज के सदस्यों को बेकारी, बुढ़ापा, बीमारी, दुर्घटना तथा मृत्यु आदि जोखिमों से बचाता है।"** (Social security refers to the security that society furnishes through appropriate organisation against certain risks to which its members are exposed.) सामाजिक सुरक्षा का आविर्भाव लोक-कल्याणकारी राज्य (welfare states) के साथ-साथ हुआ। साधारणतया यह समझा जाता है कि एक लोक-कल्याणकारी राज्य में कम-से-कम पाँच परिस्थितियों—आवश्यकता (want), बीमारी

(Disease), अज्ञानता (Ignorance), दरिद्रता (Squalor) तथा बेकारी (Idleness) में राज्य द्वारा व्यक्ति की सहायता की जानी चाहिए। प्रो० कोल के अनुसार सामाजिक सुरक्षा का आशय यह है कि सरकार जो समाज का प्रतीक एवं प्रतिनिधि है, अपने समस्त नागरिकों के लिए एक न्यूनतम जीवन-स्तर कायम रखने के लिए उत्तरदायी है। इस स्तर में जीवन से लेकर मरण तक की सारी सुविधाएँ एवं आवश्यकताएँ सम्मिलित होंगी। (The idea of social security is that the state shall make itself responsible for ensuring a minimum standard of material welfare to all its citizens, on a basis wide enough to cover all the main contingencies of life of an individual from birth to death.) इस प्रकार सामाजिक सुरक्षा का क्षेत्र बहुत ही व्यापक हो जाता है। इसके अन्तर्गत 'गर्भ से मरण' तक (From womb to the tomb) की सुरक्षा आ जाती है।

भारत में सामाजिक सुरक्षा

(Social Security in India)

भारत जैसे देश में, जहाँ औद्योगीकरण का अभी श्रीगणेश ही हुआ है, सामाजिक सुरक्षा की समुचित व्यवस्था का अभाव कोई आश्चर्य की बात नहीं है। किन्तु इससे ऐसा नहीं समझना चाहिए कि सामाजिक सुरक्षा भारत के लिए बिल्कुल नयी चीज है। वास्तव में, सामाजिक विकास के प्रत्येक स्तर पर किसी-न-किसी प्रकार की सुरक्षा समाज के सदस्यों को उपलब्ध होती रही है। प्रारम्भिक काल में, संयुक्त परिवार की प्रथा से मनुष्य को जीवन की प्राय: सभी जोखिमों से सुरक्षा मिलती थी। किन्तु संयुक्त परिवार की प्रथा के विनाश के बाद आर्थिक दायित्व व्यक्तिगत हो गया जिससे प्रत्येक व्यक्ति के जीवन में जोखिम एवं अनिश्चितता बढ़ गयी। श्रमिकों के जीवन में तो ये अनिश्चितताएँ और अधिक पायी जाती हैं। यदि इन्हें समाज तथा राज्य द्वारा सुरक्षा न प्रदान की जाय तो इन्हें समय-समय पर बेकारी, भुखमरी आदि का सामना करना पड़ेगा। बहुत समय तक पश्चिमी देशों में भी इस प्रकार की सुविधा उपलब्ध नहीं थी। किन्तु वर्तमान शताब्दी के प्रारम्भ से ही संसार के प्राय: सभी विकसित राष्ट्रों में सामाजिक सुरक्षा की व्यवस्था पर जोर दिया जाने लगा है। सामाजिक सुरक्षा की सर्वप्रथम वैधानिक व्यवस्था १९५१ ई० में आस्ट्रेलिया एवं न्यूजीलैंड में की गयी। वहाँ से धीरे-धीरे यह प्रथा विश्व के अन्य औद्योगिक देशों में फैली। अब तो सामाजिक सुरक्षा इस युग में राजनैतिक, सामाजिक एवं आर्थिक स्थायित्व की एक गम्भीर एवं महत्त्वपूर्ण शर्त बन गयी है और इसकी चुनौती को स्वीकार करना समाज एवं सरकार का प्रधान उत्तरदायित्व हो गया है।

भारत में बहुत दिनों तक श्रमिकों के लिए सामाजिक सुरक्षा की कोई व्यवस्था नहीं थी। सरकार श्रमिकों के हितों के प्रति बहुधा उदासीन रहती थी। ब्रिटिश शासन-काल में इस सम्बन्ध में सर्वप्रथम १९२३ ई० में एक श्रमिक क्षति-पूर्ति अधिनियम (Workmen's Compensation Act, 1923) बना। इस अधिनियम के अनुसार श्रमिकों को कारखानों में कोई दुर्घटना अथवा व्यावसायिक रोगों के शिकार होने पर क्षति-पूर्ति एवं चिकित्सा की सुविधा प्रदान करने की व्यवस्था की गयी। इस अधिनियम में कई बार संशोधन किया गया जिनमें १९४६ ई० का संशोधन विशेष रूप से महत्त्वपूर्ण है जिसके अनुसार ४०० रुपये तक मासिक मजदूरी पानेवाले मजदूरों को इसके अन्तर्गत लाया गया। १९५९ ई० के एक संशोधन ने इस अधिनियम को और विस्तृत बना

दिया है। ब्रिटिश शासन काल में ही विभिन्न प्रान्तीय सरकारों द्वारा मातृत्व-लाभ अधिनियम (Maternity Banefit Acts) बनाये गये। सर्वप्रथम इस प्रकार का अधिनियम बम्बई में १९२९ ई० में बनाया गया। तदुपरान्त अन्य प्रान्तों में भी इस प्रकार के अधिनियम बनाये गये। किन्तु, मिल-मालिकों की उदासीनता तथा श्रमिकों की अज्ञानता के फलस्वरूप ये अधिनियम श्रमिकों के लिए अधिक लाभदायक नहीं सिद्ध हो पाये हैं।

इस प्रकार द्वितीय महायुद्ध के प्रारम्भ तक ब्रिटिश सरकार द्वारा सामाजिक सुरक्षा के अन्य क्षेत्रों की ओर कोई ध्यान नहीं दिया गया। किन्तु युद्धकाल में श्रमिकों के असंतोष, उनकी बढ़ती हुई संगठन-शक्ति तथा राजनैतिक आन्दोलन आदि ने सरकार को इस क्षेत्र में ध्यान देने के लिए विवश किया। युद्धकाल में राज्यों के श्रम-मन्त्रियों का १९४०, १९४१ तथा १९४२ ई० की बैठकों में भारत में स्वास्थ्य तथा बीमारी के सम्बन्ध में सुरक्षा की समस्या पर विचार किया गया। १९४२ ई० में इंगलैंड में सर विलियम बेबरीज द्वारा प्रस्तुत 'सामाजिक सुरक्षा-सम्बन्धी प्रतिवेदन' ने भारत सरकार का भी ध्यान इस ओर विशेष रूप के आकर्षित किया। फलतः १९४३ ई० में भारत सरकार ने प्रो० बी० पी० अदारकर को भारत में श्रमिकों के सम्बन्ध में सामाजिक बीमा की एक योजना तैयार करने के लिए आमन्त्रित किया। प्रो० अदारकर द्वारा तैयार की गयी योजना में श्रमिकों तथा मालिकों दोनों के द्वारा अनिवार्य रूप से चन्दा देने की व्यवस्था थी। साथ ही, राज्य द्वारा अनुदान की आवश्यकता पर भी जोर दिया गया था। प्रो० अदारकर ने प्रारम्भ में प्रयोगात्मक तौर पर इस योजना को वस्त्र, इंजीनियरिंग तथा खनिज-सह-धातु उद्योगों में लागू करने की सिफारिश की थी। इस योजना को १२ वर्ष से लेकर ६० वर्ष के बीच की आयुवाले २०० रु० मासिक से कम मजदूरी पाने वाले सभी कर्मचारियों पर लागू करने की सिफारिश की गयी थी। १९४५ ई० में अन्तर्राष्ट्रीय श्रम-संगठन के विशेषज्ञों द्वारा प्रो० अदारकर की इस योजना की जाँच की गयी जिन्होंने इसे कारखाना अधिनियम के अन्तर्गत आनेवाले सभी स्थायी कारखानों में लागू करने का सुझाव दिया। साथ ही इन्होंने इस योजना के अन्तर्गत मातृत्व लाभ तथा श्रमिक-क्षति-पूर्ति के सम्बन्ध में सुविधाओं को भी रखने का सुझाव दिया। प्रो० अदारकर के प्रतिवेदन तथा इन विशेषज्ञों के सुझाव के आधार पर भारत सरकार ने एक विधेयक तैयार किया जो १९४८ ई० में 'कर्मचारी राज्य बीमा अधिनियम' (Employees State Insurance Act) के रूप में पारित हुआ।

भारत में सामाजिक सुरक्षा सम्बन्धी अधिनियम

(Social Security Act in India)

हमारे देश में अभी तक सामाजिक सुरक्षा-सम्बन्धी निम्नलिखित अधिनियम तैयार किये गये हैं :—

(१) श्रमिक क्षति-पूर्ति अधिनियम (Workmen's Compensation Act, 1923);

(२) मातृत्व-लाभ-अधिनियम (Maternity Benefit Act),

(३) कर्मचारी राज्य-बीमा अधिनियम (Employees' State Insurance Act, 1948);

(४) कर्मचारी प्रोविडेंट फंड ऐक्ट, १९५२; तथा

(५) कोल माइन्स प्रोविडेंट फंड एवं बोनस स्कीम अधिनियम, १९५८ ई०।
अब इनका निम्न विवरण प्रस्तुत किया जा रहा है :—

(१) श्रमिक क्षति-पूर्ति अधिनियम (Workmen's Compensation Act 1923)—भारत में सामाजिक सुरक्षा की शुरुआत १९२३ ई० के श्रमिक क्षति-पूर्ति अधिनियम से ही होती है। यह अधिनियम जम्मू एवं कश्मीर के अतिरिक्त सम्पूर्ण भारत में लागू होता है। १९६२ ई० के संशोधन के अनुसार इस अधिनियम के अन्तर्गत ५०० रुपये मासिक वेतन से कम पानेवाले सभी मजदूर आते हैं। किन्तु किरानी अथवा प्रशासकीय विभाग के व्यक्ति इसके अन्तर्गत नहीं आते। यह अधिनियम बिजली द्वारा प्रचालित कारखानों में १० से अधिक तथा बिना बिजली के ५० से अधिक मजदूरों वाले कारखानों में लागू होता है। इस अधिनियम के अनुसार यदि कोई श्रमिक काम करते समय किसी दुर्घटना या किसी व्यावसायिक रोग का शिकार हो जाय तो उसके मालिक को द्राव्यिक क्षति-पूर्ति एवं चिकित्सा की सुविधा प्रदान करनी होगी। क्षति-पूर्ति की रकम दुर्घटना के प्रकार एवं मासिक मजदूरी पर निर्भर करती है।

यह अधिनियम निश्चय ही श्रमिकों के लिए लाभदायक था, किन्तु इससे श्रमिकों को वास्तविक लाभ बहुत कम हो सका। दुर्घटना तथा व्यावसायिक रोगों का किसी प्रकार भी अर्थ निकाला जा सकता था; अतः इसे लेकर अदालतों न ब त मतभेद रहा। साथ ही, मजदूर बहुधा इस अधिनियम से अनभिज्ञ थे तथा मालिकों की नाराजगी से अपना हक मांगने में हिचकिचाते थे। इस अधिनियम का क्षेत्र भी बहुत ही संकुचित था। इसमें बेकारी, वृद्धावस्था आदि प्रकार की जोखिमों की कोई व्यवस्था नहीं की गयी थी। अतः इस अधिनियम को पर्याप्त सफलता नहीं मिल सकी।

(२) मातृत्व-लाभ अधिनियम (Maternity Benefit Act) :—हमारे देश में बहुत बड़ी संख्या में स्त्रियाँ भी मजदूरी करती हैं जिन्हें प्रसव काल से पहले तथा बाद में सुविधा प्रदान करने के लिए बहुत-से प्रांतों में मातृत्व-लाभ अधिनियम बनाया गया था। इस प्रकार का पहला अधिनियम बम्बई में १९२९ ई० में बनाया गया। बाद में इसी आधार पर मध्य प्रदेश (१९३०), असम (१९३४), उत्तर प्रदेश (१९३८), बंगाल एवं पंजाब (१९४३), मद्रास (१९४४) तथा बिहार (१९४५) में भी इस प्रकार के अधिनियम बनाये गये। इनके अतिरिक्त कर्मचारी राज्य बीमा योजना तथा Plantation Labour Act, 1951 के अन्तर्गत भी मातृत्व की सुविधा प्रदान की जाती है। सभी उद्योगों तथा राज्यों में समान मातृत्व-सम्बन्धी लाभ की सुविधा प्रदान करने के उद्देश्य से The Maternity Benefit Act, 1961 तैयार किया गया। इस अधिनियम के अनुसार एक निश्चित समय तक काम कर चुकनेवाली औरतों को प्रसव के पहले और बाद में छुट्टी एवं वृत्ति दी जाती है। साधारणतः, प्रसवकाल के २-३ सप्ताह पहले तथा ३-४ सप्ताह बाद तक छुट्टी तथा एक निश्चित दर से वृत्ति देने की व्यवस्था है। वृत्ति की दर में विभिन्न राज्यों के अधिनियमों में अत्यधिक विभिन्नता पायी जाती है। इसके अतिरिक्त इनको चिकित्सा की भी व्यवस्था की जाती है। कुछ कारखानों में काम करते समय शिशुओं को रखने के लिए कुशल दाइयों तथा शिशु-गृहों की भी व्यवस्था की गयी है। किन्तु इस अधिनियम का उपयुक्त ढंग से पालन नहीं होता है। इसके अनुसार वृत्ति देने के लिए सारा दायित्व केवल मालिकों पर ही है जिससे वे लोग इसमें अनियमितता बरतते हैं। प्रसव अवस्था के पूर्व ही औरतों को बहुधा काम से निकाल दिया जाता है अथवा औरतों का नाम रजिस्टर में दर्ज ही नहीं किया जाता। इन सब दोषों के कारण यह नियम वास्तव में लाभदायक नहीं हो पाता है।

(३) कर्मचारी राज्य बीमा अधिनियम
(Employees' State Insurance Act, 1948)

भारत में सामाजिक सुरक्षा के इतिहास में १९४८ ई० का कर्मचारी राज्य बीमा अधिनियम एक महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। वास्तव में इस अधिनियम को देश में सामाजिक सुरक्षा की शुरुआत समझना ही अधिक उचित होगा। इस अधिनियम की निम्नांकित प्रमुख विशेषताएँ हैं :—

क्षेत्र :—यह अधिनियम सम्पूर्ण देश में २० श्रमिकों से अधिक काम करनेवाले बिजली द्वारा प्रचालित सभी स्थायी कारखानों में लागू होता है। इसके अन्तर्गत ५०० रु० मासिक वेतन या कम पानेवाले सभी कर्मचारी आते हैं।

वित्तीय व्यवस्था :—इस अधिनियम के अन्तर्गत एक कर्मचारी राज्य बीमा कोष (Employees' State Insurance Fund) स्थापित किया गया है जिसमें मजदूर तथा मालिक दोनों एक निश्चित अनुपात में चन्दा देते हैं। चन्दे की दरें श्रमिकों की आय के अनुसार निश्चित की गयी हैं। इस उद्देश्य से श्रमिकों को उनकी आय के अनुसार ८ वर्गों में विभाजित किया गया है। नीचे दी हुई तालिका से कर्मचारियों तथा मजदूरों से चन्दा वसूलने की दरों का अन्दाजा लगता है :—

कर्मचारियों के वर्ग (दैनिक वेतन के अनुसार)	साप्ताहिक चन्दा	
	कर्मचारियों द्वारा	मालिक द्वारा
१ रु० से कम दैनिक वेतन वाले	....	७ आना
१ रु० से अधिक और १½ रु० से कम	२ आना	७ ,,
१½ रु० से अधिक और २ रु० से कम	४ ,,	८ ,,
२ रु० से अधिक और ३ रु० से कम	६ ,,	१२ ,,
३ रु० से अधिक और ४ रु० से कम	८ ,,	१ रु० .... ,,
४ रु० से अधिक और ६ रु० से कम	११ ,,	१ ,, ६ ,,
६ रु० से अधिक और ८ रु० से कम	१५ ,,	१ ,, १४ ,,
८ रु० से अधिक दैनिक वेतन वाले	१ रु० ४ ,,	२ ,, ८ ,,

राज्य द्वारा इस कार्यक्रम के प्रथम पाँच वर्षों में कुल प्रशासकीय व्यय के दो-तिहाई भाग देने की व्यवस्था थी।

लाभ (Benefits) :—इस अधिनियम के अन्तर्गत मजदूरों की निम्नलिखित पाँच प्रकार की सुविधाएँ प्रदान करने की व्यवस्था की गयी है :—

(१) बीमारी के लिए (Sickness) :—सर्वप्रथम बीमार पड़ने पर कर्मचारियों को इस कोष से वृत्ति दी जाती है। कोई कर्मचारी बीमारी के पूर्व जितने सप्ताह तक कार्य किया हो, यदि

उसके सप्ताह, जो कम-से-कम १२ बार होना चाहिए, का चन्दा चुका दिया हो तो उसके बीमार पड़ने के दो दिन बाद, १५ दिन तक औसत मजदूरी को आधी वृत्ति मिलेगी।

(२) **मातृत्व-सम्बन्धी लाभ** (Maternity Benefit) :—औसत मजदूरों को उपरोक्त शर्तों के पूरा करने पर १२ आ० प्रतिदिन को दर से १२ सप्ताह की वृत्ति दी जायगी। यह वृत्ति बच्चा होने के ६ सप्ताह तथा पूर्व ६ सप्ताह बाद तक दी जायगी।

(३) **योग्यता-सम्बन्धी लाभ** (Disablement Benefit) :—कारखानों में काम करते समय होनेवाली दुर्घटनाओं तथा व्यावसायिक रोगों के फलस्वरूप यदि कोई श्रमिक अयोग्य हो जाता है तो उसे सुविधाएँ प्रदान की जायँगी। अस्थायी अयोग्यता के लिए बीमारी की भाँति वृत्ति मिलती है तथा स्थायी रूप से अयोग्य हो जानेवाले कर्मचारियों को साप्ताहिक आय का $\frac{१}{२}$ भाग पेंशन के रूप में जीवन भर मिलता है।

(४) **आश्रितों** (Dependents) **के लिए** :—यदि कारखाने में हुई किसी दुर्घटना के फलस्वरूप किसी कर्मचारी की मृत्यु हो जाती है तो ऐसी दशा में उसके आश्रितों को निम्नलिखित प्रकार से वृत्ति दी जाती है—विधवा को जीवन भर या दूसरे विवाह तक आधी औसत मजदूरी का ३/५ भाग, हर लड़के को १५ वर्ष की आयु तक आधी औसत मजदूरी का $\frac{२}{५}$ भाग तथा हर अविवाहित लड़की को विवाह या १५ वर्ष की आयु तक, जो भी पहले हो, आधी औसत मजदूरी का २/५ भाग।

(५) **चिकित्सा-सम्बन्धी सुविधा** (Medical Benefit) :—प्रत्येक बीमा प्राप्त कर्मचारियों की निःशुल्क चिकित्सा की व्यवस्था भी की गयी है। इस अधिनियम के अन्तर्गत मालिकों तथा राज्य की ओर से चिकित्सालियों एवं डाक्टरों की व्यवस्था की गयी है। यदि राज्य अथवा मालिक चाहें तो ये सुविधाएँ कर्मचारियों के परिवार के व्यक्तियों को भी दी जा सकती हैं।

व्यवस्था (Administration) :—इस योजना की व्यवस्था के लिए एक निगम की स्थापना की गयी है जिसका नाम 'कर्मचारी राज्य बीमा निगम' (Employee's State Insurance Corporation) है। इसके ३१ सदस्य हैं तथा केन्द्रीय सरकार के श्रम-मन्त्री इसके अध्यक्ष हैं। निगम में राज्य सरकारों के प्रतिनिधि भी हैं। केन्द्रीय सरकार द्वारा मालिकों तथा श्रमिकों के पाँच-पाँच प्रतिनिधि इनके संगठनों की सलाह से रखे गये हैं। इनके अतिरिक्त संसद् के दो प्रतिनिधि हैं जिन्हें संसद् मनोनीत करती है। निगम की एक कार्यवाहक समिति (Standing Committee) है जिसके १३ सदस्य हैं। इसका एक डायरेक्टर जेनरल भी है जो निगम के प्रधान संचालक का कार्य करता है। इसकी नियुक्ति केन्द्रीय सरकार द्वारा की जाती है।

कर्मचारी राज्य-बीमा निगम की स्थापना ६ अक्टूबर, १९४८ ई० को हुई थी। सर्वप्रथम फरवरी, १९५२ ई० में यह कार्यक्रम दिल्ली तथा कानपुर में और जनवरी, १९५३ ई० में बम्बई में आरम्भ किया गया था। धीरे-धीरे अन्य औद्योगिक केन्द्रों में भी यह लागू किया गया तथा फरवरी, १९७१ ई० तक इसके अन्तर्गत ३२३ केन्द्रों में प्रायः ४१ लाख मजदूर आ गये थे। चतुर्थ योजना के अन्त तक देश के सभी औद्योगिक मजदूर को इसके अन्तर्गत लाने का आयोजन है। १९६९-७० ई० के अन्त तक कर्मचारियों ने कुल १५·२ करोड़ रुपये तथा मालिकों ने २१·२ करोड़ रुपये अंशदान के रूप में दिया था।[1] इसमें १८·१३ करोड़ रुपया बीमा-युक्त कर्मचारियों को

1. India 1971-72 p. 432.

विभिन्न प्रकार की जोखिमों के लिए दिये गये थे। साथ ही, १९७०-७१ में ४०·८ लाख परिवारों को चिकित्सा की सुविधा प्रदान की गयी थी।

समीक्षा (A cattical appraisal of the Employees State Insurance Act.): —१९४८ ई० का कर्मचारी राज्य-बीमा अधिनियम भारत में सामाजिक बीमा के क्षेत्र में पहला महान कदम है। किन्तु इस अधिनियम के अन्तर्गत सभी व्यक्तियों एवं सभी प्रकार के जोखिमों की व्यवस्था नहीं की गयी है। अतः इसे सामाजिक बीमा के क्षेत्र में प्रारम्भिक प्रबन्ध ही कहना चाहिए। फिर भी, भविष्य में सामाजिक बीमा की योजनाओं की सफलता इसी योजना की सफलता पर निर्भर करती है। आज विश्व के प्रायः सभी औद्योगिक दृष्टि से विकसित राष्ट्रों में सामाजिक सुरक्षा को राज्य की नीति का एक आवश्यक अंग माना जाता है। सामाजिक सुरक्षा आज के युग में राजनैतिक और आर्थिक स्थायित्व की सबसे महत्त्वपूर्ण एवं गम्भीरतम शर्त हो गयी है। अतः, इसका क्षेत्र भी दिन-प्रति-दिन बढ़ता ही जा रहा है। आज सामाजिक सुरक्षा का उद्देश्य देश के प्रत्येक व्यक्ति की जोखिम से रक्षा करना समझा जाता है। इस दृष्टिकोण से १९४८ ई० का अधिनियम निश्चय ही बहुत सीमित है। इसमें बेरोजगारी (Unemployment), वृद्धावस्था (Old Age) आदि के सम्बन्ध में सुरक्षा की व्यवस्था नहीं की गयी है। भारत सरकार ने बेरोजगारी सम्बन्धी बीमा की सम्भावनाओं की जाँच के लिए १९५४ ई० में एक विशेष दल की नियुक्ति की थी जिसने भारत में बेरोजगारी बीमा योजना (Unemployment Insurance Scheme) को लागू करने की आवश्यकता पर जोर दिया था। किन्तु, सरकार अभी इस सम्बन्ध में कोई सक्रिय प्रयत्न नहीं कर रही है। साथ ही, मजदूरों की छँटनी पर आज अधिक जोर दिया जा रहा है। यह निश्चय ही खेदजनक है। हमारे देश में यथाशीघ्र बेरोजगारी बीमा की एक विस्तृत योजना कार्यान्वित की जानी चाहिए। १९४८ ई० के अधिनियम का एक दूसरा दोष यह है कि इसके अन्तर्गत केवल स्थायी कारखानों में काम करनेवाले श्रमिक ही आते हैं। इसमें मौसमी उद्योगों, छोटे एवं कुटीर उद्योगों तथा कृषि में कार्य करनेवाले मजदूरों के सम्बन्ध में कोई व्यवस्था नहीं है। अतः इस वर्ग के मजदूर सामाजिक सुरक्षा से पूर्णतया वंचित रह जाते हैं। देश में सामाजिक सुरक्षा की किसी भी योजना में इतनी बड़ी संख्या में काम करनेवाले मजदूरों की उपेक्षा करना सर्वथा अनुचित है। आशा है कि सरकार भविष्य की योजनाओं में इन वर्गों के कर्मचारियों को भी उचित स्थान देगी।

(४) कर्मचारी निर्वाह-निधि अधिनियम, १९५२

(Employees' Provident Fund Act, 1952)

श्रमिकों की वृद्धावस्था के लिए कुछ व्यवस्था करना समय-समय पर आवश्यक समझा गया है। संयुक्त परिवार की व्यवस्था में बुढ़ापे में लोगों का भरण-पोषण परिवार द्वारा ही किया जाता था, किन्तु वर्तमान औद्योगिक जीवन के प्रचार से धीरे-धीरे संयुक्त परिवार की व्यवस्था समाप्त हो रही है। साथ ही, अधिकांश मजदूरों को इतनी कम मजदूरी मिलती है कि वे अपनी

वृद्धावस्था के लिए कुछ भी बचा नहीं सकते जिससे उन्हें कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। वृद्धावस्था के लिए पेन्शन, प्रोविडेण्ट फण्ड आदि के द्वारा समुचित व्यवस्था की जा सकती है। हमारे देश में सरकार अपने कर्मचारियों को नौकरी से अवकाश प्राप्त करने पर आजन्म पेन्शन प्रदान करती है। कुछ कारखानों, रेलों तथा सरकारी दफ्तरों में निर्वाह-निधि की व्यवस्था भी पायी जाती है।

अतएव, ४ मार्च १९५२ ई० को कर्मचारी निर्वाह-निधि अधिनियम (Employees' Provident Fund Act) पारित किया गया जिसे १ नवम्बर, १९५२ ई० से लागू किया गया। प्रारम्भ में यह अधिनियम सीमेंट, सिगरेट, इंजीनियरिंग, लोहा एवं इस्पात, कागज तथा वस्त्र उद्योगों में ही लागू किया गया था। सितम्बर, १९७० ई० तक यह १२३ उद्योगों में लागू किया गया था। इन उद्योगों में ५० अथवा इससे अधिक की संख्या में मजदूरवाले कारखानों में ही यह अधिनियम लागू होता है। १९६० ई० के एक संशोधन के अनुसार इसे २० से अधिक मजदूरवाले कारखानों में लागू किया जा रहा है बशर्ते कि उन कारखानों में पाँच वर्ष से अधिक से काम हो रहा हो। इसके अन्तर्गत भी वे सभी मजदूर आते हैं जो कम-से-कम एक वर्ष से काम कर रहे हों तथा जिनकी मजदूरी १००० रु० मासिक से अधिक न हो। इस अधिनियम के अनुसार प्रत्येक मालिक को अपने कारखानों में काम करनेवाले कर्मचारियों के वेतन और महँगाई भत्ते का ६$\frac{1}{4}$ प्रतिशत निर्वाह-निधि के रूप में देना होगा तथा कर्मचारियों को भी इतनी ही रकम देनी होगी। इसमें प्रशासकीय व्यय केवल मालिकों को ही वहन करना पड़ेगा। सरकार किसी विशेष उद्योग के लिए ६ प्रतिशत से अधिक कटौती की भी व्यवस्था कर सकती है। इसके अनुसार ३०-९-१९६९ ई० से ८१ उद्योगों में कटौती की दर को बढ़ाकर ८ प्रतिशत कर दिया गया है। इस फण्ड में जमा की रकम को प्रोविडेण्ट फण्ड एकाउन्ट में जमा कर दिया जाता है जिसकी व्यवस्था केन्द्रीय सरकार द्वारा एक 'केन्द्रीय ट्रस्टीज परिषद्' (Central Board of Trustees) की देख-रेख में की जा रही है।

सितम्बर, १९७० ई० तक कुल मिलाकर ५७.५ लाख कर्मचारी इस कार्य-क्रम के अन्तर्गत आ गये थे तथा प्रोविडेण्ट फण्ड की रकम लगभग १७५४.३ करोड़ रु० हो गयी थी। उस समय तक नौकरी छोड़नेवाले कर्मचारियों को ६३८.८ करोड़ रुपये प्रोविडेण्ट फण्ड के रूप में दिया गया था।[1] इस प्रकार इस अधिनियम के द्वारा कर्मचारियों को लाभ अवश्य हुआ है। चतुर्थ पंचवर्षीय योजना में इसके और विस्तार की आशा की जाती है। किन्तु, भारत में 'कर्मचारी राज्य-बीमा अधिनियम' की व्यवस्था इस प्रकार से की जानी चाहिए जिससे कि भविष्य में एक विस्तृत सामाजिक सुरक्षा के लिए मार्ग तैयार किया जा सके। भारत जैसे विकासोन्मुख आर्थिक-व्यवस्था वाले देश में एक विस्तृत सामाजिक सुरक्षा की व्यवस्था ही हमारा अन्तिम उद्देश्य होना चाहिये।

५. **कोयला खान-निर्वाह निधि योजना** (Coal Mines Provident Fund Act) :—कोयले की खानों में काम करने वाले मजदूरों को Coal Mines Provident Fund and Bonus Scheme Act, 1948 के अनुसार निर्वाह-निधि की व्यवस्था की गयी है। इस अधिनियम के अनुसार मजदूरों की मजदूरी के ८ प्रतिशत मजदूरों तथा मिल-मालिकों को देना पड़ता है जो एक कोष में जमा किया जाता है। १९६९ ई० के अंत तक इस योजना के अंतर्गत १३२७ कोयले की

1. India 1971-72.

खानों में काम करनेवाले ३,४९,००० मजदूर आ गये थे तथा ८८'०४ करोड़ रुपये की कुल रकम जमा के रूप में प्राप्त हुई थी। इससे कोयले की खानों में काम करनेवाले मजदूरों को बहुत अधिक लाभ की आशा की जाती है।

बेरोजगारी बीमा की आवश्यकता (Need for Unemployment Insurance) :— भारतीय जनतन्त्र का प्रधान उद्देश्य जन-कल्याण में वृद्धि करना है। इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए देश की विशाल जनसंख्या के लिए रोजगार के साधनों में वृद्धि तथा बेरोजगारी बीमा की व्यवस्था अनिवार्य है। बेरोजगारी बीमा की जाँच के लिए १९५४ ई० में भारत सरकार ने एक Working group की नियुक्ति की थी। इसने भारत में बेरोजगारी बीमा के सम्बन्ध में अपना सुझाव देते हुए बतलाया था कि योजना में श्रमिक तथा सेवायोजक दोनों को एक निश्चित अनुपात में अनुदान देना चाहिए। किन्तु भारत सरकार इस सम्बन्ध में कोई सक्रिय प्रयास नहीं कर रही है। सरकार का प्रधान उद्देश्य केवल छँटनी वगैरह के समय मजदूरों को कुछ क्षति पूर्ति देने की व्यवस्था करनी है। इस उद्देश्य से औद्योगिक संघर्ष अधिनियम में भी संशोधन किया गया है। वास्तव में, जनहित के उद्देश्य को ध्यान में रखते हुए देश की वर्तमान परिस्थितियों में बेरोजगारी बीमा (Unemployment Insurance) की एक विस्तृत पद्धति को अपनाने की आवश्यकता है।

सामाजिक सुरक्षा के सम्बन्ध में मेनन समिति के विचार (Menon Committee on Social Security) :— १९५८ ई० में सामाजिक सुरक्षा के अध्ययन दल (Study group on Social Security), जिसके अध्यक्ष श्री० वी० के० मेनन थे, ने देश में सामाजिक सुरक्षा की सभी योजनाओं के एकीकरण (integration) का प्रस्ताव किया। समिति ने एक ऐसी केन्द्रीय संस्था की नियुक्ति का सुझाव दिया जो कर्मचारी राज्य बीमा योजना तथा कर्मचारी निर्वाह-निधि योजना दोनों की व्यवस्था करेगी। समिति का यह सुझाव बहुत ही महत्त्वपूर्ण है तथा इसके आधार पर सामाजिक सुरक्षा की एक विस्तृत योजना तैयार की जा सकती है।

चतुर्थ पंचवर्षीय योजना में सामाजिक सुरक्षा की व्यवस्था (Fourth Five Year Plan and the Social Security Scheme of the Govt) :— औद्योगिक नीति की ही तरह सरकार सामाजिक सुरक्षा के सम्बन्ध में भी एक योजना तैयार कर रही है जिसके अनुसार वृद्धावस्था-पेंशन तथा बेरोजगारी-सम्बन्धी नीति को लागू करने का प्रस्ताव है। इसके अनुसार चतुर्थ योजना में वृद्धावस्था-पेन्शन की एक योजना लागू की जायगी जिसके अन्तर्गत ६५ वर्ष से अधिक आयुवाले व्यक्तियों को २० रु० मासिक पेन्शन दिया जायगा। अंधे, कोढ़ी, अपाहिज आदि व्यक्तियों को ६० वर्ष की उम्र से ही पेन्शन दिया जायगा तथा इनके पेन्शन की मात्रा ४० रुपये प्रति व्यक्ति होगी। वृद्धावस्था-पेन्शन के अन्तर्गत सरकार को ६० करोड़ रुपये का व्यय होगा। इसी प्रकार बेरोजगारी बीमा की भी एक योजना तैयार की जा रही है जिसके अन्तर्गत कर्मचारी निर्वाह-निधि में अंशदान देनेवाले प्रायः ४५ लाख व्यक्ति आयेंगे। चतुर्थ योजनाकाल में श्रम-कल्याण की मद में अनुमानतः ३९९ करोड़ रुपये व्यय की व्यवस्था है।

भारत सरकार द्वारा नियुक्त राष्ट्रीय श्रम आयोग (National Commission on Labour) के विचाराधीन विषयों में श्रम-कल्याण एवं सामाजिक सुरक्षा का भी समावेश था। आयोग ने इस सम्बन्ध में एक व्यापक सुरक्षा की व्यवस्था का सुझाव प्रस्तुत किया है जिसे चतुर्थ योजनाकाल में लागू करने की आशा की जाती है।

विशेष अध्ययन-सूची

1. V. V. Giri : Labour Problems in Indian Industry. Chaps. II, VI & VII.
2. V. B. Singh : Industrial Labour in India, Part V.
3. Indian Labour Year Book, 1963.
4. Third and Fourth Five Year Plans.
5. Government of India Report of the Labour Commission.

पंचम खण्ड

"The Transport Industries which undertake nothing more than the mere movement of persons and things from one place to another, have constituted one of the most important activities of men in every stage of advanced civilization"

—Marshall.

परिवहन एवं विदेशी व्यापार

(Transport and Foreign Trade)

अध्याय : ३६

यातायात के साधन—रेलवे

यातायात के साधनों का महत्त्व (Importance of the means of Transport) :— किसी भी राष्ट्र के जीवन में आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, बौद्धिक एवं प्रशासकीय दृष्टिकोण से यातायात के साधनों का विशेष महत्त्व है। किसी देश की समृद्धि कृषि, उद्योग तथा खनिज पर निर्भर अवश्य करती है, किन्तु यातायात एवं संवाद वाहन का विकास इनसे भी कम आवश्यक नहीं है। वास्तव में, 'यदि कृषि एवं उद्योग राष्ट्र-रूपी प्राणी के शरीर और हड्डियाँ हैं तो यातायात उसका जीवन-तन्तु है।' (If agriculture and industry are the body and bones of a national organism, transport and communication are its nerves.) या हम यों कह सकते हैं कि किसी राष्ट्र के आर्थिक जीवन में यातायात का उतना ही महत्त्व है जितना कि शरीर में रक्त-संचालनवाली धमनियों का। वास्तव में, एक आधुनिक अर्थ-व्यवस्था यातायात के साधनों के बगैर बिल्कुल कार्य नहीं कर सकती। आज की आर्थिक व्यवस्था का अन्तिम उद्देश्य उत्पादन ही नहीं है। उत्पादन का उद्देश्य उपभोग है और इसके लिए वस्तुओं एवं सेवाओं के विनिमय एवं वितरण की आवश्यकता पड़ती है।

यातायात के साधनों का वस्तुओं एवं सेवाओं के विनिमय एवं वितरण में बहुत बड़ा महत्त्व है। इसके द्वारा समय एवं स्थान-उपयोगिता का सृजन होता है। यातायात के साधनों के समुचित विकास के अभाव का उत्पादन एवं उपभोग दोनों पर बड़ा ही बुरा प्रभाव पड़ता है। अतएव यातायात के साधनों का मानव-जीवन के विकास से घनिष्ठ सम्बन्ध है। मार्शल (Marshall) के निम्नांकित कथन से यह स्पष्ट हो जाता है :—"The transport industries which undertake nothing more than the mere movenent of persons and things from one place to another, have constituted one of the most important activities of men in every stage of advanced civilization."[1] भारत जैसे विशाल देश, जिसे एक उप-महाद्वीप कहा जा सकता है, के लिए तो यातायात के साधनों का महत्त्व और भी बढ़ जाता है। देश के अन्दर एक प्रदेश से दूसरे प्रदेश में जाने के लिए विशाल दूरियों एवं कठिन प्राकृतिक परिस्थितियों का सामना करना पड़ता है। ऐसी स्थिति में देश के विभिन्न भागों में सम्बन्ध स्थापित करने के लिए यातायात के साधनों की अधिकाधिक सुविधा अनिवार्य हो जाती है। हमारे देश में यातायात के साधनों का समुचित विकास नहीं हो पाया है। हमारे आर्थिक पिछड़ेपन का यह एक प्रमुख कारण है। देश के सम्पूर्ण इतिहास में प्रारम्भ से ही यातायात की कठिनाइयाँ आर्थिक एवं राजनीतिक विकास के मार्ग में बाधक रही हैं।

इस प्रकार किसी राष्ट्र के आर्थिक जीवन में यातायात के साधनों का विशेष महत्त्व है। वास्तव में, मानव सभ्यता का इतिहास ही यातायात के विकास का इतिहास रहा है। सभ्यता के इतिहास में सड़क-निर्माण करनेवालों ने पथ-प्रदर्शक का कार्य किया है। वे आगे-आगे बढ़ते गये और सभ्यता उनके पीछे-पीछे चलती गयी; यानी सभ्यता ने यातायात के साधनों का अनुकरण किया है।

1. Marshall in "Industry and Trade."

सड़कों के साथ-साथ गाँव एवं नगरों का निर्माण भी होता गया। साथ ही, वाणिज्य एवं व्यवसाय का विकास होने लगा जिससे सारा विश्व एक सूत्र में बँध गया। इस प्रकार, यातायात के साधनों एवं मानव सभ्यता के विकास में घनिष्ठ सम्बन्ध है।

आज भारत में यातायात के निम्नलिखित प्रमुख साधन हैं:—(१) रेलवे, (२) सड़कें, (३) जल-मार्ग, तथा (४) हवाई-मार्ग। अब इन चारों साधनों का हम एक-एक करके विवरण करेंगे।

रेल-परिवहन
(Railways)

भारत की यातायात-व्यवस्था में रेलों का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है। यातायात के अन्य साधनों की तुलना में इनसे हमें अनेक प्रकार की सुविधाएँ मिलती हैं। उदाहरण के लिए इनकी गति बहुत तेज होती है, इनमें वस्तुओं एवं यात्रियों को ढोने की अपूर्व शक्ति होती है तथा यातायात के अन्य साधनों की तुलना में ये सस्ती होती हैं। अतः प्रत्येक देश की यातायात प्रणाली में इनका बड़ा ही महत्त्वपूर्ण स्थान है।

रेलवे का आर्थिक प्रभाव (Economic effects of Railways):—रेल अथवा यातायात के अन्य तीव्र गति से चलने वाले साधनों का देश के आर्थिक, राजनीतिक एवं सामाजिक जीवन पर बड़ा ही महत्त्वपूर्ण प्रभाव पड़ता है। भारत में रेलों के निर्माण के पूर्व देश के विभिन्न भाग भिन्न-भिन्न इकाइयों की तरह थे जिनके बीच प्रायः किसी प्रकार का सम्बन्ध नहीं था। रेल-व्यवस्था के विकास ने देश के सभी भागों को एक-दूसरे से सम्बन्धित कर इन्हें एक राष्ट्रीय सूत्र में बाँध दिया है। रेल यातायात के विकास के फलस्वरूप कृषि का वाणिज्यीकरण (Commercialisation of Agriculture) हुआ तथा दूर-दूर तक विस्तृत बाजारों के लिए वस्तुओं का उत्पादन किया जाने लगा। रेलों के परिणामस्वरूप ही कुशल प्रशासन, सुरक्षा, दुर्भिक्ष-सहायता, कृषि एवं उद्योगों का विकास, प्राकृतिक साधनों का अधिक अच्छा उपयोग तथा श्रम का विभाजन आदि सम्भव हुए हैं। बन्दरगाहों एवं नगरों के विकास में भी रेलों ने अकथनीय सहयोग प्रदान किया है। रेलों द्वारा सफाई तथा शिक्षा में वृद्धि हुई है। सरकारी आय में भी रेल-व्यवस्था के फलस्वरूप प्रत्यक्ष एवं परोक्ष रूप से वृद्धि हुई है। इससे देश में श्रम की गतिशीलता में वृद्धि हुई है तथा बहुत-से व्यक्तियों को रोजगार भी मिला है।

किन्तु इससे यह नहीं सोचना चाहिए कि भारत में रेलों के प्रसार से केवल लाभ-ही-लाभ हुआ है। इससे देश को कुछ हानियाँ भी हुई हैं। उदाहरण के लिए रेल-व्यवस्था के विकास ने देश के प्राचीन उद्योग-धन्धों को नष्ट करने में बहुत अधिक सहायता दी है। विदेशों की सस्ती वस्तुओं को देश के कोने-कोने में फैलाकर इसने कुटीर उद्योग-धन्धों की अवनति में पूर्णाहुति का कार्य किया है। इससे देश की आर्थिक व्यवस्था एकांगी हो गयी है तथा देश कच्चे पदार्थों का निर्यातक एवं निर्मित वस्तुओं का आयातक बन गया है। देश के प्राचीन एवं परम्परागत उद्योगों की अवनति में सहायता कर रेलों ने देश के ग्रामीणीकरण (Ruralization) को भी प्रोत्साहित किया है। साथ ही, देश में विदेशी पूँजी के प्रयोग को प्रोत्साहित कर रेलों ने देश की निर्धनता को भी बढ़ाया है। किन्तु इसके बावजूद यदि ध्यानपूर्वक देखा जाय तो ये दोष रेलों के प्रसार के नहीं, वरन् अनियोजित ढंग से रेल-निर्माण के कारण ही हुए हैं।

भारतीय रेल-व्यवस्था का विकास

(Growth of the Indian Railway System)

साधारणतया, भारतीय रेल-व्यवस्था के इतिहास को निम्नलिखित ११ कालों में विभाजित किया जा सकता है :—

(१) १८४४—१८६९ प्राचीन गारण्टी पद्धति,
(२) १८६९—१८७९ सरकारी निर्माण एवं प्रबन्ध,
(३) १८७९—१९०० नवीन गारंटी पद्धति,
(४) १९००—१९१४ तीव्र प्रगति तथा रेलों से लाभ का आरम्भ,
(५) १९१४—१९२१ रेल-व्यवस्था का विघटन,
(६) १९२१—१९२४ आकवर्थ कमिटी तथा सरकारी प्रबन्ध एवं नियन्त्रण,
(७) १९२४—१९३० सेपरेशन कनवेंशन तथा समृद्धि-काल,
(८) १९३०—१९३६ भयानक मन्दी का काल,
(९) १९३६—१९३९ आंशिक पुनरुत्थान,
(१०) १९३९—१९५१ द्वितीय महायुद्ध एवं देश-विभाजन, तथा
(११) १९५१ से आज तक रेलों का पुनर्संगठन एवं पंचवर्षीय योजनाकाल।

(१) प्राचीन गारण्टी पद्धति (Old Guarantee system) :- भारत में रेलों का निर्माण १८४४ ई० में प्रारम्भ हुआ जब 'ब्रिटिश ईस्ट इंडिया कम्पनी' ने इंगलैंड में स्थापित कम्पनियों को एक निश्चित लाभ के आश्वासन पर रेल-निर्माण का ठेका दिया। प्रारम्भ में कलकत्ता और बम्बई के समीप दो छोटी रेल लाइनों के निर्माण के लिए क्रमश: ईस्ट इंडियन रेलवे कम्पनी तथा ग्रेट इंडियन पेनिनसुला रेलवे कम्पनी को ठेका दिया गया। लार्ड डलहौजी की योजना के अनुसार १८५४ से १८६० ई० के बीच ९ कम्पनियों को रेल-निर्माण के लिए ठेका दिया गया। इसी बीच १८५३ ई० में देश में पहली २० मील लम्बी रेल लाइन बम्बई से थाना के बीच प्रारम्भ की गयी। १८५७ ई० के सिपाही विद्रोह ने रेलवे-विकास के महत्त्व को और भी स्पष्ट बना दिया तथा सरकार द्वारा रेलों के विकास पर पूरा जोर दिया जाने लगा।

किन्तु इस पद्धति से सरकार तथा देश के कर-दाताओं का भार बहुत बढ़ गया। कम्पनियों ने रेल-निर्माण में मितव्ययिता से काम नहीं लिया जिससे उन्हें हानि होने लगी। अतः, सरकार को गारन्टी की हुई दर से ब्याज चुकानी पड़ी। इसके फलस्वरूप इस पद्धति की कटु आलोचना की जाने लगी। श्री विलियम थार्टन ने संसदीय कमिटी के समक्ष गवाही देते हुए इस पद्धति के सम्बन्ध में कहा था कि "गारंटी पद्धति से कोई भी लाभ नहीं हुआ जो इसके बगैर नहीं हो सकता था। मेरी राय में ये ठेके कलंक हैं चाहे जिस आदमी ने भी इन्हें मान्यता दी हो।" इंगलैंड तथा भारत के अन्य व्यक्तियों ने भी इसी प्रकार की राय अभिव्यक्त की। इन सब आलोचनाओं के फलस्वरूप सरकार ने प्राचीन गारंटी-प्रथा को समाप्त कर स्वयं रेलों का निर्माण प्रारम्भ किया।

(२) सरकारी निर्माण और प्रबन्ध (Govt. construction and management) :— अतएव १८६९ ई० से सरकार ने स्वयं रेल-निर्माण का कार्य प्रारम्भ किया। भारत सचिव द्वारा यह निश्चय किया गया कि सरकार स्वयं अपनी साख का पूरा-पूरा लाभ उठाकर रेलों का निर्माण

करेगी। सरकार द्वारा प्रतिवर्ष रेलों के निर्माण के लिए १० लाख पौंड कर्ज लेने तथा मीटर-गेज पर लाइनों के निर्माण का निश्चय किया गया। किन्तु, वित्तीय कठिनाइयों के कारण यह व्यवस्था बहुत दिनों तक नहीं चल सकी। रुपये के विनिमय-मूल्य में ह्रास तथा १८७४ से १८७९ ई० के बीच अकाल के प्रकोप एवं अफगानिस्तान के साथ युद्ध ने सरकार की कठिनाइयों को बहुत बढ़ा दिया। इस बीच १८८० ई० में अकाल आयोग (Famine Commission) ने देश को अकाल के प्रकोप से बचाने के लिए ५००० मील लम्बी रेल लाइनों के निर्माण की सिफारिश की। सरकार ने इन सब कारणों से पुनः रेलवे-निर्माण में निजी कम्पनियों से सहयोग लेने का निश्चय किया।

(३) नवीन गारण्टी पद्धति (New Guarantee system) :—अतः सरकार ने फिर कम्पनियों की सहायता से रेलों का निर्माण प्रारम्भ किया, किन्तु ठेके की शर्तों में कुछ परिवर्तन किये गये। अतः, इस प्रथा को नवीन गारण्टी की प्रथा कहते हैं। इस पद्धति के अन्तर्गत बंगाल-नागपुर तथा मद्रास एवं दक्षिणी मराठा रेलों के निर्माण के लिए कम्पनियों को ठेका दिया गया। नवीन गारन्टी पद्धति की शर्तें मुख्यतः सरकार के पक्ष में ही थीं। जब पुरानी पद्धति के अन्तर्गत की कम्पनियों का ठेका पूरा हो गया तो सरकार ने इनमें से कुछ को खरीद लिया और स्वयं उनका प्रबन्ध करने लगी तथा कुल रेल लाइनों को संशोधित ठेके की दर पर उन्हीं कम्पनियों को दे दिया गया। नवीन पद्धति के अन्तर्गत की लाइनों के ठेका पूरा होने पर भी सरकार ने उनकी दरों में सुविधानुसार संशोधन किया।

(४) तीव्र प्रगति तथा रेलों से लाभ का प्रारम्भ (Rapid expansion and the commencement of Railway Profit) :—बीसवीं सदी के आरम्भ से रेलों के तीव्र प्रसार का काल प्रारम्भ हुआ। १९०० ई० में देश में कुल लाइनों की लम्बाई २४,७५२ मील थी जो १९१४ ई० में बढ़कर ३४,६५६ मील हो गयी। इस काल में रेलों से लाभ भी प्रारम्भ हो गया। १९०० ई० तक रेलों से घाटा-ही-घाटा हुआ जिससे इस बीच सरकार को ब्याज के रूप में कम्पनियों को प्रायः ५८ करोड़ रुपये चुकाना पड़ा था। किन्तु, १९०० ई० से रेलों के लाभ का काल प्रारम्भ हुआ तथा १९२४ ई० तक सरकार को कुल १०३ करोड़ रुपये का लाभ प्राप्त हुआ। १९०५ ई० में एक रेलवे बोर्ड (Railway Board) की नियुक्ति की गयी।

(५) रेल-व्यवस्था का विघटन (Breakdown of the Railway system) :—१९१४ ई० में प्रथम महायुद्ध प्रारम्भ हुआ। युद्ध-काल में युद्ध सामग्रियों एवं सैनिकों को बड़ी मात्रा में ढोने के कारण देश की रेल-व्यवस्था पर बड़ा भार पड़ा। साथ-ही, मेसोपोटामिया तथा पूर्वी अफ्रिका के अन्य रंगमंचों पर भारत से इंजन, रेल के डिब्बे एवं कर्मचारियों आदि को भेजना पड़ा। बाहर से रेलों के सामानों को मँगाना भी कठिन हो गया तथा देश में भी इनका बड़ा अभाव हो गया। रेलवे के कारखानों में विभिन्न प्रकार की युद्ध सामग्रियों तथा हॉस्पिटल ट्रेनों का निर्माण किया जाने लगा। इस प्रकार नयी लाइनों का निर्माण तो पूर्णतया रुक ही गया, वर्तमान लाइनों को भी समुचित मरम्मत के अभाव में अच्छी दशा में रखना कठिन हो गया। युद्ध-काल में रेल-व्यवस्था के विघटन का अन्दाजा आकवर्थ समिति के निम्न बयानों से लगाया जा सकता है—
"बीसियों ऐसे पुल हैं जिनपर से आधुनिक भारी बोझों से लदी ट्रेनें नहीं चल सकतीं, कितनी ही मील रेलें, सैकड़ों इंजन तथा हजारों की तायदाद में ऐसे डिब्बे हैं जिनके

बदलने की उचित तिथि का समाप्त हुए कितने ही दिन हो गए हैं।" रेल-व्यवस्था के विघटन का जनता एवं व्यापारी वर्ग पर बहुत बुरा प्रभाव पड़ा तथा भारतीय जनमत विदेशी कम्पनियों द्वारा रेलवे की व्यवस्था के विरुद्ध होने लगा।

(६) आकवर्थ कमिटी (Acworth Committee) :—भारतीय रेलों की इस बिगड़ती हुई स्थिति की जाँच के लिए भारत सरकार ने १९२० ई० में इंगलैंड के एक रेलवे विशेषज्ञ सर विलियम आकवर्थ की अध्यक्षता में एक कमिटी की नियुक्ति की। कमिटी ने १९२१ ई० में अपना प्रतिवेदन प्रस्तुत किया जिनमें कई महत्त्वपूर्ण सुझाव दिये गये थे। आकवर्थ कमिटी का प्रमुख कार्य देश में रेलों की व्यवस्था तथा वित्त के सम्बन्ध में पूर्ण विवेचन करना था। इसके अतिरिक्त कमिटी ने रेलवे बोर्ड के पुनर्निमाण के सम्बन्ध में भी सिफारिश की जिसके आधार पर १९२२ ई० में रेलवे बोर्ड का पुनर्निर्माण किया गया।

रेलवे का सरकारी प्रबन्ध बनाम कम्पनी प्रबन्ध (Government Vs. Company Management) :—आकवर्थ कमिटी के समक्ष सर्वप्रमुख प्रश्न भारतीय रेलों की व्यवस्था एवं प्रबन्ध के सम्बन्ध में था। देश की अधिकांश रेल लाइनें सरकारी सम्पत्ति थीं तथा व्यवस्था के लिए सरकार ने इन्हें निजी कम्पनियों को सौंप दिया था। १९१९ ई० में ईस्ट इण्डियन रेलवे कम्पनी का ठेका समाप्त हो रहा था, अतः सरकार ने इस सम्बन्ध में विस्तृत जाँच के लिए आकवर्थ कमिटी की नियुक्ति की। अस्थायी उपचार के रूप में कम्पनी का पुराना ठेका १९२५ ई० तक बढ़ा दिया गया। भारत में रेल-व्यवस्था की समस्या प्रारम्भ से ही विवादास्पद बनी हुई थी जिससे इस सम्बन्ध में कोई निश्चित निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता था। आकवर्थ कमिटी ने इस प्रश्न पर भली-भाँति विचार किया। कमिटी के अनुसार कम्पनियाँ, जो स्वयं अपनी पूँजी लगाती हैं तथा व्यवस्था का कार्य करती हैं, सरकार द्वारा व्यवस्थित उद्योगों की तुलना में अधिक कार्य-कुशल अवश्य होती हैं। किन्तु, भारत में रेलों की व्यवस्था करनेवाली अँगरेजी कम्पनियाँ इस अर्थ में कम्पनी नहीं हैं क्योंकि उनके प्रबन्ध के लिए सौंपी गयी रेल लाइनें उनकी निजी सम्पत्ति नहीं होकर सरकारी सम्पत्ति हैं। साथ ही, रेल-व्यवस्था में इन कम्पनियों द्वारा विनियोजित पूँजी भी अपेक्षाकृत कम ही थी। इस प्रकार रेलों की व्यवस्था केवल नाम-मात्र के लिए ही कम्पनियों के हाथ में थी क्योंकि सरकार स्वयं अपने को वास्तविक स्वामी समझती थी। इससे कम्पनियों के पास रेलों के समुचित विकास के लिए आवश्यक प्रेरणा का भी अभाव था। साथ ही, भारत में जनमत भी कम्पनी-व्यवस्था के विरुद्ध था क्योंकि कम्पनी-व्यवस्था में देशी उद्योग-धन्ध को प्रोत्साहन के बजाय आयात एवं निर्यात को प्राथमिकता दी जाती थी। विदेशी कम्पनियाँ जान-बूझकर भारतीय संहिता की उपेक्षा करती थीं, इनकी व्यवस्था में भारतीयों को न तो अच्छे पदों पर नियुक्त किया जाता था और न उन्हें आवश्यक प्राविधिक शिक्षा की ही सुविधाएँ दी जाती थीं। व्यापारियों एवं यात्रियों की सुविधाओं पर भी प्रायः ध्यान नहीं दिया जाता था। इस प्रकार कम्पनी का प्रबन्ध भारत में लोकप्रिय नहीं था। आकवर्थ कमिटी की बहुमत रिपोर्ट ने भी भारतीय जनमत का समर्थन किया। पक्ष एवं विपक्ष के प्रायः सभी तर्कों पर विचार करने के पश्चात् कमिटी ने बहुमत से राज्य-प्रबन्ध के सम्बन्ध में ही अपना विचार प्रकट किया।

अन्य समितियों ने, जैसे—रेलवे-वित्त समिति तथा भारतीय छँटनी समिति (Indian Retrenchment Committee) ने भी भारतीय रेलों की स्थिति की जाँच के पश्चात् सरकारी

प्रबन्ध के पक्ष में ही अपना सुझाव दिया था। सरकार ने भी इस सुझाव को स्वीकार कर लिया तथा १९२५ ई० में ई० आई० आर० एवं जी० आई० पी० रेलों के प्रबन्ध को अपने हाथों में ले लिया। तब से सरकार की नीति सदा यही रही है। कम्पनियों के अनुबन्ध पूरा होने पर सरकार उनका प्रबन्ध अपने हाथ में लेने लगी। इस प्रकार आजकल देश की प्रायः सभी रेलें सरकारी व्यवस्था के अन्तर्गत आ गयी हैं।

रेलवे-वित्त का साधारण वित्त से पृथक् होना

(Separation of Railway Finance from General Finance)

आकवर्थ समिति के समक्ष दूसरा महत्त्वपूर्ण प्रश्न रेलवे-वित्त के सम्बन्ध में विचार करना था। अब तक रेलवे-वित्त साधारण वित्त का एक अभिन्न अंग था। आकवर्थ कमिटी ने बहुत कारणों से रेलवे-वित्त को साधारण वित्त से अलग करने की बात पर जोर दिया। कमिटी के अनुसार भारतीय रेल-व्यवस्था के अनेक दोष रेलों के विकास एवं प्रसार के लिए समुचित कोष के अभाव के कारण थे। साधारण वित्त पर आश्रित रहने के कारण रेलों को कभी-कभी अत्यन्त आवश्यक कार्यों के लिए भी धन नहीं मिल पाता था। इस प्रकार सरकारी बजट पर आश्रित रहने के कारण रेलों का कार्य एक निश्चित व्यापारिक पद्धति के आधार पर नहीं चलने पाता था। प्रतिवर्ष ३१ मार्च को वित्तीय वर्ष की समाप्ति के साथ-साथ रेलवे विकास का कार्य भी समाप्त हो जाता था और नये सरकारी वर्ष के साथ पुनः आरम्भ होता था। देश की वित्तीय आवश्यकताओं को ध्यान में रखते हुए कभी-कभी तो वर्ष के बीच में भी रेलवे के लिए धन-राशि में से कटौती की जाती थी जिससे विकास का चालू कार्य भी स्थगित हो जाता था। जब साधारण वित्त की स्थिति में सुधार हो जाता था तो रेलवे को अधिक धन-राशि दी जाती थी जिसे उन्हें ३१ मार्च के पूर्व तक व्यय करना आवश्यक होता था। इस प्रकार की व्यवस्था में व्यय अनियोजित ढंग से होता था। इससे रेलों के विकास के कार्य में स्थायित्व का भी अभाव था। साथ ही, रेलों के लाभ पर आश्रित होने से साधारण बजट में भी एक प्रकार की अनिश्चितता बनी रहती थी। रेलों का लाभ मौसम तथा व्यापार की स्थिति के अनुसार सदा घटते-बढ़ते रहता था, अतः इससे साधारण बजट के अनुमान में कई करोड़ रुपये की कमी-बेशी की सदा आशंका बनी रहती थी। अतः, आकवर्थ कमिटी ने यह सुझाव दिया कि रेलवे-वित्त को साधारण वित्त से पृथक् करना आवश्यक है।

आकवर्थ कमिटी के सुझावों के अनुसार १९२४ ई० में विधान सभा द्वारा रेलवे वित्त को सामान्य वित्त से पृथक् करने का एक प्रस्ताव स्वीकार किया गया जिसे पृथक्करण समझौता (Separation Convention) कहते हैं। इसके अनुसार रेलवे के लाभ में से प्रतिवर्ष एक निश्चित धन-राशि सरकारी बजट को देने की व्यवस्था की गयी। इसे निम्न आधार पर तय किया गया—(१) रेलवे प्रतिवर्ष वाणिज्यिक लाइन (Commercial Lines) पर लगी हुई पूंजी का १ प्रतिशत भाग तथा इसके अतिरिक्त लाभ का $\frac{1}{5}$ भाग सरकारी बजट को दिया करेंगी। (२) इसके देने के बाद जो कुछ बचेगा उसे रेलवे सुरक्षित कोष में हस्तांतरित कर दिया जायगा। किन्तु, यदि इस प्रकार हस्तांतरित की जानेवाली रकम ३ करोड़ रुपये से अधिक होगी तो उस अधिक रकम का एक-तिहाई भाग पुनः सरकारी बजट को दे दिया जायगा। रेलवे सुरक्षित कोष

का उपयोग सरकारी बजट का पुराना बकाया, अवकर्ष कोष (Depreciation Fund) का बकाया तथा रेलवे की सामान्य स्थिति को सुदृढ़ करने में किया जायगा।

१९२५ ई० में पहला पृथक् रेलवे बजट विधान सभा के समक्ष प्रस्तुत किया गया। १९२६ ई० से ही भारतीय रेलों के लिए अभूतपूर्व समृद्धि-काल प्रारम्भ हुआ जो १९३० ई० तक बना रहा। इस समय में रेलों ने अच्छा मुनाफा कमाया तथा रेल-व्यवस्था में पर्याप्त विस्तार भी हुआ। १९१९-२० ई० में देश में रेल-मार्ग की कुल लम्बाई ३६,७३५ मील थी जो १९२९-३० में बढ़कर लगभग ४० हजार मील हो गयी।

वेजउड समिति (Wedgewood Committee) :—किन्तु, १९२९-३० ई० को भयानक आर्थिक मन्दी के प्रभाव से भारतीय रेलें भी वंचित नहीं रह सकीं। १९२९ ई० से मन्दी का काल प्रारम्भ हुआ जिसका भारतीय रेलों के विकास पर बहुत बुरा प्रभाव पड़ा। १९३० ई० से १९३७ ई० के बीच का समय भारतीय रेल-व्यवस्था के लिए घाटे का समय रहा। अतः, १९३६ ई० में भारतीय रेलों की स्थिति की जाँच के लिए राल्फ वेजउड की अध्यक्षता में 'भारतीय रेलवे जाँच समिति' की नियुक्ति की गयी जिसने अपना प्रतिवेदन जून, १९३७ ई० में प्रकाशित किया। समिति ने रेलवे-व्यवस्था से सम्बन्धित प्रायः हरेक पहलू के सम्बन्ध में सुझाव दिया था जिससे रेलवे की मितव्ययिता तथा कुशलता मे वृद्धि हो। समिति ने रेलों के लिए पर्याप्त अवकर्ष कोष (Depreciation Fund) की आवश्यकता पर भी विशेष रूप से बल दिया। समिति के विचार में इस प्रकार के कोष में कम-से-कम ३० करोड़ रुपये का होना आवश्यक था। साथ ही, रेलों के लिए सामान्य सुरक्षा कोष (General Reserve Fund) की स्थापना का सुझाव भी दिया गया। इस कोष से ब्याज तथा ऋण के भुगतान में सहायता मिलेगी। समिति ने जनता तथा रेलों के बीच अधिक सम्पर्क बढ़ाने पर भी बहुत जोर दिया। इसके लिए समाचार-पत्रों से घनिष्ठता बढ़ाने तथा रेलवे सूचना कार्यालय खोलने की सिफारिश की गयी। समिति ने रेल-सड़क संयोजन (Rail-road Co-ordination) तथा भाड़े की दरों में संशोधन के सम्बन्ध में महत्त्वपूर्ण सुझाव दिया। इस प्रकार वेजउड कमिटी ने भारतीय रेलों की स्थिति में सुधार के लिए कई महत्त्वपूर्ण सुझाव दिये।

१९३६-३७ ई० के बाद भारतीय रेलों की आर्थिक स्थिति में सुधार होने लगा तथा इनकी आय में पुनः वृद्धि होने लगी। सन् १९३९-४० ई० में इनकी आय बढ़कर पुनः ११·५ करोड़ रुपये हो गयी। द्वितीय युद्धकाल में तो रेलों की आय में बहुत अधिक वृद्धि हुई जिसके फलस्वरूप रेलों ने अपना कुल ऋण चुका दिया तथा इन्हें बचत भी होने लगी।

द्वितीय युद्धकाल में भारतीय रेलवे (Indian Railways during the Second World War) :—द्वितीय युद्धकाल भारतीय रेलों के लिए आर्थिक दृष्टि से समृद्धि का समय था क्योंकि युद्धकाल में रेलों की माँग बढ़ जाने से इनकी आय में आशातीत वृद्धि हुई। किन्तु, युद्धकाल में इन्हें अपनी शक्ति से अधिक कार्य करना पड़ा। काम का बोझ अधिक हो जाने से देश की सम्पूर्ण रेल-व्यवस्था अस्त-व्यस्त हो गयी। जापान के युद्ध में प्रवेश करने के फलस्वरूप तो भारतीय रेलों को कठिनाइयाँ और भी बढ़ गयीं। समुद्री यातायात की सुविधा समाप्त हो जाने के कारण यातायात का सम्पूर्ण भार रेलों को ही वहन करना पड़ा। साथ ही,

भारतीय रेलों के इंजन, डिब्बे, एवं पटरी आदि को मध्य-पूर्वी देशों में भेजना पड़ा। इससे २६ शाखा लाइनें बन्द कर दी गयी। रेल के कारखानों में विभिन्न प्रकार की सैनिक सामग्रियाँ तैयार की जाने लगीं। साथ ही, मरम्मत तथा सुधार के लिए विदेशों से आवश्यक समान का आयात नहीं किया जा सकता था। ऐसी स्थिति में रेलों का ह्रास प्रारम्भ हो गया। जनता की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए रेल के डिब्बे तथा पैसेन्जर गाड़ियों का अभाव होने लगा। अतः, भीड़ बहुत बढ़ गयी। सामानों को भेजने में प्राथमिकता की प्रथा अपनानी पड़ी। इस प्रकार उक्त कारणों से युद्ध-समाप्ति के बाद प्रथम युद्ध की ही तरह भारतीय रेलों की स्थिति अत्यन्त असन्तोषजनक हो गयी, रेल के विभिन्न साधनों की मरम्मत नहीं हो सकी थी तथा आधुनिकीकरण एवं प्रतिस्थापन का कार्य बहुत पिछड़ गया था।

देश-विभाजन तथा रेल-व्यवस्था (Partition and the Railway System) :—१९४७ ई० के देश-विभाजन ने भारतीय रेलों की कठिनाइयों को और भी बढ़ा दिया। विभाजन के पूर्व देश में कुल ४०,२५४ मील लम्बी रेल-लाइनें थीं जिनमें ६,५६८ मील रेल-मार्ग पाकिस्तान को तथा ३३,५६६ मील भारत को मिला। विभाजन के फलस्वरूप साम्प्रदायिक दंगे के कारण भारतीय रेलों को बहुत बड़ी संख्या में शरणार्थियों को ढोना पड़ा। साथ ही, विभाजन के फलस्वरूप बहुत से कुशल कर्मचारी पाकिस्तान चले गये जिनके रिक्त स्थानों की पूर्ति वहाँ के कर्मचारियों से नहीं की जा सकी। विभाजन के पश्चात् देश में ड्राइवरों की संख्या पहले की अपेक्षा १८ प्रतिशत घट गयी। (ई० आई० आर० में तो ड्राइवरों की संख्या में प्रायः ४५ प्रतिशत की कमी हो गयी थी।) इससे रेल-दुर्घटना की संख्या में बहुत वृद्धि हो गयी।

भारतीय रेलों का पुनर्वर्गीकरण

(Re-Grouping of Indian Railways)

भारतीय रेलों के इतिहास को देखने से यह पता चलता है कि यहाँ रेलों का विकास अति अनियमित एवं असंगठित तरीके से हुआ। स्वतन्त्रता-प्राप्ति के पूर्व रेलों की व्यवस्था पृथक्-पृथक् कम्पनियों द्वारा की जाती थी जिससे इनकी शासन-व्यवस्था में घोर विभिन्नता पायी जाती थी। १९४९-५० ई० तक देश की प्रायः सम्पूर्ण रेल-व्यवस्था भारत सरकार के हाथ में आ गयी। देशी राज्यों के विलयन (merger) से इनकी रेल-व्यवस्था पर भी भारत सरकार का अधिकार हो गया। ऐसी स्थिति में देश में रेलवे-प्रशासन में समानता लाने के उद्देश्य से रेलों के पुनर्वर्गीकरण पर जोर दिया जाने लगा। रेलों के पुनर्वर्गीकरण के पक्ष में अनेक तर्क प्रस्तुत किये जाते हैं। सर्वप्रथम तो इससे शासन की जटिलता दूर की जा सकती है। पुनर्वर्गीकरण के पूर्व देश में रेलवे प्रशासन की प्रायः ३७ छोटी-बड़ी इकाइयाँ थीं जिनके बीच समन्वय स्थापित करना एक कठिन कार्य था। भिन्न-भिन्न रेलों के भाड़े की दरों में भी विभिन्नता पायी जाती थी जिससे विभिन्न रेलें एक राष्ट्र की रेलों का आभास नहीं देती थीं। वर्गीकरण का दूसरा लाभ शासन-सम्बन्धी व्यय में मितव्ययिता थी। रेलों के वर्गीकरण से देश की रेल-व्यवस्था की कार्य-क्षमता में भी वृद्धि की आशा की गयी थी। इससे रेलों के भावी विकास की एक राष्ट्र-व्यापी योजना कार्यान्वित करने में सुविधा होगी। इन सभी लाभों के फलस्वरूप देश के रेलों का पुनर्वर्गीकरण आवश्यक समझा गया।

रेलवे-समूह (Railway Zones)

समूह (Zones)	निर्माण की तिथि	सम्मिलित रेलों का नाम	मुख्य कार्यालय	३१ मार्च, १९७० को रेल-मार्ग की लं० (कि० मी०) में
१. दक्षिणी रेलवे	१४ अप्रैल, १९५१	मद्रास तथा दक्षिणी मराठा रेलवे, दक्षिणी रेलवे तथा मैसूर रेलवे	मद्रास	७,४४५
२. केन्द्रीय रेलवे	५ नवम्बर, १९५१	जी० आई० पी० रेलवे, निजाम-सिंधिया तथा ढोलपुर की रेलें	बम्बई	५,७६५
३. पश्चिमी रेलवे	५ नवम्बर, १९५१	बम्बई-बड़ौदा एवं सेन्ट्रल इण्डिया, सौराष्ट्र, कच्छ, राजस्थान तथा जयपुर की रेलें	बम्बई	१०,१४४
४. दक्षिणी मध्य रेलवे	२ अक्टूबर, १९६६	दक्षिण तथा केन्द्रीय रेलवे का भाग	सिकन्दराबाद	६,१६०
५. उत्तरी रेलवे	१४ अप्रैल, १९५२	पूर्वी पंजाब, जोधपुर, बीकानेर तथा ईस्ट इण्डियन रेलवे के तीन ऊपरी डिविजन	दिल्ली	१०,६१८
६. उत्तरी-पूर्वी रेलवे	१४ अप्रैल, १९५२	अवध-तिरहुत रेलवे तथा बम्बई-बरोदा रेलवे का फतेहपुर डिविजन	गोरखपुर	४,६६५
७. उत्तरी-पूर्वी सीमांत रेलवे	१५ जनवरी, १९५८	कुछ साधारण परिवर्तन के साथ असम रेलवे	मलिगाँव (गोहाटी)	३,६३३
८. पूर्वी रेलवे	१४ अप्रैल, १९५२	ईस्ट इण्डियन रेलवे (तीन ऊपरी डिविजनों के अतिरिक्त)	कलकत्ता	४,१४४
९. दक्षिण-पूर्वी रेलवे	१ अगस्त, १९५५	बंगाल नागपुर रेलवे	कलकत्ता	६,८१०

१९५० ई० में रेलवे बोर्ड की एक विशेष कमिटी ने रेलों के वर्गीकरण की सिफारिश की तथा उसी वर्ष इस कार्य के लिए एक योजना भी तैयार की गयी। राज्य सरकारों, व्यापारिक संस्थाओं तथा रेल-मजदूर संघों ने भी इस योजना का अनुमोदन किया। फलतः देश की सम्पूर्ण रेल-व्यवस्था को प्रारम्भ में ६ समूहों में विभाजित कर दिया गया। बाद में, १९५५ ई० में पूर्वी रेलवे को पुनः दो समूहों में तथा १९५८ ई० में उत्तरी-पूर्वी रेलवे को दो समूहों में विभाजित किया गया। पुनः २ अक्टूबर, १९६६ ई० को एक नये रेलवे समूह, मध्य-दक्षिणी रेलवे का निर्माण किया गया है। इस प्रकार कुल मिलाकर आजकल ९ रेलवे समूह (Railway Zones) हैं। इनके सम्बन्ध में विस्तृत जानकारी पृष्ठ ६०३ की तालिका[1] से प्राप्त हो जाती है।

इस प्रकार आजकल भारतीय रेलों को उक्त नौ समूहों में विभाजित किया गया है। प्रत्येक क्षेत्र के प्रधान कार्यालय अलग-अलग स्थानों में स्थित हैं। पुनर्वर्गीकरण की नीति की आलोचना भी की जाती है। पुनर्वर्गीकरण में कुछ प्रमुख रेलों जैसे ईस्ट इण्डियन रेलवे तथा बी० बी० सी० आई० रेलवे को तोड़ना पड़ा जिससे बहुत अनावश्यक असुविधा हुई। इससे इंजन; डिब्बे तथा अन्य आवश्यक सामग्रियों के क्रय में कोई मितव्ययिता की आशा नहीं की जा सकती है। व्यापार तथा उद्योग के क्षेत्र में भी इससे कठिनाइयाँ बढ़ गयीं। किन्तु, इन सब आलोचनाओं में कोई विशेष तथ्य नहीं दिखाई देता। वास्तव में, देश की रेल-व्यवस्था के पुनर्वर्गीकरण से निश्चय ही लाभ हुआ था।

पुनर्वर्गीकरण के पश्चात् रेलों की कार्यवाही की १९५४ ई० में जाँच की गयी जिसके आधार पर यह निष्कर्ष निकाला गया कि पुनर्वर्गीकरण से देश की रेल व्यवस्था को बहुत अधिक लाभ हुए हैं। फिर भी यह कहा जा सकता है कि देश की रेल-व्यवस्था में आवश्यक कुशलता का अभाव है जिससे इनमें और अधिक सुधार की आवश्यकता है।

भारतीय रेलों की वर्तमान स्थिति

(Present Position of the Indian Railways)

भारत की रेल-व्यवस्था आज ५९,६८८ किलोमीटर लम्बी है। यह एशिया की सबसे बड़ी तथा विश्व की चौथी लम्बी रेल-व्यवस्था है। इसमें ३९२८ करोड़ रुपये से भी अधिक की पूँजी लगी है तथा इसमें ११,३०० ईंजन, ३४,७०० यात्री-डिब्बे तथा ३·८४ लाख माल गाड़ियों के डब्बे हैं। १९६९-७० ई० में भारतीय रेलों द्वारा औसतन प्रति दिन ६४ लाख यात्री तथा ५·७ लाख टन माल ढोये गये थे। यह देश का सबसे बड़ा राष्ट्रीय उद्योग है जिससे १९६९-७० ई० के बजट के अनुसार ९५५·४ करोड़ रुपये की कुल आय (Gross traffic receipts) प्राप्त हुई थी। भारतीय रेलों में प्रायः १३·६ लाख व्यक्तियों को रोजी मिलती है।

किन्तु फिर भी भारत में पश्चिम के विकसित राष्ट्रों की तुलना में रेलों का अभी बहुत अधिक अभाव है जो निम्नांकित तालिका से स्पष्ट है—

कतिपय देशों में रेलों की लम्बाई

देश	प्रति १ लाख जनसंख्या पर रेलों की लम्बाई (मील में)	प्रति १०० वर्गमील क्षेत्र पर रेलों की लम्बाई (मील में)
भारत	९·६	२·७
संयुक्त राज्य अमेरिका	२२४	६·६
ब्रिटेन	४६	२०·०
कनाडा	४६५	१०·०

1. India–1971–72.

वर्तमान समय में भारतीय रेलों को पुनः सड़क यातायात की बढ़ती हुई प्रतियोगिता का सामना करना पड़ता है। Transport Policy and Co-ordination Committee के अनुसार औद्योगिक उत्थान में वृद्धि के परिणामस्वरूप ढोये जाने वाले माल का एक बहुत छोटा भाग ही रेलवे को प्राप्त हुआ है। मोटर यातायात को ही इसका बड़ा भाग प्राप्त हुआ है। इन्होंने दूर-दूर तक माल ढोना प्रारम्भ कर दिया है। समिति के अनुसार औसत रूप से १९·७ प्रतिशत ट्रक ३२० कि० मी० या इससे अधिक तथा ८·६ प्रतिशत ट्रक ४८० कि० मी० या इससे अधिक तक चलते हैं। रेलों द्वारा ले जाये गये उच्च दूरीय मालों का हिस्सा १९५६-५७ में ३६·८ प्रतिशत से घटकर-१९६८-६९ में २५ प्रतिशत हो गया है

भारतीय रेलवे की वित्तीय व्यवस्था

(Finances of the Indian Railways)

प्रारम्भ से लेकर प्रायः १९०० ई० तक भारतीय रेलों को केवल घाटा-ही-घाटा होता था। इसका प्रमुख कारण रेलों के निर्माण में अपव्यय था। किन्तु १९०० ई० से भारतीय रेलों के लाभ का समय प्रारम्भ हुआ जो एक-आध वर्षों को छोड़कर लगातार प्रायः १९३० ई० तक चला। १९२४ ई० तक भारतीय रेलों के लिए पृथक् बजट की व्यवस्था नहीं थी। किन्तु उसी वर्ष आकवर्थ समिति के सुझावों के आधार पर रेलवे वित्त को सामान्य वित्त से पृथक् कर दिया गया। इसका भारतीय रेलों की कार्यवाही पर बड़ा ही अच्छा प्रभाव पड़ा। १९२४ ई० में विधान सभा में इस आशय का एक प्रस्ताव रखा गया जो स्वीकृत हुआ जिसे पृथक्करण समझौता (Separation Convention) कहा जाता है। इसके अनुसार भारतीय रेलों को प्रतिवर्ष अपने लाभ का एक निश्चित प्रतिशत सरकारी बजट को देना पड़ता था। साथ ही, रेलों के लिए एक सुरक्षित कोष तथा एक अपकर्ष (Depreciation Fund) का निर्माण किया गया। वित्तीय व्यवस्था के इस पृथक्करण से लाभ यह हुआ कि रेलवे स्वतन्त्र रूप से आयोजित तरीके द्वारा अपना विकास कर सकती थी। अब भारतीय रेल अपनी आवश्यकतानुसार अपने विकास, विस्तार, पुनर्संगठन एवं अपकर्ष कोष बनाने में समर्थ हो गयी।

किन्तु, दुर्भाग्य से यह पृथक्करण समझौता बहुत दिनों तक सफलतापूर्वक कार्य नहीं कर सका। १९२९-३० ई० की विश्व-व्यापी आर्थिक मन्दी के प्रभाव से भारतीय रेलें भी वंचित नहीं रह सकीं। १९३०-३१ ई० से इनकी आर्थिक स्थिति बहुत ही खराब होने लगी। भारतीय रेलें को इस अवधि में बहुत घाटा हुआ। १९३६ ई० तक इन्हें अपकर्ष कोष से ३२·९९ करोड़ रुपये ऋण लेना पड़ा तथा सामान्य राजस्व का ३०·७४ करोड़ रुपये का बकाया इन पर जमा हो गया। किन्तु १९३९ ई० में द्वितीय महायुद्ध प्रारम्भ होने के साथ-साथ भारतीय रेलों की आर्थिक स्थिति में भी पर्याप्त मात्रा में सुधार हो गया तथा १९४२-४३ ई० तक अपकर्ष कोष एवं सुरक्षित कोष से लिया गया सारा ऋण एवं सामान्य राजस्व का बकाया धन चुका दिया गया।

२ मार्च, १९४३ ई० को विधान सभा में एक प्रस्ताव पारित हुआ जिसके अनुसार १९२४ ई० के रेलवे पृथक्करण समझोते को पूर्णतः असफल बतलाया गया। अतः इसमें निम्नलिखित संशोधन किये गये—(१) १९२४ ई० के Convention के आंतरिक प्रचलित और बकाया के अतिरिक्त रेलवे १९४२-४३ ई० में सामान्य राजस्व को २५,३३,००० रुपया दें; (२) १९४३-४४ ई० से वाणिज्यीक लाइनों से होने वाले लाभ को अपकर्ष कोष से लिए गये ऋण को

चुकाने में लगाया जाय। इसके पश्चात् २५ प्रतिशत रेलवे सुरक्षा कोष को मिलेगा और ७५ प्रतिशत सामान्य राजस्व को; (३) जब तक कोई नया प्रस्ताव इस सम्बन्ध में नहीं स्वीकृत किया जाय तब तक आनेवाले वर्षों में वाणिज्यीक लाइनों से होने वाली बचत का रेलवे सुरक्षित कोष और सामान्य राजस्व के बीच विभाजन दोनों की आवश्यकताओं को ध्यान में रखते हुए किया जायगा।

पृथक्करण समझौता में संविधान सभा ने २१ दिसम्बर, १६४६ ई० को एक संशोधन प्रस्ताव स्वीकार किया जिसे १ अप्रैल, १६५० ई० से लागू किया गया। इसके अनुसार—(१) रेलवे वित्त-व्यवस्था को सामान्य वित्त-व्यवस्था से पहले की तरह पृथक् रहना आवश्यक समझा गया। (२) भारतीय करदाता को रेलवे का हिस्सेदार समझा जाने लगा तथा रेलवे में विनियोग की गयी पूँजी पर सामान्य राजस्व को एक निश्चित लाभांश देने की व्यवस्था की गयी। (३) १९५०-५१ ई० से ५ वर्ष तक ४ प्रतिशत की दर से वार्षिक लाभांश दिया जायगा। पाँच वर्षों के बाद पुनः लाभांश की दर के सम्बन्ध में केन्द्रीय व्यवस्थापिका सभा की एक समिति द्वारा जाँच की जायगी। १६६० ई० के रेलवे कन्वेंशन समिति ने १९६१-६६ ई० के बीच ४½ प्रतिशत की दर से वार्षिक लाभांश देने की सिफारिश की। (४) इस समझौता में एक रेलवे विकास कोष स्थापित करने की व्यवस्था की गयी जिसका उद्देश्य निम्नलिखित कार्यों के लिए अर्थ-प्रबन्ध करना होगा—(क) यात्रियों की सुविधा, (ख) श्रम-कल्याण कार्य, एवं (ग) नयी रेल लाइनें, जो अलाभकर होते हुए भी आवश्यक हों, का निर्माण। (५) रेलवे अपकर्ष कोष में कम-से-कम प्रथम पाँच वर्षों में १५ करोड़ रुपये का संग्रह आवश्यक समझा गया जिसका प्रयोग आधुनिकीकरण और प्रतिस्थापन के लिए किया जायगा। समझौते के बाद इसे बढ़ाकर प्रतिवर्ष ३० करोड़ रुपये कर दिया गया।

किन्तु, नये समझौते के अनुसार भारतीय रेलों की सामान्य राजस्व पर से निर्भरता पूर्ण-रूपेण समाप्त नहीं हो सकी। रेलवे की अपनी कोई पृथक् कार्यशील रकम (working balance) नहीं रह जाती। साथ ही, इसका कोष केन्द्रीय सरकार के साथ जमा रहता है जिसे सरकार आवश्यकता पड़ने पर प्रयोग भी कर सकती है। अतः अब भी एक निश्चित अर्थ में भारतीय रेलों को केन्द्रीय वित्त-व्यवस्था पर आश्रित रहना पड़ता है जो इनके लिए प्रायः संरक्षण का कार्य करता है।

नया वित्तीय समझौता (New Financial Convention) :—उक्त समझौता पर १९५४ ई० में एक विशेष समिति द्वारा विचार किया गया। इसी समिति के सुझावों के आधार पर १६५४ ई० में एक नया समझौता लागू किया गया जिसमें निम्नलिखित संशोधन के साथ उक्त समझौते की प्रायः सभी शर्तों को अपनाया गया—(क) नयी लाइनों के निर्माण पर व्यय की गयी पूँजी के लिए निर्माण-काल तथा निर्माण के पाँच वर्षों के बाद तक कोई रकम सरकार को नहीं चुकायी जायगी; (ख) रेलवे अपकर्ष कोष (Railway Depreciation Fund) की रकम को बढ़ा-कर ३५ करोड़ रुपये प्रति वर्ष कर दिया गया। बाद में प्रतिस्थापन व्यय में वृद्धि के फलस्वरूप इस रकम को बढ़ाकर ४५ करोड़ रुपये कर दिया गया।

स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद भारतीय रेलों की आय में पर्याप्त वृद्धि हुई है तथा रेलों ने सामान्य राजस्व को तिवर्ष एक अच्छी रकम चुकाना प्रारम्भ कर दिया है। भारतीय रेलों ने

सामान्य राजस्व को १९५५-५६ ई० में ३६·१२ करोड़ रुपये, १९६०-६१ ई० में ६५·८६ करोड़ रुपये; १९६३-६४ ई० में ९५·९ करोड़ रुपये; १९६५-५६ ई० में ११६·२२ करोड़ रुपये; तथा १९६८-६९ ई० के बजट के अनुसार १५२ करोड़ रुपये लाभ के रूप में दिया है। निम्नलिखित तालिका से गत वर्षों में भारतीय रेलवे की आय का अन्दाजा लगता है :—

रेलों से प्राप्त कुल आय (करोड़ रुपयों में)

	१९५५-५६ (वास्तविक)	१९६०-६१ (वास्तविक)	१९६६-६७ (वास्तविक)	१९७०-७१ (Bubget)
यात्रियों से प्राप्त आय	१०७·७१	१३१·५९	२२९·२५	३१८·७५
अन्य प्रकार से प्राप्त आय	२०·८७	२६·७१	३९·४०	५९·५०
माल ढोने से प्राप्त आय	१८०·२८	२८६·१४	४९२·००	६५९·००
अन्य साधनों से आय	६·८१	१२·६३	२४·५०	३६·००
कुल आय	३१५·६७	४५०·५७	७८५·१५	१०७३·२५

१९७१-७२ ई० के बजट के अनुसार रेलो से कुल प्राय: १०७३·२५ करोड रुपये की आय का अनुमान किया गया था। इसमें से ८८५·४३ करोड़ रुपये व्यय होगा। इस प्रकार इस वर्ष में रेलों से कुल १६६·९ करोड़ रुपये की शुद्ध आय की आशा की गई थी जिसमें से १७३·८ करोड़ रुपये सामान्य राजस्व को रेलें प्रदान करने को थीं।

रेलवे-दर सम्बन्धी नीति (Railway Rates Policy) : –रेलों के किराये एवं भाड़े की दरों का देश के उद्योग, कृषि एवं वाणिज्य के विकास तथा स्वयं रेलों की वित्तीय स्थिति को सुदृढ़ बनाने में बहुत अधिक महत्त्व है। भाड़े की दर अधिक होने पर इसका वस्तुओं के उत्पादन व्यय पर प्रभाव पड़ता है जिससे वस्तुएँ महँगी हो जाती हैं तथा औद्योगीकरण को प्रोत्साहन नहीं मिलता। इनका प्रभाव उद्योगों के स्थानीयकरण पर भी पड़ता है। इसी प्रकार रेलों का किराया अधिक होने से यातायात के अन्य साधनों को प्रोत्साहन मिलता है जिससे रेलवे को क्षति उठानी पड़ती है। अतः रेलों के भाड़े तथा किराये की दर-सम्बन्धी नीति इस प्रकार की होनी चाहिए जिससे रेलवे को भी लाभ तथा साथ ही देश की कृषि, उद्योग एवं वाणिज्य के विकास को भी पर्याप्त प्रोत्साहन मिले।

रेलवे-निर्माण के प्रारम्भिक काल में भारत सरकार रेलों की दरों के निर्धारण में कोई हस्तक्षेप नहीं करती थी। प्रत्येक कम्पनी अपनी इच्छानुसार अपनी दरों का निर्धारण करती थी जिससे दरों में घोर विषमता पायी जाती थी। १८८७ ई० में सरकार ने दरों के निर्धारण के लिए दो सिद्धान्त निश्चित किये—(क) राज्य द्वारा अधिकतम तथा न्यूनतम दरें निश्चित की जायँगी, तथा (ख) राज्य इस बात को ध्यान में रखेगा कि रेलवे कम्पनियाँ किसी भी व्यक्ति अथवा संस्था को अनुचित रियायत नहीं दे रही हैं।

स्वतन्त्रता-प्राप्ति के पूर्व भारत में किराये तथा भाड़े की दरें देश के हितों के अनुकूल नहीं थीं। अतः इनकी कड़ी आलोचना की जाती थी। इसके विरुद्ध प्रमुख आलोचना यह थी कि रेलों की दरों का निर्धारण केवल उनकी आय को ध्यान में रखकर ही किया जाता था। किराये की दरें इस प्रकार रखी जाती थीं जिससे कि भारतीय उद्योगों के विरुद्ध विदेशी उद्योगों को विशेष प्रोत्साहन

मिलता रहे। उदाहरण के लिए, भारत से कच्चे माल के निर्यात तथा विदेशी माल के आयात को सस्ता बनाने के लिए रेलों ने देश के भीतर बन्दरगाहों तथा बन्दरगाहों से देश के अन्य उद्योगों के केन्द्रों तक किराया कम रखा था। इसके विरुद्ध दूसरी आलोचना यह दी जाती थी कि दरों के निर्धारण में दूरी को ध्यान में रखा जाता था। इससे लम्बी यात्रा करने वालों तथा दूर तक सामान भेजने वालों को अधिक किराया देना पड़ता था। ब्लॉक रेट्स (Block Rates) पद्धति के कारण भी असन्तोष था। इसके अनुसार छोटे-छोटे स्टेशन से जंकशन तक पहुँचने के लिए थोड़ी दूर का अधिक भड़ा देना पड़ता था। इसका उद्देश्य जिस लाईन पर यातायात प्रारम्भ हुआ हो उसी पर उसे रोकना था जिससे वह दूसरी प्रतियोगी लाईन पर न चला जाय। साथ ही, विभिन्न कम्पनियों की दरों में भी विभिन्नता पायी जाती थी। इस प्रकार दरों का निर्धारण बहुत ही दोषपूर्ण था। आकवर्थ समिति ने दरों के निर्धारण के प्रश्न पर विचार किया तथा एक दर न्यायालय (Rates Tribunal) की स्थापना का सुझाव दिया था। किन्तु, सरकार ने इसकी जगह १९२६ ई० में एक दर-परामर्शदात्री समिति (Rates Advisory Committee) की नियुक्ति की जिससे इस सम्बन्ध में कोई विशेष उपयोगी कार्य नहीं हो सका। अन्ततः १९४९ ई० में एक दर न्यायालय की स्थापना की गयी।

१९४८ ई० में भाड़े की दरों की भली-भाँति जाँच करने के पश्चात् भाड़े की नयी व्यवस्था लागू की गयी। इस व्यवस्था में पुरानी शिकायतों को पूर्णतया निर्मूल करने का प्रयत्न किया गया। इसके पूर्व भाड़े की दरों के निर्धारण में फ्लैट प्रणाली का अनुसरण किया जाता था, किन्तु इसके बाद टैलिस्कोपिक प्रणाली का अनुसरण किया जाने लगा जिसके अनुसार दूरी में वृद्धि के साथ-साथ किराये की दरों में भी कमी होने लगती है। कुछ कच्चे पदार्थों तथा खनिजों पर भाड़े की दरों को कम कर दिया गया। देश के उद्योग-धन्धों के तैयार मालों के भाड़े की दरों में भी परिवर्त्तन किया गया। इन दरों में १ अप्रैल १९५२ ई० को कुछ और परिवर्त्तन किये गये जिसके अनुसार बहुत-सी दरों का प्रमाणीकरण किया गया जिससे इनमें कुछ वृद्धि भी हुई। कोयले की दर में प्रायः ३० प्रतिशत की वृद्धि की गयी। इस प्रकार आजकल रेलवे-दर के अन्तर्गत विभिन्न वस्तुओं के लिए १५ प्रकार की दरें तथा मालगाड़ियों से भेजने के लिए १३ प्रकार की वैगन की दरें हैं। दर के निर्धारण में टेलिस्कोपिक पद्धति का अनुसरण किया जाता है। इस पद्धति के अनुसार ज्यों-ज्यों दूरी बढ़ती जाती है, त्यों-त्यों भाड़े की दर में भी कमी होती जाती है। अप्रैल, १९५५ ई० से भाड़े की टेलिस्कोपिक दरों में और अधिक कमी की गयी जिससे ज्यादा दूर तक माल भेजने की दर में और अधिक कमी हो गयी।

जनवरी, १९४८ ई० से यात्रियों के लिए भी भारतीय रेलों में किराये की समान दर निश्चित कर दी गयी। १९५१ ई० में इन दरों में २० से २५ प्रतिशत की वृद्धि की गयी। किन्तु अभी तक यात्रियों के किराये के निर्धारण में फ्लैट रेट का ही अनुसरण किया जाता था। १ अप्रैल, १९५५ ई० से यात्रियों के किराये में भी टेलिस्कोपिक पद्धति का अनुसरण किया जाने लगा। १५ सितम्बर, १९५६ ई० से यात्रियों के किराये पर एक प्रकार का विशेष कर (Railway Passenger Fare Tax) लगाया गया जिसके अनुसार १६ से ३० मील की दूरी तक यात्रियों के किराये पर ५ प्रतिशत, ३१ से ५०० मील तक १५ प्रतिशत तथा ५०१ मील से अधिक की दूरी के लिए २० प्रतिशत का एक कर लगाया गया। १५ मील तक की

दूरी पर यह कर नहीं लगाया गया। अप्रैल, १९६५ ई० से पुन: रेलों के भाड़े की दरों में वृद्धि की गयी। पुन: जून, १९६७ तथा १९६८ ई० में रेलवे के किराये तथा भाड़े की दरों में वृद्धि की गयी। १९७० ई० में पुन: उच्च श्रेणी के भाड़े की दरों में वृद्धि की गयी।

भारतीय रेल-व्यवस्था के पुनर्वर्गीकरण से किराये तथा भाड़े में सुविधा हुई है। पुनर्वर्गीकरण के फलस्वरूप रेल का किराया निर्धारित करने का आधार सरल हो गया है तथा दरों में जो अव्यवस्था पायी गयी थी वह दूर हो गयी है। किन्तु हमारे देश में रेलों के भाड़े एवं किराये में गत कुछ दिनों से बराबर वृद्धि की जा रही है। यह भारत जैसे निर्धन देश के लिए उचित नहीं जान पड़ता।

पंचवर्षीय योजनाओं में भारतीय रेलें

(Indian Railways in Five Year Plans)

प्रथम पंचवर्षीय योजना में रेलवे (Railways in the First Five Year Plan):— प्रथम पंचवर्षीय योजना प्रारम्भ होने के १० वर्ष पूर्व से ही भारतीय रेल-व्यवस्था पर युद्ध एवं देश-विभाजन के फलस्वरूप भार बहुत अधिक बढ़ गया था। इससे सम्पूर्ण देश की रेल-व्यवस्था प्राय: अस्त-व्यस्त हो गयी थी। अत: प्रथम योजनाकाल में रेल-व्यवस्था के आधुनिकीकरण तथा प्रतिस्थापन पर अधिक जोर दिया गया था। प्रथम योजनाकाल में भारतीय रेलों के विकास पर वास्तविक व्यय ५२३·७ करोड़ रुपये हुआ। योजनाकाल में १५८६ इंजन; ६१,२५४ मालगाड़ियों के डब्बे तथा ४७५८ यात्री गाड़ियों के डब्बे खरीदे गये। फिर भी योजना के अन्त में ३०·७ प्रतिशत इंजन, १९·६ प्रतिशत मालगाड़ियों के डब्बे तथा ३३·७ प्रतिशत यात्री डब्बे पुराने पड़ गये थे जिनका प्रतिस्थापन आवश्यक था। प्रथम योजनाकाल की सबसे बड़ी विशेषता देश में इन सब चीजों के उत्पादन में वृद्धि थी। देश में प्रथम योजनाकाल में ५९६ रेल इंजन, ४३५१ यात्री डब्बे तथा ४१,१९२ मालगाड़ी के डब्बों का उत्पादन हुआ था।[1]

प्रथम योजनाकाल में १३०४ किलो मीटर लम्बी नयी रेल लाइनों का निर्माण किया गया तथा ६३० किलो मीटर लम्बी लाइनों को दुहरा बनाया गया। प्रथम योजनाकाल में भारतीय रेलों के ट्रैफिक में २४·७ प्रतिशत की वृद्धि हुई। भारतीय रेलों का ट्रैफिक १९५०-५१ ई० में ९·१ करोड़ टन से बढ़कर १९५५-५६ ई० में ११·१ करोड़ टन हो गया। साथ ही ट्रैफिक की पद्धति में धीरे-धीरे परिवर्तन हुआ। इसमें औद्योगिक तथा खनिज-पदार्थों का महत्त्व दिन-प्रति-दिन बढ़ने लगा। इस प्रकार प्रथम योजनाकाल में भारतीय रेलों की प्रगति संतोषजनक रही है।

द्वितीय पंचवर्षीय योजना में रेलवे की प्रगति (Progress of Railways in the Second Five Year Plan):— द्वितीय पंचवर्षीय योजना में रेल-व्यवस्था के विकास पर पर्याप्त जोर दिया गया था। द्वितीय योजना में रेलों द्वारा अनुमानत: ६१० लाख टन अतिरिक्त बोझ ढोने के फलस्वरूप रेल-व्यवस्था पर अधिक भार पड़ने की आशा की जाती थी। अत: द्वितीय योजनाकाल में रेलों के विकास पर कुल ९०० करोड़ रुपये व्यय का आयोजन था। साथ ही, २२५ करोड़ रुपये अपकर्ष कोष (Railway Depreciation Fund) से व्यय किया जाने को था। किन्तु बाद में इसमें परिवर्तन किया गया तथा व्यय की रकम को बढ़ाकर ११२१·५

1. Review of the First Five Year Plan, pp. 230-236.

करोड़ रुपये कर दिया गया। किन्तु द्वितीय योजना काल में रेलवे विकास के मद में केवल ८७८·६ करोड़ रुपये, यानी कुल आयोजित व्यय का ८० प्रतिशत भाग ही व्यय किया जा सका। योजनाकाल में २२१६ इंजन; ७,७१८ यात्री डब्बे तथा ९७,९१९ मालगाड़ियों के डब्बे प्राप्त किये गये। द्वितीय योजनाकाल में चितरंजन के कारखाने से ८३१ इंजन तथा टेल्को (Tata Engineering and Locomotive Work Co. Ltd) द्वारा मीटर गेज के २४६ इंजनों का उत्पादन हुआ। इसी प्रकार यात्री डब्बों तथा मालगाड़ियों के डब्बों के निर्माण में भी वृद्धि का आयोजन था जो प्रायः पूरा हो गया।

द्वितीय योजनाकाल में १३११ किलोमीटर लम्बी नयी लाइनें बिछाई गयीं। इनके अतिरिक्त १५१२ किलोमीटर लम्बी लाइनों को दुहरा बनाया गया। द्वितीय योजनाकाल में प्रायः ३६२ किलोमीटर लम्बी रेल लाइनों का विद्युतीकरण किया गया। यह देश की रेल-व्यवस्था के विकास में एक नया कदम था। साथ ही, लगभग १६०० किलोमीटर लम्बी लाइनों का डिजिलाईजेशन किया गया। द्वितीय योजनाकाल में यात्रियों एवं रेल कर्मचारियों की सुविधा पर भी विशेष जोर दिया गया। योजना के अन्त में १९६०-६१ ई० में भारतीय रेलों की माल ढोने की क्षमता अनुमानतः १५·६ करोड़ टन हो गयी।

तृतीय पंचवर्षीय योजना में रेलवे की प्रगति (Development of Railways in the Third Five Year Plan):—तृतीय पंचवर्षीय योजना में भी रेलवे के विकास पर पर्याप्त जोर दिया गया था। योजनाकाल में रेलों के विकास के कार्यक्रम के परिणामस्वरूप रेलों की माल ढोने की क्षमता में १९६०-६१ ई० के १५·६ करोड़ टन से बढ़कर १९६५-६६ ई० में २४·५ करोड़ टन, यानी प्रायः ५८ प्रतिशत की वृद्धि की आशा थी। किन्तु १९६५-६६ ई० में रेलों की वास्तविक क्षमता अनुमानतः २०·१ करोड़ टन ही हुई। साथ ही, योजनाकाल में रेलों के यात्रियों को ढोने की क्षमता में ३% प्रतिवर्ष की वृद्धि की आशा थी। तृतीय योजना काल में रेलवे विकास पर कुल १३२५·५ करोड़ रुपये व्यय किया गया। इसके अतिरिक्त रेलवे अपकर्ष कोष से ३३३·७ करोड़ रुपये व्यय हुआ। योजनाकाल में संकटकालीन परिस्थिति के कारण रेलवे के ऊपर नयी जबाबदेही तथा दायित्व आ गये जिहें पूरा नहीं होने से सम्पूर्ण आर्थिक व्यवस्था के बुरी तरह से प्रभावित होने की आशंका थी। रेलवे कर्मचारियों को पेंशन देने की व्यवस्था के लिए १ अप्रैल, १९६४ ई० को एक रेलवे पेंशन फंड का सृजन किया गया। तृतीय योजनाकाल में रेलवे विकास के सम्बन्ध में निम्नलिखित कार्यक्रम पूरे किये गये थे—योजनाकाल में १८०१ किलोमीटर लम्बी रेल लाइनों का निर्माण किया गया। इसी प्रकार ३२२८ किलोमीटर लम्बी रेल लाइनों को दुहरा बनाया गया, १७४६ किलोमीटर लाइनों का विद्युतीकरण किया गया। योजनाकाल में ४८४४ रेलवे इंजन, ८०२९ यात्री डब्बे तथा १,४४,७८९ माल के डब्बे खरीदे गये।

तीनों वार्षिक योजनाओं (Annual Plans) की अवधि में १९६६-६९ ई०में रेलों के विकास के मद में ५२५·८ करोड़ रुपये व्यय किया गया। इस अवधि में १०६१ किलोमीटर लम्बी लाइनों का निर्माण हुआ तथा ९०४ किलोमीटर लाइनों का विद्युतीकरण किया गया।

चतुर्थ पंचवर्षीय योजना में रेलवे (Railways in the Fourth Five Year Plan):—चतुर्थ पंचवर्षीय योजना में रेलों के माल ढोने की क्षमता के १९६८-६९ ई० में २०·४ करोड़ टन से बढ़कर १९७ -७४ ई० में १८ से २९ करोड़ टन होने का अनुमान है। चतुर्थ

योजनाकाल में रेलों के विकास पर पाँच वर्षों में १०५० करोड़ रुपये व्यय का आयोजन है। इसके अतिरिक्त रेलवे अपकर्ष कोष से ५२५ करोड़ रुपये व्यय की व्यवस्था है। योजनाकाल में १७०० किलोमीटर में बिजली से गाड़ी चलाने, ९८०० किलोमीटर डिजिलाईजेशन, १५०० किलोमीटर मीटर गेज की लाइनों को चौड़ी लाइनों में बदलने तथा १८०० किलोमीटर लाइन को दुहरा करने का आयोजन है। साथ ही योजनाकाल में १२५९ इंजन, १,०१,५६२ माल गाड़ी के डब्बों, तथा ७२३६ यात्री डब्बों को प्राप्त करने का आयोजन है। योजनाकाल में नयी लाइनें बिछाने पर उतना अधिक जोर नहीं दिया जायगा।

निम्नांकित तालिका से पंचवर्षीय योजनाओं में रेलों की प्रगति का अन्दाजा लगता है :—

पंचवर्षीय योजनाओं में रेलों की प्रगति

	प्रथम योजना	द्वितीय योजना	तृतीय योजना	वार्षिक योजनाएँ १९६६-६९	चतुर्थ योजना (लक्ष्य)
नई लाइनें (कि० मी०)	१३०४	१३११	१८०१	१,०६१	...
दुहरी की गयी लाइनें (कि० मी०)	३७०	१४१२	३२२८	१,२६८	१८००
लाइनों का विद्युतीकरण (कि० मी०)	—	३६१·५	१७४६	९०५	१७००
डब्बों तथा इंजन का निर्माण एवं प्राप्ति					
इंजन	१५८६	२२१६	१८६४	८७७	१२५९
यात्री-डब्बे	४७५८	७७१८	८,०१९	३,७९५	७२३६
माल-डब्बे	६१,२५४	९७,९५९	१,४४,११७	४५,७८९	१,०१,५३२

निष्कर्ष :—इस प्रकार पंचवर्षीय योजनाओं में रेलों के विकास पर पर्याप्त जोर दिया जा रहा है। किन्तु देश में रेलवे विकास के सम्बन्ध में हमारे सामने कुछ प्रमुख कठिनाइयाँ हैं। सर्वप्रथम तो भारतीय रेलों में आज भीड़ की समस्या एक प्रमुख समस्या है। चौड़ी गेज की लाइनों (broad guage) में भीड़ की मात्रा अनुमानतः १३ प्रतिशत तथा मीटर गेज की लाइनों में ६० प्रतिशत है। द्वितीय योजनाकाल में ५ वर्ष के अन्तर्गत १५ पतिशत अतिरिक्त यात्रियों के ढोने की व्यवस्था की गयी थी, किन्तु योजना में यात्रियों की संख्या में इससे अधिक वृद्धि हो गयी। तृतीय पंचवर्षीय योजना में भी यात्रियों की संख्या में ३ प्रतिशत प्रतिवर्ष की वृद्धि का ही अन्दाजा लगाया गया था। यह भी पूरा नहीं हो सका। अतएव भीड़ की समस्या का समाधान नहीं हो सका। इस प्रकार भारतीय रेलों में यात्रियों को विशेष सुविधा प्रदान करने के लिए भीड़ की समस्या का समाधान अनिवार्य है। रेलवे के विकास के सम्बन्ध में दूसरी कठिनाई आवश्यक सामग्रियों के अभाव की है। देश में लोहा तथा इस्पात, सीमेंट एवं स्लीपर आदि आवश्यक मात्रा में उपलब्ध नहीं हैं जिससे इस सम्बन्ध में बहुत अधिक कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। विदेशी विनिमय के अभाव का भी रेलवे के विकास पर प्रभाव पड़ता है।

विशेष अध्ययन-सूची

1. S. K. Srivastava : Transport Development in India.
2. Planning Commission : Third and Fourth Five Year Plans.
3. Final Report of the Committee on Transport Policy and Co-ordination.

—o—

अध्याय : ३७

यातायात के साधन—सड़कें

(Roads)

भारत की आर्थिक व्यवस्था में सड़कों का महत्त्व (Importance of Roads in the economy of India) :—किसी देश की आर्थिक व्यवस्था में सड़कों का विशेष महत्त्व है। नगरों तथा गाँवों के आर्थिक एवं सामाजिक विकास में सड़कों का समान रूप से महत्त्व है। वास्तव, में किसी राष्ट्र की सम्पूर्ण सामाजिक एवं आर्थिक प्रगति सड़कों के निर्माण में ही निहित है। सड़कें हमारे देश एवं समाज की प्रारम्भिक आवश्यकताओं की पूर्ति करती हैं क्योंकि यातायात के अन्य साधनों—रेलवे जल-मार्ग तथा वायु-मार्ग आदि की सफलता भी बहुत अंशों में सड़कों पर ही आधारित है। अतः यातायात के विभिन्न साधनों के पूरक के रूप में सड़कें महत्त्वपूर्ण कार्य करती हैं। संक्षेप में, यह कहा जा सकता है कि राष्ट्र की सम्पूर्ण सामाजिक एवं आर्थिक प्रगति सड़कों के निर्माण में ही निहित है।

भारत जैसे कृषि-प्रधान देश के लिए सड़कों का महत्त्व और भी अधिक है। देश के प्रायः साढ़े पाँच लाख ग्रामों का आपस में सम्बन्ध जोड़ने तथा नगरों से इनका सम्पर्क स्थापित करने के लिए सड़कें अति आवश्यक हैं। यदि देश के विशाल साधन एवं जनराशि का प्रभावपूर्ण तरीके से उपयोग करना है तो देश में सड़कों का विकास अनिवार्य है।

सड़कों से कृषि के क्षेत्र में वृद्धि में विशेष सहायता मिलती है। इनके निर्माण से हमारे देश में कृषि-भूमि की मात्रा में अनुमानतः २० प्रतिशत तक की वृद्धि की जा सकती है। देश में आज भी बहुत-सी ऐसी भूमि है जिन पर सड़कों के अभाव में कृषि-कार्य प्रायः असम्भव हो जाता है। सड़कों के अभाव में किसान न तो अपनी वस्तुओं को बाजार पहुँचा सकता है और न वह अपनी आवश्यकता के लिए उत्तम बीज, खाद एवं सुधरे हुए औजार ही प्राप्त कर सकता है।

उद्योग-धन्धों के क्षेत्र में भी सड़कों का महत्त्व कोई कम नहीं है। किसी भी देश के औद्योगीकरण में सड़कें विशेष रूप से सहायक होती हैं। इनके द्वारा कच्चे माल कारखानों तक तथा कारखानों की बनी हुई वस्तुएँ उनके उपभोक्ताओं तक सुगमतापूर्वक पहुँचाई जा सकती हैं। देश में उद्योगों के विकेन्द्रीकरण तथा लघु उद्योगों के विकास के लिए उपयुक्त वातावरण सड़कों द्वारा ही तैयार किया जा सकता है।

सड़कों का महत्त्व वाणिज्य-व्यापार के क्षेत्र में भी अत्यधिक है। अच्छी सड़कें देश के वाणिज्य-व्यापार को भी प्रोत्साहित करती हैं। इससे श्रमिकों की गतिशीलता में वृद्धि होती है जिससे उद्योग-धन्धों को सुगमतापूर्वक श्रमिक मिल जाते हैं। सड़क-निर्माण तथा मरम्मत के कार्य में देश के बहुत-से व्यक्तियों को रोजी मिलती है जिससे देश में बेकारी की समस्या के समाधान में भी ये सहायक होती हैं। देश के भिन्न-भिन्न भागों में अकाल के प्रकोप को दूर करने में भी सड़कों का विशेष महत्त्व है। सड़कें सामाजिक एकता एवं सांस्कृतिक विकास की वृद्धि में भी

सहायक होती हैं। देश की सुरक्षा एवं सामरिक दृष्टि से भी भारत में सड़क यातायात का विशेष महत्त्व है। भारत एक विशाल देश है जिसकी तुलना एक उपमहाद्वीप से की जा सकती है। ऐसी स्थिति में इसकी सीमाओं पर सभी जगह फौज रखना सम्भव नहीं है। अतएव देश की सुरक्षा चारों तरफ सीमा पर अच्छी सड़कों के निर्माण पर ही निर्भर करती है।

इस प्रकार देश की उन्नति, शिक्षा के प्रसार, सुरक्षा, सामाजिक एकता एवं समानता, शान्ति, सन्तोष एवं सांस्कृतिक विकास आदि सड़कों पर निर्भर है।

भारत में सड़कों की वर्त्तमान स्थिति

(Present Position of Roads in India)

किन्तु देश के आर्थिक एवं सामाजिक जीवन में सड़कों के इतना महत्त्वपूर्ण स्थान होने पर भी हमारे यहाँ सड़कों का बहुत अधिक अभाव है। १९०० ई० में यहाँ कुल ७१ हजार कि० मी० लम्बी सड़कें थी। प्रथम योजना प्रारम्भ होने के पूर्व देश में सड़कों की लम्बाई १९५०-५१ ई० में ४ ० हजार कि० मी० हो गयी। प्रथम योजना के अन्त में ३१ मार्च, १९५६ ई० को सभी प्रकार की सड़कों की लम्बाई बढ़कर ४९८ हजार कि० मी० तथा १९६६ ई० में ९६३ हजार कि० मी० हो गई। इसमें कच्ची एवं पक्की सड़कों की लम्बाई निम्नांकित तालिका से स्पष्ट है :—

भारत में सड़कों की लम्बाई (कि० मी०)

	१९४७	१९५१	१९५६	१९६१	१९६६ को
पक्की सड़कें	१४५.८	१५७.०	१८३.०	२३०.८	२८३.०
कच्ची सड़कें	२४२.४	२४२.९	३१५.३	४७.९	५५१
कुल	३८८.२	३९९.९	४९८ ३	६७८.८	८३४

भारत जैसे विशाल देश जिसका क्षेत्रफल ३२,६८,०९० वर्ग कि० मी० तथा जनसंख्या ५५ करोड़ है, सड़कों की यह लम्बाई निश्चय ही अपर्याप्त है। अन्य देशों की तुलना में भारत में सड़कों के अभाव का अन्दाजा निम्नलिखित तालिका से लगता है :—

१९६७ में विभिन्न देशों में सड़कों की लम्बाई

देश	प्रति १००० वर्ग कि० मी० में सड़कों की लम्बाई (कि० मी० में)	प्रति एक लाख जनसंख्या पर सड़कों की लम्बाई (कि० मी० में)
जापान	२६८	१००१
इंगलैंड	१४२	६३५
संयुक्त राज्य अमेरिका	६४	३०२२
फ्रांस	२६१	२८९५
भारत	२७	१७३

उपरोक्त तालिका से भारत में सड़कों की अपर्याप्तता स्पष्ट हो जाती है। वास्तव में, भारत जैसे विशाल देश में सड़कों का द्रुतगति से विकास हरेक दृष्टिकोण से आवश्यक है।

सड़कों का विकास
(Development of Roads)

प्राचीन काल में भारतवासी सड़कों के महत्त्व पर अधिक जोर देते थे। चन्द्रगुप्त मौर्य, अशोक महान् और शेरशाह जैसे राजाओं के शासनकाल में सड़कों का बड़े पैमाने पर निर्माण हुआ था, किन्तु ब्रिटिश शासनकाल के प्रारम्भिक वर्षों में सड़कों के विकास पर कोई विशेष ध्यान नहीं दिया गया था। कम्पनी एक व्यावसायिक संस्था थी, अतः इसने सड़क के निर्माण को महत्त्व नहीं दिया। कम्पनी के शासनकाल में जो कुछ काम इस दिशा में किये गये उसका श्रेय व्यक्तिगत प्रयत्नों को ही है। लार्ड विलियम बेंटिंग ने ग्रेंड ट्रंक रोड के निर्माण को पूरा कराया जिससे पेशावर, दिल्ली एवं कलकत्ता को एक-दूसरे से सम्बद्ध किया गया। फिर भी, कम्पनी ने भारत में सड़कों के निर्माण में कोई विशेष अभिरुचि नहीं दिखलायी।

भारत में लार्ड डलहौजी के समय से सड़कों के निर्माण का एक नया युग प्रारम्भ हुआ। डलहौजी ने रेल-निर्माण की तरह सड़क-निर्माण की नीति पर भी पूरा-पूरा ध्यान दिया। इस कार्य के लिए १८५५ ई० में प्रत्येक प्रान्तों में एक-एक सार्वजनिक कार्य विभाग (Public Works Department) की स्थापना की गयी। इससे देश में सड़क-निर्माण को बहुत अधिक प्रोत्साहन मिला। किन्तु इसके बाद रेलों के प्रसार से सड़क-निर्माण के कार्य में कुछ शिथिलता-सी आने लगी। इसके बाद देश में जो कुछ सड़कों का निर्माण हुआ, वह रेलों के प्रसार के परिणामस्वरूप ही हुआ। रेलों की सामग्री, माल तथा यात्रियों को स्टेशन तक पहुँचाने के लिए, यानी रेलों के सहायक रूप में सड़कों की आवश्यकता पड़ने लगी। देश के आन्तरिक भाग से समान एवं यात्रियों को सालों भर ढोने के लिए पक्की सड़कों की आवश्यकता तीव्र हो गयी। किन्तु, रेलों के विस्तार से होने वाले लाभ को ध्यान में रखकर सरकार ने सड़कों के निर्माण की ओर कम ध्यान देना प्रारम्भ कर दिया।

प्रथम महायुद्ध काल तक देश में सड़कों के निर्माण में केन्द्रीय अथवा प्रान्तीय सरकारें विशेष अभिरुचि नहीं लेती थीं। किन्तु युद्ध के बाद मोटर गाड़ियों की संख्या में वृद्धि के फलस्वरूप सरकार का ध्यान इस ओर विशेष रूप से आकर्षित होने लगा। सन् १९२७ ई० में डा० एम० आर० जयकर के सभापतित्व में एक सड़क-विकास समिति (Road Development Committee) की नियुक्ति हुई जिसका उद्देश्य सड़कों के विकास के लिए वित्तीय व्यवस्था की जाँच करना था। इस समिति के सुझावों के आधार पर १९२९ ई० में एक 'केन्द्रीय सड़क विकास कोष' (Central Road Development Fund) का निर्माण किया गया। पेट्रोल पर लगाये जाने वाले कर में से २ आने प्रति गैलन काटकर इस कोष में जमा किया जाने लगा। बाद में इसे २½ आने प्रति गैलन कर दिया गया। इस कोष से प्रान्तीय सरकारों को सड़क-निर्माण कार्य के लिए वित्तीय सहायता दी जाती थी, किन्तु कोष की स्थापना से सड़क विकास में कोई विशेष प्रगति नहीं हुई। प्रान्तीय सरकारों ने अपनी आय से इस कार्य पर खर्च करना बन्द कर दिया। द्वितीय महायुद्ध काल में सड़कों का महत्त्व बहुत बढ़ गया। सेना के आवागमन तथा युद्ध की अन्य आवश्यक सामग्रियों को लाने और ले जाने के लिए मोटरों की आवश्यकता बढ़ गयी जिससे सड़कों के विकास की ओर सरकार का ध्यान आकर्षित हुआ। अतः, युद्ध-काल में पुरानी सड़कों की मरम्मत के साथ-

साथ नयी सड़कों के निर्माण पर भी सरकार ने पूरा जोर दिया। देश की पश्चिमी तथा पूर्वी दोनों ही सीमाओं पर सड़कों का विस्तार और सुधार हुआ। फिर भी, देश में सड़कों की प्रगति को संतोषजनक नहीं कहा जा सकता है। १९४० से १९४५ ई० के बीच हमारे देश में केवल ६०,५३५ मील लम्बी सड़कें बनायी गयीं जिसमें केवल ३१,६६० मील सड़कें पक्की थीं। इस प्रकार ४५ वर्षों में भारत में जितनी सड़कों का निर्माण किया गया, संयुक्त राज्य अमेरिका ने उतनी सड़कें २ वर्षों से कम की अवधि में ही बना ली थी। इससे देश में सड़क-विकास के कार्य में शिथिलता स्पष्ट हो जाती है। भारत जैसे विशाल जनसंख्या एवं क्षेत्रफल वाले देश के लिए अधिकाधिक मात्रा से सड़कों की सुविधा प्रदान करना देश के आर्थिक विकास के लिए अति आवश्यक हो जाता है।

नागपुर सड़क योजना

सारांश यह है कि द्वितीय महायुद्ध के पूर्व भारत में सड़कों को स्थिति बड़ी असन्तोषजनक थी। इस समय तक सड़क विकास के कार्य का सारा दायित्व प्रान्तीय सरकारों पर था। केन्द्रीय सरकार का कार्य केवल इन्हें कुछ वार्षिक अनुदान देने तक ही सीमित था। किन्तु, युद्ध की विशेष परिस्थितियों ने भारत सरकार का ध्यान देश में सड़क-निर्माण की ओर बरबस आकर्षित किया। सड़कों के भावी विकास के प्रश्न पर विचार करने के लिए भारत सरकार ने सन् १९४३ ई० में नागपुर में प्रान्तों के मुख्य इंजीनियरों का एक सम्मेलन बुलाया गया जिसमें सड़कों के भावी विकास पर विचार किया गया। इस सम्मेलन में सड़कों के विकास के लिए एक दसवर्षीय योजना तैयार की गयी जिसे 'नागपुर सड़क योजना' कहते हैं।

इस सम्मेलन में यह निश्चित किया गया कि भारत में सडकों की समस्या स्थानीय दृष्टिकोण से ही नहीं वरन् राष्ट्रीय संदर्भ में देखी जानी चाहिए। इससे देश में सड़कों का असंतुलित विस्तार रुक जायगा। नागपुर योजना के अन्तर्गत सड़कों का वर्गीकरण भी एक नये दृष्टिकोण से किया गया। इसका उद्देश्य यह था कि वर्गीकरण इस प्रकार से होना चाहिए कि प्रत्येक वर्ग की सड़क के लिए कोई निश्चित रूप से उत्तरदायी ठहराया जा सके। इस दृष्टिकोण से सड़कों को निम्नलिखित चार वर्गों में विभाजित किया गया :—

(१) राष्ट्रीय सड़कें (National Highways) — राष्ट्रीय सड़कें वे सड़कें हैं जो राज्यों की राजधानियों, बड़े-बड़े बन्दरगाहों एवं प्रमुख व्यावसायिक केन्द्रों को मिलाती हैं तथा अन्य देशों की सड़कों से सम्बन्ध स्थापित करती हैं। इस वर्ग के अन्तर्गत सैनिक महत्त्व की सड़कें भी सम्मिलित हैं। वे सड़कें भी मुख्यतः पक्की होंगी तथा इनके निर्माण, सुधार एवं मरम्मत के लिए केन्द्रीय सरकार उत्तरदायी होगी।

(२) राजकीय सड़कें (Provincial Highways) :— राजकीय सड़कों के अन्तर्गत राज्यों की प्रमुख सड़कें हैं जो राज्यों में वाणिज्य एवं व्यापार के प्रमुख साधन के रूप में कार्य करती हैं। ये विभिन्न जिलों के प्रमुख शहरों तथा राज्य के नगरों को राष्ट्रीय सड़कों से मिलाती हैं। राजकीय सड़कों के निर्माण तथा मरम्मत का उत्तरदायित्व राज्य सरकारों का होगा।

(३) जिले की सड़कें (District Roads) :—जिले की सड़कों के अन्तर्गत वे सारी सड़कें हैं जो जिले के उत्पादन-क्षेत्रों को मंडियों से अथवा राजकीय सड़कों या रेल स्टेशनों से मिलाती हैं।

इनके अन्तर्गत पक्की और कच्ची दोनों प्रकार की सड़कें हैं। इनके निर्माण एवं मरम्मत का उत्तरदायित्व जिला बोर्डों पर होगा।

(४) गाँव की सड़कें (Village Roads) :— सबसे अन्त में गाँव की सड़कें हैं जो एक गाँव से दूसरे गाँव को मिलाती हैं। इनका सम्बन्ध समीप की जिला-सड़कों एवं राजकीय पथों से भी होता है। इस प्रकार की सड़कें अधिकांशतः कच्ची होती हैं तथा इनका निर्माण एवं मरम्मत गाँववालों के सहयोग से ही होता है। इसकी देख-रेख की जिम्मेवारी ग्राम पंचायतों की है।

नागपुर योजना के अन्तर्गत देश में सड़कों के प्रसार के लिए एक योजना तैयार की गयी जिसमें विभिन्न प्रकार की सड़कों की लम्बाई को बढ़ाकर निम्न प्रकार[1] से करने का आयोजन था:—

नागपुर सड़क योजना

सड़कें	सड़कों की लम्बाई (मीलों में)	व्यय (करोड़ रुपये में)
१. राष्ट्रीय सड़कें (National Highways)	१९,६००	३९.०
राष्ट्रीय अनुयान (National Trails)	४,१५०	२.५
२. राजकीय सड़कें (Provincial Highways)	५३,९५०	१००.३
३. जिला की सड़कें—बड़ी (Major)	४९,८००	५१.४
जिला की सड़कें—छोटी (Minor)	८३,०००	६६.४
४ गाँव की सड़कें (Village Roads)	१,२३,५००	२४.७
५. युद्ध काल में पिछड़े हुए कार्य (Arrears of war)	....	८.३
६. पुलों का निर्माण (Bridging)	....	३७.४
७. भूमि-प्राप्त करना (Land acquisition)	....	४१.५
कुल	३,३१,०००	३७१.५

उक्त ३,३१,००० मील लम्बी सड़कों में से १,२३,००० मील पक्की तथा २,०८,००० मील लम्बी कच्ची सड़कों के निर्माण का आयोजन था। किन्तु, प्रथम पंचवर्षीय योजना के अन्त में देश में कुल ३,२०,५२२ मील लम्बी सड़कें थीं जिनमें से १,२२,१७० मील पक्की तथा १,९८,३५२ मील लम्बी कच्ची सड़कें थी।[2] इस प्रकार प्रथम योजना के अन्त तक भी नागपुर योजना के अन्तर्गत निर्धारित लक्ष्यों की पूर्त्ति नहीं हो सकी तथा पक्की सड़कों की लम्बाई लक्ष्य से प्रायः १ हजार मील कम और कच्ची सड़कों की लम्बाई लक्ष्य से प्रायः १०,००० मील कम थी।

नागपुर सम्मेलन में एक केन्द्रीय सड़क परिषद् (Central Road Board) की स्थापना का सुझाव दिया गया था। इस परिषद् को यथेष्ट मात्रा में अधिकार प्रदान करने की सिफारिश भी की

1. नागपुर सड़क योजना के अन्तर्गत अविभाजित भारत में १० वर्षों की अवधि में ४४८ करोड़ रुपये के व्यय से सड़कों की लम्बाई को बढ़ाकर ४,००,००० मील करने का आयोजन था। विभाजन के पश्चात् इसे भारतीय संघ के लिए तैयार किया गया जिसके अनुसार ३७१.५ करोड़ रुपये के व्यय से भारत संघ की सड़कों की लम्बाई को बढ़ाकर ३,३१,००० मील करने का आयोजन किया गया।

2. Review of the First Five Year Plan—P. 235

गयी थी जिससे यह सड़क-निर्माण की योजना एवं प्रशासकीय नीति के सम्बन्ध में निष्पक्ष होकर कार्य कर सके। नागपुर सड़क योजना का प्रमुख उद्देश्य यह था कि देश का कोई भी विकसित कृषि-क्षेत्र मुख्य सड़क से ५ मील की दूरी तथा साधारण ग्रामीण क्षेत्र २० मील से अधिक की दूरी पर नहीं स्थित होना चाहिए।

भारत सरकार ने अप्रैल, १९४७ ई० से नागपुर सड़क योजना के आधार पर १३,४०० मील लम्बी राष्ट्रीय सड़कों का भार स्वयं ले लिया तथा राष्ट्रीय सड़कों के विकास के लिए ३६ करोड़ रुपये के व्यय की एक पंचवर्षीय सड़क-योजना तैयार की गयी। इस योजना के अन्तर्गत १६०० मील लम्बी इस प्रकार की सड़कों के निर्माण की व्यवस्था थी जिससे विभिन्न क्षेत्रों का मुख्य सड़कों से सम्बन्ध स्थापित किया जा सके। साथ ही, इसमें छोटे-छोटे पुलों के अतिरिक्त १५० बड़े-बड़े पुलों के पुनर्निर्माण का भी आयोजन था। भारत सरकार की तरह राज्य सरकारों ने भी १९४७ ई० में १२० करोड़ रुपये की लागत से एक पंचवर्षीय सड़क योजना का निर्माण किया। इसके अन्तर्गत ८०,००० मील लम्बी सड़कों के निर्माण का आयोजन था। किन्तु, केन्द्र एवं राज्य सरकारों की इन योजनाओं के लक्ष्य पूरे नहीं हो सके तथा पाँच वर्षों में केन्द्रीय सरकार ने केवल ९ करोड़ रुपये एवं राज्य सरकारों ने पचास करोड़ रुपये व्यय किया। केन्द्रीय योजना के अन्तर्गत केवल १६० मील लम्बी सड़कों, १७ बड़े-बड़े तथा अनेक छोटे-छोटे पुलों का निर्माण हुआ एवं १३१५ मील लम्बी सड़क का सुधार किया गया। इस प्रकार सड़क-विकास योजना के कार्य में वांछित सफलता नहीं प्राप्त हो सकी। इसके बहुत-से कारण थे जिनमें निम्न-लिखित प्रमुख हैं—(१) देश-विभाजन एवं इसके फलस्वरूप उत्पन्न हुई अव्यवस्था, (२) सड़क-निर्माण सम्बन्धी सामग्रियों, जैसे सीमेंट तथा लोहा आदि का अभाव, (३) वित्तीय कठिनाइयाँ जिनके फलस्वरूप केन्द्र ने सड़क-निर्माण के लिए राज्यों को वित्तीय सहायता देना बन्द कर दिया, (४) भूमि-प्राप्ति (Land acquisition) करने में विलम्ब; तथा (५) सड़कों के विकास के प्रति अधिकांश राज्य सरकारों की उदासीनता। उक्त कारणों से केन्द्र तथा राज्यों की योजनाओं के लक्ष्य पूरे नहीं किये जा सके।

पंचवर्षीय योजनाओं में सड़कों का विकास
(Development of Roads in Five Year Plans)

प्रथम पंचवर्षीय योजना में सड़कों की प्रगति[1] **(Development of Roads in the First Five Year Plan)** :—प्रथम पंचवर्षीय योजना में सड़कों के विकास पर पर्याप्त जोर दिया गया था। प्रथम एवं द्वितीय पंचवर्षीय योजनाओं में सड़क-विकास का कार्यक्रम नागपुर सड़क योजना पर आधारित था। योजना प्रारम्भ होने के पूर्व देश में कुल प्राय: १५७ हजार कि० मी० लम्बी पक्की तथा २४३ हजार कि० मी० लम्बी कच्ची सड़कें थीं। योजनाकाल में सभी प्रकार की प्राय: २६ हजार कि० मी० पक्की तथा ७२ हजार कि० मी० कच्ची सड़कों का निर्माण किया गया। प्रथम योजनाकाल में केन्द्र की सड़क-योजना के अन्तर्गत निम्नलिखित तीन श्रेणी की सड़कों के निर्माण एवं सुधार की व्यवस्था थी—(१) राष्ट्रीय सड़क, (२) अन्तर-राज्य (Inter-state) अथवा आर्थिक महत्त्व की सड़कें, तथा (३) अन्य सड़कें। राष्ट्रीय सड़कों (National highways) के

1. Review of the First Five Year Plan, pp. 235 38.

निर्माण सम्बन्धी कार्यक्रम के अन्तर्गत प्रथम योजनाकाल में १००० कि० मी० लम्बी सड़कों एवं ३० बड़े-बड़े पुलों का निर्माण हुआ तथा ३८०० कि० मी० लम्बी सड़कों का सुधार किया गया। इसके अतिरिक्त केन्द्रीय सरकार ने अन्य सड़कों (other roads) के कार्यक्रम के अन्तर्गत ३४० कि० मी० लम्बी सड़कों का निर्माण तथा ४० कि० मी० लम्बी सड़कों का सुधार किया गया। १९५२-५३ ई० में रोजगार के साधनों में वृद्धि के उद्देश्य से भारत सरकार ने अन्तर-राज्य अथवा आर्थिक महत्त्व की सड़कों के निर्माण का एक विशेष कार्यक्रम अपनाया जिसके अन्तर्गत प्रथम योजना के अन्त तक २०० कि० मी० लम्बी नयी सड़कों का निर्माण तथा ८०० कि० मी० लम्बी पुरानी सड़कों का सुधार किया गया। साथ ही, सामुदायिक विकास कार्यक्रम तथा राष्ट्रीय विस्तार सेवा-कार्यक्रम के अन्तर्गत बहुत-सी ग्रामीण सड़कों का निर्माण एवं सुधार किया गया। प्रथम योजनाकाल में सड़क-विकास कार्यक्रम पर अनुमानतः ५५ करोड़ रुपये व्यय किया गया तथा कुल ३६ हजार कि० मी० लम्बी पक्की एवं ७२ हजार कि० मी० लम्बी कच्ची सड़कों का निर्माण किया गया।

द्वितीय पंचवर्षीय योजना में सड़कों की प्रगति (Development of Roads in the Second Five Year Plan) :—द्वितीय योजना में सड़कों के विकास पर पर्याप्त जोर दिया गया था। योजनाकाल में सड़क-विकास कार्यक्रम पर पाँच वर्षों में कुल २४२ करोड़ रुपया, यानी योजना के कुल व्यय का प्रायः ५·१ प्रतिशत भाग व्यय किया गया। इसके अतिरिक्त योजनाकाल में केन्द्रीय सड़क कोष (Central Road Fund) से इस कार्य के लिए २५ करोड़ रुपये उपलब्ध होने का अनुमान था।

द्वितीय योजनाकाल में राष्ट्रीय सड़कों के विकास सम्बन्धी कार्यक्रम के अन्तर्गत १६२० कि० मी० लम्बी नई सड़कें जिनमें से ६७५ कि० मी० प्रथम योजनाकाल में शुरू की गई थीं, तथा ६० बड़े-बड़े पुलों के निर्माण, ६·४ हजार कि० मी० सड़कों के सुधार तथा २८०० किलोमीटर सड़कों को चौड़ा करने का आयोजन था। साथ ही, राष्ट्रीय सड़कों के निर्माण का कार्य जारी रखने का आयोजन था। योजनाकाल में इस कार्यक्रम के अन्तर्गत २४० कि० मी० लम्बी० नयी सड़कों के निर्माण तथा ८०० कि० मी० लम्बी सड़कों के सुधार का आयोजन था। अन्तर-राज्य (Inter-state) अथवा आर्थिक महत्त्व की सड़कों के विकास कार्यक्रम के अन्तर्गत द्वितीय योजनाकाल में २८,८०० कि० मी० लम्बी नयी सड़कों के निर्माण की व्यवस्था थी।

द्वितीय योजनाकाल में सभी सड़क-विकास कार्यक्रम के अन्तर्गत कुल प्रायः ५३ हजार कि० मी० लम्बी पक्की तथा १५८ हजार कि० मी० लम्बी कच्ची सड़कों का निर्माण किया गया। इसके अतिरिक्त वर्त्तमान सड़कों में भी सुधार किया गया। द्वितीय योजना के अन्त तक पक्की सड़कों की लम्बाई २३५·८ हजार कि० मी० तथा कच्ची सड़कों की लम्बाई ४७३·३ हजार कि० मी० हो गयी। इस प्रकार योजनाकाल के अन्त में नागपुर सड़क योजना के लक्ष्य से भी अधिक सड़कें हो गयीं।

तृतीय पंचवर्षीय योजना में सड़क-विकास कार्य की प्रगति (Progress of Road Development in the Third Five Year Plan) :—तृतीय पंचवर्षीय योजना में सड़क-

विकास के कार्यक्रम के अन्तर्गत ४० हजार कि० मी० नयी पक्की सड़कों के निर्माण का आयोजन था। तृतीय योजनाकाल में पाँच वर्षों में सड़क-विकास कार्यक्रम पर पहले २७२ करोड़ रुपये व्यय की व्यवस्था थी जब कि अनुमानित व्यय इस मद में ४४० करोड़ रुपये हुआ। ३१ मार्च १९६६ ई० को पक्की सड़कों की लम्बाई योजना के प्रारम्भ में २३६ हजार किलोमीटर से बढ़कर २८५ हजार किलोमीटर तथा कच्ची सड़कों की लम्बाई ४७३ हजार कि० मी० से बढ़कर ६७८ हजार कि०मी० हो गयी।

भारत में सड़कों की कुल लम्बाई १९५१ ई० में ४०० हजार कि० मी० से बढ़कर १९६६ ई० में ९६३ हजार कि० मी० हो गयी, यानी १५ वर्षों में प्रायः ८९ प्रतिशत की वृद्धि हुई। इस बीच पक्की सड़कों की लम्बाई १९५१ ई० में १५७ हजार कि० मी० से बढ़कर १९६६ ई० में २८५ हजार कि० मी० हो गयी।[1] शेष सड़कें कच्ची हैं।

सड़क विकास की २० वर्षीय योजना (Twenty Years Road Development Plan):- १९६१ ई० में हो सड़क विकास की एक २० वर्षीय (१९६१-८१ ई०) दीर्घकालीन योजना तैयार की गयी है जिसका उद्देश्य २० वर्षों में प्रत्येक गाँव को (क) विकसित कृषि-क्षेत्र में पक्की सड़क से ६ कि० मी० तथा कच्ची सड़क से २·५ कि० मी० की दूरी, (ख) अर्द्ध-विकसित क्षेत्र में पक्की सड़क से १३ कि० मी० तथा कच्ची सड़क से ५ कि० मी० की दूरी, एवं (ग) अविकसित तथा गैर कृषि क्षेत्र में पक्की सड़क से १९ कि० मी० तथा कच्ची सड़क से ८ कि० मी० की दूरी के अन्तर्गत लाना है। इसके अनुसार २० वर्षों के बाद, यानी १९८१ ई० में पक्की सड़कों की लम्बाई को बढ़ाकर ४०८ हजार कि० मी० तथा कच्ची सड़कों की लम्बाई को बढ़ाकर ६४८ हजार कि० मी० करने का आयोजन है, यानी २० वर्षों में कुल १७२ हजार कि० मी० पक्की तथा २४८ हजार कि० मी० कच्ची सड़कों के निर्माण का आयोजन है। इस कार्यक्रम की पूर्ति के बाद भारत में प्रति १०० वर्ग कि.मी. पर सड़कों की लम्बाई ५२ कि.मी. हो जायगी जब कि अभी यह केवल २७ कि.मी. ही है।

तीनों वार्षिक योजनाओं (Annual Plans):—इसमें सड़क विकास कार्यक्रम पर १९६६-६९ के बीच ३०७ करोड़ रुपये व्यय किया गया था। इस अवधि में पक्की सड़कों की लम्बाई में ४५ हजार कि० मी० तथा कच्ची सड़कों की लम्बाई में ८८ हजार कि. मी. की वृद्धि हुई।

चतुर्थ पंचवर्षीय योजना में सड़क-विकास का कार्यक्रम (Programmes of Road Development in the Fourth Five Year Plan):— चतुर्थ योजना में आर्थिक विकास के उद्देश्य से सड़कों के विकास पर पर्याप्त जोर दिया गया है। योजनाकाल में इस मद में ८७६ करोड़ रुपये व्यय की व्यवस्था है। इसमें से ४१८ करोड़ रुपये राष्ट्रीय राजपथ पर तथा ४११ करोड़ रुपये राज्य की सड़कों पर व्यय किया जायगा। योजनाकाल में पक्की सड़को की लम्बाई को ३१ मार्च, १९६९ को ३२५ हजार कि० मी० से बढ़ाकर योजना के अन्त यानी ३१ मार्च, १९७४ ई० को ३८५ हजार किलोमीटर, यानी पाँच वर्षों में ६० हजार किलोमीटर पक्की सड़कों के निर्माण का आयोजन है। योजनाकाल में प्रमुख औद्योगिक केन्द्रों, ग्रामीण क्षेत्रों तथा पिछड़े हुए क्षेत्रों में सड़कों के विकास पर पर्याप्त जोर देने की व्यवस्था है। योजनाकाल में राष्ट्रीय राजपथों पर १७ पुलों के निर्माण का कार्य प्रारम्भ होगा जिनमें १६ का निर्माण पूरा हो जायगा।

1. India—1971-72.

रेल-सड़क प्रतियोगिता
(Rail-Road Competition)

प्राक्कथन:—भारत में यात्री तथा माल ढोने के लिए मोटर गाड़ियों का प्रयोग प्रथम महायुद्ध के बाद से प्रारम्भ हुआ। युद्ध-काल के बाद फौजी मोटर गाड़ियाँ सस्ते मूल्यों पर मिलने लगीं जिससे देश में मोटर यातायात का महत्व बढ़ने लग। धीरे-धीरे कुछ समय के बाद इन वैयक्तिक मोटरों में एक प्रकार की प्रतिस्पर्धा प्रारम्भ हुई जिसका रेलों की आय पर बहुत ही बुरा प्रभाव पड़ा। १९२९ ई० की मन्दी के बाद तो इनकी प्रतियोगिता और भी बढ़ गयी। मन्दी काल में मोटर तथा बसों के किराये में भी भारी कमी हुई जिससे अनेक रेल-यात्रियों ने मोटर से यात्रा करना प्रारम्भ कर दिया। इससे रेलों की आय घटने लगी। इस प्रकार १९२९ ई० की मन्दी के बाद रेल एवं सड़क-यातायात में प्रतियोगिता बढ़ने लगी।

रेल एवं सड़क-प्रतियोगिता के कारण (Causes of Rail-Road Competition):—सड़क यातायात का कुछ विशेष कार्यों के लिए सस्ता एवं अधिक उपयुक्त होना ही इस प्रतियोगिता का आधार था। भारी अथवा लम्बी दूरी तय करने में सड़क-यातायात रेल से प्रतियोगिता करने में निश्चय ही असमर्थ है, किन्तु हल्के, महँगे एवं कम दूरी के लिए यह रेल-यातायात की अपेक्षा अधिक सुविधाजनक होता है। अत: इसी प्रकार के यातायात के सम्बन्ध में रेल एवं सड़क यातायात के बीच प्रतियोगिता का उदय होता है। विभिन्न कारणों से सड़क-यातायात रेल-यातायात की अपेक्षा सस्ता पड़ता है। उदाहरण के लिए, रेल की लाइनों के निर्माण करने का व्यय, स्टेशन, प्लेटफार्म, डिब्बे एवं सिगनल आदि का खर्च इतना अधिक पड़ता है कि रेल की अपेक्षा सड़कों का निर्माण सस्ता होता है। साथ ही. सड़कों के निर्माण में मोटर-यातायात वालों को अपनी पूँजी नहीं लगानी पड़ती है और न सड़कों की रक्षा एवं मरम्मत पर ही खर्च करना पड़ता है। इसके विपरीत रेलवे को अपनी लाइन बनवाने, उन्हें सुरक्षित रखने तथा मरम्मत करने में अधिक खर्च करना पड़ता है। इन कारणों से रेल यातायात की अपेक्षा सड़क-यातायात सस्ता पड़ता है। साथ ही, रेलों के किराये निश्चित रहते हैं, भीड़-भाड़ के समय किराये में कोई वृद्धि नहीं की जा सकती है। किन्तु सड़क-यातायात के सम्बन्ध में यह बात नहीं पायी जाती है। जब तक मोटर-यातायात का कार्य निजी कम्पनियों के हाथ में रहता है, तब तक भीड़-भाड़ के समय सुगमतापूर्वक किराया बढ़ाया जा सकता है।

भारत में रेल एवं सड़कों के बीच प्रतियोगिता का प्रमुख कारण रेलों एवं सड़कों का अनियोजित ढंग से, विकास है। हमारे देश में रेल एवं सड़कों का निर्माण भी आयोजित ढंग से नहीं हुआ है। फलत: यातायात के इन दोनों साधनों के बीच समन्वय का अभाव है। यहाँ प्रारम्भ में रेलों का निर्माण देश के आर्थिक विकास के दृष्टिकोण से नहीं हुआ था। इसका मुख्य उद्देश्य विदेशी व्यापार को प्रोत्साहित करना था। सड़कों के निर्माण के सम्बन्ध में भी यही बात पायी जाती है। अत: समय की वृद्धि के साथ-साथ इनमें प्रतियोगिता प्रारम्भ हो गयी। वेजउड कमिटी ने १९३८ ई० में अपने प्रतिवेदन में यह बतलाया था कि भारत में ३० प्रतिशत पक्की सड़कें रेल लाइनों के समानान्तर थीं जबकि ८४ प्रतिशत रेलवे लाइनें ऐसी थीं जिनसे दस मील की दूरी के भीतर ही सड़कें वर्तमान थीं। इससे रेल एवं सड़कों के बीच प्रतियोगिता का होना अति स्वाभाविक था।

रेल एवं सड़कों में इस प्रकार की प्रतियोगिता का बड़ा ही घातक परिणाम हुआ। धीरे-धीरे इस प्रतियोगिता का रेलों की आय पर भी प्रभाव पड़ने लगा। १९२९-३० ई० की मन्दी के बाद तो इनकी प्रतियोगिता की समस्या ने और भी भयंकर रूप धारण कर लिया। मन्दी के समय मोटरों ने अपना-अपना किराया घटा दिया, किन्तु रेलें किराया नहीं घटा सकीं। फलतः, इनकी आय में कमी आने लगी। १९३२ ई० में माईकेल-कर्कनेस रिपोर्ट (Mitchell Kirkness Report) के अनुसार मोटर प्रतियोगिता के फलस्वरूप रेलों को १९० लाख रुपये का घाटा हुआ था। १९३७ ई० के वेज-उड कमिटी ने इस प्रकार के वार्षिक घाटे का अनुभव ४५० लाख रुपये लगाया था। सड़कों की लम्बाई में वृद्धि एवं मोटर-यातायात की सेवाओं में सुधार के फलस्वरूप घाटे की रकम निरन्तर बढ़ती ही जा रही थी।

प्रतियोगिता को कम करने के लिए रेलों द्वारा अपनाये गये उपाय (Measures adopted by Railways to reduce Rail-Road Competition) :—सड़कों की प्रतियोगिता को कम करने के लिए रेलों ने बहुत-से तरीकों को अपनाया। अधिकांश रेलवे कम्पनियों ने अपनी समय-सारिणी में परिवर्तन किया तथा सस्ते वापसी टिकट, तृतीय श्रेणी के मौसमी टिकट, रियायती दरों पर स्पेशल ट्रेनें, सस्तरी कोचेज, तेज चलनेवाली पैसेन्जर गाड़ियाँ तथा तृतीय श्रेणी के यात्रियों के लिए अधिक सुविधाएँ देना प्रारम्भ किया। वेजउड समिति ने इस सम्बन्ध में बहुत से सुझाव दिये थे जिनमें तेज मालगाड़ियों की व्यवस्था तथा बुकिंग की व्यवस्था को सरल बनाना आदि प्रमुख हैं। समिति ने कम्पनियों को मोटर-सेवाएँ प्रारम्भ करने का भी सुझाव दिया तथा कुछ रेलवे कम्पनियों ने इस प्रकार की सेवाओं का आयोजन भी कर दिया।

किन्तु, इन प्रयत्नों से इनके बीच प्रतियोगिता समाप्त नहीं हो सकी। वास्तव में, रेलों एवं सड़कों अथवा यातायात के अन्य साधनों के बीच प्रतियोगिता को दूर करने के लिए इनके बीच समन्वय (Co-ordination) स्थापित करना ही सबसे उत्तम उपाय है। विश्व के बहुत से देशों में इस प्रकार की प्रतियोगिता को दूर करने के लिए यातायात के विभिन्न साधनों के बीच समन्वय स्थापित करने का प्रयत्न किया गया है। अतएव हमारे देश में भी आज यातायात के विभिन्न साधनों के केवल विकास की ही आवश्यकता नहीं है, वरन् इनके स्वस्थ विकास के लिए इनमें समन्वय स्थापित करना भी अति आवश्यक है।

रेल एवं सड़क-यातायात के समन्वय के सरकारी प्रयत्न
(Government Efforts for Rail-Road Co-ordination)

यद्यपि रलवे एवं सड़क-यातायात के बीच पूर्णतः समन्वय स्थापित करना कठिन है, फिर भी यातायात के इन दोनों साधनों के विकास में इस प्रकार की व्यवस्था की जा सकती है कि सड़कें रेलों की प्रतिद्वन्द्वी न होकर उनके सहायक एवं पूरक के रूप में कार्य करें। देश में सड़क-निर्माण की योजना में इस बात को सदा ध्यान में रखना आवश्यक है। अतः सड़कों का निर्माण विशेषतः ऐसे स्थानों में करना चाहिए जहाँ यातायात की अन्य सुविधाओं का अभाव हो। इस प्रकार की व्यवस्था से प्रत्येक यातायात के साधनों को पर्याप्त मात्रा में सेवाएँ प्राप्त होंगी तथा उनके बीच अनार्थिक प्रतियोगिता भी नहीं रह जायगी। रेलों एवं सड़कों के बीच समन्वय के लिए सरकार द्वारा निम्नलिखित प्रयास किये गये हैं :—

माईकेन-कर्कनेस कमिटी (Mitchell Kirkness Committee) की नियुक्ति:—भारत में सड़क एवं रेल-यातायात की प्रतियोगिता की समस्या के अध्ययन के लिए सर्वप्रथम १९३२ ई० में भारत सरकार द्वारा एक माईकेल-कर्कनेस समिति (Mitchell Kirkness Committee) की नियुक्ति की गयी। कमिटी ने रेलों को अनुचित प्रतियोगिता से बचाने के लिए मोटर-यातायात पर अधिक नियन्त्रण रखने का सुझाव दिया। इस सम्बन्ध में कमिटी का यह सुझाव था कि मोटरों पर कर लगाया जाय तथा इन्हें अपने समय एवं दरों की सूची बनाकर सरकार से स्वीकृति करना आवश्यक बनाया जाय। साथ ही, रेलों के समानान्तर व्यापारिक मोटर गाड़ियाँ चलाने की स्वीकृति न दी जाय।

रेल-सड़क सम्मेलन शिमला, (Rail-Road Conference) १९३३ :—१९३३ ई० में शिमला में एक रेल-सड़क सम्मेलन हुआ जिसमें अनुचित प्रतियोगिता को दूर करने तथा इनके बीच समन्वय स्थापित करने के लिए बहुत से प्रस्ताव पारित किये गये। सम्मेलन में यह निश्चित हुआ कि रेल कम्पनियों द्वारा बस चलाये जाने पर लगाये गये प्रतिबन्ध हटा लिए जायँ। इसके फलस्वरूप १९६३ ई० में रेलवे ऐक्ट में संशोधन किया गया जिसके अनुसार रेल कम्पनियों को बस चलाने का अधिकार दिया गया। १९३५ ई० में परिवहन मंत्री की अध्यक्षता में एक केन्द्रीय यातायात सलाहकार परिषद् की स्थापना की गयी। इस परिषद् का उद्देश्य रेल, मोटर एवं यातायात के अन्य साधनों के बीच समन्वय स्थापित करने के लिए योजना तैयार करना था जिसे यातायात के साधनों के विकास के लिए अपनाया जाय। आगे चलकर १९३७ ई० में एक यातायात एवं संवहन-विभाग की स्थापना की गयी जिसके जिम्मे रेलवे, डाक-तार विभाग तथा सड़क आदि का कार्य मिला। इससे समन्वय के कार्य में कुछ सुविधा हुई।

वेजउड समिति (Wedgewood Committee, 1937) :—वेजउड समिति ने भी रेल-सड़क प्रतियोगिता के सम्बन्ध में जाँच की। कमिटी का प्रतिवेदन १९३७ में प्रकाशित हुआ जिसमें इस बात पर जोर दिया गया कि प्रान्तीय सरकारों द्वारा सड़क-यातायात का समुचित ढंग से नियन्त्रण नहीं होता था। नियन्त्रण के इस अभाव में असंगठित एवं अकुशल सड़क-यातायात का विकास हो रहा था। कमिटी ने इस सम्बन्ध में निम्नलिखित सुझाव दिये—(१) मोटर यातायात पर कठिन नियन्त्रण रखना चाहिए। इनका टाइम-टेबुल और किराया निश्चित रहना चाहिये तथा एक निश्चित संख्या से अधिक सवारियों को ले जाने पर भी रोक लगायी जानी चाहिए; इनकी गति को भी नियन्त्रित करना चाहिए। (२) सभी प्रान्तों की मोटर-गाड़ियों की दर-सम्बन्धी नीति में समता रहनी चाहिए। यदि इसमें किसी प्रकार की विभिन्नता हो तो उसे यथाशीघ्र समाप्त करना चाहिए। (३) आवश्यकता से अधिक मोटर एवं लारियों की संख्या न हो। इस उद्देश्य से आवश्यकतानुसार इन्हें लाइसेन्स देने की व्यवस्था होनी चाहिए। (४) माल ढोने वाली गाड़ियों के लिए प्रादेशिक लाइसेन्स देने की व्यवस्था होनी चाहिए। (५) कमिटी ने सड़क-यातायात में रेलवे कम्पनियों के भाग लेने की सिफारिश की।

वेजउड कमिटी की सिफारिशों के आधार पर १९३९ ई० में एक मोटर वेहिकिल्स ऐक्ट (Motor Vehicles Act) पारित हुआ। इस ऐक्ट में नियमन एवं समन्वय दोनों की व्यवस्था की गयी। इस ऐक्ट के अन्तर्गत मोटर यातायात को नियन्त्रित करने के लिए प्रान्त के विभिन्न यातायात क्षेत्रों में क्षेत्रीय यातायात अधिकारियों (Regional Transport Authorities) तथा यातायात के विभिन्न साधनों के बीच समन्वय को प्रोत्साहित करने के लिए प्रान्तीय यातायात

अधिकारियों (Provincial Transport Authorities) की नियुक्ति की व्यवस्था की गयी। मोटर-गाड़ियों के लिए लाइसेन्स लेना अनिवार्य बना दिया गया। इस अधिनियम के अनुसार तीसरे पक्ष के लिए मोटरों का बीमा कराना भी अनिवार्य बना दिया गया। इस अधिनियम से आर्थिक प्रतियोगिता का बहुत कुछ अन्त हो गया तथा यातायात के विभिन्न साधनों के बीच समन्वय को भी प्रोत्साहन मिला। १९५६ ई० में मोटर वेहिकिल्स ऐक्ट में एक संशोधन हुआ जिसके अनुसार एक अन्तरराज्य-यातायात आयोग (Inter-State Transport Corporation) बनाया गया जो अन्तर-राज्य मार्गों (Inter-State Routes) पर सड़क-यातायात सेवाओं के विकास, नियमन तथा समन्वय का प्रयत्न करता है।

यातायात के विभिन्न साधनों में समन्वय स्थापित करने के लिए भारत सरकार ने एक यातायात विकास परिषद् (Transport Development Council), सड़क एवं अन्तर्देशीय जल यातायात सलाहकार समिति (Road and Inland water Transport Advisory Committee) तथा एक केन्द्रीय यातायात समन्वय समिति (Central Transport Co-ordination Committee) की नियुक्ति की है।

पंचवर्षीय योजनाओं में रेल-सड़क संयोजन नीति (Rail-Road Co-ordination Policy in Five Year Plans) :—योजना आयोग ने भी यातायात के विभिन्न साधनों के बीच समन्वय स्थापित करने के प्रश्न की जाँच करने के लिए एक उच्चस्तरीय समिति की नियुक्ति की थी जिसकी सिफारिशों के आधार पर पंचवर्षीय योजनाओं में रेल एवं सड़क यातायात के बीच समन्वय की नीति का अनुसरण किया जाता है। तृतीय योजना आयोग ने इस बात पर जोर दिया था कि नये क्षेत्रों में रेलों के निर्माण के समय में भविष्य में सड़क यातायात के विकास पर ही ध्यान रखना चहिए।

यातायात नीति एवं संयोजन समिति की प्रमुख सिफारिशें (Important Recommendations of the Committee on Transport Policy and Co-ordination) :—जुलाई, १९५९ ई० में योजना आयोग द्वारा दीर्घकालीन यातायात नीति बनाने में परामर्श देने तथा इसी आधार पर यातायात के विभिन्न साधनों का हिस्सा निश्चित करने के लिए एक (Committee on Transport Policy and Co-ordination) की नियुक्ति की गयी जिसने अपनी प्रारम्भिक सिफारिशें फरवरी, १९६१ ई० में तथा अन्तिम सिफारिशें जून, १९६६ ई० में योजना आयोग के सम्मुख प्रस्तुत किया। अपने प्रारम्भिक विवरण मे समिति ने इस बात पर जोर दिया था कि रेलों के विकास की योजना तैयार करने में सड़क के विकास पर भी ध्यान देना चाहिए। साथ ही, रेल-सड़क सहयोग के नाम पर रेलों को लाभ पहुँचाने के लिए सड़कों को क्षति नहीं पहुँचानी चाहिए। समिति के अनुसार सड़क यातायात को प्रोत्साहित करने के लिए इन्हें लाइसेन्स प्रदान करने में अधिक उदारता से काम लेना चाहिए तथा इन्हें सम्पूर्ण राज्य के लिए लाइसेन्स प्रदान करना चाहिए।

अपने अन्तिम प्रतिवेदन में समिति ने इस बात पर जोर दिया कि केन्द्र में रेलवे, यातायात एव नागरिक उड्डयन तीनों मन्त्रालयों को मिलाकर एक यातायात मन्त्रालय का निर्माण किया जा सकता है जिसके जिम्मे यातायात की सभी व्यवस्था होगी। समिति के अनुसार इससे संयोजन के

क्षेत्र में बहुत अधिक सुविधा प्राप्त होगी। साथ ही, समिति ने इस उद्देश्य से केन्द्र तथा राज्यों विशेष संस्थाओं की स्थापना का भी सुझाव दिया।

मोटर-यातायात का राष्ट्रीयकरण (Nationalization of Motor Transport) : हमारे देश में मोटर-यातायात दिन-प्रति-दिन प्रगति कर रहा है। मार्च, १९६९ ई० में देश सभी प्रकार की प्राय: १६·७ लाख गाड़ियाँ थीं जिनमें मोटर साइकिल ४·२ लाख, निजी गाड़ि एवं जीप ६·६ लाख; माल ढोने वाली गाड़ियाँ ३·४ लाख तथा अन्य गाड़ियाँ २·५ लाख थीं।

अधिकांश देशों में सड़क-यातायात के राष्ट्रीयकरण द्वारा ही रेलवे एवं सड़कों के बीच आर्थिक प्रतियोगिता को समाप्त किया गया है। अतएव भारत में भी मोटर यातायात के राष्ट्री करण पर जोर दिया जा रहा है। योजना आयोग ने प्रत्येक राज्य को इस कार्य के लिए एक सड़ यातायात निगम (Road Transport Corporation) बनाने का सुझाव दिया है जिसमें रेलवे सम्मिलित हो सकती है। अधिकांश राज्यों में मोटर-यातायात का राष्ट्रीयकरण प्रारम्भ भी हो गः है। किन्तु, द्वितीय योजना में इस बात की सिफारिश की गयी थी कि माल ढोने वाली मोट सेवाओं के यातायात का द्वितीय योजना काल में राष्ट्रीयकरण नहीं करना चाहिए। योजना आयो की यह नीति निश्चय ही स्वस्थ सड़क-यातायात के विकास के हित में अनुचित है। रेलवे एवं सड़ के बीच प्रतियोगिता को समाप्त करने तथा देश में सड़क यातायात के आयोजित विकास के लि मोटर-यातायात का यथाशीघ्र राष्ट्रीयकरण अति आवश्यक है। आशा है, आयोग निकट भवि में अपनी इस नीति में संशोधन कर मोटर-यातायात के राष्ट्रीयकरण के लिए मार्ग को प्रशस्त बना का प्रयास करेगा।

इस प्रकार निष्कर्ष के तौर पर यह कहा जा सकता है कि भारत जैसे विकासोन्मुख आर्थि व्यवस्था वाले देश में यातायात के सभी साधनों के विकास पर पर्याप्त रूप से जोर देना चाहिए अतएव, रेल एवं सड़क यातायात के बीच समन्वय का अर्थ सड़कों के विकास को रोक कर रेलों व एकाधिकार प्रदान करना नहीं होना चाहिए, वरन् उसका उद्देश्य देश के सीमित साधनों को देखते हुए रेलों एवं सड़कों के अनावश्यक दुहराव को रोकना चाहिए।

विशेष अध्ययन-सूची

1. S. K. Srivastava : Transport Development in India.
2. Planning Commission : Third and Fourth Five Year Plans.
3. Report of the Committee on Transport Policy and Co-ordination.
4. Report of the Road Transport Organisation Committee.

अध्याय : ३९

यातायात के साधन—जल एवं वायु-यातायात

(Means of Transport—Water and Air Transport)

(क) जल-यातायात

(Water-Ways)

जल-यातायात का अध्ययन हम इसे दो भागों में कर सकते हैं—(१) आन्तरिक जल-यातायात (Inland water-ways), तथा (२) सामुद्रिक यातायात (Sea Transport)।

(१) आंतरिक जल-यातायात (Inland water-ways) :—भारत में अति प्राचीन काल से ही जल मार्गों का प्रयोग यात्रा तथा यातायात के लिए होते चला आया है। रेल तथा सड़कों की समुचित व्यवस्था के अभाव में नदियाँ ही प्राचीन काल में यातायात का मुख्य साधन प्रदान करती थीं। उत्तर भारत की नदियों में सुगमतापूर्वक बड़ी-बड़ी नावें सालों भर चलायी जाती थीं। यही कारण है कि देश के सभी बड़े-बड़े प्राचीन नगर इन्हीं नदियों के किनारे बसे हैं। मौर्य तथा मुगल शासनकाल में नदियों द्वारा बहुत अधिक यातायात होता था। गंगा नदी व्यवसाय का प्रधान मार्ग थी। इससे रेल-व्यवस्था के विकास के पूर्व देश की यातायात-व्यवस्था में आंतरिक जल-यातायात का महत्त्व स्पष्ट हो जाता है। किन्तु रेलों के आगमन से अन्तर्देशीय यातायात को बहुत धक्का पहुँचा। औद्योगिक आयोग (Industrial Commission) के शब्दों में, "उचित प्रतिनिधित्व के अभाव में रेलवे के हितों ने भारत के आंतरिक जल-यातायात की प्रगति को अवरुद्ध कर दिया तथा इस पर विदेशों की तरह ध्यान भी नहीं दिया जा सका। नदियों में बाँध बाँधकर सिंचाई के लिए नहरों के निर्माण ने भी जल यातायात के मार्ग में रुकावट उत्पन्न की है।"

भारत में इंगलैंड तथा अमेरिका की तरह प्राकृतिक जल-मार्ग प्रदान करनेवाली नदियों का सर्वथा अभाव है। फिर भी, अनुमान लगाया जाता है कि भारत में प्रायः १४००० कि० मी० से अधिक नौकागम्य आन्तरिक जल-मार्ग है। इसमें प्रायः ३५०० कि० मी० तक आधुनिक तरीके की बड़ी-बड़ी स्टीमरें चलायी जा सकती हैं। इनमें गंगा तथा ब्रह्मपुत्र एवं इसकी सहायक नदियाँ, गोदावरी एवं कृष्णा तथा बकिंघम नहर एवं पश्चिमी घाट नहर आदि प्रमुख हैं। देश की छिछली नदियों को भी खोदकर नौकागम्य बनाया जा सकता है; किन्तु यह कार्य अधिक खर्चीला जान पड़ता है। उत्तरी-पूर्वी क्षेत्र में आन्तरिक जल-यातायात का बड़ा ही महत्त्वपूर्ण स्थान है। कलकत्ता तथा असम के बीच प्रतिवर्ष १० लाख टन सामान नदियों के द्वारा लाया जाता है।

इन सब प्राकृतिक कठिनाइयों के बावजूद भारत के आंतरिक जल-यातायात के विकास के लिए पर्याप्त क्षेत्र है। आंतरिक जल-मार्गों के समुचित विकास द्वारा रेलों की भीड़ को बहुत हद तक कम किया जा सकता है। औद्योगिक आयोग ने भी इस आशय की सिफारिश की थी। राष्ट्रीय नियोजन समिति ने नदियों एवं जल-मार्गों के नियमन, नियन्त्रण एवं विकास के लिए प्रान्तीय एवं अन्तर-प्रदेशीय आयोगों की नियुक्ति का प्रस्ताव रखा था। आजकल भारत सरकार द्वारा भी आन्तरिक जल-यातायात के विकास पर विशेष जोर दिया जा रहा है। देश के संविधान

के अनुसार अन्तर्राजकीय नदियों एवं जल-मार्गों का विकास केन्द्रीय सरकार के अधीन है। भारत सरकार ने इस कार्य के लिए एक 'केन्द्रीय विद्युत्, सिंचाई एवं नौकागमन आयोग' (Central Power, Irrigation and Navigation Commission) की नियुक्ति की है जिसको यह दायित्व सौंपा गया है। १६५२ ई० में गंगा तथा ब्रह्मपुत्र क्षेत्र में आंतरिक जल-मार्ग के विकास के लिए एक गंगा-ब्रह्मपुत्र जल-यातायात परिषद् (Ganga Brahmputra Water-Transport Board) का निर्माण किया गया जो गंगा, ब्रह्मपुत्र एवं इनकी सहायक नदियों में यातायात के विकास का आयोजन करता है। इस परिषद् ने इस सम्बन्ध में बहुत-से महत्त्वपूर्ण कार्य किये हैं। मार्च, १६६७ ई० में इसे Directorate of Inland Water Transport के साथ मिला दिया गया।

प्रथम एवं द्वितीय पंचवर्षीय योजनाओं में आन्तरिक जल-यातायात के विकास के लिए एक करोड़ रुपया से भी कम रकम व्यय की गयी थी। तृतीय योजनाकाल में इस मद में कुल २·५२ करोड़ रुपये व्यय किया गया। चतुर्थ पंचवर्षीय योजना में आंतरिक जल-यातायात की मद में ९ करोड़ रुपये व्यय करने का आयोजन है। १६६७ ई० में एक Central Inland Water Transport Corporation की स्थापना की गयी जिसने असम तथा कलकत्ता में कार्य करना प्रारम्भ किया है। १९६८ ई० में श्री भगवती की अध्यक्षता में कुछ चुने हुए प्रक्षेत्रों में आंतरिक जल यातायात के समन्वित विकास की संभावनों की जाँच करने के लिए नियुक्त की गयी जिसने १६७० ई० में अपना प्रतिवेदन प्रस्तुत किया।

(२) सामुद्रिक-यातायात
(Sea Transport)

प्रारम्भिक इतिहास (Earlier History) :—प्राचीनकाल में भारत का सामुद्रिक यातायात अति विकसित स्थिति में था। जहाज-निर्माण की कला में यहाँ के निवासी अति चतुर थे। यहाँ के जहाज मिस्र, पूर्वी अफ्रिका, मलाया एवं इन्डोनेशिया आदि देशों को जाया करते थे। मुगल शासनकाल में भी भारतीय जहाजों ने सामुद्रिक योग्यता में विशेष ख्याति प्राप्त की थी। किन्तु कालान्तर में विभिन्न कारणों से हमारे इस गौरवपूर्ण उद्योग का ह्रास होने लगा। इन कारणों में लोहे के बने वाष्प द्वारा प्रचालित जहाजों के प्रचार से भारतीय जहाज-निर्माण कला का ह्रास तथा भारतीय जलयान विरोधी ब्रिटिश नौ-परिवहन-सम्बन्धी कानूनों का लागू होना आदि विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इन सब कारणों से हमारे सामुद्रिक यातायात तथा जहाज-निर्माण उद्योग का ह्रास हुआ और इसकी ख्याति धीरे-धीरे समाप्त होने लगी। किन्तु यद्यपि ब्रिटिश शासन काल में सामुद्रिक यातायात का विकास अवरुद्ध-सा हो गया तथापि देश के विशाल आकार, इसकी विस्तृत तट-रेखा तथा इसकी वाणिज्यिक आवश्यकताओं को देखते हुए यह कहा जा सकता है कि आज भी भारत में इसके विकास की विशाल संभावनाएँ हैं।

भारत में आधुनिक सामुद्रिक यातायात का विकास (Development of Modern Sea Transport in India) :—भारत में आधुनिक तरीके की सबसे महत्त्वपूर्ण कम्पनी 'ब्रिटिश इण्डिया स्टीम नेविगेशन कम्पनी' थी जो १८५४ ई० में स्थापित की गयी थी। भारत के तटीय व्यापार पर कई वर्षों तक इस कम्पनी का प्राय: एकाधिकार रहा। इसके पास बहुत-से सामुद्रिक

जहाज थे जो कलकत्ता, चटगाँव, मद्रास, बम्बई और फारस की खाड़ी में चलते थे। वर्षों से इस कम्पनी ने अपने साधन, सम्पन्नता, राजनीतिक प्रभाव एवं भाड़ा-सम्बन्धी द्वन्द्व युद्धों द्वारा एक-एक करके अनेक ब्रिटिश, यूरोपीय तथा भारतीय प्रतिद्वन्द्वियों को भारत के तटीय व्यापार से निकाल दिया। कुछ भारतीय उद्योगपतियों ने जैसे टाटा बन्धुओं ने १८९३ ई० तथा तूतीकोरिन को स्वदेशी शिपिंग कम्पनी ने १९०६ ई० में काम अवश्य प्रारम्भ किया, किन्तु ब्रिटिश कम्पनियों द्वारा भाड़े में कमी करने के कारण इस क्षेत्र में ये ठहर न सकीं। ब्रिटिश सरकार ने भी विदेशी कम्पनियों को तरह-तरह से प्रोत्साहित किया। उदाहरण के लिए, ब्रिटिश इण्डिया स्टीम नेविगेशन कम्पनी को भारत सरकार के डाक और तार विभाग से प्रायः ६५ लाख रुपये वार्षिक आर्थिक सहायता (subsidy) प्रदान की जाती थी। इसके अतिरिक्त और भी विभिन्न प्रकार से सरकार विदेशी जहाजी कम्पनियों को सहायता प्रदान करती थी जिससे भारतीय कम्पनियों का विकास नहीं हो सका। इस प्रकार १८६० ई० से १९२० ई० के बीच प्रायः २०० देशी जहाजी कम्पनियाँ, जिनमें लगभग ४६ करोड़ रुपये की पूँजी लगी हुई थी, समाप्त हो गयीं। इसका प्रमुख कारण तत्कालीन सरकार की उदासीनता थी। १८९८ ई० में इण्डियन मर्केन्टाइल मेरिन कमिटी (Indian Mercantile Marine Committee) ने सरकार के समक्ष इस सम्बन्ध में बहुत-से सुझाव रखे। कमिटी ने इस बात की शिफारिश की कि भारत का तटीय व्यापार भारतीय कम्पनियों के लिए सुरक्षित रखा जाय तथा सामुद्रिक-यातायात में काम करनेवाले अफसरों के लिए शिक्षण जलयान स्थापित किये जायँ। १९२७ ई० में 'डफरिन' नामक एक शिक्षण जलयान की व्यवस्था अवश्य की गयी, किन्तु कमिटी की अधिकांश सिफारिशों को सरकार ने स्वीकार नहीं किया। इससे देश के सामुद्रिक यातायात के विकास के प्रति तत्कालीन भारत सरकार की उदासीनता स्पष्ट हो जाती है।

इस क्षेत्र में सर्वप्रथम सफल प्रयास १९१० ई० में स्थापित सिन्धिया स्टीम नेविगेशन कम्पनी नामक भारतीय जहाजी कम्पनी द्वारा किया गया जो श्री बालचन्द हीराचन्द द्वारा स्थापित की गयी थी। इस कम्पनी को भारत के चावल व्यापारियों का सहयोग प्राप्त हुआ जिसके फलस्वरूप यह भारत, बर्मा तथा यूरोप के बीच कार्य करने लगी। १९२४ ई० में इस कम्पनी ने ब्रिटिश इण्डिया स्टीम नेविगेशन कम्पनी के साथ एक समझौता किया जिसके अनुसार इसे भारतीय तट पर ७५ हजार टन के जहाज चलाने का अधिकार मिला। १९३३ ई० में समझौता की शर्तों में कुछ सुधार किया गया जिसके अनुसार सिन्धिया कम्पनी को भारत एवं बर्मा के बीच सवारियों के ढोने का भी अधिकार मिल गया। द्वितीत महायुद्ध काल में भारतीय कम्पनियों को अपना कार्य-क्षेत्र विस्तृत करने का अवसर मिला तथा १९४६-४७ ई० तक भारतीय कम्पनियों ने न्यूयार्क तथा लन्दन तक जहाजी सेवाएँ स्थापित कर लीं।

द्वितीय महायुद्ध के बाद देश में सामुद्रिक यातायात के विकास की आवश्यकता अधिक स्पष्ट होने लगी। फलतः भारत सरकार ने श्री सी० पी० रामास्वामी आयर की अध्यक्षता में एक जल-यातायात नीति समिति (Shipping Policy Committee) की नियुक्ति की जिसने १९४७ ई० में अपना प्रतिवेदन प्रस्तुत किया। इस समिति की सिफारिशें स्वतन्त्र भारत में सामुद्रिक यातायात के विकास के लिए विशेष महत्त्व की हैं। इसकी महत्त्वपूर्ण सिफारिशें निम्नलिखित थीं—(१) भारत के तटीय व्यापार का शत-प्रतिशत; बर्मा, लंका, एवं दूसरे पड़ोसी देशों से होने वाले व्यापार का ७५ प्रतिशत भाग तथा अन्य विदेशी व्यापार का ५० प्रतिशत भाग भारतीय कम्पनियों के लिए सुरक्षित

रखना चाहिए। (२) समिति ने एक राष्ट्रीय जल-यातायात नीति की सिफारिश की जिसका उद्देश्य ५ वर्षों में २० लाख टन सामुद्रिक जहाज प्राप्त करना निश्चित किया गया। (३) बन्दरगाहों की व्यवस्था यातायात विभाग से हटाकर वाणिज्य विभाग के अन्तर्गत कर देनी चाहिए। कमिटी ने इन सिफारिशों को कार्यान्वित करने के लिए एक 'जल-यातायात परिषद' की नियुक्ति का सुझाव दिया।

भारत सरकार ने कमिटी की सिफारिशों को स्वीकार कर लिया तथा १९५० ई० से देश का तटीय व्यापार पूर्णतः भारतीय जहाजों के लिए सुरक्षित कर दिया गया और बर्मा, सीलोन, मलाया मार्ग का प्रायः ५० प्रतिशत भाग, भारत-आस्ट्रेलिया का ४० प्रतिशत भाग तथा इंगलैंड एवं अमेरिका से किये जाने वाले व्यापार का एक निश्चित भाग भी भारतीय जहाजों के लिए सुरक्षित करने की नीति अपनाई गयी। १९४७ ई० में ही भारत सरकार १०-१० करोड़ रुपये की अधिकृत पूँजी के तीन जल-यातायात निगम (Shipping Corporations) की स्थापना की घोषणा की। ये निगम तीन विभिन्न जल-मार्गों में कार्य करेंगे। इनमें से एक निगम पूर्वी जल-यातायात निगम १९५० ई० में आस्ट्रेलिया, सुदूर पूर्व तथा पश्चिमी एशियाई देश से व्यापार करने के लिए स्थापित किया गया। जून, १९५६ ई० में एक-दूसरा निगम पश्चिमी जल यातायात निगम (Western Shipping Corporation) की स्थापना की गयी जो भारत-फारस की खाड़ी, भारत लाल-सागर, रूस तथा पोलेंड के मार्गों पर व्यापार कार्य करता है। अक्टूबर, १९६१ ई० में पूर्वी तथा पश्चिमी निगमों को मिलाकर एक Shipping Corporation of India का निर्माण किया गया। इसके पास अभी ८,१७,६०६ G. R. T. के विभिन्न प्रकार के ७६ जहाज हैं। तीसरे निगम की स्थापना अभी नहीं की जा सकी है। इसके अतिरिक्त लगभग ३० और भारतीय जहाजी कम्पनियाँ हैं जो विभिन्न दिशाओं में कार्य करती हैं। अप्रैल, १९७१ ई० में भारत में कुल २४·४ लाख टन भार के २४९ सामुद्रिक जहाज थे जिनमें से ६६ तटीय व्यापार (२·३ लाख टन भार) में तथा १८३ (२२ लाख टन भार) विदेशी व्यापार में लगे थे।

पञ्चवर्षीय योजनाओं में सामुद्रिक जल-यातायात

(Sea-Transport in Five Year Plans)

प्रथम पंचवर्षीय योजना काल में जल-यातायात का विकास (Development of Sea Transport in First Five Year Plan) :—प्रथम योजना में देश में जल-यातायात के विकास पर प्रर्याप्त जोर दिया गया था। योजना प्रारम्भ होने के पूर्व देश में कुल ३·९१ लाख (GRT) के सामुद्रिक जहाज थे जिनमें २·१७ टन तटीय व्यापार (Coastal trade) तथा १·७४ लाख टन विदेशी व्यापार (overseas trade) में लगे हुए थे। प्रथम योजनाकाल में जहाजों के टनेज में पर्याप्त वृद्धि हुई जिसके फलस्वरूप योजना के अन्त में कुल ६·०१ लाख टन (GRT) के जहाज हो गये जिनमें ३·१२ लाख टन तटीय व्यापार, २·८४ लाख टन विदेशी व्यापार तथा ५ हजार टन के टैंकर जहाज थे। प्रथम योजना में इस मद में कुल १८·७ करोड़ रुपये व्यय हुआ। इसके अतिरिक्त प्रथम योजना-काल में ५५०० रेटिंग्स, १४३ मेरिन इंजीनियर तथा २८ नेविगेशन कर्मचारियों के प्रशिक्षण की भी व्यवस्था की गयी। बन्दरगाहों एवं पोताश्रयों के विकास पर प्रथम योजनाकाल में २७·६ करोड़ रुपये व्यय हुआ।

द्वितीय पंचवर्षीय योजना में सामुद्रिक यातायात का विकास (Development of Sea Transport in the Second Five Year Plan) :—द्वितीय योजना में जल-यातायात के विकास के सम्बन्ध में निम्नलिखित उद्देश्य निश्चित किये गये थे - (क) देश के तटीय व्यापार का यथासम्भव विकास किया जाय जिससे इन क्षेत्रों में रेल-यातायात का भार कुछ कम हो सके; (ख) भारतीय विदेशी व्यापार के लिए जहाजों का अधिकाधिक प्रयोग किया जाय; (ग) निजी जहाजी कम्पनियों को उचित वित्तीय सहायता द्वारा प्रोत्साहन एवं निश्चित प्रशिक्षण केन्द्रों में इनके कार्यकर्ताओं के प्रशिक्षण की व्यवस्था की जाय; तथा (घ) घी, तेल एवं पेट्रोल ले जानेवाले जहाजों का भी निर्माण किया जाय। अभी तक दो टैंकर जहाजों को इस कार्य के लिए खरीदा गया था।

द्वितीय योजना के अन्त में देश में कुल ८·५७ लाख टन (GRT) के जहाज थे जिनमें २·९२ लाख टन के जहाज तटीय व्यापार (Coastal Trade) तथा ५·६५ लाख टन के जहाज विदेशी व्यापार (overseas trade) में लगे हुए थे। द्वितीय योजनाकाल में जहाजरानी के विकास पर ५२·७ करोड़ रुपये व्यय किया गया।

तृतीय पंचवर्षीय योजना में सामुद्रिक यातायात की प्रगति (Development of Sea Transport in the Third Five Year Plan) :—तृतीय योजना में जल-यातायात (Shipping) के विकास के लिए ५७ करोड़ रुपये व्यय का आयोजन था जबकि वास्तविक व्यय ४० करोड़ रुपये हुआ। इसके अतिरिक्त Shipping Development Fund से ४ करोड़ रुपये प्राप्त होने की आशा थी। योजनाकाल में कोचीन में एक दूसरा जहाज बनाने का कारखाना प्रारम्भ किया गया जिसमें प्रारम्भ में प्रतिवर्ष ६० हजार टन के जहाज बनाये जाने का आयोजन है। इस उद्देश्य से जून, १९६४ ई० में जापान के एक फर्म के साथ समझौता भी किया गया है। तृतीय योजना के प्रारम्भ में ३,७५,००० टन (GRT) के ७५ अतिरिक्त जहाज प्राप्त करने का आयोजन था, किन्तु योजनाकाल में ६·७ लाख टन (GRT) के जहाज प्राप्त हुए हैं। इस प्रकार सामुद्रिक जहाजों का टनेज १९६०-६१ ई० में ८·५७ लाख टन (GRT) से बढ़कर तृतीय योजना के अन्त में यानी १९६५-६६ ई० तक १५ लाख टन (GRT) हो गया। बन्दरगाहों के विकास पर योजना में ७७ करोड़ रुपये व्यय किया गया।

तीन एक-वर्षीय योजनाओं (१९६६-६९) में जहाजरानी के विकास में २५·४ करोड़ रुपये तथा बन्दरगाहों के विकास पर ५५·३ करोड़ रुपये व्यय किया गया। १९६९-७० से कुल २३ लाख टन भार के जहाज हो गये।

चतुर्थ योजना में जहाजरानी के विकास का कार्यक्रम (Programme of Shipping in the Fourth Five Year Plan) :—चतुर्थ पंचवर्षीय योजना में भी सामुद्रिक यातायात के विकास पर पर्याप्त जोर दिया जा रहा है। योजनाकाल में १४ लाख टन (GRT) के जहाजों को प्राप्त करने का आयोजन है जिससे १९७३-७४ ई० तक देश में कुल ३५ लाख टन (GRT) के जहाज हो जायेंगे। योजनाकाल में तटीय व्यापार में लगे जहाजों के टन भार बढ़कर ४ लाख टन तथा समुद्र-पार में ३१ लाख टन होने की आशा है। चतुर्थ योजना में जहाजरानी की मद में १४० करोड़ रुपये व्यय का आयोजन है। इसके अतिरिक्त बन्दरगाहों के विकास सर १९५ करोड़ रुपये व्यय का आयोजन है। योजना का लक्ष्य देश के कुल विदेशी व्यापार का प्राय: ४० प्रतिशत भाग भारत के जहाजों द्वारा करने का आयोजन है।

पंचवर्षीय योजनाओं में सामुद्रिक यातायात की प्रगति निम्नलिखित तालिका से स्पष्ट हो जाती है :—

सामुद्रिक जहाज (लाख टन GRT में)

	१९५०-५१	१९५५-५६	१९६०-६१	१९६५-६६	१९६८-६९	१९७३-७४ (आयोजित)
तटवर्ती व्यापार	२·१७	३·१२	२·९२	३·२३	३·४०	४·००
विदेशी व्यापार के लिए	१·७४	२·८९	५·६५	११·७७	१८·००	३१·००
कुल	३·९१	६·०१	८·५७	१५·००	२१·४०	३५·००

इस प्रकार भारत का व्यापारिक जहाजी बेड़ा धीरे-धीरे प्रगति की ओर अग्रसर हो रहा है। सरकार निजी कम्पनियों को भी इस कार्य के लिए प्रोत्साहित करती है। साथ-ही-साथ बन्दरगाहों एवं पोताश्रमों का भी विकास किया जा रहा है। तृतीय योजनाकाल में बन्दगाहों की क्षमता १९६०-६१ ई० के २३६ लाख टन से बढ़कर १९६९-७० ई० में ५४६ लाख टन हो गयी। योजनाकाल में सभी प्रमुख बन्दरगाहों के विकास का आयोजन था जिस पर ७७ करोड़ रुपये व्यय हुआ। वार्षिक योजनाओं (१९६६-६९) में इस मद में ५५ करोड़ रुपये व्यय किया गया। चतुर्थ योजना में इस मद में १९५ करोड़ रुपये का आयोजन है।

किन्तु, इन सब प्रयत्नों के बावजूद आज तक हम जल यातायात नीति समिति (Shipping Policy Committee) द्वारा निर्धारित लक्ष्यों को भी नहीं प्राप्त कर पाये हैं। समिति ने भारत, लंका, बर्मा एवं अन्य पड़ोसी राष्ट्रों के व्यापार का ७५ प्रतिशत तथा अन्य देशों से भारत के व्यापार का ५० प्रतिशत भाग भारतीय जहाजों द्वारा सम्हाले जाने की सिफारिश की थी। किन्तु, भारत का व्यापारिक जहाजी बेड़ा अभी इस स्तर तक नहीं पहुँच पाया है। साथ ही, समिति ने भारतीय जल यातायात के लिए पाँच वर्ष के अन्त तक २० लाख टनेज करने का सुझाव दिया था जबकि हमारा टनेज १९६८-६९ ई० में जाकर २१४ लाख टन हो पाया। यह हमारे लिए निश्चय ही चिन्ता का विषय है। भारत जैसे देश, जिसकी तट-रेखा ३५३५ मील में विस्तृत है, के लिए सामुद्रिक यातायात के विकास पर अधिक ध्यान देना अति आवश्यक हो जाता है।

(ख) हवाई-यातायात

(Air-Transport)

भारत में हवाई यातायात का विकास (Development of Air Transport in India) :—भारत में हवाई यातायात अभी प्रारम्भिक स्थिति में है। देश में सर्वप्रथम १९११ ई० में बम्बई तथा करांची के बीच परीक्षा की दृष्टि से वायुयान की व्यवस्था की गयी थी। प्रथम युद्धकाल में सरकार द्वारा देश में वायुयानों के लिए कुछ लैंडिंग ग्राउन्ड्स बनाये गये जिससे देश में हवाई यातायात के विकास को कुछ प्रोत्साहन मिला। १९२७ ई० में हवाई-यातायात बोर्ड

की सिफारिशों के आधार पर नागरिक उड्डयन विभाग (Civil Aviation Department) की स्थापना की गयी तथा १९२८ ई० में इम्पीरियल एयरवेज के द्वारा भारत तथा लन्दन के बीच नियमित रूप से हवाई-यातायात प्रारम्भ हुआ। १९३६ ई० में टाटा एयरवेज लिमिटेड नामक प्रथम भारतीय कम्पनी की स्थापना हुई जिसने इलाहाबाद, कलकत्ता और कोलम्बो के बीच हवाई-यातायात प्रारम्भ किया और बाद में करांची एवं मद्रास तक इसका प्रचार किया गया। १९३३ ई० में एक कम्पनी 'इण्डिया नेशनल एयरवेज' तथा १९३६ ई० में एयर सर्विसेज ऑफ इण्डिया लिमिटेड' प्रारम्भ की गयी।

द्वितीय महायुद्ध ने भारत में हवाई-यातायात के विकास को बहुत अधिक प्रोत्साहन प्रदान किया। युद्धकाल में वायु सेनाओं का नागरिक कार्यों के लिए उपयोग किया जाने लगा। युद्ध के दृष्टिकोण से देश में बहुत-से अच्छे-अच्छे लैंडिंग ग्राउन्ड्स भी तैयार किये गये तथा भारत का सम्बन्ध विदेशों के कुछ प्रमुख केन्द्रों से स्थापित किया गया। १९४० ई० में देश में उड्डयन की शिक्षा देने के लिए १० फ्लाइंग क्लब प्रारम्भ किये गये तथा उच्चतम शिक्षा के लिए लोगों को इंगलैंड भेजने की भी व्यवस्था की गयी। युद्धकाल में ही वायुयान की मरम्मत एवं निर्माण के उद्देश्य से बंगलोर में हिन्दुस्तान एयरक्रॉफ्ट कम्पनी, १९४० ई० में स्थापित की गयी। युद्धकाल में एक अच्छी वायु सेना का भी निर्माण किया गया। इस प्रकार द्वितीय युद्धकाल ने देश में हवाई-यातायात को बहुत अधिक प्रोत्साहन प्रदान किया।

युद्ध के बाद देश में हवाई-यातायात के लिए कई नयी कम्पनियों की स्थापना का आयोजन किया जाने लगा। १९४४ ई० में एक हवाई-यातायात लाइसेंसिंग बोर्ड का निर्माण हुआ। बोर्ड को लाइसेंस-प्राप्त कम्पनियों के किराये तथा भाड़े को अधिकतम एवं न्यूनतम सीमा निर्धारित करने का अधिकार भी दिया गया। १९४८ ई० में भारत सरकार ने हवाई-यातायात के विकास के लिए एक योजना तैयार की जिसके अनुसार वायु लाइनों को तीन वर्गों में विभाजित किया गया—(क) अन्तर्राष्ट्रीय लाइनें, (ख) मुख्य लाइनें, (ग) सहायक लाइनें। १९४० ई० में भारत सरकार ने टाटा बन्धुओं के सहयोग से अन्तर्राष्ट्रीय उड्डयन के लिए एक 'एयर इण्डिया इन्टर-नेशनल' की स्थापना की जिसके ४९ प्रतिशत शेयर सरकार द्वारा खरीदे गये। १९४८ ई० में कलकत्ता-हांगकांग सेवा का उद्घाटन किया।

किन्तु, युद्ध के बाद नागरिक उड्डयन की बहुत-सी कम्पनियां हो गयीं जिससे इन्हें हानि उठानी पड़ी, अतः भारतीय हवाई कम्पनियों की स्थिति और उनकी समस्याओं की जांच के लिए एक हवाई-यातायात जांच समिति की नियुक्ति की गयी। समिति निजी हवाई कम्पनियों के राष्ट्रीयकरण के पक्ष में नहीं थी। समिति के अनुसार हवाई-यातायात के राष्ट्रीयकरण में सरकार को कठिनाइयों का सामना करना पड़ेगा। साथ ही, हवाई-यातायात के विकास के लिए एक समयानुकूल नीति की आवश्यकता थी जिसे साहसपूर्वक कार्यान्वित किया जा सके जो राष्ट्रीयकरण के उपरान्त सम्भव नहीं था। अतः, समिति ने वर्तमान निजी हवाई कम्पनियों को मिलाकर प्रादेशिक आधार पर चार बड़ी-बड़ी कम्पनियों की स्थापना की सिफारिश की जिनके मुख्य कार्यालय कलकत्ता, दिल्ली बम्बई एवं हैदराबाद में होंगे। समिति ने यह सुझाव दिया कि उचित लाभांश एवं वायुयानों का प्रयोग करने वाले यात्रियों की व्यय-शक्ति पर विचार कर ही किराये निश्चित किये जायें। साथ ही, हवाई कम्पनियों की आय पर सरकार द्वारा नियन्त्रण की सिफारिश की गयी। समिति ने सरकार

द्वारा हवाई-यातायात को दी जानेवाली आर्थिक सहायता कम-से-कम १९५२ ई० के अन्त तक चलाने की सिफारिश की।

हवाई-यातायात का राष्ट्रीयकरण

(Nationalisation of Air-Transport)

किन्तु, हवाई-यातायात कम्पनियाँ स्वेच्छापूर्वक एकीकरण के लिए तैयार नहीं थीं, अतः कम्पनियों की चिंताजनक स्थिति को देखते हुए हवाई-यातायात जाँच समिति की सिफारिशों के विरुद्ध भारत सरकार ने इनके राष्ट्रीयकरण का निश्चय किया। इस उद्देश्य से १९५३ ई० में एक वायु-यातायात निगम अधिनियम (Air Transport Corporation Act) नामक एक अधिनियम पारित हुआ जिसके अनुसार १ अगस्त, १९५३ ई० को दो निगमों की स्थापना की गयी :—(१) दी एयर इण्डिया इन्टरनेशनल—लम्बी दूरी की सेवाओं को प्रारम्भ करने के लिए तथा (२) दी इण्डियन एयरलाइन्स कॉरपोरेशन जो आन्तरिक हवाई सेवाओं की व्यवस्था करती है। तब से देश में हवाई-यातायात का विकास उत्तरोत्तर हो रहा है। एयर इण्डिया इन्टरनेशनल का विश्व के २४ मुख्य देशों से यातायात का सम्बन्ध है। १९६९-७० ई० में इसके विमानों ने कुल २६६.२ लाख किलोमीटर लम्बा उड़ान पूरा किया। एयर लाइन्स कॉरपोरेशन के वायुयान आन्तरिक सेवाओं के अतिरिक्त अफगानिस्तान, पाकिस्तान, बर्मा तथा सीलोन भी जाते हैं। इसके विमानों ने १९६९-७० ई० में ४३५.४ लाख कीलोमीटर के लगभग उड़ान पूरा किया। अप्रैल, १९५५ ई० में हवाई निगम अधिनियम के अन्तर्गत आयोजित हवाई-यातायात परिषद् (Air Transport Council) की स्थापना भी की गयी।

भारत में हवाई-यातायात की प्रगति का अन्दाजा निम्नलिखित तालिका से लगाया जा सकता है :—

	१९४७	१९५६	१९७०
यात्रियों की संख्या (लाख में)	२.५	५.६	२७.५
माल की मात्रा (लाख किलोग्राम में)	२५.६	४३.६	३३२.९
डाक की मात्रा (लाख किलोग्राम में)	६.४०	५७.५	१[illegible]०.९
यात्रा (लाख किलोमीटर में)	१५०.७	३७८.६	६७६.८

प्रथम पंचवर्षीय योजनाकाल (First Five Year Plan) में हवाई-यातायात के विकास की मद में ७.१४ करोड़ रुपये तथा द्वितीय योजनाकाल (Second Five Year Plan) में १५.६१ करोड़ रुपये व्यय किया गया। तृतीय पंचवर्षीय योजना (Third Five Year Plan) में इस मद में ४९ करोड़ रुपये व्यय हुआ था। १९७० ई० में भारतीय विमानों ने कुल मिलाकर लगभग ६७७ लाख किलोमीटर की उड़ान भरी और वे १७.५ लाख यात्रियों तथा लगभग १२१.५ लाख किलोग्राम डाक तथा २३१.७ लाख किलोग्राम माल लेकर एक स्थान से दूसरे स्थान को गये। तृतीय योजना के प्रथम दो वर्षों में एयर इंडियन की क्षमता में ६१ प्रतिशत तथा इंडिया एयर लाइन्स कारपोरेशन की क्षमता में २० प्रतिशत की वृद्धि हुई।[1]

1. The Third Five Year Plan : Mid-term Appraisal pp. 145-46.

वार्षिक योजनाओं (Annual Plans) (१९६६-६९) में इस मद में ६७·९ करोड़ रुपये व्यय किया गया।

चतुर्थ पंचवर्षीय योजना (Fourth Five Year Plan) में इस मद में २०२ करोड़ रुपये का व्यय प्रस्तावित है। योजना काल में इण्डियन एयर लाइन्स कॉरपोरेशन क्षमता को १९६८-६९ में १२४ मिलियन टन किलोमीटर से बढ़ाकर १९७३-७४ तक ३९२ मिलियन टन किलोमीटर तथा एयर इण्डिया की क्षमता को १९६८-६९ तक ३३७ मिलियन टन किलोमीटर से बढ़ाकर १९७३-७४ में ९९० मिलियन टन किलोमीटर करने का आयोजन है।

विशेष अध्ययन-सूची

1. S. K. Srivastava : Transport Development in India.
2. Final Report of the Committee on Transport Policy and Co-ordination.
3. India 1971-72.
4. Fourth Five Year Plan : (1969-74)

अध्याय : ३९

भारत का विदेशी व्यापार

(Foreign Trade of India)

विकासशील अर्थ-व्यवस्था के लिए विदेशी व्यापार का महत्त्व (Importance of Foreign Trade for a developing economy)—किसी देश के आर्थिक विकास में विदेशी व्यापार का बड़ा ही महत्त्वपूर्ण स्थान है। विदेशी व्यापार राष्ट्रीय आय की वृद्धि में महत्त्वपूर्ण सहयोग प्रदान करता है। विदेशी व्यापार की मात्रा की प्रकृति तथा बनावट का राष्ट्र के आर्थिक विकास की गति को निर्धारित करने में भी प्रभाव पड़ता है। इसीलिए रॉबर्टसन (Robertson) ने इसे 'विकास का अस्त्र' (Engine of growth) कहा है। इसी प्रकार किंडलबरजर (Kindleberger) के अनुसार "जो देश विदेशी व्यापार में हिस्सा लेता है, वह तुलनात्मक लाभ के आधार पर विशिष्टता प्राप्त कर अपनी वास्तविक आय को अधिकतम बना सकता है।" (If a country is pulled into world trade, it can and should maximise its real income by specialising on lines of comparative advantages)[1] आर्थिक विकास की दृष्टि से आयात तथा निर्यात दोनों ही का महत्त्वपूर्ण स्थान है। आयात के द्वारा ही कोई राष्ट्र यंत्र, मशीन, कच्चे पदार्थ तथा तकनीकी जानकारी आदि, जो विदेशी व्यापार के लिए आवश्यक हैं, को विदेशों से प्राप्त कर सकता है।

प्रत्येक विकासशील देश को विकास की प्रारम्भिक स्थिति में निर्धनता के कुचक्र को तोड़ने के लिए विदेशों से बड़े पैमाने पर इन सामग्रियों के आयात की आवश्यकता पड़ती है। आयात के द्वारा ही विकासशील राष्ट्र विदेशों से विभिन्न प्रकार के यंत्र, विदेशी पूंजी तथा विदेशी जानकारी आदि प्राप्त करते हैं। इसी प्रकार निर्यात का भी आर्थिक विकास में अत्यधिक महत्त्वपूर्ण स्थान है। विदेशों में अत्यधिक मात्रा में निर्यात करने से बड़े पैमाने पर विदेशी मुद्रा प्राप्त की जा सकती है जिसका प्रयोग विदेशों से आयात करने में किया जाता है। प्रो० लिविस (Lewis) ने निर्यात के महत्त्व की चर्चा करते हुए लिखा है कि "Export, industries by stealing labour from home industries, at the same time as they create more demand for these industries, stimulate the home industries into innovation designed to increase their productivity."

बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ तक भारत का विदेशी व्यापार (India's Foreign Trade upto the beginning of the 20th Century)—प्राचीन काल में भारत का विदेशी व्यापार सुदूर देशों तक फैला हुआ था। भारत की बनी हुई वस्तुओं की माँग अति प्राचीन काल में मिस्र, यूनान, रोम तथा ईरान आदि स्थानों में बहुत अधिक होती थी। ईसा से २००० वर्ष पूर्व के मिस्र में मसाला लगाकर रखे हुए शव उत्कृष्ट भारतीय मलमल में लपेटे हुए मिलते हैं। देश का विदेशी व्यापार उन दिनों जल एवं थल दोनों ही मार्गों से किया जाता था। उस समय निर्यात की वस्तुओं में कपड़ा, पीतल के बर्तन, हाथी दाँत, इत्र, रंग, मसाले तथा आयात की वस्तुओं में पीतल, टीन, राँगा, शराब एवं घोड़े आदि का महत्त्व था। भारत में प्राचीन काल में आयात से अधिक निर्यात होता था। अतः देश में विदेशों से बहुत अधिक मात्रा में सोना आता था।

मुगल शासन काल में भी भारत का विदेशी व्यापार अति उन्नतशील स्थिति में था। मुगल शासकों के संरक्षण में देश में कितने ही उद्योगों का विकास हुआ। किन्तु उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ से भारत के विदेशी व्यापार की प्रकृति में आमूल परिवर्तन होने लगा। इंगलैंड की औद्योगिक क्रान्ति तथा ब्रिटिश पार्लियामेंट एवं ईस्ट इण्डिया कम्पनी की स्वार्थपूर्ण नीति

---

1. C. P. Kindleberger : Economic Development, p. 238.

ने भारतीय उद्योग-धन्धों को धीरे-धीरे समाप्त कर डाला। फलस्वरूप भारत अब मुख्य रूप से अन्न एवं कच्चे पदार्थों का निर्यातक तथा कपड़ा, चीनी एवं निर्मित वस्तुओं का, जिनका वह अभी तक निर्यात करता था, आयातक बन गया। १८६९ ई० में स्वेज नहर के खुलने के बाद भारत के व्यापारिक इतिहास का आधुनिक काल प्रारम्भ होता है। स्वेज नहर के निर्माण से भारत तथा इंगलैंड के बीच की दूरी में प्रायः तीन हजार मील की कमी हो गयी। अतः इससे व्यापार के परिमाण में बहुत अधिक वृद्धि हुई। १८६४-६५ ई० से १८६८ ई० के बीच भारत के औसत वार्षिक निर्यात का मूल्य ५५·८ करोड़ रुपये तथा आयात का मूल्य ३१·८ करोड़ रुपये था, जो बढ़कर १९२४-२५ ई० से १९२८-२९ ई० के बीच औसत वार्षिक क्रमशः ३५३·३ करोड़ रुपये तथा २५१ करोड़ रुपये हो गया। उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त तक भारत का विदेशी व्यापार मुख्य रूप से इंगलैंड के साथ ही होता था, किन्तु बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ से जर्मनी, जापान एवं अमेरिका से भी व्यापारिक सम्बन्ध स्थापित होने लगा।

प्रथम महायुद्ध एवं उसके बाद का विदेशी व्यापार

(India's Foreign Trade during and After the First World War)

बीसवीं शताब्दी के प्रथम चौदह वर्षों में, विशेषतः १९०५ ई० के उपरान्त, भारत के विदेशी व्यापार में आश्चर्यजनक गति से वृद्धि हुई जैसा कि वेरा ऐन्स्टे (Vera Anste) ने लिखा है—"बीसवीं शताब्दी के प्रथम १४ वर्षों में भारत के विदेशी व्यापार में बड़ी उन्नति हुई। यद्यपि प्रथम महायुद्ध के पूर्व भारत का अधिकांश व्यापार इंगलैंड के साथ ही होता था, तथापि भारत के विदेशी व्यापर में जापान एवं संयुक्त राज्य अमेरिका का महत्त्व भी बढ़ता जा रहा था।" किन्तु देश के विदेशी व्यापार पर प्रथम महायुद्ध का बड़ा ही प्रतिकूल प्रभाव पड़ा तथा आयात एवं निर्यात दोनों की मात्रा में कमी होने लगी। युद्धकाल में विदेशी व्यापार में कमी के विभिन्न कारण थे। इनमें युद्धकालीन व्यावसायिक प्रतिबन्ध, शत्रु-राष्ट्रों के साथ व्यापार की समाप्ति, यातायात सम्बन्धी कठिनाइयाँ, तटस्थ देशों के साथ व्यापार पर प्रतिबन्ध आदि प्रमुख थे। युद्ध-काल में आयात व्यापार में विशेष रूप से कमी हुई और यह कमी निरन्तर बनी रही। निर्यात व्यापार में युद्ध के प्रथम वर्ष में कमी अवश्य हुई, किन्तु पुनः निर्यात अपनी पूर्व स्थिति में आने लगा। युद्ध-काल की सबसे बड़ी विशेषता निर्मित वस्तुओं के निर्यात में वृद्धि है। भारत से निर्यात की जाने वाली वस्तुओं में निर्मित वस्तुओं का प्रतिशत १९१३-१४ ई० में २२·४ प्रतिशत से बढ़कर १९१८-१९ ई० में ३६·६ प्रतिशत हो गया।

प्रथम महायुद्ध समाप्त होने के बाद १९१९-२० ई० में हमारा निर्यात और आयात क्रमशः अनुकूल (favourable) थे। किन्तु, स्थिति बिलकुल अस्थायी थी तथा दूसरे वर्ष से ही हमारा व्यापारिक सन्तुलन प्रतिकूल होने लगा। १९२०-२१ ई० तथा १९२१-२२ ई० में भारत का व्यापारिक सन्तुलन क्रमशः ७०·८ तथा ३३·८ करोड़ रुपये से प्रतिकूल रहा। यह मन्दी १९२२-२३ ई० में समाप्त हो गयी तथा पुनः पुनरुत्थान दृष्टिगोचर होने लगा। धीरे-धीरे विदेशी व्यापार की स्थिति सामान्य स्तर पर पहुँचने लगी तथा १९२९-३० ई० तक व्यापार की गति सन्तोषजनक रही।

विश्व-व्यापी आर्थिक मन्दी एवं भारत का विदेशी व्यापार

(India's Foreign Trade during the Great Economic Depression)

१९२९-३० की भयानक आर्थिक मन्दी का भारत के विदेशी व्यापार पर बड़ा ही प्रतिकूल प्रभाव पड़ा। कृषि-प्रधान देश होने के कारण इस मन्दी का भारत की आर्थिक स्थिति पर बहुत बुरा प्रभाव पड़ा तथा निर्यात की मात्रा में बहुत कमी आ गयी। इसका प्रमुख कारण यह था कि निर्यात की प्रधान सामग्री कच्चा माल एवं कृषि-पदार्थ थे जिनके मूल्य में निर्मित वस्तुओं की अपेक्षा बहुत अधिक कमी हुई। मन्दी की यह स्थिति १९३२ ई० तक इसी प्रकार बनी रही। इसी बीच जापानी प्रतियोगिता बढ़ती जा रही थी जिसे रोकने के लिए सरकार ने जापानी वस्तुओं के आयात पर करों में वृद्धि की। साथ ही, १९३२ ई० के ओटावा समझौते के अनुसार इंगलैंड की बनी वस्तुओं को भारतीय बाजार में प्राथमिकता दी जाने लगी। इन सब कारणों से भारत का व्यापारिक सन्तुलन प्रतिकूल होता गया। १९३३-३४ ई० में मूल्य में पुन: वृद्धि की प्रवृत्ति प्रारम्भ हुई जो १९३६-३७ ई० तक उत्तरोत्तर बनी रही। किन्तु पुन: अमेरिका में १९३७-३८ ई० से मन्दी प्रारम्भ हुई जिसका भारत के विदेशी व्यापार पर प्रभाव पड़ने लगा। यह मन्दी अत्यधिक परिकल्पना (Speculation) का परिणाम थी। इसके फलस्वरूप कृषि-पदार्थों का मूल्य तेजी से घटने लगा। जून, १९३८ ई० तक यह प्रवृत्ति बनी रही। इसके बाद पुन: व्यावसायिक क्रियाशीलता बढ़ने लगी। इसका प्रमुख कारण विश्व के अधिकांश देशों में युद्ध की तैयारी पर अत्यधिक व्यय था। १९३९ ई० में द्वितीय महायुद्ध प्रारम्भ हुआ जिसका प्रभाव देश के विदेशी व्यापार पर बहुत अधिक पड़ा।

भारत के विदेशी व्यापार की संरचना (Composition) में दोनों महायुद्धों के बीच स्पष्ट रूप से परिवर्त्तन दीख पड़ने लगा। आयात की जाने वाली वस्तुओं में तैयार माल का प्रतिशत धीरे-धीरे कम होने लगा तथा कच्चे पदार्थों एवं खाद्यान्नों का प्रतिशत बढ़ने लगा जो निम्नलिखित तालिका से स्पष्ट है :—

भारत में आयात की जानेवाली वस्तुएँ

	कुल आयात का प्रतिशत	
वस्तुएँ	१९२०-२१	१९३८-३९
खाद्यान्न, पेय एवं तम्बाकू	११·०	१५·७
कच्चा पदार्थ	५·०	२१·७
तैयार माल	८४·०	६२·६
कुल	१००·०	१००·०

आयात की संरचना में इस परिवर्त्तन के प्रमुख कारणों में बर्मा का भारत से पृथक् होना था जिससे बर्मा का चावल भारत में आयात के रूप में आने लगा। साथ ही, देश में उद्योग-धन्धों के विकास के फलस्वरूप कच्चे माल की आवश्यकता बढ़ने लगी जिससे कच्चे माल के आयात में भी पर्याप्त वृद्धि हुई।

किन्तु इस अवधि में देश के निर्यात की संरचना में कोई परिवर्तन नहीं हुआ। इसमें निर्मित वस्तुओं की अपेक्षा खाद्यान्न एवं कच्चे पदार्थों की प्रधानता बनी रही। निम्नलिखित तालिका से दोनों महायुद्ध के बीच वाले समय में निर्यात की रचना का अन्दाजा लगता है :—

भारत से निर्यात की जाने वाली वस्तुएं

कुल निर्यात के प्रतिशत में

वस्तुएं	१९२०-२१	१९३२-३९
खाद्यान्न, पेय एवं तम्बाकू	२८·०	२७·८
कच्चा माल	३५·०	३४·१
तैयार माल	३७·०	३८·१
कुल	१००·०	१००·०

दोनों महायुद्धों के बीच वाले समय में भारत के विदेशी व्यापार की दिशा (direction) में भी परिवर्तन हो रहा था। प्रथम महायुद्ध के पूर्व १९१३ १४ ई० में भारत के कुल आयात का प्राय: ६४·१ प्रतिशत इंगलैंड, ६·९ प्रतिशत जर्मनी, ५·८ प्रतिशत जापान तथा २·६ प्रतिशत संयुक्त राज्य से आता था। युद्ध के बाद इंगलैंड का महत्त्व धीरे-धीरे कम होने लगा तथा इसे भारतीय बाजार में जर्मनी, जापान एवं अमेरिका आदि देशों की प्रतियोगिता का सामना करना पड़ा। फलस्वरूप भारत के आयात व्यापार में इंगलैंड का हिस्सा घटकर १९३३-३४ में ४१·७ प्रतिशत तथा १९३८-३९ ई० में २५·२ प्रतिशत हो गया। युद्धोत्तर काल में, विशेषत: १९२३-२४ ई० के बाद जर्मनी के साथ भारत का व्यापार आश्चर्यजनक गति से बढ़ रहा था। इसी प्रकार निर्यात व्यापार में भी इंगलैंड का हिस्सा धीरे-धीरे घट रहा था।

द्वितीय विश्व-युद्ध के पूर्व भारत के विदेशी व्यापार की प्रमुख विशेषताएँ
(Main Characteristics of India's Foreign Trade before the World War II)

द्वितीय विश्व-युद्ध (१९३९-४५) के पूर्व भारत के विदेशी व्यापार की निम्नलिखित प्रमुख विशेषताएँ थीं :—

(१) **निर्यात में कच्चे माल एवं कृषि-पदार्थों की प्रधानता (Preponderance of raw materials and agricultural goods in export)** :—द्वितीय महायुद्ध के पूर्व भारत मुख्य रूप से कच्चे पदार्थों एवं खाद्यान्नों का निर्यातक देश था। कच्चे पदार्थों के अन्तर्गत मैंगनीज,अभ्रक, क्रोमाइट आदि की प्रधानता थी तथा कृषि-पदार्थों में गेहूँ, पाट, चाय आदि प्रधान थे। किन्तु प्रथम महायुद्ध के बाद देश की बढ़ती हुई जनसंख्या के कारण खाद्य-पदार्थों का निर्यात धीरे-धीरे घटने लगा और आज तो प्रति वर्ष भारत को अरबों रुपये के खाद्यान्न का विदेशों से ही आयात करना पड़ता है।

(२) **आयात में तैयार वस्तुओं की प्रधानता Preponderance of manufactured goods in imports)** :—द्वितीय महायुद्ध के पूर्व भारत मुख्य रूप से निर्मित वस्तुओं का आयातक था। इनमें मशीन एवं यन्त्रादि, मोटर, साइकिल, रेलवे इंजन, दवा तथा रासायनिक पदार्थ आदि प्रमुख थे।

(३) **व्यापारिक संतुलन का अनुकूल होना (Favourable Balance of Trade)** :—द्वितीय महायुद्ध के पूर्व भारत का विदेशी व्यापार साधारणतया इसके अनुकूल रहता था, यानी आयात से अधिक निर्यात होता था। किन्तु, जो अनुकूल व्यापाराधिक्य की रकम थी, वह सोने अथवा चाँदी के रूप में नहीं प्राप्त होती थी, वरन् गृह-प्रभार (Home Charges) तथा विदेशी

कर्मचारियों के वेतन एवं पेन्सन आदि के रूप में पुनः बाहर चली जाती थी। अतएव इस अनुकूल व्यापारिक संतुलन से भारत को कोई विशेष आर्थिक लाभ नहीं होता था।

(४) विदेशी व्यापार में इंगलैंड की प्रधानता :—द्वितीय युद्ध के पूर्व भारत के विदेशी व्यापार-आयात एवं निर्यात दोनों में इंगलैंड की ही प्रधानता थी। कुल विदेशी व्यापार का अधिकांश भाग इंगलैंड के साथ होता था।

द्वितीय युद्धकाल (१९३९-४५) में भारत का विदेशी व्यापार

(India's Foreign Trade during the Second World War)

सितम्बर, १९३९ ई० में द्वितीय महायुद्ध प्रारम्भ हुआ। प्रारम्भ में द्वितीय युद्ध का भारत के विदेशी व्यापार पर बड़ा ही प्रतिकूल प्रभाव पड़ा। युद्ध के फलस्वरूप शत्रु-राष्ट्रों से व्यापार बिल्कुल समाप्त हो गया। तटस्थ राष्ट्रों के साथ व्यापार में भी कई तरह की रुकावटें आ गयीं। इस प्रकार युद्धकाल में भारत का केवल संयुक्त राज्य अमेरिका, इंगलैंड, आस्ट्रेलिया, कनाडा तथा मध्य-पूर्वी एशियाई देशों के साथ ही व्यापारिक सम्बन्ध रह गया। इन देशों के साथ व्यापार करने में भी जहाज की असुविधा बहुत अधिक होती थी। जर्मनी, इटली तथा जापान के युद्ध में प्रवेश के बाद विश्व के प्रायः सभी प्रमुख सामुद्रिक मार्ग असुरक्षित हो गये जिससे जहाजों के किराये तथा बीमा की दरों में भी पर्याप्त वृद्धि हो गयी। सरकार द्वारा भी आयात-निर्यात पर तरह-तरह के नियन्त्रण लगाये गये। इन सबके फलस्वरूप देश का व्यापार बिल्कुल विस्थापित एवं विकृत हो उठा।

किन्तु, युद्धकाल में इंगलैंड तथा मित्र-राष्ट्रों में भारतीय वस्तुओं की माँग धीरे-धीरे बढ़ने लगी। भारत से बहुत-सा खाद्यान्न, कच्चा पदार्थ तथा कुछ निर्मित वस्तुओं का निर्यात इंगलैंड एवं अमेरिका में बड़ी मात्रा में किया जाने लगा। संयुक्त राज्य अमेरिका को अपने पूर्वी यौद्धिक मोर्चे के लिए भारत से सामग्री प्राप्त करना बड़ा ही सरल था। मध्य-पूर्वी एशियाई तथा अफ्रिकी देशों में भी यूरोपीय पूर्ति घट जाने से भारतीय वस्तुओं की माँग बढ़ गयी और इस प्रकार भारत को एक बहुत अच्छा बाजार मिल गया। इसके विपरीत इंगलैंड तथा अमेरिका के युद्ध में संलग्न रहने के कारण भारत का इन देशों से आयात घट गया। अतएव युद्धकाल में आयात अपेक्षा निर्यात में ही अधिक वृद्धि हुई; इसलिए व्यापारिक संतुलन (Balance of Trade) सदा अनुकूल ही रहा और पौंड पावने (Sterling Balances) की रकम बहुत जमा हुई।

निम्नलिखित तालिका से द्वितीय युद्धकाल में भारत के अनुकूल व्यापाराधिक्य का अन्दाजा लगाया जा सकता है :—

भारत का व्यापाराधिक्य (करोड़ रुपये में)

वर्ष	व्यापाराधिक्य
१९३९-४०	+ १७५
१९४०-४१	+ ४२
१९४१-४२	+ ८०
१९४२-४३	+ ८४
१९४३-४४	+ ९२
१९४४-४५	+ ४२

द्वितीय महायुद्ध के बाद भारत का विदेशी व्यापार
(India's Foreign Trade after the Second World War)

द्वितीय युद्ध-समाप्त होने के बाद भारत के विदेशी व्यापार की रूप-रेखा में आमूल परिवर्तन हुआ। युद्ध के बाद विदेशी वस्तुओं की मांग बढ़ने लगी जिससे इनके आयात में भी पर्याप्त वृद्धि हुई। युद्धकाल की असामान्य परिस्थितियों में बाहर से वस्तुएँ मँगाना बहुत कठिन हो गया था, किन्तु युद्ध समाप्त होते ही उपभोक्ता तथा पूँजीगत दोनों प्रकार के मालों की माँग बढ़ने लगी। साथ ही, युद्धकाल से ही देश में खाद्यान्न के भीषण अभाव की समस्या उपस्थित हो गयी थी जिसे दूर करने के लिए विदेशों से बहुत अधिक मात्रा में अन्न के आयात की आवश्यकता पड़ी। इस प्रकार युद्ध के बाद आयात में बहुत अधिक वृद्धि हुई, किन्तु निर्यात में इस दर से वृद्धि नहीं हो पायी। फलस्वरूप भारत का व्यापारिक संतुलन इसके विपक्ष में होने लगा जो निम्नलिखित तालिका से स्पष्ट है :—

व्यापारिक सन्तुलन (करोड़ रुपये में)

वर्ष	आयात	निर्यात	व्यापाराधिक्य
१९४५	२३२	२२९	—३
१९४६	२९२	२६९	—२३
१९४७	३३४	३२०	—१४
१९४८	४७०	४२८	—४२

इस प्रतिकूल व्यापारिक संतुलन के फलस्वरूप युद्धोत्तर काल में विदेशी विनिमय की कठिनाइयाँ उपस्थित हो गयीं। भुगतान संतुलन को ठीक करने के लिए विदेशी व्यापार पर तरह-तरह के नियन्त्रण लगाये गये। वास्तव में, युद्धोत्तर काल में आयात-नियन्त्रण तथा निर्यात-प्रोत्साहन भारतीय व्यापार-व्यवस्था के सामान्य अंग हो गये। प्रतिकूल व्यापारिक संतुलन के कारण विनिमय की कठिनाइयाँ बहुत बढ़ गयीं जिन्हें दूर करने के लिए भारत को द्विपक्षीय व्यापारिक समझोते (Bilateral Trade Argeements) तथा विनिमय-नियन्त्रण आदि उपायों को भी अपनाना पड़ा।

देश-विभाजन एवं विदेशी व्यापार (Partition of the Country and Foreign Trade) :— देश-विभाजन ने भारत की विदेशी व्यापार-सम्बन्ध-कठिनाइयों को और भी बढ़ा दिया। विभाजन का देश की आर्थिक व्यवस्था पर बहुत गहरा प्रभाव पड़ा। देश-विभाजन के परिणामस्वरूप जूट, कपास तथा गेहूँ उपजानेवाले अधिकांश क्षेत्रों के पाकिस्तान में चले जाने से भारत के विदेशी व्यापार के ढाँचे में आमूल परिवर्तन हो गया। विभाजन के पूर्व भारत जूट एवं कपास का मुख्य रूप से निर्यातक देश था, किन्तु विभाजन के बाद यह इनका आयातक बन गया। अविभाजित भारत के कुल जूट उत्पन्न करनेवाले क्षेत्र का केवल २२ प्रतिशत भाग भारत को मिला जब कि जूट के प्रायः सभी कारखाने हिन्दुस्तान में ही रह गये। विभाजन के फलस्वरूप भारत को कपास, विशेषतः लम्बी रेशेवाली कपास के अभाव का भी सामना करना पड़ा। देश में खाद्यान्न की पूर्ति पर भी विभाजन का स्पष्ट रूप से प्रभाव पड़ा। विभाजन के फलस्वरूप देश में निर्यात की अपेक्षा आयात में बहुत अधिक वृद्धि हुई जिससे व्यापारिक संतुलन अत्यधिक प्रतिकूल हो गया।

१९४९ ई० का अवमूल्यन एवं भारत का विदेशी व्यापार (Devaluation of 1949 and India's Foreign Trade) :—१८ सितम्बर, १९४९ ई० को इंगलैंड ने अपनी मुद्रा का अवमूल्यन किया और उसके साथ ही स्टर्लिंग क्षेत्र के प्रायः सभी देशों ने अपनी-अपनी मुद्रा का अवमूल्यन किया। भारत ने भी १९ सितम्बर, १९४९ ई० को अपने रुपये का अवमूल्यन किया। किन्तु पाकिस्तान ने अपनी मुद्रा का अवमूल्यन नहीं किया। अवमूल्यन के फलस्वरूप भारतीय वस्तुओं का विदेशी बाजार में मूल्य घट गया जिससे भारत के निर्यात व्यापार को अत्यधिक प्रोत्साहन मिला। अवमूल्यन के साथ ही कोरियाई युद्ध ने भी जोर पकड़ा जिससे अमेरिका तथा इंगलैंड आदि देशों ने संग्रहीकरण (Stockpiling) प्रारम्भ कर दिया। इन सब कारणों से भारतीय वस्तुओं की माँग विदेशों में बढ़ने लगी जिससे देश के निर्यात व्यापार को बहुत अधिक प्रोत्साहन मिला। इससे व्यापाराधिक्य की प्रतिकूलता में भी कमी हुई। फलस्वरूप विदेशी व्यापार की प्रतिकूलता १९४९-५० में ८५ करोड़ रुपये से घट कर १९५०-५१ ई० में ५० करोड़ रुपये हो गयी। अतः अवमूल्यन के फलस्वरूप व्यापाराधिक्य की प्रतिकूलता में सन्तोषजनक कमी हुई।

किन्तु, पाकिस्तान ने अपनी मुद्रा का अवमूल्यन नहीं किया। इसका भारत के विदेशी व्यापार पर अच्छा प्रभाव नहीं पड़ा। इससे पाकिस्तान की वस्तुओं की कीमत भारतीय बाजारों में बढ़ गयी जिससे भारत को कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। साथ ही, अवमूल्यन के लाभ स्थायी नहीं सिद्ध हुए तथा कुछ ही समय बाद समाप्त हो गये। कोरियाई युद्ध के बाद अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति में भी पर्याप्त सुधार हुआ तथा युद्ध की सामग्रियों का संग्रहीकरण प्रायः बन्द हो गया। इससे विदेशों में भारतीय वस्तुओं की माँग घट गयी। अतएव निर्यात में पुनः ह्रास होने लगा। इसी बीच देश में खाद्यान्नों का आयात निरन्तर बढ़ता गया। इन सब कारणों से भारत का व्यापारिक संतुलन पुनः इसके प्रतिकूल होने लगा। साथ ही, पंचवर्षीय योजनाओं को कार्यान्वित करने के लिए भी यन्त्र आदि का अधिक मात्रा में आयात करना पड़ा। इससे व्यापारिक सन्तुलन की स्थिति बहुत बिगड़ गयी। अतः, सरकार को आयात पर कठोर नियन्त्रण लगाना पड़ा। इसी बीच सरकार द्वारा देश में निर्यात को बढ़ाने के लिए भी तरह-तरह के प्रोत्साहन दिये जाने लगे। संयोगवश देश में खाद्यान्न के उत्पादन में भी आशाजनक वृद्धि हुई जिससे स्थिति में बहुत कुछ सुधार हो गया। फलस्वरूप १९५३-५४ ई० से व्यापारिक सन्तुलन की प्रतिकूलता घटने लगी। १९५५-५६ ई० तक व्यापारिक सन्तुलन की स्थिति में कोई विशेष परिवर्तन नहीं हुआ। किन्तु, इसके बाद स्वेज नहर के राष्ट्रीयकरण से सम्बधित आर्थिक एवं राजनैतिक कठिनाइयों ने हमारी स्थिति को पुनः गम्भीर बना दिया। फलस्वरूप हमारे आयात के मूल्य में बहुत अधिक वृद्धि हुई। साथ ही, १९५६-५७ ई० से द्वितीय योजना को कार्यान्वित करने के लिए विदेशों से अधिक मात्रा में आयात की आवश्यकता पड़ी। १९५७-५८ ई० से देश में पुनः खाद्य-संकट की स्थिति उत्पन्न हो गयी जिसके फलस्वरूप अधिक मात्रा में खाद्यान्न का आयात करना पड़ा। इससे व्यापारिक सन्तुलन की प्रतिकूलता बहुत बढ़ गयी अतः, भारत सरकार ने १९५७ ई० से आयात पर

१—पाकिस्तान ने अगस्त, १९५५ ई० में अपनी मुद्रा का अवमूल्यन किया जिसके बाद भारत और पाकिस्तान के रुपये का मूल्य पुनः बराबर हो गया।

कठोर नियन्त्रण लगा दिया तथा निर्यात को प्रोत्साहित करने के प्रयत्न किये जाने लगे। किन्तु, इससे व्यापारिक सन्तुलन में कोई विशेष सुधार नहीं हुआ।

भारत के वर्तमान विदेशी व्यापार की प्रधान विशेषताएँ

(Main Characteristics of India's Present Day Foreign Trade)

द्वितीय महायुद्ध एवं स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद भारत के विदेशी व्यापार में कुछ महत्त्वपूर्ण परिवर्तन हुए हैं। इनमें से कुछ परिवर्तन हमारी आर्थिक स्थिति से तथा कुछ राजनीतिक परिस्थितियों से सम्बन्धित हैं। राजनीतिक परिस्थितियों में स्वतन्त्रता-प्राप्ति तथा देश-विभाजन का भारत के विदेशी व्यापार पर बहुत गहरा प्रभाव पड़ा। इसी प्रकार विदेशी व्यापार को प्रभावित करनेवाले आर्थिक कारणों में रुपये का अवमूल्यन, आयात-निर्यात नियन्त्रण की नीति का प्रारम्भ तथा पंचवर्षीय योजनाएँ आदि विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

भारत के वर्तमान विदेशी व्यापार की निम्नलिखित प्रधान विशेषताएँ हैं:—

१. व्यापारिक संतुलन का विपक्ष में होना (Unfavourable Balance of Trade);
२. विदेशी व्यापार की दिशा में परिवर्तन (Change in the direction of India's Foreign Trade);
३. विदेशी व्यापार की संरचना में परिवर्तन (Change in the direction of India's Foreign Trade);
४. विदेशी व्यापार पर सरकारी नियंत्रण का आधिक्य (Increasing Govt. control over Foreign Trade); तथा
५. भारत के विदेशी व्यापार के मूल्य एवं मात्रा में वृद्धि (Increase in the Volume and Value of India's Foreign Trade); तथा
६. विश्व-व्यापार में भारत का घटता हुआ भाग (Gradually declining share of India's Foreign Trade in World Trade)।

व्यापारिक संतुलन का विपक्ष में होना

(Unfavourable Balance of Trade)

द्वितीय महायुद्ध के पूर्व भारत का व्यापारिक संतुलन मुख्यतः इसके अनुकूल ही रहता था। किन्तु, युद्ध के बाद विभिन्न कारणों से हमारा व्यापारिक सन्तुलन भारत के प्रतिकूल होने लगा। निम्नांकित तालिका[1] से यह स्पष्ट है:—

भारत का व्यापारिक संतुलन (करोड़ रुपये में)

वर्ष	आयात	निर्यात	व्यापाराधिक्य
१९४९-५०	६४८·००	५०६·००	—१४२·००
१९५०-५१	६५०·४४	६००·६७	—४९·७७
१९५५-५६	७७४·३५	६०८·९१	—१६५·४४
१९६०-६१	११२२·४८	६४२·०७	—४८०·४१
१९६५-६६	१३६७·९०	७८५.५०	—५८२·४०
१९६७-६८	२०४१.८	१२५४·६	—७८८·२०
१९६९-७०	१५८२·३	१४०३·९	—१७८·४
१९७०-७१	१७२०·४	१६०२·७	३१.७

1. Economic Survey, 1971-72

इस प्रकार स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद से देश का व्यापारिक संतुलन निरन्तर इसके प्रतिकूल रहा है। इस प्रतिकूल व्यापारिक संतुलन के निम्नांकित प्रधान कारण हैं—

(क) देश-विभाजन का प्रतिकूल प्रभाव (Adverse effects of Partition):—देश-विभाजन का हमारे व्यापारिक संतुलन पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ा। विभाजन के पूर्व भारत से निर्यात की जानेवाली वस्तुओं में जूट एवं कपास का महत्त्वपूर्ण स्थान था, किन्तु विभाजन के फलस्वरूप हम इनका बहुत बड़ी मात्रा में आयात करने लगे हैं। उदाहरण के लिए, १९५२ ई० में भारत को ११५·४ करोड़ रुपये मूल्य की कपास तथा २३·५ करोड़ रुपये के कच्चे जूट का आयात करना पड़ा था। इससे भारत के विदेशी व्यापार पर विभाजन का प्रभाव स्पष्ट हो जाता है।

(ख) अत्यधिक मात्रा में खाद्यान्नों का आयात (Excessive import of food-grains):—व्यापारिक संतुलन के विपक्ष में होने का दूसरा महत्त्वपूर्ण कारण खाद्यान्नों का अत्यधिक मात्रा में आयात है। बर्मा के भारत से पृथक् होने के फलस्वरूप देश में खाद्यान्न की मात्रा में बहुत कमी आ गयी। देश-विभाजन ने तो हमारे खाद्यान्न के अभाव को और भी बढ़ा दिया है। इसी बीच देश की जनसंख्या में प्रतिवर्ष प्रायः १ करोड़ के हिसाब से वृद्धि होने लगी है। इन सब कारणों से स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद हमें प्रतिवर्ष बहुत बड़ी मात्रा में खाद्यान्न का आयात करना पड़ा। इस प्रकार जबकि १९४६ ई० में हमने केवल १५·३ करोड़ रुपये के खाद्यान्न का आयात किया था; १९५२ ई० में खाद्य-संकट के फलस्वरूप हमें १७५·१९ करोड़ रुपये के चावल एवं गेहूँ का आयात करना पड़ा। द्वितीय योजना काल में खाद्यान्न की अभाव की स्थिति प्रायः इसी प्रकार बनी रही। १९६५-६६ ई० में तो देश में कुल ३०९ करोड़ रुपये, १९६६-६७ में ६५१ करोड़ रुपये तथा १९६७-६८ ई० में ५१८.२ करोड़ रुपये के खाद्यान्न का आयात किया गया था। १९५१ से १९६८ तक १७०० करोड़ रुपये के खाद्यान्न का विदेशों से आयात किया गया था। किन्तु अब खाद्यान्न के आयात में क्रमशः कमी हो रही है। उदाहरण के लिए, १९६८-६९ ई० में केवल ३६·९ करोड़ रुपये तथा १९७१-७२ में केवल २७·५ करोड़ रुपये के खाद्य-पदार्थों का आयात किया गया था।

(ग) यन्त्र एवं अन्य उपकरणों के आयात में वृद्धि (Increase in the import of plants and machineries):—व्यापारिक संतुलन के विपक्ष में होने का तीसरा महत्त्वपूर्ण कारण द्वितीय विश्व-युद्ध के बाद यन्त्रों के आयात में अत्यधिक वृद्धि है। युद्धकाल में मशीनों का आयात प्रायः बन्द रहा, अतः युद्ध समाप्त होते ही पुरानी मशीनों के प्रतिस्थापन तथा नये कारखानों की स्थापना के लिए बहुत अधिक मात्रा में मशीनों का आयात किया जाने लगा। आजकल तो पंचवर्षीय योजनाओं को कार्यान्वित करने के लिए मशीनों का और अधिक आयात करना पड़ता है। इस प्रकार जहाँ १९३८ ई० में केवल २० करोड़ रुपये की मशीनों का आयात हुआ था, वहाँ १९५२ ई० में प्रायः ९२ करोड़ रुपये, १९५५-५६ ई० में १६४·३ करोड़ रुपये, १९६६-६७ ई० में ७९१·२ करोड़ रुपये तथा १९६९-७० में ४०३·२ करोड़ रुपये की मशीनों एवं अन्य पूँजीगत वस्तुओं का आयात करना पड़ा था।

इन सब कारणों से द्वितीय महायुद्ध के बाद हमारा व्यापारिक संतुलन निरन्तर प्रतिकूल होने लगा। यद्यपि आयात पर कठोर नियन्त्रण के कारण केवल आवश्यक सामग्रियों का ही आयात किया जाता है, फिर भी हमारे आयात का मूल्य निर्यात की अपेक्षा बहुत अधिक रहा है।

सितम्बर १९४९ ई० में रुपये के अवमूल्यन से इस स्थिति में निःसन्देह कुछ सुधार हुआ तथा व्यापारिक संतुलन की प्रतिकूलता में भी कुछ कमी हुई, किन्तु यह बिलकुल अस्थायी थी। द्वितीय योजना के प्रारम्भिक वर्षों से तो हमारा व्यापारिक संतुलन और भी प्रतिकूल होने लगा है। जून, १९६६ ई० के अवमूल्यन का भी व्यापारिक संतुलन पर कोई महत्त्वपूर्ण प्रभाव नहीं पड़ा। इस प्रकार भारत का व्यापारिक असंतुलन मूल्य-सम्बन्धी और मात्रा-सम्बन्धी दोनों प्रकार का है। मात्रा-सम्बन्धी असंतुलन देश-विभाजन एवं खाद्यान्न के अभाव के कारण हुआ क्योंकि विभाजन के बाद हमें खाद्यान्न, जूट और कपास का बहुत बड़ी मात्रा में आयात करना पड़ा।

सरकार द्वारा व्यापारिक असंतुलन को रोकने के प्रयास (Govt. efforts to correct the unfavourable Balance of Trade) :—भारत सरकार द्वारा व्यापारिक संतुलन की प्रतिकूलता को रोकने के लिए बहुत अधिक प्रयत्न किये गये जिनमें निम्नलिखित विशेष महत्त्व के हैं :—

(क) आयात पर कठोर नियन्त्रण (Import Control) :—सर्वप्रथम तो सरकार द्वारा आयात पर तरह-तरह के नियन्त्रण लगाये गये। अनावश्यक वस्तुओं के आयात पर रोक लगा दी गयी तथा किसी भी वस्तु के आयात के लिए सरकार से लाईसेंस लेना अनिवार्य बना दिया गया। आयात-नियन्त्रण की नीति के अन्तर्गत केवल आवश्यक वस्तुओं के आयात की ही अनुमति दी जाती है।

(ख) रुपये का अवमूल्यन (Devaluation of the Rupee) :—निर्यात की मात्रा को बढ़ाने तथा आयात को कम करने के लिए सितम्बर, १९४९ ई० में सरकार द्वारा रुपये का अवमूल्यन किया गया। इससे हमारे निर्यात को विशेषतः डॉलर क्षेत्र में बहुत अधिक प्रोत्साहन मिला तथा व्यापारिक संतुलन की प्रतिकूलता भी कुछ कम हुई, किन्तु अवमूल्यन का प्रभाव बिलकुल अस्थायी था। साथ ही, पाकिस्तान ने अपनी मुद्रा का अवमूल्यन नहीं किया जिससे हमारी कठिनाइयाँ कुछ बढ़ गयीं। पुनः ६ जून, १९६६ को सरकार ने अपनी मुद्रा का अवमूल्यन किया। किन्तु इसका भी इच्छित परिणाम नहीं हो सका। अवमूल्यन की सविस्तार व्याख्या पहले ही एक पृथक अध्याय में की गयी है।

(ग) निर्यात को प्रोत्साहन (Export Promotion) :—निर्यात को प्रोत्साहित करने के उद्देश्य से सरकार द्वारा बहुत-से प्रयत्न किये जा रहे हैं। उदाहरण के लिए, सरकार ने कुछ प्रमुख वस्तुओं पर से निर्यात-शुल्क को कम कर दिया है। साथ ही, निर्यात बढ़ाने के लिए निर्यात विकास परिषदों (Export Promotion Councils) का संगठन किया गया है। इधर निर्यात बढ़ाने के प्रयत्नों में सरकार को पर्याप्त सफलता भी मिली है। किन्तु जून, १९६६ ई० में भारतीय रुपये के अवमूल्यन के बाद प्रायः सभी प्रकार के निर्यात-प्रोत्साहन को समाप्त कर दिया गया है।

(घ) खाद्यान्न, जूट तथा कपास की खेती को प्रोत्साहन प्रदान करना—देश में खाद्यान्न, जूट, तथा कपास की खेती को प्रोत्साहित किया जाने लगा है जिससे इनके उत्पादन में देश आत्म-निर्भर बन सके। कपास तथा जूट के सम्बन्ध में हमारी विदेशों पर निर्भरता कुछ कम अवश्य हुई है, किन्तु खाद्य संकट की स्थिति में १९६७-६८ तक कोई संतोषजनक सुधार नहीं हो पाया था। १९६६-६७ ई० में भारत सरकार ने ६५१ करोड़ रुपये के मूल्य के खाद्यान्न का

आयात किया था। किन्तु अब देश में हरी क्रान्ति (Green Revolution) का सूत्रपात हुआ है जिससे १९७२ ई० से भारत में खाद्यान्न के आयात को बिल्कुल समाप्त कर दिया गया है।

इस प्रकार व्यापारिक संतुलन की प्रतिकूलता को कम करने के लिए सरकार द्वारा बहुत सारे प्रयत्न किये जा रहे हैं। किन्तु इन प्रयत्नों में अभी कोई विशेष सफलता नहीं प्राप्त हो पायी है तथा १९६६-६७ ई० में भारत का विदेशी व्यापारिक संतुलन ८.२ करोड़ रुपये से प्रतिकूल था। किन्तु पिछले दो वर्षों से निर्यात में धीरे-धीरे वृद्धि हो रही है जिसके फलस्वरूप १९६९-७० में व्यापारिक प्रतिकूलता घटकर १७८·४ करोड़ रुपये हो गयी। इससे ऐसा जान पड़ता है कि विदेशी व्यापार संतुलन की प्रतिकूलता में कमी हो रही है।

(२) विदेशी व्यापार की दिशा में परिवर्तन

(Changes in the Direction of India's Foreign Trade)

युद्धोत्तर काल में भारत के विदेशी व्यापार की दूसरी प्रमुख विशेषता इसकी दिशा में परिवर्तन है। द्वितीय युद्ध के पूर्व भारत के विदेशी व्यापार में ब्रिटेन तथा ब्रिटिश राष्ट्र-मण्डल के देशों (Commonwealth Countries) की प्रधानता थी। किन्तु युद्धोत्तर-काल में ब्रिटेन का महत्त्व धीरे-धीरे घटने लगा तथा भारत का डॉलर-क्षेत्र (Dollar area), विशेषत: संयुक्त राज्य अमेरिका के साथ व्यापार बढ़ने लगा। निर्यात की तुलना में ब्रिटेन से आयात में बहुत अधिक कमी हुई है।

विदेशी व्यापार की दिशा में परिवर्तन का प्रमुख कारण हमारे आयात व्यापार में संयुक्त राज्य अमेरिका का बढ़ता हुआ महत्त्व है। युद्धोत्तर काल में देश के औद्योगिक विकास के लिए आवश्यक वस्तुओं, जैसे—मशीन, औजार, इंजन, परिशोधन यन्त्र आदि का आयात मुख्यत: संयुक्त राज्य अमेरिका से ही हो रहा है। साथ ही, देश में खाद्यान्न की समस्या के समाधान के लिए संयुक्त राज्य अमेरिका से बहुत अधिक मात्रा में गेहूँ का आयात भी करना पड़ा है। इसके फलस्वरूप हमारे आयात व्यापार में संयुक्त राज्य अमेरिका का महत्त्व बहुत बढ़ गया। संयुक्त राज्य अमेरिका के साथ-साथ पश्चिमी जर्मनी से आयात में भी वृद्धि हुई है। १९६६-६७ ई० में भारत ने संयुक्त राज्य अमेरिका से कुल ७७१ करोड़ रुपये, युनाइटेड किंगडम से १६४ करोड़ रुपये तथा पश्चिमी जर्मनी से १६१ करोड़ रुपये की वस्तुओं का आयात किया गया था। १९४३-४४ ई० में भारत के कुल आयात का ६१·४ प्रतिशत भाग इंगलैंड से प्राप्त होता था जो १९५८-५९ ई० में घटकर १९·५ प्रतिशत हो गया। १९६५-६६ ई० में भारत के आयात व्यापार में ब्रिटेन एवं अमेरिका का भाग क्रमश: १०·७ प्रतिशत तथा ३७·७ प्रतिशत था। इनके अतिरिक्त जर्मनी, चेकोस्लोवाकिया, जापान तथा कनाडा आदि देशों से पूँजीगत मालों तथा बर्मा, आस्ट्रेलिया, पाकिस्तान आदि देशों से भी खाद्यान्न एवं कच्चे पदार्थ का आयात किया जाता है। भारत का आजकल रूस, युगोस्लाविया, पोलैंड, हंगरी तथा रूमानिया आदि देशों से भी व्यापारिक सम्बन्ध स्थापित हो गया है। इससे स्पष्ट है कि देश के आयात व्यापार में आज इंगलैंड का महत्त्व कम तथा संयुक्त राज्य अमेरिका का स्थान प्रथम हो गया है।

भारत के निर्यात व्यापार के साथ भी यही बात पायी जाती है। १९३८-३९ ई० निर्यात व्यापार में ब्रिटेन का भाग ३४·३ प्रतिशत था जो घटकर १९६९-७० ई० में ११·७ प्रतिशत हो

गया। द्वितीय विश्व-युद्ध के पूर्व भारत से मुख्यतः कामनवेल्थ के देशों को ही निर्यात किया जाता था, किन्तु युद्धोत्तर काल में कामनवेल्थ तथा गैर-कामनवेल्थ देशों में भारत के निर्यात का प्रायः बराबर-बराबर बँटवारा हो गया। इसका प्रमुख कारण डॉलर तथा अन्य अल्प-मुद्रा वाले क्षेत्रों (Hard Currency areas) में निर्यात को बढ़ाने की सरकारी नीति है। १९६९-७० ई० में भारत के कुल निर्यात व्यापार का ११·९ प्रतिशत इंगलैंड के साथ तथा १९·९ प्रतिशत संयुक्त राज्य अमेरिका के साथ हुआ था। अन्य निर्यातकों में जापान १२·७ प्रतिशत एवं रूस १२·५ प्रतिशत का स्थान महत्त्वपूर्ण है।

इस प्रकार युद्धोत्तर काल में भारत के विदेशी व्यापार की दिशा में स्पष्ट रूप से परिवर्तन हुआ है। यद्यपि भारत के विदेशी व्यापार में आज भी ब्रिटेन का महत्त्वपूर्ण स्थान है, फिर भी इसका सापेक्षिक महत्त्व द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद बहुत ही कम हो गया है।

निम्नांकित तालिका से भारत के विदेशी व्यापार में विभिन्न देशों का स्थान स्पष्ट हो जाता है :—

भारत के विदेशी व्यापार का विभिन्न देशों के बीच वितरण

१९६९-७० (प्रतिशत में)

	देश	आयात	निर्यात
१.	संयुक्त राज्य अमेरिका	१५·२	१६·९
२.	यूनाइटेड किंगडम	६·४	११·७
३.	पश्चिमी जर्मनी	५·३	२·१
४.	जापान	०·३	१२·७
५.	रूस	१०·९	१२·५
६.	आस्ट्रेलिया	२·०	१·७
७.	बर्मा	१·२	१·५
८.	मिस्र	१·५	२·५
९.	कनाडा	४·७	१·९
१०.	अन्य देश	२४·३	३६·५
	कुल योग	१००·०	१००·०

(३) विदेशी व्यापार की संरचना में परिवर्तन

(Changes in the Composition of Foreign Trade)

भारत के विदेशी व्यापार की संरचना में भी द्वितीय-युद्ध के पश्चात् महत्त्वपूर्ण परिवर्तन हुआ है। प्रथम महायुद्ध के बाद से ही भारत के आयात तथा निर्यात दोनों की संरचना मे परिवर्तन स्पष्ट होने लगे थे, किन्तु द्वितीय युद्ध तथा स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद विदेशी व्यापार की संरचना में आमूल परिवर्तन हुआ। देश में निर्मित वस्तुओं का आयात धीरे-धीरे घटने लगा। कच्चे-पदार्थ एवं खाद्यान्नों के आयात में भी वृद्धि होने लगी। इसी प्रकार निर्यात की जानेवाली वस्तुओं में भी खाद्यान्न एवं कच्चे पदार्थों का महत्त्व घटने लगा तथा निर्मित पदार्थों का महत्त्व बढ़ने लगा।

हमारे देश में निर्मित वस्तुओं का आयात १९२०-२१ ई० के ८४ प्रतिशत से घटकर १९३८-३९ ई० में ६३·६ प्रतिशत तथा १९५५-५६ ई० में ४३·१ प्रतिशत हो गया। इसी प्रकार

कच्चे माल का आयात १९२०-२१ ई० के ५ प्रतिशत से बढ़कर १९३८-३९ ई० में २१·७ प्रतिशत तथा १९५५-५६ ई० में २७·८ प्रतिशत हो गया। खाद्यान्नों के आयात में भी इसी प्रकार की वृद्धि की प्रवृत्ति रही है। इसके विपरीत देश के निर्यात व्यापार में निर्मित वस्तुओं का महत्त्व धीरे-धीरे बढ़ने लगा है। यद्यपि युद्धोत्तर काल में भी खनिज एवं कच्चे-पदार्थों के निर्यात की ही प्रधानता है; फिर भी, इस अवधि में निर्मित वस्तुओं का निर्यात धीरे-धीरे बढ़ने लगा है।

भारत के विदेशी व्यापार की संरचना में परिवर्तन के निम्नलिखित प्रधान कारण हैं:—

(क) औद्योगिक विकास (Industrial Development) :—सर्वप्रथम कारण तो द्वितीय महायुद्ध तथा युद्धोत्तर काल में देश के औद्योगिक उत्पादन में हुई पर्याप्त वृद्धि है। युद्धकाल में भारत से कपड़ा, जूट की बनी वस्तुओं तथा अन्य इसी प्रकार की निर्मित वस्तुओं का निर्यात विदेशों में किया जाने लगा। इससे निर्मित वस्तुओं के निर्यात में भी वृद्धि होने लगी। साथ ही, विदेशों से निर्मित वस्तुओं के आयात की आवश्यकता भी धीरे-धीरे कम होने लगी।

(ख) खाद्यान्नों का अभाव (Shortages of foodgrains) :—युद्धकाल एवं बाद में देश में खाद्यान्न का भी अभाव हो गया जिसकी पूर्ति के लिए प्रति वर्ष विदेशों से अत्यधिक मात्रा में खाद्यान्न का आयात करना पड़ता है। उदाहरण के लिए, १९६६-६७ ई० में ६५१ करोड़ रुपये के मूल्य के खाद्यान्न का आयात किया गया था। किन्तु १९७२ ई० से इसका आयात प्रायः समाप्त हो गया है।

(ग) देश-विभाजन का प्रभाव (Effects of Partition) :—देश-विभाजन का प्रभाव भी देश के विदेशी व्यापार की संरचना पर बहुत अधिक पड़ा है। विभाजन के पूर्व भारत कपास एवं जूट का प्रमुख रूप से निर्यातक देश था, किन्तु विभाजन के फलस्वरूप भारत को प्रतिवर्ष बहुत बड़ी मात्रा में जूट एवं कपास का आयात करना पड़ता है। उदाहरण के लिए, १९५२ ई० में भारत को ११५·४ करोड़ रुपये मूल्य की कपास तथा २३·५ करोड़ रु० मूल्य के कच्चा जूट का आयात करना पड़ा था।

उक्त सभी कारणों से द्वितीय महायुद्ध के बाद देश के विदेशी व्यापार की संरचना में महत्त्वपूर्ण परिवर्तन हुए हैं। पिछले कुछ वर्षों में भारत के विदेशी व्यापार की संरचना में हुए परिवर्तन का अन्दाजा निम्नांकित तालिका से लगता है :—

आयातों का वर्गीकरण (प्रतिशत में)

वर्ग	प्रथम योजना	द्वितीय योजना	तृतीय योजना
१. पूँजीगत वस्तुएँ	२९	४२	३५
२. कच्चा पदार्थ	२४	१०	२१
३. उपभोक्ता वस्तुएँ	२३	२०	१६
४. खाद्यान्न	१६	१५	२५
५. अन्य वस्तुएँ	८	८	३

(४) विदेशी व्यापार पर सरकारी नियन्त्रण का आधिक्य

(Increasing Government Control over Foreign Trade)

युद्धोत्तरकाल में देश का विदेशी व्यापार विभिन्न प्रकार के सरकारी नियन्त्रणों से बहुत अधिक प्रभावित हुआ है। इससे आयात एवं निर्यात की मात्रा में समय-समय पर

बहुत परिवर्तन हुए हैं। सरकार द्वारा निर्यात को बढ़ाने के लिए विशेष रूप से प्रोत्साहन दिया जा रहा है। डॉलर तथा अन्य अल्प मुद्रावाले देशों में निर्यात बढ़ाने के लिए सरकार विशेष रूप से प्रयत्नशील रही है। इस उद्देश्य से विभिन्न वस्तुओं के निर्यात को बढ़ाने के लिए ८ निर्यात विकास परिषद् (Export Promotion Councils) स्थापित की गयी हैं। सूती-वस्त्र परिषद् ने विभिन्न देशों में अपनी शाखाएँ भी स्थापित कर ली हैं। इस प्रकार युद्ध के बाद निर्यात पर सरकार का विशेष नियन्त्रण रहा है।

द्वितीय पंचवर्षीय योजना के प्रारम्भ से ही विदेशी विनिमय की कठिनाइयों के फलस्वरूप आयात पर सरकार द्वारा कठोर नियन्त्रण रखा जाने लगा है। सरकार केवल आवश्यक पूँजीगत मालों के आयात के लिए ही लाइसेन्स प्रदान करती है। वह भी, अल्प मुद्रावाले क्षेत्रों से यथासम्भव कम आयात का प्रयत्न किया जा रहा है। १९५६-५७ ई० तथा १९५७-५८ ई० में द्वितीय योजना को कार्यान्वित करने के लिए बहुत अधिक आयात की आवश्यकता पड़ी जिससे व्यापारिक सन्तुलन की प्रतिकूलता बहुत बढ़ गया, तथा पौंड-पावने की रकम में भी बहुत कमी आ गयी और विदेशी-विनिमय सम्बन्धी कठिनाइयाँ बहुत अधिक बढ़ गयीं। इस स्थिति में सुधार के लिए सरकार ने आजकल विदेशी वस्तुओं के लिए विलम्बित भुगतान (Deferred Payment) की नीति को अपनाया है। साथ ही, सरकार विश्व-बैंक तथा अन्य अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाओं से ऋण लेकर स्थिति में सुधार लाने का प्रयत्न कर रही है। सरकार ने विदेशी व्यापार को समुचित तरीके से नियन्त्रित करने के लिए १९५६ ई० में एक राजकीय व्यापार निगम (State Trading Corporation) नामक निगम की स्थापना की। इसका उद्देश्य आयात को नियन्त्रित करना तथा निर्यात को प्रोत्साहित करना है। राजकीय व्यापार निगम भारत के विदेशी व्यापार पर वैज्ञानिक ढंग से नियन्त्रण रखता है। बाद में सरकार ने विदेशी व्यापार से सम्बन्धित दो और निगमों की स्थापना की—(२) खनिज एवं धातु व्यापारिक निगम (Minerals and Metals Trading Corporation) जिसने अक्टूबर, १९६३ ई० से कार्य करना प्रारम्भ किया; तथा (३) मेटल स्कार्प ट्रेडिंग कारपोरेशन (Metal Scrap Trading Corporation) जिसकी स्थापना सितम्बर, १९६४ ई० में हुई। ये संस्थाएँ विभिन्न प्रकार के खनिज-पदार्थों एवं धातुओं के आयात-निर्यात की व्यवस्था करती है।

(५) भारत के विदेशी व्यापार के मूल्य एवं मात्रा में वृद्धि
(Increase in the Value and Volume of Foreign Trade of India)

वर्तमान समय में भारत के विदेशी व्यापार में मूल्य एवं मात्रा दोनों दृष्टि से धीरे-धीरे वृद्धि हो रही है। युद्धोत्तरकाल में भारत के विदेशी व्यापार में मूल्य (value) एवं मात्रा (Volume) दोनों दृष्टि से धीरे-धीरे वृद्धि हुई है। इसका कारण देश के विकास की विभिन्न योजनाओं को कार्यान्वित करने के लिए अत्यधिक मात्रा में मशीनों तथा पूँजीगत मालों के आयात की आवश्यकता है। साथ ही, खाद्य-संकट की स्थिति को दूर करने के लिए विदेशों से बहुत अधिक मात्रा में अन्न के आयात की भी आवश्यकता पड़ी है। विभाजन के बाद जूट तथा कपास के आयात में अत्यधिक वृद्धि हुई है जिसके भुगतान के लिए सरकार निर्यात को प्रोत्साहित कर रही है। फलस्वरूप आयात एवं निर्यात दोनों में मूल्य एवं मात्रा की दृष्टि से पर्याप्त वृद्धि हुई है जो निम्न-लिखित तालिका से स्पष्ट है। —

भारतीय आयात एवं निर्यात (करोड़ रुपये में)

वर्ष	आयात	निर्यात
१९५०-५१	६५०·४४	६००·६७
१९५५-५६	७७४·३५	६०८·९१
१९६०-६१	११२२·४८	६४२·०७
१९६५-६६	१३६७·९०	७८५·५०
१९६७-६८	२०४२·८	१२५४·६
१९६९-७०	१५८२·३	१४०३·९

उपरोक्त तालिका से स्पष्ट है कि युद्धोत्तर काल में देश के विदेशी व्यापार में मूल्य एवं मात्रा दोनों दृष्टि से पर्याप्त वृद्धि हुई है।

(६) विश्व-व्यापार में भारत का क्रमशः घटता हुआ भाग

(Gradually declining share of India's Foreign Trade in World Trade)

पिछले कुछ वर्षों में भारत के कुल व्यापार में वृद्धि अवश्य हुई है, किन्तु विश्व के पैमाने पर इसके निर्यात व्यापार का प्रतिशत क्रमशः घटने पर रहा है। १९५१ से १९६८ के बीच संसार का निर्यात ७८ अरब डालर से बढ़कर २१२ अरब डालर हो गया है, अर्थात् विश्व के निर्यात व्यापार में लगभग १५५ प्रतिशत की वृद्धि हुई। किन्तु भारत के निर्यात में इतनी वृद्धि नहीं हुई। विश्व निर्यात व्यापार में भारत के घटते हुए भाग का अनुमान निम्नलिखित तालिका से लगाया जा सकता है :—

विश्व निर्यात में भारत का हिस्सा (दस लाख अमरीकी डालर में)

वर्ष	विश्व निर्यात	भारत का निर्यात	भारत का प्रतिशत भाग
१९५१	७,८००	१,६११	२·१
१९५६	९३,३००	१,३००	१·३
१९६१	१,१७,४००	१,३८७	१·२
१९६७	१,९०,०००	१,६१४	०·८
१९६८	२,१२,६००	१,७५३	०·८
१९७०	२,७८,०००	१,९००	०·७

विश्व-निर्यात में भारत के घटते हुए भाग का प्रमुख कारण भारतीय निर्यातों के मूल्य में घटने की प्रवृत्ति तथा अन्य देशों के निर्यात में अधिक गति से वृद्धि है। आयात के साथ भी प्रायः यही बात है।

निर्यात-प्रोत्साहन सम्बन्धी प्रयत्न

(Export Promotion Measures)

स्वतन्त्रता-प्राप्ति के पश्चात् सरकार निर्यात में वृद्धि के लिए प्रयत्नशील है। इस उद्देश्य से विभिन्न समय में विभिन्न प्रकार के प्रयत्न किये गये हैं। नीचे हम इन प्रयत्नों का संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत कर रहे हैं :—

१. विभिन्न जाँच समितियों की नियुक्ति :—सर्वप्रथम तो निर्यात-सम्बन्धी समस्याओं के अध्ययन के लिए विभिन्न समितियों की नियुक्ति की गयी जिनमें सरकार द्वारा समय-समय पर निम्नांकित उल्लेखनीय हैं :—

(क) गोरवाला समिति, १९४९—इस निर्यात-संवर्द्धन समिति की नियुक्ति देश-विभाजन तथा द्वितीय विश्वयुद्ध से उत्पन्न भुगतान सन्तुलन की कठिनाइयों के अध्ययन तथा उन्हें दूर करने के उपाय और साधनों के सम्बन्ध में सुझाव देने के लिए की गयी थी।

(ख) डी-सूजा समिति—१९५७ में भुगतान संतुलन की कठिनाइयाँ बहुत बढ़ गयीं। अतएव भारत सरकार ने श्री वी० एल० डी-सूजा की अध्यक्षता में एक और समिति की नियुक्त की। इस समिति ने अंतराष्ट्रीय स्तर पर भारतीय व्यापार का मूल्यांकन किया और कुछ विशेष वस्तुओं के निर्यात को बढ़ाने के लिए विशिष्ट उपाय सुझाये। समिति ने उत्पादन की लागत में कमी करने की आवश्यकता एवं निर्यात-योग्य वस्तुओं को उत्पादन-कर तथा विक्रय-कर से पूर्णतः मुक्त करने पर जोर दिया।

(ग) मुदालियर समिति, १९६१—तृतीय योजना में निर्यात-सम्बन्धी लक्ष्यों की पूर्ति के लिए सुझाव देने के हेतु मुदालियर समिति की नियुक्त की गयी। इस समिति ने समस्त आयात-निर्यात व्यापार नीति और कार्यविधि तथा निर्यात-संवर्द्धन प्रयत्नों की समीक्षा की। समिति ने कुछ ऐसे सुझाव दिये जिनका सम्बन्ध निर्यात-प्रोत्साहन से था, जैसे (i) निर्यात सम्बन्धी उद्योगों के लिए कच्चा माल, मशीनरी आदि हेतु आवश्यक विदेशी मुद्रा की व्यवस्था होनी चाहिए। (ii) ऐसे अतिरिक्त आयात के लिए आयात-निर्यात समता कोष (Import Export Stabilization Fund) स्थापित करना चाहिए। (iii) आय कर में तीन प्रकार से छूट देनी चाहिए – (अ) मूल्य-निर्यात के लाभ पर करों में छूट, (ब) ऐसी छूट जिससे निर्यातक एक निर्यात विकास निधि (Export Development Reserve) स्थापित कर सके, और (स) अतिरिक्त निर्यात पर विशेष छूट। (iv) जो उद्योग निर्यात-सम्बन्धी कठिनाइयों का सामना कर रहे हैं उनकी कठिनाइयों को दूर किया जाय। (v) उद्योगपतियों तथा व्यापारियों को चाहिए कि वे आन्तरिक उपभोग (domestic consumption) पर एक उप-कर (cess) लगायें तथा इस कर से प्राप्त आय का उपयोग निर्यात व्यापार में विस्तार के लिए करें।

इसके अतिरिक्त समिति ने अन्तरराष्ट्रीय मेलों में भाग लेने, विदेशी यात्रियों की संख्या में वृद्धि करने, वस्तु-विनिमय व्यापार, राजकीय व्यापार, राजकीय व्यापार किस्म-नियन्त्रण तथा निर्यात के जोखिमों आदि के सम्बन्ध में महत्त्वपूर्ण सुझाव दिये। सरकार ने इनमें से कुछ सुझावों को कार्यान्वित भी किया है।

२. निर्यात-संवर्द्धन संगठनों का निर्माण (The setting up of Export Promotion organisation) :—निर्यात संवर्द्धन के कार्यों को सुचारु रूप से चलाने के लिए कुछ निम्नांकित संगठनों का निर्माण किया है :—

(क) व्यापार मण्डल—मई १९६२ में इस बोर्ड की स्थापना की गयी। इस बोर्ड का कार्य व्यापार तथा वाणिज्य के सभी पहलुओं पर विचार करना तथा उनके सम्बन्ध में सरकार को उचित परामर्श देना तथा अन्तरराष्ट्रीय व्यापार में वृद्धि, विशेषतया निर्यात में वृद्धि के लिए प्रयत्न करना है। बोर्ड ने समय-समय पर निर्यात व्यापार से सम्बन्धित वस्तुओं तथा देशों के विषय में विश्लेषण किया है तथा निर्यात-सम्बन्धी अवसरों के विषय में जानकारी प्राप्त करायी है। उत्पादन

व्यय में कमी, साख की सुविधा, जहाज तथा भाड़े की समस्या, विदेशों में व्यापार प्रतिनिधियों की नियुक्ति आदि विषयों पर इसने महत्त्वपूर्ण सुझाव दिये हैं। बोर्ड ने एक Institute of Foreign Trade की भी स्थापना की है। बोर्ड द्वारा कई समितियां भी बनायी गयी हैं जो विदेशी व्यापार के विभिन्न पहलुओं का अध्ययन करती हैं।

(ख) एक निर्यात-संवर्द्धन निदेशालय (Export Promotion Directorate)—इसकी स्थापना अगस्त, १९५७ में की गयी। इसका प्रमुख कार्य निर्यातकों को आवश्यक सूचनाएं तथा सहायता देना तथा व्यापार मण्डल के आदेशों व सुझावों को कार्यान्वित करना है। निदेशालय ने चार क्षेत्रीय कार्यालय तथा बम्बई, कलकत्ता एवं मद्रास में Port Office बनाये है।

(ग) निर्यात-संवर्द्धन सलाहकार परिषद (Export Promotion Advisory Council) :—इसकी स्थापना केन्द्रीय स्तर पर की गयी है। इस समिति में व्यापार के प्रतिनिधि रहते हैं। समिति सरकार की निर्यात नीति की समीक्षा करती है तथा सरकार को इस विषय में सलाह देती है।

(घ) क्षेत्रीय निर्यात-संवर्द्धन सलाहकार समितियां (Regional Export Promotion Advisory councils) :—देश के विभिन्न भागों से निर्यात की सम्भावनाओं तथा समस्याओं पर समितियां विचार करती हैं। अपने क्षेत्र की निर्यात सम्बन्धी समस्याओं पर ये समितियां सरकार का ध्यान आकर्षित करती हैं। महीने में एक बार इनकी बैठक होती है तथा अपने-अपने क्षेत्र की उद्योग तथा व्यापार-सम्बन्धी समस्याओं पर विचार करती हैं और सुझाव देती हैं। समितियों का नेतृत्व स्थानीय व्यापार एवं उद्योग के अवैतनिक निर्यात संवर्द्धन सलाहकार द्वारा किया जाता है। इस समय बम्बई, कलकत्ता, मद्रास तथा अर्नाकुलम बन्दरगाहों पर ये समितियां कार्य कर रही हैं।

(ङ) निर्यात-संवर्द्धन परिषदें (Export Promotion Councils)—इन परिषदों की स्थापना स्वायत्तशासी निगमों के रूप में की गयी है। इनमें उद्योग एवं व्यापार के प्रतिनिधि तथा सरकार के प्रतिनिधि होते हैं। ये परिषदें अपने उद्योगों की वस्तुओं का निर्यात बढ़ाने के लिए प्रयत्न करती हैं। इस समय देश में इस प्रकार की १९ परिषदें कार्य कर रही हैं, जो अलग-अलग सूती वस्त्र, काजू, मसाला, तम्बाकू, चमड़ा, रेशम, रेयन, रासायनिक पदार्थ, खेल के सामान, फल, इंजीनियरी का सामान आदि के निर्यात-संवर्द्धन सम्बन्धी कार्य कर रही हैं।

(च) वस्तु मण्डल (Commidity Board)—निर्यात-संवर्द्धन परिषदों के अतिरिक्त बहुत-सी वस्तुओं के लिए बोर्ड संगठित किये गये हैं, जैसे टी बोर्ड, कॉफी बोर्ड, सिल्क बोर्ड, ऑल इण्डिया हैण्डलूम बोर्ड आदि। ये बोर्ड सम्बन्धित वस्तुओं के निर्यात के विषय में सूचना व सहायता देते हैं। ये बोर्ड निर्यात-संवर्द्धन परिषदों के समान कार्य भी करते हैं।

(छ) निर्यात साख एवं गारण्टी निगम (The Export Credit and Guaranttee Corporation)—इस निगम की स्थापना सितम्बर, १९५७ में की गयी। यह निगम निर्यातकों का उन जोखिमों के लिए बीमा-सम्बन्धी सुविधाएँ प्रदान करता है, जो सामान्यतया साधारण बीमा कम्पनियों द्वारा प्रदान नहीं की जाती हैं। निर्यातकों को निगम द्वारा बैंकों से इसकी निर्यात साख गारण्टी पॉलिसी (Export Credit Guaranttee Policies) के आधार पर ऋण भी दिलाया

जाता है। निगम सन्तोषजनक ढंग से कार्य कर रहा है तथा इसके द्वारा निर्यात प्रोत्साहन में पर्याप्त सहायता मिलती है।

(ज) राज्य व्यापार निगम (State Trading Corporation) :—इस निगम की स्थापना १८ मई, १९५६ को निर्यात-संवर्द्धन तथा आवश्यक वस्तुओं के आयात करने के उद्देश्य से की गयी। इसकी स्थापना एक सरकारी कम्पनी के रूप में १ करोड़ रुपये की प्रदत्त पूँजी के साथ की गयी। इसी आधार पर अक्तूबर, १९६३ में एक 'खनिज व धातु व्यापार निगम' (Mineral and Metals Trading Corporation of India) की स्थापना की गयी। इस नये निगम को खनिज व धातुओं का व्यापार सौंप दिया गया। इसी प्रकार सितम्बर, १९६४ में मेटल स्क्रैप ट्रेड कॉरपोरेशन (Metal Scrap Trade Corporation) की स्थापना की गयी। इन निगमों के निम्नलिखित प्रमुख कार्य हैं :—(i) भारत के निर्यात व्यापार में वृद्धि करना, (ii) परम्परागत निर्यातों के बाजारों को बनाये रखना, (iii) नयी-नयी वस्तुओं के निर्यात के लिए बाजार तलाश करना; तथा (iv) अपने विभाग से सम्बद्ध आवश्यक वस्तुओं का आयात करना।

राज्य व्यापार निगम की सहायक संस्था के रूप में 'हस्त-कला व हाथ-करघा निर्यात निगम' (Handicrafts and Handloom Export Corporation) हस्तकला की वस्तुओं के निर्यात-संवर्द्धन के लिए प्रयत्न करता है।

(झ) निर्यात निरीक्षण परिषद्—निर्यात अधिनियम, १९६३ के अन्तर्गत एक भारतीय निर्यात निरीक्षण परिषद् की स्थापना की गयी। इस परिषद् में व्यापार व उद्योगों के प्रतिनिधि तथा तकनीकी विशेषज्ञ रहते हैं। परिषद को सरकार द्वारा ऋण, अनुदान आदि के रूप में आर्थिक सहायता मिलती है। परिषद ने किस्म-नियन्त्रण का कार्य भी प्रारम्भ किया है। इसने माल के लदान के पूर्व निरीक्षण तथा वस्तुओं के परीक्षण के लिए सुविधाएँ प्रदान करने का कार्य भी प्रारम्भ कर दिया है।

(३) निर्यात-प्रोत्साहन सम्बन्धी सहायता—वर्तमान समय में निर्यात संवर्द्धन के लिए कुछ निर्यात-प्रोत्साहन योजनाएँ भी कार्यान्वित की जा रही हैं जिनके अन्तर्गत निर्यातकों को निम्नांकित प्रकार की सुविधाएँ प्रदान की जाती हैं :—

(क) कच्चे माल एवं पुर्जों का आयात—निर्यात किये गये माल का एक निर्धारित प्रतिशत मूल्य उन कच्चे पदार्थों तथा पुर्जों के आयात के लिए उपयोग करने की अनुमति दी जाती है जिनकी आवश्यकता निर्यात-सम्बन्धी वस्तुओं के उत्पादन में पड़ती है। आयात करने का यह अधिकार सामान्यतः निर्यात होने वाले माल में प्रयुक्त हुए आयातित माल के दुगुने परन्तु निर्यातों के जहाज पर पड़ने वाले मूल्य के ७५% से कम आधार पर निर्धारित किया जाता है।

(ख) मशीनों का आयात—इस आयात अधिकार का एक भाग सामान्यतः निर्यातों के जहाज पर के मूल्य के १०% तक उन मशीनों व पुर्जों आदि के आयात करने में उपयोग करने की अनुमति दी जाती है जिनकी आवश्यकता पुर्जे बदलने अथवा आधुनिकीकरण के लिए पड़ती है। कृषि, बगान, खनिज तथा निर्माणकारी उद्योगों के निर्यात करने वाले अंग के आधुनिकीकरण आदि के लिए आवश्यक मशीनें मँगाने के लिए प्राथमिकता दी जाती है।

(ग) अग्रिम लाइसेंस—कुछ विशेष परिस्थितियों में अग्रिम लाइसेंस देने की अनुमति भी दी जाती है जिससे निर्यातक निर्यात-सम्बन्धी वायदों की पूर्ति के लिए आवश्यक सामान खरीद

सकें। ऐसे अग्रिम लाइसेंस Confirmed Letters of Credit खोलने पर ही दिये जाते हैं।

(घ) आयातित माल को बेचना—निर्यात-संवर्द्धन योजना के अधीन आयात किये गये माल को सामान्यतया निर्यातक को अपने कारखानो में प्रयुक्त करने की ही अनुमति मिलती है, परन्तु वह आयातित माल उसी निर्यात संवर्द्धन योजना के क्षेत्र में आने वाले किसी अन्य ऐसे निर्माता को बेचा भी जा सकता है जो सीधे निर्यात करता है या निर्यात के लिए अपना माल दूसरों को बेच देता है।

(च) देशी माल की सुविधा—निर्यात-संवर्द्धन योजना में कुछ देशी कच्चे पदार्थों, जैसे कच्चा लोहा, इस्पात, टीन की चादरें आदि का रिआयती दरों पर भी दिया जाता है तथा इनके वितरण में इन्हें प्राथमिकता दी जाती है।

(छ) कर-सम्बन्धी रियायतें—कर-सम्बन्धी रिआयतों के अन्तर्गत कुछ वस्तुओं के आयात-कर में वापसी की सुविधाएँ दी गयी हैं। साथ ही, निर्यात से प्राप्त आय पर लगने वाले आय कर में भी छूट दी जाती है तथा चाय पर निर्यात-कर में कमी की गयी है।

(ज) ऋण-सम्बन्धी सुविधाएं—सन् १९६२ में निर्यातकों को ऋण सुविधाएँ देने के लिए सरकार ने एक अध्ययन मण्डल नियुक्त किया था। इसके सुझावों के अनुसार निर्यातो को प्रोत्साहन देने के लिए अनेक प्रकार की ऋण-सम्बन्धी सुविधाए दी गयी है।

(झ) निर्यात के लिए परिवहन तथा भाड़े-सम्बन्धी रियायतें—निर्यात बढ़ाने के लिए अनेक उपायों में से परिवहन की पर्याप्त सुविधाओं का उपलब्ध होना भी अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है। निर्यातकों को इस सम्बन्ध में भी पर्याप्त मात्रा में सुविधाएँ देने की व्यवस्था की गयी है।

अवमूल्यन के पश्चात निर्यात संवर्द्धन की नीति (Export Promotion Policy after Devaluation) :—जून, १९६६ में भारतीय रुपये के अवमूल्यन के पश्चात् निर्यात-प्रोत्साहन योजनाएँ एक प्रकार से स्थगित कर दी गयीं। इससे निर्यातकों में अनिश्चितता का वातावरण व्याप्त हो गया। परन्तु अवमूल्यन से निर्यात में प्रत्याशित वृद्धि नहीं हुई, अतः पूर्व घोषित प्रोत्साहन योजनाएँ एक-एक कर आवश्यक संशोधन के साथ पुनः लागू की जा रही हैं। वाणिज्य मन्त्री ने १६ अगस्त, १९६६ को निर्यात प्रोत्साहन सम्बन्धी नयी नीति की घोषणा की जो वर्तमान समय में भी लागू है। इस नीति के निम्नलिखित प्रमुख तत्त्व है :—

(i) रजिस्टर्ड निर्यातकों को निर्यात के बदले आयात करने का अधिकार दिया गया है। आयात का मूल्य निर्यात की गयी वस्तु के निर्माण में लगायी गयी आयातित वस्तुओं के मूल्य तथा निर्माण करते समय हुई छीजन (wastage) से अधिक नहीं होगा। आयात की जाने वाली वस्तु की मात्रा का निर्णय सरकारी अधिकारी करेंगे।

(ii) जो निर्यातक स्वयं निर्माणकर्ता नहीं हैं वे उस संस्थान के नाम की घोषणा करेंगे जिनसे वे निर्यात करने के लिए माल खरीदते हैं, जिसके आधार पर ऐसे निर्माणकर्ताओं को आयात के लिए लाइसेंस दिए जा सकें।

(iii) निर्यात उद्योगों को पूँजीगत वस्तुओं तथा अन्य आवश्यक वस्तुओं के आयात के लिए प्राथमिकता दी जायगी।

(iv) कच्चा जूट, कच्चा चमड़ा आदि वस्तुएँ O.G.L. के अन्तर्गत सम्मिलित कर दी गयी हैं।

(v) जहाँ तक देशी कच्चे माल का सम्बन्ध है, निर्यात उद्योगों की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए उन्हें, 'आवश्यक सामग्री अधिनियम' के अन्तर्गत सम्मलित कर लिया गया है, जिससे कच्चे माल के वितरण में निर्यात उद्योगों को प्राथमिकता दी जा सके।

(vi) हिन्दुस्तान स्टील लिमिटेड के अन्तर्गत 'Steel Sales Promotion Division' की स्थापना की गयी है, जो स्टील तथा सम्बन्धित वस्तुओं के निर्यात में वृद्धि का प्रयत्न करेगा।

(vii) जिन वस्तुओं के निर्यात की सम्भावनाएँ अनुकूल हैं, उनके लिए नकद सहायता (cash assistance) दी जायेगी। जिन वस्तुओं को अवमूल्यन के पूर्व Import Entitlement या अन्य प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष सुविधाएँ दी जाती थीं, उन्हें अब नकद सहायता दी जायेगी। सहायता की मात्रा वस्तु के f.o.b. मूल्य के १० से २० प्रतिशत होगी। यह सहायता स्क्रेप-स्टील, लोहा तथा इस्पात, ऊनी कालीन, चीनी तथा इंजीनियरिंग आदि वस्तुओं को दी जायगी। स्क्रेप-स्टील के लिए निर्यात सहायता १०%, कुछ चुनी हुई लोहा तथा इस्पात की वस्तुओं के लिए १५%, तथा ऊनी कालीन के लिए १०% दी जायेगी।

(viii) इंजीनियरिंग वस्तुओं को तीन समूहों में विभाजित किया गया है। प्रथम समूह के अन्तर्गत आने वाली वस्तुओं के लिए नकद सहायता की मात्रा १०%; द्वितीय समूह के लिए १५%; तथा तृतीय समूह के लिए २०% होगी। चीनी को दी जाने वाली निर्यात सहायता अवमूल्यन के पूर्व दी जाने वाली सहायता से कम होगी। सहायता की मात्रा अवमूल्यन तथा अन्तर्राष्ट्रीय मूल्यों को ध्यान में रख कर दी जायगी।

भारत सरकार की उपर्युक्त निर्यात प्रोत्साहन-सम्बन्धी नीति सर्वथा उपयुक्त है। इससे निर्यातकों को प्रोत्साहन मिला है तथा निर्यात-व्यापार में कम मूल्य दिखाने की प्रवृत्ति (under invoicing) रोकने में भी सहायता मिली है। आशा है भविष्य में यह नीति अधिक सफल सिद्ध होगी।

भारत मे निर्यात एवं आयात की मुख्य वस्तुएँ
(Chief Articles of India's Export and Import)

अब भारत के निर्यात एवं आयात की मुख्य वस्तुओं का विवेचन भी आवश्यक है। हमारे देश से कुछ विशेष प्रकार की वस्तुओं का निर्यात किया जाता है तथा आवश्यकतानुसार कुछ विशेष प्रकार की वस्तुओं का आयात भी किया जाता है।

भारत से निर्यात की जानेवाली वस्तुएँ (Chief Articles of India's Export) :— भारत से निर्यात की जानेवाली प्रमुख वस्तुओं का अन्दाजा निम्नलिखित तालिका[1] से लगाया जा सकता है :—

1. Economic Survey, 1970-71.

भारत के प्रमुख निर्यात (करोड़ रुपये में) अवमूल्यन के बाद की दर से

वस्तुएँ	१९६०-६१	१९६५-६६	१९६९-७०
चाय	२९५.५	२४१.१	१२४.५
जूट की निर्मित वस्तुएँ	२८३.८	३८३.९	२०६.७
सूती-वस्त्र	१२०.८	११६.९	६९.७
खनिज लोहा	३५.७	८८.४	९४.६
चमड़ा तथा चमड़े के सामान	५२.४	५९.७	८१.५
तेल, वनस्पति	२६.५	१३.५	९.३
कपास-कच्चे तथा व्यर्थ	१८.३	२०.४	१४.७
तम्बाकू-कच्चा	३३.१	४४.४	३३.४

भारत से निर्यात की जानेवाली प्रमुख वस्तुओं का निम्न विवरण प्रस्तुत किया जाता है :—

(१) जूट का सूत एवं निर्मित वस्तुएँ (Jute yarn and manufactures) :—भारतीय निर्यात-व्यापार में जूट के सूत एवं निर्मित सामान का बड़ा ही महत्त्वपूर्ण स्थान है। जूट के सामान विदेशी मुद्रा प्राप्त करने के प्रमुख साधन हैं। देश-विभाजन के फलस्वरूप कच्चा जूट के उत्पादन का अधिकांश क्षेत्र पाकिस्तान में चला गया जिससे भारत आजकल कच्चे जूट का आयातक हो गया, किन्तु जूट के सामान का भारत आज भी विश्व में सबसे बड़ा निर्यातक देश है। विभाजन के पश्चात् भारत के जूट के सामानों के निर्यात में कमी की आशंका हो गयी थी। इसके फलस्वरूप सरकार द्वारा जूट के निर्यात को तरह-तरह से प्रोत्साहन प्रदान किया जा रहा है। १९५५ ई० में पाकिस्तानी रुपये के अवमूल्यन के पश्चात् जूट के सामानों के निर्यात पर से कर हटा लिया गया। जूट के निर्यात को संयुक्त राज्य अमेरिका तथा अन्य अल्प मुद्रावाले देशों में प्रोत्साहित करने के लिए सरकार विशेष रूप से प्रयत्न कर रही है। किन्तु पिछले कुछ वर्षों से जूट-निर्यात के सम्बन्ध में भारत की स्थिति विशेष अच्छी नहीं है क्योंकि देश में जूट का उत्पादन-व्यय बढ़ गया है। साथ ही, विदेशों में जूट की स्थानापन्न वस्तुओं की खोज की जा रही है तथा पाकिस्तान आदि देशों में जूट उद्योगों का विकास हो रहा है। इन सब कारणों से आज जूट के विदेशी व्यापार में भारत की स्थिति सन्तोषजनक नहीं है। फिर भी, सरकार द्वारा जूट उद्योग को विशेष सहायता दी जा रही है जिससे इसके उत्पान-व्यय में कमी तथा किस्म में सुधार हो सके। आज भी भारत के निर्यात व्यापार में जूट एवं जूट की बनी वस्तुओं का महत्त्वपूर्ण स्थान है। यहाँ के कुल निर्यात का प्रायः १८ से २० प्रतिशत भाग जूट की वस्तुओं का ही होता है। संयुक्त राज्य अमेरिका, आस्ट्रेलिया, अर्जनटाइना, ब्रिटेन तथा कनाडा आदि देशों में यहाँ से जूट की वस्तुओं का मुख्य रूप से निर्यात किया जाता है। १९६९-७० ई० में यहाँ से प्रायः २०६.७ करोड़ रुपये के जूट की निर्मित वस्तुओं का निर्यात हुआ था।

(२) चाय (Tea) :—भारतीय निर्यात में चाय का भी महत्त्वपूर्ण स्थान है। यहाँ के कुल निर्यात का प्रायः १५ से १८ प्रतिशत भाग चाय का ही होता है। भारत विश्व में चाय का सबसे बड़ा निर्यातक देश है। किन्तु पिछले कुछ वर्षों से भारतीय चाय के निर्यात में विशेष कमी हो रही है जो उपरोक्त तालिका से स्पष्ट है। १९६९-७० ई० में प्रायः १२४.५ करोड़ रुपये की चाय का निर्यात

हुआ था। ब्रिटेन भारतीय चाय का सबसे बड़ा ग्राहक है। इसके बाद अमेरिका, कैनाडा तथा आयरलैंड आदि देशों का स्थान है।

(३) सूती-वस्त्र (Cotton Manufactures) :— भारत के निर्यात व्यापार में सूती वस्त्र का भी महत्त्वपूर्ण स्थान है। १९६९-७० ई० में प्राय: ६९.७ करोड़ रुपये के सूती वस्त्र का भारत से निर्यात किया गया था। किन्तु भारतीय वस्तुओं की खराब किस्म, असन्तोषजनक पैकिंग, कपड़े की आन्तरिक माँग में वृद्धि तथा सरकार द्वारा मिलों के उत्पादन पर प्रतिबन्ध आदि के कारण कपड़े के निर्यात में अब धीरे-धीरे कमी हो रही है। भारतीय कपड़े का निर्यात मुख्य रूप से आस्ट्रेलिया, दक्षिणी अफ्रिका, मध्यपूर्वी एशियाई देशों, सीलोन, इण्डोनेशिया, नाइजीरिया तथा न्यूजीलैंड आदि देशों में किया जा रहा है। भारत सरकार द्वारा नियुक्त निर्यात विकास परिषद् सूती-वस्त्र के निर्यात के विकास के लिए विशेष रूप से प्रयत्नशील हैं।

४. निर्यात की अन्य वस्तुएँ :—अन्य वस्तुओं के अंतर्गत भारत से कच्ची तथा बेकार कपास (Cotton-raw and waste) का भी निर्यात किया जाता है। विभाजन के पूर्व भारत कपास का एक प्रमुख निर्यातक देश था; किन्तु विभाजन के बाद इसकी स्थिति में आमूल परिवर्तन हो गया है। अब यहाँ से थोड़ी-बहुत कपास का जापान एवं इटली में निर्यात भी किया जाता है। १९६९-७० ई० में यहाँ १४.७ करोड़ रुपये की कपास का निर्यात हुआ था। तम्बाकू :—भारत विश्व में तम्बाकू का भी प्रमुख निर्यातक देश है। प्रतिवर्ष यहाँ से बहुत अधिक मात्रा में तम्बाकू का निर्यात किया जाता है। ब्रिटेन भारतीय तम्बाकू का प्रमुख ग्राहक है। १९६९-७० ई० में भारत से प्राय: ३३.४ करोड़ रुपये की तम्बाकू का निर्यात किया गया था। लाह :—भारत से लाह का भी बहुत अधिक मात्रा में निर्यात किया जाता है। विश्व में भारत लाह Lac) का प्राय: सबसे बड़ा उत्पादक एवं निर्यातक देश है। १९६६-६७ ई० में यहाँ से प्राय: ३.८ करोड़ रुपये की लाह एवं गोंद आदि का निर्यात किया जाता था। भारत से कुछ खनिज-पदार्थों का भी निर्यात किया जाता है जिसमें मैंगनीज, लोहा तथा अभ्रक का प्रमुख स्थान है। कच्चा लोहा भी भारत से प्रतिवर्ष जापान आदि देशों में निर्यात किया जाता है। १९६९-७० ई० में यहाँ से कुल ९४.६ करोड़ रुपये मूल्य का कच्चा लोहा (Iron ore) का निर्यात किया गया था। पिछले कुछ वर्षों से इसके निर्यात में अत्यधिक वृद्धि हो रही है। अभ्रक के उत्पादन में भारत का विश्व में सर्वप्रथम स्थान है। यहाँ से बहुत बड़ी मात्रा में अभ्रक (Mica) अमेरिका, जर्मनी तथा ब्रिटेन आदि देशों को निर्यात किया जाता है। १९६९-७० ई० में यहाँ से प्राय: १५.२ करोड़ रुपये मूल्य के अभ्रक तथा अभ्रक की वस्तुओं का निर्यात किया गया था। भारत से कच्चे मैंगनीज (Manganese ore) का भी बहुत बड़ी मात्रा में अमेरिका, जर्मनी तथा ब्रिटेन आदि देशों को निर्यात किया जाता है। विश्व के मैंगनीज-उत्पादक देशों में भारत का प्रमुख स्थान है। १९६७-६८ ई० में यहाँ से कुल ८.७ करोड़ रुपये के मैंगनीज का निर्यात किया गया था।

सरकार की ओर से पहले निर्यात प्रोत्साहन (Export promotion) पर पर्याप्त जोर दिया जा रहा था। किन्तु जून, १९६६ ई० में रुपये के अवमूल्यन के बाद से हर प्रकार के निर्यात प्रोत्साहन को थोड़े समय के लिए स्थगित कर दिया गया था, किन्तु पुन: निर्यात-प्रोत्साहन के लिए विभिन्न प्रकार के प्रयत्न किये जा रहे हैं।

भारतीय आयात की मुख्य वस्तुएँ
(Chief articles of India's Import)

भारत से आयात की जानेवाली वस्तुओं में निम्नांकित प्रधान हैं :—

भारत के प्रमुख आयात (करोड़ रुपये में) (अवमूल्यन के बाद की दर से)

वस्तुएँ	१९५५-५६	१९६०-६१	१९६५-६६	१९६७-६८	१९६९-७०
खाद्यान्न तथा खाद्यान्न की वस्तुएँ	४८·१	२८५·७	५०७·८	५१८·२	२६१·०
मशीन तथा बिजली के सामान	१६४·३	५१०·४	६६०·०	५५९·८	४००·०
कपास	५८·१	१२८·८	७२·८	८३·५	८२·८
जूट	१८·३	१२·०	८·८	१·८	१·१
खनिज तेल	७२·७	१०९·१	१०७·५	७४·८	१३७·६
खाद एवं रासायनिक पदार्थ	२६·४	१४०·६	१८३·७	३१३·४	२०३·९

अब इम प्रमुख मदों का निम्न वितरण प्रस्तुत किया जा रहा है :—

(१) **मशीनें तथा बिजली के सामान** :—भारत में मशीन एवं पूँजीगत मालों का उत्पादन प्रारम्भ से ही बहुत कम होता है। अतः, इनकी आवश्यकता की पूर्ति के लिए हमें मुख्य रूप से विदेशों पर ही आश्रित रहना पड़ता है। उपरोक्त तालिका से यह स्पष्ट है कि गत कुछ वर्षों से हमें मशीनों के आयात पर बहुत अधिक व्यय करना पड़ रहा है। इसका प्रमुख कारण पंचवर्षीय योजनाओं के अन्तर्गत विकास की विभिन्न योजनाओं का कार्यान्वियन है जिसके लिए विदेशों से हमें बहुत बड़ी मात्रा में मशीनों का आयात करना पड़ रहा है। १९६९-७० ई० में भारत के कुल ४०० करोड़ रुपये की मशीनें, जिनमें बिजली के यन्त्र भी शामिल थे, का आयात किया गया था। ब्रिटेन एवं अमेरिका ही मुख्य रूप से हमारी मशीनों की आवश्यकता की पूर्ति करते हैं। चतुर्थ पंचवर्षीय योजना में उद्योगों के विकास पर अधिक जोर देने के कारण मशीनों के आयात में अधिक वृद्धि की आशा की जाती है।

(२) **खाद्यान्न** :—भारत में पिछले कुछ वर्षों से बड़े पैमाने पर खाद्यान्न का भी आयात करना पड़ता है। द्वितीय महायुद्ध के बाद देश में खाद्यान्न का सामान्य रूप से अभाव होने लगा। इस खाद्य-संकट के बहुत-से कारण हैं जिनमें बर्मा का भारत से पृथक् होना, देश-विभाजन तथा जनसंख्या में तीव्र गति से वृद्धि आदि विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। खाद्यान्न के इस अभाव को दूर करने के लिए हमारे देश में प्रतिवर्ष बहुत बड़ी मात्रा में खाद्यान्नों का आयात करना पड़ता है। भारत प्रतिवर्ष बहुत अधिक मात्रा में संयुक्त राज्य अमेरिका, कैनाडा, अर्जेन्टाइना तथा आस्ट्रेलिया से गेहूँ एवं बर्मा, श्याम तथा चीन आदि देशों से चावल का आयात करता है। देश के विभाजन के बाद १९४९ ई० में ३० लाख टन, १९५० ई० में २१ लाख टन तथा १९५१ ई० में ३० लाख टन खाद्यान्न का आयात करना पड़ा था। इसके बाद १९५३ ई० में देश में खाद्यान्न की उपज में पर्याप्त वृद्धि हुई जिसके फलस्वरूप खाद्यान्न के आयात में कमी हो गयी। किन्तु पुनः १९५७ ई० के बाद देश में खाद्य-संकट की स्थिति उत्पन्न हो गयी जिसे दूर करने के लिए उस वर्ष ३५·८ लाख टन खाद्यान्न का आयात करना पड़ता था। आगे चलकर १९६५-६६ में मोटे तौर पर ३०९·१ करोड़ रुपये तथा १९६७-६८ ई० में ५१८·२ करोड़ रुपये के मूल्य के खाद्यान्न

का आयात किया गया था। १९७१-७२ ई० में खाद्यान्न का आयात घटकर २८ करोड़ रुपये रह गया। किन्तु भारत सरकार ने १९७२ ई० से खाद्यान्न के आयात को समाप्त करने की घोषणा की है।

(३) कपास :—विभाजन के पूर्व भारत कपास का मुख्य रूप से निर्यातक देश था, किन्तु विभाजन के बाद यह इसका आयातक हो गया है। विभाजन के फलस्वरूप कपास-उत्पादन के अधिकांश क्षेत्र, विशेषत: लम्बी रेशे वाली कपास उत्पादन के क्षेत्र पाकिस्तान चले गये जबकि सूती वस्त्र के प्रायः सभी कारखाने भारत में ही रह गये। फलस्वरूप भारत को प्रतिवर्ष मिस्र तथा पाकिस्तान आदि देशों से कपास का आयात करना पड़ रहा है। पंचवर्षीय योजनाओं के अन्तर्गत कपास के उत्पादन को बढ़ाने पर भी पूरा जोर दिया जा रहा है। फिर भी अभी भारत पूर्णरूप से इस क्षेत्र में आत्मनिर्भर नहीं बन पाया है। किन्तु अब देश में कपास का उत्पादन धीरे-धीरे बढ़ रहा है जिससे इसके आयात में कमी हो रही है। इस प्रकार १९५२ ई० में प्रायः ११५ करोड़ रुपये की कपास का आयात किया गया था जबकि १९६९-७० ई० में केवल ८२·१ करोड़ रुपये की कपास का ही आयात हुआ।

(४) जूट :—विभाजन के पूर्व भारत को जूट के उत्पादन में विश्व में प्रायः एकाधिकार था, किन्तु विभाजन के परिणामस्वरूप अब भारत को कच्चे जूट का भी आयात करना पड़ता है। पंचवर्षीय योजनाओं में जूट के उत्पादन में वृद्धि पर पर्याप्त जोर दिया जा रहा है। किन्तु अभी तक इस क्षेत्र में पर्याप्त सफलता नहीं मिल पायी है। अतएव भारत को आज भी प्रतिवर्ष पर्याप्त मात्रा में जूट का आयात करना पड़ता है। १९६९-७० ई० में यहाँ पर १·१ करोड़ रुपये के कच्चे जूट का आयात करना पड़ा था।

(५) पेट्रोलियम :—भारत में पेट्रोलियम का बहुत अधिक अभाव है। इस अभाव की पूर्ति के लिए देश में प्रतिवर्ष अत्यधिक मात्रा में पेट्रोलियम का आयात विदेशों से करना पड़ता है। १९६९-७० ई० में भारत में कुल १३७·९ करोड़ रुपये के विभिन्न प्रकार के खनिज तेल का आयात किया गया था। भारत प्रतिवर्ष बहुत अधिक मात्रा में पेट्रोलियम का आयात बर्मा, ईरान, ईराक आदि देशों से करता है।

अन्य वस्तुएँ :—इनके अतिरिक्त भारत में अन्य वस्तुओं का भी आयात होता है। इनमें इस्पात का प्रमुख स्थान है। भारत में इस्पात का अभी आवश्यकता से कम उत्पादन होता है जिसे पूरा करने के लिए प्रतिवर्ष विदेशों से इस्पात का आयात किया जाता है। १९६५-६६ में ९७·८ करोड़ रुपये का लोहा तथा इस्पात का आयात हुआ था। भारत में कागज, विशेषत: अखबारी कागज (Newsprint) का भी अभाव है जिसे पूरा करने के लिए प्रतिवर्ष कागज का भी आयात करना पड़ता है। १९६५-६६ ई० में यहाँ १३·४ करोड़ रुपये के विभिन्न प्रकार के कागज का आयात हुआ था। इनके अतिरिक्त रासायनिक पदार्थ, दवा आदि का भी प्रतिवर्ष आयात किया जाता है।

भारत का कुछ देशों के साथ व्यापार

ब्रिटेन के साथ व्यापार :—आज भी भारत के विदेशी व्यापार में ब्रिटेन की ही प्रधानता है। पिछले कुछ वर्षों से इस स्थिति में कुछ परिवर्तन हुआ है जिससे आयात तथा निर्यात दोनों में ब्रिटेन का महत्त्व धीरे-धीरे घट रहा है। निम्नांकित तालिका से भारत का ब्रिटेन के साथ व्यापारिक सम्बन्ध स्पष्ट हो जाता है—

वर्ष	कुल आयात का प्रतिशत	कुल निर्यात का प्रतिशत
१९०९-१४ (औसत)	६२·८	२५·१
१९३८	३१·०	३४·६
१९४८	२७·५	२२·५
१९५४	२५·४	२९·३
१९६०-६१	१९·१	२६·१
१९६५-६६	१०·७	१८·१
१९६९-७०	६·४	११·७

उपरोक्त तालिका से स्पष्ट है कि भारत का ब्रिटेन से आयात दिन-प्रति-दिन घटता जा रहा है जबकि निर्यात में कोई विशेष परिवर्तन नहीं हुआ है। ब्रिटेन से प्रतिवर्ष मशीनें, रासायनिक पदार्थ, मोटर गाड़ियाँ, दवा तथा रंग आदि का आयात किया जाता है और बदले में भारत चाय, जूट की बनी वस्तुएँ, तिलहन आदि का निर्यात करता है। १९६५-६६ ई० में ब्रिटेन से कुल १४९·१ करोड़ रुपये की वस्तुओं का आयात किया गया था तथा १४६·४ करोड़ रुपये की वस्तुओं का निर्यात किया गया था। उस वर्ष भारत के कुल निर्यात व्यापार में ब्रिटेन का हिस्सा १८·१ प्रतिशत तथा आयात में १०·७ प्रतिशत था। इस प्रकार आज भी हमारे विदेशी व्यापार में ब्रिटेन का प्रमुख स्थान है।

संयुक्त राज्य अमेरिका :— द्वितीय महायुद्ध के पूर्व भारत का संयुक्त राज्य अमेरिका के साथ बहुत कम व्यापार होता था, किन्तु युद्ध एवं युद्धोत्तर काल में ब्रिटेन की आर्थिक व्यवस्था के अस्त-व्यस्त होने के कारण हमारे विदेशी व्यापार में संयुक्त राज्य अमेरिका का महत्त्व बढ़ने लगा है। निम्नांकित तालिका से भारत के विदेशी व्यापार में संयुक्त राज्य अमेरिका का महत्त्व स्पष्ट हो जाता है :—

वर्ष	कुल आयात का प्रतिशत	कुल निर्यात का प्रतिशत
१९५१-५२	३३·०	१८·५
१९५६-५७	१६·०	२०·०
१९६०-६१	२८·७	१५·५
१९६५-६६	३७·७	१८·३
१९६९-७०	२०·३	१६·९

भारत संयुक्त राज्य अमेरिका से मशीनें, औजार, मोटरकार एवं ट्रक, टाइपराइटर्स ट्रैक्टर्स, रासायनिक पदार्थ, दवाएँ, एवं गेहूँ आदि का आयात तथा कच्चा जूट का सामान, लोहा, चमड़ा, मसाला, अभ्रक, मैंगनीज एव तेलहन आदि का निर्यात करता है। पंचवर्षीय योजनाओं के सम्पादन के लिए अमेरिका से मशीन एवं औजारों का अत्यधिक मात्रा में आयात किया जाता है। साथ ही, खाद्यान्न के अभाव को दूर करने के लिए गेहूँ का भी प्रति वर्ष अमेरिका से पर्याप्त मात्रा में आयात किया जा रहा है। १९६५-६६ ई० में संयुक्त राज्य अमेरिका से ५२५·३ करोड़ रुपये की वस्तुओं का आयात तथा १४७·८ करोड़ रुपये की वस्तुओं का निर्यात किया गया था। उस वर्ष भारत के आयात व्यापार में संयुक्त राज्य अमेरिका का हिस्सा ३७·७ प्रतिशत तथा निर्यात में १८·३ प्रतिशत था।

भारत का पाकिस्तान के साथ व्यापार :—विभाजन के फलस्वरूप भारत को भारत संघ एवं पाकिस्तान दो पृथक् राष्ट्रों में विभाजित कर दिया गया। देश-विभाजन के फलस्वरूप भारत में कुछ वस्तुओं का अभाव-सा हो गया जिनमें कच्ची जूट एवं कपास विशेष रूप से

उल्लेखनीय हैं। अतः भारत को इन वस्तुओं का आयात करना पड़ता है। भारत को कच्ची जूट के लिए पाकिस्तान पर ही मुख्य रूप से निर्भर करना पड़ता है। विभाजन के फलस्वरूप दोनों देशों का व्यापारिक सम्बन्ध प्रारम्भ में अच्छा नहीं रहा। देश-विभाजन के पश्चात् साम्प्रदायिक दंगे तथा बड़े पैमाने पर उथल-पुथल के फलस्वरूप दोनों देशों का व्यापार बन्द-सा हो गया। मई, १९४८ ई० में भारत एवं पाकिस्तान के बीच एक व्यापारिक समझौता हुआ जिसमें दोनों देशों के आयात एवं निर्यात के परिमाण का उल्लेख (Quantitative description) किया गया। यह तय हुआ कि दोनों देशों की मुद्रा का विनिमय साम्य दर पर होगा तथा किसी प्रकार का विनिमय-नियन्त्रण नहीं रखा जायगा। भारत पाकिस्तान से जूट, कपास, सेंधा नमक, फल तथा चमड़ा आदि का आयात करता था तथा पाकिस्तान को बदले में कपड़ा, जूट के सामान कोयला, लोहा, सरसों का तेल इत्यादि निर्यात करता था। किन्तु पाकिस्तान ने उक्त समझौते का उल्लंघन कर भारत से जानेवाली वस्तुओं पर आयात कर लगा दिया जिससे भारत को भी ऐसा ही करना पड़ा। पुनः जून, १९४९ ई० में दोनों देशों के बीच एक व्यापारिक समझौता हुआ। किन्तु इसके अनुसार दोनों देशों के बीच कोई विशेष व्यापार नहीं हो सका। इसी बीच सितम्बर १९४९ ई० में भारतीय रुपये का अवमूल्यन हुआ, किन्तु पाकिस्तान ने अपनी मुद्रा का अवमूल्यन नहीं किया। इससे भारत को पाकिस्तानी वस्तुओं के लिए अधिक मूल्य चुकाना पड़ने लगा। साथ ही, भारतीय वस्तुएँ पाकिस्तान में सस्ती हो गयीं।

इससे दोनों देशों का व्यापार सुचारु रूप से नहीं चल सका। फलतः अप्रैल, १९५० ई० में दोनों देशों के बीच एक अल्पकालीन व्यापारिक समझौता हुआ जिसके अनुसार पाकिस्तान भारत को ८ लाख गाँठ कच्चा जूट के सामान, सूती वस्त्र, कोयला, लोहे का सामान आदि देता है। किन्तु, यह व्यापारिक समझौता भी सफलतापूर्वक काम नहीं कर सका। अतः, सितम्बर १९५० ई० में इसका अन्त हो गया। पुनः जनवरी, १९५१ ई० तक के लिए एक दूसरा व्यापारिक समझौता हुआ जिसके अनुसार भारत ने पाकिस्तान से कच्चा जूट एवं कपास का आयात किया तथा पाकिस्तान को जूट का सामान, कोयला एवं सूती-वस्त्र आदि निर्यात किया। निर्यात एवं आयात की कुछ वस्तुओं को O. G. L. (Open General Licence) में रख दिया गया। पुनः अगस्त, १९५२ ई० में एक समझौता हुआ। इसी प्रकार दोनों देशों के बीच व्यापारिक समझौते होते रहे। १९५० ई० में पाकिस्तान ने भी अपनी मुद्रा का अवमूल्यन किया जिससे दोनों देशों के व्यापार में विशेष प्रगति हुई। अन्तिम समझौता जनवरी, १९५७ ई० में हुआ। इसके अनुसार दोनों देशों ने आपसी व्यापार को बढ़ाने का वादा किया। साथ ही, यह निश्चित किया कि दोनों देशों के बीच सीमा व्यापार पूर्ववत् चलता रहेगा। प्रत्येक ६ महीने के बाद उक्त समझौते के कार्यान्वयन पर विचार करने की बात तय हुई।

भारत एवं पाकिस्तान के बीच गत कुछ वर्षों में व्यापार का अन्दाजा निम्नलिखित तालिका से लगाया जा सकता है :—

(करोड़ रुपये में)

वर्ष	आयात	निर्यात	व्यापारिक शेष
१९५०-५१	४३·९	३०·६	—१३·३
१९५५-५६	२७·१	८·३	—१८·८
१९६०-६१	१४·०	१०·३	— ३·७
१९६१-६२	१३·९	९·४	— ४·५
१९६५-६६	५·७	४·९	— ०·८

इनके अतिरिक्त अन्य देशों के साथ भी भारत का व्यापार होता है। भारत के विदेशी व्यापार में आजकल आस्ट्रेलिया का भी प्रमुख स्थान है। १९६५-६६ ई० में आस्ट्रेलिया से कुल २४·१ करोड़ रुपये की वस्तुओं का आयात तथा १७·५ करोड़ रुपये की वस्तुओं का निर्यात किया गया था। जापान तथा कैनाडा का भी हमारे विदेशी व्यापार में प्रमुख स्थान है। आजकल भारत का मध्य-पूर्वी एशियाई देशों तथा रूस के साथ व्यापार भी दिन-प्रतिदिन बढ़ता जा रहा है।

निम्नांकित तालिका से १९५५-५६ तथा १९६५-६६ में कुछ प्रमुख देशों के साथ भारत के विदेशी व्यापार का अन्दाजा लगाया जा सकता है :—

भारत का कुछ देशों के साथ विदेशी व्यापार (करोड़ रुपये में)

देश	निर्यात		आयात	
	१९५५-५६	१९६५-६६	१९५५-५६	१९६५-६६
ब्रिटेन	१६६·३	१४६·४	१७२·७	१४१·१
संयुक्त राज्य अमेरिका	८२·७	१४७·८	८९·३	५२५·३
जापान	३०·२	५७·०	३३·४	७९·२
आस्ट्रेलिया	२४·८	१७·५	१३·५	२४·१
कैनाडा	१४·०	२०·३	६·८	३०·५
रूस	३·३	९३·०	६·२	८२·५
बर्मा	१२·५	३·६	९·१	९·४
पश्चिमी जर्मनी	१४·९	१८·२	६०·१	१३६·१
पाकिस्तान	८·४	४·९	२७·१	५·७

उपरोक्त तालिका से भारत का कुछ प्रमुख देशों के साथ व्यापारिक सम्बन्ध स्पष्ट हो जाता है। इससे स्पष्ट है कि अधिकांश देशों से भारत निर्यात की अपेक्षा आयात ही अधिक करता है जिससे इसका व्यापारिक सन्तुलन इसके विपक्ष में रहता है।

भारत की व्यापारिक नीति

(Commercial Policy of India)

भूमिका :—किसी भी देश के विदेशी व्यापार को प्रोत्साहित करने के लिए एक समुचित व्यापारिक नीति की आवश्यकता होती है। वास्तव में, विदेशी व्यापार की स्थिति बहुत कुछ देश की व्यापारिक नीति पर ही निर्भर करती है। प्रथम महायुद्ध के बाद से आयात-निर्यात करों की विस्तृत पद्धति के कारण इस प्रकार की नीति का महत्त्व बहुत बढ़ गया है। स्वतन्त्रता-प्राप्ति के पूर्व भारत सरकार की व्यापारिक नीति में भारतीय हितों पर समुचित ध्यान नहीं दिया जाता था। ब्रिटिश सरकार की व्यापारिक नीति का मुख्य उद्देश्य भारत का आर्थिक विकास नहीं वरन् ब्रिटेन एवं अन्य साम्राज्यीय देशों का हित था। १९२२-२३ ई० के विवेचनात्मक संरक्षण की नीति के पूर्व भारत सरकार की व्यापारिक नीति मुख्यतः स्वतन्त्र व्यापार के उद्देश्यों पर ही आधारित थी। जो कुछ आयात एवं निर्यात कर लगाये गये थे उनका उद्देश्य व्यापार में वृद्धि नहीं होकर राजस्व में वृद्धि-मात्र था।

सरकार ने उपरोक्त नीति के आधार पर देश के व्यापार को प्रोत्साहन प्रदान के लिए समय-समय पर विदेशों के साथ बहुत-से व्यापारिक समझौते (Trade Agreement) किये थे जिनमें निम्नलिखित प्रमुख हैं:—

ओटावा व्यापारिक समझौता १६३२ ई० (Ottawa Trade Agreement, 1932) :— जुलाई-अगस्त, १६३२ ई० में ब्रिटिश साम्राज्य के देशों का एक आर्थिक सम्मेलन ओटावा में हुआ जिसके अनुसार इनके बीच एक व्यापारिक समझौता हुआ जिसे ओटावा समझौता कहा जाता है। इस समझौते के अनुसार साम्राज्यीय देशों के बीच व्यापार के प्रसार पर जोर दिया गया। इस उद्देश्य से साम्राज्यीय देशों ने आपस में एक दूसरे के लिए आयात-निर्यात करों को कम कर दिया। इस समझौते के अनुसार ब्रिटेन तथा ब्रिटिश साम्राज्य के अन्य देशों के उस माल पर जो भारत में आयात किये जाते थे, आयात कर घटा दिया गया। इसी प्रकार ब्रिटेन तथा ब्रिटिश साम्राज्य के अन्य देशों पर भी भारतीय आयात पर कम कर लगाया गया। इस व्यवस्था को साम्राज्यीय अधिमान (Imperial Preference) कहा जाता है। १६३२ ई० में भारतीय विधान सभा ने इस समझौते को तीन वर्षों के लिए स्वीकार किया। १ जनवरी, १६३३ ई० से उक्त समझौते को लागू किया गया। अतः, इस समझौते के परिणामस्वरूप भारत सरकार ने आयात-निर्यात करों में आवश्यक परिवर्तन किया जिसके अनुसार इंगलैंड तथा ब्रिटिश साम्राज्य से आनेवाली वस्तुओं पर आयात करों को कम कर दिया गया। इसके बदले में इंगलेंड ने भी भारतीय वस्तुओं पर आयात करों में कुछ छूट दी।

ओटावा समझौते का प्रभाव भारत के व्यापार पर अच्छा नहीं पड़ा। भारतीय जनमत प्रारम्भ से ही साम्राज्यीय अधिमान के विपक्ष में रहा है, क्योंकि इस प्रकार की नीति से देश की ब्रिटेन पर निर्भरता में वृद्धि हुई। अतः, इसका भारत के व्यापार पर बहुत बुरा प्रभाव पड़ा। इसके विपरीत सरकार का मत था कि साम्राज्यीय अधिमान नीति से भारत को बहुत लाभ हुआ। किन्तु सरकार का यह मत बिलकल अनुचित था क्योंकि---(१) उस समय भारत से ब्रिटेन को निर्यात की जानेवाली वस्तुओं में चावल, चाय, जूट के सामान, तम्बाकू आदि प्रमुख थे। समझौते से उन वस्तुओं के निर्यात को प्रोत्साहन अवश्य मिला, किन्तु बिना समझौते के भी उन वस्तुओं को इतना लाभ ब्रिटिश बाजार में अवश्य मिलता क्योंकि ब्रिटिश बाजार में इनकी कोई प्रतियोगिता नहीं थी। इसके विपरित भारत ने इंगलैंड की प्रायः १६२ वस्तुओं को अधिमान प्रदान किया था। (२) चाय एवं जूट के निर्यात में वृद्धि से भारतवासी उतने अधिक लाभान्वित नहीं हुए जितना कि चाय के बगानों एवं जूट के कारखानों के मालिकों को लाभ हुआ जो अधिकांशतः ब्रिटिश निवासी ही थे। (३) साम्राज्यीय अधिमान की नीति से भारत ने धीरे-धीरे अपने अमेरिका एवं जापान के बाजारों को खो दिया। इन देशों के साथ व्यापार बढ़ने की बहुत अधिक सम्भावना भी थी। किन्तु उक्त नीति के फलस्वरूप ऐसा नहीं किया जा सका। (४) ओटावा समझौते से भारत को भी राजस्व की बहुत हानि हुई। इन सब दोषों के कारण भारतीय विधान सभा ने इस समझौते को ३० मार्च, १९३६ ई० को रद्द कर दिया।

उक्त समझौते के अतिरिक्त भारत और इंगलैंड के बीच समय-समय पर बहुत से अन्य व्यापारिक समझौते भी किये गये जिनमें १६३६ ई० का मोदी-लीज पैक्ट (Modi Leese Pact) प्रमुख है। यह समझौता बम्बई तथा लंकाशायर के सूती-वस्त्र व्यापारियों के बीच ३१ दिसम्बर, १६३५ ई० तक के लिए किया गया था। मोदी लाज समझौता के बदले में १६३५ ई० में एक भारत ब्रिटेन पूरक व्यापारिक समझौता (Supplementary Indo-British Trade Agreement) हुआ। मार्च, १६३९ ई० में भारत और इंगलैंड के बाद एक दूसरा व्यापारिक समझौता (Indo

British Trade Agreement) हुआ। इस समझौते के अनुसार भारत में ब्रिटेन से आयात की जानेवाली अनेक वस्तुओं पर, जैसे रसायन, रंग, कपड़ों के अवशिष्टांश तथा सीने की मशीन पर १० प्रतिशत एवं मोटर कार, साइकिल, बस, इत्यादि पर ७½ प्रतिशत का अधिमान दिया गया। किन्तु इस समझौते को भी भारत के व्यापारिक वर्ग का समर्थन प्राप्त नहीं हो सका। यह समझौता केवल ६ महीने तक ही चल पाया था कि इसी बीच द्वितीय महायुद्ध प्रारम्भ हो गया।

भारत-जापान व्यापारिक समझौता (Indo-Japanese Trade Agreement):—भारत एवं जापान के बीच व्यापार का नियमन १९०४ ई० के भारत-जापान व्यापारिक समझौते के अनुसार होता था। किन्तु भारत ने १९३३ ई० में इसे त्याग दिया। इस समझौते के अन्तर्गत जापान को परमाणुगृहीत राष्ट्र (Most favoured nation) समझा जाता था, अतः जब जापानी प्रतियोगिता से देश का सूती-वस्त्र उद्योग प्रभावित होने लगा तो भारत इस समझौते के अनुसार कुछ नहीं कर सकता था। १९३३ ई० में भारत ने विदेशी कपड़ों के आयात पर ७५ प्रतिशत का एक कर लगाया तब एक जापानी शिष्ट-मण्डल भारत आया। पुनः १९३४ ई० से भारत एवं जापान के बीच एक नया समझौता हुआ। इस समझौते के दो भाग थे—समझौता (Convention) तथा प्रोटोकोल। प्रथम भाग में दोनों के व्यापारिक सम्बन्ध की एक रूप-रेखा प्रस्तुत की गयी थी तथा परमाणुगृहीत राष्ट्र के सिद्धान्त का प्रसार किया गया था। दूसरे भाग में, आयात-निर्यात के सम्बन्धों को निर्धारित किया गया था। साथ ही, कोटा की भी व्यवस्था थी। ३१ मार्च, १९३७ ई० के संशोधन द्वारा समझौते की अवधि को पुनः तीन वर्षों के लिए बढ़ा दिया गया। ३१ मार्च, १९४० ई० को इस समझौते की समाप्ति के बाद भारत एवं जापान में १९४८ ई० तक कोई व्यापारिक समझौता नहीं हुआ। पुनः ८ नवम्बर, १९४८ ई० को जापान के साथ एक व्यापारिक समझौता हुआ जिसके अनुसार १९४८ ई० से भारत जापान से ८८ करोड़ रुपये का माल आयात करेगा और इसके बदले में ५६ करोड़ रुपये की सामग्री का निर्यात करेगा। वर्तमान समय में जापान भारत से बड़े पैमाने पर खनिज लोहा खरीदता है।

भारत की वर्तमान व्यापारिक नीति

(Present Commercial Policy of India)

स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद देश के आर्थिक विकास तथा पुनर्निर्माण के लिए हमारी राष्ट्रीय सरकार ने एक स्वतन्त्र आर्थिक तथा व्यापारिक नीति को अपनाया है। भारत की वर्तमान व्यापारिक नीति का मुख्य उद्देश्य देश में आर्थिक नियोजन को सफल बनाना है। इसका मुख्य उद्देश्य पंचवर्षीय योजनाओं के लक्ष्यों की पूर्ति में सहायता प्रदान करना, देश के औद्योगीकरण में सहयोग देना तथा निर्यात के स्तर को ऊँचा बनाना है जिससे भुगतान संतुलन में विपक्षता कम-से-कम हो सके। इसके साथ ही, व्यापारिक नीति का उद्देश्य देश के आयात-निर्यात को पंचवर्षीय योजनाओं के अनुकूल रखना है। इस उद्देश्य से भिन्न-भिन्न देशों के साथ व्यापारिक समझौते किये गये हैं। १९६६ ई० के अन्त में इस प्रकार के ३१ समझौते प्रचलन में थे।

वर्तमान व्यापारिक नीति की प्रधान विशेषताएँ

(Main Features of the Present Commercial Policy)

भारत की वर्तमान व्यापारिक नीति की कुछ अपनी विशेषताएँ हैं जिनका विवेचन नीचे किया जाता है :—

(१) द्विपक्षीय समझौता (Bilateral Agreements) :—स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद सरकार ने विभिन्न देशों के साथ द्विपक्षीय समझौते किया है। इनमें से कुछ समझौतों का आधार वस्तु-विनिमय है, कुछ में कुल आयात एवं निर्यात का विवरण है तथा कुछ का आधार वस्तुओं का परिमाण है। इस प्रकार भारत ने अनेक देशों से व्यापारिक समझौता किया है। द्विपक्षीय समझौता से देश के विदेशी व्यापार को प्रोत्साहन भी मिला है। समय-समय पर इनकी अवधि पूरी होने के बाद यह बढ़ायी भी जा रही है।

(२) व्यापारिक संतुलन की विपक्षता को कम करना :—गत कुछ वर्षों से देश के प्रतिकूल व्यापारिक संतुलन से भारत सरकार के समक्ष एक विशेष समस्या उपस्थित हो गयी है। द्वितीय पंचवर्षीय योजना के प्रारम्भ में व्यापारिक संतुलन की प्रतिकूलता में बहुत वृद्धि हो गयी थी जिससे देश के समक्ष विदेशी विनमय की बहुत बड़ी कठिनाई उपस्थित हो गयी। इस समस्या के समाधान के लिए बहुत सारे प्रयत्न किये जा रहे हैं। सर्वप्रथम तो १९४९ ई० में सरकार ने अपनी मुद्रा का अवमूल्यन किया। इससे स्थिति में कुछ सुधार अवश्य हुआ, किन्तु यह सुधार स्थायी नहीं हो सका। अतएव इस व्यापारिक असंतुलन को दूर करने के लिए सरकार द्वारा आयात पर कठोर नियन्त्रण रखा जाता है तथा निर्यात को कई प्रकार से प्रोत्साहित किया जाता है। सरकार ने पुनः ६ जून, १९६६ ई० को अपनी मुद्रा का ३६·५ प्रतिशत से अवमूल्यन किया। सरकारी प्रयत्नों के परिणामस्वरूप १९६८-६९ तथा १९६९-७० में निर्यात में पर्याप्त वृद्धि हुई जो अत्यधिक उत्साहवर्द्धक जान पड़ती है।

(३) आयात पर नियन्त्रण (Import Control) :—जुलाई, १९५० ई० में आयात-नियन्त्रण प्रशासन को अधिक सुदृढ़ बनाने के लिए एक कमिटी की नियुक्ति की गयी जिसका प्रतिवेदन अक्टूबर, १९५० ई० में प्रकाशित हुआ। इस समिति के अनुसार आयात-नियन्त्रण के निम्नलिखित मूल उद्देश्य होना चाहिये :—

(क) सरकारी एवं निजी क्षेत्र के आयातों को कुल प्राप्त विदेशी विनिमय तक ही सीमित रखना चाहिये,

(ख) कृषि एवं उद्योग दोनों के आयोजित विकास को ध्यान में रखते हुए उपभोग एवं उत्पादन की आवश्यक वस्तुओं के बीच विदेशी विनिमय का सामान रूप से वितरण होना चाहिये,

(ग) जिन वस्तुओं के मूल्य में वृद्धि हो रही हो उन्हें रोकने का प्रयास करना चाहिये, तथा

(घ) वस्तुओं के आयात के लिए लाइसेंस की प्रथा के विकेन्द्रीकरण की भी सिफारिश की गयी।

इस प्रकार उक्त समिति ने इस सम्बन्ध में बहुत से सुझाव दिये। जनवरी, १९५१ ई० के एक प्रस्ताव द्वारा सरकार ने इनमें से अधिकांश सिफारिशों को स्वीकार कर लिया। इसी आधार पर प्रथम एवं द्वितीय पंचवर्षीय योजनाओं में वस्तुओं का आयात होता रहा। १९५९ ई० में आयात नीति में कुछ सुधार अवश्य किया गया। आयात-निर्यात नीति के सम्बन्ध में रामास्वामी मुदालियर समिति की सिफारिशें १९६२ ई० में प्रकाशित हुईं। समिति ने कई बातों पर जोर दिया था। समिति के अनुसार आयात-नियन्त्रण का प्रधान उद्देश्य देश का औद्योगिक विकास; विदेशी विनिमय का संरक्षण तथा निर्यात को प्रोत्साहन होना चाहिए। साथ ही, उन वस्तुओं के आयात को छूट देनी चाहिए जिनसे निर्यात-सम्बन्धी वस्तुओं के उत्पादन में सुविधा हो।

जून, १९६६ ई० में भारतीय रुपये के अवमूल्यन के बाद सरकार ने अपनी आयात-नीति को कुछ उदार बनाया है। इस नीति के अनुसार आवश्यक आयातों के सम्बन्ध में सरकारी नीति को अधिक उदार बनाया गया है। कुछ औद्योगिक कच्चे पदार्थ, यन्त्रों के पार्ट-पुर्जे तथा उपभोक्ता वस्तुओं के निर्यात पर से सभी प्रतिबन्ध हटा लिये गये हैं। अवमूल्यन से आयात के कम होने की आशा की गयी थी, किन्तु यह पूरी नहीं हुई।

(४) निर्यात को प्रोत्साहन (Export promotion) :—भारत सरकार की वर्तमान व्यापारिक नीति की सर्वाधिक प्रमुख विशेषता निर्यात को प्रोत्साहन प्रदान करना है। सरकार आजकल निर्यात प्रोत्साहन पर विशेष जोर दे रही है। हमारी निर्यात-सम्बन्धी नीति का प्रधान उद्देश्य देश की आन्तरिक आवश्यकताओं को ध्यान में रखते हुए निर्यात की मात्रा में अधिकतम वृद्धि करना है। १९४९ ई० में इस उद्देश्य से श्री ए० डी० गोरवाला की अध्यक्षता में एक निर्यात विकास परिषद् (Export Promotion Council) की स्थापना हुई जिसने निर्यात-सम्बन्धी नीति के सम्बन्ध में निम्नलिखित सिफारिशें कीं :—

(i) निर्यात में बाधा पहुँचाने वाले करों को कम या समाप्त किया जाय, (ii) निर्यात की जानेवाली वस्तुओं की परिकल्पना पर नियन्त्रण किया जाय, तथा (iii) निर्यात की जानेवाली वस्तुओं के उत्पादन में वृद्धि की जाय।

भारत सरकार ने इनमें से अधिकांश सिफारिशों को स्वीकार कर लिया। सरकार द्वारा एक निर्यात-विकास परामर्शदात्री परिषद् (Export Promotion Advisory Council) की नियुक्ति की गयी जो सरकार को निर्यात-नियन्त्रण सम्बन्धी नीति पर सलाह देती है। १९५९ ई० में इसका पुनर्गठन किया गया। प्रति छः महीने में एक बार इस परिषद् की बैठक होती है जिसमें निर्यात नीति का पुनर्वीक्षण होता है एवं परिस्थितियों के अनुसार निर्यात को प्रोत्साहन देने की व्यवस्था की जाती है। किन्तु, जून, १९६६ ई० में भारतीय रुपये के अवमूल्यन के बाद से निर्यात के अधिकांश प्रोत्साहन को समाप्त कर दिया गया। मई, १९६२ ई० में एक Board of Trade की नियुक्ति की गयी जो प्रोत्साहन नीति की जाँच करता है।

इनके अतिरिक्त विदेशी व्यापार के विभिन्न उद्देश्यों एवं लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए सरकार द्वारा बहुत-से द्विपक्षीय (Bilateral) एवं बहुपक्षीय (Multilateral) व्यापारिक समझौते किये जा रहे हैं तथा वर्तमान एवं भविष्य में स्थापित होने वाले उद्योगों को संरक्षण एवं आर्थिक सहायता प्रदान की जाती है। सरकार की इस नीति के फलस्वरूप एक ओर तो बहुत से नए-नए उद्योगों की स्थापना हुई है तथा दूसरी ओर आयात एवं निर्यात में बहुत अधिक वृद्धि हुई है। इस समय भारत से केवल चाय, जूट के सामान, सूती-वस्त्र, तम्बाकू आदि वस्तुओं का ही निर्यात नहीं किया जाता, वरन् सीने की मशीनें, साइकिल, रासायनिक पदार्थ, सीमेंट, साबुन आदि का निर्यात भी किया जाने लगा है। आयात के अन्तर्गत खाद्यान्न, यन्त्र एवं अन्य पूँजीगत सामान तथा आवश्यक कच्चे पदार्थ भी आते हैं।

(५) आर्थिक नियोजन की सफलता (Success of Economic Planning) :—इनके अतिरिक्त भारत की वर्तमान व्यापारिक नीति का सर्वाधिक प्रमुख उद्देश्य देश में आर्थिक नियोजन को सफल बनाना है। इस उद्देश्य से पंचवर्षीय योजनाओं की आवश्यकताओं को ध्यान में रखकर केवल आवश्यक सामानों एवं यंत्रों का आयात किया जाता है। साथ ही, निर्यात को बढ़ाने की भी हर संभव कोशिश की जाती है जिससे व्यापारिक संतुलन की विपक्षता में कमी हो सके।

राजकीय व्यापारिक निगम
(State Trading Corporation)

मई, १९५६ ई० में १ करोड़ रुपये की अधिकृत पूँजी, जिसे बाद में बढ़ाकर २ करोड़ रुपये कर दिया गया, से राजकीय व्यापारिक निगम नामक एक राजकीय संस्था का निर्माण हुआ। निगम का मुख्य उद्देश्य[1] प्रारम्भ में समाजवादी देशों के साथ व्यापार करना था। निगम का प्रधान कार्य निर्यात, आयात, आंतरिक व्यापार, लघु उद्योगों का निर्यात-सम्बन्धी सहायता तथा निर्यात-प्रधान निगमों में सहभागिता आदि निर्धारित किया गया था। इस प्रकार निगम का मुख्य उद्देश्य निर्यात व्यापार को प्रोत्साहित कर देश के विदेशी व्यापार को अधिक संतुलित बनाना है। निगम ने अल्प-मुद्रा वाले देशों में निर्यात को प्रोत्साहित करने का कार्यक्रम अपनाया है जिससे उन देशों से इस्पात तथा औद्योगिक मशीनें आदि प्राप्त की जा सकें। निगम खनिज धातु, जूते, हस्तकला की वस्तुएँ, नमक, चाय, कहवा आदि वस्तुओं के निर्यात को भी प्रोत्साहित करता है। साथ ही, निगम ने अब विदेशों से सीमेंट, सोडा, खाद तथा जिप्सम आदि उचित मूल्य पर क्रय किया है। भारत सरकार ने देश में १९५९-६० ई० से सीमेंट के वितरण का कार्य भी निगम को सुपुर्द कर दिया। निगम के कुल व्यापार की मात्रा १९५६-५७ ई० में ९·१ करोड़ रुपये से बढ़कर १९६९-७० ई० में १६३·१ करोड़ रुपये तथा १९७०-७१ में २१५ करोड़ रुपये हो गयी। इस प्रकार आशा है कि निगम विदेशी व्यापार को प्रोत्साहित करने में बहुत अधिक सहायक होगा। १९७०-७१ में निगम द्वारा निर्यात की मात्रा ७० करोड़ रुपये, आयात की मात्रा १४० करोड़ रुपये तथा आंतरिक व्यापार की मात्रा ५ करोड़ रुपये थी।

राजकीय व्यापारिक निगम ने निर्यात के क्षेत्र में बड़ा ही महत्त्वपूर्ण कार्य किया है। वास्तव में, देश की विदेशी-विनिमय-सम्बन्धी वर्तमान कठिनाइयों के निवारण के लिए निर्यात को अधिकतम प्रोत्साहन देना अनिवार्य है और इस क्षेत्र में निगम के अधिक सहायक होने की आशा की जाती है। हाल में ही निगम ने लघु-उद्योगों की वस्तुओं के निर्यात को सहायता देने के लिए EASI (Export Aid to Small Scale Industries) नामक एक योजना चालू की है।

खनिज एवं धातु व्यापारिक निगम (Minerals and Metals Trading Corporation) :—१९६३ ई० में राजकीय व्यापारिक निगम को दो भागों में विभाजित कर एक खनिज एवं धातु व्यापारिक निगम स्थापित किया गया जिसने अक्टूबर, १९६३ ई० से कार्य करना प्रारम्भ किया। इसकी अधिकृत पूँजी ५ करोड़ रुपये है। इसका प्रधान उद्देश्य खनिज-पदार्थों के निर्यात तथा धातुओं के आयात का नियन्त्रण है। निगम लोहा, कोयला, मैंगनीज तथा बॉक्साइट आदि का निर्यात करती है। १९६८-६९ में निगम ने ९१·७ लाख टन कच्चे लोहे का निर्यात किया था। १९६८-६९ ई० में इसने कुल ८०·२ करोड़ रुपये के पदार्थों का निर्यात किया था। इसी तरह यह ताम्बा, शीशा, अल्मुनियम आदि का भी आवश्यकतानुसार आयात करता है।

1. The object of the corporation has been set out as follows—"To organise and effect export from and imports into India of all such goods and commodities as the company may from time to time determine and the purchase, sale and transport of all general trade in such goods and commodities in India or anywhere else in the world and to do all such things as are incidental or conducive to the attainments of the above object."

मेटल स्क्रैप ट्रेड निगम (Metal Scrap Trade Corporation) :—इसी प्रकार के एक और निगम मेटल स्क्रैप ट्रेड कारपोरेशन की स्थापना सितम्बर, १९६४ ई० में की गयी। इसकी अधिकृत पूंजी २ करोड़ रुपये हैं। यह फेरस तथा गैर-फेरस धातुओं के स्क्रैप का आयात-निर्यात करती है। १९६७ ई० के प्रथम नौ माह में इसका निर्यात ९·७७ करोड़ था।

पंचवर्षीय योजनाओं में भारत का विदेशी व्यापार
(India's Foreign Trade in Five Year Plans)

पंचवर्षीय योजनाओं में विदेशी विनिमय प्राप्त करने के लिए निर्यात को प्रोत्साहित करने पर पूरा-पूरा जोर दिया जा रहा है। दूसरी ओर, विदेशी विनिमय सीमित होने के कारण आयात पर भी तरह-तरह के नियन्त्रण लगाये जा रहे हैं।

प्रथम पंचवर्षीय योजनाओं में विदेशी व्यापार (Foreign Trade in the First Five Year Plan) :—प्रथम पंचवर्षीय योजना में विदेशी व्यापार के सम्बन्ध में नीति-निर्धारित करने में देश-विभाजन एवं स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद हुए परिवर्त्तनों को ध्यान में रखा गया था। इन परिवर्त्तनों में खाद्यान्न तथा कच्चे पदार्थों के आयात में अत्यधिक वृद्धि, निर्यात की मात्रा में कमी, संयुक्त राज्य अमेरिका तथा अन्य अल्प-मुद्रा वाले देशों के साथ व्यापारिक सन्तुलन की प्रतिकूलता इत्यादि विशेष प्रमुख थे। इन्हीं तथ्यों को ध्यान में रखकर प्रथम योजनाकाल में विदेशी व्यापार की नीति का निर्धारण किया गया था। प्रथम योजनाकाल के पाँच वर्षों में देश के आयात-निर्यात का अन्दाजा निम्नांकित तालिका से लगाया जा सकता है :—

[illegible] १९५२

वर्ष	आयात	निर्यात	व्यापारिक सन्तुलन
१९५१-५२	९६२·९	७३०·१	—२३२·८
१९५२-५३	६३३·०	६०१·९	—३१·१
१९५३-५४	५९१·८	५३९·७	—५२·१
१९५४-५५	६८९·७	५९६·६	—९३·१
१९५५-५६	७७३·१	६४०·३	—१३२·८
कुल योग	३६५०·५	३१०८·६	—५४१·९

इस प्रकार प्रथम योजना काल में चालू खाता (Current Account) में कुल ३६६०·५ करोड़ रुपये का आयात तथा ३१०८·६ करोड़ रुपये का निर्यात किया गया था। दूसरे शब्दों में, प्रथम योजनाकाल में आयात का वार्षिक औसत ७३०·१ करोड़ रुपये तथा निर्यात का वार्षिक औसत ६२१·७ करोड़ रुपये था। और, योजना काल में पाँच वर्षों में देश का व्यापारिक सन्तुलन कुल ५४१·९ करोड़ रुपये से भारत के विपक्ष में था।

द्वितीय योजनाकाल में विदेशी व्यापार (Foreign Trade in the Second Five Year Plan) :—द्वितीय योजना काल में कई कारणों से निर्यात की अपेक्षा आयात में बहुत अधिक वृद्धि हुई जिसका अन्दाजा निम्नलिखित तालिका से लगाया जा सकता है :—

द्वितीय योजनाकाल में विदेशी व्यापार

वर्ष	आयात	निर्यात	व्यापारिक सन्तुलन
१९५६-५७	११०२·१	६३५·२	—४६६·९
१९५७-५८	१२३३·२	५९४·२	—६३९·०
१९५८-५९	१०२९·३	५७६·३	—४५३·०
१९५९-६०	९३२·३	६२७·४	—३०४·९
१९६०-६१	११०५·७	६३०·५	—४७५·२
कुल	५४०२·६	३०६३·६	—२३३९·०

इस प्रकार द्वितीय योजनाकाल के पाँच वर्षों में कुल ३०६३·६ करोड़ रुपये की वस्तुओं, यानी औसत प्रति वर्ष ६१२·७ करोड़ रुपये के मूल्य की वस्तुओं का निर्यात हुआ था। इसके विपरीत ५४०२·६ करोड़ रुपये, यानी प्रतिवर्ष १०८०·५ करोड़ रुपय का आयात हुआ था। इस प्रकार द्वितीय योजनाकाल में व्यापारिक सन्तुलन (Balance of Trade) २३३९ करोड़ रुपये से भारत के विपक्ष में था। इससे स्पष्ट है कि द्वितीय योजनाकाल में आयात में बहुत अधिक वृद्धि हुई। आयात में इस वृद्धि के लिए द्वितीय योजना के प्रारम्भिक वर्षों में खाद्यन्न की कमी, औद्योगीकरण पर अधिक जोर होने के कारण मशीनों एवं यन्त्रों के आयात में अधिक वृद्धि आदि उत्तरदायी हैं।

तृतीय योजनाकाल में विदेशी व्यापार (India's Foreign trade during the Third Five Year Plan) :—तृतीय पंचवर्षीय योजना में देश के विदेशी व्यापार की नीति का मुख्य उद्देश्य आयात को कम करना तथा निर्यात को बढ़ाना था। भारत जैसे विकासोन्मुख आर्थिक व्यवस्था वाले देश में आयात में निरन्तर वृद्धि की आवश्यकता पड़ती है। इसे पूरा करने के लिए निर्यात में वृद्धि अनिवार्य है। तृतीय पंचवर्षीय योजना में चीनी तथा पाकिस्तानी आक्रमण से उत्पन्न संकट के कारण निर्यात को बढ़ाने की आवश्यकता और भी प्रबल हो गयी। योजना आयोग ने १९६१-६२ ई० से १९६५-६६ ई० की अवधि में अर्थ-व्यवस्था की वर्तमान गति को बनाये रखने के लिए ३,५७० करोड़ रुपये के आयातों (Maintenance imports) की आवश्यकता का अनुमान लगाया था। इस अवधि में लगभग ५०० करोड़ रुपये की विदेशी मुद्रा की आवश्यकता ऋणों तथा इनके सूद को चुकाने के लिए थी। साथ ही, योजना से सम्बन्धित कार्यों के लिए २,१०० करोड़ रु० की विदेशी मुद्रा की और आवश्यकता थी। इस प्रकार आयोग का अनुमान था कि १९६१-६२ ई० से १९६५-६६ ई० तक निर्यात से ३७०० करोड़ रु० का विदेशी विनिमय प्राप्त होगा। इस प्रकार तृतीय योजना में औसत प्रतिवर्ष ७४० करोड़ रु० के निर्यात का अनुमान था जबकि प्रथम एवं द्वितीय पंचवर्षीय योजनाओं में यह औसत क्रमश: ६२० करोड़ तथा ६१९ करोड़ रु० था। योजना काल में निर्यात में वृद्धि इससे अधिक ही हुई। तृतीय पंचवर्षीय योजना में आयात एवं निर्यात का अन्दाजा निम्नांकित तालिका से लगता है :—

तृतीय योजना काल में विदेशी व्यापार (करोड़ रुपये में)

वर्ष	आयात	निर्यात	व्यापाराधिक्य
१९६१-६२	१००६·०	६६८·३	—३३७·७
१९६२-६३	१०९६·८	६८०·९	—४१५.९
१९६३-६४	१२४५·०	८०१·६	—४४३·४
१९६४-६५	१४२९·८	८००·९	—६१९·९
१९६५-६६	१३५०·०	७८३·३	—५६६·७
कुल	६११८·६	३७३५·०	—२३८३·६

उपरोक्त तालिका से स्पष्ट है कि तृतीय योजना काल में निर्यात की मात्रा ३७३५ करोड़ रुपये थी, यानी योजना काल में निर्यात में प्राय: २२·० प्रतिशत की वृद्धि हुई। निर्यात में इस वृद्धि के लिए नयी-नयी वस्तुओं; जैसे—चीनी, कच्चा लोहा, चमड़े के सामान हस्त-कला की वस्तुएँ आदि उत्तरदायी हैं। वास्तव में, पिछले १५ वर्षों में विश्व में चाय, जूट की निर्मित वस्तुएँ, तथा सूती-वस्त्र के निर्यात में भारत का हिस्सा धीरे-धीरे घट रहा है, किन्तु कई नयी वस्तुओं का निर्यात देश से किया जाने लगा है तथा इनकी मात्रा में भी क्रमश वृद्धि हो रही है।

किन्तु तृतीय योजना काल में आयात में भी बहुत अधिक वृद्धि हुई। पाँच वर्षों में कुल आयात ६११८·६ करोड़ रुपये था। आयात में यह वृद्धि १९६५ ई० के पाकिस्तानी आक्रमण तथा योजना के अन्तिम वर्षों में खाद्य-संकट के कारण और तीव्र हो गयी। इससे देश के भुगतान संतुलन की प्रतिकूलता भी निरन्तर बढ़ती जा रही है। भुगतान संतुलन की इस प्रतिकूलता को कम करने के लिए सरकार द्वारा इस बीच नये-नये प्रयत्न किये गये हैं—जैसे स्वर्ण-पत्र (Gold bonds) के द्वारा देशवासियों से स्वर्ण प्राप्त करना तथा National Defence Remittance Scheme आदि।

अवमूल्यन (Devaluation) :—किन्तु इन उपायों से भुगतान संतुलन की प्रतिकूलता में कोई आशाजनक सुधार नहीं हो सका। अत:, जून; १९६६ ई० को भारत सरकार ने अपनी मुद्रा के समता मूल्य में स्वर्ण के रूप में ३६·५ प्रतिशत तथा यू० एस० डालर के रूप में ५७·५ प्रतिशत से अवमूल्यन कर दिया। अवमूल्यन से निर्यात में वृद्धि तथा आयात में कमी की आशा की जाती है। किन्तु अवमूल्यन से भी भुगतान संतुलन की प्रतिकूलता में कोई कमी नहीं हुई है जो निम्नांकित तालिका से स्पष्ट है :—

भारत का विदेशी व्यापार (करोड़ रुपये में)

(अवमूल्यन के बाद की दर में)[1]

वर्ष	आयात	निर्यात
१९६०-६१	१७६७·२	१०११·७
१९६५-६६	२२१८·४	१२६८·९
१९६६-६७	२०७८·४	११५६·५
१९६७-६८	२०४२·८	१२५४·६
१९६८-६९	१७४०·५	१३६७·४

इससे स्पष्ट है कि अवमूल्यन से व्यापारिक संतुलन की विपक्षता में कोई कमी नहीं हुई। फिर भी निर्यात में वृद्धि हुई जिसके निम्नांकित कारण हैं—

(१) अवमूल्यन के प्रारम्भिक चरण में निर्यात-प्रोत्साहन उपायों को समाप्त किया गया। उन्हें पुनः अपनाना पड़ा।

(२) लोहा एव इस्पात तथा इंजीनियरिंग वस्तुओं के निर्यात में महत्त्वपूर्ण वृद्धि। साथ ही, निर्यात प्रोत्साहन के लिए तरह-तरह के उपाय अपनायेंगे।

1. Fourth Five Year Plan.

निम्नांकित तालिका से १९५१-५२ से १९६८-६९ की अवधि में तीन पंचवर्षीय योजनाओं तथा तीन वार्षिक योजनाओं में विदेशी व्यापार का अन्दाजा लगता है :—

१९५०-५१ से १९६८-६९ के बीच भारत का विदेशी व्यापार (करोड़ रुपये में)[1]

	अवमूल्य के पूर्व			अवमूल्यन के बाद		
	प्रथम योजना १९५१-५६	द्वितीय योजना १९५६-६१	तृतीय योजना १९६१-६६	१९६६-६७	१९६७-६८	१९६८-६९
आयात निर्यात	३६१७ ३०२९	४८८१ ३०४६	६११९ ३७३५	२०७८ ११५६	२०४३ १२५५	१४४१ १३६७
व्यापार का घाटा वार्षिक औसत	—५८८ —११७·८	—१८३६ —३६७·२	—२३८४ —४८२·८	—९२२ —९२२	—७८८ —७८८	—३७४ —३७४

चतुर्थ पंचवर्षीय योजना में विदेशी व्यापार

(Foreign Trade in the Fourth Five Year Plan)

चतुर्थ पंचवर्षीय योजना में यह अनुमान लगाया गया है कि योजनाकाल में ९७३० करोड़ रुपये के आयात की आवश्यकता पड़ेगी। इसमें से ७८४० करोड़ रुपये Maintenance import, १३०० करोड़ रुपये योजना के कार्यों के लिए यन्त्र आदि के आयात तथा ५९० करोड़ रुपये खाद्यान्न के आयात पर व्यय का आयोजन है। इसके अतिरिक्त २६०० करोड़ रुपये ऋण, मूल तथा ब्याज आदि के भुगतान के लिए आवश्यक होगा, यानी चतुर्थ योजना काल में कुल मिलाकर १२,३३० करोड़ रुपये विदेशी मुद्रा की आवश्यकता होगी। इसमें से ४०३० करोड़ रुपये योजनाकाल में ऋण एवं अनुदान आदि के रूप में विदेशी सहायता से मिलने की आशा है। शेष ८३०० करोड़ रुपये निर्यात के द्वारा पूरा करना होगा। इसके लिए योजनाकाल में निर्यात को १९६८-६९ ई० में १३६० करोड़ रुपये से बढ़ाकर १९७३-७४ ई०, यानी चतुर्थ योजना के अन्तिम वर्ष में १९०० करोड़ रुपये करने का आयोजन है। इस प्रकार योजनाकाल में निर्यात में ५४० करोड़ रुपये यानी प्रतिवर्ष निर्यात में ७ प्रतिशत वार्षिक वृद्धि का आयोजन है। इस आधार पर यह आशा की जाती है कि योजना काल में कुल निर्यात की रकम योजना के अन्त में ८४०० करोड़ रुपये की होगी।

निम्नांकित तालिका से चतुर्थ तथा पंचम पंचवर्षीय योजनाओं के अन्तर्गत निर्यात में विभिन्न वर्गों का हिस्सा निम्न प्रकार से निश्चित किया गया है—

1. India Pocket Book of Economic Information.

प्रत्याशित भारतीय निर्यात (करोड़ रुपये में)

मदें	१९६८-६९	१९७३-७४	१९७८-७९	१९८०-८१	वार्षिक वृद्धि की दर
१ कृषि तथा सम्बन्धित वस्तुएँ	४५०	६०५	८५०	९५८	६·५
(क) चाय	१५६	१७०	१८५	१९०	१.३
(ख) समुद्र-सम्बन्धी पदार्थ	२३	४८	९८	११६	१४·४
(ग) अन्य सभी वस्तुएँ	२७१	३८७	५६७	६५२	७·६
२. खनिज-पदार्थ	१३२	१०३	२७३	३१६	७·६
(क) लोह खनिज	८८	१५५	२१५	२५२	९·२
(ख) अन्य खनिज	४४	४८	५८	६४	३·२
३. निर्मित पदार्थ	७०४	१०१०	१४२९	१६३९	७·३
(क) कपास एवं जूट की वस्तुएँ	२८९	३३३	३६७	३८०	१·३
(ख) अन्य इंजीनियरिंग	६७	१९०	३६०	४००	१६·१
(ग) अन्य निर्मित वस्तुएँ	३४८	४८७	७०२	८५९	७.८
४. अन्य वस्तुएं	७४	८२	९८	१०७	३·१
	१३६०	१९००	२६५०	३०२०	६·९

उपरोक्त तालिका से स्पष्ट है कि चतुर्थ योजना काल में भिन्न-भिन्न वर्गों के निर्यात में वृद्धि की प्रत्याशित दर में विभिन्नता है। इस विभिन्नता के कई कारण हैं जिनमें बाहरी मांग की दशा, आन्तरिक उत्पादन की मात्रा, बाजार का बदला हुआ स्वरूप इत्यादि। तालिका से स्पष्ट है कि आगे आनेवाले वर्षों में परम्परागत निर्यात की अपेक्षा नयी-नयी वस्तुओं के निर्यात पर अधिक जोर दिया गया है। उदाहरण के लिए, कपास तथा जूट की निर्मित वस्तुओं के निर्यात को बढ़ाने पर अधिक जोर नहीं होकर इन्जीनियरिंग की वस्तुओं के निर्यात को बढाने पर पूरा-पूरा जोर दिया गया। इसी प्रकार कृषि-पदार्थों के अतन्तर्गत चाय के अतिरिक्त अन्य पदार्थों के निर्यात को बढ़ाने पर पूरा जोर दिया गया है।

चतुर्थ योजना की निर्यात-सम्बन्धी नीति :—जुलाई, १९७० ई० में भारत सरकार द्वारा लोक सभा में निर्यात के सम्बन्ध में एक नयी और अधिक व्यापक नीति प्रस्तुत की गयी। इस नीति की मुख्य बातें निम्नलिखित हैं—

(i) निर्यात-प्रोत्साहन के उद्देश्य से सरकार कुछ समय के लिए आंतरिक उपभोग पर कुछ नियंत्रण भी लगा सकती है।

(ii) विदेशी व्यापार में राजकीय क्षेत्र का हिस्सा अधिक महत्त्वपूर्ण होना चाहिए। इस सम्बन्ध में राजकीय व्यापार निगम (State Trading Corporation) तथा खनिज एवं धातु निगम (Minerals and Metals Trading corporation) को विशेष रूप से दायित्व निभाना होगा।

(iii) निर्यात में लगे लोगों को अधिकाधिक मात्रा में वित्तीय एवं तकनीकी सहायता प्रदान करने की व्यवस्था की जायगी। बैंकों के राष्ट्रीयकरण के बाद निर्यात उद्योग में लगे व्यक्तियों को वित्तीय सहायता प्रदान करने में विशेष सुविधा होगी।

(iv) वस्तुओं के निर्यात के साथ-साथ देश से परामर्श-सम्बन्धी सेवाओं (Consultancy Services) के निर्यात को प्रोत्साहित करने पर विशेष जोर दिया जायगा।

इस प्रकार उपरोक्त निर्यात नीति से यह स्पष्ट है कि सरकार द्वारा निर्यात को बढ़ाने पर विशेष जोर दिया जा रहा है। किन्तु सरकार की इस निर्यात नीति की सफलता कई बातों पर निर्भर करती है जिनमें निम्नांकित विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं—(क) भारतीय निर्यात की वस्तुओं को विदेशी बाजार में लागत की दृष्टि से किस हद तक प्रतिस्पर्द्धी बनाया जा सकता है। (ख) निर्यात के ढाँचे को अधिकाधिक मात्रा में व्यापक बनाने के लिए किस हद तक अपरम्पारिक वस्तुओं के निर्यात को बढ़ाया जा सकता है। (ग) निर्यात के लिए अतिरिक्त रकम प्राप्त करने के उद्देश्य से सरकार किस हद तक आंतरिक उत्पादन को बढ़ाने तथा उपभोग को कम करने में सफल हो सकेगी। (घ) देश में कीमत-स्तर को किस हद तक स्थायी बनाया जा सकता है।

सारांश यह है कि निर्यात विकास कार्य-क्रम को सफल बनाने के लिए देश की अर्थ-व्यवस्था को सामान्य रूप से विकसित करने तथा कीमत-स्तर में वृद्धि को रोकने की व्यवस्था आवश्यक होगी।

व्यापार विकास संस्थान (Trade Development Authority):—पिछले कुछ वर्षों से निर्यात को प्रोत्साहित करने के लिए सरकार द्वारा अपनाये गये विभिन्न उपायों के बावजूद निर्यात की प्रगति संतोषजनक नहीं रही। अतएव चतुर्थ योजना के निर्यात-सम्बन्धी लक्ष्यों की पूर्ति के लिए भारत सरकार द्वारा सितम्बर, १९७० ई० में एक Trade Development Authority की नियुक्ति की गयी। इसका प्रधान उद्देश्य संयुक्त राज्य अमेरिका, जर्मनी जापान, ब्रिटेन तथा कैनाडा आदि देशों को बिजली का सामान, साइकिल तथा इसके पुर्जे, चमड़े के सामान, चुनी हुई दस्तकारियाँ। स्टेनलेश स्टील के सामान, मोटर गाड़ियों के कुछ पार्ट-पुर्जे आदि के निर्यात को प्रोत्साहित करना है। इन पदार्थों के निर्यात के लिए विदेशों में बहुत अधिक क्षेत्र है। अतएव आशा की जाती है कि व्यापार विकास संस्थान निर्यात विकास के क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण सहयोग प्रदान करेगा।

भारत एवं गैट

(India and the General Agreement on Tariff and Trade)

द्वितीय महायुद्ध की समाप्ति के बाद जब अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष तथा विश्व बैंक की स्थापना हुई तो व्यापार के क्षेत्र में अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग में वृद्धि के लिए एक संस्था की स्थापना को आवश्यक समझा गया। अतएव १९४७ ई० में हवाना में विश्व के प्रमुख राष्ट्रों की एक बैठक हुई जिसमें एक अन्तर्राष्ट्रीय व्यापारिक संगठन (International trade Organisation) की स्थापना के लिए हवाना चार्टर पर हस्ताक्षर किये गये। भारत भी इस चार्टर के प्रारम्भिक हस्ताक्षरियों में से एक था। किन्तु संयुक्त राज्य अमेरिका तथा ब्रिटेन के विरोध के कारण इस प्रकार की संस्था की स्थापना नहीं की जा सकी।

गैट के उद्देश्य (Objectives of the G.A.T.T.) :—१९४७ ई० में जनेवा (Geneva) में २३ राष्ट्रों का एक सम्मेलन हुआ जिसमें आयात करों को कम करने के लिए एक समझौता हुआ जिसे General Agreement on Tariff and Trade, अथवा गैट (GATT) कहते हैं। इस समय इस समझौते में ५० राष्ट्र हैं जो विश्व के प्राय: ८० प्रतिशत विदेशी व्यापार के लिए उत्तरदायी हैं। ९ जुलाई, १९४८ ई० से यह समझौता अस्थायी रूप से लागू किया गया। व्यापारिक नीति के क्षेत्र में गैट अन्तर राज्य अधिकारों तथा दायित्वों को पूरा करने के लिए विभिन्न सरकारों के बीच एक प्रकार का समझौता है। इसका प्रधान उद्देश्य आपसी समझौते के द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के क्षेत्र की सभी बाधाओं को दूर करना है। (The G.A.T.T. is an inter-governmental instrument providing for rights and obligation in the field of commercial policy.

Its principal objective is to promote the expansion of international trade through reciprocal and mutually advantageous arragements directed towards the reduction of custom tariffs and other barriers to trade and the elimination of discriminatory practices.) इस प्रकार गैट का मौलिक उद्देश्य स्वतन्त्र व्यापार को प्रोत्साहित करना है। यह बहु-पक्षीय समझौतों के द्वारा विदेशी व्यापार को प्रोत्साहित करने के उद्देश्य से कार्य करता है। संक्षेप में गैट के निम्नांकित तीन प्रधान उद्देश्य हैं :—(i) अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की विभिन्न बाधाओं को कम करना (to reduce trade barriers), (ii) भेद-भाव को समाप्त करना (to eliminate discrimination), तथा (iii) अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की सभी कुरीतियों को समाप्त करना (To abolish all unfair trade practices)।

गैट का मूल 'most-favoured nation' सम्बन्धी धारा है जिसके अन्तर्गत द्विपक्षीय समझौते के आधार पर सदस्य राष्ट्र एक दूसरे को विभिन्न प्रकार की सुविधाएँ प्रदान करते हैं। चूँकि आयात-निर्यात कर ही विदेशी व्यापार के मार्ग में सबसे बड़ी बाधा प्रस्तुत करते हैं, अतएव इसे कम करने के लिए सदस्य राज्यों के बीच सदा आपस में समझौते होते रहे हैं।

गैट एवं अल्प-विकसित राष्ट्र (GATT and Under-developed countries) :— अविकसित एवं अल्प-विकसित राष्ट्रों का हित गैट के ठीक विपरीत है क्योंकि विकासशील देशों को अपने नये उद्योगों को विकसित करने का अवसर प्रदान करना पड़ता है। अतएव इन्हें आयात-निर्यात करों को बराबर रखना पड़ता है। गैट, वास्तव में, इन देशों की आवश्यकताओं के प्रति जागरूक है। अविकसित देशों के विकास की तालिका में सम्मिलित उद्योगों में इन्हें आयात करों को घटाने की आवश्यकता नहीं पड़ती।

१९६५ ई० में जेनरल एग्रीमेंट के चतुर्थ खण्ड के रूप में एक नये अध्याय का समावेश किया गया जिसके अन्तर्गत विकासशील देशों द्वारा अपने निर्माण उद्योगों के लिए बाजार के खोज पर जोर दिया गया है। अतएव विकसित राष्ट्रों से यह अनुरोध किया गया कि वे विकासशील देशों के सम्भावित आयात पर किसी प्रकार के कर नहीं लगायें। इस प्रकार भारत जैसे अर्द्ध-विकसित देश को औद्योगिक विकास के लिए टैरिफ में छूट की सुविधा प्रदान की गयी है। साथ ही, अपने नये उद्योगों की रक्षा के लिए भी इसे सुविधा प्राप्त हुई है।

भारत गैट के उद्देश्यों का भली-भाँति पालन करता है। यह विदेशी व्यापार के क्षेत्र में अनुचित रुकावट डालने का प्रयास नहीं करता। अपने नये उद्योगों को इसने विदेशी प्रतियोगिता से संरक्षण अवश्य प्रदान किया है, किन्तु इस प्रकार का संरक्षण केवल समझौते की शर्तों के अन्तर्गत ही प्रदान किया गया है। वास्तव में, गैट की नीति भारत के अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग की नीति के अनुरूप ही है।

विशेष अध्ययन-सूची

1. Manmohan Singh : India's Export Trade.
2. S. K. Verghese : India' Foreign Trade.
3. Planning Gommission : Five Year Plans.
4. Reserve Bank of India : India's Balance of Payment 1948-49 to 1961-62
5. Govt. of India : Report of the Import and Export Committee (1969).
6. The Journal of Industry and Trade.

षष्ठ खंड

"The Origin of inflation is very often to be found in the panicky nervousness of unstable govenments in politically unsettled communities. Giv n political stability, there is no reason why India should not be able to carry out her future plans without generating serious inflationary pressures on the price-level."

मूल्य, मुद्रा, बैंकिग एवं वित्तीय-व्यवस्था

[Prices, Currency, Banking and Financial Organisation]

अध्याय : ४०

भारत में मूल्य

(Prices in India)

प्राक्कथन :—मूल्य का अध्ययन साधारणतः बड़ा जटिल होता है। भारत में तो देश के विशाल आकार एवं विभिन्न क्षेत्रों में मूल्य तथा जीवन-स्तर की विषमताओं के कारण इसके अध्ययन में और भी कठिनाई होती है। किन्तु, मूल्य-स्तर का अध्ययन बहुत कारणों से विशेष महत्त्व का है। मूल्य में समय-समय पर हुए परिवर्त्तनों के अध्ययन से देश की सामान्य आर्थिक स्थिति का अन्दाजा लगता है। साथ ही, इसी पर देश में करों के स्तर का निर्धारण भी निर्भर करता है। मूल्य-तल में परिवर्तन से मुद्रा की क्रय-शक्ति का अन्दाजा लगता है। साथ ही, इस बात का भी पता चलता है कि मूल्य में परिवर्तन से विभिन्न वर्ग किस प्रकार से प्रभावित होते हैं। उदाहरण के लिए, देश में वर्त्तमान समय में जो मुद्रा-स्फीति पायी जाती है, वह व्यापारियों के लिए लाभदायक सिद्ध हो रही है क्योंकि इससे इनके लाभ की मात्रा में वृद्धि होती है, किन्तु इससे मध्यम तथा निम्न वर्ग के लोगों को हानि होती है और अंततः, भारत जैसे कृषि-प्रधान देश में विकास की योजनाओं के कार्यान्वयन के लिए समुचित मूल्य-नीति की प्रबल आवश्यकता है। मूल्य-नियंत्रण पर ही आर्थिक नियोजन की वास्तविक सफलता भी निर्भर करती है।

यहाँ पर हम बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ से, विशेषतः प्रथम महायुद्ध के बाद से देश में मूल्य-तल की स्थिति का अध्ययन करेंगे। उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारम्भिक वर्षों में भारत में मूल्य-तल की सामान्य प्रवृत्ति इसमें वृद्धि की रही है। भारत सरकार ने मूल्य-तल में वृद्धि की जाँच के लिए १९१० ई० में श्री० के० एल० दत्ता की अध्यक्षता में एक मूल्य-जाँच समिति (Price Enquiry Committee) की नियुक्ति की। समिति के अनुसार इस अवधि में देश में मूल्य तल में अत्यधिक वृद्धि के बहुत सारे कारण थे, किन्तु इनमें सर्वाधिक प्रमुख कारण सिक्कों का अत्यधिक टंकन था। १८९८ ई० में भारत में १३० करोड़ रुपये के सिक्के प्रचलन में थे। १९०८ ई० तक सरकार ने १०० करोड़ रुपये के और सिक्कों का टंकन किया। इस प्रकार मुद्रा की मात्रा में इस आकस्मिक वृद्धि के परिणामस्वरूप कीमतों की वृद्धि अति स्वाभाविक थी।

प्रथम युद्धकाल में कीमतें :—प्रथम युद्ध काल में युद्ध-जनित कारणों से मूल्य-स्तर में बहुत अधिक वृद्धि हुई। फिर भी, युद्ध में संलग्न देशों की अपेक्षा भारत में मूल्य की वृद्धि कम ही हुई थी। युद्ध-काल में प्रायः सभी वस्तुओं के मूल्य में वृद्धि हुई। १९१४ ई० की तुलना में १९१९ ई० में खाद्यान्नों के मूल्य में ९६ %, आयात किये गये कपड़ों के मूल्य में ९० प्रतिशत तथा देश में बने कपड़ों के मूल्य में ६० प्रतिशत की वृद्धि हुई। युद्ध-काल में कीमतों में वृद्धि के बहुत-से कारण थे जिनमें उत्पादन में कमी, युद्ध में संलग्न देशों की मांग में वृद्धि, युद्ध-काल में साख एवं मुद्रा में अत्यधिक वृद्धि आदि विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इस प्रकार युद्ध-काल में साख की अभिवृद्धि एवं मुद्रा-स्फीति उत्पन्न हो गयी। युद्ध के विशाल खर्च को पूरा करने के लिए कर एवं कर्ज के अतिरिक्त सरकार ने बहुत अधिक मात्रा में मुद्रा जारी किया। इसके परिणामस्वरूप बैंकों के जमा में भी अत्यधिक वृद्धि हुई। सरकार ने अल्पकालीन ट्रेजरी बिल तथा युद्ध-सम्बन्धी ऋण-पत्र जारी किया जिनकी सुरक्षा पर बैंक सुगमतापूर्वक उधार देते थे। इन सभी कारणों से क्रय-शक्ति में बहुत अधिक वृद्धि हुई तथा कीमतें ऊँची हो गयीं। इसके अतिरिक्त १९१८, १९१९ एवं १९२० ई० में मौनसून की

असफलता ने भी मूल्य-स्तर को बढ़ाने में सहयोग प्रदान किया। १९२० ई० त तक कीमतें अपनी चरम सीमा पर पहुँच गयीं।

मूल्य-तल में इस वृद्धि का प्रभाव जन-साधारण पर क्या पड़ा, यह देखना भी आवश्यक है। मूल्य-जाँच समिति के अनुसार प्रथम युद्ध के पूर्व मूल्य में वृद्धि से देश को लाभ ही हुआ। सरकार भी समिति की इस राय से सहमत थी। समिति के अनुसार भारत एक ऋणी देश था। अतः मूल्य में वृद्धि से थोड़ी वस्तुओं के निर्यात के द्वारा ही अपने दायित्व को पूरा कर सकता था। किन्तु, समिति का यह सोचना बहुत अंशों में उचित नहीं जँचता क्योंकि मुद्रा-प्रसार से उत्पन्न हुई ऊँची कीमतों से इस प्रकार के किसी स्थायी लाभ की आशा नहीं की जा सकती थी जो इसकी सर्वविदित हानियों को दूर कर सके। वेरा एन्स्टे (Vera Anstey) ने भी इसी प्रकार का विचार व्यक्त किया है। इनके अनुसार भी प्रथम युद्ध के पूर्व मूल्य में हुए परिवर्तनों से अधिकांश व्यक्ति अवश्य ही लाभान्वित हुए होंगे; किन्तु यथार्थ में इस बात की कोई गारन्टी नहीं दी जा सकती। वास्तव में, मूल्य वृद्धि से केवल वे ही किसान लाभान्वित होते हैं जिनके पास बाजार में बेचने के लिए अतिरिक्त उपज हो। उस पर भी भारत में कृषकों को होनेवाला लाभ साधारणतः मध्यस्थों द्वारा ही हड़प लिया जाता है।

किन्तु प्रथम युद्ध के पूर्व और बाद में हुई मूल्य-तल में वृद्धि से बड़े पैमाने के उद्योगवालों को बहुत अधिक लाभ हुआ। पर इस लाभ का प्रयोग इन लोगों ने उच्च लाभांश के वितरण में किया जिससे इनका प्रयोग सुरक्षित कोष के निर्माण में नहीं हो सका। युद्ध के पूर्व मूल्य-वृद्धि के परिणामस्वरूप मजदूरी में वृद्धि हुई। गाँवों में यह वृद्धि ३८ प्रतिशत तथा नगरों में प्रायः २८ प्रतिशत थी। युद्धकाल में मजदूरी में कोई वृद्धि नहीं हुई, किन्तु युद्ध के बाद मजदूरी में भी वृद्धि हुई तथा रहन-सहन के स्तर में भी सुधार हुआ। मूल्य में वृद्धि का सबसे बुरा प्रभाव स्थायी आय वाले वर्ग पर पड़ा। इनकी आय तो स्थिर रह गयी, किन्तु वस्तुओं के मूल्य में बहुत अधिक वृद्धि हुई जिससे इन्हें कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। इस प्रकार मूल्य में इस वृद्धि का परिणाम समाज के विभिन्न वर्गों पर विभिन्न प्रकार से पड़ा।

महान आर्थिक मन्दी का समय (The Period of Great Depression) :—युद्ध के बाद १९२० ई० में मूल्य अपनी चरम सीमा पर पहुँच गये थे, किन्तु १९२१ ई० के बाद इनमें ह्रास एवं मन्दी का काल प्रारम्भ हुआ जो साधारण परिवर्तनों के अतिरिक्त १९२९ ई० तक चलता रहा। १९२०-२१ ई० में मन्दी प्रारम्भ होने का कारण रिवर्स कौंसिल बिलों का विक्रय तथा तज्जनित मुद्रा का संकुचन था। इस समय तक भारतीय मूल्य-स्तर पर विश्व की आर्थिक शक्तियों का भी प्रभाव पड़ा। १ शि० ६ पेंस के अनुपात का प्रभाव भी भारतीय मूल्य-तल पर पड़ा। किन्तु स्थिति अभी उतनी गम्भीर नहीं हो पायी थी कि इसी बीच अक्टूबर, १९२९ ई० में वाल स्ट्रीट के पतन (Wall Street Collapse) के साथ विश्वव्यापी आर्थिक मन्दी प्रारम्भ हुई जिसके प्रभाव से भारत भी वंचित नहीं रह सका। इस मन्दी का प्रभाव कृषि तथा किसानों पर सबसे बुरा पड़ा। कृषि एवं कच्चे पदार्थों में सबसे अधिक कमी हुई। सितम्बर, १९२९ ई० से मार्च, १९३३ ई० के बीच निर्यात की वस्तुओं के मूल्य में ५१ प्रतिशत तथा आयात में २७ प्रतिशत की कमी हुई। इसके बाद मार्च, १९३३ ई० से आंशिक पुनरुत्थान का काल प्रारम्भ हुआ जो अगस्त, १९३७ ई० तक चला। यह पुनरुत्थान विश्व के पैमाने पर पुनरुत्थान का परिणाम था। किन्तु १९३७ ई० में पुनः मूल्य में ह्रास होने लगा जो आकस्मिक परिवर्तनों के अतिरिक्त १९३९ ई० तक चलता रहा।

इस मन्दी के बहुत-से कारण थे जिनमें कुछ मौद्रिक तथा कुछ गैर-मौद्रिक थे। गैर-मौद्रिक कारणों में मांग की तुलना में कच्चे पदार्थों तथा निर्मित वस्तुओं की पूर्ति में अत्यधिक वृद्धि उल्लेखनीय थी। मौद्रिक कारणों में संयुक्त राज्य अमेरिका एवं फ्रांस में विश्व के अधिकांश स्वर्ण का जमा होना था। इसके फलस्वरूप विश्व के अन्य देशों के पास स्वर्ण-कोष का अभाव हो गया जिससे वे मुद्रा-संकुचन की नीति का अनुसरण करने लगे। मन्दी का प्रभाव देश की आर्थिक व्यवस्था पर बहुत बुरा पड़ा। इससे किसान सबसे अधिक बुरी तरह से प्रभावित हुए। इनकी क्रय-शक्ति घट गयी जिससे मन्दी का प्रभाव और भी बुरा हो गया। इसका प्रभाव उद्योग-धन्धों पर भी पड़ा तथा इनकी वस्तुओं की मांग भी धीरे-धीरे घटने लगी।

द्वितीय महायुद्ध काल में मूल्य-स्तर (Prices in the Second World War) :— सितम्बर, १९३९ ई० में द्वितीय युद्ध प्रारम्भ होते ही वस्तुओं के मूल्य में वृद्धि होने लगी। पूर्वी क्षेत्र में जापान के युद्ध में प्रवेश करने के फलस्वरूप मूल्य-तल में वृद्धि की प्रवृत्ति और भी तीव्र हो गयी। मित्र-राष्ट्रों के पूर्वी एवं मध्य-पूर्वी मोर्चे में पूर्ति का प्रमुख साधन भारत ही था। ब्रिटिश सरकार के बदले में भारत सरकार को प्रतिवर्ष बहुत अधिक युद्ध के सामान खरीदने पड़ते थे। देश में भी सुरक्षा-व्यय में पर्याप्त वृद्धि हुई। इन सबके लिए सरकार को अत्यधिक मात्रा में नोट छापने की आवश्यकता हुई जिसके फलस्वरूप बैंकों ने अपनी जमा-राशि को भी बढ़ाना आरम्भ कर दिया। इन सब कारणों से मूल्य-तल में वृद्धि होने लगी। निम्नांकित तालिका से द्वितीय युद्ध-काल में मूल्य-तल में हुई वृद्धि का अन्दाजा लगता है :—

अगस्त, १९३९ = १००

वर्ष	कृषि-पदार्थों का मूल्य	कच्चे-पदार्थों का मूल्य	निर्मित वस्तुओं का मूल्य	सामान्य मूल्य का सूचनांक
१९३९-४०	१०७·५	११८·८	१३१·५	१२५·६
१९४०-४१	१०८·६	१२१·५	११९·८	११४·८
१९४१-४२	१२४·२	१४६·९	१५४·५	१३७·०
१९४२-४३	१६६·२	१६५·९	१९०·४	१७१·०
१९४३-४४	२६८·७	१८५ ०	२५१ ७	२३६·५
१९४४-४५	२६५·४	२०६·०	२५८·३	२४४ २

उपरोक्त तालिका से स्पष्ट है कि १९४०-४१ ई० के अतिरिक्त अन्य सभी वर्षों में मूल्य-स्तर में लगातार वृद्धि होती रही। युद्ध की समाप्ति के समय १९४४-४५ ई० में सामान्य सूचनांक १९३९-४० ई० का प्रायः दुगुना से भी अधिक था। युद्ध प्रारम्भ होते ही सट्टेबाजी के कारण वस्तुओं के मूल्य में अत्यधिक वृद्धि प्रारम्भ हो गयी। किन्तु जनवरी, १९४० ई० से जून, १९४० ई० तक पुनः मूल्य में कमी हुई। इसका मुख्य कारण निर्यात तथा विनिमय दर का नियन्त्रण था। किन्तु दिसम्बर १९४१ ई० में युद्ध के समीप आ जाने के कारण १९४२ ई० के प्रारम्भ से ही मूल्य-स्तर में तीव्र गति से वृद्धि होने लगी प्रारम्भ में सरकार ने मूल्य में वृद्धि को रोकने का पूरा प्रयत्न किया तथा आवश्यक वस्तुओं के मूल्य एवं वितरण पर नियन्त्रण किया गया। फिर भी, इससे स्थिति में कोई सुधार नहीं हुआ तथा मूल्य में वृद्धि की प्रवृत्ति उत्तरोत्तर जारी रही।

युद्ध-समाप्ति के बाद भी मूल्य-तल की वृद्धि उत्तरोत्तर जारी रही जो निम्नांकित तालिका से स्पष्ट है।—

अगस्त, १९३९ = १००

वर्ष	सामान्य सूचनांक
१९४४-४५	२४४·२
१९४५-४६	२४४·९
१९४६-४७	२७५·५
१९४७-४८	३०७·७

युद्धोत्तर काल में मूल्य-तल में वृद्धि के कई कारण थे। जिनमें निम्नांकित प्रमुख थे— (१) युद्ध के बाद भी देश में मुद्रा की पूर्ति में निरन्तर वृद्धि होती रही; (२) युद्ध के उपरान्त वस्तुओं एवं सेवाओं की मांग में भी वृद्धि हो गयी; तथा (३) कृषि एवं उद्योग-धन्धों के उत्पादन में कमी के फलस्वरूप भी युद्धोत्तर काल में मूल्य-वृद्धि हुई।

स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद मूल्य-स्तर

(Price-level after Independence)

१९४७ ई० में देश-विभाजन का भी मूल्य-स्तर पर प्रभाव पड़ा। विभाजन के फलस्वरूप भारत में खाद्यान्न एवं कच्चे पदार्थों (विशेषतः कपास एवं जूट) का अभाव हो गया। इसका प्रभाव भी मूल्य-तल पर बहुत अधिक पड़ा। साथ ही, विभाजन के फलस्वरूप साम्प्रदायिक दंगे तथा बड़ी संख्या मे शरणार्थियों के भारत आने का प्रभाव भी मूल्य-तल पर पड़ा। इस प्रकार मूल्य-तल में वृद्धि की प्रवृत्ति को विभाजन के फलस्वरूप और भी बल मिला। १९४९ ई० में भारतीय रुपये के अवमूल्यन से खाद्यान्न एवं कच्चे पदार्थों को प्राप्त करने की कठिनाई और भी उग्र हो गयी। पकिस्तान ने अपने रुपये का अवमूल्यन नहीं किया जिससे पाकिस्तानी वस्तुएँ भारत में और भी महँगी पड़ने लगीं।

इसी बीच १९५० ई० में कोरियन युद्ध का प्रभाव भी भारतीय मूल्य-तल पर बहुत अधिक पड़ा। युद्ध के प्रारम्भ में सट्टेबाजी एवं व्यापारियों द्वारा अत्यधिक संग्रह की नीति के फलस्वरूप मूल्य-सूचनांक में वृद्धि होने लगी। भारत सरकार ने मूल्य-तल की वृद्धि को रोकने के लिए आवश्यक वस्तुओं के मूल्य एवं पूर्ति पर नियंत्रण की नीति को अपनाया। किन्तु इसका परिणाम भी आशाजनक नहीं हुआ। इस प्रकार मूल्य-सूचनांक जो जून, १९५० में ४०५·८ था, बढ़कर मार्च, १९५१ ई० में ४३८·६ हो गया।

किन्तु अप्रैल, १९५१ ई० से भारत में मूल्य-तल में ह्रास की प्रवृत्ति दृष्टिगोचर होने लगी। इसके कई कारण थे जिनमें अन्तर्राष्ट्रीय शक्तियाँ तथा भारत सरकार की मूल्य-नियन्त्रण सम्बन्धी नीति आदि प्रमुख थे। थोक मूल्यों का सूचनांक, जो अप्रैल १९५१ ई० में ४६२·० था, घट कर मार्च १९५२ ई० में ३७८·२ हो गया। अन्तर्राष्ट्रीय शक्तियों में मार्च, १९५१ ई० में अमेरिका की संग्रहीकरण (Stock Piling) की नीति में परिवर्तन तथा विश्व में उपभोक्ता मालों की पूर्त्ति में वृद्धि प्रमुख हैं। आन्तरिक कारणों में अधिक उदार आयात-नीति, निर्यात पर नियंत्रण, कुछ खास वस्तुओं के उपभोग पर नियन्त्रण तथा अत्यधिक साख-प्रसार को रोकने के लिए बैंक दर को ३ प्रतिशत से बढ़ाकर ३½ प्रतिशत करना आदि प्रमुख हैं। इन उपायों का प्रभाव मूल्य-तल पर बहुत अधिक पड़ा एवं इसमें ह्रास प्रारम्भ हो गया।

किन्तु, शीघ्र ही सरकारी प्रयत्नों के फलस्वरूप मूल्य में ह्रास रुक गया। इसके बहुत-से कारण थे जिनमें औद्योगिक उत्पादन में पर्याप्त वृद्धि एवं सरकार द्वारा निर्यात को प्रोत्साहन देने की नीति आदि विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। पुनः १९५४-५५ ई० में मूल्य-तल में ह्रास की प्रवृत्ति दीख पड़ने लगी। इसका मुख्य कारण खाद्यान्नों के उत्पादन में अत्यधिक वृद्धि था। १९५३-५५ ई० में खाद्यान्न पर से नियन्त्रण हटा लिया गया। इसके परिणामस्वरूप खाद्यान्न के उत्पादन में बहुत अधिक वृद्धि हुई। खाद्यान्न का मूल्य-सूचक मार्च, १९५४ ई० में ३१७·८ से घटकर मार्च १९५५ ई० में २९७·० हो गया। मूल्य-तल में यह कमी मई, १९५५ ई० तक चली जिसके बाद इनमें पुनः वृद्धि होने लगी तथा सितम्बर, १९५५ ई० तक मूल्य-तल में ७·७ प्रतिशत की वृद्धि हो गयी। यह प्रवृत्ति अभी तक बनी हुई है। द्वितीय योजनाकाल के प्रारम्भ से ही मूल्य-तल में बहुत अधिक वृद्धि होने लगी। दिसम्बर, १९५४ ई० में थोक मूल्य-सूचनांक ३६८ से बढ़कर, दिसम्बर १९५६ ई० में ४२९ हो गया। द्वितीय योजनाकाल में मूल्य-तल कई कारणों से प्रभावित हुआ है। योजना के प्रारम्भ से ही देश में खाद्यान्न का अभाव बढ़ गया जिसकी पूर्त्ति के लिए करोड़ों रुपये के अन्न का आयात करना पड़ा। १९५६ ई० में स्वेज संकट का प्रभाव भी मूल्य-तल पर पड़ा। किन्तु, इस काल में मूल्य-तल में वृद्धि का सबसे महत्त्वपूर्ण कारण द्वितीय योजना को कार्यान्वित करने के लिए बड़े पैमाने पर घाटे की वित्त-व्यवस्था (Deficit financing) का अवलम्बन था।

पंचवर्षीय योजनाओं में मूल्य-तल

(Price-Level in Five Year Plans)

पंचवर्षीय योजनाओं में अत्यधिक विनियोग से मूल्य-तल में वृद्धि की प्रवृत्ति उत्पन्न होने लगी। अतएव सरकारी नीति का एक प्रधान उद्देश्य वस्तुओं के मूल्य-तल, विशेषतः उपभोक्ता वस्तुओं के मूल्य-तल को अस्थायी बनाना है। पंचवर्षीय योजनाओं में मूल्य-तल में हुए परिवर्त्तनों का अन्दाजा निम्नांकित तालिका से स्पष्ट है :—

थोक मूल्यों का सूचनाक[1] (१९५२-५३=१००)

वर्ष	खाद्य-पदार्थ	औद्योगिक कच्चे पदार्थ	निर्मित वस्तुएँ	सामान्य सूचनांक
१९५५-५६	९५·०	१११·०	१०३·०	९९·२
१९६०-६१	११८·०	१५८·०	१२९·०	१२७·५
१९६५-६६	१७५·०	२१०·०	१५७·०	१७४·०
१९६६-६७	२१८·०	२३६·०	१६८·०	२०२·९
१९६७-६८	२२६·०	१९९·०	१६३·०	२०१·१
१९६८-६९	२२२·०	२४६·०	१७३·०	२११·५

उपरोक्त तालिका के आधार पर पहली तीन पंचवर्षीय योजनाओं के १५ वर्षों की अवधि को मूल्य में परिवर्तन की दृष्टि से चार वर्गों में विभाजित किया जा सकता है—प्रथम स्तर १९५१-५२ से १९५५-५६ तक, यानी प्रथम योजना की अवधि का है जिसमें मूल्य-तल में १७·३ प्रतिशत की कमी हुई। द्वितीय स्तर, द्वितीय योजना काल, यानी १९५६-५७ से १९६०-६१ ई० तक का है जिसमें १९५२-५३ के आधार पर मूल्य-तल के सामान्य सूचनांक २८ प्रतिशत की वृद्धि हुई। किन्तु

1. Economic Survey, Govt. of India, 1971-72.

द्वितीय योजना के प्रारम्भ से ही मूल्य-स्तर में वृद्धि की प्रवृत्ति स्पष्ट होने लगी। इसके कई कारण थे। सर्वप्रथम तो द्वितीय योजना के प्रारम्भ से ही खाद्यान्न का अभाव हो गया जिसकी पूर्ति के लिए विदेशों से बहुत अधिक मात्रा में खाद्यान्न का आयात करना पड़ा। साथ ही, द्वितीय योजना में अधिक विनियोग एवं बड़े पैमाने पर घाटे की वित्त-व्यवस्था (Deficit financing) का प्रभाव भी मूल्य-स्तर पर पड़ा। १९६०-६१ ई० में मूल्य-स्तर का सामान्य सूचनांक १२७·५ हो गया। तृतीय स्तर, तृतीय योजना के प्रथम दो वर्षों का है जो सामान्य स्थिरता का समय था तथा जिसमें मूल्य-तल में १९६०-६१ ई० की तुलना में केवल ०·१ प्रतिशत की कमी ही हुई। वास्तव में, तृतीय योजना के प्रथम वर्ष (१९६१-६२) में मूल्य-तल में ह्रास ही हुआ था। अन्तिम स्तर, १९६३-६४ से १९६७-६८ ई० का है जिसमें मूल्य तल में बहुत अधिक वृद्धि हुई। इसके बाद मूल्य-तल में वृद्धि में कुछ रुकावट हुई है किन्तु पुन. मूल्य तल में तीव्र वृद्धि जारी है।

इससे स्पष्ट है कि द्वितीय पंचवर्षीय योजना के बाद मूल्य-तल में निरन्तर बढ़ने की प्रवृत्ति रही है। द्वितीय योजना के पाँच वर्षों में थोक मूल्यों के सामान्य सूचनांक में प्राय: २८ प्रतिशत की वृद्धि हुई। योजनाकाल में खाद्य पदार्थों के मूल्य में २४ प्रतिशत, तैयार वस्तुओं के मूल्य में २५ प्रतिशत तथा औद्योगिक कच्चे पदार्थों के मूल्य में ४७ प्रतिशत के लगभग वृद्धि हुई। इसका देश के एक बहुत बड़े जनसमुदाय पर बिल्कुल प्रभाव पड़ा।

तृतीय पंचवर्षीय योजनाकाल में मूल्य-तल में अत्यधिक वृद्धि (The excessive price-rise in the Third Plan) :—किन्तु तृतीय योजना में मूल्य तल में अत्यधिक वृद्धि प्रारम्भ हुई। इसका प्रधान कारण १९६२ ई० में चीनी आक्रमण से उत्पन्न संकट की स्थिति था। चीनी आक्रमण से उत्पन्न संकट की स्थिति का सामना करने के लिए देश की आर्थिक व्यवस्था को युद्ध के दौरान की तरह कार्य करने के लिए बाध्य होना पड़ा। इससे मूल्य-तल में वृद्धि की प्रवृत्ति को और भी बल मिला। तृतीय योजना के प्रथम दो वर्षों १९६१-६२ तथा १९६२-६३ ई० में मूल्य-तल में कोई वृद्धि नहीं हुई। वास्तव मे १९६१-६२ में १९६०-६१ ई० की अपेक्षा मूल्य-तल में कमी ही हुई थी। थोक मूल्यों का सामान्य सूचनांक १९६०-६१ ई० में १२७ ५ था जो १९६२-६३ ई० में १२७·४ हो गया। किन्तु इसके बाद मूल्य में वृद्धि की प्रवृत्ति प्रारम्भ हुई। १९६४ ई० से मूल्य-तल में वृद्धि की यह प्रवृत्ति बहुत तीव्र हो गयी। १९६६-६७ ई० के पूर्व के तीन वर्षों में मूल्य-तल में औसत वार्षिक वृद्धि १२ प्रतिशत की हुई। १९६५ ई० में पाकिस्तानी आक्रमण तथा खाद्यान्नों के अभाव से इस प्रवृत्ति को और भी बल मिला। अप्रैल, १९६३ ई० से मार्च, १९६४ ई० के बीच थोक मूल्यों का सामान्य सूचनांक (१९६१-६२ को १०० रखने पर) १२७·९ से बढ़कर १५९·२ हो गया तथा खाद्यान्नों का सूचनांक १२६·१ से बढ़कर १५३·६ हो गया। इसी प्रकार उपभोक्ता मूल्यों का सूचनांक (१९६१-६२ के आधार पर) मार्च, १९६३ ई० में १३० से बढ़कर मार्च, १९६४ ई० में १४३ हो गया। यह निश्चय ही बहुत भयानक स्थिति है। द्वितीय योजना के पाँच वर्षों में थोक मूल्यों के सामान्य सूचनांक में केवल ३५ प्रतिशत की वृद्धि हुई थी जबकि तृतीय योजना के अन्तिम तीन वर्षों में ही ४६ प्रतिशत की वृद्धि हो गयी। इसी प्रकार जबकि खाद्यान्नों के थोक मूल्यों में द्वितीय योजनाकाल के पाँच वर्षों में ३४ प्रतिशत की वृद्धि हुई थी, तृतीय योजनाकाल में ५२ प्रतिशत की वृद्धि हो गयी। अप्रैल १९६४ ई० के बाद मूल्य-तल में वृद्धि की प्रवृत्ति और भी तीव्र हो गयी जो निम्नांकित तालिका[1] से स्पष्ट है—

1. Government of India—Economic Survey, 1971-72

थोक मूल्यों का सूचनांक (१९६१-६२=१००)

वर्ष	खाद्य पदार्थ	औद्योगिक कच्चे पदार्थ	निर्मित पदार्थ	सामान्य सूचनांक
१९६२-६३	१०६	९८	१०३	१०३·८
१९६३-६४	११५	१००	१०५	११०२
१९६५-६६	१४५	१३३	११८	१३१·६
१९६६-६७	१७१	१५८	१२४	१४९·९
१९६७-६८	२०८	१५६	१२७	१६७३
१९६८-६९	१९७	१५७	१३३	१६५·४
१९६९-७०	१९३	१८०	१४४	१७१·६
१९७०-७१	२०४	१९७	१५५	१८१·२
फरवरी-१९७२	२११	१८६	१७०	१९०·०

इस प्रकार स्पष्ट है कि मार्च, १९६४ ई० के बाद मूल्य-तल में वृद्धि की प्रवृत्ति बहुत ही तीव्र हो गयी। खाद्यान्नों के मूल्य में सबसे अधिक वृद्धि हुई। इसके थोक मूल्यों का सूचनांक (१९६१-६२=१०० के आधार पर) मार्च, १९६४ ई० में १२४ से बढ़कर मार्च, १९६५ ई० में १४६ हो गया। इसके बाद इनमें कमी होने लगी। किन्तु पुनः मई, १९६५ ई० में मूल्य-तल में वृद्धि की प्रवृत्ति तीव्र हो गयी तथा जनवरी, १९६६ ई० में सूचनांक १७२·८; १९६७ में २००·९ तथा मार्च, १९६८ में २०७ हो गया। खाद्यान्नों के बाद औद्योगिक कच्चे पदार्थों के मूल्य-तल में वृद्धि हुई। योजना आयोग के अनुसार "The large increases during the Third Plan period have been due to an inadequate increase in available supply of food and other essential commodities as well as a continued increase in domestic expenditure, both public and private."

मूल्य-तल में वृद्धि के दो दुष्परिणाम हैं :— सर्वप्रथम तो इससे योजना के कार्यक्रमों की लागत बढ़ जाती है और द्वितीयतः यह देश की विशाल जनसंख्या से जीवन-स्तर के प्रभावित करती है। वास्तव में "मूल्य-वृद्धि के निरन्तर भय ने भारत में जनसाधारण को आयोजित अर्थ-व्यवस्था के लाभ के सम्बन्ध में संशयालु बना दिया है।" (The ever present dread of soaring prices has made the common man suspicious about the benefits of a planned economy in India.) अतएव देश में आर्थिक नियोजन के कार्य के सफल सम्पादन के लिए मूल्य-तल में इस वृद्धि को रोकना अति अनिवार्य है। इसके लिए एक उचित एवं प्रगतिशील मूल्य-नीति की आवश्यकता है। इस प्रकार की नीति के अभाव में ही तृतीय योजना असफल हो गयी। चतुर्थ योजना को सफलता भी इसी पर आधारित है।

मूल्य-तल में वृद्धि के कारण रुपये का वास्तविक मूल्य भी घट रहा है और The Economic Times के रिसर्च डिविजन के अनुसार यह १९६१-६२ से १९६८-१९६९ के बीच आठ वर्षों में घटकर केवल ५८ पैसा ही रह गया है, निम्नांकित तालिका से यह बिल्कुल स्पष्ट है—

रुपये की क्रय-शक्ति (Purchasing Power of Rupee)

वर्ष	थोक मूल्यों का सूचनांक १९६१-६२ = १००	उपभोक्ता मूल्यों का सूचनांक १९६१-६२ = १००	थोक मूल्यों के रूप में क्रय-शक्ति १९६१-६२ = रु० १·००	उपभोक्ता मूल्यों के रूप में क्रय-शक्ति १९६१-६२ = रु० १·००
१९६१-६२	१००·०	१००·०	१·००	१·००
१९६२-६३	१०३·८	१०३·१	०·९६	०·९७
१९६३-६४	११०·२	१०७·८	०·९१	०·९३
१९६४-६५	१२२·३	१२३·६	०·८२	०·८१
१९६५-६६	१३१·६	१३३·०	०·७६	०·७५
१९६६-६७	१४९·९	१५०·३	०·६७	०·६७
१९६७-६८	१६७·३	१६७·६	०·६०	०·६०
१९६८-६९	१६५·४	१६६·८	०·६०	०·६०
१९६९-७०	१७१·५	१६९·२	०·५८	०·५९

१९५०-५१ ई० के बाद मूल्य-तल में वृद्धि के कारण

(Causes of Rise in the Prices since 1950-51)

पिछले कुछ वर्षों में भारत में मूल्यों की स्फीतिजनक वृद्धि (Inflationary rise of Prices) को प्रभावित करने वाले कारण निम्नलिखित हैं :—

१. **जनसंख्या का बढ़ता हुआ दबाव** (Growing Pressure of Population) :—हमारे देश में १९२१ से और विशेष रूप से १९५१ से जनसंख्या में निरंतर रूप से वृद्धि हो रही है। १९५१-६० वाले दशक में जनसंख्या-वृद्धि की दर २१·५ प्रतिशत अथवा २·२ प्रतिशत वार्षिक थी। जबकि १९६१-७० वाले दशक में इसमें २४·६ प्रतिशत अथवा वार्षिक २·५ प्रतिशत की वृद्धि हुई। मूल्य में वृद्धि, विशेषतया खाद्य वस्तुओं की मूल्य-वृद्धि का एक कारण बढ़ती हुई जनसंख्या के कारण खाद्यान्न की मांग में वृद्धि है और खाद्यान्न की मूल्य-वृद्धि के परिणाम-स्वरूप सामान्य मूल्य-स्तर बढ़ जाता है। किन्तु यह याद रखना चाहिए कि आर्थिक आयोजन के आरंभ से अब तक उत्पादन में, विशेषतया खाद्यान्न के उत्पादन में, जनसंख्या वृद्धि की अपेक्षा अधिक वृद्धि हुई है। उदाहरणतया, १९५१ से १९६१ तक जनसंख्या २१·५ प्रतिशत बढ़ी, जबकि राष्ट्रीय आय में ४·४ प्रतिशत, कृषि-उत्पादन में ४६ प्रतिशत, खाद्यान्न उत्पादन में ५० प्रतिशत और औद्योगिक उत्पादन में ७७ प्रतिशत की वृद्धि हुई।

अतः यह स्पष्ट है कि वर्तमान समय की मूल्य-वृद्धि के लिए जनसंख्या में वृद्धि को उत्तरदायी नहीं ठहराया जा सकता। फिर भी यह सत्य है कि प्रत्येक वर्ष देश की जनसंख्या में १२० से १५० लाख तक की वृद्धि हो रही है, जबकि कृषि-उत्पादन में अपेक्षाकृत कम वृद्धि हो रही है।

२. **मध्य एवं पूंजीगत वस्तुओं के क्षेत्र में विनियोग की ऊँची दर** (High rate of investment in intermediate and capital goods sector)—भारत जैसे कृषि-प्रधान देश में, आर्थिक विकास का विशाल कार्यक्रम आरम्भ करने पर भारी विनियोग करना पड़ता है। उदाहरण के लिए, १९५१ से १९६१ के दशक में कुल १०,१०० करोड़ रुपये का विनियोग किया

गया, जिसमें से सरकारी क्षेत्र में ५,२०० करोड़ रुपये एवं निजी क्षेत्र में ४,९०० करोड़ रुपये का विनियोग हुआ। तीसरी योजना तथा तीन एक-वर्षीय योजनाओं (१९६६-६९) में सरकारी क्षेत्र में १५,२३० करोड़ रुपये का विनियोग हुआ। इतने भारी विनियोग के परिणामस्वरूप पूँजीगत वस्तुओं के मूल्यों में वृद्धि होना स्वाभाविक है तथा इनकी मूल्य-वृद्धि के कारण इन पर निर्भर वस्तुओं के मूल्य भी बढ़ जाते हैं। वास्तव में, मूल्य-वृद्धि संक्रामक (Contagious) होती है जो सभी क्षेत्रों में फैल जाती है। मजदूर संघ अधिक मजदूरी प्राप्त करने के लिए संघर्ष करते हैं तथा मजदूरी में वृद्धि के परिणामस्वरूप, कृषि एवं गैर-कृषि सम्बन्धी दोनों प्रकार की उपभोग-वस्तुओं की सामान्य मांग बढ़ जाती है। उपभोक्त वस्तुओं की मांग में वृद्धि का परिणाम उत्पादन के साधनों—पूँजीगत वस्तुओं, कच्चे पदार्थों इत्यादि—की मांग में वृद्धि के रूप में प्रकट होता है। अतः मूल्यों में निरन्तर वृद्धि होती रहेगी, जिससे मुद्रा-स्फीति (Inflation) की स्थिति प्रकट होगी।

इसके अतिरिक्त विनियोग में वृद्धि से साधारणतया मौद्रिक आय में उत्पादन की अपेक्षा अधिक वृद्धि होती है। विभिन्न प्रकार की परियोजनाओं और विनियोग की गर्भावधि (Gestaition period) जितनी लम्बी होगी, मौद्रिक-आय एवं उत्पादन के बीच उतना ही अधिक समयान्तर होगा। यह तथ्य ध्यान देने योग्य है कि दूसरी योजना के काल में विशाल औद्योगिक आधार के निर्माण का प्रयास किया गया था। अतः सरकार को ऐसी परियोजनाएँ आरम्भ करनी पड़ी जिनके परिचालन के लिए दीर्घकाल अपेक्षित होता है। इन परियोजनाएँ के निर्माण के कारण भारी विनियोग करना पड़ा जिससे उसी अनुपात में परियोजनाओं के निर्माण में लगे लोगों के लिए मौद्रिक-आय का सृजन हुआ, किन्तु उत्पादन में तदनुरूप वृद्धि सम्भव न हो सकी। वस्तुतः हम 'क्षमता उपयोग' (Capacity utilisation) के काम में नहीं 'क्षमता निर्माण' (Capacity creation) के काम में व्यस्त हैं। परिणामतः विनियोग की मात्रा में वृद्धि के कारण सामान्यतः मूल्यों में वृद्धि होना बिल्कुल अनिवार्य है।

३. बढ़ता हुआ सरकारी व्यय (Mounting Public Expendituae) :— पिछले दो दशकों से सरकारी व्यय में भी भारी एवं निरन्तर वृद्धि हुई है। सरकारी व्यय से सामान्य जनता की आय उत्पन्न होती है, अतः इसकी वृद्धि का अर्थ आय में वृद्धि तथा वस्तुओं और सेवाओं की मांग में वृद्धि होता है। इस प्रकार भार है मूल्य-वृद्धि का एक महत्त्वपूर्ण कारण बढ़ता हुआ सरकारी व्यय है। १९५०-५१ में केन्द्र तथा राज्य सरकारों का कुल व्यय (राजस्व तथा पूँजी-व्यय मिलाकर ९०० करोड़ रुपये था जो १९७१-७१ (बजट) में बढ़कर ८००० करोड़ रुपये हो गया। अतः कीमतों में वृद्धि का एक महत्त्वपूर्ण कारण बढ़ता हुआ राजकीय व्यय है। वास्तव में, राजकीय व्यय से वृद्धि में लोगों के हाथ में अधिक मौद्रिक-आय प्राप्त होती है जिससे मूल्य में वृद्धि को प्रोत्साहन मिलता है।

४. घाटे-वित्त व्यवस्था (Deficit Financing) :—सरकार द्वारा आर्थिक विकास की योजनाओं के वित्त-प्रबन्ध के लिए अपनाई जाने वाली विधि का भी मूल्य-स्तर पर महत्त्वपूर्ण प्रभाव पड़ता है। पंचवर्षीय योजनाओं के आरम्भ से सरकार ने घाटे की वित्त-व्यवस्था का बड़े पैमाने पर अपनाया है। उदाहरण के लिए, प्रथम योजना में ४२० करोड़ रुपये की घाटे-वित्त-व्यवस्था तथा दूसरी योजना में, ९४८ करोड़ रुपये की घाटे की वित्त व्यवस्था की गयी थी। तीसरी योजना में ५५० करोड़ रुपये की घाटे-वित्त-व्यवस्था का आयोजन किन्तु योजना में घाटे की वित्त-व्यवस्था की वास्तविक रकम ११५० करोड़ रुपये हो गई। इसी प्रकार एकवर्षीय योजनाओं

(१९६६-६९) में ६८८ करोड़ रुपये घाटे की वित्त-व्यवस्था से प्राप्त किया गया तथा चतुर्थ योजना की अर्द्ध-सामयिक समीक्षा के अनुसार इससे १२०३ करोड़ रुपये प्राप्त करने की व्यवस्था है घाटे की वित्त-व्यवस्था के कारण मूल्य वृद्धि की प्रवृत्ति को और भी बल मिला है।

५. मुद्रा की पूर्ति में अत्यधिक वृद्धि (Increase in the Money Supply) :—जनता के पास मुद्रा की पूर्ति में तीव्र वृद्धि मूल्यों के बढ़ने का एक कारण है। जनता के पास मुद्रा की पूर्ति में चलार्थ [Currency (नोट और सिक्के) तथा बैंक-मुद्रा [या जमा मुद्रा (Deposit Money)] दोनों का समावेश है। निम्नांकित तालिका से मुद्रा की पूर्ति में वृद्धि का विवरण मिलता है :—

भारत में मुद्रा की पूर्ति (करोड़ रुपयों में)

	१९५०-५१	१९६०-६१	१९६५-६६	१९७०-७१
चलार्थ	१४१०	२१००	३०३५	४३८०
जमा-मुद्रा	६१०	७८०	१४९५	२,८८५
कुल योग	२०२०	२८८०	४५३०	७,२६५

पहली योजना में जनता के पास मुद्रा की पूर्ति में २१० करोड़ रुपये की, दूसरी योजना में ६५० करोड़ रुपये की तथा तीसरी योजना में मुद्रा की पूर्ति १६०० करोड़ रुपये की वृद्धि हुई। किन्तु चतुर्थ योजना के प्रथम दो वर्षों में इसमें २१० करोड़ की वृद्धि हुई। १९५० वाले दशक में मुद्रा की पूर्ति में ४२ प्रतिशत की वृद्धि हुई किन्तु ६० वाले दशक में इसमें १५० प्रतिशत की वृद्धि हुई। मुद्रा की पूर्ति में वृद्धि कुछ तो घाटे की वित्त-व्यवस्था (Deficit financing) के कारण और कुछ मौद्रिक सौदों (Monetary transactions) में वृद्धि के कारण होती है। मुद्रा की पूर्ति मेंवृद्धि मांग में वृद्धि का रूप धारण कर मूल्य-स्तर पर प्रभाव डालती है।

६. वस्तुओं की पूर्ति में तदनुरूप वृद्धि का अभाव (Lack of a Corresponding increase in the supply Commodities) :—उपरोक्त कारणों से मूल्य-तल में वृद्धि होती है, किन्तु यदि इसके साथ-ही-साथ वस्तुओं की पूर्ति में वृद्धि हो तो इनका मूल्य-तल पर प्रायः कोई प्रभाव नहीं पड़ता। उदाहरण के लिए प्रथम योजनाकरण में मूल्य-तल पर कोई प्रभाव नहीं पड़ सका। इसके बाद १९५८ तथा १९६२ में मूल्य-तल में वृद्धि का प्रधान कारण कृषि के उत्पादन में तदनुरूप वृद्धि का अभाव था। १९६४-६५ में खाद्यान्नों का उत्पादन अधिक अवश्य हुआ किन्तु १९६६-६७ में खाद्यान्नों का उत्पादन बहुत ही कम रहा जिसके परिणामस्वरूप मूल्य-तल में अतिशय वृद्धि हुई। अतएव १९५०-५१ से मूल्य-तल में वृद्धि का एक प्रमुख कारण कृषि के उत्पादन में अपेक्षा कृत कम वृद्धि है किन्तु इस सम्बन्ध में ध्यान देने योग्य बात यह है कि १९६८-६९ के बाद खाद्यान्नों के उत्पादन में अत्यधिक वृद्धि के बावजूद मूल्य-तल में वृद्धि का क्रम अभी भी जारी ही है।

किन्तु कृषि-पदार्थों के मूल्य में लिए बड़े-बड़े किसानों द्वारा संचय (hoarding) तथा व्यापारियों, सट्टेबाजों एवं चोरबाजारियों द्वारा परिकल्पना है। अत्यधिक मूल्य की परिकल्पना में ये अपने पास अनाज का बहुत बड़ा भंडार रखते हैं। वर्तमान समय में मूल्य में वृद्धि के लिए काला धन (black money) भी उत्तरदायी है। वर्तमान समय में समाज में बहुत अधिक काले धन (Black and unaccounted money) का संचय है। इस धन का एक बहुत बडा भाग खाद्यान्नों के व्यापार में ही प्रयुक्त किया जाता है। समाज में काले धन की कुल मात्रा का पता

लगाना तथा इसके प्रभाव में सम्बन्ध में अन्दाजा लगाना बड़ा ही कठिन कार्य है। किन्तु इसमें इसमें कोई संदेह नहीं कि पिछले कुछ समय से मूल्य में अतिशय वृद्धि यह एक प्रधान कारण है।

इस प्रकार पिछले कुछ वर्षों में मूल्य-तल में अत्यधिक वृद्धि हुई है जिसके कारण आर्थिक नियोजन की वर्तमान प्रणाली के प्रति लोगों में अविश्वास की भावना उत्पन्न हो गयी है। बहुत-से लोग यह सोचने लगे हैं कि वर्तमान नियोजन की प्रणाली में आमूल परिवर्तन की आवश्यकता है। वास्तव में, आवश्यकता इस बात की है कि खाद्यान्न, चीनी तथा वस्त्र जैसी आवश्यक उपभोक्ता वस्तुओं को राजकीय व्यापार के अन्तर्गत लाया जाय तथा इसके वितरण पर कठोर नियन्त्रण लगाया जाय। किन्तु इस समस्या का दीर्घकालीन उपचार इन आवश्यक वस्तुओं के उत्पादन में वृद्धि ही है।

किन्तु १९६८ ई० में मूल्य की स्थिति में पर्याप्त सुधार हुआ तथा १९६८ के अन्त में थोक मूल्यों का सामान्य सूचनांक (१९६१-६२ = १००) के आधार पर २०९.५ था जो पिछले वर्ष की अपेक्षा १ प्रतिशत कम था। इसके विपरीत १९६६ तथा १९६७ ई० में थोक मूल्यों में औसत वृद्धि क्रमशः १३.८ तथा १५.५ प्रतिशत थी। अतएव १९६८ में मूल्य-तल में स्थिरता की प्रवृत्ति पाई जाने लगी। स्थिरता का तात्पर्य यह है कि मांग तथा पूर्ति में अधिक उत्तम संतुलन है। किन्तु, पुनः १९६९ में थोक-मूल्यों के सूचनांक में २.१ प्रतिशत की वृद्धि हुई। जनवरी, १९७० ई० से मूल्य-तल में वृद्धि की प्रवृत्ति और तीव्रतर हो रही है।

भारत सरकार की मूल्य-नीति
(Price Policy of the Govt. of India)

मूल्य के अतिशय वृद्धि को नियन्त्रित करने के लिए भारत सरकार के द्वारा समय-समय पर विभिन्न उपाय अपनाये गये हैं। इनमें निम्नांकित प्रधान है :—

१. बजट नीति (Budgetary Policy)—मूल्य-वृद्धि का एक कारण सरकारी व्यय में वृद्धि तथा घाटे की वित्त-व्यवस्था की प्रधानता है। अतएव इस उद्देश्य से सरकार ने अपनी बजट नीति इस रूप में परिवर्तित किया है कि स्फीतिकारी प्रवृत्तियों के कारण होने वाली वृद्धि को रोका जाए। इस उद्देश्य से बजट-नीति में घाटे की वित्त-व्यवस्था को सीमित करने तथा किन्तु जनता के उपभोग में कमी करने पर जोर दिया गया है। राज्य तथा केन्द्र दोनों ही सरकारें इस सम्बन्ध में बिलकुल असफल रही हैं। राज्य सरकारें तो घाटे की वित्त-व्यवस्था को और अधिक प्रधानता दे रही है। चौथी योजना के दौरान सरकार घाटे की वित्त-व्यवस्था को सीमित करने का प्रयास कर रही है, किन्तु अभी इसके प्रयोग को पूर्णतया टालने में सफल नहीं हो पायी है। प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष कर लगाकर तथा बचतों में वृद्धि करके उपभोग सीमित किया जा रहा है।

२. मौद्रिक उपाय (Monetary Measures)—सरकार ने उपरोक्त कार्यवाही के साथ-ही-साथ रिजर्व बैंक ने सभी अनुसूचित बैंकों को यह निर्देश दिया है कि वे खाद्यान्न के लिए अग्रिम ऋण न दें। जमाखोर और सट्टेबाज खाद्यान्न खरीदने और उसके बड़े-बड़े भण्डार जमा करने के लिए अनुसूचित बैंकों (Scheduled Banks) से बड़ी-बड़ी रकमें उधार लेते हैं। सट्टेबाजी की इस प्रवृत्ति को रोकने के उद्देश्य से ही रिजर्व बैंक ने अनुसूचित बैंकों द्वारा खाद्यान्नों के लिए दिए जाने वाले ऋण पर कुछ विशिष्ट प्रतिबन्ध लगाए हैं। किन्तु समाज में इतना अधिक काला धन है कि इससे स्थिति में कुछ सुधार नहीं हो पा रहा है।

३. वस्तुओं सम्बन्धी उपाय (Commodity Front)—इस मोर्चे पर सरकार ने चावल, गेहूँ, चीनी, गुड़ आदि जन-उपभोग (Mass Consumption) की वस्तुओं के मूल्य नियन्त्रित करने पर अपना ध्यान केन्द्रित किया। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए सरकार द्वारा निम्नांकित उपाय अपनाये गये हैं :—आंतरिक पूर्ति में वृद्धि, सरकारी भण्डारों से बड़े परिमाण में वस्तुएँ

निकालना, वितरण-तन्त्र में सुधार और निजी व्यापार पर कड़ा नियन्त्रण इत्यादि। इस प्रकार सारा बल आवश्यक वस्तुओं के मूल्यों में अनुचित वृद्धि रोकने पर दिया गया है। फिर भी इनमें निम्नांकित उल्लेखनीय हैं किन्तु इन प्रयत्नों के उत्साहवर्द्धक प्रमाण नहीं हुए हैं।

(क) अधिकतम मूल्य निश्चित करना (Fixation of Maximum Price) :—जमाखोरी और सट्टेबाजी (Hoarding and speculation) की प्रवृत्ति को हतोत्साहित करने के लिए सरकार द्वारा खाद्यान्नों के थोक एवं खुदरा मूल्य नियत किये गये हैं: इसके अतिरिक्त सरकार ने वसूली के न्यूनतम मूल्य भी नियत कर दिए हैं। साथ ही, प्रमुख खाद्यान्नों को एक राज्य से दूसरे राज्य में आने-जाने पर रोक भी लगा दी गयी है।

(ख) पूर्ति में वृद्धि (Increase in Supplies)—आंतरिक साधनों से खाद्यानों की पूर्ति में जो कमी होती है उसे पूरा करने के लिए हाल के वर्षों तक सरकार ने बड़े पैमाने पर खाद्यान्नों का विदेशों से आयात किया है। साथ ही, आयात किये गये खाद्यान्नों को रियायती दरों पर सरकारी दुकानों के द्वारा विक्रय की व्यवस्था की जाती है। इसके अतिरिक्त, अन्तर्देशीय वसूली (Internal Procurement) को भी बढ़ाने का प्रयत्न किया जाता है। इस सम्बन्ध में ८० लाख टन का लक्ष्य निर्धारित किया गया है। सरकार द्वारा वसूली के लक्ष्य की प्राप्ति से जमाखोरों तथा सट्टेबाजों की असामाजिक क्रियाओं के प्रभाव को कम करने में पर्याप्त सहायता मिलने की आशा है जिससे कीमतों की वृद्धि को रोका जा सकता है।

(ग) वितरण की व्यवस्था (Machinery of Distribution)—इसके साथ ही, सरकार खाद्यान्न तथा अन्य आवश्यक वस्तुओं के विक्रय की भी व्यवस्था करती है। खाद्यान्नों का सरकारी भण्डार उचित मूल्य की दुकानों पर बेचा जाता है। सरकार द्वारा बेचे जाने से दो उद्देश्य सिद्ध होते हैं : एक तो मूल्यों में कमी आती है, और दूसरा निम्न आय वर्गों को अपेक्षाकृत कम मूल्य पर आवश्यक वस्तुएँ प्राप्त होती हैं। उचित मूल्य की दुकानों की मात्रा बढ़ाई गई है। हाल ही में भारत सरकार ने खाद्यान्न के व्यापार और वितरण को अधिक प्रत्यक्ष रूप से अपने हाथ में लेने के लिए खाद्य निगम की स्थापना की है।

(घ) उत्पादन-वृद्धि के उपाय— मूल्य एवं वितरण पर नियन्त्रण के साथ-साथ कृषिजन्य वस्तुओं (Agricultural commodities) का उत्पादन बढ़ाने के लिए भी सरकार द्वारा दीर्घकालीन उपाय अपनाए गए हैं। किसानों को इस उद्देश्य से विभिन्न प्रकार की सुविधाएँ प्रदान की जाती हैं। साथ ही, महत्वपूर्ण फसलों के कृषकों को न्यूनतम मूल्य (Minimum-Prices) का आश्वासन देकर उत्पादन बढ़ने के लिए प्रोत्साहित किया जाता है। इसके अतिरिक्त सरकार ने कृषि में नयी उत्पादन विधि अपनाई है जिसमें कृत्रिम खादों तथा अधिक उपज वाले बीजों को बढ़ाया जा रहा है। वास्तव में, इन उपायों ने हरी क्रान्ति के सूत्रपात में बहुत अधिक सहायता पहुँचाया है।

उपरोक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि मूल्य-वृद्धि की समस्या के प्रति सरकार निष्क्रिय नहीं है। इसने विभिन्न दिशाओं से समस्या के समाधान का प्रयास किया है। सितम्बर-अक्टूबर १९६५ में सरकार के मूल्य-नियन्त्रण में सफल न हो सकने का मुख्य कारण इसका जमाखोरों तथा सट्टेबाजों की असामाजिक क्रियाओं को न रोक सकना था। अब सरकार को यह चेतना प्राप्त हो चुकी है कि विकास की वर्तमान अवस्था में जबकि असामाजिक तत्त्व बड़े परिमाण में छिपे धन को लेकर बाजार में आसानी से पहुँच सकते हैं, आंशिक नियन्त्रण (Partial controls) और सीमित राजकीय व्यापार इस समस्या के समाधान के लिए पर्याप्त उपाय नहीं हो सकते।

(४) महत्वपूर्ण औद्योगिक वस्तुओं की पूर्ति (Supply of important Industrial commodities):—महत्त्वपूर्ण औद्योगिक पदार्थों की पूर्ति पर भी सरकार द्वारा विशेष जोर दिया जा रहा है। लोहा एवं इस्पात, सीमेंट, चीनी, वस्त्र, कागज तथा रासायनिक खाद आदि वस्तुओं की पूर्ति को बढ़ाने का प्रयास किया जा रहा है। इससे महत्त्वपूर्ण औद्योगिक पदार्थों की कीमतों के नियन्त्रण में बहुत अधिक सुविधा प्राप्त हुई है।

इस प्रकार वर्त्तमान समय में योजना आयोग के समक्ष सर्वाधिक प्रमुख समस्या मूल्य-तल को नियन्त्रित (Holding the Price-Line) करने की समस्या है। यह सत्य है कि भारत जैसे विकासोन्मुख आर्थिक व्यवस्था वाले देश में मूल्य-तल का स्थायित्व विकास की क्रिया में बाधा उत्पन्न करता है। किन्तु इससे मूल्य-नियन्त्रण की आवश्यकता का महत्त्व कम नहीं होता। वास्तव में पंचवर्षीय योजनाओं के अन्तर्गत अत्यधिक विनियोग के परिणामस्वरूप आय में जो वृद्धि होती है उसे रोकने के लिए उत्पादन में तदनुरूप वृद्धि आवश्यक है और उत्पादन में वृद्धि के लिए मूल्य-तल में वृद्धि के रूप में प्रोत्साहन देने की आवश्यकता है। इस तथ्य को योजना आयोग ने भी स्वीकार किया था, अतएव तृतीय योजना में धीरे-धीरे बढ़ते हुए मूल्य-तल (जैसे प्रति वर्ष २ अथवा ३ प्रतिशत की दर से) को विकास के लिए आवश्यक समझा गया था। किन्तु मूल्य-तल में वर्त्तमान वृद्धि ने तो आयोग की सभी आशाओं पर पानी फेर दिया है।

चतुर्थ पंचवर्षीय योजना में मूल्य-नीति (Price Policy during the Fourth Five Year Plan) :—चतुर्थ योजना में मूल्य-तल में स्थायित्व के उद्देश्य को प्रधानता दी गयी है। मूल्य-तल में स्थायित्व का तात्पर्य मूल्य को एक निश्चित स्तर पर स्थायी बनाना ही नहीं होना चाहिए। इसमें आवश्यकतानुसार परिवर्तन भी किया जा सकता है। वास्तव में, विकासोन्मुख अर्थ-व्यवस्था में मूल्य-तल में एक सीमा तक वृद्धि को रोका भी नहीं जा सकता। किन्तु यह एक सीमा के अन्दर ही होना चाहिए। योजना के अनुसार मूल्य-नीति के अन्तर्गत दो बातों पर जोर देना अनिवार्य है—सर्वप्रथम तो खाद्य-पदार्थ वस्त्र तथा खानेवाले तेल जैसी आधारभूत वस्तुओं के मूल्य में थोक तथा खुदरा व्यापार में राजकीय भागदारी के द्वारा स्थायित्व लाने की कोशिश की जानी चाहिए। द्वितीयतः, अर्थ-व्यवस्था में व्यय और मूल्य-वृद्धि, अथवा मूल्य एवं मजदूरी आदि के बीच के स्वचालित सम्बन्ध को कम करने का भी प्रयास करना चाहिए। आवश्यक उपभोक्ता पदार्थों की तरह औद्योगिक कच्चे पदार्थ जिनका मूल्य-तल पर प्रभाव पड़ता है के मूल्य में वृद्धि को रोकना भी अनिवार्य है।

निष्कर्ष :—इस प्रकार मूल्य-तल में वर्तमान अत्यधिक वृद्धि देश के आर्थिक विकास में बाधा उत्पन्न कर रही है। मूल्य में अत्यधिक परिवर्त्तन आर्थिक दृष्टि से उचित नहीं है। मूल्य में वृद्धि का प्रभाव व्यापारियों एवं किसानों पर अच्छा अवश्य होता है, किन्तु मजदूर एवं स्थायी आयवाले वर्गों पर इसका प्रभाव बहुत बुरा पड़ता है। मूल्य में ह्रास के फलस्वरूप आर्थिक क्रियाशीलता में कमी आ जाती है। मन्दी तथा तेजी दोनों ही समाज के लिए हानिकारक होती हैं। अतः देश की आर्थिक व्यवस्था के विकास के लिए मूल्य में स्थायित्व आवश्यक है। आर्थिक एवं सामाजिक दोनों दृष्टिकोण से मूल्य सम्बन्धी नीति का यही उद्देश्य होना चाहिए। इस प्रकार **"मूल्य में आकस्मिक तथा अत्यधिक परिवर्त्तन आर्थिक व्यवस्था के लिए हानिकारक होते है, अतः मूल्य-सम्बन्धी नीति का उद्देश्य विनियोग एवं प्रभावपूर्ण माँग के स्तर को बनाये रखते हुए मूल्य में एक सीमा तक स्थायित्व प्रदान करना होना चाहिए।"** (Sudden and heavy fluctuations in prices damage the economy, therefore, the main aim of a price policy should be to stabilise price by simultaneously maintaining the levels of investment and effective demand) इससे समाज के सभी वर्ग के लोग लाभान्वित होंगे। किन्तु इसके लिए सरकार को सदा प्रयत्नशील रहना होगा।

औद्योगिक सुस्ती
(Industrial Recession)

१९६७ ई० के प्रारम्भ से ही देश में औद्योगिक क्षेत्र में एक प्रकार की सुस्ती का अनुभव किया जाने लगा है। औद्योगिक सुस्ती का तात्पर्य समस्त औद्योगिक उत्पादन अथवा आर्थिक क्रियाशीलता में ह्रास नहीं है। वास्तव में, इस अवधि में भी कुल औद्योगिक उत्पादन में वृद्धि की प्रवृत्ति जारी रही, किन्तु कुछ उद्योगों के उत्पादन में वृद्धि की गति के मन्द पड़ने तथा कुछ में निरपेक्ष रूप से कम हो जाने के कारण कुल औद्योगिक उत्पादन में वृद्धि की दर कम हो गयी थी। १९६० वाले दशक के प्रथम तीन वर्षों में कुल औद्योगिक उत्पादन में औसत रूप से ८

प्रतिशत की वार्षिक वृद्धि हुई। इसके बाद विकास की दर में कमी हुई। १९६५ ई० में औद्योगिक विकास की दर ५.६ प्रतिशत, १९६६ ई० में २.६ प्रतिशत तथा जनवरी-सितम्बर, १९६७ ई० के बीच केवल १.४ प्रतिशत थी। इससे औद्योगिक उत्पादन में कुछ कमी का अनुभव किया जाने लगा। इस अवधि में वस्त्र-उद्योग तथा इंजीनियरिंग उद्योगों के उत्पादन में बहुत अधिक कमी हुई। १९६६ ई० में उपभोक्ता वस्तुओं के उत्पादन में १ प्रतिशत की वृद्धि हुई किन्तु जनवरी-सितम्बर १९६७ ई० में ६.७ प्रतिशत की कमी हो गयी। इसी प्रकार इस अवधि में पूँजीगत उद्योगों में कुछ कमी हुई, किन्तु जनवरी-सितम्बर १९६७ ई० में माध्यमिक वस्तुओं (Intermediate goods) के उत्पादन में १२ प्रतिशत की वृद्धि हुई।

इस सुस्ती (Recession) के लिए मांग में कमी मुख्य रूप से उत्तरदायी है। किन्तु इसके अतिरिक्त इसका एक कारण देश में कुछ औद्योगिक कच्चे पदार्थों का अभाव भी है। उदाहरण के लिए, १९६५-६६ तथा १९६६-६७ ई० में खराब मौसम के कारण कपास एवं जूट जैसे औद्योगिक कच्चे पदार्थों के उत्पादन में कमी से इन उद्योगों के उत्पादन में भी कमी हुई। इसी प्रकार अधिकांश इंजीनियरिंग उद्योग तथा रासायनिक उद्योग विदेशी सामानों पर आश्रित हैं। किन्तु इस अवधि में वित्तीय कठिनाइयों के कारण विदेशों से इन सामानों को प्राप्त करने में कठिनाई हुई जिससे इन उद्योगों में उत्पादन कम हुआ।

किन्तु कुछ उद्योगों के उत्पादन में आशातीत वृद्धि भी हुई। उदाहरण के लिए ट्रैक्टर के उत्पादन में १९६५ ई० में १३.३ प्रतिशत, १९६६ ई० में २१ प्रतिशत तथा १९६७ ई० के प्रथम ९ माह में ३८ प्रतिशत की वृद्धि हुई। किन्तु ऐसा कृषि से सम्बन्धित उद्योगों पर अधिक जोर देने के कारण ही हुआ।

सुस्ती को दूर करने के लिए सरकारी उपाय (Government measures to counter the Recession) :—सुस्ती के लिए उत्तरदायी सभी कारणों को दृष्टिगत करते हुए सरकार ने इसे दूर करने के लिए एक नीति का अनुकरण किया जिसकी निम्नांकित प्रमुख विशेषताएँ थीं :—

(क) वित्तीय एवं मौद्रिक नीतियों द्वारा कुल प्रभावपूर्ण मांग पर लगातार नियन्त्रण।

(ख) राजकीय क्षेत्र द्वारा निजी फर्मों से सामान खरीदने के लिए अग्रिम ऑर्डर देना। इस कार्यक्रम के अन्तर्गत रेलवे ने निजी क्षेत्र से १९६८-६९ ई० के लिए १६,००० वैगन क्रय करने का आर्डर दिया। इसी प्रकार Air India International ने १४ लाख रुपये तथा हिन्दुस्तान टेलीप्रिंटर ने ११६ लाख के सामानों का आर्डर निजी क्षेत्र को दिया।

(ग) उच्च प्राथमिकता के इंजीनीयरिंग उद्योगों की घरेलू मांग को बढ़ाने के लिए साख का गुणात्मक नियन्त्रण।

(घ) बाजार की स्थिति को ध्यान में रखते हुए कुछ उद्योगों की वस्तुओं के उत्पादन एवं वितरण पर से नियन्त्रण को समाप्त करना।

(ङ) कुछ वस्तुओं की घरेलू मांग में कमी को दूर करने के लिए निर्यात प्रोत्साहन पर जोर दिया गया। इस उद्देश्य से औद्योगिक विकास बैंक ने पूँजीगत सामानों के विक्रय पर विलम्बित भुगतान की प्रथा को और उदार बनाया, कई मदों में सहायता की शर्तों को और उदार बनाया इत्यादि। खास-खास उद्योगों को विदेशों में अपने बाजार बढ़ाने के लिए भी प्रोत्साहित किया गया।

सरकार के इन विभिन्न प्रयत्नों तथा १९६७-६८, १९६८-६९ तथा १९६९-७० ई० में कृषि-पदार्थों के उत्पादन में वृद्धि के परिणामस्वरूप स्थिति में पर्याप्त मात्रा में सुधार हो गया तथा औद्योगिक उत्पादन में पुनः वृद्धि प्रारम्भ हो गयी।

विशेष अध्ययन-सूची

1. NCAER : Price Policy and Economic Growth.
2. Reserve Bank of India : Report on Currency and Finance.
3. Planning Commission : Third and Fourth Five Year Plans.
4. Economic Survey—1971-72.

अध्याय : ४०

भारतीय चलन एवं विनिमय

(Indian Currency & Exchange)

प्रारम्भिक इतिहास :—भारत में अति प्राचीन काल से ही मुद्रा का प्रयोग होता आया है। प्राचीन ग्रन्थों से इस बात का पता चलता है कि भारत में धातु के बने हुए सिक्कों का उपयोग बहुत प्राचीन काल से ही होता आ रहा है। हिन्दू काल में यहाँ सोने तथा चाँदी के सिक्कों का प्रचलन था। मुगल शासकों ने भी प्राचीन पद्धति को ही अपनाया। अकबर के शासन-काल में सोने की मुहरें एवं चाँदी के रुपये दोनों का ही प्रचलन था जिनका वजन १७५ ग्रेन ट्राय था। दक्षिणी भारत में मुगल-शासन स्थापित न होने के कारण वहाँ एक पृथक् सिक्का 'पेगोडा' प्रचलित था। मुगल साम्राज्य के पतन के बाद देश कई छोटी छोटी इकाइयों में विभाजित हो गया जिनमें से अधिकांश ने अपनी अलग-अलग मुद्राएँ जारी कीं। आंतरिक एवं विदेशी व्यापार में उस समय चाँदी का रुपया मूल्य-मापन का कार्य करता था किन्तु चाँदी के रुपये का वजन एवं शुद्धता विभिन्न राज्यों के सिक्कों में भिन्न-भिन्न होती थी।

ईस्ट इण्डिया कम्पनी के भारत आगमन के समय देश में विभिन्न परिष्कार एवं परिमाण के कुल ९९४ से भी अधिक सोने एवं चाँदी के सिक्के चल रहे थे। इससे कम्पनी को अपनी आय जमा करने तथा व्यापार के संचालन में बहुत अधिक कठिनाई होती थी। मुद्रा-सम्बन्धी इस अव्यवस्था को दूर करने के लिए कम्पनी ने अपनी मुहर के साथ सोने एवं चाँदी के सिक्के साथ-साथ जारी किये। इन सिक्कों के वैधानिक अनुपात, वजन एवं विशुद्धता आदि निश्चित होते थे। इसी बीच सोने का बाजार-मूल्य बढ़ जाने से सोने के सिक्के बाजार से लुप्त होने लगे। अत: कम्पनी ने द्विधात्विक मान की जगह एक धातुमान अपनाने का निश्चय किया। १८१८ ई० में मद्रास प्रेसीडेंसी में कम्पनी ने सोने के सिक्के की जगह पर चाँदी का प्रामाणिक सिक्का, जिसका वजन १८० ग्रेन था तथा जिसमें $\frac{11}{12}$ भाग शुद्ध चाँदी थी, जारी किया। यद्यपि सोने के सिक्कों का टंकन बन्द कर दिया गया, फिर भी इसे अवैध घोषित नहीं किया गया था। चाँदी के सिक्कों का सोने के सिक्के के साथ विनिमय का अनुपात १५:१ निश्चित किया गया। आगे चलकर १८२३ ई० में बम्बई में भी कम्पनी ने इसी प्रकार के चाँदी का रुपया जारी किया और अन्त में १८३५ ई० में एक अधिनियम के द्वारा कम्पनी ने अपने सभी प्रदेशों के लिए एक-मात्र चाँदी के प्रामाणिक सिक्के जारी कर दिये जिसकी तौल एवं विशुद्धता सर्वत्र एक समान थी।

१८३५ ई० का **भारतीय टंकन अधिनियम एवं रजत मान** (The Indian Coinage Act of 1835 and the Silver Standard) :—कम्पनी ने १८३५ ई० के टंकन अधिनियम (Coinage Act) के अनुसार सम्पूर्ण देश में रजत-मान (Silver Standard) की स्थापना की। इस अधिनियम के अनुसार चाँदी के रुपये का वजन १८० ग्रेन था, इसका $\frac{11}{12}$ भाग शुद्ध चाँदी का होता था। इस अधिनियम के अनुसार सम्पूर्ण देश के लिए कम्पनी ने एक धातुमान की पद्धति अपनायी, किन्तु सोने के सिक्कों को बिल्कुल समाप्त नहीं किया गया। इसके अनुसार जनता की मांग के अनुरूप सोने की मुहरें एवं पाँच रुपये, दस रुपये, तथा तीस रुपये के मूल्य के सोने के

सिक्कों के टंकन एवं प्रचलन का भी अधिकार मिला। साथ ही, १८४१ ई० में एक घोषणा-पत्र द्वारा जनता की देनदारी के भुगतान के लिए सरकारी खजानों को १५ : १ की दर से स्वर्ण मुहरें लेने का अधिकार दिया गया। १८४८ ई० के बाद आस्ट्रेलिया एवं कैलीफोर्निया में सोने की खानों के पता लगाने के फलस्वरूप विश्व में सोने का उत्पादन बढ़ने लगा जिससे चाँदी के अनुपात में उसका मूल्य घट गया। अतः जनता ने सरकार को स्वर्ण मुहरों में कर आदि देना प्रारम्भ कर दिया। इससे सरकार की कठिनाई बढ़ गयी जिसके फलस्वरूप लार्ड डलहौजी ने १८४१ ई० के घोषणा-पत्र को रद्द कर दिया। साथ ही, सोने का पूर्णरूप से विमुद्रीकरण कर दिया गया। इसी बीच १८५० ई० में चाँदी का उत्पादन घट जाने से यह धातु अधिक मूल्यवान हो गयी जिससे लोगों ने रुपये को गला कर धातु में परिवर्तित करना प्रारम्भ कर दिया। इससे देश में मुद्रा का अभाव हो गया जिससे व्यापार में कठिनाई होने लगी। देश में उस समय बैंकिंग एवं साख-व्यवस्था के अभाव ने इन कठिनाइयों को और भी बढ़ा दिया। इससे देश के अनेक भागों में सोने के टुकड़े का मुद्रा के रूप में व्यवहार किया जाने लगा। अत: १८६४ ई० में भारत सरकार ने एक अधिसूचना जारी की जिसके अनुसार पौंड और आधे पौंड को क्रमशः दस तथा पाँच रुपये की दर स्वीकार किया जाने लगा। सरकार भी इन्हें भुगतान में स्वीकार करने लगी।

मैंसफील्ड आयोग :—लेकिन इन प्रयत्नों से भी कठिनाइयाँ दूर नहीं हुईं। इसी बीच देश में स्वर्ण-मुद्रा मान अपनाने पर जोर दिया जाने लगा। अत. इस समस्या पर विचार करने के लिए सरकार ने १८६६ ई० में मैंसफील्ड आयोग की नियुक्ति की जिसने इस सम्बन्ध में निम्नलिखित सुझाव दिये—(१) पाँच, दस एवं पन्द्रह रुपये के सिक्के जारी किये जायँ, तथा (२) चलन में सोने, चाँदी एवं कागजी तीनों प्रकार के सिक्के रखे जायँ। सरकार ने मैंसफील्ड आयोग की सिफारिशों को उस समय स्वीकार नहीं किया। साथ ही, १८६८ ई० से सोने के मूल्य में वृद्धि के कारण पौंड एवं आधा पौंड के मूल्य को बढ़ाकर क्रमशः १० रुपये आठ आने तथा ५ रुपये ४ आने कर दिया गया।

रजत-मान का पतन (Break-down of the Silver Standard) :—इसी बीच १८७१ ई० के बाद रजत मान की कार्यप्रणाली में बहुत-सी कठिनाइयाँ उपस्थित हो गयीं। चाँदी की नयी-नयी खानों की खोज के फलस्वरूप चाँदी की पूर्ति में बहुत वृद्धि हो रही थी जिससे चाँदी का मूल्य धीरे-धीरे कम होने लगा। १८७३ ई० के पश्चात अधिकांश यूरोपीय देशों ने (१८७६ ई० में जर्मनी तथा १८७४ ई० में स्वीडेन, नार्वे एवं डेनमार्क आदि ने) चाँदी का विमुद्रीकरण (Demonetization) कर दिया। अधिकांश पश्चिमी देशों एवं अमेरिका ने स्वर्ण-मान को ही अपनाया। इन सब कारणों से भारत में चाँदी का आयात बढ़ गया तथा इसके मूल्य में बहुत कमी आ गयी। चाँदी का मूल्य १८७५ ई० में ५८ पेंस प्रति औंस से घटकर १८७९ ई० में ५२·५ पेंस प्रति औंस, १८८८ ई० में ४३ पेंस प्रति औंस तथा १८९९ ई० में २७ पें० प्रति औंस हो गया। चाँदी के मूल्य में इस कमी के कारण रुपये एवं पौंड की विनिमय-दर २ शिलिंग से घटकर १८९२ ई० में १ शिलिंग २ पेंस हो गयी। इससे वस्तुओं के मूल्य में वृद्धि होने लगी। सरकार को गृह-व्यय (Home charges) चुकाने में अधिक देना पड़ने लगा। चाँदी के मूल्य में निरन्तर कमी होने के कारण विनिमय दर स्थायी न रह सकी, जिसका अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार पर बहुत बुरा प्रभाव पड़ा। इन सब कारणों से देश में स्वर्ण-मान अपनाने की जोरदार मांग की जाने लगी।

हर्शेल कमिटी, १८९२ (The Herschell Committee of 189?) :—इस प्रकार रजत-मान की कार्यप्रणाली में कठिनाइयाँ अनुभव होने लगीं। साथ ही, रुपये के विनिमय-मूल्य

में निरन्तर कमी के फलस्वरूप अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की स्थिति अच्छी नहीं थी। ऐसी स्थिति में भारतीय मुद्रा-प्रणाली की जाँच तथा विनिमय की दर में कमी को रोकने के सम्बन्ध में सुझाव देने के उद्देश्य से सरकार ने लार्ड हर्शेल की अध्यक्षता में १८९२ ई० में एक समिति की नियुक्ति की। हर्शेल कमिटी ने एक पंगुमान (Limping Standard) को अपनाने की सिफारिश की जिसमें—(१) सोने एवं चाँदी की स्वतन्त्र मुद्रा-ढलाई बन्द कर देनी चाहिए; (२) रुपया असीमित वैध-सिक्का रहे; तथा (३) अन्तरिम काल में स्वर्ण केवल अंशतः चलार्थ के रूप में प्रयुक्त हो जिसके पश्चात् स्वर्ण-मान अपनाने के लिए एक निश्चित कदम उठाया जाय। कमिटी ने इस बात की भी सिफारिश की कि सोने की मुद्रा सरकारी खजानों में १ शि० ४ पें० की दर से स्वीकृत की जानी चाहिए तथा इसी विनिमय दर को स्थायी बनाने का प्रयत्न करना चाहिए। सरकार ने इन सिफारिशों को स्वीकार कर लिया तथा चाँदी की स्वतन्त्र ढलाई बन्द कर दी गयी। इन सिफारिशों को कार्य रूप में परिणत करने के लिए १८९३ ई० में एक नया अधिनियम पारित किया गया जिसके अनुसार १८७० ई० के टंकन अधिनियम तथा १८८२ ई० के पत्र-मुद्रा अधिनियम में संशोधन किया गया। बम्बई तथा कलकत्ते के टकसालों को पत्र-मुद्रा जारी करने का अधिकार दिया गया। रुपये की विनिमय-दर १ शि० ४ पें० निर्धारित की गयी। स्वर्ण-मुद्रा के आंशिक उपयोग से अन्ततोगत्वापूर्ण स्वर्ण-मान की स्थापना में सहायता की आशा की जाती थी।

फाउलर कमिटी १८९८ ई० (Fowler Committee, 1898) :—धीरे-धीरे रुपये की विनिमय-दर १ शि० ४ पें० के लगभग स्थिर हो रही थी। इसी बीच भारत सरकार ने पूर्ण स्वर्ण-मान की स्थापना के लिए भारती सचिव से सिफारिश की जिसके परिणामस्वरूप १८९८ ई० में सर हेनरी फाउलर की अध्यक्षता में एक फाउलर कमिटी की नियुक्ति की गयी। फाउलर कमिटी ने स्थिति की जाँच के पश्चात सरकार के सम्मुख अपना सुझाव रखा। समिति की राय में भारत का अन्तिम उद्देश्य स्वर्ण-मुद्रा-मान (Gold Currency Standard) होना चाहिए जिससे देश में स्वतन्त्र रूप से स्वर्ण का अन्तर्प्रवाह तथा बहिर्प्रवाह हो सके। फाउलर-कमिटी ने इस सम्बन्ध में निम्नलिखित सुझाव दिये—(१) देश में सोवरेन तथा अर्द्ध-सोवरेन विधि-ग्राह्य सिक्के मान लिये जायँ और इनकी स्वतन्त्र ढलाई हो; (२) रुपया असीमित विधि-ग्राह्य-सिक्का रहे, किन्तु इसकी ढलाई न हो; (३) सरकार सोने के बदले रुपये दे, किन्तु रुपये के बदले सोना देने के लिए बाध्य न हो; (४) विनिमय दर को १ शि० ४ पें० पर स्थायी बनाया जाय; (५) रुपये की ढलाई से जो लाभ प्राप्त हो उसे एक 'स्वर्ण-मान-कोष' में जमा किया जाय, तथा (६) व्यापारिक संतुलन की प्रतिकूलता को समाप्त करने के लिए सरकार सोना देने को तैयार हो।

सरकार ने फाउलर कमिटी की इन सिफारिशों को स्वीकार कर लिया तथा सितम्बर १८९९ ई० में ब्रिटिश सोवरेन एवं अर्द्ध-सोवरेन को सम्पूर्ण भारत में वैध-सिक्का घोषित कर दिया गया। १९०० ई० में रुपये की ढलाई से होनेवाले लाभ को जमा करने के लिए एक स्वर्ण-मान-कोष की स्थापना की गयी। सरकार ने देश में स्वर्ण-मुद्रा के टंकन के लिये टकसाल खोलने का प्रयत्न किया। किन्तु ब्रिटिश ट्रेजरी ने भारत में शाही टकसाल की शाखा खोलने की स्वीकृति नहीं प्रदान की, अतः सोने की टकसाल की योजना समाप्त हो गयी।

रुपये की स्वतन्त्र ढलाई बन्द हो जाने से मुद्रा का अभाव हो गया। जनसंख्या एवं व्यापार में वृद्धि तथा अकाल की स्थिति ने मुद्रा की मांग को और भी उग्र बना दिया अतः १८९८ ई० में संकट को दूर करने के लिए अस्थायी उपचार के रूप में एक अधिनियम पारित हुआ। इसके अनुसार यह आयोजन किया गया कि भारत सचिव के कौंसिल बिलों की बिक्री से प्राप्त रकम

'भारतीय पत्र-मुद्रा-कोष' के नाम से स्वर्ण के रूप में 'बैंक ऑफ इंगलैंड' में जमा की जाय। इस जमा किये गये सोने के आधार पर भारत सरकार पत्र-मुद्रा जारी करके भारत सचिव के ड्राफ्टों का भुगतान करेगी। साथ ही, स्वर्ण-मुद्रा के प्रयोग को भी प्रोत्साहित किया जाने लगा, किन्तु इसका उत्साहजनक परिणाम नहीं हुआ। १९०० ई० में सरकार को विवश होकर बहुत बड़े पैमाने पर चाँदी के सिक्कों का टंकन प्रारम्भ करना पड़ा। 'भारतीय पत्र मुद्रा-कोष' में जमा सोने से इंगलैण्ड में चाँदी खरीद कर रुपये के टकन के लिए भारत भेजी जाती थी। इस कोष से विपरीत व्यापाराधिक्य की स्थिति में भारतीय विनिमय-दर को स्थायी रखने में भी सहायता ली जाने लगी। १९०० ई० में इस अधिनियम की अवधि को दो वर्षों के लिए और बढ़ा दिया गया तथा १९०२ ई० 'में भारतीय पत्र-मुद्रा-कोष' को स्थायी बना दिया गया। १९०६ ई० में भारत में रुपये की मांग की पूर्ति के लिए एक 'रुपया रक्षित कोष' स्थापित किया गया जिसका नाम 'स्वर्ण-मान रक्षित कोष की रजत शाखा' पड़ा। इसका प्रमुख उद्देश्य सोवरेन के बदले असीमित मात्रा में चाँदी के रुपये देकर विनिमय-दर को १ शि० ४ पेंस पर स्थायी रखना था। इस प्रकार स्वर्ण-मान की दो शाखाएँ हो गयीं। एक लन्दन में स्टर्लिंग प्रतिभूतियों के रूप में तथा दूसरी भारत में चाँदी के रुपये के रूप में। १९०४ ई० में भारत सचिव ने यह घोषणा की कि अब से वे लन्दन में क्रेताओं को १ शि० ४ पें० की दर से असीमित मात्रा में कौंसिल बिलों की बिक्री करेंगे।

किन्तु १९०७ ई० में फसलों की खराबी, अकाल एवं यूरोप की आर्थिक मन्दी के फलस्वरूप भारत को विदेशी विनिमय-सम्बन्धी कठिनाइयों का सामना करना पड़ा जिससे विनिमय की दर घटने लगी। विनिमय-दर में ह्रास एवं प्रतिकूल व्यापारिक संतुलन के कारण बाहर सोना भेजने की आवश्यकता पड़ी। अतः भारत सचिव की सलाह से भारत सरकार ने इंगलैंड में रिवर्स कौंसिल बिल १ शि० ३$\frac{29}{32}$ पें० प्रति रुपये की दर से बेचना प्रारम्भ कर दिया। इसके अतिरिक्त और भी प्रयत्न किये गये जिनसे स्थिति में कुछ सुधार हुआ और दूसरे वर्ष विनिमय-दर पुनः १ शि० ४ पें० पर स्थिर हो गयी। किन्तु इसका एक-मात्र कारण समुत्थान ही था।

स्वर्ण-विनिमय मान

(Gold Exchange Standard)

भारत में १८९३ ई० में रुपये की स्वतन्त्र ढलाई की समाप्ति से लेकर १९०७-८ ई० के आर्थिक संकट के समय तक किये गये विभिन्न प्रयत्नों के फलस्वरूप देश में स्वर्ण-विनिमय मान (Gold Exchange Standard) की स्थापना हुई। यह प्रणाली बिना किसी पूर्व योजना के स्वतः उत्पन्न हो गयी। फाउलर कमिटी तथा भारत सरकार ने इसे प्रारम्भ में स्वीकार नहीं किया था। स्वर्ण-विनिमय मान पद्धति के अन्तर्गत देश में कागज अथवा किसी अन्य निम्न धातु की बनी मुद्रा का प्रचलन रहता है जो स्वर्ण से सम्बद्ध रहती है। मुद्रा का स्वर्ण से यह सम्बन्ध सीधा नहीं होकर किसी दूसरे देश की मुद्रा के माध्यम से होता है जहाँ स्वर्ण-मान का प्रचलन नहीं है। इस प्रकार स्वर्ण-विनिमय मान की निम्नांकित प्रमुख विशेषताएँ हैं :—(१) देश की मुद्रा कागज अथवा किसी अन्य धातु की बनी हुई होती है; (२) सरकार देश की मुद्रा को एक निश्चित दर पर दूसरे देश की मुद्रा में परिवर्तित करती है जहाँ पर स्वर्ण-मान का प्रचलन रहता है, तथा (३) विदेशों में सोना सुरक्षित कोष में रहता है जिससे सोना दिया जाता है।

भारत में स्वर्ण विनिमय मान (Gold Exchange Standard) :—स्वर्ण विनिमय मान के अन्तर्गत भारतीय रुपये को इंगलैंड के पौंड से सम्बन्धित कर दिया गया था जहाँ स्वर्ण-मान का

प्रचलन था, इसके अन्तर्गत रुपये को प्रत्यक्ष रूप में स्वर्ण में परिवर्तित नहीं किया जाता था, किन्तु इसे १ शि० ४ पें० की दर से पौंड में बदल दिया जाता था। पौंड एक निश्चित दर पर स्वर्ण में परिवर्तित किया जा सकता था। इस प्रकार स्वर्ण विनिमय मान का देश में प्रचलन हुआ। इस प्रणाली को चालू रखने के लिए दो कोष स्थापित किये गये : एक रुपये के रूप में भारत में तथा दूसरा पौंड के रूप में लन्दन में। भारत सचिव १ शि० ३$\frac{1}{2}$ पें० की दर से कौंसिल बिल लन्दन में बेचते थे लन्दन के जिन व्यापारियों को रुपया भेजना पड़ता था वे इस कौंसिल-बिल को खरीदते थे। इसके विपरीत इंगलैंड में भुगतान करने के उद्देश्य से भारतीय व्यापारी १ शि० ३ $\frac{21}{32}$ पें० की दर से रिवर्स कौंसिल-बिल भारत सरकार से खरीदते थे। इस प्रकार विनिमय दर १ शि० ४ पें० था, किन्तु व्यवहार में रुपये के पौंड मूल्य में परिवर्तन की सीमाएँ १ शि० ४ पें० और १ शि० ३$\frac{21}{32}$ थीं।

स्वर्ण-विनिमय मान के गुण एवं दोष (Merits and Demerits of Gold Exchange Standard) :—स्वर्ण-विनिमय मान के पक्ष में बहुधा यह कहा जाता है कि यह बिलकुल स्वर्ण-मान की ही तरह कार्य करता था। देश में सोने के सिक्के प्रचलन में नहीं थे, अतः इसमें सोने के उपयोग में भी बहुत अधिक बचत होती थी। इस प्रकार भारत जैसे निर्धन देश के लिए यह निश्चय ही एक अच्छी पद्धति थी। इसका दूसरा लाभ यह बतलाया जाता था कि लन्दन में सुरक्षित कोष में रखा गया सोना भारत एवं ब्रिटेन दोनों देशों की मुद्राओं के सुरक्षित कोष का कार्य करता था।

किन्तु व्यवहार में यह प्रणाली बड़ी ही दोषपूर्ण थी। यद्यपि इस मान से विनिमय-दर में स्थायित्व आ गयी, तथापि यह देश के मूल्य-स्तर में स्थिरता नहीं प्रदान कर सका। इससे व्यापार में एक प्रकार की अनिश्चितता उत्पन्न हो गयी जिसका देश की आर्थिक व्यवस्था पर बड़ा ही बुरा प्रभाव पड़ा। भारत में इस पद्धति का सबसे बड़ा दोष इसके संचालन से सम्बन्धित था। केन्द्रीय बैंक के अभाव में सरकारी कर्मचारी ही इसका प्रबन्ध करते थे। ये कर्मचारी मुद्रा-प्रणाली के प्रबन्ध में बहुत कम प्रवीण होते थे। बाजार तथा व्यापार की परिस्थितियों से इनका कोई सम्पर्क नहीं रहता था, इसलिए इसका प्रबन्ध त्रुटिपूर्ण होता था। साथ ही, प्रबन्धित-मान (Managed Standard) होने के कारण पग-पग पर सरकार को इसके कार्य-संचालन में हस्तक्षेप करना पड़ता था। अतः इस मौद्रिक मान की कटु आलोचना की जाने लगी।

१९१३ ई० का चेम्बरलेन आयोग[1] (Chamberlain Commission of 1913) :—उपरोक्त दोषों के कारण भारत में जनमत स्वर्ण-विनिमय मान के पक्ष में नहीं था। अतः देश में

१. चेम्बरलेन आयोग ने निम्नांकित सुझाव प्रस्तुत किया था—

(i) Gold Exchange Standard was suitable for India. Increased use of gold in internal circulation should not be encouraged and the people in the country neither desired nor needed gold as currency

(ii) There was no need for a mint for coinage of gold. However should the Indian sentiments demand it and, the Government of India was ready to bear the burden of its expense a mint might be established to make sovereigns and half-sovereigns. In the event of not establishing a mint the Government should review rhe notification withdrawn in 1906 to receive gold at Bombay mint in exchange for notes or rupees.

(iii) As regards the Gold Standard Reserve, the Commission held that no maximum limit to its amount could be prescribed but it should be largely of gold and that it should be located in London.

यह मांग की जाने लगी कि फाउलर कमिटी के सुझावों के आधार पर स्वर्ण-मान की स्थापना की जाय। जब विश्व के प्राय: सभी देशों में स्वर्ण-मान का प्रचलन था तथा सभी देश इसे एक-मात्र सन्तोषजनक मुद्रा-पद्धति मानते थे, भारत में जनता की इच्छाओं के बावजूद इसे ग्रहण नहीं करना बड़ा ही अनुचित जान पड़ता था। अतः अप्रैल, १९१३ ई० में भारतीय मुद्रा एवं विनिमय-सम्बन्धी समस्याओं पर विचार करने के लिए श्री चेम्बरलेन की अध्यक्षता में एक आयोग की नियुक्ति हुई जिसने १९१४ ई० में अपना प्रतिवेदन प्रस्तुत किया। आयोग की निम्नलिखित सिफारिशें प्रमुख थीं :—(१) आयोग ने भारत में स्वर्ण-विनिमय मान को चालू रखने की सिफारिश की; (२) भारत में सोने के सिक्कों को ढालने के लिए किसी टकसाल की आवश्यकता नहीं थी, फिर भी भारतीय जनमत को देखते हुए इस प्रकार के टकसाल की देश में स्थापना की जा सकती हैं; (३) स्वर्ण-मान कोष की कोई अधिकतम सीमा नहीं रहनी चाहिए, वरन् इसमें अधिक-से-अधिक सोना जमा रहना चाहिए; (४) स्वर्ण-मान-कोष की रजत शाखा बन्द कर देनी चाहिए; (५) पत्र-मुद्रा प्रणाली को अधिक लोचदार बनाने के लिए नोटों के रक्षित भाग (Fiduciary Issue) को १४ करोड़ रुपये कर देना चाहिए, तथा (६) सरकार को १ शि० ३$\frac{29}{32}$ पें० की दरसे रिवर्स कौंसिल बिल बेचने की जिम्मेवारी लेनी चाहिए। चेम्बरलेन आयोग की सिफारिशें फरवरी; १९१४ ई० में प्रकाशित हुई और जुलाई, १९१४ ई० में प्रथम युद्ध छिड़ गया। अतः युद्ध के फलस्वरूप सरकार आयोग की अधिकांश सिफारिशों को कार्यान्वित नहीं कर सकी।

प्रथम विश्व-युद्ध में भारतीय मुद्रा-प्रणाली (Indian Currency during the First World War) :—प्रथम महायुद्ध का भारतीय मुद्रा-प्रणाली पर बड़ा ही व्यापक प्रभाव पड़ा। युद्ध के प्रारम्भ होने के साथ ही जनता में एक व्यापक भय एवं अविश्वास उत्पन्न हो गया जिससे व्यापार के कार्य में एक प्रकार की शिथिलता आ गयी। भारत सरकार ने इस बिगड़ती हुई स्थिति को सुधारने तथा मुद्रा-प्रणाली में जनता के विश्वास को जमाने के लिए बहुत से प्रयत्न किये। युद्ध के प्रारम्भ में जनता ने अपने सेविंग्स बैंक खाते से रुपया निकालना आरम्भ कर दिया तथा नोटों को स्वर्ण में परिवर्तित करने की मांग की जाने लगी। सरकार ने इन सभी मांगों की पूर्ति की तथा केवल १ अगस्त से ४ अगस्त, १९१४ ई० के बीच सरकार को २८ लाख पौंड कीमत का स्वर्ण इस प्रकार नोटों के बदले में देना पड़ा। अतः ५ अगस्त, १९१४ ई० से सरकार ने आवश्यक व्यापारिक कार्यों के अतिरिक्त सोना देना बन्द कर दिया। विनिमय दर में ह्रास को रोकने के लिए जनवरी, १९१५ ई० तक सरकार ने ८७ लाख पौंड के लगभग रिवर्स कौंसिल बिलों का विक्रय किया। १९१५ ई० के अन्त में स्थिति में कुछ सुधार हुआ तथा पुनः रुपया जमा किया जाने लगा।

(iv) Elasticity should be imparted to the currency system of the country by issuing notes against securities. The use of notes as currency should be encouraged and 500 rupee notes should be universalised.

(v) The Commission favoured the abolition of the rupee (Indian) branch of the Reserve.

(vi) The Government should undertake to sell bills in India on London at the rate of 1sh. 3$\frac{29}{32}$ P whenever called upon to do so.

The report of the Commission was published in February 1914, and in July 1914, the global war broke out with the result that the Government could not act upon most of the recommendations of the Commission. The Government, however, abolished the silver branch of the Gold Standard Reserve and also undertook to sell Reverse Council Bills at the rate recommended by the Commission whenever need to do so arose.

किन्तु चाँदी का मूल्य धीरे-धीरे बढ़ रहा था और बढ़ते-बढ़ते २७ पौंड प्रति औं० से १९२० ई० तक ८९ पौं प्रति औं० तक हो गया। इससे एक नयी कठिनाई उपस्थित हो गयी। इस स्थिति का सामना करने के लिए यह निश्चित किया गया कि चाँदी के मूल्य में वृद्धि के साथ-साथ रुपये के विनिमय मूल्य में भी वृद्धि की जाय। इस प्रकार स्वर्ण-विनिमय-मान प्राय: समाप्त हो गया और इसकी जगह पर औपचारिक घोषणा नहीं की गयी थी। इसके फलस्वरूप रुपये की विनिमय दर में परिवर्तन होने लगा। विनिमय-दर, जो १९१७ ई० में १ शि० ४ पें० थी, बढ़कर १९१८ ई० में २ शि० ४ पें० हो गयी। जनवरी एवं मार्च, १९२० ई० में विनिमय-दर बढ़कर क्रमश: २ शि० ६ पें० तथा २ शिलिंग ११ पें० हो गयी। १९२० ई० से रिवर्स कौंसिलों की बिक्री में भी इसी दर को लागू कर दिया गया। इस कठिनाई को दूर करने के लिए निजी व्यक्तियों द्वारा चाँदी का आयात बन्द कर दिया गया। सरकार ने स्वयं मुद्रा-ढलाई के लिए बड़ी मात्रा में चाँदी का आयात प्रारम्भ किया। १९१८ ई० में सरकार ने अमेरिका से २० करोड़ औंस चाँदी खरीदने का निश्चय किया। दिसम्बर, १९१७ ई० में विनियम कार्य को सुगम बनाने के लिए १ रु० एवं २½ रु० के नोट जारी किये गये। इनके अतिरिक्त नोटों को रुपये में बदलने पर भी प्रतिबन्ध लगा दिया गया। किन्तु इन सब प्रयत्नों के बावजूद सरकार स्वर्ण-विनिमय-मान की रक्षा नहीं कर सकी।

बैबिंगटन स्मिथ कमिटी, १९१९ (The Babington Smith Committee, 1919) :—मई, १९१९ ई० में भारत सरकार ने देश की मुद्रा-प्रणाली की जाँच करने तथा भविष्य में इस सम्बन्ध में सुझाव देने के लिए बैबिंगटन स्मिथ कमिटी की नियुक्ति की। कमिटी की राय में देश की तत्कालीन परिस्थितियों में विनिमय-दर में स्थायित्व अति आवश्यक था। इस कमिटी की निम्नांकित प्रमुख सिफारिशें थीं :—(१) रुपये का विनियम मूल्य २ शि० निर्धारित किया जाय, यानी १० रुपये बराबर १ सोवरेन का हो। कमिटी ने २ शि० के अनुपात का सुझाव इस तर्क पर दिया कि इससे व्यापार में कम-से-कम अव्यवस्था होगी तथा यह उच्च विनिमय-दर भी भारत के निर्यात में कोई हानि पहुँचाये बगैर आयात एवं गृह-प्रभार (Home charges) के लिए लाभप्रद सिद्ध होगी। (२) रुपया असीमित वैध सिक्का रहे। (३) सोने एवं चाँदी के आयात-निर्यात पर कोई रुकावट नहीं हो तथा बम्बई में एक टकसाल स्थापित की जाय जहाँ जनता द्वारा दिये गये सिक्कों से सोवरेन की ढलाई की जाय। (४) स्वर्ण-मान कोष का अधिकांश भाग सोने में रहे तथा शेष सरकारी प्रतिभूतियों के रूप में। इस कोष का एक अंश भारत में रखना चाहिए। इस प्रकार कमिटी ने इस सम्बन्ध में बहुत से सुझाव दिये।

दो शिलिंग स्वर्ण-अनुपात की असफलता : सरकार ने इस कमिटी की सिफारिशों को स्वीकार कर लिया और तदनुसार रुपये का विनिमय-मूल्य २ शि० स्वर्ण कर दिया गया। सोवरेन को १० रु० की दर पर विधि-ग्राह्य घोषित किया गया तथा फरवरी, १९२० ई० में चाँदी के आयात पर से कर हटा लिया गया। किन्तु सरकार इस विनिमय-दर को बहुत अधिक समय तक नहीं कायम रख सकी। ज्योंहि सरकार ने विनिमय-दर को २ शि० प्रति रुपया निश्चित किया, रिवर्स कौंसिलों की मांग बढ़ गयी और जब सरकार ने इसे बनाये रखने का प्रयास किया, तो उसे बहुत अधिक हानि उठानी पड़ी। यह दर आयातकर्त्ताओं के लिए विशेष लाभप्रद थी। अत: इससे आयात में वृद्धि होने लगी। इससे व्यापारिक संतुलन भारत के विपक्ष में होने लगा तथा रुपये की मांग में कमी आने लगी और स्टर्लिंग की मांग बहुत बढ़ गयी। इसी समय विनिमय की दरों में परिकल्पना भी आरम्भ हो गयी। अत: सरकार के लिए २ शि० स्वर्ण का अनुपात कायम रखना प्राय: असम्भव हो गया। ऐसी स्थिति में सरकार ने २ शि० स्टर्लिंग का अनुपात चलाने का प्रयत्न किया, किन्तु इसमें भी सफलता नहीं मिल सकी। इससे २८ सितम्बर, १९२० ई० को

सरकार ने इस विनिमय-दर को कायम रखने का विचार छोड़ दिया, क्योंकि तब तक सरकार को इससे ३८ करोड़ रुपये का नुकसान हो चुका था। फलतः जुलाई, १९२१ ई० में विनिमय-दर घटकर प्रायः १ शि० ३ पें० हो गयी। विनिमय की दर अक्टूबर, १९२४ ई० में १ शि० ६ पें० हो गयी। इस प्रकार २ शि० स्वर्ण अनुपात बिलकुल असफल रहा। वास्तव में, सरकार ने बैंबिगटन स्मिथ कमिटी की सिफारिशों को कार्यान्वित करने में अति शीघ्रता से काम लिया था। यह सरकार की बड़ी भारी भूल थी जिससे देश के व्यापारियों एवं व्यवसायियों को बहुत अधिक हानि उठानी पड़ी।

हिल्टन यंग आयोग

(Hilton Young Commission)

१९१९ से १९२५ ई० तक का समय भारतीय मुद्रा के इतिहास में घोर उथल-पुथल का समय था। इस बीच सरकार ने रुपये के विनिमय मूल्य को २ शि० निश्चित करने के कई असफल प्रयास किये। इसका देश की मुद्रा एवं विनिमय व्यवस्था पर बड़ा ही गहरा प्रभाव पड़ा। अतः सरकार ने मुद्रा एवं विनिमय की समस्याओं पर विचार करने के लिए अगस्त, १९२५ ई० में हिल्टन यंग की अध्यक्षता में एक आयोग की नियुक्ति की। आयोग की सिफारिशों का देश की मुद्रा, विनिमय एवं बैंकिंग व्यवस्था के विकास में बड़ा ही महत्त्वपूर्ण स्थान है। आयोग की मुख्य सिफारिशों को निम्नांकित तीन वर्गों में विभाजित कर अध्ययन किया जा सकता है :—(क) मुद्रा-मान सम्बन्धी सिफारिशें; (ख) विनिमय-दर-सम्बन्धी सिफारिशें; तथा (ग) मुद्रा को नियन्त्रित करने वाले अधिकारी से सम्बन्धित सिफारिशें।

(i) **मुद्रा-मान का प्रश्न :—** हिल्टन यंग आयोग ने उस समय देश में प्रचलित मुद्रा-मान, अर्थात् स्वर्ण-विनिमय मान का भली-भाँति विवेचन किया। आयोग के अनुसार स्वर्ण-विनिमय मान रुपये के मूल्य में स्थायित्व ला सकता था, किन्तु तत्कालीन परिस्थितियों में इसके कई दोष थे; जैसे—(क) सर्वप्रथम तो इस मान की कार्यप्रणाली बड़ी ही जटिल थी। मुद्रा के मूल्य को स्थायी बनाये रखने के लिए कौंसिल बिल तथा रिवर्स कौंसिल-बिलों का सहारा लेना पड़ता था। (ख) इस पद्धति में अन्य स्वर्ण-मानों की तरह देश की मुद्रा के स्वतः संकोच एवं प्रसार की व्यवस्था नहीं थी। यह कार्य मुद्रा अधिकारियों पर निर्भर करता था। इस प्रकार यह प्रणाली लोचहीन थी। (ग) इसमें कई प्रकार के कोष थे; जैसे—स्वर्ण-मान रक्षित कोष, पत्र-मुद्रा कोष, रजत-मान कोष आदि। इससे भी इस प्रणाली में जटिलता आ जाती थी तथा इसमें अपव्यय भी होता था। (घ) यह प्रणाली इंगलैंड पर निर्भर होने के कारण पराधीन थी। देश की मुद्रा का स्वर्ण से सम्बन्ध प्रयत्क्ष नहीं होकर स्टर्लिंग के माध्यम से था। इस प्रकार स्वर्ण विनिमय मान के उपरोक्त दोषों के फलस्वरूप आयोग इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि यह प्रणाली भारत के लिए उपयुक्त नहीं है। हिल्टन आयोग ने देश के लिए स्वर्ण मुद्रा मान (Gold Currency Standard) की भी जाँच की तथा निम्नांकित दोषों के फलस्वरूप इसे भी भारत के लिए अनुपयुक्त बतलाया :—स्वर्ण-मुद्रा मान के सफल संचालन के लिए अधिक मात्रा में सोने की आवश्यकता थी, किन्तु भारत के पास पर्याप्त मात्रा में सोना उपलब्ध नहीं था। अतः यह मान उपयुक्त नहीं था। इस मान को अपनाने से सोना के अनुपात में चाँदी का मूल्य घट जायगा, अतः देशवासियों के संचित चाँदी का मूल्य यों ही कम हो जायगा जिससे उन्हें हानि होगी। इसका विश्व के रजत मूल्य पर भी प्रभाव पड़ेगा।

इन सब बातों पर विस्तृत रूप से विचार करते हुए हिल्टन आयोग ने बहुमत से भारत में भी इंगलैंड की तरह स्वर्ण-धातु मान[1] (Gold Bullion Standard) अपनाने का सुझाव दिया।

१—आयोग के एक सदस्य सर पुरुषोत्तमदास ठाकुर दास ने स्वर्ण-धातु मान के बदले एक ऐसे मान को अपनाने का सुझाव दिया जिसमें सोने की बनी-मुद्रा का प्रचलन हो।

इस प्रकार के मान में चाँदी के रुपये तथा कागज के नोट ही वास्तविक प्रचलन में होंगे। सोने के सिक्कों का देश में प्रचलन न होगा, किन्तु देश की मुद्रा को एक निश्चित वजन के सोने के पिण्ड में परिवर्तित किया जायगा।

इस प्रकार आयोग ने भारत के लिए स्वर्ण-धातु मान का सुझाव दिया। आयोग के अनुसार इस मान की निम्नांकित प्रमुख विशेषताएं होंगी।—(१) सरकार अथवा देश के मुद्रा-अधिकारी असीमित मात्रा में एक निश्चित दर पर कम-से-कम ४०० औंस शुद्ध सोने (१०६५ तोले) की पिंडों को बेचेंगे अथवा खरीदेंगे। (२) सोवरेन विधि-ग्राह्य नहीं रह जायगी अर्थात् सोने की मुद्रा का चलन नहीं होगा। देश में केवल चाँदी के रुपये तथा पत्र-मुद्रा का ही प्रचलन रहेगा। नोटों के बदले चाँदी के रुपये देने की प्रणाली के सम्बन्ध में आयोग ने यह सिफारिश की कि कुछ समय तक नोटों के बदले चाँदी के रुपये देने की प्रतिज्ञा का पालन किया जाय। किन्तु नये नोटों के बदले रुपया देने का उत्तरदायित्व सरकार नहीं ले। आयोग ने १ रुपये का नोट जारी करने का भी सुझाव दिया किन्तु इन्हें चाँदी के रुपये में परिवर्तित करने का उत्तरदायित्व नहीं होना चाहिए। (३) आयोग ने यह सुझाव दिया कि स्वर्ण मुद्रा-कोष एवं पत्र-मुद्रा कोष को सम्मिलित कर दिया जाय तथा इसे लन्दन के बजाय भारत में रखा जाय। कोष की बनावट एवं अनुपात को वैधानिक ढंग पर निश्चित कर देना चाहिए जिससे मुद्रा का स्वतः विस्तार एवं संकुचन होता रहे। आयोग के अनुसार इस कोष में ४० प्रतिशत स्वर्ण प्रतिभूतियाँ होनी चाहिए। (४) आयोग ने देश में निश्चित अरक्षित-नोट निर्गम-प्रणाली (Fixed Fiduciary System) के स्थान पर आनुपातिक निधि-पद्धति (Proportional Reserve System) अपनाने की सिफारिश की थी।

इन सिफारिशों के आधार पर सरकार ने १९२७ ई० में एक अधिनियम पारित किया जिसके अनुसार सोने की कीमत २१ रुपये, ३ आने, १० पाई प्रति तोला निर्धारित की गयी। इसी कीमत पर ४०० औंस की सोने की पिंड बेची एवं खरीदी जाती थीं। विनिमय-दर १ शि० ६ पें० प्रति रुपया निर्धारित की गयी। सोवरेन को विधि-ग्राह्य मुद्रा नहीं माना गया किन्तु इन्हें खजाने में प्रति सोवरेन १३ रु०, २ आना०, ४ पाई की दर से बेचा जा सकता था। यह मान देश में सितम्बर १९३१ ई० तक रहा और जब उस समय इंगलैंड ने स्वर्ण-मान का परित्याग कर दिया तो भारत ने भी स्वर्ण-धातु मान को छोड़ दिया।

(ii) **विनिमय की दर** :—हिल्टन आयोग का सबसे अधिक विवादास्पद सुझाव विनिमय की दर से सम्बन्धित था। आयोग ने बहुमत से यह निश्चित किया कि विनिमय की दर १ शि० ६ पें० प्रति रुपये होनी चाहिए। आयोग के एक सदस्य सर पुरुषोत्तम दास ठाकुर दास ने अपनी एक अलग रिपोर्ट में विनिमय की दर को १ शि० ४ पें० पर रखने की सलाह दी। इस प्रकार विनिमय की दर के सम्बन्ध में आयोग एकमत नहीं हो सका।

विनिमय की दर १ शि० ६ पें० के पक्ष में तर्क :—बहुमत १ शि० ६ पें० प्रति रुपये के पक्ष में था। इन लोगों का कहना था कि यह एक स्वाभाविक एवं प्राकृतिक दर थी क्योंकि गत प्रायः दो वर्षों से विनिमय की दर इसी बिन्दु पर स्थायी थी। इसके फलस्वरूप देश में मजदूरी, मूल्य, उत्पादन-व्यय आदि अर्थात् देश की सम्पूर्ण अर्थ-व्यवस्था इसी दर पर समायोजित हो चुकी थी। सरकारी बजट भी इसी दर से तैयार किये जाते थे, अतः इसमें परिवर्तन का प्रभाव देश की सम्पूर्ण आर्थिक व्यवस्था पर पड़ेगा। १ शि० ४ पें० की दर देश में १९१७ ई० से १९२५ ई० के बीच प्रायः असफल रही। इससे देश की सम्पूर्ण आर्थिक व्यवस्था अस्त-व्यस्त हो गयी थी। विनिमय की दर १ शि० ४ पें० प्रति रुपये रखने पर मूल्य में प्रायः १२½ प्रतिशत की सामान्य वृद्धि

हो जायगी जिससे मजदूरी की वास्तविक दरों में भी कमी होगी। इसका समाज के निश्चित आयवाले वर्ग पर बहुत बुरा प्रभाव पड़ेगा।

विनिमय की दर १ शि० ४ पें० के पक्ष में तर्क :—आयोग के एक सदस्य सर पुरुषोत्तम दास ठाकुर दास का मत था कि तत्कालीन परिस्थितियों में रुपये की स्वाभाविक विनिमय-दर १ शि० ४ पें० थी। इसके पक्ष में कहा जाता था कि यह दर १८९८ ई० से लेकर १९१७ ई० तक प्रचलित थी, अतः देश इसका अभ्यस्त हो गया था। साथ ही, यह बात प्रमाणित नहीं की जा सकती थी कि विनिमय-दर में वृद्धि के फलस्वरूप मजदूरी में किसी प्रकार की कमी होगी। साथ ही, १ शि० ६ पें० की दर से किसानों के ऋण में प्रायः १२$\frac{1}{2}$ प्रतिशत की वृद्धि होगी। अतः इसका प्रभाव किसी-न-किसी वर्ग पर बुरा पड़ेगा। १ शि० ४ पें० की दर का कुछ ही व्यक्तियों पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ेगा, किन्तु १ शि० ६ पें का समाज के एक बहुत बड़े वर्ग पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ेगा। अतः आयोग के अल्पमत ने १ शि० ४ पें० के सम्बन्ध में ही सुझाव दिया।

भारत सरकार ने १९२७ ई० के अधिनियम के अनुसार बहुमत के प्रस्ताव से सहमत हो, जनमत के विरुद्ध विनिमय-दर १ शि० ६ पें० प्रति रुपया निर्धारित किया। किन्तु इससे यह विवाद समाप्त नहीं हुआ।

(iii) मुद्रा-नियन्त्रण के लिए रिजर्व बैंक की स्थापना का सुझाव :—देश की मुद्रा एवं बैंकिंग व्यवस्था में समन्वय स्थापित करने तथा मुद्रा के नियंत्रण के लिए आयोग ने एक केन्द्रीय बैंक की आवश्यकता को महसूस किया। देश में मुद्रा-नियन्त्रण का कार्य सरकार करती थी तथा साख-नियन्त्रण का कार्य इम्पीरियल बैंक करता था। इससे इन दोनों की नीति में सहयोग एवं समन्वय का अभाव था। अतः आयोग ने एक केन्द्रीय बैंक की स्थापना का सुझाव दिया जिसका नाम रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया रखा जाय। यह बैंक देश में केन्द्रीय बैंक के प्रायः सभी कार्यों को करेगा। इम्पीरियल बैंक [1] केन्द्रीय बैंक के कुछ कार्यों को अवश्य करता था, किन्तु यह एक व्यावसायिक बैंक था, अतः इसे केन्द्रीय बैंक में परिवर्तित करने से देश को बहुत हानि होगी। आयोग के अनुसार यह बैंक एक गैर-सरकारी बैंक होना चाहिए जिसके हिस्सेदार जनता एवं विभिन्न संस्थाएँ हों। किन्तु विभिन्न कारणों से १९३४-३५ ई० के पूर्व रिजर्व बैंक की स्थापना नहीं की जा सकी।

स्टर्लिंग-विनिमय मान (१९३१-४७) (Sterling Exchange Standard 1931-47)— सितम्बर, १९३१ ई० में जब ब्रिटेन ने स्वर्ण-मान का परित्याग कर दिया तब भारत सरकार ने भी स्वर्ण-धातु मान को छोड़ दिया। अतः १९२७ ई० के करेन्सी अधिनियम को रद्द कर दिया गया एवं रुपये का सम्बन्ध स्टर्लिंग से स्थापित कर दिया गया। इस प्रकार भारत में स्टर्लिंग-विनिमय मान की स्थापना हुई जिसके अनुसार रुपये की विनिमय-दर १ शि० ६ पें० निश्चित की गयी। इस दर पर वाह्य कार्यों के लिए सरकार ने नोटों को स्टर्लिंग में बदलने की जिम्मेवारी ली। आन्तरिक कार्यों के लिए रुपया पहले की तरह ही चलता रहा। रुपये के स्टर्लिंग के साथ इस गठबन्धन की कटु आलोचना हुई। आलोचकों का कहना था कि इससे स्वर्ण-मान वाले देशों से होने वाला आयात अधिक महँगा हो जायगा क्योंकि स्टर्लिंग का १९३१ ई० में ६० प्रतिशत से अवमूल्यन हो गया। इससे रुपये का स्वर्ण-मूल्य भी कम हो जायगा जिससे भारत से स्वर्ण का

१. सर पुरुषोत्तमदास ठाकुरदास ने इम्पीरियल बैंक आफ इण्डिया को ही केन्द्रीय बैंक के रूप में परिवर्तित करने का सुझाव दिया था। इनके अनुसार रिजर्व बैंक नामक एक पृथक बैंक की स्थापना की कोई आवश्यकता नहीं थी।

निर्यात होने लगेगा। साथ ही, इससे भारत का भाग्य सदा के लिए इंगलैंड के साथ बँध जायगा; अर्थात् राजनीतिक गुलामी के साथ-साथ आर्थिक गुलामी में भी भारत जकड़ जायगा। इसके विपरीत स्टर्लिंग-विनिमय मान के समर्थकों का कहना था कि रुपये को स्वतन्त्र छोड़ दिया जाय अथवा स्टर्लिंग से इसका सम्बन्ध स्थापित नहीं किया जाय तो विनिमय-दर में बहुत अधिक परिवर्तन होगा जिसका विदेशी व्यापार पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ेगा। साथ ही, भारत का अधिकांश व्यापारिक सम्बन्ध इंगलैंड के ही साथ था और प्रतिवर्ष गृह-व्यय के रूप में भी भारत इंगलैंड को बहुत बड़ी रकम चुकाता था। इस दृष्टि से भी भारत का स्टर्लिंग के साथ सम्बन्ध जोड़ना अधिक लाभप्रद था।

स्वर्ण एवं रजत का निर्यात :—जब देश में स्टर्लिंग-विनिमय मान की स्थापना हुई तो वहाँ से बहुत अधिक मात्रा मे स्वर्ण एवं रजत का निर्यात होने लगा। सन् १९३१ ई० के पूर्व भारत में बहुत अधिक मात्रा में स्वर्ण एवं चाँदी का आयात हुआ करता था, परन्तु १९३१ ई० के बाद इनका बहुत बड़ी मात्रा में निर्यात होने लगा। अनुमान लगाया जाता है कि १९३१ ई० से १९४० ई० के नौ वर्षों के बीच भारत से कुल ३६२.४५ करोड़ रुपये मूल्य का प्राय: ४१६.८ लाख औंस सोने का निर्यात हुआ। इस स्वर्ण-निर्यात के निम्नलिखित कारण थे :—१९९१ ई० के आर्थिक संकट एवं मन्दी के कारण कृषि-पदार्थों का मूल्य बहुत कम हो गया जिससे कृषक वर्ग को अपने संचित धन, जो स्वर्ण के रूप में था, बेचना पड़ा। साथ ही, जब १९२१ ई० में स्टर्लिंग का स्वर्ण के रूप में अवमूल्यन हुआ और रुपये का सम्बन्ध स्टर्लिंग से जोड़ दिया गया तो भारत में स्वर्ण का मूल्य बहुत बढ़ गया। इससे देशवासियों को सोने के निर्यन में लाभ प्रतीत होने लगा।

सोने के निर्यात से सरकार को विशेष राहत मिली। इस समय भारत का व्यापाराधिक्य मुख्यत: इसके प्रतिकूल था। ऐसी स्थिति में १ शि० ६ पें० की दर को बनाये रखना सरकार के लिए कठिन हो रहा था। सोने के निर्यात से स्थिति में कुछ सुधार हुआ तथा सरकार ने विनिमय के अनुपात को बनाये रखने के साथ-साथ बहुत बड़ी मात्रा में स्टर्लिंग भी खरीद लिया जिससे भारतीय मुद्रा के रक्षित कोष' में भी पर्याप्त वृद्धि हुई। किन्तु भारत में जनता स्वर्ण-निर्यात को बन्द करने के पक्ष में थी। लोगों का कहना था कि सरकार एवं रिजर्व बैंक को सोना स्वयं खरीदना चाहिए। इससे रिजर्व बैंक के सुरक्षित कोष में वृद्धि हो सकती थी।

रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया की स्थापना :—१९२६ ई० में हिल्टन यंग आयोग की सिफारिशों के अनुसार देश में रिजर्व बैंक की स्थापना नहीं की जा सकी। पुन: १९३१ ई० में बैंकिग जाँच-समिति ने देश में एक केन्द्रीय बैंक की स्थापना पर जोर दिया। ६ अगस्त, १९३४ ई० को भारतीय विधान-सभा में रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया अधिनियम पारित हुआ जिसके अनुसार १ अप्रैल, १९३५ ई० को रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया की स्थापना हुई। इस बैंक की स्थापना से देश की मुद्रा प्रणाली में कई महत्त्वपूर्ण परिवर्तन हुए। सर्वप्रथम रिजर्व बैंक को देश में पत्र-मुद्रा जारी करने का एकाधिकार हो गया। साथ ही, इस बैंक की स्थापना से साख एवं मुद्रा दोनों के नियंत्रण का कार्य एक ही संस्था को सौंपा गया। विदेशी विनिमय-दर को १ शि० ६ पें० की दर पर स्थायी रखने का दायित्व भी रिजर्व बैंक को दिया गया। रिजर्व बैंक विनिमय-दर के परिवर्तन को स्वर्ण के क्रय-विक्रय द्वारा १७ पें० तथा १८ पें० के बीच रखने का सदा प्रयत्न करता था। इस प्रकार देश की मुद्रा एवं विनिमय व्यवस्था के इतिहास में रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया की स्थापना का महत्त्वपूर्ण स्थान है।

१. रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया का विस्तारपूर्वक विवरण एक पृथक अध्याय में किया गया है।

भारतीय पत्र-मुद्रा

(Indian Paper Currency)

प्रारम्भिक इतिहास :—१८६१ ई० के पूर्व भारत में पत्र-जारी करने का अधिकार कम्पनी द्वारा केवल बम्बई, मद्रास तथा बंगाल के प्रेसीडेंसी बैंकों एवं कुछ अन्य बैंकों को ही दिया गया था। इनके नोट विधि-ग्राह्य नहीं थे तथा एक सीमित क्षेत्र में ही चलते थे। १८६१ ई० में भारत सरकार द्वारा एक 'पत्र-मुद्रा-अधिनियम' (Paper Currency Act) पारित किया गया जिसके अनुसार सरकार ने नोट जारी करने का अधिकार प्रेसीडेंसी बैंकों के हाथ से अपने हाथ में ले लिया। इस अधिनियम के अनुसार नोट जारी करने के करेंसी-सिद्धांत (Currency principle) को अपनाया गया तथा निश्चित अरक्षित नोट निर्गम प्रणाली (Fixed Fiduciary System) के आधार पर सरकार नोट छापने लगी। केवल ४ करोड़ रुपये के नोट सरकारी प्रतिभूतियों के आधार पर जारी किये जा सकते थे। शेष के लिए नोट की रकम के बराबर सिक्के, स्वर्ण अथवा रजत पिंडों का कोष रखना आवश्यक था। सरकारी प्रतिभूतियों के आधार पर छापे जाने वाले नोटों (Fixed Fiduciary Issue) की सीमा को समय-समय पर विशेष कानूनों द्वारा बदला गया। १८७१ ई० में इसे ६ करोड़, १८९० ई० में ८ करोड़, १८९७ ई० में १० करोड़ तथा १९५० ई० में यह सीमा १२ करोड़ कर दी गयी। इससे स्पष्ट है कि नोट जारी करने की तत्कालीन प्रणाली पर्याप्त मात्रा में लोचदार नहीं थी। १९०३ ई० में ५ रुपये के नोट को, १९१० ई० में १० रुपये तथा २५ रुपये के नोट, और १९११ ई० में १०० रुपये के नोट को सर्वमान्य वैध-मुद्रा घोषित किया गया। इसी प्रकार धातु कोष के सम्बन्ध में समय-समय पर परिवर्तन किये गये।[1]

इस प्रकार की नोट निर्गमन प्रणाली के बहुत से लाभ थे। सर्वप्रथम तो इसमें सुरक्षा की मात्रा बहुत अधिक थी। इस प्रणाली में एक निश्चित सीमा के बाद नोटों के निर्गमन के लिए शत-प्रतिशत स्वर्ण अथवा रजत का कोष रखना अनिवार्य था। इससे इस व्यवस्था के अन्तर्गत मुद्रा-प्रसार का भय बहुत ही कम था। साथ ही, इस प्रणाली में नोटों को चाँदी के रुपयों में परिवर्तित भी किया जा सकता था। अतः इसमें परिवर्तनशीलता का गुण भी वर्तमान था। किन्तु इस प्रणाली के कुछ दोष भी थे। सबसे प्रमुख दोष इस प्रणाली का बेलोचदार होना था। एक निश्चित सीमा से अधिक नोट जारी करने के लिए इसमें शत-प्रतिशत कोष की आवश्यकता पड़ती थी। इससे यह प्रथा अमितव्ययी भी थी।

प्रथम महायुद्ध का भारतीय पत्र-मुद्रा पर प्रभाव :—युद्ध प्रारम्भ होते ही लोगों का पत्र-मुद्रा पर से विश्वास समाप्त होने लगा और प्रारम्भ में सोने तथा बाद में चाँदी के सिक्कों की मांग की जाने लगी। किन्तु युद्ध काल में धीरे-धीरे बढ़ते हुए व्यापार के कारण अधिक मुद्रा की मांग होने लगी और इस बढ़ी हुई मांग की पूर्ति चाँदी के अभाव में चाँदी के सिक्के से नहीं कर पत्र-मुद्रा द्वारा ही की गयी। इससे पत्र-मुद्रा में जनता का विश्वास बढ़ने लगा। सितम्बर, १९१७ ई० में $2\frac{1}{2}$ रु० के तथा जनवरी, १९१८ ई० में १ रुपये के नोट भी जारी किये गये। सितम्बर, १९१९ ई० में सरकार ने प्रतिभूतियों पर जारी किये जाने वाले नोटों की सीमा को बढ़ाकर १२० करोड़ रुपये कर दिया गया।

हिल्टन यंग आयोग ने १९२६ ई० में देश की पत्र-मुद्रा-प्रणाली के सम्बन्ध में कई महत्त्व-पूर्ण सुझाव दिये थे जिनमें निम्नलिखित प्रमुख हैं :—(१) देश में एक केन्द्रीय बैंक की स्थापना की

---

१. ५००० तथा १००० रुपये के नोट १९३१-३२ ई० में सर्वमान्य वैध-मुद्रा घोषित किये गये।

जाय, जिसे नोट जारी करने का एकाधिकार हो। (२) एक रुपये के नोट पुनः जारी किये जायँ जो रुपये में परिवर्तनशील नहीं होने चाहिए : (३) नोट रुपयों के बजाय ४०० औंस के स्वर्ण-पिंडों (Gold Bullion) में परिवर्तित होने चाहिए। आयोग ने भारत में आनुपातिक कोष प्रणाली (Proportional Reserve System) के आधार पर नोट जारी करने की सिफारिश की और ४० प्रतिशत सुरक्षित कोष का सुझाव दिया।

भारतीय पत्र-मुद्रा की वर्तमान प्रणाली (Present system of note-issue in India) :—१९३४ ई० में रिजर्व बैंक ऑफ इन्डिया अधिनियम पारित हुआ तथा १ अप्रैल, १९३५ ई० से रिजर्व बैंक ने अपना कार्य करना प्रारम्भ किया। इस अधिनियम के अनुसार नोट जारी करने का एकाधिकार रिजर्व बैंक को दिया गया जिसके लिए बैंक द्वारा एक पृथक् नोट विभाग (Issue Department) की स्थापना की गयी। प्रारम्भिक विधान के अनुसार रिजर्व बैंक जितनी पत्र-मुद्राएँ जारी करता था उसका ४० प्रतिशत भाग उसे सोने तथा विदेशी प्रतिभूतियों के रूप में सुरक्षित कोष में रखना आवश्यक था। इस सुरक्षित कोष में से कम-से-कम ४० करोड़ रुपये (१९५६ ई० के पूर्व २१ रु० ६ आने १० पाई प्रति तोला की दर से) का स्वर्ण होना चाहिए था। सुरक्षित कोष में स्वर्ण एवं विदेशी प्रतिभूतियों के अतिरिक्त ६० प्रतिशत भाग रुपये के सिक्के, भारत सरकार के ऋण-पत्र तथा तीन महीने में भुगतान होनेवाली हुण्डियाँ रहती थीं। यदि स्वर्ण एवं विदेशी ऋण पत्रों का अनुपात कभी ४० प्रतिशत से घट गया तो इसके लिए रिजर्व बैंक को सरकार की स्वीकृति लेनी पड़ती थी। साथ ही, कम रकम पर ब्याज भी देना पड़ता था। इस प्रकार रिजर्व बैंक की स्थापना के बाद देश में पत्र-मुद्रा जारी करने की आनुपातिक कोष-प्रणाली प्रारम्भ हुई।

यह प्रथा प्रायः २० वर्षों तक चलती रही। किन्तु स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद देश के आयोजित विकास के फलस्वरूप देश में मुद्रा की मात्रा में बहुत अधिक वृद्धि की आवश्यकता हुई। साथ ही, बैंक के विदेशी मुद्रा-कोष में भी योजनाकरण के कारण बहुत अधिक कमी होने लगी। अतः १९५६ ई० में रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया अधिनियम में एक संशोधन किया गया जिसके अनुसार पत्र-मुद्रा जारी करने की प्रणाली में परिवर्त्तन किया गया। संशोधित विधान के अनुसार आनुपातिक कोष-प्रणाली के बदले न्यूनतम कोष-प्रणाली को अपनाया गया जिसके अनुसार रिजर्व बैंक को अपने सुरक्षित कोष में कम-से-कम ११५ करोड़ रुपये का स्वर्ण तथा ४०० करोड़ रुपये की विदेशी मुद्रा रखनी पड़ती है। साथ ही, सुरक्षित कोष में रखे गये सोने का मूल्य आजकल अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष के द्वारा निर्धारित मूल्य, यानी ६२ रु० ५० पै० प्रति तोला की दर से आँका जाता है। इस प्रकार रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया (संशोधन) अधिनियम, १९५६ ई० के अनुसार आनुपातिक कोष-प्रणाली की जगह नोट जारी करने के लिए एक निश्चित न्यूनतम (Fixed minimum) सुरक्षित कोष की प्रणाली को अपनाया गया। सुरक्षित कोष की निम्नतम सीमा ५१५ करोड़ रुपये निश्चित कर दी गयी जिसमें कम-से-कम ११५ करोड़ रुपये के मूल्य का स्वर्ण होना चाहिए था। ३१ अक्टूबर, १९५७ ई० को एक अध्यादेश जारी कर [जो आगे चलकर Reserve Bank of India (Second Amendment) Act, 1957 हो गया] सुरक्षित कोष की निम्नतम सीमा घटाकर २०० करोड़ रुपये कर दी गयी जिसमें कम-से-कम ११५ करोड़

१ – १९४८ ई० के पूर्व विदेशी प्रतिभूतियों का अभिप्राय केवल स्टर्लिंग प्रतिभूतियों से था; किन्तु इसके बाद इसमें संशोधन हुआ जिसके अनुसार आजकल अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष के किसी भी सदस्य-राष्ट्र की मुद्रा तथा प्रतिभूतियों को इसके अन्तर्गत रखा जा सकता है।

रुपये का स्वर्ण आवश्यक था। साथ ही इस संशोधन के अनुसार रिजर्व बैंक सरकार की अनुमति से विदेशी मुद्रा के कोष को बिल्कुल ही समाप्त कर सकता है।

द्वितीय महायुद्ध काल में देश की पत्र-मुद्रा में बहुत अधिक वृद्धि हुई। युद्ध प्रारम्भ होने के समय सितम्बर, १९३९ ई० में कुल १९६ करोड़ रुपये के नोट चलन में थे। युद्ध-समाप्ति के बाद सितम्बर, १९४५ ई० में ११४७ करोड़ रुपये के नोट चलन में आ गये, यानी युद्धकाल में नोटों की मात्रा में प्राय: ९५१ करोड़ रुपये की वृद्धि हुई। २६ फरवरी, १९७१ ई० को देश में कुल ४१५५·८ करोड़ रुपये के नोट चलन में थे।

द्वितीय महायुद्ध एवं भारतीय मुद्रा

(Indian Currency during the Second World War)

सितम्बर, १९३९ ई० में द्वितीय महायुद्ध प्रारम्भ हुआ। उस समय भारत में स्टर्लिंग-विनिमय मान का प्रचलन था। आंतरिक मुद्रा में पत्र-मुद्रा, चाँदी का रुपया एवं अठन्नी $\frac{11}{12}$ शुद्धता के अपरिमित विधि-ग्राह्य थे। विनिमय की दर १ शि० ६ पें० पर लगभग स्थायी रहती थी। युद्ध प्रारम्भ होते ही जनता का देश की मुद्रा-प्रणाली पर से विश्वास कम होने लगा तथा लोगों ने चाँदी के सिक्कों का संग्रह करना आरम्भ कर दिया। जून, १९४० ई० में फ्रांस की हार के बाद तो यह प्रवृत्ति और भी बढ़ गयी। इस परिस्थिति का सामना करने के लिए रिजर्व बैंक ने सीमित मात्रा में रुपया देना आरम्भ कर दिया तथा डिफेन्स ऑफ इण्डिया अधिनियम के अन्तर्गत आवश्यकता से अधिक रुपया रखना अपराध भी घोषित कर दिया गया। युद्धकाल में २ रुपये के नोट जारी किये गये। साथ ही, देश में सिक्कों की बढ़ती हुई मांग को पूरा करने के लिए सरकार ने १९४० ई० में भारतीय टंकन अधिनियम (Indian Coinage Act) में संशोधन द्वारा रुपये, अठन्नी एवं चवन्नी की शुद्धता (Fineness) को $\frac{11}{12}$ से घटाकर $\frac{1}{2}$ भाग कर दिया। इसके अतिरिक्त अक्टूबर, १९४० ई० में सरकार के आदेशानुसार विक्टोरिया के छापे वाले रुपये तथा अठन्नियों का विमुद्रीकरण कर दिया गया। इसी प्रकार दिसम्बर, १९४१ ई० में एक आदेशानुसार सप्तम एडवर्ड तथा नवम्बर, १९४१ ई० में जार्ज पंचम के छापेवाले रुपये एवं अठन्नियों को भी बन्द कर दिया गया। इन सब प्रयत्नों से धीरे-धीरे सिक्कों के संग्रहीकरण की प्रवृत्ति कम हो गयी।

द्वितीय महायुद्ध काल में मुद्रा-प्रसार बहुत अधिक हुआ तथा बैंकों के जमा में भी अप्रत्याशित वृद्धि हुई। सितम्बर १९३९ ई० में कुल प्राय: १९६ करोड़ रुपये के नोट चलन में थे जो सितम्बर १९४४ ई० में बढ़कर ११४७ करोड़ रुपये के हो गये अर्थात् युद्धकाल में नोट की मात्रा में प्राय: ९५१ करोड़ रुपये की वृद्धि हुई। युद्धकाल में साख मुद्रा भी १२६ करोड़ रुपये से बढ़कर ४४४ करोड़ रुपये हो गयी। पत्र-मुद्रा एवं साख-मुद्रा में यह वृद्धि मुख्यत: युद्ध-जनित परिस्थितियों के फलस्वरूप ही हुई थी और नोटों का निर्गमन स्टर्लिंग जमा के आधार पर किया गया था। सितम्बर १९३९ ई० में रिजर्व बैंक के निर्गम विभाग में स्टर्लिंग जमा की रकम ६०५ करोड़ रुपये थी जो बढ़कर सितम्बर १९४५ ई० में १९४२ करोड़ रुपये हो गयी।

साम्राज्य डॉलर कोष (Empire Dollar Pool) :—युद्ध के सफल संचालन के लिए १९३९ ई० में ब्रिटिश सरकार ने स्टर्लिंग क्षेत्र के सभी देशों की विदेशी विनिमय विधियों का नियन्त्रण अपने हाथ में ले लिया। युद्धकाल में स्टर्लिंग क्षेत्र के किसी भी देश का अमेरिका अथवा अन्य देशों के साथ जो व्यापाराधिक्य होता था उसे उसका भुगतान ब्रिटेन अपने स्टर्लिंग के रूप में करता था। इस प्रकार इस क्षेत्र का कोई भी देश व्यापाराधिक्य तथा अन्य किसी कारण से जो डॉलर प्राप्त करता था उसे साम्राज्य डॉलर कोष में जमा करके स्टर्लिंग के रूप में साख प्राप्त

कर लिया करता था। इस प्रकार सम्पूर्ण स्टर्लिंग क्षेत्र की विदेशी-विनिमय-सम्बन्धी आय इसी सामूहिक कोष में जमा कर दी जाती थी। इसे साम्राज्य डॉलर कोष का नाम दिया गया। इस कोष का उपयोग सभी सदस्य देश अपनी आवश्यकतानुसार करते थे। युद्धकाल में भारत भी इस कोष का एक प्रमुख सहायक रहा एवं इसने प्रायः ४०५ करोड़ रुपये कीमत का डॉलर इस कोष में जमा किया तथा २४० करोड़ रुपये कीमत का डॉलर व्यय किया।

पौंड पावना

(Sterling Balances)

द्वितीय महायुद्ध काल में भारत की मौद्रिक व्यवस्था की सबसे महत्त्वपूर्ण विशेषता पौंड पावने की रकम का जमा होना था। युद्ध के पूर्व भारत पर इंगलैंड का ऋण था, किन्तु युद्धकाल में विभिन्न परिस्थितियों के फलस्वरूप भारत ने न केवल इंगलैंड का पुराना ऋण ही चुका दिया वरन् उल्टे भारत की अरबों रुपये की रकम पौंड पावने के रूप में इंगलैंड में जमा हो गयी। पौंड पावने की रकम जमा होने के निम्नलिखित तीन कारण थे—(१) भारत ने इंगलैंड के लिए युद्धकाल में बहुत-सी सामग्रियाँ प्रदान कीं जिनका मूल्य इसे स्टर्लिंग प्रतिभूतियों के रूप में प्राप्त हुआ; (२) भारत सरकार ने इंगलैंड की सरकार के लिए भारत में भी बहुत-सी रकमें व्यय की जिनका भुगतान उसे स्टर्लिंग के रूप में ही प्राप्त हुआ; (३) भारत के अनुकूल व्यापार तथा डॉलर कोष में जमा की गयी विदेशी विनिमय की रकम के बदले भी इसे स्टर्लिंग ही प्राप्त हुआ। इस प्रकार १९४५-४६ ई० में पौंड-पावने की रकम १७३३ करोड़ रुपये हो गयी। यह रकम निश्चय ही बहुत अधिक थी। इसके फलस्वरूप इंगलैंड भारत का देनदार हो गया। पौंड-पावने की रकम भारत के युद्धकालीन त्याग एवं कष्ट के परिणामस्वरूप ही एकत्र हुई थी। ब्रिटिश सरकार ने आरम्भ में इस रकम को कम करने का प्रयत्न किया, किन्तु वह इसमें पूर्णतया असफल रही। पौंड-पावने की रकम को घटाने के विरुद्ध बहुत से तर्क प्रस्तुत किये जाने लगे। किन्तु ब्रिटिश सरकार की इस नीति से भारत में बहुत असन्तोष हुआ और अन्त में दोनों देशों के बीच बहुत से समझौते हुए जिनके अनुसार ब्रिटिश सरकार ने पौंड-पावने की रकम को चुकता करने की बात तय की। अब तक इसका अधिकांश भाग भारत ने प्राप्त कर लिया है। तथा यह रकम प्रायः समाप्त हो चली है।

अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष एवं भारतीय मुद्रा (International Monetary Fund and the Indian Currency):—युद्ध काल में ही मित्र-राष्ट्रों ने मुद्रा एवं विदेशी विनिमय-सम्बन्धी कठिनाइयों के समाधान के लिए एक अन्तर्राष्ट्रीय संस्था के निर्माण के प्रश्न पर विचार करना प्रारम्भ किया तथा इस उद्देश्य से ब्रेटनउड्स नामक स्थान में १९४४ ई० में विशेषज्ञों की एक बैठक हुई। इसके फलस्वरूप दो अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाओं का निर्माण हुआ:—(१) अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष (International Monetary Fund), तथा (२) अन्तर्राष्ट्रीय विकास बैंक (International Bank for Reconstruction and Development)। अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष का प्रधान उद्देश्य सदस्य-देशों की मुद्रा की विनिमय-दरों में स्थायित्व प्रदान करना था। भारत प्रारम्भ से ही इन संस्थाओं का सदस्य है। इन संस्थाओं की सदस्यता स्वीकार करने से मुद्रा-सम्बन्धी नीति में कुछ परिवर्तन की आवश्यकता पड़ी। इससे रुपये का अन्तर्राष्ट्रीय मूल्य अब डॉलर तथा स्वर्ण के रूप में निश्चित किया गया है। १९६६ ई० के अवमूल्यन के बाद से रुपये का विनिमय-मूल्य ०.११८५ ग्राम शुद्ध सोना या १३.३३६ सेंट हो गया है। साथ

ही, इस सदस्यता के फलस्वरूप रिजर्व बैंक अब किसी भी विदेशी मुद्रा का क्रय तथा विक्रय कर सकता है। इस प्रकार रुपये एवं स्टर्लिंग का वैधानिक गठबन्धन समाप्त हो गया यद्यपि व्यवहार में यह सम्बन्ध आज भी बना आ रहा है।

अन्तर्राष्ट्रीय-मुद्रा-कोष की सदस्यता स्वीकार करने से रिजर्व बैंक अधिनियम में भी कुछ संशोधन की आवश्यकता पड़ी। पहले रिजर्व बैंक नोट जारी करने के लिए ४० प्रतिशत भाग स्वर्ण या स्टर्लिंग प्रतिभूतियों के रूप में रखता था। अब यह सभी देशों की मुद्राएँ खरीद एवं बेच सकता है। साथ ही, नोटों की जमानत के रूप में किसी देश की मुद्रा को रख सकता है, बशर्ते कि वह देश अन्तर्राष्ट्रीय-मुद्रा-कोष का सदस्य हो।

१९४७ ई० में देश-विभाजन का प्रभाव भी देश की मुद्रा-प्रणाली पर पड़ा। देश-विभाजन के फलस्वरूप भारतीय मुद्रा का भी भारत एवं पाकिस्तान के बीच १३·३ के अनुपात में विभाजन हुआ। साथ ही, यह व्यवस्था की गयी कि ३० सितम्बर, १९४७ ई० तक भारतीय नोट पाकिस्तान में प्रचलित रहेंगे। ३१ मार्च, १९४८ ई० तक रिजर्व बैंक ही पाकिस्तान के लिए भी नोट जारी करेगा। १जुलाई, १९४८ ई० को पाकिस्तान के स्टेट बैंक की स्थापना हुई और तब भारत एवं पाकिस्तान की मौद्रिक व्यवस्था बिल्कुल अलग-अलग हो गयी।

रुपये का अवमूल्यन
(Devaluation of the Rupee)

द्वितीय विश्व-युद्ध तथा युद्धोत्तर काल (Post war Period) में स्टर्लिंग क्षेत्र के सभी देश विशेषत: ब्रिटेन का व्यापारिक संतुलन डॉलर क्षेत्र के साथ निरन्तर प्रतिकुल होते जा रहा था। इसके फलस्वरूप 'डॉलर गैप, बढ़ने लगा। १९४६ ई० में यह २२·६ करोड़ से बढ़कर १९४७ ई० में १०२·४ करोड़ पौंड हो गया। इससे स्टर्लिंग क्षेत्र में डॉलर का अत्यधिक अभाव (Scarcity) के लिए स्टर्लिंग क्षेत्र के प्राय: सभी देश पूँजीगत मालों के लिए अमेरिका पर अत्यधिक मात्रा में होने लगा। इस प्रतिकूल व्यापारिक संतुलन के विभिन्न कारण थे। युद्ध के बाद आर्थिक पुनर्संगठन के लिए स्टर्लिंग के क्षेत्र के प्राय: सभी देश पूँजीगत मालों के आयात के लिए अत्यधिक मात्रा में अमेरिका पर निर्भर करने लगे थे। द्वितीय युद्धकाल में अमेरिका ने अधिक औद्योगिक कुशलता हासिल कर ली थी जिससे संसार के अधिकांश देश अपनी पूर्ति के लिए अमेरिका पर ही आश्रित रहने लगे। अत: डॉलर की मांग बढ़ गयी जिससे इसका अभाव होने लगा। युद्ध ने ब्रिटेन की सम्पूर्ण आर्थिक व्यवस्था को अस्त-व्यस्त कर दिया था। इन कठिनाईयों से छुटकारा पाने के लिए इंगलैंड ने १८ सितम्बर, १९४९ ई० को अपनी मुद्रा का अवमूल्यन घोषित किया। इसके अनुसार पौंड के मूल्य को ३०·५ प्रतिशत कम कर दिया गया जिससे पौंड और डॉलर का अनुपात १ पौंड = ४·४०३ डॉलर से घट कर १ पौंड = २·८० डॉलर हो गया।

भारत का व्यापारिक संतुलन भी डॉलर क्षेत्र के साथ इसी प्रकार प्रतिकूल रहता था। आयात एवं निर्यात में भारी असंतुलन था। अतएव स्टर्लिंग के अवमूल्यन होते ही जब स्टर्लिंग क्षेत्र के सभी देशों ने (पाकिस्तान को छोड़कर) थोड़े दिनों में ही अपनी-अपनी मुद्रा का अवमूल्यन घोषित की। भारतीय रुपये का भी स्टर्लिंग के अवमूल्यन के शीघ्र बाद ही अवमूल्यन घोषित किया गया। इसके फलस्वरूप रुपये का डॉलर एवं स्वर्ण-मूल्य ३०·५ प्रतिशत घटा दिया अर्थात् १ रुपया = रुपया = ३०·१२५ सेंट से घटाकर १ रुपया = २१ सेंट हो गया। इस प्रकार अमेरिका से १ डॉलर की वस्तुओं के आयात के लिए पहले ३ रुपये ५ आने

देने पड़ते थे, अब उसी एक डॉलर के लिए ४ रुपये १२ आने देना पड़ने लगा है। रुपये के इस अवमूल्यन में भारत ने पौंड का ही पूरा-पूरा अनुकरण किया।[1]

१९४९ ई० में भारतीय रुपये के अवमूल्यन के प्रभाव (Effects of the Devaluation of the Indian Rupee in 1949) :—१९४९ ई० के अवमूल्यन का देश की आर्थिक व्यवस्था पर निम्नलिखित प्रभाव पड़ा :—

(i) **देश के भुगतान संतुलन की स्थिति में पर्याप्त सुधार हुआ** :—अवमूल्यन के फलस्वरूप भारत के व्यापाराधिक्य की प्रतिकूलता में पर्याप्त कमी हुई। यद्यपि यह सुधार अस्थायी ही था, फिर भी इसका प्रमुख कारण भारतीय रुपये का अवमूल्यन था। अवमूल्यन के फलस्वरूप डॉलर क्षेत्र की वस्तुओं का भारतीय रुपये के रूप में मूल्य बहुत बढ़ गया। इसके विपरीत भारतीय वस्तुएँ इस क्षेत्र में सस्ती पड़ने लगीं। इस प्रकार भारत का डॉलर क्षेत्र के साथ व्यापाराधिक्य, जो १९४९ ई० में ५३ करोड़ रुपये से प्रतिकूल था, १९५० ई० में १९ करोड़ रुपये से भारत के पक्ष में हो गया।

(ii) **अवमूल्यन के फलस्वरूप देश के मूल्य तल में वृद्धि हुई** :—अवमूल्यन के फलस्वरूप प्रारम्भ में कुछ आवश्यक वस्तुओं के मूल्य म कमी हुई, किन्तु पुनः मूल्य में वृद्धि आरम्भ हो गया। इस प्रकार मूल्य का सामान्य सूचनांक, जो अगस्त, १९४९ ई० में ३८९·० था, जून, १९५० ई० में ३९५·६ हो गया। कोरियन युद्ध के फलस्वरूप तो मूल्य-तल अक्टूबर, १९५० ई० में ४१३·५ हो गया।

(iii) **पौंड पावने का मूल्य भी कम हो गया** :—अवमूल्यन के बाद भारत ने पौंड-पावने का जितना भाग डॉलर-क्षेत्र में व्यय किया था उसका मूल्य ३०·५ प्रतिशत से घट गया।

(iv) **विदेशी ऋण के भार में वृद्धि** :—भारत ने अमेरिका तथा विश्व बैंक से जो ऋण लिया था, उसके भार में भी अवमूल्यन के फलस्वरूप वृद्धि हो गयी।

(v) **अवमूल्यन के फलस्वरूप डालर क्षेत्र में निर्यात को प्रोत्साहन मिला तथा वहाँ के आयात में कमी हो गयी** :—अमेरिकी वस्तुएँ भारत में महँगी पड़ने लगीं जिससे भारत को यन्त्र तथा खाद्य-सामग्री खरीदने में कठिनाई होने लगी। साथ ही, पाकिस्तान ने भी अपनी मुद्रा का अवमूल्यन नहीं किया था। अतः वहाँ से भी कच्चा जूट तथा कपास आदि मँगाने का खर्च बढ़ने लगा।

इस प्रकार अवमूल्यन ने देश की आर्थिक व्यवस्था को बहुत अधिक प्रभावित किया। इसके प्रभावों के मूल्यांकन से यह स्पष्ट है कि यद्यपि भारत को अवमूल्यन से प्रारम्भ में कुछ लाभ अवश्य हुआ, किन्तु दीर्घकाल में इससे कोई विशेष लाभ नहीं हुआ। व्यापारिक संतुलन में स्थायी रूप से कोई सुधार नहीं हो सका। निर्यात व्यापार को प्रोत्साहन अवश्य मिला, किन्तु खाद्य-संकट की स्थिति को दूर करने के लिए बहुत-बड़ी मात्रा में अमेरिका से खाद्यान्न का आयात करना पड़ा। पाकिस्तान ने भी अपनी मुद्रा का अवमूल्यन नहीं किया जिससे भारत की कठिनाइयाँ और भी बढ़ गयीं। भारत को पाकिस्तान से कच्चा जूट एवं कपास खरीदने के लिए अब अधिक मूल्य चुकाना पड़ता था। इससे दोनों देशों के बीच का व्यापार प्रायः बन्द-सा हो गया। इस प्रकार

1. "While announcing devaluation in the Indian Parliament, Dr. John Mathai, the then Finance Minister said, 'I feel that in this matter I have had to act, not on conviction born of logic necessarily, but so to speak, by the compulsion of events, since sterling was devalued, there was no other course open to us.''

यह कहा जा सकता है कि अवमूल्यन का भारतीय आर्थिक व्यवस्था पर बहुत अच्छा एवं स्थायी प्रभाव नहीं पड़ा। वास्तव में, अवमूल्यन इस प्रकार की समस्या का कोई स्थायी समाधान है भी नहीं।

जून, १९६६ ई० में अवमूल्यन :—पुनः ६ जून, १९६६ ई० को भारत सरकार ने अपनी मुद्रा का अवमूल्यन किया। इसकी सविस्तार व्याख्या अगले अध्याय में की गयी है।

पंचवर्षीय योजनाओं में भारतीय मुद्रा (१९५१-१९७१)

१९५१-५२ ई० में भारत के आर्थिक विकास के लिए पंचवर्षीय योजनाएँ प्रारम्भ हुईं। पंचवर्षीय योजनाओं का देश की मौद्रिक व्यवस्था पर तीन प्रकार से प्रभाव पड़ा है—(१) योजना काल में देश में सामान्य मूल्य-तल में उत्तरोत्तर वृद्धि होती रही जिसके परिणामस्वरूप भारतीय मुद्रा के आन्तरिक मूल्य में कमी हुई। (२) योजनाकरण का भारतीय मुद्रा की विदेशी विनिमय-दर पर भी प्रभाव पड़ा। (३) योजना काल में देश में मुद्रा की कुल पूर्ति में अत्यधिक वृद्धि हुई।

आयोजित विकास की अवधि में देश में मूल्य-तल में निश्चित रूप से वृद्धि हुई है जो निम्नांकित तालिका से स्पष्ट है :—

थोक मूल्यों का सूचनांक (१९५२-५३=१००)

वर्ष	मूल्य-सूचनांक
१९५५-५६	९२·५
१९६०-६१	१२४·९
१९६१-६२	१२५·१
१९६२-६३	१२७.९
मार्च, १९६४	१३९·२
मार्च, १९६५	१५१·५
मार्च, १९६६	१७२·३
मार्च, १९६७	२०२ ९
मार्च, १९६८	२०१·१
मार्च, १९६९	२११·५

तालिका से स्पष्ट है कि पंचवर्षीय योजनाकाल में थोक मूल्यों के सूचनांक में अत्यधिक वृद्धि हुई है। मूल्य-तल में यह वृद्धि तृतीय योजना तथा इसके बाद वाले वर्षों में और भी तीव्र हो गयी। जैसा कि स्पष्ट है, द्वितीय योजना काल के ५ वर्षों में मूल्य-तल में केवल ३२·४ प्रतिशत की वृद्धि हुई, जबकि तृतीय योजना काल में पाँच वर्षों में मूल्य-तल में ४७·४ प्रतिशत तथा केवल १९६६-६७ से एक वर्ष की अवधि में ३०·६ प्रतिशत की वृद्धि हुई। उपभोक्ता वस्तुओं के मूल्य-तल में भी योजना काल में इसी प्रकार से वृद्धि हुई। मूल्य-तल में इस वृद्धि के परिणामस्वरूप योजना काल में भारतीय मुद्रा की क्रय-शक्ति में बहुत अधिक कमी हुई। केवल १९६१-६२ की तुलना में १ रुपया की क्रय-शक्ति घट कर १९६९-७० में ५८ पैसे हो गयी। मूल्य-तल में वृद्धि, यानी भारतीय मुद्रा की क्रय-शक्ति में इस कमी का प्रधान कारण पंचवर्षीय योजनाओं में बड़े पैमाने पर घाटे की वित्त व्यवस्था (Deficit financing) की नीति को अपनाने के कारण मुद्रा की कुल पूर्ति में अत्यधिक वृद्धि है।

प्रथम तीन पंचवर्षीय योजनाओं के काल में घाटे की वित्त-व्यवस्था के रूप में २६०० करोड़ रुपये की रकम प्राप्त हुई। इसके अतिरिक्त इस अवधि में विदेशी भुगतान संतुलन के घाटे की पूर्ति

के लिए विदेशों से बहुत अधिक रकम ऋण के रूप में भी ली गयी थी। तीनों पंचवर्षीय योजनाओं तथा १९६७-६८ एवं १९६६-६७ में भारत के विदेशी व्यापार का कुल घाटा ६४५२ करोड़ रुपये था जिसका अन्दाजा निम्नांकित तालिका से लगाया जा सकता है :—

(करोड़ रुपये में)

	आयात	निर्यात	व्यापार का घाटा
प्रथम योजना (१९५१-५२ से १९५५-५६)	३६१७	३०२९	—५८८
द्वितीय योजना (१९५६-५७ से १९६०-६१)	४८८२	३०४६	—१८३६
तृतीय योजना (१९६१-६२ से १९६५-६६)	६१३८	३८०७	—२३३१
१९६६-६७	१९९१	१०८६	—९०५
१९६७-६८	२०४३	१२५५	—७८८

१९५१-५२ से १९६७-६८ तक कुल घाटे की रकम —६४५६

इसी प्रकार पंचवर्षीय योजनाओं की अवधि में मुद्रा की कुल पूर्ति में भी पर्याप्त मात्रा में वृद्धि हुई जिसका अन्दाजा निम्नांकित तालिका से लगाया जा सकता है :—

जनता के हाथ सम्पूर्ण मुद्रा (करोड़ रुपये में)[1]

अन्तिम शुक्रवार को	जनता के हाथ मुद्रा की पूर्ति (Money Supply with the Public)
१९५०-५१	२०२०·६
१९५५-५६	२२१७·७
१९६०-६१	२८६७·६
१९६५-६६	४५२९·४
१९६९-७०	६३८९·५
१९७०-७१	७१३६·०
१९७१-७२	८०४२·०

स्पष्ट है कि १९५०-५१ से १९६६-६७ के बीच जनता के पास मुद्रा की कुल पूर्ति में १४६ प्रतिशत की वृद्धि हुई है जब कि वास्तविक राष्ट्रीय आय में इस अवधि में केवल साठ प्रतिशत की ही वृद्धि हुई। दूसरे शब्दों में, इस अवधि में मुद्रा की कुल राशि में राष्ट्रीय उत्पादन में वृद्धि की तुलना में अधिक वृद्धि हुई। इसके परिणामस्वरूप भी मूल्य-तल में अत्यधिक वृद्धि हुई। केवल तृतीय योजना काल में (१९६१-६२ से १९६५-६६ के बीच) मुद्रा की पूर्ति में प्रायः १६६१ करोड़ रुपये, यानी प्रायः ६० प्रतिशत की वृद्धि हुई जबकि योजना काल में वास्तविक राष्ट्रीय आय में केवल: १३ प्रतिशत की ही वृद्धि हुई। यही कारण है कि तृतीय योजना काल में कीमतों में भारी वृद्धि हुई। कीमतों में इस वृद्धि के परिणामस्वरूप भारतीय रुपये के आंतरिक मूल्य में भारी कमी हो गयी है।

विशेष अध्ययन-सूची

1. Reserve Bank of India : Reports on Currency and Finance
2. B. R. Ambedkar : History of Indian Currency and Banking
3. Jather and Beri : Indian Economics (Chapters on Indian Currency and Exchange.)

1. India Pocket Book of Economic Information 1970

अध्याय : ४२

भारतीय रुपये का अवमूल्यन

(Devaluation of the Indian Rupee)

अवमूल्यन का अर्थ (Meaning of Devaluation) :—किसी देश की मुद्रा के अन्य देशों की मुद्राओं के रूप में सरकारी तौर पर मूल्य कम करने को 'अवमूल्यन' कहते हैं। (Devaluation means the lowering of the external value of a country's currency unit by an official act.) दूसरे शब्दों में, जब कोई देश अपनी मुद्रा के बदले पहले से कम ही दूसरे देश की मुद्रा लेने के लिए तैयार हो जाता है, तो उसे मुद्रा का अवमूल्यन कहते हैं। जैसे मान-लीजिये भारत का १०० रुपया अमेरिका के ३५ डॉलर के बराबर है। अब यदि किसी कारणवश भारत सरकार १०० रुपये की विनिमय-दर अब १० डॉलर निर्धारित कर दे तो इसे हम भारतीय रुपये का अवमूल्यन (Devaluation of the Indian Rupee) कहेंगे।

अवमूल्यन की विभिन्न परिभाषाएँ दी जाती हैं। इनमें से कुछ प्रामाणिक परिभाषाएँ इस प्रकार हैं :—**डॉ गांगुली के अनुसार** "अवमूल्यन का अभिप्राय देश की मुद्रा की बाह्य मूल्य में कमी कर देना है।"

इसी प्रकार **पाल एनजिग के अनुसार** "देश की मुद्रा का अन्य देशों की मुद्राओं के मूल्य के साथ निर्धारित सरकारी समता (Official Parities) में कमी करना अवमूल्यन है।"

अवमूल्यन के उद्देश्य (Objectives of Devaluation) :—किन्तु अब प्रश्न यह है कि मुद्रा का अवमूल्यन क्यों किया जाता है ? वास्तव में, **अवमूल्यन के निम्नांकित उद्देश्य हो सकते हैं :—**

(१) भुगतान संतुलन की प्रतिकूलता को दूर करना :—अवमूल्यन के परिणामस्वरूप देशी वस्तुएँ विदेशों में सस्ती हो जाती हैं। इसका कारण स्पष्ट है। अवमूल्यन से देश की मुद्रा के सस्ती हो जाने से विदेशी पहले से कम ही मुद्रा देकर अधिक सामान खरीद सकते हैं। इससे निर्यात प्रोत्साहित होते हैं जबकि स्वदेश में आयातित माल महँगा हो जाने से आयात निरुत्साहित होते हैं। परिणामतः देश का भुगतान असन्तुलन दूर हो जाता है। अधिकांश अवमूल्यन इसी उद्देश्य से किये जाते हैं।

(२) उद्योग-धन्धों को संरक्षण प्रदान करना :—जब किसी देश में राशिपातन की दृष्टि से कोई दूसरा देश अपनी सस्ती वस्तुएँ भेजकर वहाँ के उद्योग-धन्धों को नष्ट करना चाहता है तो इसको देश की मुद्रा के अवमूल्यन द्वारा रोका जाता है क्योंकि अवमूल्यन के परिणामस्वरूप स्वदेश में आयातीत माल महँगा हो जाता है।

(३) देश की मुद्रा के आन्तरिक मूल्य को ऊँचा करना :—आन्तरिक मूल्य-स्तर को ऊँचा उठाने के लिए भी अवमूल्यन किया जाता है। अवमूल्यन के परिणामस्वरूप देशी वस्तुएँ विदेशियों के लिए सस्ती हो जाती हैं जिससे वे अधिक मात्रा में वस्तुएँ खरीदने लगते हैं। विदेशों में स्वदेशी वस्तुओं की माँग बढ़ जाने के कारण देश के आंतरिक मूल्य तलमें वृद्धि होने लगती है।

(४) अधिमूल्यन की स्थिति में सुधार :—अधिमूल्यन, यानी देशी मुद्रा के बाह्य मूल्य के पहले से अधिक होने पर भी अवमूल्यन के द्वारा इसमें सुधार किया जा सकता है।

(५) निर्यात व्यापार (Export) में अपनी स्थिति को पूर्ववत बनाये रखने के उद्देश्य से भी कभी-कभी अवमूल्यन किया जाता है। सारांश यह है कि अवमूल्यन के उपरोक्त कई कारण होते हैं। किन्तु इसका सर्वाधिक प्रधान परिणाम निर्यात में वृद्धि तथा आयात में कमी है।

इस प्रकार अवमूल्यन के उपरोक्त सारे उद्देश्य होते हैं। अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष (International Monetary Fund) की स्थापना से विश्व में मुद्रा के अवमूल्यन के एक युग का ही सभारम्भ होता है। १९४८ से १९६७ के बीच के २० वर्षों में कुल १०९ देशों ने अपनी मुद्रा का अवमूल्यन किया। इनमें से २४ देशों ने अपनी मुद्रा में ७५ प्रतिशत तक अवमूल्यन किया तथा ३८ देशों में ४० से २५ प्रतिशत के बीच अवमूल्यन किया गया। इस अवधि में अफ्रिका के सबसे अधिक ३६ देशों तथा लैटिन अमेरिका के २३ देशों ने अपनी मुद्राओं का अवमूल्यन किया। इस अवधि में स्वयं भारत ने भी दो बार सितम्बर, १९४९ तथा जून, १९६६ में अपने रुपये का अवमूल्यन किया।

१९४९ में भारतीय रुपये का अवमूल्यन (Devaluation of Indian Rupee in 1949) :—१८ सितम्बर, १९४९ को इंगलैंड के तत्कालीन वित्त मन्त्री श्री स्टेफोर्ड क्रिप्स (Sir Stafford Cripps) ने स्टर्लिंग का डॉलर मूल्य ३०·५ प्रतिशत से कम कर दिया। इससे स्टर्लिंग का डॉलर मूल्य एक पौंड = ४·०३ से घटकर २·८ डॉलर ही रह गया। ब्रिटेन का अनुसरण करते हुए १७ अन्य राष्ट्रों ने भी अपनी मुद्राओं का अवमूल्यन ३०·५ प्रतिशत कर दिया, कुछ अन्य राष्ट्रों ने केवल ५·६ प्रतिशत अवमूल्यन किया तथा पाकिस्तान सहित १२ अन्य राष्ट्रों ने अपनी-अपनी मुद्राओं का अवमूल्यन करना आवश्यक नहीं समझा। भारत ने भी १८ सितम्बर, १९४९ को रुपये का ३०·५ प्रतिशत अवमूल्यन कर दिया। अवमूल्यन के पूर्व १ रुपया = ३०·२२५ सेन्ट था, परन्तु अवमूल्यन के पश्चात् १ रुपया = २१ सेन्ट हो गया। इसकी सविस्तार व्याख्या भारतीय मुद्रा वाले अध्याय में की गयी है।

६ जून, १९६६ को भारतीय रुपये का अवमूल्यन (Devaluation of the Indian Rupee on 6th June, 1966) :—पुन: भारत सरकार ने देश की बिगड़ती हुई आर्थिक स्थिति को सुधारने के लिए ६ जून, १९६६ ई० को भारतीय रुपये का अवमूल्यन किया। इसके अनुसार रुपये के बाह्य मूल्य (external value) में ३६·५ प्रतिशत की कमी की गयी। अवमूल्यन के परिणामस्वरूप भारतीय रुपये एवं अमेरिकन डॉलर की नयी समता-दर ७·५ भारतीय रुपये = १ अमेरिकन डॉलर हो गयी। दूसरे शब्दों में, १ भारतीय रुपया अब १३·३३३३ अमेरिकन सेंट के बराबर हो गया। इसके पूर्व इनकी समता-दर ४·७६१९ भारतीय रुपये = १ अमेरिकन डॉलर थी। इस प्रकार अवमूल्यन के पश्चात् अब १०० अमेरिकन डॉलर के लिए ७५० भारतीय रुपये देने पड़ते हैं जबकि इसके पूर्व इसके लिए केवल ४७६·१९ रुपये ही देने पड़ते थे। इसी प्रकार पहले १२·३३ भारतीय रुपये ब्रिटेन के १ पौंड के बराबर होता था, अवमूल्यन के बाद ब्रिटेन का १ पौंड = २१ भारतीय रुपये के बराबर हो गया है। अवमूल्यन के कारण रुपये एवं स्वर्ण के समता मूल्य में भी परिवर्तन हुआ है। अवमूल्यन के परिणामस्वरूप १०० रुपये के समता-मूल्य को १८·६६ ग्राम स्वर्ण से घटाकर ११·८५ ग्राम स्वर्ण कर दिया गया है। इस प्रकार भारत सरकार ने भारतीय रुपये का ३६·५ प्रतिशत अवमूल्यन किया है। दूसरे शब्दों में, भारतीय मुद्रा के रूप में विदेशी मुद्रा का मूल्य अवमूल्यन के परिणामस्वरूप ५७·५ प्रतिशत से बढ़ गया है।

इसके पूर्व भारत सरकार ने सितम्बर, १९४९ ई० में भी अपनी मुद्रा का ३०·५ प्रतिशत से अवमूल्यन किया था जिससे रुपये के विनिमय मूल्य को अमेरिकन डॉलर के रूप में १ रुपया =

३०·२२५ सेंट से घटाकर १ रुपया = २१ सेंट कर दिया गया था। दूसरे शब्दों में स्वर्ण के रूप भारतीय रुपये की समता-दर को ०·२६८६९१ ग्राम शुद्ध स्वर्ण कर दिया गया था।

इस प्रकार प्रायः १८ वर्षों के बाद भारत ने अपनी मुद्रा का दूसरी बार अवमूल्यन किया है। १९६६ ई० में भारतीय रुपये का अवमूल्यन प्रधानतः निर्यात में वृद्धि के लिए किया गया। निर्यात में वृद्धि का प्रधान कारण यह है कि अवमूल्यन वाले देश की वस्तुएँ विदेशों में पहले की अपेक्षा सस्ती हो जाती हैं, जिससे विदेशियों को इनके लिए कम ही मूल्य चुकाना पड़ता है। एक उदाहरण द्वारा इसे अधिक स्पष्ट किया जा सकता है। अवमूल्यन के पूर्व अमेरिका के १०० डॉलर द्वारा भारत को ४७६·१९ रुपये की वस्तुएँ प्राप्त हो जाती थीं। अवमूल्यन के परिणामस्वरूप भारतीय मुद्रा का विनिमय मूल्य घट गया है, अतएव अब १०० डॉलर के द्वारा भारत से ७५० रुपये की वस्तुएँ प्राप्त की जा सकती हैं। इससे स्पष्ट है कि अवमूल्यन से भारतीय वस्तुएँ विदेशों में सस्ती हो जायँगी। इसके विपरीत अवमूल्यन के परिणामस्वरूप विदेशी वस्तुएँ भारत में महँगी पड़ने लगती हैं जिससे आयात हतोत्साहित होता है। उपरोक्त उदाहरण के आधार पर इसे भी अधिक स्पष्ट किया जा सकता है। मानलिया कि संयुक्त राज्य अमेरिका में किसी मशीन की कीमत १०० डॉलर है। उसे भारत में आयात के लिए अवमूल्यन के पूर्व ४७६·१९ रुपये देने पड़ते थे। किन्तु अवमूल्यन के बाद उसी यन्त्र को भारत में मँगाने के लिए ७५० रुपये देने पड़ते हैं। इससे स्पष्ट है कि विदेशी वस्तुएँ अवमूल्यन वाले देश में महँगी हो जाती हैं जिससे आयात हतोत्साहित होता है।

इस प्रकार अवमूल्यन के फलस्वरूप देश की मुद्रा की विनिमय-दर कम हो जाती है, यानी इसके विदेशी विनिमय मूल्य में कमी आ जाती है; अतएव परिणामस्वरूप निर्यात में वृद्धि होती है तथा आयात हतोत्साहित होते हैं।

भारतीय रुपये के अवमूल्यन के लिए उत्तरदायी परिस्थितियाँ
(Circumstances leading to the Devaluation of the Indian Rupee)

अब हम उन परिस्थितियों की व्याख्या करेंगे जिनके परिणामस्वरूप १९६६ में भारतीय रुपये का अवमूल्यन अनिवार्य हो गया। ६ जून, १९६६ ई० को रुपये के अवमूल्यन की घोषणा करते हुए भारत के तत्कालीन वित्त मन्त्री श्री सचीन्द्र चौधरी ने बहुत-सारी परिस्थितियों की चर्चा की जिनके परिणामस्वरूप अवमूल्यन अनिवार्य हो गया था। इनमें निम्नलिखित उल्लेखनीय हैं :—

१. आंतरिक मूल्य-तल में वृद्धि के कारण रुपये के आंतरिक मूल्य में भारी कमी :—सर्वप्रथम तो वर्तमान समय में भारतीय मुद्रा में पिछले दस वर्षों की अपेक्षा बहुत कमी आ गयी। भारत में पिछले कुछ वर्षों से मूल्य-तल में निरन्तर वृद्धि हो रही है। १९६६ ई० में भारतीय मूल्य-तल में दस वर्ष पहले की अपेक्षा प्रायः ८० प्रतिशत की वृद्धि हो गयी। विश्व के अधिकांश देश जिनसे हमलोगों का व्यापारिक सम्बन्ध है, में मूल्य-तल में इस बीच इतनी वृद्धि नहीं हुई है। परन्तु रुपये की विदेशी विनिमय दर में १९४९ ई० से कोई परिवर्तन नहीं हुआ। अतएव ऐसी स्थिति में विदेशी बाजार में हमलोगों के निर्यात को कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है जबकि हमें अपनी योजनाओं को कार्यान्वित करने के लिए अधिकाधिक मात्रा में निर्यात की आवश्यकता है। निर्यात की इन कठिनाइयों को दूर करने के लिए भारत सरकार को बहुत-सारे उपायों जैसे निर्यातकों को आर्थिक सहायता, करों में छूट, आयात का हक आदि अपनाना पड़ा था।

किन्तु इन उपायों से भी एक सीमित मात्रा में सफलता मिली थी। साथ ही, ये सारे उपाय केवल अल्पकालीन हैं। दीर्घकाल तक इन्हें नहीं अपनाया जा सकता। हमारे वित्त मन्त्री के अनुसार ऐसी स्थिति में रुपये के बाह्य मूल्य को कम करने के अतिरिक्त कोई दूसरा विकल्प नहीं रह गया था।

२. **चतुर्थ पंचवर्षीय योजना के लिए बड़े पैमाने पर विदेशी सहायता की आवश्यकता**:—इसका दूसरा कारण चतुर्थ पंचवर्षीय योजना को कार्यान्वित करने के लिए बड़े पैमाने पर विदेशी सहायता की आवश्यकता बतलाया गया था। वास्तव में, विकास की योजनाओं को कार्यान्वित करने के लिए बड़े पैमाने पर विदेशी विनिमय की आवश्यकता पड़ती है और पर्याप्त मात्रा में निर्यात के अभाव में विदेशी विनिमय के लिए हमें विदेशी सहायता पर ही निर्भर रहना पड़ता है। वित्त मन्त्री के शब्दों में ही, "हमलोगों की विदेशी विनिमय की स्थिति इस प्रकार की है कि पर्याप्त मात्रा में विदेशी सहायता के अभाव में आर्थिक विकास की गति निश्चित रूप से मन्द पड़ जायगी। औद्योगिक उत्पादन में १९६५ ई० में केवल ४ प्रतिशत की वृद्धि हुई, कृषि का उत्पादन भी अपेक्षित गति से नहीं बढ़ा। इसे बढ़ाने के लिए विदेशों से खाद एवं उर्वरक के आयात की प्रबल आवश्यकता है। विदेशी ऋणों की वापसी के लिए भी हमारी देनदारी बहुत अधिक है। ऐसी स्थिति में पर्याप्त मात्रा में विदेशी सहायता के लिए भारतीय मुद्रा का अवमूल्यन अनिवार्य हो गया। वित्त मन्त्री के शब्दों में, "A truncated plan, without aid or aid in much smaller amount will not meet the requirements of the situation or enable us to deal with our deep-rooted economic problems satisfactorily."

३. **निर्यात-प्रोत्साहन की विफलता** :—१९६६ ई० के अवमूल्यन का प्रधान कारण सरकार द्वारा निर्यात को प्रोत्साहित करने के लिए अपनाये गये विभिन्न उपायों की विफलता भी था। प्रथम योजना के अन्त में ९९७० करोड़ रुपये राष्ट्रीय आय के विरुद्ध हमारा वार्षिक निर्यात केवल ३०६ करोड़ रुपये, यानी निर्यात कुल राष्ट्रीय आय का केवल ६ प्रतिशत था। इसी प्रकार द्वितीय योजना में औसत वार्षिक निर्यात राष्ट्रीय आय के ४ ६ प्रतिशत तथा तृतीय योजना में ४ ३ प्रतिशत था, यानी इसमें सापेक्षिक रूप में निरन्तर ह्रास हो रहा था। अतः निर्यात में प्रोत्साहन के लिए अवमूल्यन आवश्यक समझा जाने लगा।

४. **आयात में निरन्तर वृद्धि** :—एक ओर तो देश के निर्यात में कोई वृद्धि नहीं हो रही थी और दूसरी ओर इसके आयात में इस अवधि में निरन्तर वृद्धि हो रही थी। परिणामस्वरूप भुगतान संतुलन की विपक्षता बढ़ती जा रही है। अतएव आयात को हतोत्साहित करने के लिए भी अवमूल्यन आवश्यक समझा गया।

५. **भुगतान-संतुलन का निरन्तर विपक्ष में होना** (Continued Adverse balance of payments) :—पिछले कुछ वर्षों से भारत का भुगतान संतुलन निरन्तर इसके विपक्ष में रहता आ रहा है। व्यापारिक संतुलन की विपक्षता का तात्पर्य यह है कि हमलोग निर्यात की अपेक्षा आयात अधिक करते हैं। भारत के व्यापारिक संतुलन में इस विपक्षता के कई कारण हैं, जैसे—भारत से निर्यात की कमी, बड़े पैमाने पर खाद्यान्न तथा यन्त्र एवं अन्य उपकरणों का आयात। भुगतान संतुलन की इस विपक्षता को हमें विदेशों की सरकारों, मुद्रा-कोष एवं विश्व बैंक तथा निजी व्यक्तियों अथवा संस्थाओं से ऋण लेकर पूरा करना पड़ता है। इसके फलस्वरूप विदेशी विनिमय कोष में निरन्तर कमी होती जा रही है। उदाहरण के लिए, तृतीय योजना के चार वर्षों में भारत

के विदेशी विनिमय कोष में ७० करोड़ रुपये की कमी हो गयी। इस बीच अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष से भारत के ऋण में भी वृद्धि हुई। तृतीय योजना के प्रारम्भ में अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष की कुल बकाया रकम १२·७५ करोड़ डॉलर थी। अवमूल्यन के समय में यह बढ़कर ३२·५ करोड़ डॉलर हो गयी।

भुगतान संतुलन की इस निरन्तर विपक्षता का देश के आर्थिक विकास की योजनाओं पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ा है। इसे दूर करने के लिये सरकार द्वारा आयात पर कठोर नियन्त्रण लगाये गये तथा निर्यात को कई प्रकार से प्रोत्साहित किया गया। किन्तु इसके बावजूद भुगतान संतुलन की विपक्षता निरन्तर बढ़ती ही गयी। अवमूल्यन के द्वारा इस समस्या का भी समाधान किया जा सकता है। अवमूल्यन से निर्यात में वृद्धि तथा आयात में कमी की आशा की जाती है जिससे संतुलन की विपक्षता की समस्या का समाधान सुगम जान पड़ता है।

अवमूल्यन के प्रभाव
(Effects of Devaluation)

अब प्रश्न यह है कि क्या अवमूल्यन हमारी वर्तमान आर्थिक समस्याओं के समाधान में सहायक हो सकता है? रुपये का अवमूल्यन इसलिये हुआ कि इसके बाह्य मूल्य में बहुत कमी आ गयी थी। किन्तु ऐसा क्यों हुआ? इसमें कोई सन्देह नहीं की अवमूल्यन देश की अत्यन्त खराब आर्थिक स्थिति का परिणाम है। दूसरे शब्दों में, अवमूल्यन पिछले १९ वर्षों में देश की आर्थिक व्यवस्था के गलत तरीके से संचालन का परिणाम था। यदि प्रारम्भ से ही देश की आर्थिक व्यवस्था को उचित रूप में संचालित किया गया होता तो इतने बड़े पैमाने पर अवमूल्यन की कोई आवश्यकता ही नहीं पड़ती। और, इस सम्बन्ध में सबसे बड़ी बात तो यह है कि **भारतीय रुपये के बाह्य मूल्य में कमी इसके आंतरिक मूल्य में कमी का ही परिणाम है।** (The Rupee lost its value abroad because it had already lost its value at home.) अवमूल्यन के द्वारा हम अपनी मुद्रा के बाह्य मूल्य को प्रभावित कर सकते हैं तथा विदेशी मुद्राओं के साथ नयी समता दर की स्थापना की जा सकती है। किन्तु अवमूल्यन के द्वारा रुपये के आंतरिक मूल्य में ह्रास को रोका नहीं जा सकता है। दूसरे शब्दों में आन्तरिक अव्यवस्था, जो बाह्य अव्यवस्था का प्रधान कारण है, अभी ज्यों-कि-त्यों बनी रहेगी और जब तक आन्तरिक अव्यवस्था को ठीक नहीं किया जायगा तबतक इन नये एवं कम मूल्य पर भी रुपये के बाह्य मूल्य को स्थायी नहीं बनाया जा सकता। (The domestic disequilibrium, which is the fundamental cause of the external disequilibrium, would still persist and unless this domestic disequilibrium is corrected, the external value of the rupee may not be stabilised even at the new lower rate.) दूसरे शब्दों में, अवमूल्यन का उद्देश्य तब तक पूरा नहीं हो सकता जबतक कि रुपये के आंतरिक मूल्य, यानी वस्तुओं तथा सेवाओं के रूप में इसकी क्रय-शक्ति सुदृढ़ नहीं बनायी जाय। ऐसा जबतक नहीं होगा, तबतक सम्भव है कि अवमूल्यन से उन शक्तियों को प्रोत्साहन मिलेगा जिनके द्वारा रुपये की आंतरिक क्रय-शक्ति में और कमी होगी और इस प्रकार देश में मुद्रा-स्फीति की शक्तियों को और भी प्रश्रय मिलेगा। इसे इस प्रकार भी कहा जा सकता है: "Devaluation which is a consequence of inflation, may also cause further inflation by generating new rupee incomes in the economy unmatched by increase in goods and services." अतः आवश्यकता इस बात की है कि अवमूल्यन के साथ-साथ आंतरिक अपस्फोतिजनक नीति का अनुकरण किया जाय। फ्रांस में अवमूल्यन को सफलता का प्रधान कारण

यही था। किन्तु कई कारणों से सरकार के लिए अपस्फीतिजनक नीति का अनुकरण करना कठिन है, अतएव अधिकांश देशों में अवमूल्यन के साथ इस नीति का अनुकरण नहीं किया जाता। यही कारण है कि बहुत से देशों में अवमूल्यन स्थायी सुधार के रूप में कार्य नहीं कर केवल एक अस्थायी उपचार ही सिद्ध हुआ है। भारत में पिछले एक वर्ष में अर्थ-व्यवस्था की स्थिति को देखने से यह स्पष्ट हो जाता है।

इससे स्पष्ट है कि अवमूल्यन मुद्रा-स्फीति की समस्या के समाधान में बहुत हद तक सहायक नहीं हो सकता। वास्तव में, अवमूल्यन के परिणामस्वरूप मूल्य-तल में कमी हुई भी नहीं है। इसके लिए सरकार को मुद्रा के आंतरिक मूल्य को सुदृढ़ बनानेवाले उपायों का अनुकरण करना पड़ेगा जिसके लिए भारत सरकार तथा हमारे वित्त मन्त्री शायद अभी तैयार नहीं हैं।

अवमूल्यन का निर्यात पर प्रभाव (Effect of devaluation on Export) :— दूसरी बात यह है कि क्या अवमूल्यन से भारतीय निर्यात में वृद्धि होगी। निर्यात को मोटे तौर पर दो वर्गों में विभाजित किया जा सकता है—पहला परम्परागत निर्यात (traditional exports) जैसे—कहवा, तिलहन तथा जूट की बनी वस्तुएँ इत्यादि। दूसरी श्रेणी में नये-नये निर्यातों को रखा जा सकता है; जैसे बिजली के सामान, सूती वस्त्र, यन्त्र इत्यादि। जहाँ तक परम्परागत निर्यात का सम्बन्ध है, इस प्रकार की वस्तुओं का भारत से निर्यात बहुत पहले से ही होता आ रहा है, अत: इनके निर्यात के लिए व्यापारिक संगठन पहले से ही काम कर रहा है। इन वस्तुओं के निर्यात के सम्बन्ध में भारत की स्थिति पहले से ही अच्छी है; अतएव केवल इनके उत्पादन में वृद्धि तथा इनकी लागत में कमी अनिवार्य है जिससे निर्यात बढ़ाने के लिए पर्याप्त मात्रा में इनका आधिक्य हो सके। किन्तु इनमें से अधिकांश वस्तुओं के उत्पादन में वृद्धि में पर्याप्त समय लगेगा क्योंकि उत्पादन में वृद्धि तथा उत्पादन व्यय में कमी के लिए इन उद्योगों को अपने संगठन में सुधार करना होगा जिसमें कुछ समय का लगना अनिवार्य है। अतएव परम्परागत वस्तुओं के निर्यात पर अवमूल्यन के प्रभावों के अध्ययन के लिए इस 'समय के तत्त्व' पर ध्यान देना अनिवार्य है क्योंकि समय व्यतीत होने के साथ-साथ अवमूल्यन का प्रभाव भी धीरे-धीरे घटने लगेगा। साथ ही, सरकार द्वारा अवमूल्यन के बाद इस प्रकार की कई वस्तुओं पर निर्यात करों में वृद्धि की गई है। इसका भी इनके निर्यात पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ सकता है।

जहाँ तक गैर-परम्परागत वस्तुओं के निर्यात का सम्बन्ध है, सरकार इनके निर्यात को प्रोत्साहित करने के लिए अवमूल्यन के पहले इन्हें विभिन्न प्रकार की आर्थिक सहायता प्रदान करती थी। खास-खास उद्योगों को तो निर्यात के लिए सरकार २०० प्रतिशत या इससे भी अधिक सहायता प्रदान करती थी। अवमूल्यन के पश्चात् इन्हें समाप्त कर दिया गया है। ऐसी स्थिति में अवमूल्यन का इस प्रकार के निर्यात पर क्या प्रभाव पड़ेगा अभी निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। किन्तु इनमें से अधिकांश वस्तुओं का उत्पादन व्यय हमारे देश में अन्य देशों की अपेक्षा अधिक ऊँचा है। अतएव अब प्रश्न यह है कि क्या भारतीय रुपये के ३६·५ प्रतिशत अवमूल्यन से अपने वर्तमान लागत पर ये विदेशी बाजार में सफलतापूर्वक प्रतियोगिता कर सकते हैं। यह बिलकुल संदिग्ध है। सबसे बड़ी बात तो यह है कि यदि ये अपने निर्यात को बढ़ाने में सफल भी हो जायँ तो इन वस्तुओं की देश में कमी हो जायगी जिससे इनके आंतरिक मूल्य में वृद्धि होगी।

फिर भी, अवमूल्यन के परिणामस्वरूप देश के कुल निर्यात में वृद्धि अवश्य हुई है। अवमूल्यन के पूर्व, तृतीय योजना के पाँच वर्षों में निर्यात का वार्षिक औसत ७६२ करोड़ रुपये था, जबकि १९६६-६७ तथा १९६७-६८ में वार्षिक निर्यात क्रमश: १०७९ करोड़ रुपये तथा १२५५

करोड़ रुपये था। किन्तु निर्यात में यह वृद्धि आयात में वृद्धि के द्वारा समाप्त ही गयी और परिणामस्वरूप व्यापार के घाटे में इस अवधि में और बहुत अधिक भी वृद्धि हुई।

अवमूल्यन का आयात पर प्रभाव (Effect of devaluation on Imports) :—जहाँ तक आयात पर अवमूल्यन के प्रभाव का प्रश्न है, भारतीय रुपये ३६·५ प्रतिशत अवमूल्यन से आयात के मूल्य में ५७·५% की वृद्धि हो गयी। इसका तात्पर्य यह है कि यदि १९६६-६७ ई० में आयात को १९६५-६६ ई० के स्तर (१३५० करोड़ रुपये) पर भी रखा जाय तो इसके मूल्य में रुपये के रूप में प्रायः ७७६ करोड़ रुपये की वृद्धि होगी। दूसरे शब्दों में, १९६५-६६ ई० के बराबर आयात, यानी १९६६-६७ में भी १३५० करोड़ रुपये मूल्य के आयात के लिए भारत को २१२६ करोड़ रुपये व्यय करना पड़ेगा। वास्तव में, १९६६-६७ तथा १९६८-६९ ई० में आयात क्रमशः २०७८ करोड़ रुपये तथा १९०९ करोड़ हुआ। ऐसी स्थिति में आयात के समान प्रयोग करनेवाले उद्योगों का उत्पादन व्यय बढ़ जायगा जिससे इनकी वस्तुओं के मूल्य में भी वृद्धि होगी। आयात की जानेवाली कुछ वस्तुओं पर सरकार ने अवमूल्यन के बाद आयात करों में कुछ छूट दी है। उदाहरण के लिए यन्त्रों के आयात पर से आयात करों को ४५ प्रतिशत से घटाकर २७½ प्रतिशत कर दिया गया है। किन्तु इस प्रकार की छूट का प्रभाव बिलकुल नगण्य है क्योंकि इस घटी हुई दर पर भी आयात के बढ़े हुए खर्च के कारण छूट की रकम प्रायः वही रह जायगी। अवमूल्यन के बाद सरकार अपनी आयात नीति को भी अधिक उदार बना रही है। सरकार का उद्देश्य आवश्यक उद्योगों के लिए कच्चे पदार्थ तथा मशीन आदि के आयात को अधिक उदार बनाना है। इससे इन उद्योगों के विकास को अच्छा प्रोत्साहन मिलेगा। साथ ही, अवमूल्यन के परिणामस्वरूप खाद्यान्न एवं खाद के आयात-मूल्य में जिस हद तक वृद्धि होगी उस हद तक सरकार इन्हें आर्थिक सहायता प्रदान करेगी जिससे विक्रय मूल्य में भी वृद्धि नहीं होने पाय। वास्तव में, अवमूल्यन के पश्चात् आयात में कमी अवश्य हुई है जो अगले पृष्ठ की तालिका से स्पष्ट है। १९६८-६९ तथा १९६९-७० ई० में आयात में कमी अवश्य हुई है, किन्तु आयात में यह कमी मुख्यतः खाद्यान्नों के उत्पादन मे वृद्धि के कारण इनके आयात में कमी से हुई है।

आन्तरिक मूल्य-तल पर प्रभाव (Effect on Internal Prices) :—अन्त में हमें यह देखना है कि अवमूल्यन का आंतरिक मूल्य-तल पर क्या प्रभाव पड़ेगा। अवमूल्यन के समर्थकों का कहना है कि अवमूल्यन मूल्य-तल को स्थायी बनाता है और कभी-कभी इसमें कमी भी लाता है। किन्तु वास्तव में इस प्रकार का तर्क तथ्यहीन जान पड़ता है। जैसा कि हम देख चुके हैं कि अवमूल्यन का प्रधान उद्देश्य निर्यात को प्रोत्साहित तथा आयात को हतोत्साहित करना है। निर्यात में वृद्धि से निर्यात की वस्तुओं के मूल्य में वृद्धि होती है और मूल्य में यह वृद्धि केवल निर्यात तक ही सीमित नहीं रहकर देश के उपभोक्ता उद्योगों को भी प्रभावित करती है। साथ ही, निर्यात की वस्तुओं के मूल्य में वृद्धि से इसके कच्चे पदार्थों तथा मजदूरी की दर में भी वृद्धि होगी और इस प्रकार इनके मूल्य में वृद्धि का प्रभाव धीरे-धीरे सम्पूर्ण अर्थ-व्यवस्था पर पड़ने लगता है। इसी प्रकार आयात के महँगा हो जाने के कारण आयात की जाने वाली वस्तुओं तथा इनकी स्थानापन्न वस्तुओं के मूल्य में भी वृद्धि हो जाती है। जिन उद्योगों में आयात किये गये यन्त्रों अथवा कच्चे पदार्थों का प्रयोग किया जाता है, उनका उत्पादन व्यय भी बढ़ जायगा जिससे इनके द्वारा निर्मित वस्तुओं के मूल्य में वृद्धि होगी। मूल्य-वृद्धि की मात्रा किसी वस्तु विशेष के उत्पादन में आयात की गयी वस्तुओं के महत्त्व पर निर्भर करती है। और इस प्रकार इन वस्तुओं के मूल्य में वृद्धि का प्रभाव धीरे-धीरे सम्पूर्ण अर्थ-व्यवस्था पर पड़ेगा।

किन्तु अवमूल्यन के परिणामस्वरूप मूल्य-तल में इस वृद्धि को सरकार उचित आर्थिक, मौद्रिक तथा प्रशासनिक उपायों द्वारा रोक सकती है। भारत सरकार भी इस सम्बन्ध में जागरूक है तथा मूल्य-तल में वृद्धि को रोकने के लिए बहुत सारे उपाय अपनाये जा रहे हैं, जैसे खाद्यान्न एवं खाद जैसे आधारभूत आयातों पर आर्थिक सहायता देना, आवश्यक वस्तुओं के मूल्य पर नियन्त्रण तथा इनके वितरण की व्यवस्था के लिए सरकारी दूकानें एवं सहकारी भंडारों की स्थापना और उदार आयात नीति का अनुकरण इत्यादि। किन्तु इन उपायों का मूल्य-तल पर अनुकूल प्रभाव नहीं पड़ा है। साथ ही, यह बहुत कुछ मौनसून की प्रकृति तथा घाटे की वित्त-व्यवस्था की मात्रा पर निर्भर करता है। यदि मौनसून की प्रकृति अच्छी रही तथा कृषि की उपज पर्याप्त मात्रा में हुई एवं सरकार घाटे की वित्त व्यवस्था को एक सीमा के अन्तर्गत रखने से समर्थ हुई तो इससे मूल्य-तल में वृद्धि की प्रवृत्ति अवश्य ही रुकेगी।

किन्तु अवमूल्यन का देश की आर्थिक व्यवस्था पर अनुकूल प्रभाव नहीं पड़ा है इससे निर्यात में अपेक्षित वृद्धि नहीं हुई। दूसरी ओर आवश्यक वस्तुओं के आयात में भी अत्यधिक वृद्धि हुई। **दूसरे शब्दों में, इससे अवमूल्यन के बाद के वर्षों में भी व्यापार के घाटे में अत्यधिक वृद्धि हुई है जो निम्नांकित तालिका से स्पष्ट है—**

१९५०-५१ से १९६९-७० ई० के बीच भारत का व्यापारिक संतुलन

(करोड़ रुपये में)

	अवमूल्यन के पूर्व			अवमूल्यन के बाद			
	प्रथम योजना (१९५१-५६)	द्वितीय योजना (१९५६-६१)	तृतीय योजना (१९६१-६६)	१९६६-६७	१९६७-६८	१९६८-६९	१९६९-७०
आयात	३६१७	४८८२	६१३८	१९९१	२०४३	१७४१	१५८२
निर्यात	३०२९	३०४७	३८०७	१०८६	१२५५	१३६७	१४०४
व्यापार का घाटा	— ५८८	—१८३६	—२३३१	—९०५	—७८७	—३७४	—१७८
वार्षिक औसत	—११७ ६	—३६७ २	—४६६·२	—९०५	—७८८	—३७४	—१५५

स्पष्ट है कि अवमूल्यन से देश की आर्थिक स्थिति में कोई स्पष्ट सुधार नहीं हो सका है। १९६८-६९ तक व्यापार के घाटे में कोई कमी नहीं दिखाई दी है किन्तु १९६९-७० में इसमें बड़े पैमाने पर कमी हुई जैसा कि उपरोक्त तालिका से स्पष्ट है।

विशेष अध्ययन सूची

1. Eastern Economist : June 9 and 17, 1966
2. Commerce : June II, 1966

———

अध्याय : ४३

भारतीय बैंकिंग व्यवस्था का विकास

(Development of the Indian Banking System)

प्रथम महायुद्ध तक बैंकिंग व्यवस्था का विकास :—आधुनिक आर्थिक व्यवस्था में बैंकों का बड़ा ही महत्त्वपूर्ण स्थान है। बैंक हमारी आर्थिक व्यवस्था में विभिन्न प्रकार से सहायता प्रदान करते हैं। उत्पादन, विक्रय, आन्तरिक एवं विदेशी व्यापार आदि सभी क्षेत्रों में ये अनेक प्रकार से सहायक होते हैं। इंगलैंड तथा संयुक्त राज्य अमेरिका जैसे विकसित देशों में बैंकों का जमा ९० प्रतिशत तक मुद्रा का कार्य करता है।

अंगरेजों के भारत आगमन के सदियों पूर्व भारत में बैंकिंग का कार्य देशी महाजन तथा साहूकारों द्वारा किया जाता था। ये महाजन एवं साहूकार जनता का जमा ग्रहण करते, उन्हें उधार देते तथा देश के व्यापार में विभिन्न प्रकार से सहायता प्रदान करते थे। किन्तु अंगरेजों के भारत आगमन के पश्चात् भारतीय बैंकिंग व्यवस्था का ह्रास प्रारम्भ हो गया। अंगरेजों ने देशी बैंकिंग प्रणाली का उपयोग नहीं किया तथा इसके बदले स्थान-स्थान पर एजेन्सी गृहों (Agency houses) की स्थापना को प्रोत्साहित करने लगे। इन एजेन्सी गृहों में कम्पनी के कर्मचारियों की पूँजी जमा रहती थी। बाद में इन्होंने जनता से भी जमा प्राप्त करना प्रारम्भ कर दिया। किन्तु, १८१३ ई० में कम्पनी का व्यापारिक अधिकार समाप्त हो गया जिससे इन एजेन्सी गृहों के व्यापार को बहुत बड़ा धक्का लगा। साथ ही, इन्होंने सट्टेबाजी में भी हाथ बटाना प्रारम्भ कर दिया था जिससे १८३०-३१ ई० तक अधिकांश एजेन्सी गृह फेल कर गये। इनमें से कुछ अच्छी आर्थिक स्थिति वाले गृहों ने असीमित देय की मिश्रित पूँजी वाले बैंकों की स्थापना की थी। इन बैंकों में से कुछ ने पत्र-मुद्रा चलाने का कार्य भी प्रारम्भ कर दिया था, किन्तु १८३१-३२ ई० में ये सब भी फेल कर गये। तब से लेकर १८८० ई० तक देश में बैंकिंग व्यवस्था का विकास बड़ा ही मन्द रहा।

कम्पनी की आज्ञा के अनुसार १८०६ ई० में कलकत्ता में, १८४० ई० में बम्बई में तथा १८४३ ई० में मद्रास में एक-एक प्रेसीडेंसी बैंक की स्थापना की गयी। कम्पनी ने इन तीनों बैंकों में अपनी पूँजी लगायी। इन बैंकों को पत्र-मुद्रा जारी करने का भी अधिकार दिया गया। १८६२ ई० तक इन प्रेसीडेंसी बैंकों ने नोट जारी करने का कार्य किया। इसके बाद सरकार ने पत्र मुद्रा जारी करने का कार्य स्वयं अपने हाथ में ले लिया। १८७६ ई० में प्रेसीडेंसी बैंक अधिनियम पारित होने के बाद सरकार ने इन बैंकों से अपना सम्बन्ध बिच्छेद कर लिया। ये बैंक १९२० ई० तक सफलतापूर्वक कार्य करते रहे। उसी वर्ष इन तीनों बैंकों को मिलाकर इम्पीरियल बैंक ऑफ इण्डिया की स्थापना हुई।

१८८० ई० के बाद भारत में तीव्र गति से बैंकों का विकास प्रारम्भ हुआ तथा देश में बहुत-से बैंकों की स्थापना हुई। इनमें से अधिकांश बैंक यूरोपियन पूँजी एवं व्यवस्था के अन्तर्गत स्थापित किये गये थे। अवध कर्माशियल बैंक भारतीय पूँजी एवं व्यवस्था द्वारा स्थापित सर्वप्रथम बैंक था। इसके बाद पंजाब नेशनल बैंक, दि बैंक ऑफ बड़ौदा, सेन्ट्रल बैंक ऑफ इण्डिया, इलाहाबाद बैंक आदि बैंकों की स्थापना हुई। आज भी ये भारत के मुख्य बैंक हैं। इनके अतिरिक्त

बहुत से छोटे-छोटे बैंकों की भी स्थापना हुई, जिनकी संख्या १९१३ ई० तक ५६० हो गयी थी। बैंकों के इस अनियोजित विकास के परिणामस्वरूप भारतीय बैंकों को बहुत सारी कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। फलतः, १९१३-१७ ई० के बीच ८७ बैंक फेल कर गये।

१९१३-१७ ई० का बैंकिंग संकट (Banking Crisis of 1913-17) :—सन् १९१३-१७ ई० के बीच का समय भारतीय बैंकों के लिए संकट का काल था। इस संकट के कई महत्त्व-पूर्ण कारण थे—(१) १९०५ ई० के बाद बैंकों की स्थापना द्रुतगति से प्रारम्भ हुई जिसका भारतीय बैंकों पर बहुत बुरा प्रभाव पड़ा। (२) नये-नये बैंक युद्धकालीन परिस्थितियों का सामना नहीं कर सके तथा युद्धजनित परिस्थितियों के स्वयं शिकार हो गये। (३) युद्धकाल में सरकार ने बहुत बड़ी मात्रा में बाजार से धन लेना प्रारम्भ कर दिया जिससे मुद्रा-बाजार में धन का अभाव हो गया। (४) भारतीय मुद्रा एवं साख-प्रणाली में लोच का अभाव भी इसका एक प्रमुख कारण था। भारत में साख-व्यवस्था का अभी पूर्णरूपेण विकास नहीं हुआ था। इससे बैंकों को आवश्यकता पड़ने पर सहायता नहीं मिल सकी। (५) देश में एक केन्द्रीय बैंक का अभाव था। देश की बैंकिंग व्यवस्था के सफल-संचालन के लिए एक केन्द्रीय बैंक की आवश्यकता होती है जो पथ-प्रदर्शक का काम करता है। किन्तु, भारत में उस समय ऐसी संस्था का प्रायः अभाव था। इन सब कारणों से १९१३ ई० से बैंकिंग संकट का काल प्रारम्भ हुआ। सर्वप्रथम दि पिपुल्स बैंक ऑफ इण्डिया १९१३ ई० में इस संकट का शिकार हुआ। १९१७-१८ ई० तक यह संकट का काल रहा जिसमें कुल ८७ बैंक फेल कर गये।

बैंकों के फेल होने के कारण (Causes of Bank-failures) :—इस संकट के काल में बैंकों के फेल होने के बहुत-से कारण थे जिनमें से कुछ का सम्बन्ध तो उस समय की परिस्थितियों से था तथा कुछ का सम्बन्ध देश की बैंकिंग व्यवस्था के दोषों से था जिनमें-से आज भी बहुत-से वर्तमान हैं। संक्षेप में, भारत में बैंकों के फेल होने के निम्नांकित प्रमुख कारण थे :—

(१) **सुयोग्य बैंक-संचालकों का अभाव** :—देश में बैंकों की स्थापना को १९०५ ई० के स्वदेशी आन्दोलन से बहुत अधिक प्रोत्साहन मिला तथा बहुत बड़ी संख्या में बैंकों की स्थापना की जाने लगी। किन्तु इन बैंकों के लिए सुयोग्य संचालकों का अभाव था। सुयोग्य संचालकों के अभाव में इन बैंकों को तरह-तरह की कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। इनकी कार्यवाही बैंकिंग के सिद्धान्तों के आधार पर नहीं होती थी। परिणामस्वरूप बहुत से बैंक फेल कर गये।

(२) **ब्याज की दर का अधिक होना** :—बैंकों के पास परिदत्त पूँजी का अभाव था, अतएव वे अपने कार्य-संचालन के लिए ऊँची ब्याज की दर पर जमा ग्रहण करते थे। कभी-कभी तो ऋण लेने तथा देने की दरों में बहुत कम अन्तर होता था। इस प्रकार अपने पास समुचित नगद जमा (Cash Reserve) रखे वगैर ही बैंकों ने जमाकर्त्ता के धनों को दीर्घकाल के लिए उधार देना प्रारम्भ कर दिया। कभी-कभी तो ये अपनी पूँजी ऐसे कार्यों में लगाते थे जिसका वापस सम्भव नहीं जान पड़ता था। ऐसी परिस्थिति में बैंकों का फेल होना अति स्वाभाविक था।

(३) **सट्टेबाजी में धन का विनियोग** :—बहुत से बैंकों ने अपने धन का सट्टेबाजी में विनियोग करना प्रारम्भ कर दिया था। इससे इन्हें बहुत अधिक क्षति उठानी पड़ी। बैंक इस बात को बहुत गुप्त रखते थे।

(४) **बैंक के साधनों का निजी कार्यों में उपयोग** :—कुछ बैंकों के संचालकों ने बैंकों के धन को अपने निजी कार्यों में भी लगाना प्रारम्भ कर दिया जिससे संकटकाल में अधिकांश बैंक टूट गये।

(५) **नकद कोष (Cash Reserve) का कम अनुपात** :—भारत में बैंक प्रारम्भ से ही अपने कुल जमा का एक बहुत छोटा भाग नकद कोष के रूप में रखते थे। अतः ग्राहकों की मांग बढ़ जाने पर इसे पूरा करना इस प्रकार के बैंकों के लिए बहुत-ही कठिन हो जाता था जिससे बैंक आर्थिक संकट में फँस जाते थे।

(६) **केन्द्रीय बैंक का अभाव** :—देश की बैंकिंग व्यवस्था के समुचित नियन्त्रण के लिए केन्द्रीय बैंक की आवश्यकता पड़ती है। किन्तु भारत में १९३५ ई० में रिजर्व बैंक की स्थापना के पूर्व इस प्रकार के केन्द्रीय बैंक का सर्वथा अभाव था। अतः उचित पथ-प्रदर्शन एवं निर्देशन के अभाव में बैंकों का अत्यधिक मात्रा में फेल होना बिल्कुल स्वाभाविक ही था। साथ ही, १९१३ ई० तक देश में बैंकों के लिए कोई विधान नहीं था जिससे प्रायः सभी बैंक स्वतन्त्रतापूर्वक कार्य करते थे।

दोनों महायुद्धों के बीच वाले समय में बैंकों का विकास
(Development of Banking in the Inter-War Period)

१९१३ ई० से १९१७ ई० के बीच बैंकिंग संकट के फलस्वरूप जनता का बैंकों पर से विश्वास धीरे-धीरे कम होने लगा। प्रथम महायुद्ध काल के प्रारम्भ में यह कठिनाई बहुत बढ़ गयी थी, किन्तु युद्ध के अन्तिम भाग में धीरे-धीरे परिस्थिति में सुधार होने लगा। युद्ध-काल में मुद्रा-स्फीति के कारण जनता के पास अत्यधिक मात्रा में धन आया जिससे बैंकों के जमा में वृद्धि होने लगी तथा बैंकों का टूटना भी कम हो गया। स्थान-स्थान पर नये-नये बैंकों की भी स्थापना हुई। १९२० ई० में तीनों प्रेसीडेन्सी बैंकों को मिलाकर एक इम्पीरियल बैंक ऑफ इण्डिया (Imperial Bank of India) की स्थापना हुई। इस बैंक ने देश की बैंकिंग व्यवस्था के विकास में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया। १९२२ ई० में पुनः मुद्रा-स्फीति तथा आर्थिक मन्दी के कारण बैंकों के समक्ष संकट उपस्थित हो गया। यह संकट १९२९-३० ई० की मन्दी में और भी गम्भीर हो गया तथा १९३६ ई० तक चलता रहा। १९२९-३६ ई० के बीच में देश में कुल ४८१ बैंक फेल कर गये जिनमें से ९८ पंजाब में, ६४ उत्तर-प्रदेश में तथा ५७ बम्बई में थे। १९३० ई० में केन्द्रीय बैंकिंग जाँच-समिति (Central Banking Enquiry Committee) की नियुक्ति हुई जिसका उद्देश्य देश की बैंकिंग व्यवस्था में सुधार के लिए आवश्यक सुझाव देना था। इस समिति ने इस सम्बन्ध में बहुत से सुझाव दिये जिनमें निम्नलिखित दो प्रमुख थे—(१) देश में एक केन्द्रीय बैंक की स्थापना की जाय, तथा (२) बैंकिंग व्यवस्था के समुचित विकास के लिए एक बैंकिंग विधान बनाया जाय। सरकार समिति की सिफारिशों को शीघ्र कार्यान्वित नहीं कर सकी, फिर भी १९३४ ई० में एक रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया अधिनियम पारित हुआ जिसके अनुसार १९३५ ई० में रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया की स्थापना हुई। देश की बैंकिंग व्यवस्था के इतिहास में इस बैंक की स्थापना का बड़ा ही महत्त्वपूर्ण स्थान है। साथ ही, १९३६ ई० में बैंकिंग कम्पनियों पर नियन्त्रण रखने के लिए भारतीय कम्पनी अधिनियम (Indian Companies Act) में भी आवश्यक संशोधन किया गया।

इस काल में देश की बैंकिंग व्यवस्था का व्यवस्थित तरीके से विकास हुआ। एक ओर तो बम्बई, मद्रास, उत्तर-प्रदेश, पंजाब तथा बंगाल में बैंकों की संख्या में बहुत वृद्धि हुई तो दूसरी ओर असम, उड़ीसा, बिहार तथा मध्य-प्रदेश आदि प्रान्तों में बैंकिंग की सुविधाओं में कोई वृद्धि

नहीं हुई। इन प्रान्तों में बैंकों की शाखाओं का भी अभाव था। शाखा स्थापित करते समय बैंक बहुधा इम्पीरियल बैंक की ही नकल करते थे। अतः बैंकों की शाखाएँ मुख्यतः बड़े-बड़े नगरों में ही स्थापित की गयीं जिससे देश के अधिकांश भाग में बैंकिंग की सुविधाओं का पर्यात विकास नहीं हो पाया। बैंकिंग के इस अव्यवस्थित विकास के फलस्वरूप बैंकों के जमा में भी केन्द्रीयकरण की प्रवृत्ति दीख पड़ने लगी। १९२२ से १९३९ ई० के बीच बैंकों की जमा राशि ७० करोड़ रुपये से बढ़कर ११० करोड़ रुपये हो गयी जिसका ८३ प्रतिशत भाग इम्पीरियल बैंक तथा अन्य सात प्रमुख बैंकों के पास था।

द्वितीय महायुद्ध काल में बैंकिंग व्यवस्था :—द्वितीय महायुद्ध का देश की बैंकिंग व्यवस्था पर बड़ा ही अच्छा प्रभाव पड़ा। एक ओर तो पुराने बैंकों ने उन्नति की और दूसरी ओर नये-नये बैंकों की स्थापना भी हुई। युद्ध काल में मुद्रा-स्फीति के फलस्वरूप बैंकों के जमा में महत्त्वपूर्ण वृद्धि हुई। बैंकों का कुल जमा १९३९ ई० में २५९·४५ करोड़ रुपये से बढ़कर १९४४-४५ ई० में १०९७ करोड़ रुपये हो गया। युद्ध-काल में बैंकों की संख्या में भी आश्चर्यजनक वृद्धि हुई। १९४६ ई० तक अनुचित बैंकों (Scheduled Banks) की संख्या बढ़कर ९३ तथा इनके कार्यालयों की संख्या बढ़कर ३१०६ हो गयी। युद्ध-काल में बैंकों की आय में भी पर्याप्त वृद्धि हुई। किन्तु युद्ध के पूर्व की तरह इस काल में भी बैंकों का प्रसार बिना किसी पूर्व निश्चित योजना के ही हुआ था, अतः युद्ध-काल में भी बैंकों के असंतुलित विकास की प्रकृति को विशेष बल मिला। साथ ही, बैंकों का प्रसार इतनी तेजी के साथ हुआ कि योग्य, अनुभवी एवं कुशल प्रबन्धकों तथा कर्मचारियों का अभाव होने लगा। देश की बैंकिंग व्यवस्था पर इसका भी बड़ा ही बुरा प्रभाव पड़ा।

युद्ध के बाद १९४७ ई० में देश को स्वतन्त्रता प्राप्त हुई। स्वतन्त्रता-प्राप्ति के साथ-साथ देश-विभाजन भी हुआ जिसका प्रभाव पंजाब एवं बंगाल के बैंकों पर बहुत बुरा पड़ा। देश में उत्पादन कम हो गया, आयात-निर्यात घट गये तथा बहुत बड़े पैमाने पर जान-माल का भी विनाश हुआ। इसका देश के बैंक पर बहुत ही बुरा प्रभाव पड़ा जिसके परिणामस्वरूप केवल १९४७ ई० में ३० बैंक फेल कर गये।

भारतीय बैंक की वर्तमान स्थिति (Present Position of Banks in India) :—१९६७ ई० में भारत में अनुसूचित बैंकों (Scheduled Banks) की संख्या ७३ थी, जबकी इनकी संख्या १९५०-५१ में ६३ थी। १९६७ में इनकी कुल शाखाएँ ६८१६ थीं। साथ ही असूचित बैंकों (Non-scheduled Banks) की संख्या १९५६ ई० में ३५४ से घटकर १९६८ ई० में २५८ हो गयी। इस अवधि में बैंकों का सम्मिश्रण (Amalgamation of Banks) ही इनकी संख्या में इस कमी का प्रधान कारण था। १९६६-६७ ई० में अनुसूचित बैंकों का कुल जमा (Total deposits) ३४२४ ७ करोड़ रुपया था जिसमें मांग जमा १९४६·१ करोड़ रुपये तथा सावधि जमा १७७५·८ करोड़ रुपये था।

गैडगिल समिति के अनुसार देश के कुल बैंक जमा का प्रायः एक-तिहाई भाग कलकत्ता तथा बम्बई दो-नगरों से प्राप्त होता है तथा आधा से अधिक बैंक साख इन्हीं दो नगरों में प्रदान किया जाता है। प्रति व्यक्ति औसत जमा सम्पूर्ण देश के लिए ८७ रुपये है। यह औसत सबसे अधिक २०० रुपये चंडीगढ़ में तथा सबसे कम लगभग १३ रुपये उड़ीसा में है।

भारतीय बैंकिंग व्यवस्था के दोष तथा इसे सुदृढ़ बनाने के उपाय

आजकल भारतीय बैंकिंग व्यवस्था में अनेकों दोष पाये जाते हैं जिनमें से निम्नलिखित प्रमुख हैं—(१) देश में बैंकिंग कम्पनियों की संख्या अत्यधिक है। अत्यधिक संख्या में होने के कारण अधिकांश कम्पनियों का आकार बहुत ही छोटा होता है। (२) बैंकों के व्यापार के तरीकों में भी विभिन्नताएँ पायी जाती हैं। भिन्न-भिन्न बैंक विभिन्न तरीकों का अनुसरण करते हैं जिससे इनका समुचित विकास नहीं हो पाता (३) अचल सम्पत्ति के आधार पर भारतीय बैंक अत्यधिक कर्ज देते हैं जिससे इसे वसूलने में बहुत अधिक कठिनाई होती है। कभी-कभी तो ये अपर्याप्त जमानत पर भी कर्ज दे देते हैं। (४) शाखाओं की स्थापना में भी बैंक बहुधा अनियोजित ढंग से कार्य करते हैं। शाखाओं की स्थापना में आर्थिक लाभों के बजाय प्रतियोगिता को ही प्राथमिकता दी जाती है। (५) बैंकों का दोषपूर्ण प्रबन्ध भी भारतीय बैंकिंग व्यवस्था का एक प्रमुख दोष है। भारत में बैंकों के संचालन एवं प्रबन्ध के लिए सुयोग्य व्यक्तियों का अभाव है। बैंकों का कुछ व्यापार से अनुचित सम्बन्ध भी रहता है जिसका प्रभाव भी बैंकों पर बहुधा बुरा पड़ता है। (६) इनके अतिरिक्त भारतीय बैंक बहुधा झूठे आंकड़े देकर अपनी वास्तविक स्थिति को छुपाने का प्रयत्न करते हैं।

रिजर्व बैंक द्वारा भारतीय बैंकों की स्थिति के सम्बन्ध में समय-समय पर जाँच की गयी है तथा इनके दोषों को दूर करने के लिए सुझाव दिये गये हैं। **इनमें से कुछ प्रमुख सुझाव इस प्रकार हैं :—**

(१) **बैंकों के प्रबन्ध के सम्बन्ध में सुझाव** :—भारतीय बैंकों को बहुधा सुयोग्य एवं कुशल संचालकों की सेवाएँ उपलब्ध नहीं हो पाती हैं जिससे इनकी कार्यवाही में विभिन्न प्रकार के दोष आ जाते हैं। बैंकिंग व्यवस्था के समुचित विकास के लिए बैंकों का प्रबन्ध कुशल एवं योग्य व्यक्तियों के हाथ में होना चाहिए। अतः रिजर्व बैंक ने कर्मचारियों के प्रशिक्षण एवं उनकी नियुक्ति में सावधानी तथा उनकी कार्य-प्रणाली में सुधार की सिफारिश की है।

(२) **विनियोग-नीति के सम्बन्ध में सुझाव** :—प्रायः ऐसा देखा जाता है कि भारतीय बैंक अपने धन का विनियोग सरकारी प्रतिभूतियों में बहुत कम करते हैं। असूचित बैंक (Non-Scheduled Banks) के साथ तो यह बात विशेष तौर से पायी जाती है। जाँच से यह पता चलता है कि १३३ बैंकों ने या तो सरकारी प्रतिभूतियों में अपना धन बिलकुल ही नहीं लगाया है अथवा लगाया भी है तो यह उनके कुल जमा का प्रायः १ प्रतिशत भाग से भी कम। ये बैंक बहुधा ऐसी कम्पनियों के शेयर में अपने धन का विनियोग करते हैं जिनमें इनके संचालकों का हित रहता है। इस प्रकार की प्रवृत्ति निश्चय ही दोषपूर्ण है। अतः इसमें सुधार आवश्यक है। इसलिए रिजर्व बैंक ने यह सुझाव दिया कि बैंकों को अपने धन का अधिकांश भाग सरकारी प्रतिभूतियों में लगाना चाहिए।

(३) **ऋण-सम्बन्धी नीति के लिए सुझाव** :—कुछ बैंक अपर्याप्त जमानत अथवा ऋणी की स्थिति की समुचित जाँच किये बगैर ऋण दे दिया करते हैं जिससे ऋण की वसूली में कठिनाई होती है। कभी-कभी अधिक लाभ कमाने की लालच में बैंक अपनी शक्ति से भी अधिक ऋण दे देते हैं। बैंकों को ऋण देने में बहुत अधिक सावधानी की आवश्यकता है। ऋण देने के पूर्व ऋणी की स्थिति के सम्बन्ध में पूरी जाँच आवश्यक है। सन् १९४९ ई० के बैंकिंग कम्पनीज अधिनियम की २४ वीं धारा के अनुसार बैंकों को अपनी मांग एवं मुद्दति देनदारी का २० प्रतिशत तरल सम्पत्ति के रूप में रखना अनिवार्य बना दिया गया है।

(४) शाखा खोलने के सम्बन्ध में सुझाव :— युद्धकाल में व्यापारिक समृद्धि के कारण बैंकों ने बगैर सोचे-समझे ही शाखाएँ स्थापित करना प्रारम्भ कर दिया था। इसका भी बैंकिंग व्यवस्था के विकास पर बहुत बुरा प्रभाव पड़ा है। ग्रामीण बैंकिंग जांच-समिति ने इस सम्बन्ध में सुझाव दिया था कि शाखाओं की स्थापना की अनुमति इस प्रकार दी जानी चाहिए जिससे कि बैंकों में आपस में प्रतियोगिता नहीं हो सके।

(५) लाभांश का वितरण :—प्राय: ऐसा देखा जाता है कि बहुत से बैंक अपने लाभ का अधिकतर भाग अपने हिस्सेदारों के बीच बाँट देते हैं; वे सुरक्षित कोष पर बहुत कम ध्यान देते हैं। इससे उनकी आर्थिक स्थिति सुदृढ़ नहीं हो पाती। १९४९ ई० के बैंकिंग कम्पनीज अधिनियम के अन्तर्गत इस दोष को दूर करने के लिए यह व्यवस्था की गयी है कि प्रत्येक बैंक को अपने लाभ का २० प्रतिशत भाग सुरक्षित कोष में तब तक जमा करना आवश्यक है जब तक कि उसका सुरक्षित कोष उनकी परिदत्त पूँजी के बराबर नहीं हो जाय।

इन सारे सुझावों के अतिरिक्त बैंकों की कार्य-प्रणाली में सुधार के भी कई सुझाव दिये गये हैं जिससे बैंकों का समुचित ढंग से विकास हो सके।

रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया[1]

(Reserve Bank of India)

मुद्रा तथा बैंकिंग व्यवस्था में स्थायित्व लाने के लिए भारत में भी एक केन्द्रीय बैंक की आवश्यकता का अनुभव लोगों को बहुत समय पहले से होता आ रहा था। किन्तु १९१५ ई० के पूर्व देश में इस प्रकार की संस्था की स्थापना नहीं की जा सकी। सन् १९२० ई० में ब्रुसेल्स की अन्तर्राष्टीय अर्थ-परिषद् (International Economic Conference) में स्वर्ण-मान की पुनर्स्थापना के लिए इस आशय का एक प्रस्ताव पारित किया गया कि जिन देशों में केन्द्रीय बैंक नहीं है वहाँ शीघ्र ही इसकी स्थापना की व्यवस्था की जानी चाहिए। वास्तव में, स्वर्ण-मान की सफलता केन्द्रीय बैंक पर बहुत कुछ आधारित है। अत: इस कमी को दूर करने के लिए भारत सरकार द्वारा तीनों प्रेसीडेंसी बैंकों को मिला कर १९२० ई० में इम्पीरियल बैंक ऑफ इण्डिया की स्थापना की गयी। किन्तु इम्पीरियल बैंक केन्द्रीय बैंक का कार्य सफलतापूर्वक नहीं कर सका क्योंकि यह प्रधानतया एक व्यावसायिक बैंक था जिसे केन्द्रीय बैंक के कुछ ही कार्य दिये गये थे। साथ ही, देश की साख एवं मौद्रिक व्यवस्था पर सरकार एवं इम्पीरियल बैंक का दोहरा नियन्त्रण देश की आर्थिक व्यवस्था में हितकर नहीं जान पड़ा। इन्हीं कारणों एवं उपरोक्त दोषों को दूर करने के लिए १९२६ ई० में हिल्टन यंग कमीशन (Royal Commission on Currency and Finance) ने एक स्वतन्त्र केन्द्रीय बैंक की स्थापना की सिफारिश की थी। उसने मुद्रा एवं साख-व्यवस्था के उचित संचालन एवं नियन्त्रण के लिये भारत सरकार से एक स्वतन्त्र केन्द्रीय बैंक की स्थापना की भी सिफारिश की जिसका नाम रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया रखा जाय। सन् १९२८ ई० में इस आशय का एक विधेयक भी विधान सभा के समक्ष प्रस्तुत किया गया, किन्तु चन्द वैधानिक कठिनाइयों से उस समय इसे स्थगित कर दिया गया। केन्द्रीय बैंकिंग जाँच-समिति ने भी सन् १९३० ई० में भारत में एक केन्द्रीय बैंक की स्थापना की सिफारिश की थी। उपरोक्त आर्थिक आधारों के अतिरिक्त देश की बढ़ती हुई राष्ट्रीय चेतना ने भी केन्द्रीय बैंक की स्थापना में तात्कालिक सहयोग प्रदान किया। इन सब प्रयत्नों के फलस्वरूप १९३४ ई० में रिजर्व बैंक ऑफ

१. रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया का सविस्तार विवरण २६ वें अध्याय में किया गया है।

इण्डिया अधिनियम पास हुआ तथा पहली अप्रैल, १९३५ ई० से रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया ने अपना कार्य आरम्भ कर दिया।

जमा बीमा निगम

(Deposit Insurance Corporation)

भारत में बैंकिंग-व्यवस्था के विकास के इतिहास से यह स्पष्ट है कि देश में समय-समय पर बहुत से बैंक फेल होते रहे हैं। सन् १९१३-१७ ई० में तो बैंकों को बड़े पैमाने पर असफलता का सामना करना पड़ा था। सन् १९४७ ई० में तो बैंकों का फेल होना पूर्णतः बन्द नहीं हुआ। उदाहरणार्थ, जून १९६० में महाराष्ट्र का लक्ष्मी बैंक (Lakshmi Bank) तथा अगस्त, १९६० में केरल का प्लाई सेण्ट्रल बैंक (Palai-Central Bank) फेल हो गये। इन बैंकों के फेल हो जाने से देश की बैंकिंग व्यवस्था पर से जनता के विश्वास को भारी धक्का लगा और बहुत-से लोगों ने डर से अपनी रकम निकालना आरम्भ कर दिया। इस स्थिति का सामना करने एवं छोटे तथा मध्यम वर्ग के जमाकर्त्ताओं के हितों को सुरक्षित रखने के लिए १ जनवरी, १९६२ को भारत सरकार ने एक जमा बीमा निगम की स्थापना की थी।

इस निगम की अधिकृत एवं परिदत्त पूँजी १ करोड़ रुपया है जो रिजर्व बैंक ऑफ इंडिया द्वारा प्रदान की गयी है। निगम चाहे तो रिजर्व बैंक से ५ करोड़ रुपये तक का ऋण ले सकता है। रिजर्व बैंक के गवर्नर इस निगम के अध्यक्ष हैं। निगम के प्रबन्ध के लिए १५ सदस्यों का एक संचालक मंडल नियुक्त किया गया है।

देश के सभी बैंकों के लिए इस निगम का सदस्य होना अनिवार्य है। निगम ने प्रत्येक बैंक में जमाकर्त्ता की जमाराशि (deposit) के बीमा की सीमा को १ जनवरी, १९६२ से बढ़ा कर ५००० रुपये कर दिया है। अप्रैल, १९७० से इस रकम को बढ़ाकर १०,००० रुपये कर दिया गया है। दूसरे शब्दों में, यदि कोई बैंक फेल हो जाता है तो उससे सभी जमाकर्त्ताओं के १०,००० रुपये तक की सीमा की जमाराशि सुरक्षित रहती है। इस प्रकार स्पष्ट है कि जमा बीमा निगम की स्थापना से छोटी श्रेणी के जमाकर्त्ताओं के जमा (deposit) सुरक्षित हो गये हैं। परन्तु केन्द्रीय तथा राज्य सरकारों तथा बैंकिंग कम्पनियों की जमाराशियों पर यह योजना लागू नहीं होती। केन्द्रीय सरकार के पूर्व अनुमति से जमा बीमा निगम को बीमे की सीमा में वृद्धि करने का भी अधिकार है। इस समय सदस्य बैंकों से निगम ५ पैसे सैकड़े प्रति वर्ष बीमा-शुल्क (Premium) के रूप में वसूल करता है। निगम इस शुल्क को बढ़ाकर १५ पैसे प्रति सैकड़े प्रति वर्ष कर सकता है। यदि कोई सदस्य बैंक अपने प्रीमियम (अथवा बीमा शुल्क) का भुगतान नहीं करता तो निगम उससे ८ प्रतिशत वार्षिक की दर से ब्याज भी वसूल कर सकता है। जमा बीमा निगम की सफलता के लिए यह नितांत आवश्यक है कि रिजर्व बैंक सदस्य बैंकों के कार्यों का प्रभावपूर्ण निरीक्षण करे और उन्हें किसी प्रकार की वित्तीय अनियमितताएँ करने के अवसर न दे।

३१ मार्च १९७० को निगम के सदस्य बैंकों की संख्या २०६ थी। १९६२ से १९७० तक निगम ने बैंकों से सम्बन्धित ७६ लाख रुपये के दावे स्वीकार किये थे। ३१ दिसम्बर, १९७० को इसका कुल जमा बीमा कोष १७·३ करोड़ रुपये था।

बैंकों का सामाजिक नियंत्रण (Social Control over Commercial Banks) :—दिसम्बर, १९६७ में तत्कालीन वित्त मंत्री ने संसद् में व्यावसायिक बैंकों पर सामाजिक नियंत्रण के सम्बन्ध में एक विधेयक प्रस्तुत किया जो आगे चलकर कानून बन गया। सामाजिक नियन्त्रण के

अन्तर्गत व्यावसायिक बैंकों के संचालन मंडल में महत्त्वपूर्ण परिवर्तन की व्यवस्था की गयी। साथ ही, दिसम्बर, १९६७ में एक राष्ट्रीय साख-परिषद् (National Credit Council) की नियुक्ति की गयी। वित्त मंत्री इसके अध्यक्ष होंगे। परिषद् में कुल २६ सदस्य होंगे। यह बैंकों के सम्बन्ध में एक व्यापक साख नीति का निर्धारण करेगी। प्रारम्भ में सामाजिक नियन्त्रण की नीति को २५ करोड़ रुपये से अधिक जमावाले बैंकों पर लागू करने की व्यवस्था थी।

बैंकिंग आयोग (Banking Commission) :—२९ जनवरी, १९६९ को भारत सरकार ने श्री आर० जी० सरैया की अध्यक्षता में एक बैंकिंग आयोग की नियुक्ति की घोषणा की। इस आयोग का प्रधान उद्देश्य समुचित आधार पर बैंकों के विकास के सम्बन्ध में सुझाव प्रस्तुत किया था।

प्रमुख बैंकों का राष्ट्रीयकरण (Nationalisation of Major Commercial Banks) :—१९ जुलाई, १९६९ को राष्ट्रपति ने एक अध्यादेश जारी कर ५० करोड़ रुपये से अधिक जमावाले १४ बड़े व्यावसायिक बैंकों का राष्ट्रीयकरण कर लिया। इन बैंकों के नाम हैं— (१) सेन्ट्रल बैंक ऑफ इण्डिया, (२) बैंक ऑफ इण्डिया, (३) पंजाब नेशनल बैंक, (४) बैंक ऑफ बड़ौदा, (५) युनाइटेड कमर्शियल बैंक, (६) कैनारा बैंक, (७) युनाइटेड बैंक ऑफ इण्डिया, (८) डेना बैंक, (९) सिंडिकेट बैंक, (१०) यूनियन बैंक ऑफ इण्डिया, (११) इलाहाबाद बैंक, (१२) इण्डियन बैंक, (१३) बैंक ऑफ महाराष्ट्र, तथा (१४) इण्डियन ओवरसीज बैंक।

बैंकों के सामाजिक नियंत्रण तथा राष्ट्रीयकरण के सम्बन्ध में विस्तृत व्याख्या एक पृथक् अध्याय में की गयी है।

विशेष अध्ययन-सूची

1. B. R. Ambedkar : History of the Indian Currency and Banking
2. Reserve Bank of India : Functions and Working.
3. ,, ,, ,, : Reports on Currency and Exchange.

अध्याय : ४४

रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया

(Reserve Bank of India)

रिजर्व बैंक की स्थापना :— मुद्रा एवं बैंकिंग व्यवस्था में स्थायित्व लाने के उद्देश्य से भारत में केन्द्रीय बैंक (Central Bank) की आवश्यकता का अनुभव लोगों को बहुत पहले से ही हो रहा था। किन्तु १९३५ ई० के पूर्व तक देश में इस प्रकार की किसी संस्था की स्थापना नहीं की जा सकी। १९१३ ई० में चेम्बरलेन आयोग (Chemberlain Commission) के सदस्य के रूप में लार्ड केन्स (Keynes) ने भारतीय केन्द्रीय बैंक के विधान का एक खाका तैयार किया था। किन्तु इसी बीच १९१४ ई० में प्रथम विश्व-युद्ध छिड़ जाने के कारण केन्स के प्रस्ताव के सम्बन्ध में कोई भी विचार नहीं किया जा सका। सन् १९२० ई० में ब्रुसेल्स की अन्तर्राष्ट्रीय अर्थ-परिषद् (International Economic Conference) ने स्वर्ण-मान की पुनर्स्थापना के लिए इस आशय का एक प्रस्ताव स्वीकार किया था कि जिस देश में केन्द्रीय बैंक नहीं हैं वहाँ इसकी स्थापना शीघ्र ही की जानी चाहिए। वास्तव में, स्वर्ण-मान की सफलता के लिए केन्द्रीय बैंक की स्थापना अनिवार्य थी। अतः, इस कमी को दूर करने के लिए १९२० ई० में भारत सरकार ने तीनों प्रेसिडेंसी बैंकों को मिलाकर एक इम्पीरियल बैंक ऑफ इण्डिया की स्थापना की। किन्तु इम्पीरियल बैंक प्रधानतया एक व्यावसायिक बैंक था जिसे केन्द्रीय बैंक के कुछ ही कार्य दिये गये थे, अतएव यह केन्द्रीय बैंक की कमी को पूरा नहीं कर सका। १९२६ ई० में हिल्टन यंग आयोग (Hilton Young Commission) ने मौद्रिक एवं साख-व्यवस्था के समुचित संचालन एवं नियन्त्रण के लिए एक स्वतन्त्र केन्द्रीय बैंक की स्थापना का सुझाव दिया था जिसकी प्रमुख विशेषताएँ रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया की योजना में सम्मिलित की गयीं। केन्द्रीय बैंकिंग जाँच-समिति ने भी १९३० ई० में भारत में एक केन्द्रीय बैंक की स्थापना का सुझाव दिया। इन सब सिफारिशों एवं सुझावों के साथ ही देश की बढ़ती हुई राष्ट्रीय चेतना ने भी रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया की स्थापना में तात्कालिक सहयोग प्रदान किया। इन सब प्रयत्नों के फलस्वरूप १९३४ ई० में रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया अधिनियम पारित हुआ तथा १ अप्रैल, १९३५ ई० से रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया ने अपना कार्य प्रारम्भ कर दिया।

रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया भारत का केन्द्रीय बैंक है। इसकी स्थापना के पूर्व केन्द्रीय बैंकिंग-सम्बन्धी कुछ कार्यों को इम्पीरियल बैंक ऑफ इण्डिया सम्पन्न करता था।

विधान (Constitution) :—रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया की स्थापना रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया ऐक्ट के अनुसार १९३५ ई० में हुई। इसकी अधिकृत पूँजी (Authorised Capital) ५ करोड़ रुपये थी जिसे १००-१०० रुपये के ५ लाख हिस्सों में विभाजित किया गया था। बैंक की संचालन-शक्ति कुछ ही व्यक्तियों के हाथ में केन्द्रित होने से बचाने के लिए सम्पूर्ण देश को पाँच क्षेत्रों—बम्बई, कलकत्ता, मद्रास, दिल्ली तथा रंगून में विभाजित कर दिया गया था। परन्तु इस प्रकार की व्यवस्था होते हुए भी कुछ ही वर्षों में हस्तान्तरण के द्वारा धीरे-धीरे अधिकांश हिस्से बम्बई में ही केन्द्रित हो गये। अतः मार्च, १९४० ई० में रिजर्व बैंक के विधान में एक आवश्यक

संशोधन किया गया जिसके द्वारा इस प्रकार की व्यवस्था की गयी कि किसी भी व्यक्ति के पास बैंक के २०,००० रुपये से अधिक के हिस्से नहीं हो सकते। यदि किसी व्यक्ति के पास इससे अधिक रकम के हिस्से हो जायँगे तो उसका नाम अंशधारियों की सूची से पृथक् कर दिया जायगा।

किन्तु सरकार का यह प्रयत्न भी बैंक के हिस्सों को बम्बई क्षेत्र में केन्द्रित होने से नहीं रोक सका। अतः, अन्ततः Reserve Bank of India (Transfer to Public Ownership) Act, 1948 के अनुसार १ जनवरी, १९४९ ई० को रिजर्व बैंक का राष्ट्रीयकरण हुआ। सरकार ने हिस्सेदारों को प्रति एक सौ रुपये के लिए ११८ रु० १० आ० मुआवजा देकर सभी हिस्से स्वयं खरीद लिया। इस प्रकार १ जनवरी, १९४९ ई० से यह बैंक पूर्णतया सरकारी बैंक के रूप में कार्य कर रहा है, किन्तु राष्ट्रीयकरण के फलस्वरूप बैंक के विधान एवं कार्यवाही में केवल नाम-मात्र के लिए ही परिवर्तन किये गये हैं।

रिजर्व बैंक का प्रबन्ध (Management of the Reserve Bank) :—बैंक के कार्यों का संचालन एक केन्द्रीय संचालन मण्डल (Central Board of Directors) द्वारा होता है जिसके १५ सदस्य हैं, जिनकी नियुक्ति सरकार द्वारा की जाती है। इनमें एक गवर्नर (Governor) तथा तीन डिपुटी गवर्नर (Deputy Governors), चार स्थानीय मंडलों से मनोनीत संचालक, भारत सरकार द्वारा मनोनीत ६ संचालक तथा एक सरकारी कर्मचारी होते हैं। सरकारी कर्मचारी को मतदान का अधिकार नहीं होता। केन्द्रीय संचालक मण्डल की बैठक साल में कम-से-कम छः बार तथा प्रत्येक तीन महीने में एक बार अवश्य होती है। बोर्ड ने अपने कुछ अधिकार एक समिति को दे दिये हैं जो साधारणतया प्रति सप्ताह बैठती है।

चारों क्षेत्रों :—बम्बई, कलकत्ता, मद्रास तथा दिल्ली में स्थानीय प्रबन्ध के लिए चार स्थानीय प्रमण्डल (Local Boards) हैं। प्रत्येक मण्डल में केन्द्रीय सरकार द्वारा ४ वर्षों के लिए नियुक्त ५ सदस्य होते हैं। ये मण्डल केन्द्रीय संचालन मंडल के आदेशानुसार कार्य करते हैं तथा केन्द्रीय संचालन मण्डल को आवश्यकतानुसार प्रमुख विषयों पर परामर्श देते हैं।

रिजर्व बैंक का गवर्नर केन्द्रीय संचालक परिषद् का अध्यक्ष तथा बैंक का मुख्य कार्यकारी अधिकारी होता है। बैंक के तीनों डिपुटी गवर्नरों के जिम्मे बैंक के कुछ विभाग के कार्य रहते हैं। गवर्नर तथा डिपुटी गवर्नर की कार्यावधि एक बार में पाँच वर्ष से अधिक नहीं हो सकती। यह उनकी नियुक्ति के समय केन्द्रीय सरकार के द्वारा निश्चित की जाती है। किन्तु इनकी पुनः नियुक्ति भी की जा सकती है।

संगठन (Organisation) :— बैंक ऑफ इंगलैंड के समान ही रिजर्व बैंक के भी दो प्रमुख विभाग हैं :—(१) **चलन विभाग** (Issue Department)—जिनका प्रमुख कार्य पत्र-मुद्रा जारी करना तथा उसकी जमानत के रूप में विधान द्वारा निश्चित सुरक्षित कोष की व्यवस्था करना है। (२) **बैंकिंग विभाग** (Banking Department)—इसका निर्माण १ जुलाई, १९५० ई० को हुआ था। यह अनुसूचित बैंकों के कुल जमा का एक निश्चित प्रतिशत नकद मुद्रा के रूप में अपने पास रखता है। इसके अतिरिक्त यह सरकार के बैंकर तथा देश के अन्य बैंकों के बैंकर के रूप में भी कार्य करता है। इसके अतिरिक्त देश में कृषि-साख की समुचित व्यवस्था के लिए रिजर्व बैंक का एक कृषि-साख विभाग (Agricultural Credit Department) भी है। यह विभाग कृषि-साख-सम्बन्धी विभिन्न समस्याओं का अध्ययन करता है।

रिजर्व बैंक के कार्य

(Functions of the Reserve Bank)

रिजर्व बैंक देश का केन्द्रीय बैंक है। अतः यह केन्द्रीय बैंक के प्रायः सभी कार्यों को सम्पन्न करता है। रिजर्व बैंक का प्रमुख कार्य देश की मौद्रिक व्यवस्था को इस प्रकार से नियन्त्रित करना है जिससे कि देश में आर्थिक स्थायित्व में वृद्धि हो। (The primary function of the Reserve Bank is to regulate the monetary system of the country so as to promote the maintenance of economic stability and to assist the growth of the economy within its framework.) इसके कार्यों को दो विभागों में विभाजित किया जा सकता है :—

(क) केन्द्रीय बैंकिंग-सम्बन्धी कार्य, तथा

(ख) साधारण बैंकिंग-सम्बन्धी कार्य।

(क) केन्द्रीय बैंकिंग-सम्बन्धी कार्य (Central Banking Functions of the Reserve Bank of India):—रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया के केन्द्रीय बैंकिंग-सम्बन्धी निम्नलिखित प्रमुख कार्य हैं :—

(१) पत्र-मुद्रा जारी करना (Issue of paper-money) :—देश में पत्र-मुद्रा (एक रुपये के नोट के अतिरिक्त) जारी करने का एक-मात्र अधिकार रिजर्व बैंक को ही प्राप्त है। इस कार्य को सम्पन्न करने के लिए बैंक का एक पृथक् विभाग है जिसे चलन विभाग (Issue Department) कहते हैं। बैंक के नोटों में जनता का विश्वास बनाये रखने के लिए रिजर्व बैंक को पहले कुल निर्गमित नोटों के मूल्य का ४० प्रतिशत भाग स्वर्ण-मुद्राओं, स्वर्ण-पाटों एवं विदेशी प्रतिभूतियों के रूप में रखना पड़ता था। इनमें २१ रुपये ३ आने ८ पाई प्रति तोले के हिसाब से किसी भी समय बैंक के पास कम-से-कम ४० करोड़ रुपये का स्वर्ण रखना अनिवार्य था। इस प्रकार रिजर्व बैंक द्वारा आनुपातिक निधि पद्धति (Proportional Reserve System) के आधार पर नोट जारी करने का कार्य प्रायः २० वर्षों तक चलता रहा। किन्तु देश के आयोजित आर्थिक विकास के लिए अब अधिक विदेशी मुद्रा की आवश्यकता पड़ने लगी जिसके फलस्वरूप नोट जारी करने की इस पद्धति में भी संशोधन की आवश्यकता पड़ी। अतः रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया (संशोधन) अधिनियम १९५६, जो ६ अक्टूबर, १९५६ ई० में लागू हुआ, के अनुसार आनुपातिक निधि पद्धति के स्थान पर एक न्यूनतम कोष (minimum reserve), जिसमें ४०० करोड़ रुपये की विदेशी प्रतिभूतियाँ तथा ११५ करोड़ रुपये के स्वर्ण-मुद्रा एवं स्वर्ण-पाट यानी कुल मिला कर ५१५ करोड़ रुपये के न्यूनतम कोष को आवश्यक बनाया गया। साथ ही, बैंक के पास स्वर्ण का मूल्य जो पहले २१ रुपये ३ आने ८ पाई के हिसाब से तय किया जाता था, को बढ़ा कर ६२ रुपये ५० पैसे प्रति तोला कर दिया गया। पुनः रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया (द्वितीय संशोधन) अधिनियम, १९५७ ई० के अनुसार विदेशी प्रतिभूतियाँ, स्वर्ण-मुद्रा एवं पाट के न्यूनतम कोष की रकम को घटा कर २०० करोड़ रुपये कर दिया गया जिसमें कम-से-कम ११५ करोड़ रुपये की स्वर्ण-मुद्रा एवं स्वर्ण-पाट का होना अनिवार्य था। साथ ही, इस संशोधन के अनुसार केन्द्रीय सरकार की पूर्व अनुमति से रिजर्व बैंक विदेशी प्रतिभूतियों के कोष को पूर्णतया समाप्त भी कर सकता है, किन्तु ऐसी हालत में कम-से-कम ११५ करोड़ रुपये की स्वर्ण-मुद्रा एवं स्वर्ण-पाट का होना आवश्यक है।

(२) **सरकार के बैंकर के रूप में कार्य करना** (Acting as Banker to the Govt.) :—रिजर्व बैंक केन्द्रीय एवं राज्य सरकारों के सभी बैंकिग-सम्बन्धी कार्यों को भी सम्पन्न करता है। यह इनसे जमा के रूप में रकम प्राप्त करता है तथा इनके आदेशानुसार इनका भुगतान भी करता है। सरकार की जो रकम इसके यहाँ जमा की जाती है उस पर यह कोई ब्याज नहीं देता। यह सरकार के लिए ऋण एकत्र करता तथा उसके भुगतान (Borrowing and Refunding) एवं प्रबन्ध की भी व्यवस्था करता है। रिजर्व बैंक सरकारी प्रतिभूतियों का क्रय-विक्रय करता है एवं विदेशी विनिमय का भी प्रबन्ध करता है। इस बैंक ने सरकारी बैंक के रूप में बहुत सफलतापूर्वक कार्य किया है। जिस स्थान में रिजर्व बैंक की शाखाएँ नहीं हैं वहाँ स्टेट बैंक इस बैंक के एजेन्ट के रूप में सरकार के बैंकिग-सम्बन्धी कार्यों को सम्पन्न करता है। यह अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष एवं विश्व बैंक में भारत सरकार के एजेन्ट के रूप में कार्य करता है। आवश्यक वित्तीय मामलों; जैसे—नये ऋणों को जारी करने, कृषि-साख, औद्योगिक वित्त तथा नियोजन एवं आर्थिक विकास-सम्बन्धी सूचनाओं के सम्बन्ध में रिजर्व बैंक सरकार को आवश्यक परामर्श भी देता है।

(३) **बैंकों के रूप में कार्य करना** (Acting as Banker's Bank) :—रिजर्व बैंक देश के बैंकों के रूप में भी कार्य करता है। यह उन पर नियन्त्रण रखता है तथा उनका पथ-प्रदर्शन भी करता है। बैंकिंग व्यवसाय आरम्भ करने के पूर्व किसी भी बैंक को रिजर्व बैंक की अनुमति लेनी पड़ती है। इसी प्रकार नयी शाखाओं की स्थापना के पूर्व भी रिजर्व बैंक की अनुमति लेनी पड़ती है। देश के सभी अनुसूचित बैंकों (Scheduled Banks) को पहले अपनी चालू जमा-राशि का ५ प्रतिशत तथा सावधि जमा राशि का २ प्रतिशत भाग रिजर्व बैंक के यहाँ नकद कोष के रूप में रखना पड़ता था, किन्तु १९६२ ई० के एक संशोधन के अनुसार अब इन्हें अपने कुल जमा दायित्व का औसत रूप से ३ प्रतिशत भाग रिजर्व बैंक के पास जमा करना पड़ता है। १९५६ ई० के संशोधन के अनुसार रिजर्व बैंक को चालू जमा-राशि के लिए नकद कोष की रकम को ५ प्रतिशत से २० प्रतिशत तक तथा सावधि-राशि के लिए २ प्रतिशत से ८ प्रतिशत तक करने का अधिकार प्राप्त है। रिजर्व बैंक इस जमा राशि से बैंकों के अन्तिम ऋणदाता (Lender of the Last Resort) के रूप में आर्थिक संकट काल में इन्हें ऋण देकर फेल होने से बचाता है। यह बैंक-दर (Bank Rate) तथा खुले बाजार की नीति (Open Market Operation) द्वारा बैंकों की साख-नीति पर भी नियन्त्रण रखता है। साथ ही, इनके समाशोधन-गृह (Clearing House) का भी कार्य करता है।

(४) **विदेशी विनिमय पर नियन्त्रण** :—रिजर्व बैंक का एक प्रमुख कार्य मुद्रा के बाह्य मूल्य में स्थायित्व लाना है। इस उद्देश्य से रिजर्व बैंक अधिकांश देशों की मुद्रा का कोष अपने पास रखता है तथा जनता की मांग के अनुसार इनका क्रय-विक्रय करता है। सन् १९४७ में भारत अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष का एक सदस्य बन गया जिसके अनुसार अब रुपये का मूल्य स्वर्ण के रूप में १ तोला सोना = ६२ रुपये ५० पैसे निश्चित किया गया। इसी दर से बैंक उन सभी देशों की मुद्राओं का क्रय-विक्रय करता है जो अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष के सदस्य हैं। बैंक विदेशी मुद्राओं का क्रय-विक्रय उन्हीं दरों पर कर सकता है जिनको केन्द्रीय सरकार समय-समय पर अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष के परामर्श से निश्चित करती है। रिजर्व बैंक एक निश्चित मात्रा से कम मूल्य की विदेशी मुद्रा का सौदा नहीं करता है। किन्तु रिजर्व बैंक का विशेष सम्बन्ध स्टर्लिंग से ही है। भारत स्टर्लिंग क्षेत्र का एक सदस्य है, अतः यहाँ के विदेशी लेन-देन के कार्य मुख्यरूपेण स्टर्लिंग के माध्यम से ही होते हैं। आजकल भारत के कुल विदेशी लेन-देन का प्रायः ७० प्रतिशत

स्टर्लिंग में, १० प्रतिशत भाग डॉलर में तथा शेष रुपये के रूप में होता है। रिजर्व बैंक १ शि० १ पें० प्रति रुपये की दर से स्टर्लिंग खरीदता तथा १ शि० की दर से इसका विक्रय करता है। युद्ध तथा अन्य परिस्थितियों में मुद्रा के बाह्य-मूल्य में स्थायित्व लाने के लिए बैंक सरकारी नीति के अनुसार विभिन्न तरीकों से विनिमय-नियन्त्रण भी करता है।

(५) **साख-नियन्त्रण** (Credit Control) :—रिजर्व बैंक का एक प्रमुख कार्य साख की मात्रा का नियन्त्रणण करना है। साख-नियन्त्र का उद्देश्य साख की मात्रा का व्यवसाय की साख-सम्बन्धी मांग के साथ समायोजन करना है। देश में साख की मात्रा व्यावसायिक बैंकों की साख-नीति पर निर्भर करती है। अतः साख-नियन्त्रण का अर्थ बैंकों की साख-नीति पर नियन्त्रण रखना है। बैंक-दर में परिवर्तन, खुले बाजार की नीति तथा अन्य वैधानिक अधिकारों के उपयोग द्वारा रिजर्व बैंक साख का नियंत्रण करता है। साख का सृजन बैंकों के नकद जमा पर भी निर्भर करता है। अतः साख-नियंत्रण का प्रमुख जरिया बैंकों के नकद जमा-कोष को नियन्त्रित करना है। जब रिजर्व बैंक साख की मात्रा में वृद्धि चाहता है तो इसे बैंकों के नकद जमा-कोष में वृद्धि का प्रयत्न करना पड़ता है तथा साख की मात्रा में कमी करने के लिए बैंक के नकद जमा-कोष को घटाने का प्रयत्न करना पड़ता है।

रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया साख नियन्त्रण के निम्नांकित तरीकों को काम में लाता है :—

(१) **बैंक-दर** (Bank Rate) :—बैंक-दर वह दर है जिसपर रिजर्व बैंक व्यावसायिक बैंकों को सरकारी प्रतिभूतियों के आधार पर ऋण देता है अथवा उनके प्रथम श्रेणी के विनिमय बिलों को पुनः बट्टा (Re-discount) करता है। बैंक-दर-नीति द्वारा साख-नियन्त्रण तब ही प्रभावशाली होता है जबकि देश की बैंकिंग संस्थाएँ आर्थिक संकट के समय अपनी बिलों के पुनः भुगतान के लिए केन्द्रीय बैंक पर आश्रित रहती हों। किन्तु रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया की बैंक-दर-नीति आरम्भ से ही अधिक सफल नहीं हो सकी है और आज भी यह बहुत प्रभावपूर्ण (Effective) नहीं है। इसका प्रधान कारण देश के विभिन्न स्थानों पर ब्याज की दरों में विभिन्नता है। इसके अतिरिक्त भारत में बैंक-दर की नीति के अधिक सप्रभाविक नहीं होने के दो अन्य मुख्य कारण हैं—(क) देश में मुद्रा-प्रसार के कारण मुद्रा की बाहुल्यता है जिससे व्यावसायिक बैंकों तथा अन्य बैंकों को बहुत अधिक मात्रा में जनता से जमा-राशि प्राप्त हो जाती है। इसके फलस्वरूप देश की बैंकिंग संस्थाएँ साख-निर्माण तथा आर्थिक सहायता के लिए रिजर्व बैंक पर बहुत कम निर्भर करती हैं। (ख) भारत में रिजर्व बैंक तथा देश की अन्य बैंकिंग संस्थाओं में घनिष्ठ सम्बन्ध नहीं पाया जाता है। (ग) देश में एक सुसंगठित बिल-बाजार (Organised Bill Market) का अभाव है।

रिजर्व बैंक की दर १९३८ ई० के प्रारम्भ से नवम्बर, १९५१ ई० तक ३% रही, परन्तु नवम्बर, १९५१ में यह $3\frac{1}{2}$% हो गयी। पुनः १९५७ ई० में इसे बढ़ाकर ४% कर दिया गया। बैंक दर की वृद्धि के फलस्वरूप देश में ब्याज की अन्य दरों में वृद्धि हो गयी जिससे द्वितीय युद्ध-काल में अपनायी गयी सस्ती मुद्रा नीति (Cheap Money Policy) का अन्त हुआ तथा सन् १९५१ ई० से दुर्लभ मुद्रा नीति (Dear money Policy) का प्रारम्भ हुआ। सस्ती मुद्रा-नीति के बहुत सारे गुण हैं जिनकी व्याख्या इस पुस्तक में आगे की गयी है। किन्तु इसके बहुत सारे दोष भी हैं जिनके फलस्वरूप धीरे-धीरे इसका परित्याग किया जाने लगा। देश की पंचवर्षीय योजनाओं को कार्यान्वित करने के लिए पूंजी-निर्माण की गति में वृद्धि अनिवार्य है और इसके लिए दुर्लभ

मुद्रा नीति का अनुकरण भी आवश्यक हो जाता है। अतः रिजर्व बैंक ने बैंक दर को बढ़ाकर अथवा दुर्लभ मुद्रा नीति को अपनाकर देश की पूँजी-निर्माण की शक्ति में वृद्धि की है, विदेशी पूँजी को आकर्षित करने की परिस्थितियाँ उत्पन्न की है, मुद्रा-स्फीति पर रोक लगायी है, विदेशी व्यापार की विपक्षता को दूर करने का प्रयत्न किया है, तथा असीमित मात्रा में ऋण प्रदान करने की बैंकों की नाति को नियन्त्रित किया है, इत्यादि। इस प्रकार बैंक दर में इस वृद्धि के कारण ऋण का देना कम हो गया तथा बहुत-से ऋण वापिस किये गये।

सितम्बर, १९६० ई० में बैंक-दर को ४ प्रतिशत पर स्थायी रख कर एक कोटिबद्ध उधार दान-दरों (Garaded Lending Rates) की नयी योजना चालू की गयी। पुनः २ जनवरी, १९६३ ई० से रिजर्व बैंक ने अपनी बैंक-दर को ४ प्रतिशत से बढ़ाकर ४½ प्रतिशत तथा सितम्बर, १९६४ ई० में ५ प्रतिशत कर दिया। १९६३ ई० की संशोधित उधार नीति के अनुसार अनुसूचित बैंक अपने कुल वैधानिक जमा (Statutory Deposits) का ७५ प्रतिशत भाग तक बैंक-दर पर रिजर्व बैंक से उधार ले सकता है। इससे अधिक ७५ प्रतिशत तक उधार लेने के लिए उसे बैंक-दर से १ प्रतिशत अधिक दर पर ब्याज चुकाना पड़ता है। यदि अनुसूचित बैंकों द्वारा प्राप्त ऋण की रकम आधारभूत कोटा (Basic quota) के १५० प्रतिशत से अधिक हो जाय तो इस अतिरिक्त ऋण की रकम के लिए बैंक-दर से १½ प्रतिशत से अधिक ब्याज चुकाना पड़ता है। इस प्रकार अनुसूचित बैंकों को उधार देने के लिए रिजर्व बैंक की विभिन्न दरें हो गयी हैं। पुनः १७ फरवरी, १९६५ ई० को रिजर्व बैंक ने अपने बैंक-दर को बढ़ाकर ६ प्रतिशत कर दिया। वर्तमान समय में, फरवरी १९७१ में रिजर्व बैंक ने अपने बैंक दर को ५ प्रतिशत से बढ़ाकर ६ प्रतिशत किया है।

इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया की बैंक-दर का पुनः सन् १९५१ ई० के बाद प्रयोग किया जाने लगा है तथा इसमें पर्याप्त सफलता भी मिली है।

(ii) **खुले बाजार की क्रियाएँ** (Open Market Operations) :—केन्द्रीय बैंक अपनी बैंक-दर नीति को अधिक प्रभावपूर्ण बनाने के लिए खुले बाजार की नीति को अपनाते हैं। खुले बाजार की नीति का अर्थ केन्द्रीय बैंक द्वारा मुद्रा-बाजार में सरकारी प्रतिभूतियों तथा प्रथम श्रेणी के बिलों व प्रतिज्ञा-पत्रों का साख-नियन्त्रण के उद्देश्य से क्रय-विक्रय है। रिजर्व बैंक को भी अन्य केन्द्रीय बैंकों की तरह खुले बाजार की क्रियाओं का अधिकार दिया गया है ताकि वह भी इस नीति द्वारा अपनी बैंक-दर नीति को अधिक प्रभावपूर्ण बना सके। पिछले कुछ वर्षों में सदस्य बैंक आवश्यकता के समय रिजर्व बैंक को असीमित मात्रा में सरकारी प्रतिभूतियाँ (Govt. Securities) बेचकर धन प्राप्त कर लिया करते थे जिससे साख का प्रसार हो जाया करता था। परन्तु, १९५१ ई० में रिजर्व बैंक ने अपनी इस नीति में भी परिवर्तन कर दिया और यह घोषणा कर दी कि वह बैंक की सामयिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए सरकारी प्रतिभूतियों अथवा ऋण-पत्र नहीं खरीदेगा वरन् वह बैंक दर पर स्वीकृत ऋण-पत्रों के आधार पर ही केवल ऋण देगा। रिजर्व बैंक की खुले बाजार की क्रियाओं की नीति में इस परिवर्तन से निम्नलिखित लाभ हुए—(क) बैंक-दर पहले की अपेक्षा अधिक प्रभाव पूर्ण हो गया, (ख) मुद्रा की पूर्ति में लोच आ गयी क्योंकि व्यस्त व्यावसायिक काल में बैंक ऋण-पत्रों के आधार पर रिजर्व बैंक से ऋण ले लेते हैं और इस प्रकार की दशाओं का अन्त हो जाने पर ये रिजर्व बैंक को ऋण की राशि लौटा देते हैं और अपने ऋण-पत्र वापिस कर लेते हैं, तथा (ग) इस नीति से रिजर्व बैंक का देश की विभिन्न बैंकिंग संस्थाओं पर सप्रभाविक नियन्त्रण स्थापित हो गया है।

परन्तु रिजर्व बैंक की उक्त नीति के निम्नलिखित दोष भी हैं :—(अ) खुले बाजार की क्रियाओं का गुप्त रहना अनिवार्य है, परन्तु रिजर्व बैंक की उपरोक्त नीति से ये क्रियाएँ अब गुप्त नहीं रह सकती हैं। (आ) जब रिजर्व बैंक ऋण-पत्रों का स्वयं क्रय-विक्रय करता था, उस समय ऋण-पत्रों के मूल्य में बहुत स्थिरता रहती थी, परन्तु रिजर्व बैंक की मुद्रा नीति के परिवर्तनों से अब ऋण-पत्रों का मूल्य भी बहुत कम हो गया। यह स्पष्ट है कि सरकारी ऋण-पत्रों के मूल्य में इस प्रकार का परिवर्तन सर्वथा अनुचित ही है। (इ) उक्त परिवर्तित नीति बैंकों के लिए अत्यधिक मंहगी, असुविधाजनक तथा कष्टदायक है। अतः संभव है कि इस प्रकार की नीति से देश में एक सुसंगठित मुद्रा-बाजार के विकास में बाधा पड़े।

(iii) **नकद कोष के अनुपात में परिवर्तन** (Variations in the Cash Reserve Ratio) :—अन्य केन्द्रीय बैंकों की तरह रिजर्व बैंक को भी देश के विभिन्न बैंकों की जमाराशि पर नियन्त्रण का अधिकार है। रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया ऐक्ट के अनुसार प्रत्येक अनुसूचित बैंक (Scheduled Bank) को अपनी मांग जमा (Demand Liabilities) का ५% और स्थायी जमा (Time Liabilities) का २% रिजर्व बैंक के पास जमा करना पड़ता था। अब तो १९४९ ई० के बैंकिंग कम्पनीज ऐक्ट के अनुसार अन्य प्रकार के बैंकों को भी रिजर्व बैंक अथवा अपने पास उक्त प्रतिशत में नकद जमा रखनी पड़ती है ताकि देश में साख का केवल उचित मात्रा में ही निर्माण हो सके। परन्तु आलोचकों का यह मत है कि उक्त व्यवस्था में चूँकि बैंकों का रिजर्व बैंक के पास या स्वयं बैंकों के पास नकद कोष समस्त दायित्वों का एक निश्चित प्रतिशत के रूप में रहता है, इसलिए रिजर्व बैंक द्वारा नकद कोष में परिवर्तन के द्वारा साख-नियन्त्रण की नीति अधिक प्रभावशाली एवं सफल नहीं हो सकी है। इसका कारण स्पष्ट है। देश की बैंकिंग संस्थाएँ अपने शेष धन से ही पर्याप्त मात्रा में साख-निर्माण का कार्य कर लेती हैं जिससे उन्हें इस कार्य को करने के लिए रिजर्व बैंक पर अधिक निर्भर नहीं रहना पड़ता है।

नकद कोष के अनुपात में परिवर्तन को अधिक प्रभावपूर्ण बनाने के लिए १९५६ ई० मे रिजर्व बैंक अधिनियम में संशोधन हुआ जिसके अनुसार रिजर्व बैंक को अनुसूचित बैंकों के नकद कोष के अनुपात में परिवर्तन करने की शक्ति प्रदान की गयी। इस अधिनियम के अनुसार रिजर्व बैंक को कोष के अनुपात में परिवर्तन करने की शक्ति प्रदान की गयी। इस अधिनियम के अनुसार रिजर्व बैंक को अनुसूचित बैंकों के नकद कोष के अनुपात में चालू जमा (Demand Deposit) के सम्बन्ध में ५ प्रतिशत से २० प्रतिशत तक तथा स्थायी जमा (Time Deposit) के २ प्रतिशत से ८ प्रतिशत तक करने का अधिकार किया गया है।

अब रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया संशोधित अधिनियम १९६२ ई० के अनुसार, जो १५ सितम्बर, १९६२ ई० से लागू है, अनुसूचित बैंकों को अपने सभी प्रकार के जमा दायित्व का ३ प्रतिशत भाग नकद मुद्रा के रूप में रिजर्व बैंक के पास जमा करना अनिवार्य बना दिया गया है। रिजर्व बैंक आवश्यकतानुसार इसे बढ़ा कर १५ प्रतिशत तक कर सकता है।

साख-नियन्त्रण के गुणात्मक अथवा प्रत्यक्ष तरीके (Selective or Dire t Meth, ods of Credit Control) :—साख-नियन्त्रण के उपरोक्त तीनों सामान्य अथवा परिमाणात्मक तरीकों (General or Quantitative methods) के अतिरिक्त रिजर्व बैंक अधिक प्रत्यक्ष अथवा गुणात्मक नियन्त्रण के निम्नांकित तरीकों को भी कार्य में लाता है :-

(iv) **प्रत्यक्ष कार्यवाही** (Direct Action) :—रिजर्व बैंक की प्रत्यक्ष कार्यवाही द्वारा साख-नियन्त्रण की नीति सन् १९४९ के बैंकिंग कम्पनीज अधिनियम के पास हो जाने पर कुछ

प्रभावपूर्ण हो सकी है। इस अधिनियम के द्वारा रिजर्व बैंक को बैंकिंग कम्पनीज के नियन्त्रण के हेतु कुछ विशेष प्रकार के अधिकार मिल गये हैं। अब यह बैंक किसी भी बैंक को विशेष प्रकार का लेन-देन करने से रोक सकता है। यह किसी भी बैंक को किसी मामले में सलाह दे सकता है। यह किसी भी बैंक का निरीक्षण करके उसे अपनी निरीक्षण-सम्बन्धी रिपोर्ट भेज सकता है तथा उस पर विचार करने के लिए बैंक के संचालकों की बैठक बुला सकता है। किसी भी बैंक को उसकी कार्य-प्रणाली के दोषों को सुधारने के लिये रिजर्व बैंक द्वारा दिये गये सुझावों का पालन करने के लिए भी वह आदेश दे सकता है। इस प्रकार रिजर्व बैंक प्रत्यक्ष कार्यवाही द्वारा भी साख के नियन्त्रण कर सकता है। १९५६ ई० से बैंक ने अपने इस अधिकार का प्रयोग करना प्रारम्भ कर दिया है। उदाहरण के लिए, मई से सितम्बर, १९५६ ई० के बीच रिजर्व बैंक ने धान तथा चावल पर अग्रिम को कम करने के सम्बन्ध में बहुत सारे आदेश दिये। तब से समय-समय पर रिजर्व बैंक इस सम्बन्ध में आवश्यक आदेश जारी करता है। यद्यपि रिजर्व बैंक को अनुसूचित तथा असूचित दोनों प्रकार के बैंकों की साख-सम्बन्धी क्रियाओं के नियमन का अधिकार प्राप्त है, फिर भी शासन-सम्बन्धी कठिनाइयों के कारण अभी तक बैंक ने केवल अनुसूचित बैंकों को ही आदेश दिये हैं।

(v) **साख की रैशनिंग** (Rationing of Credit) :—सन् १९४९ ई० के बैंकिंग कम्पनी अधिनियम द्वारा रिजर्व बैंक को यह अधिकार मिल गया है कि वह देश-हित में समस्त बैंकों की अथवा किसी एक बैंक की ऋण-नीति निर्धारित कर सकता है और इस प्रकार निर्धारित नीति का पालन सब बैंकों अथवा सम्बन्धित संस्थाओं को करना पड़ता है। इतना ही नहीं, रिजर्व बैंक को यहाँ तक अधिकार है कि वह अन्य बैंकों को यह आदेश दे सकता है कि वे केवल अमुक कार्यों के लिए ही ऋण अमुक ब्याज की दर पर दें। चूँकि बैंकिंग संस्थाओं को रिजर्व बैंक के इन आदेशों का पालन पूर्णतया करना पड़ता है, इसलिए रिजर्व बैंक की साख रैशनिंग द्वारा साख नियन्त्रण की नीति अत्यधिक प्रभावपूर्ण एवं सफल रही है।

(vi) **प्रचार तथा नैतिक दबाव की नीति** (Methods of Publicity and Moral Suasion) :—चूँकि रिजर्व बैंक का देश की बैंकिंग संस्थाओं से अभी तक बहुत अधिक घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित नहीं हो सका है, इसलिए वह प्रचार द्वारा साख-नियन्त्रण की नीति को नहीं अपनाता है। परन्तु रिजर्व बैंक देश की बैंकिंग संस्थाओं पर अपना नैतिक प्रभाव डालने में थोड़ा बहुत सफल अवश्य हुआ है और वह इस नीति द्वारा ही बैंकों के अनेक दोषों को दूर कर रहा है। उदाहरण के लिए सितम्बर, १९४९ ई० में रुपये के अवमूल्यन के अवसर पर रिजर्व बैंक के गवर्नर ने देश के सभी प्रमुख बैंकों के प्रतिनिधियों की एक बैठक बुलायी जिसमें उन्होंने बैंकों से सट्टा अथवा फटका की क्रियाओं के लिए अग्रिम न देने तथा बैंकों के सहयोग का अनुरोध किया। उसका परिणाम बहुत ही आशाजनक हुआ। इसी प्रकार जून, १९५७ ई० में बैंक के गवर्नर ने सभी बैंकों को पत्र द्वारा अपने-अपने अग्रिमों में कमी करने का सुझाव दिया। दिसम्बर, १९६१ ई० में रिजर्व बैंक के गवर्नर ने पत्र द्वारा अनुसूचित बैंकों से अपने कोषों में वृद्धि का अनुरोध किया। इस प्रकार रिजर्व बैंक देश के व्यावसायिक बैंकों को समय-समय पर समझा-बुझा कर प्रभाव डालने का प्रयास करता है जिसमें उसे अभी तक पर्याप्त सफलता प्राप्त हुई है।

इस प्रकार साख-नियन्त्रण के लिए रिजर्व बैंक उपरोक्त सभी तरीकों को काम में लाता है। निम्नांकित तालिका द्वारा ये तरीके अत्यधिक स्पष्ट हो जाते हैं :—

साख-नियन्त्रण के तरीके

- **परिमाणात्मक नियंत्रण के तरीके**
  - बैंक-दर (नवम्बर, १९५१ ई० तक ३ प्रतिशत, इसके बाद साढ़े तीन प्रतिशत तथा जनवरी, १९६३ ई० में साढ़े चार प्रतिशत किया गया)।
  - खुले बाजार की क्रियाएँ (विशेष रूप से १९५१ ई० के बाद प्रयोग में लायी गयी है)।
  - नकद कोष के अनुपात में परिवर्तन—(१९५६ ई० के संशोधन के अनुसार इस सम्बन्ध में बैंक को विस्तृत अधिकार प्राप्त हुआ)।
- **गुणात्मक नियन्त्रण के तरीके**
  - प्रत्यक्ष कार्यवाही (१९५६ ई० से इस शक्ति का प्रयोग प्रारम्भ किया गया है)।
  - साख की रैशनिंग (१९४९ ई० के ऐक्ट के द्वारा बैंक को यह अधिकार प्राप्त है।
  - नैतिक प्रभाव (सर्वप्रथम सितम्बर, १९४९ में प्रयोग किया गया)।

रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया की साख-नियंत्रण की नीति के अप्रभावपूर्ण होने के कारण (Causes of ineffectiveness of the Credit-Control Policy of the Reserve Bank of India) :—उक्त विवरण से यह स्पष्ट है कि रिजर्व बैंक के पास साख-नियन्त्रण के बहुत-से साधन हैं। परन्तु अनुभव से यही पता चलता है कि इतने अधिक साधनों के होते हुए भी रिजर्व बैंक देश में साख एवं मुद्रा के नियन्त्रण में बहुत अधिक सफल नहीं हो पाया है। इसके निम्नांकित कारण हैं :—

(क) एक सुविकसित बिल-बाजार का अभाव :—देश में अभी तक एक सुव्यवस्थित एवं संगठित मुद्रा-बाजार तथा बिल-बाजार का अभाव है जिससे साख-नियन्त्रण के उद्देश्य से रिजर्व बैंक की बैंक-दर की नीति प्रभावपूर्ण नहीं हो पायी है।

(ख) देश के आर्थिक ढांचे में लोच का अभाव :—देश के श्रमिकों पर मजदूरी तथा वस्तुओं के मूल्यों के सम्बन्ध में अनेक नियन्त्रण पाये जाते हैं जिनके परिणामस्वरूप देश का आर्थिक ढांचा लोचादर नहीं रह जाता है। ऐसी स्थिति में रिजर्व बैंक की कोई भी साख-नियन्त्रण-नीति बहुत महत्त्वपूर्ण नहीं हो सकती है।

(ग) स्वदेशी बैंकिंग व्यवस्था पर रिजर्व बैंक के नियन्त्रण का अभाव :—रिजर्व बैंक अभी तक देशी बैंकों पर किसी प्रकार का नियन्त्रण नहीं स्थापित कर सका है। इस प्रकार चूँकि रिजर्व बैंक का भारतीय मुद्रा-बाजार के एक बहुत ही महत्त्वपूर्ण अंग पर कोई नियन्त्रण नहीं हो पाया है; इसलिए यह अपनी साख एवं मुद्रा-नीति के संचालन में बहुत सफल नहीं हो पाया है।

(घ) व्यावसायिक बैंकों के पास नकद कोष का बाहुल्य :—भारत में द्वितीय युद्धोत्तर काल में अत्यधिक मुद्रा-प्रसार के कारण बैंकों के पास बहुत अधिक मात्रा में नकद मुद्रा जमा हो गयी। इससे समस्त दायित्वों का एक निश्चित प्रतिशत रिजर्व बैंक के पास या अपने पास नकद के रूप में रखने के बाद भी इनके पास इतनी रकम रह जाती है कि साख-नियन्त्रण के लिए इन्हें रिजर्व बैंक पर आश्रित नहीं रहना पड़ता है।

इस प्रकार रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया के साख-नियन्त्रण की नीति अभी तक मुख्यतः अप्रभावपूर्ण ही रही है।

साधारण बैंकिंग-सम्बन्धी कार्य (Ordinary Banking Functions of the Reserve Bank) :—रिजर्व बैंक के साधारण बैंकिंग-सम्बन्धी कार्य निम्नांकित हैं—

(१) **जमा स्वीकार करना** :— रिजर्व बैंक केन्द्रीय, प्रान्तीय तथा स्थानीय सरकारों, पोर्ट ट्रस्ट एवं अन्य बैंकों तथा व्यक्तियों से बगैर व्याज निक्षेप (Deposit) स्वीकार करता है। किन्तु यह निजी व्यक्तियों का जमा स्वीकार नहीं करता।

(२) **व्यापारिक एवं वाणिज्य बिलों का क्रय-विक्रय करना** :—रिजर्व बैंक भारत में भुगतान किये जाने वाले व्यापारिक एवं वाणिज्य बिलों तथा प्रतिज्ञा-पत्रों को खरीदता, बेचता तथा पुनः कटौती भी करता है, बशर्ते कि ये बिल ९० दिन से अधिक की अवधि की न हों।

(३) **कृषि-बिलों का क्रय-विक्रय** :— यह बैंक भारत में भुगतान होने वाले अधिक-से-अधिक १५ महीने की अवधि के कृषि-बिलों का क्रय-विक्रय एवं पुनः कटौती करता है।

(४) **ऋणदेना**: —यह बैंक सरकार तथा बैंकों को 'मांग पर भुगतान' किया जाने वाला ऋण अथवा अधिक-से-अधिक ९० दिन का अवधि के लिए ऋण देता है। यह ऋण स्वीकृत प्रतिभूतियों, बैंकों के ऋण-पत्रों तथा सोना-चाँदी आदि की जमानत पर दिया जाता है। किन्तु यह निजी व्यक्तियों को ऋण नहीं प्रदान करता।

(५) **विदेशी प्रतिभूतियों का क्रय-विक्रय** :— रिजर्व बैंक भारत के बाहर अन्य देशों की उन प्रतिभूतियों का क्रय-विक्रय कर सकता है, जिनका भुगतान खरीदने की तारीख से १० वर्षों के अन्दर हो जाता है।

(६) **मूल्यवान धातुओं का क्रय-विक्रय** :—रिजर्व बैंक सोने-चाँदी व सोने के सिक्कों के क्रय-विक्रय का कार्य भी करता हैं।

(७) **अन्य देशों के बैंकों से व्यापार** :—रिजर्व बैंक अपने कार्य को सुचारु रूप से चलाने के लिये अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष (I. M. F.) के सदस्य राष्ट्रों के केन्द्रीय बैंकों के साथ खाता खोल सकता है, उनसे एजेन्सी सम्बन्ध बना सकता है, उनके एजेन्ट के रूप में कार्य कर सकता है तथा अन्तर्राष्ट्रीय बैंक से लेन-देन का कार्य कर सकता है।

रिजर्व बैंक एवं कृषि-साख

(Reserve Bank and Agricultural Credit)

रिजर्व बैंक का एक प्रमुख कार्य कृषि-साख की समुचित व्यवस्था करना है। इस उद्देश्य से ही बैंक का एक पृथक् कृषि-साख विभाग (Agricultural Credit Department) है। प्रारम्भ में रिजर्व बैंक के इस विभाग का कार्य केवल कुछ विवरणों के प्रकाशन मात्र तक ही सीमित था। इसलिए इसकी कड़ी आलोचना की गयी। लेकिन पिछले दस वर्षों में बैंक ने इस कमी को दूर करने का प्रयत्न किया है। इस विभाग को निम्नांकित कार्य सौंपे गये हैं :—

इसका सर्वप्रथम कार्य कृषि-साख-सम्बन्धी प्रश्नों का अध्ययन करना तथा विशेषज्ञों की नियुक्ति करना है।

द्वितीयतः, यह केन्द्रीय तथा राज्य सरकारों एवं प्रादेशिक सहकारी बैंकों को कृषि-साख के विकास के सम्बन्ध में उचित परामर्श देता है।

तृतीयतः, रिजर्व बैंक प्रान्तीय सहकारी संस्थाओं को ग्रहणीय प्रतिभूतियों एवं प्रांतीय सहकारी बैंकों तथा भूमि-बन्धक बैंको को प्रतिज्ञा-पत्रों के आधार पर अधिक-से-अधिक ९० दिनों के लिए ऋण देता है। विशेष परिस्थितियों में इन बिलों की अवधि ९ महीने तक बढ़ा दी जाती है। कुछ दिन पहले से यह सीमा १४ महीने कर दी गयी है। रिजर्व बैंक प्रान्तीय सहकारी संस्थाओं को भी व्यावसायिक बैंकों की शर्तों पर ऋण देता है। सहकारी संस्थाओं के लिए व्याज की दर बैंक-दर बढ़ने पर भी डेढ़ प्रतिशत ही रखी गयी है। रिजर्व बैंक ने १९५४ ई० में सहकारी बैंकों का कृषि-कार्य में सहायता प्रदान करने के लिए १६ करोड़ रुपये ऋण दिया था। कृषि-साख की समुचित व्यवस्था के लिए रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया ऐक्ट में १९५१ तथा १९५६ ई० में संशोधन किये। १९४९-५० ई० में ग्रामीण बैंकिंग जाँच-समिति की सिफारिशों के आधार पर बिलों की परिपक्वता का समय ९ महीने से बढ़ाकर १५ महीने तक कर दिया गया तथा सहकारी संस्थाओं से कम ब्याज की दर ली जाने लगी। १९५६ ई० में रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया ऐक्ट के संशोधन का एक मात्र उद्देश्य कृषि-साख का विस्तार ही था। इस संशोधन के फलस्वरूप रिजर्व बैंक कृषि-कार्य के लिए १५ महीने से ५ साल की अवधि के लिए ५ करोड़ रुपये तक ऋण दे सकता है। राज्य सरकार, सहकारी समितियों तथा बैंकों के माध्यम से यह रकम कृषकों को दी जायगी जो इसे कुआँ खुदवाने, ट्रैक्टर एवं कृषि के लिए अन्य वैज्ञानिक औजार खरीदने तथा छोटे मोटे बाँधों के द्वारा सिचाई की सुविधा का प्रबन्ध करने के लिए प्रयोग करेंगे। इसके अतिरिक्त रिजर्व बैंक को सहकारी बैंकों के अधिपत्रों को पुनः बट्टा करने तथा छोटे-छोटे उद्योगों के उत्पादन एवं विपणन-सम्बन्धी कार्यों के लिए आर्थिक सहायता देने की भी अनुमति मिल गयी है।

अखिल भारतीय ग्रामीण साख सर्वेक्षण समिति (All India Rural Credit Survey Committee) की सिफारिशों के आधार पर सन् १९५५ ई० में रिजर्व बैंक ऑफ इंडिया एक्ट में संशोधन किया गया जिसके अनुसार रिजर्व बैंक के अन्तर्गत निम्नलिखित दो कोषों की स्थापना की गयी :—

(क) पहला कोष राष्ट्रीय कृषि-साख (दीर्घकालीन) कोष [National Agricultural Creditt (Long-Term Operation) Fund] है। इस कोष की स्थापना ३ फरवरी, १९५६ ई० को हुई थी। इस कोष में सरकार ने प्रारम्भ में १० करोड़ रुपये जमा के रूप में दिया और अगले ५ वर्षों तक रिजर्व बैंक इस कोष में ५ करोड़ रुपये प्रतिवर्ष जमा करने को था। इस क्रम से १९६०-६१ तक इस कोष में ३५ करोड़ रुपये हो जाने की आशा थी। इस कोष की स्थापना निम्नलिखित उद्देश्यों से की गयी है :—(i) इस कोष में से राज्य सरकारों को सहकारी साख-संस्थाओं की हिस्सा-पूँजी में लगाने के लिए २० वर्षों तक की अवधि के लिए ऋण दिया जायगा। (ii) साथ ही, इस कोष में से राज्य सहकारी बैंकों को कृषि-कार्य के लिए १५ महीने से ५ वर्ष की अवधि तक के लिए मध्यकालीन ऋण देने की व्यवस्था है, तथा (iii) इसमें से भूमि-बन्धक बैंकों को २० वर्षों तक के लिए दीर्घकालीन ऋण दिया जायगा। अगस्त, १९६८ तक इस कोष के पास कुल १४३ करोड़ रुपये की रकम जमा हो गयी थी।

(ख) दूसरा कोष कृषि-साख (स्थायित्व) कोष [National Agricultural Credit (Stabilization) Find] है जिसकी स्थापना ३० जून, १९५६ ई० को हुई थी। इस कोष में रिजर्व बैंक प्रतिवर्ष १ करोड़ रुपया जमा करेगा। इस कोष की रकम में से राज्य सहकारी बैंकों को १५ महीने से लेकर ५ वर्ष तक की अवधि के लिए मध्यकालीन कर्ज दिया जायगा।

इससे यह स्पष्ट है कि रिजर्व बैंक कृषि-साख सम्बन्धी समस्याओं के समाधान के लिए अत्यधिक प्रयत्नशील है। इनके प्रयत्नों के फलस्वरूप देश में कृषि-साख की व्यवस्था में उत्तरोत्तर सुधार होता जा रहा है। रिजर्व बैंक की कृषि-साख सम्बन्धी नीति के सम्बन्ध में दो बातें महत्त्वपूर्ण है: सर्वप्रथम तो अबतक रिजर्व बैंक ने कृषि को केवल अल्पकालीन ऋण ही प्रदान किया है। वास्तव में, वैधानिक रूप में मध्यकालीन एवं दीर्घकालीन साख रिजर्व बैंक के क्षेत्र से परे हैं। किन्तु भूमि-बन्धक बैंकों के ऋण-पत्रों को खरीद कर यह परोक्ष रूप से दीर्घकालीन साख प्रदान करने में सहायता प्रदान करता है। दूसरा, यह है कि अभी तक रिजर्व बैंक द्वारा प्रदान की गयी सुविधाओं का मुख्य रूप से गुजरात, महाराष्ट्र तमिलनाडु, आन्ध्र तथा मैसूर जैसे राज्यों में, जहाँ पर सहकारिता आन्दोलन का विकास हुआ है, ही पूर्ण रूप से प्रयोग किया जा सकता है। अन्य राज्यों में अभी तक रिजर्व बैंकों की गारंटी पर ही कृषि-साख को प्रदान किया जाता है। इससे स्पष्ट है कि कृषि-साख-सम्बन्धी सहायता को प्राप्त करने के लिए सहकारिता आन्दोलन का विकास अनिवार्य है।

रिजर्व बैंक एवं औद्योगिक वित्त

(Reserve Bank and Industrial Finance)

रिजर्व बैंक आजकल देश में औद्योगिक संस्थाओं को वित्तीय सहायता प्रदान करने में भी महत्त्वपूर्ण सहयोग प्रदान कर रहा है। इस उद्देश्य से १९५७ ई० में एक **औद्योगिक-वित्त-विभाग** (Industrial Finance Department) की स्थापना की गयी। हमारे देश में पूँजी का अभाव है जिससे द्रुतगति से औद्योगीकरण के मार्ग में निस्सन्देह कठिनाई उपस्थित होती है। अत: औद्योगीकरण की आवश्यकताओं को देखते हुए देश में उद्योग-धन्धों को दीर्घ एवं मध्यकालीन कर्ज प्रदान करने वाली संस्थाओं की स्थापना अनिवार्य हो जाती है। इस उद्देश्य से रिजर्व बैंक ने इस प्रकार की बहुत-सी संस्थाओं की स्थापना में महत्त्वपूर्ण सहयोग प्रदान किया है जिनमें औद्योगिक वित्त निगम (Industrial Finance Corporation), राज्य वित्तीय निगम (State Financial Corporation), तथा औद्योगिक विकास बैंक (Industrial Development Bank) इत्यादि प्रमुख हैं। बैंक ने इन संस्थाओं की हिस्सा-पूँजी का एक अंश प्रदान किया है तथा वह इन्हें आवश्यकतानुसार उधार की सुविधा भी प्रदान करता है। लघु उद्योगों को ऋण एवं सहायता प्रदान करने के लिए रिजर्व बैंक ने सरकार की ओर से जुलाई, १९६० ई० से एक प्रत्याभूति योजना (Guarantee Scheme) चालू की है जिसके अन्तर्गत यह एक निर्धारित मात्रा तक अन्य बैंकों द्वारा लघु उद्योगों को दिये गये ऋणों के भुगतान की गारंटी लेता है। पहले यह योजना केवल २२ जिलों में लागू की गयी थी, किन्तु वर्त्तमान समय में यह सर्वत्र लागू है। इसके अन्तर्गत एपेक्स सहकारी बैंकों (Apex Co-operative Banks) द्वारा लघु उद्योगों को दिये गये सभी प्रकार के अग्रिम भी आते हैं। इस प्रकार बैंक औद्योगिक साख के क्षेत्र में भी आजकल महत्त्वपूर्ण कार्य कर रहा है।

देश के आर्थिक विकास के साथ-साथ रिजर्व बैंकों के कार्यों की सीमा भी बढ़ती जा रही है। यह बैंक आजकल बहुत प्रकार के विकास-सम्बन्धी कार्यों का सम्पादन करता है। साख-व्यवस्था के नियमन के साथ-साथ रिजर्व बैंक आज देश में एक ऐसी बैंकिंग व्यवस्था के विकास में लीन है जो वाणिज्य व्यवसाय के अतिरिक्त कृषि एवं उद्योग-धन्धों के विकास में भी समुचित सहयोग प्रदान कर सके। इस उद्देश्य की पूर्ति में यह पर्याप्त सफल भी रहा है। साथ ही, यह सरकार को

आर्थिक एवं वित्तीय मामलों में परामर्श भी देता है। बैंक के इस कार्य का महत्त्व भी आज दिन-प्रति-दिन बढ़ते जा रहा है। इसके अतिरिक्त रिजर्व बैंक व्यावसायिक बैंकों, सहकारी समितियों, संयुक्त पूँजी कम्पनियों तथा विदेशी व्यापार आदि के सम्बन्ध में आँकड़े एकत्र करता है तथा समय-समय पर इनका शासन भी करता है। इस प्रकार रिजर्व बैंक के कार्यों की सीमा में उत्तरोत्तर वृद्धि होती जा रही है।

रिजर्व बैंक के कार्यों का मूल्यांकन

(Appraisal of the Functions of the Reserve Bank of India)

अब हमें यह देखना है कि रिजर्व बैंक अपने उद्देश्यों की पूर्ति में कहाँ तक सफल रहा है? रिजर्व बैंक की स्थापना अप्रैल, १९३५ ई० में हुई थी। इसकी स्थापना के पूर्व देश में कोई केन्द्रीय बैंक नहीं था। केन्द्रीय बैंक के अभाव में देश का मुद्रा-बाजार पूर्णतया असंगठित था तथा बैंकिंग व्यवस्था का भी पर्याप्त विकास नहीं हो पाया था। अतः रिजर्व बैंक की स्थापना से बहुत सी आशाएँ थीं। रिजर्व बैंक अब तक अपने जीवन-काल के प्रायः ३७ वर्ष पूरा कर चुका है। इस अवधि में इसने निस्सन्देह देश में एक दृढ़ एवं सुव्यवस्थित बैंकिंग व्यवस्था के विकास में सहयोग प्रदान किया है। रिजर्व बैंक ने सफलतापूर्वक देश में पत्र-मुद्रा जारी करने का कार्य किया है। इसने सस्ती मुद्रा-नीति (Cheap Money Policy) का अनुसरण कर भारतीय उद्योग, कृषि एवं वाणिज्य की बढ़ती हुई आवश्यकताओं की पूर्ति की है। १९५१ ई० तक बैंक दर ३ प्रतिशत थी। १९५१ ई० में इसे बढ़ाकर ३½ प्रतिशत कर दिया गया। पुनः १९५७ ई० मे इसे बढ़ाकर ४ प्रतिशत तथा १९६३ ई० में ४½ प्रतिशत कर दिया गया। रिजर्व बैंक ने देश की बैंकिंग व्यवस्था को भी विभिन्न प्रकार से सहायता प्रदान किया है। बहुत से व्यावसायिक बैंकों को आर्थिक संकट में अन्तिम ऋणदाता (Lender of the Last Resort) के रूप में सहायता प्रदान कर इसने उन्हें फेल होने से बचाया है। औद्योगिक वित्त-व्यवस्था को सुदृढ़ आधार प्रदान करने में भी रिजर्व बैंक बहुत अधिक प्रयत्नशील रहा है। बैंक के इन प्रयत्नों के फलस्वरूप ही देश में औद्योगिक वित्त-निगम (Industrial Finance Corporation) राज्य वित्तीय निगम (State Finance Corporations), पुनर्वित्त निगम (Re-finance Corporation), औद्योगिक विकास बैंक (Industrial Development) Bank) तथा इसी प्रकार की अन्य संस्थाएँ स्थापित हो सकी हैं। ये संस्थाएँ उद्योग-धन्धों को दीर्घकालीन ऋण प्रदान करती हैं। कृषि-साख के सहायतार्थ बैंक का कृषि-साख विभाग प्रारम्भ से ही प्रयत्नशील रहा है। किन्तु हाल के संशोधन के फलस्वरूप बैंक कृषि-साख की व्यवस्था में और भी अधिक प्रयत्नशील हो गया है। रिजर्व बैंक ने भारत एवं राज्य सरकारों के लिए सरकारी ऋण की व्यवस्था भी की है। अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष से सम्बन्ध स्थापित कर बैंक ने रुपये के वाह्य मूल्य को भी स्थायी बनाने का प्रयत्न किया है। इस प्रकार रिजर्व बैंक ने केन्द्रीय बैंक के प्रायः सभी कार्यों को पर्याप्त सफलता के साथ सम्पन्न किया है।

किन्तु रिजर्व बैंक के कार्यों की कई कारणों से आलोचना भी की जाती है। इसके विरुद्ध साधारणतया निम्नलिखित आरोप लगाये जाते हैं :—

(१) **रुपये के आन्तरिक मूल्य में अस्थिरता** (Instability in the internal value of the Rupee)—रिजर्व बैंक रुपये के आन्तरिक मूल्य को स्थायी बनाने में प्रायः असफल रहा है। द्वितीय महायुद्ध के समय देश में मुद्रा की मात्रा में बहुत अधिक वृद्धि हुई जिससे मुद्रा के मूल्य में

बहुत ह्रास हुआ तथा मूल्य-तल में पर्याप्त वृद्धि हुई। इसका देश की आर्थिक व्यवस्था पर बड़ा ही घातक प्रभाव पड़ा है। किन्तु इसके लिए हम केवल रिजर्व बैंक को ही पूर्ण रूप से उत्तरदायी नहीं ठहरा सकते। इसके लिए सरकार तथा तत्कालीन परिस्थितियाँ भी बहुत हद तक उत्तरदायी थीं।

(२) **सुव्यवस्थित मुद्रा-बाजार एवं बिल-बाजार का अभाव :**—प्रायः यह कहा जाता है कि रिजर्व बैंक देश में एक सुसंगठित मुद्रा एवं बिल-बाजार की स्थापना में असफल रहा है। देश में मुद्रा-बाजार के समुचित विकास के लिए यह बाजार के विभिन्न अंगों में यथेष्ट सहयोग नहीं उत्पन्न कर सका है। अपने जीवन-काल के प्राय ३५ वर्षों के बाद भी यह देशी बैंकिंग प्रणाली से सप्रवाहिक सम्बन्ध स्थापित करने में प्रायः असफल रहा है। इसी प्रकार बिलों के पुनः भुगतान (Rediscount) की सुविधा प्रदान करने में भी यह प्रायः असफल रहा है। भारतीय मुद्रा-बाजार के विभिन्न हिस्सों में प्रचलित ब्याज की दरों में भी अभी तक समानता नहीं आ पायी है। इस प्रकार रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया के विभिन्न प्रयत्नों के परिणामस्वरूप देश में अभी तक समुचित बिल-बाजार का विकास नहीं हो पाया है।

(३) **कृषि-साख (Agricultural Credit) की समुचित व्यवस्था का अभाव :**—रिजर्व बैंक के विरुद्ध यह भी कहा जाता है कि यह देश मे कृषि-साख की समुचित व्यवस्था को प्रोत्साहित नहीं कर सका है। भारत में कृषि-साख प्रदान करने के प्रमुख साधन—महाजन तथा साहूकार—की क्रियाओं को अभी तक बैंक नियन्त्रित नहीं कर सका है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि ग्रामीण साख-सर्वेक्षण समिति की सिफारिशों के आधार पर बैंक ने कृषि-साख को अधिक प्रोत्साहित करना प्रारम्भ कर दिया है, किन्तु फिर भी अभी इस क्षेत्र में बहुत अधिक कार्य करने की आवश्यकता है।

इस प्रकार रिजर्व बैंक के कार्यों के विरुद्ध बहुत-सी आलोचनाएँ दी जाती हैं। किन्तु इन सारी आलोचनाओं के बावजूद देश में आर्थिक स्थायित्व के युग का संचार करने में बैंक ने निस्सन्देह बड़ा ही महत्त्वपूर्ण सहयोग प्रदान किया है। रिजर्व बैंक ने समय-समय पर अपने कार्यों द्वारा देश की आर्थिक व्यवस्था को सुदृढ़ आधार प्रदान करने का सफल प्रयास किया है। आशा की जाती है कि भविष्य में देश के आर्थिक हित में बैंक और अधिक उपयोगी कार्य करेगा।

विशेष अध्ययन सूची

1. Reserve Bank of India : Functions and Working.
2. Reserve Bank of India : Reports on Currency and Finance.
3. S. K Basu : A Survey of Contemporary Banking Trends, Chapters XII to XIV
4. K. N. Raj : Monetary Policy of the Reserve Bank of India.

अध्याय : ४५

स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया

(State Bank of India)

अखिल भारतीय ग्रामीण साख-सर्वेक्षण समिति (All India Rural Credit Survey Committee) की सिफारिशों के आधार पर १ जुलाई, १९५५ ई० को इम्पीरियल बैंक ऑफ इण्डिया के राष्ट्रीयकरण द्वारा स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया की स्थापना हुई।

इम्पीरियल बैंक (Imperial Bank) :— सन् १९२० ई० के इम्पीरियल बैंक ऑफ इण्डिया ऐक्ट के अनुसार कलकत्ता, बम्बई तथा मद्रास के तीनों प्रेसीडेन्सी बैंकों को मिलाकर इम्पीरियल बैंक ऑफ इण्डिया की स्थापना की गयी थी। भारत में आधुनिक बैंकिंग व्यवस्था के इतिहास में इम्पीरियल बैंक की स्थापना का एक खास महत्त्व है। इसकी स्थापना के साथ ही देश में आधुनिक बैंकिंग पद्धति का भी आविर्भाव हुआ। इसकी अधिकृत पूँजी १२.१५ करोड़ रुपये तथा परिदत्त पूँजी ५.७५ करोड़ रुपये थी। यद्यपि यह एक व्यावसायिक बैंक था तथापि रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया की स्थापना के पूर्व यह केन्द्रीय बैंक के बहुत सारे कार्यों का भी संपादन करता था।

इम्पीरियल बैंक का प्रबन्ध :—इम्पीरियल बैंक ऐक्ट के अनुसार इसका प्रबन्ध एक केन्द्रीय संचालक मण्डल द्वारा किया जाता था। इसमें १६ सदस्य होते थे। केन्द्रीय संचालक मण्डल के अतिरिक्त बम्बई, कलकत्ता एवं मद्रास में तीन स्थानीय बोर्ड कार्य करते थे। केन्द्रीय मण्डल ही बैंक की नीति निर्धारित करता था।

रिजर्व बैंक की स्थापना के पूर्व इम्पीरियल बैंक ही देश में केन्द्रीय बैंक के सभी कार्य करता था। इस प्रकार आरम्भ में इसका कार्य दोहरा था। देश के केन्द्रीय बैंक के रूप में वह सरकारी कोष जमा करता था, सरकारी ऋणों की व्यवस्था करता था, बैंकों के बैंक रूप में कार्य करता था तथा कोषों को एक स्थान से दूसरे स्थान में स्थानान्तरण करने का कार्य भी करता था। साथ ही, एक साधारण हिस्सेदारों के बैंक के रूप में यह व्यावसायिक बैंक-सम्बन्धी प्रायः सभी कार्यों को भी सम्पन्न करता था। किन्तु सन् १९३५ ई० में रिजर्व बैंक की स्थापना के पश्चात् इम्पीरियल बैंक के केन्द्रीय बैंकिंग-सम्बन्धी कार्यों को समाप्त कर दिया गया तथा इसके दूसरे कार्यों पर से भी प्रतिबन्ध हटा लिये गये। इसके बाद यह केन्द्रीय बैंक के एजेन्ट के रूप में कार्य करने लगा। केन्द्रीय बैंक के प्रतिनिधि के रूप में इम्पीरियल बैंक केन्द्रीय बैंकिंग-सम्बन्धी सभी कार्यों को करता था। यह केन्द्रीय और राज्य सरकारों का धन जमा प्राप्त करता था और उस पर किसी प्रकार का व्याज नहीं चुकाता था। इम्पीरियल बैंक सार्वजनिक ऋण का प्रबन्ध करता, समाशोधन गृह का कार्य करता तथा एक जगह से दूसरी जगह सरकारी रकम भेजने का भी कार्य करता था।

इम्पीरियल बैंक व्यावसायिक बैंक के सामान्य कार्यों को भी करता था। वास्तव मे अपने कार्यकाल में यह देश का सबसे बड़ा व्यावसायिक बैंक था।

इन सभी सेवाओं के उपरान्त भी इम्पीरियल बैंक की आलोचना होती रही। इसके निम्नांकित कारण थे :—

(१) भारतीय हितों की उपेक्षा :—यूरोपियनों के हाथ में बैंक का प्रबन्ध होने के कारण भारतीय व्यवसायी फर्मों को यह उतनी सुविधा नहीं प्रदान करता था जितना कि यूरोपियन फर्मों

को। साथ ही, यह भारत में विदेशी हितों का समर्थक था और भारत के निवासियों को बैंक-व्यवस्था में उच्च शिक्षा नहीं प्रदान करता था।

(२) **विदेशियों का आधिपत्य** :—इम्पीरियल बैंक की अधिकांश पूँजी विदेशियों के हाथ में थी। अतएव इसका प्रबन्ध भी विदेशियों के हाथ में ही था जिससे वे भारतीय हितों की उपेक्षा करते थे।

(३) **शाखा-सम्बन्धी नीति त्रुटिपूर्ण थी** :—इम्पीरियल बैंक ने अपनी शाखाएँ उन्हीं स्थानों में स्थापित की थीं जहाँ पर अन्य बैंकों की शाखाएँ पहले से थीं। इससे वह भारतीय बैंकों से अनुचित प्रतियोगिता करता था।

(४) **बिल बाजार के विकास में असफलता** :—इम्पीरियल बैंक देश में बिल बाजार की स्थापना भी नहीं कर सका था। यह बिलों के भुगतान की उपेक्षा कर ऋणों को ही प्राथमिकता प्रदान करता था जिसके परिणामस्वरूप देश में बिल बाजार के विकास में यह सक्रिय सहयोग नहीं प्रदान कर सका।

इन्हीं सब कारणों से इस बैंक के राष्ट्रीयकरण की मांग उत्तरोत्तर बढ़ती गयी। फलस्वरूप अखिल भारतीय ग्रामीण साख-सर्वेक्षण समिति (All India Rural Credit Survey Committee) की सिफारिशों के आधार पर इम्पीरियल बैंक का राष्ट्रीयकरण किया गया तथा १ जुलाई, १९५५ ई० को स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया की स्थापना हुई। इसके फलस्वरूप इम्पीरियल बैंक की समस्त भारत स्थित सम्पत्ति एवं दायित्व स्टेट बैंक के नाम से कर दी गयी। इस बैंक की स्थापना का मुख्य उद्देश्य देश की विभिन्न बैंकिंग संस्थाओं तथा सहकारी बैंकों को सहायता पहुँचाना एवं सरकार की आर्थिक नीति को कार्यान्वित करना है।

स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया के मुख्य उद्देश्य

(Main objectives of the State Bank of India)

स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया की स्थापना निम्नांकित उद्देश्यों को ध्यान में रख कर की गयी थी :—

(१) **ग्रामीण साख-व्यवस्था में सरकार की साझेदारी** :—स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया का मुख्य उद्देश्य सहकारी साख-व्यवस्था में सरकार की साझेदारी स्थापित करना है। अतः इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए स्टेट बैंक राज्य सरकारों को ऋण देने के लिए भी तैयार रहता है।

(२) **लाइसेंसदार गोदामों एवं भंडार-गृहों की स्थापना में सहायता देना** :—स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया देश के विभिन्न भागों में लाइसेंसदार गोदामों एवं बिक्री समितियों की स्थापना में आर्थिक सहायता प्रदान करता है। इससे कृषि-पदार्थों के संचय आदि में बहुत अधिक सुविधा होती है।

(३) **छोटे उद्योगों को आर्थिक सहायता देना** :—स्टेट बैंक का एक उद्देश्य यह भी है कि देश में स्थापित किये गये छोटे-छोटे उद्योगों को ऋण आदि के रूप में आर्थिक सहायता प्रदान की जाय।

(४) **छोटी-मोटी बचतों को प्रोत्साहित करना** :—स्टेट बैंक ग्रामीण क्षेत्रों एवं छोटे-छोटे कस्बों में शाखाएँ स्थापित करके बचतों को प्रोत्साहित करता है ताकि इन्हें एकत्र करके देश के औद्योगिक विकास में लगाया जाय। इस उद्देश्य से बैंक की शाखाएँ ग्रामीण क्षेत्रों में स्थापित की जा रही हैं।

(५) धन के स्थानांतरण की सुविधा प्रदान करना :— स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया सस्ती दरों पर धन के स्थानांतरण की सुविधा भी प्रदान करता है। इससे देश में बैंकिंग विकास में सहायता मिलती है।

स्टेट बैंक की पूँजी :— स्टेट बैंक की अधिकृत पूँजी (Authorised Capital) २० करोड़ रुपये तथा परिदत्त पूँजी ५·६२५ करोड़ रुपये हैं। सम्पूर्ण पूँजी को एक-एक सौ रुपये के १० लाख अंशों में विभाजित किया गया है। बैंक की सम्पूर्ण हिस्सा पूँजी का ५५ प्रतिशत भाग रिजर्व बैंक एवं केन्द्रीय सरकार ने खरीदा है और शेष ४५ प्रतिशत भाग जनता के हाथों में बेचा गया है जिसमें इम्पीरियल बैंक के पुराने हिस्सेदारों को प्राथमिकता दी गयी है।

प्रबन्ध (Management) :—स्टेट बैंक के प्रबन्ध के लिए एक केन्द्रीय मण्डल का निर्माण किया गया है जिसमें एक चेयरमैन, एक उप-चेयरमैन तथा २ प्रबन्ध संचालकों (Managing Directors) के अतिरिक्त १६ सदस्य हैं। मण्डल के चेयरमैन एवं उप-चेयरमैन की नियुक्ति भारत सरकार रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया के परामर्श से करती है। केन्द्रीय मण्डल में चेयरमैन एवं उप-चेयरमैन के अतिरिक्त प्रबन्ध संचालक, हिस्सेदारों द्वारा निर्वाचित ६ संचालक तथा रिजर्व बैंक के परामर्श पर केन्द्रीय सरकार द्वारा नियुक्त ८ संचालक, जिसमें दो ग्रामीण अर्थ व्यवस्था एवं सहकारिता के विशेषज्ञ होते हैं, रहते हैं। केन्द्रीय मण्डल के अतिरिक्त मद्रास, बम्बई तथा कलकत्ता में एक-एक स्थानीय मण्डल भी हैं।

स्टेट बैंक के कार्य

(Functions of the State Bank)

स्टेट बैंक के कार्यों को दो वर्गों में विभाजित किया जा सकता है :—

(क) केन्द्रीय बैंकिंग-सम्बन्धी कार्य, तथा

(ख) साधारण बैंकिंग-सम्बन्धी कार्य।

(क) केन्द्रीय बैंकिंग-सम्बन्धी कार्य :—स्टेट बैंक उन स्थानों पर जहाँ रिजर्व बैंक की शाखाएँ नहीं हैं, इसके एजेन्ट के रूप में कार्य करता है। इस प्रकार स्टेट बैंक केन्द्रीय बैंकिंग सम्बन्धी भी कुछ कार्य करता है। यह सरकारी बैंक के रूप में केन्द्रीय एवं राज्य सरकारों के लेन-देन का कार्य करता है; सार्वजनिक ऋण की व्यवस्था करता है तथा बैंकों के बैंक के रूप में भी कार्य करता है। इसके यहाँ देश के अन्य बैंक भी अपना धन जमा करते हैं जिससे यह उनके आर्थिक-संकट के काल में सहायता पहुँचाता है। यह रिजर्व बैंक की ओर से बैंकों के समाशोधन-गृह (Clearing house) का भी कार्य करता है।

(ख) साधारण बैंकिंग-सम्बन्धी कार्य :—स्टेट बैंक व्यावसायिक बैंक सम्बन्धी सामान्य कार्यों को भी सम्पन्न करता है। वास्तव में, यह एक व्यावसायिक बैंक की ही तरह है, यद्यपि साधारण व्यावसायिक बैंकों से इसकी स्थिति कुछ भिन्न है। व्यावसायिक बैंक के रूप में यह साधारणतया निम्नांकित कार्यों को सम्पन्न करता है :—

(१) यह बैंक अन्य व्यावसायिक बैंकों की तरह सरकारी एवं अच्छी प्रतिभूतियों एवं ट्रेजरी बिलों में विनियोग करता है।

(२) अन्य व्यावसायिक बैंकों की तरह जनता की बचत को जमा के रूप में प्राप्त करता एवं जनता की बहुमूल्य वस्तुओं को सुरक्षित रखता है।

(३) बहुमूल्य धातुओं का क्रय-विक्रय करता है।

(४) उद्योग एवं व्यापार में सहायता पहुँचाने के दृष्टिकोण से चल या अचल सम्पत्ति, स्वीकृत प्रतिज्ञा-पत्र, बान्ड्स एवं माल के अधिकार-पत्र पर किसी व्यक्ति या संस्था को ऋण प्रदान करने का कार्य करता है।

वर्जित कार्य (Prohibited Functions) :—स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया अधिनियम की धारा ३४ के अनुसार स्टेट बैंक अपने अंशों तथा अचल सम्पत्ति की जमानत के आधार पर ६ महीने से अधिक की अवधि के लिए ऋण अथवा अग्रिम नहीं दे सकता है। बैंक किसी भी ऐसे विनिमय-साध्य साख-पत्र, जिसकी अवधि १५ माह से अधिक है, खरीद नहीं सकता तथा ऐसे साख पत्र की जमानत पर ऋण अथवा अग्रिम नहीं दे सकता।

१९५७ ई० के State Bank of India (Subsidiary Banks) Act के अनुसार १९५९ में स्टेट बैंक ने हैदराबाद बैंक तथा १९६० ई० में बैंक ऑफ जयपुर, बैंक ऑफ इंदौर, बैंक ऑफ बिकानेर, ट्रावनकोर बैंक, बैंक ऑफ मैसूर, बैंक ऑफ पटियाला, तथा स्टेट बैंक ऑफ सौराष्ट्र तथा १९६९ में बैंक ऑफ बिहार की व्यवस्था को अपने हाथ में लिया।

स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया की प्रगति :—१ जुलाई, १९५५ ई० से इस बैंक ने अपना कार्य प्रारम्भ किया। अधिनियम के अनुसार इम्पीरियल बैंक की भारत-स्थित समस्त सम्पत्ति एवं दायित्व (Assets and Liabilities) स्टेट बैंक को हस्तांतरित कर दिये गये हैं। उस समय इम्पीरियल बैंक की ४७५ शाखाएँ थीं। बैंक का एक प्रमुख उद्देश्य देश के ग्रामीण एवं अविकसित क्षेत्रों में बैंकिंग की सुविधा का प्रसार करना है। इस उद्देश्य से यह निश्चत किया गया था कि स्टेट बैंक प्रथम पाँच वर्षों में ४०० नयी शाखाएँ स्थापित करेगा। नयी शाखाओं की स्थापना में जो पहले हानि होगी उसकी क्षति-पूर्ति के लिए एक एकीकरण एवं विकास-कोष (Integration and Development Fund) की स्थापना की गयी। बैंक ने १९६१ ई० तक ५०० शाखाएँ स्थापित कर ली थीं। इसके फलस्वरूप ग्रामीण क्षेत्रों में बैंकिंग की सुविधा में पर्याप्त वृद्धि हुई है। ३१ दिसम्बर, १९६४ ई० को स्टेट बैंक तथा इसके सहायकों (Subsidiaries) की कुल प्रायः १८०० शाखाएँ थीं। स्टेट बैंक देश में बैंकिंग के विकास के लिए अनुसूचित बैंकों तथा सहकारी संस्थाओं को एक सप्ताह में दो बार निःशुल्क एक स्थान से दूसरे स्थान पर रकम भेजने की सुविधा प्रदान करता है। दिसम्बर, १९६६ ई० में स्टेट बैंक तथा इसके सहायकों का कुल जमा ७९७ करोड़ रुपये या जो सम्पूर्ण बैंकिंग व्यवस्था के जमा का प्रायः एक-तिहाई भाग है।

इस प्रकार भारतीय बैंकिंग प्रणाली में स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया या इसके सहायक बैंकों का एक विशेष महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। निम्न तालिका से भी यह स्पष्ट है :—

१५-१२-१९६६ ई० को करोड़ रुपये

	कुल अनुसूचित बैंक	स्टेट बैंक ऑफ इंडिया	सहायक बैंक
कुल जमा (Total Deposit)	२,९२१·६	६०२·८	१९५·०
कुल अग्रिम (Total Advance)	२,१८७·७	४८९·६	११६·१
कुल विनियोग (Total Investment)	८२५·०	२१६·१	५९·१

देश के लोगों में बैंकिंग-सम्बन्धी आदतों को प्रोत्साहित करने के उद्देश्य से स्टेट बैंक ने १ जनवरी, १९६२ ई० से विशेष साख स्थानान्तरण योजना (Special Credit Transfer Scheme) चालू की है। यह योजना निम्न तथा मध्यम आय वाले वर्गों की आवश्यकताओं की पूर्त्ति करती है। इस योजना के अन्तर्गत बैंक के वे ग्राहक जिनका बैंक की किसी भी शाखा में खाता है देश में किसी भी उस स्थान से जहाँ पर स्टेट बैंक की शाखा है, अपने हिसाब में जमा करने के लिए १००० रुपये तक की राशि का बिना किसी खर्च के अन्तरण कर सकते हैं। यह योजना भारतीय बैंकिंग के इतिहास में एक नवीन विशेषता है।

स्टेट बैंक एवं ग्रामीण साख (State Bank and Rural Credit) :—स्टेट बैंक का एक प्रमुख कार्य ग्रामीण साख की सुविधा प्रदान करना है। इस उद्देश्य से बैंक विभिन्न प्रकार की सहकारी समितियों को साख की सुविधा प्रदान करता है। रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया की प्रेषण सुविधा योजना के अन्तर्गत स्टेट बैंक ने १९६५ ई० में सहकारी संस्थाओं को २६२ करोड़ रुपये की धनराशि की प्रेषण-सुविधाएँ प्रदान की थीं। इसके अतिरिक्त बैंक ने अपनी निजी प्रेषण योजना के अन्तर्गत २२४ करोड़ रुपये की धनराशि की प्रेषण सुविधाएँ प्रदान की थीं। १९६५ ई० में बैंक ने सहकारी बैंक तथा सहकारी केन्द्रीय भूमि-बन्धक बैंकों को क्रमशः ३१·५ करोड़ रुपये तथा ८७ करोड़ रुपये की ऋण सीमा सहायता प्रदान की थी। बैंक ने भूमि-बन्धक बैंकों को उनके ऋण-पत्रों को जमानत पर ऋण देकर भी सहायता की थी। सितम्बर, १९६५ ई० के अन्त में स्टेट बैंक के पास सहकारी केन्द्रीय भूमि-बन्धक बैंकों के ९·१ करोड़ रुपये के ऋण-पत्र थे। १९६५ ई० में बैंक ने सहकारी चीनी मिलों को ९·४ करोड़ रुपये के २८ अग्रिम प्रदान किये थे। १९६५ ई० में बैंक ने अन्य सहकारी प्रोसेसिंग तथा विपणन समितियों को भी १·६ करोड़ रुपये के १७६ अग्रिमों की स्वीकृति प्रदान की थी। इसके अतिरिक्त बैंक ने कुछ अन्य सहकारी संस्थाओं को भी, जिनमें औद्योगिक सहकारी संस्थाएँ भी सम्मिलित हैं, वित्तीय सहायता प्रदान की थी। १९६५ ई० में औद्योगिक सहकारी संस्थाओं को दी गयी प्रत्यक्ष अग्रिम सहायता की राशि ७२·७ लाख रुपये थी। १९६५ ई० में बैंक ने अन्य सभी प्रकार की सहकारी संस्थाओं को ८७·५ लाख रुपये के ५५ अग्रिमों की स्वीकृति प्रदान की थी। इसके अतिरिक्त १९५६ ई० में केन्द्रीय तथा राजकीय भण्डारगृह निगमों को बैंक ने ३·५ करोड़ रुपये के १,५०३ अग्रिमों की स्वीकृति प्रदान की थी।

लघु उद्योगों को सहायता (Assistance to Small Scale Industries) :—स्टेट बैंक का एक प्रमुख कार्य लघु उद्योगों को सहायता प्रदान करना है। गत १० वर्षों में बैंक के इस कार्य-क्षेत्र में भी पर्याप्त प्रगति हुई है। बैंक की उदार ऋण योजना के अन्तर्गत लघु उद्योगों को दी गयी कुल वित्तीय सहायता की राशि ३१ दिसम्बर, १९६५ ई० को ५३·१ करोड़ रुपये थी। 'इसके अतिरिक्त ५ लाख रुपये से अधिक पूंजी वाले ५३ लघु उद्योगों को १·४ करोड़ रुपये का वित्तीय सहायता प्रदान की गयी थी। भारत सरकार की साख-प्रत्याभूति योजना (Credit Guarantee Scheme) के अन्तर्गत १९६५ ई० के अन्त तक बैंक ने २८·३ करोड़ रुपये के अग्रिमों के प्रार्थना-पत्र रिजर्व बैंक को प्रस्तुत किये थे। राष्ट्रीय लघु उद्योग निगम प्रत्याभूति योजना के अन्तर्गत बैंक ने १९६५ ई० में १७ लघु उद्योगों को १०·७ लाख रुपये की साख-सीमा की स्वीकृति प्रदान की थी।

निष्कर्ष :—किन्तु इन सबके बावजूद स्टेट बैंक की कार्यवाही के विरुद्ध बहुत-सी आलोचनाएँ भी दी जाती हैं। सर्वप्रथम तो यह कहा जा सकता है कि सरकारी बैंक होने के कारण इसके

दिन-प्रतिदिन के कार्यों में अधिक सरकारी हस्तक्षेप की आशा की जाती है। इससे बैंक की कार्य-पद्धति राजनैतिक स्वार्थों पर आधारित हो जायगी। किन्तु इस प्रकार की आलोचना में कोई तथ्य नहीं है। इसके विरुद्ध दूसरी आलोचना यह दी जाती है कि स्टेट बैंक नागरिकों को समुचित मात्रा में बैंकिंग की सुविधा नहीं प्रदान करता है। किन्तु यह आलोचना भी तथ्यहीन जान पड़ती है। स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया अधिनियम में यह स्पष्ट रूप से बतलाया गया है कि यह बैंक व्यावसायिक रीति-रिवाज तथा सिद्धान्तों के आधार पर कार्य करेगा। इस प्रकार इन सब आलोचनाओं के बावजूद यह कहा जा सकता है कि भारतीय बैंकिंग व्यवस्था में स्टेट बैंक का एक महत्त्वपूर्ण स्थान है। वास्तव में, "**स्टेट बैंक निजी क्षेत्र को पहले से अधिक लाभान्वित कर रहा है।**" (The Bank has been serving the private sector better than before.)

विशेष अध्ययन-सूची

1. Reports of the Annual General Meetings of the State Bank of India.
2. S. B. I. Monthly Bulletins.
3. S. R. K. Rao : The Indian Money Market, Chapter III.

अध्याय : ४६

भारत में मिश्रित पूँजी वाले बैंक[1] (व्यावसायिक बैंक)
(Joint Stock Banks in India)

भारत में व्यावसायिक बैंकों का इतिहास कोई बहुत पुराना नहीं है। अँग्रेजी व्यापारियों ने कम्पनी के शासनकाल में ही कुछ एजेन्सी-गृहों की स्थापना की थी। भारत में आधुनिक बैंकिंग व्यवस्था का विकास इन्हीं एजेंसी गृहों से आरम्भ हुआ है। इन एजेन्सी-गृहों में से कुछ ने आधुनिक तरीके पर बैंकिंग व्यवस्था का संगठन किया था, किन्तु भारत में व्यावसायिक बैंकों की प्रगति वास्तव में १८६० ई० के बाद से ही प्रारम्भ हुई। १८६८ ई० तक देश में बैंकों की संख्या बढ़कर २५ हो गयी। इसके बाद १९०० ई० तक इनकी संख्या में कोई विशेष प्रगति नहीं हुई। किन्तु इसके बाद व्यावसायिक बैंकों का द्रुतगति से विकास प्रारम्भ हुआ। १९०५ ई० के बाद स्वदेशी आन्दोलन से प्रभावित हो कितने ही बैंक स्थापित किये गये। १९३५ ई० में रिजर्व बैंक की स्थापना के पश्चात् मिश्रित पूँजीवाले बैंकों को दो वर्गों में विभाजित किया गया—(१) अनुसूचित बैंक (Scheduled Banks), तथा (२) असूचित बैंक (Non-Scheduled Banks)। अनुसूचित बैंकों को कुछ शर्तें पूरी करनी पड़ती है जिनके बदले में उन्हें रिजर्व बैंक द्वारा बहुत-सी सुविधाएँ प्राप्त होती हैं।

भारत में व्यावसायिक बैंकों के कार्य (Functions of Commercial Banks in India) :—भारत में व्यावसायिक बैंक[1] साधारण बैंकिंग के प्रायः सभी कार्यों को सम्पन्न करते हैं। **संक्षेप में, इनके निम्नलिखित प्रमुख कार्य हैं :—**

(१) ग्राहकों से जमा प्राप्त करना :—सर्वप्रथम तो व्यावसायिक बैंक अपने ग्राहकों का जमा ग्रहण करते हैं। यह इन बैंकों का एक प्रमुख कार्य है। व्यावसायिक बैंक मुख्यतया तीन प्रकार के खाते में जमा ग्रहण करते हैं :- स्थायी जमा खाता, चालू जमा खाता, तथा बचत बैंक का खाता। बैंक जमा की गयी रकम पर प्रायः ब्याज भी देते हैं।

(२) ऋण प्रदान करना :—व्यावसायिक बैंकों का दूसरा प्रधान कार्य ऋण अथवा उधार देना है। बैंक विभिन्न प्रकार से ऋण प्रदान करते हैं जिनमें बिलों को पुनः बट्टा करना (Rediscounting of Bills), अधि-विकर्ष (Overdraft), अल्पकालीन ऋण (Loans at Call and Short notice) आदि प्रमुख हैं। ऋण अथवा उधार देने की प्रक्रिया में व्यावसायिक बैंक साख का सृजन भी करते हैं। इस प्रकार इन बैंकों का यह एक प्रमुख कार्य है। व्यावसायिक बैंक साधारणतया व्यापारियों तथा उद्योगपतियों को अल्पकालीन कर्ज प्रदान करते हैं। किसानों को ये बहुधा ऋण नहीं प्रदान करते। इसके दो प्रधान कारण हैं—**सर्वप्रथम** तो चूँकि इनका अधिकांश जमा

---

१. 'मिश्रित पूँजीवाले बैंक' वाक्यांश से भारत में व्यावसायिक बैंकों (Commercial Banks) का बोध होता है। मिश्रित पूँजी वाले बैंक का तात्पर्य उन बैंकों से है जिनका संगठन मिश्रित पूँजी कम्पनी के आधार पर किया गया हो। किन्तु भारत में मिश्रित पूँजी वाले बैंक शब्द का प्रयोग व्यावसायिक बैंकों के लिए ही किया जाता है।

अल्पकालीन अवधि का होता है, अतः ये दीर्घकालीन ऋण नहीं प्रदान करते। **द्वितीयतः**, व्यापारियों तथा व्यावसायियों से इन्हें उच्च दर से ब्याज प्राप्त होता है।

(३) **एजेन्सी-सम्बन्धी कार्य करना** :—व्यावसायिक बैंक अपने ग्राहकों के एजेन्सी का कार्य भी करते हैं। इस रूप में ये ग्राहकों का प्रीमियम चुकाते हैं, विनिमय-साध्य पत्रों को एकत्र करते हैं, सुरक्षा-सम्बन्धी कार्य करते हैं धन-सम्बन्धी सलाह देते हैं तथा संस्थाओं के ऋणों का अभिगोपन करते हैं। इस प्रकार व्यावसायिक बैंक अनेक प्रकार के कार्य करते हैं।

(४) **विविध कार्य** :—इनके अतिरिक्त व्यावसायिक बैंक अपने ग्राहकों के अन्य बहुत-सारे कार्यों का भी संपादन करते हैं। उदाहरण के लिए, ये अपने ग्राहकों के जेवर-जायदाद तथा बहुमूल्य कागजातों को सुरक्षित रखने के लिए लाकर्स की सुविधा प्रदान करते हैं। ये धन के स्थानान्तरण की सुविधा भी प्रदान करते हैं।

भारत में व्यावसायिक बैंकों के विकास में कठिनाइयाँ एवं दोष

(Difficulties and Defects of Commercial Banking in India)

भारत में व्यावसायिक बैंकों का समुचित विकास नहीं हो पाया है। इनके विकास के मार्ग में कुछ प्रमुख कठिनाइयाँ है जिनके फलस्वरूप इनका समुचित विकास नहीं हो पाता। साथ ही, इन बैंकों के कुछ अपने दोष भी है जिनके फलस्वरूप इनके विकास का मार्ग अवरुद्ध हो जाता है। यद्यपि द्वितीय महायुद्ध में देश में बैंकों का पर्याप्त विकास हुआ है, फिर भी अभी इस क्षेत्र में हमारा देश अन्य देशों से बहुत ही पिछड़ा है। इस प्रकार जबकि स्विटजरलैंड में प्रति १३३३ व्यक्तियों के पीछे एक बैंक तथा इंगलैंड में ३९०० व्यक्तियों के पीछे एक बैंक है; भारत में प्रति २ लाख ७६ हजार व्यक्तियों के पीछे एक बैंक है। इससे भारत में बैंकिंग विकास की मंद गति का अन्दाजा लगाया जा सकता है। भारत में व्यावसायिक बैंकों के विकास की मन्द गति के बहुत-से कारण हैं जिनमें निम्नलिखित प्रधान हैं :—

(१) **बैंकिंग संकट** (Banking Crisis) :—देश में समय-समय पर बैंकिंग संकट के फलस्वरूप बैंकों का विकास अवरुद्ध हो जाता है। संकट-काल में बहुत-से बैंक फेल कर जाते हैं।

(२) **जनता में बैंकिंग-सम्बन्धी आदतों का अभाव** :—भारत में प्रति व्यक्ति आय बहुत ही कम है जिसके फलस्वरूप बचत भी बहुत कम होती है। परन्तु हमारे देश में कुछ व्यक्ति जो थोड़ा बहुत बचाते हैं, उसे बैंक में रखना नहीं चाहते वरन् उसे अपने पास नकद रुपयों के रूप में जमीन के नीचे गाड़ कर रखना ही अधिक सुरक्षित समझते हैं। इस प्रकार भारत के जन-साधारण में बैंकिंग-सम्बन्धी आदत का सामान्य रूप से अभाव पाया जाता है। इसके कई प्रमुख कारण हैं जिनमें जनता की संकुचित मनोवृत्ति, शिक्षा का अभाव तथा बैंकों की कार्य-प्रणाली-सम्बन्धी त्रुटियाँ आदि विशेष तौर से महत्त्वपूर्ण हैं।

(३) **सरकारी प्रोत्साहन का अभाव** :—भारत में सरकार तथा विभिन्न सरकारी संस्थाओं द्वारा बैंकों को प्रोत्साहन नहीं मिलता। ये संस्थाएँ आम व्यावसायिक बैंकों के साथ अपना सम्बन्ध नहीं रखतीं। रिजर्व बैंक तथा स्टेट बैंक ही इनके सारे बैंकिंग-सम्बन्धी कार्यों को करते हैं। इसका भी बैंकों पर बहुत अधिक प्रभाव पड़ता है।

(४) **विदेशी विनिमय बैंकों से प्रतियोगिता** :—भारत में व्यावसायिक बैंकों को विदेशी विनिमय बैंकों से बहुत अधिक प्रतियोगिता करनी पड़ती है। भारत का सम्पूर्ण विदेशी व्यापार प्रायः विदेशी विनिमय बैंकों के हाथ में ही है। इनकी आर्थिक स्थिति तथा संगठन

भारतीय बैंकों की अपेक्षा अधिक सुदृढ़ होता है जिससे भारतीय जनता का इन पर अधिक विश्वास रहता है। साथ ही, इन बैंकों की शाखाएँ विश्व के प्रायः सभी प्रमुख व्यावसायिक केन्द्रों में होती हैं। इससे भी विदेशी विनिमय बैंकों को बहुत लाभ होता है। ये विदेशी बैंक भारतीय बैंकों से देशी व्यापार एवं साधारण बैंकिंग-सम्बन्धी कार्यों में भी प्रतियोगिता करते हैं जिससे व्यावसायिक बैंकों के साथ व्यापार की कमी रहती है।

(५) स्टेट बैंक तथा देशी बैंकर्स एव महाजनों से प्रतियोगिता :—भारतीय व्यावसायिक बैंकों को स्टेट बैंक (पहले इम्पीरियल बैंक) तथा देशी महाजनों एवं साहूकारों से भी प्रतियोगिता करनी पड़ती है। देशी बैंकों एवं महाजनों की कार्य प्रणाली सीधी एवं सरल होती है जिससे व्यावसायिक बैंकों को इनसे प्रतियोगिता करना कठिन हो जाना है।

(६) बैंकों की शाखाओं का कम होना :—हमारे देश में शाखा बैंकिंग प्रणालो का प्रचलन है, फिर भी औसत रूप से व्यावसायिक बैंकों की बहुत कम शाखाएँ हैं। शाखाओं के अभाव में जोखिम का प्रादेशिक वितरण नही हो पाता। साथ ही, ग्रामीण क्षेत्रों में शाखाओं के अभाव से जनता में बैंकिंग-सम्बन्धी आदतों का विस्तार भी बहुत ही कम हो पाया है।

(७) बैंकों की कार्य-प्रणाली में त्रुटियाँ :—भारतीय व्यावसायिक बैंकों की कार्य-प्रणाली में भी बहुत-से दोष पाये जाते हैं जिनके चलते इनका समुचित विकास नहीं हो पाता है। इनमें निम्नलिखित प्रधान हैं—(क) व्यावसायिक बैंक व्यापारिक बिलों को बहुत कम प्रोत्साहित करते हैं। ये सरकारी प्रतिभूतियों में ही ज्यादातर अपनी रकम का विनियोग करते हैं। (ख) ये किसी अन्य व्यक्ति अथवा स्वीकृत प्रतिभूतियों की जमानत पर ऋण देते हैं। पश्चिमी देशों की तरह अपने ग्राहकों की व्यक्तिगत जमानता पर ऋण नहीं देते। इसका कारण यह है कि बैंकों को ग्राहकों के सम्बन्ध में विशेष जानकारी नहीं रहती है। विशेष जानकारी के अभाव में ऋण देना बड़ा ही जोखिमपूर्ण हो जाता है। पश्चिमी देशों में 'एक व्यापारी एक बैंक' (One man one bank) की प्रथा पायी जाती है। किन्तु हमारे देश में व्यापारी किसी एक बैंक से अपना सम्बन्ध रखना नहीं चाहते। (ग) इसके अतिरिक्त भारत में व्यावसायिक बैंकों में भी बहुधा पारस्परिक सहयोग का अभाव पाया जाता है। कभी-कभी तो इनमें प्रतियोगिता भी पायी जाती है जिसका इनकी स्थिति पर बड़ा ही बुरा प्रभाव पड़ता है। (घ) कुछ व्यावसायिक बैंक बैंकिंग सिद्धान्तों का भी अनुसरण नहीं करते तथा अपने धन को सट्टेबाजी वगैरह में लगाते हैं, ऊँचे-ऊँचे लाभांश का वितरण करते हैं, रक्षित कोष पर जोर नहीं देते हैं आदि।

इनके अतिरिक्त बैंकों की अकुशल सेवा, अंग्रेजी भाषा द्वारा कार्य, शाखाओं का अभाव आदि कारणों से भी भारत में व्यावसायिक बैंकों की विशेष प्रगति नहीं हो पायी है। इन सब दोषों के कारण भारत में व्यावसायिक बैंकों का समुचित विकास नहीं हो पाया है।

व्यावसायिक बैंकों के दोषों को दूर करने के सुझाव

इस प्रकार भारतीय व्यावसायिक बैंकों के समक्ष अनेक कठिनाइयाँ हैं तथा इनकी कार्य-प्रणाली भी दोषपूर्ण है। देश के आर्थिक विकास के लिए एक सुविकसित बैंकिंग व्यवस्था का विकास आवश्यक है और एक सुविकसित बैंकिंग व्यवस्था के लिए व्यावसायिक बैंक के इन दोषों एवं कठिनाइयों को दूर करना अनिवार्य है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि १९४९ ई० के बैंकिंग

कम्पनीज अधिनियम ने भारतीय बैंकिंग व्यवस्था के बहुत-से दोषों को दूर कर दिया है, फिर भी इनके विकास के लिए सामान्य रूप से निम्नलिकित सुझाव दिये जा सकते हैं :—

(१) बैंकों में जनता का विश्वास उत्पन्न करने के लिए सक्रिय प्रयास:—इस उद्देश्य की पूर्त्ति के लिए सरकार एवं सरकारी संस्थाओं को प्रमुख व्यावसायिक बैंकों से अपना व्यापारिक सम्बन्ध स्थापित करना चाहिए। ऐसा करने से जनता का व्यावसायिक बैंकों में विश्वास बढ़ेगा। सरकार द्वारा बैंकों को स्टाम्प तथा रजिस्ट्रेशन फीस आदि में भी छूट देनी चाहिए।

(२) अधिक शाखाओं की स्थापना के लिए प्रोत्साहन—देश में समुचित बैंकिंग व्यवस्था के विकास के लिए बैंकों को ग्रामीण क्षेत्रों एवं छोटे-छोटे नगरों में शाखाएँ स्थापित करने के लिए प्रोत्साहन देना चाहिए किन्तु शाखाओं की स्थापना में यह सदा ध्यान में रखना अनिवार्य है कि इससे बैंकों में अनुचित प्रतियोगिता को प्रश्रय नहीं मिले। रिजर्व बैंक एवं स्टेट बैंक ग्रामीण क्षेत्रों में बैंकिंग-सम्बन्धी सुविधाओं के विस्तार में विशेष सहयोग प्रदान कर सकता है।

(३) विनिमय बैंकों के कार्यों पर नियन्त्रण—विनिमय बैंकों के कार्य-क्षेत्र को सीमित करना अनिवार्य है। इनके कार्य-क्षेत्र को केवल आयात-निर्यात तक ही सीमित कर देना चाहिए ताकि ये सामान्य बैंकिंग के कार्यों में व्यावसायिक बैंकों से प्रतियोगिता नहीं कर सकें। १९४७ ई० के बैंकिंग कम्पनीज अधिनियम में विनिमय बैंकों पर नियन्त्रण की व्यवस्था अवश्य की गयी है, परन्तु इस क्षेत्र में अभी और अधिक तत्परता की आवश्यकता है।

(४) देशी बैंकर्स तथा महाजनों पर नियन्त्रण :— देशी बैंकर्स तथा महाजनों पर भी नियन्त्रण की आवश्यकता है। इसमें कोई सन्देह नही कि आज भी महाजन तथा साहूकार देश की आर्थिक व्यवस्था में महत्त्वपूर्ण सहयोग प्रदान कर रहे हैं फिर भी इनके कार्यों पर उचित नियंत्रण लगाकर इन्हें संगठित रूप देना व्यावसायिक बैंकों के लिए अनिवार्य है।

(५) छोटे-छोटे बैंकों का एकीकरण (Amalgamation) :—देश में बैंकिंग व्यवस्था के समुचित विकास के लिए छोटे-छोटे बैंकों का एकीकरण आवश्यक है। १९४९ ई० के बैंकिंग कम्पनीज अधिनियम में रिजर्व बैंक को इस प्रकार का व्यापक अधिकार दिया गया है। अतः रिजर्व बैंक को अत्राभकर एवं छोटे-छोटे बैंकों के एकीकरण में शीघ्रता से काम लेना चाहिए।

(६) बैंकों की कार्य-प्रणाली में सुधार—व्यावसायिक बैंकों को अपनी कार्य-प्रणाली में भी आवश्यक सुधार लाने की कोशिश करनी चाहिए। इन्हें अपने धन के विनियोग में सावधानी से काम लेना चाहिए तथा बैंकिंग के सामान्य सिद्धान्तों का अनुसरण करना चाहिए। इसमें कोई सन्देह नहीं कि आजकल व्यावसायिक बैंक इस ओर बहुत सचेष्ट हैं, किन्तु इस क्षेत्र में अभी और अधिक तत्परता की आवश्यकता होगी। बैंकों को उत्पादन-कार्यों के लिए ही ऋण प्रदान करना चाहिए तथा ऋण-सम्बन्धी जमानत के नियमों को अधिक उदार बनाना चाहिए। स्टेट बैंक को भी व्यावसायिक बैंकों के प्रति अधिक उदार नीति का अनुसरण करना चाहिए।

(७) रिजर्व बैंक एवं स्टेट बैंक की सहयोगपूर्ण नीति—रिजर्व बैंक एवं स्टेट बैंक को भी व्यावसायिक बैंकों के प्रति अधिक उदार नीति का अनुसरण करना चाहिए। आर्थिक संकट के समय रिजर्व बैंक को सदा व्यावसायिक बैंकों को सहायता देने के लिए तैयार रहना चाहिए। इसी प्रकार राजकीय बैंक को भी इन बैंकों के साथ प्रतियोगिता नहीं करनी चाहिए वरन् प्रतियोगिता के स्थान पर सहयोग की नीति अपनानी चाहिए।

उक्त उपायों द्वारा भारत में व्यावसायिक बैंकों की सारी त्रुटियों को दूर किया जा सकता है। १९४९ ई० के बैंकिंग कम्पनीज-अधिनियम के अनुसार रिजर्व बैंक को इन बैंकों पर नियंत्रण के बहुत-सारे अधिकार दिये गये हैं। साथ ही, रिजर्व बैंक अधिनियम में भी इस आशय के बहुत से संशोधन किये गये हैं। आशा है कि रिजर्व बैंक के नेतृत्व में देश के व्यावसायिक बैंक उक्त सुझावों के आधार पर अपने को अधिक संगठित बनाने का प्रयास करेंगे।

१९६९ के अन्त में देश में कुल ७३ अनुसूचित बैंक थे जिनकी कुल शाखाओं की संख्या ८८६६ थी। १९५०-५१ में इन बैंकों की संख्या ९३ थी। बैंकों के सम्मिश्रण के कारण ही अनुसूचित बैंकों की संख्या में निरन्तर कमी हो रही है। उस वर्ष इनका कुल जमा ३४२४ करोड़ रुपये था जिसमें से मांग जमा १६४९ करोड़ रुपये तथा सावधि जमा की रकम १७७५ करोड़ रुपये थी। इस वर्ष इनके पास कुल २१५.१६ रुपये नकद जमा था, यानी कुल जमा तथा नकद कोष का अनुपात (cash deposit ratio) ६.३ प्रतिशत था। पिछले कुछ वर्षों में भारतीय बैंकों की जमा राशि में बहुत अधिक वृद्धि हुई है जिसका अन्दाजा निम्नांकित तालिका से लगता है :—

पिछले कुछ वर्षों में बैंकों के जमा में वृद्धि (करोड़ रुपये)

वर्ष	मांग जमा	सावधि जमा	कुल जमा	नकद जमा का अनुपात
१९५०-५१	५९२·५	२८८·१	८८०·६	१०·६
१९५५-५६	६३०·८	४१२·४	१०४३·२	८·१
१९६०-६१	७१९·७	१०२६·३	१७३६·०	६·७
१९६५-६६	१४२६·९	१५२३·०	२०४९·९	५·८
१९६६-६७	१६३९·१	१७७५·७	३४२४·८	६·३
अप्रैल, १९७१	२६२३·०	३२७८·१	५९०१·१	६·३

स्पष्ट है कि पिछले १९ या २० वर्षों में के कुल जमा में चार-गुना से भी अधिक वृद्धि हुई है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि देशवासियों में बैंकिंग-सम्बन्धी आदतों का धीरे-धीरे विकास हो रहा है।

व्यावसायिक बैंक अपने कुल साधनों का अधिकांश भाग अपने संचालकों तथा उनसे सम्बन्धित उद्योगों में ही लगाते थे, अतः इस अव्यवस्था को दूर करने के लिए वर्षों से इनके राष्ट्रीयकरण की मांग की जा रही थी। परिणामस्वरूप १९ जुलाई, १९६९ को भारत सरकार ने एक अध्यादेश द्वारा ५० करोड़ रुपये से अधिक जमावाले १४ बड़े-बड़े व्यावसायिक बैंकों का राष्ट्रीयकरण कर लिया। व्यावसायिक बैंकों के राष्ट्रीयकरण की विस्तृत व्याख्या पहले ही की जा चुकी है।

विशेष अध्ययन-सूची

1. Reserve Bank of India : Reports on Currency and Exchange.
2. Reserve Bank of India : Functions and Workings.
3. B. R. Ambedkar : History of Indian Currency and Banking.

अध्याय : ४७

भारतीय बैंकों का राष्ट्रीयकरण

(Nationalisation of Banks in India)

प्राक्कथन :—स्वतंत्रता-प्राप्ति के बाद से ही भारत में भी व्यावसायिक बैंकों के राष्ट्रीयकरण की मांग की जा रही है। १९५४-५५ ई० में अखिल भारतीय कांग्रेस महासमिति द्वारा समाजवादी ढांचे की सामाजिक व्यवस्था (Socialist Pattern of Society) के आदर्श को अपनाये जाने के बाद तो राष्ट्रीयकरण की मांग को और भी बल मिला। राष्ट्रीयकरण की इस बढ़ती हुई मांग के परिणामस्वरूप ही १९४९ ई० में रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया (Reserve Bank of India) का राष्ट्रीयकरण किया गया तथा १९५५ में इम्पीरियल बैंक ऑफ इण्डिया (Imperial Bank of India) तथा अन्य १२ बैंकों को मिलाकर एक स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया (State Bank of India) की स्थापना की गयी। किन्तु इससे भी व्यावसायिक बैंकों के राष्ट्रीयकरण की मांग में कोई कमी नहीं आयी। परिणामस्वरूप अक्टूबर, १९६७ ई० में अखिल भारतीय कांग्रेस महासमिति के जब्बलपुर अधिवेशन में राष्ट्रीयकरण के प्रश्न पर विचार करते हुए तत्कालीन वित्त मंत्री श्री मोरारजी देसाई ने यह घोषणा की कि फिलहाल देश के व्यावसायिक बैंकों का सामाजिक नियंत्रण (Social control) किया जायगा और दो वर्षों में यदि सामाजिक नियंत्रण की नीति सफल नहीं होगी तो व्यावसायिक बैंकों के राष्ट्रीयकरण पर विचार किया जायगा।

किन्तु सामाजिक नियन्त्रण के बाद भी राष्ट्रीयकरण की मांग जोर पकड़ती गयी और अन्ततः १९ जुलाई, १९६९ को एक अध्यादेश द्वारा भारत सरकार ने ५० करोड़ रुपये से अधिक जमा वाले देश के १४ प्रमुख व्यावसायिक बैंकों का राष्ट्रीयकरण कर लिया।

अब भारत में बैंकों के राष्ट्रीयकरण के पक्ष तथा विपक्ष के विभिन्न तर्कों की व्याख्या की जायगी।

भारत में व्यावसायिक बैंकों के राष्ट्रीयकरण के पक्ष में तर्क

(Arguments for Nationalisation of Commercial Banks in India)

भारत में व्यावसायिक बैंकों के राष्ट्रीयकरण के पक्ष में समय-समय पर विभिन्न तर्क दिये जाते रहे हैं जिनमें निम्नांकित विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं :—

(१) जमाकर्त्ताओं के हितों की सुरक्षा (Safeguarding the interests of depositors) :—व्यावसायिक बैंकों का एक प्रमुख कार्य जनता की बचतों को जमा करना है। जनसाधारण सुरक्षा अथवा ब्याज कमाने के उद्देश्य से अपनी बचतों को बैंकों में जमा करते हैं। किन्तु व्यावसायिक बैंक यदा-कदा इनके जमा का दुरुपयोग करते हैं जिसके परिणामस्वरूप समय-समय पर बहुत-से बैंकों को अपना कार्य ही बन्द करने के लिए विवश होना पड़ता है तथा जनता का जमा डूब जाता है। उदाहरण के लिए, भारत में १९१३ से १९५१ के बीच के बैंक संकट की अवधि में १५९७ बैंक; जिनकी कुल परिदत्त पूँजी १९.५६ करोड़ रुपये थी, फेल कर गये। इसी प्रकार १९५३ से १९६० के बीच ८६ बैंक, जिनकी कुल परिदत्त पूँजी १·२४ करोड़ रुपये तथा कुल जमा ३·३७ करोड़ रुपये था, बन्द हो गये। इससे स्पष्ट है कि निजी नियन्त्रण के अन्तर्गत के बैंकों में जमाकर्त्ताओं का हित सदा सुरक्षित नहीं रहता। देश में डालमिया जैन के नियंत्रण के अन्तर्गत

की कम्पनियों की कार्यवाही की जाँच के लिए नियुक्त विवान बोस आयोग का भी यह निष्कर्ष था कि इस वर्ग की कम्पनियों की सभी राष्ट्र-विरोधी तथा समाज-विरोधी क्रियाओं में किसी-न-किसी बैंक का अवश्य ही सहयोग था। अतः जमाकर्त्ताओं के हितों की सुरक्षा के लिए व्यावसायिक बैंकों का राष्ट्रीयकरण अनिवार्य है। जमा बीमा निगम (Deposit Insurance Corporation) की स्थापना से छोटे-छोटे जमाकर्त्ताओं के हित तो सुरक्षित हो गये हैं किन्तु १०,००० रुपये से अधिक के जमा को कोई भी सुरक्षा नहीं प्राप्त हो सकी है।

(२) निजी बैंकों द्वारा साख के अत्यधिक सृजन से स्फीति को बल मिला है (Over-expansion of credit by privately owned commercial banks has greatly added to the inflationary pressure) :—भारत में व्यावसायिक बैंकों के राष्ट्रीयकरण के पक्ष में बहुधा यह तर्क भी प्रस्तुत किया जाता है कि निजी नियन्त्रण के अन्तर्गत के व्यावसायिक बैंक अधिकाधिक लाभ कमाने के उद्देश्य से साख का अनुचित सृजन करते हैं जिससे देश में स्फीतिजनक प्रवृत्तियों को और बल मिलता है। डा० ज्ञानचन्द (Gyanchand) ने अपनी पुस्तक "The Meance of Inflation' में इसकी चर्चा करते हुए लिखा है कि "The credit which the banks provide are not merely loans of the savings which is deposited with them by their clients·········Even the loans which are made from savings give the banks enormous power over surplus resources of the country which should not be used according to the discretion of self-appointed directors and not unoften in their own interests and that of their business friends. But as currency and credit differ only in form and not in substance as instruments of exchange, the privately owned institutions are an important source of money supply and exercise this function as stated above without due regard for the interest of the community."

निस्संदेह रिजर्व बैंक के नियंत्रण के बावजूद व्यावसायिक बैंक अधिकाधिक लाभ कमाने के उद्देश्य से अर्थ-व्यवस्था की आवश्यकताओं को ध्यान में रखे बगैर ही अनुचित तरीके से साख का सृजन करने में सफल हो जाते हैं। इस प्रक्रिया में बड़े-बड़े उद्योगपतियों तथा व्यावसायियों को तो असीमित मात्रा में ऋण प्राप्त हो जाता है किन्तु जिन्हें वित्त की वास्तविक रूप से आवश्यकता होती है, वे इससे वास्तव में वंचित रह जाते हैं। वास्तव में, पिछले कुछ वर्षों में, अत्यधिक लाभ तथा आर्थिक शक्ति प्राप्त करने के लोभ में व्यावसायिक बैंकों द्वारा अनियोजित तरीके से साख में वृद्धि से देश में स्फीतिजनक प्रवृत्तियाँ विशेष रूप से प्रभावित हुईं और इसे नियंत्रित करने में रिजर्व बैंक की साख-नीति वस्तुतः प्रभावहीन रही है।

(३) आर्थिक सत्ता का संकेन्द्रण (Concentration of economic power) ;—भारत में प्रमुख व्यावसायिक बैंकों का स्वामित्व कुछ प्रमुख औद्योगिक गृहों के हाथ में है जिससे इन्हें बैंकों द्वारा बहुत बड़े पैमाने पर ऋण तथा अग्रिम सदा प्राप्त होते रहते हैं। इन औद्योगिक गृहों के प्रतिनिधि प्रमुख व्यावसायिक बैंकों के संचालक मंडल के सदस्य होते हैं। इस प्रकार Interlocking of Directorship के द्वारा ये अपने उद्योगों के लिए वित्त प्राप्त करने में समर्थ हो पाते हैं। प्रत्येक बैंक उसी उद्योग को अधिकाधिक ऋण प्रदान करता है जिसमें उसके संचालकों का हित निहित रहता है। यही समाज में आर्थिक शक्ति तथा सत्ता के संकेन्द्रण का प्रधान कारण है। उदाहरण के लिए, १९६५ ई० के अन्त में बैंकों के कुल अग्रिम का ८८·७ प्रतिशत भाग केवल

उद्योग तथा वाणिज्य को दिया गया था। रिजर्व बैंक के गवर्नर ने भी इस प्रकार का विचार व्यक्त किया है कि अवांछनीय ढंग से बैंकों के जमा को प्रयोग करने के लिए संकेन्द्रण देखने को यदा-कदा मिलते हैं।

किन्तु इस प्रकार का तर्क सर्वथा उचित प्रतीत नहीं होता क्योंकि देश में आर्थिक संकेन्द्रण के लिए सरकार की योजना-सम्बन्धी प्राथमिकताएँ, लाइसेंस नीति तथा आयात-निर्यात नीति भी कम उत्तरदायी नहीं हैं। साथ ही, यह कहना भी तथ्ययुक्त नहीं है कि बैंकों ने अपने हितोंवाली या ऐसे फर्मों में अपने धन का अधिकांश भाग लगाया है जिनमें वे निजी दिलचस्पी रखते हैं। उदाहरण के लिए, १९६६ ई० में देश के २० प्रमुख व्यावसायिक बैंकों ने कुल १४७२ करोड़ रुपये अग्रिम के रूप में दिये थे जिनमें १३२२ करोड़ रुपये या कुल अग्रिम प्रायः ८९.९ प्रतिशत भाग ऐसे फर्मों को दिया गया था जिनमें उनके संचालकों का कोई हित निहित नहीं था। निम्नांकित तालिका से यह अधिक स्पष्ट हो जाता है।—

१९६६ में निजी क्षेत्र के २० बड़े-बड़े बैंकों के अग्रिम का वितरण

मदें	अग्रिम (करोड़ रु० में)	कुल अग्रिम का प्रतिशत
१. वे अग्रिम जिनमें निदेशकों का हित निहित है	५०	३.४
२. वे अग्रिम जिनमें निदेशकों का नाम-मात्र का हित है	९९	६.७
३. वे अग्रिम जिनमें निदेशक का कोई हित नहीं है	१३२३	८९.९
कुल	१४७२	१०००

दूसरी ओर इस सन्दर्भ में अधिक दिलचस्प बात यह है कि स्टेट बैंक ने १९६६ में अपने कुल अग्रिम का २४ प्रतिशत भाग अपने निदेशकों तथा उनसे सम्बन्धित फर्मों को दिया था।

(४) बैंकिंग-सेवाओं के नियोजित विस्तार (Planned expansion of Banking services) **के लिए** :- देश में बैंकिंग सेवाओं के नियोजित विस्तार के लिए व्यावसायिक बैंकों का राष्ट्रीयकरण आवश्यक बतलाया जाता है। देश की प्रायः ८२ प्रतिशत जनसंख्या गाँवों में निवास करती है और ग्रामीण क्षेत्रों में अभी बैंकों का विस्तार बिल्कुल नहीं हुआ है। भिन्न-भिन्न राज्यों में बैंकिंग-सम्बन्धी सेवाओं के विस्तार में विषमता पायी जाती है। महाराष्ट्र, मैसूर, तमिलनाडु, पश्चिमी बंगाल तथा केरल राज्यों में अन्य राज्यों की अपेक्षा बैंकिंग-सम्बन्धी सुविधाओं का अधिक विस्तार हुआ है। यह इस बात से स्पष्ट है कि जबकि केरल में औसत रूप से प्रति ५८ वर्गमील में एक बैंक है, जम्मू एवं कश्मीर में प्रति ६१५४ वर्गमील तथा उड़ीसा में १०७५ वर्गमील में एक बैंक है।

ग्रामीण क्षेत्रों में बैंकिंग सम्बन्धी सेवाओं के विस्तार की भी बहुत अधिक आवश्यकता है, किन्तु इस कार्य से अल्पकाल में बहुत ही कम लाभ की आशा रहती है। अतः राष्ट्रीयकरण के बगैर ग्रामीण क्षेत्रों में बैंकिंग-सम्बन्धी सेवाओं का समुचित विस्तार सम्भव नहीं है।

(५) आर्थिक विकास की योजनाओं में सहयोग के लिए :—बैंकों के राष्ट्रीयकरण से देश की जनता का भारतीय बैंकिंग प्रणाली में विश्वास बढ़ेगा जिससे बैंकों की जमा-राशि में अधिक वृद्धि की सम्भावना है। इससे भारत सरकार को धन-प्राप्ति का एक ऐसा साधन प्राप्त होगा जिसमें निरन्तर वृद्धि होती जायगी। स्पष्टतः इससे आर्थिक विकास की पंचवर्षीय योजनाओं के कार्यान्वयन में अधिक सहायता की आशा की जाती है।

किन्तु इस प्रकार का तर्क वास्तव में तथ्यहीन जान पड़ता है क्योंकि निजी क्षेत्र के बैंक भी छोटी-छोटी बचतों को एकत्र करने में राजकीय क्षेत्र के बैंकों से पीछे नहीं रहते हैं। साथ ही, इनका जमा भी अनुत्पादक कार्यों में नहीं लगाया गया है।

(६) महत्त्वपूर्ण क्षेत्रों के लिए ऋण-प्राप्ति में सुविधा :—भारतीय बैंकों पर यह आरोप भी लगाया जाता है कि ये बहुधा बड़े-बड़े उद्योगों तथा महत्त्वपूर्ण व्यावसायिक इकाइयों को ही कर्ज प्रदान करते हैं। कृषि, लघु उद्योग तथा निर्यात व्यापार, जिनका देश की अर्थ-व्यवस्था में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है, के लिए साख प्रदान करने में ये कोई विशेष रुचि नहीं दिखलाते।

इस तर्क में सत्य की मात्रा अधिक अवश्य जान पड़ती है जैसा कि निम्नांकित तालिका से स्पष्ट है—

ऋण प्राप्ति के क्षेत्र	कुल ऋण का प्रतिशत
१. उद्योग	६४·१
२. व्यापार	२४·४
३. आर्थिक संस्थाएँ	३·३
४. कृषि	०·२
५. लघु उद्योग	४·६
६. व्यवसाय	०·६
७. विविध	२·६
	कुल १००·०

इस प्रकार स्पष्ट है कि बैंकों के कुल ऋण का केवल ०·२ प्रतिशत कृषि तथा ४·६ प्रतिशत लघु उद्योगों को प्राप्त हुआ था। इन क्षेत्रों की अवहेलना का एक प्रधान कारण यह भी है कि इनमें जोखिम की मात्रा बहुत अधिक पायी जाती है। केवल राष्ट्रीयकृत बैंक ही इतना अधिक जोखिम वहन कर सकते हैं। अतः कृषि, लघु उद्योग तथा निर्यात व्यापार को अधिकाधिक सहायता प्रदान करने के लिए भी व्यावसायिक बैंकों का राष्ट्रीयकरण आवश्यक बतलाया जाता है।

भारत में व्यावसायिक बैंकों के राष्ट्रीयकरण के विपक्ष में तर्क
(Arguments against Nationalisation of Commercial Banks in India)

इसके विपरीत कुछ लोग भारत में बैंकों के राष्ट्रीयकरण को सामाजिक तथा आर्थिक दृष्टिकोण से हितकर नहीं मानते। व्यावसायिक बैंकों के राष्ट्रीयकरण के विपक्ष में ये बहुधा निम्नांकित तर्क प्रस्तुत करते हैं :—

(१) रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया को व्यावसायिक बैंकों के नियन्त्रण के सम्बन्ध में यों ही व्यापक अधिकार प्राप्त हैं :—भारतीय बैंकिंग अधिनियम के अन्तर्गत रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया, जो देश का केन्द्रीय बैंक है, को देश के व्यावसायिक बैंकों के नियमन एवं नियंत्रण के सम्बन्ध में अत्यन्त व्यापक अधिकार दिये गये हैं। सामाजिक नियंत्रण कार्यक्रम के अन्तर्गत तो रिजर्व बैंक को और भी व्यापक अधिकार प्रदान किये गये थे। रिजर्व बैंक द्वारा इन अधिकारों

के समुचित रूप से प्रयोग करने पर व्यावसायिक बैंकों के राष्ट्रीयकरण की कोई आवश्यकता ही नहीं रह जाती। रिजर्व बैंक के ये अधिकार निम्नांकित विवरण से अधिक स्पष्ट हो जाते हैं :—

(क) व्यवस्थापन पर नियन्त्रण (Control over management) :—रिजर्व बैंक किसी भी बैंक के अध्यक्ष या किसी निर्देशक को हटा सकता है, निर्देशक मंडल में अपना प्रतिनिधि (nominee) रख सकता है, तथा प्रमुख कार्याधिकारी की नियुक्ति में भी हस्तक्षेप कर सकता है।

(ख) निरीक्षण (Supervision) :—रिजर्व बैंक किसी भी बैंक के खाते का पूर्ण रूप से निरीक्षण कर सकता है तथा किसी भूल को सुधारने का आदेश दे सकता है। साथ ही, एक करोड़ रुपये से अधिक से सभी अग्रिम के लिए व्यावसायिक बैंकों को रिजर्व बैंक की पूर्व अनुमति लेनी पड़ती है।

(ग) बैंकों के विस्तार का नियन्त्रण (Regulation over expansion) :—रिजर्व बैंक की अनुमति के बगैर कोई भी बैंक कोई नयी शाखा नहीं खोल सकता। इसी प्रकार यह छोटे-छोटे बैंकों को मध्यम अथवा बड़े आकार के बैंकों से मिलाने का आदेश भी दे सकता है।

(घ) साख-नियन्त्रण (Credit control) :—रिजर्व बैंक को साख-नियन्त्रण के सम्बन्ध में भी व्यापक अधिकार प्राप्त है। इसे जमा तथा ऋण पर व्याज की दरों को निश्चित करने का अधिकार प्राप्त है। व्यावसायिक बैंकों को अपने कुल जमा का कम-से-कम २८ प्रतिशत भाग तरल साधन के रूप में रखना पड़ता है। इसमें सरकारी प्रतिभूतियाँ भी सम्मिलित हैं।

सारांश यह है कि बैंकिंग व्यवसाय के क्षेत्र में कोई भी ऐसा कार्य नहीं है जिस पर रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया का प्रभावपूर्ण नियन्त्रण नहीं हो। ऐसी स्थिति में राष्ट्रीयकरण लगभग अनावश्यक-सा हो जाता है।

(२) कुल जमा का एक बहुत बड़ा भाग पहले से ही राजकीय क्षेत्र में विद्यमान है:—यह तर्क देना कि व्यावसायिक बैंकों के राष्ट्रीयकरण से सरकार को जमा के रूप में एक बहुत बड़ी रकम प्रप्त होगी बिल्कुल तथ्यहीन है। वास्तव में, पहले से ही देश के व्यावसायिक बैंकों के कुल जमा का एक बहुत बड़ा भाग स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया तथा इसके सहायक बैंकों के हाथ में है। इसके अतिरिक्त पोस्ट ऑफिस बचत बैंक-व्यवस्था है जिसके द्वारा सरकार जनता की बचतों का एक बढ़ा भाग एकत्र करती है। ३१ मार्च, १९६६ को कुल पोस्टल जमा ६४१ करोड़ रुपये था। इनके अतिरिक्त राजकीय क्षेत्र में औद्योगिक वित्त निगम, राज्य वित्तीय निगम, औद्योगिक विकास बैंक आदि हैं जिनके द्वारा पूँजी बाजार का एक बहुत बड़ा भाग सकरारी क्षेत्र में चला जाता है। यदि सांस्थानिक वित्त के क्षेत्र में जीवन बीमा निगम (Life Insurance Corporation) के कार्यों को भी ध्यान में रखा जाय तो इससे सरकारी क्षेत्र का महत्त्व बहुत ही बढ़ जायगा। इनके द्वारा सरकार बहुत हद तक निजी क्षेत्र को नियंत्रित करने में समर्थ है।

(३) राष्ट्रीयकरण से सम्पूर्ण शक्ति एक केन्द्रीय संस्था के हाथ में केन्द्रित हो जायगी जिसके निर्णय सभी के लिए बाध्य होंगे। दूसरे शब्दों में इससे एक बहुत ही छोटे वर्ग के व्यक्तियों के हाथ विशाल आर्थिक शक्ति का संकेन्द्रण हो जायगा। इससे जमाकर्त्ताओं तथा ऋण लेने वालों को नौकरशाही के इशारे पर नाचना होगा। दूसरे शब्दों में, इससे लोग एक प्रकार के Post office Socialism का अनुभव करेंगे। राष्ट्रीयकरण से लोचपूर्णता तथा प्रयोजन एवं उद्योग के लिए क्षेत्र के बहुत ही सीमित हो जाने की भी सम्भावना है।

(४) यह कहना भी सत्य नहीं है कि व्यावसायिक बैंक केवल अपने संचालकों तथा इनसे सम्बन्धित कम्पनियों को ही कर्ज तथा अग्रिम प्रदान करते हैं। वास्तव में, इनके

ऋण तथा अग्रिम पर रिजर्व बैंक का नियन्त्रण रहता है तथा बैंकों को अपने तलपट में इन्हें दिखलाना पड़ता है। और सबसे बड़ी बात यह है कि इस प्रकार का अग्रिम कोई बहुत बड़ा भी नहीं है। उदाहरण के लिए, १९६६ ई० में निजी क्षेत्र के २० प्रमुख अभिसूचित बैंकों के कुल जमा का केवल ११ प्रतिशत भाग संचालकों तथा इनसे सम्बन्धित कम्पनियों में था जबकि राजकीय क्षेत्रों के बैंकों द्वारा २७ प्रतिशत भाग कर्ज इनके संचालकों तथा उनके सम्बन्धित कम्पनियों को दिया गया था।

(५) **व्यावसायिक बैंकों के राष्ट्रीयकरण से इनकी कुशलता में कमी आ जायगी**—इस प्रकार का तर्क जीवन बीमा निगम तथा अन्य राजकीय संस्थाओं की कार्यवाही के आधार पर प्रस्तुत किया जाता है। इस प्रकार की अकुशलता का एक प्रमाण जीवन बीमा निगम के विनियोग से मिल सकता है। निगम द्वारा करोड़ों रुपये अवांछनीय ढंग से विनियोजित किये गये थे। हरिदास मुंदड़ा का मुकदमा सबसे बड़ा उदाहरण है।

(६) **कृषि तथा लघु उद्योगों के लिए धन** :—व्यावसायिक बैंकों के राष्ट्रीयकरण के तो पक्ष में सर्वाधिक प्रधान तर्क यह दिया जाता है कि ये कृषि तथा लघु उद्योगों के लिए ऋण नहीं प्रदान करते। किन्तु इस प्रकार का आरोप बहुधा युक्तिसंगत नहीं है क्योंकि लघु उद्योग तथा कृषि को ऋण प्रदान करना एक बड़ा ही कठिन कार्य है। सर्वप्रथम लघु उद्योगों का उदाहरण लिया जाय। लघु उद्योगों की कर्ज चुकाने की शक्ति (Credit worthiness) के सम्बन्ध में पता लगाना बड़ा ही कठिन कार्य है। साथ ही, इनकी आर्थिक स्थिति के सम्बन्ध में पता लगाना भी बड़ा ही कठिन कार्य है। सबसे बड़ी बात तो यह है कि बैंकों को सदा तरलता एवं सुरक्षा को ध्यान में रखकर ही ऋण देना पड़ता है क्योंकि बैंक अपने जमाकर्त्ताओं की रकम के trustees होते हैं।

व्यावसायिक बैंकों द्वारा कृषि को ऋण प्रदान करना तो और भी कठिन कार्य है। कृषि के क्षेत्र में ऋण प्रदान करने की समस्या ग्रामीण क्षेत्रों में बिखरे हुए लगभग ६ करोड़ व्यक्तिगत किसानों को ऋण देने की है जो बहुधा जीवन-निर्वाह स्तर पर कृषि का कार्य करते हैं। इनमें से अधिकांश की जोतें अनार्थिक हैं। इन किसानों को ऋण प्रदान करना व्यावसायिक बैंकों के लिए व्यावहारिक नहीं जान पड़ता। कृषि तथा किसानों को ऋण प्रदान करने के लिए सहकारी संस्थाएँ पिछले ६०-६५ वर्षों से विशेष रूप से कार्य करती हैं। किन्तु सहकारिता आन्दोलन भी अपने उद्देश्य की पूर्ति में मुख्यतः असफल ही रहा। अतः किसानों की साख सम्बन्धी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए सहकारिता आन्दोलन को ही सबल आधार प्रदान करना नितांत आवश्यक है।

बैंकों का सामाजिक नियन्त्रण
(Social Control of Commercial Banks)

देश में व्यावसायिक बैंकों के राष्ट्रीयकरण की बढ़ती हुई मांग के परिणामस्वरूप अक्टूबर, १९६७ ई० में अखिल भारतीय कांग्रेस महासमिति ने अपने अधिवेशन में बैंकों के सामाजिक नियन्त्रण के सम्बन्ध में एक प्रस्ताव पारित किया।

किन्तु बैंकों के सामाजिक नियन्त्रण का आशय क्या है? प्रो० जी० डी० एच० कोल (G. D. H. Cole) जैसे कुछ लेखकों के अनुसार बैंकों के सामाजिक नियंत्रण का तात्पर्य बैंकों का राष्ट्रीयकरण अथवा समाजीकरण है। किन्तु भारतीय संदर्भ में समाजीकरण तथा राष्ट्रीयकरण पर्यायवाची शब्द नहीं हैं। वास्तव में, जब कि व्यावसायिक बैंकों के राष्ट्रीयकरण का आशय सरकार द्वारा बैंकों के स्वामित्व तथा नियंत्रण दोनों से है, सामाजिक नियंत्रण का तात्पर्य कुछ सामाजिक तथा आर्थिक उद्देश्यों की पूर्ति के लिए सरकार द्वारा अधिकाधिक मात्रा में बैंकों के नियमन एवं नियंत्रण से है। इस नीति के अन्तर्गत बैंकों का स्वामित्व इनके हिस्सेदारों के ही हाथ में रहेगा तथा

इनकी व्यवस्था इनके द्वारा चुने गये संचालक मंडल के द्वारा ही की जायगी, किन्तु सरकार को इसके लिए एक पूर्णकालिक अध्यक्ष की नियुक्ति का अधिकार प्रदान किया गया जो एक प्रोफेसनल बैंकर होगा। अखिल भारतीय कांग्रेस महासमिति के प्रस्ताव के अन्तर्गत सामाजिक नियंत्रण की व्याख्या निम्न प्रकार से की गयी थी : "Social control means greater participation of banks with effective state guidance in the mobilization of deposits and distribution of credit to the socially desirable sectors of economy." इसके अनुसार सामाजिक नियंत्रण के अन्तर्गत निम्नांकित बातों का समावेश आवश्यक है :—(क) गाँवों में बैंकिंग-सम्बन्धी आदतों के प्रसार तथा बचत को एकत्र करने के उद्देश्य से ग्रामीण क्षेत्रों में बैंकों का अधिकाधिक प्रसार; (ख) कृषि, लघु उद्योग तथा निर्यात के लिए प्राथमिकता के आधार पर ऋण प्रदान करना; (ग) विकास-सम्बन्धी योजनाओं के अनुरूप बैंकों का विकास जिससे योजना के लक्ष्यों की पूर्ति में ये सहायक हो सकें; तथा (घ) साख के अत्यधिक संकेन्द्रण को रोकना।[1]

बैंकों का सामाजिक नियंत्रण-सम्बन्धी विधेयक १९६७ :—बैंकों को सामाजिक नियंत्रण के अन्तर्गत लाने के उद्देश्य से २२ दिसम्बर, १९६७ को श्री मोरारजी देसाई ने संसद् के समक्ष एक विधेयक प्रस्तुत किया जो १९६८ ई० में कानून बन गया तथा १ फरवरी, १९६९ से लागू किया गया। इस विधेयक के अन्तर्गत बैंकों पर प्रभावपूर्ण नियंत्रण के लिए निम्नांकित कदम उठाने की व्यवस्था थी :—

(i) सर्वप्रथम प्रत्येक बैंक का एक पूर्णकालिक अध्यक्ष होगा जो बैंक व्यवसायी (Professional banker) होगा। उसका कार्यकाल ५ वर्षों का होगा। उसकी नियुक्ति अथवा बर्खास्तगी के लिए रिजर्व बैंक ऑफ इंडिया की पूर्व अनुमति आवश्यक होगी।

(ii) बैंकों के संचालक मंडल में कम-से-कम दो निर्देशक ऐसे होंगे जिन्हें कृषि, लघु उद्योग तथा सहकारिता के सम्बन्ध मे व्यवहारिक अनुभव प्राप्त हो,

(iii) कोई भी बैंक अपने निर्देशकों तथा ऐसे उद्योगों को, जिनमें उनका हित निहित हो, ऋण नहीं प्रदान करेगा।

(iv) लगातार बैंकिंग अधिनियम तथा रिजर्व बैंक के निर्देशों का उल्लंघन करनेवाले बैंक के सम्पूर्ण कारोबार को रिजर्व बैंक अपने हाथ में ले सकता है।

(v) एक राष्ट्रीय साख-परिषद् (National Credit Council) की स्थापना की व्यवस्था थी जिसके २५ सदस्य होंगे। वित्त मंत्री इसके अध्यक्ष होंगे। रिजर्व बैंक के गवर्नर, योजना आयोग के उपाध्यक्ष, वित्त मंत्रालय के सचिव तथा कृषि-पुनर्वित्त निगम के अध्यक्ष के अतिरिक्त इसके २० अन्य सदस्य होंगे जो विभिन्न हितों के विशेषज्ञ होंगे। इस परिषद् का मुख्य कार्य बैंकों के साख के वितरण के सम्बन्ध में एक व्यापक नीति का निर्धारण तथा विभिन्न साख-संस्थाओं की साख-सम्बन्धी नीति मे समन्वय करना होगा।

---

१. दिसम्बर, १९६७ में संसद् में सामाजिक नियंत्रण-सम्बन्धी नीति की व्याख्या करते हुए श्री मोरारजी देसाई ने निम्नांकित विचार व्यक्त किया था :— "Our fundamental aim within the frame work of democratic socialism, is to regulate our social and economic life or to attain the optimum growth rate for our economy and to prevent at the same time any monopolistic trend, concentration of economic power and misdirection of resources. The banking system is an important intermediary through which the savings of the community are channalised, and is a key constituent of our economic life. We are all agreed that its policies and practices must serve the basic social and economic objectives."

इस प्रकार सामाजिक नियंत्रण की नीति के अन्तर्गत बैंकों पर अधिक प्रभावपूर्ण नियंत्रण की व्यवस्था की गयी थी। साथ ही, सरकार द्वारा इसी संदर्भ में एक राष्ट्रीय बैंकिंग नीति की भी घोषणा की गयी। राष्ट्रीय बैंकिंग नीति में निम्नांकित पाँच बातों को सम्मिलित किया गया था :—

(i) जमाकर्त्ताओं का हित सुरक्षित होना चाहिए।
(ii) देश में मौद्रिक स्थायित्व बना रहना चाहिए।
(iii) बैंकिंग नीति का प्रधान उद्देश्य आर्थिक विकास के क्रम में सहायता प्रदान करना होना चाहिए।
(iv) साधनों के वितरण में प्राथमिक क्षेत्रों को प्राथमिकता दी जानी चाहिए।
(v) साधनों का श्रेष्ठतम उपयोग होना चाहिए।

इस प्रकार कुल मिलाकर सामाजिक नियंत्रण की नीति देश के आर्थिक हित को ध्यान में रखकर तैयार की गयी थी। इससे आर्थिक विकास के क्षेत्र में बैंकों से महत्त्वपूर्ण सहयोग की आशा की गयी थी।

चौदह बड़े व्यावसायिक बैंकों का राष्ट्रीयकरण
(Nationalisation of 14 Major Commercial Banks)

किन्तु सामाजिक नियंत्रण की नीति भी राष्ट्रीयकरण के हिमायतियों की आकांक्षाओं की पूर्ति नहीं कर सकी तथा बैंकों के राष्ट्रीयकरण की मांग निरंतर जारी रही। १९६९ में कांग्रेस महासमिति के बंगलोर अधिवेशन में सामाजिक नियंत्रण की कटु आलोचना हुई। गृह मंत्री चौहान ने इसकी आलोचना करते हुए यह विचार व्यक्त किया कि "राष्ट्रीयकरण के बगैर सामाजिक नियंत्रण का कोई अर्थ नहीं होता तथा सामाजिक नियंत्रण के बगैर राष्ट्रीयकरण एक प्रपंच-मात्र है।" (Social Control without nationalisation has no meaning and nationalisation without Social Control could be a fraud.)

अतः अभी सामाजिक नियंत्रण नीति की स्याही सूख भी नहीं पायी थी कि १९ जुलाई, १९६९ को एक अध्यादेश द्वारा भारत सरकार ने ५० करोड़ रुपये से अधिक जमा वाले निम्नांकित १४ बैंकों का राष्ट्रीयकरण किया गया।—

(१) सेन्ट्रल बैंक ऑफ इण्डिया,
(२) बैंक ऑफ इण्डिया,
(३) पंजाब नेशनल बैंक,
(४) बैंक ऑफ बड़ोदा,
(५) यूनाइटेड कमर्शियल बैंक,
(६) कैनारा बैंक,
(७) युनाइटेड बैंक ऑफ इण्डिया,
(८) देना बैंक,
(९) सिण्डिकेट बैंक,
(१०) यूनियन बैंक ऑफ इण्डिया,
(११) इलाहाबाद बैंक,
(१२) इंडियन बैंक,
(१३) बैंक ऑफ महाराष्ट्र, तथा
(१४) इंडियन ओवरसीज बैंक।

इस प्रकार सरकार ने एक कलम से २७८२ करोड़ रुपये के अतिरिक्त जमा पर अपना अधिकार कर लिया। स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया तथा इसके सहायकों के साथ-साथ इन चौदह बैंकों को मिलाकर अब कुल बैंक जमा के ८५ प्रतिशत से भी अधिक भाग पर सरकार का नियंत्रण स्थापित हो गया।

राष्ट्रीयकरण की घोषणा करते हुए प्रधान मंत्री ने अपने एक प्रसारण में[1] यह एलान किया कि बैंकिंग व्यवस्था जैसी संस्था जिसका राष्ट्र के करोड़ों निवासियों के जीवन से अत्यधिक घनिष्ठ रूप में सम्बन्ध है को अधिक व्यापक सामाजिक उद्देश्य से प्रेरित होना चाहिए तथा राष्ट्रीय प्राथमिकताओं एवं उद्देश्यों की पूर्ति के लिए कार्य करना चाहिए। इसीलिए यह माग की जाती रही है कि बड़े-बड़े बैंकों पर केवल सामाजिक नियंत्रण ही नहीं होना चाहिए वरन् इन्हें सरकारी स्वमित्व के अन्तर्गत लाना भी चाहिए। प्रमुख बैंकों का राष्ट्रीयकरण जनता की बचत को एकत्र करने तथा उसे उत्पादक कार्यों में लगाने वाली संस्थाओं को राजकीय स्वामित्व के अन्तर्गत लाने की ओर पहला कदम है।" (The nationalisation of major commercial banks is a significant step in the process of public control over the principal institutions for the mobilisation of peoples' savings and canalising them towards productive purposes.)

भारत सरकार द्वारा प्रमुख बैंकों के राष्ट्रीयकरण के निम्नांकित प्रधान उद्देश्य हैं :—

(१) **अर्थ-व्यवस्था के विकास को तीव्रतर बनाना** (accelerating the growth of the economy) :—इस उद्देश्य को पूर्ति के लिए राष्ट्रीयकरण के बाद प्रमुख क्षेत्रों में बैंक-साख के प्रवाह में वृद्धि हो जायगी। साथ ही, अब तक के उपेक्षित क्षेत्रों में भी इसके प्रवाह में वृद्धि होगी। इस प्रकार आर्थिक विकास की गति तीव्र होगी जिसका निर्धनता तथा बेरोजगारी की समस्या पर महत्त्वपूर्ण प्रभाव पड़ेगा और साथ ही, समाज में धनी तथा निर्धन वर्गों के बीच की विषमता में कमी होगी।

(२) **बैंकों पर से चन्द व्यक्तियों के नियन्त्रण को समाप्त करना** (Removal of control over banks by a few)।

(३) **कृषि, लघु उद्योग तथा निर्यात के लिए पर्याप्त मात्रा में साख की व्यवस्था** (Provision of adequate credit for agriculture, small industries and export)।

(४) **बैंकों की व्यवस्था को पेशेवर व्यवस्थापकों के हाथ सुपुर्द करना** (The giving of a professional bent to bank management)।

1. बंगलोर अधिवेशन में बैंकों के राष्ट्रीयकरण को तत्कालीन परिस्थितियों में अनावश्यक बतलाये हुये उप-प्रधान मन्त्री तथा वित्त मन्त्री मोरार जी देसाई ने एक पृथक टिप्पणी में निम्नांकित विचार व्यक्त किया था; "Mere nationalisation will not provide more resources. Banks are the custodians of people's savings and it is only natural that they exercise a degree of care in deploying the funds entrusted to them while at the same time, making credit available according to national priorities. No bank, whether in public or private sector, can abandon the test of viability of credit transaction. The experiment of social control is a continuing one. It aims at socialization of credit without nationalisation of banking.

(५) नये साहसोद्यमियों के वर्ग को प्रोत्साहित करना (To encourage new classes of entrepreneurs) ।

(६) बैंक के कर्मचारियों के लिए प्रशिक्षण की समुचित सुविधा तथा सेवा-सम्बन्धी शर्तों में सुधार (The provision of adequate training as well as reasonable terms of service of Bank staff.)

१५ जुलाई, १९६९ को संसद् में इस सम्बन्ध में एक विधेयक पारित हुआ जो आगे चलकर अधिनियम बन गया। इस अधिनियम के अन्तर्गत सभी राष्ट्रीयकृत बैंकों को समान मूल्य के आधार पर ७५ करोड़ रुपये मुआवजा देने की व्यवस्था थी। मुआवजे की रकम प्रतिज्ञा-पत्र या शेयर सर्टिफिकेट के रूप में दिये जायेंगे जो १० वर्षों के बाद परिपक्व होंगे। साथ ही इन पर ४½ प्रतिशत वार्षिक ब्याज भी चुकाई जायगी। किन्तु विदेशों में स्थित इन बैंकों की शाखाओं के सम्बन्ध में यह लागू नहीं होगा, यदि उन देशों के कानून के अनुसार सरकारी बैंकों को वहाँ काम-काज करने की इजाजत नहीं है।

किन्तु बैंक राष्ट्रीयकरण अधिनियम को कुछ लोगों ने सर्वोच्च न्यायालय में चुनौती दी तथा सर्वोच्च न्यायालय ने बहुमत से राष्ट्रीयकरण को दो आधार पर अवैध करार किया—सर्वप्रथम तो सभी बैंकों का राष्ट्रीयकरण नहीं कर सरकार ने इन १४ बैंकों के प्रति भेद-भाव (hostile discrimination) किया था। द्वितीयत: इस अधिनियम के अन्तर्गत मुआवजे की रकम अपर्याप्त थी। अत: बैंकों के राष्ट्रीयकरण के सम्बन्ध में पुन. एक नया विधेयक लाना पड़ा जिसमें इन त्रुटियों को दूर करने का प्रयास किया गया। इस नये अधिनियम में बैंकों को अधिक मुआवजा दिया गया है। साथ ही, भेद-भाव की भावना को दूर करने के लिए यह व्यवस्था की गयी है कि राष्ट्रीयकृत बैंकों के संचालक अथवा हिस्सेदार नये बैंकिंग व्यवसाय की स्थापना कर सकते हैं।

अब प्रश्न यह है कि क्या बैंकों का राष्ट्रीयकरण उचित है तथा इससे आर्थिक विकास के क्षेत्र में यथोचित सहयोग प्राप्त हो सकता है? वास्तव में, भारत सरकार द्वारा प्रमुख बैंकों के इस राष्ट्रीयकरण की कई कारणों से आलोचना की गयी है। इनमें निम्नांकित उल्लेखनीय हैं:—

(१) राजनैतिक निर्णय (Political decision) :—१४ प्रमुख व्यावसायिक बैंकों के गया था उसे देखकर इसे राजनैतिक निर्णय जिस पृष्ठभूमि तथा जितनी जल्दीबाजी में लिया राष्ट्रीयकरण के सम्बन्ध में निर्णय ही कहा जा सकता है। कांग्रेस के दोनों गुटों के पारस्परिक मतभेद के फलस्वरूप सत्तारूढ़ काँग्रेस ने अपनी स्थिति को सुदृढ़ बनाने के लिए ही ऐसा कदम उठाया है। यह इस बात से स्पष्ट है कि दिसम्बर, १९६८ में भारत सरकार ने एक बैंकिंग आयोग (Banking Commission) की नियुक्ति की थी। किन्तु इसकी सिफारिशों के पूर्व ही बैंकों का राष्ट्रीयकरण राजनैतिक निर्णय ही कहा जा सकता है।

(२) राजनीतिज्ञों का प्रभुत्व :—राष्ट्रीयकरण से बैंकों की व्यवस्था में राजनीतिज्ञों के प्रभुत्व में वृद्धि की आशा की जाती है। जिस प्रकार से देश का सहकारिता आन्दोलन पराजित राजनीतिज्ञों का कार्य-क्षेत्र बन गया है उसी प्रकार सत्तारूढ़ दल बैंकों के संचालक मंडल में भी अपने आदमियों को रखना प्रारम्भ कर देगा। देश के राजकीय क्षेत्र के प्राय: सभी उद्योगों के साथ यही बात पायी जाती है। और बैंकों का संचालन राजनीतिज्ञों के हाथ में आने से पुन: बैंकों की समग्र सत्ता का कुछ ही हाथों में केन्द्रीयकरण हो जायगा जो समाजवादी व्यवस्था के लिए निश्चय ही हानिकारक सिद्ध होगा।

(३) **नौकरशाही का प्रभुत्व** :—राष्ट्रीयकृत बैंकों के संचालन मे उसी लाल फीताशाही तथा कागजी कार्यवाही के प्रभावपूर्ण होने की आशा है जो अन्य सरकारी संस्थाओं तथा वित्तीय कार्यालयों में पायी जाती है,। इससे भी राष्ट्रीयकरण का मूल उद्देश्य ही समाप्त हो जायगा।

(४) **क्षेत्रीय संकीर्णता** :—राष्ट्रीयकरण के अन्तर्गत एक प्रमुख समस्या इस बात को लेकर भी उत्पन्न हो गयी है कि राष्ट्रीयकृत बैंकों के संचालक मंडलों में राज्य सरकारों का कितना प्रतिनिधित्व हो ? कुछ राज्य सरकारों ने तो यह मांगना भी प्रारम्भ कर दिया है कि बैंकों द्वारा उनके क्षेत्र में सग्रहित राशि का उन्हीं राज्यों में विनियोग किया जाय। इस प्रकार की मांग देश की एकता तथा क्षेत्रीय संतुलन की भावना के विपरीत है। यदि इसे स्वीकार कर लिया गया तो असम्, उड़ीसा, बिहार तथा जम्मू-कश्मीर जैसे पिछड़े हुए राज्यो के विकास मे इससे कोई भी सुविधा नहीं प्राप्त होगी।

(५) **छोटे-छोटे हितों का प्रतिनिधित्व भी साख के सिद्धान्त के विरुद्ध है** :— राष्ट्रीयकरण के पश्चात् बैंकों के सचालक-मडल में छोटे-छोटे हितों के प्रतिनिधित्व की जो मांग की जाती है वह भी स्वस्थ नहीं है। इससे संचालक मंडल में बहुधा ऐसे व्यक्ति आ जायेंगे जिन्हे बैंकों की वास्तविक कार्यवाही के सम्बन्ध में जानकारी नहीं रहती, अतः इस सम्बन्ध में भी आदर्श की जगह व्यावहारिकता को ही कसौटी मानना चाहिए।

बैंकों के राष्ट्रीयकरण को सफल कैसे बनाया जाय ?

इस प्रकार व्यावसायिक बैंकों के राष्ट्रीयकरण की कटु आलोचना की जाती है, किन्तु अब तो इनका राष्ट्रीयकरण एक वास्तविकता बन गया है। अतः अब प्रश्न यह है कि व्यावसायिक बैंकों के राष्ट्रीयकरण को सफल कैसे बनाया जाय ? वास्तव में भारतीय बैंकों का राष्ट्रीयकरण सरकार तथा बैंक अधिकारियों के लिए एक चुनौती है। यदि राष्ट्रीयकरण से जनता को अधिक सुविधाएँ नहीं मिलेंगी तथा कृषि, लघु उद्योग एवं निर्यात को अधिकाधिक मात्रा में सहायता नहीं प्राप्त होगी तो राष्ट्रीयकरण के विरोधियों की धारणाएँ सही निकलेंगी। अतः राष्ट्रीयकरण को सफल बनाने के लिए निम्नांकित प्रयत्नों को अपनाना अनिवार्य है :—

(१) **बैंक कर्मचारियों की मनोवृत्ति में परिवर्तन** :—सर्वप्रथम तो राष्ट्रीयकरण की सफलता बैंक कर्मचारियों की मनोवृत्ति में आमूल परिवर्तन पर निर्भर करती है। अभी तक बैंको कर्मचारी अपने को जनता का सेवक नहीं समझते जिससे देश में बैंकिंग-सम्बन्धी सेवाएँ बहुत ह कम लोकप्रिय हो पायी हैं। वास्तव में, बैंक कर्मचारियों को इस धारणा के आधार पर काम करना चाहिये कि 'ग्राहक ही राजा है' (Customer is the king.) तथा कोई भी ग्राहक छोटा नहीं है (No customer is small.)। इस उद्देश्य से बैंक कर्मचारियों के लिए स्थान-स्थान पर इन्हें जन-सेवा-प्रत्यास्मरण (Refresher Courses) कार्यक्रमों की व्यवस्था की जानी चाहिए जिनमें की मूल भावना की प्रेरणा दी जानी चाहिए।

(२) **जमा-संग्रह पर जोर** :—कर्मचारियों की मनोवृत्ति में परिवर्तन के साथ-साथ राष्ट्रीयकृत बैंकों को जमा में वृद्धि के लिए भी विशेष प्रयत्नों का आयोजन करना चाहिए। इस उद्देश्य से ग्रामीण क्षेत्र में इन बैंकों को अपनी शाखाओं का विस्तार करना चाहिए। कृषि से देश की कुल राष्ट्रीय आय का लगभग ५० प्रतिशत भाग प्राप्त होता है। साथ ही, आयोजित विकास कार्यक्रम के अन्तर्गत पिछले प्राय २० वर्षों में कृषि के क्षेत्र में अरबों रूपये की पूँजी लगी हुई है,

फिर भी कृषक परिवार कुल बचतों का केवल २·३ प्रतिशत भाग ही संग्रह करते हैं। ग्रामीण क्षेत्रों में बैंकों की शाखाओं के विस्तर में 'एक कर्मचारी कार्यालय' (One man office) तथा 'चलते-फिरते बैंकों' (mobile banks) से भी बहुत अधिक सहायता मिल सकती है। रिजर्व बैंक द्वारा १९७० के प्रथम छः माह में इन बैंकों की ६०० शाखाएँ खोलने की एक योजना तैयार की गयी थी जिनमें ४०० कार्यालय नये स्थानों में प्रारम्भ होने को थे। इस कार्यक्रम को यदि उचित रूप में कार्यान्वित किया जाय तो इससे ग्रामीण क्षेत्रों में बैंकों के विस्तार में बहुत अधिक सहायता मिल सकती है।

(३) **लघु उद्योगों को वित्त** :—भारत में प्रायः १·२ लाख लघु औद्योगिक संस्थान हैं जिनमें कोई ३० लाख व्यक्ति नियोजित हैं तथा जो समस्त निर्माण क्षेत्र का लगभग ५२ प्रतिशत भाग सामान तैयार करते हैं। अतः राष्ट्रीयकृत बैंकों को लघु उद्योगों के विकास में भी उदारतापूर्वक साख प्रदान करना चाहिए। इस प्रकार के उद्योगों को लगभग ४००-५०० करोड़ रुपये के वार्षिक साख की आवश्यकता है। बैंकों को इतनी मात्रा में इन्हें वित्त प्रदान करने में कोई विशेष कठिनाई नहीं होनी चाहिए। इसके अतिरिक्त इन्हें तकनीकी सहायता भी प्रदान करनी चाहिए।

(४) **कृषि के लिए वित्त** :—भारत में व्यावसायिक बैंकों के विरुद्ध बहुधा यह शिकायत भी की जाती है कि ये कृषि तथा किसानों को ऋण नहीं प्रदान करते। १९६५ ई० में प्रमुख अधिसूचित बैंकों के कुल विनियोग का केवल ०·२ प्रतिशत भाग ही कृषि को दिया गया था। अतः राष्ट्रीयकृत बैंकों को कृषि के लिए वित्त प्रदान करने की विशेष व्यवस्था करनी चाहिए। ग्रामीण साख-सर्वेक्षण समिति (१९६९) ने अपने प्रतिवेदन में यह विचार व्यक्त किया था कि १९७३-७४ तक ग्रामीण साख के लिए लगभग ४००० करोड़ रुपये की वार्षिक रकम की आवश्यकता होगी। राष्ट्रीयकृत बैंकों को इसका एक बड़ा भाग स्वयं पूरा करने के लिए तैयार रहना चाहिए। ऐसा करने में इन्हें किसी प्रकार की विशेष कठिनाई नहीं होगी।

(५) **निर्यात (Export)** :—देश के आर्थिक विकास के लिए निर्यात-सम्बन्धी उद्योगों पर अधिक जोर आवश्यक है। चतुर्थ पंचवर्षीय योजना के अन्तर्गत निर्यात में प्रति वर्ष ७ प्रतिशत वृद्धि का आयोजन है जिसके परिणामस्वरूप निर्यात की कुल मात्रा के १९६८-६९ में १३४० करोड़ रुपये से बढ़कर १९७३-७४ में १९०० करोड़ रुपये तथा १९८०-८१ तक ३०२० करोड़ रुपये होने की आशा है। निर्यात में इतनी अधिक वृद्धि के लिए निर्यात-सम्बन्धी उद्योगों को विशेष सहायता की आवश्यकता है। राष्ट्रीयकृत बैंकों को इस सम्बन्ध में वित्त, तकनीकी सलाह तथा विक्रय-सम्बन्धी मार्ग-प्रदर्शन की व्यवस्था करनी चाहिए। वास्तव में पश्चिमी देशों के बैंकों की तरह भारतीय बैंकों को भी विदेशी बाजारों के सम्बन्ध में जानकारी प्राप्त करने के लिए पृथक विभागों की स्थापना की जानी चाहिए तथा निर्यातकों को इस सम्बन्ध में विभिन्न प्रकार की सहायता प्रदान करनी चाहिए।

(६) **सरकारी नीति** (Government Policy) :—व्यावसायिक बैंकों को अपने-अपने कार्य-क्षेत्र में सरकार द्वारा निर्धारित विकास की योजनाओं तथा प्राथमिकताओं की जानकारी रखनी चाहिए। इन्हें अपनी व्यापक नीति का निर्धारण इन्हीं योजनाओं को ध्यान में रखकर करना चाहिए। ऐसा करने से ही देश के आर्थिक विकास में विभिन्न राष्ट्रीयकृत बैंक सहयोग प्रदान कर सकते हैं।

(७) राष्ट्रीयकृत बैंकों को क्षेत्रीय निगमों में संगठित किया जाना चाहिए। बैंकों के राष्ट्रीयकरण को सफलीभूत बनाने के लिए इनके संगठन में आमूल परिवर्तन लाने की आवश्यकता है। किंतु सभी राष्ट्रीयकृत बैंकों को मिलाकर एक संगठन का निर्माण कार्यकुशलता की दृष्टि से उत्तम नहीं होगा। जीवन बीमा निगम (Life Insurance Corporation) की कार्यवाही से यह बिल्कुल स्पष्ट है। अतः इन्हें चार-या-पाँच क्षेत्रीय निगमों के रूप में संगठित कर देना चाहिए। इन क्षेत्रीय निगमों को अपने रोज-ब-रोज के कार्यों के सम्पादन में पर्याप्त स्वतंत्रता रहनी चाहिए। ऐसा करने से राष्ट्रीयकरण के उद्देश्यों की पूर्ति हो सकती है।

(८) बैंकों की सेवाओं में सुधार :—भारतीय बैंकों की सेवाएँ अभी तक अत्यन्त निम्न कोटि की रही हैं। इससे जनसाधारण को बैंकों से अपना कारोबार रखने में कठिनाइयों का अनुभव होता है। अतः बैंकों की सेवाओं में सुधार की प्रबल आवश्यकता है। इसके लिए बैंक कर्मचारियों के चुनाव की प्रणाली को वैज्ञानिक रूप देना होगा। साथ ही, कर्मचारियों के लिए दैनिक न्यूनतम कार्य निर्धारित कर देना चाहिए और कर्मचारियों की स्थिति के सम्बन्ध में समय-समय पर जानकारी प्राप्त करने के लिए विशेष समितियाँ तथा आयोगों का संगठन करना चाहिए।

इस प्रकार उपरोक्त उपायों द्वारा राष्ट्रीयकृत बैंकों की कार्यवाही को अधिक सुलभ बनाकर इन्हें देश के आर्थिक विकास के लिए लाभदायक बनाया जा सकता है। वास्तव में, राष्ट्रीयकरण कोई रामबाण औषधि नहीं है, अतः इसे सफल बनाने के लिए बैंकिंग सम्बन्धी नीतियों में क्रांतिकारी परिवर्तन लाने होंगे तथा इनका दृढ़ता के साथ पालन करना होगा अन्यथा विकास का क्रम गतिशील होने के बजाय शिथिल हो जायगा तथा जनता का बैंकों पर से विश्वास ही समाप्त हो जायगा। अतः, आशा है कि रिजर्व बैंक के नेतृत्व में राष्ट्रीयकृत बैंक ऐसी क्रान्तिकारी नीतियों का कुशलतापूर्वक कार्यान्वयन करेंगे जिससे देश के आर्थिक विकास में ये यथोचित सहयोग प्रदान कर सकें।

राष्ट्रीयकृत बैंकों की प्रगति (Progress of Nationalised Banks) :—जुलाई, १९६९ में १४ बड़े-बड़े व्यावसायिक बैंकों का राष्ट्रीयकरण किया गया। इसके बाद इन बैंकों की कार्यवाही में महत्त्वपूर्ण प्रगति हुई है जो निम्नांकित विवरण से स्पष्ट है।

(i) नयी शाखाएँ (New Branches) :—राष्ट्रीयकरण के बाद राष्ट्रीयकृत बैंकों ने नयी शाखाओं की स्थापना में विशेष रूप से अभिरुचि दिखलाना प्रारम्भ कर दिया है। शाखाओं की स्थापना के सम्बन्ध में ये बैंक एक निश्चित योजना के अनुसार कार्य करते हैं। शाखाओं की स्थापना मुख्यतः ग्रामीण तथा ऐसे क्षेत्रों जहाँ पर बैंक की सुविधा नहीं है की प्रधानता दी जाती है। राष्ट्रीयकरण के बाद इन बैंकों ने कुल ६५.६ प्रतिशत नयी शाखाएँ ग्रामीण एवं अर्द्ध-शहरी क्षेत्रों में स्थापित की है।

निम्नांकित तालिका से राष्ट्रीयकरण के बाद व्यावसायिक बैंकों की शाखाओं के विस्तार का अन्दाजा लगता है —

व्यावसायिक बैंकों की शाखाओं का विस्तार

तिथि	ग्रामीण क्षेत्र	अर्द्ध-शहरी क्षेत्र	शहरी क्षेत्र	कुल	प्रति बैंक शाखा पर जनसंख्या
३१-१२-१९६०	८३१	२५१२	१६८३	५०२६	९२,०००
	(१६·५)	(५०)	(३३·५)	(१००·०)	
१९-७-१९६९	१८५८	३३२३	३१०३	८२८४	६५,०००
	(२२·४)	(४०·१)	(३७·५)	(१००·०)	
३१-५-१९७१	४१९८	३३९५	३६५२	११८४५	४६,०००
	(३५·५)	(३३·७)	(३०·८)	(१००·०)	

1. Report of the Banking Commission, 1972.

(ii) **कृषि,लघु उद्योग तथा अन्य अपेक्षित क्षेत्रों को अधिक ऋण** :—राष्ट्रीयकरण के पूर्व व्यावसायिक बैंक, कृषि, लघु उद्योग, फुटकर व्यापार आदि को केवल नाम-मात्र की सहायता प्रदान करते थे। किन्तु राष्ट्रीयकरण के बाद इन अपेक्षित क्षेत्रों को प्राथमिकता के आधार पर सहायता प्रदान किया जा रहा है। दिसम्बर, १९६९ में इन बैंकों द्वारा कुल १९.५ प्रतिशत ऋण इस क्षेत्र को दिया गया था। इसका प्रतिशत बढ़कर दिसम्बर, १९७० में २३.८ हो गया। इसी प्रकार इन बैंकों में किसानों के खातो की संख्या दिसम्बर, १९६९ में ३.६ लाख से बढ़कर दिसम्बर, १९७० में ७.८ लाख हो गयी।[1] इतना ही नहीं, इन अपेक्षित क्षेत्रों के उधार खाते में भी पर्याप्त वृद्धि हुई है।

(iii) **जमा में वृद्धि** (Deposit Mobilization) :—राष्ट्रीयकरण के बाद राष्ट्रीयकृत बैंकों की राशि में भी पर्याप्त वृद्धि हुई है। उदाहरण के लिए, दिसम्बर, १९५९ से नवम्बर, १९७० के बीच की अवधि में सभी अनुसूचित बैंकों की जमा राशि में ७५० करोड़ रुपये से अधिक की वृद्धि हुई। इसमें से १४४ करोड़ रुपये की वृद्धि केवल सरकारी क्षेत्र के बैंकों की जमा राशि में हुई।

इस प्रकार राष्ट्रीयकरण के बाद राष्ट्रीयकृत बैंकों ने निसंदेह पर्याप्त प्रगति की है।

विशेष अध्ययन-सूची

1. Sayers : Modern Banking.
2. N. Kumar : Bank Nationalisation in India.
3. The Economic Times, Bombay, 21st to 30th June, 1969.

---

1. India 1971-72, Page 203.

अध्याय : ४८

बेरोजगारी की समस्या

(Problem of Unemployment)

बेरोजगारी के कारण (Causes of Unemployment) —पूँजीवादी अर्थ-व्यवस्था की एक प्रधान समस्या बेरोजगारी की समस्या है। किसी देश या समाज में बेरोजगारी के मुख्यतः तीन कारण होते हैं —(क) बेरोजगारी समाज या देश मे सक्रिय मांग की कमी के कारण हो सकता है। (Unemployment may be due to a fall in effective demand.) (ख) मूल्य एवं लागत मे असंतुलन के फलस्वरूप भी बेरोजगारी की समस्या उत्पन्न हो सकती है। (ग) देश मे पूँजी एवं अन्य आवश्यक साधनो के अभाव से भी बेरोजगारी उत्पन्न हो सकती है। पश्चिम के प्रगतिशील राष्ट्रों में बेरोजगारी का प्रमुख कारण देश में वस्तुओं की मांग का कम होना है जो अन्ततोगत्वा आय की अपर्याप्तता अथवा न्यूनता का परिणाम है। इस प्रकार की आर्थिक व्यवस्था वाले देशों में मांग एवं रोजगार मे प्रायः सीधा सम्बन्ध रहता है, अतः मांग में कमी का प्रभाव रोजगार पर शीघ्र पड़ता है।

किन्तु भारत मे बेरोजगारी की समस्या का प्रमुख कारण देश में पूँजी एवं अन्य आवश्यक साधनों का अभाव है। पिछड़ी हुई आर्थिक व्यवस्था वाले देशों में मांग का प्रभाव रोजगार पर उतना प्रत्यक्ष नही होता। भारत में पूँजी एवं विकास के अन्य आवश्यक साधनों का अभाव है, किन्तु श्रम का आधिक्य है। यहाँ काम करने के तरीके अद्यतन हैं और बेरोजगार की समस्या विभिन्न रूपों मे पायी जाती है। किसानों का कृषि-कार्य मे सालों भर रोजगार नही मिलता। अतः ग्रामीण क्षेत्रों में बेरोजगारी के साथ-साथ अर्द्ध-बेरोजगारी (Under-employment) की समस्या भी वर्तमान है। हमारे देश के साथ यह निश्चय ही बहुत बड़ी विचित्र बात है कि एक ओर तो देश में जनता की आवश्यकताओं के लिए उपभोग की वस्तुओं का अभाव है तो दूसरी ओर बड़े पैमाने पर बेरोजगारी की समस्या विद्यमान है। इस विचित्रता का प्रमुख कारण देश में पूँजी का अभाव है। इसके अतिरिक्त देश में बेरोजगारी के अन्य भी बहुत-से कारण हैं, जैसे—आर्थिक साधनों का अपूर्ण उद्योग, विकास कार्यक्रमों की धीमी प्रगति, बड़े पैमाने पर औद्योगीकरण का अभाव, छोटे उद्योगों का ह्रास इत्यादि। उपरोक्त कारणों से स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद से हमारे देश में बेकारी की समस्या दिन-प्रति दिन गम्भीर होती जा रही है, और आजकल तो इस सम्बन्ध में स्थिति इतनी गम्भीर हो गयी है कि इस पर काबू पाना सरल नहीं जान पड़ता।

बेरोजगारी के विभिन्न रूप

(Different types of Unemployment)

पश्चिम के विकसित राष्ट्रों मुख्यतया पूर्ण रोजगार (Full employment) की स्थिति पायी जाती है। पूर्ण रोजगार की स्थिति में जैसा कि लार्ड विलियम बेवरिज (Lord William Beveridge) का कथन है, "काम, न कि मनुष्य को इंतजार करना चाहिए।" (Jobs rather the men, should wait.) परन्तु इन देशों में भी साधारणतया २ से ४ % तक अस्थिर बेकारी (Frictional unemployment) पायी जाती है। इसके अतिरिक्त उन देशों में केवल मन्दी के

समय ही मांग घट जाने से व्यापक बेरोजगारी उत्पन्न होती है। किन्तु भारत जैसे अविकसित राष्ट्र में विभिन्न प्रकार की बेरोजगारी सदा देखने को मिलती है। इनमें निम्नलिखित प्रधान हैं :

(१) **खुली या संरचनात्मक बेरोजगारी** (Open or Structural Unemployment):—भारत में ऐसे बहुत से व्यक्ति मौजूद हैं जो काम ढूंढते हैं लेकिन उनको काम नहीं मिलता। ऐसे व्यक्तियों की संख्या प्रतिवर्ष बढ़ती ही जा रही है क्योंकि देश की जनसंख्या आर्थिक साधनों के उपयोग की तुलना में अधिक तेजी के साथ बढ़ रही है। वर्षों से भारतीय अर्थ-व्यवस्था में स्थिरता, शिथिलता एवं गतिहीनता की अवस्था बनी हुई है। देश की अधिकांश जनता कृषि पर आश्रित है और कृषि में उसी पुरानी पद्धति का उपयोग किया जाता है जो वर्तमान परिस्थितियों के लिए अनुपयुक्त है। भारत औद्योगिक दृष्टि से एक पिछड़ा राष्ट्र है। उद्योग-धन्धों के अभाव में यहाँ पर व्यापक रूप से बेरोजगारी पायी जाती है। व्यापार, यातायात तथा सामाजिक सेवाओं आदि का विकास भी उतनी तेजी से नहीं हुआ है जितनी तेजी से होना चाहिए था। इस प्रकार हमारी आर्थिक व्यवस्था का ढाँचा ही ऐसा रहा है जिससे कि बेरोजगारी खुले रूप में विद्यमान रही है।

(२) **छुपी हुई बेरोजगारी या अर्द्ध-बेरोजगारी** (Disguised Unemployment or Under-employment) :—भारत के ग्रामीण क्षेत्रों में इस प्रकार की बेरोजगारी बहुत अधिक प्रचलित है। छुपी हुई बेकारी अथवा अर्द्ध-बेरोजगारी का तात्पर्य यह है कि श्रमिक वैसे तो अपने आपको काम पर लगा हुआ समझता है, लेकिन, उसकी सामान्य उत्पत्ति बिल्कुल नगण्य या नहीं के बराबर होती है। भारतीय कृषि पर अत्यधिक जनसंख्या आश्रित है। किसानों की जोतें छोटे-छोटे टुकड़ों में विभाजित हैं जो गांव के भिन्न-भिन्न भागों में बिखरी होती हैं। देश में अनार्थिक जोतों की संख्या बहुत अधिक है। यदि भारत में इस अतिरिक्त जनसंख्या को कृषि से हटाकर अन्य उद्योगों में लगाया जाय तो कृषि का उत्पादन नहीं घटेगा क्योंकि थोड़े व्यक्ति ही वैज्ञानिक कृषि के आधार पर अधिक उत्पादन कर सकेंगे। छुपी हुई बेकारी शहरों में, विशेष कर सरकारी विभागों में भी पायी जाती है। भारत में प्रशासन का व्यय दिन-प्रति-दिन बढ़ता ही जा रहा है। कई स्थानों पर आवश्यकता से अधिक कर्मचारी नियुक्त किये जाते हैं। यह भी प्रायः इसी किस्म की बेकारी का नमूना है। अधिकांश घरों में स्त्रियों को पूरा कार्य नहीं मिलता और वे भी अर्द्ध-बेरोजगारी का शिकार होती हैं।

(३) **मौसमी बेकारी** (Seasonal Unemployment) : भारत के अधिकांश भागों में कृषि का कार्य एक खास मौसम में ही चलता है। इसलिए वर्ष के शेष भाग में किसानों को बेकार रहना पड़ता है। मौसमी बेकारी कुछ औद्योगिक संस्थानों में भी पायी जा सकती है, जैसे चीनी के कारखाने साल भर तक नहीं चलते, इसलिए इनके श्रमिकों को कुछ समय तक बेकार रहना पड़ता है। कुटीर उद्योगों के ह्रास से मौसमी बेरोजगारी की तीव्रता बढ़ गयी है। इसका किसान तथा मजदूरों के जीवन-स्तर पर बड़ा ही प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है।

(४) **चक्रीय बेकारी** (Cyclical Unemployment) :—मन्दी (Depression) के दिनों में मांग घट जाने से जो बेकारी फैलती है उसे चक्रीय बेकारी कहते हैं। इस प्रकार की बेकारी पूंजीवादी देशों में प्रधानतः पायी जाती है। भारत भी इससे मुक्त नहीं है। कई बार विदेशों में मांग घट जाने से निर्यात उद्योग को धक्का पहुंचता है और कुछ कारखाने बन्द हो जाते हैं जिससे इस प्रकार की बेकारी उत्पन्न हो जाती है। हमारे यहाँ ऐसी स्थिति सूती-वस्त्र एवं जूट उद्योगों में विशेष रूप से देखने को मिलती है।

(५) अस्थिर बेकारी (Frictional Unemployment) :—कभी-कभी कुछ विशेष-उद्योगों के बन्द हो जाने से उनमें लगे हुए श्रमिक बेकार हो जाते हैं। ऐसे श्रमिक नये कार्य सीखकर शीघ्र ही दूसरे उद्योगों में नहीं लग जाते, वरन् कुछ समय तक इनको बेकार रहना पड़ता है। यह अस्थिर बेकारी का उदाहरण है। पश्चिमी देशों में इस किस्म की बेकारी कोई विशेष समस्या नहीं मानी जाती क्योंकि श्रम की अत्यधिक गतिशीलता एवं प्रशिक्षण की पर्याप्त सुविधाएँ होने से ऐसे श्रमिक शीघ्र ही नये व्यवसाय में प्रवेश पा लेते हैं। लेकिन भारत में इन परिस्थितियों के अभाव में अस्थिर बेरोजगारी भी बहुत ही कष्टदायक सिद्ध होती है।

(६) प्राद्योगिक बेकारी (Technological Unemployment) :—उत्पादन की विधि में सुधार लाने से जो बेकारी फैलती है उसे प्राद्योगिक बेकारी कहते हैं। भारत जैसे देश में जहां पहले से ही बहुत बेकारी फैली हुई है, उद्योग-धन्धों का अभिनवीकरण (Rationalisation) सुगमता से नहीं किया जा सकता है। इसलिए ऐसा उपाय अपनाया जाना चाहिए जिससे कि धीमी गति से आधुनिकीकरण किया जाय और साथ में बेकार होने वाले व्यक्तियों को भी काम देने की व्यवस्था की जा सके जिससे कि यह कार्य बिना आँसू बहाये (Rationalisation without tears) भी सम्भव हो सके। हमें प्राद्योगिक बेकारी का सामना अवश्य करना पड़ेगा क्योंकि इसके बगैर उत्पादन क्षमता में वृद्धि नहीं हो सकती। कृषि में भी इस प्रकार की बेरोजगारी की सम्भावना बहुत अधिक वर्तमान है।

भारत में बेरोजगारी की प्रकृति

(Nature of Unemployment in India)

भारत एक अर्द्ध-विकसित देश है, अतएव यहाँ पर बहुत बड़े पैमाने पर बेरोजगारी की समस्या पायी जाती है। यहाँ पर बेरोजगारी मुख्यत: तीन प्रकार की होती है—(क) कृषि-सम्बन्धी बेरोजगारी (Agricultural unemployment), (ख) औद्योगिक बेरोजगारी (Industrial unemployment), तथा (ग) शिक्षित वर्गों की बेरोजगारी (Unemployment among the educated classes)। कृषि-सम्बन्धी बेरोजगारी मुख्यत: ग्रामीण क्षेत्रों में ही पायी जाती है। ग्रामीण क्षेत्रों में बहुधा दो प्रकार की बेरोजगारी पायी जाती है—मौसमी बेकारी (Seasonal Unemployment) तथा स्थायी बेकारी (Perennial Unemployment)। मौसमी बेकारी के अन्तर्गत ग्रामवासी फसल कट जाने के बाद बेकार हो जाते हैं तथा जब तक दूसरी फसल का कार्य प्रारम्भ नहीं हो जाता तब तक बेकार ही रहते हैं। भारतीय गाँवों में मौसमी बेकारी के सम्बन्ध में अलग-अलग अनुमान लगाये गये हैं। शाही कृषि आयोग (Royal Commission on Agriculture) के अनुसार कृषक वर्ग में कम-से-कम चार-पाँच माह तक अवश्य ही बेकार रहता है। स्थायी बेकारी के अन्तर्गत भारतीय गाँवों में बहुत सारे व्यक्ति बेरोजगार रहते हैं। गाँवों में स्थायी बेरोजगारी का मुख्य कारण कृषि पर जनसंख्या की अत्यधिक निर्भरता है। इस प्रकार १९५१ ई० में कृषि तथा तत्सम्बन्धित उद्योगों में १० करोड़ व्यक्ति आर्थिक थे, इनकी संख्या बढ़कर १९६१ में १३·८ करोड़ हो गयी। ऐसा देखने से जान पड़ता है कि ये सभी लोग कृषि-कार्य में लगे हैं, किन्तु वास्तविकता यह है कि कि इनमें में बहुतों को कुछ भी काम नहीं होता, यानी इनमें छुपी हुई बेकारी (Disguised Unemployments) या अर्द्ध-बेकारी (Under-employments) पायी जाती है। औद्योगिक बेरोजगारी प्राचीन उद्योग-धन्धों के पतन के कारण उत्पन्न हुई। अंग्रेजों ने भारत में इस प्रकार की नीति का अनुसरण किया जिससे कि देश के प्राचीन उद्योग-धन्धे समाप्त हो गये। विवश होकर हजारों की संख्या में लोग गाँव छोड़कर नगरों की ओर जाने लगे, किन्तु नगरों में भी आधुनिक उद्योग-धन्धों के अभाव में उन्हें

बेकार हो जाना पड़ा। शिक्षित वर्गों में भी बेकारी की समस्या बड़ी ही गम्भीर है। पिछले कुछ वर्षों से, विशेषतः स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद से, देश में शिक्षित व्यक्तियों की संख्या में वृद्धि से यह समस्या और भी गम्भीर हो गयी है। शिक्षित बेरोजगारी के सम्बन्ध में एक विशेष बात यह है कि इस वर्ग के लोग एक विशेष प्रकार के रोजगार को ही चाहते हैं। इस प्रकार की बेरोजगारी मुख्यतः ३० वर्ष से कम आयु वाले व्यक्तियों में ही पायी जाती है। ये युवक बुद्धिजीवी लोग बेरोजगारी के समय सामाजिक तथा आर्थिक व्यवस्था के प्रति एक प्रकार का विद्वेष रखने लगते हैं, और धीरे-धीरे साम्यवाद के पुजारी हो जाते हैं। किन्तु ध्यानपूर्वक विचार करने से स्पष्ट होगा कि सफेद कॉलर वर्ग (White Collar Class) में बेरोजगारी दोषपूर्ण शिक्षा-प्रणाली की ही देन है।

इस प्रकार भारत में वर्त्तमान समय में बेकारी की समस्या बड़ी ही उग्र रूप से पायी जाती है। देश का भविष्य इस समस्या के समुचित समाधान पर ही निर्भर करता है। अतएव पंचवर्षीय योजनाओं में इस समस्या के समाधान पर विशेष रूप से जोर दिया जा रहा है।

अर्द्ध-बेरोजगारी (Under-employment) :—भारत में अर्द्ध-बेरोजगारी की समस्या बहुत ही गम्भीर है। राष्ट्रीय न्यादर्श सर्वेक्षण (National Sample Survey) ने इस सम्बन्ध में पता लगाया है। इस सर्वेक्षण के अनुसार प्रति सप्ताह २८ घन्टे से कम कार्य करने वाले अत्यधिक अर्द्ध-बेरोजगार (Severely Under-employed) समझे जाते हैं तथा सप्ताह में २९ से ४२ घण्टे तक कार्य करने वाले कम मात्रा में अर्द्ध बेरोजगार (moderately under employed) समझे गये थे। ११ वें एवं १२ वें सर्वेक्षण के अनुसार ग्रामीण क्षेत्रों मे काम में लगे व्यक्तियों के ७·०३ प्रतिशत तथा शहरी क्षेत्र मे ४·४९ प्रतिशत अत्यधिक अर्द्ध-बेरोजगार थे तथा ग्रामीण क्षेत्र में ५·१ प्रतिशत एवं शहरी क्षेत्र में ३·८४ प्रतिशत व्यक्ति साधारण अर्द्ध-बेकार थे। इससे स्पष्ट है कि अर्द्ध-बेरोजगारी की समस्या ग्रामीण एवं शहरी दोनों ही क्षेत्रों में गम्भीर कि रूप में वर्तमान है। आगे चलकर १४ वें सर्वेक्षण (जुलाई १९५८ से जून १९५९) में अर्द्ध-बेरोजगारों का अनुमान १४·७ प्रतिशत तथा १६ वें सर्वेक्षण में १०·५ प्रतिशत लगाया गया था।

अर्द्ध-बेकारी की समस्या से समाधान के लिए कुछ छिट-पुट प्रयत्न किये गये किन्तु ग्रामीण क्षेत्रों में इनसे स्थिति में उत्साहजनक सुधार नहीं हुआ। तृतीय योजना में इस सम्बन्ध में स्पष्ट रूप से कहा गया था कि अर्द्ध-बेकारी की समस्या का स्थायी रूप से समाधान कृषि के वैज्ञानिक संगठन पर निर्भर करता है।" (A lasting solution of the problem of under-employment will require not only the universal adoption of scientific agricuture but also the diversification and strengthening of the rural economic structure Programmes for developing village and small industries, linking up the economy of the villages and the growing urban centres, selling up processing industries and co-operative basis; and carrying new industries in to rural areas form part of the third plan and have to be further intensified) चतुर्थ योजना में भी इस समस्या के समाधान पर विशेष रूप से जोर दिया गया है।

भारत में बेरोजगारी की मात्रा

(The Magnitude of Unemyloyment in India)

देश में बेकारों की संख्या के सम्बन्ध में निश्चित रूप से पता लगाने का कोई साधन नहीं है। फिर भी इस सम्बन्ध में समय-समय पर कुछ अनुमान अवश्य लगाए गये हैं। उदाहरण

के लिए प्रो० पी० के० वत्तल ने बेरोजगारी की मात्रा के सम्बन्ध में निम्नांकित अनुमान लगाया था :—

भारत में बेकारी

वर्ष	बेरोजगार व्यक्तियों का प्रतिशत
१९०१	७·१
१९११	७·८
१९२१	१०·३
१९३१	१४·२

इन्होंने १९५१ ई० में बेरोजगारी के सम्बन्ध में २० प्रतिशत का अनुमान लगाया था।[1] किन्तु राष्ट्रीय न्यादर्श सर्वेक्षण (National Sample Survey) में इस सम्बन्ध में अनुमान लगाए गये हैं जिससे वास्तविक स्थिति से सम्बन्ध में कुछ जानकारी प्राप्त होती है। निम्नांकित तालिका[2] से यह अधिक स्पष्ट है : —

आयु वर्गों के अनुसार बेरोजगारी की मात्रा

आयु वर्ग	बेरोजगारी का प्रतिशत	
	ग्रामीण क्षेत्र	नागरिक क्षेत्र
०-१६	४·९१	८·२५
१७-२१	७·२६	१७·१२
२२-२६	७·७५	१७·३८
२७-३६	५ ६३	८ ३०
३७-४६	५·९०	४·७८
४७-५६	५·१६	४·६२
५७-६१	५·६०	६·६४
६२ वर्ष से अधिक	५·३३	२·८३
कुल औसत	५·९७	७·३५

जनसंख्या के अनुपात में दिखलाया गया है। स्पष्ट है कि १७ से २१ तथा २२ से २६ आयु वाले वर्गों में बेरोजगारी की मात्रा सबसे अधिक पायी जाती है। इसका कारण यह है कि काम चाहने वाले आगन्तुक मुख्यत: इन्हीं आयु वर्गों में पाये जाते हैं।

१९६१ ई० की जनगणना में बेरोजगार व्यक्तियों की संख्या का अनुमान १४ लाख लगाया गया था, जिसमें से ५.७ लाख ग्रामीण क्षेत्रों में तथा ८·३ लाख शहरी क्षेत्रों में थे। राष्ट्रीय न्यादर्श के १६ वें सर्वेक्षण में यह अनुमान लगाया गया कि ग्रामीण जनसंख्या के १·६८ प्रतिशत तथा शहरी जनसंख्या के ०·८२ प्रतिशत व्यक्ति जुलाई, १९६० से जून १९६१ के बीच बेकार थे। इस आधार पर १९६०-६१ ई० में बेकारों की संख्या ग्रामीण क्षेत्रों में ५८ लाख तथा शहरी क्षेत्रों में ६·५ लाख थी। १९६७-६८ की गणना के अनुसार ०·६८ प्रतिशत शहरी जनसंख्या बेरोजगार थी। इन आँकड़ों में बहुत अधिक विभिन्नता है। अतः योजना आयोग ने अगस्त, १९६८ में एक समिति की नियुक्ति की जो देश में बेरोजगारों की संख्या के सम्बन्ध में अनुमान

1—देखें—P. K. Wattal : Population Problem in India.
2—NSS Survey 11th and 12th Round Report No., 52.

लगायेगी तथा १९६९-७९ के बीच की अवधि को ध्यान में रखते हुए चतुर्थ योजना १९६९-७४ के लिए रोजगार-सम्बन्धी नीति के सम्बन्ध में सुझाव देगी। फरवरी, १९७२ में समिति ने अपना अन्तिम प्रतिवेदन प्रस्तुत किया जिसमें ग्रामीण विद्युतीकरण, सड़क-निर्माण, ग्रामीण गृह-निर्माण एवं लघु-सिंचाई आदि पर बहुत अधिक जोर दिया गया है।

पंचवर्षीय योजनाओं में रोजगार की व्यवस्था

(Employment in Five Year Plans)

प्रथम पंचवर्षीय योजना में रोजगार की व्यवस्था (Employment in the First Five Year Plan) :—हमारे देश में बेकारी की समस्या बड़ी ही उग्र हो गयी है। अतः देश के आर्थिक विकास की किसी भी योजना में मानव-शक्ति के पूर्ण उपयोग का प्रयत्न आवश्यक है। किन्तु प्रथम पंचवर्षीय योजना में इस समस्या को विशेष स्थान नहीं दिया गया था। वास्तव में, प्रथम योजना ऐसे समय में तैयार की गयी थी जब देश में रोजगार के सम्बन्ध में सर्वत्र एक प्रकार का आशावाद वर्तमान था। किन्तु, १९५३ ई० के प्रारम्भ तक युद्धोत्तरकालीन परिस्थितियाँ समाप्त हो गयीं और देश के समक्ष बेरोजगारी की समस्या ने उग्र रूप धारण कर लिया। मार्च, १९५१ ई० में काम-दिलाऊ संस्थाओं (Employment Exchanges) में रजिस्टर्ड बेकारों की संख्या ३·३७ लाख से बढ़कर दिसम्बर, १९५३ ई० में ५·२२ लाख हो गयी। अतः योजना आयोग को रोजगार से साधनों में वृद्धि के लिए विशेष कार्यक्रम तैयार करना पड़ा। १९५३ ई० के अन्त में रोजगार की सम्भावनाओं में वृद्धि के उद्देश्य से योजना आयोग ने एक ११ सूत्रीय कार्यक्रम तैयार किया। इनमें निम्नलिखित प्रमुख हैं :—(i) सिंचाई एवं शक्ति की योजनाओं के निकट कार्य एवं प्रशिक्षण शिविरों की स्थापना की जाय, (ii) लघु उद्योग एवं व्यापार करने के उद्देश्य से लोगों को विशेष प्रकार की सहायता दी जानी चाहिए, (iii) उन व्यवसायों में जहाँ विशेषज्ञों का अभाव हो, प्रशिक्षण की सुविधा में वृद्धि करनी चाहिए; (iv) सरकार द्वारा सामान खरीदने में कुटीर एवं लघु उद्योगों को विशेष प्राथमिकता दी जानी चाहिए, (v) सड़क एवं यातयात के के अन्य साधनों का विकास करना चाहिए, (vi) शहरों में कम आयवाले व्यक्तियों के लिए गृहों के निर्माण को प्रोत्साहित करना चाहिए, (vii) राष्ट्रीय-विस्तार खण्डों की प्रगति में और तीव्रता लानी चाहिए आदि।

परन्तु इन सब प्रयत्नों के बावजूद प्रथम योजनकाल में इस क्षेत्र में बहुत कम सफलता मिल सकी। फिर भी, प्रथम योजना ने देश की आर्थिक व्यवस्था को इस प्रकार से सबल बना दिया कि द्वितीय योजना में सरकार रोजगार के साधनों पर विशेष रूप से ध्यान देने की स्थिति में हो गयी।

द्वितीय पंचवर्षीय योजना में रोजगार की व्यवस्था

(Employment in the Second Five Year Plan)

द्वितीय पंचवर्षीय योजना में बेकारी की समस्या को दूर करने का विशेष प्रयत्न किया गया था। योजना के आधारभूत उद्देश्यों में बेकारी की समस्या का समाधान भी एक था। शहरी क्षेत्रों में बेरोजगारों की संख्या को पता लगाने के उद्देश्य से किये गये एक सर्वेक्षण के अनुसार १९५४ ई० में शहरी बेरोजगारों की संख्या २२·४ लाख थी। इसी आधार पर आयोग ने १९५६ ई० में शहरी बेकारों की संख्या का अनुमान २५ लाख लगाया था। इसके साथ ही योजनाकाल

में (१९५६ ई० से १९६१ ई०) पाँच वर्षों में यह अनुमान लगाया गया था कि शहरी क्षेत्रों में ३८ लाख नये आगन्तुकों के लिए रोजगार की व्यवस्था करनी होगी। इस प्रकार कुल मिलाकर १९६१ ई० तक शहरी क्षेत्रों में ६३ लाख बेरोजगारों के लिए रोजगार की व्यवस्था करनी थी।[1]

साथ ही, यह अनुमान लगाया गया था कि ग्रामीण क्षेत्रों में १९५५-५६ ई० में २८ लाख बेरोजगार व्यक्ति थे। इसके अतिरिक्त १९५६ ई० से १९६१ ई० के बीच ग्रामीण बेरोजगारों की संख्या में ६२ लाख की वृद्धि का अनुमान था, यानी इस योजना के अन्त तक ग्रामीण क्षेत्र में ९० लाख व्यक्तियों के लिए रोजगार की व्यवस्था करनी थी।

इस प्रकार द्वितीय योजना के अन्त में शहरी तथा ग्रामीण क्षेत्रों में पुराने बेरोजगारों की संख्या ५३ लाख तथा नये रोजगार चाहनेवालों की संख्या का अनुमान १०० लाख लगाया गया था। अतः, द्वितीय योजना के अन्त तक १९६१ ई० में देश में पूर्ण रोजगार की स्थिति लाने के लिए १५३ लाख व्यक्तियों के लिए रोजगार की व्यवस्था करनी थी। इसके अतिरिक्त अर्द्ध-बेरोजगारों की संख्या भी थी जिसका इसी रूप से अन्दाजा लगाया जा सकता है। द्वितीय योजना में इतने व्यक्तियों के लिए रोजगार की व्यवस्था करना सम्भव नहीं था। योजना आयोग की राय में इस समस्या के समाधान के लिए एक दीर्घकालीन योजना की आवश्यकता है। फिर भी, द्वितीय योजनाकाल में यथासम्भव रोजगार की सम्भावनाओं को बढ़ाने का प्रयत्न किया गया था जिसके फलस्वरूप पाँच वर्षों में ८० लाख व्यक्तियों को रोजगार दिलाने की व्यवस्था की जा सकी थी।

किन्तु द्वितीय योजना का यह लक्ष्य पूर्ण नहीं हो सका तथा योजनाकाल में केवल ६५ लाख अतिरिक्त व्यक्तियों के लिए ही रोजगार की व्यवस्था हो पायी। इसका अर्थ यह है कि योजना आयोग के अनुमान के अनुसार द्वितीय योजना के अन्त में ८८ लाख व्यक्ति बेरोजगार रह गये थे।

शिक्षित बेरोजगारों की समस्या (Problem of educated unemployment) :— द्वितीय योजना में शिक्षित बेरोजगारी की समस्या के समाधान पर विशेष रूप से जोर दिया गया था। शिक्षितों की बेरोजगारों की समस्या के समाधान के लिए सितम्बर, १९५५ ई० में एक विशेष अध्ययन दल की नियुक्ति की गयी थी जिससे शहरी क्षेत्रों में किये गये सर्वेक्षण के आधार पर द्वितीय योजना के प्रारम्भ होने तक शिक्षित बेरोजगारों की संख्या का अनुमान ५.५ लाख लगाया गया था। साथ ही, यह अनुमान किया गया था कि १९६१ ई० तक पाँच वर्षों में १४.५ लाख नये शिक्षित व्यक्तियों के लिए रोजगार की व्यवस्था करनी होगी, यानी १९६१ ई० तक शिक्षित बेकारों की संख्या के लगभग २० लाख हो जाने की आशा थी जिनके लिए रोजगार की व्यवस्था करनी थी। (शिक्षितों के अन्तर्गत उक्त समिति ने मैट्रिकुलेशन पास या इससे अधिक के लोगों को रखा था।) समिति ने यह अनुमान लगाया था कि द्वितीय योजनाकाल में विकास की योजनाओं के फलस्वरूप कुल १० लाख अतिरिक्त शिक्षित व्यक्तियों को कार्य मिलेगा। पाँच वर्षों में २.४ लाख व्यक्ति अवकाश प्राप्त करेंगे जिनके बदले उतनी ही संख्या में लोगों को और रोजगार मिल जायगा। साथ ही, गैर-सरकारी क्षेत्र में विकास के फलस्वरूप २ लाख शिक्षित बेकारों को योजनाकाल में रोजगार प्रदान किया जा सकेगा। इस प्रकार द्वितीय योजनाकाल में कुल १४.४ लाख शिक्षित व्यक्तियों को रोजी दिलाने का आयोजन था।

१. द्वितीय योजनाकाल में यह अनुमान लगाया गया था कि पाँच वर्षों में १०० लाख नये रोजगार पाने (new entrants to labour force) होंगे जिनमें से ३८ लाख शहरी क्षेत्रों में तथा ६२ लाख ग्रामीण क्षेत्रों में होने का अनुमान किया गया था।

लेकिन, इससे शिक्षित बेकारों की समस्या ज्यों-की-ज्यों रह जायगी तथा परिस्थिति में कोई परिवर्तन नहीं होगा। शिक्षित बेकारों की उक्त समिति ने इस कार्य के लिए १३० करोड़ रुपये के व्यय पर एक कार्यक्रम का सुझाव दिया था जिसके अनुसार लघु-उद्योगों से १·५ लाख व्यक्तियों, सहकारी माल यातायात से ३२ हजार तथा राज्य सरकार की योजनाओं में ५३ हजार व्यक्तियों को रोजगार मिलने की व्यवस्था की गयी। यह योजना आरम्भ में प्रयोगात्मक ढंग पर लागू की जाने को थी। किन्तु, इसके सफल सम्पादन के बाद भी द्वितीय योजना के अन्त में लगभग ३.५ लाख शिक्षित व्यक्तियों को योजनाकाल में रोजगार से वंचित रहना पड़ता। अतः शिक्षित बेरोजगारों के सम्बन्ध में योजना आयोग ने दीर्घकालीन उपायों को अपनाने की सिफारिश की थी। दीर्घकालीन उपायों के अन्तर्गत देश की आधुनिक शिक्षा-प्रणाली में सुधार, तकनीकी शिक्षा पर अधिक जोर, सामान्य आर्थिक विकास आदि उल्लेखनीय हैं। साथ ही, सरकारी नौकरियों में बहाली के तरीकों में सुधार तथा विश्वविद्यालयों में रोजगार-सम्बन्धी समाचार देनेवाली संस्थाओं (University Employment Bureau) की स्थापना भी आवश्यक है।

क्षेत्रीय बेरोजगारी की समस्या (Problem of Regional unemployment) :—द्वितीय योजना में विभिन्न क्षेत्रों के बीच समान रोजगार की सुविधा प्रदान करने पर जोर दिया गया था। देश में कुछ ऐसे क्षेत्र भी हैं जहाँ अन्य क्षेत्रों की तुलना में बेकारों की संख्या बहुत अधिक है। कुछ क्षेत्रों में अर्द्ध-बेकारी की समस्या भी बहुत अधिक है तथा औसत आय अन्य क्षेत्रों की तुलना में बहुत ही कम है। इंगलैंड में भी इस प्रकार की क्षेत्रीय बेकारी की समस्या थी जिसे दूर करने के लिए विशेष प्रयत्नों की आवश्यकता थी। द्वितीय योजना में इस समस्या को दूर करने पर विशेष रूप से जोर दिया गया था जिससे देश के विभिन्न क्षेत्रों के बीच आर्थिक असमानता को दूर किया जा सके।

क्षेत्रीय बेरोजगारी की समस्या के समाधान के लिए द्वितीय योजना में निम्नलिखित सुझाव दिये गये थे :—(क) सरकारी क्षेत्रों में उद्योग-धन्धों के निर्माण की योजना बनाने के समय पिछड़े क्षेत्रों को विशेष प्राथमिकता दी जानी चाहिए जिससे रोजगार की संभावनाओं में पर्याप्त मात्रा में वृद्धि की जा सके। (ख) पिछड़े क्षेत्र के व्यापारियों एवं उद्योगपतियों को अपेक्षाकृत रियायती दर पर कर्ज देना चाहिए। (ग) सरकारी क्षेत्र में ठेका देते समय इस क्षेत्र के लोगों के लिए एक निश्चित प्रतिशत सुरक्षित रखना चाहिए। (घ) गैर-सरकारी क्षेत्र में पूँजी विनियोग को सम्भव बनाने के उद्देश्य से अन्य प्रकार की वित्तीय सुविधाएँ प्रदान की जानी चाहिए। योजना आयोग की राय में उपरोक्त उपायों के साथ-साथ उस क्षेत्र विशेष के व्यक्तियों में अधिक उत्साह के संचार की आवश्यकता है। इस प्रकार भारत सरकार, राज्य सरकारें तथा स्थानीय संस्थाओं एवं व्यक्तियों के सहयोग के द्वारा बेकारी की समस्या का निराकरण किया जा सकता है।

इस तरह द्वितीय योजना के अन्तर्गत देश में बेकारी की समस्या को दूर करने का पूरा-पूरा प्रयत्न किया गया था। किन्तु द्वितीय योजनाकाल में कृषि में रोजगार के साधनों में आयोजित लक्ष्य से भी कम ही वृद्धि हुई। योजनाकाल में कृषि के अतिरिक्त अन्य उद्योगों में कुल ८० लाख व्यक्तियों के रोजगार का आयोजन था, किन्तु वास्तव में केवल ६५ लाख व्यक्तियों के लिए ही रोजगार की व्यवस्था की जा सकी थी; यानी, द्वितीय योजना के रोजगार-सम्बन्धी लक्ष्यों की पूर्ति नहीं हो पायी।

तृतीय पंचवर्षीय योजना में रोजगार की व्यवस्था

(Employment in the Third Five Year Plan)

द्वितीय योजनाकाल में रोजगार के साधनों में आयोजित लक्ष्य से कम ही वृद्धि हुई जिसके परिणामस्वरूप तृतीय योजना के प्रारम्भ से ही बेकारों की संख्या द्वितीय योजना के प्रारम्भ होने के

समय से अनुमानतः २० लाख अधिक थी। साथ ही, यह अनुमान किया गया था कि तृतीय योजना काल में १५० लाख नये आगंतुकों के लिए रोजगार की व्यवस्था करनी होगी। इसमें एक-तिहाई भाग ग्रामीण क्षेत्रों में होंगे। तृतीय योजना में विनियोग की जानेवाली कुल रकम के आधार पर योजनाकाल में ३५ लाख अतिरिक्त व्यक्तियों के लिए कृषि में तथा १०५ लाख व्यक्तियों के लिए अन्य उद्योगों में रोजगार के साधनों में वृद्धि का आयोजन था। दूसरे शब्दों में, योजनाकाल में केवल नये आगंतुकों के लिए रोजगार प्रदान करने के लिए भी तृतीय योजनाकाल में कम-से-कम १० लाख व्यक्तियों के लिए अतिरिक्त रोजगार की व्यवस्था आवश्यक थी।

किन्तु अब ऐसा अनुमान लगाया जाता है कि तृतीय योजना प्रारम्भ होने के पूर्व देश में बेकारों की संख्या लगभग ७० लाख थी। साथ ही, योजनाकाल में नये काम चाहने वाले व्यक्तियों की संख्या १७० लाख थी। इस प्रकार योजनाकाल में २४० लाख व्यक्तियों के लिए रोजगार प्रदान करने की व्यवस्था आवश्यक थी। इसमें से योजना आयोग के अनुसार योजनाकाल में कृषि तथा गैर-कृषि में १५५ लाख नये रोजगार के साधनों की ही व्यवस्था की गयी। इसमें से ११५ लाख गैर-कृषि तथा ४० लाख कृषि के क्षेत्र में था, यानी तृतीय योजना के अन्त में प्रायः ८५ लाख व्यक्तियों के लिए रोजगार की व्यवस्था नहीं की जा सकी।

कृषि एवं गैर-कृषि के अतिरिक्त रोजगार के साथ-साथ तृतीय योजना में अर्द्ध-बेरोजगारी की मात्रा में महत्त्वपूर्ण कमी का आशा की गयी थी। कृषि में अतिरिक्त रोजगारी के अन्तर्गत एक-चौथाई क्षमता को ही रखा गया था। शेष अर्द्ध-बेरोजगारी की समस्या के समाधान के लिए रखा गया था : अर्द्ध-बेरोजगारी की समस्या के समाधान से जीवन-स्तर में पर्याप्त सुधार की आशा की जाती है।

नियोजन एवं प्रशिक्षण के मुख्य निदेशक (Director General of Employment and Training) के द्वारा एकत्र आँकड़ों के अनुसार १९६०-६१ से १९६५-६६ के बीच रोजगार १२१ लाख से बढ़कर १९६५-६६ में १५४·६ लाख हो गया, यानी २८ प्रतिशत की वृद्धि हुई। दूसरे शब्दों में, इसमें तृतीय योजना में औसत रूप से ५ प्रतिशत की वृद्धि हुई थी। इसके बाद १९६६-६७ में रोजगार में केवल ०·८ प्रतिशत की वृद्धि हुई जबकि १९६७-६८ में इसमें प्रायः कोई वृद्धि नहीं हुई तथा १९६८-६९ में २ प्रतिशत की ही वृद्धि हुई।

१९५१-५२ से १९६८-६९ तक पंचवर्षीय योजनाओं में बेकारी की समस्या के समाधान के प्रयत्नों के प्रयास का अन्दाजा निम्नांकित तालिका से लगाया जाता है :—

पंचवर्षीय योजनाओं में बेरोजगारों का अनुमान (लाख में)[1]

	प्रथम योजना (१९५१-५६)	द्वितीय योजना (१९५६-६१)	तृतीय योजना (१९६१-६६)	तीन एक-वर्षीय योजनाएँ (१९६६-६९)
१. योजना के प्रारम्भ में श्रम-शक्ति	१८५२	१९७०	२१५०	२२९०
२. योजना में आगंतुकों की शुद्ध संख्या	९०	११८	१७०	१४०
३. योजना के प्रारम्भ में बेकारों की संख्या	३३	५३	७१	९६

1. Fourth Plan (1969-74) P. 428

४. कुल (२+३)	१२३	१७१	२४१	२३६
५. अतिरिक्त रोजगार की व्यवस्था	७०	१००	१४५	१६
६. योजना के अंत में बेकारों की संख्या (४—५)	५३	७१	९६	२२०
७. बेरोजगारों का कुल श्रम संख्या के अनुपात में (६/४ × १००)	२·९	३·६	४·५	९·६

चतुर्थ पंचवर्षीय योजना में रोजगार की व्यवस्था

(Employment in the Fourth Five Year Plan)

चतुर्थ योजना (१९६९-७४ ई०) में रोजगार के सम्बन्ध में आँकड़ों का प्रयोग नहीं किया गया है। किन्तु योजना में सम्मिलित कार्यक्रमों के द्वारा रोजगार के साधनों में पर्याप्त वृद्धि की आशा की जाती है। योजना में श्रम-प्रधान कार्यों; जैसे—सड़क, लघु-सिचाई, सहकारिता, बाढ़-नियन्त्रण आदि पर अधिक जोर दिया गया है जिससे रोजगार की संभावनाओं में पर्याप्त वृद्धि की आशा की जाती है। इस योजना में श्रम-प्रधान कार्यों पर विनियोग की रकम में भी पर्याप्त वृद्धि की जायगी। साथ ही, इस प्रकार के श्रम-प्रधान कार्यों के लिए योजनाकाल में प्रति वर्ष २९० करोड़ रुपये ऋण प्रदान करने की व्यवस्था है जबकि इसके पूर्व के तीन वर्षों में इस प्रकार के ऋणों का वार्षिक औसत १०० करोड़ रुपये ही था। कृषि में विकास की बढ़ती हुई दर से योजनाकाल में और अधिक रोजगार मिलने की आशा है।

योजनाकाल में गैर-कृषि क्षेत्र में और अधिक वृद्धि की आशा की गयी है। खनिज तथा निर्माण उद्योगों पर अधिक ज़ोर, लघु एवं ग्रामीण उद्योगों को प्रदान की जाने वाली सहायता, ग्रामीण क्षेत्रों के विद्युतीकरण, तथा उद्योगों के विकेन्द्रीकरण की नीति के कारण रोजगार के साधनों में पर्याप्त वृद्धि की आशा की गयी है। इसी प्रकार तृतीयक क्षेत्र में भी अधिकाधिक मात्रा में रोजगार के साधनों में वृद्धि की आशा है।

चतुर्थ योजना के रोजगार-सम्बन्धी कार्यक्रम (Employment Programmes under the Fourth Plan) :– चतुर्थ पंचवर्षीय योजना में बेकारी की समस्या के समाधान पर विशेष रूप से जोर दिया गया है। योजनाकाल में इस उद्देश्य के निम्नांकित कार्यक्रमों को अपनाने पर जोर दिया गया है।

(१) **ग्रामीण काय** (Rural Works Programme) :–चतुर्थ योजना में ग्रामीण विकास सम्बन्ध कार्यक्रम पर १०० करोड़ रुपये व्यय की व्यवस्था है। योजनाकाल में कृषक मजदूरों को सहायता देने के उद्देश्य से भूमि तथा श्रम की कार्य क्षमता को बढ़ाने के लिए अधिक रोजगार प्रदान करने की क्षमता वाले कार्य-क्रम अपनाये गये हैं। इस उद्देश्य से ५४ सूखा-ग्रस्त प्रखण्ड चुने गये हैं तथा प्रत्येक प्रखण्ड में लगभग २ करोड़ रुपये दिया गया है जिससे १५ हजार से ३० हजार तक अतिरिक्त व्यक्तियों के लिए रोज़गार की व्यवस्था की जायगी।

(२) **लघु-कृषक विकास एजेन्सीज** (Small Farmers Development Agencies) :— चतुर्थ योजना के काल में देश के ४६ चुने हुए जिलों में Pilot Projects स्थापित किये जायँगे

1. Reserve Bank of India Bulletion Dec. 1969.

इस उद्देश्य से योजना काल में ६७·५ करोड़ रुपये व्यय की व्यवस्था है। इस कार्य-क्रम का उद्देश्य में छोटे-छोटे किसानों को लाभ पहुँचाना है। इसमें छोटे-छोटे किसानों को आधुनिक तकनीक तथा गहन कृषि-कार्यक्रम को अपनाने के लिए साख दिया जायगा।

(३) सीमांत किसानों तथा कृषक मजदूर (Marginl Farmers and Agricultural Labourers) : - इस कार्यक्रम के अन्तर्गत देश के चुने हुए ४१ जिलों में सीमांत किसानों तथा कृषक मजदूरों को लाभन्वित करने के उद्देश्य से कार्यक्रम स्थापित करने का आयोजन है। इनमें से प्रत्येक कार्यक्रम से २०००० परिवार लाभान्वित होंगे। इन परिवारों को गोपालन, कुकुट पालन, बाग-बागवनी तथा मत्स्य पालन आदि के लिए आर्थिक सहायता प्रदान की जायगी।

(४) कृषि-सेवा केन्द्र (Agro-Service Centre) :—इस कार्यक्रम के अन्तर्गत यांत्रिक, कृषि तथा विद्युत् इन्जीनियरिंग के बेरोजगार स्नातकों को कृषि-सम्बन्धी औजारों के मरम्मत तथा निर्माण के लिए केन्द्र स्थापित करने में आर्थिक सहायता प्रदान करने का आयोजन है। इस कार्य के लिए स्टेट बैंक तथा अन्य वित्तीय संस्थाओं से ऋण की व्यवस्था की जायगी। चतुर्थ योजनाकाल में इस कार्यक्रम के अन्तर्गत देश भर में कुल ५००० केन्द्र स्थापित करने की व्यवस्था है।

(५) क्षेत्रीय विकास कार्यक्रम (Area Development Schemes) :—इस कार्यक्रम के अन्तर्गत १० वृहत सिंचाई कार्यक्रमों के क्षेत्र में सड़क, बाजार इत्यादि महत्वपूर्ण सुविधाओं (Infra structure facilities) के अन्तर्गत १५ करोड़ रुपये व्यय की व्यवस्था है।

(६) ग्रामीण बेरोजगारी के लिए विशेष कार्यक्रम (Crash Programme for the Rural Unemployment) :—ग्रामीण क्षेत्रों में बेरोजगारी तथा अर्द्ध-बेरोजगारी की समस्या के समाधान के लिए चतुर्थ योजना में एक विशेष कार्यक्रम का आयोजन है। इस कार्यक्रम का प्रधान उद्देश्य विभिन्न श्रम-प्रधान एवं उत्पादक उपायों द्वारा ग्रामीण क्षेत्रों में अतिरिक्त रोजगार के अवसरों का निर्माण है। इस प्रकार के कार्यक्रम के दो प्रधान उद्देश्य हैं—सर्वप्रथम तो प्रत्येक कार्यक्रम को औसत रूप से प्रति जिले में वर्ष में १० माह के लिए कम-से-कम १००० व्यक्तियों को रोजगार प्रदान करना है। द्वितीयतः, प्रत्येक कार्यक्रम को स्थानीय विकास कार्यक्रम के अनुरूप पर्याप्त मात्रा में कार्य प्रदान करना चाहिए। इन कार्यक्रमों के अन्तर्गत ऐसे परिवारों को प्रधानता दी जायगी जिसमें कोई भी वयस्क को रोजगार प्राप्त नहीं है। इस कार्यक्रम के अन्तर्गत सड़कनिर्माण, लघु सिंचाई कार्यक्रम, भूमि-संरक्षण, वन रोपण आदि को प्रधानता दी जायगी। वास्तव में, इसमें खर्च की जानेवाली रकम का ६० प्रतिशत सड़कों के निर्माण, २५ प्रतिशत लघु सिंचाई तथा शेष १५ प्रतिशत में अन्य कार्यक्रम आयेंगे।

इस विशेष कार्यक्रम (Crash programme) जिसे अप्रैल १९७१ में प्रारम्भ किया गया है के अन्तर्गत तीन वर्षों (१९७१-७४) में १५० करोड़ रुपये व्यय किया जायगा तथा इससे लगभग ४ लाख व्यक्तियों को रोजगार मिलेगा।

निष्कर्ष :—इस प्रकार पंचवर्षीय योजनाओं में बेरोजगारी की समस्या के समाधान का पूरा-पूरा प्रयास किया जा रहा है। किन्तु अभी देश में बेरोजगारों की संख्या में निरन्तर वृद्धि होती जा रही है। सारांश यह है कि पंचवर्षीय योजनाओं में बेरोजगारी की समस्या के समाधान के लिए अपनाये गये विभिन्न प्रयत्नों के बावजूद देश में बेरोजगारों की संख्या में निरन्तर वृद्धि हो रही है।

वास्तव में, देश के लिए यह एक बहुत विकट समस्या है। इसी समस्या के समाधान पर हमारा भविष्य निर्भर करता है। इसके अतिरिक्त देश में अर्द्ध-बेरोजगारी भी बहुत बड़े पैमाने पर पायी जाती है।

बेरोजगारी की समस्या का समाधान विनियोग की दर में वृद्धि तथा द्रुतगति से औद्योगीकरण के द्वारा किया जा सकता है। वास्तव में भारत के आर्थिक विकास की योजनाओं का रोजगार-प्रधान होना अनिवार्य है, तभी इनसे देश की विशाल जनसंख्या को लाभ हो सकता है। अतएव हमारे देश में आर्थिक नियोजन की पद्धति इस प्रकार की होनी चाहिए कि समान विनियोग की मात्रा से अधिकाधिक मात्रा में रोजगार के साधनों की व्यवस्था की जा सके। साथ ही, देश की शिक्षा-प्रणाली में भी इस प्रकार का परिवर्तन करना चाहिए जिससे यह अधिक व्यावसायिक हो तथा विकासोन्मुख अर्थ-व्यवस्था की आवश्यकताओं की पूर्ति कर सके। इसके अतिरिक्त भूमि पर से जनसंख्या के अतिरिक्त बोझ को कम करने के उपायों को भी काम में लाना अनिवार्य है। इसके लिए ग्रामीण उद्योगों की अधिकाधिक व्यवस्था अनिवार्य है।

उपरोक्त उपायों के साथ-साथ बेरोजगारी की समस्या के समाधान के लिए जनसंख्या के नियोजन की प्रभावपूर्ण नीति को अपनाना भी अनिवार्य है। वास्तव में, हमारे देश में नये काम चाहने वालों की संख्या में प्रति वर्ष इतनी अधिक वृद्धि होती है कि पंचवर्षीय योजना के द्वारा इन्हें ही पूर्ण मात्रा में रोजगार नहीं प्रदान किया जा सकता। इसके परिणामस्वरूप बेरोजगारों की संख्या में निरन्तर वृद्धि होती जा रही है। ऐसा अनुमान लगाया जाता है कि चतुर्थ योजना में पुराने बेरोजगारों के अतिरिक्त २३० लाख तथा पाँचवीं योजना में प्रायः ३०० लाख नये काम चाहने वाले व्यक्ति होंगे। इतनी बड़ी संख्या में भी रोजगार की व्यवस्था अल्पकालीन उपायों के द्वारा नहीं की जा सकती। अतएव देश में बेरोजगारी की समस्या के समाधान के लिए एक दीर्घकालीन नीति को अपनाने की प्रबल आवश्यकता है जिसमें एक ओर तो रोजगार के साधनों में वृद्धि पर जोर देना चाहिए तथा दूसरी ओर जनसंख्या का प्रभावपूर्ण तरीके से नियन्त्रण करना चाहिए। इसी प्रकार की नीति से बेरोजगारी की समस्या का समाधान हो सकता है।

विशेष अध्ययन-सूची

1. W. Beveridge : Full employment in a Free Society.
2. N. Das : Unemployment, Full employment and India.
3. Planning Commission : Third and Fourth Five Year Plans.

अध्याय : ४९

केन्द्र एवं राज्यों के बीच वित्तीय सम्बन्ध

(Financial Relation Between the Centre and States)

केन्द्र एवं राज्य के बीच आय के साधनों का वितरण :—(Allocation of Resources between the Centre and States) :— प्रारम्भ में भारत की वित्त-व्यवस्था केन्द्रीभूत थी एवं सारी शक्तियाँ केन्द्रीय सरकार के हाथ में ही केन्द्रित थीं। धीरे-धीरे इसका विकास संघीय ढंग पर होने लगा और आज यहाँ की वित्तीय व्यवस्था पूर्ण रूप से संघीय हो गयी है। संविधान में केन्द्र एवं राज्यों की विषय-सूची निर्धारित कर दी गयी है और यह स्पष्ट कर दिया गया है कि कौन-कौन कर केन्द्रीय सरकार लगा सकती है तथा कौन-कौन कर राज्य सरकारें लगा सकती हैं। १९५१ ई० के वित्त आयोग के अनुसार भारत की वित्तीय व्यवस्था के इतिहास को हम निम्नलिखित चार कालों में विभाजित कर सकते हैं :—

(१) ब्रिटिश शासनकाल के प्रारम्भ से लेकर १९१९ ई० तक;

(२) १९१९ ई० से लेकर ३१ मार्च १९३७ ई० तक;

(३) १ अप्रैल, १९३७ ई० से लेकर १९४७ ई० तक; तथा

(४) १९४७ ई० में स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद का समय।

प्रथम काल (१९१९ ई० के पूर्व का समय) :—ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने अपने शासनकाल के आरम्भ से शासन की विभिन्न इकाइयों को वित्तीय मामलों में पूरी स्वतन्त्रता दी थी; किन्तु, इससे विभिन्न क्षेत्रों के बीच शासन-सम्बन्धी भारी अन्तर उत्पन्न हो गये। अत: १८३३ ई० में एक नियम द्वारा वित्त तथा राजस्व पद्धति का केन्द्रीयकरण किया गया। इससे केन्द्रीय शासन तो सुदृढ़ हो गया, परन्तु इसने एक साथ कई गम्भीर समस्याएँ उत्पन्न कर दीं। प्रान्तीय सरकारें गैर-जिम्मेवार तरीके से खर्च करने लगीं। सभी प्रान्तीय सरकारों ने अपनी आवश्यकता को बढ़ा-चढ़ा कर दिखलाना प्रारम्भ कर दिया जिससे कि केन्द्रीय सरकार से अधिक धन प्राप्त किया जा सके। परिणाम यह हुआ कि अपव्यय, अकुशलता तथा प्रान्तीय सरकारों के बीच आपसी संघर्ष बढ़ने लगे। सर जॉन स्ट्रैची के शब्दों में "सरकारी आय के विभाजन में प्रान्तों के बीच झगड़ा-फसाद होता था जिसमें अधिक झगड़ालू प्रान्त ही अधिक लाभ में रहते थे।"

इस पद्धति को **'निस्सार एकरूपता एवं दुराग्रहपूर्ण केन्द्रीयकरण'** (Barren uniformity and pedantic centralisation) की पद्धति कहा जाता था। लार्ड मेयो ने इन दोषों को दूर करने के लिए १८७१ ई० में विकेन्द्रीकरण की पद्धति को अपनाया जिसके अनुसार जेल, रजिस्ट्रेशन, पुलिस, शिक्षा एवं सड़कें प्रान्तीय सरकारों को सौंप दी गयीं। सरकारी कार्यों के समुचित सम्पादन के लिए प्रान्तों को इन विभागों की आय के अतिरिक्त निश्चित मात्रा में केन्द्र ने अनुदान देना भी प्रारम्भ कर दिया। किन्तु इस योजना ने प्रान्तीय अर्थ-व्यवस्था की असमानताओं को और भी बढ़ा दिया। १८७७ ई० में लार्ड लिटन ने प्रान्तीय सरकारों को कुछ स्थानीय महत्त्व के साधनों का उत्तरदायित्व सौंप दिया तथा आय के कुछ साधनों को भी प्रदान किया। १८८२ ई० में लार्ड रिपन ने वार्षिक अनुदान की जगह पर प्रान्तों को कुछ साधनों से प्राप्त सम्पूर्ण आय तथा कुछ से आंशिक आय देने का निश्चय किया। परिणामस्वरूप आय की तीन मुख्य मदें हो गयी :—(१) साम्राज्य मदें (Imperial heads) जैसे—वाणिज्य विभागों के लाभ एवं अफीम, नमक आदि से प्राप्त आय, (२) प्रान्तीय मदें (Provincial heads) जैसे—नागरिक विभाग एवं प्रान्तीय कार्य; तथा (३) विभाजित मदें (Divided heads) जैसे—उत्पादन शुल्क, स्टाम्प, रजिस्ट्रेशन तथा वन इत्यादि। प्रत्येक पाँच वर्षों पर स्थिति का पुनर्वीक्षण किया जाता था। यह प्रणाली दीर्घकालीन

दृष्टिकोण को अपनाने में सहायक अवश्य थी, किन्तु केन्द्रीय सरकार ने इसके अनुसार अपने लिए सदा अधिक-से-अधिक साधन रखने का प्रयत्न किया था। इस प्रकार इस पद्धति से भी असंतोष पूर्णतया समाप्त न हो सका। इसका सबसे बड़ा कारण यह था कि सरकारी आय पाँच वर्षों के लिए ही निश्चित रहती थी। इसे दूर करने के लिए लार्ड कर्जन ने १९०४ ई० से इस पद्धति को अर्द्ध-स्थायित्व (Quasi-permanent) का रूप प्रदान किया तथा १९११ ई० में लार्ड हार्डिंज ने इसे स्थायी रूप दिया।

विकेन्द्रीकरण आयोग (Royal Decentralisation Commission) की सिफारिशों को ध्यान में रखते हुए लार्ड हार्डिंज ने साधनों को निम्न प्रकार से विभाजित किया :—

(क) **केन्द्रीय आय के साधन** :—नमक, टकसाल एवं विनिमय, सीमा-शुल्क, रेल, डाक तार तथा देशी राज्यों से प्राप्त होने वाले दान;

(ख) **विभाजित साधन** :—आबकारी, आय-कर, सिंचाई, स्टाम्प एवं लगान; तथा

(ग) **प्रान्तीय आय के साधन** :—वन, रजिस्ट्रेशन, शिक्षा एवं न्याय-विभाग से प्राप्त आय।

यह व्यवस्था १९१८ ई० तक चलती रही, किन्तु इसके फलस्वरूप प्रान्तीय साधनों तथा आवश्यकताओं में अन्तर पूर्णतः समाप्त नहीं हो सका। इस व्यवस्था का सबसे बड़ा दोष यह था कि इसके अन्तर्गत न तो प्रान्त नये कर लगा सकते थे और न ऋण ही ले सकते थे।

द्वितीय काल (१९१९-३७) :—१९१९ के शासन-सुधार अधिनियम के अनुसार केन्द्रीय एवं प्रान्तीय सरकारों के आर्थिक सम्बन्ध को पुनः नये स्तर पर रखा गया। इसके अनुसार विभाजित साधनों को पूर्णतः समाप्त कर दिया गया। प्रान्तीय सरकारों को कुछ विशेष परिस्थितियों में कर लगाने एवं ऋण देने का भी अधिकार दिया गया। इससे केन्द्र को २६ करोड़ रुपये का घाटा हुआ तथा प्रान्तों को कुछ बचत हुई जिसे पूरा करने के लिए यह निश्चय किया गया कि प्रान्त केन्द्रों को कुछ अंशदान (Provincial contribution) दिया करें।

मेस्टन परिनिर्णय (Meston Award) :—इस अंशदान को निश्चित करने के लिए लार्ड मेस्टन की अध्यक्षता में एक समिति की नियुक्ति हुई जिसके निर्णय को मेस्टन-परिनिर्णय (Meston Award) कहते हैं। इस समिति ने प्रत्येक प्रान्त के प्रारम्भिक, मध्यस्थ तथा प्रामाणिक चन्दे की सीमा को निश्चित कर दिया। कुछ संशोधन के साथ समिति की इन सिफारिशों को शासन-सुधार विधान में सम्मिलित कर लिया गया। किन्तु, इससे भी कोई आशाजनक सुधार नहीं हुआ तथा मेस्टन-समिति की आशाओं के विपरीत प्रान्तीय सरकारों को घाटा होने लगा। इससे अंशदान देना कुछ कठिन होने लगा। अतः १९२७-२८ ई० में उन्हें स्थगित कर दिया गया। और अन्त में इसे १९२८-२९ ई० के बाद बन्द कर दिया गया। मेस्टन-निर्णय की आलोचना की जाने लगी। इसका सबसे बड़ा दोष यह था कि प्रान्तीय सरकारों की आय के साधन लोचहीन थे। किन्तु इनकी आवश्यकताएँ तेजी के साथ बढ़ रही थीं। इसके विपरीत केन्द्रीय सरकार की आवश्यकताएँ प्रायः स्थायी थीं, किन्तु आय के साधन लोचपूर्ण थे और बढ़ भी रहे थे। इससे प्रान्तों का असन्तोष बढ़ गया तथा मेस्टन-निर्णय समाप्त करने की मांग की जाने लगी।

तृतीय काल (१९३७-१९४७) :—१९३५ ई० में गवर्नमेंट ऑफ इण्डिया ऐक्ट (Government of India Act) पारित हुआ जिसके अनुसार भारत एक संघीय देश हो गया। **इस विधान के अनुसार प्रान्तीय तथा संघीय आय के निम्नांकित साधन निश्चित किये गये थे :—**

(क) प्रान्तों द्वारा लगाये गये तथा एकत्र किये गये कर :—भूमि कर, सिंचाई से प्राप्त आय, आबकारी (मादक द्रव्यों पर), कृषि-भूमि पर उत्तराधिकार-कर, वस्तुओं पर विक्रय कर तथा विज्ञापन कर।

(ख) संघ द्वारा लगाये गये तथा एकत्र किये गये कर जिनकी आय का प्रान्तों के बीच वितरण होता था :—कृषि भूमि के अतिरिक्त अन्य सम्पत्ति के उत्तराधिकार पर कर, विनिमय-बिलों के स्टाम्प, रेलों तथा वायुयानों द्वारा ले जाये गये माल एवं यात्रियों के भाड़े पर कर।

(ग) संघ द्वारा लगाये गये तथा एकत्र किये गये कर जिनका प्रान्तों एवं संघ के बीच वितरण होता था :—कृषि-आय कर के अतिरिक्त आय कर, नमक, जूट-निर्यात-कर तथा तम्बाकू पर कर।

१९३६ ई० में उक्त विधान की धारा १३८ एवं १४०-४२ के अन्तर्गत केन्द्र एवं प्रान्तों के वित्तीय सम्बन्धों की जांच के लिए **सर ओटो नेमियर** (Sir Otto Niemeyer) की नियुक्ति की गयी। सर नेमियर ने यह सुझाव दिया कि निम्नांकित निश्चित प्रतिशत के आधार पर आय-कर से होने वाली आय का ५० प्रतिशत प्रान्तों के बीच वितरण किया जाय—मद्रास १५, बम्बई २०, बंगाल २०, संयुक्त प्रान्त १५, पंजाब ८, बिहार १०, मध्य प्रदेश ५, असम २, उड़ीसा २ सिन्ध तथा उत्तरी-पश्चिमी सीमा प्रान्त १। जूट निर्यात-कर के सम्बन्ध में सर नेमियर ने यह सिफारिश की थी कि प्रान्तों को मिलने वाली आय का प्रतिशत १२ से बढ़ाकर ६२ कर दिया जाय। सर नेमियर के अन्य सुझावों में निम्नलिखित प्रधान थे—(क) प्राचीन संघटित ऋण को कम करके प्रान्तों का वित्तीय निवारण किया जाय, तथा (ख) प्रान्तों को आय की कमी को पूरा करने के लिए केन्द्र द्वारा वार्षिक अनुदान एवं सहायता दी जाय।

प्रान्तीय सरकारें सर नेमियर के सुझावों से संतुष्ट नहीं थीं। आय-कर के वास्तविक विभाजन में हर प्रान्त अपने अलग-अलग कारणों से असंतुष्ट था। इसके अतिरिक्त प्रान्तों को वित्तीय सहायता देने की योजना भी संतोषजनक नहीं थी क्योंकि इससे उनके वित्तीय स्तर में विशेष अन्तर का भय था।

चतुर्थ काल (१९४७ ई० से अब तक) :—१९४७ ई० में देश का विभाजन हुआ एवं स्वतन्त्रता-प्राप्त हुई जिससे नेमियर के सूत्रों में परिवतन की आवश्यकता पड़ी। अतः भारत सरकार ने अस्थायी तौर पर आय-कर के वितरण के विषय में एक अध्यादेश निकाला जिसके अनुसार प्रान्तों को आय-कर के अर्द्ध-भाग के वितरण का प्रतिशत इस प्रकार से निश्चित किया गया मद्रास १८, बम्बई ११, पश्चिमी बंगाल १२, संयुक्त प्रान्त १९, पूर्वी पंजाब ५, बिहार १३, मध्य प्रदेश तथा बरार २, उड़ीसा एवं असम ३। इस सूत्र के अनुसार १९५० ई० तक कार्य किया गया।

देशमुख अवार्ड (Deshmukh Award) :—नवम्बर, १९४४ ई० में भारत सरकार ने श्री सी० डी० देशमुख को विभाजन के बाद की नवीन परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुए प्रान्तों में आय-कर तथा जूट निर्यात-कर के वितरण के सम्बन्ध में सुझाव प्रस्तुत करने के लिए नियुक्त किया। श्री देशमुख ने राज्यों की जनसंख्या तथा आर्थिक स्थिति को ध्यान में रखते हुए राज्यों के बीच आय कर के वितरण के लिए निम्नांकित सूत्र दिया जो १ अप्रैल, १९५० ई० से लागू हुआ—मद्रास १७.५, बम्बई ११, पश्चिमी बंगाल १३.५, उत्तर प्रदेश १८, पंजाब ५.५, बिहार १२.५ मध्य प्रदेश ६, असम तथा उड़ीसा ३। श्री देशमुख ने जूट-निर्यात कर में से पश्चिमी बंगाल को १०५ लाख, असम को ४० लाख, बिहार को ३५ लाख तथा उड़ीसा को ५ लाख रुपये देने का सुझाव दिया।

इस प्रकार वर्तमान समय में कुछ करों से प्राप्त आय का पूर्णतः केन्द्रीय सरकार द्वारा उपयोग किया जाता है, कुछ करों से प्राप्त आय का केन्द्र एवं राज्यों के बीच वितरण किया जाता है तथा कुछ करों से प्राप्त आय पूर्णतः राज्यों के बीच वितरित कर दी जाती है।

नये संविधान के वित्तीय उपबन्ध

(Financial Provisions of the New Constitution)

भारत के नये संविधान में १९३५ ई० के संविधान में दी गयी वित्तीय व्यवस्था को व्यवहारतः स्पष्ट रूप से स्वीकार कर लिया गया है। संविधान की सातवीं अनुसूची में **संघ के अधिकार क्षेत्र के करों** (Sources of Revenue of the Union) की व्याख्या की गयी है जो इस प्रकार हैं :—कृषि-सम्बन्धी आय के अतिरिक्त अन्य आय पर कर (Taxes on Income other than agricultural income), निगम कर (Corporation Tax), मादक वस्तुओं के अतिरिक्त अन्य वस्तुओं के उत्पादन पर कर, कृषि-भूमि के अतिरिक्त अन्य प्रकार की जायदाद पर कर, मृत्यु कर, कुछ प्रकार के स्टाम्प कर, अखबारों के क्रय-विक्रय तथा उनमें दिये गये विज्ञापन पर कर, रेल-भाड़ा एवं किराये पर कर तथा राज्य या समवर्ती सूची में जो विशेष रूप से कर नहीं दिये गये हैं उन पर कर, इत्यादि।

इसी प्रकार राज्यों द्वारा लगाये गये तथा वसूल किया जाने वाले करों (Sources of the Revenue of the States) में भूमि-कर, कृषि-कर, कृषि आय-कर, मृत्यु-कर, खनिज-पदार्थों पर कर, मादक वस्तुओं के उत्पादन पर कर, बिजली की बिक्री एवं उपभोग पर कर, अखबार के अतिरिक्त अन्य वस्तुओं के क्रय-विक्रय पर कर, कुछ प्रकार के स्टाम्प कर, रजिस्ट्रेशन फीस, सड़क तथा आन्तरिक जल-मार्ग पर पैसेंजर-कर आदि प्रमुख हैं।

इससे स्पष्ट है कि महत्त्वपूर्ण तथा अपेक्षाकृत अधिक लोचदार स्रोत केन्द्रीय सरकार को दिये गए हैं, किन्तु कल्याण-कार्य तथा सामाजिक सेवाओं का भार राज्यों को सौंपा गया है। अतः इनके साधनों तथा जिम्मेदारियों में बहुत बड़ा अन्तर आ जाता है। इसे दूर करने के लिए केन्द्र द्वारा राज्यों को कुछ अनुदान देने की व्यवस्था।

संविधान में कुछ ऐसे भी कर हैं जिनमें राज्य एवं केन्द्र दोनों भागीदार होंगे :—

(१) संघ द्वारा लगाये गये किन्तु राज्यों द्वारा एकत्र तथा उपयोग किये गये कर (Duties levied by the Union, but collected and appropriated by the States) जैसे—मदिरा तथा अफीम के प्रयोग से बनायी गयी औषधियों एवं टॉयलेट वस्तुओं पर लगाये गये कर।

(२) संघ द्वारा लगाये गये तथा एकत्र किये गये कर जिन्हें राज्य सरकारों को दे दिया जाता है; जैसे—कृषि-भूमि के अतिरिक्त अन्य प्रकार की सम्पत्ति पर सम्पत्ति कर, रेलवे के भाड़े पर कर तथा अखबारों के क्रय-विक्रय एवं इनके विज्ञापन पर कर इत्यादि।

(३) संघ द्वारा लगाये गये एवं एकत्र किये गये कर जिनका संघ एवं राज्यों के बीच वितरण होता है (Taxes levied and collected by the Union which are distributed between Union and States) जैसे—कृषि-आय के अतिरिक्त अन्य आय-कर, कुछ वस्तुओं के उत्पादन पर लगाये गये उत्पादन-कर, इत्यादि।

साथ ही, विभिन्न राज्यों में संतुलन स्थापित करने के उद्देश्य से संविधान में संघ द्वारा राज्यों को सहायता एवं अनुदान (Grants-in-aid) भी देने की व्यवस्था है।

प्रथम वित्त आयोग

(First Finance Commission)

श्री देशमुख का निर्णय अस्थायी था, फिर भी इससे राज्यों को संतोष नहीं हुआ। भारतीय संविधान की धारा २८० के अनुसार राष्ट्रपति द्वारा संविधान प्रारम्भ होने के दो वर्षों के अन्दर

और पुनः प्रत्येक पाँच-पाँच वर्षों पर या आवश्यकता पड़ने पर इससे पहले भी एक वित्त आयोग (Finance Commission) की नियुक्ति की व्यवस्था है। अतः नवम्बर, १९५१ ई० में श्री के० सी० नियोगी की अध्यक्षता में प्रथम वित्त आयोग की नियुक्ति की गयी। इस आयोग के विचाराधीन दो प्रमुख बातें थीं --(१) संघ एवं राज्यों के बीच कुछ करों से प्राप्त आय के विभाजन के सम्बन्ध में सुझाव देना तथा (२) उन सिद्धांतों को निश्चित करना जिसके अनुसार राज्यों को संचित निधि (Consolidated Fund) में से अनुदान दिया जा सके। वित्त आयोग ने अपना प्रतिवेदन १९५२ ई० में प्रस्तुत किया। आयोग ने अपनी सिफारिशें प्रस्तुत करने में निम्नांकित तीन सिद्धान्तों को अपनाया था :---

(क) राज्यों को अतिरिक्त साधन अथवा धन-राशि देने में केन्द्र के साधनों का उस सीमा तक प्रयोग करना चाहिए जिससे केन्द्र के लिए धन की कमी नहीं पड़े। इसका कारण यही है कि राज्यों की उन्नति का आधार केन्द्र की सुदृढ़ वित्तीय स्थिति ही है। अतः, केन्द्र में सुदृढ़ आर्थिक व्यवस्था बनाये रखने के सम्बन्ध में केन्द्र को अपनी आवश्यकताओं को ध्यान में रखना चाहिए;

(ख) केन्द्र द्वारा राज्यों को दिये जाने वाले अनुदान के वितरण में सभी राज्यों के साथ एक ही सिद्धान्त का पालन किया जाना चाहिए; तथा

(ग) वितरण की व्यवस्था इस प्रकार से होनी चाहिए कि जिससे कि राज्यों की आपसी विषमता कम हो सके।

आय-कर का वितरण:—आयोग ने आय-कर के वितरण में इस बात की सिफारिश की थी कि राज्यों का अंश ५० प्रतिशत से बढ़ाकर ५५ प्रतिशत कर दिया जाय। इसका कारण यह दिया गया था कि एक ओर तो सभी राज्य अधिक अंश की मांग कर रहे थे और दूसरी ओर पहले इसका वितरण केवल ९ राज्यों में किया जाता था, किन्तु अब इसका वितरण १६ राज्यों के बीच करना था। आय कर के वितरण को निश्चित करने में आयोग ने निम्नलिखित सात बातों पर विचार किया—(१) विभिन्न राज्यों में वसूल की गयी आय की धन-राशि; (२) विभिन्न राज्यों में रहने वाले व्यक्तियों की आय चाहे वह जहाँ से भी प्राप्त की गयी हो, पर वसूल किया गया कर; (३) आय के स्रोतों के अनुसार विभिन्न राज्यों में एकत्र आय-कर; (४) प्रत्येक राज्य की जनसंख्या (५) प्रत्येक राज्यों में औद्योगिक श्रमिकों की संख्या; (६) प्रत्येक राज्य की प्रति-व्यक्ति आय; तथा (७) जनसंख्या का घनत्व एवं आर्थिक विकास का स्तर, इत्यादि।

आय-कर के वितरण में आयोग ने उक्त बातों को ध्यान में रखा। आयोग के समक्ष इस सम्बन्ध में बहुत से सुझाव दिये गये थे। कुछ राज्यों ने इस प्रकार का सुझाव रखा कि आय-कर के वितरण में विभिन्न राज्यों में वसूल की गयी धन-रशि को ही आधार मानना चाहिए। किन्तु आयोग के अनुसार राज्य द्वारा वसूल की गयी धन-राशि का आधार मानना भी उचित नहीं होगा क्योंकि आय-कर से प्राप्त होने वाली कुल धन-राशि का प्रायः ७५ प्रतिशत भाग केवल बम्बई तथा पश्चिमी बंगाल से ही प्राप्त होता था और इस धन-राशि का भी अधिकांश भाग केवल बम्बई तथा कलकत्ता के नगरों से ही प्राप्त होता था। अतः केवल इस बात पर अधिक जोर देने का अर्थ यह होता कि अधिकांश भाग इन्हीं दो राज्यों को मिल जाता। इसी प्रकार प्रत्येक राज्य की आवश्यकताओं की जानकारी के लिए वित्त-आयोग ने न तो औद्योगिक श्रम को आधार माना और न प्रति व्यक्ति आय को ही। आयोग के अनुसार औद्योगिक श्रम से भी केवल आंशिक स्थिति का ही संकेत मिल सकता है। साथ ही, राज्यों की प्रति-व्यक्ति आय के सम्बन्ध में उपयुक्त आँकड़े उपलब्ध भी नहीं हैं। अतः आयोग ने यह माना कि वर्तमान परिस्थितियों में प्रत्येक राज्य की आवश्यकताओं का पता लगाने के लिए उसकी जनसंख्या ही सबसे उपयुक्त साधन है।

इस आधार पर आयोग ने यह सिफारिश की कि राज्यों को दिये जाने वाले आय कर का २० प्रतिशत भाग राज्यों में संग्रहित आय के अनुपात में तथा ८० प्रतिशत भाग १९५१ ई० की जनगणना के अनुसार उनकी जनसंख्या के आधार पर वितरित किया जाय। इस प्रकार आयोग द्वारा 'क' एवं 'ख' वर्ग के राज्यों के निम्नलिखित प्रतिशत निश्चित किये गये :—

राज्य	ओटो नेमियर सूत्र के अनुसार प्रतिशत	प्रथम वित्त आयोग द्वारा निर्धारित प्रतिशत
'क' वर्ग के राज्य		
१. मद्रास [1]	१५	१५·२५
२. बम्बई	२०	१७·५०
३. पश्चिमी बंगाल[2]	२०	११·२५
४. उत्तर प्रदेश	१५	१५·७५
५. पंजाब	८	३·२५
६. बिहार	१०	९·७५
७. मध्य प्रदेश	५	५·२५
८. असम	२	२·२५
९. उड़ीसा	२	३·५०
'ख' वर्ग के राज्य		
१०. हैदराबाद	...	४ ५०
११. राजस्थान	..	३ ५०
१२. ट्रावनकोर-कोचीन	...	२·५०
१३. मैसूर	..	२ ७५
१४ मध्य भारत	..	१·७५
१५ सौराष्ट्र	...	१·००
१६. पेप्सू	...	०·७५

आयोग ने 'ग' वर्ग के राज्यो का हिस्सा २·७५ प्रतिशत निश्चित किया।

केन्द्रीय उत्पाद-शुल्क का वितरण (Distribution of the Union Excise Revenue) :—उत्पाद शुल्क पहले आय का महत्त्वपूर्ण साधन नहीं माना जाता था, किन्तु द्वितीय महायुद्ध के पश्चात् इसका महत्त्व बहुत बढ़ गया। केन्द्रीय उत्पाद-शुल्क से प्राप्त आय को पहले केन्द्र एवं प्रान्तों के बीच विभाजित किया जाता था। प्रान्तों को मादक द्रव्यों पर शुल्क लगाने का अधिकार था तथा केन्द्रीय सरकार पेट्रोलियम, नमक, टायर-ट्यूब आदि पर कर लगा सकती थी। दियासलाई, चीनी, तम्बाकू तथा वनस्पति घी आदि पर उत्पाद-शुल्क के देशी रियासतों के साथ वितरण की भी व्यवस्था था, किन्तु देशी रियासतों के विलयन के बाद यह व्यवस्था समाप्त हो गयी। भारतीय संविधान में केन्द्रीय उत्पाद-कर से प्राप्त होनेवाली सम्पूर्ण आय या उसका कुछ अंश राज्यों में विभाजित करने की व्यवस्था की गयी है। अतः, अधिकांश राज्यों ने वित्त आयोग से उत्पाद-शुल्क से प्राप्त आय के वितरण की मांग की। आयोग ने तम्बाकू (सिगरेट, सिगार इत्यादि), दियासलाई तथा वनस्पति घी पर लगाये गये उत्पाद-शुल्कों से होने वाली आय के ४० प्रतिशत को विभिन्न राज्यों में १९५१ ई० की जनगणना के अनुसार वितरण करने की

---

१. मद्रास राज्य के कुल हिस्से का ३६ प्रतिशत भाग आन्ध्र को मिला।

२. ओटो नेमियर सूत्र के अन्तर्गत के प्रतिशत विभाजन के पूर्व के हैं।

सिफारिश की। आयोग ने इस आधार पर विभिन्न राज्यों के लिए वितरण का प्रतिशत इस प्रकार से निश्चित किया :—

'क' वर्ग के राज्य	प्रतिशत	'ख' वर्ग के राज्य	प्रतिशत
असम	२·६१	हैदराबाद	५·२९
बिहार	९·६०	मध्यभारत	२·२९
बम्बई	१०·३७	मैसूर	२·६२
मद्रास[1]	१६·४४	पेप्सू	१·००
उड़ीसा	४·२२	राजस्थान	४·४०
मध्य प्रदेश	६·१३	सौराष्ट्र	१·१९
पंजाब	३·६६	ट्रावनकोर-कोचीन	२·६८
उत्तर प्रदेश	१८·२२		
पश्चिमी बंगाल	७·१६		

जूट-निर्यात-कर (Export duty on Jute) :—वित्त आयोग ने संविधान के अनुच्छेद २७३ के अन्तर्गत जूट-पदार्थों के निर्यात-कर से प्राप्त आय में बंगाल, असम, बिहार एवं उड़ीसा को निम्न प्रकार से अनुदान देने की सिफारिश की :—

जूट-निर्यात कर हिस्सा (लाख रुपये में)

	राज्य	देशमुख निर्णय के अनुसार	वित्त आयोग द्वारा निर्धारित धनराशि
१.	पश्चिमी बंगाल	१०५	१५०
२.	असम	४०	७५
३.	बिहार	३५	७५
४.	उड़ीसा	५	१५

अनुदान (Grants-in-aid) :—वित्त आयोग ने केन्द्रीय राजस्व से राज्यों को अनुदान देने के प्रश्न पर भी विचार किया। इस सम्बन्ध में आयोग ने कई सिद्धांतों पर विचार किया, जैसे—बजट-सम्बन्धी आवश्यकताएँ, करों का प्रभाव, समाज-सेवाओं का स्तर, विशेष जिम्मेवारियों तथा राष्ट्रीय महत्त्व के कार्य इत्यादि। आयोग के अनुसार किसी राज्य को अनुदान की आवश्यकता है या नहीं, यदि है तो कितनी है तथा राज्य अपनी कर-प्रणाली का किस हद तक उपयोग करता है आदि के अध्ययन से किसी राज्य की आवश्यकता के सम्बन्ध में विशेष जानकारी प्राप्त की जा सकती है। इस सम्बन्ध में समाज-सेवाओं के स्तर तथा विभिन्न परिस्थितियों एवं जिम्मेवारियों का भी विशेष महत्त्व है। आयोग ने पश्चिमी बंगाल के लिए ८० लाख रुपये तथा पूर्वी पंजाब के लिए १२५ लाख रुपये का अनुदान निर्धारित किया क्योंकि विभाजन के फलस्वरूप इन राज्यों में कुछ विशेष समस्याएँ उत्पन्न हो गयी थीं। इनके अतिरिक्त असम को १ करोड़, उड़ीसा को ७५ लाख, ट्रावनकोर कोचीन को ४५ लाख एवं सौराष्ट्र को ४० लाख रुपये का अनुदान निर्धारित किया गया। विभिन्न राज्यों के अनुदान के निर्धारण में आयोग ने बहुत-से उद्देश्यों को अपने समक्ष रखा था। आयोग के अनुसार अनुदान के निर्धारण में राज्यों की पिछड़ी हुई आर्थिक व्यवस्था, आय के साधनों का अभाव तथा अन्य आर्थिक समस्याओं पर विशेष रूप से ध्यान दिया गया था। इसके अतिरिक्त आयोग ने बिहार, मध्य प्रदेश, मध्य भारत, हैदराबाद, राजस्थान, उड़ीसा, पंजाब तथा पेप्सू राज्यों में प्रारम्भिक शिक्षा की सुविधाओं में विस्तार के लिए भी अनुदान की भी सिफारिश की गयी थी।

१- मद्रास को प्राप्त रकम का ३६ प्रतिशत भाग आन्ध्र के लिए निश्चित कर दिया गया है।

प्रथम वित्त आयोग की सिफारिशों की समीक्षा (An Appraisal of the Recommendations of the First Finance Commission) : प्रथम वित्त आयोग की सिफारिशों की आलोचना भी की जाती है। कहा जाता है कि आयोग द्वारा निर्धारित वितरण के सिद्धान्त न्यायोचित नहीं थे। आयोग ने यह मान लिया था कि राज्य की आवश्यकताओं को मापने का सबसे उचित साधन उसकी जनसंख्या ही है। किन्तु, यह उचित नहीं जान पड़ता। वास्तव में, जनसंख्या के साथ-साथ राज्यों के आर्थिक पिछड़ेपन, वित्तीय कठिनाइयों तथा विशेष परिस्थितियों एवं जिम्मेवारियों पर भी उचित ध्यान देना आवश्यक है। आयोग ने आय-कर तथा उत्पाद-शुल्क दोनों के वितरण में उक्त बातों पर अधिक जोर नहीं दिया था। इसी प्रकार किसी राज्य से प्राप्त होने वाली आय को भी वितरण का आधार मानना न्यायसंगत नहीं है। बम्बई जैसे धनी राज्य की आवश्यकताएं असम एवं उड़ीसा जैसे राज्यों से निश्चय ही बहुत कम है। अतः न्यायोचित यह होता कि गरीब एवं पिछड़े राज्यों को, चाहे उनकी जनसंख्या कम हो अथवा अधिक, धनी एवं विकसित राज्यों की तुलना में राजस्व के वितरण में प्राथमिकता प्रदान की जानी चाहिए थी। किन्तु, आय-कर एवं उत्पाद शुल्क के वितरण में आयोग ने इस बात पर उचित ध्यान नहीं दिया।

भारत सरकार ने प्रथम वित्त-आयोग की सभी सिफारिशों को स्वीकार कर लिया। वास्तव में, आयोग की सिफारिशों के कार्यान्वियन से केन्द्र एवं राज्यों के वित्तीय सम्बन्ध में बहुत कुछ सुधार हुआ। साथ ही, आयोग की सिफारिशें नेमियर तथा देशमुख के निर्णय की अपेक्षा अधिक न्यायोचित भी थीं। इसके फलस्वरूप राज्यों को केन्द्र से प्रतिवर्ष २१ करोड़ रुपये की अतिरिक्त रकम प्राप्त होने लगी। आयोग ने पिछड़े राज्यों को विशेष अनुदान की व्यवस्था कर संघ की वित्तीय व्यवस्था में एक नये अध्याय का समावेश किया। अन्य वित्त आयोगों ने भी प्रथम आयोग द्वारा दिखाये गये मार्ग का अनुसरण कर पिछड़े राज्यों की समस्याओं के समाधान में विशेष सहयोग प्रदान करने का प्रयास किया था।

द्वितीय वित्त आयोग

(Second Finance Commission)

संविधान के २८० वें अनुच्छेद में यह व्यवस्था है कि प्रति पाँच वर्षों पर राष्ट्रपति द्वारा एक वित्त आयोग की नियुक्ति की जायगी। इसी आधार पर जून, १९५६ ई० में श्री के० सन्तानम की अध्यक्षता में द्वितीय वित्त आयोग की नियुक्ति हुई जिसने सितम्बर, १९५७ ई० में अपना प्रतिवेदन प्रस्तुत किया। द्वितीय आयोग की सिफारिशों से राज्यों को पहले से अधिक लाभ हुआ तथा इन्हें केन्द्र से अनुदान एवं अंशदान के रूप में प्रायः १४० करोड़ रुपये मिलने लगे (रेलवे भाड़ा पर लगाये गये कर से प्राप्त १५ करोड़ रुपये के अतिरिक्त) जबकि प्रथम वित्त आयोग की सिफारिशों के आधार पर इन्हें औसत रूप से वार्षिक ९३ करोड़ रुपये ही प्राप्त होते थे।

आयोग ने आय-कर में से राज्यों को अंशदान के रूप में मिलने वाली रकम को ५५ प्रतिशत से बढ़ाकर ६० प्रतिशत कर दिया। केन्द्र द्वारा शासित प्रदेशों को शुद्ध-प्राप्ति (Net proceeds) के १ प्रतिशत भाग देने की व्यवस्था की गयी। आयोग ने विभिन्न राज्यों के बीच इस अंशदान के वितरण में १० प्रतिशत भाग राज्यों द्वारा संग्रहित आय के अनुपात में तथा ९० प्रतिशत भाग उनकी जनसंख्या के अनुपात में वितरित करने की सिफारिश की। (प्रथम आयोग के अनुसार २० प्रतिशत संग्रहित आय तथा ८० प्रतिशत जनसंख्या के आधार पर वितरण किया जाता था।)

द्वितीय वित्त आयोग की मुख्य सिफारिशें

राज्य	आय-कर का हिस्सा (६०%)	केन्द्रीय उत्पाद-कर का हिस्सा (२५%)	जूट निर्यात कर के बदले में अनुदान	२७५(i) अनुच्छेद के अन्तर्गत का अनुदान	मृत्यु-कर[1] का हिस्सा (९९%)	रेलवे भाड़े पर कर का हिस्सा (९९.७५%)
	प्रतिशत	प्रतिशत	लाख रुपये में	लाख रुपये में	प्रतिशत	प्रतिशत
१. आन्ध्र	८.१२	९.३८	....	४००	८.७६	८.८६
२. असम	२.४४	३.४६	७५.००	४०५	२.७३	२.७१
३. बिहार	९.९४	१०.५७	७२.३१	३५०	१०.८६	१०.३१
४. बम्बई	१५.९७	१२.१७	....	—	१३.५२	१०.२८
५. केरल	३.६४	३.८३	....	१७५	३.७१	१.८१
६. मध्य प्रदेश	६.७२	७.४६	....	३००	७.३०	८.३१
७. मद्रास	८.४०	७.५६	....	—	८.१०	६.०६
८. मैसूर	५.१४	६.५०	....	६००	५.५३	४.४५
९. उड़ीसा	३.७३	४.४६	१५.००	३३५	४.१०	४.३८
१०. पंजाब	४.२४	४.५१	....	२२५	४.१२	२.११
११. राजस्थान	४.०१	४.७१	....	२३०	४.७७	६.७७
१२. उत्तर प्रदेश	१६.३६	१५.६४	....	—	१७.७०	१८.७६
१३. पश्चिमी बंगाल	१०.०८	७.५१	१५०.६१	३८५	७.३७	६.३१
१४. जम्मू एवं कश्मीर	१.३३	१.३२	....	३००	१.२४	—

१. इसमें अस्थायी सम्पत्ति के अतिरिक्त केवल अन्य प्रकार की सम्पत्ति से संग्रहित कर सम्मिलित हैं।

प्रथम वित्त-आयोग ने तम्बाकू, दियासलाई तथा वनस्पति घी पर लगाये गये उत्पाद-शुल्क के ४० प्रतिशत भाग को राज्यों में बाँटने की सिफारिश की थी। द्वितीय आयोग ने उत्पाद-शुल्क में राज्यों के हिस्से को ४० प्रतिशत से घटाकर २५ प्रतिशत करने की सिफारिश की। किन्तु तम्बाकू, दियासलाई तथा वनस्पति घी के अतिरिक्त राज्यों को चीनी, चाय, कहवा तथा कागज के उत्पाद-शुल्क की रकम में से ९० प्रतिशत जनसंख्या के आधार पर वितरित करने की सिफारिश की गयी। मिल के कपड़े, चीनी तथा तम्बाकू पर बिक्री कर की जगह लगाये जाने वाले अतिरिक्त उत्पाद-शुल्क में से १ प्रतिशत केन्द्रीय शासित प्रदेशों को तथा १½ प्रतिशत जम्मू एवं कश्मीर राज्य को देने की सिफारिश की गयी। शेष रकम के विभिन्न राज्यों में विभाजन के लिए भी आयोग ने एक निश्चित प्रतिशत निर्धारित किया था।

मृत्यु-कर, जो सर्वप्रथम १९५४ ई० में लगाया गया था, की आय को विभिन्न राज्यों के बीच आय-कर के अनुपात में ही विभाजित किया जाता था। आयोग ने इस सम्बन्ध में यह सिफारिश की थी कि केन्द्र द्वारा शासित प्रदेशों के लिए १ प्रतिशत काट कर कुल आय में से स्थायी सम्पत्ति से मृत्यु-कर के रूप में प्राप्त आय को राज्यों के बीच उनकी स्थायी सम्पत्ति से संग्रहित आय के आधार पर तथा शेष रकम को राज्यों की जनसंख्या के आधार पर विभाजित किया जाना चाहिए।

रेलों के भाड़े पर लगाये कर (Tax on Railway fares) के सम्बन्ध में आयोग ने यह सिफारिश की कि इससे प्राप्त कुल आय में से १ प्रतिशत केन्द्र द्वारा शासित प्रदेशों के लिए काटकर शेष राज्यों के बीच बाँट देना चाहिए।

द्वितीय वित्त आयोग की सिफारिशों के आधार पर राज्यों को केन्द्र से अंशदान एवं अनुदान के रूप में प्रतिवर्ष १४० करोड़ रुपये प्राप्त होने लगे जब कि प्रथम आयोग की सिफारिशों के आधार पर उन्हें औसतन ९३ करोड़ रुपये प्रतिवर्ष ही प्राप्त होते थे। इस प्रकार राज्यों के लिए द्वितीय आयोग की सिफारिशें निश्चय ही लाभदायक थीं। आयोग की सिफारिशों का सविस्तार विवरण पृष्ठ ७८३ पर दिया गया है।

तृतीय वित्त आयोग

(Third Finance Commission)

संविधान के २८० वें अनुच्छेद के अनुसार राष्ट्रपति ने २ दिसम्बर, १९६० ई० को तृतीय वित्त आयोग की नियुक्ति की जिसने १४ दिसम्बर' १९६१ ई० को अपना प्रतिवेदन प्रस्तुत किया। तृतीय वित्त आयोग को निम्नलिखित विषयों के सम्बन्ध में अपना प्रतिवेदन देना था—(क) करों से प्राप्त शुद्ध आय का केन्द्र एवं राज्यों के बीच किस सिद्धान्त के अनुसार विभाजन हो; तथा (ख) किस आधार पर केन्द्रीय सरकार राज्य को अनुदान दे। इनके अतिरिक्त आयोग को राष्ट्रपति को निम्नांकित विषयों के सम्बन्ध में भी सिफारिशें देनी थीं—(i) तृतीय पंचवर्षीय योजना की आवश्यकताओं एवं राज्य के साधनों को ध्यान में रखते हुए राज्यों के बीच अनुदान विभाजन का क्या सिद्धान्त होना चाहिए, (ii) कृषि भूमि के अतिरिक्त सम्पत्ति पर लगाये गये मृत्यु-कर को राज्यों के बीच किस आधार पर वितरित किया जाय, (iii) रेलवे भाड़े पर लगाये गये कर से प्राप्त शुद्ध आय का राज्यों के बीच किस आधार पर वितरण किया जाय, तथा (iv) सूती-वस्त्र, रेशम, ऊनी-वस्त्र, चीनी, तम्बाकू आदि वस्तुओं पर विक्रय-कर के बदले लगाया गया उत्पादन-कर किस सिद्धान्त के आधार पर वितरित किया जाय।

तृतीय वित्त आयोग की प्रमुख सिफारिशें निम्नलिखित हैं :—

मृत्यु-कर :—१ अप्रैल, १९६२ ई० से लेकर ४ वर्षों तक कृषि-भूमि के अतिरिक्त अन्य सभी प्रकार की सम्पत्ति से प्राप्त कुल आय में से १ प्रतिशत केन्द्र द्वारा शासित प्रदेशों (Union Territories) के लिए रखा जाय। इसके बाद शेष को गतिशील (Movable) एवं अगतिशील (Immovable) सम्पत्ति से प्राप्त आय के आधार पर अलग-अलग किया जाय और अगतिशील जायदाद से प्राप्त आय का विभाजन विभिन्न राज्यों के बीच प्रत्येक राज्य की कुल अगतिशील सम्पत्ति के अतिरिक्त अन्य प्रकार की सम्पत्ति से प्राप्त आय को विभिन्न राज्यों के बीच पृष्ठ ७८६ पर दी गयी तालिका के अनुपात में वितरित किया जाय।

अनुदान (Grants-in-aid):—संविधान की धारा २३५ (क) के अन्तर्गत पृष्ठ ७८६ पर दी गयी तालिका के अनुसार केन्द्रीय सरकार राज्य सरकारों को अनुदान देगी।

आय-कर (Income-Tax):—कृषि आय तथा केन्द्रीय सरकार द्वारा दिये गये पारिश्रमिक के ऊपर संग्रहित कर के अतिरिक्त सभी प्रकार की आय पर प्राप्त आय कर का ६६$\frac{2}{3}$ प्रतिशत राज्यों के बीच पृष्ठ ७८६ की तालिका के अनुसार वितरित किया जाय। द्वितीय वित्त आयोग के अनुसार राज्यों को आय का ६० प्रतिशत वितरित किया जाता था। आय-कर में केन्द्र शासित क्षेत्रों का हिस्सा २ प्रतिशत होगा।

केन्द्रीय उत्पाद-कर (Central Excise Duties):—१ अप्रैल, १९६२ ई० से लेकर ४ वर्षों तक आयोग द्वारा वर्णित वस्तुओं के उत्पाद-कर से प्राप्त कुल आय को पृष्ठ ७८६ की तालिका के अनुसार बाँट दिया जाय।

अतिरिक्त उत्पाद-कर (Additional Excise Duties):—१ अप्रैल, १९६२ ई० से लेकर चार वर्षों तक सूती-वस्त्र, कृत्रिम रेशम के कपड़े, रेशमी वस्त्र, ऊनी-वस्त्र, चीनी तथा तम्बाकू पर विक्रय-कर के बदले में लगाये गये उत्पाद-कर में से १ प्रतिशत केन्द्र द्वारा शासित प्रदेशों के लिए, १ प्रतिशत जम्मू एवं कश्मीर के लिए तथा शेष को विभिन्न राज्यों में निम्न प्रकार से वितरित किया जाय—(क) १९५६-५७ ई० में इन वस्तुओं के विक्रय-कर से विभिन्न राज्यों को प्राप्त आय की रकम के बराबर रकम उन्हें दी जाय तथा शेष को पृष्ठ ७८६ की तालिका में अंकित अनुपात में वितरित किया जाय। (ख) शेष रकम का वितरण विभिन्न राज्यों के बीच पृष्ठ ७८६ पर अंकित तालिका के अनुसार किया जाय।

रेलवे पैसेन्जर फेयर पर कर के बदले अनुदान (Grant in lieu of tax on railway Passenger fare):—आयोग ने रेलवे पैसेन्जर फेयर पर कर के बदले १ अप्रैल, १९६२ ई० से प्रतिवर्ष १२·५ करोड़ रुपये राज्यों के बीच वितरित करने की सिफारिश की।

तृतीय वित्त-आयोग की प्रमुख सिफारिशें ७८६ पृष्ठ की तालिका से स्पष्ट है। तृतीय वित्त-आयोग की सिफारिशों से राज्यों को निस्सन्देह पहले की अपेक्षा बहुत अधिक साधन प्राप्त हुए हैं। वास्तव में, राज्यों को बढ़ते हुए दायित्व को देखते हुए ऐसा आवश्यक भी जान पड़ता है।

तृतीय वित्त आयोग की सिफारिशों की समीक्षा (An Appraisal of the Recommendations of the Third Finance Commission):—तृतीय वित्त आयोग की सिफारिशों से राज्यों को निस्सन्देह पहले की अपेक्षा अधिक साधन प्राप्त हुए हैं। वास्तव में, राज्यों के बढ़ते हुए दायित्व को देखते हुए यह आवश्यक भी जान पड़ता है। किन्तु आयोग द्वारा प्रस्तावित राज्यों के अनुदान की सम्पूर्ण रकम सरकार द्वारा नहीं स्वीकार की गयी। इससे केवल १० राज्य ही लाभान्वित हुए तथा बिहार, महाराष्ट्र, पंजाब, उत्तरप्रदेश एवं पश्चिमी बंगाल पाँच राज्य लाभान्वित नहीं हुए। इससे इन राज्यों की वित्तीय कठिनाइयाँ बहुत ही बढ़ गयीं।

तृतीय वित्त आयोग की मुख्य सिफारिशें

राज्य	मृत्यु-कर का हिस्सा[1]	आय कर का हिस्सा ६६⅔	२७५ (i) अनुच्छेद के अन्तर्गत अनुदान (लाख रुपये में)		३५ वस्तुओं के उत्पाद-कर से प्राप्त आय का हिस्सा	रेलवे के भाड़े पर कर के बदले १२·५० करोड़ रुपये	अतिरिक्त उत्पाद-कर	
	प्रतिशत	प्रतिशत	राज्य के राजस्व को	संचार के विकास के लिए अतिरिक्त	प्रतिशत		१९५६-५७ में राज्यों की आय लाख रुपये में	शेष का प्रतिशत
१. आन्ध्र	८.३४	७.७१	१२००	५०	८·२३	१·११	२३५·६४	७·८१
२. असम	२·७५	२·४४	९००	७५	४·७३	०·३४	८५·०८	२·५०
३. बिहार	१०·७८	९·३३	८००	७५	११·५६	१·१७	१३०·१६	१३·००
४. गुजरात	४·७८	४·७८	९५०	१००	६·४५	०·६८	३२३·४५	५·४०
५. जम्मू एवं कश्मीर	०·८३	०·७०	३२५	५०	२·०२	—	—	—
६. केरल	३·९२	३·५५	८५०	७५	५·४६	०·२३	९५·०८	४·२५
७. मध्य प्रदेश	७·५१	६·४१	२६५	१७५	८·४६	१·०४	१५५·१७	७·००
८. तमिलनाडु	७·८०	८·१३	८००	...	६·०८	०·८१	२८५·३४	९·००
९. महाराष्ट्र	९·१६	१३·४१	...	...	५·७३	१·३५	६३७·७७	१०·६०
१०. मैसूर	५·४६	५·१३	७७५	५०	५·८२	०·५६	१००·१०	५·२५
११. उड़ीसा	४·०८	३·४४	१६००	१७५	७·०७	०·२२	८५·१०	४·५०
१२. पंजाब	४·७१	४·४९	१२७५	—	६·७१	१·०१	१७५·१९	५·२५
१३. राजस्थान	४·६७	३·९७	८७५	७५	५·९३	०·९५	९०·२०	४·००
१४. उत्तर प्रदेश	१७·१०	१४·४२	२००	—	१०·६८	२·३४	५७५·८१	१५·५०
१५. पश्चिमी बंगाल	८·११	१२·०९	८५०	...	५·०७	०·७९	२८०·८१	९·००
कुल	१००·००	१००·००	१००·२५	१००·००	१००·००	१२·५०	३२५४·००	१००·०

१· इसमें अस्थायी सम्पत्ति के अतिरिक्त केवल अन्य प्रकार की सम्पत्ति से संग्रहित कर सम्मिलित हैं।

चतुर्थ वित्त आयोग

(Fourth Finance Commission)

संविधान के २८० वें अनुच्छेद के अनुसार राष्ट्रपति ने ५ मई, १९६४ ई० को डॉ० पी० बी० राजमन्नार की अध्यक्षता में चतुर्थ वित्त आयोग की नियुक्ति की जिसने १२ अगस्त, १९६५ ई० को अपना प्रतिवेदन प्रस्तुत किया। इस वित्त-आयोग को निम्नांकित विषयों पर अपना प्रतिवेदन देना था—(i) करों से प्राप्त शुद्ध आय का केन्द्र एवं राज्यों के बीच किस सिद्धान्त के अनुसार विभाजन हो, तथा (ii) किस आधार पर केन्द्रीय सरकार राज्य सरकारों को अनुदान दे। इनके अतिरिक्त आयोग को निम्नांकित विषयों के सम्बन्ध में भी सिफारिशें करनी थीं :—(क) किन-किन राज्यों को अनुदान की आवश्यकता है और कितनी आवश्यकता है, (ख) संविधान के अनुच्छेद २६९ के अनुसार मृत्यु कर से प्राप्त आय को राज्यों के बीच वितरण के सिद्धान्त में किये जाने वाले परिवर्तन; (ग) रेलवे भाड़े पर कर के बदले राज्यों को दिये जाने वाले अनुदान के सिद्धान्त में परिवर्तन, यदि ऐसा आवश्यक हो; (घ) सूती-वस्त्र, रेशमी तथा कृत्रिम रेशम के वस्त्र, ऊनी-वस्त्र, चीनी तथा तम्बाकू पर राज्यों के विक्रय-कर के बदले लगाये गये अतिरिक्त उत्पाद-कर से प्राप्त शुद्ध आय के राज्यों के बीच वितरण के सिद्धान्त में परिवर्तन, यदि ऐसा आवश्यक हो, (च) उन वस्तुओं जिनके करों का राज्यों के बीच वितरण किया जाता है के उत्पादन, उपभोग तथा निर्यात पर राज्यों के विक्रय कर तथा संघीय उत्पाद-कर के सम्मिलित प्रभाव (Combined incidence) तथा यदि उन पर राज्य के विक्रय-करों में वृद्धि हो तो राज्यों के हिस्से में समायोजन के सम्बन्ध में सिफारिश करना। आयोग की सिफारिशें १ अप्रैल, १९६६ ई० से लेकर ५ वर्षों तक लागू रहने को थीं।

चतुर्थ वित्त आयोग की प्रमुख सिफारिशें निम्नांकित हैं :—

मृत्यु-कर (Death duty) :—आयोग के अनुसार कृषि-भूमि के अतिरिक्त अन्य सभी प्रकार की सम्पत्ति से प्राप्त कर में से २ प्रतिशत केन्द्र द्वारा शासित प्रदेशों (Union territories) के लिए रखा जाय। शेष को अगतिशील (immovable) एवं अन्य (properties other than immovable) सम्पत्ति से प्राप्त आय के आधार पर अलग-अलग किया जाय और अगतिशील सम्पत्ति से प्राप्त आय को विभिन्न राज्यों के बीच इनकी कुल अगतिशील सम्पत्ति के मूल्य के अनुपात में वितरित किया जाय तथा अन्य प्रकार की सम्पत्ति से प्राप्त आय को राज्यों की जनसंख्या के आधार पर इनके बीच वितरित किया जाय।

रेलवे भाड़े पर कर के बदले में अनुदान (Grants in lieu of taxation on Railway Fare) :—१९५७ ई० में रेलवे भाड़े पर एक कर लगाया गया था जिसे १९६१ ई० में रेलवे भाड़े में मिला दिया गया। किन्तु संघीय सरकार ने रेलवे भाड़े के बदले में १२.५० करोड़ रुपये की रकम को राज्यों के बीच वितरित करने का निर्णय किया। चतुर्थ आयोग ने भी इतनी ही रकम को राज्यों के बीच ७८९ पृष्ठ की तालिका के अनुसार वितरित करने की सिफारिश की। चतुर्थ आयोग ने प्रत्येक राज्य के लिए रकम को निश्चित नहीं कर राज्यों के हिस्से प्रतिशत के रूप में दिखलाया है।

आय-कर (Income Tax) :—चतुर्थ वित्त आयोग ने कृषि-आय तथा केन्द्रीय सरकार द्वारा दिये गये पारिश्रमिक के ऊपर संग्रहित कर के अतिरिक्त अन्य सभी प्रकार की आय पर प्राप्त आय कर का ७५ प्रतिशत भाग राज्यों के बीच विभाजित करने की सिफारिश की। तृतीय

आयोग ने इस सम्बन्ध में ६६$\frac{2}{3}$ प्रतिशत के विभाजन की सिफारिश की थी') इसमें से ८० प्रतिशत राज्यों की जनसंख्या के आधार पर तथा २० प्रतिशत उनमें संग्रहित कर के आधार पर वितरित करने की सिफारिश की गयी थी। आयोग ने १९६१ ई० की जनगणना तथा १९६३-६४ ई० के पूर्व तीन वर्षों के औसत संग्रह पर राज्यों के बीच विभाजन का प्रतिशत निशिचत कर दिया जो पृष्ठ ७८९ की तालिका से स्पष्ट है। आय कर में से केन्द्र द्वारा शासित क्षेत्रों (Union territories) का हिस्सा २$\frac{1}{3}$ प्रतिशत निश्चित किया गया था।

केन्द्रीय उत्पाद कर (Union Excise Duty) :—आयोग ने इस बात की सिफारिश की कि १९६६-६७ ई० से लेकर १९७०-७१ तक पाँच वर्षों में संविधान के अनुच्छेद २७२ के अन्तर्गत सभी वस्तुओं के केन्द्रीय उत्पाद-कर से प्राप्त शुद्ध आय का २० प्रतिशत भाग विभिन्न राज्यों के बीच आयोग द्वारा निर्धारित प्रतिशत में विभाजन किया जाय।

अतिरिक्त उत्पाद-कर (Additional duties on Excise in lieu of Sales tax on Sugar, Tobacco and Textiles):—वित्त आयोग ने इस सम्बन्ध में निम्नांकित सिफारिश दी—१९६६-६७ से १९७०-७१ ई० के बीच सूती-वस्त्र, रेशमी एवं कृत्रिम रेशम के वस्त्र, ऊनी वस्त्र, चीनी, तम्बाकू पर विक्रय कर के बदले लगाये गये अतिरिक्त उत्पाद-कर की शुद्ध आय का (क) १ प्रतिशत भाग केन्द्र द्वारा शासित क्षेत्रों (Union Territories) के लिए रखा जाय, (ख) १·५० प्रतिशत भाग जम्मू एवं कश्मीर के लिए पृथक् कर दिया जाय, (ग) ०·०५ नागालैंड राज्य को दिया जाय, तथा (घ) ९७·४५ प्रतिशत भाग में से १९५६-५७ ई० में विभिन्न राज्यों द्वारा इनसे प्राप्त विक्रय-कर की ३२५४ लाख रुपये की रकम के अनुसार उनके बीच विभाजित कर दिया जाय तथा ३२५४ लाख रुपये से अतिरिक्त रकम को राज्यों के बीच आयोग द्वारा निर्धारित प्रतिशत में विभाजित कर दिया जाय।

चतुर्थ वित्त आयोग की प्रमुख सिफारिशें ७८९ पृष्ठ कर दी गयी हैं।

पंचम वित्त आयोग

(Fifth Finance Commission)

३१ अक्टूबर, १९६८ ई० को भारत सरकार ने श्री महावीर त्यागी की अध्यक्षता में पाँचवें वित्त आयोग की नियुक्ति की जिसने ३१ जुलाई, १९६९ को अपना प्रतिवेदन प्रस्तुत किया। आयोग के समक्ष विचाराधीन विषयों में निम्नांकित उल्लेखनीय हैं—(i) वितरण किये जाने वाले करों का केन्द्र एवं राज्यों के बीच विभाजन, (ii) केन्द्रीय सरकार द्वारा राज्यों को दिये जानेवाले अनुदान के लिए सिद्धांतों को निर्धारित करना, (iii) कुछ राज्यों द्वारा अनधिकृत अधिविकर्ष (Unauthorised overdraft) की समस्या तथा उसका निदान, (iv) राज्यों को प्रदत्त विषयों तथा संविधान की २६९ वीं धारा के अन्तर्गत राज्यों की आय में वृद्धि की सम्भावना, तथा (v) चीनी, तम्बाकू एवं वस्त्र पर विक्रय कर की जगह अतिरिक्त उत्पाद-कर की व्यवस्था का पुनरावलोकन।

पंचम वित्त आयोग (Fifth Finance Commission) की प्रमुख सिफारिशें निम्नांकित हैं :—

मृत्यु-कर (Death duty) :— आयोग के अनुसार कृषि-भूमि के अतिरिक्त अन्य सभी प्रकार की सम्पत्ति से प्राप्त मृत्यु-कर में से २ प्रतिशत केन्द्र द्वारा शासित प्रदेशों (Union territories) के लिए रखा जाय। शेष को अगतिशील (immovable) एवं अन्य (Property other

चतुर्थ वित्त आयोग की मुख्य 'सफारिशें

राज्य	मृत्यु-कर का हिस्सा[1]	आय-कर का हिस्सा ७५%	३७५ (i) अनुच्छेद के अन्तर्गत अनुदान (लाख रुपये में)	सभी वस्तुओं के उत्पाद कर से प्राप्त आय (२० प्रतिशत) का हिस्सा	रेलवे भाड़े पर कर के बदले राज्यों का हिस्सा प्रतिशत में	६ वस्तुओं के विक्रय कर के बदले अतिरिक्त उत्पाद-कर	
	प्रतिशत	प्रतिशत	(लाख रुपये में)	प्रतिशत		१९५६-५७ में राज्यों की आय (लाख रु० में)	शेष का प्रतिशत
१. आन्ध्र	८·३४	७·७७	७२२	७·७७	९·०५	२३५·२४	७·४२
२. असम	२·७५	३·३२	१६५२	३·३२	२·७९	८५·०८	१·९८
३. बिहार	१०·७६	१०·०३	...	१०·०३	९·९९	१३०·१६	६·१७
४. गुजरात	४·३८	४·८०	...	४.८०	७·११	३२२·४६	७·४३
५. जम्मू एवं कश्मीर	०·८३	२.२६	६५७	२·२६	....	...	....
६. तमिलनाडु	३·१२	४·१६	२०८२	४·१६	१·८५	९५·०८	५.६५
७. मध्य प्रदेश	७·५०	७·४०	२७०	७·४०	९·८५	१५५·१७	४.६२
८. मद्रास	७·८०	९·१८	९८५	७·१८	५·८१	२८३·३४	११.१३
९. महाराष्ट्र	९·१६	८·२३	...	८·२३	८·९८	६३७·७७	१९·८७
१०. मैसूर	५·४६	५·४१	१८२४	५ ४१	३·९८	१००·१०	५·२१
११. नागालैंड	०·०९	२·२१	७०७	२·२१	०·०१	...	...
१२. उड़ीसा	४·०७	४·८२	२९१८	४·८२	२·१२	८५·१०	२·५८
१३. पंजाब	४·७०	४·८६	...	४·८६	७·४३	१७५·१९	५·०१
१४. राजस्थान	४·३७	५·०६	६७३	५·०६	६·४०	९०·१०	३·१७
१५. उत्तर प्रदेश	१७·०८	१४·९८	...	१४·९८	१८·३३	५३५·८१	७·८३
१६. पश्चिमी बंगाल	८·०९	७·५१	...	७·५१	६·४०	२८०·४१	११·९३
कुल	१००·००	१००·००	१२११०	१००·००	१००·००	३२५१·००	१००·००

१. इसमें अस्थायी सम्पत्ति के अतिरिक्त अन्य प्रकार की सम्पत्ति से संग्राहित कर केवल सम्मिलित है।

केन्द्र तथा राज्यों के बीच आय के वितरण की वर्तमान स्थिति :—पंचम वित्त आयोग की सिफारिशों के पश्चात् केन्द्र तथा राज्यों के बीच आय का वितरण निम्नांकित प्रकार से होता है :—

केन्द्रीय सरकार निम्नांकित करों को लगाती है, वसूल करती है तथा इनसे प्राप्त आय का उपयोग करती है—आयात-निर्यात कर, केन्द्रीय उत्पाद-कर का ८० प्रतिशत भाग, डाक एवं तार, रेलवे, मुद्रा एवं टकसाल तथा रिजर्व बैंक इत्यादि ।

राज्य सरकारें निम्नांकित करों को लगाती हैं, वसूल करती हैं तथा इनकी आय का उपयोग करती हैं— भूमि कर, सिंचाई, स्टाम्प एवं रजिट्रेशन, विक्रय कर, मनोरंजन कर, कृषि-आय कर, तथा विद्युत् कर, इत्यादि ।

केन्द्रीय सरकार निम्नांकित करों को लगाती है, वसूल करती है तथा इनकी सम्पूर्ण आय को राज्य सरकारों को हस्तांतरित कर देती है—मृत्यु कर, स्टाम्प कर, तथा रेलवे पैसेंजर कर ।

इनके अतिरिक्त केन्द्रीय सरकार आय कर एवं निगम कर लगाती है तथा सम्पूर्ण निगम कर एवं केन्द्रीय सरकार के कर्मचारियों से वसूल आय कर के अतिरिक्त शेष आय कर के ७५ प्रतिशत भाग को राज्यों के बीच वितरित कर देती है ।

आय कर के वितरण के सम्बन्ध में विभिन्न वित्त आयोगों के प्रतिवेदन का अन्दाजा निम्नांकित तालिका से लगता है—

आयोग	आयकर में राज्यों का हिस्सा (प्रतिशत) में	आय कर का वितरण (प्रतिशत) में	
		जनसंख्या	कर की प्राप्ति
प्रथम वित्त आयोग	५५	८०	२०
द्वितीय वित्त आयोग	६०	९०	१०
तृतीय वित्त आयोग	६६·६	८०	२०
चतुर्थ वित्त आयोग	७५	८०	२०
पंचम वित्त आयोग	७५	९०	२०

छठा वित्त आयोग (Sixth Finance Commission) :—जुलाई, १९७२ ई० में राष्ट्रपति ने श्री के० ब्रह्मानन्द रेड्डी की अध्यक्षता में छठे वित्त आयोग की नियुक्ति की, छठे वित्त आयोग को भी उन्हीं विषयो पर अपना प्रतिवेदन देना है जिन पर पहले के वित्त आयोगों ने विचार किया था ।

विशेष अध्ययन-सूची

1. B. R. Mishra : Indian Federal Finance.
2. Taxation Inquiry Commission Report.
3. Reports of the First, Second, Third, Fourth and Fifth Finance Commissions.
4. India, 1971-72.

अध्याय : ५०

केन्द्रीय एवं राज्य सरकारों का आय-व्यय

(Income and Expenditure of the Central and State Governments)

बजट का अर्थ एवं महत्त्व (Meaning and Importance of the Budget) :— भारतीय संविधान में केन्द्र तथा राज्य सरकारों के कार्यों का अलग-अलग उल्लेख किया गया है। उदाहरण के लिए, केन्द्र के जिम्मे सुरक्षा, यातायात, करेंसी, बैंकिंग एवं अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध आदि तथा राज्य सरकारों के जिम्मे पुलिस, शिक्षा, चिकित्सा, कृषि तथा वन इत्यादि हैं। इसी प्रकार संविधान में राज्यों तथा केन्द्र के बीच आय एवं व्यय के साधनों के भी वितरण की व्यवस्था है। **संविधान के अनुसार केन्द्रीय सरकार की आय के निम्नांकित प्रमुख साधन हैं—** आयात-निर्यात कर, उत्पाद-कर, आय-कर, निगम-कर, रेलवे डाक-तार, मुद्रा एवं टकसाल तथा रिजर्व-बैंक से प्राप्त आय, इत्यादि। इसी प्रकार केन्द्रीय सरकार के व्यय की निम्नलिखित प्रधान मदें हैं : सुरक्षा व्यय, कर वसूलन का व्यय एवं नागरिक व्यवस्था-सम्बन्धी व्यय इत्यादि।

सभी सरकारें प्रति वित्तीय वर्ष के प्रारम्भ में अपने एक वर्ष के संभावित आय एवं व्यय का एक ब्योरा संसद् के सम्मुख प्रस्तुत करती है जिसे आय-व्ययक या बजट (Budget) कहते हैं। भारत सरकार भी प्रतिवर्ष अपना बजट संसद् में प्रस्तुत करती है। देश के आर्थिक जीवन में बजट का बड़ा ही महत्त्वपूर्ण स्थान होता है। वास्तव में, बजट प्रत्येक देश की आर्थिक नीतियों को व्यावहारिक स्वरूप प्रदान करता है। देश की आर्थिक नीति उसी से परिलक्षित होती है। बजट से देश में वस्तुओं एवं सेवाओं की कुल मांग प्रभावित होती है और उसी पर देश में बचत एवं विनियोग का स्तर, आय एवं रोजगार का स्तर आदि निर्भर करते हैं। बजट में परिवर्तन से देश की सम्पूर्ण अर्थ-व्यवस्था में ही परिवर्तन हो जाता है। वास्तव में, बजट अथवा राजकोषीय नीति में परिवर्तन के द्वारा देश की सम्पूर्ण आर्थिक रूप-रेखा को ही परिवर्तित किया जा सकता है।

बजट के विभिन्न रूप :—बजट निम्नांकित तीन प्रकार के होते हैं : —

(१) आधिक्य का बजट (Surplus Budget) :—जब राज्य को जो आय प्राप्त होती है उससे कम रकम व्यय की जाती है तो इसे आधिक्य का बजट कहते हैं। उदाहरण के लिए, यदि आय १०० करोड़ रुपये और व्यय ८० करोड़ रुपये हो, तो यह आधिक्य का बजट कहा जायगा।

(२) घाटे का बजट (Deficit Budget) :—जब राज्य आय से अधिक व्यय करता है तो इसे घाटे का बजट (Deficit Budget) कहते हैं। उदाहरण के लिए, यदि आय १०० करोड़ रुपये तथा व्यय १२० करोड़ रुपये हो तो इसे घाटे का बजट कहते हैं।

(३) संतुलित बजट (Balanced Budget) :—इसके विपरीत जब राज्य के बजट में आय एवं व्यय दोनों बराबर होते हैं तो इसे संतुलित बजट कहते हैं। उदाहरण के लिए, जब आय तथा व्यय दोनों ही १०० करोड़ रु० हो तो यह संतुलित बजट हुआ।

१९७२-७३ ई० का भारत सरकार का बजट

(Budget of the Government of India for the Year 1972-73)

मार्च, १९७२ ई० में वित्त मन्त्री श्री वाई० वी चौहान ने भारतीय संसद् के सम्मुख १९७२-७३ का बजट प्रस्तुत किया। इस बजट के अन्तर्गत राजस्व खाते में १९७२-७३ ई० में कुल ४४११ करोड़ रुपये आय के रूप में प्राप्त होने की आशा है। १९६७-६८ ई० के संशोधित अनुमान के अनुसार भारत सरकार की कुल आय की रकम २५३१.९ करोड़ रुपये तथा १९७१-७२ के संशोधित अनुमान के अनुसार ३८४६ करोड़ रुपये थी। इसी प्रकार १९७२-७३ ई० में केन्द्रीय सरकार का राजस्व खाते में कुल अनुमानित व्यय ४१२४ करोड़ रुपये है। १९६७-६८ ई० के संशोधित अनुमान के अनुसार राजस्व खाते में व्यय की कुल रकम २४८४.८७ करोड़ रुपये थी।

नीचे भारत सरकार के १९७२-७३ का बजट दिया गया है :—

१९७२-७३ के बजट के अनुसार केन्द्रीय सरकार के आय एवं व्यय की प्रमुख मदें

राजस्व बजट (Revenue Budget) (लाख रुपये में)

साधन	१९६२-६३	१९६९-७० (संशोधित)	१९७२-७३ (बजट)
आय के साधन (Sources of Income)			
आयात-निर्यात कर	२५४,९६	४१०,००	७२२,००
संघीय उत्पाद-शुल्क	५९८,८३	१५२५,०६	२४७४,७५
निगम कर	२२१,५०	३२०,००	४९३,५०
आय-कर	१८५,९६	४००,००	५८३,००
मृत्यु-कर	३९४	७,५०	८,००
सम्पत्ति-कर (Taxes on Wealth)	९५४	१४,००	४३,००
अन्य कर	—	४९,७८	८७,५०
सूद-सेवाएँ	१५३,२३	५७३,४६	६८६,६७
मुद्रा एवं टकसाल	५४,२३	९४,८४	१४५,३०
अन्य गैर-करों से प्राप्त आय	७१३	१८६,८१	२८८,३०
कुल आय		३५८७,१५	५५३२.०२

१. प्रतिवर्ष भारत सरकार को बजट २८ फरवरी को प्रस्तुत किया जाता है; किन्तु १९७२ में बजट संसद् के समक्ष मार्च, १९७२ में प्रस्तुत किया गया।

व्यय की प्रधान मदें (Main Heads of Expenditure)

प्रतिरक्षा (Defence)	४२५,३०	६७९,३२	१२१८,५९
करों की वसूली	२३,४७	४३,९३	५७,७९
प्रशासनिक सेवाएँ	१५९,२०	१७७,३२	२६७,५६
सूद	२४५,४३	५६८,५६	७३०,०१
सामाजिक एवं विकासात्मक सेवाएं	१५९,२०	२६६,५३	४३३,२१
अन्य मदें	—	६२,९२	९९,५८
मुद्रा एवं टकसाल	२२,०३	२६,८६	२२,०३
विविध सेवाएं	१०४,४५	२४२,३७	४०५,०३
विशेष मदें	—	१६,५५	१०,६०
राज्यों को अनुदान एवं अन्य	३२३,३९	५९२,०६	८९७,८७
कुल	—	२९७६,४२	४१२४,२६

उपरोक्त तालिका को देखने से राजस्व खाते में केन्द्रीय सरकार की आय एवं व्यय की विभिन्न मदों का अन्दाजा लगता है।

भारत सरकार का पूंजीगत बजट (लाख रुपये में)

(Capital Budget of the Govt. of India)

पूंजीगत प्राप्तियां	१९६६-६७ (संशोधित)	१९७२-७३ (बजट)
१. राजकीय ऋण		
भारत से	२७९,२९	२१४,७८
विदेशों से (PL 480 के अतिरिक्त)	६४२,२४	३६२,७६
२. PL 480 कोष में जमा	३२२,२६	..१,३४
३. ऋण एवं अनुदान का भुगतान	३८४,००	१२२,९००
४. अल्प बचत (शुद्ध)	१२५,००	२३०,३५
५. अन्य	...	२५८,९३
कुल पूंजीगत प्राप्तियाँ	..	२०९४,४८
पूंजीगत व्यय		
१. नागरिक व्यय	३२६,१७	४२०,१७
२. रेलवे	१७५,७१	१५८,७०
३. पोस्ट एवं टेलिग्राफ	२७,६०	५३,००
४. प्रतिरक्षा	११४,९६	१८९,७७
५. ऋण एवं अग्रिम		
राज्य एवं केन्द्रीय क्षेत्र	१४१३,३४	१८६६,७८
अन्य		
कुल पूंजीगत व्यय	......	२६८८,४२

केन्द्रीय सरकार की आय के प्रमुख साधन

(Main Sources of Revenue of the Central Govt.)

आय-कर (Income Tax) :—आय-कर का भारतीय कर-व्यवस्था में बड़ा ही महत्त्वपूर्ण स्थान है। यह एक प्रत्यक्ष कर (Direct Tax) है। भारत में आय-कर सर्वप्रथम १८६० ई० में लगाया गया था। किन्तु १८६५ ई० में कुछ कारणों से इस बन्द कर दिया गया। पुन: १८६९ ई०. में यह कर लगाया गया और तब से इसका भारतीय कर-व्यवस्था में एक प्रमुख स्थान हो गया है। १८८६ ई० में आमूल परिवर्तन लाकर इसे सरकारी आय का एक स्थायी साधन बनाया गया। तबसे इसमें समय-समय पर देश की वित्तीय आवश्यकताओं के अनुसार परिवर्तन होते रहे हैं। कर-मुक्त आय की सीमा को ५०० रुपये से बढ़ाकर १९०३ ई० में १००० तथा १९१९ ई० में २००० रुपया कर दिया गया। प्रथम युद्ध-काल में एक अतिरिक्त कर (Super Tax) लगाया गया जिसे युद्ध के उपरान्त बन्द कर दिया गया। १९३१ ई० कर-मुक्त आय की सीमा को घटाकर १००० रुपये कर दिया गया। १९३५ ई० में छोटी-छोटी आय पर कर की दरों में कमी कर दी गयी तथा कर-मुक्त आय की सीमा को बढ़ाकर २००० रुपये कर दिया गया। १९३९ ई० में क्रम-पद्धति (Step System) की जगह पर खण्ड-पद्धति (Slab System) को अपनाया गया। इस पद्धति के अन्तर्गत आय के प्रत्येक खण्ड पर बिभिन्न दरों से कर लगाया जाता है। मर्च, १९४० ई० में एक अतिरिक्त लाभ-कर (Excess Profit Tax) लगाया गया जिसके द्वारा सभी युद्ध-जनित आसाधारण लाभों पर १० प्रतिशत का एक कर लगाया जाता था। आगे चलकर अर्जित (earned) तथा अनार्जित वृद्धि हुई। किन्तु युद्ध-काल के बाद दरों में कमी की गयी तथा अतिरिक्त लाभ कर को हटा दिया गया।

वर्तमान समय में भारतीय आय-कर की निम्नांकित प्रमुख विशेषताएँ हैं—

(१) यह कर केवल शुद्ध आय पर लगाया जाता है, यानी आय में से उसे उत्पन्न करने का खर्च घटा दिया जाता है।

(२) कर भारतवासियों को देना पड़ता है। विदेशी अपनी आय के केवल उसी भाग पर कर देते हैं जो भारत में उत्पन्न की गयी हो।

(३) तीसरी विशेषता यह है कि आय कर खण्ड प्रणाली (Slab System) के अनुसार लगाया जाता है। इसके अनुसार कुल आय विभिन्न खण्डों में विभाजित कर दी जाती है तथा निम्नतम खण्ड पर किसी प्रकार का कर नहीं लगाया जाता है।

(४) १९६५-६६ ई० से सभी प्रकार की आयों पर कर लगाया जाता है। इसमें से

१९७०-७१ ई० के बजट में आय कर के लिए आय की न्यूनतम सीमा को सभी व्यक्तियों के लिए ५००० रुपये किया गया है।

१९६०-६१ ई० में आय-कर से १६७ करोड़ रुपये तथा १९६१-६२ ई० में १६५ करोड़ रुपये की आय हुई थी। १९६७-६८ ई० के संशोधित अनुमान के अनुसार आय कर से ३०० करोड़

रुपये तथा १९७२-७३ ई० के बजट के अनुसार ५८३ करोड़ रुपये की आय का अनुमान है। पंचम वित्त आयोग की सिफारिशों के अनुसार आय कर से प्राप्त कुल आय का ७५ प्रतिशत भाग राज्य सरकारों के बीच आयोग द्वारा निश्चित प्रतिशत में विभाजित कर दिया जाता है।

वर्त्तमान समय में चीनी एवं पाकिस्तानी आक्रमण से उत्पन्न संकट की स्थिति का सामना करने के लिए सुरक्षा एवं विकास दोनों क्षेत्रों में बहुत अधिक व्यय की आवश्यकता को ध्यान में रखते हुए आय कर की दरों में वृद्धि की गयी। १९६३-६४ ई० के बजट में वित्त मन्त्री श्री मोराजी देशाई ने आय-कर की दरों में बहुत अधिक वृद्धि किया था। साथ ही, कर के बाद बची आय पर एक अतिरिक्त कर (Additional Surcharge) भी लगाया गया था। किन्तु, करदाता अनिवार्य बचत (Compulsory Deposit) में रुपया जमाकर इस अतिरिक्त कर की दर में करा सकता था। इसी प्रकार कोई एक व्यक्तिगत नियोक्ता (Individual employer) एक साल में कर्मचारियों की तनख्वाह आदि के रूप में ६० हजार रूपये से अधिक नहीं दे सकता था। इस तरह १९६३-६४ ई० के बजट में आय कर की दरों में बहुत अधिक वृद्धि की गयी थी। इस परिवर्तनों के परिणामस्वरूप १९६३-६४ ई० में आय-कर से ३९ करोड़ रुपये अतिरिक्त आय की आशा की गयी थी।

१९६४-६५ ई० के बजट में श्री टी० टी० कृष्णामाचारी ने अनिवार्य बचत को समाप्त कर इसके स्थान पर वार्षिक जमा योजना (Annuity Deposit Scheme) लागू किया जो केवल १५००० रुपये से अधिक वार्षिक आय वाले व्यक्तियों पर ही लागू होता था। साथ ही, १९६३-६४ ई० में लगाये गये अतिरिक्त कर को आय-कर एवं सुपर कर में मिला दिया गया। १९६५-६६ ई० के बजट में श्री कृष्णामाचारी ने आय कर की दरों में हरेक स्तर पर कमी की थी तथा आय कर को अत्यधिक सुविधाजनक बनाने का प्रयास किया। १९६७-६८ ई० में आश्रित पिता तथा माता के लिए कुछ छूट की व्यवस्था की गयी। १९६८-६९ ई० में वार्षिक जमा योजना को भी समाप्त कर दिया गया। १९७०-७१ ई० के बजट में ऊँची आय पर करों की दर में और वृद्धि की गयी।

१९७१-७२ ई० के संशोधित अनुमान के अनुसार इस मद में कुल ५४३ करोड़ रुपये की आय हुई थी जब कि १९७२-७३ ई० के बजट में ५८३ करोड़ रुपये की आय का अनुमान है। १९७१-७२ ई० के बजट में आय-कर सम्बन्धी प्रस्तावों में महत्वपूर्ण संशोधन किये गये थे। उदाहरण के लिए १५ हजार रुपये से अधिक आय पर अतिरिक्त सरचार्ज (Additional surcharge) की रकम को १० प्रतिशत से बढ़ाकर १५ प्रतिशत कर दिया गया। किन्तु १९७२-७३ ई० के बजट में आय कर में प्राय: कोई परिवर्तन नहीं किया गया है।

अधिकतम आय की सीमा (Ceiling on Income);—भारत में गत कुछ वर्षों से व्यक्तिगत आय की सीमा-निर्धारण के सम्बन्ध में भी बातचीत चल रही है। कर जाँच आयोग (Taxation Enquiry Commission) के अनुसार व्यक्तिगत आय की अधिकतम सीमा निश्चित कर देनी चाहिए, जो कर देने के पश्चात् देश में औसत प्रति परिवार की आय के ३७ गुना से अधिक नहीं होनी चाहिए। किन्तु इस प्रकार की सीमा-निर्धारण केवल कर के द्वारा ही सम्भव नहीं है, वरन् इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए बहुत-से प्रयत्नों की आवश्यकता पड़ेगी। साथ ही, इसे शीघ्रतापूर्वक लागू भी नहीं किया जा सकता। कर जाँच आयोग की उपरोक्त सिफारिशों के बाद देश में समाजवादी विचारधारा के व्यक्तियों ने अधिकतम आय की सीमा के निर्धारण के लिए नारा बुलन्द करना आरम्भ किया।

किन्तु व्यक्ति की आय की अधिकतम सीमा-निर्धारण के क्षेत्र में बहुत-सी व्यावहारिक कठिनाइयाँ हैं। साथ ही, आय में व्याप्त विषमता को इस सीमा-निर्धारण के द्वारा दूर नहीं किया जा सकता है। हमारे भूतपूर्व प्रधान मन्त्री श्री जवाहरलाल नेहरू ने आय की अधिकतम सीमा-निर्धारण के द्वारा समाजवाद लाने के सम्बन्ध में कहा था कि "समाजवाद का अर्थ निर्धनता नहीं है, इसका अर्थ एक निश्चित ऊँचाई से अधिकतम आय वाले व्यक्तियों के सर को काटना नहीं है।"[1] इसके लिए समाज में अधिकतम आय वाले व्यक्ति की आय को कर के द्वारा कम करना तथा कम आय वाले व्यक्ति की आय को सार्वजनिक सुविधाओं की व्यवस्था द्वारा बढ़ाने का प्रयत्न करना होगा।

प्रो० काल्डोर के अनुसार भी समाज में व्याप्त आर्थिक विषमता को आय की सीमा-निर्धारण द्वारा नहीं दूर किया जा सकता। इस प्रकार व्यक्तिगत आय की अधिकतम सीमा-निर्धारण का समाज पर बहुत अच्छा प्रभाव नहीं पड़ेगा। इससे आर्थिक क्षेत्र में प्रेरणा (Incentive) के समाप्त होने की आशंका है।

निगम कर (Corporation Tax):—यह रजिस्टर्ड कम्पनियों पर लगाया जाता है। सर्वप्रथम युद्धकाल में यह कर लगाया गया था। सभी कम्पनियों पर कर की दर एक समान होती है। १९६१-६२ ई० में इससे १५६ करोड रुपये तथा १९६५-६६ ई० में २३० करोड़ रुपये की आय हुई थी। १९७१-७२ ई० के संशोधित अनुमान इस कर से ४८२ करोड़ रुपये आय होगी तथा १९७२-७३ ई० में इससे ४९३·५ करोड़ रुपये आय की आशा की जाती है। इस प्रकार निगम कर से प्राप्त आय में भी क्रमशः वृद्धि हो रही है।

आयात-निर्यात कर (Customs):—यह कर एक परोक्ष कर है। आधुनिक समय में केन्द्रीय सरकार की आय का यह एक प्रमुख साधन है। आयात-निर्यात करों से प्राप्त होने वाली सम्पूर्ण आय केन्द्रीय सरकार को ही प्राप्त होती है। प्रथम महायुद्ध तक देश में स्वतन्त्र व्यापार की नीति का प्रचलन था, अतः आयात-निर्यात करों से बहुत कम आय प्राप्त होती थी। किन्तु युद्ध के उपरान्त १९२२-२३ ई० में भारत सरकार ने विवेचनात्मक संरक्षण की नीति को अपनाया जिससे इस कर से प्राप्त आय में वृद्धि होने लगी। फिर भी १९३८-३९ ई० तक इससे केवल ४०६ करोड़ रुपये की ही वार्षिक आय हुई थी। द्वितीय महायुद्ध काल में अधिक आय की आवश्यकता के फलस्वरूप आयात-निर्यात करों की दरों में बहुत अधिक वृद्धि की गयी जिससे केन्द्रीय सरकार की आय में इस साधन का महत्व धीरे-धीरे बढ़ने लगा तथा आजकल यह आय का एक प्रधान साधन हो गया है। आयात-निर्यात करों से १९६३-६४ ई० में २१२ करोड़ रुपये की आय हुई थी और १९७१-७२ ई० के संशोधित अनुमान के अनुसार इससे ६५२ करोड़ रुपये आय प्राप्त हुई जबकि १९७२-७३ ई० के बजट के अनुसार इससे ७२२ करोड़ रुपये आय की आशा की जाती है। इस प्रकार स्पष्ट है कि इन करों में निरन्तर वृद्धि हो रही है।

आयात कर विदेशों से आयात की जाने वाली वस्तुओं पर लगाये जाते हैं। इस प्रकार के कर सरकार की आय तथा उद्योग-धन्धों को प्रोत्साहन देने दोनों के उद्देश्य से लगाये जाते हैं। ये कर दो प्रकार से लगाये जाते हैं: एक वजन या मात्रा के आधार पर जिसे विशिष्ट आय कर

---

1. "Socialism is not something which can be defined as a dead level of poverty. It does not mean cutting of the head of every body above a certain height."

(Specific duty) कहते हैं और दूसरा मूल्य के आधार पर जिसे मूल्यगत आयात कर (Advalorem duty) कहते हैं। मूल्यगत आयात-कर में चोरी का भय बहुत अधिक रहता है क्योंकि व्यापारी अपनी वस्तुओं के लिए बहुधा कम ही मूल्य दिखाने का प्रयत्न करते हैं। इसके विपरीत विशिष्ट आयात कर के साथ ऐसी बात नहीं पायी जाती है। किन्तु इस प्रकार के कर से आय बहुत कम होती है। अतः भारत में मूल्यगत आयात करों की ही प्रधानता है।

निर्यात कर देश के बाहर भेजी जाने वाली वस्तुओं पर लगाये जाते हैं। इस प्रकार के करों का मुख्य उद्देश्य सरकारी आय में वृद्धि होता है। इस कर से प्राप्त आय का एक हिस्सा विदेशों में इन वस्तुओं के प्रचार आदि पर भी खर्च किया जाता है। १९४९ ई० में भारतीय रुपये के अवमूल्यन के बाद सरकार ने निर्यात कर की दर में बहुत अधिक वृद्धि कर दी जिसके फलस्वरूप इससे बहुत अधिक आय हुई। किन्तु आजकल निर्यात को प्रोत्साहित करने के उद्देश्य से बहुत-सी वस्तुओं के निर्यात-करों में कमी कर दी गयी है। निर्यात-कर अधिकतर विशिष्ट होते हैं।

संघीय उत्पाद-कर (Union Excise Duty) :– यह कर देश में तैयार होने वाली कुछ वस्तुओं पर लगाया जाता है जिनमें चाय, कहवा, चीनी, तम्बाकू, दियासलाई, वनस्पति घी-सूती वस्त्र, मोटर आदि प्रमुख हैं। यह कर वस्तुओं पर उनके उत्पादन के समय लगाया जाता है। यह एक परोक्ष कर है तथा इसका भार अन्ततः मुख्य रूप से उपभोक्ताओं पर पड़ता है। साथ ही यह समानुपातिक दर से लगाया जाता है जिससे जो व्यक्ति जितनी ही अधिक मात्रा में वस्तुओं को खरीदता है उसे उतना ही अधिक कर देना पड़ता है। इस कर का प्रभाव वस्तुओं की मांग पर भी पड़ता है। अतः यह कर अधिकांशतः उन्हीं वस्तुओं पर लगाया जाता है जिनकी मांग अपेक्षाकृत बेलोचदार होती है। आजकल भारत की कर-व्यवस्था में इस कर का महत्त्व सबसे अधिक है।

इस प्रकार संघीय उत्पाद-करों का आज देश की कर-व्यवस्था में विशेष महत्त्व है। चीनी, चाय, कहवा, कागज, तम्बाकू, दियासलाई तथा वनस्पति घी पर लगाये गये उत्पाद-करों का २० प्रतिशत भाग राज्य सरकारों के बीच विभाजित किया जाता है। १९६१-६२ ई० में संघीय उत्पाद-करों से ४८९·३१ करोड़ रुपये की आय प्राप्त हुई थी। १९६७-६८ ई० के संशोधित बजट अनुमान के अनुसार संघीय उत्पाद-करों से कुल ११६३ करोड़ रुपये की आय तथा १९७१-७२ ई० के संशोधित अनुमान के अनुसार इससे २१०३ करोड़ रुपये की आय हुई। १९७२-७३ के बजट के अनुसार २४७४ ७५ करोड़ रुपये की आय का अनुमान है। इसमें से १९७२-७३ के बजट के अनुसार राज्यों का हिस्सा ५८५ १७ करोड़ रुपये तय किया गया है। जब प्रथम पंचवर्षीय योजना लागू की गयी थी तो कुल केवल १२ वस्तुओं पर ही उत्पाद-कर लगाया गया था, किन्तु आजकल कुल ६५ से भी अधिक वस्तुओं पर यह कर लगाया गया है।

मृत्यु अथवा उत्तराधिकार-कर (Estate Duty) :– यह एक प्रत्यक्ष कर है तथा संसार के प्रायः सभी उन्नतिशील देशों में लगाया जाता है। इसके दो रूप हैं—मृत्यु-कर जो व्यक्ति की मृत्यु के समय उनकी सम्पत्ति पर लगाया जाता है तथा दूसरा उत्तराधिकार-कर जो उत्तराधिकारियों द्वारा प्राप्त सम्पत्ति पर लगाया जाता है। यह एक प्रत्यक्ष कर है तथा देश में सम्पत्ति के वितरण की विषमता को कम करने का एक प्रमुख साधन है। भारत में बहुत समय पूर्व से इस प्रकार के कर लगाने की बात चली आ रही थी। १९२४-२५ ई० की कर जाँच-समिति ने भारत में मृत्यु-कर लगाने के प्रश्न पर विस्तारपूर्वक विचार किया था। १९३५ ई० के संविधान में भी इस प्रकार के कर

की व्यवस्था की गयी थी जिसके अनुसार कृषि भूमि के अतिरिक्त केन्द्रीय सरकार अन्य सभी प्रकार की सम्पत्ति पर उत्तराधिकार कर लगा सकती थी, किन्तु इस प्रकार के करों से प्राप्त आय को राज्यों को देने की व्यवस्था थी। १९४६ ई० में सरकार ने उत्तराधिकार कर लगाने के उद्देश्य से एक विधेयक भी विधान सभा में रखा था, किन्तु उस समय वह कानून का रूप नहीं धारण कर सका। १९४८ ई० में इस आशय का एक दूसरा असफल प्रयास किया गया। पुनः १९५२ ई० में इस आशय से एक विधेयक प्रस्तुत किया गया जो कानून बन गया तथा अक्टूबर, १९५३ ई० से लागू किया गया। इस अधिनियम के अनुसार यह हर प्रकार की सभी सम्पत्ति पर (कृषि-भूमि को छोड़कर) लगाया जाता है। इसके अनुसार हिन्दू परिवार के लिए कम-से-कम ५० हजार रुपये तथा अन्य हालतों में १ लाख रुपये तक की सम्पत्ति पर कोई कर नहीं लगता। इससे अधिक सम्पत्ति पर उत्तरोत्तर बढ़ती हुई दरों पर खण्ड-प्रणाली (Slab system) के अनुसार यह कर लगाया जाता है। इस कर से निम्नलिखित प्रकार की सम्पत्ति की छूट दी जाती है : (क) मृत्यु के छः महीने के भीतर सार्वजनिक कार्य के लिए २५०० रुपये तक का दिया गया दान, (ख) मृत्यु के दो साल के अन्दर तक १५०० रुपये तक के कोई अन्य उपहार, (ग) ५०,००० रुपये तक मृत्यु-कर चुकाने के लिए ली गयी बीमा पॉलिसी, (घ) सरकार के पास मृत्यु-कर चुकाने के लिए ५० हजार रुपये तक जमा की गयी रकम, (च) मृतक की जिन्दगी पर ५० हजार रुपये तक के लिए जीवन बीमा तथा (छ) किसी लड़की अथवा लड़कियों के ब्याह के लिए पृथक् रूप से रखी गयी रकम जो अधिक-से-अधिक प्रति लड़की ५ हजार रुपये तक होगी। प्रथम मृत्यु के पश्चात् तीन महीनों की अवधि में होने वाली सभी मृत्युओं को एक ही मौत गिना जाता है। १९६३-६४ ई० में इससे १३ लाख रुपये की आय प्राप्त हुई थी। १९६४-६५ ई० में मृत्यु-कर की दर में वृद्धि की गयी जिसके अनुसार १० लाख रुपये से ऊपर की जायदाद पर ४० प्रतिशत मृत्यु-कर के रूप में लिया जायगा। १९७२-७३ ई० के बजट में इससे ८ करोड़ रुपये आय की आशा है।

उपहार-कर (Gift Tax) :—भारत में मृत्यु-कर से बचने के लिए अधिकांश लोगों ने उपहार देना प्रारम्भ कर दिया। अतः इस प्रकार की बुराई को दूर करने के लिए डा० काल डोर ने एक उपहार-कर (Gift tax) लगाने का सुझाव दिया। भारत सरकार ने डा० कालडोर के सुझावों के आधार पर १९५८-५९ ई० में इस प्रकार का एक कर लगाया। १९६५-६६ ई० के संशोधित बजट अनुमान के अनुसार इससे ३०० लाख रुपये की आय हुई थी। इस कर का प्रधान उद्देश्य मृत्यु-कर से बचने की प्रवृत्ति को कम करना है। १९६४-६५ ई० के बजट में इस कर की दरों में और वृद्धि की गयी। १९६७-६८ ई० में इस मद से १७५ लाख रुपये आय की आशा थी। १९७१-७२ के बजट में इस मद में २·५० करोड़ रुपये आय प्राप्ति की आशा है। इस प्रकार के कर में वृद्धि का प्रधान उद्देश्य बड़े-बड़े उपहारों का रोकना है।

सम्पत्ति-कर (Wealth Tax) :—सम्पत्ति-कर भारत में १ अप्रैल, १९५५ ई० से लगाया गया। इस प्रकार का कर १ लाख रुपये से अधिक सम्पत्ति वाले व्यक्तियों, २ लाख रुपये से अधिक सम्पत्ति वाले सम्मिलित हिन्दू परिवारों को देना पड़ता है। कृषि-सम्बन्धी सम्पत्ति, प्रोविडेन्ड फण्ड, बीमा पॉलिसी की रकम के अतिरिक्त अन्य सभी प्रकार की सम्पत्ति पर यह कर लगाया जाता है। २५ हजार रुपये तक के जेवर को भी इस कर से मुक्त कर दिया गया है। व्यक्ति में सम्बन्ध में प्रथम एक लाख तथा सम्मिलित परिवार के सम्बन्ध में दो

लाख रुपये की सम्पत्ति पर कोई कर नहीं लगता। उसके बाद व्यक्ति के सम्बन्ध में अगले चार लाख तथा सम्मिलित परिवार के सम्बन्ध में तीन लाख पर यह १ प्रतिशत की दर से तथा उसके बाद अगले ५ लाख पर २ प्रतिशत की दर से लगाया जाता है। कम्पनियों के सम्बन्ध में बैंकिंग, बीमा तथा जहाजी कम्पनियों को इससे पूर्णतः मुक्त कर दिया गया। अन्य कम्पनियों के सम्बन्ध में भी विभिन्न प्रकार की रियायतें दी गयी हैं। १९६१-६२ ई० में इस कर से ८.२६ करोड़ रुपये तथा १९६५-६६ ई० में २४ करोड़ रुपये की आय प्राप्त हुई थी। १९७१-७२ ई० के संशोधित अनुमान के अनुसार इससे ३० करोड़ रुपये की आय हुई थी तथा १९७२-७३ ई० के बजट में इससे ४३ करोड़ रुपये आय की आशा की जाती है। १९७१-७२ ई० के बजट में सम्पत्ति कर में कई महत्त्वपूर्ण परिवर्तन किये गये हैं।

व्यय-कर (Expenditure Tax) :—यह कर १ अप्रैल, १९५८ ई० से प्रारम्भ हुआ था। आर्थिक व्यवस्था की दृष्टि से यह कर बड़ा ही महत्त्वपूर्ण था। इस प्रकार के कर का सर्वाधिक प्रमुख लाभ यह है कि इससे खर्च का स्तर कम होगा जिससे मुद्रा-स्फीति के दबाव में कमी होगी। सर्वप्रथम, १९५८-५९ ई० में गत वर्ष के व्यय के आधार पर यह कर लगाया गया। यह कर केवल उन्हीं व्यक्तियों तथा सम्मिलित हिन्दू परिवारों पर लगाया जाता है जिनकी शुद्ध आय, सभी प्रकार के कर देने के बाद ३६ हजार रुपये से अधिक होती है। पूँजीगत वस्तुओं, जिनका उपभोग तत्काल नहीं होता है, पर किये जानेवाले व्यय को पाँच वर्षों में इस कर के लिए विभाजित किया जाता है। व्यक्तिगत खर्च के लिए व्यक्तियों को ३० हजार रुपये तथा हिन्दू अविभाजित परिवार के लिए ६० हजार रुपये तक के व्यय को इस कर से छूट दी जाती है। इसके अतिरिक्त माता-पिता के निर्वाह, शादी तथा चिकित्सा आदि के सम्बन्ध में भी छूट दी जाती है। १९६२-६३ ई० में इस कर को हटा दिया गया किन्तु पुनः १९६४-६५ ई० के बजट में इसे लगाया गया। १९६५-६६ ई० संशोधित बजट के अनुमान के अनुसार इससे ७५ लाख रुपये की आय हुई थी। परन्तु १९६६-६७ ई० के बजट से व्यय कर को पुनः हटा दिया गया।

अ-कर आगम (Non-Tax Revenue) :—उपरोक्त करों के अतिरिक्त भारत सरकार को प्रतिवर्ष वाणिज्यिक उपक्रमों तथा विविध कार्यों से भी आय प्राप्त होती है जिनमें मुद्रा एवं टकसाल डाक-तार, विभाग, नागरिक प्रशासन, सार्वजनिक उद्योग तथा रेलों से प्राप्त आय इत्यादि प्रमुख हैं। मुद्रा तथा टकसाल केन्द्रीय सरकार की आय का एक प्रमुख साधन है। १९७२-१९७३ ई० में इससे १४५.३ करोड़ रुपये की आय की आशा है। इसके अतिरिक्त सरकार को कुछ विशेष प्रकार की आय भी प्राप्त होती है। सरकार शासन-सम्बन्धी सेवाओं के लिए भी कुछ मूल्य कभी-कभी वसूल करती है। १९७२-७३ ई० में अ-कर आगम से कुल ११२०.२७ करोड़ रुपये आय की आशा है। इसमें ब्याज के रूप में सरकार को ६८६.६७ करोड़ रुपये, प्रशासनिक सेवाओं से १२ करोड़ रुपये तथा बहुउद्देशीय नदी घाटी योजनाओं से १६.७ करोड़ रुपये की आय की आशा है।

केन्द्रीय सरकार के व्यय की प्रमुख मदें

(Main Heady of Expenditure of the Central Government)

भारत सरकार प्रतिवर्ष कुछ खास मदों पर व्यय भी करती है। भारत सरकार के व्यय की मदों में प्रतिरक्षा सम्बन्धी व्यय, सूद तथा ऋण का भुगतान, करों की वसूली में खर्च तथा राज्यों को अनुदान आदि उल्लेखनीय हैं।

प्रतिरक्षा सम्बन्धी व्यय (Defence Expenditure) :—भारत सरकार के व्यय की मदों के अध्ययन से यह स्पष्ट है कि प्रतिरक्षा पर सरकार प्रतिवर्ष बहुत बड़ी रकम खर्च करती है। इसका उद्देश्य देश की स्वतन्त्रता की रक्षा करना है। साथ ही, देश के भीतर शान्ति तथा व्यवस्था बनाये रखने के कार्य में भी इससे सहायता मिलती है। १९६२ ई० में चीनी आक्रमण तथा १९६५ ई० में पाकिस्तानी आक्रमण के कारण प्रतिरक्षा का व्यय बढ़ गया है। १९६१-६२ ई० में इस मद में २८९·५४ करोड़ रुपये, १९६२-६३ ई० में ४५१·८१ करोड़ रुपये, १९६३-६४ ई० में ६९२·५ करोड़ रुपये तथा १९६४-६५ ई० में ७११ करोड़ रुपये व्यय किये गये। १९६७-६८ ई० में इस मद में ८५६·८ करोड़ रुपये तथा १९७१-७२ ई० में १२४८·४ करोड़ रुपये व्यय किया गया जबकि १९७२-७३ के बजट में १२१८·६ करोड़ रुपये व्यय करने का आयोजन है। यह १९६२-६३ ई० में व्यय की रकम का प्रायः चार गुणा है। इससे स्पष्ट है कि आजकल भारत सरकार के कुल व्यय का लगभग ३० प्रतिशत भाग प्रतिरक्षा पर ही व्यय किया जा रहा है। प्रतिरक्षा कर इतनी अधिक रकम व्यय करने से विकास के कार्य में धक्का पहुँचता है, किन्तु पाकिस्तान तथा चीन की बढ़ती हुई सैनिक शक्ति को देखते हुए प्रतिरक्षा पर अत्यधिक व्यय बिलकुल अनिवार्य जान पड़ता है।

करों को वसूलने का खर्च (Tax Collection) :—आगम पर प्रत्यक्ष मांग में भी निरन्तर वृद्धि होती जा रही है। आगम पर प्रत्यक्ष मांग का अभिप्राय उस व्यय से है जो विभिन्न प्रकार के करो को एकत्र करने में किया जाता है। १९६२-६३ ई० में इस मद में कुल २३·४७ करोड़ रुपये तथा १९६३-६४ ई० में २३·६७ करोड़ रुपये व्यय हुआ था जबकि १९७२-७३ ई० के बजट में इस मद में ५७·८ करोड़ रुपये व्यय का अनुमान है। इससे स्पष्ट है कि इस मद में व्यय निरन्तर बढ़ता जा रहा है। इसे किसी प्रकार भी उचित नहीं कहा जा सकता। इसका प्रमुख कारण नये करों में वृद्धि है, अतः आवश्यकता इस बात की है कि इस व्यय में यथासम्भव कमी की जाय।

सूद तथा ऋण का भुगतान (Payment of Interest and Loans) :— ऋण पर भी भारत सरकार आजकल बहुत अधिक रकम व्यय करती है। सरकार विकास एवं अन्य कार्यों के लिए देश एवं विदेशों से कर्ज लेती है जिस पर ब्याज चुकाना पड़ता है। द्वितीय महायुद्ध काल के समय से इन ऋणों का महत्त्व बहुत बढ़ रहा है जिससे सूद भी बढ़ती जा रही है। आजकल पंचवर्षीय योजनाओं के लिए भी सरकार बहुत अधिक ऋण ले रही है। १९६७-६८ ई० के संशोधित बजट के अनुसार इस मद में ५०८·३ करोड़ रुपये व्यय किये गये जबकि १९६१-६२ ई० में इस मद में केवल ८२·८५ करोड़ ही व्यय हुआ। १९७०-७१ ई० के संशोधित अनुमान के अनुसार इस मद में ६०४ करोड़ व्यय हुआ तथा १९७२-७३ के बजट में इस मद में ७३० करोड़ रुपये व्यय करने की व्यवस्था है।

व्यय का एक महत्त्वपूर्ण शीर्षक प्रशासनिक सेवाएँ (Administrative Services) भी है। स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद से इसमें निरन्तर वृद्धि होती जा रही है। १९६२-६३ ई० में इस मद में कुल ७५·२ करोड़ रुपये व्यय हुआ था, जबकि १९७२-७३ ई० के बजट में इस मद में प्रायः २६७·५६ करोड़ रुपये व्यय की व्यवस्था है। इस मद में भी कमी की बड़ी आवश्यकता है। कर-

जाँच-समिति के अनुसार इस मद में अपव्यय को दूर करने तथा मितव्ययिता को लाने की बड़ी आवश्यकता है। किन्तु वर्तमान समय में बढ़ते हुए मूल्य-तल तथा प्रशासनिक जटिलता के कारण इसमें कमी की बहुत कम सम्भावना है। नागरिक निर्माण का कार्य राज्य सरकारों के अधीन है, फिर भी केन्द्र को इस मद में थोड़ा-बहुत व्यय करना पड़ता है। १९६७-६८ ई० में बजट में इस मद में ४५.५४ करोड़ रुपये व्यय करने का आयोजन था।

इनके अतिरिक्त मुद्रा एवं टकसाल पर भी भारत सरकार प्रतिवर्ष व्यय करती है।

राज्यों को अनुदान (Grants-in-aid to states) :—केन्द्रीय सरकार प्रतिवर्ष राज्य सरकारों को विशेष कार्यों के लिए अनुदान भी प्रदान करती है। अनुदान विभिन्न उद्देश्यों से दिये जाते हैं। इनका महत्त्व दिन प्रतिदिन बढ़ता जा ही रहा है। चतुर्थ वित्त आयोग की सिफारिशों के अनुसार केन्द्र को आजकल बहुत अधिक रकम अनुदान के रूप में देनी पड़ रही है। १९७१-७२ ई० में राज्यों तथा केन्द्र द्वारा शासित प्रदेशों को कुल ९५८.७० करोड़ रुपये अनुदान दिया गया तथा १९७२-७३ के बजट में ८७९.८ करोड़ रुपये के अनुदान की व्यवस्था है।

अन्त में अप्रत्याशित व्यय (Extraordinary Items) हैं। इस प्रकार का व्यय अनियमित प्रकृति का होता है। उदाहरण के लिए बाढ़, दुर्भिक्ष एवं अन्य प्रकार के संकट आदि को दूर करने का व्यय, इत्यादि। १९६६-६७ ई० के बजट में इस मद में कुल ३७.३८ करोड़ रुपये व्यय की व्यवस्था थी। १९७२-७३ के बजट में इस मद में ११.२ करोड़ रुपये व्यय की व्यवस्था है।

राज्यों की वित्त व्यवस्था

(State Finances)

भारतीय संविधान के अनुसार देश का संगठन संघीय आधार पर किया गया है। अतएव प्रत्येक राज्य अथवा इकाई को कार्य-संचालन की स्वतन्त्रता दी गयी है। राज्यों की आय के साधन तथा व्यय की मदें भी निश्चित की गयी हैं। निम्नांकित तालिका में १९६७-६८ ई० के विहार के आय एवं व्यय को दिखलाया गया है कि जिससे राज्यों की आय एवं व्यय का सामान्य रूप से अन्दाजा लगाया जा सकता है :—

बिहार सरकार के आय एवं व्यय

(लाख रु० में)

आय	१९६६-६७ ई० के संशोधित अनुमान	१९६७-६८ ई० के बजट-सम्बन्धी अनुमान
आय के प्रमुख साधन :		
आय-कर का हिस्सा	१२७४.३०	१२२१.५९
मृत्यु-कर का हिस्सा	७८.९९	१०६.५६
भूमि-कर (Land Revenue)—शुद्ध	२८९.१९	१२००.००
राज्य उत्पाद-कर (State Excise Duties)	८८०.१०	९३५.१०
स्टाम्प	६९२.६०	६९२.३०
वन	३०३.५३	३१५.४६
रजिस्ट्रेशन	१५४.९७	१५४.९७

गाड़ियों पर कर	२४.१०	२४.१०
विक्रय-कर	२५०५.५०	२६०६.४०
अन्य प्रकार के कर तथा शुल्क	६३२.२५	३५७.८५
सिंचाई एवं नौका-संचालन इत्यादि	१७७.२७	४३६.९४
ऋण-सेवाएँ	५९२.०३	५९७.१६
नागरिक प्रशासन	१२६९.३९	१७२३.९२
सार्वजनिक कार्य	८६.६४	८३.६४
विविध	६१३.८०	६९०.६५
केन्द्र से प्राप्त अनुदान	३९६४.१९	४१९०.८९
अप्रत्याशित	५.९१	५.९१
कुल	१,३५,९१·८१	१,५६,४७.१८

व्यय (लाख रुपये में)

व्यय की मदें	१९६६-६७ ई० के संशोधित अनुमान	१९६७-६८ ई० के बजट-सम्बन्धी अनुमान
राजस्व पर प्रत्यक्ष मांग	८१ २६	७९८.०६
सिंचाई एवं नौचालन इत्यादि	३४०.२७	३०४.०३
ऋण-सेवाएँ	२३५९.१८	२५२४.८८
सामान्य प्रशासन	४४१.९४	४३८.४५
न्याय-प्रशासन	१६७.५८	१६८.९०
जेल	१८७.५३	१७७.४१
पुलिस	८७०.६४	९००.४६
वैज्ञानिक विभाग	३७.१०	५०.२२
शिक्षा	२२६६.४९	२३७६.६६
चिकित्सा एवं सार्वजनिक स्वास्थ्य	११०९.८१	११०६.०३
कृषि, पशु-चिकित्सा एवं सहकारिता	१५२०.७१	२२५०.९१
विविध विभाग	६९२.६६	६९०.५५
उद्योग एवं आपूर्त्ति	१८४.८०	२१०.५६
नागरिक कार्य एवं विविध विकास-कार्यक्रम	६७३.७५	६६१.९०
विविध	१५७३.८८	१७४३.०१
विद्युत्-कार्यक्रम	०.८८	१.३४
विशेष जिनमें सामुदायिक विकास कार्यक्रम एवं स्थानीय विकास-सेवाएँ भी सम्मिलित हैं	७९०.०२	७८९.३२
कुल	१३८४२.३२	१५१९१.७५

राज्य सरकारों के बजट के अध्ययन से यह स्पष्ट है कि इनकी आय के प्रमुख साधन भूमि कर, बिक्री-कर, राज्य उत्पाद कर, मनोरंजन-कर, कृषि-आय-कर,, सिंचाई से प्राप्त आय, स्टाम्प-तथा रजिस्ट्रेशन फी आदि हैं। इनके अतिरिक्त राज्यों को केन्द्र से आय-कर, मृत्यु-कर,संघीय उत्पाद-कर रेलवे भाड़े पर कर आदि के अंशदान के रूप में भी पर्याप्त रकम मिलती है। कुछ राज्यों में नशाखोरी को बन्द करने की नीति अपनाने के फलस्वरूप राज्य उत्पाद-कर में कमी आ गयी है।

भूमि कर (Land Revenue) :—भूमि-कर बहुत दिनों तक राज्य सरकारों की आय का एक प्रमुख साधन रहा है, किन्तु अब कुछ राज्यों में इसे समाप्त करने की बात सोची जा रही है। पहले बिहार सरकार भी इसे समाप्त करने की बात सोच रही थी। उत्तर प्रदेश तथा बिहार में छोटी-छोटी जोतों पर से भूमि कर को समाप्त कर बड़ी-बड़ी जोतों पर अधिक उच्च दर से कर लगाने की बात की जा रही है।

इस प्रकार आजकल बिक्री-कर ही सभी राज्यों की सरकार की आय का एक प्रमुख साधन बन गया है। इनके अतिरिक्त मनोरंजन कर तथा कृषि-आय-कर का भी महत्त्व निरन्तर बढ़ता जा रहा है।

आबकारी कर या राज्य-उत्पाद कर (State Excise Tax) :—आबकारी कर राज्य सरकारों की आय का एक प्रधान साधन है। इस प्रकार का कर गांजा, भांग, अफीम तथा अन्य मादक वस्तुओं के उत्पादन पर लगाया जाता है। इसका उद्देश्य सरकारी आय में वृद्धि-के साथ-साथ मादक वस्तुओं के उपयोग को नियन्त्रित करना है। १९६७-६८ में बिहार सरकार को इस मद में कुल ९·३५ करोड़ रुपये की आय हुई थी। किन्तु स्वतन्त्रता-प्राप्ति के पश्चात् कुछ राज्यों –महाराष्ट्र, गुजरात तथा तमिलनाडु में नशाबन्दी कार्यक्रम (Prohibition) अपनाने के फलस्वरूप आय का यह साधन बिलकुल समाप्त हो गया था। परन्तु नशाबन्दी कार्यक्रम देशव्यापी नहीं हो सका है। अतएव तमिलनाडु ने जून, १९७१ ई० से नशाबन्दी को समाप्त कर पुनः आबकारी करों को लगाया है।

विक्रय-कर (Sales Tax) :—राज्यों की वित्त-व्यवस्था में विक्रय-कर का महत्त्वपूर्ण स्थान है। यह सर्वप्रथम १९३८ ई० में मध्य प्रदेश की सरकार द्वारा यह कर लगाया गया था। इसके बाद यह १९३९ ई० में मद्रास में तथा १९४१ ई० में बंगाल में लगाया। आजकल तो सभी राज्यों में यह कर लगाया जाता है। संयुक्त राज्य अमेरिका में विक्रय-कर सर्वप्रथम १९३३ ई० में लगाया गया था और आजकल वहाँ की सरकार की कुल आय का प्रायः $\frac{1}{8}$ भाग इसी कर से प्राप्त होता है। इंगलैंड में इसके बदले में क्रय-कर (Purchase Tax) लगाया जाता है। इस प्रकार का कर सर्वप्रथम १९४० ई० में उपभोग को कम करने के उद्देश्य से लगाया गया था। विक्रय-कर एवं क्रय-कर में अन्तर यह है कि विक्रय-कर बिक्री पर लगाया जाता है और

व्यापारियों से वसूल किया जाता है जबकि क्रय-कर खरीद पर लगता है तथा खरीददारों से वसूल किया जाता है।

भारत में अधिकांश राज्य सरकारों द्वारा सभी महत्त्वपूर्ण वस्तुओं पर विक्रय-कर लगाया जाता है। साथ ही, पश्चिमी बंगाल सरकार द्वारा कच्चे जूट, उत्तर प्रदेश में गन्ना तथा तमिलनाडु में चमड़ा पर क्रय-कर भी लगाया जाता है। विक्रय-कर भिन्न-भिन्न राज्यों में या तो Single point है या Multiple point. Mupltiple point में विक्रय-कर हरएक स्तर पर लगाया जाता है। इसमें कर अधिक प्राप्त होने की गुंजाइश रहती है जिससे इस प्रकार के कर की दर साधारणतया कम होती है। इसके विपरीत Single point में कर एक ही स्थान में लगाया जाता है। भिन्न-भिन्न राज्यों में करों की दरों में भी विभिन्नता पायी जाती है। बिहार सरकार को विक्रय-कर से १९६६-६७ ई० में २५०५.५ लाख रुपये की आय हुई थी तथा १९६७-६८ के बजट में २६०६.४ लाख रुपये की आय का अनुमान था। वर्तमान समय में सभी राज्य सरकारों को इस मद में बहुत अधिक आय प्राप्त हो रही है। किन्तु यह कर बहुत ही प्रतिगामी (Regressive) है, अतएव निर्धन व्यक्तियों पर इसका भार अधिक पड़ता है।

कृषि-आय कर (Agricultural Income Tax) :—भारत में केन्द्रीय सरकार कृषि-आय कर नहीं लगा सकती। १९३५ ई० के संविधान के अनुसार कृषि आय पर कर लगाने का अधिकार राज्य सरकारों को ही मिला है। सर्वप्रथम बिहार सरकार ने १९३८ ई० में कृषि-आय कर लगाया। इस समय बिहार, उत्तर प्रदेश, असम, उड़ीसा, पश्चिमी बंगाल, राजस्थान तथा केरल आदि राज्यों में कृषि-आय पर कर लगाया जाता है। कर-जाँच आयोग (Taxation Enquiry Commission) ने इस सम्बन्ध में निम्नलिखित सुझाव दिये थे (i) कृषि-आय कर प्रत्येक राज्य में लगाया जाना चाहिए, (ii) कर की दर पर्याप्त होनी चाहिए, तथा (iii) कर-मुक्त आय की न्यूनतम सीमा प्रत्येक राज्य में ३,००० रु० होनी चाहिए। कृषि-आय कर जमींदारी प्रथा के समय में यदि अपनाया गया होता तो इससे पर्याप्त मात्रा में आय प्राप्त हुई होती। आजकल तो इस सम्बन्ध में प्रश्न यह है कि भूमि कर को हटा कर कृषि-आय कर को ही क्यों नहीं अपनाया जाय। किन्तु, कर जाँच आयोग को यह सुझाव मान्य नहीं था क्योंकि १९५३-५४ ई० में भूमि कर से सभी राज्यों में लगभग ७० करोड़ रुपये की आय हुई थी। जमीन्दारी उन्मूलन के बाद तो इसमें और भी वृद्धि हुई है। अतएव इसे बिलकुल समाप्त नहीं किया जा सकता। फिर भी, कृषि-आय कर को बड़े पैमाने पर अपनाना चाहिए।

अब यह अनुभव किया जाने लगा है कि हरी क्रांति के चलते बड़े-बड़े फर्मों की आय में जो अत्यधिक वृद्धि हुई है इसे अधिक प्रगतिशील करों द्वारा वसूलने का प्रयास करना चाहिए। इस सम्बन्ध में निकट भविष्य में भारत सरकार द्वारा कुछ कदम उठाने की आशा की जाती है।

राज्य सरकारों का व्यय :—राज्य सरकारें अपनी आय का अधिकांश भाग सामाजिक सेवाओं तथा नागरिक प्रशासन एवं पुलिस आदि पर व्यय करती है। केन्द्र की तरह राज्य

सरकारों के व्यय में भी राजस्व पर प्रत्यक्ष मांग में निरन्तर वृद्धि हो रही है अतः इस व्यय में मितव्ययिता अनिवार्य है। राज्य-सरकारें अपने राज्य में कृषि के विकास पर पर्याप्त व्यय करती हैं। कृषि-विकास के अन्तर्गत उत्तम बीज, खाद, ऋण आदि की सुविधाओं के अतिरिक्त पशु-चिकित्सा एवं विकास तथा सहकारिता आदि भी सम्मिलित हैं। किन्तु स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद राज्य सरकारें सामाजिक सेवाओं के विकास पर बहुत अधिक व्यय कर रही हैं। सामाजिक सेवाओं के अन्तर्गत शिक्षा एवं जन-स्वास्थ्य प्रमुख है। वास्तव में इस प्रकार की सेवाओं पर व्यय की आवश्यकता भी है जिससे जन-साधारण के जीवन-स्तर में सुधार हो सके।

निष्कर्ष :— इस प्रकार भारत में केन्द्रीय तथा राज्य सरकारों की आय के साधन तथा व्यय की प्रमुख मदें उपरोक्त हैं। पंचवर्षीय योजनाओं के अन्तर्गत सरकारी आय में वृद्धि के लिए निरन्तर प्रयास किये जा रहे हैं। परिणामस्वरूप देश में केन्द्र तथा राज्य सरकारों की सम्मिलित आय १९५०५१ में ६९७ करोड़ रुपये से बढ़ कर १९६९-७० में ४८०० करोड़ रुपये हो गयी। किन्तु, फिर भी भारत में करों से प्राप्त कुल आय सम्पूर्ण राष्ट्रीय आय का केवल १२·४ प्रतिशत भाग थी। इंगलैंड में कुल राष्ट्रीय आय का ३१·८ प्रतिशत भाग, आस्ट्रेलिया में २८·१ प्रतिशत भाग, पश्चिमी जर्मनी में २८·६ प्रतिशत भाग, संयुक्त राज्य अमेरिका में २५·९ प्रतिशत भाग करों के रूप में प्राप्त होता है। इस प्रकार विकसित देशों की तुलना में भारत में यह वास्तव में बहुत ही कम है।

पिछले २०-२१ वर्षों में भारत सरकार की आय तथा व्यय दोनों में बहुत अधिक वृद्धि हुई है। निम्नांकित तालिका से यह स्पष्ट है—

भारत सरकार का आय एवं व्यय (करोड़ रुपये में)

	१९५०-५१	१९७१-७२	१९७२-७३
करों से आय	३५७	२९०१	३२२३
गैर-करों से प्राप्त व्यय	४९	११८०	११२०
कुल आय	४०६	४०८१	४३४३
भारत सरकार का प्रचलित-व्यय	३४६	४१०७	४१२४
पूँजीगत व्यय	१८६	२९४६	२६८८

उपरोक्त तालिका से स्पष्ट है कि भारत सरकार की आय में १९५०-५१ से १९७२-७३ के बीच १० गुनी से भी अधिक तथा प्रचलित व्यय (Revenue Expenditure) में लगभग १२ गुनी वृद्धि हुई है। राज्य सरकारों के आय तथा व्यय में भी इस अवधि में इसी प्रकार वृद्धि हुई है जो निम्नांकित तालिका से स्पष्ट—

राज्य सरकारों की प्रचलित आय एवं व्यय (करोड़ रुपये में)

	१९५१-५२	१९७१-७२ (बजट)
कुल आय	३९६	३७५२
कुल व्यय	३९२	३७२९

भारत में करों से प्राप्त आय के निम्न होने के कई कारण हैं। इनमें सर्वाधिक प्रधान कारण बड़े पैमाने पर करों की चोरी (Tax evasion) है। अतएव करों की वर्तमान दरों में वृद्धि करने की अपेक्षा भारत तथा राज्य सरकारों द्वारा करों की वसूली के तरीकों में सुधार से ही अधिक लाभ की आशा की जा सकती है।

विशेष अध्ययन-सूची

1. Budgets of the Govt. of India and of Bihar.
2. India—1971-72
3. Eastern Economists-Budget Number, 1972

IMPORTANT QUESTIONS

परिचय एवं प्राकृतिक साधन

1. What are the signs of economic under-development that are present in India ? How far have the Five Year Plans changed the picture in the last 15 years ? (P. U., B. A. 1966 A.)
भारत के आर्थिक दृष्टि से अर्द्ध-विकसित होने के कौन-कौन-से लक्षण वर्तमान हैं ? पिछले १५ वर्षों में पंचवर्षीय योजनाओं से इस स्थिति में क्या परिवर्तन हुआ है ?

2. In what ways can India be regarded as an economically under-developed country ? Dose India possess all the requisites of economic progress ?
(P. U., B. A. 1961 A.)
भारत को किन-किन कारणों से आर्थिक दृष्टि से अर्द्ध-विकसित देश समझा जा सकता है ? क्या भारत में आर्थिक विकास के लिए सभी आवश्यक बातें मौजूद हैं ?

3. "India possesses all the necessary natural resources for her economic development." Examine. Discuss some of the important measures which are being taken for their development. (P. U., B. A. 1959 S.)
"भारत में आर्थिक विकास के लिए आवश्यक सभी प्राकृतिक साधन वर्तमान हैं ।" व्याख्या कीजिए । इनके विकास के लिए अपनाये गये कुछ महत्त्वपूर्ण उपायों की व्याख्या कीजिए ।

4. Forest are the handmaid of agriculture in India.' Elucidate and discuss the forest policy of the Govt. of India.
(Bhag. U., B. A. 1963; B. U., B. A. 1960 A; B. A. (H) 1951)
"वन भारतीय कृषि के सहचर हैं ।" स्पष्ट कीजिए तथा भारत सरकार की वन-नीति की व्याख्या कीजिए ।

5. 'Forest are handmaid of Indian Agriculture.' Elucidate and discuss the Forest policy outlined in the Five Year Plans. (M. U., B. A. (H) 1965)
"वन भारतीय कृषि के सहचर हैं ।" स्पष्ट कीजिए तथा पंचवर्षीय योजनाओं में वर्णित वन-नीति की व्याख्या कीजिए ।

6. What are the economic benefits derived from forests ? Are forest resources of Bihar adequate ? (B. U., B. A, (H) 1955)
वनों की आर्थिक उपयोगिता का वर्णन कीजिए । क्या बिहार के वन साधन पर्याप्त हैं ?

7. Discuss the importance of forests in the economic life of India. Describe the measures taken by the Govt. to develop it during the two Five Year Plans. (M. U., B. A. 1963 A)
भारत में आर्थिक जीवन में वनों के महत्त्व की व्याख्या कीजिए । प्रथम दो पंचवर्षीय योजनाओं में इनके विकास के लिए किये गये उपायों को बतलाइये ।

8. Give a critical estimate of the mineral resources of Bihar. What in your opinion, should be the main features of a programme of mineral development of our country ? (B. U., B. A. (H) 1957 A)
बिहार की खनिज-सम्पत्ति की आलोचनात्मक विवेचना कीजिए । आपकी राय में, देश के

9. Give a critical estimate of the mineral resources of India with special reference to Bihar. Discuss the Mineral Policy of the Government of India. (M. U., B. A. (H) 1964)
बिहार को विशेष रूप से ध्यान रखते हुए भारत की खनिज-सम्पत्ति की व्याख्या कीजिए। भारत सरकार की खनिज-नीति की विवेचना कीजिए।

10. Give an estimate of the mineral resources of India. Discuss the mineral policy of the Govt. of India. (M. U., B. A. 1966 A.)
भारत के खनिज-साधनों की व्याख्या कीजिए। भारत सरकार की खनिज नीति की व्याख्या कीजिए।

11. Give an idea of the Water-power resources of India and their exploitation and development under the First Five Year Plan. (B. U., B. A. (H) 1960 A.)
भारत में जल-शक्ति के साधनों तथा प्रथम पंचवर्षीय योजना में इनके विकास एवं उपयोग की व्याख्या कीजिए।

12. Give a critical account of the power resources in India. Enumerate some of the important hydro-electric projects of India. (B. U., B. A. 1961 A.)
भारत में जल-शक्ति के साधनों की आलोचनात्मक व्याख्या कीजिए। भारत की कुछ प्रमुख जल-शक्ति की योजनाओं का वर्णन कीजिए।

13. Make a brief review of India's industrial fuel resources with special reference to the present position and the future possibilities of hydro-electricity. (R. U., B. A. 1963 A.)
जल-शक्ति को विशेष रूप से ध्यान में रखते हुए, भारत के औद्योगिक ईंधन के साधनों तथा भविष्य में इनकी संभावनाओं की संक्षिप्त व्याख्या कीजिए।

14. 'India presents a paradox of poverty in plenty.' Explain this statement and comment on it. (R. U., B. A. 1963 A.)
"भारत प्रचुरता में निर्धनता नामक एक पहेली प्रस्तुत करता है।" इस कथन की व्याख्या कीजिए तथा इन पर टिप्पणी कीजिए।

15. Examine the mineral resources of India What suggestions have been made in our plans to develop them ? (P. U., B. A. 1963 A.)
भारत के खनिज साधनों की जाँच कीजिए। पंचवर्षीय योजनाओं में इनके विकास के लिए क्या सुझाव प्रस्तुत किये गये हैं ?

16. What steps have been taken by the Government to promote the development and exploitation of minerals in India in the Plan period ? (M. U., B. A. 1968 A.)
योजना काल में सरकार द्वारा भारत के खनिज-पदार्थों के विकास तथा प्रयोग के लिए क्या-क्या उपाय किये गये हैं ?

17. Describe in brief our principal multi-purpose river valley projects. How do they help the development of our agriculture and industries ? (R. U., B. A. 1963 A.)
प्रमुख नदी-घाटी योजनाओं का संक्षिप्त विवरण दीजिए। कृषि तथा उद्योग के विकास का ये किस प्रकार सहायता करते हैं ?

18. Describe the importance of hydro electricity as a source of power in India. What measures have been adopted by the Government since 1956 to develop it ? (M. U,. B. A. 1967 A)
भारत में शक्ति के साधन के रूप में जल-विद्युत के महत्त्व की व्याख्या कीजिए। १९५६ ई० के बाद इसके विकास के लिए सरकार द्वारा क्या उपाय किये गये हैं ?

19. Describe the importance and present position of the supply of hydro-electricity in India. Discuss the chance of hydro-electricity becoming the main source of power in the future. (P. U , B. A. 1962 A.)
भारत में वर्त्तमान समय में जल-शक्ति की पूर्ति की स्थिति का विवेचन कीजिए। भविष्य में जल-विद्युत् की शक्ति के प्रधान साधन होने की संभावनाओं पर विचार कीजिए।

20. Describe the recent development of power resource in India and point out how far our power resources are adequate for the industrial development of the country. (B. U , B. A. 1962 A)
भारत में शक्ति के साधनों के वर्तमान विकास की व्याख्या कीजिए तथा यह बतलाइये कि देश के औद्योगिक विकास के लिए हमारी शक्ति के साधन कहाँ तक पर्याप्त हैं।

21. "The mineral resources of India are sufficient in quantity and diversity to form the basis of a prosperous economy." Discuss (B. U , B. A. 1962. A.)
"भारत की खनिज सम्पत्ति समृद्ध अर्थ-व्यवस्था के आधार के लिए मात्रा तथा विविधता में पर्याप्त है।" व्याख्या कीजिए।

22. What is the target for coal in the Second Five Year Plan ? How does the plan proposes to realise it (B. U., B. A. 1965 S.)
द्वितीय पंचवर्षीय योजना में कोयले का लक्ष्य क्या है ? योजना में इसे किस प्रकार प्राप्त करने का आयोजन है ?

23. Have we sufficient mineral oils in India. Discuss and examine the steps taken to increase its supply. (R. U., B. A. 1960 A.)
क्या भारत में खनिज तेल के साधन पर्याप्त हैं। व्याख्या कीजिए तथा इसकी पूर्ति को बढ़ाने के लिए अपनाये गये उपायों का वर्णन कीजिए।

24. India is endowed with the basic mineral and power resources needed for industrial expansion. Discuss. What steps have been taken with regard to mineral development in our country. (P. U. B. A. 1963 A.)
"भारत में औद्योगिक विस्तार के लिए आवश्यक आधारभूत खनिज तथा शक्ति के सभी साधन मौजूद हैं।" व्याख्या कीजिए। खनिज साधनों के विकास के लिए हमलोगों के देश में क्या उपाय किये गये हैं ?

25. Give a short account of the mineral oil resources in India. Examine briefly the steps taken by the Govt. of India during the last decade to increase the supply of mineral oil. (Bhag. U., R. A. 1963 A.)
भारत में खनिज तेल के साधनों की संक्षिप्त व्याख्या कीजिए। पिछले दशक में खनिज तेल की पूर्ति को बढ़ाने के लिए सरकार द्वारा अपनाये गये उपायों की व्याख्या कीजिए।

26. "Power development is the key to industrial progress.' Examine this statement and describe some of the important hydro-electric projects of India. (M. U., B. A. 1964 A.)
"शक्ति का विकास औद्योगिक प्रगति का प्रधान सूचक है।" इस कथन की व्याख्या कीजिए तथा देश की कुछ प्रमुख नदी-घाटी योजनाओं का वर्णन कीजिए।

27. "The maldistribution of power resources is a hinderance to the balanced economic development of India." Discuss. (M. U., B. A. 1965 A,)
"शक्ति के साधनों का असमान वितरण भारत के संतुलित आर्थिक विकास के क्षेत्र में बाधक हैं।" स्पष्ट कीजिए।

28. Review the policy laid down in the Five Year Plans for the development of power resources in India and the success achieved by the same. (P. U., B. A. 1966 A.)
पंचवर्षीय योजनाओं में भारत की शक्ति के साधनों के विकास के लिए प्रस्तावित नीति तथा इस सम्बन्ध में प्राप्त सफलता की व्याख्या कीजिए।

जनसंख्या

1. Discuss briefly the arguments regarding over-population in India. What are the remedies suggested. ? (B. U., B. A. 1951 A.)
भारत में जनाधिक्य के सम्बन्ध में दिये जानेवाले विभिन्न तर्कों की संक्षिप्त व्याख्या कीजिए। इसके लिये क्या उपाय प्रस्तावित किये गये हैं ?

2. Discuss the causes of the growth of population in India in the last 30 years. Is it necessary to check it ? If so, what measures would you suggest ? (B. U., B. A. 1957 (H))
पिछले ३० वर्षों में जनसंख्या में वृद्धि के कारणों की व्याख्या कीजिए। क्या इसे रोकना आवश्यक है ? यदि हाँ, तो आप इसके लिए क्या सुझाव देगें ?

3. "Grow More Food Campaign without 'Grow Less Children Campaign' will be ineffective. Discuss. (M. U., B. A. 1963 A.)
"कम बच्चे उत्पन्न करो' के वगैर अधिक अन्न उपजाओ आन्दोलन सफलीभूत नहीं हो सकता।" व्याख्या कीजिए।

4. Is India over populated ? Can planning of her population be made effective ? (B. U., B. A. 1955 (H)
क्या भारत में जनाधिक्य है ? क्या इसकी जनसंख्या के नियोजन को प्रभावपूर्ण बनाया जा सकता है ?

5. "Population is outstripping the means of subsistence in India." discuss.
"भारत में जनसंख्या निर्वाह के साधनों से अधिक तीव्र गति से बढ़ रही है।' व्याख्या कीजिए।

6. 'A rapidly growing population is the most fundamental obstacle to economic development in India.' Examine this statement and suggest a suitable population policy for India.
(B. U., B. A. (H) 1958; P. U. B. A. 1962 A M. U., B. A. 1966 H)
"द्रुतगति से बढ़ती हुई जनसंख्या देश के आर्थिक विकास के लिए सबसे बड़ी बाधा सिद्ध हो रही है। इस कथन की व्याख्या कीजिए तथा भारत के लिए एक उपयुक्त जनसंख्या-सम्बन्धी नीति प्रस्तावित कीजिए।

7 Is over-population or under-development the root cause of India's poverty (B. U. B. A. 1959; A; R. U. B. A. 1964 A.)
भारत की निर्धनता का प्रधान कारण जनाधिक्य अथवा अर्द्ध-विकसित होना है ?

8. Do you think the existing misery of India is due to her large population ? How would you try to reduce its ratio of growth ? (B. U. B. A. 1963A.)
क्या आप इस विचार के हैं कि भारत की वर्तमान निर्धनता इसकी बड़ी जनसंख्या का परिणाम है ? विकास की तुलना में इसकी दर को कम करने के लिए आप क्या सुझाव दीजिएगा ?

9. "The most difficult problem of India is her rapid growth of population" Discuss What steps have been taken to check it ? Give your suggestions. (Bhag. U., B. Com. 1967.)
"भारत की सबसे विकट समस्या इसकी जनसंख्या की द्रुतगति से वृद्धि है।" व्याख्या कीजिए। इसे रोकने के लिए क्या उपाय किये गये हैं ? अपने सुझाव दीजिए।

10. Do you favour the policy of "checking population growth" in India for rapid improvement in the standard of living ? Give reasons for your answer. (M. U., B. A. 1967 A.)
जीवन स्तर में द्रुतगति से सुधार के लिए क्या आप जनसंख्या की वृद्धि की दर को रोकने के पक्ष में हैं ? अपने उत्तर की पुष्टि के लिए कारण दीजिए।

11. Describe the occupational distribution of the Indian population as revealed by the 1961 census and comment on the same. (P. U. B. A. 1966 A.)
१९६१ की जनगणना के अनुसार भारत की जनसंख्या के व्यावसायिक वितरण की व्याख्या करें तथा इस पर टिप्पणी करें।

12. Examine the occupational distribution of population in India and explain its relationship with poverty in our country. (P. U. B. A. 1966 A.)
भारत में जनसंख्या के व्यावसायिक वितरण की व्याख्या करें तथा अपने देश की निर्धनता से इसके संबंध की व्याख्या करें।

13. Account for the high rate of population growth during the last two decades. How far can the problem of the population be solved by internal migration. (M. U., B. A. 1964 A.)
पिछले दो दशकों में जनसंख्या में वृद्धि की उच्च दर के कारणों की व्याख्या करें। आंतरिक प्रवास द्वारा जनसंख्या की समस्या का कहाँ तक समाधान किया जा सकता है ?

14. "In India an effective curb on population growth is an important condition for rapid improvment in income and in levels of living'. Examine this statement in the light of experiences during the decade 1951—60. (M. U., B. A. (H) 1964)
"भारत में आय एवं जीवन स्तर में द्रुतगति से सुधार करने के लिए जनसंख्या की वृद्धि पर महत्त्वपूर्ण नियंत्रण एक आवश्यक शर्त है।" १९५१ से ६० वाले दशक के अनुभवों के आधार पर इस कथन की व्याख्या कीजिए।

15. "Any comprehensive scheme of economic planning must include within its scope population planning as well." Discuss. How far the Govt. of India adhered to the above principle in the first Five Year Plan ?
(R. U., B. A., 1965 A., B. U., B. A. 1955 A.)
"आर्थिक नियोजन की किसी भी वृहत् योजना में जनसंख्या-सम्बन्धी नियोजन को सम्मिलित करना आवश्यक है।" व्याख्या कीजिए। प्रथम पंचवर्षीय योजना में भारत सरकार ने कहाँ तक इस नीति पर ध्यान दिया है ?

16. "The existing misery of India is due not as much to the increase in population as to the failure to develop the country's resources." Discuss.
(B. U., B. A, 1964 A; M. U, B. A. 1964 S.)
"भारत का वर्त्तमान संकट जनसंख्या में द्रुतगति से वृद्धि के कारण नहीं वरन् देश के साधनों को विकसित करने की विफलता के कारण है।" व्याख्या कीजिए।

17. Comment on—(a) The occupational distribution of the Indian population and (b) a high birth and falling death rate in India and bring out their economic significance. (P. U., B. A. 1961 A.)
भारत में (क) जनसंख्या के व्यावसायिक वितरण, तथा (ख) बढ़ती हुई जन्म-दर एवं घटती हुई मृत्यु-दरों पर टिप्पणी लिखें तथा उनके आर्थिक महत्त्व की व्याख्या करें।

18. Examine the salient features of our population. Do you advocate family planning to solve our population problem (P. U. B. A. 1963 A.))
अपने देश की जनसंख्या की मुख्य विशेषताओं की व्याख्या कीजिए। क्या अपनी जनसंख्या की समस्या के समाधान के लिए आप परिवार नियोजन को अपनाने का सुझाव देते हैं ?

19. What are the special features of the population problem in India? Examine critically the populat on policy of the Govt. of India.
भारत की जनसंख्या-समस्या की प्रधान विशेषताएँ क्या हैं ? भारत सरकार की जनसंख्या-सम्बन्धी नीति की आलोचनात्मक व्याख्या कीजिए।

20. "Careful population planning is an urgent necessity in India otherwise population growth would eat up economic growth." Discuss it with reference to he growth of population in India in the last four decades.
"भारत में जनसंख्या का सावधानी से नियोजन बिल्कुल आवश्यक है अन्यथा जनसंख्या में वृद्धि आर्थिक विकास के सभी लाभ समाप्त कर देगी।" पिछले चार दशकों में भारत की जनसंख्या की वृद्धि को ध्यान में रखते हुए इस बात की व्याख्या कीजिए।

21. "Population problem of India has become explosive." Discuss the statement and attempt an appraisal of the family planning programme of the Govt. of India. (Bhag. U., B. A. 1965 A.)
"भारत में जनसंख्या की समस्या विस्फोटक हो गयी है।" इस कथन की व्याख्या कीजिए तथा भारत सरकार के परिवार नियोजन कार्यक्रम की आलोचनात्मक समीक्षा प्रस्तुत कीजिए।

भारतीय कृषि

1. Examine the need and point out the scope for extending the area under cultivation in India. (B U., B. A. (H) 1954)
भारत में कृषि के अन्तर्गत की भूमि के क्षेत्र में वृद्धि की आवश्यकता तथा संभावनाओं पर प्रकाश डालिए।

2. "The future of Indian Agriculture lies in the intensification of cultivation rather than extension of the cultivated area," Examine the above statement in the light of India's land use pattern and the yields of her agricultural land per acre. (P. U., B. A. 1961 A, M. U., B. A. 1964 S.)
"भारतीय कृषि का भविष्य कृषि को गहन बनाने में है न कि कृषि के क्षेत्र में विस्तार पर।" भारत में भूमि के उपयोग तथा प्रति एकड़ कृषित भूमि की उपज को ध्यान में रखते हुए उपरोक्त कथन की व्याख्या कीजिए।

3. Analyse the effects of partition on supply of agricultural products in India Describe the measures which have been adopted during the last decade to adjust the supply to the demand. (P. U., B. A. (H) 1961)

भारत में कृषि-उत्पादन की पूर्ति पर देश-विभाजन के प्रभावों की व्याख्या कीजिये। पिछले दशक में पूर्ति को माँग के अनुसार समायोजित करने के प्रयत्नों की व्याख्या कीजिए।

4. Examine the importance of irrigation works in developing Indian Agriculture. What attempts have been made by the govt. to develop them ? (B. U. B. A. 1955 S)

भारतीय कृषि के विकास में सिंचाई के महत्त्व की व्याख्या कीजिए। सरकार द्वारा इनके विकास के लिए क्या प्रयत्न किये गये हैं ?

5. What are the causes of low productivity of Indian Agriculture ? Suggest measures for its improvement. (Bhag. U. B. A. 1956 A)

भारतीय कृषि की निम्न उत्पादकता के क्या कारण हैं ? इसके विकास के लिए उपाय बतलाइये।

6. "Only scientific and intensive cultivation on the one hand and population planning on the other can solve the food problem of India on permanent basis." Discuss. (B. U., B. A. 1969 A)

"भारत की खाद्य समस्या का स्थायी समाधान एक ओर वैज्ञानिक एवं गहन कृषि तथा दूसरी ओर जनसंख्या के नियोजन पर निर्भर करता है।" व्याख्या कीजिए।

7. "In regard to the money-lender one of the objectives of reforms should be the provision of an institutional alternative to the money-lender himself. Do you support this view ? Give reasons for your answer.

"महाजनों के सम्बन्ध में, सुधार का एक उद्देश्य इनके बदले एक संस्थानिक विकल्प की व्यवस्था होनी चाहिए।' क्या आप इस विचार का समर्थन करते हैं ? अपने उत्तर के लिए कारण दीजिये।

8. Account for the poor achievement of co-operative movement in India. What steps have been taken during the last decade to strengthen it ? (Bhag. U. B. A. 1965 A.)

भारत में सहकारिता आन्दोलन की मन्द प्रगति के कारणों की व्याख्या कीजिए। पिछले दशक में इसे सुदृढ़ बनाने के लिए क्या उपाय किये गये हैं ?

9. Discuss how far the multipurpose co-operative societies have achieved their objectives. Do you suggest any change in their working ?

बहुउद्देशीय सहकारी समितियों ने कहाँ तक अपने उद्देश्यों को प्राप्त किया है ? इसकी व्याख्या कीजिये। क्या आप इनकी कार्य प्रणाली में कोई सुधार प्रस्तावित करना चाहते हैं ?

10. Discuss the role of co operative movement in financing Indian agriculture. Account for its poor achievement in this direction. (R. U B. A. (H) 1958)

भारतीय कृषि की वित्तीय व्यवस्था में सहकारिता आन्दोलन के महत्त्व की व्याख्या कीजिये। इस क्षेत्र में इस आन्दोलन की मन्द प्रगति के कारणों की व्याख्या कीजिए।

11. What do you understand by multipurpose Co-operative societies? To what extent have they succeeded in improving the economic conditions of the rural population in Bihar ? (B. U , B. A. 1953 S.)

बहुधंधी सहकारी समितियों से आप क्या समझते हैं ? बिहार की ग्रामीण जनसंख्या की आर्थिक स्थिति के सुधार में ये कहाँ तक सफलीभूत रही हैं ?

12. Account for the slow progress of co-operative movement in India. How can the movement be made more effective ? (B. U., B. A. 1955 A.)
भारत में सहकारिता आन्दोलन की मन्द प्रगति के कारणों की व्याख्या कीजिए। इस आंदोलन को अधिक महत्त्वपूर्ण कैसे बनाया जा सकता है ?

13. It is the bonds of debt that shackle Indian Agriculture.'' Elucidate. What steps have been taken by the state to tackle this problem ?
(B. U., B. A. 1955 A.)
"ऋण के बोझ ही कृषि को जकड़े हुए हैं। "व्याख्या कीजिये। राज्य द्वारा इस समस्या के समाधान के लिए क्या उपाय किये गये हैं ?

14. Discuss briefly the different aspects of food problem in India. What steps have been taken by the state to increase supply of food in recent years ?
(Bhag. U. B. A. 1966 S.)
भारत की खाद्य समस्या के विभिन्न पहलुओं की व्याख्या कीजिये। हाल के वर्षों में खाद्यान्न की पूर्ति में वृद्धि के लिए राज्य द्वारा क्या उपाय किये गये हैं ?

15. Account for the chronic food shortage in recent years. (B. U.B.A. 1963 S.)
हाल के वर्षों में भारत में निरन्तर खाद्यान्न में कमी के कारणों की व्याख्या कीजिए।

16. What are the handicaps from which the agricultural labour suffers in India. What measures have been adopted in India to improve their conditions ? Are they adequate (P. U. B. A. (H) 1961 A.)
भारत में खेतिहर मजदूरों की कठिनाइयों की व्याख्या कीजिये। इनकी स्थिति में सुधार के लिए क्या उपाय किये गये हैं ? क्या ये पर्याप्त हैं ?

17. What are the difficulties in marketing of agricultural produce in rural India ? Suggest measures for removing them.
ग्रामीण भारत में कृषि-पदार्थों के विक्रय में क्या कठिनाइयाँ हैं ? इन्हें दूर करने के उपाय बतलाइये।

18. Examine the defects of agricultural marketing in India. What steps are being taken to remove them under the Second Plan Period ?
(B. U. B. A. (H) 1959.)
भारत में कृषि विक्रय-व्यवस्था के दोषों की व्याख्या कीजिये। द्वितीय पंचवर्षीय योजना में इन दोषों को दूर करने के लिए क्या किये जा रहे हैं ?

19. Discuss the importance of River Valley Projects undertaken in recent years. (Bhag. U. B. A. 1962 A.)
हाल की नदी घाटी योजनाओं के महत्त्व की व्याख्या कीजिए।

20. Discuss the arguments for and against the redistribution of agricultural land holding in India. would you prefer Land ceiling legislation for the purpose ? (P. U., B. A. 1961 A.)
भारत में कृषि-जोतों के पुनर्वितरण के पक्ष तथा विपक्ष के तर्कों की व्याख्या कीजिए। क्या आप इसके लिए जोतों की हदबन्दी के पक्ष में हैं ?

21. What should be the objectives of a suitable land policy for India at the present time ? Examine the proposals of the planning Commission in this behalf. (B. U., B. A. 1958)

वर्तमान समय में भारत के लिए एक उचित भूमि नीति के क्या उद्देश्य होने चाहिए ? इस सम्बन्ध में योजना आयोग के प्रस्तावों की व्याख्या कीजिए।

22. Discuss the role of agriculture in our planning. What are the programmes of its development in the Third Five Year Plan ?

अपने नियोजन में कृषि के महत्त्व की व्याख्या कीजिए। तृतीय पंचवर्षीय योजना में इसके विकास के कार्य-क्रमों की व्याख्या कीजिए।

23. Assess the success or failure of the co-operative credit movement in India. What place has been given to co-operative credit in the Five Year Plans ? (P. U., B. A. 1966 A.)

भारत में सहकारिता आन्दोलन की सफलता तथा विफलता की व्याख्या कीजिए। पंचवर्षीय योजनाओं में सहकारी साख के महत्त्व की व्याख्या कीजिए।

24. "At the root of much of the poverty of the people in India and of the risks to which they are exposed lies the unfortunate circumstance that agriculture is the only source of livelihood of the masses of the population.' Discuss this statement and suggest remedies, (B. U., B A. 1968 S.)

"भारत में देशवासियों की निर्धनता तथा इनके जोखिम का एक-मात्र प्रधान कारण यह दर्दनाक स्थिति है कि कृषि देशवासियों का एक-मात्र धन्धा है।" इस कथन की व्याख्या कीजिए तथा सुझाव प्रस्तुत कीजिए।

25. "Co-operative farming can only be a temporary half way house to collective farming and it will surely lead to chaos and confusion in rural life." Comment. (B. U B. A. (H) 1961, M. U. B. A. (H) 1964)

"सहकारी कृषि केवल सामूहिक कृषि की ओर एक का अस्थायी मार्ग होगा तथा इसके ग्रामीण जीवन में निश्चय ही संकट की स्थिति उत्पन्न हो जायगी।" व्याख्या कीजिए।

26. 'Co-operative farming the only solution for removing the shortcomings from which Indian agriculture is suffering." Do you agree ? Discuss the difficulties in the way of adopting Co-operative farming in India. (M. U., B. A. 1964 A., P. U. B. A. 1962 A.)

"भारतीय कृषि के दोषों को दूर करने का एक-मात्र उपाय सहकारी कृषि है।" क्या आप इससे सहमत हैं ? भारत में सहकारी कृषि अपनाने के मार्ग की कठिनाइयों का व्याख्या कीजिए।

27. Critically examine the land reforms policy of different State Governments. What should be the suitable land policy for India at the present time ? (M. U., B. A. 1963 A)

भिन्न-भिन्न राज्य सरकारों की भूमि-सुधार-नीति का वर्णन कीजिए। वर्तमान समय में भारत के लिए समुचित भूमि-नीति का वर्णन कीजिए। वर्तमान समय में भारत के लिए समुचित भूमि-नीति क्या होनी चाहिए ?

28. Examine the proposals for land reforms suggested in Five Year Plans. How far have they been carried out so far. (Bhag. U., B A. (H) 1966)

पंचवर्षीय योजनाओं में प्रस्तावित भूमि-सुधार की व्याख्या कीजिए। कहाँ तक ये सुधार अभी अपनाये जा सके हैं ?

29. Describe in brief the pattern of co-operative movement in India. What are the main causes of its failure. (Bhag. U., B. A. 1963 A.)

संक्षेप में भारत में सहकारिता आन्दोलन के ढाँचे की व्याख्या कीजिए। इसकी असफलता के मुख्य कारण क्या हैं ?

30. What is community Project ? What success has been achieved by this movement. (B. U., B. A. 1966 A.)

सामुदायिक विकास कार्य-क्रम क्या है ? इस आन्दोलन को क्या सफलता प्राप्त हुई है ?

कुटीर एव लघु उद्योग-धन्धे

1. What are the problems of Small Scale Industries in India. What steps have been taken by the Govt. to eneourage them ? (B. U., B A. 1961 A.)

भारत में लघु उद्योगों की समस्याएँ क्या हैं ? सरकार द्वारा इन्हें प्रोत्साहित करने के लिए क्या प्रयास किये गये हैं ?

2. Discuss the role of Small-Scale Industries in the planned economic development of India. What attempts have been made to remove its conflict with large scale industries. (Bhag. U., B. A. 1965 A.)

भारत के आयोजित आर्थिक विकास में लघु उद्योगों के महत्त्व की व्याख्या कीजिए। बड़े पैमाने के उद्योगों के साथ इनके विरोध को दूर करने के लिए क्या किये गये हैं ?

3. Do you agree with the view that the development of Cottage Industries is necessary to solve the proplem of poverty in India ? Mention the steps taken by the State to aid their development.
(B. U., B. A. 1957 S., Bhag. U. B. A. 1962 A.)

क्या आप इस बात से सहमत हैं कि भारत की निर्धनता की समस्या के समाधान के लिए कुटीर उद्योगों का विकास आवश्यक है। राज्य द्वारा इसके विकास के लिए अपनाये गये उपायों की व्याख्या कीजिए।

4. Examine the role of Village and Small Scale Industries in national planning. What steps have been taken to develop them during the Third Year plan ? (M. U., B. A. 1963 A.)

राष्ट्रीय नियोजन के लिए ग्रामीण तथा लघु उद्योगों के महत्त्व की व्याख्या कीजिए। तृतीय पंचवर्षीय योजना में इन्हें विकसित करने के लिए क्या उपाय किये गये हैं ?

5. Discuss the role of village and small industries in the industrial economy of India, What steps have been taken to improve their condition during the period 1951-1966 ? (M. U., B. A. 1967 A.)

भारतीय अर्थ-व्यवस्था में ग्रामीण तथा लघु उद्योगों के महत्त्व की व्याख्या कीजिए। १९५१-६६ के बीच इसकी स्थिति में सुधार के लिए अपनाये गये उपायों की व्याख्या कीजिए।

6. What place has been given to cottage industries in the Five Year Plan of India ? Is the importance given to these industries justified ?
(P. U., B. A. 1966 A.)

भारत की पंचवर्षीय योजनाओं में कुटीर उद्योगों के महत्त्व की व्याख्या कीजिए। क्या इन उद्योगों को दिया गया महत्त्व न्यायोचित है ?

7. "Small scale and cottage industries constitute an integral part of our national economy:" Discuss and state the steps taken by the Govt. of India for the development of small scale and cottage industries,
(M, U., B. A. 1959 S.)

"कुटीर उद्योग हमारी राष्ट्रीय अर्थ-व्यवस्था के प्रधान अंग है।" इस कथन की व्याख्या कीजिए तथा भारत सरकार द्वारा कुटीर एवं लघु उद्योगों के विकास के लिए अपनाये गये उपायों की व्याख्या कीजिए ?

8 In what ways does the Govt. favour the cottage producers and restrict the large producers of consumer goods ? Are you in favour of such a policy ? (B. U., B. A. 1964 A.)

किन-किन उपायों द्वारा सरकार उपभोक्ता वस्तुओं के लघु उत्पादकों को प्रोत्साहित तथा बड़े पैमाने के उत्पादकों को हतोत्साहित करती है ? क्या आप इस प्रकार की नीति के पक्ष में है ?

9. Bring out the points of difference between cotatge and small scale industries. What part do cottage and small scale industries play in our economic life. (R. U., B. A. 1963 A)

कुटीर एवं लघु उद्योगों में अन्तर की व्याख्या कीजिए। हमारे आर्थिक जीवन में कुटीर एवं लघु उद्योगों का क्या महत्त्व है ?

10. "Small scale and cottage industries are the relics of backward technology and the sooner we get rid of this better." Examine critically this statement against the background of Indian economy. (M U., B. A (H) 1969)

"लघु उद्योग प्राचीन तकनीक के अवशेष हैं और जितनी ही शीघ्रता से हम इनका परित्याग करें उतना ही अच्छा होगा।" भारतीय अर्थ-व्यवस्था के संदर्भ में इस कथन की व्याख्या कीजिए।

11. What should be the relative roles of cottage and small scale industries and large scale industries in our economy ? Do you think that our planning has given them the right priority ? (P. U., B. A. 1963 A.)

हमारी अर्थ-व्यवस्था में कुटीर एवं लघु उद्योगों तथा वृहत् उद्योगों का सापेक्षिक महत्त्व क्या होना चाहिए ? क्या आप इस बात से सहमत हैं कि हमारे नियोजन में इन्हें उचित स्थान दिया गया है ?

उद्योगों का सामान्य सर्वेक्षण

1. Discuss the various measures adopted by state to promote industrialisation in India. Are these measures adequate ? (P. U., B. A. 1960 A.)

भारत में औद्योगीकरण को प्रोत्साहित करने के लिए अपनाये गये विभिन्न उपायों की व्याख्या कीजिए ' क्या ये उपाय पर्याप्त है ?

2. Why has the rate of industrialisation in India been very slow before Independence ? How have the Five Year Plans increased the rate ? (R. U , B. A 1965 A)

स्वतन्त्रता-प्राप्ति के पूर्व भारत में औद्योगीकरण की प्रगति क्यों मंद थी ? पंचवर्षीय योजनाओं ने इस दर में किस प्रकार से वृद्धि की है ?

3. "The industrial Sector in India is unevenly and in some ways inadequately developed." Discuss (Bhag. U., B. A. (H) 1966)

भारत का औद्योगिक क्षेत्र कुछ अर्थ में विषम रूप से तथा अपर्याप्त तरीके से विकसित है।" व्याख्या कीजिए।

प्रमुख संगठित उद्योग-धन्धे

1. Describe the present position and future of either (a) the jute or (b) the cotton textile industry in India. How has partition of the country affected the Industry ? (B. U., B. A. 1957 S.)
भारत में (क) जूट, अथवा (ख) सूतीवस्त्र-उद्योग की वर्तमान स्थिति तथा भविष्य की व्याख्या कीजिए। देश-विभाजन ने इस उद्योग को किस प्रकार से प्रभावित किया है ?

2. Examine the present position and problems of any of the following industries in India—Jute Mill Industry (b) Iron & Steel Industry. (Bhag. U., B. A. 1963 A; 1965 A.)
(क) जूट उद्योग अथवा (ख) लोहा एवं इस्पात उद्योग की वर्तमान स्थिति एवं समस्याओं की विवेचना कीजिए।

3. Describe any one of the following industries :—(a) Engineering Industry or (b) Jute Industry. (M. U., B. A. 1963 A.)
इन में से किसी भी उद्योग की व्याख्या कीजिए :—(क) इंजीनियरिंग उद्योग, तथा (ख) जूट उद्योग।

4. Examine the present position and scheme of development either of (a) the Iron and Steel Industry or (b) the Jute Industry in India. (P. U., B A. 1961 A; M. U., B. A 1964 S)
भारत में (क) लोहा एवं इस्पात उद्योग अथवा (क) जूट उद्योग की वर्तमान स्थिति तथा विकास की योजना की व्याख्या कीजिए।

5. Write an essay on either—(a) the Sugar Industry, or (b) the Cotton Textile Industry in India. (B U., B. A. 1962 A; P. U., B. A. 1662 A.)
भारत में (क) चीनी उद्योग अथवा (ख) सूती वस्त्र-उद्योग पर एक निबन्ध लिखें।

6. Discuss the present position and future prospects of Cement or Cotton Textile Industry in India. (M. U , B. A. 1967 A.)
भारत में सीमेंट उद्योग अथवा सूती वस्त्र-उद्योग की वर्तमान स्थिति तथा भविष्य की संभावनाओं की व्याख्या कीजिए।

7. Examine the present position and problems of the Sugar Industry in India, (B. U., B. A. 1962 A.)
भारत में चीनी उद्योग की वर्तमान स्थिति तथा समस्याओं की व्याख्या कीजिए।

8. Describe the importance of the Cotton Textile Industry in the economy of India. Discuss the present problems of the industry. (P. U., B A. (H) 1961)
भारत की अर्थ-व्यवस्था में सूती वस्त्र-उद्योग के महत्त्व की व्याख्या कीजिए। इस उद्योग की वर्तमान समस्याओं की व्याख्या कीजिए।

9. 'When compared with Cotton Industry the position of Jute Industry is much stronger in international trade.' Is this statement still true after the partition. (B. U., B. A. 1969 A.)
"सूती वस्त्र-उद्योग की तुलना जूट-उद्योग की स्थिति अंतर्राष्ट्रीय व्यापार में अत्यधिक सुदृढ़ है।" क्या देश-विभाजन के बाद भी यह स्थिति सत्य है ?

10. Discuss the role of protection in the Development of Iron and Steel or Sugar Industry in India. (M. U., B. A. 1965 A.)

लोहा तथा इस्पात उद्योग एवं चीनी उद्योग के विकास में संरक्षण के महत्त्व की व्याख्या करें।

11. Trace the development of any one of the following Indian industries and discuss their problems—(a) Jute manufacturing or (b) Iron & Steel industry (R. U., b. A. 1965 A.)

निम्नांकित में से किसी भी एक भारतीय उद्योग के विकास के इतिहास का वर्णन कीजिए तथा इनकी समस्याओं को बतलाइये—(क) जूट उद्योग, (ख) लोहा एवं इस्पात उद्योग।

12. Examine the present position and problems of either the cotton textile or the Iron and Steel Industry in India. (B. U. B A. 1966 A.)

भारत में सूती वस्त्र-उद्योग अथवा लोहा तथा इस्पात उद्योग की वर्तमान स्थिति एवं समस्याओं का वर्णन कीजिए।

13. Examine the present position and problems of the (a) Cotton textile industry, or (b) Sugar Industry in India.

(Bhag. U., B. A. 1966 A. M. U., B. A. 1964 A.)

सूती वस्त्र-उद्योग अथवा चीनी उद्योग की वर्तमान स्थिति अथवा समस्याओं का वर्णन कीजिए।

14. Give a brief account of the Iron and Steel Industry in India. What are its problems ? What provisions have been made in the Second Five Year Plan for its development. ? (R. U., B. A. 1958 A.)

भारत के लोहा एवं इस्पात उद्योग की संक्षिप्त व्याख्या कीजिए। इसकी क्या समस्याएँ हैं ? द्वितीय पंचवर्षीय योजना में इसके विकास के लिए क्या व्याख्या की गयी है ?

15. "The Sugar industry is the child of protection.' Elucidate. Discuss the present problems of the industry (R U.. B. A. (H) 1968, B U., B A. 1960 A; R U., B. A. 1964. A; 1966 A.; M. U.. B. A. 1968 A.)

"चीनी उद्योग संरक्षण का शिशु है।" स्पष्ट कीजिए तथा चीनी उद्योग की वर्तमान समस्याओं की व्याख्या कीजिए।

16 Give an account of the present position and the problems of the Jute or Iron and Steel Industry of India. (B. U., B. A. 1963 A,)

भारत के जूट के अथवा लोहा इस्पात उद्योग की वर्तमान स्थिति तथा समस्याओं का वर्णन कीजिए,

17. Give a brief but critical estimate of the present position of the Jute Industry in India. What will be the effect of development of Jute manufactusing Industry in Eastern Pakistan on the Indian Jute Industry.

(B. U., B. A. (H) 1957)

भारत में जूट उद्योग की एक संक्षिप्त किन्तु आलोचनात्मक व्याख्या प्रस्तुत कीजिए। भारतीय जूट उद्योग पर पूर्वी पाकिस्तान में जूट उद्योग के विकास का क्या प्रभाव पड़ेगा ?

18. Give a brief account of the Industrial enterprises started by the Government of India in the post-war period

(B. U., B. A. 1957. A; B. U., B. A. 1963 S)

भारत सरकार द्वारा युद्धोत्तर काल में प्रारम्भ औद्योगिक संस्थाओं की व्याख्या कीजिए।

19. Write a note on any two public sector industries in India.

(B. U., B. A. 1966 A; R. U., B. A. 1963 A., 966 A.)

भारत के किन्हीं दो राजकीय क्षेत्र के उद्योगों पर टिप्पणी लिखिये।

औद्योगिक नीति

1. Examine the main features of the Industrial policy of India of 1956 and show how it differs from that of 1948. ?
(B. U., B. A. (H) 1964; B. A. 1962 A.)
१९५६ की भारत की औद्योगिक नीति की प्रधान विशेषताओं की व्याख्या कीजिए तथा यह दिखलाइये की १९४८ की औद्योगिक नीति से इसमें क्या भिन्नता है ?

2. Describe briefly the main features of the Industrial policy enunciated by the Govt. of India in 1956. Do you approve of this policy ? If so, why ?
(Bhag. U. B. A. 1962 A.)
भारत सरकार द्वारा १९५६ में घोषित औद्योगिक नीति की प्रमुख विशेषताओं की संक्षिप्त व्याख्या कीजिए। क्या आप इस नीति को स्वीकार करते हैं ? यदि हाँ तो क्यो ?

3. Give a critical estimate of the post war industrial policy of the Government of India. (B. U., B. A. (H) 1969)
भारत सरकार की युद्धोत्तरकालीन औद्योगिक नीति की संक्षिप्त व्याख्या प्रस्तुत कीजिए।

4. What is the role assigned to private sector in India, industrial policy ? Do you consider it to be consistent with the socialistic pattern of society?
(R., U.. B. A. 1965 A.)
भारत की औद्योगिक नीति में निजी क्षेत्र को क्या महत्त्व दिया है ? क्या यह समाजवादी ढाँचे की सामाजिक व्यवस्था के अनुरूप है ?

5. Critically examine the industrial policy of the Govt of India.
(Bhag. U., B. A. 1966 A.)
भारत सरकार की औद्योगिक नीति की आलोचनात्मक समीक्षा कीजिए।

6. How far has the present industrial development of the country influenced the Industrial policy of the Government. Do you advocate any change in this policy. (B. U. B. A. 1959 A.)
देश के वर्तमान औद्योगिक विकास ने सरकार की औद्योगिक नीति को किस प्रकार से प्रभावित किया है ? क्या इस नीति में आप कोई परिवर्तन के पक्ष में हैं ?

7. Describe the present industrial policy of the Govt. of India. Will it lead to mixed economy or socialism. (R. U., B. A. 1964 A.)
भारत सरकार की वर्तमान औद्योगिक नीति की व्याक्या करें। क्या यह मिश्रित अर्थ-व्यवस्था अथवा समाजवाद की स्थापना में सहायक होगी ?

8. "The policy of simultaneous development of the Large Scale Industries in the private sector and Small and Cottage Industries envisaged in Second Five Year Plan is the product of confused thinking." Discuss.
(B. U., B. A. (H) 1957.)
"द्वितीय योजना में निजी क्षेत्र में बड़े पैमाने के उद्योग तथा लघु एवं कुटीर-उद्योगों के विकास पर साथ-साथ जोर अस्पष्ट विचारधारा का परिणाम है।" स्पष्ट कीजिए।

9. Examine the Industrial Policy of the Government of India (1956). Do you advocate any change in this policy ?
(M U., B. A. 1966 A. B, U, B. A. 19'2)
भारत सरकार की १९५६ ई० की औद्योगिक नीति की समीक्षा कीजिए। क्या आप इसमें

10. "The Industrial Policy Resolution of 1956 contemplates a mixed economy in which public and private enterprises work hand in hand." Examine the statement. Do you advocate any change in the policy ?

(M. U., B. A. 1964 A.)

"१९५६ ई० की औद्योगिक नीति एक ऐसी मिश्रित अर्थ व्यवस्था की स्थापना का प्रयास है जिसमें निजी तथा सार्वजनिक क्षेत्र हाथ-में-हाथ मिलाकर चलेंगे।" क्या आप इस नीति में कोई परिवर्तन चाहते है ?

11. Discuss the salient features of the Industrial policy Resolution (1956) of the Govt. of India. How far are the economic and social objectives envisaged therein realised ? (M. U., B. A. 1958 A.)

१९५६ ई० की औद्योगिक नीति की प्रधान विशेषताओं की व्याख्या कीजिए। इस नीति में वर्णित आर्थिक तथा सामाजिक उद्देश्यों की कहाँ तक पूर्ति हो पायी है ?

औद्योगिक वित्त, प्रबन्ध अभिकर्त्ता प्रणाली तथा औद्योगिक वित्त निगम

1. Describe briefly the problem of Industrial finance for large scale industries in India. Examine the steps taken by the State in recent years to remove the shortcomings of the system. (R. U., B. A. 1954.)

भारत में बड़े पैमाने के उद्योगों के लिए औद्योगिक वि की समस्या का संक्षिप्त विवरण दीजिए। राज्य द्वारा हाल में इस व्यवस्था के दोषों को दूर करने के उपायों को वर्णन कीजिए।

2. What steps have been taken by the Govt. to improve industrial finance in India since independence ? Describe the functions of the different institutions set up for the purpose. (P. U., B. A. 1966 A.)

स्वतंत्रता-प्राप्ति के बाद सरकार द्वारा औद्योगिक वित्त में सुधार के लिए अपनाये गय उपायों की व्याख्या कीजिए ? इस उद्देश्य से स्थापित विभिन्न संस्थाओं के कार्यों की व्याख्या कीजिए।

3. Discuss briefly the system of Industrial finance for Large scale Industries in India. Examine the steps taken by the state in recent years to remove the shortcomings of the system. (B. U., B. A. (H) 1958)

भारत में बड़े पैमाने के उद्योगों के लिए औद्योगिक वित्त-व्यवस्था का संक्षिप्त में विवरण दें। राज्य द्वारा हाल के वर्षों में इस व्यवस्था के दोषों को दूर करने के लिए किये गये उपायों की व्याख्या कीजिए।

4. Diseuss the role of the managing agency system in the industrial development of India. Do you advocate its abolition ? (B. U., B. A. 1959 S)

भारत के औद्योगिक विकास में प्रबंध अभिकर्त्ता प्रणाली के महत्त्व की व्याख्या करें, क्या आप इसे समाप्त करने के पक्ष में है ?

5 Discuss the important functions of the Managing Agency System in India, What are its shortcomings? Should Managing Agency System be allowed to continue ?

भारत में प्रबन्ध अभिकर्त्ता प्रणाली के महत्त्वपूर्ण कार्यों की व्याख्या कीजिए। इसकी कौन-कौन-सी त्रुटियाँ हैं ? क्या इस प्रथा को बनाये रखना चाहिए।

6. "The managing agency system in India must be mended and not ended." Comment on the statement and review the changes introduced in the system by the present Companies Act (R. U., B. A. 1965 A.)
"भारत में प्रबन्ध अभिकर्ता प्रणाली को समाप्त करने के बजाय इसमें सुधार लाना चाहिए। इस कथन की समीक्षा कीजिए तथा आधुनिक कम्पनी विधान द्वारा इस प्रथा में किये गये परिवर्तनों की व्याख्या कीजिए।
7. Examine the functions of the Industrial Finance Corporation and State Financial Corporations. (M. U., B. A. 1963 A.)
औद्योगिक वित्त निगम तथा राज्य वित्तीय निगमों के कार्यों की व्याख्या कीजिए।
8. Examine the functions of the Industrial Finance Corporation of India. What are its contributions towards recent Industrial growth ? (P. U., B. A. 1960 A.)
भारत के औद्योगिक वित्त निगम के कार्यों की व्याख्या कीजिए। आधुनिक औद्योगिक विकास में इसकी देन की व्याख्या कीजिए।
9. Examine the functions and constitution of the Industrial Finance Corporation, How far has it helped in solving the problem of Industrial Finance ? (B. U., B. A. 1959 A.)
औद्योगिक वित्त निगम की बनावट तथा कार्यों की व्याख्या कीजिए। औद्योगिक वित्त की समस्या के समाधान में कहाँ तक सिद्ध हुई है ?
10. What are the sources of finance for Industries to India ? What has been done by the Govt. in recent years to increase facilities for industrial finance ? (B. U., B. A. 1959 S.)
भारत में उद्योगों के लिए वित्त प्राप्ति के कौन-कौन साधन हैं ? औद्योगिक वित्त की सुविधाओं में विकास के लिए हाल में सरकार द्वारा क्या उपाय किये गये हैं ?
11. Give a brief description of the public enterprise to finance Industries in India. (M. U., B. A. 1965 A.)
उद्योगों को वित्त प्रदान करने के लिए स्थापित राजकीय क्षेत्र की संस्थाओं की संक्षेप में व्याख्या कीजिए।
12. Give an account of the organisation, functions and working of the industrial Finance Corporations of India.
(Bhag. U., B. A. 1962 A., B. U., B. A. 1962 A., 1965 A., M. U., B. A. 1968 A.)
भारत के औद्योगिक वित्त निगम के संगठन, कार्य तथा कार्य-प्रणाली की व्याख्या करें।
13. Examine the various public institutions that have been set up in the post-independence period of India for financing development of industries in the country. (M. U., B. A. (H) 1964 A.)
युद्धोत्तर काल में भारत में उद्योगों को वित्त प्रदान करने के लिए स्थापित विभिन्न राजकीय संस्थाओं की व्याख्या कीजिए।

विदेशी पूँजी एवं उद्योग-संरक्षण नीति

1. "In securing rapid industrial development under present conditions, foreign capital has an important part to play." Discuss this statement and

"वर्तमान परिस्थितियों में द्रुतगति से औद्योगिक विकास के लिए विदेशी पूँजी का स्थान बड़ा ही महत्त्वपूर्ण है।" इस कथन की व्याख्या कीजिए तथा हाल के वर्षों में भारत को उपलब्ध विदेशी पूँजी की मात्रा के सम्बन्ध में अनुमान लगाइये।

2. Examine the present policy of the Government of India regarding the investment of foreign capital in the country.
वर्तमान समय मे देश में विदेशी पूँजी के विनियोग के सम्बन्ध में सरकारी नीति की व्याख्या कीजिए।

3. "The Indian Fiscal Commission of 1949-50 approached their task from a new angle of vision and laid down new principles of protection." Discuss. (B U., B. A. 1958 A., B. A. (H) 1961; M. U., B. A. (H) 1964, R. U., B. A. 1964 A.)
"१९४९-५० के उद्योग वित्त आयोग ने अपने कार्य को एक नये दृष्टिकोण से सम्पन्न किया तथा संरक्षण के लिए नये सिद्धांतों का प्रतिपादन किया।" व्याख्या कीजिए।

4. In what respects are the recommendations of the Second Fiscal Commission (1950) different from the recommendations of the previous Fiscal Commission ?" (B U., B. A (H) 1957)
द्वितीय वित्त आयोग (१९५०) की सिफारिशें किन-किन बातों में पहले आयोग से भिन्न हैं ?

5. Examine the working of the policy of discriminating protection in India. What are the new principles of protection recommended by the Fiscal Commission of 1949-50 ? (P. U., B. A. 1963 A.; M U. B. A. 1964 S.)
भारत में विवेचनात्मक संरक्षण की नीति की क्रियाशीलता की विवेचना कीजिए। १९४९-५० के वित्त आयोग द्वारा प्रस्तावित संरक्षण सिद्धांत क्या हैं ?

6. What is the present attitude of the Govt. of India towards the investment of foreign capital in our country ? Make out a strong case for the use of foreign capital during development planning in India. (R. U., B. A. 1963 A.)
भारत में विदेशी पूँजी के विनियोग के सम्बन्ध में सरकार की वर्तमान नीति क्या है ? भारत के विकास की योजनाओं के कार्यान्वियन के क्रम में विदेशी पूँजी के प्रयोग के लिए तर्क प्रस्तुत कीजिए।

7. "The discriminating protection has vouchsafed nothing better than perfunctory assistance, indifferently and grudgingly rendered to industries whose subsequent development has been left to its own course." Discuss the statement of Prof. Adarkar with special reference to any two industries to which protection was granted after 1924. (B. U., B. A. 1953 S.)
"विवेचनात्मक संरक्षण अनियमित संरक्षण की तरह है जो ऐसे उद्योगों को अनादरपूर्ण तरीके से प्रदान किया गया था जिन के भविष्य में विकास को उनके ही भाग्य पर छोड़ दिया गया।" १९२४ ई० के बाद संरक्षण प्रदान किये गये किन्हीं दो उद्योगों को ध्यान में रखते हुए प्रो० अदारकर के इस कथन की विवेचना कीजिए।

8. Examine briefly the weaknesses of the policy of discriminating protection. Discuss how developmental protection would solve this problem. (B. U., B. A. 1963 S.)

विवेचनात्मक संरक्षण नीति की त्रुटियों की संक्षिप्त व्याख्या कीजिए तथा इस बात को बतलाइये कि किस प्रकार विकासात्मक संरक्षण इस समस्या का समाधान कर सकता है ?

9. Discuss the part played by foreign capital in the Industrial development of India. (M. U., B. A. 1967)
भारत के आर्थिक विकास में विदेशी पूंजी के महत्त्व की व्याख्या कीजिए ।

10. Why was the 1921 protection policy described as discriminating ? How did the 1950 policy differ from it ? How far is the latter an improvement over the former ? (P U., B. A. 1966 A)
१९२१ ई० की संरक्षण-नीति को विभेदात्मक क्यों कहा गया था ? १९५० ई० की नीति किस अर्थ में इससे भिन्न है ? यह किस अर्थ में पहली नीति से अच्छी है ?

11. What is the significance of foreign Capital in India's economic development during the plan period ? (Bhag. U., B. A. 1965 A.)
योजना-काल में भारत के आर्थिक विकास में विदेशी पूंजी का क्या महत्त्व है ?

12. How does the present Fiscal policy differ from the earlier policy of discriminating protection ? Examine its effects on the industrial development of India. (Bhag. U., B. A. 1965 A.)
वर्तमान उद्योग वित्त नीति किस अर्थ में विवेचनात्मक संरक्षण की नीति से भिन्न है ? भारत के औद्योगिक विकास पर इसके प्रभाव की व्याख्या कीजिए ।

13. What do you understand by the triple formula as laid down by the policy of discriminating protection ? Discuss the effects of the application of this formula on the development of industries in India.
(Bhag. U., B. A. 1963 A.)
विवेचनात्मक संरक्षण की नीति द्वारा प्रस्तुत विवेचनात्मक संरक्षण को नीति के तीन सूत्रों से आप क्या समझते हैं ? भारतीय उद्योगों पर इन सूत्रों के प्रयोग के प्रभावों का वर्णन करें ।

14. Describe briefly the effects of protection on development of Sugar and Steel Industries of India. (M. U., B. A. 1963 A.)
भारत में चीनी तथा इस्पात उद्योगों के विकास पर संरक्षण के प्रभावों की व्याख्या कीजिए ।

औद्योगिक श्रम

1. Describe briefly the causes of the low efficiency of Industrial labourers in India. Suggest measures by which their efficiency may be raised.
(R. U., B. A. 1965 A., B. U., B. A. 1961 A.)
भारत में औद्योगिक श्रमिकों की निम्न कार्य कुशलता के कारणों की व्याख्या कीजिए । इनकी कार्य-कुशलता में वृद्धि के उपायों की व्याख्या कीजिए ।

2. Describe in brief the important problems of industrial labour in India.
(B. U., B. A. 1961 A.)
भारत में औद्योगिक श्रमिकों की प्रमुख समस्या का संक्षिप्त विवरण दीजिए ।

3. Describe the development of labour legislation in India after the Second World War. (B. U., B. A. 1959 A.)
द्वितीय महायुद्ध के बाद भारत में श्रम अधिनियमों के विकास की व्याख्या कीजिए ।

4. Discuss the present position of the trade union movement in India. What are its shortcomings ? (M. U. B. A 1964 S)

भारत में श्रम-संघ की वर्त्तमान स्थिति की व्याख्या कीजिये। इनकी कौन-कौन-सी त्रुटियाँ हैं ?

5. Explain the causes of industrial unrest in India and discuss the machinery evolved for solving industrial unrest. (M. U., B. A. 1968 A)

भारत में औद्योगिक अशान्ति के कारणों की व्याख्या करें तथा औद्योगिक अशान्ति की समस्या के लिए प्रयुक्त यंत्र का वर्णन करें।

6. Describe briefly the measures adopted by the Government of India to improve the conditions of industrial labour in the country. (B U., B A. 1964 A.)

भारत में औद्योगिक मजदूरों की स्थिति में सुधार के लिए सरकार द्वारा किये गये प्रयत्नों की व्याख्या कीजिए।

7. What are the shortcomings of trade union Movement in India ? Suggest measures to remove them. (B. U., B. A. 1964 A)

भारत में श्रमिक-संघ आन्दोलन की प्रधान त्रुटियों की व्याख्या कीजिये। इन्हें दूर करने के उपायों को बतलाइये।

8. What measures have been adopted in recent years to bring about industrial peace of India ? (B. U., B. A 1966 A.)

वर्त्तमान समय में औद्योगिक शांति के लिये सरकार द्वारा किये गये प्रयत्नों की व्याख्या कीजिये।

9. What steps have been taken by the Govt. since 1948 for securing industrial peace ? (M. U., B. A. (H) 1964; B. U., B. A. 1949 A.)

१९४८ ई० के बाद औद्योगिक शांति के लिए सरकार द्वारा किये गये प्रयत्नों की व्याख्या कीजिये।

10. Trace the growth and development of Trade Unionism in India. What are the drawbacks of the movement and how can they be removed ? (M U, B A. 963 S)

भारत में श्रमिक-संघ की उत्पत्ति तथा विकास की व्याख्या कीजिये। इस आंदोलन की कौन-कौन सी त्रुटियाँ हैं तथा इन्हें कैसे दूर किया जा सकता है ?

11. Describe the growth of the Trade Union Movement in India. Why has it not made satisfactory progress ? What should be done to put it on sound lines ? (B. U., B A 1957 A. 1962 S)

भारत में श्रमिक-संघ के विकास की व्याख्या कीजिये। इसकी संतोषजनक प्रगति क्यों नहीं हुई है ? इसे सुदृढ़ आधार प्रदान करने के लिए क्या-क्या करना चाहिए ?

12. What are the shortcomings of the Trade Union Movement in India ? Suggest measures to remove them. (R. U., B. A. 1965 A.)

भारत में श्रमिक-संघ आंदोलन का कौन-कौन-सी त्रुटियाँ हैं ? इन्हें दूर करने के उपायों की व्याख्या करें।

13. What measures have been taken by the Government of India in recent years to promote the welfare of Industrial workers ? Are these adequate ?
(B U , B. A. 1962 A.)

हाल के वर्षों में भारत सरकार द्वारा श्रम-कल्याण कार्यों में विकास के लिए क्या प्रयास किये गये हैं ? क्या ये पर्याप्त हैं ?

14. What do you mean by labour welfare ? What steps have been taken by the Government in recent years for welfare of industrial labour in India ?
(P. U., B. A. 1962 A)

श्रम-कल्याण से आप क्या समझते हैं ? हाल के वर्षों में सरकार द्वारा औद्योगिक श्रमिकों के कल्याण के लिये किये गये उपायों का वर्णन कीजिए।

15. What measures have been adopted by the Govt. of India for the welfare of industrial workers since 1948 ? Are they adequate ?
(M. U., B. A. 1966 A.)

१९४८ ई० के बाद भारत सरकार द्वारा औद्योगिक श्रमिकों के कल्याण के लिए क्या कार्य किये गये हैं ? क्या ये पर्याप्त हैं ?

16. What measures of social security has been provided to industrial w rkers of India since Independence ? (M. U., B. A. 196 A)

स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद सरकार द्वारा श्रमिकों को कौन-कौन-सी सामाजिक सुरक्षा प्रदान की गयी है ?

17. Discuss the necessity of social insurance for industrial workers in India. Examine the adequacy of the social insurance legislations passed in post-independent India. (R. U., B. A. 1964 A; B. U., B. A. (H) 1958, 1962 A.)

भारत में औद्योगिक श्रमिकों के लिए सामाजिक बीमा की आवश्यकता का वर्णन कीजिए। स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद भारत में पारित सामाजिक बीमा-सम्बन्धी विधानों की पर्याप्तता पर विचार करें।

18. Examine the machinery for solving industrial disputes in India. How, in your opinion, can industrial peace be achieved in our country ?
(B. U., B. A 1963 A.)

भारत में औद्योगिक संघर्षों के रोक-थाम के यंत्रों की व्याख्या कीजिए। देश में, आपकी राय में, औद्योगिक शांति किस प्रकार स्थापित की जा सकती है ?

19. What important labour legislations have been passed in India in recent years ? Do these meet our requirements ? (P. U., B. A. 1963 A.)

हाल के वर्षों में भारत में कौन-कौन-से महत्त्वपूर्ण श्रम-विधान पारित किये गये हैं ? क्या ये हमारी आवश्यकताओं के लिए पर्याप्त हैं ?

0 Describe the present position of Trade Union Movement in India. How far has the movement been vitiated by political considerations and to what effect ?
(M. U., B. A. 1963)

भारत में श्रम-संगठनों की वर्तमान स्थिति की व्याख्या करें। राजनीतिक प्रभावों द्वारा यह आंदोलन कहाँ तक दुष्प्रभावित हुआ है तथा इसका क्या प्रभाव पड़ा है ?

21. Examine the Social Security legislations passed in India in recent years. (R. U. B. A. 1966 A; B. U. B. A. 1958)

भारत में हाल के वर्षों में पारित सामाजिक सुरक्षा-सम्बन्धी विधानों की व्याख्या करें।

22. Discuss the existing scheme of social security to industrial working population of India ? (M. U., B. A. 1964 A)

भारत में औद्योगिक श्रमिकों को सामाजिक सुरक्षा प्रदान करने की वर्तमान व्यवस्था की व्याख्या करें।

23. Briefly describe Employee's State Insurance Act, 1948 and the Employee's Provident Fund Act, 1952. Do they give adequate social security to the working population of India ? (B. U., B. A. **1969 A.**)

कर्मचारी राज्य बीमा अधिनियम, १९४८ तथा कर्मचारी निर्वाह निधि अधिनियम, १९५२ की संक्षिप्त व्याख्या करें। क्या ये देश के श्रमिकों को पर्याप्त मात्रा में सामाजिक सुरक्षा प्रदान करते है ?

24. Describe briefly the growth and recent tendencies in trade unionism in India. What are its shortcomings ? Suggest measures to remove them. (R. U. B. A. 1964 A)

भारत में श्रमिक संघीयता के विकास तथा आधुनिक प्रवृत्तियों की संक्षिप्त व्याख्या करें। इनकी कौन-कौन-सी त्रुटियाँ है इन्हें दूर करने के उपाय बतलाइये।

यातायात के साधन

1. Discuss with reference to India, the importance of transport in a country's economic development. Examine in this connection the place given to transport in the Five Year Plans. (P. U., B. A. 1956 A)

भारत के संदर्भ में, किसी देश के आर्थिक विकास में यातायात के महत्त्व की व्याख्या करें। इस सम्बन्ध में पंचवर्षीय योजनाओं में यातायात के साधनों को दिये गये महत्त्व की व्याख्या करें।

2. Account for the emphasis given on the transport and communication in our Plans. What are the schemes for their development ? (B. U., B. A. 1960 A)

हमारी योजनाओं में यातायात तथा संवहन को दिये गये महत्त्व की व्याख्या करें। इनके विकास के कार्यक्रम क्या हैं ?

3. What do you know about the present position of Indian Railways ? Write a short note on—(a) the new Railways Convention of 1947; (b) the Zonal Regrouping Scheme (B. U., B. A. 1957 **A.**)

भारतीय रेलों की वर्तमान स्थिति के सम्बन्ध में आप क्या जानते हैं ? (क) १९४७ ई० के नये रेलवे कन्वेन्शन, तथा (ख) विभिन्न समूहों में रेलों के विभाजन पर टिप्पणी लिखें।

4. Discuss the development of railways under India's Five Year Plans. (R. U., B A. 1966 A)

भारत की पंचवर्षीय योजनाओं में रेलों के विकास की व्याख्या कीजिए।

5. Explain the meaning of rail-road co-ordination. What steps has the Gov taken to bring about rail-road co-ordination in India ? (R. U., B. A. 1963 A.)

रेल-सड़क समन्वय का क्या अर्थ है ? भारत में रेल-सड़क समन्वय के लिए सरकार द्वारा क्या किये गये हैं ?

6. What has the Govt. of India done for the improvement of Road transport since Independence ? (Bhag. U., B. A. 1966 A.)
स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद सड़क यातायात के विकास के लिए किये गये प्रयत्नों की व्याख्या कीजिए ।

7. "India requires not only development of transport services but also a proper co-ordination between different forms of transport." Discuss.
(B. U., B. A. 1955 A, P. U., B. A. 1962 A., M. U., B. A. 1966 A. 1964 A, Bhag. U., B. A. 1965 A)
"भारत में केवल यातायात सेवाओं के विकास की आवश्यकता नहीं, वरन् विभिन्न प्रकार के यातायात के साधनों के बीच समन्वय की भी आवश्यकता है ।" व्याख्या कीजिए ।

8. Discuss the importance of Railways in our economy. What are their present problems ? (M. U., B. A. 1967 A.)
देश की अर्थ-व्यवस्था में रेलों के महत्त्व की व्याख्या कीजिए । इनकी वर्तमान समस्याओं की व्याख्या कीजिए ।

9. Discuss the nature of competition between rail-road transport in India. How would you bring about a better co-ordination between the two ?
(B. U., B. A. 1957 A.)
भारत में रेल एवं सड़क यातायात के बीच प्रतियोगिता की प्रकृति की व्याख्या कीजिए । इन दोनों में आप किस प्रकार उत्तम समन्वय की स्थापना कीजियेगा ।

10. Why is proper co-ordination between different forms of transport in India considered necessary ? (Bhag, U., B. A 1962 A)
भारत में यातायात के विभिन्न साधनों के बीच उचित समन्वय क्यों आवश्यक है ?

11. Examine the present position and future possibilities of (a) Aerial, and (b) Marine transport in India. (B U., B. A. 1957 (S)
भारत में (क) वायु, तथा (ख) सामुद्रिक यातायात की वर्तमान स्थिति तथा भविष्य की सम्भावनाओं की व्याख्या कीजिए ।

12. Why is efficient transport system regarded, as an important basis for economic development ? Give your argument with reference to the Indian economy. (R. U., B. A. 1966 A.)
आर्थिक विकास के लिए क्यों कुशल यातायात व्यवस्था ही आवश्यक आधार माना जाता है ? भारतीय अर्थ-व्यवस्था को ध्यान में रखते हुए अपने तर्क प्रस्तुत कीजिए ।

13. Discuss the problem of rail-road co-ordination in India and indicate the causes which obstruct the development of road transport in India.
(R. U., B. A. 1966 A)
भारत में रेल-सड़क समन्वय की समस्या की व्याख्या कीजिए तथा उन कारणों की व्याख्या कीजिए जो सड़क यातायात के विकास में बाधक सिद्ध होते हैं ?

14. "Road transport is vital for the successful execution of a plan of economic development based on a programme of rapid industrialization." Discuss. How do you justify the nationalisation of road transport in India ?
(R. U., B. A. 1964 A)

"द्रुतगति से औद्योगीकरण पर आधारित योजना के सफल सम्पादन के लिए सड़क यातायात का विकास आवश्यक है।" व्याख्या कीजिए। भारत में आप सड़क यातायात के राष्ट्रीयकरण को किस प्रकार न्यायोचित करार कर सकते हैं ?

15. "The policy of nationalisation of road transport by the State Government is likely to conflict with the policy of development of railways." Discuss it critically. (B. U., B. A. (H) 1961 A.)

"राज्य सरकारों द्वारा सड़क यातायात के राष्ट्रीयकरण के रेलों के विकास की नीति के विरुद्ध जाने की सम्भावना है।" इसकी आलोचनात्मक व्याख्या कीजिए।

16. Discuss the importance of road transport in India. Examine the measures adopted by the Govt. to develop road transport in India since 1961. (M. U., B. A. 1964 A.)

भारत में सड़क यातायात के महत्त्व की व्याख्या कीजिए। १९६१ ई० के बाद सरकार द्वारा सड़क यातायात के विकास के लिए किये गये प्रयत्नों की व्याख्या कीजिए।

17. Discuss the problems and prospects of Road Transport in India. What steps have been taken to develop the same during the plan period ? (M. U., B. A. 1965 A.)

भारत में सड़क यातायात की समस्याओं तथा सम्भावनाओं की व्याख्या कीजिए। योजनाकाल में इसके विकास के लिए क्या उपाय किये गये हैं।

18. Discuss the importance of transport and communication in our country. Do you think that the right priority has been given to transport and communication in our planning ? (R. U., B. A. 1963 A.)

अपने देश में यातायात एवं संवादवाहन के महत्त्व की व्याख्या कीजिए। क्या आप इस बात से सहमत हैं कि विकास की योजनाओं में इन्हें उचित प्राथमिकता प्रदान की गयी है ?

भारत का विदेशी व्यापार

1. "India's foreign trade has undergone a fundamental change largely on account of the partition of the country." Discuss. What are the characteristics of our foreign trade at present ? (B. U., B. A. 1957 S.)

"विभाजन के परिणामस्वरूप भारत के विदेशी व्यापार में आमूल परिवर्तन हुए हैं।" व्याख्या कीजिए। वर्तमान समय में देश के विदेशी व्यापार की मुख्य विशेषताएँ क्या हैं ?

2. Describe the changes that have taken place in direction and composition of India's foreign trade during the post-war period (B. U., B. A. 1958, 1962 A.)

युद्धोत्तरकाल में भारत के विदेशी व्यापार की दिशा तथा बनावट में हुए परिवर्तनों की व्याख्या कीजिए।

3. Examine briefly the changes in the Volume, composition and direction of the foreign trade in India since 1947. (R. U. B. A. 1964 A.)

१९४७ ई० के बाद भारत के विदेशी व्यापार की मात्रा, बनावट तथा दिशा में हुए परिवर्तनों की संक्षिप्त व्याख्या कीजिए।

4. Discuss fully the salient features of India's foreign trade after independence. (R. U., B. A. 1966 A.)

स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद भारत के विदेशी व्यापार की प्रमुख विशेषताओं की व्याख्या कीजिए।

5. 'Considerations of foreign exchange have largely influenced the Foreign Trade Policy of the Govt. of India.' Discuss and examine this in the light of the recent trends in India's foreign trade.

(P. U., B. A. (H) 96 A. M. U, B. A. 1965 S.)

"विदेशी विनिमय की आवश्यकता ने भारत सरकार की विदेशी व्यापार-सम्बन्धी नीति को बहुत अधिक प्रभावित किये हैं।" भारत के विदेशी व्यापार की वर्तमान प्रवृत्तियों के संदर्भ में इस कथन की व्याख्या कीजिए।

6. Discuss briefly the trends in the foreign trade of India during the last decade. Account for the large increase in imports during this period.

(Bhag U., B. A. 1955 A.)

पिछले दशक के भारत के विदेशी व्यापार की प्रकृति की संक्षिप्त व्याख्या कीजिए। इस अवधि में आयात में अत्यधिक वृद्धि के कारणों की व्याख्या कीजिए।

7. Examine the present trends in India's foreign trade. What do you suggest to correct the adverse balance of payments ? (M. U., B. A. 1963 A.)

भारत के विदेशी व्यापार की वर्तमान प्रवृत्तियों की व्याख्या कीजिए। विपरीत भुगतान संतुलन को ठीक करने के लिए आप क्या उपाय प्रस्तुत करते हैं।

8. Examine the causes of India's adverse balance of payments in post-war years. What measures have been adopted to correct it and with what results ? (R U., B. A. 1965 A.)

युद्धोत्तरकाल में भारत के विपरीत भुगतान संतुलन के कारणों की व्याख्या कीजिए। इसे ठीक करने के लिए क्या उपाय किये गये हैं तथा इनका परिणाम क्या है ?

9. Examine the important changes that have taken place in the nature, volume and direction of India's foreign trade during the last ten years.

(M. U, B. A. 1966 A.)

पिछले दस वर्षों में भारत के विदेशी व्यापार की प्रकृति, मात्रा तथा दिशा में प्रमुख परिवर्तनों की व्याख्या कीजिए।

10. Discuss the nature and extent of India's adverse balance of trade since 1966. How can it be reduced ? P. U., B. A. 1959 A.)

१९६६ ई० के बाद भारत के प्रतिकूल व्यापाराधिक्य की प्रकृति तथा मात्रा का वर्णन कीजिए। इसे कैसे कम किया जा सकता है ?

11. Discuss the recent trends in India's foreign trade. Do you advocate a planned foreign trade for this country ? (P. U., B. A. 1960 A.)

भारत के विदेशी व्यापार की आधुनिक प्रकृति की व्याख्या कीजिए। क्या आप इस देश के लिए आयोजित विदेशी व्यापार के पक्ष में हैं ?

12. What important changes have taken place in the nature and direction of India's foreign trade since 1950 ? Suggest measures for export promotion in India. (P. U, B. A. 1962 A.

१९५० ई० के बाद भारत के विदेशी व्यापार की प्रकृति तथा दिशा में क्या महत्त्वपूर्ण परिवर्तन हुए हैं ? निर्यात प्रोत्साहन के उपायों की व्याख्या कीजिए।

13. Describe the main trends in India's Foreign trade since 1949. (M. U., B. A. 1968 A.)
१९४९ ई० के बाद भारत के विदेशी व्यापार की मुख्य प्रवृत्तियों की व्याख्या कीजिए।

14. What important changes have taken place in the nature and direction o India's foreign trade in recent years ? (Bhag. U., B. A. 1962 A.)
हाल के वर्षों में भारत के विदेशी व्यापार की प्रवृति तथा दिशा में क्या परिवर्तन हुए हैं ?

15. What are the main items of our export trade ? Discuss the importance o promoting our export at the present time. (B. U , B. A. 1965 A.)
हमारे निर्यात की मुख्य मदें क्या हैं ? वर्तमान समय में निर्यात को प्रोत्साहित करने के महत्त्व की व्याख्या कीजिए।

भारतीय मुद्रा

1. Analyse the circumstances that led to the devaluation of the Indian rupees in 1949, Consider its effects on our foreign trade. (B. U., B. A 1957 A.)
१९४९ ई० में भारतीय रुपये के अवमूल्यन के लिए उत्तरदायी परिस्थितियों की व्याख्या कीजिए। देश के विदेशी व्यापार पर इसके प्रभावों की व्याख्या कीजिए।

2 Discuss the circumstance which led to the devaluation of the Indian Rupee in 1966. How has it affected price-level ? (M U., B. A. 1967 A.)
१९६६ ई० में भारतीय रुपये के अवमूल्यन के लिए उत्तरदायी परिस्थितियों की व्याख्या कीजिए। इसने मूल्य-तल को किस प्रकार से प्रभावित किया है ?

3. Discuss the main changes which the Second World War brought about in the currency and exchange systems in India. (B U., B. A. 1957 S.)
द्वितीय युद्ध द्वारा देश मौद्रिक तथा विनिमय-व्यवस्था में लाये गये परिवर्तन की व्याख्या कीजिए।

4 Describe the circumstances which led to the devaluation of the Indian rupee in Sept 1949. What were its consequences ? (B. U., B. A 1957 A., 1959 S; B. U. (H) 1961)
१९४९ ई० में भारतीय रुपये के अवमूल्यन के लिए उत्तरदायी परिस्थितियों की व्याख्या कीजिए। इसके क्या परिणाम हुए ?

भारतीय बैंकिंग

1. Give an account of the Joint Stock Commercial Banks in India Point out their main defects. How have these defects been sought to be removed by recent banking legislation ? (B. U., B. A. 1957 S.)
भारत के व्यावसायिक बैंकों की व्याख्या कीजिए। इनकी प्रमुख त्रुटियों को बतलायें। हाल के बैंकिंग विधान द्वारा इन त्रुटियों को किस प्रकार से दूर करने का प्रयास किया गया है।

2. Analyse the effects of the last war on Commercial Banking. What are the problems facing banks at present ? (B. U., B. A. 1957 S)
व्यावसायिक बैंकों पर द्वितीय युद्ध के प्रभावों की व्याख्या कीजिए। वर्तमान समय में बैंकों की क्या समस्याएँ हैं ?

3. Give an account of the working of the Reserve Bank of India. How far has it helped in providing agricultural Credit ?
(M U., B. A. 1965 A; B. U., B. A. 1954 A)
रिजर्व बैंक ऑफ इंडिया की कार्यवाही का वर्णन करें। कृषि-साख प्रदान करने में यह कहाँ तक सहायक सिद्ध हुआ है ?

4. Explain the principal functions of Reserve Bank of India.
(R. U., B. A. 1963 A.)
रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया के मुख्य कार्यों की व्याख्या कीजिए।

5. What are the causes of bank failures in India ? How has the position been improved by the Banking Companies Act of 1949 ?
(B. U., B. A. 1961 A.)
भारत में बैंकों के फेल होने के क्या कारण हैं ? १९४९ में बैंकिंग कम्पनीज विधान द्वारा स्थिति में क्या सुधार हुआ है ?

6. Outline the recent trends in Indian banking. What part the Reserve Bank has played in the development of a sound banking system in India ?
R. U , B. A. 1965 A ; B. U., B. A. 1957 A.)
वर्तमान भारतीय बैंकिंग-व्यवस्था की मुख्य प्रवृत्तियों की व्याख्या कीजिए। देश में सबल बैंकिंग-व्यवस्था के विकास में रिजर्व बैंक का क्या स्थान रहा है ?

7. State the importance of indigeneous bankers in the banking system of India. What suggestions can you offer for improving their system of banking ? (R. U., B. 1957 A)
भारत की बैंकिंग व्यवस्था में देशी बैंकों के महत्त्व की व्याख्या कीजिए। इनकी बैंकिंग व्यवस्था में सुधार के लिए आप क्या सुझाव देंगे ?

8. Discuss the Constitution and functions of Reserve Bank of India.
(B. U., B. A. 1966 A.)
रिजर्व बैंक ऑफ इंडिया के कार्यों तथा संगठन की व्याख्या कीजिए।

9. In what ways has the Reserve Bank of India been assisting the development of rural credit facilities in the country ?
(M. U., B. A. (H) 1962; P. U B. A. 1962 A.)
रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया देश में ग्रामीण साख की सुविधाओं के विस्तार में किस प्रकार सहायता प्रदान कर रहा है ?

0. What are the existing agencies of rural credit in India ? Discuss the role of the Reserve Bank of India in providing rural finance.
(B. U B. A. 1962 A).
भारत में ग्रामीण साख के वर्तमान साधन कौन-कौन हैं ? ग्रामीण वित्त प्रदान करने में रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया के कार्यों की व्याख्या कीजिए।

11 Describe the main constituents and salient features of the Indian Money market. How can its shortcomings be removed ?
(B. U., B. A. 1955 A. Bhag. U., B. A. 1962 A.)
भारतीय मुद्रा-बाजार के प्रमुख निर्मायकों तथा इसकी विशेषताओं की व्याख्या कीजिए। इसकी त्रुटियों को कैसे दूर किया जा सकता है ?

12 Why was the Imperial Bank of India nationalised ? Distinguish its functions from those of the Reserve Bank. (P. U., B. A. 1961 A.)
इम्पीरियल बैंक ऑफ इण्डिया का राष्ट्रीयकरण क्यों किया गया ? रिजर्व बैंक तथा इसके कार्यों की तुलना कीजिए।

13. Discuss briefly the role of the Reserve Bank of India in the Banking structure of the country. Why has it been nationalised ?
(Bhag. U., B. A. 1963 A.)
देश की बैंकिंग व्यवस्था में रिजर्व बैंक के महत्त्व की संक्षिप्त व्याख्या कीजिए। इसका राष्ट्रीयकरण क्यों किया गया है ?

14. What are the shortcomings of the banking system in our country ? Do you advocate their wholesale nationalization ? (P. U., B. A. 1963 A.)
हमारे देश की बैंकिंग व्यवस्था की कौन-कौन-सी त्रुटियाँ हैं ? क्या आप इसके पूर्ण राष्ट्रीयकरण के पक्ष में हैं ?

15. Examine the role of the Reserve Bank of India in the Indian economy. What special role does the bank play in rural finance ?
(P. U., B. A. 1960 A.)
भारतीय अर्थ-व्यवस्था में रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया के महत्त्व की व्याख्या कीजिए। ग्रामीण वित्त प्रदान करने में यह कौन-सा कार्य करता है ?

16. Describe in brief the constituent elements of our money market and point out its defects. (R. U., B. A. 1963 A.)
भारतीय मुद्रा-बाजार की निर्माथिक संस्थाओं की संक्षिप्त व्याख्या कीजिए तथा इसके दोषों को बतलाइये।

भारतीय वित्त-व्यवस्था

1. What are the principal defects in the Indian Tax system ? How would you attempt to remove those defects ?
भारतीय कर-व्यवस्था के कौन-कौन-से प्रधान दोष हैं ? इन दोषों को दूर करने का आप किस प्रकार प्रयास करेंगे ?

2. What are the principal defects in the Indian Tax system ? How can they be remedied ? (B. U., B. A. 1959 S.)
भारतीय कर-व्यवस्था के कौन-कौन-से प्रधान दोष हैं ? इन्हें कैसे दूर किया जा सकता है ?

3. Discuss the desirability or otherwise of levying death duties in India.
(B. U., B. A. 1964 A.)
भारत में मृत्यु कर लगाने के औचित्य पर विचार कीजिए।

4. Bring out the need for imposition of death duties in India and give the main features of the Estate Duty Act of 1953. (B. U., B. A. 1957 A.)

भारत में मृत्यु कर लगाने की आवश्यकता पर विचार कीजिए तथा १९५३ के जायदाद कर की मूल्य विशेषताओं की व्याख्या कीजिए।

5. What are the important recent trends in the finances of the state of Bihar. How would you improve them ? (B. U., B. A. 1957 A,)
बिहार राज्य की वित्तीय व्यवस्था की आधुनिक प्रवृत्तियों की व्याख्या कीजिए। इनमें आप किस प्रकार से सुधार ला सकते हैं ?

6, Give a brief outline of the main recommendations of the firist Indian Finance Commission (1951) (R. U., B A. 1957 S,)
प्रथम भारतीय वित्त आयोग (१९५१) की मुख्य सिफारिशों की संक्षिप्त रूप-रेखा प्रस्तुत कीजिए।

7. What are the different sources of revenue of the Govt, in India ? Are they, adequate for development ?
भारत सरकार की आय के कौन-कौन-से प्रधान साधन हैं ? क्या ये विकास के लिए पर्याप्त हैं ?

8. Examine the importance of Income Tax and Sales Tax as sources of revenue of the union and state Governments in India, (M. U., B. A. 1967 A.)
भारत में संघिय तथा राज्य सरकारों की आय के साधन के रूप में आय कर एवं विक्रय कर की व्याख्या कीजिए।

9. Critically examine the main sources of revenue of the Govt, of Bihar,, Suggest measures to augment the state revenue. (M, U., B. A. 196 .)
बिहार सरकार की आय के मुख्य साधनों की व्याख्या कीजिए। राज्य की आय में वृद्धि के लिए आप क्या सुझाव देंगे ?

10. Discuss the importance of land revenue as a source of State Finance. Examine briefly the criticisms levelled against it as a form of indirect tax- (Bhag. U , B. A. 1965 A.)
राज्यों के वित्त के अन्तर्गत भूमि कर के महत्त्व की व्याख्या कीजिए। परोक्ष कर के रूप में इसके विरुद्ध दी जाने वाली मुख्य आलोचनाओं की व्याख्या कीजिए।

11. Describe the main sources of revenue of the Government of the Indian Union. Assess their relative importance, (B, U., B. A. 1959 A.)
भारत की संघीय सरकार की आय के प्रमुख साधनों की व्याख्या कीजिए। इनके सापेक्षिक महत्त्व को भी बतलाइये।

12. Examine the salient features of our tax structure, Is it proper for our economic development ?
भारतीय कर-व्यवस्था की प्रमुख विशेषताओं की समीक्षा कीजिए। क्या हमारे आर्थिक विकास के लिए यह पर्याप्त है ?

भारत में कीमत

1. Account for the general rise in price-level after the World War in India. What measures have been takan by the Govt. to control it and with what success ? (B. U., B, A, 1956 S.)

भारत में गत महायुद्ध के बाद से मूल्य-तल में सामान्य वृद्धि की व्याख्या कीजिए। उसे नियन्त्रित करने के लिए सरकार द्वारा क्या उपाय किये गये हैं तथा इस सम्बन्ध में क्या सफलता प्राप्त हुई है ?

2. How do you explain the recent rise in prices in India ? What measures have been adopted by the Govt. to fight it ? (B. U., B. A. 1959 A.)
भारत में हाल में मूल्य-तल में हुई वृद्धि की व्याख्या आप किस प्रकार से करते हैं ? उसे नियंत्रित करने के लिए सरकार द्वारा क्या उपाय किये गये हैं ?

3. Account for increasing price-level in recent years. What measures have been taken by the Government to control it ?
(M. U., B. A. 1954 A.)
हाल के वर्षों में मूल्य-तल में वृद्धि के कारणों की व्याख्या कीजिए। उसे नियंत्रित करने के लिए सरकार द्वारा क्या उपाय किये गये हैं ?

4. Account for the steep rise in prices in recent years. Examine brefly the measures taken by the Govt. of India to check it.
(Bhag. U., B. A. 1965 A.)
हाल के वर्षों में मूल्य-तल में तीव्र गति से वृद्धि के कारणों की व्याख्या कीजिए। इसे नियंत्रित करने के लिए भारत सरकार द्वारा अपनाये गये उपायों की व्याख्या कीजिए।

5. Account for the post-war inflationary situation in the country. What measures have been taken to control it and with what success ?
(R. U., B A 1965 A.)
देश में युद्धोत्तरकालीन स्फीतिजनक स्थिति के कारणों की व्याख्या कीजिए। इसे नियंत्रित करने के लिए, क्या उपाय किये गये हैं तथा इसमें क्या सफलता मिली है ?

6. "The ever present dread of soaring prices has made the common man suspicious about the benefits of planned economy." Examine this statement and give reasons for the rise in prices these days.
(Sag. U., B. A 1967)
"बढ़ते हुए मूल्य-तल के निरंतर भय ने आयोजित अर्थ-व्यवस्था के सम्बन्ध में सामान्य लोगों को बिल्कुल भयावह बना दिया है।" इस कथन की व्याख्या कीजिए तथा वर्तमान समय में देश में मूल्य में वृद्धि के कारणों को बतलाइये।

राष्ट्रीय आय एवं पंचवर्षीय योजनाएँ

1. Give an estimate of the India's National Income, indicating the proportions derived from different sectors. How has the position changed during the Five Year Plans ? (Bhag. U., B. A. (H) 1966 A.)
भारत की राष्ट्रीय आय का अनुमान लगाइये। इसका कौन-सा भाग विभिन्न क्षेत्रों द्वारा प्राप्त होता है ? पंचवर्षीय योजनाओं में इस स्थिति में क्या परिवर्तन हुआ है ?

2. Indicate the causes and remedies of India's Foreign Exchange crisis.
(B. U., B. A. 1959 A.)
भारत के विदेशी विनियम संकट के कारण तथा निवारण की व्याख्या कीजिए।

3. "A large increase in employment opportunities must be regarded as a principal objective of the Second Five Year Plan." How does the plan proposes to create these opportunities ? (B. U , B. A. 959 S.)
"द्वितीय पंचवर्षीय योजना का एक प्रधान उद्देश्य रोजगार की सुविधाओं में पर्याप्त वृद्धि करना चाहिए।" योजना में इन सुविधाओं में विस्तार के लिए क्या किये जा रहे हैं ?

4. "Deficit financing in the Second Five Year Plan is the main cause of high prices in India." Discuss
"भारत में मूल्य-तल में वृद्धि के लिए द्वितीय पंचवर्षीय योजना में घाटे की वित्त-व्यवस्था मुख्य रूप से उत्तरदायी है।" व्याख्या कीजिए।

5. Describe the progress achieved during the First Five Year Plan.
प्रथम पंचवर्षीय योजना की समीक्षा कीजिए।

6. Point out the main differences between the First and Second Five Year Plans and account for these differences. (R. U., B A. 1961 A.)
प्रथम एवं द्वितीय पंचवर्षीय योजनाओं में मुख्य अन्तर की व्याख्या कीजिए तथा इस अन्तर का कारण बतलाइये।

7. Give an idea of the proposed investment programme of the Fourth Five Year Plan of India. Would you suggest modifications in the light of our growing defence requirements ? (Bhag. U., B. (H) 1966)
चतुर्थ पंचवर्षीय योजना में प्रस्तावित विनियोग के कार्यक्रमों की व्याख्या कीजिए। देश की बढ़ती हुई सुरक्षा की आवश्यकताओं को ध्यान में रखकर आप इसमें क्या सुधार का सुझाव दीजियेगा ?

8. What are the objectives of the Second Five Year Plan of India ? To what extent have they been realised ? (B U , B. A. 1961 A.)
भारत की द्वितीय पंचवर्षीय योजना के क्या उद्देश्य हैं ? किस हद तक इनकी पूर्ति हो पायी है ?

9. Describe the sources of finance of the Second Five Year Plan. Discuss the role assigned to deficit financing in it. (B. U., B. (H) 1967)
द्वितीय पंचवर्षीय योजना के वित्तीय साधनों की व्याख्या कीजिए। इसमें घाटे की वित्तीय व्यवस्था के महत्त्व की व्याख्या कीजिए।

10. Do you consider the extent of deficit financing envisaged in the Second Five Year Plan feasible and desirable ? (B. U., B A. (H) 1979)
क्या द्वितीय योजना में प्रस्तावित घाटे की वित्तीय व्यवस्था की प्राप्ति सम्भव तथा उचित है ?

11. "The unbalanced nature of our economy has been the primary cause of unemployment." Discuss and suggest a programme for full employment. (B. U., B. A. 1963)
"हमारी अर्थ-व्यवस्था की असंतुलित प्रकृति देश की बेरोजगारी का एक प्रधान कारण है ?" इसकी व्याख्या कीजिए तथा पूर्ण रोजगार के लिए एक कार्यक्रम का सुझाव दीजिए।

12. Examine the financing of the Second Five Year Plan of India.
(R. U., B. A. 1963 A.)
द्वितीय पंचवर्षीय योजना की वित्तीय व्यवस्था की व्याख्या कीजिए ।

13. Explain the difficulties in the implementation of the Second Five Year Plan. (P. U., B. A. 1959 S.)
द्वितीय पंचवर्षीय योजना को कार्यान्वित करने की कठिनाइयों की व्याख्या कीजिए ।

14. Give a short account of the financial aspects of the Third Five Year Plan. Why has it been called an ambitious Plan. (Bhag. U., B. A. 1963 A.)
द्वितीय पंचवर्षीय योजना की वित्तीय व्यवस्था की व्याख्या कीजिए । इसे महत्वाकांक्षी योजना क्यों कहा गया है ?

15. Discuss briefly the principal objectives of the Third Five Year Plan of India, What importance has been given to development of agriculture in it ? (Bhag. U., B A. 1966 A.)
भारत की तृतीय पंचवर्षीय योजना के प्रधान उद्देश्यों की संक्षिप्त व्याख्या कीजिए । कृषि के विकास को इसमें क्या महत्त्व दिया गया है ?

16. 'India's Third Five Year Plan is bigger and bolder than the Second Plan.' Examine this statement. (B. U., B. A. 1962 A.)
"भारत की तृतीय योजना द्वितीय योजना की अपेक्षा बहुत बड़ी तथा सुदृढ़ है ।" इस कथन की व्याख्या कीजिए ।

17. Give an idea of the investment programme of the Third Five Year Plan of India. How is the outlay in the public sector proposed to be financed ?
(P. U., B. A. (H) 1961 A.)
तृतीय पंचवर्षीय योजना के विनियोग-सम्बन्धी कार्यक्रमों की व्याख्या कीजिए । राजकीय क्षेत्र में व्यय की रकम को किस प्रकार से प्राप्त करने का आयोजन है ?

18. What are the difficulties of economic planning in the under-developed countries ? Discuss these with special reference to India.
(P. U. B. A. (H) 1961)
अर्द्ध-विकसित देशों में आर्थिक नियोजन के मार्ग में क्या कठिनाइयाँ है ? भारत के संदर्भ में इसकी व्याख्या करें ।

19. Discuss the sources of finance for the Third Five Year Plan.
(M. U., B. A. (H) 1964)
तृतीय योजना के वित्तीय साधनों की व्याख्या करें ।

20. Mention the achievements of the Third Five Year Plan in the fields of agricultural and industrial development in India. (M. U., B. A. 1968 A.)
भारत में कृषि तथा उद्योग-धन्धों के विकास के क्षेत्र में तृतीय योजना की निष्पत्तियों की व्याख्या करें ।

21. Discuss the financial resources of the Third Five Year Plan, What difficulties are being felt on account of the Chinese aggression ?
(R. U., B. A. 1964 A.)
तृतीय पंचवर्षीय योजना के वित्तीय साधनों की व्याख्या कीजिए । चीनी आक्रमण के कारण इस योजना को कार्यान्वित करने में क्या कठिनाइयाँ महसूस की गयीं ।

22. Give a critical estimate of the main features of the Third Five Year of India. (R U., B. A. 1960
भारत की तृतीय पंचवर्षीय योजना की मुख्य विशेषताओं की आलोचनात्मक स
कीजिए ।

23. Assess the gains and shortcomings of the Third Five Year Plan and sug the action to be taken to fulfil the targets in the interest of the nati welfare and security. (R. U , B. A. 1964
तृतीय योजना की निष्पत्तियों तथा त्रुटियों की व्याख्या कीजिए तथा देश के कल्याण सुरक्षा के हित में इसके लक्ष्यों की पूर्ति के लिए सुझाव प्रस्तुत कीजिए ।

24. Comment upon the priorities of the Third Five Year Plan. (M. U., B. A. 1964 A
तृतीय पंचवर्षीय योजना की प्राथमिकताओं की व्याख्या कीजिए ।

25. "The Third Five Year Plan is built on the lessons learnt from the Seco Plan." Discuss. (R. U., B. A. 1965 A
"तृतीय योजना द्वितीय योजना में प्राप्त सबक से तैयार की गयी है ।" व्याख्या कीजिए ।

26. Discuss briefly the financial resources of the Third Five Year Plan. Wh role has been assigned to taxation in it ? (Bhag. U , B. A. 1966 A
तृतीय पंचवर्षीय योजना की वित्तीय व्यवस्था की संक्षिप्त व्याख्या कीजिए। करारोप को इसमें क्या स्थान दिया गया है ?

27. Describe the principal objectives of the Fourth Five Year Plan. (M. U., B. A. 1957 A
चतुर्थ पंचवर्षीय योजना के प्रमुख उद्देश्यों की व्याख्या कीजिए ।

28. Discuss the Financial resources of the Fourth Five Year Plan. What ro has been assigned to taxation and borrowing in it ?
चतुर्थ पंचवर्षीय योजना की वित्तीय व्यवस्था की व्याख्या कीजिए । करारोपण तथ राजकीय ऋण को इसमें क्या स्थान दिया गया है ।